श्रीवाग्भटाचार्यविरचितः

रसरत्नसमुच्चयः

सचित्र :
भाषा टीका सहित

पण्डित श्रीधर्मानन्दशर्मणा

श्रीवाग्भटाचार्यविरचितः

रसरत्नसमुच्चयः

सचित्रः

श्रीमद्दयानन्दायुर्वेदिक-कालेजाध्यापकेन (Senior Professor) श्रीवचीरामात्मजेन गुरुकुल-विश्वविद्यालयस्य भूतपूर्वोपाध्यायेनातुरालयाध्यक्षेण स्त्रीरोगविज्ञान-बालरोग-विज्ञान-विषविज्ञानाद्यनेकग्रन्थलेखकेन जयपुरराज्यत आयुर्वेदविद्यापीठादितश्च प्राप्तस्वर्णपदकेन आयुर्वेदाचार्यशास्त्रि-वैद्यभूषणोपाधिधारिणा

पण्डित श्रीधर्मानन्दशर्मणा

विरचितया-

पारद-गन्धकाभ्रक-स्वर्ण-लोह-ताम्रादिरसोपरसधात्वादीनां विज्ञानानुमतवर्णनोपेतेन विमर्शेण विभूषितया **तत्त्वार्थबोधिन्या** भाषाटीकया समलङ्कृतः

अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकारेण सम्पादितः

धार्मिक, इण्डस्ट्रीयल, ज्योतिष आदि पुस्तकों के लिए

डी. पी. बी. पब्लिकेशन्स

110, चावडी बाजार, चौंक बडशाहबुला, दिल्ली- 6

पोस्ट बाक्स - 2037, फोन 3273220

द्वितीय संस्करण : वाराणसी, १९६२
पुनर्मुद्रण: दिल्ली, १९७७, १९९६

धार्मिक, इण्डस्ट्रीयल, ज्योतिष आदि पुस्तकों के लिए
डी. पी. बी. पब्लिकेशन्स
110, चावड़ी बाज़ार, चौंक बडशाहबुला, दिल्ली- 6
पोस्ट बाक्स - 2037, फोन 3273220

१६, सेन्ट मार्क्स रोड, बंगलौर ५६० ००१
८, कैमेक स्ट्रीट, कलकत्ता ७०० ०१७
अशोक राजपथ, पटना ८०० ००४
चौक, वाराणसी २२१ ००१

नरेन्द्रप्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड,
दिल्ली ११० ००७ द्वारा प्रकाशित तथा जैनेन्द्रप्रकाश जैन, श्री जैनेन्द्र प्रेस,
ए-४५ नारायणा, फेज़-१, नई दिल्ली ११० ०२८ द्वारा मुद्रित

भूमिका

श्री पं० धर्मानन्द जी ने जिस ग्रन्थ की हिन्दी टीका करने का निश्चय किया है भारतीय रसचिकित्सा में उसका ऐतिहासिक और शास्त्रीय महत्व कितना है इस से शायद सब लोग परिचित न होंगे।

भारतीय रसचिकित्सा (धातु-उपधातु-रत्न उपरत्न आदि द्वारा व्याधिप्रशमन) संसार की सब जातियों के रसविज्ञान से पहले क्षेत्र में आई। इसमें सन्देह नहीं कि वनस्पति का प्रयोग पहले हुआ। वैदिक काल में और तदनन्तर आयुर्वैदिक काल में वनस्पति ही प्रधान रही। जैसे २ समय बीतता गया और मनुष्य तीव्रतर औषधों की आवश्यकता अनुभव करते गए वैसे २ धातूपधातु आदि औषध में बढ़ते गए। तान्त्रिक काल (११००-१३०० ईस्वी) में रसशास्त्र ने विशेष उन्नति की। तान्त्रिकों ने न केवल स्वयं धातुओं के नए २ प्रयोग निकाले प्रत्युत बौद्ध भिक्षुओं के तथा नागार्जुन आदि सिद्धों और वाग्भट आदि आयुर्वैदिक काल के महापुरुषों द्वारा किए हुए सब प्रयोग भी अपने ग्रन्थों में सम्मिलित कर लिए।

तान्त्रिक काल के पश्चात् ही रसचिकित्सा का विशेष राज्य भारतवर्ष की जनता पर रहा। सर पी० सी० राए ने रसचिकित्सा का काल १३०० से १५५० ईस्वी तक माना है। रसचिकित्सा के प्रधान ग्रन्थ इसी काल में लिखे गए। रसरत्नसमुच्चय इसी काल की एक महत्वपूर्ण और आदर्श कृति है।

प्रायः डाक्टरी पढ़ने वाले भारतवासी भी इसी भ्रम में पड़े रहते हैं कि, क्योंकि अंग्रेजी शब्द "कैमिस्ट्री" अर्बी शब्द "कीमिया" से बना है और क्योंकि पश्चिम के रासायनिकों का मध्यकाल का सम्पूर्ण ज्ञान अर्बी कीमियागिरि पर ही निर्माण किया गया अतएव अर्बी लोग ही रसशास्त्र के प्रथम निर्माता हैं। जिस प्रकार चिकित्सा का पिता हिप्पोक्रेटीज़ कहलाता है क्योंकि दोष-सिद्धान्त का पहला टूटा फूटा विज्ञान इन्होंने ग्रीस से प्राप्त किया उसी प्रकार अरब के पुराने विद्वानों को रस शास्त्र का पिता माना जाता है। आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्र राय कहते हैं :—

When in the dark of middle ages, the lamp of knowledge had begun to burn very low in Europe and even when the very vestiges of Greek culture and learning had all but disappeared, save in the obscure and dingy cells of the mank, it was the Arabs who carried there the accumulated intellectual treasures of thc East, and thus laid the foundations, so to speak, of modern European greatness.

अर्थात् "जब अन्धकारपूर्ण मध्यकाल में यूरोप में ज्ञान की दीपसिखा बहुत धीमी पड़ गई और जब ग्रीक सभ्यता और विज्ञान का लेशमात्र एक आध भिक्षुकी अन्धेरी कोठड़ी के सिवाए सर्वत्र लुप्त होने लगा, उस समय अरब लोग ही पूर्वीय देशोंसे बुद्धि-भण्डार एकत्रित कर वहाँ ले गए और इस प्रकार उन्होंने ही यूरोप के आधुनिक महत्व की नींव डाली।"

परन्तु इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है कि वास्तव में अरब का रससम्बन्धी सम्पूर्ण विज्ञान भारतीय तान्त्रिकों, सिद्धों और रसशास्त्रवेत्ताओं के ही दान का एक अंशमात्र था।

Abu'l-Faraj Mohammand bin Ishak, a native of Baghdad, first conceived the idea of a bibliographical dictionary. His Kitab-ul-Fihrist deals with every branch of learning. It gives the names of many authors and their works which have ceased to exist :—"

History of the Saracens by Ameer Ali.

"अबुल फ़राज़ बिन इशाक, एक बग़दाद निवासी था जिसने सर्वप्रथम अपने समय की पुस्तकों का सूची-कोष तैयार किया। उसकी 'किताब-उल-फिहरिस्त' विज्ञान की प्रत्येक शाखा का वर्णन करती है। उसने बहुत से लेखकों और ग्रन्थों के नाम दिए हैं जो अब नष्ट हो चुके हैं"—

इस किताब-उल-फिहरिस्त के लेखक ने जो १० वीं शताब्दि में लिख रहा था, तथा दाजी खलीफ़ा और इब्न अबू उसाईबिया ने जो १३ वीं शताब्दि में हुए यह स्पष्ट

लिखा है कि खलीफ़ा हारून और मंसूर की आज्ञा से बहुत से भारतीय चिकित्साग्रन्थों का अर्बी में अनुवाद हुआ। इस विषय पर बहुत से लेखकों ने सूचना एकत्रित की है जिन में डाइत्ज़ (Dietz Analecta Medica), वुस्तनफैल्द (Wustedfeld: Geschichte der Arab Aerzte), क्यूरेटन (Cureton), फ्लूगल (Flugel), मूलर (Muller), वर्णनीय हैं।

अर्बी लेखकों के विशेषतया हाजी खलीफ़ा के आधार पर यह निश्चित रूप से पता चलता है कि खलीफ़ाओं (अर्बी बादशाहों) के राजदर्बारोंमें हिन्दू विद्वान् आचार्य्य और अध्यापकों के रूप में रहने पर बाध्य किए जाते थे तथा "यवन विद्यार्थी ज्ञानपिपासा बुझाने के लिए भारतवर्ष के शिक्षाकेन्द्रों में भारी संख्या में पहुँचते थे और विज्ञान के स्रोत पर ही पहुँच कर विद्यापान करते थे। उच्च शिक्षा की पूर्त्ति का यह एक आवश्यक अङ्ग था कि भारतयात्रा करके मौलिक स्वरूप में विज्ञान प्राप्त किया जाए।"

—History of Hindu Chemistry.

मैं इस विषय में अधिक न कह कर श्री उदयचन्द्र दत्त की Materia Medica of the Hindus नामक पुस्तक में से निम्न वाक्य उद्धृत करता हूँ जो प्राचीनता तो अलग रही योग्यता में भी भारतीय रसशास्त्र की उत्कृष्टता के प्रश्न का अन्तिम उत्तर दे देते हैं —

"We cannot help admiring the ingenuity and the boldness of the Hindu Physicians, when we find that they were freely and properly using such powerful drugs as arsenic, mercury, iron, etc., when the Mussulman Hakims around them with imperial patronage and the boasted learning of the West, recording such remarks regarding them as the following :—

"Soomboolkhar, 'the white oxide of arsenic.—' There are six kinds of this, one name Sunkia, the third Godanta, the fourth Darma, the fifth Huldea. The Yunani physicians do not allow this to form a part of their prescriptions, as they believe it destroys the vital principle, The physicians of India, on tbe contrary, find these drugs more effectual in many disorders than others of less pcwer such as the calx of metals. For this reason too I am in the habit of seldom giving these remedies internally, but I usually confine my use of them to external application and as aphro. disiacs which I prescribe to a few friends. who may have derived no benefit from Yunani prescriptions. It is better to use as few of them as possible."

"Para, 'Mercury'.—It is very generally used throughout India in many ways, both in its native and prepared state, but in the latter we ought to be very cautions, for it is seldom sufficiently killed or removed from its native state, in which it is a dangerous drug".

"Loha, 'iron'.—It is commonly used by physicians in India, but my abvice is to have as little to do with it as possible."

Nor must we forget that so late as 1566 A. D. the Parliament and the Faculty of medicine, Paris, condemned and forbade what was regarded as the dangerous innovations of Paracelsus.

अर्थात् "जब हिन्दु चिकित्सकों को मल्ल, पारद, लोह आदि जैसी अत्यन्त शक्तिशाली औषधियों को प्रचुरता और समीचीन रीति से प्रयुक्त करते देखते हैं तो हम उनके साहस और उनकी प्रतिभा की सराहना किए बिना नहीं रह सकते, जब कि तत्समकालिक मुसलमान हकीम जिनकी पीठ पर शासक लोग थे, और जो पश्चिमी अहम्मन्य ज्ञानसम्पन्न थे, उनके सम्बन्ध में निम्नलिखित शब्द लिखते हैं :—

"सूमबूलखार, (मल्ल-श्वेत ओषित)"—इसके छः भेद हैं, एक संखिया, तीसरा गोदन्त, चौथा दर्म, पाँचवाँ हुलदिया। यूनानी चिकित्सक इसे अपनी चिकित्सा में स्थान नहीं देते, क्योंकि उनका विश्वास है कि यह जीवन तत्वों का विनाशक है। इसके विपरीत भारतीय

चिकित्सक दूसरी कम शक्ति वाली ओषधियों (यथा धात्वीय भस्मों) की अपेक्षा इन उपचारों को बहुत से रोगों पर अधिक प्रभावशाली समझते हैं। इसी कारण से मैं इन ओषधियों के अन्तःप्रयोग का बहुत कम आदी हूँ; परन्तु साधारणतः मैं इनका प्रयोग बाह्य उपचार तक सीमित रखता हूँ और वाजीकरण के रूप में, कुछ मित्रों को, जिन्हें यूनानी चिकित्सा से लाभ न हुआ हो, तजवीज़ करता हूँ। यथासम्भव इन्हें न ही प्रयुक्त करना साधुतर है।"

"पारा, 'मर्करीः—यह सर्वत्र भारतवर्ष में नानाविध विधियों से—विशुद्ध और यौगिक अवस्था में; प्रायः प्रयुक्त होता है, परन्तु यौगिक अवस्था में इसका प्रयोग सतर्क होकर करना चाहिये, क्योंकि कदाचित् ही यह पूर्णतया भस्म किया जा सकता है अथवा नैसर्गिक रूप से वियुक्त किया जा सकता है और ऐसी अवस्था में यह एक भयंकर औषध है।"

"लोहा, 'आयरन'—भारतवर्ष में चिकित्सक लोग प्राचुर्य से इसका प्रयोग करते हैं, परन्तु मेरी सम्मति में इसका प्रयोग यथासम्भव कम करना चाहिये।"

न ही हमें भूलना चाहिये कि १५६६ ई० सन् में पार्लियामैण्ट और फैकल्टी ऑव मैडिसिन, पेरिस ने पैरासैलसस (स्विस चिकित्सक) के नूतन आविष्कारों को भयावह समझ कर घृणा की दृष्टि से देखा और उनका निषेध किया।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो गया होगा कि भारतीय रसशास्त्रवेत्ताओं ने रसचिकित्सा को कितना उन्नत किया।

कई बार यह प्रश्न उठाया जाता है कि आधुनिक रसशास्त्र में धातुओं का जिस प्रकार अध्ययन किया गया है भारतीय रसशास्त्र का अध्ययन उतना गूढ़ और विस्तृत नहीं। परन्तु ऐसा कहने वाले इस ओर ध्यान नहीं देते कि भारतीय रसशास्त्र और कैमिस्ट्री वास्तव में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं रखते। कैमिस्ट्री का दृष्टिकोण सर्वथा भौतिक है रसशास्त्र का शारीरिक। आयुर्वेदोक्त द्रव्यशुद्धि का अर्थ कैमिस्ट्री के शुद्धद्रव्य से सर्वथा भिन्न है। "शुद्ध वत्सनाभ" आयुर्वैदिक भाषा में वह अर्थ नहीं रखता जो पाश्चात्य कैमिस्ट्री में। वैद्य गोमूत्र में उबालकर वत्सनाभ को शुद्ध करता है पाश्चात्य मतानुसार वह 'अशुद्ध' हो जाता है। इसी प्रकार कैमिस्ट्री के अनुसार शुद्ध किया हुआ वत्सनाभ वैद्य के लिए "शुद्ध" नहीं। उभय शास्त्रज्ञ के लिए इसका हेतु जानना कठिन नहीं। कैमिस्ट्री में आरम्भ से ही द्रव्यशुद्धि का लक्ष्य भौतिक अर्थ में द्रव्य को शुद्ध करना रहा। आयुर्वेद में आरम्भ से ही द्रव्यशुद्धि का लक्ष्य द्रव्य में निर्विषता बढ़ाना और व्यवायता कम करना रहा है। भारतीय रसशास्त्र का संपर्क आरम्भ से ही चिकित्साशास्त्र से रहा है। इसका विकास ही चिकित्सा के एक अङ्ग का विकास है। अतएव इसकी विशेषता चिकित्साक्षेत्र में है न कि भौतिक क्षेत्र में। निम्नलिखित प्रयोग इस उत्कृष्टता को स्पष्ट कर देगा।

डाक्टर बोस ने कलकत्ते में पाश्चात्य रीति से 'शुद्ध वत्सनाभ' से तथा रसशास्त्रोक्त रीति से 'शुद्ध वत्सनाभ' से कुछ स्वस्थ पुरुषों के शरीर में इंजैक्शन दिये। तदनन्तर उनके हृदय के इलैक्ट्रोकार्डियोग्राम (हृदय की गति के चित्र) लिए। (यह चित्र इण्डियन मैडिकल रिकार्ड में छप चुके हैं) उसने देखा कि यह पाश्चात्य मत से (गोमूत्रादि द्वारा) अशुद्ध और आयुर्वैदिक मत से शुद्ध वत्सनाभ पाश्चात्य 'शुद्ध' वत्सनाभ की अपेक्षा अधिक बलदायक है। केवल इतना ही नहीं बल्कि अव्यवायी भी अधिक है क्योंकि पाश्चात्य 'शुद्ध' वत्सनाभ वाले इंजैक्शनों को लेने वाले व्यक्तियों के हृदयों के चित्रों में अधिक विषप्रभाव पाया गया।

इस उदाहरण से स्पष्ट हो गया होगा कि आयुर्वेद का और पाश्चात्य सिद्धान्तों का पथ एक नहीं। अतएव उनका एक ही रास्ते से अन्वेषण होना असम्भव है। यह एक ऐसे लक्ष्य के पीछे लगना है जिसकी पूर्त्ति सर्वथा असम्भव है। वज्र-भस्म और साधारण कोला पाश्चात्य रसशास्त्रानुसार एक ही तत्व के दो स्वरूप हैं। शङ्ख, कपर्दिका, मुक्ता, शुक्ति, सब ही कैल्सियम और कार्बन के मिश्रित द्रव्य हैं परन्तु वैसे तो सब गुण में भिन्न हैं ही स्वयं एक एक द्रव्य भिन्न रूप से भस्म करने से या भिन्न संख्या में पुटें देने से भिन्न २ प्रभाव करता है। अतएव भारतीय रसशास्त्र के मूल्य की परख पाश्चात्य कैमिस्ट्री के सिद्धान्तों के साथ सामञ्जस्य करने से नहीं हो सकती। शरीर के दोष धात्वादिकों पर जो प्रभाव रसद्रव्यों का है उसी से ही इसकी सच्ची परख हो सकती है।

इस आदर्श को सामने रखा जाए तो भारतीय रसशास्त्र का स्थान चिकित्सा में बहुत ऊँचा है और

आयुर्वैदिक रस संसार भर की औषधों में अपना जोड़ नहीं रखते।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रसरत्नसमुच्चय भारतीय रसशास्त्र में सर्वोच्च कोटि के ग्रन्थों में गिना गया है। केवल इतना ही नहीं इसका निर्माणकाल भी अन्य रसग्रन्थों की अपेक्षा बहुत पूर्व का है। रसेन्द्रसार संग्रह, रसराजसुन्दर, रसमंजरी आदि अनेक रसग्रन्थ इसके पीछे लिखे गए हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक भी इसे भारतीय रसशास्त्र का और रसशास्त्र के काल का आदर्श ग्रन्थ मानते हैं। Sir P. C. Roy लिखते हैं:—

"R. R. S. is a typical production of the Jatrochemical period" रसरत्नसमुच्चय रस-चिकित्साकाल का एक आदर्श ग्रन्थ है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का कोई संतोष-जनक हिन्दी अनुवाद मेरे सामने नहीं आया। गुजराती भाषा में जो अनुवाद गोण्डल के वैद्यराज श्री जीवराम कालीदास जी ने किया है वह देवनागरी लिपि में होते हुए भी गुजराती भाइयों के ही अधिक काम का है। मेरे सामने यह प्रथम ही संतोष-जनक टीका है जो न केवल सरल हिन्दी में है किन्तु अर्थ में भी स्पष्ट और विस्तृत है।

टीकाकार श्री धर्म्मानन्द जी को मैं एक सफल चिकित्सक और सफल आचार्य्य के नाते से बहुत देर से जानता था। कोई विस्मय नहीं कि वे एक सफल लेखक और सफल टीकाकार के रूप में भी आयुर्वेदक्षेत्र में आएं। जो विद्वान् इतने वर्षों से श्री दयानन्द आयुर्वैदिक कालिज तथा गुरुकुल यूनिवर्सिटी जैसी संस्थाओं में उच्च श्रेणियों को निरन्तर आयुर्वेद के ग्रन्थ पढ़ाते रहे हैं इस प्रकार की विद्वत्तापूर्ण टीका करना उनके लिए कठिन नहीं। आधुनिक कैमिस्ट्री के अनुसार भी प्रचलित धातूपधातुओं की स्थान स्थान पर व्याख्या इस पुस्तक की विशेषता है। आवश्यक विषयों पर तो केवल टीका-मात्र ही नहीं परन्तु विद्यार्थियों को पूर्ण व्याख्यान भी मिलेंगे।

टीका उच्चकोटि की है और सर्वथा सफल हुई है। इस सेवा के लिए पण्डित जी वैद्यसमाज के धन्यवाद के पात्र हैं।

लाहौर
१९-२-४२

शिव शर्म्मा

समर्पण

आयुर्वेद-जगत् में आयुर्वेद के मित्र तथा
आयुर्वेद के शत्रुओं के मित्र दो प्रकार
के मित्र हैं। उनमें से जो
किसी प्रकार के लालच
के बिना शुद्ध
हृदय
से
अत्यन्त
तत्परता के
साथ आयुर्वेद की
सेवा कर रहे हैं उन भद्र-
पुरुषों की सेवा में यह पुष्पा-
ञ्जलि सादर समर्पित की जाती है।

धर्मानन्द शर्मा
आयुर्वेदाचार्य

दो शब्द

यह सत्य सिद्ध है कि अन्य चिकित्सा पद्धतियों की अपेक्षा आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति उत्तम और निर्विघ्न है। आयुर्वेदिक की दैवी (रसचिकित्सा), आसुरी (शल्य शस्त्रचिकित्सा) तथा मानवी (कल्क, क्वाथ आदि चिकित्सा); इन तीन प्रकार की चिकित्साओं में दैवी चिकित्सा सर्वोत्तम है। यह चिकित्सा आसुरी चिकित्सा की भाँति रुग्ण अंग को काटकर शरीर को सदा के लिए किसी न किसी अंश में दुर्बल नहीं करती है, अपितु रोग का मूलोच्छेद करके शरीर को पुनः सबल और दृढ़ बना देती है। यही नहीं इस चिकित्सा द्वारा क्षीण, कृश और जराजर्जरित शरीर पुनः यौवन को प्राप्त हो जाते हैं। कठिन तथा भयंकर रोगों से स्थायी मुक्ति होती है। अतः इस चिकित्सा की महिमा अनुपम है। परन्तु इसके द्वारा स्थायी रोगमुक्ति तथा जरामुक्ति तभी सम्भव है जब कि इसके मौलिक ग्रन्थों का भली भांति अनुशीलन, मनन तथा क्रियात्मक रूप से पूर्ण अभ्यास हो। रसशास्त्र के मौलिक रसग्रन्थों में रसरत्नसमुच्चय का स्थान सर्वोच्च है। इसमें पाये जाने वाले स्वर्ण, रजत आदि का निर्माण तथा विविध रोगों को दूर करने के लिये उत्तमोत्तम रस तथा कल्प अपनी सादृश्यता नहीं रखते हैं। परन्तु यह ग्रन्थ जितना उच्च है उतना ही गूढ़ और क्रियात्मकता में कठिन भी है। इसके पूर्ण ज्ञान के बिना पढ़ने और पढ़ाने में वास्तविक लाभ नहीं हो सकता है। यह बात मुझे अपने चिर अध्यापन काल से खटकती थी कि इस मार्मिक रसग्रन्थ के द्वारा वैद्यबन्धु तथा विद्यार्थियों को उतना लाभ नहीं हो रहा है जितना कि होना चाहिये था। इस कठिनाई को कैसे दूर किया जाय। आज समय पाकर इस सद्भावना के साथ रसरत्न-समुच्चय की हिन्दी टीका करके वैद्यबन्धुओं की सेवा में उपस्थित कर सका हूँ। क्योंकि टीका में अपने अनुभव तथा दूसरे के विचारों को रखना ठीक नहीं होता है अतः इसमें प्रायः प्रत्येक स्थान पर "विशेष वचन" देकर ग्रन्थ के भाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जैसे धातुओं की भस्म बनाने में अनेक पुट देने का क्या अभिप्राय है? भिन्न २ संख्या में दिये गये पुटों द्वारा लोह आदि धातुओं में क्या क्या परिवर्तन होते हैं जिससे भस्म शीघ्र कार्यशील बन जाती है। इसी तरह पारद आदि के दोष, गुण और प्रभाव का भी विशद वर्णन दिया गया है। साथ ही पारद, गन्धक तथा हिंगुल पर पाश्चात्यविषयक मत भी एक विशेष विवेचन द्वारा स्पष्ट किया है। प्रत्येक धातु की परीक्षा-द्रवणांक और गुणों पर विशद विवेचन देकर चिकित्सक तथा विद्यार्थियों को सरल और स्पष्ट भाव दिखाने का प्रयत्न किया है जिससे चिकित्साकाल में उन्हें शीघ्र ही सरल और उत्तम मार्ग मिल सके। फिर भी "सर्वः सर्वं न जानाति" के अनुसार इसमें बहुत सी त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। जिसके लिये विद्वान् लोग क्षमा करेंगे। इस ग्रन्थ की टीका करने में मैंने चरक, सुश्रुत तथा रसहृदयतन्त्रादि रसग्रन्थों की और घोषमटेरिया मेडिका, खनिजविज्ञान, हिन्दूकेमिस्ट्री आदि ग्रन्थों की सहायता ली है, अतः उनके लेखकों का धन्यवाद करता हूँ। कविराज नित्यानन्द तथा डा० जगदीशदत्त शर्मा एम० बी० बी० एस० का भी धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य में सहायता दी है

इस ग्रन्थ की भूमिका के लेखक पं० शिवशर्मा जी आयुर्वेदाचार्य लाहौर को अपनी कृतज्ञता तथा श्रद्धा की अञ्जलि अर्पित करता हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर इसकी भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

विदुषामनुचरः

धर्मानन्द शर्मा

विषय-सूची

विषयाः — पृष्ठाङ्काः

प्रथमोऽध्यायः ।

मङ्गलम् — १
ग्रन्थकर्तॄणां नामानि — १
ग्रन्थस्याभिधेयम् — २
हिमालयवर्णनम् — २
महादेवस्थितिवर्णनम् — २
रसोत्कर्षवर्णनम् — ३
पारदस्य विशेषतो महत्ता — ४
मूर्च्छितादिपारदगुणाः — ५
पारदे सर्वौषधानामन्तर्भावः — ६
रसस्य जीवन्मुक्तिकारणता — ७
रसोत्पत्तिवर्णनम् — ६
रसानां भेदाः — ११
,, निरुक्तिः — १२
रससंस्कारकारणम् — १२
पारदस्य गतयः — १३
रसस्य स्थानान्तरगतिवर्णनम् — १४
हिंगुलोत्पत्तिः — १४

द्वितीयोऽध्यायः ।

महारसाः — १४
गन्धाभ्रयोः स्वरूपम् — १४
अभ्रकगुणाः — १४
अभ्रभेदाः — १५
पिनाकादीनां लक्षणानि — १५
श्वेतवर्णाद्यभ्रस्यकादीनामुपयोगः — १६
प्रशस्ताभ्रलक्षणम् — १६
निश्चन्द्र-सचन्द्राभ्रयोर्गुणदोषौ — १६
अभ्रशोधनमारणे — १७
धान्याभ्रलक्षणम् — १७
धान्याभ्रमारणम् — १७
अभ्रमारणम् — १७
मतान्तरम् — १८
अभ्रकसत्त्वपातनम् — १८
प्रकारान्तरम् — १८

विषयाः — पृष्ठाङ्काः

किट्टात् सत्त्वग्रहणम् — १८
सत्त्वशोधनम् — १६
सत्त्वानां मृदूकरणम् — १६
अभ्रमारणम् — १६
मारणे प्रकारान्तरम् — १६
सत्त्वस्य शोधनमारणे — २०
अभ्रप्रयोगः — २०

वैक्रान्तः — २१
वैक्रान्तस्वरूपम् — २१
वैक्रान्तस्य वर्णभेदाः — २१
,, गुणाः — २१
वैक्रान्तोत्पत्तिः — २२
वैक्रान्तस्य स्थानं निरुक्तिश्च — २२
मतान्तरे वर्णभेदकथनम् — २२
वर्णभेदेन कार्य्यभेदः — २२
आहरणविधिः — २२
गुणान्तरम् — २२
शोधनम् — २३
मतान्तरे शोधनमारणम् — २३
मतान्तरम् — २३
सत्त्वपातनम् — २३
मतान्तरम् — २३
मृतवैक्रान्तस्य प्रयोगविधिर्गुणाश्च — २३
प्रयोगान्तरम् — २४

माक्षिकम् — २४
माक्षिकस्य गुणाः — २४
,, द्वैविध्यम् — २४
गुणान्तरम् — २४
शोधनम् — २५
मारणम् — २५
मतान्तरम् — २६
सत्त्वपातनम् — २६
मतान्तरम् — २६
शुद्धमाक्षिकसत्त्वस्य लक्षणम् — २६
माक्षिकसत्त्वस्य प्रयोगविशेषः — २६
माक्षिकसत्त्वद्रावणम् — २७

विषयाः — पृष्ठाङ्काः

विमलः — २७
विमलभेदाः — २७
विमलस्य लक्षणं गुणाश्च — २७
त्रिविधस्य क्रियाविशेषः — २७
विमलशोधनम् — २७
विमलमारणम् — २८
सत्त्वपातनम् — २८
मतान्तरम् — २८
विमलसत्वप्रयोगः — २८

शिलाजतु — २६
शिलाजतुनो भेदाः — २६
शिलाजतुन उत्पत्तिः — २६
शिलाजतुत्रयस्य गुणाः — २६
शुद्धशिलाजतुपरीक्षा — ३०
शिलाजतुगुणाः — ३०
शोधनम् — ३१
मारणम् — ३१
शिलाजतुप्रयोगविधिः — ३१
सत्त्वपातनम् — ३२
कर्पूरशिलाजतुनो लक्षणादिकम् — ३२
तस्य शोधनम् — ३२

सस्यकः — ३२
सस्यकोत्पत्तिः — ३२
प्रशस्तसस्यकलक्षणम् — ३३
सस्यकस्यौत्कर्ष्यकथनम् — ३३
सस्यकगुणाः — ३३
,, शोधनम् — ३३
तुत्थखर्परमारणम् — ३३
तुत्थसत्त्वपातनम् — ३३
मतान्तरम् — ३४
,, — ३४
प्रयोगविधिः — ३४
भालुकितन्त्रोक्तप्रयोगविधिः — ३४
प्रयोगान्तरम् — ३४

चपलः — ३४
चपलस्य भेदादिर्निरुक्तिश्च — ३४

विषयः	पृष्ठाङ्काः
चपलगुणाः	३५
वर्णाकृतिभेदेन गुणभेदः	३५
चपलस्य महारसत्वम्	३५
शोधनम्	३५
सत्त्वपातनम्	३५
रसकः	३५
रसकस्य भेदलक्षणे	३५
तयोः प्रयोगविषयः गुणाश्च	३६
खर्परशोधनम्	३७
मतान्तरम्	३७
,,	३७
खर्परस्य ताम्रादिरञ्जनम्	३७
सत्त्वपातनम्	३७
मतान्तरम्	३७
,,	३७
सत्त्वमारणम्	३८
प्रयोगविधिः	३८

तृतीयोऽध्यायः ।

विषयः	पृष्ठाङ्काः
उपरसाः साधारणरसाश्च	३८
उपरसाः	३८
गन्धकः	३८
गन्धकोत्पत्तिः	३८
गन्धकस्य भेदाः	४०
मतान्तरम्	४०
गन्धकगुणाः	४०
बलिवसाख्यगन्धकोत्पत्तिः	४१
गन्धकशोधनम्	४१
मतान्तरम्	४१
मतान्तरम्	४२
प्रयोगविधिः	४२
गन्धकतैलविधिः	४२
अस्य प्रयोगविधिः	४२
अन्य विधिः	४२
गन्धकसेवने अपथ्यम्	४३
कुष्ठरोगे गन्धकप्रयोगविधिः	४३
प्रलेपयोगः	४३
लेपयोगान्तरम्	४३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
गन्धकतैलान्तरम्	४३
शुद्धगन्धकगुणाः	४३
गैरिकम्	४३
गैरिकस्य भेदौ	४३
तयोर्लक्षणम्	४४
गैरिकगुणाः	४४
शोधनम्	४४
गैरिकस्य सत्त्वरूपता	४४
सत्त्वपातने मतान्तरम्	४४
कासीसम्	४४
कासीसस्य भेदौ	४४
बालुकासीसगुणाः	४५
पुष्पकासीसगुणा	४५
शोधनम्	४५
शोधनान्तरम्	४६
सत्त्वपातनविधिः	४६
प्रयोगविधिः	४६
तुवरी	४६
तुवर्याः परिचयः	४६
तुवर्याः भेदः	४६
फटकीगुणलक्षणे	४६
फुल्लिका ,,	४६
द्वयोः सामान्यगुणाः	४६
शोधनम्	४७
सत्त्वपातनम्	४७
मतान्तरम्	४७
तालकः	४७
तालकस्य भेदौ	४७
पत्रतालकलक्षणम्	४८
पिण्डतालकलक्षणम्	४८
शुद्धतालकगुणाः	४८
अशुद्धतालकदोषाः	४९
शोधनम्	४९
मतान्तरशोधनम्	४९
मतान्तरशोधनं मारणञ्च	४९
तालसत्त्वपातनम्	४९
मतान्तरम्	५०
,,	५०
,,	५०

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मनःशिला	५०
मनःशिलाया भेदाः	५०
त्रिविधानां लक्षणानि	५१
गुणाः	५१
अशुद्धशुद्धशिलयोर्दोषगुणाः	५१
शोधनम्	५१
प्रकारान्तरशोधनम	५१
सत्त्वपातनम्	५२
मतान्तरम्	५२
अञ्जनानि	५२
अञ्जनानां भेदनिर्देशः	५२
सौवीराञ्जनगुणाः	५२
रसाञ्जनगुणाः	५२
स्रोतोऽञ्जनगुणाः	५२
पुष्पाञ्जनगुणाः	५३
नीलाञ्जनगुणाः	५३
शोधनम्	५३
सत्त्वपातनम्	५३
स्रोतोऽञ्जनलक्षणम्	५३
अञ्जनेन रसबन्धोपायः	५३
रसाञ्जनस्य विशेषशोधनम्	५३
स्रोतोऽञ्जनसत्वपातनम्	५३
कङ्कुष्ठम्	५४
कङ्कुष्ठस्योत्पत्तिस्थानं भेदश्च	५४
कङ्कुष्ठद्वयलक्षणम्	५४
कङ्कुष्ठस्योत्पत्तौ मतान्तरद्वयं लक्षणञ्च	,,
द्वयोः प्रशस्ताऽप्रशस्तता च	५४
कंकुष्ठगुणाः	५४
रसोपरसानां सामान्यतः शोधनं सत्त्वपातनञ्च	५४
कङ्कुष्ठशोधनम्	५४
कङ्कुष्ठस्यसत्त्वरूपता	५५
अस्य विरेचने मात्रानिर्देशः	५५
अविधिप्रयोगे दोषः	५५
कंकुष्ठविषचिकित्सा	५५
साधारणरसाः	५५
साधारणरसानां नामानि	५५
कम्पिल्लः	५५
कम्पिल्लस्य स्वरूपलक्षणमुत्पत्तिस्थानञ्च	५५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
गुणाः	५५
गौरीपाषाणः	५५
गौरीपाषाणस्य पर्य्यायभेदाः	५६
शोधनम्	५६
सत्त्वग्रहणम्	५६
गुणाः	५६
नवसारः	५६
नवसारस्योत्पत्तिः पर्य्यायश्च	५७
मतान्तरम्	५७
गुणाः	५७
वराटिका	५८
वराटिकालक्षणम्	५८
उत्तमादिभेदेन त्रैविध्यम्	५८
वराटस्य लक्षणगुणौ	५८
गुणाः	५८
शोधनम्	५९
अग्निजारः	५९
अग्निजारस्य स्वरूपलक्षणम्	५९
गुणाः	५९
शुद्धिः	५९
गिरिसिन्दूरम्	५९
गुणाः	५९
हिंगुलः	६०
हिंगुलस्य द्वैविध्यम्	६०
शुकतुण्डस्य परिचयः	६०
हंसपाकलक्षणम्	६०
गुणाः	६०
हिंगुलाकृष्टसूतगुणाः	६१
शोधनम्	६१
शोधनविशेषेण गुणविशेषः	६१
हिंगुलात् सत्त्वाकर्षणविधिः	६१
मृद्दारशृङ्गकम्	६१
मृद्दारशृङ्गस्य परिचयः	६१
गुणाः	६१
साधारणरसानां सामान्यशोधनम्	६१
सत्त्वानां सामान्यशोधनम्	६२

चतुर्थोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रत्नानि	६२
मणयः	६२
मणीनां सामान्यकार्य्यम्	६२
,, नामानि	६२
श्रेष्ठमणयः	६२
नवग्रहरत्नानि	६२
दुष्टनवग्रहप्रसादकरत्नानि	६२
रत्नधारणस्य सिद्धिप्रदत्वोक्तिः	६२
माणिक्यम्	६३
माणिक्यस्य द्वैविध्यम्	६३
प्रशस्तपद्मरागस्य लक्षणम्	६३
नीलगन्धिमाणिक्यस्य लक्षणम्	६३
निकृष्टमाणिक्यलक्षणम्	६३
माणिक्यगुणाः	६३
मौक्तिकम्	६३
प्रशस्तमौक्तिकफललक्षणम्	६३
मौक्तिकगुणाः	६३
निकृष्टमौक्तिकलक्षणम्	६४
मौक्तिकगुणान्तरम्	६४
प्रवालम्	६४
प्रशस्तप्रवाललक्षणम्	६४
निकृष्टप्रवालम्	६४
प्रवालगुणाः	६४
तार्क्ष्यम्	६४
प्रशस्ततार्क्ष्यलक्षणम्	६४
अप्रशस्ततार्क्ष्यम्	६४
तार्क्ष्यगुणाः	६४
पुष्परागः	६५
प्रशस्तपुष्परागलक्षणम्	६५
अप्रशस्तपुष्परागलक्षणम्	६५
गुणाः	६५
वज्रम्	६५
पुं-वज्रस्य लक्षणम्	६५
स्त्री नपुंसक वज्रलक्षणे	६६
तेषां जातिभेदेनाधिकारि-भेदनिर्देशः	६६
वज्राणां वर्णादिभेदेनाधिकारिभेद-निर्देशः	६६
वज्रगुणाः	६६
सर्वरत्नानां साधारणदोषनिर्देशः	६६
वज्रशोधनम्	६६
वज्रमारणम्	६६
मारणान्तरम्	६७
मतान्तरम्	६७
,,	६७
,,	६७
,,	६७
वज्रप्रयोगविधिः	६८
प्रयोगान्तरम्	६८
नीलम्	६८
नीलस्य द्वैविध्यम्	६८
तयोर्लक्षणम्	६८
प्रशस्तेन्द्रकनीललक्षणम्	६८
जलनीलस्य विशेषलक्षणम्	६८
गुणाः	६८
गोमेदः	६८
गोमेदस्य निरुक्तिः	६८
प्रशस्तगोमेदलक्षणम्	६८
अप्रशस्तगोमेदलक्षणम्	६८
गुणाः	६८
रत्नमारणनिषेधः	६९
रत्नप्रयोगः	६९
रत्नानां साधारणशोधनम्	६९
वैदूर्य्यम्	६९
शुभवैदूर्य्यलक्षणम्	६९
अशुभवैदूर्य्यलक्षणम्	६९
गुणाः	६९
सर्वरत्नानां शोधनम्	६९
रत्नानां मारणम्	६९
रत्नानां द्रावणम्	६९
मुक्ताद्रावणे विशेषक्रमः	७०
वज्रद्रावणे ,,	७०
वैक्रान्तद्रावणे ,,	७०
मतान्तरम्	७०
,,	७१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
सर्वरत्नानां सामान्य द्रावणम्	७१
राजावर्तः	७१
उत्तममध्यमराजावर्त्तलक्षणन्	७१
गुणाः	७१
राजावर्त्तादीनां सामान्यं शोधनम्	७१
राजावर्त्तशोधनम्	७१
राजावर्त्तमारणम्	७१
सत्त्वपातनम्	७१
द्रुतीनां दीर्घकालरक्षणोपायः	७२
रत्नधारणगुणाः	७२
गैरिकम्	७२
गैरिकस्य शोधनं सत्त्वपातनञ्च	७२
पञ्चमोऽध्यायः ।	
लोहानि	७२
लोहानां जातिनिरूपणम्	७२
स्वर्णम्	७३
स्वर्णस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः	७३
स्वर्णरौप्ययोः सामान्यगुणाः	७३
प्राकृतस्वर्णस्योत्पत्तिः	७४
सहजस्वर्णोत्पत्तिः	७४
वह्निजस्वर्णोत्पत्तिः	७४
प्राकृतादित्रयाणां लक्षणगुणौ	७४
खनिजस्वर्णस्योत्पत्तिलक्षणगुणाः	७४
रसेन्द्रवेधजस्वर्णस्योत्पत्तिगुणाः	७५
गुणाः	७५
अशोधितामारितस्वर्णदोषाः	७६
सुवर्णस्य सु-वर्णसम्पादनम्	७६
लोहमारकद्रव्येषु उत्तमादिनिर्देशः	७६
स्वर्णमारणम्	७६
मतान्तरम्	७६
,,	७६
स्वर्णद्रावणम्	७७
द्रावणान्तरम्	७७
स्वर्णभस्मनः प्रयोगविधिः	७७
अमारितस्य स्वर्णस्य दोषः	७७
रजतम्	७७
रजतस्य त्रैविध्यनिर्देषः	७७
सहजरौप्यस्योत्पत्तिर्गुणाश्च	७७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
खनिजरौप्यम	७७
कृत्रिमरौप्यम्	७७
उत्तमरजतलक्षणम्	७८
त्याज्यरजतलक्षणम्	७८
रौप्यगुणाः	७८
गुणान्तरम्	७८
स्वर्णादिशोधनम्	७९
अशुद्धरजतदोषाः	७९
रौप्यस्य विशेषशोधनम्	७९
मतान्तरम्	८०
रौप्यमारणम्	८०
मतान्तरम्	८०
रौप्यस्य निरुत्थभस्मीकरणम्	८०
मतान्तरम्	८०
स्वर्णतारयोर्द्रावणम्	८०
रौप्यप्रयोगविधिः	८०
ताम्रम्	८१
ताम्रस्य द्वैविध्यम्	८१
म्लेच्छताम्रस्य लक्षणम्	८१
नैपालताम्रस्य लक्षणम्	८१
त्याज्यताम्रम्	८१
ताम्रस्य गुणाः	८१
अशोधितामारितताम्रदोषाः	८२
ताम्रशोधनम्	८२
मतान्तरम्	८२
,,	८२
,,	८३
ताम्रमारणम्	८३
रसरत्नाकरोक्तामृतीकरणम्	८३
मारणान्तरम्	८३
ग्रन्थान्तरोक्तताम्रप्रयोगः	८३
सोमनाथोक्तताम्रप्रयोगः	८४
अयः	८५
लोहभेदाः	८५
मुण्डभेदाः	८५
मृदुमुण्डलक्षणम्	८५
कुण्ठमुण्डलक्षणम्	८६
कडारमुण्डलक्षणम्	८६
मुण्डगुणाः	८६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अशुद्धलोहस्य दोषाः	८६
तीक्ष्णलोहस्य षड्विधत्वम्	८६
खरतीक्ष्णलक्षणम्	८६
सारतीक्ष्णलक्षणम्	८६
हृन्नालतीक्ष्णलक्षणम्	८६
सवर्य्य यपोगरलक्षणम्	८६
वाजिरतीक्ष्णलक्षणम्	८६
काललोहतीक्ष्णलक्षणम्	८७
खरतीक्ष्णगुणाः	८७
सारतीक्ष्णादीनां पञ्चानां गुणाः	८७
कान्तलौहस्य पञ्चविधत्वम्	८७
पञ्चविधकान्तस्य भेदान्तरनिर्देशः	८७
कान्तस्य वर्णभेदेन कार्य्यनिर्देशः	८७
भ्रामकादीनामधममध्यमत्वादिनिर्देशः	८७
भ्रामकलक्षणम्	८८
चुम्बक-कर्षकयोर्लक्षणम्	८८
द्रावकलक्षणम्	८८
रोमकलक्षणम्	८८
एकादिमुखभेदेन कान्तस्याधम-मध्यमत्वादिनिर्देशः	८८
भ्रामकादीनां कार्य्यनिर्देशः	८८
रसकर्मणि कान्तस्य विशेषोपयोगिता	८८
कान्तस्य ग्राह्यवर्ज्यत्वनिर्देशः	८८
कान्तलौहलक्षणम्	८८
कान्तलौहगुणाः	८९
लौहस्य शोधनमारणयोरावश्यकता	९०
मारणार्थं लौहस्य परिमाणम्	९०
लौहमारणे मन्त्रम्	९०
लौहत्रयाणामुत्तरोत्तरगुणाधिक्यम्	९०
सर्वलौहानां सामान्यशोधनम्	९०
लौहानां गिरिजदोषशोधनम्	९०
मतान्तरम्	९१
,,	९१
मतान्तरे शोधनं मारणञ्च	९१
,, मारणम्	९१
तीक्ष्णलौहस्य ,,	९१
कान्तलौहस्य रससिन्धूक्तगुणाः	९२
सर्वलौहानां मारणे मतान्तरम्	९२
तीक्ष्णलौहस्य विशेषमारणम्	९३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मतान्तरम्	९३
मतान्तरे सर्वलौहानां मारणम्	९३
मतान्तरम्	९३
,,	९३
,,	९३
तीक्ष्णलौहद्रावणम्	९४
मतान्तरे द्रावणम्	९४
लौहप्रयोगः	९४
कान्तलौहस्य रामराजीप्रोक्तशोधनम्	९४
सर्वविधलोहानां रामराजीप्रोक्त-मारणम्	९५
लौहानां रामराजीप्रोक्तगुणाः	९५
उत्तमकान्तलौहस्य लक्षणम्	९५
कान्तलौहस्य विशेषमारणम्	९५
अष्टलोहानां द्रावणम्	९६
मतान्तरम्	९६
मण्डूरः	९६
मण्डूरशोधनम्	९६
मतान्तरम्	९६
लौहमण्डूरयोः तुल्यगुणत्वनिर्देशः	९६
मण्डूरस्य मण्डूरलौहानामुत्तरोत्तर-गुणाधिक्यम्	९७
अशुद्धलौहस्य ग्रन्थान्तरोक्तगुणाः	९७
शुद्धलौहस्य ग्रन्थान्तरोक्तगुणाः	९७
वङ्गम्	९७
वङ्गस्य द्वैविध्यम्	९७
खुरकवङ्गस्य लक्षणम्	९७
मिश्रकवङ्गस्य ,,	९७
वङ्गगुणाः	९७
खुरकवङ्गशोधनम्	९८
मिश्रकवङ्गशोधनम्	९८
नागवङ्गकांस्यताम्राणां सामान्य शोधनम्	९८
वङ्गमारणम्	९८
मतान्तरम्	९९
,,	९९
,,	९९
वङ्गप्रयोगः	९९
सीसकम्	१००

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शुद्धाशुद्धसीसकलक्षणम्	१००
सीसकगुणाः	१००
सीसकशोधनम्	१०१
सीसकमारणम्	१०१
मतान्तरम्	१०१
सीसकस्य निरुत्थभस्मीकरणम्	१०१
निरुत्थभस्मीकरणे मतान्तरम्	१०२
सीसकप्रयोगः	१०२
पित्तलम्	१०२
पित्तलस्य द्वैविध्यम्	१०२
रीतिकालक्षणम्	१०२
काकतुण्डीलक्षणम्	१०२
रीतिकागुणाः	१०३
काकतुण्डीगुणाः	१०३
शुभरीतिकालक्षणम्	१०३
अशुभरीतिकालक्षणम्	१०३
रीतिकाशोधनम्	१०३
रीतिकाद्रावणम्	१०३
रीतिकामारणम्	१०३
मतान्तरम्	१०३
पित्तलप्रयोगः	१०४
कांस्यम्	१०४
कांस्यस्य उत्पत्तिनिर्देशः	१०४
प्रशस्तकांस्यलक्षणम्	१०४
अप्रशस्तकांस्यलक्षणम्	१०४
कांस्यगुणाः	१०४
कांस्यशोधनम्	१०४
कांस्यमारणम्	१०५
मतान्तरम्	१०५
वर्त्तलौहम्	१०५
वर्त्तलौहस्वरूपम्	१०५
वर्त्तलौहगुणाः	१०५
वर्त्तलौहशोधनम्	१०५
वर्त्तलौहमारणम्	१०५
रसोपरसलोहानां सूतसाधकत्व-निर्देशः	१०५
भस्मीभूतरत्नादीनामेव सूतयोगे प्रयोज्यतानिर्देशः	१०६
भूनागः	१०६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
भूनागसत्त्वपातनम्	१०६
मतान्तरम्	१०६
भूनागसत्त्वप्रयोगविधिः	१०६
तैलपातनविधिः	१०६
अङ्कोल्लबीजतैलपातनम्	१०६
मतान्तरम्	१०६
,,	१०६
,,	१०८
बाकुचीबीज घोषाबीजानां तैलपातनम्	१०८
विषतुष्टितैलपातनम्	१०८
जैपालतैलपातनम्	१०८
बाकुचीबीजतैलपातने प्रकारान्तरम्	१०८
कृष्णामिश्रश्वेतगुञ्जाबीजतैलपातनम्	१०८

षष्ठोऽध्यायः ।

शिष्योपनयनम्	१०८
रसशास्त्रप्रकटने हेतुनिर्देशः	१०८
शास्त्रक्रमयोरन्योऽन्यापेक्षित्वनिर्देशः	१०८
रसविद्याया गुरोर्लक्षणम्	१०९
शिष्यलक्षणम्	१०९
सहायलक्षणम्	१०९
नास्तिकादीनां वैफल्यनिर्देशः	१०९
गुरुसन्तोषस्य सिद्धिप्रदत्वनिर्देशः	११०
रससाधनोपयोगिदेशनिर्देशः	११०
रससाधनोपयोगिगृहनिर्माणप्रकारः	११०
रसलिङ्गप्रस्तुतप्रकारनिर्देशः	११०
रसलिङ्गार्चनादौ फलनिर्देशः	११०
पूजाविधिनिर्देशः	१११
ध्यानम्	१११
देवीपूजायां मन्त्रम्	१११
पूजने प्रकारनिर्देशः	१११
रसविद्यादाने दीक्षाविधिः	१११
कालिनीलक्षणम्	११२
कालिन्यभावे तदनुकल्पविधिः	११२
देवतापूजनविधिः	११२
रसशक्तयः	११३
तत्र उपरसाः	११३
तत्र महारसाः	११३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अष्टलोहपूजाक्रमः	११३
उपकरणानां पूजाविधिः	११३
रससिद्धानां नामानि	११४
अदीक्षितस्य रसविद्यासाधनवैफल्यम्	११४
केषां पारदः सिध्यति	११४
कस्मै किमर्थं रसविद्या दातव्या	११५
गुरोर्महत्त्वम्	११५
रसविद्याया अवश्यगोप्यत्वनिर्देशः	११५

सप्तमोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रसशाला	११५
रसशालानिर्माणस्य स्थाननिर्देशः	११५
रसशालायाः कुत्र किं कर्म कर्त्तव्यं तन्निर्देशः	११५
रसशालायां सङ्ग्राह्याणि उपकरणानि	११६
चालनीस्वरूपम्	११६
मूषादिवस्तुसंग्रहः	११६
शिखित्रकोकिलास्वरूपम्	११७
उपलस्य पर्य्यायः	११७
कूपिकापर्यायाः	११७
चषकस्य पर्यायाः	११७
रससाधनाङ्गानामर्चनायाः कर्त्तव्यता-निर्देशः	११७
रसकर्मणि नियोज्याः वैद्याः	११७
रसपाककालेऽघोरमन्त्रजपः	११७
परिचारकलक्षणम्	११८
रसकर्मयोग्यवैद्यलक्षणम्	११८
पद्महस्तवैद्यलक्षणम्	११८
वर्जनीयवैद्यलक्षणम्	११८
निधिसाधने नियोज्यपुरुषस्य लक्षणम्	११८
बलिसाधने नियोज्यपुरुषलक्षणम्	११८
रसायने ,, ,,	११८
धातुवादे ,, ,,	११८
भेषजाहरणे ,,	११८
रसविद्यायां लब्धव्यसाफल्यस्य लक्षणम्	११८
रससिद्धसाधकस्य कर्त्तव्यम्	११८
रससिद्धेः फलम्	११९

अष्टमोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
परिभाषा	११९
परिभाषायाः प्रयोजनम्	११९
धन्वन्तरिभागः	११९
रुद्रभागः	११९
विश्वासघातकवैद्यलक्षणम्	१२०
कज्जली	१२०
रसपङ्कः	१२०
रसपिष्टी	१२०
मतान्तरे पिष्टी	१२०
पातनपिष्टी	१२०
स्वर्णरौप्ययोः कृष्टिः	१२०
कृष्ट्याः कार्य्यम्	१२०
स्वर्णाक्तपिष्टीबीजस्य कार्य्यम्	१२१
वरलोहकम्	१२१
हेमरक्ती	१२१
हेमरक्त्याः कार्य्यम्	१२१
ताररक्ती	१२१
दलम्	१२१
अन्यविधदलम्	१२१
शुल्वनागम्	१२१
शुल्वनागगुणाः	१२१
पिञ्जरी	१२२
चन्द्रार्कम्	१२२
निर्वाहणम्	१२२
निर्वापणस्य मात्रानिर्देशः	१२२
वारितरलोहलक्षणम्	१२२
रेखापूर्णाख्यमृतलोहलक्षणम्	१२२
अपुनर्भवलोहलक्षणम्	१२२
ऊनमलक्षणम्	१२२
निरुत्थलोहम्	१२२
बीजलक्षणम्	१२३
उत्तरणम्	१२३
ताडनम्	१२३
धान्याभ्रलक्षणम्	१२३
सत्त्वलक्षणम्	१२३
एककोलीसकलक्षणम्	१२४
द्रावणादिकर्मसाधने काष्ठनिर्देशः	१२४
हिंगुलाकृष्टरसः	१२४
घोषाकृष्टलक्षणम्	१२४
वरनागलक्षणम्	१२४
उत्थापनालक्षणम्	१२५
ढालनलक्षणम्	१२५
नागसंभूतचपलः	१२५
वङ्गसम्भूतचपलः	१२५
चपलस्य कार्य्यम्	१२५
तादृशबद्धरसस्य कार्य्यम्	१२५
धौतम्	१२५
द्वन्द्वानम्	१२६
भञ्जनी	१२६
चुल्लका	१२६
पतङ्गीरागः	१२६
आवापः	१२६
अभिषेकः	१२६
निर्वापः	१२६
प्रक्षेपकालनिर्देशः	१२७
शुद्धावर्त्तः	१२७
बीजावर्त्तः	१२७
स्वाङ्गशीतलम्	१२७
बहिःशीतलम्	१२७
स्वेदनलक्षणम्	१२७
मर्दनलक्षणम्	१२७
मूर्च्छनलक्षणम्	१२७
उत्थानलक्षणम्	१२८
बन्धनलक्षणम्	१२८
पातनलक्षणम्	१२८
रोधनलक्षणम्	१२८
नियामनलक्षणम्	१२८
दीपनलक्षणम्	१२९
ग्रासमानम्	१२९
जारणायास्त्रैविध्यनिर्देशः	१२९
जारणायाः पुनस्त्रैविध्यनिर्देशः	१३०
,, पुनर्द्वैविध्यनिर्देशः	१३०
निर्मुखजारणालक्षणम्	१३०
बीजनिर्देशः	१३०
मुखलक्षणम्	१३०
समुखजारणालक्षणम्	१३०

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
राक्षसवक्त्ररसलक्षणम्	१३०
चारणालक्षणम्	१३१
गर्भद्रुतिलक्षण म्	१३१
बाह्यद्रुतिलक्षणम्	१३१
द्रुते पञ्चविधत्वनिर्देशः	१३१
द्रुतिस्वरूपम्	१३१
जारणाभेद-जारणालक्षणम्	१३१
विडलक्षणम्	१३२
रञ्जनलक्षणम्	१३२
सारणालक्षणम्	१३२
वेधलक्षणम्	१३२
वेधस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः	१३३
लेप वेधलक्षणम्	१३३
क्षेप-वेधलक्षणम्	१३३
कुन्त वेधलक्षणम्	१३३
धूम-वेधलक्षणम्	१३३
शब्द वेधलक्षणम्	१३३
उद्घाटनलक्षणम्	१३४
स्वेदनलक्षणम्	१३४
सन्न्यासलक्षणम्	१३४
स्वेदसन्न्यासयोर्गुणः	१३४
परिभाषाज्ञानस्य फलम्	१३४

——

नवमोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
यन्त्राणि	१३४
प्रस्तुताध्यायस्य कर्तव्यनिर्देशः	१३४
यन्त्रशब्दस्य निरुक्तिः	१३५
दोलायन्त्रम्	१३५
स्वेदनीयन्त्रम्	१३५
पातनायन्त्रम्	१३५
अधःपातनप्रकारः	१३६
दीपिकायन्त्रम्	१३६
डेकीयन्त्रम्	१३६
जारणायन्त्रम्	१३७
जारणायन्त्रस्य प्रकारान्तरम्	१३७
कच्छपयन्त्रम्	१३८
विद्याधरयन्त्रम्	१३८
सोमानलयन्त्रम्	१३८
गर्भयन्त्रम्	१३९
हंसपाकयन्त्रम्	१३९
बालुकायन्त्रम्	१३९
लवणयन्त्रम्	१४०
लवणयन्त्रस्य प्रकारान्तरम्	१४०
नालिकायन्त्रम्	१४०
भूधरयन्त्रम्	१४०
पुटयन्त्रम्	१४०
कोष्ठीयन्त्रम्	१४१
वलभीयन्त्रम्	१४१
तिर्य्यक्पातनयन्त्रम्	१४१
पालिकायन्त्रम्	१४२
घटयन्त्रम्	१४२
इष्टिकायन्त्रम्	१४२
हिंगुलाकृष्टिविद्याधरयन्त्रम्	१४२
डमरुयन्त्रम्	१४२
नाभियन्त्रम्	१४३
तोयमृल्लक्षणम्	१४३
वह्निमृत्स्ना	१४३
ग्रस्तयन्त्रम्	१४३
स्थालीयन्त्रम्	१४३
धूपयन्त्रम्	१४४
कन्दुकयन्त्रम्	१४४
कन्दुकयन्त्रस्य प्रकारान्तरम्	१४४
खल्लयन्त्रम्	१४४
खल्लयन्त्रस्य द्वैविध्यनिर्देशः	१४४
द्विविधखल्लयोः सामान्यलक्षणम्	१४४
शोधनार्थमर्द्धचन्द्राकृतिखल्लम्	१४५
मर्दनार्थं वर्त्तुलखल्लनिर्देशः	१४५
तप्तखल्लार्थं खल्लनिर्देशः	१४५
तप्तखल्लविधिः	१४५

दशमोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मूषादिकथनम्	१४६
मूषायाः पर्य्यायाः	१४६
मूषानिरुक्तिः	१४६
मूषाया उपादानम्	१४६
मूषाप्रशंसा	१४६
सन्धिलेपस्य पर्य्यायाः	१४६
मूषोपयोगिमृत्तिका	१४६
मूषोपयोगिद्रव्याणि	१४६
मूषाया उपकरणान्तराणि	१४७
वज्रमूषा	१४७
योगमूषा	१४७
वज्रद्रावणीमूषा	१४७
गारमूषा	१४७
वरमूषा	१४८
वर्णमूषा	१४८
रूप्यमूषा	१४८
विडमूषा	१४८
वज्रद्रावणोपयोगिमूषान्तरम्	१४८
मूषाऽऽप्यायनम्	१४८
वृन्ताकमूषा	१४९
गोस्तनी	१४९
मल्लमूषा	१४९
पक्वमूषा	१४९
गोलमूषा	१४९
महामूषा	१४९
मण्डूकमूषा	१४९
मुषलमूषा	१५०
कोष्ठिकाप्रस्तावः	१५०
अङ्गारकोष्ठी	१५०
पातालकोष्ठी	१५०
गारकोष्ठी	१५१
वङ्कनालम्	१५१
सिद्धरसादीनां कोष्ठी	१५१
पुटानि	१५१
पुटस्य प्रयोजननिर्देशः	१५१
,, फलम्	१५२
महापुटम्	१५२
गजपुटम्	१५२
वाराहपुटम्	१५३
कुक्कुटपुटम्	१५३
कपोतपुटम्	१५३
गोवरस्वरूपम्	१५३
गोवरपुटम्	१५३
भाण्डपुटम्	१५३
बालुकापुटम्	१५३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
भूधरपुटम्	१५४
लावकपुटम्	१५४
अनुक्तपुटमाने कर्त्तव्यनिर्देशः	१५४
उपलपर्य्यायाः	१५४
अकृत्रिमकृत्रिमलोहानि	१५४
षड्लवणानि	१५४
क्षारत्रयम्	१५४
क्षारपञ्चकम्	१५४
मधुरत्रयम्	१५५
रसकर्मणि तैलयोनिफलानि	१५५
वसावर्गः	१५५
मूत्रवर्गः	१५५
पञ्चमाहिषम्	१५५
छागलपञ्चकम्	१५५
अम्लवर्गः	१५५
अम्लपञ्चकम्	१५६
पञ्चमृत्तिका	१५६
विषवर्गः	१५६
उपविषवर्गः	१५६
दुग्धवर्गः	१५६
विड्वर्गः	१५६
रक्तवर्गः	१५६
पीतवर्गः	१५७
श्वेतवर्गः	१५७
कृष्णवर्गः	१५७
रक्तवर्गादीनां प्रयोजननिर्देशः	१५७
शोधनीयगणः	१५७
लोहकाठिन्यनाशनो योगः	१५७
द्रावणीयो गणः	१५८
क्षाराम्ल-विष स्नेहानां कार्य्यम्	१५८

——

एकादशोऽध्यायः ।

रसशोधनादिकथनम्	१५८
मानपरिभाषा	१५८
मानपरिभाषायां मतान्तरम्	१५८
रसराजस्य संस्कारकथने प्रतिज्ञा	१५९
अष्टादशसंस्काराणां नामानि	१५६
व्याधिविशेषे रसप्रयोगनिषेधः	१६०

विषयाः	पृष्टाङ्काः
शुद्ध-मूर्च्छितरसयोगुणः	१६०
मृतसूतगुणाः	१६१
रसे नैसर्गिकदोषास्तेषां कार्याणि	१६१
रसस्य यौगिकदोषद्वयं तयोः कार्य्यञ्च	१६१
रसस्यौपाधिकदोषाः	१६१
रसदोषाणां द्वादशत्वकथनम्	१६३
सप्तकञ्चुकाः	२६३
भूमिजादीनां कार्य्यम्	१६३
उपसंहारः	१६३
संस्कारार्थं सूतस्य परिमाणम्	१६३
संस्काराः	१६४
स्वेदनविधिः	१६४
मर्दनविधिः	१६४
मूर्च्छनसंस्कारः	१६४
उत्थापनसंस्कारः	१६५
पातनसंस्कारः	१६५
उर्द्ध्वाधःपातनयोःसङ्ख्यानिर्देशः	१६५
अधःपातनविधिः	१६५
पातने प्रकारान्तराणि	१६६
प्रकारान्तरम्	१६६
तिर्य्यक्पातनम्	१६६
मर्दनादीनां कार्यम्	१६६
रोधनम्	१६६
नियामनम्	१६७
प्रकारान्तरम्	१६७
दीपनम्	१६७
प्रकारान्तरदीपनम्	१६८
रसभावनादौ मूलिन्यः	१६८
रसबन्धनं वक्तुं प्रतिज्ञा	१६९
रसबन्धाः	१६६
मतान्तरीयबन्धः	१६६
हठबन्धः	१६६
आरोटबन्धः	१६६
आभासबन्धः	१७०
क्रियाहीनबन्धः	१७०
पिष्टिकाबन्धः	१७०
क्षारबन्धः	१७०
खोटबन्धलक्षणम्	१७०
पोटबन्धलक्षणम्	१७१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कल्कबन्धलक्षणम्	१७१
कज्जलीबन्धलक्षणम्	१७१
सजीवबन्धलक्षणम्	१७१
निर्जीवबन्धलक्षणम्	१७२
निर्बीजबन्धलक्षणम्	१७२
सबीजबन्धलक्षणम्	१७२
शृङ्खलाबन्धलक्षणम्	१७२
द्रुतिबन्धलक्षणम्	१७२
बालकबन्धलक्षणम्	१७३
कुमारबन्धलक्षणम्	१७३
तरुणबन्धलक्षणम्	१७३
वृद्धबन्धलक्षणम्	१७३
मूर्तिबन्धलक्षणम्	१७३
जलबन्धलक्षणम्	१७४
अग्निबन्धलक्षणम्	१७४
महाबन्धलक्षणम्	१७४
सूतानां संक्षिप्तमूर्च्छाकल्पः	१७४
जलूकाबन्धलक्षणम्	१७५
जलूकायास्त्रिविधप्रमाणनिर्देशः	१७५
,, संस्कारविशेषः	१७६
अन्यविधो जलूकां वक्तुं प्रतिज्ञा	१७६
द्वितीयप्रकारजलूकाबन्धः	१७६
जलूकाबन्धान्तरम्	१७६
प्रकारान्तरम्	१७६
,,	१७७
,,	१७७
योनिविद्रावणम्	१७७
मदनवलयम्	१७७
प्रकारान्तरम्	१७६
सूतमारणम्	१७८
प्रकारान्तरम्	१७८
,,	१७८
,,	१७८
,,	१७९
,,	१७९
,,	१७९
अन्यविधं मारणम्	१७९

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रसभस्मसेवनविधिः	१८०
रससेवने पथ्यविधिः	१८०
,, अपथ्यानि	१८०
देवीशास्त्रोक्तककारादिगणः	१८१
श्रीकृष्णदेवोक्तककारादिगणः	१८१
ककारादिनिषेधस्यापवादः	१८१
रसव्यापदि प्रतीकारः	१८२
रससेवने उपचारविधिः	१८२
रसत्यागे ,,	१८२
पारदीय विशेष विवेचन	**१८३**
ऋषिकथित पारदोत्पत्ति मंत	१८३
रसोत्पत्तिविषयक नवीनमत	१८४
पारद की सर्वप्रथम प्राप्ति	१८४
मुख्य मुख्य खनिज	१८५
रसकर्पूरनिर्माण की अर्वाचीन विधि	१८६
पारद के उक्त खनिजों की परीक्षा	१८७
पारदप्राप्ति के कुछ गौण खनिज	१८७
पारद के भेद	१८८
अशुद्ध पारद के लक्षण	१८८
शुद्ध पारद के लक्षण	१८९
पारद के दोष	१९०
पारद के कञ्चुक	१९०
पारद के मिश्रक	१९१
पारद के संस्कार	१९१
पारद का आयात-निर्यात	१९१
पारद का शरीरावयवों पर प्रभाव	१९४
बाह्य शरीर पर प्रभाव	१९४
आभ्यन्तरिक शरीर पर प्रभाव	१९४
पारद और उसके यौगिकों का औषधविज्ञान	१९६
बाह्य प्रयोग	,,
आभ्यन्तरिक प्रयोग	१९७
शरीर में पारद प्रविष्ट करने की विधियाँ	,,
धूम्रीकरण	,,
लेपन	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पारदस्नान	१९८
सावधानी	,,
पारदीय खनिज प्राप्ति के स्थान	१९९
ब्योरवार विवरण का कारण	२०६
हिंगुलप्रकरण	,,
हिंगुल परिचय	२०७
देश और रंगादि भेद से हिंगुल के अनेक नाम	,,
हिंगुलनिर्माण की भारतीय विधि	२०९
खनिज हिंगुल की उत्पत्ति	२१०
गन्धक विवरण	,,
गन्धकोत्पत्ति सिद्धान्त	,,
गन्धक उपलब्धि	,,
गन्धकयुक्त खनिजों से गन्धक निकृष्टि	२१२
गोदन्ती से गन्धक की प्राप्ति	,,
गन्धक की अनेकरूपता	२१४
१. अष्टफलकीय गन्धक	,,
२. (क) नम्य गन्धक	,,
(ख) श्वेत अस्फटकीय गन्धक	,,
(ग) पीत ,, ,,	,,
३. द्रवित अणुसामूहिक गन्धक	,,
गन्धक और गन्धकीय खनिज प्राप्ति के स्थान	२१५
गन्धक का शरीरावयवों पर प्रभाव	२१६
गन्धक का रोगशामक उपयोग	२१७

द्वादशोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
ज्वरचिकित्सनम्	२१८
चिकित्सनीयरोगाणां नामानि	,,
वातज्वरलक्षणम्	२१९
पित्तज्वरलक्षणम्	,,
कफज्वरलक्षणम्	,,
द्वन्द्वसन्निपातज्वराणामातिदेशिक-लक्षणम्	२२०

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रसायनानि	२२०
त्रैलोक्यसुन्दररसः	,,
त्रैलोक्यडम्बररसः	,,
मेघनादरसः	२२१
ज्वरगजहरिरसः	,,
दीपिकारसः	२२२
शीतभञ्जीरसः	,,
मृतजीवनरसः	२२३
द्वितीयः शीतभञ्जीरसः	२२३
वृद्धज्वरांकुशः	२२४
महाज्वरांकुशः	२२४
मृत्युञ्जयरसः	२२४
सर्वज्वरारिरसः	२२५
चन्द्रसूर्य्यरसः	२२६
विषप्रयोगायोग्यनिर्देशः	२२६
उमाप्रसादनो रसः	२२६
ज्वरांकुशो रसः	२२७
सर्वाङ्गसुन्दरचिन्तामणिरसः	२२७
लोकनाथगुटिका	२२८
सूचिकाभरणो रसः	२२८
शार्ङ्गष्टादिवर्गः	२३०
सूचीमुखो रसः	२३०
सन्निपातगजांकुशः	२३०
चातुर्थिकहरो रसः	२३१
चातुर्थिकगजांकुशरसः	२३१
द्वितीयमृत्युञ्जयरसः	२३१
पञ्चवक्त्ररसः	२३२
उन्मत्तरसः	२३२
सन्निपाताञ्जनरसः	२३२
प्रतापलंकेश्वरः	२३३
प्राणेश्वररसः	२३३
मृतसञ्जीवनरसः	२३४
द्वितीयमृतसञ्जीवनरसः	२३४
सन्निपातकुठारः	२३५
नवज्वरारिः	२३५
जलमञ्जरीरसः	२३६
कान्तरसः	२३६
चन्द्रोदयरसः	२३६
जीर्णज्वरारिः	२३७
नवज्वरमुरारिः	२३७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
त्रयोदशोऽध्यायः ।	
रक्तपित्तादिचिकित्सनम्	२३८
रक्तपित्तस्य निदानसम्प्राप्ती	२३८
पटोलादियोगः	२३८
रसेन्द्रयोगः	२३८
रक्तपित्तांकुशो रसः	२३८
चन्द्रकलारसः	२३९
पटोलकादियोगः	२४०
नवनीतादियोगः	२४०
शिरोलेपः	२४०
द्राक्षादिकषायः	२४०
योगद्वयम्	२४०
सितामृता	२४०
कासचिकित्सा	२४०
कासस्य निदानादिकम्	२४०
अर्कादियोगः	२४१
कासहरो रसः	२४१
रत्नकरण्डकरसः	२४१
भूतांकुशरसः	२४२
बोलबद्धरसः	२४२
अग्निरसः	२४२
भृङ्गराजयोगः	२४२
अर्कादियोगः	२४३
कासघ्नधूमद्वयम्	२४२
क्षयमग्निरसः	२४३
क्षयकासघ्नो योगः	२४३
श्वासचिकित्सा	२४३
श्वासस्य सम्प्राप्तिः	२४३
ऊर्ध्वश्वासारिः	२४३
सूर्यावर्त्तरसः	२४३
सौगन्धिकयोगः	२४४
शिलादिचूर्णम्	२४४
श्वासान्तकरसः	२४४
श्वासहरवटकः	२४४
भार्गोत्तरगुडिका	२४४
नीलकण्ठरसः	२४५
श्वासकासकरिकेशरीरसः	२४५
सूर्यरसः	२४६
हिक्काचिकित्सा	२४६
हिक्कानाशनो रसः	२४६
कज्जलयोगः	२४६
शिलापूतरसः	२४६
रास्नादिक्षीरम्	२४६
हिक्काघ्नधूमः	२४७
कासश्वासहिक्कास्वरभेदचिकित्सा	२४७
पर्पटीरसः	२४७
मन्थानभैरवः	२४८
गन्धपाषाणयोगः	२४८
विश्वादिवटिका	२४९
चतुर्दशोऽध्यायः ।	
राजयक्ष्मादिचिकित्सनम्	२४९
राजयक्ष्मणो लक्षणम्	२४९
कनकसुन्दरो रसः	२४९
राजमृगाङ्करसः	२५०
शंखेश्वररसः	२५१
मृगाङ्कपोटलीरसः	२५१
मातुलुङ्गादियोगः	२५१
रजन्यादियोगः	२५१
सौभाग्ययोगः	२५१
सुगन्धायोगः	२५१
रक्तवान्तिहरो योगः	२५२
मृगाङ्कपोटलीरसः	२५२
यक्ष्मणि औषधविशेषसेवनोपदेशः	२५२
पञ्चामृतरसः	२५२
जयन्तीयोगः	२५३
लोकनाथरसः	२५३
लोकेश्वररसः	२५३
वैद्यनाथरसः	२५४
द्वितीयलोकनाथरसः	२५४
प्राणनाथरसः	२५५
वज्ररसः	२५५
महावीररसः	२५६
पञ्चामृतपर्पटीरसः	२५७
गन्धकपिष्ट्यादियोगः	२५८
राजावर्त्तरसः	२५९
द्वितीयराजावर्त्तरसः	२५९
पञ्चदशोऽध्यायः ।	
अर्शसां चिकित्सनम्	२५९
अर्शसां स्वरूपलक्षणम्	२५९
पित्तार्शोलक्षणम्	२६०
वातार्शोलक्षणम्	२६०
श्लेष्मसन्निपातार्शोलक्षणम्	२६०
अर्शःकुठाररसः	२६०
वचादिमोदकः	२६०
तीक्ष्णमुखो रसः	२६०
लौहाष्टकम्	२६१
श्लेष्मार्शसि औषधविशेषनिर्देशः	२६१
सर्वलोकाश्रयो रसः	२६१
अर्शोघ्नवटकः	२६२
अर्शोघ्नहररसः	२६२
मूलकुठारः	२६२
महोदयप्रत्ययसारः	२६३
कनकसुन्दरो रसः	२६४
अर्केश्वरो रसः	२६५
तीक्ष्णमुखो रसः	२६५
अर्शःकुठाररसः	२६५
त्रैलोक्यतिलकः	२६६
अर्शोहरयोगः	२६७
देवदाल्यादिलेपः	२६७
अर्शःकुठारलेपः	२६७
अर्शोघ्नशौचः	२६७
दुर्नामहरलेपः	२६७
अर्शोघ्नी वर्त्तिः	२६७
शिग्रुमूलादिलेपः	२६७
षोडशोऽध्यायः ।	
उदावर्त्तादिचिकित्सनम्	२६८
उदावर्त्तनिदानम्	२६८
उदावर्त्तहरं घृतम्	२६८
अतीसारचिकित्सा	२६८
अतीसारनिदानम्	२६८
दर्दुररसः	२६८
द्वितीयदर्दुररसः	२६९
आनन्दभैरवो रसः	२६९

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
सुधासाररसः	२६६
स्वेदनीयन्त्रलक्षणम्	२७०
लोकेश्वररसः	२७०
लोकनाथरसः	२७१
षरिणष्कतैलम्	२७१
नागसुन्दररसः	२७१
ग्रहणीचिकित्सा	२७२
ग्रहणीलक्षणम्	२७२
ग्रहणीवज्रकपाटरसः	२७२
अग्निकुमारो रसः	२७२
शम्बूकादिचूर्णम्	२७३
कनकसुन्दरो रसः	२७३
ग्रहणीकपाटरसः	२७३
चण्डसंग्रहगदैककपाटरसः	२७४
लघुसिद्धाभ्रको रसः	२७४
सर्वारोग्यवटी	२७४
ग्रहणीगजकेशरी	२७५
शीघ्रप्रभावो रसः	२७६
पोटलीरसः	२७७
वह्निज्वाला	२७७
वज्रधररसः	२७७
ग्रहणीकपाटः	२७८
मुस्तादिचूर्णम्	२७८
अजीर्णचिकित्सा	२७८
अजीर्णलक्षणम्	२७८
अजीर्णकण्टको रसः	२७८
विध्वंसरसः	२७८
बृहद्विध्वंसरसः	२७६
अग्निकुमाररसः	२७६
वाड्वाग्निरसः	२८०
नन्दिमते वराटीलक्षणम्	२८०
त्रिविधवराटिकालक्षणम्	२८०
वराटलक्षणम्	२८०
वैश्वानरपोटलीरसः	२८०
वड्वामुखी गुटिका	२८१
क्रव्यादरसः	२८१
राजशेखरवटी	२८२
अग्निकुमारः	२८२
अमृतवटी	२८३
राक्षसनामा रसः	२८३
जीवननामा ,,	२८४
वड्वानलरसः	२८४
अग्निजननी वटी	२८५
सर्वरोगान्तका,,	२८५
अग्निकरम्	२८५

सप्तदशोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
चिकित्सनम्	२८६
अश्मरीनिदानम्	२८६
अश्मरीमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा	२८६
पाषाणभेदी रसः	२८६
गोक्षुरप्रयोगः	२८६
पाण्डुरादियोगः	२८६
शुक्लपिण्याकादियोगः	२८६
मूत्रकृच्छ्रान्तकरसः	२८७
द्वितीयपाषाणभेदी	२८७
गोक्षुरादिचूर्णम्	२८७
त्रिविक्रमरसः	२८७
आनन्दभैरवी वटी	२८७
अश्मरीहरयोगः	२८८
यवक्षारप्रयोगः	२८८
लघुलोकेश्वरो रसः	२८८
विदार्यादिकषायः	२८८
क्षारप्रयोगः	२८८
हारिद्रप्रयोगः	२८६
शैवयोगः	२८६
प्रमेहनिदानम्	२८६
प्रमेहचिकित्सा	२८६
वंगेश्वरो रसः	२८६
गुड्मार्कण्डी	२८६
ताम्रयोगः	२८६
रक्तमेहे वङ्गप्रयोगः	२८६
शुक्लप्रमेहे ,,	२६०
मधुमेहे ,,	२६०
शाल्मलीप्रयोगः	२६०
रक्तप्रमेहे बोलबद्धरसस्य प्रयोगः	२६०
श्लेष्मातककाथः	२६०
कूष्माण्डस्वरसप्रयोगः	२६०
स्त्रीणां रक्तस्रावे तौवरयोगः	२६०
चन्द्रप्रभा वटी	२६०
प्रमेहगजसिंहः	२६०
महाविद्या गुटिका	२६१
प्रमेहारिरसः	२६१
उमाशम्भुरसः	२६२
रसेन्द्रनागरसः	२६२
मेहशत्रुरसः	२६३
कासीसादिरसः	२६३
भीमपराक्रमरसः	२६४
सञ्जीवनरसः	२६४
मेहमर्दनरसः	२६५
रामबाणरसः	२६५
राजमृगाङ्कः	२६५
मेहहररसः	२६६
उदयभास्कररसः	२६६
मेहकुठारः	२६७
हिमांशुरसः	२६७
वसन्तकुसुमाकररसः	२६८
मेहहररसः	२६६
मेहबद्धरसः	२६६
हरिशंकरो रसः	२६६

अष्टादशोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
विद्रध्यादिचिकित्सनम्	३००
विद्रधेर्निदानं सम्प्राप्तिश्च	३००
विद्रध्यादिचिकित्सा	३००
सर्वेश्वरपर्पटी	३००
वरुणकषायः	३०१
शोभाञ्जनादिकाथः	३०१
सर्वामयहरो रसः	३०१
वृद्धिचिकित्सा	३०२
दार्वीप्रयोगः	३०२
वातारिरसस्य प्रयोगोपदेशः	३०२
वातारिरसः	३०२
तैलार्द्रकप्रयोगः	३०२
अन्त्रवृद्धौ पानीयतैलम्	३०२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अन्त्रवृद्धौ घृतं तैलं च	३०३
,, मांसरसः	३०३
अन्त्रवृद्धौ द्वितीयमांसरसः	३०३
गुल्मपूर्वरूपम्	३०३
गुल्मचिकित्सा	३०३
गन्धकादिपोटलीरसः	३०३
गन्धकादिपोटल्याः प्रयोगान्तरम्	३०३
वंगेश्वरः	३०४
देवदालीपञ्चाङ्गचूर्णम्	३०४
तक्रासवः	३०४
एरण्डक्षारम्	३०४
शरपुङ्खादियोगः	३०४
वज्रक्षारप्रयोगः	३०४
काञ्चिनीप्रयोगः	३०४
प्लीहि रक्तमोक्षणम्	३०५
शिखिवाडवो रसः	३०५
दीप्तामरो रसः	३०५
विद्याधरो रसः	३०५
व्योषादिचूर्णम्	३०६
देवदार्वादिचूर्णम्	३०६
रक्तोदरकुठारः	३०६
वैश्वानररसः	३०६
अग्निकुमाररसः	३०६
सर्वाङ्गसुन्दरः प्राणेश्वरो रसः	३०७
गुल्मनाशनो रसः	३०८
शूलचिकित्सा	३०८
अग्निमुखो रसः	३०८
क्षारप्रयोगः	३०९
त्रिनेत्ररसः	३०९
सौभाग्ययोगः	३०९
चिन्तामणिरसः	३१०
शूलगजकेशरी रसः	३१०
बन्ध्यादिक्षारः	३१०
मृतोत्थापनरसः	३११
क्षारताम्रम्	३११
शूलान्तकरसः	३१२
द्वितीयोऽग्निमुखः	३१२
द्वितीयत्रिनेत्रो रसः	३१२
उदयभास्करः	३१३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शूलगजकेशरी	३१३
द्वितीयक्षारताम्रम्	३१४
ताम्राष्टकम्	३१४
वडवानलगुटिका	३१४
अग्निकुमारः	३१४
शम्बूकादिलौहम्	३१५
इन्द्रवारुणिकादिचूर्णम्	३१५
भूदार्वादियोगः	३१५
सद्यःशूलहरो योगः	३१५
सद्यःशूलहरयोगद्वयम्	३१५
क्षारवटी	३१६
कार्श्यचिकित्सा	३१६
अमृतार्णवो रसः	३१६
पूर्णचन्द्ररसः	३१६
स्थौल्यचिकित्सा	३१७
वडवाग्निमुखो रसः	३१७
स्थौल्ये पूर्वकृत्यनिर्देशः	३१७
मध्वार्द्रकप्रयोगः	३१७
अग्निकुमारो रसः	३१७
अम्लपित्तचिकित्सा	३१९
अम्लपित्तनिदानम्	३१९
अम्लपित्तोपचाराः	३१९
वमनयोगः	३१९
विरेचनयोगः	३१९
लीलाविलासो रसः	३१९
कूष्माण्डखण्डम्	३२०
ताम्रद्रुतिरसः	३२०
पित्तरोगचिकित्सा	३२१
पित्तान्तको रसः	३२१
दशसारवटी	३२१

एकोनविंशोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
उदरादिचिकित्सनम्	३२२
जलोदरलक्षणम्	३२२
वातोदरलक्षणम्	३२२
उदरपाण्डुशोफानां चिकित्सा	३२२
जीमूतकादिगुटिका	३२२
विनोदविद्याधररसः	३२२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
दन्तिबीजादिरसः	३२३
मृत्युञ्जयो रसः	३२३
उदरे विरेचनविधिः	३२३
त्रैलोक्यसुन्दरो रसः	३२३
महावह्निरसः	३२४
गुडनागरप्रयोगः	३२५
वज्रक्षारः	३२५
खदिरादियोगः	३२६
पिप्पलीप्रयोगः	३२६
वैश्वानरो रसः	३२६
सूर्य्यप्रभा गुटिका	३२६
उदयमार्त्तण्डोरसः	३२७
पाण्डुरोगस्य लक्षणम्	३२७
पाण्डुरोगचिकित्सा	३२७
हंसमण्डूरः	३२७
कालविध्वंसनरसः	३२८
पञ्चाननरसः	३२९
आरोग्यसागरो रसः	३३०
पाण्डुघनपंकशोषणो रसः	३३०
पाण्डुहारिहरीतकी	३३०
पित्तपाण्डुवैरिगुटिका	३३१
त्रैलोक्यसुन्दरः	३३१
त्रिनेत्ररसस्य प्रयोगविधिः	३३२
विजयागुटिका	३३२
टङ्कणादियोगः	३३२
जयपालरसः	३३२
देवदालीपञ्चाङ्गप्रयोगः	३३३
कामलालक्षणम्	३३३
अपामार्गादियोगः	३३३
पञ्चास्यरसः	३३३
त्रियोनिरसः	३३३
मुस्तादिचूर्णम्	३३४
कामेश्वररसः	३३३
पाण्डुघनानिलरसः	३३४
कंसादिपञ्चकम्	३३५
सिन्दूरभूषणो रसः	३३५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
विंशोऽध्यायः ।	
विसर्पादिचिकित्सनम्	३३५
कालाग्निरुद्रो रसः	३३५
एरण्डबीजादितैलम्	३३६
द्वितीयैरण्डबीजादितैलम्	३३६
गलत्कुष्ठलक्षणम्	३३६
कुष्ठेषु क्रियासूत्रम्	३३६
वातकुष्ठारिरसः	३३६
पित्तकुष्ठारिरसः	३३७
श्लेष्मकुष्ठारिरसः	३३७
त्रिदोषकुष्ठारिरसः	३३७
विजयवटिका	३३८
सर्वेश्वररसः	३३८
सुप्तकुष्ठदलनो रसः	३३९
प्रतापलंकेश्वरो रसः	३३९
किटिमारितैलम्	३३९
सिध्मे गन्धपाषाणलेपः	३३९
,, वराटिकालेपः	३३९
दद्रुकुष्ठे मयूरक्षारादिलेपः	३३९
चर्मकुष्ठे पर्पटीरसः	३४०
,, मेघनादाद्युद्वर्त्तनम्	३४०
शतारुषि रसादिषट्कम्	३४०
कुष्ठविधूननो रसः	३४०
मञ्जिष्ठादिगणः	३४०
कंगुणीतैलम्	३४०
पामारितैलम्	३४१
तालेश्वरो रसः	३४१
महातालेश्वरो रसः	३४१
सर्वकुष्ठान्ततैलम्	३४२
कुष्ठविध्वंसनो लेपः	३४२
कनकसुन्दरो रसः	३४२
हरिबोलांकुशो रसः	३४३
त्रिपुरान्तको रसः	३४३
विश्वहितो रसः	३४४
निर्गुण्ड्यादिप्रलेपः	३४४
कुष्ठराक्षसः	३४४
व्योषादिगुडिका	३४४
कुष्ठकुठारो रसः	३४४
गुञ्जाद्युद्वर्त्तनम्	३४५
वज्रशेखरो रसः	३४५
कुष्ठविद्रावणतैलम्	३४५
दद्रुकुष्ठविद्रावणरसः	३४६
माणिक्यतिलकरसः	३४६
परहितो रसः	३४६
तालकेश्वरो रसः	३४७
खगेश्वरो रसः	३४८
कुष्ठनाशनो रसः	३४९
आरोग्यवर्द्धनी गुटिका	३४९
नारायणरसः	३४९
मेदिनीसाररसः	३५०
जन्तुघ्नी गुटिका	३५०
धन्वन्तरिरसः	३५१
वज्रधाररसः	३५१
सर्वकुष्ठाङ्कुशः	३५१
द्वितीयमहातालेश्वरः	३५१
द्वितीयकुष्ठकुठारः	३५१
वज्रतैलम्	३५२
स्वर्णक्षीरीरसः	२५२
महाभल्लाततैलम्	३५३
त्रैलोक्यविजयतैलम्	३५३
महामार्त्तण्डतैलम्	३५३
काञ्चनीतैलप्रयोगः	३५४
शुष्ककण्डूहरलेपः	३५४
सैन्धवादिलेपः	३५४
शिलादिलेपः	३५४
कुष्ठान्तपर्पटी	३५४
काशीशबद्धो रसः	३५४
द्वितीयसर्वेश्वरः	३५४
योगराजगुग्गुलुप्रयोगः	३५५
श्वित्रकुष्ठलक्षणम्	३५५
श्वित्रारिरसः	३५५
निम्बादिचूर्णम्	३५५
श्वित्रकुष्ठारिरसः	३५५
चन्द्रप्रभा वटिका	३५६
ताम्रलिप्तकज्जलीरसः	३५६
उदयादित्यरसः	३५६
अल्पश्वित्रे शिलादिलेपः	३५७
अङ्कोलतैलादिलेपद्वयम्	३५७
श्वित्रान्तकरसः	३५७
श्वेतारियोगः	३५८
कृष्णीकरणयोगः	३५८
गन्धकादिक्षारः	३५८
उडुम्बरादिचूर्णम्	३५९
अंकोलादितैलम्	३५९
कुष्ठारितैलम्	३५९
उदरक्रिमिरोगलक्षणम्	३५९
क्रिमिचिकित्सा	३५९
क्रिमिशूलहरो रसः	३५९
अग्नितुण्डरसः	३५९
क्रिमिज्वरे आखुपर्णीप्रयोगः	३६०
पर्पटीप्रयोगः	३६०
क्रिमिशूलसंहारो रसः	३६०
अजमोदादिवटिका	३६०
सूतभस्मप्रयोगः	३६०
क्रिमिहरो रसः	३६०
कीटमर्दो रसः	३६१
एकविंशोऽध्यायः ।	
वातव्याध्यादिचिकित्सनम्	३६१
महारोगाः	३६१
शीतवातलक्षणम्	३६१
वातारिरसः	३६१
विजयागुटिकाप्रयोगः	३६२
शीतारिरसः	३६२
स्पर्शवातस्य लक्षणम्	३६२
सर्वेश्वरो रसः	३६२
अर्केश्वरो रसः	३६३
स्पर्शवातघ्नरसः	३६३
स्पर्शवाते राजवृक्षप्रयोगः	३६३
चक्रमर्दादिप्रयोगः	३६३
स्पर्शवातान्तकृद्वटिका	३६३
स्पर्शवातारितैलम्	३६४
स्पर्शवाते त्रिगन्धप्रयोगः	३६४
हियावलीप्रयोगः	३६४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अर्कदुग्धप्रयोगः	३६४
हल्यादिलेपः	३६४
रसेन्द्रलेपः	३६४
गन्धाश्मगर्भरसः	३६४
द्वितीयगन्धाश्मगर्भरसः	३६५
अस्पर्शारिरसः	३६५
रक्तवातस्य लक्षणम्	३६५
रक्तवातचिकित्सा	३६५
हरीतक्यादिचूर्णम्	३६५
गोकिलाक्षादिकषायः	३६६
शोधनोपदेशः	३६६
रक्तवातेऽपथ्यम्	३६६
आमवातलक्षणम्	३६६
आमवातचिकित्सा	३६६
वातारिरसप्रयोगः	३६६
अनिलारियोगः	३६६
आमवाते एरण्डतैलप्रशंसा	३६६
अपस्मारलक्षणम्	३६६
अपस्मारचिकित्सा	३६६
पर्पटीरसस्य प्रयोगविधिः	३६६
ब्राह्म्यादिनस्यम्	३६६
गवाक्ष्यादिनस्यम्	३६६
अपस्मारनस्यम्	३६७
शुनोऽस्थिनस्यम्	३६७
अपस्मारहरयोगः	३६७
उन्मादवातलक्षणम्	३६७
उन्मादचिकित्सा	३६७
उन्मादे पर्पटीरसप्रयोगः	३६७
,, उपचारविशेषाः	३६७
माहेश्वरो धूपः	३६७
एकांगवातलक्षणम्	३६८
एकाङ्गवातचिकित्सा	३६८
एकांगवाते पर्पटीरसप्रयोगविधिः	३६८
सर्जतैलम्	३६८
शतावर्य्यादिगुग्गुलुः	३६८
विविधवातव्याधिचिकित्सा	३६८
योगराजगुग्गुलुः	३६८
द्वितीययोगराजगुग्गुलुः	३६९
वडवानलरसः	३६९

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मार्त्तण्डेश्वररसः	३७०
चतुःसुधारसः	३७०
सर्ववातारिरसः	३७१
वातविध्वंसनो रसः	३७२
वृकोदरगुटिका	३७३
प्रभावती वटी	३७३
पर्पटीरसप्रयोगे विध्यन्तरम्	३७३
विजयभैरवतैलम्	३७४
द्वितीयविजयभैरवतैलं सूततैलं वा	३७४
स्वच्छन्दभैरवो रसः	३७४
द्वितीयवड़वानलः	३७५
द्वितीयस्वच्छन्दभैरवः	३७५
षडङ्गगुग्गुलुः	३७५
षडङ्गयोगः	३७५
त्रिफलाद्यं यमकम्	३७६
त्वग्वाते आनन्दभैरवप्रयोगः	३७६
निर्गुण्डीप्रयोगः	३७६
रक्तैरण्डप्रयोगः	३७६
इन्द्रवारुणीप्रयोगः	३७६
सर्वाङ्गवातारिरसः	३७६
त्र्यम्बकेश्वरो रसः	३७६
गगनगर्भा वटी	३७७
वातगजांकुशो रसः	३७७
वातरक्तलक्षणम्	३७७
वातरक्तचिकित्सा	३७७
(वातरक्ते औषधप्रयोगः)	३७७
पित्तरोगचिकित्सा	३७८
चन्द्रावलेहः	३७८
ऐलेयसर्पिः	३७८
ऐलेयकप्रयोगः	३७८
ऐलेयकतैलम्	३७८
अमृतप्राशः	३७९

द्वात्रिंशोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
बन्ध्यादिचिकित्सनम्	३७९
बन्ध्याया भेदाः	३७९
पुरुषस्य बन्ध्यत्वदोषाः	३८०
बन्ध्यालक्षणम्	३८०

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
जयसुन्दररसः	३८०
रत्नभागोत्तररसः	३८१
चक्रिकाबन्धरसः	३८१
वर्द्धमानरसः	३८२
द्रुतिसाररसः	३८३
बन्ध्यागर्भसम्प्राप्तिः	३८४
सर्पाक्षीप्रयोगः	३८४
देवदालीप्रयोगः	३८४
शरपुङ्खाप्रयोगः	३८४
रुद्राक्षादिप्रयोगः	३८४
श्वेतकण्टकारीप्रयोगः	३८४
विष्णुक्रान्ताप्रयोगः	३८४
अश्वगन्धाप्रयोगः	३८५
मृतवत्सालक्षणम्	३८५
शङ्करोक्तदैवव्यपाश्रयचिकित्सा	३८५
बन्ध्याकर्कोटकीप्रयोगः	३८६
प्रथममासे पद्मकादिकल्कः	३८६
द्वितीयमासे नीलोत्पलादिकल्कः	३८६
तृतीयमासे श्रीखण्डादिकल्कः	३८६
नीलोत्पलादिकल्कः	३८६
गर्भिणीज्वरे पाठादिकषायः	३८६
,, छिन्नादिकषायः	३८६
,, पयस्यादिकषायः	३८६
गर्भिण्यतिसारे वृक्षकत्वगादिकषायः	३८७
श्रीपर्ण्यादिबलादिकषायः	३८७
उदावर्त्तादौ पुनर्नवादिक्वाथः	३८७
अन्यक्वाथः	३८७
शोथे पुनर्नवादिलेपः	३८७
वर्षाभूक्वाथः	३८७
गर्भिणीपित्तरोगे यष्ट्यादियवागूः	३८७
श्वासकासे तिक्तादिकषायः	३८७
मरिचप्रयोगः	३८७
वान्तौ लाजादिकषायः	३८७
हिक्कायां बालबिल्वादिः	३८७
अग्निमान्द्ये अजमोदादिचूर्णम्	३८७
वातरोगे बालादिक्षीरं यवागूश्च	३८७
मूत्ररोगे श्वदंष्ट्रादिक्वाथः	३८८
गर्भिण्या मासानुमासिकयोगः	३८८
उशीरादिक्षीरम्	३८८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
वातहरायवागूः	३८८
बलादिकषायः	३८८
कामलादौ बलादिक्वाथः	३८८
सर्वरोगे बलाप्रयोगः	३८८
मूढगर्भस्य लक्षणम्	३८८
अन्तर्मृतापत्याया लक्षणम्	३८९
मूढगर्भाया असाध्यलक्षणम्	३८९
मूढगर्भचिकित्सा	३८९
करञ्जबीजादिप्रलेपः अहिनिर्मोक-स्नुहीक्षीरप्रयोगौ च	३८९
हलिनीप्रयोगः	३८९
यष्ट्यादिकल्कः	३८९
लाङ्गल्यादिलेपः	३८९
मातुलुंगीरम्भाप्रयोगौ	३८९
सिद्धार्थादिवस्तिः	३८९
सिद्धार्थकानुवासनम्	३८९
सूतिकाचिकित्सा	३९०
कोरण्टकादिकषायः	३९०
पञ्चमूलक्वाथः	३९०
भूनिम्बादितैलम्	३९०
सौभाग्यशुण्ठी	३९०
पर्पटीरसः	३९१
स्वर्णादिप्रयोगः	३९१
योनिव्यापच्चिकित्सा	३९१
योनिशूले निर्गुण्डीप्रयोगः	३९१
प्रस्रंसिन्या कारलीकन्दप्रयोगः	३९१
शिथिलयोनौ इन्द्रगोपप्रयोगः	३९१
विवृतयोनौ लेपः	३९२
श्रीपर्णीतैलम्	३९२
बालचिकित्सा	३९२
बालस्य गर्भक्लेशनिवारणोपायः	३९२
सद्योजातबालस्य संज्ञाजननोपायः	३९२
,, ज्वरादिनिवारणोपायः	३९२
पित्तज्वरे रोहिणीक्षीरम्	३९३
,, अश्वत्थक्षीरम्	३९३
गन्धोत्पलकटादिकल्कः	३९३
सहदेव्यादिचूर्णम्	३९३
न्यग्रोधादिक्वाथः	३९३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रक्तातीसारहरचूर्णम्	३९३
बोलप्रयोगः	३९३
मधुकादिकल्कः	३९३
यष्ट्यादिघृतम्	३९४
शङ्खनाभ्यादिवर्त्तिः	३९४
अश्वगन्धाघृतम्	३९४
तालुकण्टकलक्षणम्	३९४
तालुकण्टकचिकित्सा	३९५
गुदकीटस्य निदानलक्षणे	३९५
गुदकीटचिकित्सा	३९५
गुदपाकचिकित्सा	३९५
मुखपाकचिकित्सा	३९५
नाभिपाकचिकित्सा	३९६
कुण्डलचिकित्सा	३९६
बालपञ्चामृतम्	३९६
तिक्ताद्यं घृतम्	३९६
राजीकुष्ठादिलेपः	३९६
ग्रहघ्नी गुटिका	३९६
माहेश्वरधूपः	३९६
छिन्नादितैलम्	३९७
स्फूर्जकादितैलम्	३९७
निम्बादिघृतं क्षीरञ्च	३९७
शैलेयादिधूपः	३९७

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
उन्मादवातादिचिकित्सनम्	३९७
उन्मादस्य निदानसम्प्राप्ती	३९७
उन्मादलक्षणम्	३९८
उन्मादचिकित्सा	३९८
अर्कमूर्त्तिरसस्य प्रयोगविधिः	३९८
निर्गुण्डिकादितैलम्	३९८
माहेश्वरो धूपः	३९९
अपस्मारसम्प्राप्तिलक्षणे	३९९
अपस्मारचिकित्सा	३९९
अपस्मारनाशनो रसः	३९९
धुस्तूरपञ्चाङ्गघृतम्	३९९
चूर्णाञ्जनम्	४००
मसीप्रयोगः	४००

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
तिलजदीपाञ्जनम्	४००
चण्डभैरवो रसः	४००
नवाङ्गवटिका	४००
सूतकप्रत्ययः	४०१
पर्पटीरसप्रयोगविधिः	४०१
अपस्मारे पर्पटीरसप्रयोगः	४०१
सर्वेश्वरो रसः	४०१
नेत्ररोगाणां सङ्ख्याः	४०२
नेत्ररोगचिकित्सा	४०२
(नागादिवर्त्तिः)	४०२
वाताभिष्यन्दे इन्द्रादिवर्त्तिः	४०२
श्लेष्माभिष्यन्दे शुल्वादिवर्त्तिः	४०२
त्रिदोषाभिष्यन्दे रसेन्द्रादिवर्त्तिः	४०२
पित्ताभिष्यन्दे तीक्ष्णादिवर्त्तिः	४०२
,, नागादिवर्त्तिः	४०३
ताम्रादिवर्त्तिः	४०३
पारदादिवर्त्तिः	४०३
एकत्रिंशाङ्गवर्त्तिः	४०३
षडङ्गवर्त्तिः	४०३
गरुडाञ्जनम्	४०३
नयनामृताञ्जनम्	४०४
तिमिरहराञ्जनम्	४०४
द्वादशाङ्गवर्त्तिः	४०४
पटलहरेन्द्ररसः	४०४
स्वर्णादिवर्त्तिः	४०४
विषाद्यञ्जनम्	४०४
पुष्पहराञ्जनम्	४०४
शिग्रुमूलाद्याश्च्योतनम्	४०४
शूलघ्नमाद्योतनम्	४०५
पौनर्नवाञ्जनम्	४०५
स्रावहराञ्जनम्	४०५
वक्ररोमहराञ्जनम्	४०५
नृकपालाञ्जनम्	४०५
शिग्रुबीजतैलाश्च्योतनम्	४०५
पटलहराञ्जनम्	४०५
तिमिरनाशनाञ्जनम्	४०५
काचान्ध्यहराञ्जनम्	४०५
शम्बूकादिवर्त्तिः	४०५
अभिष्यन्दहरो योगः	४०६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रात्र्यान्ध्यहराञ्जनम्	४०६
रात्र्यान्ध्ये व्योषाञ्जनम्	४०६
मरिचाञ्जनम्	४०६
पञ्चाङ्गगुडिका	४०६
नवनेत्रदात्री वटी	४०६
द्विरुत्तरकणादिवर्त्तिः	४०६
ताम्रवर्त्तिः	४०७
ताम्रद्रुतिः	४०७
द्वितीयताम्रद्रुतिः	४०७
गन्धकद्रुतिः	४०८
चतुर्विंशोऽध्यायः ।	
कर्णरोगादिचिकित्सनम्	४०८
कर्णरोगाणां नामानि	४०८
(कर्णरोगचिकित्सा)	४०९
कर्णशूले लवणार्द्रकप्रयोगः	४०९
क्रिमिकर्णारितैलम्	४०९
तिलपर्णीप्रयोगः	४०९
कर्णशूलेऽर्कपत्रप्रयोगः	४०९
रसोनप्रयोगः	४०९
मेघनादप्रयोगः	४०९
वाधिर्य्ये मुषल्यादिचूर्णम्	४०९
कर्णमूलस्फोटे कतकादिलेपः	४०९
पुत्रजीवलेपः	४०९
तगरादिपूरणम्	४०९
पालीवर्द्धने	४१०
चर्मचेटस्य प्रयोगः	४१०
वराहवसाप्रयोगः	४१०
बज्रादिवटिका	४१०
कुष्ठाद्यं तैलम्	४१०
नासारोगाणां नामानि	४१०
पूयास्रलक्षणम्	४१०
(नासारोगचिकित्सा)	४११
जीरकादिनस्यम्	४११
पीनसहरनस्यम्	४११
कामलाहराञ्जनम्	४११
द्वितीयकामलाहराञ्जनम्	४११
मणिपर्पटी	४११
मुखरोगाणां सङ्ख्यानिर्देशः	४११

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
गलकीलके आमलकप्रयोगः	४१२
विषतिन्दुकादिवटी	४१२
सैन्धवप्रयोगः	३१२
भल्लातकप्रयोगः	४१२
दन्तदार्ढ्ये जयाप्रयोगः	४१२
मुखपाके पर्पटीरसप्रयोगः	४१२
मुखशोषे महाराष्ट्री गुटिका	४१२
मुखवैवर्ण्ये पुनर्नवाद्युद्वर्त्तनम्	४१२
रजन्यादिप्रलेपः	४१२
वङ्गभस्मप्रयोगः	४१३
मातुलुङ्गादिप्रलेपः	४१३
मुखवैवर्ण्ये हरिद्रादिलेपः	४१३
कुष्ठादिवटी	४१३
गृहधूमक्वाथः	४१३
पथ्यादिवटिका	४१३
मुखवैरस्ये लाजादिचूर्णम्	४१३
उपजिह्वायां निर्गुण्ड्यादियोगः	४१३
क्रिमिदन्ते अभयागुटिका	४१३
काशीशादिगुटिका	४१४
विशालाधूमः	४१४
जातीपत्रादिचर्वणम्	४१४
मूलकबीजप्रयोगः	४१४
आरनालगण्डूषः	४१४
चूर्णदग्धे तैलकांजिकगण्डूषौ	४१४
सहस्रश्लोकधारियोगः	४१४
कण्ठशालूकादौ पारदादिप्रलेपः	४१५
गलकीले सैन्धवप्रलेपः	४१५
ताप्यादिवटी	४१५
गलरोगे मण्डूरलेपः	४१५
काञ्चन्यादिलेपः	४१५
ब्रह्मदण्डीप्रलेपः	४१५
गण्डमालायां पञ्चाङ्गप्रलेपः	४१५
जैपालप्रलेपः	४१५
हेमतारादिगुटिका	४१५
धातुबद्धरसगुटिका	४१६
शिरोरोगाणां नामानि	४१६
शिरोरोगचिकित्सा	४१६
अर्द्धावभेदे गिरिकर्णीप्रयोगः	४१६
गुडादिनस्यम्	४१६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मरिचप्रलेपः	४१६
चन्द्रकान्तो रसः	४१७
शिरःशूले कुंकुमादिनस्यम्	४१७
मरिचप्रयोगः	४१७
कुंकुमप्रयोगः	४१७
यूकलिक्षायां पारदप्रयोगः	४१७
दारुणहरतैलम्	४१७
केशपाते हरिद्रादिलेपः	४१७
,, भृङ्गजातीप्रलेपः	४१७
शृङ्गाटादितैलम्	४१८
इन्द्रलुप्ते भल्लातादिलेपः	४१८
गुंजाप्रयोगः	४१८
अभ्रादिवटिका	४१८
कटुतैलनस्यम्	४१८
स्नुह्यादितैलम्	४१८
व्रणस्य भेदनिर्देशः	४१९
व्रणचिकित्सा	४१९
व्रणशोधने ताम्रप्रयोगः	४१९
पटोलादिपूरणम्	४१९
निम्बपत्रादिपूरणम्	४१९
जात्याद्यं घृतम्	४१९
अपामार्गप्रयोगः	४२०
गुडटङ्कणवर्त्तिः	४२०
व्रणलेखने पारदादिलेपः	४२०
भग्नस्य भेदनिर्देशः	४२०
भग्नचिकित्सा	४२०
भग्ने पर्पटीरसप्रयोगः	४२०
वज्रीकान्तपाषाणलेपौ	४२०
भगन्दरलक्षणम्	४२०
भगन्दरस्य निरुक्तिः	४२१
भगन्दरचिकित्सा	४२१
भगन्दरे उपचारविशेषः	४२१
लाङ्गल्यादिप्रलेपः	४२१
कालाग्निरसः	४२१
चक्रिकाबद्धरसप्रयोगः	४२१
रवितांडवरसः	४२१
स्फोटने चतुरङ्गलेपः	४२२
हरिद्रादिप्रलेपः	४२२
शोषणे नरास्थितैलप्रयोगः	४२२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शोधनरोपणे ताम्रप्रयोगः	४२२
मार्जाराास्थिप्रलेपः	४२२
क्षालने त्रिफलाक्वाथः	४२२
भूलताप्रयोगः	४२३
कुक्कुरास्थिलेपः	४२३
ग्रन्थेर्लक्षणं व्युत्पत्तिश्च	४२३
अरिमेदादिभस्मलेपः	४२३
गुडूच्यादिः	४२३
उदयभास्करप्रयोगः	४२३
पुत्रजीवप्रयोगः	४२३
सन्धिग्रन्थौ रक्तस्रावविधिः	४२३
पुत्रजीवप्रयोगः	४२३
गुञ्जापत्रादिचूर्णम्	४२४
विष्णुक्रान्तादिप्रलेपः	४२४
पुनर्नवादिलेपः	४२४
अर्बुदशोणितार्बुदयोर्लक्षणम्	४२४
अर्बुदादौ पुटपक्वरसः	४२४
अर्बुदे यवक्षारादिलेपः	४२४
गण्डमालाऽपचीलक्षणम्	४२४
सुरवारुण्यादियोगः	४२५
अर्कक्षीरादिलेपः	४२५
अपच्यां गिरिकर्णिकाप्रयोगः	४२५
छुछुन्दरीतैलम्	४२५
सहदेवीप्रयोगः	४२५
गुञ्जादिलेपः	४२५

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
क्षुद्ररोगादिचिकित्सनम्	४२६
क्षुद्ररोगाणां नामानि	४२६
(क्षुद्ररोगचिकित्सा)	४२६
पर्पटीप्रयोगविधिः	४२६
व्यङ्गे शशरुधिरप्रयोगः	४२६
इङ्गुदीमज्जाप्रयोगः	४२६
कुनखे स्नुहीक्षीरादिप्रलेपः	४१६
अभयाप्रयोगः	४२६
कुष्ठादिलेपः	४२६
पुत्रजीवप्रयोगः	४२६
कक्षाग्रन्थौ शिग्रुप्रयोगः	४२६
विषादिलेपः	४२७
स्तनविद्रधौ क्रियाक्रमः	४२७
एकवीरप्रयोगः	४२७
यष्ट्यादिचूर्णम्	४२७
स्तनविद्रधिरोपणे दाहवर्त्तिः	४२७
लिङ्गरोगे बोलप्रयोगः	४२७
लिङ्गपाके उडुम्बरादिक्षालनम्	,,
जीरकप्रयोगः	,,
महाशङ्खप्रयोगः	,,
घोण्टादिलेप	,,
गन्धकप्रयोगः	,,
निम्बादिचूर्णम्	४२८
लिङ्गव्रणरोपणे सैन्धवप्रयोगः	,,
शिग्रुप्रयोगः	,,
कुष्ठादिलेपः	,,
गुह्यादिगतपिडिकायामश्वत्थादिप्रलेपः	,,
बाकुचीचित्रकप्रयोगौ	,,
सर्पाक्षीप्रयोगः	,,
लिङ्गरोगे लवङ्गादिधूमः	,,
कण्ड्वादौ काञ्चनीप्रयोगः	४२९
शाखोटकक्वाथः	,,
पादकण्डूहरयोगः	,,
पाददाहे तिलादिचूर्णम्	,,
पादकण्डूहरयोगान्तरम्	,,
पादस्फुट पथ्यनेर्दनामम्	,,
कदरे यवचिञ्चादिकषायः	,,
विपादिकायां गुडादिप्रलेपः	४३०
,, मदनादिप्रलेपः	,,
कण्ड्वादौ रसादिप्रलेपः	,,
स्वरभङ्गे धात्रीफलरसम्	,,
देवदार्वादिचूर्णम्	,,
गलदाहे सैन्धवादिचूर्णम्	,,
करंजमज्जा-पथ्याप्रयोगौ	,,
स्तनवर्द्धने बलादिप्रलेपः	,,
,, स्नेहनस्यम्	४३१
स्तनविद्रधौ कुरुवकतैलम्	,,
शुल्वप्रयोगः	,,
स्नायुके कुम्भीप्रयोगः	,,
भस्मकलक्षणम्	४३१
श्लीपदस्य सम्प्राप्तिलक्षणे	,,
श्लीपदे चक्रेश्वरो रसः	४३२
गुडूच्यादिलेपः	,,
वल्मीके बहुभावितपित्तलप्रयोगः	,,
स्थौल्ये विडङ्गादिचूर्णम्	४३३
त्रिफलादि पत्रादिकषायौ	,,
विपरीतरतिजव्याधिलक्षणम्	,,
रतिजव्याधिप्रतिकारः	,,
उपदंशादिप्रतीकारः	,,
रक्तविकृतौ बोलबद्धस्य सेवनम्	,,
अस्थिभग्ने लाक्षादिप्रलेपः	,,
स्नायुके अस्पर्शारिप्रयोगोपदेशः	४३४
योनिव्यापन्निदानम्	,,
योनिव्यापत्सु पिष्टीयोगः	,,
योनिशूले निम्बादिः	,,
सोमराज्यादिप्रलेपः	,,
योनिक्रिमिशूले रसोनादिप्रलेपः	,,
फलघृतम्	,,
रजोनाशे त्रियोनिरसप्रयोगविधिः	,,
पुष्परोधहरयोगत्रयम्	४३५
पुष्परोध-रक्तगुल्महरयोगद्वयम्	,,
पुष्परोधे चणकप्रयोगः	,,
गुडव्योषादिचूर्णम्	,,
गर्भाजनने धुस्तूरप्रयोगः	,,
सैन्धवप्रयोगः	,,
गर्भस्रावणे चूर्णप्रयोगः	,,
एरण्डप्रयोगः	,,
चित्रकप्रयोगः	४३६
अतिरक्तस्रावे शरपुङ्खाप्रयोगः	,,
अर्कमूर्त्तिरसप्रयोगविधिः	,,
योनिशूलहरयोगद्वयम्	,,
रजोदोषे व्योषादितैलम्	,,
पुष्पानुगं चूर्णम्	,,
त्रिविधविषनिर्देशः	,,
विषचिकित्सा	४३७
मेघनादप्रयोगः	,,
सूत-शतावरीयोगः	,,
सूत सोमराजीयोगः	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अभ्रकादिप्रलेपः	४३७
लूताविषे सूतभस्मप्रयोगः	,,
महासर्पविषे नागदमनीप्रयोगः	,,
शिरीषप्रयोगः	,,
अश्वगन्धा बन्ध्याप्रयोगौ	४३७
वृश्चिके व्योषादितैलम्	४३७
तार्क्ष्यसूतः	४३७
विषहररसः	४३८
मृतसञ्जीवनम्	४३८
आखुविषे शिरीषप्रयोगः	४३८
सर्वविषे देवदार्वादियोगः	४३८
,, टङ्कणप्रयोगः	४३८
वृश्चिकविषे मनोह्वादिगुडिका	४३८
पलाशबीजगुडिका	४३८
गरविषे कनकादिवटी	४३८
सविषान्ने वृक्षाम्लादियोगः	४३८

षड्विंशोऽध्यायः ।

जरारोगचिकित्सनम्	४३६
रसायनगुणाः	४३६
जराया निदानम्	४३६
वार्द्धक्यहर-रसायनम्	४३६
उदयादित्यरसः	४३६
सर्वरोगहर-रसायनम्	४३६
मासिक-रसायनम्	४४०
षाण्मासिक-रसायनम्	४४०
पाक्षिक-रसायनम्	४४०
हेमादि-रसायनम्	४४०
पिप्पल्यादि-रसायनम्	४४०
अष्टमासिक रसायनम्	४४०
त्रिवार्षिक-रसायनम्	४४१
त्रिपुरुषायुष्कररसायनम्	,,
सहस्रवर्षायुष्कर-रसायनम्	,,
त्रिफला-रसायनम्	,,
द्वितीय त्रिफला-रसायनम्	४४२
तृतीय-त्रिफला-रसायनम्	,,
षडङ्ग-रसायनम्	,,
वार्षिक रसायनम्	,,
कुष्ठादिहर-रसायनम्	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
ज्योतिष्मतीतैल-रसायनम्	४४२
सर्वरोगान्तक-रसायनम्	,,
कान्त रसायनम्	,,
चतुर्थ त्रिफला-रसायनम्	४४३
द्वितीय-कान्त-रसायनम्	,,
तृतीय-कान्त रसायनम्	,,
कान्ताभ्रक-रसायनम्	,,
पांठादिघृतम्	४४४
ताप्यादिवटकः	,,
कमलाविलासो रसः	,,
लक्ष्मीविलासो रसः	,,
नारिकेलपाकः	४४५

सप्तविंशोऽध्यायः ।

वाजीकरणम्	४४५
वाजीकरणस्य गुणाः	,,
,, निरुक्तिः	,,
शुक्रक्षयस्य निदानम्	४४६
वाजीकरणयोगोपदेशे प्रतिज्ञा	,,
वाजीकरणयोगे पूर्वकृत्यम्	४४६
मधुकप्रयोगः	४४६
शृंगीप्रयोगः	४४६
स्वयंगुप्तादिचूर्णम्	४४६
तिलप्रयोगः	४४६
सिन्दूररसः	४४६
कामकलाख्यो रसः	४४७
कामदेवो रसः	५४७
मदनसुन्दरो रसः	४४८
पूर्णचन्द्ररसः	४४८
मदनमुन्मद्रसः	४४८
कुसुमायुधो रसः	४४८
सूतेन्द्र रसः	४४६
कार्श्यहरयोगः	४५०
कार्श्यहरयोगत्रयम्	४५०
मदनकामदेवो रसः	४५०
कामधेनुरसः	४५१
महाभ्रसत्त्वम्	४५१
उमापतिरसः	४५१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
महाकनकसुन्दरो रस	४५२
अमृतार्णवो रसः	४५३
मदनसञ्जीवनो रसः	४५३
मदनमोदकः	४५४
मदनाशने कर्पूरादिप्रलेपः	४५५
द्रावणे सूतप्रयोगः	४५५
पुष्पधन्वा रसः	४५५
द्रावणे सिन्दूरप्रयोगः	४५५
रसेन्द्रचूडामणिः	४५५
कामेश्वरो मोदकः	४५६
स्तम्भने कृकवाकुप्रयोगः	४५७
कर्पूरादिप्रलेपः	४५७
पुण्डरीकप्रयोगः	,,
पूर्णचन्द्रो रसः	,,
कामदीपनो रसः	४५८
मदनजीवनो रसः	,,
महाकल्कः (दिव्यामृतरसः)	,,

अष्टाविंशोऽध्यायः ।

लोहकल्पः	४५६
रसस्य प्राधान्यकीर्त्तनम्	,,
रसभेदाः	४६०
पानीयकषायविधिः	,,
स्वर्णशोधनम्	,,
रौप्यशोधनम्	,,
ताम्रशोधनम्	,,
नागवङ्गयोः शोधनम्	४६१
कान्तलौहस्य लक्षणम्	,,
,, शोधनम्	,,
धातूनां सामान्यमारणम्	,,
स्वर्णमारणम्	,,
रौप्यमारणम्	,,
ताम्रमारणम्	४६२
सीसकमारणम्	,,
वङ्गस्य मारणान्तरम्	,,
सीसकस्य ,,	,,
लौहमारणम्	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
असम्यङ्मारितलोहस्य लक्षणम्	४६२
निरुत्थलोहस्य ,,	,,
,, परीक्षा	४६३
अनिरुत्थलौहस्य पुनर्मारणम्	४६३
प्रथमद्वितीयलोहकल्पौ	,,
तृतीयलोहकल्पः	,,
ताम्रवृद्धिसंज्ञकचतुर्थो लोहकल्पः	,,
पञ्चमलोहकल्पः	४६४
षष्ठलोहकल्पः	,,
सप्तमलोहकल्पः	,,
शूलेऽष्टमलोहकल्पः	,,
जीर्णज्वरादौ नवमलोहकल्पः	४६५
क्षयादौ दशमलोहकल्पः	,,
विविधरोगे एकादशलोहकल्पः	,,
यक्ष्मादौ द्वादशलोहकल्पः	,,
जरादौ त्रयोदशचतुर्दशलोहकल्पौ	,,
अम्लपित्तादौ पञ्चदशलोहकल्पः	,,
ग्रहण्यादौ षोडशलोहकल्पः	४६६
क्षयादौ खण्डखाद्याख्यसप्तदशलोहकल्पः	,,
अष्टादशलोहकल्पार्थं लौहमारणप्रकारः	४६८
दन्त्यादिगणः	,,
अष्टादशलोहकल्पः	,,
सर्वरोगे एकोनविंशलोहकल्पः	,,
कुष्ठे विंशलोहकल्पः	४७०
मेदःप्रभृतिषु एकविंशलोहकल्पः	,,
कुष्ठे द्वात्रिंशलोहकल्पः	,,
सर्वरोगे त्रयोविंशलोहकल्पः	,,
नेत्ररोगे कान्तनागाख्यचतुर्विंशो लोहकल्पः	,,
रसायने पंचविंशो लोहकल्पः	४७१
मृत्युहारिरसाख्यषड्विंशलोहकल्पः	,,
सप्तविंशादिलोहकल्पत्रयम्	४७२
अरिष्टलक्षणे त्रिंशलोहकल्पः	,,
जरादौ एकविंशलोहकल्पः	,,
द्वात्रिंशादिलोहकल्पचतुष्टयम्	,,
रसायने षट्त्रिंशलोहकल्पः	४७२
मृतलोहानां रसत्वकथनम्	,,

एकोनत्रिंशोऽध्यायः।

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
विषकल्पः	४७२
विषोत्पत्तौ पौराणिकी कथा	,,
स्थावरविषाणां जातिभेदाः	४७३
कन्दविषाणां नामानि	,,
कर्कटादिकन्दविषाणां लक्षणम्	४७३
श्वेतादिवर्णभेदेन विषाणां जातिभेदः	४७४
वर्णभेदेन विषाणां क्रियाभेदः	,,
विषामृतयोस्तुल्ययोनित्वनिर्देशः	,,
विषस्य मात्रानिर्देशः	,,
प्रयोगकालभेदेन विषस्य क्रियाविशेषः	,,
मात्राऽमात्राभेदेन विषामृतयोर्गुणागुणौ	४७५
विषामृतयोः सहसा प्रयोगे दोषः	,,
सहसा विषसेवनेऽष्टौ विषवेगाः	,,
विषसेवने संशोधनविधिः	,,
विषघ्नो गणः	,,
गव्यघृतस्य विषघ्नत्वोक्तिः	४७६
विषस्य प्रयोगविधिः	,,
विषसेविनः पथ्यापथ्यविधिः	,,
प्रयोज्यविषाणि	,,
तीक्ष्णविषातियुक्तविषयोश्चिकित्सा	,,
रसायनार्थं विषप्रयोगविधिः	,,
विषप्रयोगार्हपुरुषकालयोर्निर्देशः	४७७
विषप्रयोगानर्हकालादिनिर्देशः	,,
विषे निषिद्धद्रव्याणि	,,
अवस्थाविशेषे विषस्यापकारकत्वनिर्देशः	,,
विषशोधनम्	,,
नवज्वरे प्रथमविषकल्पः	,,
जीर्णज्वरे द्वितीयविषकल्पः	,,
जीर्णज्वरादौ तृतीयविषकल्पः	,,
विषमज्वरे चतुर्थविषकल्पः	,,
रक्तपित्ते पञ्चमविषकल्पः	४७८
श्वासकासे षष्ठविषकल्पः	,,
श्वासहिक्कयोः सप्तमविषकल्पः	४७८
छर्द्यामष्टमविषकल्पः	,,
दाये नवमविषकल्पः	,,
विषत्रिद्रावणघृताख्यो दशमविषकल्पः	,,
ग्रहण्यामेकादशविषकल्पः	,,
मूत्रकृच्छ्रे द्वादशविषकल्पः	,,
उदावर्त्ताश्मर्योस्त्रयोदशविषकल्पः	,,
अश्मर्यां चतुर्दशविषकल्पः	४७९
गुल्मे पञ्चदशविषकल्पः	,,
शूले षोडशविषकल्पः	,,
गुल्मप्लीह्नि सप्तदशाष्टादशविषकल्पौ	,,
प्लीह्नि एकोनविंशविषकल्पः	,,
कुष्ठे विंशविषकल्पः	४७९
,, एकविंशविषकल्पः	,,
,, द्वाविंशविषकल्पः	,,
विचर्चिकादौ त्रयोविंश-चतुर्विंश-विषकल्पौ	,,
विचर्चिकादौ पञ्चविंशविषकल्पः	,,
कुष्ठे षड्विंशविषकल्पः	,,
,, विषतैलाख्यः सप्तविंशविषकल्पः	४८०
,, अष्टाविंशविषकल्पः	,,
,, एकोनत्रिंशविषकल्पः	,,
श्वित्रादौ त्रिंशविषकल्पः	,,
श्वित्रे एकत्रिंशविषकल्पः	,,
,, क्रियान्तरम्	,,
,, द्वात्रिंशविषकल्पः	,,
श्वित्रारितैलाख्यःत्रयस्त्रिंशविषकल्पः	४८१
वाते चतुस्त्रिंशविषकल्पः	,,
अग्निदाहे पञ्चत्रिंशविषकल्पः	,,
बन्ध्यायां षट्त्रिंशविषकल्पः	,,
मूढगर्भे सप्तत्रिंशविषकल्पः	,,
बुद्धिवर्द्धने अष्टात्रिंशविषकल्पः	,,
तिमिरे एकोनचत्वारिंशविषकल्पः	,,
तिमिरे चत्वारिंशविषकल्पः	,,
तिमिरे एकचत्वारिंशविषकल्पः	,,
काचे द्विचत्वारिंशविषकल्पः	४८२
काचे त्रिचत्वारिंशविषकल्पः	४८२
काचे चतुश्चत्वारिंशविषकल्पः	४८२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शुक्लार्मे पञ्चचत्वारिंशविषकल्पः	४८२
शुक्लादौ षट्चत्वारिंशविषकल्पः	४८२
सूर्य्यप्रभावर्त्याख्यः सप्तचत्वारिंश-विषकल्पः	४८२
पिल्ले अष्टचत्वारिंशविषकल्पः	४८२
नक्तान्ध्ये एकोनपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८२
नक्तान्ध्ये पञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
कर्णशूले एकपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
शिरःशूले द्वापञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
त्रिपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
पूतिनस्ये चतुःपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
मुखरोगे पञ्चपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
„ षट्पञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
पलितादौ सप्तपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
खलतौ अष्टपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
दिग्धाहते एकोनषष्टितमविषकल्पः	४८३
दुष्टव्रणे षष्टितमविषकल्पः	४८४
अपच्यामेकषष्टितमविषकल्पः	४८४
अपच्यां द्विषष्टितमविषकल्पः	४८४
अपच्यादौ त्रिषष्टितमविषकल्पः	४८४
विषे मन्त्रादिक्रियावैफल्ये प्रतीकारः	४८४
सर्पदष्टे चतुःषष्टितमविषकल्पः	४८४
सर्पविषे मूलविषस्य मात्रा	४८४
कीटविषे „ „	४८४
वृश्चिकविषे „ „	४८४
लूताविषे पञ्चषष्टितमविषकल्पः	४८४
जङ्गमविषे षट्षष्टितमविषकल्पः	४८५
„ सप्तषष्टितमविषकल्पः	४८५
आखुविषे अष्टषष्टितमविषकल्पः	४८५
सर्वविषे एकोनसप्ततितमविषकल्पः	४८५
संज्ञाजनने सप्ततितमविषकल्पः	४८५
विषजदाहे एकसप्ततितमविषकल्पः	४८५
दुःसाध्यरोगे द्वासप्ततितमविषकल्पः	४८५
रसायने त्रिसप्ततितमविषकल्पः	४८५
„ चतुःसप्ततितमविषकल्पः	„
जयागुडिकाख्यः पञ्चसप्ततितमादि-चतुर्दशाधिकशततमान्तविषकल्पः	४८६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
जयन्तीवटिकाख्यः पञ्चदशाधिक-शततमविषकल्पः	४८७
जयावटिकाख्यः षोडशाधिकशततम-विषकल्पः	४८७
रसायने सप्तदशाधिकशततमविषकल्पः	४८७
वाजीकरणे अष्टादशाधिकशततम-विषकल्पः	४८८
विषसेवनस्य फलम्	४८८

त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

रसकल्पः	४८८
मृतसूताध्यायः	४८८
रसजारणम्	४८८
जारणे निषिद्धद्रव्याणि	४८९
वडवानलो विडः	४८९
मतान्तरे रसजारणम्	४८९
द्विविधं रसमारणम्	४८९
रसमारणे प्रकारान्तरम्	४९०
प्रकारान्तरम्	„
„	„
„	„
„	„
„	„
„	„
„	„
ज्वरे प्रथमरसकल्पः	४९१
त्रिदोषज्वरे द्वितीयरसकल्पः	„
रक्तपित्ते तृतीय-चतुर्थरसकल्पौ	„
कासे पञ्चमरसकल्पः	„
क्षये षष्ठसप्तमरसकल्पौ	„
क्षयादौ अष्टमरसकल्पः	„
हिक्कायां नवमरसकल्पः	„
छर्दिदाहयोः दशमैकादशरसकल्पौ	„
अर्शःसु द्वादशरसकल्पः	४९२
अतीसारे त्रयोदशादिरसकल्पत्रयम्	४९२
विसूच्यां षोडशरसकल्पः	„
अजीर्णे सप्तदशरसकल्पः	„

विषयाः	
प्रवाहिकायामष्टादशैकोनविंश रसकल्पौ	४९२
मूत्रकृच्छ्रे विंशरसकल्पः	„
मेहेषु एकविंशरसकल्पः	„
प्लीहादौ द्वाविंशत्रयोविंशरसकल्पौ	४९३
पक्तिशूले चतुर्विंशरसकल्पः	„
आमशूले पञ्चविंशरसकल्पः	„
उदरे षड्विंशरसकल्पः	„
कामलायां सप्तविंशरसकल्पः	„
पाण्ड्वादौ अष्टाविंशरसकल्पः	„
शोथे एकोनत्रिंशरसकल्पः	„
कुष्ठे त्रिंशैकत्रिंशरसकल्पौ	„
कुष्ठे द्वात्रिंश-त्रयस्त्रिंशरसकल्पौ	„
कुष्ठे चतुस्त्रिंशरसकल्पः	„
किलासे पञ्चत्रिंशरसकल्पः	४९४
श्वित्रे षट्त्रिंशरसकल्पः	„
क्रिमौ सप्तत्रिंशरसकल्पः	„
वातरोगे अष्टत्रिंशरसकल्पः	„
गृध्रस्यामेकोनचत्वारिंशरसकल्पः	„
वातरक्ते चत्वारिंशरसकल्पः	„
स्थौल्ये एकचत्वारिंशरसकल्पः	„
स्थौल्ये द्वाचत्वारिंशरसकल्पः	„
कार्श्ये त्रिचत्वारिंशरसकल्पः	„
अपस्मारादौ चतुश्चत्वारिंशरसकल्पः	„
अपस्मारादौ पञ्चचत्वारिंशरसकल्पः	„
पदमशाते षट्चत्वारिंशरसकल्पः	४९५
नेत्ररोगे सप्तचत्वारिंशरसकल्पः	„
तिमिरे अष्टचत्वारिंशरसकल्पः	४९५
जाड्ये एकोनपञ्चाशत्तमरसकल्पः	„
केशकृष्णीकरणे महानीलतैलाख्य-पञ्चाशत्तमरसकल्पः	„
व्रणे एकपञ्चाशत्तमरसकल्पः	४९६
ग्रन्थौ द्विपञ्चाशत्तमरसकल्पः	„
मसूरिकायां त्रिपञ्चाशत्तमरसकल्पः	„
सिध्मादौ चतुःपञ्चाशत्तमरसकल्पः	„
अस्थिस्रावे पञ्चपञ्चाशत्तमरसकल्पः	„
विषे षट्पञ्चाशत्तमादिरसकल्पषट्कम्	४९७
विषे द्विषष्टितमरसकल्पः	„

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
सर्पविषे त्रिषष्टितमरसकल्पः	,,
सर्पविषे चतुःषष्टितमरसकल्पः	,,
उन्दुरुविषे पञ्चषष्टितमरसकल्पः	,,
वृश्चिकविषेषट्षष्टितमादिरसकल्पचतुष्टयम्	,,
विषदिग्धव्रणेसप्ततितमादि-रसकल्पद्वयम्	,,
रसायने द्विसप्ततितमरसकल्पः	४९८
रसायने त्रिसप्ततितमरसकल्पः	,,
रसायने चतुःसप्ततितमरसकल्पः	,,
रसायने पञ्चसप्ततितमरसकल्पः	,,
रसायने षट्सप्ततितमरसकल्पः	,,
रसायने सप्तसप्ततितमाद्यशीतितमान्त-रसकल्पः	४९९
रसायने एकाशीतितमरसकल्पः	,,
रसायनेवज्रपञ्जररसाख्यःद्व्यशीतितम-रसकल्पः	४९९
पञ्चामृतरसाख्यःत्र्यशीतितमरसकल्पः	५००
रसप्रयोगे उपचारविधिः	५००
रससेवने अपथ्यानि	,,
निषिद्धद्रव्यव्यवहारे दोषः	५०१
निषिद्धद्रव्यव्यवहारजदोषे प्रतीकारः	,,
नागवङ्गयुक्तरसेवने प्रतीकारः	,,
रसायने मृतसञ्जीवन्याख्यः चतुरशीतितमरसकल्पः	५०२
वाजीकरणे मदनवर्द्धनाख्यः पञ्चाशीतितमरसकल्पः	,,
वाजीकरणे सन्दिग्धान् प्रति उक्तिः	,,
औषधानां गुणदोषतत्त्वे प्रयोक्तृ-शास्त्राज्ञत्वयोर्हेतुता	५०३
आचाररसायनम्	,,
आयुर्वेदोपदेशस्यावश्यपालनीयतोक्तिः	,,
कुवैद्यानां वर्जनीयतोक्तिः	,,
शास्त्रज्ञवैद्यस्य साफल्योक्तिः	५०४
चिकित्सायाः त्रिवर्गसाधकत्वोक्तिः	,,
कुवैद्यस्य दोषान्तरम्	,,
यावच्छ्वासं चिकित्सायाः कर्त्तव्यत्वोक्तिः	५०५
वैद्यातुरयोरन्योऽन्यकर्त्तव्यनिर्देशः	,,
वैद्यानां सुलभाजीवनत्वनिर्देशः	,,
पुरावृत्तवर्णनद्वारा वैद्यस्य सर्वपूज्यत्वनिर्देशः	,,
उपसंहारः	५०६

१ दोला यन्त्र

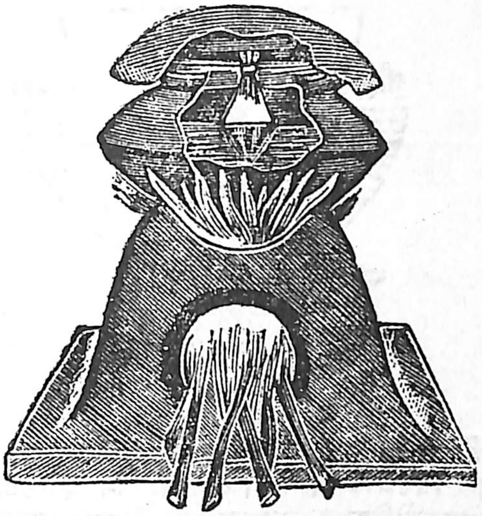

द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरिताद्धौंदरस्य च ।
मुखस्योभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः । १ ॥
तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम् ।
बद्ध्वा तु स्वेदयेदेतद्दोलायन्त्रमिति स्मृतम् ॥ २ ॥

(इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ १३५ पर देखें)

२ स्वेदनी यन्त्र

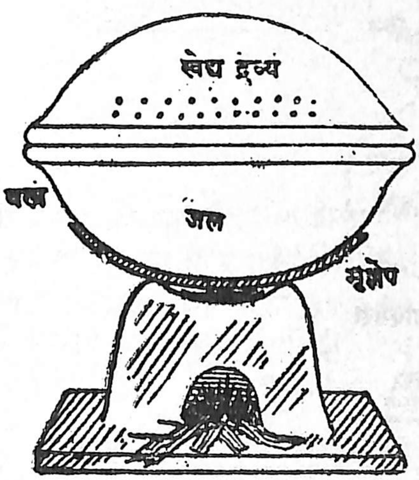

साम्बुस्थालीमुखे बद्ध-वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत् ।
पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनी-यन्त्रमुच्यते ॥ १ ॥

(इसका विशेष वर्णन पृष्ठ १३५ पर देखें)

३ पातना यन्त्र

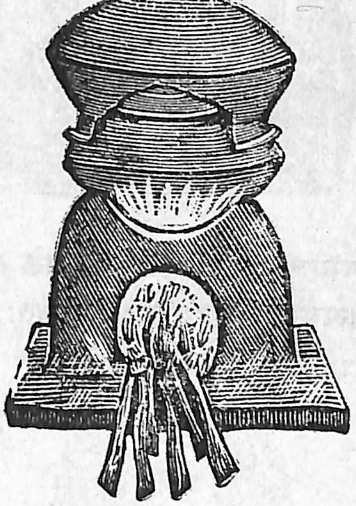

अष्टाङ्गुलपरीणाहमानाहेन दशाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः ॥ १ ॥
अधोभाण्डे मुखं तस्य भाण्डस्योपरिवर्त्तिनः ।
षोडशाङ्गुलविस्तीर्णपृष्ठस्याऽऽस्ये प्रवेशयेत् ॥ २ ॥
पार्श्वयोर्महिषीक्षीरचूर्णमण्डूरफाणितैः ।
लिप्त्वा विशोषयेत् सन्धिं जलाधारे जलं क्षिपेत् ॥
चुल्ल्यामारोपयेदेतत् पातनायन्त्रमीरितम् ॥ ३ ॥

(इसका विशेष वर्णन पृष्ठ १३५ पर देखें)

४ अधःपातन यन्त्र

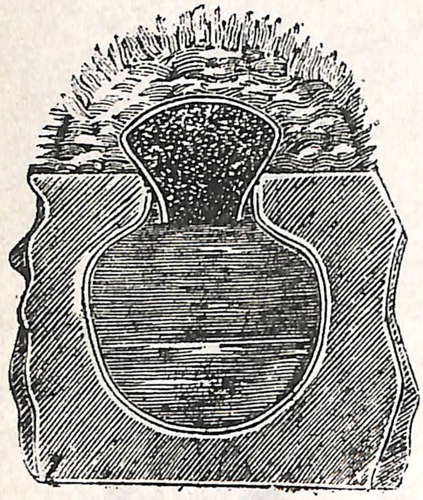

अथोर्द्ध्वभाजने लिप्तस्थापितस्य जले सुधीः ।
दीप्तैर्वनोत्पलैः कुर्य्यादधःपातं प्रयत्नतः ॥ १ ॥

(इस यन्त्र का अधिक विस्तार पृष्ठ १३६ पर देखें)

६ कच्छप यन्त्र

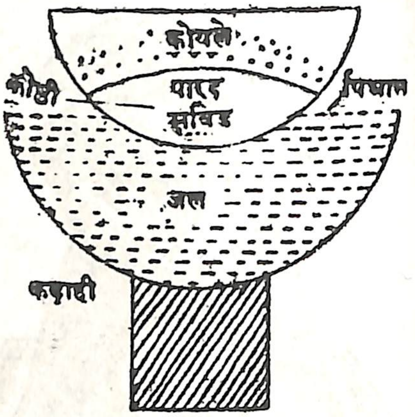

जलपूर्णपात्रमध्ये दत्त्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम् ।
तदुपरि विडमध्यगतः स्थाप्यः सूतः कृतः कोष्ठ्याम् ॥१॥
लघुलोहकटोरिकया कृतषण्मृत्सन्धिलेपयाऽऽच्छाद्य ।
पूर्वोक्तघटखर्परमध्येऽङ्गारैः खदिरकोलभवैः । २ ॥
स्वेदनतो मर्दनतः कच्छपयन्त्रस्थितो रसो जरति ।
अग्निबलेनैव ततो गर्भे द्रवन्ति सर्वसत्त्वानि ॥ ३ ॥

(इसका विशेप परिचय पृष्ठ १३८ पर देखें)

५ जारणा यन्त्र

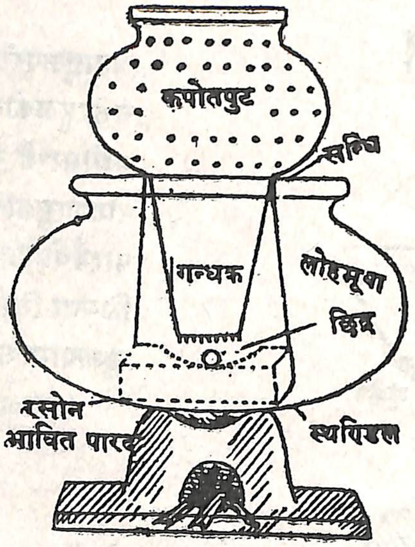

लोहमूषाद्वयं कृत्वा द्वादशाङ्गुलमानतः ।
ईषच्छिद्रान्वितामेकां तत्र गन्धकसंयुताम् ॥ १ ॥
मूषायां रसयुक्तायामन्यस्यां तां प्रवेशयेत् ।
तोयं स्यात् सूतकस्याध ऊर्द्ध्वाधो वह्निदीपनम् ॥२॥

अस्य प्रकारान्तरमपि अस्मिन् पुस्तके १३७ पृष्ठे लिखितम् ।

(इसका निर्माण प्रकार वर्णन पृष्ठ १३७ पर देखें)

दो प्रकार का

७ विद्याधर (ऊर्ध्वपातन) यन्त्र

नं० १

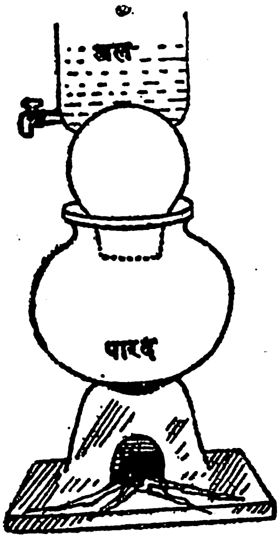

नं० २

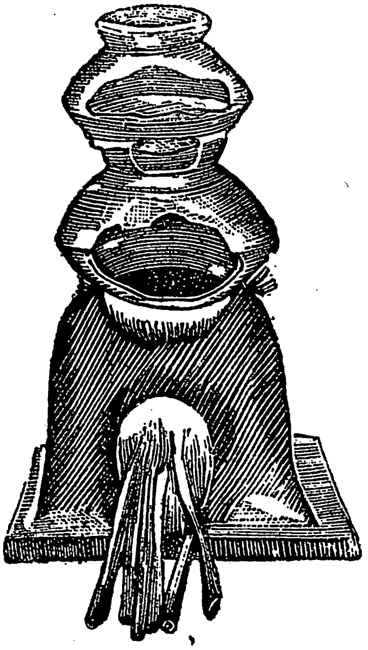

१—यन्त्रं विद्याधरं ज्ञेयं स्थालीद्वितयसम्पुटात् ।
चुल्लीं चतुर्मुखीं कृत्वा यन्त्रभाण्डं निवेशयेत ॥ १ ॥
तत्रौषधं विनिक्षिप्य निरुन्ध्याद्भाण्डकाननम् ।
यन्त्रं विद्याधरं नाम तन्त्रज्ञैः परिकीर्त्तितम् ॥ २ ॥

२—स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ्निरुध्य च ।
ऊर्द्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदधः ॥
एतद्विद्याधरं यन्त्रं हिङ्गुलाकृष्टिहेतवे ॥ १ ॥

(इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ १३८ और १४२ पर देखें)

८ सोमानल यन्त्र

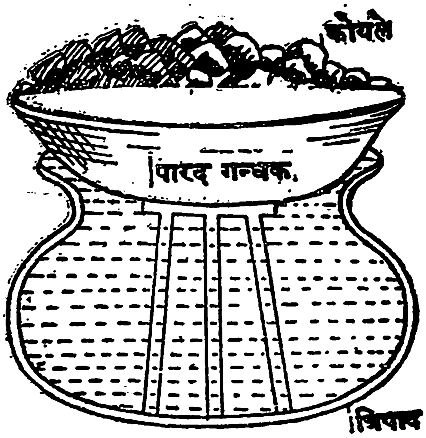

ऊद्ध्र्वं वह्निरधश्चाऽऽपो मध्ये तु रससंग्रहः ।
सोमानलमिदं प्रोक्तं जारयेद्गगनादिकम् ॥ ३ ॥

(इसका विस्तृत परिचय पृष्ठ १३८ पर प्राप्त करें)

९ हंसपाक यन्त्र

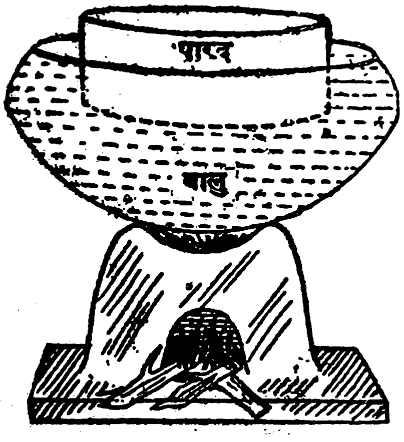

खर्परं सिकतापूर्णं कृत्वा तस्योपरि न्यसेत् ।
अपरं खर्परं तत्र शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥ १ ॥
पञ्चक्षारैस्तथा मूत्रैर्लवणञ्च विडं ततः ।
हंसपाकं समाख्यातं यन्त्रं तद्वार्त्तिकोत्तमैः ॥ २ ॥

(इसका विशेष परिचय पृष्ठ १३६ पर देखें)

१० बालुका यन्त्र और लवण यन्त्र

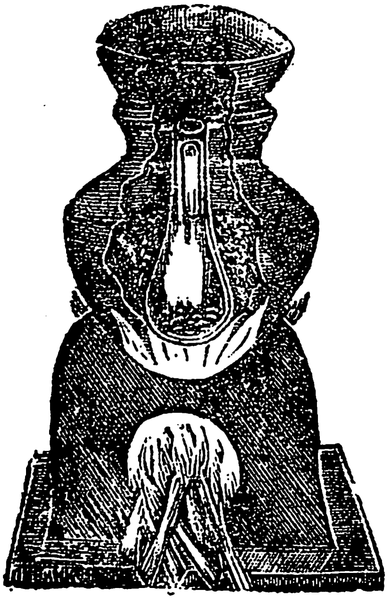

सरसां गूढवक्त्रां मृद्वस्त्राङ्गुलघनावृताम् ।
शोषितां काचकलशीं त्रिषु भागेषु पूरयेत् ॥ १ ॥
भाण्डे वितस्तिगम्भीरे बालुका सुप्रतिष्ठिता ।
तद्भाण्डं पूरयेत्त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत् ॥ २ ॥
भाण्डवक्त्रं मणिकया सन्धिं लिम्पेन्मृदा पचेत् ।
चुल्ल्यां तृणस्य चाऽदाहान्मणिकापृष्ठवर्त्तिनः ॥
एतद्धि बालुकायन्त्रं तद्यन्त्रं लवणाश्रयम् ॥ ३ ॥
एवं लवणनिक्षेपात् प्रोक्तं लवणयन्त्रकम् ॥ ४ ॥

अनयोः प्रकारान्तरं १३६ पृष्ठेऽवलोकनीयम् ।

(इसका विशेष वर्णन पृष्ठ १३६ पर देखें)

११ (क) भूधर यन्त्र

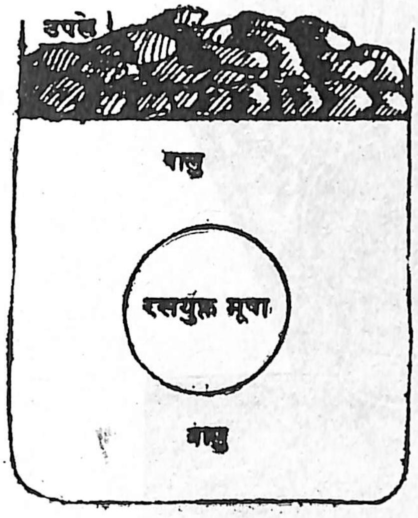

बालुकागूढसर्वाङ्गां गर्त्ते मूषां रसान्विताम् ।
दीप्तोत्पलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम् ॥ १ ॥

(इसका विस्तृत परिचय पृष्ठ १४० पर प्राप्त करें)

(ख) अन्य भूधर यन्त्र

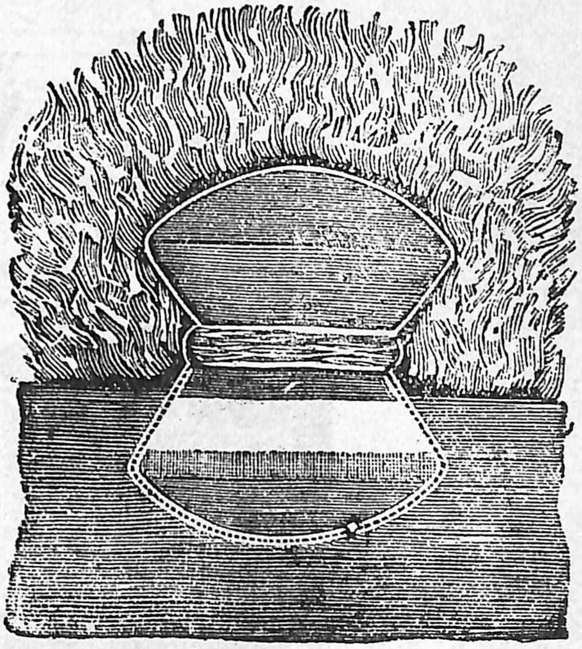

यन्त्रं डमरुवद्वाथ वाऽधःपातनयन्त्रवत् ।
भूगर्ते तत्समाधाय चोर्ध्वमाकीर्य वह्निना ॥ १ ॥
अधःस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा सूतकं तत्र पातयेत् ।
एतद्भूधरयन्त्रं स्यात् सूतसंस्कारकर्मणि ॥ २ ॥

अत्रिसंहिता

(इसका निर्माण प्रकार वर्णन पृष्ठ १४० पर देखें)

१२ कोष्ठी यन्त्र

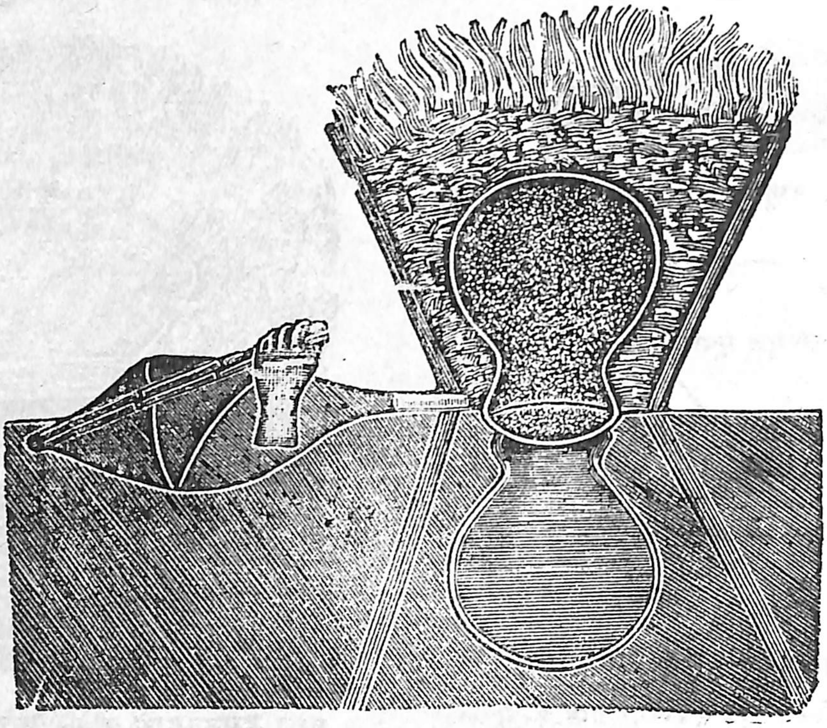

षोडशाङ्गुलविस्तीर्णं हस्तमात्राऽऽयतं समम् ।
धातुसत्त्वनिपातार्थं कोष्ठीयन्त्रमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

(इस यन्त्र का अधिक विस्तार पृष्ठ १४१ पर देखें)

१३ वलभी यन्त्र

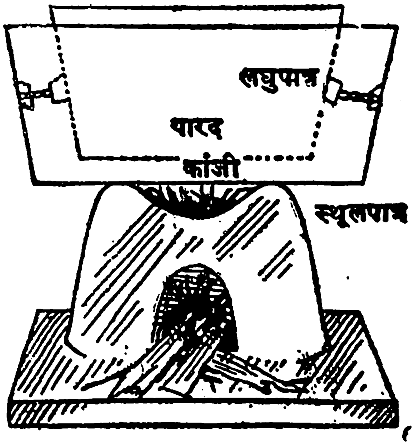

यत्र लोहमये पात्रे पार्श्वयोर्वलयद्वयम् ।
तादृक् स्वल्पतरं पात्रं वलयप्रोतकोष्ठकम् ॥ १ ॥
पूर्वपात्रोपरि न्यस्य स्वल्पपात्रे परिक्षिपेत् ।
रसं सम्मूर्च्छितं स्थूलपात्रमापूर्य्य काञ्जिकैः ॥ २ ॥
द्वियामं स्वेदयेदेवं रसोत्थापनहेतवे ।
एतत् स्याद्वलभीयन्त्रं रसे षाड्गुण्यकारकम् ॥
सूक्ष्मकान्तमये पात्रे रसः स्याद्गुणवत्तरः ॥ ३ ॥

(इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ १४१ पर देखें)

१४ तिर्य्यक्पातन यन्त्र

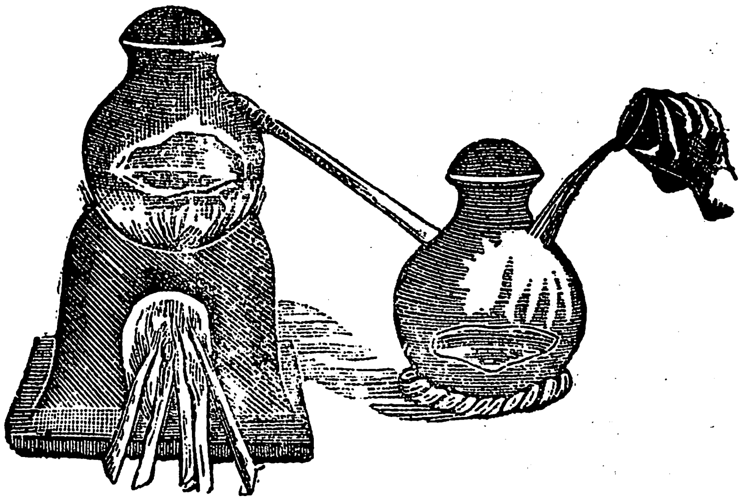

क्षिपेद्रसं घटे दीर्घनताधोनालसंयुते । तन्नालं निक्षिपेदन्यघटकुक्ष्यन्तरे खलु ॥१॥
तत्र रुद्ध्वा मृदा सम्यग्वदने घटयोरथ । अधस्ताद्रसकुम्भस्य ज्वालयेत्तीव्रपावकम् ॥ २ ॥
इतरस्मिन् घटे तोयं प्रक्षिपेत् स्वादुशीतलम् । तिर्य्यक्पातनमेतद्धि वार्तिकैरभिधीयते ॥ ३ ॥

(इसका विशेष वर्णन पृष्ठ १४२ पर देखें)

१५ पालिका यन्त्र

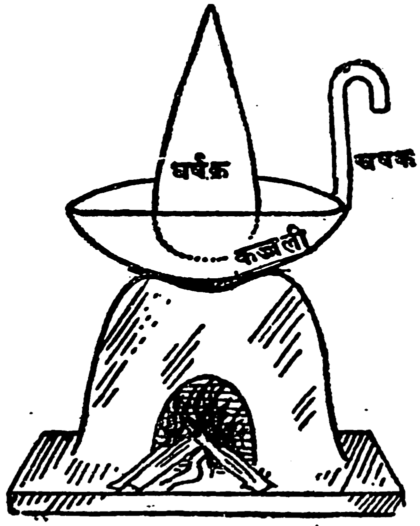

चषकं वर्त्तुलं लौहं विनताग्रोर्द्ध्वदण्डकम् ।
एतद्धि पालिकायन्त्रं बलिजारणहेतवे । १॥

(इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ १४२ पर देखें)

१६ इष्टिका यन्त्र

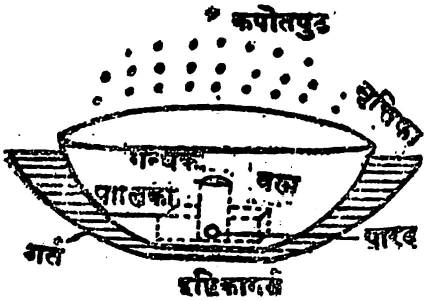

विधाय वर्त्तुलं गर्त्तं मल्लमत्र निधाय च ।
विनिधायेष्टकां तत्र मध्यगर्त्तवर्तीं शुभाम् ॥ १ ॥
गर्त्तस्य परितः कुर्य्यात् पालिकामङ्गुलोच्छ्रयाम् ।
गर्त्ते सूतं विनिक्षिप्य गर्त्तास्ये वसनं क्षिपेत् ॥ २ ॥
निक्षिपेद् गन्धकं तत्र मल्लेनाऽऽस्यं निरुध्य च ।
मल्ल-पालिकयोर्मध्ये मृदा सम्यङ्निरुध्य च ॥ ३ ॥
वनोत्पलैः पुटं देयं कपोताख्यं न चाधिकम् ।
इष्टिकायन्त्रमेतत् स्याद्गन्धकं तेन जारयेत् ॥४॥

(इस यन्त्र का अधिक विस्तार पृष्ठ १४२ पर देखें)

१७ नाभि यन्त्र

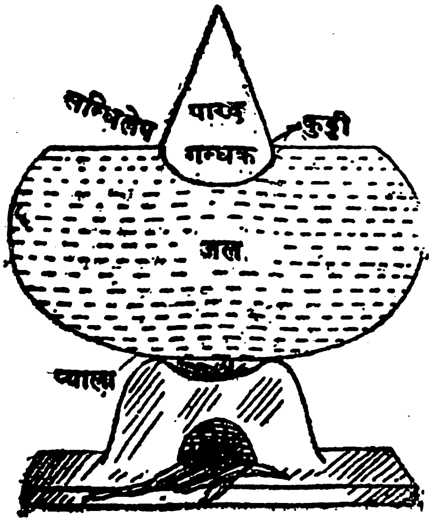

मल्लमध्ये चरेद्गर्त्तं तत्र सूतं सगन्धकम् ।
गर्त्तस्य परितः कुड्यं प्रकुर्य्याद्ङ्गुलोच्छ्रितम् ॥ १ ॥
ततश्चाऽऽच्छादयेत् सम्यग्गोस्तनाकारमूषया ।
सम्यक् तोयमृदा रुद्ध्वा सम्यगग्नोच्यमानया ॥ २॥

(इसका निर्माण प्रकार वर्णन पृष्ठ १४३ पर देखें)

१८ धूप यन्त्र

विधायाष्टाङ्गुलं पात्रं लोहमष्टाङ्गुलोच्छ्रयम् ।
कण्ठाधो द्व्यङ्गुले देशे गलाधारे हि तत्र च ॥ १ ॥
तिर्य्यग्लोहशलाकाश्च तन्वीस्तिर्य्यग्विनिक्षिपेत् ।
तनूनि स्वर्णपत्राणि तासामुपरि विन्यसेत् ॥ २ ॥
पत्राधो निक्षिपेद्धूमं वक्ष्यमाणमिहैव हि ।
तत् पात्रं न्युब्जपात्रेण छादयेदपरेण हि ॥ ३ ॥
मृदा विलिप्य सन्धिश्च वह्निं प्रज्वालयेदधः ।
तेन पत्राणि कृत्स्नानि हतान्युक्तविधानतः ॥ ४ ॥
रसश्चरति वेगेन द्रुतं गर्भे द्रवन्ति च । इत्यादि ।

(इसका विशेष वर्णन पृष्ठ १४४ पर देखें)

१९ [क] (स्वेदन) कन्दुक यन्त्र

स्थूलस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वासो बद्ध्वा सुखं दृढम्।
तत्र स्वेद्यं विनिक्षिप्य तन्मुखं प्रपिधाय च ॥ १ ॥
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं यन्त्रं तत् कन्दुकाभिधम् ।
स्वेदनीयन्त्रमित्यन्ये प्राहुश्चेदं मनीषिणः ॥ २ ॥

(इसका विशेष वर्णन पृष्ठ १४४ पर देखें)

[ख] (स्वेदन) कन्दुक यन्त्र

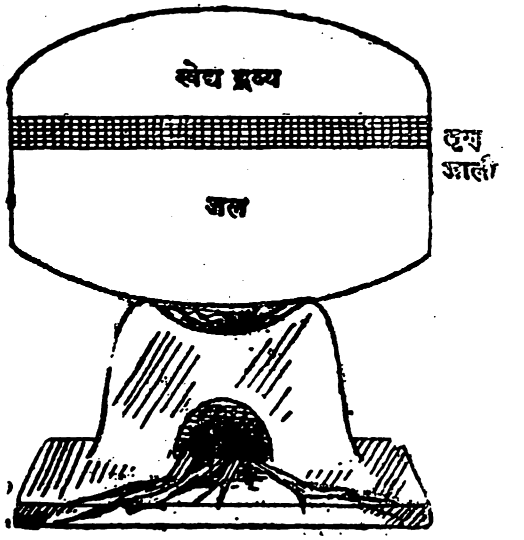

यद्वा स्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा तृणं क्षिप्त्वा मुखोपरि ।
स्वेद्यद्रव्यं परिक्षिप्य पिधानं प्रविधाय च ॥
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं यन्त्रं तत् कन्दुकं स्मृतम् ॥ १॥

(इसका विस्तृत वर्णन पृष्ठ १४८ पर देखें)

२० तप्तखल यन्त्र

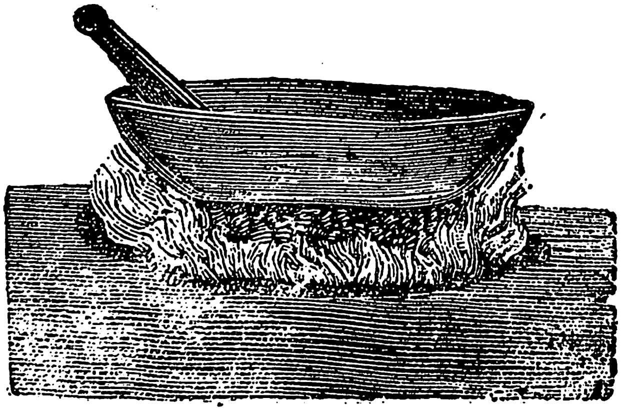

लौहो नवाङ्गुलः खल्लो निम्नत्वे च षडङ्गुलः ।
मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्चैव तप्तखल्लाभिधोऽप्ययम् ॥ १ ॥
कृत्वा खल्लाकृतिं चुल्लीमङ्गारैः परिपूरिताम् ।
तस्यां निवेश्य तं खल्लं पार्श्वे भस्त्रिकया धमेत् ॥ १ ॥

(इसका विशेष परिचय पृष्ठ १४४ देखें)

ॐ

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

रसरत्नसमुच्चयः ।

रसोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ।

अथ मङ्गलम्—

यस्याऽऽनन्दभवेन मङ्गलकलासम्भावितेन स्फुर-
द्धाम्ना सिद्धरसामृतेन करुणावीक्षासुधासिन्धुना ।
भक्तानां प्रभवप्रसंहृतिजरारागादिरोगाः क्षणा-
च्छान्ति यान्ति जगत्प्रधानभिषजे तस्मै परस्मै नमः॥१॥

जिस परमात्मा के आनन्दभव (सुख होता है जिससे) अर्थात् सुखोत्पादक तथा मंगल (कल्याण-प्राप्ति) में कला (पूर्णसामर्थ्य) से सम्भावित (युक्त) स्फुरत् (देदीप्यमान) अर्थात् उज्ज्वल धाम (तेज) से प्रकाशित अर्थात् दर्शनमात्र से सम्पूर्ण रोगों के बीज रूप पापादि को नाश करनेवाले, तथा सिद्धरस (शोधित तथा संस्कारित और सम्यक्मारित पारद) के समान अमृत स्वरूप अर्थात् जन्ममरणादि सकल रोगनाशक तथा करुणावीक्षा (कृपादृष्टिरूपी) सुधासिन्धु (अमृतसागर) से भक्त जनों के प्रभव (जन्म) संहृति (मृत्यु) जरा (बुढ़ापा) राग (अतिप्रेम-आसक्ति) आदि दुःखजनक रोगसमुदाय, क्षणमात्र में शान्त हो जाता है। संसार के उस मुख्य चिकित्सक अर्थात् (त्रिविधतापशामक होने से सर्वोत्तम वैद्य) परमात्मा को नमस्कार है। पारद भी शिवपार्वती-सम्भोग-जन्य आनन्द से उत्पन्न है, अपनी विभिन्न रूप स्वर्ण, रौप्यकृष्टि आदि क्रियाओं से पूर्ण विश्वासोत्पादक है, मूर्च्छन बन्धन आदि अनेकविध संस्कारयोगों से मनुष्यों के जरामरणादि दुःखहरणरूप कृपायुक्त है "हतो हन्ति जराव्याधिं मूर्छितो व्याधिघातकः। बद्धः खेचरतां धत्ते कोऽन्यः सूतात्कृपापरः"। देदीप्यमान प्रकाशवाला है "मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाशः"। शास्त्रानुकूल विधि से सेवन करने पर जन्म[1] मृत्यु आदि रोगनाशक है और पारद ही सर्व प्रकार के रोगों को नष्ट करनेवाले रस, उपरस, महारसों में से श्रेष्ठ है। "असाध्येष्वपिदातव्यो रसोऽतः श्रेष्ठ उच्यते" ॥ १ ॥

१—"एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते"।

अथ ग्रन्थकर्तृणां नामानि—

आदिमश्चन्द्रसेनश्च लङ्केशश्च विशारदः ।
कपाली मत्तमाण्डव्यौ भास्करः शूरसेनकः ॥ २ ॥
रत्नकोशश्च शंभुश्च सात्विको नरवाहनः ।
इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलिर्व्याडिरेव च ॥ ३ ॥
नागार्जुनः सुरानन्दो नागबोधिर्यशोधनः ।
खण्डः कापालिको ब्रह्मा गोविन्दो लम्पको हरिः ॥४॥
सप्तविंशतिसंख्याका रससिद्धिप्रदायकाः ।
रसाङ्कुशो भैरवश्च नन्दी स्वच्छन्दभैरवः ॥ ५ ॥
मन्थानभैरवश्चैव काकश्चण्डीश्वरस्तथा ।
वासुदेव ऋषिः शृङ्गः क्रियातन्त्रसमुच्चयी ॥ ६ ॥
रसेन्द्रतिलको योगी भालुकी मैथिलाह्वयः ।
महादेवो नरेन्द्रश्च वासुदेवो हरीश्वरः ॥ ७ ॥
एतेषां क्रियतेऽन्येषां तन्त्राण्यालोक्य संग्रहः ।
रसानामथ सिद्धानां चिकित्सार्थोपयोगिनाम् ॥
सूनुना सिंहगुप्तस्य रसरत्नसमुच्चयः ॥ ८ ॥

आदिम चन्द्रसेन, लंकेश, विशारद, कपाली, मत्त, माण्डव्य, भास्कर[1], शूरसेनक, रत्नकोष[2], शम्भु, सात्विक, नरवाहन, इन्द्रद, गोमुख, कलम्बि[3], व्याडि, नागार्जुन, सुरानन्द, नागबोधी, यशोधन, खण्ड, कापालिक, ब्रह्मा, गोविन्द, लम्पक[4] और हरि ये सत्ताईस तथा अन्य रसांकुश, भैरव, नन्दी, स्वच्छन्द भैरव, मन्थान भैरव, काक, चण्डीश्वर, वासुदेव, ऋषिशृंग (रसक्रिया के ग्रन्थों के संग्रह-कर्ता) रसेन्द्रतिलक, योगी, भालुकी, मैथिल, महादेव, नरेन्द्र, रत्नाकर,

१—भासुर इति। २—रत्नघोष इति। ३—काम्बलिः तथा कपिल इति। ४—लम्बकः तथा लाम्पट इति। ५—ऋष्यश्रृंगइति पाठः।

हरीश्वर आदि बड़े बड़े वैद्य रसचिकित्सा द्वारा प्रसिद्ध हुये हैं। मैं सिंहगुप्त का पुत्र वाग्भटाचार्य इनके तथा इनके अतिरिक्त अन्य रसचिकित्सकों के भी रसशास्त्रों का अवलोकन करके चिकित्सा में अत्यन्त उपयोगी, सिद्ध (अनुभूत अन्वर्थ) रसों (रसघटित औषधियों) का संग्रह रसरत्नमुचय नामक रसग्रन्थ का करता (लिखता) हूँ ॥ २–८ ॥

अथ ग्रन्थस्याभिधेयम्—

रसोपरसलोहानि यन्त्रादिकरणानि च।
शुद्ध्यर्थमपि लोहानां तन्त्रादिकरणानि।
शुद्धिः सत्त्वं तिद्रुर्भस्मकरणं च प्रवक्ष्यते ॥ ६ ॥

इस ग्रन्थ में रस (पारद) उपरस (गन्धक, वज्र, वैक्रान्त, अभ्रक आदि) लोह (स्वर्ण, रजत, वंग आदि आठ धातु) का वर्णन तथा इनकी शुद्धि तथा मारण के लिये काम में आनेवाले यन्त्र, (वालुका यन्त्र, ऊर्ध्वपातन यन्त्र आदि) पुट आदि का वर्णन और धातु रसोपरस आदि की द्रुति, सत्त्वपातन, सत्त्वशुद्धि तथा धातु आदि की भस्मविधि का वर्णन किया जायगा ॥ ६ ॥

अथ हिमालयवर्णनम्—

अस्ति नीहारनिलयो महानुत्तरदिङ्मुखे।
उत्तुङ्गशृङ्गसङ्घातलङ्घिताभ्रो महीधरः ॥ १० ॥
विश्रामाय वियन्मार्गविलङ्घनघनश्रमः।
अवतीर्ण इव क्षोण्यीं शरदम्बुमुचां गणः ॥ ११ ॥
राशिराशीविषाधीशफणाफलकरोचिषाम्।
भित्त्वा भुवमिवोत्तीर्णो यो विभाति भृशोन्नतः ॥१२॥
ज्वलदोषधयो यस्य नितम्बमणिभूमयः।
नक्तमुद्दामतडितामनुकुर्वन्ति वार्मुचाम् ॥ १३ ॥
कटके सञ्चरन्तीनां यस्य किन्नरयोषिताम्।
पादेषु धातुरागेण लाक्षाकृत्यमनुष्ठितम् ॥ १४ ॥
अवतंसितशीतांशुराच्छादितदिगम्बरः।
यो गुहाधिगतो लोकैर्गिरीश इति गीयते ॥ १५ ॥

अथ महादेवस्थितिवर्णनम्—

निमीलितदृशो नित्यं मुनयो यस्य सानुषु।
प्रत्यक्षयन्ति गिरिशमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १६ ॥
शिलातलप्रतिहतैर्यस्य निर्झरशीकरैः।
अहन्यपि निरीक्षन्ते यक्षास्ताराङ्कितं नभः ॥ १७ ॥
नीहारपवनोद्रेकनिःसहा यत्र पूरुषाः।
निजस्त्रीणां निषेवन्ते कुचोष्माणं निरन्तरम् ॥ १८ ॥
सञ्चरन्कटके यस्य निदाघेऽपि दिवाकरः।
उद्दामहिमरुद्धोष्मा न शीतांशोर्विभिद्यते ॥ १६ ॥
गुहागृहेषु कस्तूरीमृगनाभिसुगन्धिषु।
गायन्ति यत्र किन्नर्यो गौरीपरिणयोत्सवम् ॥ २० ॥
चकास्ति तत्र जगतामादिदेवो महेश्वरः।
रसात्मना जगत्त्रातुं जातो यस्मान्महारसः ॥ २१ ॥

उत्तर दिशा में बड़े बड़े ऊँचे शिखर-समूहों से मेघों (बादलों) को उल्लंघन करनेवाला, अर्थात् बादलों से भी ऊँचे शिखरवाला हिम (बरफ) का मुख्य स्थान होने के कारण हिमालय नाम का एक बड़ा पर्वत है, जो ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो आकाश मार्ग में निरन्तर भ्रमण करने से अत्यन्त थका हुआ शरद् ऋतु का मेघसमूह विश्राम करने के लिये पृथ्वीपर उतर आया हो। और मानो नागराज (शेष) के फणों की मणियों की क्रान्ति का एक बड़ा ऊँचा ढेर पृथ्वी को फाड़कर बाहर निकल आया हो और अत्यन्त ऊँचा होने के कारण विशेष शोभायमान हो रहा हो। जिस पर्वत के नितम्ब रूप अनेक स्थानों पर मणिविभूषित भूमियां और अपने तेज से दीपक के समान प्रज्वलित होती हुई औषधियां रात्रि के समय मेघमण्डल में चमकती हुई बिजली का अनुकरण (नकल) करती हुई सी मालूम पड़ती हैं। जिस हिमालय के शिखरों पर भ्रमण करती हुई किन्नर (देवयोनि विशेष गन्धर्व आदि) स्त्रियों के चरणों में लगी हुई पद्मराग आदि मणियों अथवा गेरू मैनशिल आदि धातुओं की लाली, आधुनिक स्त्रियों के चरणों में लगी हुई महावर के सदृश शोभा दे रही है और जिस पर्वत ने आभूषण रूप में चन्द्रमा को धारण किया है और जो दिशारूपी वस्त्रों से आच्छादित (नग्न अथवा दिगन्तव्यापी) है, और जो अनेक गुफाओं से युक्त है और जिसको पर्वतों का स्वामी अर्थात् गिरिराज कहा जाता है। जिस हिमालय पर्वत के सानु (समतल) प्रदेशों पर नेत्रों को बन्दकर ध्यान में मग्न बैठे हुये मुनि लोग, वाणी तथा मन से भी ध्यान में न आनेवाले (वाणी से जिसका वर्णन नहीं हो सकता है और मन से जिसका चिन्तन नहीं हो सकता है) शंकर भगवान् (ईश्वर) का दिव्यदृष्टि या अन्तर्दृष्टि से प्रतिदिन प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। जिस पर्वत के शिखरों पर निवास करनेवाले यक्ष (गन्धर्व विशेष) बड़ी बड़ी शिलाओं से टकराते हुये झरनों के कणों द्वारा दिन में भी आकाश को तारों से भरा हुआ-सा देखते हैं। जिस हिमालय पर रहनेवाले पुरुष बर्फीली अत्यन्त शीत वायु के वेग को न सह सकने से अर्थात् हर समय अत्यन्त ठंड होने से अपनी स्त्रियों के कुचों की उष्णता को प्राप्त

करते हैं, अर्थात् स्त्रियों को आलिंगन करते हैं। जिसके शिखरों पर भ्रमण करते हुये सूर्य की उष्णता अत्यन्त बरफ के कारण ग्रीष्म ऋतु में भी अत्यन्त मन्द हो जाती है; अतएव वहाँ चन्द्रमा तथा सूर्य में कोई भेद ही नहीं मालूम होता है। अर्थात् किरणों के मन्द हो जाने के कारण सूर्य भी चन्द्रमावत् शीत-प्रकृति का सा ही प्रतीत होता है। और जिस पर्वत की,—कस्तूरीवाले मृगों की नाभिगत कस्तूरी से सुगन्धित,—गुफाओं में बैठी हुई किन्नरों की स्त्रियां पार्वती के विवाहोत्सव के गीत गाया करती हैं। उस पर्वत में संसार के आदिदेव, महेश्वर, (शंकर भगवान्) रसरूप से (पारद की उत्पति का कारण होने से) विराजमान हैं। उन्हीं का रसरूप आत्मा से संसार की रक्षा (मनुष्य को शारीरिक तथा मानसिक रोगों से बचाने) के लिये महारस (सम्पूर्ण रसों में प्रधान रस) पारद उत्पन्न हुआ है।

भावान्तर—हिमालय के वर्णन में उत्तम प्राकृतिक स्थान का वर्णन करके उसमें ईश्वर की स्थिति बताने से यह ज्ञान होता है कि ईश्वर प्राप्ति या दर्शन ऐसे रम्य तथा शान्त स्थानों में बैठकर हो सकता है जिससे शुद्ध निर्मल ज्ञान प्राप्त कर संसार का कल्याण सोचा जा सकता है कि प्रकृति में मनुष्य के उद्धार और सुख शान्ति के लिये पारद सदृश दिव्य वस्तुओं का प्रादुर्भाव किस तरह हुआ है और इनमें क्या शक्ति है। ऐसा ही आलंकारिक वर्णन आगे पारद की उत्पत्ति में भी आता है॥ १०–२१ ॥

अथ रसोत्कर्षवर्णनम्—

शताश्वमेधेन कृतेन पुण्यं
गोकोटिभिः स्वर्णसहस्रदानात्।
नृणां भवेत्सूतकदर्शनेन
यत्सर्वतीर्थेषु कृताभिषेकात् ॥२२॥

सौ [1]अश्वमेध यज्ञ करने से अथवा करोड़ों गायों का दान करने वा हजारों मन सुवर्ण का दान करने से अथवा सम्पूर्ण तीर्थों (काशी, प्रयाग, हरद्वार, मथुरा आदि) में स्नान करने से जो पुण्य होता है वह पुण्य मनुष्यों को पारद के दर्शन करने से प्राप्त होता है।

भावान्तर—यदि पारद के साधारण दर्शन मात्र से इतना महान् पुण्य होता हो तो कोई भी पापी नहीं कहा जा सकता ? सम्भवतः इस पद्य का यह भाव हो कि पारद के दर्शन (खोज) करने से अन्वेषक तथा अन्य मनुष्यों को अत्यन्त लाभ होता है। क्योंकि पारद प्राप्ति के स्थानों पर पारद के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के बहुमूल्य खनिज प्राप्त हो सकते हैं। उनको प्राप्त कर उपयोग करने से मनुष्यों के व्यापार तथा सुख में पर्याप्त वृद्धि हो सकती है और इस प्रकार के पदार्थों के अन्वेषक को संसार में स्थायी यश (पुण्य) भी मिलता है॥ ॥ २२ ॥

विधाय रसलिङ्गं यो भक्तियुक्तः समर्चयेत्।
जगत्त्रितयलिंगानां पूजाफलमवाप्नुयात् ॥२३॥

जो मनुष्य पारद का शिवलिंग बना कर भक्तिपूर्वक उसका पूजन करता है उसे भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक में स्थित सम्पूर्ण शिवलिंगों के पूजन करने का फल प्राप्त होता है।

भावान्तर—उक्त कथन से पारद बन्धन का गौरव दर्शाया गया है कि पारद को दृढ़बन्धन संस्कार युक्त करने वाले वैद्य को संसार में अक्षय कीर्ति प्राप्त होती है। बद्ध पारद न केवल रोगनाशक ही है किन्तु इसके द्वारा आकाशीय यथेच्छ गति भी हो सकती है। "बन्धनमनुभूय खेगतिं धत्ते"। अथवा पारद (रोगों से पार करने वाला) लिंगस्वरूप अर्थात् बुभुक्षित पारद द्वारा वास्तविक चन्द्रोदय-मकरध्वज बना कर उसका पूजन (सेवन) करता है॥२३॥

भक्षणं स्पर्शनं दानं ध्यानं च परिपूजनम्।
पञ्चधा रसपूजोक्ता महापातकनाशिनी ॥ २४ ॥

पारद का सेवन करना, स्पर्श करना, दान देना, उसका ध्यान (चिन्तन) करना, और उसकी पूजा करना यह पांच प्रकार की पारदपूजा, महापातकों (भयंकर पाप या रोग) को नष्ट करने वाली है।

विशेष वचन—पारद के स्पर्श से भी रोग नष्ट होते हैं। आधुनिक शल्यचिकित्सक इसके जल से विषैले फोड़े फुन्सियों को धोते हैं तथा उपदंश के व्रणों को इससे धोया जाता है। प्राच्य चिकित्सक भी पारद को वला स्वरस के साथ हथेलियों में पारद के लीन होने तक मर्दन करने का विधान बताते हैं जिससे उपदंश में शीघ्र लाभ होता है। अतः पारद का स्पर्श पातक (रोग) नाशक है। पारद को निर्दोष तथा विशेष गुणशाली बनाने के निमित्त विभिन्न विधियों को विचार कर उनका अनुभव करना ही ध्यान

१—संसार में चक्रवर्ती राज्य सूचित करने के लिये पहिले राजा लोग एक घोड़ा बड़ी सेना के साथ छोड़ते थे। जो उसे पकड़ता था उसे युद्ध में परास्त कर आगे चल कर अन्त में शत्रु रहित सूचना होने पर यज्ञ किया जाता था। इस प्रकार सौ यज्ञ करने पर उस राजा की इन्द्र पदवी हो जाती थी।

करना है। पारद को सर्वथा शुद्ध रूप में ही व्यवहृत करना उसकी पूजा है ॥ २४ ॥

हन्ति भक्षणमात्रेण पूर्वजन्माघसम्भवम्।
रोगसङ्घमशेषाणां नराणां नात्र संशयः ॥ २५ ॥

पारद के यथाविधि सेवन से मनुष्यों के पूर्व जन्म में किये हुये पाप भी नष्ट हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं।

भावान्तर—पूर्व जन्म के रोगों से अभिप्राय जन्म से पूर्व माता-पिताओं के दुराचार द्वारा प्राप्त उपदंश, बालशोष, उन्माद, अपस्मार, हिस्टेरिया तथा प्राकृतिक वातिकदौर्बल्य आदि रोगों से है। माता-पिता के द्वारा प्राप्त सहज उपदंश में पारद के अतिरिक्त अन्य कोई औषधि लाभदायक नहीं है ॥

पूर्वजन्मकृतं पापं सद्यो नश्यति देहिनाम्।
सुगन्धपिष्टसूतेन यदि शम्भुविलेपितः ॥ २६ ॥

सुगन्धित (कर्पूर कस्तूरी मुस्ता आदि) द्रव्यों के साथ अथवा अच्छी तरह शुद्ध गन्धक के साथ मर्दन किये हुये पारद से यदि प्रतिदिन शिवलिंग पर लेप किया जाये तो मनुष्यों के पूर्व जन्म कृत पाप शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥२६॥

अभ्रकं त्रुटिमात्रं यो रसस्य परिजारयेत्।
शतक्रतुफलं तस्य भवेदित्यब्रवीच्छिवः ॥२७॥

जो मनुष्य पारद के साथ एक त्रुटि (चुटकी या लीख का छटा भाग) अभ्रक को जारण (जीर्ण) करता है, उसे सौ अश्वमेध यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है ऐसा शिव जी ने कहा है।

विशेष वचन—त्रुटि शब्द लघुएला (छोटी एलायची) वाची भी होने से साधारणतः इसका अर्थ एक चुटकी किया जाता है। मानप्रमाण में त्रुटि का अर्थ एक लीख का छटा भाग होता है। "षट्त्रुट्यश्चैकलिक्षा स्यात्"। इतनी अल्पमात्रा में भी अभ्रक को जारण करने के विज्ञान से यह भाव प्रतीत होता है कि पारद प्रयोग वही पूर्ण फलभागी हो सकता है जो अभ्रक जारण विधि को अच्छी तरह जानता हो। अन्यथा उसे कोई यश नहीं मिलता है। "अभ्रजारणमादौ गर्भद्रुतिजारणं च हेम्नोऽन्ते। यो जानाति न वादी वृथैव सोऽर्थक्षयं कुरुते"। तथा अभ्रजारित पारद ही अच्छी तरह बद्ध होता है। "मुक्त्वैकमभ्रसत्वं नान्यो रसपक्षकर्तनसमर्थः। तेन निरुद्धप्रसरो नियम्यते बध्यते च सुखम्"। अर्थात् अभ्रकसत्व के अतिरिक्त अन्य कोई औषधि पारद के पक्ष (ताप में उड़ जाने का धर्म) काटने में असमर्थ है। अभ्रकसत्व द्वारा निरुद्धगति युक्त पारद सुखपूर्वक नियमित और बद्ध हो जाता है ॥ २७ ॥

यश्च निन्दति सूतेन्द्रं शम्भोस्तेजः परात्परम्।
स पतेन्नरके घोरे यावत्कल्पविकल्पनम् ॥ २८ ॥

जो मनुष्य शिव जी के परम श्रेष्ठ तेजोरूप (वीर्य रूप) पारद की निन्दा करता है वह कल्पान्त पर्यन्त घोर नरक (दुःख) में पड़ा रहता है।

भावान्तर—ईश्वर की सृष्टि में पारद सदृश सर्वोत्तम पदार्थों की अवहेलना करना उनसे प्राप्त होने वाले धन, सुख, यश आदि से सदा के लिये वञ्चित रहना है। क्योंकि पारद में विश्वास न कर उससे होने वाली स्वर्णकृष्टि तथा रौप्यकृष्टि आदि धन यश देने वाली चीजें उसे प्राप्त नहीं हो सकती हैं अतः मनुष्य रोगों से तथा धनाभाव से सदा दुःखी और दरिद्री रहता है ॥ २८ ॥

अथ पारदस्य विशेषतो महत्ता—

रोगिभ्यो यो रसं दत्ते शुद्धिपाकसमन्वितम्।
तुलादानाश्वमेधानां फलं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ २९ ॥

जो वैद्य उत्तम विधि से शुद्ध भस्म किये हुये अथवा गन्धक आदि से जारित किये हुये पारद को शास्त्रानुकूल विधि से रोगियों को सेवन कराता है उसे सहस्रों मन स्वर्ण दान करने का तथा अश्वमेध यज्ञ करने का शाश्वत फल मिलता है। ऐसे पारद के प्रयोग से रोगियों का जीवन बचता है। इससे उत्तम कोई दान नहीं माना जाता है "नहि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते" ॥ २९ ॥

सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्र्यगदं जगत्।
रसध्यानमिदं प्रोक्तं ब्रह्महत्यादिपापनुत् ॥ ३० ॥
अभ्रग्रासो हि सूतस्य नैवेद्यं परिकीर्तितम्।
रसस्येत्यर्चनं कृत्वा प्राप्नुयात्क्रतुजं फलम् ॥ ३१ ॥

पारद के शोधन मारण पूर्वक भस्म विधि तथा स्वर्ण रजत आदि का निर्माण विधि अच्छी तरह सिद्ध अथवा ज्ञात होने पर मैं संसार को रोग तथा निर्धनता से मुक्त कर दूंगा, इस प्रकार के चिन्तन के साथ, शोधन मारण आदि संस्कारों को निरन्तर करते रहना रस का ध्यान कहा जाता है। ऐसा ध्यान तथा कर्म करने वाले मनुष्य पर ब्रह्महत्या आदि भयंकर पापों का प्रभाव नहीं होता है।

उक्त प्रकार से पारद का ध्यान आदि विधि के साथ पारद को अभ्रक (अभ्रक सत्व) का ग्रास (कौर) देना "नैवेद्य" अर्पण करना कहा जाता है। इस प्रकार का विधिवत् और सार्थक पारद पूजन करने से मनुष्य (वैद्य) को अश्वमेध यज्ञ करने का फल प्राप्त होता है। पारद में अभ्रक

को ग्रास करने की शक्ति पैदा करना ही पारद की पूजा है।

विशेष वचन—देवता को उद्देश कर जो वस्तु निवेदन की जाती है अर्थात् पूजार्थ उपहार (भेंट) को नैवेद्य कहा जाता है। अभ्रक को थोड़ी २ मात्रा में पारद में डाल कर उसमें लीन करने की विधि को अभ्रग्रास कहा जाता है। इसके लिये एक लोह सम्पुट में षोडशांश विड (आगे कहा जाने वाला) और चौसठवां भाग अभ्रकसत्त्व डाल कर सम्पुट बन्द करके वह्निमृतिका द्वारा सन्धि लेप करके १०—१२ सेर उष्ण जल युक्त लोह-पात्र (जलयन्त्र) में सम्पुट को डाल कर बारह घण्टे पर्यन्त क्रमाग्नि से पकाया जाता है। "सुवृत्तं लोहपात्रं च जलं तत्राढकत्रयम्। तन्मध्ये सुदृढं सम्यक्कर्तव्यं लोहसम्पुटम्॥ लोहसम्पुटमध्ये तु निक्षिप्तं शुद्धपारदम्। विडेन सहितं चैव षोडशांशेन यत्नतः॥ चतुःषष्ट्यंशकं चाभ्रसत्त्वं संपुटके तथा। संपुटं मुद्रयेत्पश्चाद् दृढया तोयमृत्स्नया॥ वह्निमृत्तिकया वापि सन्धिरोधं तु कारयेत्। चुल्यां निवेश्य तं यन्त्रं जलेनोष्णेन पूरितम्॥ क्रमादग्निः प्रकर्तव्यो दिवसार्धकमेव हि। एवं कृते ग्रासमानं भक्षयेन्नात्र संशयः"॥ र० प्र० सु०॥ ३१॥

उदरे संस्थिते सूते यस्योत्क्रामति जीवितम्।
स मुक्तो दुष्कृताद्घोरात्प्रयाति परमं पदम्॥ ३२॥

पारद के उदर में स्थित होने पर जिस मनुष्य की मृत्यु होती है वह भयंकर पापों से मुक्त होकर परम पद (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है॥ ३२॥

अथ मूर्च्छितादिपारदगुणाः—

मूर्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति।
अमरीकरोति हि [1]मृतः कोऽन्यः [2]करुणाकरः सूतात्॥३३॥

मूर्च्छित किया हुआ पारद रोगों को नष्ट करता है, बद्ध हुआ पारद मुक्ति देने वाला होता है, और मृत (भस्म किया हुआ) पारद सेवन करने वाले को अमर (दीर्घजीवी) कर देता है। अतः पारद से उत्तम कौन औषधि या पदार्थ है जो मनुष्य के लिये अनेकविध करुणाओं से पूर्ण है?

विशेष वचन—मूर्च्छित[3] विभिन्न विधानों द्वारा गन्धक आदि द्रव्यों के साथ पारद में रोग-नाशक निश्चयात्मक शक्ति उत्पन्न करना मूर्च्छन कहा जाता है। "अव्यभिचरितव्याधिघातकत्वं मूर्च्छना" रसमाधव। पारद का मूर्च्छन संस्कार इससे भिन्न होता है यह आगे संस्कार-प्रकरण में स्पष्ट किया जायगा।

बन्धन—दूसरे ग्रन्थों में बद्ध पारद के विषय में "बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति" के स्थान पर "बद्धः खेचरतां धत्ते" ऐसा लिखा है। वेदों और पुराणों में बद्ध पारद द्वारा आकाश में यथेच्छ उड़ने के विषय में लिखा हुआ पाया जाता है। बद्ध पारद के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं— "माधुर्यगौरवोपेतस्तेजसा भास्करोपमः। वह्निमध्ये यदा तिष्ठेत्तदा बद्धस्य लक्षणम्।" अथवा "यस्मिन् गुरुताऽरुणता तेजस्वित्वं च दृश्यते सूते। दृढशिखिमध्ये तिष्ठेद्बद्धः सूतोऽमृतोपमो ज्ञेयः"। बद्ध पारद के ये सब लक्षण पारद गुटिका आदि के विषय में अन्तःप्रयोग करने के लिये लिखे गये हैं। क्योंकि अग्निताप से न उड़नेवाले पारद से विमानों का आकाश में उड़ना सम्भव है। मृत शब्द से पारद की भस्म अभिप्रेत होने पर भी प्रायः मकरध्वज, चन्द्रोदय, रससिन्दूर आदि में मूर्च्छित पारद ही लिया जाता है, परन्तु वास्तव में मकरध्वज आदि मूर्च्छित पारद हैं। क्योंकि मूर्च्छितावस्था में हम पारद को फिर उसके स्वरूप (द्रव-चंचल) में ला सकते हैं, परन्तु भस्मावस्था में वह अपने स्वरूप में नहीं लाया जा सकता है। यही कारण है कि मृत पारद जरा व्याधि को दूर करके अमरत्व करता है और मूर्च्छित पारद साधारण रोगों को नष्ट करने की शक्ति रखता है। इस पर "टोडरानन्द" ने कुछ शंका के साथ लिखा है कि "जो पारद स्वयं मरा हुआ है अर्थात् जिस में स्वयं जीवन शक्ति नहीं है वह कैसे निर्जीव को सजीव कर सकता है"। "निर्जीवत्वं गतः सूतः कथं जीवं ददाति सः। निर्जीवेन तु निर्जीवः कथं जीवति शंकर"? सम्भवतः इसका अभिप्राय यह हो कि "जो पारद धात्वन्तरसंयोगयुक्त हो तथा अनेक दोषयुक्त हो वह स्वयं दोष-युक्त होने के कारण शरीर में किसी प्रकार की जीवन-शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकता है। अथवा "टोडरमल" का यह विचार पारदभस्म की असम्भवता का द्योतक हो सकता है। परन्तु पारदभस्म की परीक्षा तथा उसके विशेष गुणों को देखने से यह विचार किसी दशा में मान्य नहीं हो सकता है। क्योंकि आगे स्वयं उसी ने लिखा है कि "युक्तं द्वादशभिर्दोषैर्यश्च हन्याद्रसेश्वरम्। ब्रह्महत्यादिका हत्या भवेत्तस्य पदे पदे"। पारद को मूर्च्छित करने के लिये इसे गन्धक के साथ भली प्रकार रगड़ना चाहिये—"कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापलम्। दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छितो रसकोविदैः"॥ ३३॥

१—"हि मृतः" के स्थान पर "सुमृतः"। २—"करुणापरः" के स्थान में "करुणाकरः" ऐसा पाठ है। ३—"कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापलम्। दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छितः सूतराड् बुधैः"॥ र० रत्नाकर।

सुरगुरुगोद्विजहिंसापापकलापोद्भवं किलासाध्यम् ।
श्वित्रं तदपि च शमयति यस्तस्मात्कः पवित्रतरः सूतात् ॥

देवता, गुरु, गाय और ब्राह्मण की हत्या करने से उत्पन्न पापों के समूह से उत्पन्न और स्वभावतः असाध्य सफेद कोढ़ भी पारद के सेवन से नष्ट हो जाता है। अतः पारद से अधिक कौन् पवित्र हो सकता है।

विशेष वचन—श्वित्रकुष्ठ की उत्पत्ति में चरक ने ब्रह्महत्यादि पापों को कारण माना है। "वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च। पापक्रिया पूर्वकृतञ्च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम्" ॥ ३४ ॥

रसबन्ध एव धन्यः प्रारम्भे यस्य सततमितिकरुणा ।
सेत्स्यति[1] रसे करिष्ये महीमहं निर्जरामरणाम् ॥३५॥

पारद बन्धन संस्कार करने के प्रारम्भ में ही जिस मनुष्य के मन में यह करुणा (दया) भाव उदय होता है कि पारद बन्धन ठीक हो जाने पर मैं सम्पूर्ण संसार के मनुष्यों को अजर और अमर कर दूंगा, वह संस्कारकर्ता संसार में धन्य है। अथवा वही पारद बन्धन कार्य धन्य है जिससे प्रारम्भ में संसार के मनुष्यों को अजर और अमर करने की पूर्ण और निःस्वार्थ भावना हो ॥ ३५ ॥

सुकृतफलं तावदिदं सुकुले यज्जन्म धीश्च तत्रापि ।
साऽपि च सकलमहीतलतुलनफला भूतलं च सुविधेयम् ॥
भूतलविधेयतायाः फलमर्थास्ते च विविधभोगफलाः ।
भोगाश्च सन्ति शरीरे तदनित्यमतो[2] वृथा सकलम् ॥
इति धनशरीरभोगान्मत्वाऽनित्यान्सदैव यतनीयम् ।
मुक्तौ सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्स च स्थिरे देहे ॥३८॥
तात्स्थर्ये न समर्थं रसायनं किमपि मूललोहादि ।
स्वयमस्थिरस्वभावं दाह्यं क्लेद्यं च शोष्यं च ॥३९॥

इस संसार में मनुष्य के पूर्वजन्मपोर्जित पुण्य कर्मों का फल यह है कि उसका उत्तम कुल में जन्म हो, उसमें भी उसे उत्तम बुद्धि प्राप्त ही और वह बुद्धि भी, सम्पूर्ण संसार के बुद्धिमानों की बुद्धि की तुलना वाली (निरुपम) हो, जिससे मनुष्य संसार के प्राणियों को अपनी आज्ञा का पालक बना सके अर्थात् सम्पूर्ण संसार को अपने अधीन कर सके। संसार को अपने अधीन करने का फल है उसको उन्नत करना अर्थात् उसे समृद्धिशाली बनाना, जिससे पृथ्वी-मण्डल में धन-धान्यादि की पर्याप्त वृद्धि हो और मनुष्यों को अनेक प्रकार के सुख भोग प्राप्त हों। किन्तु भोग-विलास शरीर से सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् शरीर के होने पर ही भोग किये जा सकते हैं। शरीर नाशवान् वस्तु है अतः बुद्धि से लेकर ऐश्वर्य पर्यन्त सब पदार्थों की उपयोगिता नष्ट हो जाती है। अर्थात् जब यह शरीर ही (जो उक्त पदार्थों का भोग करता है) जरा मरण से रहित नहीं हो सकता है तो इसके लिये जो कार्य किये जाते हैं वे सब निष्फल हो जाते हैं। अतः मनुष्य को धन-धान्य भोग-विलास और शरीर को अनित्य (नाशवान्) मान कर सदैव मुक्ति प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये। किन्तु वह मुक्ति भी विना यथार्थ ज्ञान के नहीं मिलती है। "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" और ज्ञान विना योगाभ्यास के प्राप्त नहीं होता है। और योगाभ्यास (निरन्तर चिन्तन) शरीर के अनश्वर (स्थिर) होने से ही हो सकता है। अर्थात् दीर्घ जीवन के विना मुक्ति का साधनभूत अनुशीलन नहीं हो सकता है। इस शरीर को स्थिर (स्वस्थ और दीर्घजीवन-युक्त)रखने में कोई भी काष्ठ द्रव्य (मूलिनी फलिनी आदि) तथा स्वर्णरजत आदि धातु और रसायन औषधियाँ समर्थ नहीं हैं। क्योंकि काष्ठ आदि औषधियां स्वयं अस्थिर (नाशवान्) स्वभाववाली होती हैं। वे अग्नि से जल जाती हैं, जल से भीग जाती हैं और सूर्य की गर्मी से सूख जाती हैं। अथवा अपने स्वभाव को छोड़ कर अन्य औषधियों और धातुओं में लीन हो जाती हैं ॥ ३६–३९ ॥

पारदे सर्वौषधानामन्तर्भावः—

काष्ठौषध्यो नागे नागो वंगेऽथ वङ्गमपि शुल्बे ।
शुल्बं तारे तारं कनके कनकं च लीयते सूते ॥४०॥

काष्ठ आदि मूल औषधियां सीसे में लीन हो जाती हैं अर्थात् सीसे में लीन होने पर उन की अपनी पृथकता नहीं रहती है, सीसा वंग में लीन हो जाता है, वंग ताम्र में, ताम्र रजत (चांदी) में, रजत स्वर्ण में और स्वर्ण पारद में लीन हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक रसचिकित्सक इस कथन को धात्वीय-मिश्रण-सिद्धान्त का द्योतक मानते हैं। काष्ठ औषधियों के सत्व क्षारादि नाग के साथ मिलकर मिश्रण बनाते हैं। इसी तरह नागादि मिलकर विभिन्न प्रकार का व्यवहारोपयोगी मिश्रण (Alloy) बनाते हैं। पारद बंग का मिश्रण दर्पण पर कलई करने के काम में लाया जाता है। यशद वंग का पारदीय मिश्रण विद्युत्-यन्त्रों को रबर पर चढ़ाने

१—"सेत्स्यति रसे" के स्थान पर "सिद्धि रसे" ऐसा पाठ है। २—"अतो" के स्थान पर "अहो" ऐसा पाठ है। अहो का अर्थ कष्ट वा आश्चर्य है।

के लिये तय्यार किये जाते हैं। इसी प्रकार स्वर्ण और रजत के पारदीय मिश्रण सोनहरी, रूपहरी, गिलट की कारीगरी में काम आते हैं। इस प्रकार कई प्रकार के पारदीय तथा धात्वीय मिश्रण बनते हैं जिन से व्यवहार तथा व्यापार में सुविधा तथा लाभ होता है। सम्भवतः यहाँ पर इस पद्य का सारांश यह है कि पारद में सब औषधि तथा धातुओं का लय होकर पारदीय शक्ति की वृद्धि करते हैं क्योंकि उनकी सम्पूर्ण आत्मीयता पारद में उपस्थित होती है जिस से पारद की कार्य शक्ति बढ़ जाती है। अतएव आगे पारद को अभ्रग्रास, स्वर्णरजत आदि के ग्रास से बलवान् बनाकर कार्य में लिये जाने का विधान आता है। इस से वह स्पष्ट हो जाता है जो काष्ठ आदि औषधियाँ स्वयं स्थायी कार्य नहीं करतीं, वे ही पारद में लीन होकर स्थिर कार्य करनेवाली होती हैं॥ ४०॥

अमृतत्वं हि भजन्ते हरमूर्तौ योगिनो यथा लीनाः।
तद्वत्कवलितगगने रसराजे हेमलोहाद्याः॥ ४१॥

जिस प्रकार योगीजन शिवमूर्ति (ब्रह्म) में लीन होकर मोक्ष पद को प्राप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्रक-सत्व ग्रास किये हुये पारद में स्वर्ण-रजत आदि सम्पूर्ण धातुयें भी लीन होकर स्थिर स्वभाव या स्थिर कार्य करनेवाली हो जाती हैं। अथवा जिस प्रकार पुनः पुनः जन्म-मृत्यु धर्मवाले मनुष्य साधन (योग साधन) द्वारा ईश्वर-सायुज्य को प्राप्त करके फिर जन्म-मृत्यु धर्म रहित हो जाते हैं, उसी तरह उत्थान विलय धर्म वाले स्वर्णादि धातु भी रससायुज्य को प्राप्त कर (पारद में लीन होकर) निरुत्थ हो जाते हैं॥ ४१॥

अथ रसस्य जीवन्मुक्तिकारणतामाह—

परमात्मनीव सततं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम्।
एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते॥ ४२॥

पारद में विविध उपायों से सम्पूर्ण सत्त्व (रस, उपरस, लोह आदि द्रव्य) का लय उसी प्रकार हो जाता है जैसे परब्रह्म परमात्मा में संसार के सब प्राणियों का। अतः औषधियों में केवल पारद ही एक ऐसी वस्तु है जिसके सेवन से शरीर अजर और अमर हो जाता है। सारांश यह है कि परब्रह्म की उपासना करने से जैसे मनुष्य अजर अमर होता है वैसे ही पारद सेवन भी से अजर अमर हो जाता है॥ ४२॥

स्थिरदेहेऽभ्यासवशात्प्राप्य ज्ञानं गुणाष्टकोपेतम्।
प्राप्नोति ब्रह्मपदं न पुनर्भववासजन्मदुःखानि॥४३॥

पारद सेवन से स्थिर (अविनाशी) शरीर होने पर निरन्तर अभ्यास से मनुष्य [1]अष्ट गुण युक्त ज्ञान प्राप्त करके अन्त में मोक्षपदों को प्राप्त होता है। उसको फिर गर्भवास जन्म, मरण, पुनर्जन्म के दुःख नहीं उठाने पड़ते हैं। अतः पारद सेवन द्वारा मोक्ष होता है। अष्टगुण से अष्ट विध ऐश्वर्य भी लिया जा सकता है, जैसा चरक में कहा है।

एकांशेन जगद्युगपदवष्टभ्यावस्थितं परं ज्योतिः।
पादैस्त्रिभिस्तदमृतं सुलभं न विरक्तिमात्रेण॥ ४४॥

जो ज्योति त्रिभिः पादैः (तीन पादों-अभ्यास, स्थिर देह और सद्ज्ञान) से युक्त अर्थात् जिसकी प्राप्ति में निरन्तराभ्यास, स्थिर देहता और सद्ज्ञान की परम आवश्यकता है जो त्रिविक्रम स्वरूप है, वह पर (सर्वोत्तम) ज्योति (तेज प्रकाश ब्रह्म) "ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते"। एकांशेन (एक अवयव) अथवा सम्पूर्ण प्राणि स्वरूप से ही "पादोऽस्य सर्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" अखिल विश्व को एक काल में ही धारण करती हुई स्थिर है। "अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन!। विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"॥ वह अमृतमय ज्योति (ब्रह्म) केवल वैराग्यमात्र से प्राप्त नहीं हो सकती है। अर्थात् जो त्रिविक्रम स्वरूप अमृतमय परमात्मा अपने एक अंश से सम्पूर्ण संसार को व्याप्त किये हुये हैं उसकी प्राप्ति केवल वैराग्य से असम्भव है॥ ४४॥

न हि देहेन कथञ्चिद्व्याधिजरामरणदुःखविधुरेण।
क्षणभङ्गुरेण सूक्ष्मं तद्ब्रह्मोपासितुं शक्यम्॥ ४५॥

सदा रोग और जरा, मरण आदि अनेक दुःखों से व्याकुल रहनेवाले और क्षणभंगुर (क्षण में नष्ट होने वाले) शरीर से उस सूक्ष्म (ज्ञानमात्रगम्य) ब्रह्म (अमृत) की उपासना कदापि नहीं हो सकती है। अर्थात् दीर्घकालपर्यन्त की हुई तपश्चर्या द्वारा ज्ञान से प्राप्त होने योग्य ईश्वर की प्राप्ति, कमलपत्रस्थ जल-विन्दुंवत् चंचल शरीर से असम्भव है॥ ४५॥

नामापि देहसिद्धेः को गृह्णीयाद्विना शरीरेण।
यद्योगगम्यममलं मनसोऽपि न गोचरं तत्त्वम्॥४६॥

जो निर्मल (ज्योतिरूप) तत्त्व (ब्रह्म) संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियुक्त मन का अगोचर (अप्रत्यक्ष) है, किन्तु केवल

१—सब प्राणियों पर दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास मंगल, अकृपणता, अनिच्छा रूप अष्टगुण। अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" रूप ज्ञान ये अष्टगुण कहे जाते हैं।

योग[1] (चित्तनिरोधात्मक वृत्ति) से प्राप्त हो सकनेवाली अर्थात् बड़ी कठिनता से प्राप्त होनेवाली वस्तु को जिसके विषय में श्रुति कहती है कि वह ब्रह्म "अगोत्रमवर्णममलं केवलो निर्गुणश्च" तथा "निष्क्रियं निष्कलं शान्तम्" तथा "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह"। क्या कोई मनुष्य देह स्थैर्य-आदि तीन प्रधान उपकरणों के विना इस क्षणभंगुर शरीरसे प्राप्त कर सकता है ? ॥ ४६ ॥

यज्ञाद्दानात्तपसो वेदाध्ययनाद्दमात्सदाचारात् ।
अत्यन्तभूयसी किल योगवशादात्मसंवित्तिः ॥४७॥

श्रेष्ठ आत्मज्ञान, अश्वमेधादि यज्ञों से, सत्पात्र में दान देने और कठिन से कठिन चान्द्रायण व्रत, पञ्चाग्निसेवन आदि तपस्या तथा वेदों के पढ़ने और इन्द्रियों के दमन तथा सदाचार और योगाभ्यास से हो सकता है।

विशेष वचन—बाह्य इन्द्रियों को वश में करने को दम कहा जाता है। "निग्रहो वाह्यवृत्तीनां दम इत्यभिधीयते"। अच्छे आचरण को सदाचार कहा जाता है, जिसमें प्रातःकाल उठकर शास्त्रानुकूल नित्यनैमित्तिक क्रियाओं का ग्रहण होता है। अथवा "साधवः क्षीणदोषाश्च सच्छब्दः साधुवाचकः। तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते"। यह सदाचार कहा जाता है। गीता में कहा है कि "यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि-मनीषिणाम् ॥ ४७ ॥

भ्रूयुगमध्यगतं यच्छिखिविद्युत्सूर्यवज्जगद्भासि[2] ।
केषाञ्चित्पुण्यदृशामुन्मीलति चिन्मयं परं ज्योतिः॥४८॥

जिस परम ज्योति को योगी लोग खेचरी मुद्रा द्वारा दोनों भ्रुवों के मध्यस्थल में देखते हैं या जिसकी प्राप्ति वा अनुभव के लिये दो भ्रुवों के बीच में ध्यान लगाया जाता है और जो अग्नि, बिजली सूर्य की भांति संसार में प्रकाशित हो रही है। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः", "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निस्तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। वह चिन्मय (ज्ञान-स्वरूप) ब्रह्म किन्हीं विशेष पुण्यात्मा दिव्यदृष्टि वाले मनुष्यों को ही प्रत्यक्ष होता है ॥ ४८ ॥

परमानन्दैकरसं परमं ज्योतिःस्वभावमविकल्पम् ।
विगलितसकलक्लेशं ज्ञेयं शान्तं स्वसंवेद्यम् ॥ ४६ ॥

वह ब्रह्म परम (अनुपम) आनन्द रस (अनुराग) युक्त अर्थात् आनन्दमय है। "यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः" और परम (श्रेष्ठ) ज्योतिःस्वभाव (स्वतः-प्रकाशस्वरूप) है। साथ ही यह अविकल्पना (मिथ्याज्ञान-शून्य) युक्त है। अथवा यह विशेष्य विशेष सम्बन्ध रहित या ज्ञातृज्ञेयादि विभाग शून्य अर्थात् ब्रह्म-आत्मा का एक विषय ज्ञान स्वरूप है। और जिससे सम्पूर्ण दुःख (आध्या-त्मिक-भौतिक, दैविक) दूर रहते हैं। "यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते"। वह शान्ति स्वरूप है उसका किसी के द्वारा ज्ञान या प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु वह खुद ही अपनी आत्मा से जाना जाता है ॥४६ ॥

तस्मिन्नाधाय मनः स्फुरदखिलं चिन्मयं जगत्पश्यन् ।
उत्सन्नकर्मबन्धो ब्रह्मत्वमिहैव चाऽऽप्नोति ॥ ५० ॥

उक्त स्वरूप ब्रह्म के ध्यान में मन को स्थिर करके मनोनेत्र द्वारा मनुष्य इस सम्पूर्ण संसार को जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ प्रकाश-मान हो रहे हैं। चिन्मय (प्रकाशस्वरूप या ब्रह्ममय) को देखता हुआ शुभाशुभ कर्मबन्धन से विमुक्त होकर "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इसी संसार में रहता हुआ ब्रह्मत्व (जीवन-मुक्ति) को प्राप्त हो जाता है ॥ ५० ॥

रागद्वेषविमुक्ताः सत्याचारा मृषारहिताः ।
सर्वत्र निर्विशेषा भवन्ति चिद्ब्रह्मसंस्पर्शात् ॥५१॥

उस परम ब्रह्म के संस्पर्श (ज्ञानप्राप्ति) से मनुष्य रागद्वेष (मित्र, शत्रुके भेद) से रहित हो जाते हैं और असत्य भाषण नहीं करते या असत्य आचरण नहीं करते हैं। वे सदाचारी होकर सर्वत्र (शत्रु-मित्र में मान-अपमान में, लाभ-अलाभ में, सुख-दुःख आदि में) भेद-भाव रहित हो जाते हैं। "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः" गीता ॥५१॥

तिष्ठन्त्यणिमादियुता विलसद्देहाः सदोदितानन्दाः ।
ब्रह्मस्वभावममृतं सम्प्राप्ताश्चैव कृतकृत्याः ॥ ५२ ॥

और ब्रह्मस्वभाव (ब्रह्मस्वरूप) अमृत को प्राप्तकरके [1]अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों से युक्त होकर, सदा तेजस्वी शरीर से परमानन्द में मग्न रहते हुए कृतकृत्य हो जाते हैं। अर्थात् उनको संसार में किसी वस्तु की अभिलाषा नहीं रहती है ॥ ५२ ॥

आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।
श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम् ॥५३॥

जो शरीर श्रुति स्मृति आदि शास्त्रों में प्रतिपादित ईश्वर के साक्षात्कार करने वाले ज्ञान (विद्या) का स्थान

१—"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" "संयोगयोगमित्याहुजीवात्म-परमात्मनोः"। २—"जगद्भासि" के स्थान पर "जगद्भाति" ऐसा पाठ भी है।

१—"अणिमा लघिमा चैव गरिमा महिमा तथा। प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः" ॥

है तथा जिसके द्वारा धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि होती है अर्थात् जो चतुर्वर्गप्राप्ति का मूलकारण "धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्" है उस अजर अमर शरीर को छोड़कर और कोई दूसरा उत्तम साधन नहीं जिससे हम सब विघ्नों और मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं ॥५३॥

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन यो न जानाति सूतकम् ।
अदृष्टविग्रहं देवं कथं ज्ञास्यति चिन्मयम् ॥ ५४ ॥

जो मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अर्थात् नेत्रों द्वारा दीखने वाले शरीर को अजर अमर बनाने वाले पारद को नहीं जानता अर्थात् पारद की विभूतियों से परिचित नहीं है, वह शरीर इन्द्रिय-सहित अर्थात् स्थूल दृष्टि वालों को न दीखने वाले चिन्मय (चिदानन्द रूप) देव परब्रह्म को किस तरह जान सकता है। शरीर को अजर अमर करने में प्रत्यक्ष सिद्ध पारद से अपरिचित मनुष्य अप्रत्यक्ष सिद्ध ईश्वर को किसी तरह भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

विशेष वचन—आत्मा इन्द्रिय इन्द्रियार्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) और मन के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। "आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते । व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते" । चरक ॥ ५४ ॥

यज्जरया जर्जरितं कासश्वासादिदुःखविवशं च ।
योग्यं तन्न समाधौ प्रतिहतबुद्धीन्द्रियप्रसरम् ॥ ५५ ॥

जो शरीर जरा (वृद्धावस्था) से जर्जर हो गया हो तथा कास श्वास आदि अनेकविध रोगों से घिरे रहने के कारण पराधीन हो जिसकी बुद्धीन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं कर सकती हों अर्थात् क्षीण हो गई हों वह शरीर परमात्मा के साक्षात्कार करने के लिये एकाग्र-चित्तवृत्तिरूप योग (समाधि) में असमर्थ होता है ॥ ५५ ॥

बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वादलम्पटः परतः ।
यातविवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम् ॥५६॥

सोलह वर्ष की अवस्था तक मनुष्य बालक रहता है अतः इस अवस्था में शरीर के पूर्ण कार्यक्षम न होने के कारण वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। इसके पश्चात् युवावस्था आने पर मनुष्य विषयवासना के रसास्वादन करने में लम्पट (आसक्त) हो जाता है और विषयासक्त चित्त में तत्त्व ज्ञान का उदय नहीं होता है। "विषयासक्तचित्तानां कृष्णावेशः सुदुस्तरः । वारुणी-दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयात्" ॥ और वृद्धावस्था में विवेक शक्ति ही कम हो जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हो जाने पर मनुष्य मुक्ति को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। "यातविवेको" के स्थान पर "जातविवेको" ऐसा पाठ भी मिलता है वहाँ ज्ञानउत्पन्न होने पर मनुष्य बूढ़ा हो जाता है अतः मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है ऐसा ही अर्थ किया जाता है। अतः प्रत्येक मनुष्य को वृद्धावस्था से पूर्व ही मुक्ति की साधना करनी चाहिये ॥ ५६ ॥

अस्मिन्नेव शरीरे येषां परमात्मनो न संवेदः ।
देहत्यागादूर्ध्वं तेषां तद्ब्रह्म दूरतरम् ॥ ५७ ॥

इस मनुष्य शरीर में जिनको परमात्मा (ब्रह्म) "आत्मास्य जगतो यस्मात् सर्वोत्कर्षाश्रयो मतः । परमात्मा परं ब्रह्म तेन वेदे प्रकीर्तितः ।" का ज्ञान नहीं होता उन मनुष्यों को देह-त्याग के पश्चात् उस ब्रह्म की प्राप्ति बहुत कठिन है अर्थात् असम्भव है ॥ ५७ ॥

ब्रह्मादयो यतन्ते तस्मिन्दिव्यां तनं समाश्रित्य ।
जीवन्मुक्ताश्चान्ये कल्पान्तस्थायिनो मुनयः ॥५८॥

ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता तथा और कल्पान्त पर्यन्त स्थित रहने वाले मुनि लोग भी दिव्य शरीर को प्राप्त करके जीवन मुक्त होते हुए भी उस परमब्रह्म की निरन्तर प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अतः मनुष्य को ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति के लिये अवश्य प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५८ ॥

तस्माज्जीवन्मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमम् ।
दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात् ॥५९॥

अतः जीवन-मुक्ति की अभिलाषा रखने वाले योगी को सबसे पूर्व हर (शिव) गौरी (पार्वती) के सृष्टि (शुक्र-शोणित) 'पारदं शिववीर्यं च दुर्गाबीजं च गन्धकम्" अर्थात् पारद गन्धक के द्वारा अपने शरीर को दिव्य (ज्योतिर्मय जरामरण-रहित बनाना चाहिये। अभ्रक को भी कहीं पर पार्वती का वीर्य कहा है—"कदाचित् गिरिजा देवी हरं दृष्ट्वा मनोहरम्। मुमोचयत्तदावीर्यं तज्जातं शुभ्रमभ्रकम् ॥ रसकामधेनु—पृष्ठ २४१ (सम्पादक) ।

विशेष वचन—शरीर को कार्यक्षम करने के लिये तथा संसार में उन्नति करने के लिये पारद-गन्धक के योग से बनी हुई औषधियों का प्रयोग करना आवश्यक है ॥ ५९ ॥

अथ रसोत्पत्तिवर्णनम्—

शैलेऽस्मिञ्शिवयोः प्रीत्या परस्परजिगीषया ।
सम्प्रवृत्ते च सम्भोगे त्रिलोकीक्षोभकारिणि ॥ ६० ॥

विनिवारयितुं वह्निः संभोगं प्रेषितः सुरैः ।
काङ्क्षमाणैस्तयोः पुत्रं तारकासुरमारकम् ॥ ६१ ॥
कपोतरूपिणं प्राप्तं हिमवत्कन्दरेऽनलम् ।
अपक्षिभावसंलुब्धं स्मरलीलाविलोकिनम् ॥ ६२ ॥
तं दृष्ट्वा लज्जितः शंभुर्विरतः सुरतात्तदा ।
प्रच्युतश्चरमो धातुर्गृहीतः शूलपाणिना ॥ ६३ ॥
प्रक्षिप्तो वदने वह्नेर्गङ्गायामपि सोऽपतत् ।
बहिः क्षिप्तस्तया सोऽपि परिदन्दह्यमानया ॥ ६४ ॥
सञ्जातास्तन्मलाधानाद्धातवः[1] सिद्धिहेतवः ।
यावदग्निमुखाद्रेतो न्यपतद्भूरिसारतः[2] ॥ ६५ ॥
शतयोजननिम्नांस्तान्कृत्वा कूपांस्तु पञ्च च ।
तदाप्रभृति कूपस्थं तद्रेतः पञ्चधाऽभवत् ॥ ६६ ॥

एक समय पूर्व-वर्णित हिमालय पर्वत पर एक दूसरे को पराजित करने की इच्छा से शिव और पार्वती का त्रिलोकी में क्षोभ उत्पन्न करने वाला सम्भोग कार्य प्रारम्भ होने लगा। उनके रज और वीर्य से उत्पन्न होने वाले और तारक दैत्य को मारने वाले पुत्र की इच्छा रखने वाले देवताओं ने उस सम्भोग कार्य को रोकने के लिये वहाँ अग्नि को भेजा। वह अग्नि कबूतर का रूप धारण करके हिमालय की गुफा में बैठ कर शिव-पार्वती के काम-क्रीड़ा-विलास को देखती हुई, कृत्रिम पक्षिभाव से अर्थात् वास्तव में देवता रूप होने से काम-क्रीड़ा को देखकर लज्जित सी हो गई। कबूतर को इस तरह लज्जित-सा (जो कि मनुष्य योनि के मैथुन कर्म से नहीं होना चाहिये था) देख कर शिव जी ने लज्जित होकर मैथुन करना छोड़ दिया। मैथुन के बाद निकलने वाले सर्वोत्तम धातु (शुक्र) को शिव ने अपने हाथ में लेकर उस वह्नि के मुख में फेंक दिया। तब उस वीर्यरूप शिव के तीव्र तेज को न सहती हुई अग्नि (अग्निदेव) गंगा में कूद पड़ी, गंगा ने भी असह्य होने के कारण उस तेज सहित (वीर्य-सहित) अग्नि को अपनी तरंगों से बाहर फेंक दिया। वीर्य मल के गंगा और उसके किनारों पर पड़े रहने से पारद संस्कार में सिद्धि देने वाली अथवा शरीर में स्थिरता रूप सिद्धि (सफलता) देने वाली अनेक प्रकार की धातुयें उत्पन्न हो गई और अग्नि के मुख से जहाँ कहीं भी वीर्य गिरा वहाँ २ सौ योजन गहरे पांच कुएँ बन गये तब से इन कुओं में होने वाला वीर्य पाँच प्रकार का हो गया। कुमारसम्भव में यही उपाख्यान है यथा—

विशेष वचन—तारकासुर के विषय में ऐसी कथा सुनी जाती है कि जब तारकासुर ने सब देवताओं को दुःखी कर दिया और वह किसी से भी परास्त नहीं हुआ तो उन सब ने सोचा कि यदि शिव जी का कोई अत्यन्त तेजस्वी बलवान् पुत्र हो तो इसे मार सकता है। इसके लिये उन्होंने शिव जी से प्रार्थना की और उन्होंने स्वीकार कर लिया। परन्तु उस लक्ष्य को छोड़ कर जब शिव जी सम्भोग करने लगे तो देवताओं को डर हुआ कि सम्भवतः यह पुत्र उतना बलशाली नहीं होगा अतः उन्होंने सम्भोग को रोकने के लिये वह्नि को भेजा। ताकि शिव-पार्वती बलवान् पुत्र की उत्पत्ति को लक्ष्य करके सम्भोग करें और देवताओं का कार्य सिद्ध हो। सम्भोग के समय पति-पत्नीका जैसा लक्ष्य या विचार होता है वैसे ही विचार या भाव शक्तिवाला पुत्र होता है। सुश्रुत में लिखा है कि "आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ। स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः"।

अनेक विद्वान् इस पारदोत्पत्ति की कथा को आलंकारिक मानते हैं, वे शिव-पार्वती का अर्थ पुरुष-प्रकृति अथवा जड़-चेतन करते हैं। सम्भोग शब्द से संघर्ष लेते हैं। परन्तु पूर्ण वर्णन को प्रकृति-पुरुष के संघर्ष से साम्य नहीं करते हैं। प्रतीच्य मत से पारद की उत्पत्ति पर विचार करने पर यह आलंकारिक कथा बहुत कुछ सामंजस्य रखती है। इस मत में पारद की उत्पत्ति पृथ्वी के अन्तराल से तीव्र भूकम्पों द्वारा सिद्ध की गई है। पृथ्वी के अन्तराल में जब प्राकृतिक संघर्ष होता है तब आग्नेयपाषाण ज्वालामुखी के रूप में प्रकट होने लगते हैं और तीव्र-क्षोभक भूकम्प (त्रिलोकी-क्षोभकारिणि) पैदा होता है। भूकम्प के बाद जहाँ ज्वालामुखी निकलती है (सुरताद्विरतस्तदा) वहां पृथ्वी शतधा विदीर्ण हो जाती है और उससे धूम्र वर्ण की गैस निकलती है (कपोतरूपिणम्)। बाद की अग्नि-ज्वला। अग्निज्वाला के क्षोभ के बन्द हो जाने से भूकम्प होना बन्द हो जाता है। तब ज्वालामुखी के आग्नेयपाषाण क्रमशः शीतल होने लगते हैं (गंगायामपि सोऽपतत्) और उनके भीतर उड़नशील खनिज उष्ण जल के साथ मिल कर वाष्प रूप में ऊपर और (बहिःक्षिप्तस्तया सोऽपि) तत्समीपवर्ती पाषाण खण्डों की दरारों में जम जाते हैं। इस प्रकार पृथ्वी के अन्तराल से निकल कर जमा होने वाले खनिजों में पारद या पारदीय खनिज (उपरस) एक खनिज माना जाता है। नव्य मत से पारद की उत्पत्ति स्थिर

१—"तन्मलाधानाद्धातवः" के स्थान पर "तन्मलाज्ञानाधातवः" ऐसा पाठ है। २—"भूरिसारतः" के स्थान पर "भुवि सर्वतः" ऐसा पाठ है।

करने में एक तरफ पारद के निमित्त खोदी जाने वाली खानों में से विभिन्न प्रकार के खनिज प्राप्त होते हैं जिन से संसार का बड़ा उपकार होता है। "सञ्जातास्तन्मलाधानाद्धातवः सिद्धिदायकाः" दूसरी तरफ पारद के व्यापार तथा उसके औषध प्रयोग द्वारा दारिद्र्यों तथा रोग निर्मूल के साथ महा उपकार दिखाई देता है। अतः पारद को शिव (कल्याण, सुख, ऐश्वर्य) का बीज (कारण) कहा जाता है। पारदीय कूपों के विषय में आजकल की खोज से यह प्रत्यक्ष देखा गया है कि पारद की खानों के पास नलकाकार कूप पाये गये हैं। अमेरिका में ऐसे बहुत से स्थान है जिन की समता "शतयोजनविस्तीर्ण" कूपों से हो सकती है। शतयोजन गहरे पारद के कूप अभी तक कहीं नहीं पाये गये हैं, हाँ उनकी २४५० फीट तक की गहराई देखी गई है। आजकल की गवेषणा ने भूगर्भ के अन्दर पारद निकालने के लिये सौ मील की खुदाई करके देखा है तो उनको पाँच कूपों के स्थान पर अठारह कूप (Shafts) प्राप्त हुये हैं जिन में से पारद निकाला जाता है। सम्भवतः उस समय पाँच ही कूप प्राप्त हो सके हों ॥ ६०–६६ ॥

अथ रसानां भेदाः—

रसो रसेन्द्रः सूतश्च पारदो मिश्रकस्तथा ।
इति पञ्चविधो जातः क्षेत्रभेदेन शंभुजः ॥ ६७ ॥

भिन्न भिन्न देशों तथा स्थानों की खानों से निकलने वाला पारद स्थानीय कारणों से रस, रसेन्द्र, सूत, पारद तथा मिश्रक इस प्रकार पाँच प्रकार का माना जाता है।

विशेष वचन—वर्तमान में पारद की शुद्धता और अशुद्धता तथा द्रवत्व आदि को लेकर पारद के भेद पाये जाते हैं। परन्तु रक्त-पारद पीत-पारद आदि पारद के भेद नहीं देखे जाते हैं। यदि रक्त आदि पारद से पारद के खनिजों को लिया गया हो तो यह भेद हिंगुलु के अन्तर्गत हो जाते हैं। जिनको आगे लिखा जायगा। रस-संकेत कलिका में ब्राह्मण-क्षत्रियादि भेद से भी इसके भेद किये गये हैं परन्तु उसमें श्वेत वर्ण पारद को ही उत्तम पारद माना गया है। "श्वेतारुणहरिद्राभकृष्णाः देहे लोहे गदे विप्र्याः योज्या वा स्वस्वजातिषु" ॥ ६७ ॥

रसो रक्तो विनिर्मुक्तः सर्वदोषै रसायनः ।
सञ्जातास्त्रिदशास्तेन नीरुजा निर्जरामराः ॥ ६८ ॥
रसेन्द्रो दोषनिर्मुक्तः श्यावो रूक्षोऽतिचञ्चलः ।
रसायिनोऽभवंस्तेन नागा मृत्युजरोज्झिताः ॥६९॥
देवैर्नागैश्च तौ कूपौ पूरितौ मृद्भिरश्मभिः ।
तदाप्रभृति लोकानां तौ जातावतिदुर्लभौ ॥७०॥
ईषत्पीतश्च रूक्षाङ्गो [1]दोषयुक्तश्च सूतकः ।
दशाष्टसंस्कृतैः सिद्धो देहं लोहं करोति सः ॥ ७१ ॥
अथान्यकूपजः [2]सोऽपि [3]चञ्चलः श्वेतवर्णवान् ।
पारदो विविधैर्योगैः सर्वरोगहरः स हि ॥ ७२ ॥
मयूरचन्द्रिकाछायः स रसो मिश्रको मतः ।
सोऽप्यष्टादशसंस्कारयुक्तश्चातीव सिद्धिदः ॥ ७३ ॥
त्रयः सूतादयः सूताः सर्वसिद्धिकरा अपि ।
निजकर्मविनिर्माणैः शक्तिमन्तोऽतिमात्रया ॥ ७४ ॥
एतां रससमुत्पत्तिं यो जानाति स धार्मिकः ।
आयुरारोग्यसन्तानं रससिद्धिं च विन्दति ॥ ७५ ॥

रस-संज्ञक पारद भेदरक्त-वर्ण का होता है वह सब प्रकार के दोषों से रहित रसायन (जराव्याधिनाशक) होता है। इसके सेवन से देवता लोग निरोग अजर तथा अमर हो गये हैं।

रसेन्द्र नामक पारद भेद भी पारदीय नाग वंगादि दोषों से रहित होता है, वर्ण में श्याव (कुछ काला लाल) वर्ण, रूक्ष यथा अत्यन्त निर्मल (स्वच्छ) होता है। इस पारद रूप रसायन के सेवन करने से नाग (वासुकिसर्प शेषनाग आदि) देवता जरामरण से मुक्त हो गये हैं। परन्तु इस रस तथा रसेन्द्र के कूपों को इन्द्रादि देवताओं ने मिट्टी तथा पत्थरों से पाट कर बन्द कर दिया। तब से उक्त दो प्रकार के पारद भेद मनुष्यों के लिये अत्यन्त दुर्लभ हो गये हैं।

सूत नामक पारद भेद कुछ पीलापन लिये हुये रूक्ष होता है और यह पारदीय नैसर्गिक दोषों से युक्त होता है। इसको आगे लिखे जाने वाले अठारह संस्कारों से युक्त कर लेने पर यह सिद्ध हो जाता है। फिर इसके सेवन से शरीर लोहवत् दृढ़ हो जाता है।

अन्य कूप से निकलने वाले पारे को पारद कहा जाता है वह भी चंचल तथा श्वेतवर्ण होता है। यह शुद्ध करके विविध प्रकार के योगों के रूप में सेवन किया जाने पर नाश करने की शक्ति रखता है।

मयूर पक्ष की चन्द्रिका के समान वर्ण वाले पारद

१—"दोषयुक्तश्च" के स्थानपर "दोषमुक्तश्च", २—"सोऽपि के स्थान पर 'कोऽपि', ३—"चंचलः" के स्थानपर "सचलः" ऐसा पाठ है।

को मिश्रक पारद भेद कहा जाता है। इसको भी अष्टादश संस्कार युक्त करके प्रयोग में लाने पर देहस्थैर्य आदि सिद्धि (सफलता) प्राप्त होती है।

उपरोक्त सूत पारदमिश्रक सूत[1] (पारद भेद) स्वभावतः देहस्थैर्य आदि रूप सिद्धिप्रद हैं फिर उनको विशेष संस्कार युक्त करके प्रयोग में लाने पर उनकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है। अतः संस्कार रहित पारद का सेवन नहीं करना चाहिये।

जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित पारद की उत्पत्ति को जानता है वही वास्तविक धार्मिक वैद्य है, वही वास्तविक आयु-वृद्धि तथा आरोग्यता की वृद्धि को जानता है, वही पारद सिद्धि (पारद के संस्कार-कर्म तथा प्रयोग-कर्म की) सफलता को प्राप्त कर सकता है।

विशेष वचन—आलंकारिक भाषा में लिखी हुई सारगर्भित पारद की उत्पत्ति के देखने से यह बात सिद्ध होती है कि पारद-विषयक ज्ञान पूर्वकाल में भी वैसा ही था जैसा कि आजकल। परन्तु प्राच्यशास्त्रीय पारद की उत्पत्ति का ठीक अर्थ समझना प्रत्यक्ष दर्शन के बिना बहुत कठिन है। पारद को केवल शिव जी का वीर्य मान कर सन्तोष कर लेना रसशास्त्र की अवनति का कारण हो रहा है। अतः प्रत्यक्ष दर्शन पूर्वक पारद की उत्पत्ति, गुण-दोष का निर्णय करने वाला वैद्य ही वास्तविक रसशास्त्रज्ञ हो सकता है। पारद एक देश का नाम था, हिंगुल भी देश का नाम था। विशेष जानकारी के लिये देखें—पाणिनीकाल का भूगोल—काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका—वर्ष ५७ अंक २–३ सम्बत् २००६ में ॥ ६८–७५ ॥

अथ रसादीनां निरुक्तिः—

रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते।
जरारुङ्मृत्युनाशाय रस्यते वा रसो मतः॥ ७६ ॥
रसोपरसराजत्वाद्रसेन्द्र इति कीर्तितः।
देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततः स्मृतः॥ ७७ ॥
रोगपङ्काब्धिमग्नानां पारदानाच्च पारदः।
सर्वधातुगतं तेजोमिश्रितं यत्र तिष्ठति॥
तस्मात्स मिश्रकः प्रोक्तो नानारूपफलप्रदः॥ ७८ ॥

१—यद्यपि सूतशब्दः क्षेत्रभेदेन पञ्चधा विभक्तस्य शिववीर्यस्यान्यतमभेदविशेषार्थकः, तथापि सर्वेषामेव तज्जातीयानां सामान्यतो देहस्थैर्यरूपसिद्धिप्रसूत्वेन सूतसंज्ञा न विरुद्ध्यते यथा तृणशब्दस्तृणविशेषे तृणजातौ च वर्तते।

एवंभूतस्य सूतस्य मर्त्यमृत्युगदच्छिदः।
प्रभावान्मानुषा जाता देवतुल्यबलायुषः॥ ७९ ॥

स्वर्ण अभ्रक रजत आदि धातुओं को अपने में जीर्ण करने के कारण अथवा सेवन करने पर जरा मृत्यु तथा अन्य रोगों को नष्ट करने के कारण पारद को रस कहते हैं। अथवा देवता मनुष्य आदि इसको मुख ऐश्वर्य तथा मुक्ति के लिये सेवन करते हैं अतः इसे रस कहा जाता है।

अभ्रक, गन्धक, मनःशिला आदि महारसों तथा उपरसों में प्रधान होने से पारद को रसेन्द्र (रसों में सर्वश्रेष्ठ) कहते हैं। देह और लोह की सिद्धि को उत्पन्न करने से अर्थात् शरीर को अजरामर और लोह आदि निकृष्ट धातु को स्वर्ण रजत में परिणत करने से पारद को 'सूत' शब्द से कहा जाता है।

रोगरूपी कीचड़ के समुद्र में डूबते हुये मनुष्यों को पुनः जीवन प्रदान करने के कारण इसे "पार-द" (पार करने वाला) शब्द से कहा जाता है। "संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः। पारदो गदितो यस्मात्पारार्थं साधकोत्तमैः"। इस पारद में सम्पूर्ण धातुओं की रोग-नाशक शक्ति (तेज) मिश्रितावस्था में पाई जाती है अर्थात् सम्पूर्ण धातुओं के प्रयोग से जो फल प्राप्त होता है वह सब पारद में केन्द्रित हुआ है। अतः इसे "मिश्रक" नाम से भी कहा जाता है।

पूर्व समय में उक्त प्रकार से उत्पत्ति आदि धर्मयुक्त, मनुष्यों के मृत्यु तथा रोगों को अथवा मृत्युरूपी रोग को नाश करने वाले पारद के प्रभाव से मनुष्य देवताओं के सदृश बलशाली तथा दीर्घायु हो गये।

विशेष वचन—देहसिद्धि से अभिप्राय ऐसे रसों के निर्माण से है जिनसे शरीर जरा और व्याधियों से रक्षित हो और स्थायीरूप से व्याधियों से मुक्ति प्राप्त कर सके। लोहसिद्धि से अभिप्राय ताम्र, वंग आदि हीन धातुओं से स्वर्ण और रजत के निर्माण से है। इसीको हैमवती तथा राजती विद्या "कीमियागिरी" कहा जाता है। कहा जाता है कि यह विद्या अब भी किन्हीं साधु-सन्तों में जीवित पाई जाती है। इस विषय को इसी ग्रन्थ में आगे स्वर्णयष्टी तारयष्टी के विधान में लिखा गया है॥ ७६–७९ ॥

अथ रससंस्कारकारणम्—

तान्दृष्ट्वाऽभ्यर्थितो रुद्रः शक्रेण तदनन्तरम्।
दोषैश्च कञ्चुकाभिश्च रसराजो नियोजितः॥
तदाप्रभृति सूतोऽसौ नैव सिध्यत्यसंस्कृतः॥८०॥

पारद के सेवन से मनुष्यों को देवताओं के सदृश बली तथा दीर्घायु देख कर इन्द्र ने शिव जी से प्रार्थना की कि यदि पारद का इस प्रकार अनायास सेवन रहा तो सभी मनुष्य जरामरण रहित हो जावेंगे फिर इनमें और देवताओं में कोई भेद नहीं रहेगा। अतः इसको ऐसा कर दीजिये जिससे इसके सेवन में बहुत कठिनाई हो और कोई इसे सेवन न कर सके। तब से इसमें नैसर्गिक दोष तथा कंचुकों की उपस्थिति की गई जिससे यह बिना पूर्ण संस्कार किये कभी उत्तम फल नहीं देता है बल्कि फल के स्थान पर हानि करता है।

विशेष वचन—पारद के नैसर्गिक दोष तथा कञ्चुकों के विषय में आगे विस्तार पूर्वक वर्णन किया जायेगा। अब तक पारदीय शक्तिमात्र का परिचय दिया गया था। जहाँ पर उसमें पाये जाने वाले दोषों (विकारों) का भी संकेत कर दिया गया है कि बिना संस्कार के पारद में उक्त सिद्धि नहीं होती है। अतः संस्कृत पारद ही प्रयोग में लाना चाहिये ॥ ८० ॥

अथ पारदस्य गतयः—

जलगो जलरूपेण त्वरितो हंसगो भवेत्।
मलगो मलरूपेण सधूमो धूमगो भवेत् ॥ ८१ ॥
अन्या जीवगतिर्दैवी जीवोऽण्डादिव निष्क्रमेत्।
स तांश्च जीवयेज्जीवांस्तेन जीवो रसः स्मृतः ॥८२॥
चतस्रो गतयो दृश्या अदृश्या पञ्चमी गतिः।
मन्त्रध्यानादिना तस्य रुध्यते पञ्चमो गतिः ॥८३॥

पारद जलरूप (द्रव) होने से जल में मिल जाता है। त्वरित (चंचल) होने से हंस (सूर्यकिरणों) के साथ मिल कर उड़ जाता है अर्थात् किरणों के रूप में अदृश्य हो जाता है। सधूम (वाष्पयुक्त होकर) धुंए में मिल जाता है। अर्थात् धूमरूप होकर उड़ जाता है। मलरूप (धातुरूप में होकर) में मलग (स्वर्णादि) धातुओं में मिल जाता है। इन चार गतियों के अतिरिक्त पारद की एक दैवी गति (अदृश्य) भी होती है। यह पाँचवीं गति है। इसको जीवगति आत्मावत् गमन या रसगति कहते हैं। इस गति में पारद शरीरकोष से जीव (आत्मा) की भांति निकल जाता है। अर्थात् उक्त सर्व गतियों के मार्ग अवरुद्ध करने पर भी यह उड़ जाता है। क्योंकि उपर्युक्त चतुर्विध या पञ्चविध गतियुक्त पारद, उसके सेवन करने वालों के जरामरणादि दुःखों को शीघ्र नष्ट करके दीर्घ जीवन प्रदान करता है, अतः पारद को भी "जीव" कहते हैं। इसी से पारद की जीवगति हो सकती है। पारद की प्रथम चार गतियां देखी जा सकती हैं अर्थात् जल, वाष्प, किरण तथा धातुओं के रूप में हुये पारद को हम संस्कार या युक्तियों द्वारा प्राप्त कर सकते या देख सकते हैं। परन्तु पांचवीं "दैवी-गति" अदृश्य (न देखी जाने योग्य) है। यह सिद्ध मन्त्रों (अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यः इत्यादि रक्षामन्त्र) ध्यान (रससंस्कार में विशेष सतर्क होकर रहना) योग (नियामक या रोधक औषधियों के योग द्वारा) देखी या रोकी जा सकती है। जैसे जीव को शरीर में समाधि द्वारा चिरकाल तक रोका जा सकता है।

विशेष वचन—पारद संस्कारों को करतेहुये द्रव द्रव्यों के साथ गाढ़तर मर्दनादि द्वारा पारद अतिसूक्ष्म कणों के रूप में जल में मिल जाता है, अथवा रस-कर्पूर आदि का घोल (Lotion) बनाते हुये हम पारद को जल में घुलता हुआ देख सकते हैं। इससे यह सिद्ध किया गया है कि पारद जल में कुछ कुछ विलेय है। तीव्र अग्निताप या सूर्यकिरणों से पारद के कण अधिकाधिक द्रव या सूक्ष्म होकर सूर्यकिरणों के साथ उड़ने लगते हैं। सम्भवतः यह भाव पारद के द्रवणांक (Melting Point) का द्योतक हो कि कितनी गर्मी में पारद सूर्य-किरणों के साथ मिल जाता है। धूम शब्द से वाष्प का ग्रहण करते हुए सम्भवतः यह प्रकट किया गया है कि पारद का वायुसंयोग से स्वभावतः भी वाष्पीभवन होता है। अथवा उड़नशील पारदीय योग रसकर्पूर आदि को त्वचा रोगों पर धूम्रीकरण द्वारा प्रवेश करने का द्योतक हो। मलगति पारद की स्पष्ट ही है कि पारद लोह तथा प्लाटिनम को छोड़ कर सब धातुओं में मिल जाता है।

दूसरे विचारक पारद में जलगति से जलतत्व, हंसगति से तेजस्तत्व, मलगति से पार्थिवतत्व, धूमगति से वायुतत्व प्रतिपादन करते हैं। आकाश के व्यापक होने से उसकी गति और तत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है। अथवा वीर्या(शुक्र)न्तरवत् पारद (शिव-वीर्य) में भी पञ्चमहाभूतों का सम्बन्ध प्रकट करते हैं। वीर्य (शुक्र) में आकाशतत्व का वर्णन चरक ने भी नहीं किया है—"किं स्यात् चतुष्पादप्रभवं" "वाय्वग्निभूम्यप् गुणपादवत्त्वम्" इत्यादि चरक। तद्वत् पारद की पञ्चम गति को भी दृश्य नहीं बनाया है ॥ ८१-८३ ॥

इति भिन्नगतित्वाच्च सूतराजस्य दुर्लभः।
संस्कारस्तस्य भिषजा निपुणेन तु रक्षयेत् ॥ ८४ ॥

इस प्रकार पारद के विभिन्न गति युक्त होने से उसका संस्कार करना बड़ा ही कठिन है। अतः निपुण वैद्यको प्रत्येक बातों का पूर्ण ध्यान रखते हुये, संस्कारों में इसकी रक्षा करनी चाहिये ॥८४॥

अथ रसस्य स्थानान्तरगतिवर्णनम्—

प्रथमे रजसि स्नातां हयारूढां स्वलंकृताम्।
वीक्षमाणां वधूं दृष्ट्वा जिघृक्षुः कूपगो रसः ॥ ८५ ॥
उद्गच्छति जवात्साऽपि तं दृष्ट्वा याति वेगतः।
अनुगच्छति तां सूतः सीमानं योजनोन्मितम् ॥ ८६ ॥
प्रत्यायाति ततः कूपं वेगतः शिवसम्भवः।
मार्गनिर्मितगर्तेषु स्थितं गृह्णन्ति पारदम् ॥ ८७ ॥

कूपस्थ पारद प्रथम ऋतु (मासिक धर्म) स्नानकर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत किसी पर्वत-वासिनी स्त्री को घोड़े में बैठकर बड़े चाव से पारदवाले कूप को झाँकती हुई देखकर उसको पकड़ने की इच्छा से बड़ी शीघ्रता से कुए में से ऊपर उछलता है। वह स्त्री भी पारद को उछलते हुए देखकर तेजी के साथ घोड़े को दौड़ाकर योजन पर्यन्त आगे चली जाती है और उसके पीछे पारद भी जाता है। जब स्त्री बहुत दूर निकल जाती है तो पारद वापिस अपने कूप में आ जाता है। जाते और आते समय मार्ग में बने हुये गहरे गढ़ों में पारद का कुछ अंश रह जाता है जो मिट्टी में मिलकर पारद का यौगिक हो जाता है। इसी को वहाँ के निवासी सञ्चय कर लेते हैं।

विशेष वचन—आगे लिखे जाने वाले पारद के वैज्ञानिक प्रकरण में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है ॥ ८५-८७ ॥

अथ हिंगुलोत्पत्तिवर्णनम्—

पतितो दरदे देशे गौरवाद्वह्निवक्त्रतः।
स रसो भूतले लीनस्तद्देशनिवासिनः।
तां मृदं पातनायन्त्रे क्षिप्त्वा सूतं हरन्ति च ॥ ८८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भट्टाचार्यस्य कृतौ
रसरत्नसमुच्चये रसोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अत्यन्त भारी होने के कारण पूर्व वर्णित कथा के अनुसार अग्निमुख से दरद (दोर्दुर) देश में गिरकर मृत्तिका में लीन पारद को वहाँ के निवासी लोग पातना यन्त्र (ऊर्ध्वापातन यन्त्र) में डालकर पृथक् कर लेते हैं।

विशेष वचन—हिंगुल के विषय में आगे स्वतन्त्र वर्णन किया जायगा कि यह क्या चीज है और इससे पारद किस तरह निकाला जाता है। हिंगुल से पारद निकालने के लिये रसपद्धति में विद्याधरयन्त्र का उल्लेख है। उसका लक्षण इस प्रकार है—"कृत्वा मृन्मयभाण्डसंपुटमधः प्रक्षिप्य भाण्डोदरे। तुर्यांशार्ककरैर्मनाकुसकरकैः सम्मर्द्य पिण्डीकृतम्। अन्यस्मिन् निचितोर्ध्ववारिणि मृदा संरुद्धय सन्धौ सुधीः। पक्त्वा द्विप्रहरं समेन शुचिना भाण्डे तदूर्ध्वं नयेत्" ॥८८॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

अथ महारसाः—

अभ्रवैक्रान्तमाक्षीकविमलाद्रिजसस्यकम्।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाऽष्टौ संग्रहेद्रसान् ॥ १ ॥

अभ्रक, वैक्रान्त, स्वर्णमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक (रूपामाखी), शिलाजीत, सस्यक (तुत्थ), चपल और रसक (खपरिया) ये आठ महारस कहे जाते हैं इनको अच्छी तरह परीक्षा करके संग्रह करना चाहिये।

विशेष वचन—रसेन्द्रसार संग्रह में इन्हीं आठ महारसों को उपरस संज्ञा दी है। वृ० यो० में इनको उपरस माना है। सम्भवतः इनको महारस संज्ञा देने में यह हेतु हो कि ये अन्य उपरसों की अपेक्षा विशेष गुण शक्तिशाली हैं और पारद के जारण-बन्धनादि संस्कारों में विशेषरूप से प्रयुक्त होते हैं। क्योंकि उपरसों में पारद के अल्पगुण होते हैं। अतः उनको उपरस और इन आठों को पारद के विशेष गुण होने से महारस कहा जाता है। परन्तु वर्तमान खोज से स्वर्णमाक्षिक तथा रौप्यमाक्षिक शिलाजतु, लोह के समास होने से लौह के उपधातु, सस्यक ताम्र का चपल यशद का और रसक नाग (सीसा) का उपधातुसिद्ध किया गया है और धातु प्रकरण में इनको उपधातु ही सिद्ध किया है। "ताम्रोपधातुस्तुत्थं हि" इत्यादि। चपल और रसक तथा सस्यक का विवरण यथा स्थान किया जायगा ॥ १ ॥

अथ गन्धाभ्रयोः स्वरूपम्—

देव्या रजो भवेद्गन्धो धातुः शुक्रं तथाऽभ्रकम्।

गन्धक पार्वती देवी का रज (आर्तवशोणित) और अभ्रक उसका शुक्रधातु अर्थात् वीर्य है। यह श्लोक प्रक्षिप्त है।

कदाचित् गिरिजा देवी हरं दृष्ट्वा मनोहरम्।
मुमोच यत्तदा वीर्यं तज्जातं शुभ्रमभ्रकम् ॥ रसकामधेनु।

अथ अभ्रकगुणाः—

गौरीतेजः परमममृतं वातपित्तक्षयघ्नं
प्रज्ञाबोधि प्रशमितरुजं वृष्यमायुष्यमग्र्यम्।

बल्यं स्निग्धं रुचिदमकफं दीपनं शीतवीर्यं।
तत्तद्योगैः सकलगदहृद्व्योम सूतेन्द्रबन्धि ॥ २ ॥

गौरी तेज अर्थात् अभ्रक "अभ्रकं गिरिजाबीजम्" सर्वोत्तम अमृत स्वरूप औषधि है अर्थात् यह शरीर में तीनों दोषों को शान्त करता है। वात पित्त के प्रकोप तथा क्षय (फुफ्फुस क्षय) रोग को नष्ट करता है। यह बुद्धि को बढ़ाता है सम्पूर्ण व्याधियों को शान्त करता है। सम्पूर्ण शारीरिक धातुओं को बल देता है और उत्तम आयुवर्धक है। बलवर्धक तथा शारीरिक अवयवों में मृदुता और कार्यक्षमता उत्पन्न करता है। रुचिकारक, कफशामक और अग्निप्रदीपक तथा शीतवीर्य (विशेषतः पित्तप्रकोपनाशक) है। भिन्न २ रोगों को नष्ट करनेवाली औषधियों के साथ मिलाकर सेवन करने से सम्पूर्ण व्याधियों को नष्ट करता है और पारद को बाँधता (बन्धन संस्कार में अत्यन्त उपयोगी) है।

विशेष वचन—अभ्रक वनस्पतियों द्वारा हमारे शरीर विशेषतः वातिकसूत्रों में प्रवेश करता है और शरीर के अवयवों में निम्न-लिखित मात्रा में पाया जाता है। मांस-पेसियों में ४१% यकृत् में २६% प्लीहा में भी २७% लसीका में ५% प्रतिशत तक पाया जाता है। फुफ्फुसों में यह अधिक मात्रा में पाया जाता है। क्योंकि अभ्रक के तत्त्व शरीर के प्रत्येक भाग में न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं। अतः यह सर्वांगपोषक, अकाल जरानाशक है। अभ्रक भस्म सेवन करने से त्वचा, कर्ण, नेत्र, नासा, केश, आमाशय आदि सब अंगों को बल मिलता है अतः यह बल्य तथा रसायन है। फुफ्फुस की निर्बलता के लिये यह विशेष उपयोगी औषधि है। अभ्रक भस्म सेवन से स्त्रियों को अधिक दूध उतरता है। सम्भवतः यह दुग्ध वाहिनियों का उत्तेजक तथा पोषक है। जीर्ण ज्वर की चिकित्सा में यह विशेष रूप से व्यवहृत होता है। वृद्धि चिकित्सक अभ्रक को उत्पादक अंगों के लिये विशेष बल्य मानते हैं। साधारणतः अभ्रक भस्म शीतवीर्य मानी जाती है जिससे शरीर में होने वाले वात पित्त का प्रकोप रक्त पित्त, रक्तातिसार, मूत्रकृच्छ्र, शुक्र-क्षीणता, शुक्रतारल्य, स्वप्नदोष, शुक्रमेह आदि रोगों में इसका प्रयोग लाभप्रद है। यह मस्तिष्क के ज्ञानतन्तुओं की उत्तेजना कम करता हुआ उनका पोषण करता है जिससे बुद्धि विकास होता है अतः इसे "प्रज्ञाबोधि" लिखा है ॥२॥

अभ्रक भस्म की मात्रा ½ रत्ती से १½ रत्ती तक है।

राजहस्तादधस्ताद्यत्समानीतं घनं खनेः।
भवेत्तदुक्तफलदं निःसत्वं निष्फलं परम् ॥ ३ ॥

अभ्रक की खानों में से राजहस्त (एक गज) प्रमाण नीचे खोद कर निकाले हुए अभ्रक में ही उक्त गुण पाये जाते हैं, ऊपरी भाग से लिया हुआ अभ्रक सत्व रहित होने से निष्फल होता है।

विशेष वचन—हजारीबाग तथा नीलोर के जिलों में अभ्रक की खानें पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त हिमालय तथा बद्रीनाथ के रास्ते में कतिपय पहाड़ों पर भी पाया जाता है। वहाँ के लोग इसे "भोडर" के नाम से ही कहते हैं। अभ्रक भूगर्भ में एक विशेष उत्ताप के द्वारा उत्पन्न होता है अत एव जितना इसे नीचा खोद कर निकाला जाय उतना ही उत्तम होता है। कहीं तो इसको पुरुष प्रमाण अर्थात् साढ़े तीन हाथ नीचे खोद कर लेने को लिखा है। ऊपरी भाग में ताप की कमी के कारण गुणों में हीनता होती है। देशभेद से भी इसमें उत्तमादि गुण पाये जाते हैं। "अभ्रकं हिमशैलोत्थमुत्तमं परिकीर्तितम्। मध्यमं पूर्वशैलोत्थं त्वधमं दक्षिणाद्रिजम्" ॥३॥

अथाभ्रभेदाः—

पिनाकं नागमण्डूकं वज्रमित्यभ्रकं मतम्।
श्वेतादिवर्णभेदेन प्रत्येकं तच्चतुर्विधम् ॥ ४ ॥

पिनाक, नाग, मंडूक और वज्र भेद से चार प्रकार का अभ्रक होता है तथा श्वेत, पीत, रक्त तथा कृष्ण वर्ण भेद से भी अभ्रक चार प्रकार का होता है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में जाति भेद से भी अभ्रक के चार भेद माने हैं। "ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्स्याच्चतुर्विधम्" ॥ ४ ॥

अथ पिनाकादीनां लक्षणानि—

पिनाकं पावकोत्तप्तं विमुञ्चति दलोच्चयम्।
तत्सेवितं मलं बद्ध्वा मारयत्येव मानवम् ॥ ५ ॥
नागाभ्रं नागवत्कुर्याद्ध्वनिं पावकसंस्थितम्।
तद्भुक्तं कुरुते कुष्ठं मण्डलाख्यं न संशयः ॥ ६ ॥
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मण्डूकं ध्मातं पतति चाभ्रकम्।
तत्कुर्यादश्मरीरोगमसाध्यं शस्त्रतोऽन्यथा ॥ ७ ॥
वज्राभ्रं वह्निसन्तप्तं निर्मुक्ताशेषवैकृतम्।
देहलोहकरं तच्च सर्वरोगहरं परम् ॥ ८ ॥

पिनाक को आग में तपाने से (चिट चिट शब्द के साथ) पत्र अलग अलग हो जाते हैं। इसका सेवन

करने से मलबन्ध (आंतों की प्रेरकगति बिलकुल बन्द होने से तीव्र मलबन्ध) से मृत्यु हो जाती है।

नाग अभ्रक आग में तपाने से सर्पवत् ध्वनि (फुंकार शब्द) करता है। इसको सेवन करने से मण्डल कुष्ट उत्पन्न होता है इसमें सन्देह नहीं।

मण्डूक अभ्रक आग में तपाने पर मेंढक की भांति उछलकर गिरता है। वह सेवन करने से शस्त्रचिकित्सा के अतिरिक्त असाध्य अश्मरी रोग को उत्पन्न करता है।

वज्र अभ्रक आग में तपाने पर किसी भी प्रकार के विकार (चिट चिट करना, फुंकार मारना तथा उछलना) को प्राप्त नहीं होता है। यह सेवन करने से शरीर को लोहवत् दृढ़ करता है तथा सब रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—आयुर्वेद प्रकाश में पिनाक को कुष्टप्रद, मण्डूक को शरीर में ग्रन्थि उत्पन्न कर मृत्युकर, नाग को भगन्दर रोगकारक लिखा है। यही मत रसेन्द्रसार का भी है ॥ ५—८ ॥

श्वेतवर्णाद्यभ्रकादीनामुपयोगः—

श्वेतं रक्तं च पीतं च कृष्णमेवं चतुर्विधम्।
श्वेतं श्वेतक्रियासूक्तं रक्ताभं रक्तकर्मणि ॥
पीताभमभ्रकं यत्तु श्रेष्ठं तत्पीतकर्मणि ॥ ९ ॥
चतुर्विधं वरं व्योम यद्यप्युक्तं रसायने।
तथाऽपि कृष्णवर्णाभ्रं कोटिकोटिगुणाधिकम् ॥ १० ॥

श्वेत, रक्त, पीत, तथा कृष्ण वर्ण भेद से जो चार प्रकार का अभ्रक कहा गया है। इनमें से सफेद अभ्रक श्वेतक्रिया (चांदी आदि श्वेत वस्तु मारण क्रिया) में लाल अभ्रक रक्त शुद्ध करने या हिंगुल आदि रक्त द्रव्यों के शोधन करने में, पीला अभ्रक स्वर्ण आदि पीली वस्तुओं के मारण करने या बनाने में श्रेष्ठ माना जाता है। यद्यपि पिनाक आदि चारों अभ्रक रसायन (जराव्याधिनाशन) में श्रेष्ठ माने गये हैं तथापि कृष्ण वर्ण अभ्रक पिनाक आदि की अपेक्षा करोड़ों गुण अधिक फलप्रद है।

विशेष वचन—अभ्रक भेदों की ग्रहण करने में दो मत दिखाई देते हैं। कई—श्वेत, रक्त, पीत तथा वज्रभेद से चार प्रकार के अभ्रक मानते हैं और वज्राभ्रक के फिर पिनाक आदि चार भेद मानते हैं। दूसरे—पिनाक आदियों को अभ्रक के भेद मानते हैं और वज्राभ्रक के श्वेतादि चार भेद मानते हैं। "अभ्रकं चतुर्विधं श्वेत-रक्त-पीत-नीलभेदात् भिन्न-भिन्नक्रियायां युज्यते। तथा श्वेतं तारे पीतरक्ते काञ्चने नीलं व्याधौ प्रयोज्यं यथोत्तरं गुणाढ्यञ्च। तेषु नीलाभं दर्दुरनागपिनाकवज्रभेदेन चतुर्विधम् ॥ ९—१० ॥

प्रशस्ताभ्रकलक्षणम्—

स्निग्धं पृथुदलं वर्णसंयुक्तं भारतोऽधिकम्।
सुखनिर्मोच्यपत्रं च तदभ्रं शस्तमीरितम् ॥ ११ ॥

स्निग्ध (चमकीला) मोटे पत्रवाला या स्थूल कणयुक्त पूर्ण सुन्दर वर्णयुक्त, अधिक भारी, सुगमता से पृथक् २ पत्र होने वाला अभ्रक अच्छा माना जाता है।

विशेष वचन—अन्य तन्त्रों में इस प्रकार का लक्षण वज्राभ्रक के लिये आता है, क्योंकि व्याधिहरण तथा रसायन में वज्राभ्रक (कृष्णाभ्रक) ही लिया जाता है "सुप्रशस्तं कठोराङ्गं गुरुकज्जलसन्निभम्" ॥ ११ ॥

सचन्द्रिकं च किट्टाभं व्योम न ग्रासयेद्रसः।
ग्रसितश्च नियोज्योऽसौ लोहे नैव रसायने ॥ १२ ॥

चन्द्रिका (चमक) युक्त तथा लोहकीटवत् दीखने वाला, अर्थात् दग्ध होने के कारण निःसत्व, अभ्रक पारद के ग्रास कर्म में नहीं लेना चाहिये अथवा ऐसे अभ्रक को पारद ग्रास नहीं करता है। ग्रास किया हुआ अभ्रक लोह (धातु- निर्माण सिद्धि) तथा रसायन कर्म में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—"ग्रासयेद्रसः" के स्थान पर "ग्रासयेद्रसम्" ऐसा पाठ है। और "ग्रसितश्च नियोज्यं तत्" के स्थान पर "ग्रसितश्च नियोज्योऽसौ" ऐसा पाठ भेद है। द्वितीय पाठभेद में "अभ्रक ग्रास किया हुआ पारद" ऐसा अर्थ करना चाहिये। रसहृदयतंत्र में भी अभ्रक ग्रास के विषय में लिखा है "सूतेऽपि रसायिनां भोज्यं परिकीर्तितं परं सत्वम्। त्रिविधं गगनमभक्ष्यं काचं किट्टं च पत्ररजः" ॥ १२ ॥

निश्चन्द्रसचन्द्राभ्रयोर्गुणदोषौ—

निश्चन्द्रिकं मृतं व्योम सेव्यं सर्वगदेषु च।
सेवितं चन्द्रसंयुक्तं मेहं मन्दानलं चरेत् ॥ १३ ॥
यैरुक्तं युक्तिनिर्मुक्तैः पत्राभ्रकरसायनम्।
तैर्दृष्टं कालकूटाख्यं विषं जीवनहेतवे ॥ १४ ॥

चमक रहित अच्छी तरह मृत अभ्रक भस्म सब रोगों में सेवन की जाती है, परन्तु चन्द्रिकायुक्त भस्म प्रमेह तथा मन्दाग्नि रोग उत्पन्न कर देती है।

जिन युक्तरहित वैद्यों ने पत्राभ्रक रसायन (विना शोधन मारण किये हुये ही उससे रसायन गुण की प्राप्ति का वर्णन किया है, उन्होंने जीवन नष्ट करने के लिये

कालकूट विष वर्णन किया है अर्थात् चन्द्रिकायुक्त अशुद्ध अभ्रक सेवन से विषवत् मृत्यु हो जाती है। यूनानी हकीम पत्राभ्रक का उपयोग करते हैं भस्म बनाकर। परन्तु बहुत कम होता है।

सत्त्वार्थं सेवनार्थं च योजयेच्छोधिताभ्रकम्।
अन्यथा त्वगुणं कृत्वा विकरोत्येव निश्चितम्॥१५॥

अतः सत्वपातन तथा सेवन करने के लिये सदा शुद्ध अभ्रक का प्रयोग करना चाहिये। अन्यथा निश्चय है कि उसके द्वारा विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेष वचन—अशुद्ध अभ्रक कठिन और सविष-पाषाणावयव होने से आंतों में लय नहीं हो सकता है किन्तु क्षोभ उत्पन्न करता है अतः उसके द्वारा नखरोमवत् शरीर में विषैले विकार उत्पन्न होते हैं। अर्थात् शेर के मूछों के बाल या नाखून खाये जाने के समान लक्षण (उदरशूल, शिरःशूल, मूर्च्छा, ज्वर आदि) होते हैं। "मृतं निश्चन्द्रतां यातमरुणं चामृतोपमम्। सचन्द्रं विषवज्ज्ञेयं मृत्युकृत् व्याघ्ररोमवत्"॥ १३–१५॥

अथाभ्रशोधनमारणे—

प्रतप्तं सप्तवाराणि निक्षिप्तं काञ्जिकेऽभ्रकम्।
निर्दोषं जायते नूनं प्रक्षिप्तं वाऽपि गोजले॥ १६॥
त्रिफलाकथिते चापि गवां दुग्धे विशेषतः।
ततो धान्याभ्रकं कृत्वा पिष्ट्वा मत्स्याक्षिकारसैः॥१७॥
चक्रीं कृत्वा विशोष्याथ पुटेदर्धेभके पुटे।
पुटेदेवं हि षड्वारं पौनर्नवरसैः सह॥ १८॥
कलांशटङ्कणेनापि सम्मर्द्य कृतचक्रिकम्।
अर्धेभाख्यपुटैस्तद्वत्सप्तवारं पुटेत्खलु॥ १९॥
एवं वासारसेनापि तण्डुलीयरसेन च।
प्रपुटेत्सप्तवाराणि पूर्वप्रोक्तविधानतः॥
एवं सिद्धं घनं सर्वयोगेषु विनियोजयेत्॥ २०॥

अभ्रक को आग में खूब तपाकर सात बार काञ्जी में सिंचन करने से वह दोषरहित हो जाता है। अथवा गोमूत्र या त्रिफला-कषाय में विशेषतः गोदुग्ध में सात बार सिंचन करना चाहिये। शोधन करने के पश्चात् धान्याभ्रक (धानों के साथ मर्दन) करके मछेछी के रस में घोटकर टिकिया बना सुखाकर सम्पुट में बन्द करके आधे गजपुट में रखकर फूँक दें। इसी विधि से छः बार पुट दें। पुनः अभ्रक से सोलहवां भाग सुहागा मिला पुनर्नवा स्वरस से घोट टिकिया बना सम्पुट में बन्द करके सात बार अर्ध-गज पुट दें। पुनः वासा स्वरस-में घोट कर सात पुट दें। फिर चौलाई स्वरस में घोटकर सात अर्धगज पुट दें। इस प्रकार अभ्रक की उत्तम भस्म हो जाती है। इसको सब योगों में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—अभ्रक शोधन करने में काञ्जी, गोमूत्र या दूध अथवा त्रिफला क्वाथ उतनी मात्रा से लेने चाहिये जितने में तप्त अभ्रक अच्छी तरह डूब जाय। यही विधान प्रत्येक बुझानेवाले द्रव्य के लिये होता है॥ १६—२०॥

अथ धान्याभ्रकम्—

चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रबद्धं हि काञ्जिके।
निर्यातं मर्दनाद्वस्त्राद्धान्याभ्रमिति कथ्यते॥ २१॥

अभ्रक चूर्ण को धानों के साथ दृढ़ वस्त्र में बांधकर काञ्जी में डालकर खूब मर्दन करने से सूक्ष्म चूर्ण रूप में निकला हुआ अभ्रक धान्याभ्रक कहा जाता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में धान्याभ्रक करने की विधि स्पष्ट रूप से लिखी है उसके अनुसार यहाँ चार भाग अभ्रक चूर्ण एक भाग धान लेकर दोनों को एक कम्बल की पोटली में बांधकर तीन दिन तक काञ्जी या पानी में पड़ा रहने दें। जब भीगकर गल-सा जाय तो जोर से मर्दन करने पर कम्बल छिद्रों से सूक्ष्म अभ्रक कण बाहर निकल आयेंगे और बालू या कंकर कम्बल में रह जायेंगे॥ २१॥

अथ धान्याभ्रमारणम्—

धान्याभ्रं कासमर्दस्य रसेन परिमर्दितम्।
पुटितं दशवारेण म्रियते नात्र संशयः॥
तद्वन्मुस्तारसेनापि तन्दुलीयरसेन च॥ २२॥

धान्याभ्रक को कसौंदी के स्वरस से मर्दन कर क्रमशः दश पुट देने से उसकी भस्म हो जाती है। इसी तरह नागरमोथा तथा चौलाई के रस में घोटकर दश २ पुट दें तो भस्म हो जाती है॥ २२॥

अथाभ्रमारणम्—

पीतामलकसौभाग्यपिष्टं चक्रीकृताभ्रकम्।
पुटितं षष्टिवाराणि सिन्दूराभं प्रजायते॥
क्षयाद्यखिलरोगघ्नं भवेद्रोगानुपानतः॥ २३॥

शुद्ध अभ्रक चूर्ण को सुहागे के साथ हल्दी तथा आवलों के स्वरस में मर्दन कर टिकिया बनाकर सुखा लें। इनको सम्पुट में बन्द करके पुट में रखकर फूंक दें। इस प्रकार साठ पुट देने से अभ्रक की सिन्दूरके सदृश लाल रंग की भस्म बनती है। यह भस्म क्षय रक्तपित्तादि सब रोगों को भिन्न २ अनुपान से नष्ट करती है।

विशेष वचन—यहाँ पर सुहागे का प्रमाण तन्त्रान्तर के अनुसार अभ्रक चूर्ण से द्विगुण लिया जाता है "धान्याभ्रकस्य भागैकं भागौ द्वौ टंकणस्य च"। र. सा. सं.। द्विभाग या समभाग टंकण या क्षारों के साथ अभ्रक को पुट देने से वह लोह किट्ट या कांच के सदृश हो जाता है और हांडी से पृथक् नहीं होता है। अतः बहुत थोड़ी मात्रा में टंकण डालना चाहिये। पीत का अर्थ रसजलनिधि में हरताल किया है, सुहागे का परिमाण कई स्थानों पर १६ वां भाग लेनाभी कहा है, यथा—"कलांशटंकण"-(सम्पादक)॥ २३॥

मतान्तरम्—

वटमूलत्वचः क्वाथैस्ताम्बूलीपत्रसारतः।
वासामत्स्याक्षिकाभ्यां वा मीनाक्ष्या सर्काठिल्लया॥२४॥
पयसा वटवृक्षस्य मर्दितं पुटितं घनम्।
भवेद्विंशतिवारेण सिन्दूरसदृशप्रभम्॥ २५॥

वटमूल त्वक् कषाय, पान के पत्तों के रस से अभ्रक को मर्दन कर पुट देने से अथवा अड़ूसा और मछेछी के रस में घोटकर पुट देने वा मछेछी तथा पुनर्नवा रस से मर्दन कर पुट देने या केवल वट के दूध में मर्दन कर बीस पुट देने से अभ्रक की सिन्दूर के सदृश लाल रंग की भस्म होती है।

विशेष वचन—वटमूल कषाय, पान का रस, अड़ूसा, मछेछी और पुनर्नवा इन पांच औषधियों में से किसी एक के रस से घोटकर २० बीस पुट देने चाहिये॥ २४-२५॥

अथाभ्रकसत्वपातनम्—

पादांशटङ्कणोपेतं मुसलीरसमर्दितम्।
रुन्ध्यात्कोष्ठ्यां दृढं ध्मातं सत्त्वरूपं भवेद्घनम्॥ २६॥

शुद्ध अभ्रक चूर्ण में चतुर्थांश सुहागा मिला मूसली रस से मर्दन कर सुखाकर सत्वपातन कोष्ठी में रखकर तीव्र अग्नि से तपाने पर अभ्रक का सत्वपातन हो जाता है।

विशेष वचन—धातुओं के सत्वपातन करने के लिये बड़ी अंगेठी की भांति एक यन्त्र को कोष्ठी कहा जाता है। इस का विशेष विवरण आगे किया जायगा। संक्षेपतः "षोडशांगुलविस्तीर्णं हस्तमात्रायतं समम्। धातुसत्वनिपातार्थं कोष्ठिकं परिकीर्तितम्"। अत्रिसंहिता। यह कोष्ठिका यन्त्र का लक्षण है।

नव्य मत के अनुसार—अभ्रकसे प्राप्त होने वाले सत्व को Aluminium कहा जाता है। यह श्वेत, हलकी धातु है। इस पर गीली हवा का कोई प्रभाव नहीं होता है। परन्तु आयुर्वेदोक्त विधि से प्राप्त सत्व ठीक अलुमीनियम से नहीं मिलता है। यह कांस्य के सदृश होता है। "एकीभवति घोषवत्" ऐसा आयुर्वेदप्रकाश में लिखा है॥ २६॥

प्रकारान्तरम्—

कासमर्दघनध्वानवासानां च पुनर्भुवः।
मत्स्याक्ष्याः काण्डवल्ल्याश्च हंसपाद्या रसैः पृथक्॥२७॥
पिष्ट्वा पिष्ट्वा प्रयत्नेन शोषयेद्धर्मयोगतः।
पलं गोधूमचूर्णस्य क्षुद्रमत्स्याश्च टङ्कणम्॥ २८॥
प्रत्येकमष्टमांशेन दत्त्वा दत्त्वा विमर्दयेत्।
मर्दने मर्दने सम्यक्शोषयेद्रविरश्मिभिः॥ २९॥
पञ्चाजं पञ्चगव्यं वा पञ्चमाहिषमेव च।
क्षिप्त्वा गोलान्प्रकुर्वीत किंचित्तिन्दुकतोऽधिकान्॥३०॥
पयो दधि घृतं मूत्रं सविट्कं चाजमुच्यते।
अधःपातनकोष्ठ्यां हि ध्मात्वा सत्त्वं निपातयेत्॥३१॥

धान्याभ्रक चूर्ण को कसौंदी, मुस्ता या गुडूची, धनिया, अड़ूसा, पुनर्नवा, मछेछी, काण्डवल्ली (करेला), हंसराज इन औषधियों के स्वरस अथवा कषाय में पृथक् २ मर्दन कर के प्रत्येक बार धूप में सुखायें। फिर गेहूँ का चूर्ण (आटा) ६ तोला, छोटी मछली और सुहागा प्रत्येक अभ्रक से आठवां भाग डालकर मर्दन करके सुखालें। इसके पश्चात् इस अभ्रक को बकरी अथवा गाय या भैंस के दूध, घी, दही, मूत्र तथा गोबर रस (गीला बनाने योग्य) से मर्दन करके तिन्दुक[1] से कुछ बड़ी या १। तोले के बराबर बना सुखाकर अधःपातन कोष्ठी द्वारा मूषा में रख खूब तपावें तो अभ्रक सत्व निकल आता है। बकरी, गाय तथा भैंस के दूध आदि पाँचों को क्रमशः पञ्चाज, पञ्चगव्य तथा पञ्चमाहिष कहते हैं॥ २७—३१॥

अथ किट्टात्सत्वहरणम्

कोष्ठ्यां किट्टं समाहृत्य विचूर्ण्य खकान्हरेत्।
तत्किट्टं स्वल्पटङ्केन गोमयेन विमर्द्य च॥३२॥
गोलान्विधाय संशोष्य घर्मे भूयोऽपि पूर्ववत्।
भूयः किट्टं समाहृत्य मृदित्वा सत्त्वमाहरेत्॥३३॥

उक्त प्रकार से सत्वपातन करने पर कोष्ठी में बचे हुये अभ्रक किट्ट को निकाल चूर्ण कर के कठिन खण्डों को पृथक् करके उनको थोड़ा सुहागा तथा गोबर रस से

१ तिन्दुक छोटी गेंद या कुचले के फल को कहते हैं

मर्दन कर गोली बना सुखाकर पुनः पूर्ववत् कोष्ठी में तपायें इस प्रकार सम्पूर्ण सत्व निकलने तक टंकण और गोबर रस में मर्दन कर कोष्ठी में तपायें ॥ ३२-३३ ॥

अथ सत्वशोधनम्—

अथ सत्त्वकणांस्तांस्तु क्वाथयित्वाऽम्लकाञ्जिकैः।
शोधनीयगणोपेतं मूषामध्ये निरुध्य च ॥ ३४ ॥
सम्यग्द्रुतं समाहृत्य द्विवारं प्रधमेद्धनम्।
इति शुद्धं भवेत्सत्त्वं योज्यं रसरसायने ॥ ३५ ॥

पूर्वोक्त विधि से प्राप्त अभ्रक सत्व कणों को अम्ल (खट्टी) काञ्जी में पकाकर पश्चात् शोधनीय[1] (त्रिफलादि-गण) गण औषधियों के रस क्वाथ के साथ मर्दन कर बड़ी २ गोली बना सुखाकर मूषा में रखकर तीव्र अग्नि में पकावें जब पिघलकर पतला हो जाय तो उसे उतार ठंडा करके पुनः शोधनीयगण की औषधियों के साथ मर्दन मूषा में रख तीव्र अग्नि दें पिघल जाने पर ठंडा करके रख लें अभ्रक सत्व शुद्ध हो जाता है। इसको पारद के ग्रास कर्म में तथा अभ्रक रसायन में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—आयुर्वेद प्रकाश में अभ्रक सत्व शोधन तथा मारण लोह शोधन मारण के समान ही लिखा है। "अयोवच्छोधनं तस्य मारणं तद्वदेव हि"। अतः शोधनीय-गण से अभिप्राय लोहशोधनीय त्रिफलागण से लिया जाता है। अभ्रक सत्व में लोह ही प्राप्त होने से इसका शोधन-मारण लोह की भांति कहा है। सम्भवतः यह सत्व देखने में लोह के समान हो परन्तु रासायनिक रचना की दृष्टि से विशिष्टता रखता हो॥ ३४-३५ ॥

अथ सत्वानां मृदुकरणम्—

मधुतैलवसाज्येषु द्रावितं परिवापितम्।
मृदु स्याद्दशवारेण सत्त्वं लोहादिकं खरम् ॥ ३६ ॥

लोह अभ्रक आदि के खर (कठिन) सत्वों को मूषा में रख तीव्र अग्नि से तपाकर पिघलने पर उस में शहद, तेल, चर्बी तथा घृत का प्रक्षेप कर पकावे। इस विधि को दश बार दुहराने से सब कठिन सत्व मृदु हो जाते हैं ॥३६॥

अथाभ्रमारणम्—

पट्टचूर्णं विधायाथ गोघृतेन परिप्लुतम्।
भर्जयेत्सप्तवाराणि चुल्लीसंस्थितखर्परे ॥ ३७ ॥
अग्निवर्णं भवेद्यावद्वारं वारं विचूर्णयेत्।
तृणं क्षिप्त्वा दहेद्यावत्तावद्वा भर्जनं चरेत् ॥ ३८ ॥

[1]—'काचटंकणशिप्राभिः शोधनीयगणो मतः'। र. चू.।

ततः सगन्धकं पिष्ट्वा वटमूलकषायतः।
पुटेद्विंशतिवारेण वाराहेण पुटेन हि ॥ ३९ ॥
पुनर्विंशतिवाराणि त्रिफलोत्थकषायतः।
त्रिफलामुण्डिकाभृङ्गपत्रपथ्याद्रमूलकैः ॥ ४० ॥
भावयित्वा प्रयोक्तव्यं सर्वरोगेषु मात्रया।
सत्त्वाभ्रात्किञ्चिदपरं निर्विकारं गुणाधिकम् ॥ ४१ ॥
एवं चेच्छतवाराणि पुटपाकेन साधितम्।
गुणवज्जायतेऽत्यर्थं परं पाचनदीपनम् ॥ ४२ ॥

शुद्ध अभ्रक सत्व के कपड़छन चूर्ण को गाय के घृत में मिला चूल्हे के ऊपर रखे हुये मट्टी के ठीकरे या पात्र में घृत जलने तक सात बार भूनें, भूनते हुये अभ्रक लाल रंग का हो जाना चाहिये। अथवा भूनने में यह अवधि है कि भूनते हुये अभ्रक के ऊपर रखा हुआ तृण जल जाय। बाद को बराबर भाग शुद्ध गन्धक मिला बटजटा कषाय से मर्दन कर वराह पुट में फूंक दे। इस प्रकार गन्धक के साथ २० वाराह पुट दें। पश्चात् अभ्रक को त्रिफला कषाय में घोट कर २० बीस वाराह पुट दें। इसके अनन्तर त्रिफला, गोरखमुण्डी, भंगरा, हरीतकी, बहेड़ा तथा मूली के रस या कषाय की क्रमशः भावना देकर सुखाकर रख लें। इस को सब रोगों में मात्रापूर्वक व्यवहार करना चाहिये। इस सत्वाभ्रक की अपेक्षा दूसरी कोई निर्विकार औषधि नहीं है। यदि अभ्रक भस्म में पूर्वोक्त बीस वराह पुटों की अपेक्षा १०० सौ पुट दिये जायें तो यह शतपुटी अभ्रक भस्म बन जाती है। यह २० बीस पुटी की अपेक्षा अत्यन्त गुणकारी तथा दीपक और पाचक हो जाती है ॥ ३७-४२ ॥

मारणे प्रकारान्तरमाह—

गन्धर्वपत्रतोयेन गुडेन सह भावितम्।
अधोर्ध्वं वटपत्राणि निश्चन्द्रं त्रिपुटः खगम् ॥ ४३ ॥
क्षुधं करोति चात्यर्थं गुञ्जार्धमितिसेवया।
तत्तद्रोगहरैर्योगैः सर्वरोगहरं परम् ॥ ४४ ॥

धान्याभ्रक में समान गुड़ मिला एरण्डपत्र स्वरस में घोटकर बड़ी २ टिकियाँ बना लेवें फिर इनको वटपत्रों में लपेटकर शराव सम्पुट में रख गज पुट में फूंक दें। इस प्रकार तीन बार गज पुट में फूंकने से अभ्रक की निश्चन्द्र भस्म बन जाती है। इसकी आधी रत्ती मात्रा सेवन करने से भूख अत्यन्त बढ़ जाती है। इसको भिन्न २ रोगहर कषायों के अनुपान से सेवन करने पर सर्व रोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—यद्यपि यहाँ पर गुड़ के साथ तीन पुट

से भस्म करने का विधान लिखा है तथापि कम से कम २५ पुट अवश्य देने चाहिये। क्योंकि केवल तीन पुटों में अभ्रक की उत्तम भस्म नहीं बनती यदि बन भी जाय तो उसमें विशेष गुण नहीं होते। पुट देने का केवल यही अभिप्राय नहीं कि उसकी भस्म बन जाय। यों तो अभ्रक की भस्म शोरे के साथ भी तीन पुट में बन जाती है परन्तु उसमें गुण नहीं होते हैं। अतः अभ्रक लोह में जितने अधिक पुट लगें उतना ही अच्छा है। "यथा यथा प्रदीयन्ते पुटाः सुबहुशो यदि। तथा तथा प्रकुर्वन्ति गुणानेव सहस्रशः" पुटसंख्या के विषय में लिखा है कि "विंशत्यादिः शतान्तस्तु पुटो रोग-निवृत्तये। शतादिस्तु सहस्रान्तः प्रशस्तश्च रसायने" उत्तमरूप से मृत अभ्रक कोमल अरुण और निश्चन्द्र होती है। कई बार यह रक्त श्याम वर्ण की हो जाती है, इसमें तीव्र अग्नि हेतु माना जाता है इसको लाल करने के लिये "गांगेरुकी भद्रमुस्ता वटद्वीरन्तथैव च। वटमूलजलम्वापि हरिद्राया द्रवस्तथा। समंगाकथितश्चैव घनमेभिः सुपेषयेत्" इन औषधियों की दो तीन पुट दी जाती हैं। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक केवल अर्कपत्र रस में घोट कर २५ पुट देने से अभ्रक की रक्त तथा कोमल भस्म बन जाती है। ग्रन्थान्तर में रसायनार्थ सेवन किये जानेवाली अभ्रक भस्म का "अमृतीकरण" भी पाया जाता है। "तुल्यं घृतं मृताभ्रेण लोहपात्रे विपाचयेत्। घृते जीर्णे तदभ्रन्तु सर्वयोगेषु योजयेत्।" अर्थात् अभ्रक भस्म के समभाग घी लेकर दोनों को मन्द २ अग्नि से घृत जलने तक पकायें तो अमृतीकरण युक्त हो जाती है॥ ४३–४४॥

अथ सत्वस्य शोधनमारणे—

सत्त्वस्य गोलकं ध्मातं सस्यसंयुक्तकाञ्जिके।
निर्वाप्य तत्क्षणेनैव कुट्टयेल्लोहपारया॥४५॥
संप्रताप्य घनस्थूलकणान्निप्त्वाऽथ काञ्जिके।
तत्क्षणेन समाहृत्य कुट्टयित्वा रजश्चरेत्॥४६॥
गोघृतेन च तच्चूर्णं भर्जयेत्पूर्ववत्त्रिधा।
धात्रीफलरसैस्तद्वद्धात्रीपत्ररसेन वा॥४७॥
भर्जने भर्जने कार्यं शिलापट्टेन पेषणम्।
ततः पुनर्नवावासारसैः काञ्जिकमिश्रितैः॥ ४८॥
प्रपुटेद्दशवाराणि दशवाराणि गन्धकैः।
एवं संशोधितं व्योमसत्वं सर्वगुणोत्तरम्॥
यथेष्टं विनियोक्तव्यं जारणे च रसायने॥ ४९॥

अभ्रक सत्व का गोला सा बनाकर मूषा में रख तीव्र अग्नि द्वारा तपाकर धान्ययुक्त (बिना छनी हुई) काञ्जी में बुझावें और तत्काल निकाल लोह खरल में मूसली से खूब कूटकर फिर बारीक छन्नी से छान लें और मोटे २ कणों को फिर मूषा में रख तपाकर उक्त काञ्जी में बुझा फिर मूसली से कूटें जब तक सब चूर्ण न हो जाय फिर उस चूर्ण को समभाग गोघृत में मिला कढ़ाई या मिट्टी के पात्र में डालकर तीव्र अग्नि से घृत जल जाने तक भूनें फिर कूट पीसकर चूर्ण करें पुनः घृत में भूनकर छानकर चूर्ण करें। इस तरह तीन बार करने के बाद तीन बार आंवलों के स्वरस में या आंवले के पत्र रस में तीनबार भूनकर कूट पीसकर छानलें। तत्पश्चात् पुनर्नवा और वासारस और काञ्जी से पीसकर दस पुट दें, पुनः गन्धक के साथ पीस कर दस पुट दें। इस प्रकार शुद्ध किया हुआ अभ्रक सत्व सम्पूर्ण गुणयुक्त होता है। इसे पारद जारण तथा रसायन में यथेच्छ रूप में प्रयोग कर सकते हैं॥ ४५–४९॥

द्रुतयो नैव निर्दिष्टाः शास्त्रे दृष्टा अपि दृढम्॥
विना शंभोः प्रसादेन न सिध्यन्ति कदाचन॥५०॥

यद्यपि अन्य शास्त्रों में अभ्रक द्रावण (द्रुति) का वर्णन आता है तथापि इस ग्रन्थ में उनका वर्णन नहीं किया गया है। क्योंकि द्रुति बिना शम्भु की कृपा के सिद्ध नहीं होती है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में द्रुतियों के विषय में लिखा है कि यह कर्म रसचिकित्सक की निपुणता, तथा भाग्यवश सिद्ध भी हो जाता है। अतः सर्वथा असम्भव समझ कर नहीं छोड़ना चाहिये। द्रुतिविधान का वर्णन वहीं लिखा है "अगस्त्यपत्रनिर्यासैर्मर्दितं धान्यकाभ्रकम्। सूरणोदरमध्ये तु निक्षिप्तं लेपितं मृदा। गोष्ठभूमौ खनित्वा तु हस्तमात्रे हि पूरितम्। मासान्निष्काशितं तत्तु जायेत पारदोपमम्" ॥ ५०॥

अथाभ्रप्रयोगः—

वेल्लव्योषसमन्वितं घृतयुतं वल्लोन्मितं सेवितं
दिव्याभ्रं क्षयपाण्डुरुग्ग्रहणिकाशूलामकुष्ठामयम्।
जूर्तिं श्वासगदं प्रमेहमरुचिं कासामयं दुर्धरं
मन्दाग्निं जठरव्यथां विजयते योगैरशेषामयान्॥५१॥

इत्यभ्रकाधिकारः।

उक्त प्रकार से मारित अभ्रक (दिव्याभ्र) को [1]वल्ल १½ रत्ती मात्रा में लेकर उसमें सोंठ मिर्च पीपल तथा

१—वल्लो द्विगुञ्जा, गुञ्जात्रयमिति लीलावती शार्ङ्गधरः। सार्धगुञ्जेति राजनिघण्टुः।

वायविडंग का चूर्ण प्रत्येक एक एक रत्ती मिलाकर सेवन करने से क्षय, पाण्डु, ग्रहणी, शूल, आमवात और कुष्ट रोग नष्ट हो जाते हैं। यह योग जूर्ति (जरा अथवा ज्वर) श्वास, प्रमेह, अरुचि, कठिन कास, मन्दाग्नि तथा उदर रोग आदि सम्पूर्ण रोगों को भिन्न २ औषधानुपान से शान्त कर देता है।

विशेष वचन--उक्त अभ्रक प्रयोग सत्वभस्म से सम्बन्ध रखता है अतः कई पुस्तकों तथा रसेन्द्रचूडामणि में "यथेष्टं विनियोक्तव्यं जारणे च रसायने" के पश्चात् ही 'वेल्लव्योषसमन्वितम्' इत्यादि पाठ लिखा हुआ है। कतिपय पुस्तकों में उक्त विधि से शोधित मारित अभ्रक सत्वप्रयोग को "दिव्याभ्रसायन" नाम से भी लिखा है॥ ५१॥

अथ वैक्रान्तस्वरूपम्—

अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः।
शुद्धमिश्रितवर्णैश्च युक्तो वैक्रान्त उच्यते॥५२॥

वैक्रान्त आठ कोने तथा आठ पहलू अथवा छः कोने और छः पहलू वाला अर्थात् षट्कोण अष्टकोण, अष्ट पहलू षट् पहलू चिकना गुरुभार, स्वच्छ तथा अनेकविध मिश्रित वर्ण वाला होता है॥ ५२॥

वैक्रान्तस्य वर्णभेदाः—

श्वेतो रक्तश्च पीतश्च नीलः पारावतच्छविः।
श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बुरश्चाष्टधा हि सः॥५३॥

सफेद, लाल, पीला, नीला, कबूतर वर्णवाला, श्याम, काला, कर्बुर (चितकबरा या विचित्रवर्ण) वर्णभेद से वैक्रान्त के आठ भेद होते हैं।

विशेष वचन—वैक्रान्त एक सन्दिग्ध द्रव्य है, जिसके नाम पर अनेक भिन्न २ द्रव्य लेने के लिये विद्वानों का वाद चला हुआ है। परन्तु वैक्रान्त क्या चीज है इसका निर्णय अभी तक नहीं हो पाया है। पूर्वाचार्यों ने वैक्रान्त का प्रयोग हीरे के स्थान पर लिखा है। अतः यह द्रव्य हीरे का सादृश्य अवश्य रखता है। अन्यत्र "वैक्रान्तं दग्धहीरकम्" ऐसा लिखा हुआ मिलता है। जिससे यह प्रतीत होता है कि वैक्रान्त भी उन्हीं अवस्थाओं में और उसी वस्तु से बनता है जिससे हीरा। परन्तु हीरे के समान पूर्ण ताप तथा भार के प्राप्त न होने से (पृथ्वी के अन्तराल में) यह अर्धपक्व या दग्धावस्था में ही रह जाता है। अतः दग्ध हीरक के नाम से लिखा है परन्तु यह कुछ भ्रमपूर्ण निर्णय है। परन्तु नई खोज करने वालों के विचार में यह बात आ रही है कि अष्ट पहलू अष्टकोण या षट् पहलू षट् कोण और चमक दमक प्रभावर्ण कठोरता उत्ताप सहनशीलता आदि गुण-धर्मों को देखते हुये वैक्रान्त "विल्लोर पत्थर" है। क्योंकि विल्लोर, वैक्रान्त के उत्पत्ति वाले स्थानों में पाया जाता है। यह आज कल भी कहीं २ विन्ध्य की पर्वत माला में पर्याप्त मात्रा में मिलता है और भौतिक गुण भी विल्लोर के वज्रवत् ही हैं। विल्लोर भी वज्रवत् कठोरताप से पैदा होता है और कठोरता में भी हीरकवत् ही है। अतः हीरे से विल्लोर बहुत कुछ सादृश्य रखता है। हीरे की भांति विल्लोर में भी कांच तथा कठिन धातुओं को काटने की शक्ति मानी जाती है, अत एव "विक्रान्तयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः।" ऐसा पाया जाता है। यह भी हीरकवत् पारदर्शक है। किन्हीं के विचार में तुरमली वैक्रान्त है। परन्तु वर्तमान में प्राप्त होने वाली तुरमली प्रायः कणरूप भंगुर, साधारण कठोर अग्नि-सहनशक्तियुक्त तथा उसमें खरोंचने से चिह्न पड़ जाते हैं। इन बातों से वैक्रान्त (प्राकृतिक स्फटिक) ही हीरे का अधिक सामीप्य रखता है। परन्तु अन्तिम निर्णय विद्वानों की खोज तथा काल पर निर्भर है। कई इसको स्वतन्त्र खनिज द्रव्य मानते हैं। आज कल यह अफ्रीका में विशेष रूप से पाया जाता है॥ ५३॥

मात्रा $\frac{१}{४}$ रत्ती से $\frac{१}{१६}$ रत्ती तक है।

वैक्रान्तस्य गुणाः—

आयुष्प्रदश्च बलवर्णकरोऽतिवृष्यः
प्रज्ञाप्रदः सकलदोषगदापहारी।
दीप्ताग्निकृत्पविसमानगुणस्तरस्वी
वैक्रान्तकः खलु वपुर्बललोहकारी॥५४॥
रसायनेषु सर्वेषु पूर्वं गण्यः प्रतापवान्।
वज्रस्थाने नियोक्तव्यो वैक्रान्तः सर्वदोषहा॥५५॥

वैक्रान्त भस्म आयुवर्धक बलवर्णकर तथा उत्पादक अंगों के लिये अधिक बल्य है। बुद्धिवर्धक तथा वातपित्तकफ-प्रकोप-जन्य सब रोगों को नष्ट करता है। अग्निदीपन करनेवाला हीरे के सदृश गुणवाला, पराक्रम-शक्ति वर्धक है। यह कुछ दिन सेवन करने से शरीर-पोषक मनोबलवर्धक तथा रक्तवर्धक होता है। सम्पूर्ण रसायनों में अत्यन्त प्रभाव युक्त प्रथम श्रेणी का रसायन है। इसको हीरे की भस्म के अभाव में प्रयोग किया जाता है और सब दोषों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—हीरे के समान रस वीर्य विपाक युक्त

होने से वैक्रान्त हीरे के स्थान या अभाव में लिया जाता है। "रसवीर्यविपाकेषु वज्रसमं क्षयकुष्ठविषघ्नं पुष्टिकरं रसायनञ्च" ॥ ५४–५५ ॥

वैक्रान्तोत्पत्तिः—

दैत्येन्द्रो माहिषः सिद्धः सहदेवसमुद्भवः ।
दुर्गा भगवती देवी तं शूलेन व्यमर्दयत् ॥ ५६ ॥
तस्य रक्तं तु पतितं यत्र यत्र स्थितं भुवि ।
तत्र तत्र तु वैक्रान्तं वज्राकारं महारसम् ॥ ५७ ॥

देवताओं के समकाल में उत्पन्न तथा शिवजी के वर से प्रसिद्ध माहिष नामक दैत्यराज का जब भगवती दुर्गा देवी ने अपने त्रिशूल से वध किया तो उसका रक्त जहाँ २ पृथ्वी पर गिरा उन २ स्थानों पर वज्र के सदृश गुण स्वभाव वाला वैक्रान्त नामक महारस उत्पन्न हो गया।

विशेष वचन—"सहदेवसमुद्भवः" के स्थान पर "सर्वदेव समुद्भवा" ऐसा पाठ होने पर यह दुर्गादेवी का विशेषण हो जाता है। मार्कण्डेयपुराण में इसका स्पष्ट वर्णन आता है कि जब देवताओं को दैत्यों ने परास्त कर दिया तो सब देवता शिव के पास जाकर इसका प्रतीकार सोचने लगे, सबके शरीरों से उनकी अपनी तेजःशक्ति निकलकर सञ्चित होती हुई दुर्गा रूप में परिणत होगई। परन्तु इस प्रकार की उत्पत्ति पौराणिक है आधुनिक वैज्ञानिक समय में इसका समन्वय इसी प्रकार हो सकता है कि यह भी अभ्रक को भांति पर्वत प्रदेश में रासायनिक परिवर्तनादि विधियों से बना हुआ है। जो विशेष रूप से रक्तकणों (क्रिस्टलस्) में पाया जाता है और रत्नों के रूप में व्यवहृत होता है। इसकी उत्पत्ति में वैज्ञानिक उलझन को देखकर पूर्वाचार्यों ने इसे ईश्वरीय शक्ति का प्रसाद नाम दे दिया है। बहुत सम्भव है जहाँ यह पाया जाता है वहाँ इतिहास से कोई भयंकर युद्ध सिद्ध होता हो ॥ ५६–५७ ॥

वैक्रान्तस्य स्थानं निरुक्तिश्च—

विन्ध्यस्य दक्षिणे भागे ह्युत्तरं वाऽस्ति सर्वतः ।
विकृन्तयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः ॥ ५८ ॥

प्रायः वैक्रान्त विन्ध्याचल पर्वत के उत्तरी और दक्षिणी पर्वतमालाओं में जहाँ कहीं पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। यह सब स्वर्ण रजत आदि धातुओं को आसानी से काट देता है अथवा अपने विशेष गुणों से पराजित कर देता है अतः इसे वैक्रान्त कहते हैं।

विशेष वचन—"विकृन्तयति" के स्थान पर "विक्रामयति" पाठ होने पर इसका अर्थ सब लोहादि धातुओं को विक्रम (शक्ति) देनेवाला होता है। इसके अतिरिक्त "विक्रान्तयति" अथवा "विक्रान्तयति" ऐसा पाठ भी मिलता है ॥५८॥

मतान्तरे वर्णभेदकथनम्—

श्वेतः पीतस्तथा रक्तो नीलः पारावतप्रभः ।
मयूरकण्ठसदृशश्चान्यो मरकतप्रभः ॥ ५९ ॥

मतान्तर में वर्णभेद से वैक्रान्त सात प्रकार का होता है। सफेद, पीला, लाल, नीला, कबूतर वर्ण सदृश, मोरकण्ठ वर्ण और मरकतमणि सदृश वर्ण ॥ ५९ ॥

वर्णभेदेन कार्यभेदः—

देहसिद्धिकरं कृष्णं पीते पीतं सिते सितम् ।
सर्वार्थसिद्धिदं रक्तं तथा मरकतप्रभम् ॥
शेषे द्वे निष्फले वर्ज्ये वैक्रान्तमिति सप्तधा ॥ ६० ॥

मतान्तरोक्त सप्तविध वर्ण वैक्रान्तों में से कृष्णवर्ण वैक्रान्त सेवन करने पर वह शरीर में स्थिरतारूप सिद्धि करनेवाला अर्थात् शरीर को अजर अमर बनानेवाला होता है। पीतवर्ण स्वर्ण बनाने में, श्वेत रजत बनाने में, रक्त वर्ण तथा मरकत मणि वर्ण वैक्रान्त सब कार्यों में सफलता देने में प्रसिद्ध माना जाता है। अन्तिम दो पारावत तथा मयूर कण्ठाभ वर्ण वैक्रान्त निष्फल होने से औषधि प्रयोग तथा धारण करने में योग्य नहीं माने जाते हैं।

विशेष वचन—वैक्रान्त के वर्णभेदों में हेतु देते हुये रसहृदयतन्त्रकार ने लिखा है कि वैक्रान्त की शैलकणिका में जब वर्षाकाल में हिमालय या पर्वत के ऊँचे शिखरों की शैलाओं से विभिन्न पदार्थीय जल गिरता है तो उसके क्षार लवण खट के योग से अनेकविध वर्ण वैक्रान्त हो जाता है। जलीय क्षार लवणों द्वारा ही वैक्रान्त में विशेष कठिनता भी आती है। "नानाविधरसस्थानं निर्जरशिखरिशिखरसम्भूतम्। धारोदम्भसि श्रेष्ठं तदश्म शैलोदकं प्राप्य" ॥ ६० ॥

आहरणविधिः—

यत्र क्षेत्रे स्थितं चैव वैक्रान्तं तत्र भैरवम् ।
विनायकं च संपूज्य गृह्णीयाच्छुद्धमानसः ॥६१॥

जहाँ पर (पर्वतमाला में) वैक्रान्त हो वहाँ पहिले शुद्ध चित्त से भैरव और गणेश का विधिपूर्वक पूजन करके वैक्रान्त को निकालना चाहिये ॥ ६१ ॥

गुणान्तरम्—

वैक्रान्तो वज्रसदृशो देहलोहकरो मतः ।
विषघ्नो रसराजश्च ज्वरकुष्ठक्षयप्रणुत् ॥ ६२ ॥

वैक्रान्त हीरे के समान लक्षणयुक्त तथा देह और लोह

सिद्धिदायक होता है। शरीर में स्थित पुरातन विषों को नष्ट करता है। भयंकर कुष्ट राजयक्ष्मा जीर्ण ज्वर आदि रोगों को दूर करता है अतः रसों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है ॥ ६२ ॥

शोधनम्—

वैक्रान्तकाः स्युस्त्रिदिनं विशुद्धाः
संस्वेदिताः क्षारपटूनि दत्त्वा ।
अम्लेषु मूत्रेषु कुलत्थरम्भा-
नीरेऽथवा कोद्रववारिपक्वाः ॥ ६३ ॥

वैक्रान्त को काञ्जी आदि अम्लद्रव, मूत्र वर्ग, तथा कुलत्थकषाय और केले की जड़ के रस में पञ्च लवण, यवक्षार, सज्जीक्षार और टंकण डालकर दोलायन्त्र विधि से तीन दिन तक स्वेदन करने अथवा कोदों के कषाय में उक्त द्रव्यों को डालकर दोलायन्त्र विधि से तीन दिन तक पकाने से वह शुद्ध होजाता है ॥ ६३ ॥

मतान्तरे शोधनमारणे—

कुलत्थक्वाथसंस्विन्नो वैक्रान्तः परिशुध्यति ।
म्रियतेऽष्टपुटैर्गन्धनिम्बुकद्रवसंयुतः ॥ ६४ ॥

केवल कुलत्थकषाय में तीन दिन तक स्वेदन देने से वैक्रान्त शुद्ध हो जाता है। फिर इसमें समभाग गन्धक मिला नीबू रस में मर्दन कर आठ पुट देने से इसकी भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचिन्तामणि के अनुसार यहाँ पुट से गजपुट लेना चाहिये। तन्त्रान्तरों में त्रिगुण गन्धक, समभाग पारद मिला नीबू रस से मर्दन कर आठ पुट देना लिखा है। इस विधि में तीन पुट के बाद पारद नहीं डालना चाहिये ॥ ६४ ॥

मतान्तरम्—

वैक्रान्तेषु च तप्तेषु हयमूत्रं विनिक्षिपेत् ।
पौनःपुन्येन वा कुर्याद् द्रवं दत्त्वा पुटं त्वनु ॥
भस्मीभूतं तु वैक्रान्तं वज्रस्थाने नियोजयेत् ॥ ६५ ॥

वैक्रान्त को गर्म कर के अनेक बार घोड़े के मूत्र में बुझावें तो वह शुद्ध हो जाता है। पश्चात् उसे घोड़े के मूत्र में ही घोटकर गजपुट में फूंकें जब तक इसकी अच्छी तरह भस्म न हो जाय। वैक्रान्त की भस्म को हीरा भस्म के स्थान पर प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—रसेन्द्रसार के अनुसार वैक्रान्त को घोड़े के मूत्र में २१ बार बुझाना चाहिये। "हयमूत्रेण तत्सेच्यं तप्तं तप्तं त्रिसप्तधा" ॥ ६५ ॥

सत्वपातनम्—

मोचमोरटपालाशक्षारगोमूत्रभावितम् ।
वज्रकन्दनिशाकल्कफलचूर्णसमन्वितम् ॥ ६६ ॥
तत्कल्कं टङ्कणं लाक्षाचूर्णं वैक्रान्तसम्भवम् ।
नरसारसमायुक्तं मेषशृङ्गीद्रवान्वितम् ॥ ६७ ॥
पिण्डितं मूकमूषस्थं ध्मापितं च हठाग्निना ।
तत्रैव पतते सत्त्वं वैक्रान्तस्य न संशयः ॥ ६८ ॥

कदली कन्द-मूर्वा या अंकोला, ढाक क्षार और गोमूत्र में वैक्रान्त को एक-एक बार भावना देकर पश्चात् उसे जंगली जिमीकन्द, हरिद्रा तथा त्रिफला चूर्ण, सुहागा, लाख, नौसादर चूर्ण समभाग के साथ मेढ़ा सिंगी स्वरस में मर्दन कर मूषा (घटिया) में रखकर सत्वपातन कोष्ठी में तीव्र अग्नि द्वारा तपाने से वैक्रान्त का सत्वपातन हो जाता है। माधव ने इसके सत्त्व का रंग श्वेत कहा है, (श्री हजारी लाल जी शुक्ल) रसार्णव में इसके सत्त्व का रंग चमकता लाल (इन्द्रगोपसमम्) लिखा है ॥ ६६—६८ ॥

मतान्तरम्

सत्त्वपातनयोगेन मर्दितश्च वटीकृतः ।
मूषास्थो घटिकाध्मातो वैक्रान्तः सत्त्वमुत्सृजेत् ॥६६॥

सत्वपातन के लिये प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों के साथ वैक्रान्त को मर्दन कर गोली बना सुखा लें, फिर उनको मूषा में रखकर एक घड़ी तक तीव्र अग्नि में तपायें तो इस का सत्वपातन हो जाता है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचिन्तामणि के अनुसार गुड़, गुग्गुल, लाख, तिल कल्क या खल, सुहागा, बारीक कोमल ऊन, राल, छोटी सूखी हुई मछली को सत्वपातन योग कहते हैं। जिस द्रव्य का सत्वपातन करना हो उसे इनके साथ बकरी के दूध में मर्दन कर तीव्र अग्नि में तपाने से सत्व निकल आता है ॥ ६६ ॥

मृतवैक्रान्तस्य प्रयोगविधिर्गुणाश्च

भस्मत्वं समुपागतो विकृतको हेम्ना मृतेनान्वितः
पादांशेन कणाज्यवेल्लसहितो गुञ्जामितः सेवितः ।
यक्ष्माणं जरणं च पाण्डुगुदजं श्वासं च कासामयं
दुष्टां च ग्रहणीमुरःक्षतमुखान् रोगाञ्जयेद्देहकृत् ॥७०॥

वैक्रान्तभस्म १ भाग, सुवर्णभस्म ¼ भाग मिलाकर योग्यमात्रा में पिप्पलीचूर्ण, वायविडंगचूर्ण तथा घृत के साथ १ रत्ती मात्रा में सेवन करने से राजयक्ष्मा, बुढ़ापा, पाण्डु, अर्श, श्वांस, कास, विकृतग्रहणी रोग तथा उरःक्षत

आदि रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर का पोषण होता है ॥ ७० ॥

प्रयोगान्तरम्—

सूतभस्मार्धसंयुक्तं नीलवैक्रान्तभस्मकम् ।
मृताभ्रसत्त्वमुभयोस्तुलितं परिमर्दितम् ॥ ७१ ॥
क्षौद्राज्यसंयुतं प्रातर्गुञ्जामात्रं निषेवितम् ।
निहन्ति सकलान् रोगान् दुर्जयानन्यभेषजैः ।
त्रिःसप्तदिवसैर्नॄणां गङ्गाम्भ इव पातकम् ॥ ७२ ॥

इति वैक्रान्ताधिकारः ।

पारदभस्म $\frac{1}{2}$ भाग नील वैक्रान्त भस्म १ भाग और अभ्रकसत्वभस्म १$\frac{1}{2}$ भाग या दोनों के बराबर एकत्र मर्दन करके एक रत्ती मात्रा में घृत मधु के साथ प्रतिदिन प्रातः-काल सेवन करना चाहिये । तत्तत् रोगों को नष्ट करने वाली औषधि या योगों के साथ सेवन करने पर यह योग सब रोगों को नष्ट करता है । इक्कीस दिन तक बराबर इस योग को सेवन करने से मनुष्यों के सब रोग गंगाजल से पाप की भांति शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ।

विशेष वचन—वैक्रान्त भस्म की मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{16}$ रत्ती तक होने से उक्त प्रयोग की एक रत्ती की मात्रा में अधिक हो जाती है अतः $\frac{1}{2}$ रत्ती या $\frac{1}{4}$ रत्ती मात्रा से प्रारम्भ करना चाहिये ॥ ७१–७२ ॥

अथ माक्षिकम्—

सुवर्णशैलप्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः ।
ताप्यां किरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः ॥
ताप्यः सूर्यांशुसन्तप्तो माधवे मासि दृश्यते ॥ ७३ ॥

सुमेरु पर्वत से उत्पन्न होनेवाले सुवर्ण रस को विष्णु भगवान् ने ताप्ती नदी के समीपवर्ती स्थानों तथा किरात (भिल्ल), चीन, तथा यवन (तुर्किस्तान, फारस आदि) देशों में सञ्चित कर दिया है । तापी नदी के किनारों पर सञ्चित होने से इसको ताप्य कहते हैं । यह वैशाख मास में सूर्य की तीव्र किरणों से पिघला हुआ देखा जाता है ।

विशेष वचन—ताप्ती नदी के किनारों पर प्रकृति द्वारा सञ्चित पीतविशिष्ट पदार्थ को देख कर ही उक्त उत्पत्ति लिखी हुई प्रतीत होती है ।

स्वर्णमाक्षिक लोह का उपधातु है । कई ग्रन्थों में स्वर्ण के अभाव में स्वर्णमाक्षिक का प्रयोग लिखा है । उन ग्रन्थकारों के विचार में स्वर्णमाक्षिक में सोने का कुछ अंश होता है । "ईषत्स्वर्णसाहित्यात्स्वर्णमाक्षिकम्" । परन्तु पूर्ण विश्लेषण करने पर इसमें लोह, गन्धक तथा बहुत अल्पांश में ताम्र का भाग पाया जाता है । अतः यह लोह का समास (Compound) निश्चित किया गया है । और Iron sulphide कहा जाता है । अत एव नवीन खोज से यह उपरस नहीं सिद्ध होता है ॥ ७३ ॥

माक्षिकस्य गुणाः—

मधुरः काञ्चनाभासः साम्लो रजतसन्निभः ।
किञ्चित् कषायमधुरः शीतः पाके कटुर्लघुः ।
तत्सेवनाज्जराव्याधिविषैर्न परिभूयते ॥ ७४ ॥

स्वर्णवर्ण माक्षिक रस में मधुर होता है और रजतवर्ण माक्षिक अम्ल और किञ्चित् कषाय मधुर रस होता है । दोनों माक्षिक वीर्य में शीत, पाक में कटु तथा गुण में लघु होते हैं । इनके सेवन से अकाल जरा, व्याधि तथा विषों का आक्रमण नहीं होता है ॥ ७४ ॥

माक्षिकस्य द्वैविध्यम्—

माक्षिको द्विविधो हेममाक्षिकस्तारमाक्षिकः
तत्राऽऽद्यं माक्षिकं कान्यकुब्जोत्थं स्वर्णसन्निभम् ॥७५॥
तपतीतीरसंभूतं पञ्चवर्णसुवर्णवत् ।
पाषाणबहलः प्रोक्तस्ताराख्योऽल्पगुणात्मकः ॥७६ ॥

स्वर्णमाक्षिक तथा रजतमाक्षिक भेद से माक्षिक दो प्रकार का होता है । इनमें प्रथम स्वर्णमाक्षिक कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश में उत्पन्न होता है और यह स्वर्ण की आभावाला होता है । ताप्ती नदी के किनारों पर पाये जाने-वाले माक्षिक में कंकर पत्थर तथा रेत अधिक होने से यह अल्पगुण माना जाता है ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तरों में उत्तम स्वर्णमाक्षिक के लिये लिखा है कि वह गुरुभार स्निग्ध, कसौटी पर घिसने से स्वर्ण की-सी रेखा दिखाने वाला तथा कोण रहित होता है । कुछ देर तक मुट्ठी में बन्द करने से स्वेद द्वारा हाथ में कालापन ले आता है । रसेन्द्रसारसंग्रह में इस की पहिचान इस तरह लिखी है "भंगे सुवर्णसंकाशो मनाक् कृष्ण-च्छविर्बहिः" । अतः औषधि प्रयोग में उक्त श्रेष्ठ लक्षण युक्त माक्षिक लेना चाहिये । आजकल माक्षिक विहार, नैपाल, पञ्जाब और बुन्देलखण्ड की रियासतों में विशेषतः पाया जाता है । विदेशों से भी यह पर्याप्त मात्रा में आता है ॥

गुणान्तरम्—

माक्षीकधातुः सकलामयघ्नः
प्राणो रसेन्द्रस्य परं हि वृष्यः ।

दुर्मेललोहद्वयमेलनश्च
गुणोत्तरः सर्वरसायनाग्र्यः ॥ ७७ ॥

स्वर्णमाक्षिक भस्म विधिवत् उपयोग करने से सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करती है। यह पारद का प्राण (जीवन) कहा जाता है क्योंकि बद्धसंस्कार में माक्षिक अत्यन्त उपयोगी द्रव्य है। यह अत्यन्त वृष्य (जननेन्द्रियशक्तिवर्धक) है। अत्यन्त कठिनता से मिल सकने वाले विरुद्ध स्वभाव के धातुओं को एकत्र मिलाने में यह उपयोगी है। यह रोगनाशक सर्व गुणों से युक्त तथा रासायनिक द्रव्यों में सर्वोत्तम है।

विशेष वचन—स्वर्णमाक्षिक लोह समास होते हुये भी लोह से अल्पगुण वाला नहीं है। सम्भवतः माक्षिकभस्मलोहांश के बहुत न्यून और लघुरूप में होने के कारण ही यह लोहापेक्षया लघु है, अतएव पोषण तथा नाड़ी बल के लिये लोह तथा स्वर्ण के स्थान पर इसका प्रयोग पाया जाता है। प्रमेह, क्षय, जीर्ण ज्वर और मन्दाग्निजन्य पाण्डु रोगों में यह अग्नि को दीप्त करता हुआ रक्त के लाल कणों को शीघ्र पोषित करता है जिससे शरीर में शीघ्र बल अनुभव होता है। अतः रोगानन्तर विशेषतः ज्वरों के बाद होने वाली दुर्बलता में स्वर्णमाक्षिक भस्म अनेक औषधियों के साथ दी जाती है। शरीर के किसी भाग के विशेषतः आंतों के स्राव को यह कम करती है अतः इसे ग्रन्थान्तर में कफपित्तहर माना है। दूसरी पद्धति में भी लोहसमासों को गल या गलग्रन्थिशोथ अग्निदग्धव्रण आदि में बाह्य प्रयोगार्थ Iron Glyserin काम में लाई जाती है। लोह समास लघु के अतिरिक्त ग्राही भी होते हैं। यह स्थानिक रक्तवाहिनियों को संकुचित कर देते हैं यदि वहाँ से रक्त निकलता हो तो वह बन्द हो जाता है। इसी कारण रक्तपित्त में लोहसमास प्रयुक्त किये जाते हैं। शरीर में रक्तवृद्धि तथा नाडीसंस्थान के लिये बल्य होने के कारण क्षय, कास, शोथ तथा श्वास आदि रोगों में विशेषतः प्रयुक्त होता है। यह पारदीय क्रियात्मक शक्ति का वर्धक (प्राण) है। अतः इसे रससिन्दूर मल्लसिन्दूर आदि के साथ मिला कर देने से विशेष लाभ देखा जाता है। रसार्णव में स्वर्णमाक्षिक भस्म को सन्निपात ज्वर की अमोघ औषधि लिखा है "ज्वरसन्निपातदारिद्र्यं यन्नाम कथनेन तु। नश्यन्ति योगेन शतैर्लोहवेधकरं स्मृतम् ॥" ॥ ७७ ॥

शोधनम्—

एरण्डतैललुङ्गाम्बुसिद्धं शुद्धयति माक्षिकम्।
सिद्धं वा कदलीकन्दतोयेन घटिकाद्वयम्।
तप्तं क्षिप्तं वराक्वाथे शुद्धिमायाति माक्षिकम् ॥७८॥

माक्षिक को एक कढ़ाई में डाल उसमें एरण्डतैल तथा बिजौरानीबू रस डाल कर चूल्हे में रखकर करछी से चलाते हुये तेल जल जाने तक पकावे तो वह शुद्ध हो जाता है। अथवा दो घड़ी (४८ मिनट) पर्यन्त केले की जड़ के रस के साथ कढ़ाई में डाल कर द्रव सूखने तक पकाने के बाद उसे गरम करके सात बार त्रिफला कषाय में बुझावें तो माक्षिक शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—माक्षिक की अशुद्ध तथा नैसर्गिकावस्था में उसमें पाये जाने वाले गन्धक, लोह, ताम्र आदि धातुओं के तत्व अशुद्ध होते हैं। साथ ही इसके उसमें कंकर पत्थर भी मिले रहते हैं जिनसे आमाशयिक रस तथा पाचन संस्थान दुर्बल होकर मन्दाग्नि हो जाती है और मलबंध के साथ रक्त दूषित होने से शरीर में व्रणस्फोट आदि उत्पन्न हो जाते हैं। "हानिं बलस्यानलमन्दभावं सगण्डमालां नयनामयांश्च। विष्टम्भतां कुष्ठमथ व्रणांश्च गरिष्टमेतत्तु करोत्यपक्वम् ॥"

उक्त शोधन विधि में कहीं कहीं दोलायन्त्र द्वारा पकाना लिखा है जिससे माक्षिक के पत्थर कंकर बालू रेत छान कर वस्त्र में ही रह जायं "तदधःपतितं शस्तमेवं शुध्यति माक्षिकम्"। यदि रस तैल आदि डालकर कढ़ाई में पकाना हो तो कढ़ाई का तला लाल होने तक पकना चाहिये। कढ़ाई में पकाते हुये घिसते समय गन्धक की गन्ध आती है। गन्धक जल जाने पर गन्ध बन्द हो जाती है। अग्नि द्वारा कढ़ाई का तलभाग लाल हो जाने पर माक्षिक नील-कृष्ण-वर्ण होता है परन्तु शीत होने पर यही रक्तवर्ण हो जाता है। यदि इस माक्षिक में से क्षार तथा लवणों को पृथक् करना हो तो माक्षिक से द्विगुण शुद्ध जल डाल कर कुछ काल एकान्त स्थान में रख कर ऊपरी स्वच्छ तथा क्षारमिश्रित जल अलग करदें, शेष माक्षिक को अच्छी तरह सुखाकर काम में लावें। गीली माक्षिक को कढ़ाई में पकाने से कभी कभी भस्म कुछ काली-सी हो जाती है। अतः सुखाकर भस्म करनी चाहिये ॥

मारणम्—

मातुलुङ्गाम्बुगन्धाभ्यां पिष्टं मूषोदरे स्थितम्।
पञ्चक्रोडपुटैर्दग्धं म्रियते माक्षिकं खलु ॥ ७९ ॥

स्वर्णमाक्षिक तथा गन्धक समभाग लेकर बिजौरा नीबू के रसमें घोट कर सुखा मूषा (शरावसम्पुट) में रख पांच गजपुट देने से माक्षिक की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—माक्षिक को गन्धक में मिलाकर पुट में बन्द कर के पुट के ऊपरले शराव के बीच में एक छोटा सा

१—पञ्चक्रोडपुटैः—वाराहपुटे पञ्चवारानिति भावः।

छिद्र कर देना चाहिये अन्यथा गन्धक अन्दर ही रह कर भस्म को काली कर देता है। यद्यपि क्रोड़पुट से यहाँ पर धाराहपुट लेना चाहिये तथा गजपुट में फूँकने से कोई हानि नहीं है ॥ ७९ ॥

मतान्तरम्—

एरण्डस्नेहगव्याज्यैर्मातुलुङ्गरसेन वा ।
खर्परस्थं दृढं पक्वं जायते धातुसन्निभम् ॥
एवं मृतं रसे योज्यं रसायनविधावपि ॥ ८० ॥

स्वर्णमाक्षिक चूर्ण को एक ठीकरे में डालकर अरण्डी का तैल और घृत के साथ चूल्हे में तब तक पकावें जब तक कि वह अच्छी तरह लाल रंग की न हो जाय। भूनते समय करछी से चलाते रहना चाहिये। अथवा केवल बिजौरानींबूरस के साथ ठीकरे में डालकर लाल होने तक पकावें। इस विधि से बनी हुई माक्षिक भस्म धातु सन्निभ (सोनागेरू के सदृश लाल) हो जाती है। इसे रस तथा रसायन कर्म में प्रयोग करना चाहिये। आयुर्वेद प्रकाश में 'सिन्दूराभम्' सिन्दूर के समान रंग बताया है ॥ ८० ॥

सत्त्वपातनम्—

त्रिंशांशनागसंयुक्तं क्षारैरम्लैश्च मर्दितम् ।
ध्मातं प्रकटमूषायां सत्त्वं मुञ्चति माक्षिकम् ॥ ८१ ॥
सप्तवारं परिद्राव्य क्षिप्तं निर्गुण्डिकारसे ।
माक्षीकसत्त्वसम्मिश्रं नागं नश्यति निश्चितम् ॥८२॥

माक्षिकचूर्ण में तीसवां भाग शुद्धसीसे का (पिघलाकर) चूर्ण मिलाकर यवक्षार सर्जीक्षार आदि क्षारों तथा कागज़ी नीबूरस आदि अम्ल द्रवों के साथ खूब खरल कर उसकी गोला बनाकर अच्छी तरह सुखालें फिर इस गोले को खुली मूषा (घरिया) में रख तीव्र अग्नि से तपावें तो माक्षिका धातु का सत्व पृथक् हो जाता है क्योंकि इस सत्व में सीसा मिला हुआ होता है। अतः इसको नष्ट करने के लिये सत्व को मूषा में रख पिघला कर सात बार संभालू के स्वरस में बुझा दिया जाता है जिससे नाग (सीसा) का मिश्रण नहीं रहता है।

विशेष वचन—सत्वपातन के लिये यवक्षार आदि क्षार माक्षिक तथा सीसा दोनों के बराबर लेने चाहिये ॥८१-८२॥

मतान्तरम्—

क्षौद्रगन्धर्वतैलाभ्यां[1] गोमूत्रेण घृतेन च ।
कदलीकन्दसारेण भावितं माक्षिकं मुहुः ॥ ८३ ॥

माक्षिकचूर्ण को समभाग शहद, एरण्डतैल, गोमूत्र, गोघृत और केले की जड़ का रस, इन प्रत्येक द्रव्यों के साथ अलग अलग भावना देकर सुखाकर गोला बनालें फिर इसको मूषा में रख तीव्र अग्नि से तपाने पर ताम्र के सदृश लाल और मृदु सत्व निकलता है।

विशेष वचन—मुहुः शब्द का कहीं कहीं सात बार अर्थ किया है अतः प्रत्येक द्रव्य की सात भावना देनी चाहिये। परन्तु तैल घृत के अधिक हो जाने से इसका गोला नहीं बन सकेगा द्रवद्रव्य को ही मूषा में रख तपाना पड़ेगा ॥ ८३ ॥

शुद्धमाक्षिकसत्त्वस्य लक्षणम्—

मूषायां मुञ्चति ध्मातं सत्त्वं शुल्बनिभं मृदु ।
गुञ्जाबीजसमच्छायं द्रुतद्रावं च शीतलम् ।
ताप्यसत्त्वं विशुद्धं तद्देहलोहकरं परम् ॥ ८४ ॥

सीसक आदि दोष रहित शुद्ध माक्षिक तत्व चोंटली (रत्ती) के समान लाल वर्ण, तपाने पर शीघ्र पिघलने वाला तथा शीतल प्रकृति का होता है। यह प्रयोग करने पर देहसिद्धि तथा लोहसिद्धिदायक होता है ॥ ८४ ॥

माक्षिकसत्त्वस्य प्रयोगः—

माक्षीकसत्त्वं च रसेन पिष्टं
कृत्वा विलीने च बलिं निधाय ।
सम्मिश्र्य सम्मर्द्य च खल्वमध्ये
निःक्षिप्य सत्त्वं द्रुतिमभ्रकस्य ॥८५॥
विधाय गोलं लवणाख्ययन्त्रे
पचेद्दिनार्द्धं मृदुवह्निना च ।
स्वतः सुशीतं परिचूर्ण्य सम्यग्
वल्लोन्मितं व्योषविडंग युक्तम् ॥८६॥
संसेवितं क्षौद्रयुतं निहन्ति
जरां सरोगान्त्वपमृत्युमेव ।
दुस्साध्यरोगानपि सप्तवासरै-
र्न तेन तुल्योऽस्ति सुधारसोऽपि ॥८७॥

माक्षिकसत्व के बराबर शुद्धपारद लेकर दोनों को मर्दन करें जब दोनों अच्छी तरह मिल जायँ तो सत्व के बराबर उसमें शुद्ध गन्धक मिला अच्छी तरह मर्दन करके उसमें सत्व के बराबर अभ्रकसत्व का द्रव मिला गोला बनालें इस गोले को शराव सम्पुट में बन्दकर अच्छी तरह कपड़मिट्टी करके सुखालें, फिर इसे लवणयन्त्र (आगे वर्णित) में रख छः घण्टे तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांग शीत होने पर निकाल पीसकर रखलें। फिर इसकी १ से २ रत्ती की मात्रा समान भाग, सोंठ, मिर्च, पीपल तथा वायविडंग चूर्ण

१—गन्धर्वतैलम्—एरण्डतैलमित्यर्थः ।

मिला मधु के साथ सेवन करे तो इस योग से अकालजरा, कष्टसाध्य रोग तथा अकालमृत्यु भी सात दिन में आराम आ जाते हैं। इसके गुणों की समानता अमृतरस भी नहीं कर सकता है ॥ ८५–८७ ॥

माक्षिकसत्वद्रावणम्—

एरण्डोत्थेन तैलेन गुञ्जा क्षौद्रं च टंकणम् ।
मर्दितं तस्य वापेन सत्त्वं माक्षिकजं द्रवेत् ॥ ८८ ॥

इति माक्षिकाधिकारः ।

माक्षिकसत्व को अग्नि पर पिघला कर उसमें समभाग एरण्ड तैल चोंटली (रत्ती) शहद तथा सुहागे के कल्क को थोड़ा थोड़ा करके डालने से माक्षिकसत्व द्रव हो जाता है।

अथ विमलः—

विमलस्त्रिविधः प्रोक्तो हेमाद्यस्तारपूर्वकः ।
तृतीयः कांस्यविमलस्तत्तत्कान्त्या स लक्ष्यते ॥ ८६ ॥

विमल के तीन भेद होते हैं। १–हेम विमल (स्वर्ण विमल) २–तारविमल (रजत कान्तियुक्त) ३–कांस्यविमल (कांसे की-सी कान्तिवाला)।

विशेष वचन—आजकल स्वर्णमाक्षिक को "कापर पेराइटिस्" (Copper Pyritis) रौप्यमाक्षिक (विमल) को "आइरन पेराइटिस" (Iron Pyritis) कांस्यमाक्षिक को आर्सेनो पेराइटिस" (Arsano Pyritis) कहते हैं। परन्तु विमल के ये तीन भेद अन्य रसग्रन्थों में नहीं पाये जाते हैं ॥ ८६ ॥

विमलस्य लक्षणगुणाः—

वर्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फलकान्वितः ।
मरुत्पित्तहरो वृष्यो विमलोऽतिरसायनः ॥ ६० ॥

विमल धातु के खण्ड गोलाकार और कोणयुक्त, फलकाकार तथा चिकने स्पर्श में होते हैं। विमल की भस्म वात-पित्त-प्रकोपशामक तथा उत्पादक अंगों के लिये बल्य और श्रेष्ठ रसायन मानी जाती है ॥ ६० ॥

त्रिविधस्य क्रियाविशेषः—

पूर्वो हेमक्रियासूक्तो द्वितीयो रूप्यकृन्मतः ।
तृतीयो भेषजे तेषु पूर्वपूर्वो गुणोत्तरः ॥६१॥

उक्त तीन प्रकार के विमलों में हेमवर्ण विमल सुवर्ण-निर्माण तथा स्वर्णप्रयोग के स्थान में प्रयुक्त होता है। द्वितीय (तारविमल) रजतनिर्माण तथा रजतप्रयोग के स्थान में प्रयुक्त होता है। और तृतीय (कांस्यविमल) औषधियों के कार्य में प्रयुक्त होता है। इनमें कांस्यविमल की अपेक्षा तारविमल, और तार विमल की अपेक्षा स्वर्णविमल अधिक गुण वाला होता है।

विशेष वचन—विमल स्वर्णमाक्षिक का ही एक भेद माना जाता है। यह माक्षिकोत्पतिस्थानों में बहुधा पाया जाता है। इसके विषय में रसपद्धति में लिखा है कि "तापीजं द्विरुदाहरन्ति विमला माक्षिकभेदादिह । त्रेधाऽद्या तु सुवर्ण-कांस्यरजतच्छायानुकारादमूः । तिस्रोऽप्यस्त्रयुताश्चतुस्त्रि-फलका वृत्ताः स्वनामश्रियः । मध्योक्ता सफला" । विमला शब्द से रूपामाखी लेना उक्तकथनानुसार ठीक नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि रूपामाखी में कोण, फलक (पहलू), वर्तुलता आदि लक्षण नहीं घटते हैं। गुणों में भी विमल, माक्षिक से न्यून नहीं मिलता है। यदि यह रूपामाखी होता तो यह भी स्वर्णमाक्षिकवत् शोधित तथा भस्म किया जाता। रूपामाखी मानने में एक कठिनाई और भी उपस्थित होती है कि माक्षिक प्रकरण में तारमाक्षिक को अल्प गुण लिखने के सिवाय कुछ नहीं लिखा है। अतः शास्त्र-दृष्टि से विमल से रूपामाखी नहीं ली जाती है। यह माक्षिक की ही एक जाति है जिस के गन्धक लोह तथा ताम्र के न्यूनाधिक अंशों के कारण हेमविमल, तारविमल तथा कांस्यविमल ये तीन भेद कल्पित किये गये हैं। इस (विमल) के बाजार में चतुष्कोण कण मिलते हैं, उनका वर्ण स्वर्ण के समान होता है। अतः इसको Fools Gold भी कहते हैं। इसी भ्रम से लोग इसे स्वर्णमाक्षिक मानकर स्वर्ण के स्थान में प्रयोग करने को कहते हैं। यह भी लौह तथा गन्धक का समान (यौगिक) है। यह पहिले बताया जा चुका है कि "स्वर्णमाक्षिक में ताम्र का अंश होता है और यह कणरूप में नहीं मिलता है।" असली स्वर्णमाक्षिक में ताम्र का अंश पाया जाता है। जैसा कि पहले 'सत्वं शुल्वनिभं मृदु' आया है। परन्तु कोणयुक्त कणरूपी विमल में ताम्र का अंश नहीं मिलता है। यही कारण है कि विमल एक पृथक् द्रव्य है ॥ ६१ ॥

विमलशोधनम्—

आटरूषजले स्विन्नो विमलो विमलो भवेत् ।
जम्बीरस्वरसे स्विन्नो मेषशृङ्गीरसेऽथवा ॥
आयाति शुद्धिं विमलो धातवश्च यथा परे ॥ ६२ ॥

शोधनार्थ विमलमाक्षिक को अडूसे के स्वरस या क्वाथ में दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करने पर वह शुद्ध हो जाता है। अथवा जम्बीरी नीबू के रस में स्वेदन करें अथवा मेढ़ासिंगी स्वरस या कषाय में दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करें तो विमल शुद्ध हो जाता है। जैसे अन्य धातुएं हो जाती हैं।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह तथा रसेन्द्रचिन्तामणि के अनुसार विमल अड्से आदि कषाय या स्वरस में दोला-यन्त्र द्वारा एक दिनमान स्वेदन या पाचन करना चाहिये।

विमलमारणम्—

गन्धाश्मलकुचाम्लैश्च म्रियते दशभिः पुटैः ॥ ९३ ॥

शुद्ध विमल चूर्ण चतुर्थांश शुद्ध गन्धक चूर्ण मिला बड़हर (खटल) तथा काञ्जी आदि अम्ल द्रवों के साथ घोट सुखाकर शरावसम्पुट में बन्द कर के पुट में फूंक दें। इस प्रकार दश बार पुट देने से इसकी भस्म बन जाती है।

विशेष वचन—विमलमाक्षिक की भस्म करने में भी शरावसम्पुट में ऊपर छिद्र कर देना चाहिये जिससे भस्म काली न होने पाये ॥ ९३ ॥

सत्वपातनम्—

सटंकलकुचद्रावैर्मेषश्रृङ्ग्याश्च भस्मना ।
पिष्टो मूषोदरे लिप्तः संशोष्य च निरुध्य च ॥ ९४ ॥
षट्प्रस्थकोकिलैर्ध्मातो विमलः सीससन्निभः ।
सत्त्वं मुञ्चति तद्युक्तो रसः स्यात्स रसायनः ॥ ९५ ॥

शुद्ध विमल माक्षिक चूर्ण में चतुर्थांश टंकण तथा मेढ़ासिंगी की भस्म मिला बड़हर के स्वरस से मर्दन कर मूषा में रख कर कपड़मिट्टी कर के सुखाकर छः सेर (प्रस्थ) बेर की लकड़ी के कोयलों में तपावें तो सीसे के सदृश विमल माक्षिक का सत्व निकल आता है। इस सत्व को पारद भस्म में मिला कर प्रयोग करने से यह रसायन (जराव्याधिनाशक) कार्य करता है।

विशेष वचन—"सीससन्निभः" पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि विमल शीशे के सदृश नहीं होता है अतः "सीस-सन्निभम्" ऐसा पाठ ठीक है। कहीं२ "शशिसन्निभम्" पाठ आता है जिस से यह ज्ञात होता है कि विमल का सत्वमाक्षिक (स्वर्ण) बन ताम्रवत् न होकर रजतवद् होता है। यह आगे मतान्तर से स्पष्ट हो जाता है ॥ ९४–९५ ॥

मतान्तरम्—

विमलं शिग्रुतोयेन कांक्षी कासीसटंकणम् ।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदलीरसैः ॥९६॥
मोक्षकक्षारसंयुक्तं ध्मापितं मूकमूषगम् ।
सत्त्वं चन्द्रार्कसंकाशं पतते नात्र संशयः ॥९७॥

विमलमाक्षिक फटकरी, हीरा कसीस, सुहागा, जंगलीजिमि-कन्द का चूर्ण सब समभाग लेकर सहिजने की छाल के क्वाथ अथवा रस में विमल चूर्ण के बराबर मोखा (एक प्रकार का पाढ़ेल) क्षार मिला कर घोट गोला-सा बनाकर बन्द मूषा में रख तेज अग्नि से तपाने पर चन्द्रमा की किरणों के सदृश उज्ज्वल विमल का सत्व निकलता है। इसमें सन्देह नहीं ॥

विमलसत्वप्रयोगः—

तत्सत्त्वं सूतसंयुक्तं पिष्टं कृत्वा सुमर्दितम् ।
विलीनं गन्धके क्षिप्त्वा जारयेत् त्रिगुणालकम् ॥९८॥
शिलां पञ्चगुणां चापि वालुकायंत्रके खलु ।
तारभस्म दशांशेन तावद्वैक्रान्तकं मृतम् ॥ ९९ ॥
सर्वमेकत्र संचूर्ण्य पटेन परिगाल्य च ।
निक्षिप्य कूपिकामध्ये परिपूर्य प्रयत्नतः ॥ १०० ॥
लीढो व्योषवरान्वितो विमलको युक्तो घृतैः सेवितो
हन्याद् दुर्भगकुज्वरान् छ्वयथुकं पाण्डुप्रमेहारुचीः ।
मूलार्त्तिं ग्रहणीं च शूलमतुलं यक्ष्मामयं कामलां
सर्वान्पित्तमरुद्गदान् किमपरैर्योगैरशेषामयान् ॥१०१॥

इति विमलाधिकारः ।

उक्तविधि से प्राप्त विमलसत्व १ भाग, शुद्ध पारद १ भाग, दोनों को एकत्र खरल करें, पारद के अच्छी तरह मिल जाने पर दोनों के बराबर भाग पिघले हुए गन्धक में इसे मिला दें फिर इसमें ३ भाग शुद्ध हरताल तथा ५ भाग शुद्ध मैनसिल मिला अच्छी तरह घोटकर वालुकायन्त्र में रखकर एक दिन तक पकावें। स्वांगशीत होने पर शीशी से निकाल उसमें दशमांश चांदी की भस्म तथा वैक्रान्त भस्म मिला घोट कर कपड़े में छानकर शीशी में रख छोड़ें। तत्पश्चात् इसमें से १ से २ रत्ती मात्रा लेकर इसके बराबर त्रिकटु तथा त्रिफलाचूर्ण मिला घृत के साथ सेवन करने से यह घातकज्वर, शोथ, पाण्डु, प्रमेह, अरुचि, बवासीर, संग्रहणी, शूल, राजयक्ष्मा, कामला तथा सब प्रकार के वातपित्त-प्रकोप-जन्य रोगों को नष्ट करता है तथा विभिन्न अनुपानों से सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—'जारयेत्त्रिगुणालकम्' के स्थान पर "जायते त्रिगुणात्मकम्" ऐसा पाठ ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यत्र "पिष्टीकृतं हि तत् सत्वं पारदेन समन्वितम्। द्रुते गन्धे हि निक्षिप्तं तालकं त्रिगुणं तथा ॥ मनःशिला पञ्च-गुणा" ऐसा स्पष्ट पाठ है। "जायते" पाठ के पक्षपाती ऐसा अर्थ करते हैं कि "यह वातपित्तकफनाशनरूप तीनों गुणों से युक्त हो जाता है"। यह भी ठीक नहीं है आगे "सर्वान् मरुत्पित्तगदान्" इत्यादि से वातादि रोग गृहीत किये गये हैं ॥ ९८–१०१ ॥

१—त्रिगुणालक—विमलसत्वापेक्षया त्रिगुणहरितालमिति यावत् ।

शिलाजतुभेदाः—

शिलाधातुर्द्विधा प्रोक्तो गोमूत्राद्यो रसायनः ।
कर्पूरपूर्वकश्चान्यस्तत्राद्यो द्विविधः पुनः ॥
ससत्त्वश्चैव निःसत्त्वस्तयोः पूर्वो गुणाधिकः ॥१०२॥

शीलाजीत दो प्रकार का होता है १—गोमूत्रगन्धि शिलाजतु, २—कर्पूरगन्धि शिलाजतु । इनमें आदि गोमूत्रगन्धि शिलाजतु रसायन अर्थात् जराव्याधिनाशक है । यह भी १ सत्वयुक्त २ निःसत्व भेद से दो प्रकार का होता है । इनमें सत्वयुक्त (शिलाजतु में पाये जाने वाले तत्वों से युक्त) अधिक गुणशाली है ॥ १०२ ॥

शिलाजतुन उत्पत्तिः—

ग्रीष्मे तीव्रार्कतप्तेभ्यः पादेभ्यो हिमभूभृतः ।
स्वर्णरूप्यार्कगर्भेभ्यः शिलाधातुर्विनिःसरेत् ॥१०३॥

ग्रीष्मऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप से जब हिमालय के समीपस्थ अनेक पर्वतों की शिलाएं जिनमें सोना, चांदी तथा तांबा धातु होते हैं अत्यन्त तप्त हो जाती हैं तो उनसे पिघल कर शिलाजीत निकलती है ।

विशेष वचन—भावप्रकाश तथा रसचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में लोह धातुयुक्त पाषाणों से शिलाजतु की प्राप्ति लिखी है । उनमें लोहमय पाषाणों से शिलाजीत की उत्पत्ति ही नहीं लिखी है किन्तु लोहगर्भ शिलाजतु को सब से उत्तम भी माना है । उनके विचार में लोहगर्भ शिलाजतु में अन्य तीनों शिलाजतुओं के भी न्यूनाधिक तत्व पाये जाते हैं । "हेम्नोऽथ रजतात्ताम्राद्वरं कृष्णायसादपि" "सौवर्णं राजतं ताम्रमायसञ्च चतुर्विधम् । शिलाजतु हि विज्ञेयं तत्तल्लक्षणलक्षितम्" अन्य शिलाजतुओं के सदृश लोह शिलाजतु की परीक्षा तथा गुण भी पृथक् लिखे हैं । "लौहं जटायुःपक्षाभं सतिक्तं लवणं भवेत् । विपाके कटुकं शीतं सर्वश्रेष्ठमुदाहृतम्" वर्तमान में प्राप्त होने वाली शिलाजतु लोहगर्भक ही है । क्योंकि इसमें गोमूत्र गन्ध होती है यही लोहशिलाजतु का मुख्य लक्षण है "गोमूत्रगन्धि यत्कृष्णं स्निग्धं मृदु तथा गुरु । तिक्तं कषायं शीतञ्च सर्वश्रेष्ठं तदायसम्" । अन्य ग्रन्थकारों ने गोमूत्रगन्धी शिलाजतु को त्रिदोषशामक तथा स्वर्णादिगर्भ शिलाजतुओं के स्थान पर भी पूर्ण कार्यकारी होने से उत्तम माना है । "गोमूत्रगन्धि सर्वेषां सर्वकर्मसु यौगिकम्" । तथा "यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु । विशेषेण प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः" । र० चि० ।

शिलाजतु कोलतार के समान काला और गाढ़ा-सा द्रव होता है । सूखने पर चमकीला और भंगुर हो जाता है । यह जल में घुल जाता है और तारों को छोड़ता है । एलकोहल, क्लोरोफार्म तथा ईथर में नहीं घुलता है । रासायनिक प्रतिक्रिया में उदासीन रहता है ।

शिलाजतु विश्लेषण—शुद्ध शिलाजतु के विश्लेषण करने से उसमें जल ६.५%, ऐन्द्रियक द्रव्य ३६.२०%, पार्थिव द्रव्य ३४.६५% (Nitrogenous matters) १.३.%, चूना ७.८०%, अभ्रक (Mica) १.३१% मात्रा में पाये जाते हैं । सम्भवतः इन्हीं तत्वों के अनुपान के कारण शिलाजतु त्रिदोषघ्न स्थिर किया गया हो । अतएव प्रायः सभी रोगों में लाभदायक होता हो । "न सोऽस्ति रोगो भुवि मानवानां शिलाजतु यन्न जयेत्प्रसह्य ।" आजकल शिलाजीत काश्मीर, गढ़वाल, बागेश्वर, भूटान, तिब्बत, गिलगिट आदि पर्वतीय स्थानों से प्राप्त होता है । इस को वहां के लोग छोटे २ खण्डों में एकत्र करके भेजते हैं । आजकल अधिकांश में नकली शिलाजीत के पत्थर आते हैं । उन को जब गरम पानी में भिगोया जाता है तो मलने पर उसमें से बकरी की मींगन सी निकलती हैं जिनमें रेत, पत्थर, मिट्टी न होकर घास सी होती है । हो सकता है ठग लोग बकरी की मींगनों को एकत्र कर उसको चिरकाल तक गोमूत्र से भवित करते रहते हों और अन्त में उसको सुखाकर पिण्ड के रूप में बना कर बेचते हों । अतः शिलाजीत के पत्थर लेते समय ये बातें देख लेनी चाहिये । शिलाजीत का उत्तम पत्थर होने पर उसमें से चतुर्थांश शिलाजतु प्राप्त होती है । परन्तु मींगनों वाले पत्थरों से आधे से भी अधिक प्राप्त होती है ।

कोई इसे (शिलाजीत) खनिजतैल मिनरल ओइल (Mineral oil) का यौगिक मानते हैं । सम्भव है इसी कारण उनके विचारों में इसको अग्नि पर नहीं तपाना चाहिए । क्योंकि इसमें पैट्रोल की जाति का तैल होने से यह शीघ्र उड़नशील है और अग्नि परीक्षा में निर्धूम जलता है और पानी में तैरता है । परन्तु आयुर्वेद के रसग्रन्थों में इसको भस्म करने को लिखा है । आधुनिक चिकित्सकों ने इस में मिनरल ओइल पाया है अतः वे लोग भी शिलाजतु को क्षय रोग में व्यवहृत होता हुआ देखकर Patrolium Imultion का क्षय रोग में व्यवहार करने लगे हैं ॥१०३॥

शिलाजतुत्रयस्य गुणाः—

स्वर्णगर्भगिरेर्जातो जपापुष्पनिभो गुरुः ।
स स्वल्पतिक्तः सुस्वादुः परमं तद्रसायनम् ॥१०४॥

रूप्यगर्भगिरेर्जातं मधुरं पाण्डुरं गुरु ।
शिलाजं पित्तरोगघ्नं विशेषात्पाण्डुरोगहृत् ॥१०५॥
ताम्रगर्भगिरेर्जातं नीलवर्णं घनं गुरु ।
शिलाजं कफवातघ्नं तिक्तोष्णं क्षयरोगहृत् ॥१०६॥

स्वर्णतत्वयुक्त शिलाओं से उत्पन्न शिलाजतु गुड़हल पुष्पवत् लाल रंग का तथा गुरुभार होता है। यह स्वाद में किञ्चित् कड़वा मधुर रस होता है और श्रेष्ठ रसायन है।

रजततत्वयुक्त शिलाओं से उत्पन्न शिलाजतु, स्वाद में मधुर, वर्ण में कुछ पीतरक्त, गुरुभार, पित्तरोगनाशक विशेषतः पाण्डुरोग को नष्ट करता है ।

ताम्रतत्वयुक्त शिलाओं से उत्पन्न शिलाजतु नीलवर्ण, गाढ़ा, गुरुभार, तिक्त (कड़ुवा) रस, उष्ण होता है। यह कफवातनाशक तथा क्षयरोग को दूर करता है ॥१०४–१०६॥

शुद्धशिलाजतुपरीक्षा—

वह्नौ क्षिप्तं भवेद्यत्तल्लिङ्गाकारमधूमकम् ।
सलिलेऽप्यविलीनं च तच्छुद्धं हि शिलाजतु ॥१०७॥

शुद्ध शिलाजतु अग्नि पर डालने से निर्धूम जलती है और उसका कोयला लिंगाकार बन जाता है या बतासे के सदृश भीतर से सछिद्र और पोला होता है। जल में डालते ही विलीन न होने वाला शिलाजतु शुद्ध समझा जाता है ॥१०७॥

शिलाजतुगुणाः—

नूनं सज्वरपाण्डुशोफशमनं मेहाग्निमान्द्यापहं
मेदच्छेदकरं च यक्ष्मशमनं शूलामयोन्मूलनम् ।
गुल्मप्लीहविनाशनं जठरहृच्छूलघ्नमामापहं ।
सर्वत्वग्गदनाशनं किमपरं देहे च लोहे हितम् ॥१०८॥
रसोपरससूतेन्द्ररत्नलोहेषु ये गुणाः ।
वसन्ति ते शिलाधातौ जरामृत्युजिगीषया ॥१०९॥

शिलाजतु ज्वर, पाण्डुरोग, शोथ, प्रमेह, मन्दाग्नि, मेदोरोग (मुटापा), राजयक्ष्मा, शूल, गुल्म, प्लीहा (तिल्ली), उदररोग, हृदयशूल, आमरोग और सब प्रकार के त्वक्रोगों को नष्ट करता है। शरीर में स्थिरता और रक्तवृद्धि करता है अभ्रकादि रस, गन्धकादि उपरस, पारद, रत्न तथा सब प्रकार की धातुओं में जो गुण है वे सब बुढ़ापा तथा मृत्यु को दूर करने की इच्छा से शिलाजीत में एकत्र हुए पाये जाते हैं। अर्थात् शिलाजीत रसोपरसादि धातुओं के गुणों की राशि है। इन सब के सेवन करने से जो गुण लाभ होते हैं वे सब शिलाजीत-सेवन से होते हैं।

विशेष वचन—शिलाजतु उत्तम वस्तिरोग (प्रमेह आदि) हर द्रव्य है। यह वृक्करोगों को मिटाता है। सम्भवतः इसके प्रयोग से वृक्कों की रक्तवाहिनियाँ विस्तृत हो जाती हैं जिससे उनमें रक्त अधिक पहुँचता है और मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। इसके प्रयोग से मूत्र का द्रवभाग बढ़ता है ठोस भाग नहीं। यदि मूत्र में शर्करा या (Phosphates) अथवा एल्युमिन आती हों तो इसके प्रयोग से वे घट जाते हैं। और मूत्र की रासायनिक प्रतिक्रिया तथा उसकी गन्ध आदि में कोई परिवर्तन नहीं आता है।

शिलाजतु रक्त द्वारा यकृत् में पहुँचता है और सम्भवतः यकृत् के (Sell) को उत्तेजित करता है। क्योंकि इसके प्रयोग से पित्त अधिक निकलता देखा गया है अतः पित्तवाहिनी या पित्ताशय में शोथ या अश्मरी हो तो वे भी अच्छे हो जाते हैं। यदि पित्तसञ्चय या अवरोध के कारण पाण्डु कामला रोग हों तो वे भी इससे अच्छे हो जाते हैं।

शिलाजतु का याकृतीय-शर्करा निर्माण प्रक्रिया पर भी प्रभाव देखा जाता है। क्योंकि इसके प्रयोग मे मूत्र तथा रक्त में खांड की मात्रा कम हो जाती है।

शिलाजतु लोहभस्म के समान ही रक्तवर्धक तथा रक्तरञ्जक है। देखा जाता है कि शिलाजतु के देने से रक्त का दबाव (Blood pressur) घट जाता है। शिलाजतु रक्तवाहिनियों को फैला देता है। वृक्क में रक्त वाहिनियों के फैल जाने से ही मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। और यकृत् में रक्तवाहिनियों के फैल जाने से पित्त अधिक मात्रा में निकलता है। इसी तरह यह सम्पूर्ण शरीर की रक्तवाहिनियों को फैलाने के कारण वृद्धावस्था में जब कि धमनियां कठोर हो जाती हैं इसके प्रयोग से विशेष लाभ होता है। अतः रक्त के अधिक दबाव के कारण धमनियां कठोर हों तो वे इसके प्रयोग से लचकीली बन जाती हैं। रक्त दबाव के कारण बढ़ा हुआ हृदय का आकार भी शिलाजतु प्रयोग से घट जाता है। अतः शिलाजतु हृदय के लिये बल्य तथा स्थितिस्थापक भी है।

शिलाजतु प्रयोग से त्वगीय स्वेदवाहिनियों में रक्तवाहिनियों के फैल जाने से त्वचा में स्वेद अधिक आता है और त्वचा की शोथ हट जाती है। यदि त्वचा में चिरस्थायी शोथजन्य त्वक्रोग या त्वचा की शोथ हो तो वह भी हट जाती है। अतः शिलाजतु स्वेदक, शोथहर तथा त्वक्रोगहर है। शिलाजतु प्रयोग से बढ़ी हुई मेदा (Fat) घट

जाती है। सम्भवतः धात्वीयपचन (Matabolism) के उत्तेजित हो जाने से मेद घटने लगती है। शिलाजतु के सेवन से सभी शारीरिक अङ्गों में बल आता है और वे अपना कार्य ठीक-ठीक करते हैं। अतः आयुर्वेद में इसे रसायन शब्द से कहा जाता है। रसायन के कारण ही यह नाड़ी नैर्बल्य, वातिक नैर्बल्य, मस्तिष्क नैर्बल्यजन्य अपस्मार, उन्माद आदि रोगों तथा रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर रोगों के लिये लाभदायक होती है। मधुमेह में शालसारादिगण के कषाय या असनादिगण के कषाय से भावित शिलाजतु विशेष लाभ पहुँचाती है। अर्थात् मूत्र में आने वाली शर्करा की मात्रा को शीघ्र ही कम कर देती है। आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ८ रत्ती तक ॥१०८–१०९॥

शिलाजतुशोधनम्—

क्षाराम्लगो जलैर्धौतं शुद्धयत्येव शिलाजतु ॥११०॥
शिलाधातुं च दुग्धेन त्रिफलामार्कवद्रवैः।
लोहपात्रे विनिक्षिप्य: शोधयेदतियत्नतः ॥१११॥
क्षारम्लगुग्गुलोपेतैः स्वेदनीयंत्रमध्यगैः।
स्वेदितो घटिकामानाच्छिलाधातुर्विशुद्धयति ॥११२॥

शिलाजतु या उसके पत्थर को यवक्षार जल में तथा गोमूत्र में एक एक दिन डाल कर छान करके धूप में सुखा लेने से शिलाजतु शुद्ध हो जाता है।

अथवा शिलाजतु को एक लोहपात्र में डाल उसमें चतुर्गुण गोदुग्ध डालकर एक दिन पड़ा रहने दें बाद को छानकर उसमें त्रिफलाकषाय तथा भंगरे का स्वरस डालकर एक दिन के बाद छानकर धूप में सुखा लें।

अथवा यवक्षार, काञ्जी तथा गुग्गुलु को एक हांडी में भरकर उसके मुख में एक मोटा कपड़ा बाँधकर उसमें शिलाजतु को रख फिर पात्र के मुख को एक शिकोरे से बन्दकर सन्धिलेप करके चूल्हे में रखकर बहुत मन्द अग्नि से २०–२५ मिनट तक स्वेदन करें तो शिलाजतु शुद्ध हो जाती है।

विशेष वचन—पर्वतों से प्राप्त होने वाली शिलाजीत (पत्थर) में बालू, पत्ते, मिट्टी, पत्थर आदि अनेक अशुद्धियाँ रहती हैं। अतः उनके दूर करने के निमित्त दुग्ध आदि से शुद्ध करने के पूर्व शिलाजतु को गरम जल द्वारा साफ कर लेना आवश्यक होता है। इसके लिये शिलाजीत के छोटे छोटे टुकड़े करके अत्युष्ण द्विगुण जल में घोलकर और वस्त्र द्वारा छान लिया जाता है अथवा उस जल को वर्त्ति से नितार कर एक चौड़े लोहपात्र में डाल दिया जाता है। इसे धूप में रख देते हैं। जब ऊपर मोटी मलाई-सी जम जाती है तो उसे ऊपर से निकाल कर दूसरे पात्र में डाल देते हैं और उसमें द्विगुण गरम जल भी डाल देते हैं। पुनः धूप में रखने पर जो गाढ़ी मलाई सी आती है उसे पुनः द्विगुण गरम जल के साथ एक तीसरे पात्र में डाल देते हैं। पुनः इसी प्रकार तीसरे से चौथे पात्र में डाला जाता है। अन्त में शुद्धघनभाग को लेकर एक पृथक् पात्र में सुखा लेते हैं। इस प्रकार तब तक किया जाता है जब तक सारी शिलाजीत पृथक् न हो जाय। इस विधि को शिलाजीत की सूर्यतापी विधि कहते हैं। अग्नितापी शिलाजीत बनाने में पृथक् पात्रों में न डालकर पहिले ही चतुर्गुण गरम जल में शिलाजीत को पीसकर डाल देते हैं फिर चौबीस घण्टे बाद उसे मसल कर छान लेते हैं फिर उस जल को एक मोटी रुई की बत्ती से नितार कर कड़ाई में डाल मन्द मन्द अग्नि से पकाकर गाढ़ा-सा करके रख लेते हैं। उक्त प्रकार से शुद्ध शिलाजतु को पुनः विशेष शुद्ध करने के लिए गोदुग्ध त्रिफला कषाय आदि में मर्दन करना चाहिये।

शिलाजतु जल को अग्नि में पका कर शिलाजीत बनाने की विधि इस वास्ते शास्त्रों में नहीं है कि अग्नितापी शिलाजतु में अग्निताप से उसमें पाये जाने वाले ऐन्द्रियक तथा अनैन्द्रियक तत्व जल जाते हैं। एतदर्थ वह अल्पवीर्य होती है और उससे उतना लाभ नहीं होता है ॥ ११०–११२ ॥

मारणम्—

शिलया गन्धतालाभ्यां मातुलुङ्गरसेन च।
पुटितो हि शिलाधातुर्म्रियतेऽष्टगिरिण्डकैः ॥११३॥

शु० मैनसिल, शु० गन्धक, शु० हरताल तथा शिलाजीत को समभाग लेकर बिजौरानींबू के रस में मर्दन कर सुखाकर सम्पुट में बन्दकर आठ जंगली उपलों की पुट देने से शिलाजतु की भस्म हो जाती है ॥ ११३ ॥

शिलाजतुप्रयोगविधिः—

भस्मीभूतशिलोद्भवं समतुलं कान्तं च वैक्रान्तकं
युक्तं च त्रिफलाकटुत्रिकघृतैर्वल्लेन तुल्यं भजेत्।
पाण्डौ यक्ष्मगदे तथाग्निसदने मेहेषु मूलामये ॥
गुल्मप्लीहमहोदरे बहुविधे शूले च योन्यामये ॥११४॥
सेवेत यदि षण्मासं रसायनविधानतः।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं सुखी ॥ ११५ ॥

शिलाजीत की भस्म, कान्तलोहभस्म और वैक्रान्तभस्म सब को समभाग लेकर एकत्र खरल करके उसमें से एक वल्ल प्रमाण लेकर त्रिफला तीन वल्ल, त्रिकटुचूर्ण तीन वल्ल

मिला घृत के साथ सेवन करने से पाण्डुरोग, राजयक्ष्मा, मन्दाग्नि, प्रमेह, बवासीर, गुल्म, प्लीहा, उदररोग अनेकविध शूल और स्त्रियों के योनिरोग (प्रदर गर्भाशयशोथ आदि) दूर होते हैं। यदि इस योग को रसायन विधि के अनुसार ६ महीने तक लगातार सेवन किया जाय तो मनुष्य वली (अकाल में ही वृद्धावस्था के सदृश शरीर में सिलवटों का पड़ना) पलित (अकाल में बालों का सफेद होना) से रहित होकर सुखपूर्वक १०० वर्ष तक जीवित रहता है ॥ ११४–११५ ॥

सत्वपातनम्—

पिष्टं द्रावणवर्गेण साम्लेन गिरिसंभवम् ।
क्षिप्त्वा मूषोदरे रुद्ध्वा गाढैर्ध्मातं हि कोकिलैः ॥
सत्त्वं मुञ्चेच्छिलाधातुस्तत्क्षणाल्लोहसन्निभम् ॥११६॥

शिलाजीत को द्रावणवर्गोक्त औषधियों तथा काञ्जी के साथ पीस मूषा में रख अच्छी तरह बन्द करके कोयलों की तीक्ष्ण अग्नि से तपाने पर शीघ्र ही लोह के सदृश शिलाजीत का सत्व निकल आता है।

विशेष वचन— आगे लिखी हुई गुड़, गुग्गुलु, गुञ्जा, घृत, मधु, तथा टंकण औषधियों को द्रावक वर्ग कहा जाता है। इसी को मित्रपञ्चक भी कहते हैं ॥ ११६ ॥

कर्पूरशिलाजतुनो लक्षणादिकम्—

पाण्डुरं सिकताकारं कर्पूराद्यं शिलाजतु ।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहकामलापाण्डुनाशनम् ॥ ११७ ॥

कर्पूरगन्धी शिलाजीत कुछ पीलापन लिये सफेद और बालुका (रेत) के समान कण या रवे युक्त होता है। यह मूत्रकृच्छ्र, पथरी, प्रमेह, कामला (जिरकान) तथा पाण्डु रोग को नष्ट करता है।

विशेष वचन—रसपद्धति के अनुसार कर्पूराद्य शिलाजतु "सोरा" लिया जाता है "द्वितीयं सोरकाख्यं स्याच्छ्वेतवर्णं शिलाजतु । अग्निवाणोपयुक्तं तद्धितं मूत्रामयेषु च" रसपद्धति के अनुसार ही इसका प्रयोग मूत्रावरोध मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों में तथा आग्नेयास्त्रों में दारु बारूद (Gun powder) के रूप में विशेषतः होता है। यह नैसर्गिक रूप से मिट्टी में मिला हुआ पाया जाता है। इस मिट्टी को खुरच कर, मिट्टी तथा राख के बने हुए Filters के ऊपर बिछा देते हैं। वर्षा जल के साथ इसमें से सोरा छनकर नीचे दूर तक बनी हुई क्यारियों में फैल जाता है। फिर इसे क्यारियों से खुरच कर बड़े २ लोहपात्रों में उबाला जाता है। इस जल को पात्रों में भरकर एकान्त में रख देने से सोरे के स्फटिक नीचे जम जाते हैं। इन मटियाले से स्फटिकों को जल से धोकर स्वच्छ कर लेते हैं तो इसे कलमीसोरा (saltpiter) कहते हैं। कलमीसोरे के स्फटिक रसकर्पूर या कर्पूर पुष्पवत् होते हैं अतः रसपद्धति में "कर्पूराद्य" के स्थान पर "कर्पूराभं" ऐसा पाठ है। "पाण्डुरं" से मटियालापन लिया गया है ॥११७॥

तस्य शोधनम्—

एलातोयेन संभिन्नं सिद्धं शुद्धिमुपैति तत् ।
नैतस्य मारणं सत्त्वपातनं विहितं बुधैः ॥ ११८ ॥

इति शिलाजत्वधिकारः ।

कर्पूर गन्धी शिलाजतु को छोटी इलायची के जल (अर्क या क्वाथ) में थोड़ी देर स्वेदन देकर इलायची के ही जल में मर्दन कर सुखा लिया जाय तो वह शुद्ध हो जाता है । विद्वानों ने इस शिलाजतु का मारण तथा सत्वपातन नहीं बताया है। क्योंकि मारण तथा सत्वपातन में यह अग्नि देने से उड़ जाता है ॥ ११८ ॥

अथ सस्यकोत्पत्तिः—

पीत्वा हालाहलं वान्तं पीतामृतगरुत्मता ;
विषेणामृतयुक्तेन गिरौ मरकताह्वये ।
तद्वान्तं हि घनी भूतं संजातं सस्यकं खलु ॥ ११९ ॥

कहा जाता है कि जब गरुड़ ने अमृत का पान किया तो अमृत पीने के बाद ही हलाहल विष का पान कर लिया जिससे उसको नीलगिरि नामक पर्वत में अमृतयुक्त विषैले पदार्थ की वमन होगई। जो स्थानीय मृत्तिका में मिलकर कठिनावयव तथा हरितवर्ण की हो गई और सस्यक (तूतिया) के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

विशेष वचन—तुत्थ में विष तथा अमृत दोनों के गुणों को दिखाने के लिए सम्भवतः उक्त आलंकारिक उत्पत्ति लिखी गई है। क्योंकि विष खाने पर तुत्थ के द्वारा उसे बाहर निकाला जाता है जिससे रोगी बच जाता है अथवा ताम्र धातु से इसकी उत्पत्ति मानी जाती है "ताम्रोपधातुस्तुत्थं हि किञ्चित्ताम्रेण तद्भवेत् । किञ्चित्ताम्रगुणं ।" अतः ताम्रगुणं से यह अमृत और अपने गुणों से विषात्मक माना जाता है।

तुत्थ नैसर्गिक रूप में प्राप्त होता है तथा कृत्रिम विधि से भी बनाया जाता है। कृत्रिम निर्माण में ताम्र की कच्ची धातु को गन्धक से मिलाकर भट्टी में तीव्र अग्नि से तपाते हैं। इसमें धौंकनी द्वारा वायु का प्रवेश करते हैं, फिर भुने हुए द्रव्य में गन्धकाम्ल डालकर द्रव्य के स्फटिक बना लिए जाते हैं जिसको ताम्रगन्धित(copper sulphate) कहा जाता है।

प्रशस्तसस्यकलक्षणम्—

मयूरकण्ठसच्छायं भाराढ्यमतिशस्यते ॥ १२० ॥

मोर के कण्ठ के सदृश नीला, चमकीला तथा गुरुभार तुत्थ औषधि कर्म के लिये उत्तम माना जाता है।

विशेष वचन—अल्पभार तुत्थ में सत्व की अल्पता होने से वह योग्य नहीं होता है ॥ १२० ॥

सस्यकस्यौत्कर्ष्यकथनम्—

द्रव्यं विषयुतं यत्तद्द्रव्याधिकगुणं भवेत् ।
सुधा हालाहलैर्युक्ता सुधाधिकगुणा तथा ॥ १२१ ॥

किसी साधारण द्रव्य शुण्ठी पिप्पली आदि में यदि थोड़ा विष संस्कार या मिश्रण किया जाता है तो वह अधिक कार्यशील बन जाता है। जैसे सोमल त्रिकटु सोमलस्फटिकी आदि। इसी तरह सुधा (अमृत) में हलाहल विष मिला होने से वह सुधा अधिक गुणयुक्त होगई है।

विशेष वचन—विष में संयोगवाही गुण होता है। अतः विष को बल्य औषधियों के साथ देने पर उसका शरीर पर बल्य प्रभाव होता है। और कर्षक द्रव्यों के साथ देने पर शीघ्र नाशक प्रभाव होता है ॥ १२१ ॥

सस्यकगुणाः—

निःशेषदोषविषहृद्गदशूलमूल-
कुष्ठाम्लपैत्तिकविबंधहरं परं च ॥
रसायनं वमनरेककरं गरघ्नं
श्वित्रापहं गदितमत्र मयूरतुत्थम् ॥ १२२ ॥

सम्यक् शुद्ध तुत्थ शारीरिक सम्पूर्ण वातादि दोष, विषबाधा, हृदय रोग, शूल, अर्श, कुष्ट, अम्लपित्त और मलावरोध को दूर करता है। यह विधिपूर्वक सेवन करने से रसायन गुण करने वाला है। वमन और रेचन लाता है। गर (कृत्रिम) विषनाशक और सफेद कोढ़ को दूर करने वाला है।

विशेष वचन—बहिःप्रभाव में, क्षत प्रदेश पर तथा सुकुमार अन्तःकला पर लगाने से तुत्थ लघु दाहक तथा लेखन होता है। स्थानीय रक्तवाहिनियों को संकुचित करता और स्रावों को रोकता है अतः यह ग्राही भी है। तुत्थ-जल से सभी जीवाणु नष्ट हो जाते हैं अतः जीवाणुहर भी है। अन्तःप्रभाव में महास्रोत के लिए बहुत थोड़ी मात्रा में प्रयोग करने पर यह ग्राही और आन्त्र जीवाणुहर है। अतिमात्रा में वामक और बहुत ही अल्प मात्रा ($\frac{1}{32}$ से $\frac{1}{16}$ ग्रेन) में यह वमनहर भी है।

मृत तुत्थ की मात्रा $\frac{1}{8}$ रत्ती से $\frac{1}{4}$ रत्ती तक। वमनार्थ तुत्थ की मात्रा २ रत्ती से ५ रत्ती तक। ॥ १२२ ॥

सस्यकशोधनम्—

सस्यकं शुद्धिमाप्नोति रक्तवर्गेण भावितम् ।
स्नेहवर्गेण संसिक्तं सप्तवारमदूषितम् ॥ १२३ ॥

दोलायंत्रेण सुस्विन्नं सस्यकं प्रहरत्रयम् ।
गोमहिष्याजमूत्रेषु शुद्ध्यते तुत्थखर्परम् ॥ १२४ ॥

नीला तूतिया को रक्त वर्ग (कुसुम्भ आदि आगे लिखी हुई औषधियों) में सात भावना देने (घोट कर सुखाने) से वह शुद्ध हो जाता है। अथवा स्नेहवर्ग (घृत तैल वसा मज्जा) के किसी द्रव्य में सात बार पका लेने या बुझा लेने से इस की शुद्धि हो जाती है अथवा गाय भैंस तथा बकरी के मूत्र में दोलायन्त्र द्वारा तीन पहर तक पका लेने से यह शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—घृत आदि में तूतिये को भूनना चाहिये। प्रत्येक बार नया स्नेह डालना चाहिये। यदि घोट कर भावना देनी हो तो अन्त में स्नेह जलने तक उसे भूनना चाहिये ॥

तुत्थखर्परमारणम्—

लकुचन्द्रावगन्धाश्मटंकणेन समन्वितम् ।
निरुध्य मूषिकामध्ये म्रियते कौक्कुटैः पुटैः ॥ १२५ ॥

तुत्थ खर्पर की कच्ची धातु से प्राप्त नीला तुत्थ १ भाग, शुद्ध आँवला सार गन्धक १ भाग, सुहागा १ भाग इन तीनों को बड़हल फल के रस में अच्छी तरह घोट कर मूषा में रख कुक्कुटपुट देने से तुत्थ की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—किन्हीं २ ग्रन्थों में तुत्थ के मयूर तुत्थ तथा खर्परी तुत्थ ये दो भेद पाये जाते हैं। बाजार में भी तुत्थ दो प्रकार का पाया जाता है—१ गाढ़ हरित नील चिक्कण वर्ण, २ साधारण हरित नील वर्ण। परन्तु इस वर्ण भेद को लेकर इसके भेद नहीं किये गये हैं ऐसा प्रतीत होता है; क्योंकि रत्नमाला में खर्परी तुत्थ के पृथक् तथा विशेष गुण लिखे हैं। "खर्परी कटुका तिक्ता चक्षुष्या च रसायनी। त्वग्दोषशमनी रुच्या दीप्या पुष्टिविवर्द्धिनी"। अतः खर्परयुक्त ताम्र की कच्ची धातु से प्राप्त तुत्थ को सम्भवतः खर्परी तुत्थ कहा जाता है। अन्य ग्रन्थों में उक्त मारण-विधान तुत्थ का ही दिया है, न कि खर्परी तुत्थ का।

रस प्रकाश सुधाकर में गन्धकादि द्रव्यों के साथ सात कुक्कुटपुट आयुर्वेद प्रकाश में दो या तीन कुक्कुटपुट देने को लिखा है।

तुत्थसत्वपातनम्—

सस्यकस्य तु चूर्णं च पादसौभाग्यसंयुतम् ।
करंजतैलमध्यस्थं दिनमेकं निधापयेत् ॥ १२६ ॥
अन्धमूषास्थमध्यस्थं ध्मापयेत्कोकिलत्रयम् ।
इन्द्रगोपाकृति चैव सत्त्वं भवति शोभनम् ॥ १२७ ॥

शुद्ध तुत्थ एक भाग, सुहागा $\frac{1}{4}$ भाग, दोनों को अच्छी तरह मर्दन कर एक दिन करञ्जबीज मज्जा तैल में डाल दें। तैल इतना होना चाहिये जिसमें उक्त चूर्ण तर हो जाय। फिर इसे तैल सहित मूषा में रख बेर की लकड़ी के कोयलों में तीन बार तीव्र अग्नि से तपावें तो वीरबहूटी के सदृश वर्ण का सुन्दर सत्व प्राप्त होता है।

विशेष वचन—मूषा में रखने से पूर्व तैल के साथ घोट कर गोला सा यदि बना लिया जाय तो अच्छा होगा ॥ १२६–१२७ ॥

मतान्तरम्—

निंबुद्रवाल्पटंकाभ्यां मूषामध्ये निरुध्य च ।
ताम्ररूपं परिध्मातं सत्वं मुञ्चति सस्यकम् ॥ १२८ ॥

शु० तुत्थ से चतुर्थांश सोहागा लेकर दोनों को एकत्र नीबू के रस से घोट कर मूषा में रख तीव्र अग्नि से तपाने पर ताम्र वर्ण के समान सत्व प्राप्त होता है ॥ १२८ ॥

मतान्तरम्—

शुद्धं सस्यं शिखिक्रांतं पूर्वभेषजसंयुतम् ।
नानाविधानयोगेन सत्त्वं मुञ्चति निश्चितम् ॥१२९॥

शु० तुत्थ को पूर्वोक्त नीबू रस टंकण आदि के साथ मिला अन्धमूषा या प्रकटमूषा आदि अनेकविध मूषाओं में से किसी उचित मूषा में रखकर सत्व पातन कोष्ठी, साधारण कोष्ठी आदि अनेकविध कोष्ठियों में तपाने पर तुत्थ का सत्व पातन हो जाता है।

प्रयोगविधिः—

सत्त्वमेतत्समादाय खरभूनागसत्त्वयुक् ।
तन्मुद्रिका कृतस्पर्शा शूलघ्नी तत्क्षणाद्भवेत् ॥ १३० ॥
चराचरं विषं भूतडाकिनीदृग्गतं जयेत् ।
मुद्रिकेयं विधातव्या दृष्टप्रत्ययकारिका ॥ १३१ ॥

उक्त विधि से प्राप्त नीलतुत्थ सत्व को भूनाग (केंचुआ) सत्व के साथ मिला पिघला कर बनी हुई अंगूठी या टिकिया को (जवासा रस से मर्दन कर बनी हुई) उदर शूल वाले रोगी के पेट में घुमाएं तो तत्क्षण उदर शूल शान्त हो जाता है। इसके स्पर्श से जंगम तथा स्थावर दोनों प्रकार के विष नष्ट हो जाते हैं और भूत डाकिनी, आदि (अदृष्ट योनि विशेष) के दृष्टि दोष इसके दर्शन से दूर हो जाते हैं। यह अंगूठी या टिकिया प्रत्यक्ष फलप्रद है।

विशेष वचन—"खर" के स्थान पर "वर" पाठ ही युक्तियुक्त है। "कर्ष" पाठ होने पर भूनाग सत्व एक कर्ष ऐसा अर्थ किया जाता है। र० र० स० संस्कृत टीकाकार ने भूनाग सत्व का अर्थ "सीसकसारः" ऐसा किया है जो उचित प्रतीत नहीं होता है। "दृग्गतम्" के स्थान पर "दृग्गदम्" पाठ ठीक है। तन्त्रान्तर के अनुसार भूनाग सत्व पातन इस प्रकार किया जाता है—ताम्रवर्ण भूमि में उत्पन्न हुये केंचुए, हरिद्राचूर्ण, गुड़, गुग्गुलु, पीपल की लाख, ऊन, छोटी २ मछली, खल और सुहागा सब सम भाग लेकर एकत्र दृढ़ मर्दन करके मूषा में रख तीव्र अग्नि से तपाने पर ताम्र के सदृश लाल वर्ण का सत्व निकलता है। इसी विधि से मोरपंखों से भी सत्व पातन किया जाता है ॥१३०–१३१॥

भालुकितन्त्रोक्तप्रयोगविधिः—

रामवत्सोमसेनानीर्मुद्रितेऽपि तथाऽक्षरम् ।
हिमालयोत्तरे पार्श्वे अश्वकर्णो महाद्रुमः ।
तत्र शूलं समुत्पन्नं तत्रैव विलयं गतम् ॥ १३२ ॥
मंत्रेणानेन मुद्राम्भो निपीतं सप्तमंत्रितम् ।
सद्यःशूलहरं प्रोक्तमिति भालुकिभाषितम् ॥ १३३ ॥

रामवत्सोमसेनानी से लेकर विलयं गतम् पर्यन्त इस मन्त्र के द्वारा जल में डाली हुई उक्त मुद्रिका को सात बार अभिमन्त्रित करके उस पानी को शूल वाले रोगी को पिलाने से तत्काल शूल शान्त हो जाता है ऐसा भालुकि ने कहा है। राम नाम के समान कार्तिकेय के नाम से युक्त भी यह मुद्रिका होती है॥ १३२–१३३ ॥

प्रयोगान्तरम्—

अनया मुद्रया तप्तं तैलमग्नौ सुनिश्चितम् ।
लेपितं हन्ति वेगेन शूलं यत्र क्वचिद्भवेत् ॥
सद्यः सूतिकरं नार्याः सद्यो नेत्ररुजापहम् ॥१३४ ॥

इति सस्यकाधिकारः ।

उक्त मुद्रिका को तिल तैल में डाल कर अग्नि पर अच्छी तरह पकावें। अर्थात् मुद्रिका के साथ तैल में समान भाग जल मिला कर पकावें जल सूखने पर उतार लें, फिर इस तैल को जहाँ कहीं शरीर में शूल हो मलने से वह शीघ्र शान्त हो जाता है। यदि स्त्री को प्रसव होने में कष्ट हो तो इसे पेडू पर मलने से तत्काल प्रसव हो जाता है। नेत्रों में पीड़ा सूजन कुकरे आदि होने पर नेत्र में डालने से तत्काल सब पीड़ाएं शान्त हो जाती हैं।

अथ चपलस्य भेदादिर्निरुक्तिश्च—

गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णश्चपलस्तु चतुर्विधः ।
हेमाभश्चैव ताराभो विशेषाद्रसबन्धनः ॥ १३५ ॥
शेषौ तु मध्यौ लाक्षावच्छीघ्रद्रावौ तु निष्फलौ ।
वंगवद्द्रवते वह्नौ चपलस्तेन कीर्तितः ॥ १३६ ॥

चपल गौर (गेहुंआ वर्ण), सफेद, लाल और काला इन वर्ण भेदों से चार प्रकार का होता है। इनमें से हेमाभ (गौर वर्ण) तथा ताराभ (सफेद) वर्ण का चपल विशेषरूप से पारद के बन्धन करने में उपयोगी है। शेष अर्थात् लाल और काला चपल, मध्यगुण वाले हैं। यदि ये दोनों अग्नि पर रखने से लाख के सदृश शीघ्र ही पिघल जायं तो यह निष्फल हैं। चपल, वंग के समान अग्नितापसह्य है। अर्थात् वंग की भांति अग्नि के ताप से पिघलने के कारण ही इसको "चपल" कहते हैं।

विशेष वचन—आयुर्वेदीय कतिपय सन्दिग्ध द्रव्यों में चपल भी एक है। इसके विषय में भिन्न २ मत देखे जाते हैं। कोई इसे साधारण रस, कोई महारस, कोई नाग-वंग का परम सत्व मानते हैं। यह प्राच्य विद्वानों का मतभेद है। प्रतीच्य विद्वानों में कोई इसे विस्मिथ मानते हैं। परन्तु उक्त विस्मिथ आदि द्रव्यों के लक्षण गुणादि, चपल से साम्यता नहीं रखते हैं। क्योंकि विस्मिथ आदि में त्रिदोषनाशकता तथा रसबन्धकता नहीं पाई जाती है। विस्मिथ का प्रयोग विशेषकर अतीसार प्रवाहिका आदि

उदर रोगों में स्रावों को रोकने के लिये किया जाता है। स्व० श्री कविराज नरेन्द्रनाथ मित्रा जी ने अपने चपलनिर्णय में चपल को सेलिनियम (Seleniam) सिद्ध किया है। सेलिनियम, चपल की आकृति गुण तथा द्रवीभावमान में बहुत कुछ सादृश्य रखता है। सेलिनियम भी १३० शतांश ताप से षट्कोण या पहलूदार पुष्पों में परिणत हो जाता है। शुक्रतारल्य, ध्वजभंग, शुक्रमेह, शुक्रक्षयजन्यरोगों से उत्पन्न दुर्बलता नाशक आदि गुणों में सेलिनियम, चपल से अत्यन्त सामीप्य रखता है। फिर भी अन्तिम-निर्णय "वैद्यसमूहो निःसन्देहकराणाम्" चरकवाक्यानुसार अन्वेषक विद्वानों पर ही छोड़ा जा सकता है। चपल को डा० देशाई ने अपने भारतीय रस शास्त्र में विस्मुथ माना है। यह लोहे से भारी है। इसमें गन्धक, एन्टीमनी, और स्वर्ण माक्षिक धातुओं का योग रहने से रक्तिमा, पीतवर्ण, काला रंग दीखता है।

चपलगुणाः—

चपलो लेखनः स्निग्धो देहलोहकरो मतः।
रसराजसहायः स्यात्तिक्तोष्णमधुरो मतः॥ १३७॥

चपल, लेखन (कफप्रकोपनाशक), स्निग्ध तथा शरीर को लोहवत् दृढ़ करने वाला है। इस में तिक्त तथा मधुर रस होते हैं। गुण में यह उष्ण होता है। पारद के योग से यह विशेष गुण युक्त हो जाता है पर पारद के बन्धन संस्कार में उपयोगी है।

वर्णाकृतिभेदेन गुणभेदः—

चपलः स्फटिकच्छायः षडस्रः स्निग्धको गुरुः।
त्रिदोषघ्नोऽतिवृष्यश्च रसबन्धविधायकः॥ १३८॥

चपल, स्फटिकवत् स्वच्छ पादर्शी तथा छः पहलू वाला, स्निग्ध और गुरुभार होता है। यह शुद्ध करके प्रयोग करने पर त्रिदोषनाशक, अतिवृष्य (उत्पादक अंगों के लिये विशेष बल देने वाला) तथा पारद का बन्धक है॥ १३८॥

चपलस्य महारसत्वम्—

महारसेषु कैश्चिद्धि चपलः परिकीर्तितः॥ १३९॥

किन्हीं २ ग्रन्थकारों ने चपल को महारसों में गिना है।

विशेष वचन—र. र. स. कार स्वयं पहिले चपल को महारसों में लिख कर फिर इस की महारसता के विषय में लिखता है कि रसेन्द्रचूडामणि आदि ग्रन्थों में इसको साधारण रस या उपरस ही लिखा है किन्तु किसी २ ने इसको महारस भी माना है। परन्तु अपने मत को फिर भी पुष्ट करता है कि यह महारस ही है। यह अपना २ विचार है। इनमें विशेष छानबीन करना कठिन है। क्योंकि हमारे पास महारस, उपरस तथा साधारण रसों की कोई कसौटी नहीं है॥ १३९॥

चपलशोधनम्—

जम्बीरकर्कोटकशृंगबेरैर्विभावनाभिश्चपलस्य शुद्धिः॥१४०॥

चपल को जम्बीरी नीबू रस, ककोड़ास्वरस, तथा अदरख स्वरस की पृथक् पृथक् सात भावना देने से वह शुद्ध हो जाता है

सत्वपातनम्—

शैलं तु चूर्णयित्वा तु धान्याम्लोपविषैर्विषैः।
पिण्डं बध्वा तु विधिवत्पातयेच्चपलं तथा॥ १४१॥

इति चपलाधिकारः।

चपल, शिलाजतु चूर्ण, हालाहल, शक्तुक, हरिद्रा आदि विष तथा कलिहारी, अफीम, कनेर, भांग आदि आगे लिखे हुये उपविषों को समभाग में लेकर खट्टी काञ्जी के साथ घोट कर गोला-सा बना मूषा में रख कोयलों की अग्नि में तपाने से इस का सत्व निकल आता है। शैल शब्द से शिलाजतु न लेकर खनिज चपल या चपल का अयस (oar) लेना उत्तम। है श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णीजी ने भी खनिज चपल ही अर्थ किया है, जो बुद्धि गम्य है।

विशेष वचन—चपलको नाग वंगका सत्व मानने पर इसका सत्व पातन नहीं हो सकता है क्योंकि वह हजारों पुटों से भी न्यून नहीं हो सकता है। अतः यह चपल की शोधन विधि समझी जाती है। यदि "सेलिनियम" को चपल माना जाय तो वह कोयलों की अग्नि में जल जायगा। सत्व पातन नहीं हो सकता है। अतः चपल की कच्ची धातु (जो कि ताम्र को साफ करने में भट्टी के नीचे मल के रूप में प्राप्त होती हैं।) से शुद्ध चपल प्राप्त करने के लिये यह शोधन हो सकता है।

"शैल" का अर्थ रसकामधेनुकार ने सोरक (शोरा कलमी) किया है। अतः शिलाजतु के स्थान पर सोरा लेना ही उचित प्रतीत होता है। सोरे के साथ चपल पिघल कर स्वच्छ होता है अतः केवल सोरे के साथ इसको लघुपुट दी जाय तो इसकी भस्म भी हो जाती है "मारयेत्पुटयोगेन चपलं गिरिमस्तके"। नागवंग के सत्वरूप चपल की भस्म श्वेत वर्ण की होनी चाहिये। परन्तु इस चपल की भस्म का वर्ण "रक्त" लिखा है "चपलेन समः सूतो निर्गुण्डीरसमर्दितः। पाचितो बालुकायन्त्रे रक्तं भस्म प्रजायते"। इस उल्लेख से भी चपल सेलिनियम नहीं हो सकता है। अन्तिम निर्णय को विद्वानों की खोज ही बता सकती है॥ १४१॥

अथ रसकस्य भेदलक्षणे—

रसको द्विविधः प्रोक्तो दर्दुरः कारवेल्लकः।
सदलो दर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेल्लकः॥ १४२॥

खर्पर, दर्दुर तथा कारवेल्लक भेद से दो प्रकार का माना जाता है। इन में से दल (पत्र) युक्त खर्पर, दर्दुर कहा जाता है और दलरहित खर्पर कारवेल्लक कहा जाता है।

विशेष वचन—खर्पर के विषय में आजकल वहुत ही मतभेद देखा जाता है। कोई इसको तुत्थ का भेद मानते हैं और कोई यशद का उपधातु मानते हैं। कोई शास्त्रकार इसको "स्वर्णरजत-

किट्ट" लिखता है। "किट्टजं हेमतारजम्"। यूनानी वाले इसे सीसे का उपधातु मानते हैं। श्री० डा० प्रफुल्लचन्द्र राय आदि के विचार में तथा डा० वामन गणेश देसाई लिखित "भारतीय रसायन शास्त्र" में इसको यशद का खनिज द्रव्य निश्चित किया है। यह खनिज रामरज मिट्टी (Calamine) मानी जाती है। वे इस मत का आधार रसार्णवतन्त्र को मानते हैं। उसमें तीन प्रकार के खर्पर का वर्णन पाया जाता है। "मृत्तिकागुडपाषाणभेदतो रसकस्त्रिधा। पीतस्तु मृत्तिकाकारो मृतिकारसकोवरः। क्षीयते नापि वह्निस्थः सत्वरूपो महाबलः। गुडाभो मध्यमो ज्ञेयः पाषाणाभः कनिष्ठकः"। इनमें से मृत्तिका खर्पर Calamine, गुडाभ खर्पर Blande और पाषाणखर्पर Red zincore के नाम से लिये जाते हैं। परन्तु खर्पर निर्माण का स्पष्ट विधान कहीं भी नहीं प्राप्त होता है। हाँ यूनानी वैद्यक में इस पर कुछ २ प्रकाश डाला गया है। उनके यहाँ जो "संगवसरी" खर्पर है वह सुर्मे से सीसा निकालते समय बनता है। यूनानी की सुर्मे से सीसा निकालने की विधि देखने से यह निर्माण स्पष्ट हो जाता है। इस विधि में सुर्मे को पीस कर मन्द-मन्द अग्नि पर भूना जाता था। इस क्रिया से सीसा के साथ होने वाला गन्धक उड़ जाता था और उसके स्थान पर आक्सीजन (Oxygen) नाग से मिल जाती थी। इस तरह २३ भाग Lead oxyde बन जाता था। बाकी में जो Lead sulphide हल्का गन्धक रह जाता था, वह गन्धसारिक नाग में परिवर्तित हो जाता था। इस समय इस का अरुण श्यामवर्ण हो जाता था, फिर इसको स्वच्छ करके इसमें कुछ चूने का जलाया पत्थर मिलाकर मोटी २ लम्बे आकार की बत्तियां सी बनाई जाती थीं। सूखने पर इन बत्तियों को लोहशलाका में पिरो कर भट्टी के ऊपर रखी हुई लोहशलाकाओं पर रख कर तीव्र अग्नि से तपाया जाता था, जिससे उनमें स्थित सीसा अधःपातित हो जाता था, तथा जो कुछ अंश सीसे का इनमें रह जाता है वह Led oxyde हुआ होता था। सीसा निकलने के बाद किट्टरूप में अवशिष्ट इस वर्तिकाकार (बीच में कुछ मोटी) पदार्थ को ही "संगवसरी" कहा जाता है। इसका आभ्यन्तरीय वर्ण श्वेत धूसर सा होता है तथा इस पर हरित्पीत वर्ण की एक गाढ़ी तह चढ़ी हुई होती है, जैसे सोना चांदी पिघलाने के लिए बनी हुई सुनारों की घरिया में चढ़ी हुई होती है। इसी वस्तु को "खपरिया" या "रसक" कहते हैं। यह क्रिया पहिले ईरान में अधिक होती थी अब उतनी नहीं, अतः उक्त प्रकार का असली खर्पर आजकल बहुत कम मिलता है। इस तरह हमें संगवसरी बहुत कुछ खर्पर से मिलती जुलती वस्तु मालूम पड़ती है। साथ ही यह नाग का यौगिक होने से नेत्र रोगों के लिए उत्तम माना जाता है। इसके अतिरिक्त कई वैद्य zinc chloride को खर्पर मानते हैं और कई बंगसेनोक्त 'खर्पररसायन' को ही खर्पर के नाम से लेते हैं। इसका निर्णय भी विद्वानों की खोज करेगी। आजकल के विद्वान कारवेल्लक खर्पर के लक्षणों को Smith sonite के साथ और दर्दुर खर्पर के लक्षणों को Calamite के साथ मिलाते हैं। इसमें प्रथम जिङ्क सिलिकेट हैं तथा द्वितीय जिङ्क कार्बोनेट है। यह द्रव्य प्रायः अमेरिका की खानों से प्राप्त होता है। मृतिका रूप में प्राप्त होने वाले खर्पर का प्रयोग यथासम्भव नहीं करना चाहिये किन्तु उक्त नाम वाले शुद्ध खनिज मंगा कर प्रयोग करना चाहिये। रसक-खर्पर से सामान्यतः जस्तेका यौगिक लेते हैं; परन्तु आयुर्वेद प्रकाश के देखने से इसका सम्बन्ध ताम्र से दीखता है। इसकी विवेचना भारतीय रस पद्धति में मैंने की है। वहीं देखना अच्छा है—ताम्र का उपयोग नेत्र रोगों में होता है। खर्पर में लेखन गुण कहा है, ताम्र में लेखन गुण है, जस्त में नहीं। (सम्पादक) ॥ १४२ ॥

तयोः प्रयोगविषयो गुणाश्च—

स वपाते शुभः पूर्वो द्वितीयश्चौषधादिषु।
रसकः सर्वमेहघ्नः कफपित्तविनाशनः॥
नेत्ररोगक्षयघ्नश्च लोहपारदरञ्जनः॥ १४३॥
नागार्जुनेन सन्दिष्टौ रसश्च रसकावुभौ।
श्रेष्ठौ सिद्धरसौ ख्यातौ देहलोहकरौ परम्॥ १४४॥
रसश्च रसकश्चोभौ येनाग्निसहनौ कृतौ।
देहलोहमयी सिद्धिर्दासी तस्य न संशयः॥ १४५॥

उक्त दो प्रकार के खर्परों में पूर्व (दर्दुर) सत्वपातन के अधिक उपयोगी और द्वितीय (कारवेल्लक) खर्पर औषधिप्रयोगों के लिये उपयोगी होता है। अर्थात् इसमें से दलयुक्त खर्पर गुरु-भार होने के कारण (खर्परीय धातु के कारण) सत्व पातन के लिए उपयुक्त है। द्वितीय अल्प भार होने से अनुपयोगी है।

शुद्ध खर्पर तथा भस्म सर्व प्रकार के प्रमेहों को नष्ट तथा शरीर में कफ-पित्त के प्रकोप को शान्त करती है। नेत्र रोग तथा क्षयरोग को दूर करती है। यह लोह तथा पारद के रञ्जन संस्कार में काम आती है। नागार्जुन वैद्य ने रस तथा रसक दोनों को ही श्रेष्ठ सिद्ध रस माना है इसके प्रयोग से शरीरसिद्धि तथा लोह-सिद्धि होती है। उक्त वैद्य का यह भी कथन है कि जिसने पारद तथा खर्पर को पर्याप्त अग्नि देने पर भी न उड़ने वाला बना लिया है, उसकी देहसिद्धि तथा लोहसिद्धि (स्वर्ण रजत का निर्माण) निश्चय दासी बन जाती है।

विशेष वचन—खर्पर को शुद्ध करके अञ्जन के रूप में नेत्रों में डालने से नेत्रपलकों की शोथ, पोथकी तथा नेत्रकण्डू आदि रोग दूर हो जाते हैं। अथवा नागभस्म तथा बंगभस्म के समान नाड़ी संस्थान के लिए बल्य होने के कारण खर्पर वातदोषजन्य दृष्टिदौर्बल्य को नष्ट करता है। बाह्य प्रयोग में खर्पर किसी स्थान में लगाने से वहाँ पर (नेत्र आदि स्थानों में) स्राव अधिक मात्रा में लाता है अतः इसको ग्रन्थान्तर में क्लेदी लिखा है। सम्भवतः

"क्लेदी" यह गुण लेखन धर्म का द्योतक हो ग्रन्थान्तर में इसका लेखन धर्म भी दिखाया है "खर्परं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु। लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तनुत्" लेखन द्रव्य ही अपने क्षार आदि धर्म से स्थानिक स्राव को बढ़ाते हैं। परन्तु पूर्वोक्त कथनानुसार नाग या यशद का समास अथवा उपधातु होने से यह स्रावशोषक या क्लेदहर ही विशेषतः होना चाहिये। क्योंकि इसका प्रयोग पुरातन कास, श्वास, राजयक्ष्मा में स्रावों को सुखाने के लिये ही किया जाता है अतः कई वैद्य "नेत्ररोगहरः क्लेदग्न-यहा" ऐसा पाठ उपस्थित करते हैं।

खर्पर क्षयरोग के लिये विशेष रूप से घातक समझा जाता है क्योंकि नाग या नाग के समास विसर्पाशोथ या द्रवयुक्तशोथ (जैसे राजयक्ष्मा के फुफ्फुसों में होता है) को आगे बढ़ने से रोक देते हैं अतएव खर्पर का "स्वर्णमालिनीवसन्त' के रूप में प्रचुरतया प्रयोग होता है। यह स्रावशोषण की भांति रात्रिस्वेद तथा अधिक स्वेद को भी कम करता है। इसके अतिरिक्त खर्पर जीर्णज्वर, रक्त-प्रदर, प्रमेह, रक्तपित, अतिसार, श्वासकास आदि रोगों में अधिक प्रयुक्त होता है और लाभदायक है ॥ १४३-१४५ ॥

मात्रा खर्परभस्म की १ रत्ती से २ रत्ती तक।

खर्परशोधनम्—

कटुकालाबुनिर्यास आलोड्य रसकं पचेत्।
शुद्धं दोषविनिर्मुक्तं पीतवर्णं च जायते ॥ १४६ ॥

खर्पर चूर्ण को एक कड़ाई या मिट्टी के पात्र में डाल कर उसमें खर्पर डूबने तक कड़वी तुम्बी का रस डाल कर चूल्हे पर पकावें और करछी से चलाते जायें जब रस सूख जाय तो फिर थोड़ी देर चूर्ण के पीतवर्ण तथा खुश्क होने तक पकावें। इस विधि से खर्पर दोषरहित हो जाता है।

विशेष वचन—अशुद्ध खर्पर में ताम्र की कच्ची धातु युक्त होने से वह वामक होता है अतः ताम्र की शुद्धि के निमित्त इसे शोधन करना आवश्यक है जब तक कि इसमें वान्ति तथा भ्रान्ति दोष मिट न जायें। "अशुद्धः खर्परः कुर्याद्वान्तिं भ्रान्तिं विशेषतः। तस्माच्छोध्यः प्रयत्नेन यावद् वान्तिविवर्जितः" ॥ १४६ ॥

मतान्तरम्—

खर्परः परिसन्तप्तः सप्तवारं निमज्जितः।
बीजपूररसस्यान्तर्निर्मलत्वं समश्नुते ॥ १४७ ॥

खपरिया को तपाकर विजौरा नींबू के रस में बुझायें। इस प्रकार सात बार बुझाने से खर्पर निर्मल हो जाता है ॥ १४७ ॥

मतान्तरम्—

नृमूत्रे वाऽश्वमूत्रे वा तक्रे वा कांजिकेऽथवा।
प्रताप्य मज्जितं सम्यक् खर्परं परिशुद्ध्यति ॥

पुरुष के मूत्र में अथवा घोड़े के मूत्र में वा तक्र में अथवा काञ्जी में सात बार खर्पर को गरम करके बुझाने से वह शुद्ध हो जाता है ॥ १४८ ॥

खर्परस्य ताम्रादिरञ्जनम्—

नरमूत्रे स्थितो मासं रसको रंजयेद् ध्रुवम्।
शुद्धताम्रं रसं तारं शुद्धस्वर्णप्रभं यथा ॥ १४९ ॥

शु० खर्पर के चूर्ण को एक मासपर्यन्त पुरुष के मूत्र में रखा जाय तो वह शुद्ध ताम्र, शु० रस (पारद) तथा चांदी को स्वर्ण के वर्ण में परिवर्तित करने वाला हो जाता है ॥ १४९ ॥

सत्वपातनम्—

हरिद्रात्रिफलारालसिंधुधूमैः सटंकणैः।
सारुष्करैश्च पादांशैः साम्लैः संमर्द्य खर्परम् ॥ १५० ॥
लिप्तं वृन्ताकमूषायां शोषयित्वा निरुध्य च।
मूषां मूषोपरि न्यस्य खर्परं प्रधमेत्ततः ॥ १५१ ॥
खर्परे प्रद्रुते ज्वाला भवेन्नीला सिता यदि।
तदा संदंशतो मूषां धृत्वा कृत्वा त्वधोमुखीम् ॥ १५२ ॥
शनैरास्फालयेद् भूमौ यथा नालं न भज्यते।
वंगाभं पतितं सत्त्वं समादाय नियोजयेत्।
एवं त्रिचतुर्वारैः सर्वं सत्त्वं विनिःसरेत् ॥ १५३ ॥

शुद्ध खर्पर चूर्ण १ भाग, हलदी, त्रिफला, राल, सैन्धव, घर का धुंआ, सुहागा और भिलावा फल, प्रत्येक को परस्पर समभाग तथा खर्पर से चतुर्थांश (सब मिलाकर) लेकर काञ्जी या नीबू रस से अच्छी तरह मर्दन कर आगे लिखी हुई वृन्ताक नामक मूषा में रख उसका मुख बन्द कर सुखा के तीव्र अग्नि से तपायें। जब खर्पर पिघलेगा तो मूषा के ऊपर नीली सफेद रंग की ज्वाला दिखाई देगी। तब संडासी से मूषा को अच्छी तरह पकड़ के मूषा का मुख नीचे को झुकाकर धीरे २ जमीन पर मारें जिससे कि मूषा की नाल न टूटने न पावे। इस प्रकार खर्पर का वंग के सदृश श्वेतवर्ण का सत्व निकलता है। अवशिष्ट भाग को पुनः उक्त औषधियों के साथ पीसकर उक्त विधि से मूषा में रख फिर तपावें। इस प्रकार तीन चार बार तपाने से पूर्ण रूप से सब सत्व निकल जाता है ॥ १५०-१५३ ॥

मतान्तरम्—

साभयाजतुभूनागनिशाधूमजटंकणम्।
मूकमूषागतं ध्मातं शुद्धं सत्त्वं विमुञ्चति ॥ १५४ ॥

शुद्ध खर्पर चूर्ण १ भाग, हरड़, शिलाजीत, केंचुवे, हलदी, घर का धुंआ और सोहागा चूर्ण ¼ भाग लेकर सब को काञ्जी में पीस आगे लिखी हुई मूक मूषा में रख कर तपाने से शुद्ध सत्व निकल आता है। ॥ १५४ ॥

मतान्तरम्—

लाक्षागुणाऽऽसुरीपथ्याहरिद्रासर्जटंकणैः।
सम्यक् संचूर्ण्य तत्पादं गोदुग्धेन घृतेन च ॥ १५५ ॥

वृंताकमूषिकामध्ये निरुध्य गुटिकाकृतिम्
ध्मात्वा ध्मात्वा समाकृष्य ढालयित्वा शिलातलें ।
सत्त्वं वंगाकृति ग्राह्यं रसकस्य मनोहरम् ॥ १५६ ॥
यद्वा जलयुतां स्थालीं निखनेत्कोष्ठिकोदरे ।
सच्छिद्रं तन्मुखे मल्लं तन्मुखेऽधोमुखीं क्षिपेत् ॥ १५७ ॥
मूषोपरि शिखित्रांश्च प्रक्षिप्य प्रधमेद् दृढम् ।
पतितं स्थालिकानीरे सत्त्वमादाय योजयेत् ॥ १५८ ॥

शुद्ध खर्पर चूर्ण, पीपल की लाख, गुड़, राई, हरड़, हलदी राल तथा सुहागा सबका चूर्ण समभाग लेकर गाय के दूध तथा घृत में पका जब गोली बंधने योग्य हो जाय बड़ी २ गोली बना सुखा करके वृन्ताक मूषा में रखकर तपावें तो वंग के सदृश सुन्दर सत्व निकल आता है। अवशिष्ट भाग को पुनः उक्त विधि से मूषा में रखकर तपावे इस प्रकार सब सत्व निकल आता है। अथवा जलयुक्त एक हांडी वा पात्र को, बड़ी चौड़ी अंगेठी के भीतर सींकों से नीचे रख उसके मुख पर बीच में अर्धांगुल छिद्रवाला एक सिकोरा टिका दे फिर इस सिकोरे के बीच में छिद्रयुक्त स्थान पर उक्त खर्परादि औषधियों से युक्त मूषा को उलटा मुख कर अच्छी तरह टिका दे फिर मूषा के चारों तरफ ऊपर पेंदी तक अच्छी तरह बेर की लकड़ी के कोयले भर कर ऊपर धौंकनी से तपायें तो सत्व निकल कर हांडी के जल में आ जायगा उसे औषधि प्रयोग के काम में लायें।

सत्वमारणम्—

तत्सत्त्वं तालकोपेतं प्रक्षिप्य खलु खर्परे ।
मर्दयेल्लोहदण्डेन भस्मीभवति निश्चितम् ।

उक्त प्रकार से प्राप्त खर्पर सत्व तथा शुद्ध तपकिया हरताल दोनों को समभाग में एक मिट्टी के कूंडे में डालकर लोह की करछी से रगड़ते जायं तो खर्पर सत्व की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—खर्पर या खर्पर सत्व की भस्म प्रायः पीताभवर्ण होती है। अतः जहाँ "शोणं भस्म प्रजायते" लिखा है वह ठीक नहीं है। चूल्हे में रगड़ते समय हरताल का चूर्ण थोड़ा २ डालकर रगड़ना चाहिये। और हरताल के धुंये से अपने मुंह तथा नेत्रों को बचाना चाहिये ॥ १५६ ॥

प्रयोगविधिः—

तद् भस्म मृतकान्तेन समेन सह योजयेत् ।
अष्ट गुञ्जामितं चूर्णं त्रिफलाक्वाथसंयुतम् ॥ १६० ॥
कांतपात्रस्थितं रात्रौ तिलजप्रतिवापकम् ।
निषेवितं निहंत्याशु मधुमेहमपि ध्रुवम् ॥ १६१ ॥
पित्तं क्षयं च पाण्डुं च श्वयथुं गुल्ममेव च ।
रक्तगुल्मं च नारीणां प्रदरं सोमरोगकम् ॥ १६२ ॥
योनिरोगानशेषांश्च विषमांश्च ज्वरानपि ।
रजःशूलं च नारीणां कासं श्वासञ्च हिध्मिकाम् ॥ १६३ ॥

इति रसाधिकारः ।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भट्टाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये रसोत्पत्तिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

पूर्वोक्त खर्पर सत्व भस्म और कान्तलोह भस्म दोनों को समभाग में एकत्र पीस कर इसमें से आठ गुञ्जा (रत्ती) प्रमाण चूर्ण लेकर कान्त लौह के पात्र में रख उसमें त्रिफला कषाय ४ तोला डाल कर रात भर भीगने रख दें, प्रातः काल उसमें तिल का क्षार या तैल थोड़ा सा मिलाकर सेवन करने से मधुमेहरोग भी निश्चय नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस योग के सेवन से पित्तप्रकोप, क्षय, पाण्डु, शोथ, गुल्म, स्त्रियों का मासिक धर्म सम्बन्धी शूल, कास, श्वास, तथा हिचकी रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—आठ गुञ्जा मात्रा अधिक प्रतीत होती है अतः दो गुञ्जा मात्रा से सेवन करना चाहिये। "पित्त" के स्थान पर "पैत्त" पाठ होने पर पित्तात्मिक क्षयरोग लिया जाता है।

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

उपरसाः साधारणरसाश्च —

उपरसाः—

गंधाश्मगैरिकासीसकांक्षीतालशिलांजनम् ।
कुंकुष्ठं चेत्युपरसाश्चाष्टौ पारदकर्मणि ॥ १ ॥

गन्धक, गेरू, कासीस, फिटकरी, हरताल, मैनसिल, अञ्जन और कंकुष्ठ ये आठ उपरस कहे जाते हैं। ये भी पारद के संस्कार आदि में प्रयुक्त होते हैं।

विशेष वचन—महारस प्रकरण में ही हमने यह बताया था कि कतिपय ग्रन्थों में महारस तथा साधारण रसों की पृथक् गणना न करते हुये सब को उपरसों में ही ले लिया है। भेद करने वाले सम्भवतः पारद के अधिक उपयोगी खनिजों को उपरस तथा अल्प उपयोगी खनिजों को साधारण रस नाम से ग्रहण करते हों। अथवा पारदीय खनिजों तथा पारदीय जमाव जो पारद के अत्यन्त सामीप्य रखते हैं। उनको महारस अन्यों को उपरस या साधारण रस से व्यवहृत करते हों। सभी खनिज पारदीय गुणों की कुछ सामीप्यता रखते हैं अतः सभी उपरस कहे जा सकते हैं ॥ १ ॥

गन्धकोत्पत्तिः—

पार्वत्युवाच—

गन्धकस्य तु माहात्म्यं तद्गुह्यं वद मे विभो ॥ २ ॥

हे प्रभो! गन्धक के दिये हुये माहात्म्य (गुण, धर्म, प्रशंसा) को मुझे सुनाओ। अर्थात् गन्धक क्या चीज है इस विषय को स्पष्ट करने की कृपा करो ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच—

श्वेतद्वीपे पुरा देवि सर्वरत्नविभूषिते।
सर्वकाममये रम्ये तीरे क्षीरपयोनिधेः॥ ३॥
विद्याधरीभिर्मुख्याभिरङ्गनाभिश्च योगिनाम्।
सिद्धाङ्गनाभिः श्रेष्ठाभिस्तथैवाप्सरसां गणैः॥ ४॥
देवांगनाभी रम्याभिः क्रीडन्तीभिर्मनोहरैः।
गीतैर्नृत्यैर्विचित्रैश्च वाद्यैर्नानाविधैस्तथा॥ ५॥
एवं संक्रीडमानायाः प्राभवत्प्रसृतं रजः।
तद्रजोऽतीव सुश्रोणि सुगंधि सुमनोहरम्॥ ६॥
रजसश्चातिबाहुल्याद्वासस्ते रक्ततां ययौ।
तत्र त्यक्त्वा तु तद्वस्त्रं सुस्नाता क्षीरसागरे॥ ७॥
वृता देवांगनाभिस्त्वं कैलासं पुनरागता।
ऊर्मिभिस्तद्रजोवस्त्रं नीतं मध्ये पयोनिधेः॥ ८॥
एवं ते शोणितं भद्रे प्रविष्टं क्षीरसागरे।
क्षीराब्धिमथने चैतदमृतेन सहोत्थितम्॥ ९॥
निजगन्धेन तान्सर्वान्हर्षयन् सर्वदानवान्।
ततो देवगणैरुक्तं गंधकाख्यो भवत्वयम्॥ १०॥
रसस्य बंधनार्थाय जारणाय भवत्वलम्।
ये गुणाः पारदे प्रोक्तास्ते चैवात्र भवन्त्विति॥ ११॥
इति देवगणैः प्रीतैः पुरा प्रोक्तं सुरेश्वरि।
तेनायं गंधको नाम विख्यातः क्षितिमण्डले॥ १२॥

शिव ने कहा कि हे देवि! पूर्वकाल में सम्पूर्ण रत्नों से सुशोभित तथा सकल मनोरथों को पूर्ण करने वाले अथवा सम्पूर्ण कामदेव की सामग्री वाले श्वेतद्वीप में क्षीरसागर के रमणीक तट पर श्रेष्ठ विद्याधरियों योगिजनस्त्रियों, सिद्धांगनाओं, अप्सराओं और देवताओं की स्त्रियों के साथ अत्यन्त मनोरम नृत्य गीत और अनेकविध वाद्य आदि के साथ क्रीड़ा करते हुये तुम्हें मासिक स्राव आरम्भ हो गया था। हे सुश्रोणि! वह आर्तव अत्यन्त सुगन्धित तथा मनोहर था, जिसकी अधिकता के कारण तुम्हारे वस्त्र लाल हो गये थे, तब तुमने उन वस्त्रों को वहीं छोड़कर क्षीरसागर में स्नान किया और देवांगनाओं के साथ तुम फिर कैलाश पर्वत में चली आई। इसके पश्चात् समुद्र की लहरों द्वारा वे वस्त्र बह कर क्षीर समुद्र में आ गिरे। हे भद्रे! इस प्रकार तुम्हारा आर्तव क्षीरसमुद्र में मिल गया। वह रज क्षीरसागर को मथन करते समय पुनः अमृत के साथ प्रकट हुआ और उसने अपनी गन्ध से वहाँ के सम्पूर्ण दैत्य दानवों को प्रसन्न कर दिया। तब देवताओं ने कहा कि यह वस्तु आज से संसार में गन्धक के नाम से प्रसिद्ध होगी और पारद (शिववीर्य) के बन्धन तथा जारण के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। अतः पारद के सब गुण इसमें होवें। इस प्रकार देवताओं ने उस वस्तु को आशीर्वाद दिया। हे सुरेश्वरी! उक्त प्रकार से गन्धक संसार में प्रसिद्ध हुआ। यही इसका छिपा हुआ तत्व है।

विशेष वचन—उक्त आलंकारिक भाषा एक ऐतिहासिक घटना समझी जाती है। इसमें गन्धक की उत्पत्ति को धार्मिक रूप दिया गया है परन्तु नव्य रसायनाचार्य इसको वैज्ञानिक महत्व देते हुये आधुनिक मत के साथ समन्वय करते हुये स्पष्ट कहते हैं कि "श्वेतद्वीप (सिसली इटली के नीचे भूमध्यसागर के बीच होने वाला प्रदेश) में अत्यन्त सुन्दर अनेक प्रकार के रत्नाभ खनिजों से विभूषित एक समुद्र तट है। वहाँ की अलौकिक छटा ऐसी मनोहारिणी है कि मानों प्रकृति स्वयं रूप धारण करके अनेक प्रकार के प्राकृतिक रम्य दृश्यों और मधुर ध्वनि युक्त वृक्षलतादि विकूजित वायु शब्द से गन्धर्वगायन का हास्य करती हुई जीवनधारियों को अत्यन्त आनन्द पहुँचा ही रही थी कि उसी समय वहाँ पर सहसा अत्यन्त उष्णताप क्रम पर किसी गुप्त ज्वालामुखी के उद्गम से विशेष गन्धयुक्त रम्य उष्ण स्रोत का बृहत् प्रस्राव आसमुद्रान्त भूभाग पर प्रस्रवित हो गया और वह जलतरंगन्याय से धीरे२ समुद्र में प्रवेश करने लगा तथा कालान्तर में तलछटी भूत होने पर तथा गन्धक के जमाव के बाहर प्रकट होने पर खनिज शोधकों ने हाइड्रोजन सल्फाइड की उग्र गन्ध से या सल्फर डाईआक्साइड की महक से उसका पता लगाया। उसमें उग्र गन्ध देखकर गन्धक ही नाम रख दिया बाद में प्रयोग करके देखा, और पारद के साथ इसके प्राकृतिक हिंगुल आदि यौगिक देखकर पारद के बन्धन, जारण आदि क्रियाओं में उपयोग आरम्भ कर दिया। आजकल गन्धक की उत्पत्ति का एक दूसरा सिद्धान्त स्थिर किया जा रहा है कि प्रकृति में गन्धक चूने के साथ मिलकर कैल्सियं सल्फेट (Calsiam sulphate) बन जाता है। वह चूने गन्धक का यौगिक पानी में घुलकर स्रोत द्वारा किसी स्थिर जलाशय में जाकर जमा होता और उस जलाशय का काल क्रम से जल सूख जाने पर वहीं तलछट के रूप में बैठ जाता है। इस तलछट के ऊपर अनेक जलीय वा सड़ी हुई वनस्पतियों की या जीवाणु सम्बन्धी प्रतिक्रिया होने से कैल्सियम् सल्फेट का औक्सिजन पृथक् हो जाता है और कैल्सियं सल्फाइड रह जाता है। इस पर धीरे२ वायु के कार्बन डाईऑक्साइड गैस का प्रभाव पड़ता है, जिस से कैल्सियं सल्फाइड से कैल्सियं कार्बोनेट (चूने का पत्थर) बन जाता है और गन्धक अलग हो जाता है इस प्रकार प्राप्त होने वाले गन्धक का मुख्य स्थान "सिसली" है। इसी से दुनिया की गन्धकसम्बन्धी, अधिकांश आवश्यकता पूरी होती है।

गन्धकस्वरूप—वह पीली ठोस और जल में अविलेय होती है। फीकी नीली ज्वाला से जलती है। वायु में जलाने पर एक तीव्र गन्ध युक्त गैस जिसे गन्धक द्विओषित (c°२) कहते हैं, उत्पन्न करती है। जलने के बाद इसमें कुछ अवशिष्ट नहीं रहता है। गन्धक तैल तथा घृत में कुछ२ विलेय है, और "कार्बन डाईस-

लफाइड" में पूर्णतया घुल जाती है। यह ११५°C डिग्री के ताप क्रम में पिघलने लगती है और अधिकाधिक गर्मी देने से यह पतली होने के स्थान में चिपकीली तथा काली हो जाती है। २५०°C डिग्री के अधिक गर्मी देने से यह पुनः पतली होने लगती है और ४४४°C तापांश पर उबलने लगती है ॥३–१२॥

गन्धकस्य भेदाः—

स चापि त्रिविधो देवि शुकचंचुनिभो वरः।
मध्यमः पीतवर्णः स्याच्छुक्लवर्णोऽधमः प्रिये ॥ १३ ॥

हे देवि ! उक्त प्रकार से उत्पन्न गन्धक तीन प्रकार का होता है। इनमें तोते की चञ्चु सदृश वर्ण वाला अर्थात् रक्तवर्ण गन्धक श्रेष्ठ माना जाता है। और पीतवर्ण गन्धक मध्यम माना जाता है। और शुक्लवर्ण गन्धक अधम (हीनगुण) माना जाता है ॥ १३ ॥

मतान्तरम्—

चतुर्धा गंधको ज्ञेयो वर्णैः श्वेतादिभिः खलु।
श्वेतोऽत्र खटिका प्रोक्तो लेपने लोहमारणे ॥ १४ ॥
तथा चामलसारः स्याद्यो भवेत्पीतवर्णवान्।
शुकपिच्छः स एव स्याच्छ्रेष्ठो रसरसायने ॥ १५ ॥
रक्तश्च शुकतुंडाख्यो धातुवादविधौ वरः।
दुर्लभः कृष्णवर्णश्च स जरामृत्युनाशनः ॥ १६ ॥

लाल, पीला, सफेद और काला वर्ण भेद से गन्धक चार प्रकार का होता है। इसमें श्वेत गन्धक खड़िया कहा जाता है अथवा खड़िया के सदृश होता है। यह बाह्य प्रयोगों में लेपन करने के काम में आता है और पीतवर्ण गन्धक, लोह ताम्र आदि धातुओं के मारण (भस्म) के काम आता है। इसी को आंवला सार गन्धक कहते हैं, यही शुकपिच्छ (तोते के पंख सदृशवर्ण) गन्धक है। यह रसों तथा रसायनविधानों में श्रेष्ठ होता है। रक्तवर्ण गन्धक शुकतुण्डगन्धक के नाम से लिया जाता है। कृष्णवर्ण गन्धक अप्राप्य है। यह जरा तथा मृत्यु को दूर करता है।

विशेष वचन—यद्यपि "पोरागन्धक" अथवा मूसलीगन्धक भी पीतवर्ण होता है तथापि वह अनेक विषैले खनिजों का मिश्रण होने से रस तथा रसायन कार्य में नहीं लिया जाता है। आजकल की नूतन शोध द्वारा श्वेतगन्धक गोदन्ती पत्थर (Gypsum) को गन्धक का प्राकृतिक स्वरूप स्वीकार किया जा रहा है। इसको शास्त्र में लेपन करने के लिए उपयुक्त बताया है। आजकल भी अस्थिभंग होने पर अस्थि को समावस्था में रखने के लिए गोदन्त पत्थर का बना हुआ "प्लास्टर आफ पेरिस" नामक लेप काम में लिया जाता है रक्तवर्ण तथा कृष्णवर्ण गन्धक दोनों ही अप्राप्य माने जाते हैं, क्योंकि ये दोनों गन्धक आज तक कहीं भी भूमण्डल में प्राप्त नहीं हो सके। अथवा ताप क्रम में गन्धक के रक्त तथा कृष्ण वर्ण स्थिर तथा ग्राह्य न होने से इनको अप्राप्य माना जाता है। सम्भवतः पहिले ऐसी कोई विधि हो जिससे गन्धक का ताप क्रम में स्थायी कृष्ण वर्ण प्राप्त हो सकता हो ॥ १४–१६ ॥

गन्धकगुणाः—

गन्धाश्मातिरसायनः सुमधुरः पाके कटूष्णो मतः।
कण्डूकुष्ठविसर्पदद्रुदलनो दीप्तानलः पाचनः।
आमोन्मोचनशोषणो विषहरः सूतेन्द्रवीर्यप्रदो।
गौरीपुष्पभवस्तथा कृमिहरः सत्त्यात्मकः सूतजित् ॥ १७ ॥
बलिना सेवितः पूर्वं प्रभूतबलहेतवे ॥ १८ ॥

शुद्ध गन्धक उत्तम रसायन, पाक में कटु, रस में मधुर और गुण में उष्ण है। यह खुजली, कुष्ठ, वीसर्प तथा दाद को नष्ट करता रहता है। अग्निदीपक तथा पाचक है। आम को दूर करने वाला तथा शोषक है। शरीर में विषों को नष्ट करता है। जारण मूर्च्छन विधान से (पारद के साथ) पारदीय शक्ति को बढ़ा देता है। पार्वती के रज से उत्पन्न हुआ गन्धक, कृमिनाशक तथा पारद का बन्धन और मारण करता है। इसको पुराकाल में बलि नामक दैत्य या किसी मनुष्य ने बलवृद्धि के लिए सेवन किया था।

विशेष वचन– आजकल की खोजने भी गन्धक उत्तमपराश्रयीहर (Parasiticide) सिद्ध किया है। अतः यह कण्डू दाद आदि त्वक् रोगों के पराश्रयी जीवाणुओं को नष्ट करता रहता है। एतदर्थ उक्त रोगों में गन्धक के लेप आदि लगाये जाते हैं। यह उत्तम जीवाणुहर भी है अतः पुरातन अतीसार, ग्रहणी, प्रवाहिका आदि रोगों में गन्धकपर्पटी महागन्धकरस तथा गन्धक रसायन आदि योग दिये जाते हैं। अतः यह उत्तम कृमिहर द्रव्य है।

गन्धक के योग विशेषतः गन्धकाम्ल, लालास्राव को उत्तेजित करते हैं जिससे भोजन पाचन में विशेष सुविधा होती है। गन्धकाम्ल को भोजन के पूर्व देने से आमाशयिक अम्लपाचक रस (Gastric Juice) अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है। जिससे क्षुधा वृद्धि होती है अतः गन्धक दीपक पाचक कहा जाता है। गन्धकाम्ल को भोजन के साथ या अन्त में देने से यकृत्, अग्न्याशय (Pancreas) और आन्त्रग्रंथियों के स्राव अधिक मात्रा में प्रस्रवित होते हैं। गन्धक आंतों में सञ्चित आम को जो कि जीर्ण आमवात और सन्धिक (Chronic Rheumatism and Gout) उत्पन्न करता है नष्ट करता है, अतएव उक्त रोगों में गन्धक का विशेष प्रयोग किया जाता है।

आंतों की झिल्ली तथा नाड़ियों में वातिकदुर्बलताजन्य आम तथा मल-बन्ध में गन्धक प्रयोग से लाभ होता है। इसे मलस्रंसक माना जाता है। आंतों की भांति इसका रक्तप्रणालियों पर भी प्रभाव होता है जिससे वे अवसादित हो जाती हैं और उनसे होने वाला रक्तस्राव रुक जाता है और पीड़ा भी कम हो जाती है।

गन्धक श्वास स्रोतों में चिपके हुऐ कफ को सुगमता से निकाल देता है, अतः श्लेष्म स्रंसक तथा कफशोधक माना जाता है।

इसी प्रभाव को देखकर किसी ने "शोषणः" के स्थान पर 'शोधनः' ऐसा पाठ दिया है। शोधन से दूरा अभिप्राय यह लिया जाता है कि इस के अधिक प्रयोग से आंतों के स्राव बढ़ जाने के कारण दस्त पतले आने लगते हैं। जिससे आन्त्रस्थ विष आदि शुद्ध हो जाते हैं।

अशुद्ध पारद तथा नाग (Lead) के सेवन से उत्पन्न विष-विकारों में कुछ काल निरन्तर घृतानुपान से गन्धक का सेवन किया जाता है। अतः इसे विषहर लिखा है।

आभ्यन्तर प्रयोग करने पर मुख के लालास्राव में गन्धक का विलयन नहीं होता है अतः मुख में इसका कोई विशेष स्वाद अनुभव नहीं होता है। आमाशय में भी गन्धक का कोई परिवर्तन नहीं होता ग्रहणी में पहुँचने पर क्षारीय पित्त (Alkuline Bile) के रूप के संसर्ग से इसका अल्पांश क्षारीयगन्धक (Alkuline Sulphar) के रूप में परिवर्तित होकर शरीर में प्रवेश करता है। किन्तु अधिकांश में गन्धक बिना परिवर्तन के शरीर से बाहर मल के साथ निकल जाता है।

निष्क्रमण—गन्धक विशेष रूप से सल्फेट के रूप में मूत्र द्वारा शरीर से बाहर निकलता है और दुग्ध, चर्म तथा फुफ्फुस के द्वारा सल्फ़ुरेटेड हाइड्रोजन के रूप में बाहर आता है। गन्धक सेवन करने वालों के प्रश्वास से भी दुर्गन्ध आती है अतः यह प्रश्वास द्वारा भी बाहर निकलता है। गन्धक सेवन करने वाले के चाँदी के आभूषण भी प्रायः कृष्णवर्ण हो जाया करते हैं अतः यह स्वेद द्वारा भी बाहर निकलता है। पित्त के अन्दर अधिक मात्रा में गन्धक रहता है इससे विज्ञ विद्वानों का मत है कि पित्ताल्पताजन्य रोगों में गन्धक उपयोग करना हितकर है ॥ १७–१८ ॥

बलिवसाख्यगन्धकोत्पत्तिः

वासुकिं कर्षतस्तस्य तन्मुखज्वालया द्रुता।
वसा गन्धकगन्धाढ्या सर्वतो निःसृता तनोः ॥ १९ ॥
गन्धकत्वं च संप्राप्ता गन्धोऽभूत्सविषस्मृतः।
तस्माद्बलिवसेत्युक्तो गन्धकोऽतिमनोहरः ॥ २० ॥

गन्धक सेवन किये हुये बलिदैत्य के समुद्रमन्थन के समय वासुकि सर्प को खींचते हुये सर्प-मुख-ज्वाला से सर्वशरीर की वसा (चर्बी) गन्धक के गन्ध से युक्त होकर शरीर से निकली अतः इसका बलिवसा गन्धक नाम पड़ गया। यह वासुकि-मुख-ज्वाला-संपर्क से विषयुक्त होती है। देखने में अत्यन्त मनोहर होती है।

विशेष वचन—बलिवसा गन्धक को नम्य गन्धक या (Plastic Sulphur) कहते हैं। यह गन्धक आजकल सर्वत्र रसायन शालाओं में प्रतिदिन रासायनिक द्रव्यों की परीक्षा करने के लिए काम में लाया जाता है। इसको बनाने का विधान यह है कि गन्धक को ३५०° c., के तापक्रम पर उष्ण कर किसी शीतल जलयुक्त पात्र में ढाल देते हैं तो गन्धक में लचकीलापन आजाता है और हाथ से भलीप्रकार खाया जा सकता है। रबर की तरह खींचा जा सकता है और रबर की भांति इसमें स्थितिस्थापक शक्ति भी होती है। सम्भवतः इसके आविष्कर्ता के नाम से इसे सम्बोधित किया गया हो जिससे यह बलिवसा (गन्धक की चर्बी) अथवा बलिद्वारा वसारूप (नम्य Plastic) गन्धक के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो।

गन्धकशोधनम्—

पयः स्विन्नो घटीमात्रं वारिधौतो हि गन्धकः।
गव्याज्यविद्रुतो वस्त्राद्गालितःशुद्धिमृच्छति ॥ २१ ॥
एवं संशोधितः सोऽयं पाषाणानंबरे त्यजेत्।
घृते विषं तुषाकारं स्वयं पिण्डत्वमेव च ॥ २२ ॥
इति शुद्धो हि गन्धाश्मा नापथ्यैर्विकृतिं व्रजेत्।
अपथ्यादन्यथा हन्यात्पीतं हालाहलं यथा ॥ २३ ॥

गन्धक को कपड़े की पोटली में बाँध कर दोलायन्त्र द्वारा दूध में एक घड़ी (आधा घण्टा) तक पकायें (स्वेदन करें) फिर उसे शीतल जल से धोकर गोघृत के साथ पिघला कर वस्त्र द्वारा छान लें तो गन्धक शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार गन्धक को कपड़े में बाँध कर स्वेदन करने से गन्धक में मिले हुए स्थूल पाषाण-खण्ड कपड़े में छनकर रह जाते हैं। फिर घृत में पिघलाकर सूक्ष्म वस्त्र से छानने पर उसकी सूक्ष्मरज बालुका आदि की अशुद्धि भी दूर हो जाती है। गन्धकस्थ विष घृत में मिल कर ऊपर तुषाकार रूप में रह जाता है और गन्धक नीचे पिण्ड रूप में जम जाता है। इस प्रकार शुद्ध गन्धक, कदाचित् कुपथ्य पूर्वक भी सेवन किया जाय तो शरीर में विकार नहीं करता है। अन्यथा अशुद्धगन्धक सेवन करना हालाहल विष के समान विकारकारी होता है।

विशेष वचन—गन्धक को घृत के साथ पिघला कर एक दुग्ध-युक्त पात्र के मुख में छानने वाला कपड़ा रख कर उसमें पिघले हुए गन्धक को डालकर छानना अधिक व्यवहृत होता है। जब दुग्ध में गन्धक ठंडा हो जाय उसे निकाल फिर गरम पानी से अच्छी तरह धो डालें। गन्धक के साथ घृत डालने से गन्धक जलने नहीं पाता है अतः गन्धक के बराबर घृत डालने को लिखा हुआ पाया जाता है।

अशुद्ध गन्धक सेवनजन्य विकार ग्रन्थान्तर में इस प्रकार लिखे हुये हैं। "अशुद्धगन्धः कुरुतेऽतिकुष्ठं तापं भ्रमं पित्तरुजां करोति। रूपं बलं वीर्यसुखं निहन्ति तस्मात्सुशुद्धो विनियोजनीयः"॥२१–२३॥

मतान्तरम्—

गन्धको द्रावितो भृङ्गरसे क्षिप्तो विशुध्यति।
तद्रसैः सप्तधा भिन्नो गन्धकः परिशुध्यति ॥ २४ ॥

घृत के साथ गंधक को पिघला कर एक बार भांगरे के स्वरस में डालकर पानी से धोकर सुखा ले तो वह शुद्ध हो जाता है। अथवा गन्धक को पिघला कर भांगरे के रस में डाल दें। इस

प्रकार सात बार करने से गन्धक शुद्ध हो जाता है। अथवा गंधक को भांगरे के रस की सात भावना देकर सुखालें फिर इसे घृत के साथ पिघला कर भांगरे के स्वरस में कपड़े से छान कर डाल दें तो यह शुद्ध हो जाता है ॥ २४ ॥

मतान्तरम्—

स्थाल्यां दुग्धं विनिक्षिप्य मुखे वस्त्रं निबध्य च ।
गन्धकं तत्र निक्षिप्य चूर्णितं सिकताकृतिम् ॥ २५ ॥
छादयेत्पृथुदीर्घेण खर्परेणैव गन्धकम् ।
ज्वालयेत्खर्परस्योर्ध्वं वनच्छाणैस्तथोपलैः ॥ २६ ॥
दुग्धे निपतितो गन्धो गलितः परिशुद्ध्यति ।
शतवारं कृतश्चैव निर्गन्धो जायते ध्रुवम् ॥ २७ ॥

एक चौड़े मुख की हांड़ी या पतेली में दूध डालकर मुखपर एक पतला कपड़ा बांधें। उस कपड़े पर गन्धक का चूर्ण रख कर के उसे एक शराब या ठीकरे (अधोमुख) से ढक देवें और सन्धिबन्धन कर दें। शराब के ऊपर जंगली या घरेलू उपलों की अग्नि जलायें। गन्धक पिघल कर कपड़े में से छनता हुआ दूध वाले पात्र में जा गिरेगा। यह शुद्ध गन्धक है। इस तरह यदि सौ बार किया जाय तो उसकी गन्ध नष्ट हो जाती है।

विशेष वचन—दूध वाली हांडी या पात्र इतना बड़ा होना चाहिये कि जिसके चतुर्थांश में गन्धक पिघलकर आजाये। दूध का यद्यपि कोई मान नहीं लिखा है तथापि वृद्ध-वैद्य-व्यवहार से गन्धक से द्विगुण लिया जाता है। ग्रन्थान्तरों में ठीक इसी विधि में दूध के साथ घृत का भी उल्लेख है अतः घृत के विषहर होने से उसे भी गन्धक से चतुर्थांश दूध में डाल देना चाहिये।

कपड़े पर गन्धक डालकर उसे (गन्धक को) यदि दबा कर पतेली के मुख से कुछ नीचा किया जाय तो गन्धक जलने नहीं पाता है। कई बार कुछ तेज अग्नि हो जाने से कपड़ा जल जाता है जिससे ठीक शुद्धि नहीं होती है। अतः पतेली के किनारों पर डेढ अंगुल ऊँचा मोटा मट्टी का लेप करके उस पर थाली या तवा जमाकर सन्धि लेप करके उसके ऊपर से कोयले या उपलों की अग्नि दी जाती है। यदि विशेष सुविधा करनी हो तो कपड़े के स्थान पर बारीक तारजाल रख दें। इस विधि से शोधित गन्धक दूध में मुक्ताकार या प्रवालाकार में प्राप्त होता है। यह सर्वोत्तम माना जाता है।

मात्रा १रत्ती से २रत्ती तक ॥ २५–२७ ॥

प्रयोगविधिः—

इत्थं विशुद्धस्त्रिफलाज्यभृंगमध्वन्वितः शाणमितो हि लीढः ।
गृध्राक्षितुल्यं कुरुतेऽक्षियुग्मं करोति रोगोज्झितदीर्घमायुः ॥

उक्त प्रकार से शुद्ध गन्धक १ शाण, त्रिफलाचूर्ण १ शाण दोनों को घृत, मधु तथा भृंगराजस्वरस में मिला कर (कुछ दिनों तक, सेवन करने से मनुष्य की गिद्ध के समान दृष्टि हो जाती है अर्थात् दूर न देखने का रोग दूर हो जाता है और आँखों में कोई रोग नहीं होने पाते हैं।

गन्धक सेवन में अपथ्य—लवणाम्लानि शाकानि द्विदलानि तथैवच। स्त्रियश्चारोहणं याने गन्धसेवी विवर्जयेत् ॥ २८ ॥

गन्धकतैलविधिः—

कलांशव्योषसंयुक्तं गन्धकं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
अरत्निमात्रे वस्त्रे तद्विप्रकीर्य विवेष्ट्य तत् ॥ २९ ॥
सूत्रेण वेष्टयित्वाऽथ यामं तैले निमज्जयेत् ।
धृत्वा संदंशतो वर्तिमध्यं प्रज्वालयेच्च तम् ।
द्रुतो निपतितो गन्धो बिन्दुशः काचभाजने ॥ ३० ॥

शुद्ध गन्धक से सोलहवाँ भाग त्रिकटु चूर्ण लेकर दोनों को एकत्र बहुत बारीक पीस कर उसे एक अरत्नि (हाथ की कोहनी से लेकर कनिष्ठिका अंगुली के सिरे तक) लम्बे चौड़े कपड़े में बराबर बिछाकर धीरे२ उसको मोड़कर बत्ती सी बना दें और बारीक धागों से उसे अच्छी तरह बाँध कर एक पहर तक उसे तिल तैल में भिगो दें फिर वर्ति को बीच में चिमटे से अच्छी तरह पकड़ कर नीचा मुख कर जला दें और उसके (वर्ति के) नीचे एक कांच का चौड़ा पात्र रख दें। अग्निद्वारा पिघला हुआ गन्धक तेल के साथ बिन्दु२ रूप से काँच पात्र में इकट्ठा हो जायगा यही गन्धक तैल है।

विशेष वचन—गन्धक तैल काला गाढा सा और गन्धक की गन्ध से युक्त होता है ॥ २९–३० ॥

अस्य प्रयोगविधिः—

तां द्रुतिं प्रक्षिपेत्पत्रे नागवल्ल्यास्त्रिबिन्दुकाम् ।
वल्लेन प्रमितं स्वच्छं सूतेन्द्रं च विमर्दयेत् ॥ ३१ ॥
अङ्गुल्याऽथ सपत्रां तां द्रुतिं सूतं च भक्षयेत् ।
करोति दीपनं तीव्रं क्षयं पाण्डुं च नाशयेत् ॥ ३२ ॥
कासं श्वासं च शूलार्तिं ग्रहणीमतिदुर्धराम् ।
आमं विनाशयत्याशु लघुत्वं प्रकरोति च ॥ ३३ ॥

उक्त प्रकार से प्राप्त गन्धक की द्रुति (गन्धक तैल) को तीन बिन्दु प्रमाण एक पान के पत्ते में रख उसके ऊपर १½ या दो रत्ती शुद्ध पारद या पारद भस्म अथवा रस सिन्दूर चूर्ण डाल अंगुली से अच्छी तरह मिलाकर पान के साथ खा लेवें। इसके सेवन से अत्यन्त क्षुधा लगती है और क्षय, पाण्डु, कास, श्वास, शूल, भयंकर ग्रहणी रोग तथा आन्त्र में सञ्चित आम नष्ट हो जाते हैं। शरीर में लघुता उत्पन्न होती है ॥ ३१–३३ ॥

अन्यविधिः—

घृताक्ते लोहपात्रे तु विद्रुतं शुद्धगन्धकम् ।
घृताक्तदर्विकाक्षिप्तं द्विनिष्कप्रमितं भजेत् ॥
हन्ति क्षयमुखान् रोगान्कुष्ठरोगं विशेषतः ॥ ३४ ॥

एक लोह पात्र में कुछ घृत डाल कर उसे अग्नि पर रख गरम करें। घृत गरम हो जाने पर उसमें शुद्ध गन्धक चूर्ण डाल दें। फिर पिघले हुये गन्धक को घृतलिप्त एक लोह की चम्मच में डाल कर ठंडा करके उसमें से प्रतिदिन २ निष्क पर्यन्त मात्रा तक सेवन करें तो इससे क्षय सदृश भयंकर रोग विशेषतः कोढ़ भी नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—दो निष्क मात्रा अधिक है, अतः यहाँ २ रत्ती से ४ रत्ती तक लेना चाहिये ॥ ३४ ॥

गन्धकसेवने अपथ्यम्—

क्षाराम्लतैलसौवीरविदाहिद्विदलं तथा ।
शुद्धगन्धकसेवायां त्याज्यं योगयुतेन हि ॥ ३५ ॥

शु० गन्धक तथा गन्धक के योग के सेवन करते हुये क्षार अम्ल, तैल, काञ्जी, सिरका, विदाही (छाती में जलन करने वाला) द्विदल (उड़द, चणा, लोठिया आदि) वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कुष्ठरोगे गन्धकप्रयोगविधिः

गन्धकस्तुल्यमरिचः षड्गुणत्रिफलान्वितः ।
घृष्टः शम्पाकमूलेन पीतश्चाखिलकुष्ठहा ॥ ३६ ॥

शु० गन्धक एक भाग, मरिचूर्ण एक भाग, त्रिफला चूर्ण ६ भाग इन सब को अमलतास मूल के जल के रस से घोट कर पीने से सब कुष्ट रोग नष्ट हो जाते हैं। दृष्ट फल प्रद है (सम्पादक)।

प्रलेपयोगः—

तन्मूलं सलिले पिष्टं लेपयेत्प्रत्यहं तनौ ।
दृष्टप्रत्यययोगोऽयं सर्वत्राप्रतिवीर्यवान् ।
श्रीमता सोमदेवेन सम्यगत्र प्रकीर्तितः ॥ ३७ ॥

गन्धक को अमलतास की जड़ के रस से बारीक पीस कर प्रतिदिन शरीर में (कुष्ट के दाग वाले स्थानों में) लेप करना चाहिये यह योग अनुभव सिद्ध उत्तम गुण करने वाला है। इसको सोमदेव ने कहा है। तन्मूलम् से केवल अमलतास की जड़ को पानी में पीस कर लेप करना उत्तम है; यथा-चरक में-आरग्वधस्य पत्राणि कण्डू क्लेदहराणि च ॥ ३७ ॥ [सम्पादक]

लेपयोगान्तरम्—

द्विनिष्कप्रमितं गन्धं पिष्ट्वा तैलेन संयुतम् ।
अथापामार्गतोयेन सतैलमरिचेन हि ॥ ३८ ॥
विलिप्य सकलं देहं तिष्ठेद् घर्मे ततः परम् ।
तक्रभक्तं च भुंजीत तृतीये प्रहरे खलु ॥ ३९ ॥
भजेद्रात्रौ तथा वह्निं समुत्थाय तथाप्रगे ।
महिषीछगणं लिप्त्वा स्नायाच्छीतेन वारिणा ॥ ४० ॥
ततोऽभ्यज्य घृतैर्देहं स्नायादिष्टोष्णवारिणा ।
अमुना क्रमयोगेन विनश्यत्यतिवेगतः ।
दुर्जया बहुकालीना पामा कण्डूः सुनिश्चितम् ॥ ४१ ॥
गन्धकस्य प्रयोगाणां शतं तत्र प्रकीर्तितम् ।
ग्रन्थविस्तारभीतेन सोमदेवेन भूभुजा ॥ ४२ ॥

शु० गन्धक दो निष्क (६ मासा) और काली मरिच ६ मासा दोनों को एकत्र कर तिल तैल और अपामार्ग (चिरचिटा) के स्वरस या कषाय में अच्छी तरह घोट कर उसका सब शरीर में लेप करके जब तक सहन हो सके धूप में बैठना चाहिये। फिर तीसरे प्रहर क्षुधा लगने पर तक्र के साथ भात का भोजन करे। रात्रि के समय सहन होने योग्य अग्नि सेवन करे। फिर प्रातः उठकर भैंस के गोबर को सम्पूर्ण शरीर में मले कर शीतल जल से स्नान करे। इस स्नान के बाद फिर शरीर में घृत की मालिश करके मनोनुकूल गरम जल से स्नान करे। गन्धक के उक्त लेप तथा स्नान क्रम आदि से सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई अत्यन्त दुस्तर और बहुत पुरानी सब प्रकार की खुजली पामा शीघ्र ही दूर हो जाती हैं। इस प्रकार गन्धक के सैकड़ों आशु फलप्रद प्रयोग हैं जिन को ग्रन्थविस्तार भय से सोमदेव ने अपने ग्रन्थ में वर्णन नहीं किया है।

गन्धकतैलान्तरम्—

अथवाऽर्कस्नुहीक्षीरैर्वस्त्रं लेप्यं तु सप्तधा ।
गन्धकं नवनीतेन पिष्ट्वा वस्त्रं लिपेद्घनम् ॥ ४३ ॥
तद्वर्तिं ज्वलितां दंशे धृतां कुर्यादधोमुखीम् ।
तैलं पतेदधोभाण्डे ग्राह्यं योगेषु योजयेत् ॥ ४४ ॥

अथवा गन्धक तैल निकालने के लिये मदार तथा थूहर के दूध से अरत्नि परिमाण एक शुद्ध वस्त्र को सात बार तर करके पृथक् सुखाकर उस पर माखन से पिसा हुआ गन्धक का चारों तरफ समभाग में गाढ़ा लेप करके वस्त्र को एक तरफ से मोड़कर सब की एक बत्ती बना लें इस को धागों से बांधकर चीमटे से पकड़ कर अधोमुख करके जला दें। और वर्ति के नीचे एक कांच या चीनी का पात्र रख दें। इस में वर्ति मुख से माखन के साथ गन्धक का तैल गिरेगा। इसको योगों में प्रयुक्त करना चाहिये ॥ ४३-४४ ॥

शुद्धगन्धकगुणाः—

शुद्धगन्धो हरेद्रोगान्कुष्ठमृत्युजरादिकान् ।
अग्निकारी महानुष्णो वीर्यवृद्धिं करोति च ॥ ४५ ॥

इति गन्धकाधिकारः

शु० गन्धक सेवन करने से कोढ़ मृत्यु बुढ़ापा आदि रोगों को नष्ट करता है। इससे क्षुधा बढ़ती है और यह उष्ण है। चिरकाल तक द्रव्यान्तरों के साथ सेवन करने से वीर्य की बृद्धि होती है। गन्धक के सेवन से यदि कभी अनिष्ट हो जाये तो गौ घृत युक्त गायका दूध पीना चाहिये (सम्पादक) ॥ ४५ ॥

अथ गैरिकस्य भेदौ—

पाषाणगैरिकं चैकं द्वितीयं स्वर्णगैरिकम् ॥ ४६ ॥

१—पाषाण गैरिक २—स्वर्ण गैरिक भेद से गेरी दो प्रकार का होता है ॥ ४६ ॥

तयोर्लक्षणम्—

पाषाणगैरिकं प्रोक्तं कठिनं ताम्रवर्णकम् ।
अत्यन्तशोणितं स्निग्धं मसृणं स्वर्णगैरिकम् ॥ ४७ ॥

उक्त दो प्रकार की गैरिक में पाषाण गैरिक तोड़ने और घिसने में कठिन (कुछ सख्त) होता है। और यह ताम्रवर्ण अर्थात् कुछ काला, लाल सा होता है। किन्तु स्वर्ण गैरिक अत्यन्त लाल, स्निग्ध तथा मसृण (कोमल) होता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तरों में गेरी के स्वर्ण गैरिक तथा सामान्य गैरिक नाम से भेद किये हैं और कहीं २ तृतीय पाषाण गेरी भी माना गया है। परन्तु स्वर्ण तथा पाषाण गैरिक भेद ही प्रसिद्ध हैं। गेरी पर्वतीय खानों से प्राप्त होने वाली विशेष प्रकार की मृतिका है। यह लोह की उपधातु मानी जाती है। इसके सत्त्व पातन में लोह की प्राप्ति होती है। अतः गेरी लोह का प्राकृत स्वरूप मानी जाती है। इसको साधारणतया हीमोटाइट (Heamotite) कहते हैं। स्वर्णगैरिक भारतवर्ष में अल्पमात्रा में पाया जाता है किन्तु अमेरिका और जर्मन देशों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। यह लौह का समास होने से रेड आयर्न आक्साइड (Red Igron Oxide) कहा जाता है। टाटा के कारखानों में इससे लोहा निकाला जाता है ॥ ४७ ॥

द्विविधगैरिकगुणाः—

स्वादु स्निग्धं हिमं नेत्र्यं कषायं रक्तपित्तनुत् ।
हिध्मावमिविषघ्नं च रक्तघ्नं स्वर्णगैरिकम् ।
पाषाणगैरिकं चान्यत्पूर्वस्मादल्पकं गुणैः ॥ ४८ ॥

स्वर्ण गैरिक मधुर तथा कषाय रस स्निग्ध शीतगुण होता है। यह नेत्रों के लिये लाभदायक माना जाता है। और रक्तपित्त, हिचकी, वमन, (उलटी) और शरीरस्थ विष को नष्ट करता है। किसी स्थान से होने वाले रक्तस्राव को बन्द करता है। पाषाण गैरिक में उक्त गुण होते हैं परन्तु बहुत अल्प शक्ति में।

विशेष वचन—गेरी अत्यन्त शीत तथा पित्तहर द्रव्य है। यह लोहसमासों की भांति बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग में ग्राही होता है। अतएव इसे रक्तार्श, रक्तावमन तथा रक्तपित्त में विशेषतः प्रयोग किया जाता है। इसके प्रयोग से रक्तवाहिनियां संकुचित हो जाती हैं जिससे स्राव बन्द हो जाता है। इसी क्रिया-प्रभाव से यह शीतपित्त, उदर्द, कुष्ठ रोग में भी लाभदायक होता है। पित्तप्रकोपयुक्त ज्वरों (जिन में रक्त कण अधिक टूटते हैं और मूत्र रक्त वर्ण आता है) में गेरीप्रयोग से ज्वर न्यून और दाह भी शान्त हो जाता है। गेरी अल्पलोहांश के कारण बल्य भी है। अतः ज्वरशामक योगों में गेरी का योग करने से दुर्बलता नहीं बढ़ती है। पित्तवीसर्प तथा पित्त दुष्ट व्रणों के लिये यह ग्राही और शीत होने से लाभदायक माना जाता है। नेत्र तथा योनिकण्डू पर इसके लेप लगाने से शीघ्र लाभ होता है। दूषीविष तथा गरविषों में इसको कुछ काल सेवन करने से विष-प्रभाव नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

शोधनम्—

गैरिकं तु गवां दुग्धैर्भावितं शुद्धिमृच्छति ॥ ४९ ॥

गेरी को गोदुग्ध में सात भावना देकर सुखा लेने से यह शुद्ध हो जाती है।

विशेष वचन—शु० गैरिक की शीघ्र आवश्यकता होने पर ग्रन्थान्तर में इसको गोघृत में भूनकर प्रयोग करने को लिखा है।

गैरिकस्य सत्वरूपता—

गैरिकं सत्त्वरूपं हि नन्दिना परिकीर्तितम् ॥ ५० ॥

नन्दी नामक रसचिकित्सक ने गेरी को सत्व स्वरूप ही वर्णन किया है। अतः इसके सत्वपातन की आवश्यकता नहीं है ॥ ५० ॥

सत्वपातने मतान्तरम्—

कैश्चिदुक्तं पतेत्सत्त्वं क्षाराम्लस्विन्नगैरिकात् ।
उपतिष्ठति सूतेन्द्रमेकत्वं गुणवत्तरम् ॥ ५१ ॥

इति गैरिकाधिकारः।

किन्हीं २ ने गैरिक का सत्वपातन करना बताया है। इसके लिये गेरी को यवक्षार तथा काञ्जी में दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करके सत्वपातन द्रव्य गुड़ गुंजा आदि के साथ मर्दन करके मूषा में रख तपाने से इसका सत्वपातन किया जाता है। यह गेरी की अपेक्षा अत्यधिक गुणकारी तथा पारद के साथ मिश्रण करने पर उससे मिल जाता है ॥ ५१ ॥

———

अथ कासीसस्य भेदौ—

कासीसं वालुकाद्येकं पुष्पपूर्वमथापरम् ॥ ५२ ॥

वालुकासीस तथा पुष्प कासीस भेद से कासीस दो प्रकार का होता है।

विशेष वचन—भावप्रकाश तथा रत्नमाला में धातुकासीस और पांशुकासीस नाम से दो भेद माने गये हैं। रसार्णव तथा रसकामधेनुकार ने इसके तीन भेद लिखे हैं। "त्रिधा हीरं पुष्पलोहं शुक्लपीतासितं क्रमात् ।" भैषज्यरत्ना० के प्लीहाधिकार में भी "कासीस, धातुकासीस तथा पुष्पकासीस नाम से तीन भेद लिखे हैं परन्तु पूर्वोक्त द्विविध प्रकार ही अधिक प्रचलित है। इनमें से धातुकासीस हरित और लोहितवर्ण का तथा पुष्पकासीस शुक्ल कृष्णवर्ण का लिखा है। व्यवहार में वालुकासीस को चूर्ण कासीस और "काही सुर्ख" कहते हैं। यह तीव्र वामक है और पुष्पकासीस को "काही सवज" कहते हैं। आयुर्वेदीय औषधि प्रयोग में यही पुष्प कासीस प्रयुक्त होता है।

कसीस भी लोह का समास है। यह प्रायः कृत्रिम विधि से निर्मित ही प्राप्त होता है। इसके लिये एक कांच के पात्र में सजल गन्धकाम्ल डालकर गन्धकाम्ल के बराबर बारीक लोह चूर्ण को थोड़ा २ करके डालते हुये गरम करते हैं जिससे इसमें उद्रिजन अथवा फेन उठती है। जब लोह पूर्ण चूर्ण रूप में घुल जाता है तो इस द्रव को क्षारणयन्त्र में छान लेते हैं। अब छने हुए द्रव में समभाग स्वच्छ सुरा मिलाकर स्फटिक बनने के लिये एकान्त में रख दिया जाता है। कसीस के स्फटिक नीचे बैठ जाने पर ऊपरी द्रव को पृथक् करके चूर्ण को सुखा लिया जाता है। इसके स्फटिक फीके हरे रंग के होते हैं और १½ गुणा जल में घुल जाते हैं। आजकल कासीस हरे क्रिस्टलस् के रूप में प्राप्त होता है। इसे अंगरेजी में Ferrisulph (फेराई सल्फ) अथवा फेरस सल्फेट (Ferrous sulphate) कहते हैं। इसको अग्नि पर गरम करने से इसमें से जल निकलता है। इस जल को क्रिस्टिलीकरण का जल (Water of Crystallisation) कहते हैं। इसी के कारण यह कण रूप में प्राप्त होता है। जब तपाने पर इसमें से जल निकल जाता है तो यह (कासीस) सफेद रंग का हो जाता है। अतः कण रूप में होने का कारण जल ही है। यदि इसको अधिक गरम किया जाय तो इसमें से प्रथम जल निकलता है फिर सफेद वर्ण का धुआं निकलता है जिसे यदि द्रवीभूत करके परीक्षा करें तो ज्ञात होता है कि वह तेल सा गाढ़ा पदार्थ है। इसकी कुछ बूंदों को जल में डाल कर चखने से खट्टा स्वाद मालूम होता है और कासीस के द्रवीभूत धुंये को लकड़ी या कपड़ों पर डालें तो झुलस जावेंगे। परीक्षा करने पर यह गन्धकाम्ल सिद्ध हुआ है। पहिले इसी को गन्धक का तेल कहते थे। इस पदार्थ के निकल जाने से जो पदार्थ रहता है वह कासीस के गुण-धर्मों से भिन्न होता है। यह कपिल वर्ण का होता है तथा जल में डालने पर बिलकुल अविलेय रहता है। देखने में यह मोरचे के सदृश प्रतीत होता है।

क्रिस्टल के स्वरूप में प्राप्त होने वाले कासीस को पुष्प कासीस समझना चाहिये। और जो आक्साईड के रूप में हो जाता है उसे वालुकासीस समझा जाता है॥ ५२॥

बालुकासीसगुणाः—

क्षाराम्लगुरुधूमाभं सोष्णवीर्यं विषापहम्।
वालुकापूर्वकासीसं श्वित्रघ्नं केशरञ्जनम्॥ ५३॥

बालुकासीस स्वाद में खारा कुछ अम्ल होता है और भार में गुरु होता है। देखने में यह धूम्रवर्ण होता है। वीर्य में उष्ण विष तथा सफेद कुष्टनाशक और बालों को रंगने के काम आता है।

विशेष वचन—"...म्लगुरुधूमाभम्"के स्थान पर "...म्लागुरुधूमाभम्" ऐसा पाठ होने पर अगर धूम के समान वर्ण का ऐसा अर्थ होता है। परन्तु "क्षाराम्लं गुरुधूमाभं" पाठ ही ठीक प्रतीत होता है॥ ५३॥

पुष्पकासीसगुणाः—

पुष्पादिकासीसमतिप्रशस्तं
सोष्णं कषायाम्लमतीव नेत्र्यम्।
विषानिलश्लेष्मगदव्रणघ्नं
श्वित्रक्षयघ्नं कचरञ्जनं च॥ ५४॥

द्विविध कासीसों में पुष्पकासीस ही अधिक उत्तम है। यह वीर्य में उष्ण रस में कषाय तथा अम्ल होता है और नेत्रों के लिये अत्यन्त लाभदायक होता है। यह विष, वातश्लेष्म रोग तथा व्रण बाधा को नष्ट करता है। सफेद कोढ़ तथा क्षयरोग नाशक हैं। इसको भी बाल रंगने (काले करने) के काम में लाते हैं।

विशेष वचन—बाह्य प्रयोग में कसीस ग्राही अथवा संकोचक प्रभाव रखता है। अतएव वीसर्प शोथ के स्रावों के सुखाने के ओर गुदभ्रंश आदि में गुदा को सिकोड़ने के लिये कासीस के द्रवों से शोथ आदि का प्रक्षालन किया जाता है। इसी तरह श्वित्रकुष्ठ के चिन्हों पर कुछ काल तक बावची चूर्ण के साथ पानी में घिसकर लगाने से सफेद कोढ़ के दागों को मिटाता है। बालों को काला करने के लिये इसके त्रिफला कषाय, भृंगराज रस आदि के साथ बनाये हुये केशरञ्जक लेप (खिजाब) लगाये जाते हैं।

अतः प्रयोग में कसीस कष्टार्तव रोग में गर्भाशय को बल पहुँचा कर रजःप्रवर्तन कार्य करता है। अतएव "कुमारीसारादि वटी" आदि के रूप में इसका व्यवहार होता है। प्लीहा वृद्धि में यह अत्यन्त लाभदायक होता है। शरीर में रक्त कणों के न्यून या दुर्बल पड़ जाने पर इसकी भस्म को पित्तरेचक औषधियों के साथ देने से रक्त की पुष्टि और वृद्धि होती है। मूत्रनली या मूत्राशय में वात, कफ-प्रकोप-जन्य शोथ के कारण उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र में कासीस प्रयोग से शोथ दूर हो जाती है। विषम ज्वर आदि रोगों में यकृत्-विकृति-जन्य कण्डू के लिये यह उत्तम औषधि मानी जाती है। पार्थिव विषों के अन्तःप्रयोग हो जाने पर इसके प्रयोग से वमन द्वारा विष बाहर निकाला जाता है अतः यह विषहर है।

मात्रा ½ रत्ती से २ रत्ती तक॥ ५४॥

शोधनम्—

सकृद्भृङ्गाम्बुना क्लिन्नं कासीसं निर्मलं भवेत्॥ ५५॥

एक बार भांगरे के रस में घोट करके सुखा लेने से कासीस शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तरों में "क्लिन्नं" के स्थान पर "स्विन्नम्" पाठ है। ऐसा पाठ होने पर कासीस को एक वस्त्र की पोटली में बांध कर भृंगराज रस में दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन किया जाता है जिससे कासीस भृंगराज रस में विलीन हो जाता है। बाद

में इस रस को छारण-पत्र (Filter Paper) से छान कर छने हुये द्रव को वाष्प स्वेदन यत्र पर सुखाकर उचित गाढ़ा होने पर नीचे उतार कर एकान्त में रख दें। इससे कासीस अच्छी तरह शुद्ध हो जाती है। कई कासीस को भूर्जपत्र की पोटली में अच्छी तरह बांध कर स्वेदन करते हैं जिससे कासीस स्वरस में न घुलने पावें। "स्विन्नम्" पाठ ही अधिक प्रचलित है ॥ ५५ ॥

शोधनान्तरम्—

कासीसं शुद्धिमाप्नोति पित्तैश्च रजसा स्त्रियाः ॥ ५६ ॥

सूअर, बकरी, भैंस, मछली तथा मोर के पित्तों में और स्त्री के आर्तव में पृथक् २ मर्दन कर सुखा लेने से कासीस की शुद्धि हो जाती है ॥ ५६ ॥

सत्वपातनविधिः—

तुवरीसत्त्ववत्सत्त्वमेतस्यापि समाहरेत् ॥ ५७ ॥

वक्ष्यमाण तुवरी (फटकरी) के सत्वपातन विधि के अनुसार कासीस का भी सत्वपातन करना चाहिये ॥ ५७ ॥

प्रयोगविधिः—

बलिना हतकासीसं क्रान्तं कासीसमारितम् ।
उभयं समभागं हि त्रिफलावेल्लसंयुतम् ॥ ५८ ॥
विषमांशघृतक्षौद्रप्लुतं शाणमितं प्रगे ।
सेवितं हन्ति वेगेन श्वित्रं पाण्डुक्षयामयम् ॥ ५९ ॥
गुल्मप्लीहगदं शूलं मूलरोगं विशेषतः ।
रसायनविधानेन सेवितं वत्सरावधि ॥ ६० ॥
आमसंशोषणं श्रेष्ठं मन्दाग्निपरिदीपनम् ।
पलितं बलिभिः सार्धं विनाशयति निश्चितम् ॥ ६१ ॥

इति कासीसाधिकारः ।

गन्धक द्वारा भस्म की हुई कासीस १ भाग, कासीस द्वारा मारित वैक्रान्त भस्म १ भाग दोनों को एकत्र मर्दन करके इसमें से एक रत्ती मात्रा लेकर उसमें त्रिफला तथा बायविडंग चूर्ण प्रत्येक ६ रत्ती मिला विषम भाग घृत, मधु के साथ प्रातःकाल प्रतिदिन सेवन करने से यह योग पाण्डु, क्षय, श्वित्रकुष्ठ, गुल्म, प्लीहा रोगों को विशेषतः अर्श रोगों को शीघ्र ही नष्ट करता है। यदि इसे रसायन विधान से अर्थात् सेवन काल में एकान्त और नियम पूर्वक रह कर एक वर्ष तक सेवन किया जाय तो आम का शोषण करके अग्नि को तीव्र करती है। और शरीर में बालों की सफेदी तथा सिलवटों का पड़ना भी अवश्य नष्ट हो जाता है। अर्थात् रोगी को पुनः नव-यौवन प्राप्त हो जाता है।

विशेष वचन—कासीस और वैक्रान्त समभाग होने से यदि इसकी मात्रा दो रत्ती भी की जाय तो वैक्रान्त की मात्रा एक रत्ती हो जायेगी अतः एक रत्ती की मात्रा उचित प्रतीत होती है। जहाँ "क्रान्तम्" के स्थान पर "कान्तम्" पाठ है वहाँ इसकी मात्रा चार रत्ती तक हो सकती है और बीस रत्ती त्रिफला आदि का चूर्ण मिला एक शाण मात्रा पूरी हो जाती है। अधिक ग्रन्थों में "कान्तम्" ही पाठ मिलता है ॥ ५८-६१ ॥

अथ तुवरीपरिचयः—

सौराष्ट्राश्मनि संभूता मृत्स्ना सा तुवरी मता ।
वस्त्रेषु लिप्यते यासौ मञ्जिष्ठारागबन्धिनी ॥ ६२ ॥

सौराष्ट्र देश के पर्वतों की खान से पैदा होने वाली एक प्रकार की मिट्टी को तुवरी (फटकरी) कहते हैं जिस को मजीठ, नील, केशर, हरिद्रा आदि के रंग को पक्का करने के लिये कपड़े में लेप किया जाता है।

विशेष वचन—सौराष्ट्री मिट्टी में गन्धकाम्ल डाल कर फिर छान लेते हैं पश्चात् उस छने हुये द्रव को स्फटिक बनने के लिये एकान्त में रख देने से स्फटिकी (Alum) के स्फटिक नीचे बैठ जाते हैं। स्फटिकी—श्वेत, पारदर्शक, स्फटिकाकार खण्डों में मिलती है जो दशगुणा शीत जल में तथा तीन गुणा उष्ण जल में तथा ग्लिसरीन में पर्याप्त घुलती है। मद्यसार में यह अविलेय है। मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥ ६२ ॥

तुवरीभेदः—

फटकी फुल्लिका चेति द्वितीया परिकीर्तिता ॥ ६३ ॥

तुवरी और फुल्लिका ये दो फटकरी के भेद माने गये हैं।

विशेष वचन—रसप्रकाशसुधाकर में फुल्लिका तथा खटिका ये दो भेद माने गये हैं। ये ही भेद रसेन्द्रचूड़ामणिकार ने भी लिखे हैं परन्तु रसकामधेनुकार ने सिता कृष्णा भेद से इस के दो प्रकार लिखे हैं। यह भेद या प्रकार मृत्तिका के समझने चाहिये।

फटकीगुणलक्षणे—

ईषत्पीता गुरुः स्निग्धा पीतिका विषनाशिनी ।
व्रणकुष्ठहरा सर्वकुष्ठघ्नी च विशेषतः ॥ ६४ ॥

फटकी कुछ पीत-श्वेत वर्ण गुरुभार स्निग्ध (चिकनी) होती है। यह विषनाशक, व्रण, कुष्ठहर विशेषतः सब चर्मरोगों को नष्ट करती है ॥ ६४ ॥

फुल्लिकागुणलक्षणे—

निर्भारा शुभ्रवर्णा च स्निग्धा साम्लाऽपरा मता ।
सा फुल्लतुवरी प्रोक्ता लेपात्ताम्रं चरेदयः ॥ ६५ ॥

फुल्लिका श्वेत वर्ण, अल्पभार, स्निग्ध तथा स्वाद में अम्ल होती है। ताम्र पत्रों पर लेप करने से यह उनके लोहांश को नष्ट कर देती है। अथवा ताम्र को लोहवत् कठिन बना देती है।

विशेष वचन—फुल्लिका को फूल फटकरी भी कहते हैं। इसका बारीक चूर्ण ताम्र-पत्रों पर लेप करने से उनकी शीघ्र भस्म हो जाती है ॥ ६५ ॥

द्वयोः सामान्यगुणाः—

कांक्षी कषाया कटुकाम्लकंठ्या
केश्या व्रणघ्नी विषनाशिनी च ।

श्वित्रापहा नेत्रहिता त्रिदोष-
शांतिप्रदापारदजारणी च ॥ ६६ ॥

फटकरी, कषाय किञ्चित् कटु रस, विशेषतः अम्लरस है। यह कण्ठ तथा बालों के लिये लाभदायक, व्रणशोधक, बिषनाशक, श्वित्र के चिह्नों को मिटाने वाली, नेत्र हितकर, त्रिदोषशामक तथा पारदजारण के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

विशेष वचन—तुवरी उत्तम ग्राही और रक्तशोधक द्रव्य है। यह अन्तःप्रयोग में २ रत्ती से ४ रत्ती की मात्रा में मलबन्धक और १५ रत्ती से ३० रत्ती की मात्रा में वामक है। यह मलमूत्र और त्वचा से स्वेद द्वारा शरीर से बाहर निकलती है। मूत्रमार्ग से निकलने के कारण मूत्रमार्ग के शोथों को हटाती है। ग्राही प्रभाव के कारण ही वह मुखरोगहर तथा दांतों को दृढ़ बनाने वाली होती है। आजकल इसका विषम ज्वर पर भी बहुत अच्छा प्रभाव देखा जाता है। उक्त गुणों के कारण ही स्रावीपामा को स्फटिकी और टंकण के १—५ प्रति शतक द्राव से धोया जाता है। त्वक्रोग-जन्य, व्रणरोपण के लिये स्फटिकी और मुर्दाशंख का समभाग चूर्ण मिला कर छिड़का जाता है। साधारण बाह्य रक्तस्राव को रोकने के लिये स्फटिकी चूर्ण या इसके सांद्रद्रव में भीगा हुआ कपड़ा रखा जाता है। दांत निकालने के बाद रक्तस्राव रोकने के लिये स्फटिकी जल से कुल्ला कराये जाते हैं। इसी तरह मुखपाक, दन्तमांसशोथ, गलशोथ, गलग्रन्थिशोथ आदि में भी इसके गण्डूष कराये जाते हैं। नेत्राभिष्यन्द रोग में स्फटिकी नेत्रबिन्दु डाला जाता है जिससे नेत्र की लालिमा घट जाती है। नेत्रों में कुकरे होने पर शुद्ध रसाञ्जन तथा अहिफेन के साथ स्फटिकी का लेप पलकों के भीतर की तरफ लगाया जाता है। नासा-रक्तस्राव में २½ तोला जल में ५ रत्ती स्फटिकी चूर्ण मिला या फाया से पिचकारी से नाक में डाला जाता है। इसी तरह उत्पादक अंगों की पामा कण्डू, योनिस्राव, गर्भाशयभ्रंश में भी इसके द्रव से प्रक्षालन किया जाता है या इसका फाया योनि में रखा जाता है। इसी तरह मूत्र मार्ग को धोने के लिये इसका जल आता है। रक्तार्श, रक्तप्रदर तथा गुदभ्रंश में स्फटिकी द्रव की वस्ति दी जाती है। इसकी वस्ति से गुदकृमि भी मर जाते हैं।

आमाशय तथा आंतों से रक्त आने पर स्फटिकी चूर्ण साधारण पानक शर्बत के साथ दिया जाता है। सर्पदंश में ६ ड्राम स्फटिकी को १ सेर या ½ सेर घृत में मिला थोड़ा २ करके बमन आने तक पिलाने से सर्पविष हल्का पड़ जाता है। अशुद्ध तथा अपक्व नाग सेवन से होने वाले आंतों के तीव्र शूल में १–२ रत्ती स्फटिकी साधारण पानक के साथ देने से नाग धातु का विष नष्ट हो जाता है। अतः नाग (सीसा) के कार्यालयों में काम करने वालों को कभी कभी स्फटिकी सेवन लाभदायक है। नाग और स्फटिकी के मिलने से (Led sulphate) बन जाता है जो न घुल सकने के कारण निरुपद्रव होता है। अतः स्फटिकी सीसक का प्रतिविष है ॥ ६६ ॥

शोधनम्—

तुवरी कांजिके क्षिप्ता त्रिदिनाच्छुद्धिमृच्छति ॥ ६७ ॥

तुवरी को तीन दिन तक काञ्जी में ढालकर छान लेने से वह शुद्ध हो जाती है।

विशेष वचन—प्रचलित व्यवहार में स्फटिकी (फटकरी) को भून कर फुला लेना ही शुद्धि मानी जाती है। स्फटिकी को भूनने के लिये लोह पात्र में इतना गरम करते हैं कि उसका जलीय भाग उड़ जाय। जलीय भाग उड़ जाने पर स्फटिकी का भार ४५ प्रतिशत कम हो जाता है ॥ ६७ ॥

सत्वपातनम्—

क्षाराम्लैर्मर्दिता ध्माता सत्त्वं मुञ्चति निश्चितम् ॥ ६८ ॥

सौराष्ट्री को यवक्षार आदि क्षारों तथा काञ्जी के साथ मर्दन करके मूषा में रखकर तीव्र अग्नि से तपाने पर निश्चय ही इसका सत्व निकल आता है ॥ ६८ ॥

मतान्तरम्—

**गोपित्तेन शतं वारान् सौराष्ट्रीं भावयेत्ततः।
धमित्वा पातयेत्सत्त्वं क्रामणं चातिगुह्यकम् ॥ ६९ ॥**

इति तुवर्यधिकारः।

सौराष्ट्री को गाय के पित्त से सौ बार भावना देकर मूषा में रख तपाने से अत्यन्त गोपनीय सत्व निकलता है। यह पारद के क्रामण संस्कार में काम आता है।

विशेष वचन—क्रामणार्थ कार्य में प्रयुक्त होने वाला औषधि प्रयोग के लिये उपयुक्त नहीं होता है। इस प्रकार सुधाकर में इस बात को स्पष्ट कर दिया है 'तत्सत्वं धातुवादार्थे चौषधे नोपपद्यते' ॥ ६९ ॥

अथ तालकस्य भेदौ—

हरतालं द्विधा प्रोक्तं पत्राद्यं पिण्डसंज्ञकम् ॥ ७० ॥

हरताल दो प्रकार का होता है- एक 'पत्रताल' दूसरा 'पिण्ड-ताल' कहलाता है।

विशेष वचन—पत्र हरताल को 'वर्की या तबकिया हरताल' कहा जाता है। हरताल प्रकृति के गर्भ में स्वाभाविक रूप में प्राप्त होता है और कृत्रिम विधियों से भी बनाया जाता है। वर्तमान में हमें प्रायः कृत्रिम विधि से निर्मित हरताल ही प्राप्त होता है। साधारणतः हाईड्रोजन सल्फाइड को आर्सेनियस क्लोराइड के जलीय घोल में गुजारने से हरताल के स्फटिक नीचे बैठ जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हरताल, संखिया तथा गन्धक का समास है। आधुनिक प्राप्य हरताल के विश्लेषण (Composition) को

देखने से उसमें संखिया तथा गन्धक का क्रमशः एक तथा आधे का अनुपात ज्ञात होता है। अतः शुद्ध संखिया ४६ भाग शुद्ध गन्धक २४ भाग दोनों को एकत्र अच्छी तरह घोट कर डमरूयन्त्र (आगे लिखे जाने वाले) में डाल कर मन्द २ अग्नि से २४ घंटे पकाने के बाद हरताल ऊपर के पात्र की पेंदी में लगा हुआ प्राप्त होता है। प्राकृतिक रूप में यह भारतवर्ष में अल्मोड़ा के पहाड़ों की खानों में तथा कुछ अन्य देशों में भी पाया जाता है। इसको अंगरेजी में आर्पिमेन्ट (Arpiment) कहते हैं ॥ ७० ॥

पत्रतालकलक्षणम्—

स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धं तनुपत्रं च भासुरम् ।
तत्पत्रतालकं प्रोक्तं बहुपत्रं रसायनम् ॥ ७१ ॥

पत्रताल, स्वर्णवर्ण, गुरुभार, स्निग्ध (चिकनी), बारीक वर्कों से युक्त और चमकीला होता है। इसमें भी जिसके एक खण्ड में सैकड़ों बारीक पतले वर्क चिपके हुए होते हैं जैसे अभ्रक में वह रसायन कार्य के लिए उपयुक्त होता है। ॥ ७१ ॥

पिण्डतालकलक्षणम्—

निष्पत्रं पिण्डसदृशं स्वल्पसत्त्वं तथा गुरु ।
स्त्रीपुष्पहरणं तत्तु गुणाल्पं पिण्डतालकम् ॥ ७२ ॥

पिण्डताल वर्कों से युक्त न होकर केवल डली के रूप में होता है। इसमें सत्व अल्पमात्रा में पाया जाता है। यह गुरुभार तथा पत्रताल की अपेक्षा अल्पगुण होता है। स्त्री के मासिकस्राव को नष्ट करने के लिये यह अधिक उपयोगी माना जाता है।

विशेष वचन—र. प्र. सु. में "गुरु" के स्थान पर "तथाऽगुरु" ऐसा पाठ है। यही पाठ ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि हरताल से प्राप्त होने वाला सत्व (संखिया के अंश) के कारण ही पत्रताल गुरुभार होता है। इसमें सत्व की कमी से भाराल्पता स्वाभाविक होनी चाहिये। अतएव पिण्डताल का औषधि प्रयोग नहीं के बराबर है। रसकामधेनु में स्पष्ट लिख दिया है कि पिण्डताल "निष्पत्रोऽभारवान्" अर्थात् पिण्ड हरताल वर्कों से रहित तथा भार रहित होती है ॥ ७२ ॥

शुद्धतालकगुणाः—

श्लेष्मरक्तविषवातभूतनुत्केवलं च खलु पुष्पहृत्स्त्रियाः ।
स्निग्धमुष्णकटुकं च दीपनं कुष्ठहारि हरितालमुच्यते ॥ ७३ ॥

शुद्ध हरताल, श्लेष्मप्रकोप, रक्तविकार, विष, वायु के विकार भूतबाधा, को नष्ट करता है। हरताल (पिण्ड) स्त्रियों के मासिकस्राव को सुखा देती है। यह स्निग्ध, उष्ण, कटुरस, अग्निदीपक तथा कोढ़ को नष्ट करती है।

विशेष वचन—हरताल को आयुर्वेद में दो प्रकार से सेवन किया जाता है—१. अच्छी तरह शुद्ध करके भिन्न २ योगों के रूप में २. अच्छी तरह भस्म करके प्रायः स्वतन्त्र रूप में हरताल का व्यवहार होता है। शुद्धावस्था में प्रयुक्त हरताल अपेक्षाकृत भस्म के कुछ न्यून और चिरगुण होती है। भस्मावस्था में शीघ्र तथा अधिक शीघ्र गुणकारी होती है। अतः कहीं २ इसके द्विविध गुण लिखे पाये जाते हैं। जैसे शुद्ध ताल के गुणों में "विमलं तालकं स्निग्धं भूतज्वरविनाशनम्। त्वच्यं कुष्ठादिशमनं कथितञ्च रसायनम्" मृततालक गुणों में "मृतं तालं हरेद्घोरं फिरंगं सुचिरोत्थितम्। वातरक्तं विसर्पं च विषादींश्च विचर्चिकाम्। विविधानि च कुष्ठानि ह्यर्शांसि विषमज्वरम्। रोगं फिरंगजं हन्यादपस्मारं भगन्दरम्। व्रणं नाडीव्रणञ्चापि विस्फोटमतिदारुणम्। वातरक्तभवान् रोगानन्यानपि हरेद् भृशम्।" लिखा हुआ है। हरताल भस्मावस्था में संखिये के रूप में होता है और शुद्धावस्था में सोमल तथा गन्धक के रूप में, अतः संयोग गुण तथा स्वतन्त्रगुणों में परस्परभिन्नता स्वाभाविक है।

भस्मावस्था में यह सोमल (संखिया) के समान ही अन्तः-प्रयोग करने पर आमाशयान्तःकला में रक्तसञ्चार को बढ़ाता है जिससे अग्नि प्रदीप्त होती है और भूख लगती है। परन्तु अधिक मात्रा में आमाशय के लिये क्षोभक होता है। जो चिकित्सक औषधि द्वारा घी, दूध आदि पोषक द्रव्यों को अधिक मात्रा में हज़म कराने की शक्ति रखते हैं वे सोमल सदृश द्रव्यों के बल पर ही ऐसा करते हैं। तीव्र पाण्डुरोग (Primary Anaemia) में तालभस्म या सोमल देने से रक्त में रक्ताणुओं की संख्या बढ़ती है अतः पाण्डु के चिह्न शान्त होने लगते हैं। हृदय पर तालभस्म का उत्तेजक तथा बल्य प्रभाव पाया जाता है। इसके देने से हृदय की दुर्बल गति, बलवती तथा नियमित हो जाती है।

वात नाड़ियों के लिये भी यह बल्य है, अतः वातिक रोगों में सोमलभस्म, तालसिन्दूर, सोमल स्फटिकी तथा सोमल त्रिकुट आदि योग दिये जाते हैं।

त्वचा के लिये सोमल समास विशेष प्रभावक होते हैं। इनके देने से त्वचा की वृद्धि होती है जिससे त्वक्-रोग अच्छे हो जाते हैं। अतः सोमल हरताल आदि त्वच्य कहलाते हैं। तालभस्म के देने से त्वचाधः वसा की मात्रा बढ़ने लगती है जिससे त्वचा की कालिमा कठिनता तथा रूक्षता नष्ट होकर स्वच्छता, सुन्दरता तथा कोमलता उत्पन्न होती है। इस प्रयोजन के लिये तालभस्म को मञ्जिष्ठादि कषाय, पञ्चतिक्तक्वाथ, गुडूचीकषाय या हारिद्रास्वरस आदि के साथ दिया जाता है। इस विधि से सेवन करने पर त्वचा पर के छिलके साफ हो जाते हैं और उसके छोटे २ दाने तथा कोठ मिट जाते हैं।

शारीरिक धातुओं पर इसका पोषक और बल्य प्रभाव होता है। बहुत अल्प मात्रा में दूध माखन के साथ तालभस्म, या सोमलद्रव भोजन के बाद सेवन करने से शरीर की सब धातुओं की वृद्धि होती है, शारीरिक शक्ति तथा स्वास्थ्य बढ़ता है।

श्वाससंस्थान पर ताल या सोमल का बल्य प्रभाव होता है। इनके सेवन से श्वास काठिन्य हट जाता है। चिरकाल तक सोमल के योगों को सेवन करने से वातकफात्मक श्वास रोग नष्ट हो जाता

है। वासा धत्तूर पत्रादि के साथ बहुत थोड़ी मात्रा में सोमल का धूमपान करने से तात्कालिक श्वासवेग नष्ट हो जाता है। विषम ज्वर तथा राजयक्ष्मा के जीवाणुओं के लिये तालभस्म विशेषतः सोमल-भस्म घातक सिद्ध हुई है। पुरातन या नूतन विषमज्वरों में विषम-ज्वरहर वटी, करञ्जादि वटी, सुदर्शनचूर्ण आदि के साथ सोमल योगों से विशेष लाभ देखा गया है। राजयक्ष्मा या उरःक्षत की प्रारम्भिक अवस्था में स्वर्ण के योग राजमृगांक, स्वर्णपर्पटी सर्वांग-सुन्दररस आदि में सोमलभस्म मिलाकर देने से विशेष आराम आता है। फिरंग की द्वितीय या तृतीयावस्था में ताल या सोमल के योग बहुत लाभदायक सिद्ध हुये हैं। अतएव पारद सोमल आदि का जौहर निकाल कर इसमें दिया जाता है। विदेशी-चिकित्सा-पद्धति में भी इसी के योग सूचीवेध द्वारा शतप्रतिशत लाभदायक सिद्ध हुये हैं। लसीकार्बुद तथा लसीकाग्रन्थिअर्बुदों को नष्ट करने में सोमल का विशेष प्रभाव देखा जाता है। इस कार्य के लिए कुछ काल निरन्तर इसका सेवन करना पड़ता है। भोजन करने के बाद तुरन्त ही मलत्याग की प्रवृत्ति होने और पतले दस्तों के आने पर सोमल के योग शीघ्र लाभकारी पाये जाते हैं। ज्वरों के पश्चात् होने वाली दुर्बलता तथा अक्षुधा में सोमल द्रव का प्रयोग (भोजन के बाद) बहुत लाभदायक होता है।

मात्रा तालभस्म की $\frac{1}{8}$ रत्ती से $\frac{1}{4}$ रत्ती तक ॥ ७३ ॥

अशुद्धतालकदोषाः—

अशुद्धं तालमायुघ्नं कफमारुतमेहकृत्।
तापस्फोटांगसंकोचं कुरुते तेन शोधयेत् ॥ ७५ ॥

अशुद्ध ताल आयु को कम करती है, कफ, वायु तथा प्रमेह का कारण होती है। शरीर में ताप की वृद्धि और फोड़े उत्पन्न करती है, अंगों का संकोच करती है। अतः इसको अवश्य शुद्ध करें।

विशेष वचन—अशुद्ध हरताल सेवन से कम्प, तोद, क्षोभ तथा रक्तदोष आदि विकृतियां भी होती हैं। परन्तु शुद्ध हरताल में उक्त सब धर्म विपरीत होते हैं। अशुद्ध-हरताल-जन्य विकारों को शुद्ध हरताल शान्त कर देती है ॥ ७४ ॥

शोधनम्—

खिन्नं कूष्मांडतोये वा तिलक्षारजलेऽपि वा।
तोये वा चूर्णसंयुक्ते दोलायंत्रेण शुद्ध्यति ॥ ७५ ॥

पेठे (कुम्हाड़ा) के रस में हरताल का (दोलायंत्र द्वारा) स्वेदन करे अथवा तिलक्षार जल में (दोलायंत्रद्वारा) स्वेदन करे या चूने के पानी में (दोलायंत्रद्वारा) स्वेदन करे तो वह शुद्ध हो जाती है ॥ ७५ ॥

मतान्तरशोधनम्—

तालकं कणशः कृत्वा दशांशेन च टङ्कणम्।
जंबीरोत्थद्रवैः क्षाल्यं कांजिकैः क्षालयेत्ततः ॥ ७६ ॥
वस्त्रे चतुर्गुणे बद्ध्वा दोलायंत्रे दिनं पचेत्।

सचूर्णेनारनालेन दिनं कूष्माण्डजे रसे।
स्वेद्यं वा शाल्मलीतोयैस्तालकं शुद्धिमाप्नुयात् ॥ ७७ ॥

हरताल का जौकुट चूर्ण कर दश भाग लें, सुहागा एक भाग लें दोनों को मिलाकर जम्बीरी नीबू के रस तथा काञ्जी के जल से सात २ बार धोवें। पश्चात् चार तह किये हुये वस्त्र की पोटली बना उसमें उस हरताल को बांध दें। फिर काञ्जी में थोड़ा सा चूना घोल कर इसमें उक्त हरताल की पोटली को लटका कर दोलायंत्र की विधि से दिन भर स्वेदन करें। फिर पेठे के रस से स्वेदन करें। (अथवा पेठे के रस के स्थान पर) सेमल की जड़ के रस से दोलायंत्र में स्वेदन करें। इस विधि से हरताल शुद्ध हो जाती है। सामान्यतः स्वेद देने के लिये द्रव, स्वेद्य द्रव्य की अपेक्षा चौगुना लेते हैं स्वेद्य द्रव्य के छोटे छोटे टुकड़े चावलों के समान कर लेने चाहिए। (सम्पादक) ॥ ७६–७७ ॥

मतान्तरे शोधनं मारणञ्च—

मधुतुल्ये घनीभूते कषाये ब्रह्ममूलजे।
त्रिवारं तालकं भाव्यं पिष्ट्वा मूत्रेऽथ माहिषे ॥ ७८ ॥
उपलैर्दशभिर्देयं पुटं रुद्ध्वाथ पेषयेत्।
एवं द्वादशधा पाच्यं शुद्धं योगेषु योजयेत् ॥ ७९ ॥

गाढ़े भांगरीमूलकषाय अथवा ढाक की जड़ के क्काथ में बराबर मधु मिला इसके द्वारा हरताल को तीन भावना दें, फिर भैंस के मूत्र में घोट कर टिकिया बना सुखाकर सम्पुट में बन्द करके दश जंगली उपलों के पुट में फूक दें। पुनः पुट से निकाल भैंस के मूत्र में मर्दन कर टिकिया बना उक्त प्रकार पुट में फूक दें। इस प्रकार बारह पुट देने से हरताल शुद्ध तथा मृत (भस्म) हो जाती है। इस को औषधि प्रयोग में काम लावें।

विशेष वचन—"मधुतुल्ये" से कोई ढाक के काढ़े को मधु के समान घनीभूत अर्थ कहते हैं। यह भी ठीक है ॥ ७८–७९ ॥

तालसत्वपातनम्—

कुलित्थक्काथसौभाग्यमहिष्याज्यमधुप्लुतम्।
स्थाल्यां क्षिप्त्वा विदध्याच्च मल्लेन च्छिद्रयोगिना ॥ ८० ॥
सम्यङ् निरुध्य शिखिनं ज्वालयेत्क्रमवर्धितम्।
एकप्रहरमात्रं हि रंध्रमाच्छाद्य गोमयैः ॥ ८१ ॥
यामांते छिद्रमुद्घाट्य दृष्टे धूमे च पाण्डुरे।
शीतां स्थालीं समुत्तार्य सत्त्वमुत्कृष्य चाहरेत् ॥ ८२ ॥
सर्वपाषाणसत्त्वानां प्रकाराः सन्ति कोटिशः।
ग्रंथविस्तरभीत्यात्र लिखिता न मया खलु ॥ ८३ ॥

शुद्ध हरताल को समभाग सुहागा और भैंस का घृत तथा मधु के साथ कुल्थ क्काथ से मर्दन कर गोला सा बनाकर एक दृढ़ हांडी में डाल दें। फिर हांडी के मुख पर बीच में छिद्रयुक्त एक सिकोरा रख दें और अच्छी तरह सन्धिबन्धन करदें, फिर इस हाँडी को चूल्हे

में रख कर गीले गोबर से सिकोरे का छिद्र बन्द कर दें और नीचे मन्द-मन्द तथा तीव्र क्रम से एक पहर तक अग्नि जलावें। एक पहर बाद सिकोरे के छिद्र को खोल कर देखें, यदि उसमें से पाण्डु-वर्ण धुंआं निकलने लगे तो अग्नि देना बन्द कर दें। हांडी को शीतल होने पर उतार सिकोरे को खोल हांडी के मध्य में से ताल सत्व लेलें। इस तरह सब प्रकार के पाषाण-मय पदार्थों के सत्व-पातन करने की विधियां शास्त्रों में करोड़ों लिखी हैं। उन सब को हमने ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से नहीं लिखा है।

विशेष वचन—रसपद्धति के अनुसार इस विधि में कुछ भिन्नता है उसमें चार पहर अग्नि देने को बताया है। "कुलत्थक्वाथटंकण-महिषीघृतमधुयुक्तं हरितालं शुद्धं दध्याज्येन भावितं हण्डिकायां क्षिप्त्वा उपरि मल्लं सच्छिद्रं दत्वा, सन्धिलेपं कृत्वा क्रमेण वह्निं यामचतुष्टयं दद्यात्, यावन्नीलः पीतो वा धूमो ह्यागच्छति, ततः पाण्डुरे धूमे दृष्टे सति एकप्रहरमात्रं छिद्रं गोमयेनाच्छाद्य तीव्रमग्निं दद्यात् यामान्ते चोद्घाट्य पाण्डुरधूमेऽदृष्टे सति अग्निं पूर्णं कुर्यात्। पश्चात् शीतां स्थालीमुत्तार्य सत्वं ग्राह्यम्" ॥ ८०—८३ ॥

मतान्तरम्—

पलालकं रवेर्दुग्धैर्दिनमेकं विमर्दयेत्।
क्षिप्त्वा षोडशिकातैले मिश्रयित्वा ततः पचेत् ॥ ८४ ॥
अनावृतप्रदेशे च सप्तमायावधि ध्रुवम्।
स्वांगशीतमधःस्थं च सत्त्वं श्वेतं समाहरेत् ॥ ८५ ॥

शु० हरताल एक पल को आक के दूध में एक दिन में अच्छी तरह मर्दन कर पश्चात् उसमें एक तोला तिलतैल मिला वालुकायन्त्र (आगे लिखे जाने वाले) से सात पहर तक पकावें, फिर अग्नि देना बन्द कर दें। स्वांगशीत होने पर शीशी के भीतर पेंदी में से सफेद सत्व प्राप्त होता है। वालुकायन्त्र में पकाते समय वह स्थान खुला रहना चाहिये जिससे हरताल का धुंआं किसी को हानि न पहुँचा सके।

विशेष वचन—"प्रकुञ्चः षोडशी विल्वम्" परिभाषा मान के अनुसार तथा एक तोला तैल से द्रव्य को अच्छी तरह तर न होने की आशंका से षोडशिका का अर्थ एक पल कहते हैं। परन्तु एक कर्ष अर्थ करने पर भी सत्व पातन में कोई त्रुटि नहीं होती है, तैल अधिक होने पर धूम अधिक देर तक निकलता है अन्यथा शीघ्र ही शान्त हो जाता है ॥ ८४—८५ ॥

मतान्तरम्—

छागलस्याथ बालेन बलिना च समन्वितम्।
तालकं दिवसद्वंद्वं मर्दयित्वाऽतियत्नतः ॥ ८६ ॥
युक्तं द्रावणवर्गेण काचकूप्यां विनिःक्षिपेत्।
त्रिधा तां च मृदा लिप्त्वा परिशोष्य खरातपे ॥ ८७ ॥
ततः खर्परकच्छिद्रे तामर्धां चैव कूपिकाम्।
प्रवेश्य ज्वालयेदग्निं द्वादशप्रहरावधि।
कूपिकण्ठस्थितं शीतं शुद्धं सत्त्वं समाहरेत् ॥ ८८ ॥

हरताल को बकरे की पूँछ के बालों (बारीक कतरे हुये) और शुद्ध गन्धक (समभाग में) के साथ दो दिन तक अच्छी तरह मर्दन कर इसमें आगे लिखे द्रावण वर्ग की औषधियों (मधु, घृत, टंकण आदि) को मिलाकर एक दृढ़ बोतल या शीशी (आतसी) में भर दें और इसको बाहर से तीन कपड़मिट्टी करके अच्छी तरह सुखा दें। फिर वालुकायन्त्र की हांडी या कुण्ड के छिद्र (जो हांडी की पेंदी में किया जाता है) में शीशी को इस तरह रख दें जिससे शीशी आधी हांडी के अन्दर हो और आधी बाहर खुली हो अर्थात् हांडी बोतल की लम्बाई से गहराई में आधी हो। अब इसे बारह पहर की अग्नि देकर पकावें। पश्चात् स्वांगशीत होने पर शीशी या बोतल के गले में लगे हुए शुद्ध सत्व को निकाल लें ॥

मतान्तरम्—

पलार्धप्रमितं तालं बद्ध्वा वस्त्रे सिते दृढे।
बलिनाऽऽलिप्य तेन त्रिवारं परिशोष्य च ॥ ८९ ॥
द्राविते त्रिपले ताम्रे क्षिपेत्तालकपोटलीम्।
भस्मनाच्छादयेच्छीघ्रं ताम्रेणाऽऽवेष्टितं सितम् ॥
मृदुलं सत्वमादद्यात्प्रोक्तं रसरसायने ॥ ९० ॥

इति तालकाधिकारः

अर्ध पल शुद्ध हरताल को एक दृढ़ श्वेत वस्त्र में बांध कर एक दृढ़ पोटली (गेंद-सी) बना लें। फिर अर्धपल गन्धक को गोमूत्र से खूब पीस कर इस कल्क का पोटली पर तीन बार पृथक् २ लेप करके धूप में सुखा लें। फिर तीन पल अर्थात् १२ तोले ताम्बे को पिघला कर तत्काल उसमें पोटली डालकर ऊपर से उपलों की राख से ढंक दें। इस तरह पोटली को ताम्र में डालें कि जिससे पोटली के चारों तरफ ताम्र ही जाय। ताम्रलेप (पोलिस) के शीतल होने पर पोटली को भस्म से निकाल लें। इस प्रकार कुछ काल बाद भस्म से बाहर निकालने पर चिपके हुए मृदु और श्वेतवर्ण सत्व को प्राप्त कर लें। इस सत्व को रसों तथा रसायनप्रयोगों में प्रयोग करना चाहिये ॥ ८९—९० ॥

अथ मनःशिलाया भेदाः—

मनःशिला त्रिधा प्रोक्ता श्यामाङ्गी कणवीरका।
खण्डाख्या चेति तद्रूपं विविच्य परिकथ्यते ॥ ९१ ॥

मैनसिल तीन प्रकार की होती है। १—श्यामांगी २—कणवीरका ३—खण्डाख्या। इनके स्वरूप का पृथक् २ विवेचन आगे कहा जाता है।

विशेष वचन—मनःशिला नैसर्गिक रूप में तथा कृत्रिमविधि से बनाई हुई भी प्राप्त होती है। यह तालवत् सोमल का समास है। कृत्रिम विधि से प्राप्त करने में आर्सेनिकल पाइराइट तथा

साधारण पाइराइट (स्वर्णमाक्षिक) को एकत्र मिला कर डमरूयन्त्र में रख ऊर्ध्वपातन किया जाता है जिससे ऊर्ध्वपात्र में सञ्चित शिला प्राप्त होती है। अथवा शुद्ध सोमल विष ४६ भाग और गन्धक १३ भाग दोनों को अच्छी तरह पीस कर डमरूयन्त्र में ऊर्ध्वपातित करने से भी मैनसिल प्राप्त की जाती है ॥ ६१ ॥

त्रिविधानां लक्षणानि—

श्यामा रक्ता सगौरा च भाराढ्या श्यामिका मता ।
तेजस्विनी च निर्गौरा ताम्राभा कणवीरका ॥ ६२ ॥
चूर्णीभूताऽतिरक्ताङ्गी सभारा खण्डपूर्विका ।
उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा भूरिसत्त्वा प्रकीर्तिता ॥ ६३ ॥

उक्त त्रिविध शिलाओं में "श्यामिका" गौर (किञ्चित्पीतवर्णश्वेत) श्याम (कत्थईरंग) तथा लाल रंग की होती है। अर्थात् यह उक्त त्रिविध वर्ण मिश्रित होती है।

कणवीरका—चमकीली पीलिमा रहित ताम्र वर्ण की होती है।

खण्डाख्या—चूर्णरूप, अत्यन्त लालरंग तथा गुरुभार होती है। इनमें श्यामिका की अपेक्षा, कणवीरका और कणवीरका की अपेक्षा खण्डाख्या उत्तम मानी जाती है, क्योंकि इनमें शिला से प्राप्त होने वाले सत्व (सोमलांश) क्रमशः अधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में श्यामा को सिंगरफ के सदृश लाल कुछ पीली और चमकीली लिखा है। कणवीरका को रक्तवर्ण चूर्णरूप और गुरु भार लिखा है। इसी तरह खण्डाख्या को अत्यन्त भारी (तोल में) और किञ्चित् लाल वर्ण लिखा है। परन्तु रसेन्द्रसारसंग्रह में गुड़हलपुष्पवर्ण तथा भारयुक्त शिला को श्रेष्ठ माना है ॥ ६२—६३ ॥

गुणाः—

मनःशिला सर्वरसायनाग्र्या
तिक्ता कटूष्णा कफवातहंत्री ।
सत्त्वात्मिका भूतविषाग्निमांद्य-
कण्डूतिकासक्षयहारिणी च ॥ ६४ ॥

शुद्ध मैनसिल सब रसायनों में श्रेष्ठ, तिक्त (कड़ुवा) तथा कटुरस उष्णवीर्य और वात-कफ-प्रकोप नष्ट करती है। सत्वात्मिका (पित्त गुणवाली अथवा अधिक सत्व वाली) है। भूतबाधा, विषबाधा, अग्निमान्द्य, कण्डू, कास तथा क्षयरोग को नष्ट करती है।

विशेष वचन—शुद्ध मैनसिल नेत्र, आमाशय, श्वास नाली, त्वचा आदि स्थानों में चिपके हुये कफ (जो शोथ का कारण होता है) को पतला कर बाहर निकाल देती है अतः इसमें लेखनधर्म भी है। इसी वास्ते यह नेत्ररोगों में चन्द्रोदयावर्ति के रूप में प्रयुक्त होती है और त्वचा के रोगों में मरिचादितैल के रूप में प्रयुक्त होती है। यह हरिद्रा आदि त्वच्य औषधियों के साथ श्वास, कास रोग में श्वासकुठार आदि रसों के रूप में व्यवहृत होती है। सोमल के समान यह भी स्तम्भनाशक होती है। अतएव श्वास कास रोग में इसको वासास्वरस त्रिकुट चूर्ण के साथ दिया जाता है जिससे श्वास नाली का उद्वर्त शान्त होने से श्वास कष्ट मिट जाता है। पुरातन प्रकृति के श्वास कास में यह विशेष लाभदायक समझी जाती है।

शरीर में जीवाणु-प्रवेश-जन्य रोगों के लिये यह उत्तम मानी जाती है। इसमें गन्धक तथा सोमल दोनों ही प्रधान द्रव्य अनेक प्रकार के जीवाणुघातक हैं। अतः शिला को विषमज्वर, क्षयज्वर या अन्य विषज्वरों में भिन्न २ योगों के रूप में दिया जाता है। इसके अतिरिक्त शिला को इसी प्रभाव के कारण उन्माद अपस्मार आदि रोगों में (जिनमें आगन्तु सम्बन्ध माना जाता है) प्रयोग किया जाता है ॥ ६४ ॥

अशुद्धशुद्धशिलयोर्दोषगुणाः—

अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रं च अशुद्धा कुरुते शिला ।
मंदाग्निं मलबंधं च शुद्धा सर्वरुजापहा ॥ ६५ ॥

अशुद्ध मैनसिल, अश्मरी (पथरी) तथा मूत्रकृच्छ्ररोग का कारण होती है। इससे मन्दाग्नि तथा मलबन्ध (कबज) हो जाता है। किन्तु शुद्ध सब रोगों का नाश करती है।

विशेष वचन—स्वाभाविक रूप में प्राप्त होने वाली शिला में अन्य खनिज द्रव्यों का मिश्रण तथा पत्थर के खण्ड बालू रेत आदि की उपस्थिति सम्भव है जिससे मन्दाग्नि, मलबन्ध आदि विकार उपस्थित हो जाते हैं। अत एव "मनःशिला शिलाखण्डशून्य" ऐसा लिखा है ॥ ६५ ॥

शोधनम्—

अगस्त्यपत्रतोयेन भाविता सप्तवारकम् ।
शृंगवेररसैर्वाऽपि विशुद्ध्यति मनःशिला ॥ ६६ ॥

मैनसिल को अगथिया के रस में सात भावना देकर सुखा लेने से शुद्धि हो जाती है। अथवा अदरख के रस में सात भावना देकर सुखा लेने से मैनसिल शुद्ध हो जाती है ॥ ६६ ॥

प्रकारान्तरशोधनम्—

जयंतीभृंगराजोत्थरक्तागस्त्यरसैः शिलाम् ।
दोलायंत्रे पचेद्यामं यामं छागोत्थमूत्रकैः ।
क्षालयेदारनालेन सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ ६७ ॥

मैनसिल को जयन्ती (अरनी या भांग) भांगरा तथा लाल अगथिया इनमें से किसी एक के रस में दोलायन्त्रद्वारा एक पहर पका कर फिर एक पहर बकरे के मूत्र में दोलायन्त्रद्वारा पकावें। अंत में काञ्जी से धोकर सुखा लें और सब रोगों में प्रयुक्त करें।

विशेष वचन—तन्त्रान्तरों में जयन्ती आदि द्रव्यों के रस से पृथक् २ शोधन कहा है। इस प्रकार शोधन की चार विधियां हो जाती हैं। सब द्रव्यों के रस से शोधन करने से लाभ ही होगा हानि नहीं। तन्त्रान्तर में जयन्ती आदि के रस में एक दिन पकाना लिखा है ॥ ६७ ॥

सत्वपातनम्—

अष्टमांशेन किट्टेन गुडगुग्गुलुसर्पिषा ।
कोष्ठ्यां रुद्ध्वा दृढं ध्माता सत्त्वं मुंचेन्मनःशिला ॥ ६८ ॥

शुद्ध मनःशिला १ भाग, लोह मण्डूर ⅛ भाग, गुग्गुलु ⅛ भाग, पुराना गुड़ ⅛ भाग, घृत ⅛ भाग सब को एकत्र मर्दन कर अन्धमूषा में बन्द करके कोष्ठी में तीव्र अग्नि से तपाने पर मैनसिल का सत्व निकल आता है।

विशेष वचन—यहाँ कोई किट्ट आदि में से केवल लोहमण्डूर को ही शिला की अपेक्षा आठवां भाग लेने को कहते हैं अन्य द्रव्यों को यथायोग्य डालने को कहते हैं ॥ ६८ ॥

मतान्तरम्—

भूनागधौतसौभाग्यमदनैश्च विमर्दितः ।
कारवल्लीदलांभोभिर्मूषां कृत्वाऽत्र निक्षिपेत् ॥ ६६ ॥
शिलां क्षाराम्लनिष्पिष्टां प्रधमेत्तदनंतरम् ।
कोकिलाद्वयमात्रं हि ध्मानात्सत्त्वं त्यजत्यसौ ॥ १०० ॥

इति मनःशिलाधिकारः ।

केंचुए का सत्व, सोहागा, मैनफल को समभाग में लेकर करेले के पत्तों के रस में घोटकर इसकी मूषा बनावें। इस मूषा में यवक्षार आदि क्षारों तथा काञ्जी से मर्दन की हुई मैनसिल डालकर सन्धि लेप करके बेर की लकड़ी के कोयलों से दो बार तपाने से मैनसिल का सत्व निकल आता है ॥ ६६–१०० ॥

अथाञ्जनानां भेदनिर्देशः—

सौवीरमञ्जनं प्रोक्तं रसाञ्जनमतः परम् ।
स्रोतोऽञ्जनं तदन्यच्च पुष्पाञ्जनकमेव च ।
नीलाञ्जनं च तेषां हि स्वरूपमिह वर्ण्यते ॥ १०१ ॥

अंजन पाँच प्रकार का होता है। १—सौवीराञ्जन, २—रसाञ्जन, ३—स्रोतोञ्जन, ४—पुष्पाञ्जन, ५—नीलाञ्जन, इनके स्वरूपों का आगे वर्णन किया जाता है।

विशेष वचन—उक्त अञ्जनों में नीलाञ्जन तथा स्रोतोञ्जन नागधातु के मूल खनिज हैं। इसमें गन्धक का योग होता है। यह स्वभावतः प्राप्त होने वाला खनिज द्रव्य है। अफगानिस्तान, फारस तथा ईरान की बड़ी २ पर्वतमालाओं में इसकी खानें पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त जेहलम नदी के निकट कटास राज्य के पास अनेक पर्वतमय प्रदेशों में भी इसकी खानें पाई जाती हैं। यह काले चमकीले स्फटिकों के रूप में प्राप्त होता है और रासायनिक दृष्टि से शीशक गन्धित् (Led Sulphide) माना जाता है। इसको गैलीना (Galena) कहते हैं। आजकल अञ्जनों के विषय में बहुत गड़बड़ी चली हुई है। अतः इनसे वास्तविक लाभ नहीं होता दिखाई देता है। यदि इनको आधुनिक मतों को देखते हुये लिया जाय तो बहुत कुछ सुधार हो सकता है। नवीन मत से इनकी अच्छी तरह परीक्षा करके लेना उचित है। आधुनिक लोग सौवीराञ्जन स्टिब्नाइटिस (Stybnitis) रसाञ्जन को यलो ओक्साइड आफ मर्करी (yellow oxide of mercury) स्रोतोञ्जन को अन्टीमनी सल्फाइड (Antimony sulphide) या वरनाग सुरमा। पुष्पाञ्जन को जिंक ओक्साइड (Zinc oxide) नीलाञ्जन को गेलेन या लेडसल्फाइड (Led sulphide) मानते हैं ॥ १०१ ॥

सौवीराञ्जनगुणाः

सौवीरमञ्जनं धूम्रं रक्तपित्तहरं हिमम् ।
विषहिध्माक्षिरोगघ्नं व्रणशोधनरोपणम् ॥ १०२ ॥

सौवीराञ्जन धूम्र वर्ण का काला होता है। यह रक्तपित्तहर तथा शीत है। विष, हिचकी, तथा नेत्ररोगों को दूर करता है और व्रणों का शोधन (साफ करना) और पूरण (भरना) करता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में सुवीरा नदी के किनारे पर पाये जाने के कारण इसे सौवीराञ्जन नाम से लिखा है। यह भी काले सुरमे का एक भेद ही है। "वल्मीकशिखराकारं भंगे नीलोत्पलद्युति। सौवीराञ्जनमित्याहुः..." गन्धक आदि की न्यूनाधिकता के कारण यह कृष्णवर्ण के स्थान में धूम्रवर्ण या पाण्डुरवर्ण का होता है। "स्रोतोञ्जनसमं ज्ञेयं सौवीरं तत्तु पाण्डुरम्।" यह सुरमा बेली आसाम से आता है ॥ १०२ ॥

रसाञ्जनगुणाः—

रसाञ्जनं च पीताभं विषवक्त्रगदापहम् ।
श्वासहिध्मापहं वर्ण्यं वातपित्तास्रनाशनम् ॥ १०३ ॥

रसाञ्जन पीताभवर्ण होता है। यह विषबाधा, मुखरोग (मुखपाक), श्वास, हिचकी, वातरक्त और पित्तरक्त प्रकोप को शान्त करता है। व्रण आदि में त्वचा के रंग को निखारता है।

विशेष वचन—आजकल वैद्य लोग रसाञ्जन से यहाँ पर रसौंत का ग्रहण कर लेते हैं जिसकी विधि यह है कि दारुहल्दी कषाय तथा बकरी के दूध को समभाग में लेकर पुनः पकाकर गाढ़ा करके बनाया जाता है। यद्यपि यह द्रव्य खनिज नहीं है तथापि संस्कृत में अञ्जन नाम युक्त होने से इसको अञ्जन प्रकरण में लिखा गया है ऐसा मत या विचार किया जाता है। इसका उपयोग अंजन कार्य में होने से यहाँ यह लिखा है ॥ १०३ ॥

स्रोतोञ्जनगुणाः—

स्रोतोऽञ्जनं हिमं स्निग्धं कषायं स्वादु लेखनम् ।
नेत्र्यं हिध्माविषच्छर्दिकफपित्तास्ररोगनुत् ॥ १०४ ॥

स्रोतोञ्जन (काला सुरमा) शीतल स्निग्ध कषाय तथा स्वादुरस, लेखन (स्रावक), नेत्रों के लिये हितकर, हिचकी, विष, वमन कफप्रकोप पित्त-रक्त रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—यह अंजन सर्वश्रेष्ठ माना गया है। "स्रोतो-

ञ्जनगुणाः सर्वे सौवीरेऽपि मता बुधैः। किन्तु द्वयोरञ्जनयोः श्रेष्ठं स्रोतोञ्जनं स्मृतम्"। ग्रन्थान्तर में इसकी परीक्षा भी लिखी है। इसके विषमाकार नुकीले खण्ड होते हैं। तोड़ने पर यह भीतर से नीलाञ्जन के सदृश काला होता है। कागज पर गेरू के सदृश लिखता है। आजकल यह सुरमा वर्मा और मैसूर में थोड़ा बहुत पाया जाता है। इसको लोग सफेद सुरमा के नाम से लेते हैं। परन्तु बाजार में सफेद सुरमा के नाम से जो द्रव्य मिलता है वह ठीक नहीं है। वह केलसाइट है जो चूने की जाति का एक पत्थर है न कि स्रोतोञ्जन॥ १०४॥

पुष्पाञ्जनगुणाः—

पुष्पाञ्जनं सितं स्निग्धं हिमं सर्वाक्षिरोगनुत्।
अतिदुर्धरहिध्माघ्नं विषज्वरगदापहम्॥ १०५॥

पुष्पाञ्जन (यशद पुष्प) श्वेत वर्ण, स्निग्ध, शीत, सर्व-नेत्र-रोगहर, भयंकर हिचकीरोगनाशक, विषबाधा तथा ज्वर को दूर करता है।

विशेष वचन—पुष्पाञ्जन पीतल के किट्ट से बनाया जाता है, पीतल पिघलाते समय उसमें स्थित यशद पिघल कर अलग हो जाता है तो उसको तेज अग्नि में भूनने से वह फूल जाता है। अत एव कोई इसको Zinc Oxide या फूला भी कहते हैं॥ १०५॥

नीलाञ्जनगुणाः—

नीलाञ्जनं गुरु स्निग्धं नेत्र्यं दोषत्रयापहम्।
रसायनं सुवर्णघ्नं लोहमार्दवकारणम्॥ १०६॥

नीलाञ्जन (नीला, काला सुरमा) अपेक्षाकृत अन्य अञ्जनों के गुरु भार होता है। यह स्निग्ध, नेत्रहितकर तथा तीनों दोषों के प्रकोप को शान्त करता है। यह रसायन स्वर्णभस्मकारक तथा लोह को मृदु करता है।

विशेष वचन—नीलाञ्जन में शीशे का भाग अधिक होता है। अतः अन्तःप्रयोग की आवश्यकता होने पर इससे नाग को पृथक् करने के लिये उसमें ½ भाग ताम्र मिला कर मूषा में पिघलायें। पिघली हुई अवस्था में उसमें रेजी डाल दें। इससे ठोस हो जाने पर कूट कर नाग को पृथक् कर लें। अवशिष्ट ताम्र को लवण, नीबूरस, जम्बीरी रस से कई बार घोट कर धो करके निकाला जाता है। जब तक नीला पानी निकले घोटते रहें। नीला पानी निकलना बन्द होने पर स्वच्छ जल से धोकर काम में लावें। नीलाञ्जन में समभाग गन्धक मिला पुट देने से उसकी भस्म हो जाती है। जो विषैले भयंकर ज्वरों के लिये उत्तम मानी जाती है॥ १०६॥

शोधनम्—

अञ्जनानि विशुध्यन्ति भृङ्गराजनिजद्रवैः॥ १०७॥

सभी अञ्जन भांगरे के रस में दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करने से शुद्ध हो जाते हैं।

विशेष वचन—उक्त शुद्धि स्रोतोञ्जन सौवीराञ्जन तथा नीलाञ्जन की समझनी चाहिये। पुष्पाञ्जन तथा रसाञ्जन को भांगरे के रस में घोट कर सुखा लेने से भी कुछ हानि नहीं है।

सत्वपातनम्—

मनोह्वासत्त्ववत्सत्त्वमञ्जनानां समाहरेत्॥ १०८॥

अञ्जनों का सत्वपातन मनःशिला सत्वपातनवत् ही करना चाहिये॥ १०८॥

स्रोतोञ्जनलक्षणम्—

वल्मीकशिखराकारं भङ्गे नीलोत्पलद्युति।
घृष्टं तु गैरिकच्छायं स्रोतोजं लक्षयेद् बुधः॥ १०९॥

स्रोतोञ्जन बांबी के शिखरों के सदृश खण्डयुक्त होता है, तोड़ने पर नीलकमलवत् चमकीला निकलता है। घिसने पर गेरू की भांति वर्ण वाला होता है। अथवा गेरू के समान लिखता है।

अञ्जनेन रसबन्धोपायः—

गोशकृद्रसमूत्रेषु घृतक्षौद्रवसासु च।
भावितं बहुशस्तच्च शीघ्रं बध्नाति सूतकम्॥ ११०॥

स्रोतोञ्जन, गोबर के रस, गोमूत्र, गोघृत, मधु तथा वसा (चर्बी) से पृथक् २ सात बार भावना देने पर पारद का शीघ्र बन्धन करता है॥ ११०॥

रसाञ्जनस्य विशेषशोधनम्—

सूर्यावर्तादियोगेन शुद्धिमेति रसाञ्जनम्॥ १११॥

रसौंत को आगे कहे हुये सूर्यावर्तादिगण की औषधियों के रस कषाय से भावना देकर शुद्ध करना चाहिये॥ १११॥

स्रोतोञ्जनसत्वपातनम्—

राजावर्तकवत्सत्त्वं ग्राह्यं स्रोतोऽञ्जनादपि॥ ११२॥

इत्यञ्जनाधिकारः।

यदि स्रोतोञ्जन से सत्वपातन करना हो तो राजावर्त के समान सत्वपातन करना चाहिये।

विशेष वचन—अञ्जनों को आभ्यन्तरिक प्रयोग में बहुत कम लिया जाता है। मुख्यतः अञ्जन बाह्याभ्यन्तर प्रयोग में शीतगुण तथा ग्राही प्रभाव रखते हैं। किसी स्थान के स्राव को सुखाने के लिये अञ्जन के लेप लगाये जाते हैं। नेत्रपलकों की भीतरी कोमल झिल्ली में इनके अञ्जन लगाने से नेत्रस्राव होकर शोथ हट जाते हैं। अतः इनको लेखन भी लिखा है। अन्तःप्रयोग में भी अञ्जन ग्राही प्रभावक होने से रक्तपित्त, रक्तातिसार, रक्तकास में विशेष उपयोगी होते हैं। इसके अतिरिक्त मुख्य अञ्जन नाग के उपधातु या मूल खनिज होने से बाह्याभ्यन्तरिक प्रयोग में विषहर है। अतः इनकी भस्म को विसर्प, शोथ, वीसर्पज्वर, कालज्वर में प्रयुक्त किया जाता है। रक्तप्रदर की तीव्रावस्था में सौवीराञ्जन के योगों से विशेष लाभ पाया जाता है। कई बार स्त्रियों के मासिकधर्म को बन्द करने के लिये भी इनका प्रयोग किया जाता है। परन्तु क्योंकि इनमें

नाग होता है अतः अधिक समय तक अथवा तीन चार रत्ती से अधिक (कुलयोग) मात्रा नहीं सेवन करनी चाहिये। अन्यथा सीसक विष के लक्षण उदय हो जाते हैं।

मात्रा आभ्यन्तर प्रयोगार्थ ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥ ११२ ॥

अथ कंकुष्ठोत्पत्तिस्थानं भेदश्च—

हिमवत्पादशिखरे कंकुष्ठमुपजायते।
तत्रैकं नालिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम् ॥ ११३ ॥

हिमालय पर्वत के समीपवती पर्वतशिखरों में कंकुष्ठ पैदा होता है। वह १—नालिकाख्य २—रेणुक भेद से दो प्रकार का होता है।

विशेष वचन—कंकुष्ठ के विषय में वैद्यों में अत्यन्त विवाद चल रहा है। बहुत से इसको मुर्दासंग मानते हैं और यह युक्ति देते हैं कि यह उपरसों में माना गया है अतः यह कोई काष्ठ औषधि या उसकी रसक्रिया सत्व आदि नहीं हो सकता। परन्तु मुर्दासंग को शास्त्रकारों ने पृथक् मृद्दारश्रृंग के नाम से लिखा है जो नाग (सीसा) धातु का उपधातु है। साथ ही मुर्दासंग रेचक नहीं है किन्तु कंकुष्ठ अत्यन्त रेचक होता है। अतः कंकुष्ठ मुर्दासंग से सर्वथा भिन्न वस्तु है। यह किसी वृक्ष तथा क्षुप का निर्यास प्रतीत होता है। कोई इसको सत्यानाशी या उस जाति के क्षुपकी रसक्रिया मानते हैं। शास्त्रों में इसके विषय में मतभेद है जो इसकी समस्या को हल करने के स्थान में और कठिन बना देते हैं। कंकुष्ठ की विरेचकता को देखते हुये आजकल बहुमत रेवनचीनीसत्व अथवा उसारे रेवन्द (Gambose) को कंकुष्ठ के स्थान में व्यवहार करने को कहता है। उसारे रेवन्द रेवनचीनी का सत्व जाना जाता है और कंकुष्ठ को भी सत्वमय बताया गया है। बंगाल में कंकुष्ठ से "तुषिम्" लिया जाता है। सुश्रुत में कंकुष्ठ का अर्थ करते हुए डल्हण ने "कंकुष्ठस्वर्णक्षीरिनिर्यासः" ऐसा लिखा है। अर्थात् कंकुष्ठ स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) का निर्यास है ॥ ११३ ॥

कंकुष्ठद्वयलक्षणम्—

पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कंकुष्ठमादिमम्।
श्यामपीतं लघु त्यक्तसत्त्वं नेष्टं हि रेणुकम् ॥ ११४ ॥

पीताभ, गुरुभार, स्निग्ध (चमकीला) कंकुष्ठ श्रेष्ठ माना जाता है। अर्थात् नलिक संज्ञक कंकुष्ठ में उक्त लक्षण होते हैं किंतु श्याम पीतवर्ण, लघुभार, सत्वरहित कंकुष्ठ अच्छा नहीं माना जाता है। अर्थात् रेणुक कंकुष्ठ में उक्त लक्षण होते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में कंकुष्ठ के रक्तकाल तथा अण्डक नाम से दो भेद पाये जाते हैं। ग्रन्थान्तर से लक्षणों पर कुछ स्पष्ट प्रकाश पाया जाता है। पीतप्रभं गुरु स्निग्धं कंकुष्ठं शिलया समम्। मृद्दतीव शलाकाभं सच्छिद्रं नलिकाभिधम्। रेणुकाख्यं तु कंकुष्ठं श्यामपीतरजोन्वितम्" ॥ ११४ ॥

कंकुष्ठोत्पत्तौ मतान्तरं लक्षणञ्च—

केचिद्वदन्ति कंकुष्ठं सद्योजातस्य दन्तिनः।
वर्चश्च श्यामपीताभं रेचनं परिकथ्यते ॥ ११५ ॥
कतिचित्तेजिवाहानां नालं कंकुष्ठसंज्ञकम्।
वदन्ति श्वेतपीताभं तदतीव विरेचनम् ॥ ११६ ॥

कोई वैद्य कंकुष्ठ को तत्काल पैदा हुये हाथी के बच्चे की विष्ठा मानते हैं। वह श्यामपीतवर्ण और रेचक कही जाती है। कई वैद्य घोड़े के बच्चे की विष्ठा को या घोड़े के बच्चे के नाल (मेहनेन्द्रिय अथवा नाभि) को कंकुष्ठ मानते हैं। यह श्वेत, पीतवर्ण और अतितीव्र रेचक होता है।

विशेष वचन—उक्त प्रकार से भिन्न २ मत विचार होने पर कंकुष्ठ के विषय में पर्याप्त भ्रम (सन्देह) है। इसको आयुर्वेद-प्रकाश में स्पष्ट कर दिया है "नालं वा वाजिबालस्येत्येवं कंकुष्ठकभ्रमेः"। अर्थात् कंकुष्ठ के विषय में बहुत प्राचीन समय से भ्रम और सन्देह है ॥ ११५—११६ ॥

द्वयोः प्रशस्ताऽप्रशस्तता—

रसे रसायनं श्रेष्ठं निःसत्त्वं बहु वैकृतम् ॥ ११७ ॥

नलिक संज्ञक कंकुष्ठ रस तथा रसायन कर्म में श्रेष्ठ माना जाता है परन्तु रेणुक-कंकुष्ठ सत्व रहित होने से तथा अनेक विकारयुक्त होने से उक्त कार्य में व्यवहृत नहीं होता है ॥ ११७ ॥

कंकुष्ठगुणाः—

कंकुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्योष्णं चातिरेचनम्।
व्रणोदावर्तशूलार्तिगुल्मप्लीहगुदार्तिनुत् ॥ ११८ ॥

कंकुष्ठ तिक्त और कटुरस, वीर्य में उष्ण तथा अत्यन्त विरेचन लाने वाला होता है। व्रण, उदावर्त, उदरशूल, गुल्म, प्लीहा, और अर्श को नष्ट करता है ॥ ११८ ॥

रसोपरसानां सामान्यतः शोधनं सत्वपातनञ्च—

सूर्यावर्तककदली वन्ध्या कोशातकी च सुरदाली।
शिग्रुश्च वज्रकन्दो नीरङ्कणाकाकमाची च ॥ ११९ ॥
आसामेकरसेन तु लवणक्षाराम्लभाविता बहुशः।
शुद्ध्यन्ति रसोपरसा ध्माता मुञ्चन्ति सत्त्वानि ॥ १२० ॥

हुलहुल या सूरजमुखी, केलाकन्द, बांझककोड़ा, कडुवीतोरी, बन्दाल डोडा, सुहांजना, वज्रकन्द (जंगली जिमिकन्द), नेत्रवाला, पिप्पली मकोय इनमें से किसी एक औषधि के स्वरस से सैन्धानमक, यवक्षार, तथा काञ्जी के साथ सात बार भावना देकर सुखा लेने से रस तथा उपरस शुद्ध हो जाते हैं और मूषा में रख तीव्र अग्नि से तपाने पर सत्व को भी छोड़ देते हैं अर्थात् सत्वपातन होता है ॥ ११९—१२० ॥

कंकुष्ठशोधनम्—

कंकुष्ठं शुद्धिमायाति त्रिधा शुंठ्यम्बुभावितम् ॥ १२१ ॥

कंकुष्ठ को तीन बार शुण्ठी (सौंठ) कषाय से भावना देकर सुखा लेने से वह शुद्ध हो जाता है ॥ १२१ ॥

कंकुष्ठस्य सत्वस्वरूपता—

सत्त्वाकर्षोऽस्य न प्रोक्तो यस्मात्सत्त्वमयं हि तत् ॥ १२२ ॥

क्योंकि कंकुष्ठ स्वयं सत्व स्वरूप है अतः इसकी सत्वपातनविधि नहीं कही है ॥ १२२ ॥

विरेचने मात्रानिर्देशः—

भजेदेनं विरेकार्थं ग्राहिभिर्यवमात्रया।
नाशयेदामपूर्तिं च विरेच्य क्षणमात्रतः ॥ १२३ ॥

विरेचन लाने के लिये कंकुष्ठ को एक जौ (आठ सरसों) बराबर मात्रा में लेकर उसमें ग्राहि द्रव्य शुण्ठी जीरा आदि मिला कर सेवन करना चाहिये। इससे शीघ्र ही विरेचन होता है और आंतों में आमसंचय नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—ग्राहि द्रव्यों के साथ कंकुष्ठ सेवन करने का अभिप्राय अधिक रेचन न होने देने से है ॥ १२३ ॥

अविधिप्रयोगे दोषः—

भक्षितः सह ताम्बूलैर्विरिच्यासून्विनाशयेत् ॥ १२४ ॥

कंकुष्ठ को पान के साथ खाने या कंकुष्ठ सेवन करके पान खाने से अधिक दस्त होने से रोगी मर जाता है।

विशेष वचन—ताम्बूल रेचक और उत्तेजक द्रव्य होने से कंकुष्ठ की रेचक शक्ति को बढ़ा देता है अतः ऊष्ण, उत्तेजक तथा रेचक द्रव्यों के साथ कंकुष्ठ का सेवन करना निषिद्ध है ॥ १२४ ॥

कंकुष्ठविषचिकित्सा—

बब्बूरीमूलिकाक्काथो जीरसौभाग्यकं समम्।
कंकुष्ठविषनाशाय भूयो भूयः पिबेन्नरः ॥ १२५ ॥

इति कंकुष्ठाधिकारः।

अविधि पूर्वक अथवा अधिक मात्रा में कंकुष्ठ सेवन करने पर इसके विष (दस्त और कै होना) को शान्त करने के लिये जीरा तथा सोहागा चूर्ण को समभाग में लेकर बबूल तथा दूधी के कषाय से विषशान्ति पर्यन्त बार २ पिलाना चाहिये।

विशेष वचन—जीरा चूर्ण १ मासा, सुहागा चूर्ण ३ रत्ती लेकर एक मात्रा बनानी चाहिये ॥ १२५ ॥

अथ साधारणरसाः—

कम्पिल्लश्चपलो गौरीपाषाणो नवसारकः।
कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिन्दूरहिङ्गुलौ ॥ १२६ ॥
मृद्दारशृंगमित्यष्टौ साधारणरसाः स्मृताः।
रससिद्धिकराः प्रोक्ता नागार्जुनपुरःसरैः ॥ १२७ ॥

कम्पिल्ल, चपल, गौरीपाषाण, नवसादर, कपर्द, वह्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगुल तथा मृद्दारशृंग (मुर्दासंग) ये आठ साधारण रस कहे जाते हैं। इनको नागार्जुन आदि रसचिकित्सकों ने रस सिद्धि करने वाला कहा है।

विशेष वचन—"कम्पिल्लश्चपलः" के स्थान पर "कम्पिल्लश्चापरः" ऐसा पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि साधारण रसों को गिनाते हुये "अष्टौ साधारणरसाः" इस तरह आठ संख्या दी है। यदि चपल को पृथक् माना जाय तो नौ साधारण रस हो जाते हैं। "चपलः" पाठ के पक्षपाती यह समर्थन करते हैं कि संग्रहकार ने चपल को पहिले महारसों में लिखकर पुनः साधारण रसों में गिनाते हुये विद्वानों का मतभेद प्रकट किया है। मतभेद होते हुये भी स्मृतिद्वैधवत् दोनों ही प्रमाण माने जाते हैं। जैसे चरक ने सिध्मकुष्ठ को महाकुष्ठों में लिखा है सुश्रुत उसको क्षुद्रकुष्ठ में गिनता है। इसी वास्ते साधारण रसों की शुद्धि आदि में चपल की कोई शुद्धि या वर्णन नहीं किया है। इस तरह चपल को छोड़ने से आठ ही साधारण रस होते हैं ॥ १२६—१२७ ॥

अथ कम्पिल्लस्य स्वरूपमुत्पत्तिस्थानञ्च—

इष्टिकाचूर्णसंकाशश्चन्द्रिकाढ्योऽतिरेचनः।
सौराष्ट्रदेशे चोत्पन्नः स हि कम्पिल्लकः स्मृतः ॥ १२८ ॥

कम्पिल्ल—पिसी हुई ईंट के चूर्ण के समान लाल वर्ण और चमकीला पदार्थ है जो सौराष्ट्रदेश (सोरट काठियावाड़) में उत्पन्न होता है, इसको कम्पिल्ल नाम से कहा जाता है। यह अन्तःप्रयोग करने पर अधिक विरेचन लाता है।

विशेष वचन—कम्पिल्ल को आमतौर से कंवीला के नाम से लिया जाता है। यह खनिज द्रव्य है और गुरुभार होता है। कई वैद्य रोली (विडंगफलरजः) को कम्पिल्ल मानते हैं परन्तु विंगडफल के ऊपर होने वाले रक्तवर्ण रज में कम्पिल्ल के सब गुण नहीं होते हैं और न वह गुरुभार ही होता है। साथ ही वह खनिज भी नहीं है। इस कपिल्ल के विषय में शास्त्रकार स्पष्ट लिखता है कि "इष्टिकाचूर्णसंकाशश्चन्द्रिकावान् प्रभेदनः। सौराष्ट्रदेशे खनिजः स हि कंपिल्लको मतः।" र० रा० सु०। यह सौराष्ट्रदेश में पाई जाने वाली लाल वर्ण मृत्तिका है जिसको कम्पिल्ल नाम से लिया जाता है ॥ १२८ ॥

गुणाः—

पित्तव्रणाध्मानविबन्धहारी
श्लेष्मोदरार्तिक्रिमिगुल्महारी।
मूलामशोफज्वरशूलहारी
कम्पिल्लको रेच्यगदापहारी ॥ १२९ ॥

इति कम्पिल्लकाधिकारः।

कम्पिल्ल, पित्तव्रण, आध्मान (अफारा) विबन्ध (कवज़) को दूर करता है। श्लेष्मप्रकोपयुक्त उदररोग, उदरकृमि तथा गुल्म को नष्ट करता है। शिरोरोग, आमसञ्चय, ज्वर, उदरशूल को शान्त करता है। विरेचन से शान्त होने वाले रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—मूलशब्द से कोई अर्शोरोग को लेते हैं परन्तु मनुष्य का मूल शिर माना जाता है "ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्" जलीय विरेचक होने के कारण यह मस्तिष्कावरण की जलवृद्धि को नष्ट करता है। अतः यहाँ मूलशब्द से शिर का ग्रहण ठीक प्रतीत होता है ॥ १२९ ॥

अथ गौरीपाषाणस्य पर्यायभेदाः—

गौरीपाषाणकः पीतो विकटो हतचूर्णकः
स्फटिकाभश्च शङ्खाभो हरिद्राभस्त्रयः स्मृताः ॥ १३० ॥

गौरीपाषाण (संखिया) पीत, विकट, तथा हतचूर्णक ये संखिया के नाम हैं। संखिया तीन प्रकार का होता है—१. स्फटिक मणिवत् स्वच्छ, २. शंख के समान स्वच्छ, ३. हरिद्रावर्ण अर्थात् पीला। इनमें हरिद्राभ से शंखाभ और शंखाभ से स्फटिकाभ, गौरीपाषाण गुणों में श्रेष्ठ माना जाता है।

विशेष वचन—गौरीपाषाण अथवा सोमल (Arsenic) नैसर्गिक रूप से कई कच्ची धातुओं के रूप में प्राप्त होता है। इनमें से ऊर्ध्वपातन कर इसको पृथक् किया जाता है। हरताल तथा मनःशिला के सत्वपातन को भी संखिया का प्रथकीकरण कहा जाता है। आजकल प्राप्त होने वाला सोमल कृत्रिम माना जाता है। किन्तु हरिद्राभ, रक्ताभ तथा कृष्ण या हरिद्राभवर्ण सोमल प्राकृतिक माने जाते है। श्वेत सोमल के निर्माण में, हरताल को तिर्यक्पातन में डालकर अग्नि देने से वह (हरताल) फट जाता है और गन्धक निकल कर वायु की ओषजन से मिलकर गन्धक द्विओषित् बन जाती है। सोमल धातु भी उड़कर वायु की ओषजन से मिल कर सोमल ओषित् बन कर नाड़ी या तिर्यकपातन यन्त्र की ठंडी नली में जम जाती है। नाड़ी या नली से खुरच कर इसको निकाल लिया जाता है। जो शुद्ध संखिया है। यह सोमल, श्वेत निर्गन्ध तथा निःस्वाद, गुरुभार पारदर्शक षट्फलकीय स्फटिकों के रूप में मिलता है। यह ६५ गुना शीतल तथा १० गुना गरम जल में और ५ गुना ग्लिसरीन में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त क्षारीय तथा अम्लीय द्रव्यों में भी शीघ्र घुल जाता है। इसको ऐलोपैथी रसशास्त्रज्ञ Arsenic Tri Oxide कहते हैं। यही सोमल मुख्यतः व्यवहार में काम आता है। सोमल Atomic भार ७४. ६३ है और यह १०० डिग्री तापांश से ऊपर उड़ने लगता है ॥ १३० ॥

शोधनम्—

पूर्वः पूर्वो गुणैः श्रेष्ठः कारवल्लीफले क्षिपेत्।
स्वेदयेद्धण्डिकामध्ये शुद्धो भवति मूषकः ॥ १३१ ॥

सोमल के खण्डों को करेले के फल के अन्दर रख फिर बन्द करके सूत से बांध दें। पुनः एक हांडी में करेले का स्वरस डाल कर उसमें दोलायन्त्र विधान से ५–६ घण्टे स्वेदन करने से गौरीपाषाण शुद्ध हो जाता है ॥ १३१ ॥

सत्वग्रहणम्—

तालवद्ग्राहयेत्सत्त्वं शुद्धं शुभ्रं प्रयोजयेत् ॥ १३२ ॥

गौरीपाषाण (संखिया) का सत्वपातन हरताल के समान ही करना चाहिये। संखिया का सत्व श्वेत वर्ण का होता है और शुद्ध होता है। इसको बिना शुद्ध किये भी प्रयोग कर सकते हैं।

गुणाः—

रसबन्धकरः स्निग्धो दोषघ्नो रसवीर्यकृत् ॥ १३३ ॥

इति गौरीपाषाणाधिकारः।

गौरीपाषाण पारद बन्धन के लिये उत्तम माना जाता है। यह पारद के साथ प्रयोग करने पर पारद की शक्ति को अधिक कर देता है। यह स्निग्ध है और शरीर में दोषप्रकोप को शान्त करता है।

विशेष वचन - गौरीपाषाण की भस्मविधि हरताल के समान ही समझनी चाहिये। स्निग्ध का अर्थ स्पर्श में चिकना करते हैं। उक्त गुणों के अतिरिक्त इसमें हरताल के सदृश गुण पाये जाते हैं। सम्भवतः इसके हरताल भस्म या सत्वस्वरूप होने से ही इसके गुणों पर पुनः प्रकाश न डाला गया हो। परन्तु सोमल कफवातिक प्रकोपयुक्त रोगों की अद्वितीय औषधि है। जिससे श्वास, अग्निमान्द्य, आमवात, पाण्डु, श्लीपदज्वर, राजयक्ष्मा, हृद्दौर्बल्य, शोथ, अतिसार, ग्रहणी, पुरातन उपदंश तथा विषमज्वरों की यह महौषधि मानी जाती है। विषमज्वर में इसको करञ्जबीजचूर्ण के साथ प्रयोग करने पर शीतज्वर शान्त हो जाता है। यक्ष्मा रोग की प्रथम अवस्था में इसके प्रयोग से निश्चित लाभ देखा गया है। उस अवस्था में सोमल को रससिन्दूर, लोहभस्म तथा गुडूचीसत्व के साथ सेवन करना चाहिये। आमवात में इसको शुण्ठीचूर्ण पुनर्नवामूलचूर्ण और यवक्षार के साथ देने से शीघ्र आराम आता है। श्लीपद ज्वर-जो कि हर १५ दिन के बाद आता है और पैरों या अण्डकोषों में शोथ युक्त होता है—में गुडूची तथा अर्कमूलकषाय के साथ देने से यह शीघ्र लाभ करता है। त्वचा के छिलके वाले रोगों में इसको तिक्त औषधियों के काथ या चूर्ण के साथ देने से त्वचा निखर आती है। वातकफाधिक जीर्णश्वास में यह अद्भुत लाभकारी पाया गया है।

मात्रा—$\frac{1}{८०}$ रत्ती से $\frac{1}{२०}$ रत्ती तक निरापद मात्रा है।

निष्क्रमण—सोमल का शरीर से निष्क्रमण अधिक मात्रा में मूत्र द्वारा तथा मल द्वारा होता है। अल्प मात्रा में पित्ताशय से पित्त वा त्वचा के स्वेद मुख की लाला द्वारा होता है। इसी प्रकार अश्रुओं और स्तन्य द्वारा भी यह निकलता है। अतः सोमलीय औषधि बन्द करने के बाद भी तीन सप्ताह तक यह शरीर में पाया जाता है।

सोमल समासों की परीक्षा—किसी अज्ञात औषधियोग से सोमल की परीक्षा करने के लिये निम्न उपाय काम में लिये जाते हैं।

१—सोमल समासों को जलते हुये कोयलों पर रखने से लशुन के समान गन्ध आती है।

२—इसके समासों को जल में घोल कर थोड़े लवणाम्ल में अम्लीय करें तो H_2S के डालने से पीला निक्षेप आता है।

३—इसके घोल में Silwar Amoniam Nitrate. डाले तो पीला निःक्षेप आता है जो अमोनिया द्रव और नत्रिकाम्ल (Nitric Acid) में घुल जाता है।

सोमलप्रतिविष—सोमल के अधिक मात्रा में खाये जाने पर उदरशूल, तीव्र वमन, अतीसार, पिपासा, सर्वांगशैथिल्य पिंडिकोद्वेष्टन तथा सर्वांगशैत्य आदि विसूचिका के सदृश लक्षण होते हैं। ऐसी अवस्था में रोगी को वमन देकर एरण्ड तैल से विरेचन देना चाहिये। बाद चूने का पानी और दूध मिलाकर थोड़ा २ करके पिलाना चाहिये। दूध के साथ घृत या जैतून का तैल पिलाना चाहिये। कर्पूर जल भी लाभदायक होता है। इसी तरह हरताल आदि सेवनजन्य विषविकारों में कुछ दिन कूष्माण्ड स्वरस सेवन कराना चाहिये अथवा कूष्माण्डस्वरस में जीरे का चूर्ण मिलाकर दिन में तीन चार बार पीने को देना चाहिये ॥ १३३ ॥

अथ नवसादरोत्पत्तिः पर्यायश्च—

करीरपीलुकाष्ठेषु पच्यमानेषु चोद्भवः।
क्षारोऽसौ नवसारः स्याच्चुल्लिकालवणाभिधः ॥ १३४ ॥

करीर (टेंट जिसका अचार पड़ता है) तथा पीलू (अखरोट का भेद) की लकड़ियों को जला कर उसकी राख से बनाया हुआ क्षार, नवसादर (नौसादर) कहा जाता है। इसको चूलिका लवण भी कहते हैं ॥ १३४ ॥

मतान्तरम्—

इष्टिकादहने जातं पाण्डुरं लवणं लघु।
तदुक्तं नवसाराख्यं चूलिकालवणं च तत् ॥ १३५ ॥

अथवा ईटों के भट्टे या पायजे में ईटों के जलने से जो पाण्डुरवर्ण तथा लघुभार का लवण एकत्र होता है उसको नवसार या चूलिका लवण कहते हैं।

विशेष वचन—पञ्जाब में कई स्थानों पर यह मिट्टी में से निकाला जाता है। मिट्टी में मिले हुये इस अशुद्ध नौसादर को पानी में घोल कर नितार करके पानी को उड़ाकर पृथक् किया जाता है।

कृत्रिम विधि—अमोनिया जल में तब तक लवणाम्ल डाला जाता है जब तक उदासीन न हो जाय, साथ ही इसको हिलाते जाते हैं। फिर वाष्पस्वेदनयन्त्र द्वारा जल को वाष्प रूप में उड़ा दिया जाता है। कुछ वाष्प उड़ने के बाद नीचे रख दें तो क्षार के स्फटिक नीचे बैठ जाते हैं। यही नौसादर है।

स्वरूप—नौसादर नमक के सदृश श्वेतवर्ण का क्रिस्टलीय चूर्ण होता है। इसके कणों का आकार नेत्रों से अच्छी तरह नहीं देखा जा सकता है। इसके क्रिस्टल बहुत छोटे और रेशेदार होते हैं। ये क्रिस्टल स्पर्श में रूक्ष प्रतीत होते हैं। तथा भंगुर होते हैं। इसमें कोई गन्ध (odour) नहीं होती और ये स्वाद में नमकीन होते हैं। त्रिगुण शीत जल में विलयनशील होते हैं। नौसादर को गरम करने पर श्वेत धूम्र निकलता है। गरम करने पर यह पिघलने से पूर्व ही उड़ जाता है। यदि नौसादर उड़ते समय उसके ऊपर किसी बर्तन का ढक्कन दे दें और ढक्कन में ऊपर से पानी भर दें तो नौसादर उड़कर ढक्कन वाले पात्र की पेंदी में जमा हुआ पाया जाता है। इसको अंगरेजी में (Amonium chloride) कहते हैं।

मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक।

ग्रन्थान्तर में इसको ऊंट भैंस या गाय के गोबर को सुखा राख कर उसके क्षार से प्राप्त करने को लिखा है। ग्रन्थान्तर में इसकी शुद्धि पाई जाती है। नौसादर को चूने के पानी में दोलायन्त्र द्वारा पकाने से यह शुद्ध हो जाता है। ऐसा लिखा है। साधारणतः त्रिगुण जल में घोल कर जल उड़ा देने से भी यह शुद्ध हो जाता है। कई वैद्य शुद्ध खटिक चूर्ण ३ भाग, नवसादर ४ भाग दोनों को अच्छी तरह खरल में पीस डमरूयन्त्र में रख कर इसका ऊर्ध्वपातन करके शुद्ध करने को कहते हैं ॥ १३५ ॥

गुणाः

रसेन्द्रजारणं लोहद्रावणं जठराग्निकृत्।
गुल्मप्लीहास्यशोषघ्नं भुक्तमांसादिजारणम्।
बिडाख्यं च त्रिदोषघ्नं चूलिकालवणं मतम् ॥ १३६ ॥

इति नवसाराधिकारः

नौसादर पारद का जारण करता है, यह धातुओं को पिघलाने के काम में आता है। अल्प मात्रा में प्रयोग करने से क्षुधावृद्धि करता है और प्लीहा, गुल्म तथा मुख-शोष को मिटाता है। मांसाजीर्ण को नष्ट करता है या मांस आदि गुरु पदार्थों को शीघ्र पचा देता है। त्रिदोषनाशक तथा पारद में स्वर्णादि धातुओं को ग्रास करने योग्य योगों में बिड काम आता है।

विशेष वचन—नवसादर आमाशय तथा आंतों के लिये उत्तेजक है जिससे पाचक रस बढ़ता है और रोगी को क्षुधा लगती है। अतएव यह आयुर्वेद में अनेक दीपक पाचक चूर्णों में डाला जाता है। यह श्वास नाली में उत्तेजना उत्पन्न करके उस पर चिपकी हुई श्लेष्मा को पतला कर बाहर निकाल देता है जिससे कास श्वास में आराम आता है। इस कार्य के लिये इसे धूम द्वारा भी प्रयोग करते हैं। यह यकृत् के पित्तसञ्चय हटा देता है

अत एव इसे यकृद्वृद्धि, कामला, प्लीहावृद्धि में कुमारी आसव के साथ या हरीतकी अथवा अन्य विरेचक औषधि के साथ दिया जाता है। यह वृक्कों को उत्तेजित कर मूत्र की मात्रा को बढ़ा देता है अतः मूत्रल भी है। पारदीय लवणों के साथ इसका प्रयोग अधिक मूत्रल माना जाता है। चूने के साथ बना हुआ इसका योग अमोनिया (Amonia) नवसादर की अपेक्षा बहुत तीव्र होता है। इसको सुंघाने से नासा की भीतरी झिल्ली वेग से क्षुब्ध होती है और श्वाससंस्थान की वातनाड़ियाँ भी सहसा क्षुब्ध हो जाती हैं जिससे शरीर के सारे नाड़ीमण्डल में एक क्षणिक उत्तेजना आ जाती है। ऐसी दशा में यदि रोगी अचेतन हो तो वह चेतन हो जाता है। अतः अमोनिया आमाशय के लिये उद्दीपक, उत्तेजक, श्वाससंस्थान के लिये और नाड़ीमण्डल के लिये तथा त्वचा के लिये उत्तेजक होने से सर्वांग उत्तेजक होता है। इसी वास्ते इसे मोह, मूर्च्छा, सन्यास, हिस्टेरिया आदि अचेतनायुक्त रोगों में सुंघाया जाता है। नवसादर से १ ये १० के अनुपात से बनाये हुये जलीय घोल में कपड़े को भिगोकर आमवात की सन्धिशोथ या व्रध्न (वध) शोथ में रखने से शूलशोथ दूर हो जाते हैं। फुफ्फुसों से होने वाले रक्तस्राव में इसको थोड़ी सी काञ्जी के साथ पिलाने से वह रुक जाता है। इसमें यवक्षार और चन्दन का चूर्ण मिला जल से प्रयोग करने पर सुजाक में आराम आता है। यकृत् और प्लीहा वृद्धि में इसको रोहीतक तथा अपामार्ग के कषाय से प्रयोग करने पर बहुत लाभ होता है। आमाशय शूल में इसको अर्क अजवाइन से देने पर शीघ्र शूल दूर होता है। कफ को पतला करने के लिये इसे कफ संस्रक औषधियों जैसे वासा, कण्टकारी, मुलहठी आदि के साथ दिया जाता है। कई वैद्य "विडाख्यञ्च" इत्यादि पद्य का अर्थ यह करते हैं कि "किन्हीं के मत में विड-लवण भी नौसादर कहलाता है"॥ १३६ ॥

अथ वराटिकालक्षणम्—

पीताभा ग्रन्थिका पृष्ठे दीर्घवृत्ता वराटिका।
रसवैद्यैर्विनिर्दिष्टा सा चराचरसंज्ञिका ॥ १३७ ॥

वराटिका अर्थात् कौड़ी वह अच्छी होती है जो पीले रंग की हो पीठ पर गांठदार हो और जिसके वृन्त दीर्घ हों। रसवैद्यों ने इसे चराचर नाम से भी कहा है ॥ १३७ ॥

उत्तमादिभेदेन त्रैविध्यम्—

सार्धनिष्कभरा श्रेष्ठा निष्कभारा च मध्यमा।
पादोननिष्कभारा च कनिष्ठा परिकीर्तिता ॥ १३८ ॥

डेढ़ निष्क (छः मासा) भर भार वाली कौड़ी श्रेष्ठ, और एक निष्क भर भार वाली मध्यम तथा पौने निष्क भार वाली कौड़ी कनिष्ठ (छोटी और प्रयोग में अवर) कही जाती है।

विशेष वचन—कौड़ी को ग्रन्थान्तर में उपरसों में लिखा है परन्तु वह पारद का खनिज नहीं है। यह समुद्र में शंखजातीय कृमि या जन्तु द्वारा निर्मित होती है। अतः यह प्रवाल, मुक्ता, शंख की भांति ही खट जाति में ली जाती है। कौड़ियों का उक्त लक्षण आयुर्वेद में व्यवहार के लिये लिखा है, अन्यथा कौड़ी भार में आध पाव तक पाई जाती है ग्रन्थान्तर में कौड़ी को वर्ण भेद से तीन प्रकार की मानते हैं—१. पीत, २. श्वेत, ३. धूसर। निष्क शाण (२४ रत्ती) का पर्यायवाचक होने से साढ़े चार मासे की कौड़ी, भस्म आदि कार्य के लिये उत्तम समझी जाती है।

वराटस्य लक्षणगुणौ—

तदन्ये तु वराटाः स्युर्गुरवः श्लेष्मपित्तलाः ॥ १३९ ॥

उक्त वराटिका से परिमाण तथा भार में अधिक भारवाली कौड़ियाँ वराट कही जाती हैं। यह शरीर में श्लेष्मपित्त का प्रकोप करती हैं ॥ १३९ ॥

गुणाः—

परिणामादिशूलघ्नी ग्रहणीक्षयनाशिनी।
कटूष्णा दीपनी वृष्या नेत्र्या वातकफापहा।
रसेन्द्रजारणे प्रोक्ता बिडद्रव्येषु शस्यते ॥ १४० ॥

कौड़ी की भस्म परिणामशूल आदि शूलनाशक है ग्रहणी तथा क्षय रोग को मिटाती है। यह कटु, उष्ण, दीपन, वृष्य तथा नेत्रों के लिये लाभदायक और वातनाशक है। पारद के जारण में काम आने वाले विड् द्रव्यों में यह उत्तम मानी जाती है।

विशेष वचन—वराटिका आदि खट भस्म बाह्यप्रयोग में ग्राही और स्रावहर प्रभाव रखते हैं। अतः कान से निकलने वाले स्राव को सुखाने के लिये या व्रणस्राव सुखाने के लिये कपर्दचूर्ण छिड़का जाता है। यह फुफ्फुस, नासा तथा श्वासमार्ग के वात-कफ-प्रकोप-जन्य शोथ को शान्त करता है अर्थात् कफस्राव को सुखा देता है। वराटिका आदि की भस्म क्षारीय प्रकृति होने से आमाशय में उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के अम्लों को जो कि शूल और अम्लपित्त के कारण बनते हैं उदासीन करती है। अतः अम्लपित्तशूल तथा परिणामशूलों में कपर्द शंख आदि के योग अधिक प्रयुक्त होते हैं। आन्त्रक्षयातिसार शूल में इसी वास्ते कपर्द के योग से बने हुये मृगांक तथा राजमृगांक आदि रस दिये जाते हैं। इसी तरह चिरस्थायी कास तथा फुफ्फुसक्षय में कुछ काल निरन्तर कपर्द का प्रयोग करने से फुफ्फुसक्षतों के मुखों पर खटिक लवण जम जाने से उनकी सड़ांद आगे को बन्द हो जाती है साथ ही कफस्राव भी बन्द हो जाता है। आमाशय तथा पाचकाशय में कफ-प्रकोप-जन्य अग्निमान्द्य होने पर कौड़ी की भस्म प्रयोग करने से उन अंगों में रक्तसञ्चार बढ़ जाता है और पाचक रस अधिक निकलने लगता है। ग्रहणीशोथ को कम करने के कारण वराटिका भस्म ग्रहणी कपाट आदि रसों के रूप में दी जाती है। खट की भस्म रक्त में पाई जाने वाली दुर्बलता तथा

दिवता को दूर करके उसमें (रक्त) बल तथा सुवर्णता उत्पन्न करती है। अस्थि की मृदुता तथा दन्तोद्गम में चिरता होने पर खट के योग उत्तम सिद्ध हुये हैं ॥ १४० ॥

शोधनम्—

वराटाः काञ्जिके स्विन्ना यामाच्छुद्धिमवाप्नुयुः ॥ १४१ ॥

इति वराटिकाधिकारः।

कौड़ी को काञ्जी में एक प्रहर दोलायन्त्र से स्वेदन करें तो वह शुद्ध हो जाती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इसकी भस्मविधि भी लिखी हुई है उसके अनुसार कौड़ियों को नीबूरस से मर्दन कर गजपुट में फूंक देने से इसकी भस्म हो जाती है ॥ १४१ ॥

अथ अग्निजारः—

समुद्रेणाग्निनक्रस्य जरायुर्बहिरुज्झितः।
संशुष्को भानुतापेन सोऽग्निजार इति स्मृतः ॥ १४२ ॥

अग्निनक्र (समुद्रीय जलजन्तु) की जरायु (जेर-आंवरा) को जब समुद्र की तरंगें धीरे २ बाहर किनारे पर ले आती हैं और वह सूर्य के ताप से सूख जाती है तो उसे अग्निजार कहते हैं।

विशेष वचन—अग्निजार से आमतौर पर आजकल "अम्बर" लिया जा रहा है। कोई इसको समुद्रीय विडाल का शुक्र मानता है और कोई समुद्रीय वाडवा की जेर मानते हैं। इस तरह अग्निजार के विषय में बहुत-सी बातें मिलती हैं। परन्तु आयुर्वेदिक ग्रन्थों से अग्निजार एक समुद्रीय वृक्ष का क्षार सिद्ध होता है। वैद्यकशब्दसिन्धु में लिखा है। "A plant used in madicine of Stimulent properties" यह पश्चिमी समुद्र के किनारे उत्पन्न होने वाला "अग्निजार" नाम से प्रसिद्ध एक वृक्ष है। इसके अग्निजात, अग्निनिर्यास, अग्निगर्भ तथा वाडवाग्निमल आदि पर्याय दिये गये हैं। यह स्पर्श में अग्निवत् उष्ण अथवा अग्नि आभा वाला, लाल, पीला, सफेद तथा कृष्णवर्ण युक्त चार प्रकार का होता है। इनमें से लाल (अग्निवर्ण) को श्रेष्ठ माना जाता है। इसी के क्षार को अग्निजार के नाम से लिया गया है। "अब्धितीरेऽग्निनक्रस्य जरायुः शुष्कतां गतः। अग्निजारस्तु स प्रोक्तः स क्षारो जारणे हितः"। यह सन्देहास्पद द्रव्य भी वैद्यों की पूरी खोज की अपेक्षा रखता है परन्तु गुणों को देखने से यह सम्भवतः अम्बर ही हो सकता है ॥१४२॥

गुणाः—

अग्निजारस्त्रिदोषघ्नो धनुर्वातादिवातनुत्।
वर्धनो रसवीर्यस्य दीपनो जारणस्तथा ॥ १४३ ॥

अग्निजार त्रिदोषनाशक धनुर्वात (धनुष के आकार में शरीर का भीतर या बाहर की तरफ मुड़ना) आदि वातरोगों को नष्ट करता है। पारद की शक्ति को बढ़ाता है और पारद के दीपन तथा जारण में काम आता है अथवा शरीर में रस और वीर्य को बढ़ाता है और धातुओं का जागरण करता है ॥ १४३ ॥

शुद्धिः—

यदब्धिक्षारसंशुद्धस्तस्माच्छुद्धिर्न हीष्यते ॥ १४४ ॥

इत्यग्निजाराधिकारः।

क्योंकि अग्निजार समुद्रीय क्षार से शुद्ध होता है अतः उसकी शुद्धि आवश्यक नहीं है ॥१४४॥

अथ गिरिसिन्दूरम्—

महागिरिषु चाल्पीयः पाषाणान्तः स्थितो रसः।
शुष्कशोणः स निर्दिष्टो गिरिसिन्दूरसंज्ञया ॥ १४५ ॥

हिमालय आदि बड़े २ पर्वतों के मध्यस्थ छोटे २ पत्थरों से निकलने वाला रस जब सूखकर लालवर्ण का हो जाता है तो उसे गिरिसिन्दूर कहते हैं।

विशेष वचन—गिरिसन्दूर को Lead Proxide के नाम से लिया है जिसे आम भाषा में सिन्दूर कहते हैं। यह मूर्तियों के ऊपर रंगने के लिये लगाया जाता है। सिन्दूर नैसर्गिक रूप से तथा कृत्रिम विधि से भी प्राप्त होता है। मुर्दासंग को ४०० से ४५० डिग्री ताप में रख कर वायु पहुंचाते हुये गरम किया जाय तो यह अधिक ओषजन लेकर लाल हो जाता है। यदि इसे ५२५ डिग्री से ऊपर गरम किया जाय तो यह फिर ओषजन छोड़ देता है जिससे फिर मृद्दारश्रृंग बन जाता है। सिन्दूर अत्यन्त लाल, स्निग्ध, चमकीला, गुरुभार, स्वच्छ तथा कोमल होता है। इसका बाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता है। आजकल के अन्वेषक वैद्य इसे हिंगुलु (सिंगरफ) मानते हैं। वे इसको "मर्करी ओक्साइड" नाम देते हैं। उनका विचार है कि पारद का अंश पर्वतीय शिलाओं के मध्यस्थ रस के साथ मिलकर लाल वर्ण हो जाता है। जैसा कि पिसा हुआ रससिन्दूर अथवा हिंगुलु। पर्वतों के मध्य स्वभावतः पारद का रससिंदूरवत् वर्ण होने से वे इसको गिरि में स्वतः उत्पन्न (बना हुआ) सिन्दूर (Oxide) कहते हैं। साथ ही यह भी विचारते हैं कि सिन्दूर (नागसिन्दूर) में देहलोहकर आदि गुण नहीं हो सकते हैं। परन्तु व्यवहार नागसिन्दूर से ही होता है। यदि पूर्ण ऊहापोह के साथ इस का व्यवहार किया जाय तो कोई हानि नहीं है ॥ १४५ ॥

गुणाः—

त्रिदोषशमनं भेदी रसबन्धनमग्रिमम्।
देहलोहकरं नेत्र्यं गिरिसिन्दूरमीरितम् ॥ १४६ ॥

इति गिरिसिन्दूराधिकारः।

गिरिसिन्दूर, त्रिदोषप्रकोपशामक, भेदी, (रेचक) पारद के बन्धन कार्य में सर्वोत्तम, शरीर को लोहवत् दृढ़ बनाने वाला और नेत्रों के लिये हितकारी होता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तरों में सिन्दूर के विभिन्न प्रकार के गुण पाये जाते हैं। "सिन्दूरमुष्णं विषकुष्ठकण्डूवीसर्पहारि व्रणदारकञ्च। भग्नस्य सन्धानकरं कटुस्यात्तिक्तं च विस्फोटहरं प्रदिष्टम्"। रसकामधेनुकार ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जो गिरिसिन्दूर रसबन्धन और धातुवाद तथा नेत्ररोगों के लिये काम में लाया जाता है वह हिंगुल तुल्य होता है और पर्वतों में कहीं २ पत्थरों के मध्यस्थ पाया जाता है। अतः सिन्दूर (नागसिन्दूर) के ग्रन्थान्तरोक्त गुण ही ठीक समझे जाते हैं ॥१४६॥

अथ हिंगुलस्य द्वैविध्यम्—

हिङ्गुलः शुकतुण्डाख्यो हंसपाकस्तथापरः ॥ १४७ ॥

हिंगुल दो प्रकार का होता है। १—शुकतुण्ड, २—हंसपाक।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तरों में चर्मार, शुकतुण्ड तथा हंसपाक ये मुख्य तीन भेद हिंगुल के पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त एक पीतवर्ण हिंगुल भी होता है जिसे "येलो मर्करी" कहते हैं। यह एलोपैथी चिकित्सा पद्धति में नेत्रव्रण तथा नेत्रपुष्पों के लिये विशेषतः व्यवहृत होता है ॥ १४७ ॥

शुकतुण्डस्य परिचयः—

प्रथमोऽल्पगुणस्तत्र चर्मारः स निगद्यते ॥ १४८ ॥

उक्त दो प्रकार के हिंगुलों में प्रथम (शुकतुण्ड) गुणों में कुछ हीनगुण होता है। इसको "चर्मार" भी कहते हैं ॥ १४८ ॥

हंसपाकलक्षणम्—

श्वेतरेखः प्रवालाभो हंसपाकः स ईरितः ॥ १४९ ॥

जिस हिंगुल की डली में पारद के समान श्वेतरेखायें चमकती हों और जो वर्ण में मूंगा के सदृश रक्तवर्ण हो उसे 'हंसपाक' हिंगुल कहते हैं।

विशेष वचन—पारद गन्धक के रासायनिक यौगिक (Sulphide of murcury) को हिंगुल कहते हैं। अतएव इसे "रसगन्धकसम्भूतं" नाम से लिखा है। मुख्यतः हिंगुल जपा (गुड़हल) पुष्प सदृश रक्तवर्ण का होता है। पारद निकालने का यही एक मुख्य खनिज है। इसी को रसशास्त्रों में हंसपाक (पाद) हिंगुल या (Red Sulphide of mercury) नाम से लिखा है। और सब प्रकार के हिंगुलों में उत्तम माना जाता है। "जपाकुसुमसंकाशो हंसपादो महोत्तमः। रसायने सर्वलोहमारणे रसरञ्जने"। साधारणतः यह मृत्तिका के ढेले सा या दानेदार (crystales) प्रकृति में प्राप्त होता है। और चीनी मिट्टी की कसौटी पर घिसने से लालवर्ण की रेखा खींचती है।

हिंगुल कृत्रिम और अकृत्रिम भेद से भी दो प्रकार का होता है। आजकल बाजार में प्राप्त होने वाला हिंगुल कृत्रिम ही होता है। इसको अशुद्ध गन्धक आठ भाग अशुद्ध पारद २ भाग लेकर मृदंगयन्त्र द्वारा पका कर बनाया जाता है। रसकामधेनुकार ने इसे वालुकायन्त्र द्वारा बनाने को लिखा है। परन्तु अनुपात भिन्न प्रमाण में लिया है। अर्थात् अशुद्ध पारद १ भाग, अशुद्ध गन्धक ४ भाग दोनों को पीसकर एकत्र थोड़ी देर तक लोहे के पात्र में पका लेते हैं जब पिघल कर दोनों एक हो जाते हैं तब इसमें पारद से दशमांश मनःशिलाचूर्ण डालकर चलाकर सब एक करके उतार कर ठंडा करते हैं। बाद को इसे वालुकायन्त्र में काचकूपी में रख कर परिपाक करते हैं। पांच दिन क्रमवृद्ध अग्नि देकर सातवें दिन खोल कर हिंगुल प्राप्त किया जाता है। अतः वह आयुर्वेदोक्त विधि कठिनसाध्य होने से यह हिंगुल बहुत ही अल्प बनाया जाता है।

नवीन मत में हंसपाद हिंगुल के चार भेद माने जाते हैं १—यकृदाकार हिंगुल (Hepatic cinnabar), २—प्रवालाभ हिंगुल (corallime), ३—Steel ore, ४—Brick ore (गिरिसिन्दूर)। चर्मार हिंगुल (Meta cinnabar) कृष्णवर्ण का होता है और मृत्तिका तथा रवों के रूप में पाया जाता है। चीनी मृत्तिका की कसौटी पर रगड़ने से काली लकीर खिंचती है। देखने में यह धातु की सी द्युति वाला होता है। "चर्मारः कृष्णरूपः स्यात्सुपीतः शुकतुण्डकः। जपाकुसुमसंकाशो हंसपादो महोत्तमः" ॥ १४९ ॥

गुणाः—

हिंगुलः सर्वदोषघ्नो दीपनोऽतिरसायनः।
सर्वरोगहरो वृष्यो जारणायातिशस्यते ॥ १५० ॥

शुद्ध हिंगुल सब दोषों को नष्ट करता है, दीपन और श्रेष्ठ रसायन है। यह भिन्न २ अनुपानों से सब रोगों को दूर करता और वृष्य है और पारदजारण के लिये उत्तम है। अथवा हंसपाक हिंगुल भस्म करने के लिये उत्तम है।

विशेष वचन—हिंगुल पारद गन्धक का यौगिक होने से उत्तम कृमिहर द्रव्य है। अतः इसको आन्त्र रोग, पुरातन अतीसार आन्त्रशोथ, संग्रहणी, आन्त्रव्रण, क्षत आदि रोगों में प्रयोग किया जाता है। बाह्यप्रयोग में भी यह कृमिहर है। अतएव इसके विविध प्रकार के लेप फिरंगव्रण, भगन्दरव्रण तथा नाड़ी व्रणों में प्रयुक्त होते हैं। अन्तःप्रयोग में यह विभिन्न योगों के रूप में प्रयुक्त होता है। मृत्युञ्जय तथा आनन्दभैरवरस आदि इसी के योग हैं। स्वतन्त्ररूप में प्रयोग करने के लिये इसको अन्य औषधियों के साथ पकाकर काम में लाया जाता है। इसको "पक्व हिंगुल" कहते हैं। इसके लिये एक भाग हिंगुल में १० से सौ भाग तक पलाण्डु या धत्तूररस डाल कर लोहे की कढ़ाई में रस शोषण होने तक मन्द २ अग्नि से पकाया जाता है और अन्त में घृत में पका सुखाकर रख लिया जाता है। यह पक्वहिंगुल उत्तम वात रोगहर, निर्बलताहर, बल्य तथा अतीसारनाशक है।

मात्रा ½ रत्ती से ¼ रत्ती तक।

अनुपान मक्खन या घृत। रसकामधेनु में हिंगुल सेवन इस प्रकार लिखा है। "भक्षयेद्रक्तिकामेकां मरिचेन समन्विताम्। गुडेनावेष्टय मतिमान् ज्वरनाशाय तं पुनः। मन्देऽग्नौ वाथ हृद्रोगे दद्याच्छौण्डीरसेन च। अम्लपित्ते प्रदातव्यं विशल्या सत्वसंयुतम्। बल्यं वाजीकरं मेध्यं हृदुत्साहकरं परम्। एतस्मान्नापरं भद्रं विद्यते रसभस्मवत्"। हिंगुल की भस्मविधि पारदसंहिता में इस प्रकार लिखी है। "हिंगुलं द्विपलं शुद्धं बद्ध्वा वस्त्रे चतुर्गुणे। षट्पलं कदलीमूलं सम्यक् संपुट्य बुद्धिमान्। तदन्तस्तत्परिक्षिप्य गोलमेकं प्रकल्पयेत्। पचेत्तद्गोलकं विद्वानुपलैर्दशभिस्ततः। एवमेव प्रकारेण पुटमेकोत्तरं शतम्। दत्वा प्रतिदिनं खादेल्लवंगस्यानुपानतः। गुञ्जामात्रं गुणैस्तुल्यं प्रागुक्तस्य रसस्य च"। इसी तरह हिंगुल का एक शास्त्रीय योग है जिसे "श्रीदरदामृत" कहते हैं। यह भी वातिक रोग दुर्बलता तथा नपुंसकता के लिये रामबाण है।

हिंगुलाकृष्टसूतगुणाः—

एतस्मादाहृतः सूतो जीर्णगन्धसमो गुणैः ॥ १५१ ॥

उक्त हंसपाक हिंगुल से ऊर्ध्वपातन द्वारा, निकाला हुआ पारा गुणों में सम भाग गन्धक जीर्ण पारद के समान होता है।

विशेष वचन—कई जीर्ण गन्धकसम का अर्थ शोधित गन्धक के सदृश कहते हैं ॥ १५१ ॥

शोधनम्—

सप्तकृत्वाऽऽर्द्रकद्रावैर्लकुचस्याम्बुनाऽपि वा।
शोषितो भावयित्वाऽथ निर्दोषो जायते खलु ॥ १५२ ॥

हिंगुल को अदरख के रस से अथवा बड़हल के रस से सात वार भावना देकर सुखा ले तो यह निर्दोष हो जाता है ॥ १५२ ॥

शोधनविशेषेण गुणविशेषः—

किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः
क्षीरेण मेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
एवं सुवर्णं बहुघर्मतापितं
करोति साक्षाद्वरकुंकुमप्रभम् ॥ १५३ ॥

हिंगुल को भेड़ के दूध में सात बार भावित कर अम्लवर्ग से सात बार भावित करें तो यह शुद्ध होता है और सेवन करने से मनुष्य को निश्चय ही सुन्दर केशरवर्ण कर देता है। अथवा उक्त प्रकार से शोधित भावित हिंगुल अनेक वार अग्नि में तपाये हुये स्वर्ण के समान सुन्दर वर्ण तथा केशर के समान देह को कान्तियुक्त कर देता है ॥ १५३ ॥

हिंगुलात्सत्वाकर्षणविधिः—

दरदः पातनायन्त्रे पातितश्च जलाश्रये।
तत्सत्त्वं सूतसङ्काशं जायते नात्र संशयः ॥ १५४ ॥

हिंगुल को अधःपातनयन्त्र में नीचे जल रख कर यदि तपाया जाय तो पारद के सदृश (पारद ही) सत्व निकलता है। इसमें सन्देह नहीं।

विशेष वचन—अधःपातनयन्त्र का वर्णन आगे स्पष्ट किया जायगा। संक्षेपतः एक हांडी में जल भर कर (आधा भाग) दूसरी हांडी में भीतर से अम्लद्रव्यों में घोटे हुये हिंगुल का लेप करके दोनों का मुख मिलाकर सन्धि लेप किया जाता है। ऊपर की हांडी के बाहरी पेंदी में अग्नि जलाने से हिंगुल से पारद नीचे पानी में एकत्र हो जाता है ॥ १५४ ॥

अथ मृद्दारश्रृङ्गस्य परिचयः—

सदलं पीतवर्णं च भवेद् गुर्जरमण्डले।
अर्बुदस्य गिरेः पार्श्वे जातं मृद्दारश्रृङ्गकम् ॥ १५५ ॥

मुरदासंग गुजरात प्रदेश में प्रायः आर्बुद पर्वत (आबू पहाड़) के समीप में पाया जाता है। यह दलयुक्त और पीतवर्ण खण्डों के रूप में होता है।

विशेष वचन—मुरदासंग (Litharge) नैसर्गिक रूप में तथा कृत्रिम विधि से भी बनाया जाता है। यह सीसा और आक्सीजन का समास है। कृत्रिम मुरदासंग बनाने में पिघले हुये शीशे में धौंकनी द्वारा हवा देकर भूना जाय तो यह चूर्ण रूप में हो जाता है। फिर गर्मी देने से वह चूर्ण भी पिघल जाता है। अब इस द्रव्य को जमा दिया जाय तो इसके चमकीले पीतवर्ण के पत्र से बन जाते हैं। यही मुरदासंग है। यह हल्का तथा गरम नत्रिकाम्ल में घुल जाता है। जिससे शीशकनत्रित् बनता है। यह सिरकाम्ल में भी घुल जाता है जिससे शीशकसिरकित् बनता है। परन्तु यह जल में अविलेय है ॥ १५५ ॥

गुणाः—

सीससत्त्वं गुरु श्लेष्मशमनं पुंगदापहम्।
रसबन्धनमुत्कृष्टं केशरञ्जनमुत्तमम् ॥ १५६ ॥

इति मृद्दारशृङ्गाधिकारः।

मुरदासंग शीशे का सत्व है अथवा इसमें से शीशा सत्व रूप में प्राप्त होता है। अतः इसका नाम भी सीससत्व है। यह गुरु, कफप्रकोपशामक, नपुंसकताहर, पारद बन्धन करने वाले द्रव्यों में उत्तम और उत्तम केशरञ्जन (रंगने वाला) है ॥ १५६ ॥

साधारणरसानां सामान्यशोधनम्—

साधारणरसाः सर्वे मातुलुङ्गार्द्रकाम्बुना।
त्रिरात्रं भाविताः शुष्का भवेयुर्दोषवर्जिताः ॥ १५७ ॥

सभी साधारणरस बिजौरानीबू के रस तथा अदरख के रस में तीन बार या तीन दिन पृथक् भावना देकर सुखा लेने से दोष रहित हो जाते हैं ॥ १५७ ॥

सत्त्वानां सामान्यशोधनम्—

यानि कानि च सत्त्वानि तानि शुध्यन्त्यशेषतः।
ध्मातानि शुद्धिवर्गेण मिलन्ति च परस्परम् ॥ १५८ ॥

इति कालभैरवः।

साधारण रसों की भांति ही सब प्रकार के सत्व भी शुद्ध हो जाते हैं यदि उनको शुद्धि वर्ग (संशोधनवर्ग) की औषधियों के साथ मिलाकर मूषा में रख तेज अग्नि से तपायें तो वे आपस में मिल भी जाते हैं ॥ १५८ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अथ रत्नानि

अथ मणयः

मणीनां सामान्यकार्यम्—

मणयोऽपि च विज्ञेयाः सूतबन्धनकारकाः ॥ १ ॥

मणियाँ भी पारद के बन्धन में काम आती हैं। अतः इनका वर्णन यहाँ उचित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इनमें और भी अनेक अद्भुत गुण मिलते हैं।

विशेष वचन—मणि रत्न का ही पर्यायवाचक शब्द है। धन के इच्छुक लोग रत्नों से अत्यन्त प्रेम (रमण) करते हैं अतः इन द्रव्यों को रत्न नाम से कहा गया है। रत्नों में पारदबन्धक गुण के अतिरिक्त और भी अनेक भौतिक गुण होते हैं जिनसे शरीर के अनेक भयंकर रोग मिट जाते हैं जिनका वर्णन आगे प्रकरणानुसार पृथक् २ आवेगा ॥ १ ॥

अथ मणीनां नामानि—

वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः।
चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्तश्च सप्तमः ॥ २ ॥
गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयस्त्वमी।
पुष्परागो गोमेदश्च पद्मरागः प्रवालकम् ॥ ३ ॥
वैदूर्यं च तथा नील एतेऽपि मणयो मताः।
यत्नतः संग्रहीतव्या रसबन्धस्य कारणात् ॥ ४ ॥

वैक्रान्त, सूर्यकान्त, हीरा, मोती, मणि (स्फटिक), चन्द्रकान्त, राजावर्त (लाजवर्द), गरुडोद्गारक (मरकतमणि पन्ना) ये मणि कहे जाते हैं। इसी प्रकार पुष्पराज (पुखराज) गोमेद (रक्तवर्ण मणिविशेष) पद्मराग (चूनी, माणिक्यमणि) प्रवाल (मूंगा) वैदूर्य (लहसुनिया) नील (नीलम) ये भी मणि कही जाती हैं। पारद को बांधने वाली होने के कारण इनको यत्न पूर्वक अर्थात् उत्तम रूप से परीक्षा कर सञ्चय करना चाहिये।

विशेष वचन—मणियों के विषय में मत भेद दिखाई देता है। कोई नौ मणि मानते हैं और कोई सात ही। कोई वैक्रान्त को मणि नहीं मानते। मूल में मणि का अर्थ स्फटिक करने से आठ ही रह जाते हैं। यदि मणि शब्द विशेष्य माना जाय तो "सप्तमः" से सात ही मणि ठीक होती है। सूर्यकान्त, चंद्रकांत, वैक्रांत, राजावर्त आदि को कोई उपरत्न मानते हैं ॥ २–४ ॥

श्रेष्ठ मणयः—

पद्मरागेन्द्रनीलाख्यो तथा मरकतोत्तमः।
पुष्परागः सवज्राख्यः पञ्चरत्नवराः स्मृताः ॥ ५ ॥

उक्त रत्नों में से पद्मराग (चूनी) इन्द्रनील (नीलम) मरकत (पन्ना) पुखराज तथा वज्र (हीरा) ये पाँच श्रेष्ठ रत्न माने जाते हैं ॥ ५ ॥

नवग्रहरत्नानि—

माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमाणि
ताक्ष्यं च पुष्पं भिदुरं च नीलम्।
गोमेदकं चाथ विदूरकं च
क्रमेणरत्नानि नवग्रहाणाम् ॥ ६ ॥

रत्नों का सम्बन्ध नवग्रहों से बताया गया है। माणिक्य सूर्य का, मोती चंद्रमा का, मूंगा मंगल का, पन्ना बुध का, पुखराज बृहस्पति का, हीरा शुक्र का, नीलम शनि का, गोमेद मणि राहु का और वैदूर्य केतु का रत्न माना जाता है।

विशेष वचन—रत्नों का ग्रहों के साथ सम्बन्ध बताने से रत्नों के वर्ण का कुछ ज्ञान होता है। जैसे हीरे को शुक्र का रत्न बताने से उनका शुभ्रवर्ण ज्ञात होता है। माणिक्य को सूर्य का रत्न बताने से उसका रक्तवर्ण सिद्ध होता है। चंद्रमा में मोती का श्वेतवर्ण, बृहस्पति से पीतवर्ण, बुध से तार्क्ष्य का हरावर्ण, केतु से वैदूर्य का धूम्रवर्ण, मंगल से–जिसका नाम लोहितांग है–प्रवाल का रक्तवर्ण, शनि के नीलम का नील कृष्णवर्ण। शनि का वर्ण काले लोह के सदृश माना जाता है अतः उसके दान में लोह, तैल दिया जाता है। गोमेद राहु के वर्ण से नहीं मिलता क्योंकि राहु का वर्ण भी काला माना जाता है फिर भी अवशिष्ट रत्न होने से यही इसका रत्न माना गया है ॥ ६ ॥

दुष्टनवग्रहप्रसादकरत्नानि—

ग्रहानुमैत्र्या कुरुविन्दपुष्पप्रवालमुक्ताफलतार्क्ष्यवज्रम्।
नीलाख्यगोमेदविदूरकं च क्रमेण मुद्राधृतमिष्टसिद्ध्यै ॥७॥

ग्रहों की अपने रत्नों के साथ प्रीति देखकर उन रत्नों द्वारा ग्रहों को प्रसन्न करने के लिये कुरुविन्द (पद्मराग) पुखराज, प्रवाल, मोती, तार्क्ष्य, हीरा, नीलम, गोमेद, वैदूर्य, मणियों में से जो जिसकी मणि कही जाती है उसे अपने कार्य की सिद्धि के लिये अंगूठी में धारण करना चाहिये ॥ ७ ॥

रत्नधारणस्य सिद्धिप्रदोक्तिः—

रसे रसायने दाने धारणे देवताऽर्चने।
सुलक्षणानि सुजातीनि रत्नान्युक्तानि सिद्धये ॥ ८ ॥

पारद के बन्धन कार्य, रसायनार्थ औषधि सेवन, दान, धारण, देव पूजन आदि इष्ट कार्यों की सिद्धि के लिये उत्तम और निर्दोष रत्नों का उपयोग करना चाहिये ॥ ८ ॥

माणिक्यस्य द्वैविध्यम्—

माणिक्यं पद्मरागाख्यं द्वितीयं नीलगन्धि च ॥ ९ ॥

माणिक्य मणि (लाल, चुनी) १–पद्मराग, २–नीलगन्धि भेद से दो प्रकार की मानी जाती है ॥ ९ ॥

प्रशस्तपद्मरागस्य लक्षणम्—

कुशेशयदलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं गुरु स्फुटम्।
वृत्तायतं समं गात्रं माणिक्यं श्रेष्ठमुच्यते ॥ १० ॥

रक्तवर्ण कमलवत् आभायुक्त, निर्मल, चिकना, गुरुभार, चमकीला, गोललम्बा अर्थात् कुछ अण्डाकार गढ़े और उभार रहित माणिक्य मणि श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १० ॥

नीलगन्धिमाणिक्यस्य लक्षणम्—

नीलं गङ्गाम्बुसम्भूतं नीलगर्भारुणच्छवि।
पूर्वमाणिक्यवच्छ्रेष्ठं माणिक्यं नीलगन्धि तत् ॥ ११ ॥

गंगा के किनारे पाया जानेवाला, बाहर से रक्त वर्ण किन्तु भीतर से नील अरुण कान्ति युक्त और स्वच्छता, स्निग्धता आदि गुण युक्त नीलगन्धि माणिक्य मणि श्रेष्ठ माना जाता है ॥ ११ ॥

निकृष्टमाणिक्यम्—

रन्ध्रकार्कश्यमालिन्यरौक्ष्याऽवैशद्यसंयुतम्।
चिपिटं लघु वक्रं च माणिक्यं दुष्टमष्टधा ॥ १२ ॥

निम्न लिखित आठ दोष युक्त माणिक्य अग्राह्य होते हैं। १–छिद्रयुक्त, २–कठोर, ३–मलिन, ४–रूक्ष, ५–अविशद, ६–चपटा ७–लघुभार, ८–टेढ़ा ॥ १२ ॥

माणिक्यगुणाः—

माणिक्यं दीपनं वृष्यं कफवातक्षयार्तिनुत्।
भूतवेतालपापघ्नं कर्मजव्याधिनाशनम् ॥ १३ ॥

इति माणिक्याधिकारः।

माणिक्यभस्म अग्निदीपक, शुक्रवर्धक, कफवात रोग तथा क्षयरोग को नष्ट करती है। इसके अतिरिक्त भूतबाधा, वेतालबाधा, पाप तथा कर्मज रोगों को भी नष्ट करती है ॥ १३ ॥

———

अथ प्रशस्तमौक्तिकफललक्षणम्—

ह्लादि श्वेतं लघु स्निग्धं रश्मिवन्निर्मलं महत्।
ख्यातं तोयप्रभं वृत्तं मौक्तिकं नवधा शुभम् ॥ १४ ॥

मोती वे अच्छे होते हैं जो मोटे, गोल, सफेद वर्ण (नीली आभा युक्त)- स्निग्ध (चिकना) लघु भार तथा देखने में आनन्द-दायक हों और जिनसे किरणें सी निकलती हों और जो स्वच्छ जलबिन्दुवत् दीखते हों। उक्त नव (नौ) लक्षण युक्त मोती शुभ माने जाते हैं।

विशेष वचन—आजकल काच आदि से (देखने में) ऐसे अच्छे मोती बनाये जाने लगे हैं। कि जिनमें प्रशस्त मौक्तिक के लक्षण घट जाते हैं। अतः इनकी परीक्षा कठिन हो गई है। परन्तु इसके असली और नकली की सबसे सरल परीक्षा यह बताई जाती है कि मोती के दाने को दांत से तोड़ने पर यदि वह कुछ कठिनता से टूटता है तो असली मोती अन्यथा नकली मोती समझा जाता है। इसके अतिरिक्त तैल और नमक से इसकी परीक्षा की जाती है। तैल में नमक का सूक्ष्म चूर्ण मिला उसे खूब गरम करते हैं। तैल के अत्यधिक गरम होने पर उसमें मोती छोड़ दिया जाता है। फिर चौबीस घण्टे के बाद मोती निकाल कर उसकी चिकनाई चावल के सूखे आटे से दूर की जाती है। इस क्रिया से यदि मोती की आभा बदल जाय या घट जाय तो उसे नकली समझा जाता है अन्यथा असली।

मौक्तिकगुणाः—

मुक्ताफलं लघु हिमं मधुरं च कान्ति-
दृष्ट्यग्निपुष्टिकरणं विषहारि भेदि।
वीर्यप्रदं जलनिधेर्जनिता च शुक्ति-
र्दीप्ता च पक्तिरुजमाशु हरेदवश्यम् ॥ १५ ॥

मोती लघु, शीत, तथा मधुर रस है। यह शरीर की कान्ति, दृष्टि तथा अग्नि को पुष्ट करता है। विषों के प्रभाव को शान्त करता है। और साधारण भेदी है तथा वीर्यवर्धक है। इसी तरह समुद्र में उत्पन्न हुई मुक्ता शुक्तिभी अग्निदीपक तथा परिणाम-शूलनाशक होती है।

विशेष वचन—मुक्ता, शुक्ति, प्रवाल, शंख, खटिका आदि सब खटिका धातु के कार्बनित् (Carbonats) होते हैं अतः इनका न्यूनाधिक रूप में गुणसाम्य देखा जाता है। परन्तु मुक्ता में उसको उत्पन्न करने वाले जीव का ऐन्द्रिक–भाग की उपस्थिति से मुक्ता अन्य खटिक धातुओं में सर्व श्रेष्ठ माना जाता है। अतः सभी खटिक बाह्य प्रयोग में क्षतों के लिये ग्राही और स्रावहर हैं। खटिक धातु क्षारीय होने के कारण आमाशय में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के अम्लों को–जो कि शूल और अम्ल पित्त के कारण बनते हैं उन्हें–उदासीन कर देते हैं। आन्त्रपर खटिक का ग्राही अर्थात् स्रावशोषक प्रभाव होता है। यह फुफ्फुस नासा कण्ठ तथा श्वास मार्ग से होने वाले स्रावों को सुखाता है। यदि शरीर के किस भीतरी भाग से रक्त निकलता हो तो वह भी इससे सूख जाता है। खटिक शारीरिक–दाहहर है। यह उत्तम हृद्रोग-हर और मूत्रमार्ग के दाह का शामक है। अतएव इसको शुक्रमेह, रक्तमेह तथा श्वेतप्रदर में दिया जाता है। मुक्ता और प्रवाल में यह गुण विशेष है। परन्तु मुक्ता विशेषतः क्षय तथा हृद्रोगहर है। मुक्ता अस्थि को दृढ़ करती है। बालकों के दन्तोद्भेदकालीन ज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है। बच्चों के बालशोष तथा अस्थि-

मृदुता में खटिक बहुत उपयोगी सिद्ध हुये हैं। कहा जाता है कि गर्भावस्था में माता के शरीर में "विटामिन ए" की कमी को भी मुक्ता आदि उत्तम खटिक पूर्ण कर देते हैं। मुक्ता विशेषतः क्षय-हर है। इसके देने से कफ की कमी के साथ रात्रिस्वेद और रक्त-निष्ठीवन में भी आराम पहुँचता है। यही कारण है कि क्षय में मालतीवसन्त उपयोगी औषधि है। इसके देने से क्षयजन्य हाथ पैरों का दाह भी मिट जाता है। मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह, शुक्रमेह तथा रक्तमेह आदि पित्त-प्रकोप-जन्य उपद्रवों में वसन्तकुसुमाकर या प्रवालपञ्चामृत को कुशावलेह के साथ दिया जाता है। पित्त-प्रकोप-जन्य हृत्कम्पन के लिये भी मुक्ता का विशेष प्रयोग होता है। मुक्ता कैलसीयम है, इसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिये सम्पादक लिखी भारतीय रस पद्धति देखना अच्छा है।

मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक॥ १५॥

निकृष्टमौक्तिकलक्षणम्—

रूक्षांगं निर्जलं श्यावं ताम्राभं लवणोपमम्।
अर्धशुभ्रं च विकटं ग्रन्थिलं मौक्तिकं त्यजेत्॥ १६॥

स्पर्श में रूक्ष, मलिनजल की सी आभायुक्त, काली, ताम्राभ, लवणसदृश खरस्पर्श या धूसर अर्ध भाग श्वेत और अर्ध भाग कृष्ण वर्ण विषमाकार या गर्तयुक्त और गांठदार मोती को औषधि के लिये नहीं लेना चाहिये॥ १६॥

मौक्तिकगुणान्तरम्—

कफपित्तक्षयध्वंसि कासश्वासाग्निमान्द्यनुत्।
पुष्टिदं वृष्यमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम्॥ १७॥

मुक्ता, मोती की भस्म कफपित्त तथा क्षयरोगनाशक, श्वास कास अग्निमान्द्यहर शरीर को दृढ करने वाली, वृष्य, आयुष्य तथा दाह नाशक होती है॥ १७॥

अथ प्रशस्तप्रवाललक्षणम्—

पक्वबिम्बफलच्छायं वृत्तायतमवक्रकम्।
स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं सप्तधा शुभम्॥ १८॥

प्रवाल (मूंगा) वह उत्तम होता है जो पके हुये बिम्बफल (कुंदरू) के सदृश रक्तवर्ण का हो, गोल लम्बा हो, टेढ़ा-मेढ़ा न हो, चिकना हो, व्रण रहित (गांठ रहित) तथा मोटा हो। इन सात लक्षणों से युक्त प्रवाल उत्तम माना जाता है॥ १८॥

निकृष्टप्रवालम्—

पाण्डुरं धूसरं रूक्षं सव्रणं कोटरान्वितम्।
निर्भारं शुभ्रवर्णं च प्रवालं नेष्यतेऽष्टधा॥ १९॥

पाण्डुर तथा धूसर वर्ण, रूक्ष, व्रण तथा कोटर युक्त, (भार में) हल्का और श्वेत वर्ण प्रवाल उत्तम नहीं होता है। अर्थात् उक्त आठ दोषयुक्त प्रवाल अच्छा नहीं है। ऐसे प्रवाल को औषधि कर्म के लिये नहीं लेना चाहिये॥ १९॥

प्रवालगुणाः—

क्षयपित्तास्रकासघ्नं दीपनं पाचनं लघु।
विषभूतादिशमनं विद्रुमं नेत्ररोगनुत्॥ २०॥

इति प्रवालाधिकारः—

प्रवाल या प्रवाल की भस्म क्षय, रक्तपित्त तथा कास-रोग नाशक और दीपन, पाचन तथा लघु है। विष तथा भूतादिबाधा नाशक है। और नेत्ररोगों को दूर करता है।

विशेष वचन—प्रवाल की भस्म शीतलगुण होती है। क्षय, कास तथा रक्तपित्त और रक्तप्रदर रोगों में इसका अधिक प्रयोग होता है। जब शरीर से अधिक पसीना आता हो या रात्रि में पसीना आता हो जैसे राजयक्ष्मा रोग में इसके द्वारा उसका आना बन्द हो जाता है। यदि वीर्य में दोष प्रकोप से वर्णहीनता उत्पन्न हो गई हो तो इसका कुछ काल प्रयोग करने से वह मिट जाती है। मूत्रकृच्छ्र तथा उष्णवात में इसको शीतगुण के कारण ही प्रयोग कराया जाता है। मूत्रसाद रोग में इसको रससिन्दूर के साथ मिलाकर गोखरू के कषाय से दिया जाता है। मूत्रकृच्छ्र में इसको शतावर तथा तालमखाना, गोखरू और बला कषाय से देने पर शीघ्र लाभ होता है। हाथों और पैरों से निकलने वाले अत्यधिक पसीने के लिये इसको मधु और कुछ धतूर के योगों के साथ तीन चार मास तक सेवन करने से वह मिट जाता है। क्षयजन्य कास में इसको अभ्रकभस्म, वंशलोचन चूर्ण के साथ मिला वासा पानक के साथ देने से आराम आता है।

मात्रा ½ रत्ती से २ रत्ती तक॥ २०॥

अथ प्रशस्ततार्क्ष्य लक्षणम्—

हरिद्वर्णं गुरु स्निग्धं स्फुरद्रश्मिचयं शुभम्।
मसृणं भासुरं तार्क्ष्यं गात्रं सप्तगुणं मतम्॥ २१॥

उत्तम तार्क्ष्य (पन्ना) वह होता है जिसमें निम्न सात गुण हों। यह हरे वर्ण का, भारी, स्निग्ध, चिकना, सूर्यकिरणों की भांति चमकदार या जिसमें से किरणें सी निकलती हों, मसृण और स्थूल होना चाहिये।

विशेष वचन—नीलपीतवर्ण या वृक्ष पत्रवर्ण का पन्ना उत्तम होता है॥ २१॥

अप्रशस्ततार्क्ष्यम्—

कपिलं कर्कशं नीलं पाण्डु कृष्णं मलान्वितम्।
चिपिटं विकटं रूक्षं लघु तार्क्ष्यं न शस्यते॥ २२॥

कपिलवर्ण (भूरे-से पीले रंग का) खरदरा, नीलवर्ण, पाण्डु-वर्ण, काला, मलिन, चपटा, टेढ़ा मेढ़ा, रूक्ष तथा लघुभार तार्क्ष्य पन्ना निकृष्ट माना जाता है॥ २२॥

तार्क्ष्यगुणाः—

ज्वरच्छर्दिविषश्वाससन्निपाताग्निमान्द्यनुत्।
दुर्नामपाण्डुशोफघ्नं तार्क्ष्यमोजोविवर्धनम्॥ २३॥

इति तार्क्ष्याधिकारः।

पन्ने की भस्म ज्वर, वमन, विष, श्वास, सन्निपात, मन्दाग्नि, अर्श (बवासीर), पाण्डुरोग तथा शोथ को नष्ट करती है और ओज की शक्ति को बढ़ाती है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥ २३ ॥

———

अथ प्रशस्तपुष्परागलक्षणम्—

पुष्परागो गुरुः स्निग्धः स्वच्छः स्थूलः समो मृदुः।
कर्णिकारप्रसूनाभो मसृणश्च शुभोऽष्टधा ॥ २४ ॥

उत्तम पुष्पराग (पुखराज) गुरुभार, स्वच्छ (पारदर्शक), स्निग्ध, स्थूल, सम, अंगकोमल (मृदु), पीले कनेर के पुष्प के समान पीतवर्ण तथा चमकदार ये आठ गुण युक्त होता है ॥ २४ ॥

अप्रशस्तपुष्परागः

निष्प्रभं कर्कशं रूक्षं पीतश्यामं नतोन्नतम्।
कपिशं कपिलं पाण्डुपुष्परागं परित्यजेत् ॥ २५ ॥

प्रभा रहित, कठोर, रूक्ष, पीतश्यामवर्ण, विषमाकार, कपिश (श्याववर्ण), कपिल (रक्तपीतवर्ण), पाण्डुवर्ण पुष्पराग औषधि कार्य में अग्राह्य है ॥ २५ ॥

गुणाः—

पुष्परागं विषच्छर्दिकफवाताग्निमान्द्यनुत्।
दाहकुष्ठास्रशमनं दीपनं पाचनं लघु ॥ २६ ॥

इति पुष्परागाधिकारः—

पुष्पराग की भस्म या पुखराज विष, वमन, कफवातप्रकोप और मन्दाग्नि को दूर करता है। दाह, कुष्ठ तथा रक्तरोगों को शान्त करता है तथा अग्निदीपक पाचक तथा लघु होता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इसको मेध्य बृंहण वृष्य भी लिखा है।

मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥ २६ ॥

———

अथ वज्रम्—

वज्रं च त्रिविधं प्रोक्तं नरो नारी नपुंसकम्।
पूर्वं पूर्वमिह श्रेष्ठं रसवीर्यविपाकतः ॥ २७ ॥

वज्र (हीरा) तीन प्रकार का होता है। १—नर जाति, २—स्त्री जाति, ३—नपुंसक जाति। इनमें रस, वीर्य तथा विपाक में नपुंसक जाति से स्त्री जाति और स्त्री जाति से नर जाति वज्र श्रेष्ठ होता है ॥ २७ ॥

पुंवज्रस्य लक्षणम्—

अष्टास्रं वाऽष्टफलकं षट्कोणमतिभासुरम्।
अम्बुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुंवज्रमुच्यते ॥ २८ ॥

जिस हीरे के आठ पहलू और आठ कोण हों अथवा छः कोण हों, जो अत्यन्त चमकीला हो और जो कृष्णवर्ण जल में डालने पर भी चमकता दीखता हो और जल में तैरता हो वह नर जाति का वज्र कहा जाता है।

विशेष वचन—गारुड़ में हीरे के जल में तैरने के विषय में लिखा है कि यद्यपि हीरा रत्नों में माना जाता है और खनिज द्रव्य है फिर भी अन्य रत्नों से इसमें यह विपरीतता है कि यह खनिज और भारयुक्त होता हुआ भी जल में तैरता है। "गुरुता सर्वरत्नानां गौरवाधानकारणम्। वज्रे सा वैपरीत्येन सूरयः परिचक्षते"।

हीरा क्या है? इस पर कतिपय प्राचीन शास्त्रों ने हीरे की उत्पत्ति अमृत से बताई है। रसार्णवग्रन्थ में लिखा है कि मन्दराचल पर्वत से समुद्र मन्थन करने पर निकले हुये अमृत को जब देवता लोग पान करने लगे तो उसकी कुछ बूंदें पृथ्वी पर गिर पड़ी जो शुष्क होकर हीरा बन गई। रसपद्धतिकार ने लिखा है कि दितिपुत्र राक्षसराज के शरीर से हीरा उत्पन्न हुआ है। मुख भाग से ब्राह्मण बाहु से क्षत्रिय ऊरू से वैश्य और पैरों के भाग से शूद्र जाति का हीरा उत्पन्न हुआ। इस तरह आयुर्वेदशास्त्र में हीरे की भिन्न २ प्रकार से उत्पत्ति पाई जाती है। परन्तु वर्तमान खोज ने हीरे की उत्पत्ति, साधारण लोगों के लिये अविश्वसनीय एक साधारण वस्तु से स्थिर की है। वह वस्तु कोयला है। वैज्ञानिकों ने यह स्थिर किया है कि प्रकृति के गर्भ में कज्जल (कोयला) के चारों तरफ हजारों टन का दबाव पड़ने और दबाव के साथ २ उसके चारों तरफ भारी उत्ताप विद्यमान रहने पर कोयले के कण जलने के स्थान पर और कठिन या ठोस रूप में आ जाते हैं। अथवा इस प्राकृतिक क्रिया से कोयले की श्यामता जाती रहती है और वह शुभ्र वर्ण बन जाता है। सम्भवतः इस कोयले से उत्पत्ति के कारण ही वज्र को वारितर लिखा हो। कोयले से वज्र की उत्पत्ति के विषय पर निरन्तर परिश्रम करने के बाद वैज्ञानिकों ने आज इस बात को स्पष्ट कर दिया है और हजारों कृत्रिम हीरे पैदा किये हैं। इस प्राकृतिक हीरे के लिये भारत प्रसिद्ध है। यहाँ प्राचीन समय के पन्नास्टेट सम्बलपुर, कर्नूल आदि अनेक ऐसे प्रसिद्ध स्थान थे जिन से अच्छे २ हीरे निकल चुके हैं। आज भी कहीं न कहीं निकलते पाये जाते हैं। इस देश की प्राचीन खानों से उत्पन्न होने वाले हीरे प्रायः स्फटिकवत् स्वच्छ और श्वेत होते थे अतः इसका वर्ण श्वेत ही लिखा है। इसके अतिरिक्त ताप तथा दबाव की न्यूनाधिकता से पिंगलवर्ण भूरा नीलाश्याम मुक्तारूप अरुण या हरित्वर्ण के भी हीरे प्राप्त होते हैं। हीरा प्रायः नतोदर या मृदंगवत् उन्नतोदर होता है। आजकल प्राप्त होने वाले हीरों में से कोई तिपहल बारहपहल या कोणयुक्त होते हैं। जात्य हीरक के विषय में रसतरंगिणी में बहुत अच्छा और स्पष्ट लिखा है कि "स्निग्धं विद्युद्विभं स्वच्छमलेख्यञ्च विलेखनम्।

तीक्ष्णं षट्कोणमष्टास्रं जात्यं हीरकमुच्यते" । उत्तम हीरे की परीक्षा के विषय में बहुत स्पष्ट किया हुआ है कि असली हीरे को कसौटी पर घिसने से यह बिलकुल नहीं घिसता या छिलता है, इसके अतिरिक्त यह कांच के सदृश कठिन से कठिन चीजों को आसानी से काट देता है। कांच आदि के काटने के लिये हीरे की कलम काम आती है ॥ २८ ॥

स्त्रीनपुंसकवज्रलक्षणे—

तदेव चिपिटाकारं स्त्रीवज्रं वर्तुलायतम् ।
वर्तुलं कुण्ठकोणाग्रं किंचिद्‌गुरु नपुंसकम् ॥ २९ ॥

जो हीरा चपटा, लम्बा और गोला-सा हो वह स्त्री जाति का वज्र कहाता है; और जो हीरा कोण तथा तीक्ष्णधार रहित हो, गोल हो और अन्य हीरे की अपेक्षा कुछ अधिक भारी हो तो वह नपुंसक जाति का वज्र होता है ॥ २९ ॥

तेषां जातिभेदेनाधिकारिभेदनिर्देशः—

स्त्रीपुन्नपुंसकं वज्रं योज्यं स्त्रीपुन्नपुंसके ।
व्यत्यासान्नैव फलदं पुंवज्रेण विना क्वचित् ॥ ३० ॥

स्त्री, पुरुष और नपुंसक जाति के वज्रों को क्रमशः स्त्रियों पुरुषों और नपुंसकों के लिये ही प्रयोग करना चाहिये। यदि इन हीरों को उक्त क्रम के विरुद्ध प्रयोग किया जाय तो इनसे कोई लाभ नहीं होता है। अर्थात् नपुंसक जाति वज्र को पुरुष के लिये दिया जाय, स्त्री जाति वज्र को पुरुष के लिये दिया जाय या नपुंसक के लिये दिया जाय। परन्तु पुरुष वज्र के विषय में यह बात नहीं है यह सब के लिये उपयोगी है। क्योंकि इसमें सब गुण होते हैं ॥ ३० ॥

वज्राणां वर्णादिभेदेनाधिकारिभेदनिर्देशः—

श्वेतादिवर्णभेदेन तदेकैकं चतुर्विधम् ।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रं स्वस्ववर्णफलप्रदम् ॥ ३१ ॥

उत्तमोत्तमवर्णं हि नीचवर्णफलप्रदम् ।
न्यायोऽयं भैरवेणोक्तो पदार्थेष्वखिलेष्वपि ॥ ३२ ॥

उक्त त्रिविध जाति का हीरा पुनः पृथक् २ श्वेत, रक्त, पीत तथा कृष्ण वर्ण भेद से चार प्रकार का होता है। जिनमें श्वेत ब्राह्मण वर्ण के लिये, रक्त क्षत्रिय के लिये, पीत वैश्य के लिये और कृष्ण शूद्र के लिये प्रयुक्त होता है और अपने २ वर्ण के लिये ही फलप्रद होता है। इनमें उत्तम वर्ण का वज्र अवशिष्ट नीच वर्णों के लिये फलप्रद होता है। अर्थात् श्वेत हीरा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र के लिये फलप्रद है। रक्तवर्ण अवशिष्ट वर्णों के लिये फलप्रद है किन्तु कृष्णवर्ण वैश्य क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के लिये फलप्रद नहीं होता है। यह न्याय भैरव ने किया है और यही न्याय सभी पदार्थों के विषय में लागू होता है ॥ ३१–३२ ॥

वज्रगुणाः

आयुष्प्रदं झटिति सद्‌गुणदं च वृष्यं
दोषत्रयप्रशमनं सकलामयघ्नम् ।
सूतेन्द्रबन्धवधसद्‌गुणकृत्प्रदीपनं
मृत्युञ्जयं तदमृतोपममेव वज्रम् ॥ ३३ ॥

हीरे की भस्म आयुवर्धक, शीघ्र ही शरीर में उत्तम गुण उत्पादक है, यह वृष्य, त्रिदोषशामक, सर्वरोगनाशक होती है। और पारद को बांधने, भस्म करने और पारद के साथ मिश्रित होकर पारद के गुणों को विशेष शक्तिशाली बनाने में अत्यन्त उपयोगी है। यह अमृत समान मृत्यु तथा रोगों को जीतने वाली है।

विशेष वचन—हीरे की भस्म उत्पादक अंगों को बल देती है अतः चिकित्सक लोग इसे घोर नपुंसकता में प्रयोग करते हैं। यह स्वस्थ मनुष्य के स्वास्थ्य को स्थिर रखती है। धातुओं की वृद्धि करती है। जिससे शरीर अकाल मृत्यु के पञ्जे से बचा रहता है। हृदय की दुर्बलता में यह विशेष औषधि है। यह राजयक्ष्मा में जीवन शक्ति को स्थिर रखने में अत्युत्तम है अत एव 'नवरत्नमृगांक' रस आदि इसके योग ऐसे रोगों में दिये जाते हैं। पाण्डु, शोथ, उदररोगों में इसका प्रयोग लाभदायक होता है। यह पारद के समान ही षड्रस और योगवाही माना जाता है। अतः जिस औषधि के साथ दिया जाता है उसकी शक्ति को बढ़ा देता है।

मात्रा $\frac{1}{32}$ रत्ती से $\frac{1}{16}$ रत्ती तक ॥ ३३ ॥

सर्वरत्नानां साधारणदोषनिर्देशः—

ग्रासस्त्रासश्च बिन्दुश्च रेखा च जलगर्भता ।
सर्वरत्नेष्वमी पञ्च दोषाः साधारणा मताः ॥
क्षेत्रतोयभवा दोषा रत्नेषु न लगन्ति ते ॥ ३४ ॥

रत्नों में विशेषतः हीरे में ग्रास (तीक्ष्णता), त्रास (टेढ़ापन या नतोदरता अथवा उन्नतोदरता), बिन्दु (काले सफेद सूक्ष्म बूंद), रेखा (लाल पीली लकीर) जलगर्भता (भीतर जल भरा सा) ये पांच साधारण दोष माने जाते हैं। खान तथा जल से उत्पन्न होने वाले रत्नों में खनिज तथा जलीय क्षार आदि के दोष रत्नों में नहीं माने जाते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में केवल वज्र के ही ये पाँच साधारण दोष लिखे हैं और इनके नामों में कुछ अन्तर है। "बिन्दुःकाकपदं पवः किल मलो रेखेति नाम्नोदिताः। दोषाः पञ्च पवेः।" अन्यत्र सर्वरत्न दोषों में "ग्रासः" के स्थान पर "घर्षः" ऐसा पाठ भेद है॥

वज्रशोधनम्—

कुलत्थक्काथके स्विन्नं कोद्रवक्कथितेन वा ।
एकयामावधि स्विन्नं वज्रं शुध्यति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

हीरे को एक प्रहर तक कुलत्थ के कषाय में अथवा कोदों के क्काथ में दोलायन्त्रद्वारा स्वेदन करने से वह निश्चित शुद्ध हो जाता है ॥ ३५ ॥

वज्रमारणम्—

वज्रं मत्कुणरक्तेन चतुर्वारं विभावितम् ।
सुगन्धिमूषिकामांसैर्वर्तितैः परिवेष्ट्य च ॥ ३६ ॥

पुटेत्पुटैर्वराहाख्यैस्त्रिंशद्वारं ततः परम्।
ध्मात्वा ध्मात्वा शतं वारान्कुलत्थक्काथके क्षिपेत्।
अन्यैरुक्तः शतं वारान्कर्तव्योऽयं विधिः क्रमात् ॥ ३७॥

शुद्ध हीरे के चूर्ण को खटमलों के रक्त से चार भावना देकर सुखा लें फिर इन टिकियाओं को छछूंदर (जिसमें दुर्गन्ध आती है और चूहे की अपेक्षा लम्बा मुख होता है) के मांसपिण्ड में रख वराहपुट में फूंक दें। इस प्रकार तीस पुट दें। पश्चात् हीरे के चूर्ण को मूषा में रख तपा कर सौ बार कुलत्थ कषाय में बुझावें। दूसरे रसचिकित्सकों ने हीरे को खटमलों के रक्त में घोट वराहपुट के साथ कुलत्थ क्वाथ में बुझाने की सम्पूर्ण विधि को सौ बार करने को लिखा है।

विशेष वचन—द्रव्यों में अपने २ तत्त्वों के अनुसार विभिन्न प्रकार की ताप सहन शक्ति होती है। इसी को लक्ष्य रखते हुये रसतन्त्र में विभिन्न द्रव्यों को पकाने के लिये भिन्न २ प्रकार की अग्नि का मान लिखा हुआ है। वज्र यद्यपि कठोरांग द्रव्य है परन्तु अन्य धातुओं की भांति गजपुट या तीव्र अग्नि को सहन नहीं कर सकता है। ऐसे पुटों में या तीव्र अग्नि‌ताप में रखने से यह उड़ जाता है। केवल भावना द्रव्यों की थोड़ी सी राख रह जाती है क्योंकि हीरा में १५००% प्रतिशत डिग्री तापांश सह्य शक्ति है, इससे अधिक ताप में यह उड़ जाता है। अतः इसकी भस्म के लिये चार-पांच सेर उपलों से अधिक अग्नि नहीं देनी चाहिये।

मारणान्तरम्—

कुलत्थक्काथसंयुक्तलकुचद्रवपिष्टया।
शिलया लिप्तमूषायां वज्रं क्षिप्त्वा निरुध्य च ॥ ३८॥
अष्टवारं पुटेत्सम्यग्विशुष्कैश्च वनोत्पलैः।
शतवारं ततो ध्मात्वा निक्षिप्तं शुद्धपारदे॥
निश्चितं म्रियते वज्रं भस्म वारितरं भवेत् ॥ ३९॥
सत्यवाक् सोमसेनानीरेतद्वज्रस्य मारणम्।
दृष्टप्रत्ययसंयुक्तमुक्तवान् रसकौतुकी ॥ ४०॥

प्रथम मनःशिला को कुलत्थ कषाय से, पश्चात् बड़हल के रस से पीस कर इस कल्क से मूषा को भीतर की तरफ लेप दें। इसके अच्छी तरह सूख जाने पर उसमें हीरे को रखकर मुख बन्द करके ऊपर से कपड़मिट्टी करके सुखा दें। पश्चात् लघु पुट में फूंक दें, इस प्रकार आठ बार जंगली उपलों की लघु पुट में फूंकने के बाद हीरे को अग्नि में गरम करके सौ बार शुद्ध पारद में बुझावें। अब हीरा पीसने योग्य हो जायगा। उसे एक दृढ़ खरल में डालकर सावधानी से पीस लें। इस प्रकार हीरे की वारितर भस्म हो जाती है। इस प्रत्यक्ष परीक्षण युक्त वज्र मारण विधि को रसशास्त्रकौतुकी सत्यभाषी सोमसेनानी ने कहा है।

विशेष वचन—कई स्थानों में पारद में बुझाने के बाद हीरे को हरताल, मैनसिल, गन्धक, हिंगुल के योग से लघु पुट देने को भी पाया जाता है। इस विधि से वज्र भस्म उत्तम और अधिक कार्यशील बनती है ॥ ३८-४० ॥

मतान्तरम्—

विलिप्तं मत्कुणस्यास्रैः सप्तवारं विशोषितम्।
कासमर्दरसापूर्णे लोहपात्रे निवेशितम् ॥ ४१ ॥
सप्तवारं परिध्मातं वज्रभस्म भवेत्खलु।
ब्रह्मज्योतिर्मुनीन्द्रेण क्रमोऽयं परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

खटमलों के रक्त से हीरे को पोत कर सुखा दें। इस प्रकार सात बार रक्त का लेप करके सुखा लें। पश्चात् एक लोह-पात्र में भरे हुये कसौंदी के रस में हीरे को तपा कर सात बार बुझावें तो हीरे की भस्म बन जाती है। यह भस्म करने का प्रकार ब्रह्मज्योति मुनीन्द्र ने कहा है।

विशेष वचन—कई वैद्य सात बार खटमल के रक्त से पोत कर सुखा कर हीरे को कसौंदी के रस में डाल लोह-पात्र में सात बार धौंकनी से तपा कर रस का शोषण कर पश्चात् ताल आदि द्रव्यों से लघु पुट देने को कहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

मतान्तरम्—

नीलज्योतिर्लताकन्दे घृष्टं घर्मे विशोषितम्।
वज्रं भस्मत्वमायाति कर्मवज्ज्ञानवह्निना ॥ ४३ ॥

नीली कोयल (अपराजिता) या नील के मूल स्वरस या मालकंगुनी या क्षीरकाकोलीकन्द के रस में शुद्ध हीरे के चूर्ण को अच्छी तरह घोट कर धूप में सुखा लेने के बाद एक लघु पुट देने से वज्र उसी प्रकार भस्म हो जाता है जैसे ज्ञानाग्नि के उदय होने पर कर्म नष्ट (भस्म) हो जाता है ॥ ४३ ॥

मतान्तरम्—

मदनस्य फलोद्भूतरसेन क्षोणिनागकैः।
कृतकल्केन संलिप्य पुटेद्विंशतिवारकम्॥
वज्रचूर्णं भवेद्वर्य्यं योजयेच्च रसादिषु ॥ ४४ ॥

भूनाग को मैनफल के स्वरस से पीस उसका कल्क बना उससे हीरे पर लेप कर सुखा लें; पश्चात् पुट (लघु पुट) दें। इस प्रकार बीस पुट देने से वज्र की उत्तम भस्म बनती है। यह सम्पूर्ण रस तथा रसायन कार्य में प्रयोग की जाती है ॥ ४४ ॥

मतान्तरम्—

तद्वज्रं चूर्णयित्वाथ किञ्चिट्टंकणसंयुतम्।
खरभूनागसत्त्वेन विंशेनावर्तयेद् ध्रुवम्॥
तुल्यस्वर्णेन तद्ध्मातं योजनीयं रसादिषु ॥ ४५ ॥

उक्त विधि से मारित वज्र भस्म में थोड़ा-सा सुहागाचूर्ण और बीसवां भाग केंचुओं का सत्वचूर्ण मिला समभाग सुवर्ण के साथ मूषा में रख तपाने से यह उत्तम गुणयुक्त हो जाती है। यह रसायन है इसको रसादि कार्य में प्रयोग करना चाहिये ॥ ४५ ॥

वज्रप्रयोगविधिः—

त्रिगुणेन रसेनैव सम्मर्द्य गुटिकीकृतम् ।
मुखे धृतं करोत्याशु चलद्दन्तविबन्धनम् ॥ ४६ ॥

हीरे की भस्म को तिगुना शुद्ध संस्कृत पारद के साथ अच्छी तरह मर्दन कर बनी हुई गोलियों को मुख में रखने से शीघ्र ही हिलते हुये दांत दृढ़ हो जाते हैं ॥४६॥

प्रयोगान्तरम्—

त्रिंशद्भागमितं हि वज्रभसितं स्वर्णं कलाभागिकं ।
तारं चाष्टगुणं सिताऽमृतवरं रुद्रांशकं चाभ्रकम ।
पादांशं खलु ताप्यकं वसुगुणं वैक्रान्तकं षड्गुणं
भागोऽप्युक्तरसै रसोऽयमुदितः षाड्गुण्यसंसिद्धये ॥४७॥

इति वज्राधिकारः ।

हीरे की भस्म ३० भाग, स्वर्णभस्म १६ भाग, रजतभस्म ८ भाग, शुद्ध विष या संस्कृत पारद या उसकी भस्म ११ भाग, अभ्रकभस्म ४ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म ८ भाग, वैक्रान्तभस्म ६ भाग, सब एकत्र मिला उत्तम प्रकार से खरल करके रख लें। यह उत्तम वज्र का योग है। इसके प्रयोग से षाड्गुण्य सिद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—इस योग की मात्रा अग्निवलापेक्षिणी है। ½ रत्ती से १ रत्ती तक सेवन की जा सकती है। "उक्तरसैः" से कहीं २ पर कुलत्थ, कोद्रव, कासमर्द, लकुच, मैनफल आदि का रस लिया है। इनसे सम्पूर्ण योग को मर्दन कर सुखा लिया जाता है।

षड्गुण—चरकवचनानुसार, विद्या, वितर्क, विज्ञान, स्मृति, तत्परता तथा क्रिया इन छहों को षड्गुण कहा जाता है ॥ ४७ ॥

अथ नीलस्य द्वैविध्यम्—

जलनीलेन्द्रनीलं च शक्रनीलं तयोर्वरम् ॥ ४८ ॥

नीलममणि १—जलनील, २—इन्द्रनील भेद से दो प्रकार की होती है। इनमें से इन्द्रनील उत्तम होता है ॥ ४८ ॥

तयोर्लक्षणम्—

श्वैत्यगर्भितनीलाभं लघु तज्जलनीलकम् ।
कार्ष्ण्यगर्भितनीलाभं सभारं शक्रनीलकम् ॥ ४९ ॥

जलनील भीतरी प्रदेश में जलवत् कुछ श्वेताभ और बाहर नीलवर्ण का होता है। और भार में भी लघु होता है। किन्तु इन्द्रनील भीतरी प्रदेश में कृष्णवर्ण और बाहर नीलवर्ण तथा गुरुभार होता है ॥ ४९ ॥

प्रशस्तेन्द्रनीललक्षणम्—

एकच्छायं गुरुस्निग्धं स्वच्छं पिण्डितविग्रहम् ।
मृदु मध्ये लसज्ज्योतिः सप्तधा नीलमुत्तमम् ॥ ५० ॥

उत्तम इन्द्रनील एकछाय अर्थात् अनुपम कान्ति वाला दूसरे द्रव्य के प्रतिबिम्ब को न लेकर अपनी कान्ति से उसे चमकाने वाला, गुरुभार, स्निग्ध, स्वच्छ, मोटा, मृदु (सुखस्पर्श), भीतर चमकीला इन सात गुणों से युक्त होता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इन्द्रनील की उत्तमता इस प्रकार लिखी है कि यदि इन्द्रनील को स्वच्छ दूध में डाल दें तो दूध का वर्ण नीला दीखने लगता है। और वज्र के सदृश इसके भी ब्राह्मणादि चार भेद लिखे हैं ॥ ५० ॥

जलनीलस्य विशेषलक्षणम्—

कोमलं विहितं रूक्षं निर्भारं रक्तगन्धिकम् ।
चिपिटाभंससूक्ष्मं च जलनीलं हि सप्तधा ॥ ५१ ॥

जलनील कोमल विहत (अर्धभाग में एक रंग तथा अर्धभाग में दूसरा रंग वाला) रूक्ष, लघुभार, रक्तवर्ण गर्भता या रक्तगन्धि, चपटा, पतला इन सात लक्षणों से युक्त होता है ॥ ५१ ॥

गुणाः—

श्वासकासहरं वृष्यं त्रिदोषघ्नं सुदीपनम् ।
विषमज्वरदुर्नामपापघ्नं नीलमीरितम् ॥ ५२ ॥

इति नीलाधिकारः ।

नीलम या नीलम की भस्म, श्वासकासहर, वृष्य, त्रिदोषप्रकोप-नाशक, अग्निदीपक, विषमज्वर, अर्श तथा पाप नाशक होती है।

विशेष वचन—मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक ॥ ५२ ॥

अथगोमेदस्य निरुक्तिः—

गोमेदःसमरागत्वाद्गोमेदं रत्नमुच्यते ॥ ५३ ॥

गाय के मेद (चर्बी) के समान रंग होने से इस रत्न का नाम गोमेद रखा गया है। अर्थात् गोमेद मणि पीत रक्तवर्ण की होती है ॥ ५३ ॥

प्रशस्तगोमेदलक्षणम्—

सुस्वच्छगोजलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं समं गुरु ।
निर्दलं मसृणं दीप्तं गोमेदं शुभमष्टधा ॥ ५४ ॥

उत्तम गोमेद स्वच्छ गोमूत्र वर्ण के सदृश वर्ण वाला स्वच्छ (पारदर्शक), स्निग्ध, समावयव, गुरुभार, दल (पत्र) रहित चिकना और चमकदार ये आठ गुण युक्त होता है ॥ ५४ ॥

अप्रशस्तगोमेदलक्षणम्—

विच्छायं लघु रूक्षांगं चिपिटं पटलान्वितम् ।
निष्प्रभं पीतकाचाभं गोमेदं न शुभावहम् ॥ ५५ ॥

अनुत्तम गोमेद, कान्तिरहित, लघुभार, रूक्ष, चपटा, दलयुक्त, मैला और पीले काँच के सदृश होता है। यह औषधि तथा धारण कर्म में अच्छा नहीं होता है ॥ ५५ ॥

गुणाः—

गोमेदं कफपित्तघ्नं क्षयपाण्डुक्षयंकरम् ।
दीपनं पाचनं रुच्यं त्वच्यं बुद्धिप्रबोधनम् ॥ ५६ ॥

इति गोमेदाधिकारः ।

गोमेद की भस्म कफपित्तप्रकोपनाशक, क्षयरोग तथा पाण्डुरोग को दूर करने वाली, अग्निदीपक, पाचक, रुचिकर, त्वचा के लिये हितकर (चर्म तथा कुष्ठ रोग नाशक) तथा बुद्धिवर्धक होती है ।

विशेष वचन—मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक ॥ ५६ ॥

अथ क्षेपकश्लोकाः—

रत्नमारणनिषेधः—

रत्नानां शोधनं श्रेष्ठं मारणं न गुणप्रदम् ।
भस्मना वीर्यहानिः स्यात्तस्मात्तानि च शोधयेत् ॥ १ ॥

कुछ रसचिकित्सकों का विचार है कि रत्नों का शोधन कर लेना ही औषधि कार्य के लिये पर्याप्त है । अर्थात् रत्नों को शुद्ध करके गुलाबजल या गुलाब के फूलों के स्वरस में घोटकर (बारीक) चूर्ण या पिष्टी बनाकर प्रयोग में लाना चाहिये । इनकी (रत्नों की) भस्म करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता है बल्कि भस्म बनाने पर इनमें गुणों की कमी हो जाती है ॥ १ ॥

रत्नप्रयोगः—

रसे रसायने दाने धारणे देवतार्चने ।
सुलक्षणानि सुजातीनि सर्वाण्युक्तानि शोधयेत् ॥ २ ॥

रत्नों का प्रयोग रस, रसायन, दान, धारण (अँगूठी आदि में) देवताओं के पूजन में श्रेष्ठ जाति के और शुभ लक्षणों वाले शुद्ध रत्नों का प्रयोग करना चाहिये ॥ २ ॥

रत्नानां साधारणशोधनम्—

शुद्धिं चरन्ति रत्नानि निम्ब्वम्बुनि तुषाम्बुनि ।
विशुध्यन्ति त्रिदिवसैर्विधृतानि च सर्वशः ॥ ३ ॥

प्रायः सब प्रकार के रत्नों को नीबू के स्वरस या काञ्जी में तीन दिन तक भिगो रखने से अन्त में धोकर साफ कर लेने से अच्छी तरह शुद्धि हो जाती है ॥ ३ ॥

अथ शुभवैदूर्यलक्षणम्—

वैदूर्यं श्यामशुभ्राभं समं स्वच्छं गुरु स्फुटम् ।
अभ्रशुभ्रोत्तरीयेण गर्भितं शुभमीरितम् ॥ ५७ ॥

उत्तम वैदूर्य (लहसुनिया) श्याम और शुभ्रवर्ण की आभा वाला देखने में बिल्ली के आँख के सदृश चमकीला, सम, स्वच्छ, गुरुभार, चमकीला, फहराते हुये दुपट्टे के सदृश श्वेतवर्ण रेखाओं (भीतरी भाग में) से युक्त होता है ॥ ५७ ॥

अशुभवैदूर्यलक्षणम्—

श्यामं तोयसमच्छायं चिपिटं लघुकर्कशम् ।
रक्तगर्भोत्तरीयं च वैदूर्यं नैव शस्यते ॥ ५८ ॥

श्याम वर्ण तथा दूर से देखने पर जल के समान दिखाई देनेवाला, चपटा, लघुभार, कर्कश, भीतरी भाग में फहराते हुये दुपट्टे के सदृश कुछ रक्तवर्ण रेखा युक्त तथा मिट्टी पत्थर के खण्डों से युक्त वैदूर्य अच्छा नहीं होता है ॥ ५८ ॥

गुणाः—

वैदूर्यं रक्तपित्तघ्नं प्रज्ञायुर्बलवर्धनम् ।
पित्तप्रधानरोगघ्नं दीपनं मलमोचनम् ॥ ५९ ॥

इति वैदूर्याधिकारः

वैदूर्य की भस्म रक्तपित्त को नष्ट करती है, बुद्धि और आयु को बढ़ाती है । सब पित्तप्रधान रोगों को नष्ट करती है । अग्निदीपक तथा मल को निकालती है ।

मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥ ५९ ॥

सर्वरत्नानां शोधनम्—

शुद्ध्यत्यम्लेन माणिक्यं जयन्त्या मौक्तिकं तथा ।
विद्रुमं क्षारवर्गेण तार्क्ष्यं गोदुग्धकैस्तथा ॥ ६० ॥
पुष्परागं च सन्धानैः कुलत्थक्वाथसंयुतैः ।
तन्दुलीयजलैर्वज्रं नीलं नीलीरसेन च ।
रोचनाभिश्च गोमेदं वैदूर्यं त्रिफलाजलैः ॥ ६१ ॥

माणिक्य मणि एक प्रहर तक अम्ल वर्ग की औषधियों में दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करने से, मुक्ता जयन्ती (अरणी या भांग) के कषाय में, मूँगा सज्जीक्षार, यवक्षार आदि क्षारीय जलों में, तार्क्ष्य गोदुग्ध में, पुखराज कुलत्थ कषाय और काञ्जी में, चौलाई स्वरस में, हीरा नीलम नीलके कषाय या स्वरस में, गोलोचन या हल्दी के जल में, गोमेद और वैदूर्य त्रिफला कषाय में, दोलायन्त्र द्वारा एक प्रहर स्वेदन करने से शुद्ध हो जाते हैं ।

विशेष वचन—एक हस्तलिखित पुस्तक में ६१ श्लोक के बाद निम्न तीन श्लोक पाये जाते हैं जिनको पूर्व ही वैदूर्याधिकार में 'क्षेपकश्लोकाः' नाम से लिखा है । "रत्नानां शोधनं श्रेष्ठं मारणं न गुणप्रदम् । भस्मना वीर्यहानिः स्यात्तस्मात्तानि च शोधयेत् ॥ रसे रसायने दाने धारणे देवतार्चने । सुलक्षणानि सुजातीनि सर्वाण्युक्तानि शोधयेत् ॥ शुद्धिं चरन्ति रत्नानि निम्ब्वम्बुनि तुषाम्बुनि । विशुध्यन्ति त्रिदिवसैर्विधृतानि च सर्वशः ॥" बहुत सम्भव है कि इसी कारण गोमेद आदि रत्नों की भस्मविधि पृथक् २ विशद रूप में नहीं लिखी हो ॥ ६०–६१ ॥

रत्नानां मारणम्—

लकुचद्रावसंपिष्टैः शिलागन्धकतालकैः ।
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु ॥ ६२ ॥

वज्र के अतिरिक्त सब रत्नों को समभाग मनःशिला, गन्धक और हरताल में मिला कर बड़हल के रस में घोंट कर मुखा के सम्पुट में बन्द कर आठ लघु पुट देने से उनकी भस्म हो जाती है ॥ ६२ ॥

रत्नानां द्रावणम्—

रामठं पञ्चलवणं क्षाराणां त्रितयं तथा ।
मांसद्रवोऽम्लवेतश्च चूलिकालवणं तथा ॥ ६३ ॥
स्थूलं कुम्भीफलं पक्वं तथा ज्वालामुखी शुभा ।
द्रवन्ती च रुदन्ती च पयस्या चित्रमूलकम् ॥ ६४ ॥
दुग्धं स्नुह्यास्तथाऽर्कस्य सर्वं सम्मर्द्य यत्नतः ।
गोलं विधाय तन्मध्ये प्रक्षिपेत्तदनन्तरम् ॥ ६५ ॥
गुणवन्नवरत्नानि जातिमन्ति शुभानि च ।
भूर्जे तं गोलकं कृत्वा सूत्रेणावेष्ट्य यत्नतः ॥ ६६ ॥
पुनर्वस्त्रेण संवेष्ट्य दोलायन्त्रे निधाय च ।
सर्वाम्लयुक्तसन्धानपरिपूर्णघटोदरे ॥ ६७ ॥
अहोरात्रत्रयं यावत्स्वेदयेत्तीव्रवह्निना ।
तस्मादाहृत्य संक्षाल्य रत्नजां द्रुतिमाहरेत् ।
रत्नतुल्यप्रभा लघ्वी देहलोहकरी शुभा ॥ ६८ ॥

हींग, पाँचों नमक, तीनों क्षार (जवखार, सज्जी और सुहागा) मांस द्रव (अम्लवेत भेद) अम्लवेत, नौसादर, जमालगोटा, कलिहारी (भिलावा), रुदन्ती, बड़ा जमालगोटा, क्षीरकाकोली (अथवा पेठा या दुधी) चित्रकमूल, थोहर का दूध, मदार का दूध इन सबको सम भाग में लेकर एकत्र खरल में अच्छी तरह मर्दन कर गोला बना लें। फिर इसके बीच में उत्तम जाति के नवरत्नों को रख कर गोले को बन्द करके एक भोज पत्र (बिना फटा हुआ तथा दृढ़) में अच्छी तरह उस गोले को लपेट तागे से चारों तरफ बाँध दें, फिर इस सूत्रवेष्टित गोले को एक कपड़े में लपेट कर पोटली बना लें अब इस पोटली को एक हांडी में जिसमें अम्लवर्ग के द्रव्य तथा काञ्जी डाली हुई हो दोलायन्त्र के विधान से लटका कर तीन दिन और तीन रात तीव्र अग्नि से स्वेदन करें। तीन दिन बाद पोटली को निकाल जल से धोकर गोल के भीतर से रत्न की द्रुति (द्रव) को निकाल लें। यह द्रुति रत्न के वर्ण के अनुसार रंग या आभावाली और लघु होती है। यह शरीर तथा धातु सिद्धि करने वाली होती है।

विशेष वचन—रुदन्ती एक औषधि होती है जिसके पत्र तथा क्षुप चने के समान आकार तथा अम्ल होते हैं। इसमें शिशिर ऋतु में जलबिन्दु स्वतः प्रत्येक समय गिरते रहते हैं। अम्लवेत के राजनिघण्टु में दो भेद लिखे हैं "शंखमांसादि द्रावीस्याद् द्विधा चैवाम्लवेतसः"। "मांसद्राव्यम्लवेतश्च" ऐसा पाठ होने पर मांस शंखादि को द्रव करने वाला अम्लवेत ही लिया जायगा न कि साधारण।

आजकल द्रावण द्रुतियों की समस्या बड़ी कठिन है ! इनको न किसी ने किया है और न कोई करने का प्रयत्न करता है। यदि निरन्तर परिश्रम और खोज की जाय तो धातु तथा रत्नों को द्रव करके (पिघला कर) उसी रूप में रखा जा सकता है। सम्भव है कि नवीन विज्ञान ने इन द्रुतियों का अर्थ धातु तथा किसी खनिज के लोसन या क्लोराइड जैसे लेडलोसन गोल्डक्लोराइड कैलसियम क्लोराइड आदि के रूप में समझा हो ॥६३–६८॥

मुक्ताद्रावणे विशेषक्रमः—

मुक्ताचूर्णं तु सप्ताहं वेतसाम्लेन मर्दितम् ।
जम्बीरोदरमध्ये तु धान्यराशौ विनिक्षिपेत् ।
सप्ताहादुद्धृतं चैव पुटं दत्वा द्रुतिं हरेत् ॥ ६९ ॥

मुक्ताचूर्ण को सात दिन अम्लवेत स्वरस से मर्दन कर टिकिया बना लें। फिर इस टिकिया को जम्बीरी नीबू के बीच में रख कपड़मिट्टी करके सात दिन तक धान आदि की खत्ती (राशि) में रख दें। इसके पश्चात् निकाल कर मूषा में रख कर बन्द करके साधारण पुट दें तो मुक्ता की द्रुति हो जाती है ॥ ६९ ॥

वज्रद्रावणे विशेषक्रमः—

वज्रवल्ल्यन्तरस्थं च कृत्वा वज्रं निरोधयेत् ।
अम्लभाण्डगतं स्वेद्यं सप्ताहाद् द्रवतां व्रजेत् ॥ ७० ॥

शुद्ध हीरे के चूर्ण को वज्रवल्ली (हाड़ जोड़) के कल्क में रख कर गोला सा बना लें। फिर इसको एक हांडी में काञ्जी डाल कर उसमें दोलायन्त्र द्वारा सात दिन तक स्वेदन करें तो उसकी द्रुति हो जाती है।

विशेष वचन—वज्रवल्ली की मोटी जड़ लेकर उसे चीर कर बीच में हीरे के टुकड़े रखने चाहिये अथवा इसके कल्क में ही रखना हो तो कल्क के गोलक को भोजपत्र में अच्छी तरह लपेट कर तागों से लपेट कपड़े में बांध कर पोटली बना स्वेदन करना चाहिये।

वैक्रान्तद्रावणे विशेषक्रमः—

श्वेतवर्णं तु वैक्रान्तमम्लवेतसभावितम् ।
सप्ताहान्नात्र संदेहः खरघर्मे द्रवत्यलम् ॥ ७१ ॥

श्वेत वर्ण शुद्ध वैक्रान्त चूर्ण को अम्लवेत के स्वरस में सात भावना देकर सात दिन तक तेज धूप में रखने से वैक्रान्त की द्रुति हो जाती है ॥ ७१ ॥

मतान्तरम्—

केतकीस्वरसं ग्राह्यं सैन्धवं स्वर्णपुष्पिका ।
इन्द्रगोपकसंयुक्तं सर्वं भाण्डे विनिक्षिपेत् ।
सप्ताहं स्वेदयेत्तस्मिन्वैक्रान्तं द्रवतां व्रजेत् ॥ ७२ ॥

केवड़े का स्वरस, सैन्धवनमक, स्वर्णपुष्पिका (पीली जुही या सत्यानाशी) और वीरबहूटी इन सब को एक हांडी में डाल कर वैक्रान्तचूर्ण को भोजपत्र में लपेट वस्त्र में बांध कर पोटली बना सात दिन दोलायन्त्र से स्वेदन करने पर वैक्रान्त द्रव आकार में हो जाता है।

विशेष वचन—यहाँ पर काञ्जी भी केतकी स्वरस के साथ डाल सकते हैं ॥ ७२ ॥

मतान्तरम्—

लोहाष्टके तथा वज्रे वाहनात्स्वेदनाद् द्रुतिः।
जायते नात्र सन्देहो योगस्यास्य प्रभावतः॥ ७३॥

इस उपर्युक्त द्रुति को लोहाष्टक (स्वर्ण, रजत, ताम्र, वंग, नाग, पित्तल, कांस्य तथा लोह) तथा वज्र की भस्म के बीच में डाल कर भोजपत्र से अच्छी तरह पोटली बनाकर अम्ल द्रव्यों में दोलायन्त्र से स्वेदन करने से इन लोहों तथा हीरे का द्रावण हो जाता है। यह इस वैक्रान्त द्रुति का प्रभाव है और यह द्रुति अन्य रत्नों की भी द्रुति कर देती है।

विशेष वचन—यहाँ पर उक्त प्रकार से की हुई वैक्रान्त द्रुति को लोहाष्टक भस्म तथा वज्रभस्म में मिला कर अम्ल में स्वेदन करने से उस धातु या हीरे की द्रुति हो जाती है ऐसा अर्थ भी किया जाता है और वैक्रान्त की भस्म या द्रुति हो जाती है ऐसा भी अर्थ किया जाता है॥ ७३॥

सर्वरत्नानां सामान्यं द्रावणम्—

कुरुते योगराजोऽयं रत्नानां द्रावणं परम्॥ ७४॥

उक्त योग अर्थात् लोहाष्टक के साथ की हुई वैक्रान्त आदि की द्रुति, रत्नों के साथ मिश्रण करने से माणिक्य आदि रत्नों की उत्तम द्रुतिकारक होती है॥ ७४॥

अथ उत्तममध्यमराजावर्तलक्षणम्—

राजावर्तोऽल्परक्तोरु नीलिकामिश्रितप्रभः।
गुरुश्च मसृणः श्रेष्ठस्तदन्यो मध्यमः स्मृतः॥ ७५॥

उत्तम राजावर्त (लाज वर्द) किञ्चित् लाल तथा नील कान्ति वाला, गुरुभार, चिकना होता है। इन लक्षणों से भिन्न मध्यम श्रेणी का राजवर्त होता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में राजावर्त को मयूरकण्ठसदृश वर्ण स्वच्छ और सौम्य तथा निर्मल लिखा है॥ ७५॥

गुणाः—

प्रमेहक्षयदुर्नामपाण्डुश्लेष्मानिलापहः।
दीपनः पाचनो वृष्यो राजावर्तो रसायनः॥ ७६॥

राजावर्त की भस्म सब प्रकार के प्रमेह, राजयक्ष्मा, अर्श, पांडु-रोग, वातकफरोगनाशक, अग्निदीपक, पाचक, वृष्य तथा रसायन होती है॥ ७६॥

राजावर्तादीनां सामान्यं शोधनम्—

निम्बुद्रवैः सगोमूत्रैः सक्षारैः स्वेदिना खलु।
द्वित्रिवारेण शुद्ध्यन्ति राजावर्तादिधातवः॥ ७७॥

लाजावर्त आदि खनिजों को गोमूत्र, निम्बूरस तथा यवक्षार से दोलायन्त्र द्वारा दो तीन बार एक एक पहर स्वेदन करने से वे शुद्ध हो जाते हैं॥ ७७॥

राजावर्तशोधनम्—

शिरीषपुष्पार्द्र रसैः राजावर्तं विशोधयेत्॥ ७८॥

ताजी शिरस के फूलों के स्वरस में लाजवर्द को भावना देकर सुखा लेने अथवा दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करने से उसकी शुद्धि हो जाती है॥ ७८॥

विशेष वचन—कोई यहाँ पर आर्द्र शब्द से अदरख रस का भी ग्रहण करते हैं।

राजावर्तमारणम्—

लुङ्गाम्बुगन्धकोपेतो राजावर्तो विचूर्णितः।
पुटनात्सप्तवारेण राजावर्तो मृतो भवेत्॥ ७९॥

शुद्ध लाजवर्द चूर्ण और शुद्ध गन्धक दोनों को समभाग में एकत्र कर बिजौरा नीबूरस में मर्दन कर सुखाकर सात पुट देने से उसकी भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में बिजौरा नीबू के स्थान पर भांगरे के रस में मर्दन करने को लिखा है॥ ७९॥

सत्वपातनम्—

राजावर्तस्य चूर्णन्तु कुनटीघृतमिश्रितम्।
विपचेदायसे पात्रे महिषीक्षीरसंयुतम्॥ ८०॥
सौभाग्यपञ्चगव्येन पिण्डीबद्धन्तु जारयेत्।
ध्मापितं खदिराङ्गारैः सत्वं मुञ्चति शोभनम्॥ ८१॥

इति राजावर्ताधिकारः।

लाजवर्द के चूर्ण को समानभाग मैनसिल तथा गोघृत के साथ मर्दन कर लोह के पात्र में डाल चतुर्गुण भैंस के दूध में पकावें, दूध के सूख जाने पर उतार कर उसमें समभाग सुहागा चूर्ण और मर्दन करने योग्य पञ्चगव्य (गेदुग्ध, दधि, घृत, मूत्र तथा गोबररस) के साथ पीस गोला बना कर मूषा में रख करके खदिर की लकड़ी के कोयलों से धौंकनी द्वारा तपायें तो इसका उत्तम सत्व निकल आता है।

विशेष वचन—कई स्थानों में टंकण और पञ्चगव्य मिला कर पहिले पुट देने को लिखा है

मूल में चौदह रत्नों को गिनाकर विवरण में ग्यारह रत्नों के ही गुणादि का वर्णन करने से यह अभिप्राय है कि गारुत्मत से लेकर विद्रुमपर्यन्त नौ द्रव्यों को ही रत्न शब्द से कहने के कारण विशेष रूप से उन्हीं का परिचय दिया गया है। वैक्रान्त, सूर्यकान्त, स्फटिक, चन्द्रकान्त आदि मणियों को—जो कि उपरत्न कहे जाते हैं—रत्नाधिकार में गिनते हुये भी उनका औषधियों में अत्यल्प प्रयोग होने से उनके लक्षण आदि का वर्णन नहीं किया है। राजावर्त तथा वैक्रान्त की रत्न तथा उपरत्न दोनों में ही स्मृति द्वैधवत् गणना की जाती है।

अथ द्रुतीनां दीर्घकालरक्षणोपायः—

कुसुम्भतैलमध्ये तु संस्थाप्या द्रुतयः पृथक् ।

तिष्ठन्ति चिरकालं तु प्राप्ते कार्ये नियोजयेत् ॥ ८२ ॥

पूर्वोक्त विधि से की हुई रत्नादि की द्रुतियों को यदि चिरकाल तक रखना अभीष्ट हो तो उनको पृथक् कुसुम्भ (कसूमा) के तैल में डालकर रख छोड़ना चाहिये। जब आवश्यकता हो निकाल कर काम ले आवें ॥ ८२ ॥

रत्नधारणगुणाः—

सूर्यादिग्रहनिग्रहापहरणं दीर्घायुरारोग्यदं ।

सौभाग्योदयभाग्यवश्यविभवोत्साहप्रदं धैर्यकृत् ।

दुश्छायाचलधूलिसंगतिभवाऽलक्ष्मीहरं सर्वदा ।

रत्नानां परिधारणं निगदितं भूतादिभिर्नाशनम् ॥ ८३ ॥

उपर्युक्त नवरत्नों के धारण करने से सूर्य आदि नवग्रह-प्रकोपजन्य पीड़ा दूर होती है। दीर्घायु तथा आरोग्य की प्राप्ति होती है। सौभाग्य का उदय होता है। अदृष्ट (भाग्य) सुन्दर और वशीकरण की सिद्धि होती है। इनके धारण से धन सम्पत्ति और उत्साह की वृद्धि होती है। धैर्य की शक्ति बढ़ती है। अनिष्ट छाया तथा दूषित धूल के स्पर्श से उत्पन्न हुई कुरूपता नष्ट होती है तथा भूत प्रेत आदि की बाधा नष्ट हो जाती है ॥ ८३ ॥

अथ गैरिकस्य शोधनं सत्वपातनञ्च—

अनेकक्रमयोगेन गैरिकं विमलं भवेत् ।

क्रमात् पीतञ्च रक्तञ्च सत्वं पतति शोभनम् ॥ ८४ ॥

इति श्री वैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भट्टाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये रत्नानां शुद्ध्यादिनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

राजावर्त के शोधन और सत्वपातन के अनुसार गेरू का भी शोधन और सत्वपातन किया जाता है। किन्तु गेरू से प्राप्त होने वाला सत्व पीत और रक्त द्विविध वर्ण का दो प्रकार का होता है। पाषाणगैरिक का पीतवर्ण और स्वर्णगैरिक का रक्तवर्ण सत्व निकलता है।

विशेष वचन—गेरू का वर्णन उपरसाधिकार में करके फिर यहाँ पर वर्णन करना उसकी विशेष शुद्धि तथा सत्वपातन विधि को दर्शाना है अतः इसका संक्षेपतः पुनः वर्णन किया गया है ॥ ८४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

लोहानि—

अथ लोहानां जातिनिरूपणम्—

शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारं

पूतीलोहं द्वितयमुदितं नागवंगाभिधानम् ।

मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्तं

धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽप्यनेकार्थवाची ॥ १ ॥

स्वर्ण, चांदी, ताम्र तथा तीक्ष्ण लोह को शुद्ध लोह माना जाता है। शीशा और वंग इन दोनों को पूतिलोह माना जाता है, और पीतल, कांसा तथा वर्तलोह (भरत) को मिश्र (योग से बना हुआ) लोह कहा जाता है। लोह के लिये "लुह" धातु का प्रयोग होता है। यह लुह धातु अनेक (अगर, रक्त, सुवर्ण आदि) अर्थों का वाचक है।

विशेष वचन—धातुओं की संख्या में मतभेद देखा जाता है। शार्ङ्गधर ने स्वर्ण, रजत, पीतल, ताम्र, सीसा, वंग तथा तीक्ष्ण (फौलाद) ये सात धातु माने हैं। किसी ने स्वर्ण, रजत ताम्र, वंग, नाग, कान्त, लोह, तीक्ष्ण लोह, तथा मुण्डलोह ये आठ धातु माने हैं। रसकामधेनु में स्वर्ण, रजत, ताम्र, तीक्ष्ण, वंग तथा नाग ये छः धातु लिखे हैं। सात धातु मानने वालों में भी पीतल और यशद को धातु मानने में मतभेद है। परन्तु इस ग्रन्थ में कोई संख्या न देकर धातु को निश्चित करने के लिये एक ऐसा लक्षण कर दिया है जिससे वैद्य स्वयं धातु का निर्णय कर सकें। इसके लिये "तत्वार्थवाची" के स्थान पर "कषार्थवाची" करके सब धातुओं को "लोह" शब्द से लिखता है। अर्थात् लुह धातु से लोह शब्द बनाने का अर्थ कर्षण का किया जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण धातुएँ पृथ्वी के अन्तराल से निकाली या खींची जाती हैं अतः इनको लोह शब्द से कहा जाता है। अथवा कषार्थवाची लुह धातु से यह भी अर्थ किया जाता है कि धातु भस्म के रूप में अन्तःप्रयोग करने पर शरीरान्तःस्थ सम्पूर्ण रोगों को बाहर खींच कर नष्ट कर देती है। अतः धातुसंख्या न देकर यहाँ पर धातुओं की जाति का वर्णन किया गया है। जिससे उनके अन्दर पाये जाने वाले तत्वों की न्यूनाधिकता का परिचय मिलता है। इसी कारण उक्त त्रिविध जाति धातुओं में कुछ एक प्रकार का और कुछ दूसरे प्रकार का कार्य या प्रभाव करती हैं। ग्रन्थान्तर में पीतल, कांस्य तथा वर्त को उपधातु लिखा है। वास्तव में ये मिश्र धातु हैं। "अनेकार्थवाची" के स्थान पर "तत्वार्थवाची" पाठ होने पर यह सिद्ध होता है, धातु तत्वार्थवाचक है। अर्थात् तत्वों के योग से धातु बनती है। इस अर्थ में विज्ञान की कुछ आभा दिखाई देती है। यद्यपि सृष्टि की रचना ही तत्वमय है, फिर भी तत्व का अर्थ उस वस्तु से लिया जाता है जिस सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु द्वारा अन्य वस्तु बनती या बन सकती हो, परन्तु वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म किसी से न बनती हो जिसका छेदन भेदन ही किसी तरह नहीं हो सकता हो। यह तत्वार्थवाची वस्तु, रूप, आकार, गुण, गन्ध, स्वभाव और भार से स्थिर तथा निश्चित स्थितियुक्त होती है। अर्थात् परीक्षा के समय किसी एक निश्चित लक्षण से पहिचानी जा सकती हो। तत्व अपने निर्माण में दूसरे तत्व की सहायता नहीं लेता है। अतः उपरोक्त लक्षणयुक्त वस्तु तत्व कही जाती है। ऐसे तत्व आयुर्वेद में पांच या चौबीस माने जाते हैं। परन्तु आधुनिक विज्ञान की खोज में तत्वों की संख्या ९२ तक पहुंच गई है। स्वर्ण आदि किसी धातु के तत्वों को देखने के

लिये उसके (धातु) सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को विभाजित करते हुये जब नेत्रशक्ति से अदृश्य सूक्ष्म कण हो जाय तब सूक्ष्म दर्शक यन्त्रद्वारा उसका निरन्तर विभाग किया जाय तो अन्त में एक ऐसी अवस्था आएगी जहाँ से फिर उसका विभाजन किसी तरह भी न हो सकेगा। यह अवस्था या कण ही उस धातु का तत्व[1] है जो इस दशा में अपने रूप वर्ण आकार वा भार को नहीं छोड़ता है। इस प्रकार के तत्वों के आकार, वर्ण गन्ध तथा भार के योग से विभिन्न प्रकार के आकार, वर्ण, गन्ध तथा भारयुक्त धातुएँ बनती हैं। धातुओं को बनाने वाले तत्वों की रचना किसी न किसी अंश में एक दूसरे से अवश्य भिन्न होती है। कोई तत्व गोल होता है तो कोई एक पहलूदार, कोई तिपहलू, अठपहलू, बारहपहलू, कोई षट्कोण, अठकोण, कोई लम्बा, कोई मोटा होता है। इनके रंग में कुछ न कुछ भिन्नता होती है। यद्यपि पारद, वंग, रजत, यशद आदि धातु सब श्वेत हैं तथापि इनकी श्वेतता में भी अन्तर है। आयतन में भी तत्व एक दूसरे से भिन्नता रखते हैं। पारदीय तत्व का आयतन रजत की अपेक्षा और रजत तत्व का आयतन बंगीय तत्व की अपेक्षा छोटा होता है। इसी तरह प्रत्येक धातु के तत्वों के परमाणु अपना अपना निश्चित भार भी रखते हैं। स्वर्ण का परमाणु १६७, पारदीय परमाणु २००, चांदी का १०७, वंग का ११८, ताम्र का ६३ भार रखता है। लोह का भार ५६ होता है। अब धातु की परीक्षा के लिये तीन बातें मुख्य देखी जाती हैं। १—कोई भी शुद्ध खनिज द्रव्य आभा प्रभा वाला होता है। २—धातु न्यूनाधिक रूप में विद्युत्-धारा को बहाने वाले होते हैं। ३—बिना रासायनिक विधि के धातु, जल, मद्यसार, तैल, ग्लिसरीन आदि में नहीं घुलते हैं। इस धातु परीक्षा से आज तक १० नहीं ६८ धातुओं का पता लगाया जा चुका है। जिनमें पोटासियम विस्मिथ, गैलियम प्लेटिनम, वैलेलियम कितनी ही धातु मानी जाती हैं। तत्वार्थवाची शब्द से इन बातों की तरफ जाना वैद्यों को संकेत करता है कि रसचिकित्सक को धातु अधातु का अच्छी तरह विभेद या निर्णय करके उनकी खोज और प्रयोग करना चाहिये ॥ १ ॥

अथ स्वर्णस्य पञ्चविधत्वम्—

प्राकृतं सहजं वह्निसंभूतं खनिसंभवम्।
रसेन्द्रवेधसंजातं स्वर्णं पंचविधं स्मृतम् ॥ २ ॥

सुवर्ण पाँच प्रकार का माना जाता है—१. प्राकृत स्वर्ण, २. सहज स्वर्ण, ३. अग्निज स्वर्ण, ४. खनिज स्वर्ण, ५. पारदवेधजन्य स्वर्ण।

विशेष वचन—रसार्णव ग्रन्थ में रसज, क्षेत्रज तथा लोहसंकरज भेद से तीन ही प्रकार का स्वर्ण माना गया है। और रसप्रकाशसुधाकर में रसज तथा खनिज भेद से दो ही प्रकार का स्वर्ण माना गया है। साधारणतः कृत्रिम और अकृत्रिम भेद से स्वर्ण दो प्रकार का ही पाया जाता है। खनिज स्वर्ण अकृत्रिम, अन्य कृत्रिम स्वर्ण कहा जाता है। खनिज स्वर्ण खान में मृत्तिका, पत्थर तथा वालुका आदि के रूप में दिखाई देता है, फिर इन द्रव्यों को रासायनिक विधि से साफ कर स्वर्ण को पृथक् किया जाता है। कृत्रिम या पारदवेध से बनाया जाने वाला स्वर्ण, आजकल धातुविद्या या कीमियागिरी के लोप हो जाने से अप्राप्य है। सम्भवतः यही कृत्रिम स्वर्ण बनाने में नवीन विज्ञान बहुत प्रयत्नशील है। इस में वह बहुत कुछ सफल भी हुआ, परन्तु इस विधि से प्राप्त स्वर्ण में उसको द्रव्यसम्बन्धी लाभ कुछ नहीं है। परन्तु शोध जारी है। उसके लिये हीरे की भांति पूर्ण लाभयुक्त स्वर्ण बना लेना कुछ कठिन नहीं है। पारदवेध से बनने वाले स्वर्ण में पारद को वेध संस्कारयुक्त कर उसके स्पर्श या किञ्चित्संयोग से रजत, ताम्र आदि धातुओं को पीतवर्णयुक्त किया जाता है। यह वेधविधि शतांश सहस्रांश भेद से कई प्रकार की लिखी है। "अष्टानवतिभागं च रूप्यमेकञ्च हाटकम्। सूतकेन च वेधः स्यात् शतांशविधिरीरितः। चन्द्रस्यैकोनपञ्चाशत्तथा शुद्धस्य भास्वतः। वह्निरेकः शम्भुरेकशतांशविधिरीरितः।" मातृकाभेद तन्त्र में पारदवेधजन्य स्वर्ण की विधि कुछ स्पष्ट लिखी है। "आनीय पारदं देवि! स्थापयेत् प्रस्तरोपरि। तस्योपरि जपेन्मन्त्रं सर्वबन्धमयात्मकम्। साष्टसहस्रं देवेशि! प्रजपेत् साधकाग्रणीः। स्वयम्भुपुष्पसंयुक्ते वस्त्रे चारुणसन्निभे। संस्थाप्य पारदं देवि! मृत्पात्रयुगले शिवे! पुष्पयुक्तेन सूत्रेण बध्नीयाद् बहुयत्नतः। मृत्तिकया रजेनैवं धान्यस्य परमेश्वरि! लेपयेद्बहुयत्नेन रौद्रे शुष्काणि कारयेत्। पुनश्च लेपयेद्धीमान् ततो वह्नौ विनिक्षिपेत्। अष्टमीनवमीरात्रौ क्षिपेन्नैव सुरेश्वरि।" इस प्रकार और भी अनेक विधियाँ इस तन्त्र में पाई जाती हैं। जिनकी वर्तमान में खोज अभ्यास न होने से असत्यता मानी जाती है। वस्तुतः यह त्रुटि खोज की है। प्राकृत और सहज स्वर्ण दुर्लभ अथवा खनिज के ही भेद विशेष समझने चाहिये। अतः स्वर्ण दो ही प्रकार का होता है ॥ २ ॥

स्वर्णरौप्ययोः सामान्यगुणाः—

आयुर्लक्ष्मीप्रभाधीस्मृतिकरमखिलव्याधिविध्वंसि पुण्यं
भूतावेशप्रशान्तिस्मरभरसुखदं सौख्यपुष्टिप्रकाशि।
गाङ्गेयं चाथ रूप्यं गदहरमजराकारि मेहापहारि
क्षीणानां पुष्टिकारि स्फुटमतिकरणं वीर्यवृद्धिप्रकारि॥ ३ ॥

सामान्यतः शुद्ध स्वर्ण या स्वर्ण की भस्म आयु, लक्ष्मी, कान्ति, बुद्धि और स्मरण शक्ति को बढ़ाती है। सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करती है। पवित्र है और भूतबाधाशामक, कामेच्छा को बढ़ाने वाली सौख्यजनक और शरीर की पोषक है। स्वर्णभस्म की भांति रजत या रजतभस्म भी रोगनाशक, जरानाशक तथा प्रमेहरोगहर है। यह क्षीण मनुष्यों को पुष्ट करती है, बुद्धि को स्वच्छ करती है और वीर्य को बढ़ाने वाली होती है ॥ ३ ॥

---

१ परन्तु आधुनिक विज्ञान इस तत्व के भी दो भाग मानते हैं। Negative of Positive Electron।

प्राकृतस्वर्णोत्पत्तिः—

ब्रह्माण्डं संवृतं येन रजोगुणभुवा खलु ।
तत्प्राकृतमिति प्रोक्तं देवानामपि दुर्लभम् ॥ ४ ॥

रजोगुण से उत्पन्न होने वाले जिस स्वर्ण से यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (विश्व) उत्पन्न हुआ उसे प्राकृतस्वर्ण कहा जाता है। यह देवताओं के लिए भी दुर्लभ है।

विशेष वचन—प्राकृत स्वर्ण की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् । तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥" प्राकृतिक स्वर्ण के विषय में यहाँ कुछ प्रकाश डाल देना उचित होगा। शान्तरूप त्रिगुणात्मक प्रकृति में सर्वप्रथम संसार की उत्पत्ति के लिये जब क्षोभ या प्रवृत्ति होने लगी तो प्रवृत्तिमूलक रजोगुण ही सर्वप्रथम चेष्टाशील हुआ। इसी लिये वही रजोगुण सम्पूर्ण सृष्टि का मूलाधार है। जहाँ त्रिगुण सिद्धान्त से रजोगुण प्रवृत्तिमूलक है वहाँ त्रिदोष सिद्धान्त से रजोगुण पित्तमूलक है। त्रिदोष सिद्धान्त में पित्त का वर्ण पीत निश्चित होता है। सम्भवतः संसार की उत्पत्ति में सर्व आदि प्रवृत्तिमूलक रजोगुण को शरीरक्रियाविज्ञान तथा निर्माण-वेत्ताओं ने पित्त (पीत) शब्द से लेकर सुवर्ण नाम दे दिया हो। और यही प्रकृति द्वारा होने वाला सर्वप्रथम सुवर्ण माना गया हो।

सहजस्वर्णोत्पत्तिः—

ब्रह्मा येनाऽवृतो जातः सुवर्णेन जरायुणा ।
तन्मेरुरूपतां यातं सुवर्णं सहजं हि तत् ॥ ५ ॥

जिस सुवर्ण की जरायु (जेर) से लपेटा हुआ ब्रह्मा उत्पन्न हुआ वह स्वर्ण सुमेरुपर्वत के रूप से परिणत हो गया उसे सहज-स्वर्ण कहा जाता है।

विशेष वचन—श्रीमद्भागवत में लिखी हुई ब्रह्मा की उत्पत्ति में लिखा है कि कल्पान्त में परपुरुष के नाभि से एक पीतवर्ण कमल-कोष उत्पन्न हुआ जिसके अन्दर ब्रह्मा जी विराजमान थे वही पीत-वर्ण पद्मकोष सहजवर्ण के नाम से कहा जाता है "परावरेषां भूता-नामात्मा यः पुरुषः परः। स एवासीदिदं विश्वं कल्पान्तेऽन्यन्नकिञ्चन ॥ तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोषो हिरण्मयः। तस्मिन्नब्जे महाराज ! स्वयम्भुश्चतुराननः ॥" सृष्टि बीजोत्पत्ति के पश्चात् जहाँ असंख्य प्राणियों की उत्पत्ति हुई वहाँ इस सृष्टि में जहाँ तहाँ अतुलराशि मेरुपर्वत आदि के रूप में इस सुवर्ण (सब धातुओं में सुन्दर वर्ण) धातुतत्व की भी उत्पत्ति हुई। सम्भवतः यही सहज स्वर्ण माना गया हो। अथवा क्योंकि हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) सुन्दर वर्ण (सुवर्ण) मय आभा से युक्त उत्पन्न हुआ, अतः इसे सहज स्वर्ण (अकृत्रिम) कहा जाता हो। ये उक्त दोनों ही सुवर्ण (वह्निज स्वर्ण के साथ तीनों ही) प्रकृति द्वारा या स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने के कारण बड़े २ वैज्ञानिकों द्वारा दुर्विज्ञेय तथा निर्माणाक्षम हैं। इनके विषय में विवरण विद्वानों का अन्वेषण बतायेगा। बहुत आयुर्वे-दिक विद्वानों ने स्वर्ण के पांच भेदों के झगड़े को छोड़ कर दो ही भेद माने हैं ॥ ५ ॥

वह्निजस्वर्णोत्पत्तिः—

विसृष्टमग्निना शैवं तेजः पीतं सुदुःसहम् ।
अभूत्सर्वं समुद्दिष्टं सुवर्णं वह्निसंभवम् ॥ ६ ॥

अग्नि के मुख में गिरे हुये शिववीर्य को जब अग्नि ने असह्य समझ कर उसे नीचे पृथ्वी पर गिरा दिया तो वह पीतवर्ण पदार्थ सब स्वर्ण रूप बन गया। यही वह्निसम्भव स्वर्ण कहा जाता है।

विशेष वचन—भारतानुशासनिक में लिखा है कि मेरुपर्वत में अग्नि ने इस वीर्य को फेंका था जिससे वहाँ की सभी वस्तु पीत-वर्ण हो गई। "तेजसा तस्य गर्भस्य भास्करस्यैव रश्मिभिः। यद्-द्रव्यं परिसंसृष्टं पृथिव्याः पर्वतेषु च। तत्सर्वं काञ्चनीभूतं समन्तात् प्रत्यदृश्यत। तस्मात् सुवर्णं मांगल्यं रत्नानामुत्तरोत्तरम्। सहजं कार्तिकेयस्य वह्नेस्तेजः परं मतम् ।" इस से यह प्रतीत होता है कि भूगर्भ की स्वाभाविक अग्नि जो भूमि-अन्तर्गत पदार्थों को हीरा आदि के रूप में परिवर्तित करती है उसकी अविज्ञेय रासायनिक क्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाला स्वर्ण अग्निज कहा गया है। यह भी खनिज स्वर्ण से पृथक् नहीं हो सकता है। प्राकृत और सहजस्वर्ण भी यही है। अब तक ऐसे किसी स्वर्ण का पता नहीं लगा है जो खनिज या कृत्रिम स्वर्ण से भिन्न प्रकृति का हो। कुछ ऐसा विचार किया जा सकता है कि ज्वालामुखी के फटने के कारण उष्णस्रोत के द्वारा पारद बाहर निकल कर जब प्राकृतिक रूप से भिन्न २ खनिजों के साथ मिल कर उनमें सुवर्ण (सुन्दर वर्ण) उत्पन्न करता है। इसी पारदजन्य धात्वीय सुन्दर वर्ण को सम्भवतः वह्नि-सम्भूत सुवर्ण माना गया है। यह बात पारदवेधजस्वर्णोत्पत्ति से भी पुष्ट होती है कि यदि कृत्रिम विधि द्वारा पारद से स्वर्ण (सुन्दर-वर्ण Allooy) बन सकते हैं तो प्राकृतिक पारद द्वारा प्राकृतिक विधि से भी सुवर्ण बन सकता है ॥ ६ ॥

प्राकृतादित्रयाणां लक्षणगुणौ—

एतत्स्वर्णत्रयं दिव्यं वर्णैः षोडशभिर्युतम् ।
धारणादेव तत्कुर्याच्छरीरमजरामरम् ॥ ७ ॥

उक्त तीनों प्राकृत आदि स्वर्ण श्रेष्ठ होते हैं तथा षोडश-गुणयुक्त (षोडशकलायुक्त) होते हैं। ये शरीर में धारण करने से ही अजर तथा अमर करते हैं ॥ ७ ॥

खनिजस्वर्णोत्पत्तिलक्षणगुणाः—

तत्र तत्र गिरीणां हि जातं खनिषु यद्भवेत् ।
तच्चतुर्दशवर्णाढ्यं भक्षितं सर्वरोगहृत् ॥ ८ ॥

तत्तत् पर्वतों की खानों में पैदा होने वाला स्वर्ण चौदह गुण युक्त होता है और भस्म के रूप में सेवन करने से सब रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—शुद्ध स्वर्ण का Atomic weight 197.2

Specific gravity 19.3, Melting point 106.4 centi grade होता है। यदि इन परीक्षाओं में सोना ठीक उतरे तो उसे शुद्ध (अन्य धातु मिश्रण रहित) समझना चाहिये ॥ ८ ॥

रसेन्द्रवेधजस्वर्णोत्पत्तिगुणाः—

रसेंद्रवेधसम्भूतं तद्वेधजमुदाहृतम्।
रसायनं महाश्रेष्ठं पवित्रं वेधजं हि तत् ॥ ९ ॥

पारद के वेध से प्राप्त होने वाला स्वर्ण रसेन्द्रवेधज स्वर्ण कहा जाता है। यह सर्वोत्तम रसायन तथा पवित्र होता है ॥ ९ ॥

गुणाः—

स्निग्धं मेध्यं विषगदहरं बृंहणं वृष्यमग्र्यं
यक्ष्मोन्मादप्रशमनपरं देहरोगप्रमाथि।
मेधाबुद्धिस्मृतिसुखकरं सर्वदोषामयघ्नं
रुच्यं दीप्तिप्रशमितरुजं स्वादुपाकं सुवर्णम् ॥ १० ॥

स्वर्ण की भस्म स्निग्ध, मेध्य, विषविकारहर, बृंहण तथा उत्तम वृष्य है। यह यक्ष्मा, उन्मादरोगशामक तथा सर्व शरीर रोगों को नष्ट करने वाली है। मेधा, बुद्धि तथा स्मरण शक्ति को पुष्टि करने वाली, सुखदायक तथा सर्वदोष-प्रकोप-जन्य रोगों को नष्ट करती है। यह रुचिकारक, अग्निदीपक, वातिकपीड़ाशामक और पाक में स्वादु होती है।

विशेष वचन—विधिपूर्वक मारित स्वर्ण अत्यन्त सूक्ष्म रूप में विभक्त हो जाता है जिससे सरलता के साथ शरीर में प्रवेश कर लेता है अर्थात् शरीर का अंग बन जाता है। अतः स्वर्ण सर्वांग बल्य है। हृदय और मस्तिष्क के लिये यह विशेष रूप से बल्य है। अत एव इसे मेध्य, स्मृतिकर तथा उन्माद और अपस्मारहर माना गया है। आयुर्वेद में हृदय रोगों के लिये स्वर्ण सर्वोत्तम औषधि है। हृदय की वातिक दुर्बलता (हृत्कम्प, हृद्दौर्बल्य, हृदय-विषम-गति आदि) में स्वर्ण के योग नारदीयलक्ष्मीविलास, चिन्तामणिचतुर्मुखरस आदि अत्यन्त लाभदायक होते हैं। स्वर्ण रसायन अर्थात् आयुष्य और वार्द्धक्य-हर भी है। नाड़ीमण्डल के रोग, संक्रामक रोग, राजयक्ष्मा तथा जान्तव और धात्वीय विष आदि पर इसका उत्तम प्रभाव होता है। भय, शोक, चिन्ता, व्यायाम, व्यवाय (मैथुन) तथा मानसिक क्षोभ के कारण उत्पन्न हुई वातिक दुर्बलता के लिये यह विशेष उपयोगी है। स्वर्ण विशेषरूप से क्षयरोग की महौषधि है। यदि स्वर्ण भस्म को अष्टसंस्कारयुक्त पारद के साथ घोटकर क्षयज्वर में प्रयुक्त किया जाय तो वह (ज्वर) बहुत शीघ्रता से शान्त होता है। आन्त्रक्षय की प्रथमावस्था (आन्त्र के भीतर ग्रन्थि शोथ उत्पन्न होना) में इससे विशेष लाभ होता है। अतएव आन्त्रक्षयज्वर में स्वर्ण पर्पटी जयमंगल रस बृहत् ग्रहणी-कपाट तथा आन्त्र शोषान्तक रस आदि रस अत्यन्त उपयोगी होते हैं। स्वर्णभस्म रक्तभाराधिक्य के कारण उत्पन्न हुई मस्तिष्क धमनियों की दुर्बलता को मिटाता है। नाड़ीमण्डल के क्षोभ तथा दुर्बलता आदि कारण से उत्पन्न श्लैष्मिक या वातिक उन्माद योषापस्मार आदि मानसिक-दौर्बल्य-जन्य व्याधियों में ब्राह्मीरस, वचा चूर्ण और शतावरी स्वरस से स्वर्णभस्म का सेवन अत्यन्त लाभ करता है। चरक सुश्रुत में छोटे बालकों की बुद्धि, स्मरणशक्ति तथा वाक्शक्ति की वृद्धि के लिये ब्राह्मी, हरीतकी तथा बचा चूर्ण के साथ स्वर्णभस्म सेवन कराने का विधान पाया जाता है। जरा (बुढ़ापा) प्रभाव को दूर करने के लिये मकरध्वज के साथ स्वर्ण मिला कर सेवन कराया जाता है। हृदय की दुर्बलता में स्वर्णभस्म या पत्रों को आमलकी स्वरस अथवा आमलकी और अर्जुन कषाय या मक्खन या दूध के साथ प्रतिदिन सेवन कराने से विशेष लाभ पाया जाता है। पुरातन अतीसार, ग्रहणी तथा पाण्डु रोगों में स्वर्ण के योग लाभदायक सिद्ध होते हैं। तीव्रज्वरों तथा संक्रामक ज्वरों (आन्त्रिकज्वर, प्लेगज्वर, विषमज्वर आदि) के बाद उत्पन्न हुई रक्त में पित्त की विकृति को नष्ट करने में स्वर्णभस्म असीम शक्ति रखती है। अनेकों का विचार है कि स्वर्णभस्म गरम होती है। यह भ्रममूलक है। यह कषाय, तिक्त, मधुर रस होने से शीत-गुण औषधि है। अस्थिक्षय, अस्थिशोथ तथा अस्थिविकृति में बहुत लाभदायक होती है। चरक सुश्रुत में लिखा है कि "शरीर में किसी प्रकार प्रविष्ट विष भाग को नष्ट करने के लिये रोगी को प्रथम वमन रेचन देकर, स्वर्णभस्म या पत्रों को तब तक मधु या आमलकी या निर्विषी के साथ देना चाहिये जब तक कि विष लक्षण शान्त न हो जायँ।" गीतिका के अनुसार स्वर्णभस्म की निम्न सेवन विधि है। "जटिला रजोविमिश्रं परिशीलितं सुवर्णम्। विनिहन्ति शीर्षदेशे विततं प्रसादवातम्। त्रिगुणाभ्रलोहमिश्रं वरुणाम्भसा सुवर्णम्। विनिहन्ति वृक्करोगं खलु दाहशोथयुक्तम्। गिरिजत्वयोविमिश्रं रजतान्वितं सुवर्णम्। श्वयथुं जरायुसंस्थं विनिहन्ति सोपसर्गम्। गगनायसासमेतं परिशीलितं सुवर्णम्। जठरस्थितं मलाख्यं विनिहन्ति वातमारात्। रजनीपुनर्नवाढ्यं खलु शृंगवेरवारा विनियोजितं सुवर्णं विनिहन्ति मुष्कशोथम्।" स्वर्ण तथा धातुओं के सेवन करने की विधि सबसे पूर्व आयुर्वेद की ही खोज है। यद्यपि पाश्चात्य देशों में भी आजकल गोल्डब्रोमाइड, गोल्डक्लोराइड, (स्वर्ण लवण) तथा Sanocrysin आदि स्वर्ण के योगों का प्रयोग देखा जाता है। फिर भी आयुर्वेद की अपेक्षा वहाँ स्वर्ण के विषय बहुत कम ज्ञात हो सका है। घोष मेटेरियामेडिका में स्वर्ण के प्रयोग तथा कार्यों पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है। Gold in different forms has been used empirically in diverse condition. It is much less poisonous than other heavy matals. The chief interest of the gold at the present time centres on its supposed value in Tuberculosis and Moellgaard introduced it in the form of Sanocrysin. How it acts is not clearly understood

and it has been suggested that it penetrates the lipoid covering of the Bacilli which it kills. It is also possible that it stimulates phagocytosis of the reticulo endo-thelial tissues. It has no marked effect on Tubercle bacilli invitro.

इसका अधिक विस्तार मटेरियामेडिका में देख सकते हैं॥ १० ॥

अशोधितामारितस्वर्णदोषाः—

सौख्यं वीर्यं बलं हन्ति रोगवर्गं करोति च ।
अशुद्धममृतं स्वर्णं तस्माच्छुद्धं च मारयेत् ॥ ११ ॥

अशुद्ध तथा बिना मारा हुआ स्वर्ण सुख, वीर्य और बल का नाश करता है और रोग समुदाय को उत्पन्न करता है। इसलिये शुद्ध स्वर्ण की ही भस्म करनी चाहिये।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में ग्राह्य और अग्राह्य भेद से स्वर्ण दो प्रकार का लिखा है। ग्राह्यस्वर्ण की परीक्षा इस प्रकार बताई गई है कि "दाहेऽतिरक्तमथ यत् ससितं छिदायां काश्मीरकान्ति च विभाति निकाषपट्टे। स्निग्धञ्च गौरवमुपैति च यत्तुलायां ग्राह्यं तदेव कनकं मृदु रक्तपीतम्"। अर्थात् जो स्वर्ण धातु तीव्र अग्नि में तपाने पर प्रातःकालीन निकलते हुये सूर्य के समान सुन्दर रक्त वर्ण हो और कसौटी पर घिसने से केसर के समान वर्ण रेखा दिखाता हो और तोल में अन्य सब धातुओं की अपेक्षा भारी (वजनदार) हो और जो कोमल तथा स्निग्ध हो वह ग्राह्य स्वर्ण होता है। इसके विपरीत जिस स्वर्ण में ताम्र तथा रजत का मिश्रण हो तोल में हल्का कठिन रूक्ष हो और अग्नि में तपाने पर या कसौटी में घिसने पर या काटने पर श्वेतवर्ण हो वह अग्राह्य स्वर्ण माना जाता है। "यच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्। दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम्"। अशुद्ध या अग्राह्य स्वर्ण में ताम्रादि धातुओं का संयोग होता है अतः उक्त मिश्रण तथा दोषों से युक्त स्वर्ण के सेवन से मूलोक्त दोष या विकृति उत्पन्न होना सम्भव होता है॥ ११ ॥

सुवर्णस्य सुवर्णसम्पादनम्—

कर्षप्रमाणं तु सुवर्णपत्रं
शरावरुद्धं पटुधातुयुक्तम्।
अङ्गारसंस्थं प्रहरार्धमानं
ध्मातेन तत्स्यान्ननु पूर्णवर्णम् ॥१२॥

स्वर्ण के सूक्ष्म कण्टक वेधी एक कर्ष पत्रों को समभाग सेन्धानमक तथा गेरू चूर्ण के साथ मिलाकर शराव में बन्द करके कोयलों की अग्नि में आधे प्रहर तक धौंकनी से तपायें तो स्वर्ण का वर्ण स्वच्छ अर्थात् उज्ज्वल रक्त वर्ण हो जाता है। उसमें पाये जाने वाले रजत तथा ताम्र के भाग जिनसे कि कालिमा पैदा होती है वह नष्ट हो जाती है यदि एक बार तपाने से कालिमा न हटे तो दूसरी या तीसरी बार भी तपा सकते हैं।

लोहमारकद्रव्येषु उत्तमादिनिर्देशः—

लोहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रसभस्मना।
मूलीभिर्मध्यमं प्राहुः कनिष्ठं गंधकादिभिः।
अरिलोहेन लोहस्य मारणं दुर्गुणप्रदम् ॥ १३ ॥

स्वर्ण आदि सब धातुओं का मारण पारद के योग से करना उत्तम माना जाता है और मूलिनी (चरकोक्त) या औषधियों के मूल स्वरसों से मारण करना मध्यम माना जाता है। किन्तु गन्धक, मनःशिला आदि द्रव्यों के साथ भस्म करना हीनगुण माना जाता है। किन्तु धातु के शत्रुरूप धातु या रसोपरस के द्वारा धातु की भस्म करना अवगुणकारक होता है।

विशेष वचन—अरिलोह से विशेषतः हरताल लिया जाता है परन्तु शत्रु धातु ही—जिससे कि मारणीय धातु में दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं—अरिलोह है। नाग वा सिन्दूर के योग से स्वर्णादि धातुओं की भस्म पूर्व गुणयुक्त नहीं होती है। यदि नाग आदि शत्रु धातु से पुट देकर भस्म करना हो तो तब तक हिंगुल के साथ पुट देनी चाहिये जब तक कि उसमें से नाग आदि धातु का अंश नष्ट न हो जाय ॥ १३ ॥

स्वर्णमारणम्—

कृत्वा कंटकवेध्यानि स्वर्णपत्राणि लेपयेत्।
लुंगांबुभस्मसूतेन म्रियते दशभिः पुटैः ॥ १४ ॥

पारद भस्म अथवा रससिन्दूर को बिजौरानीबू के रस में घोट कर इस कल्क को शुद्ध स्वर्ण के कण्टक वेधी पत्रों पर अच्छी तरह लेप करके लघु पुट में फूंक दे। इस विधि को दश बार दुहरायें तो स्वर्ण की भस्म हो जाती है॥ १४ ॥

मतान्तरम्—

द्रुते विनिक्षिपेत्स्वर्णे लोहमानं मृतं रसम्।
विचूर्ण्य लुङ्गतोयेन दरदेन समन्वितम् ॥
जायते कुंकुमच्छायं स्वर्णं द्वादशभिः पुटैः ॥ १५ ॥

एक घरिया (मूषा) में सोने को पिघला कर उसमें सोने के बराबर पारदभस्म या रससिन्दूर को डाल कर नीचे उतार लें फिर स्वर्ण के बराबर भाग हिंगुल उसमें मिला कर बिजौरा नीबू के रस से घोट सुखा मूषा या सम्पुट में बन्द करके बाहर लघु पुट देवें तो केशर के सदृश गहरे लाल वर्ण की भस्म हो जाती है।

मात्रा—½ रत्ती से ¼ रत्ती तक ॥ १५ ॥

मतान्तरम्—

हेम्नः पादं मृतं सूतं पिष्टमम्लेन केनचित्।
पत्रे लिप्त्वा पुटैः पच्यादष्टभिर्म्रियते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

शुद्ध स्वर्ण से चतुर्थांश पारद की भस्म लेकर किसी अम्ल द्रव के साथ घोट कर स्वर्ण के पत्रों पर लेप करके सुखा लें और सम्पुट में बन्द करके लघु पुट में फूंक दें। इस प्रकार आठ पुट देने से स्वर्ण की भस्म हो जाती है॥ १६ ॥

स्वर्णद्रावणम्—

मंडूकास्थिवसाटंकहयलालेन्द्रगोपकैः ।
प्रतिवापेन कनकं सुचिरं तिष्ठति द्रुतम् ॥ १७ ॥

मेंढक की हड्डी, सुहागा, वीरबहूटी, मेंढक की चर्बी और घोड़े की लार सब को एकत्र घोट कर रख दें। फिर एक दृढ़ मूषा में सोने को पिघला कर उसमें उक्त द्रव्यों के कल्क को डाल कर तपायें तो सोने की द्रुति चिरकाल तक रहने वाली बन जाती है।

विशेष वचन—"हयलाला" के स्थान पर "अश्वमार" पाठ होने पर कनेर की छाल लेनी चाहिये ॥ १७ ॥

द्रावणान्तरम्—

चूर्णं सुरेंद्रगोपानां देवदालीफलद्रवैः ।
भावितं सदृशं हेम करोति जलवद्द्रुतम् ॥ १८ ॥

वीरबहूटी के चूर्ण को वन्दाल के फल के रस से सात भावना देकर सुखा लें फिर सोने को पिघला कर इसमें उक्त चूर्ण का प्रक्षेप करके पकायें तो सोना जल की भांति पतला बन जाता है ॥ १८ ॥

स्वर्णभस्मनः प्रयोगविधिः—

एतद्भस्म सुवर्णजं कटुघृतोपेतं द्विगुंजोन्मितं
लीढं हन्ति नृणां क्षयाग्निसदनं श्वासं च कासारुचिम् ।
ओजो धातुविवर्धनं बलकरं पाण्ड्वामयध्वंसनं
पथ्यं सर्वविषापहं गरहरं दुष्टग्रहण्यादिनुत् ॥ १९ ॥

स्वर्ण भस्म को त्रिकटु चूर्ण और घृत में मिला कर दो रत्ती मात्रा में नित्य सेवन करने से क्षय, मन्दाग्नि, श्वास, कास, अरुचि नष्ट होती है। यह योग शरीर में ओज को तथा बल को बढ़ाता है और पाण्डुरोगनाशक है। सर्वविषनाशक विशेषतः गरविषनाशक तथा ग्रहणी आदि अनेक रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में ओज का लक्षण इस प्रकार लिखा है "हृदि तिष्ठति यच्छुद्धमीषद्रक्तं सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ अष्टविन्दुप्रमाणं तदीषद्रक्तं सपीतकम्। अग्निसोमात्मकत्वेन द्विरूपं वर्णितञ्च तत् ॥ ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्। हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥ १९ ॥

अमारितस्वर्णस्य दोषाः—

बलं च वीर्यं हरते नराणां रोगव्रजं कोपयतीव काये ।
असौख्यकारं च सदैव हेमापक्वं सदोषं मरणं करोति ॥

इति स्वर्णाधिकारः।

अपक्व (अच्छी तरह भस्म न किया हुआ) स्वर्ण सेवन करने पर मनुष्यों के बल और वीर्य को नष्ट करता है और शरीर में अनेक रोगों को पैदा कर देता है जिससे सुख नहीं रहता है। और यदि उसमें नाग वंग आदि के दोष भी हों तो मृत्यु भी हो जाती है।

विशेष वचन—अशोधित और असम्यक् मारित स्वर्ण के दोष ११ वें श्लोक में कह दिये गये हैं। अतः यह श्लोक मतान्तर हो सकता है अथवा प्रक्षिप्त। नागताम्रादि धातुओं की उपस्थिति में उक्त दोष सम्भव हो सकते हैं। अतः जहाँ ग्रन्थान्तरों में नाग के साथ स्वर्ण मारण लिखा है वहाँ उनको पूर्णरूप से पृथक कर शुद्ध स्वर्णभस्म का ही प्रयोग करना चाहिये ॥ २० ॥

अथ रजतस्य त्रैविध्यनिर्देशः—

सहजं खनिसंजातं कृत्रिमं त्रिविधं मतम् ।
रजतं पूर्वपूर्वं हि स्वगुणैरुत्तरोत्तरम् ॥ २१ ॥

रजत (चांदी) तीन प्रकार का होता है १—सहज, २—खनिज, ३—कृत्रिम रजत। इन तीनों में अन्तिम से पूर्व पूर्व रजत अपने गुणों में उत्तम होता है ॥ २१ ॥

सहजरौप्यस्योत्पत्तिगुणाश्च—

कैलासाद्यद्रिसंभूतं सहजं रजतं भवेत् ।
तत्स्पृष्टं हि सकृद्व्याधिनाशनं देहिनां भवेत् ॥ २२ ॥

कैलास आदि पर्वतों में उत्पन्न होने वाली चांदी सहज रजत कही जाती है। इसके स्पर्शमात्र से ही (एक बार) सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—स्पर्श से ही रोग नाश हो जाने के लिये लिखना अत्यधिक गुण दिखाता है अर्थात् अन्य स्थानों से प्राप्त होने वाले रजत की अपेक्षा कैलाश पर्वत की खानों से प्राप्त होने वाला रजत अत्यल्प मात्रा में सेवन करने पर भी विशेष और शीघ्र गुण दिखाता है ॥ २२ ॥

खनिजरौप्यम्—

हिमालयाद्रिकूटेषु यद्रूप्यं जायते हि तत् ।
खनिजं कथ्यते तज्ज्ञैः परमं हि रसायनम् ॥ २३ ॥

हिमालयादि पर्वतों के शिखरों की खानों से प्राप्त होने वाली चांदी खनिज कही जाती है। यह उत्तम रसायन है ॥ २३ ॥

कृत्रिमरौप्यम्—

श्रीरामपादुकान्यस्तं वंगं यद्रूप्यतां गतम् ।
तत्पादरूप्यमित्युक्तं कृत्रिमं सर्वरोगनुत् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्रजी के खड़ाऊं में लगा हुआ जो वंग उनके चरण स्पर्श से चांदी के रूप में बदल गया इसी को कृत्रिम रजत या पाद रूप्य कहते हैं। यह भी सब रोगों को नष्ट करती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तरों में स्वाभाविक तथा कृत्रिम भेद से अथवा शुक्ल कृष्ण वर्ण भेद से रजत दो प्रकार का लिखा है। इसी प्रकार खनिज तथा कृत्रिम भेद से भी इसके दो प्रकार मिलते हैं। लोक व्यवहार में भी प्रायः दो प्रकार की चांदी प्रसिद्ध

है। ईंट की चांदी अच्छी और उत्तम होती है किन्तु कलदार चांदी ताम्र पीतल या कांस्य (कांसा) के मिश्रण के कारण उत्तम नहीं मानी जाती है। चांदी के रुपयों में ताम्र या कांस्य का मिश्रण होने से उनमें शब्द होता है। शुद्ध चांदी में कोई शब्द नहीं होता है। यूनानी पुस्तकों में चांदी के सात भेद माने हैं। १–मादनसे प्राप्त होने वाली २–यशद से, ३–सीसक से, ४–वंग से, ५–हरताल से, ६–पारद से, ७–मिस (सुरमा) से प्राप्त होने वाली। परन्तु सबका अन्तर्भाव खनिज और कृत्रिम में हो जाता है ॥ २४ ॥

उत्तमरजतलक्षणम्—

घनं स्वच्छं गुरु स्निग्धं दाहे छेदे सितं मृदु।
शंखाभं मसृणं स्फोटरहितं रजतं शुभम् ॥ २५ ॥

उत्तम चांदी गुरुभार, घनावयव, स्वच्छ, स्निग्ध (आबदार), तपाने और काटने पर श्वेतवर्ण, कोमल, देखने में शंख के सदृश श्वेतवर्ण, मसृण (चिकना), स्फोट (गर्त आदि) रहित होती है।

विशेष वचन—शुद्ध या उत्तम चांदी का Atomic weight *107*. 88, द्रवणांक (Melting Point) 961.5 और आपेक्षिक गुरुत्व (Specific gravity) 10.5 है। यह सुन्दर लचकदार सफेद धातु है। चांदी की परीक्षा के लिये उसको कोयलों की तीव्र अग्नि में तपाते हैं जब लालवर्ण की हो जाती है तो उसे चींमटे से पकड़ बाहर निकाल लेते हैं। बिलकुल ठंडी होने पर यदि उसका वर्ण पूर्ववत् रहे तो उसे शुद्ध (धात्वन्तर संयोग रहित) समझा जाता है। भावप्रकाश में लिखा है कि उक्त लक्षणों के साथ यदि रजत खण्ड को आयरणे (जिस पर सुनार सोना चांदी पीटते हैं) में रख हथौड़े से पीटा जाय और वह फटे नहीं तो शुद्ध समझना चाहिये। परन्तु गरम करके परीक्षा की विधि अच्छी मानी जाती है। कसौटी से भी इसकी परीक्षा की जाती है। यदि कसौटी पर श्वेत चमकीली रेखा खींचती है तो उसे शुद्ध समझा जाता है ॥ २५ ॥

त्याज्यरजतलक्षणम्—

दाहे रक्तं च पीतं च कृष्णं रूक्षं स्फुटं लघु।
स्थूलांगं कर्कशांगं च रजतं त्याज्यमष्टधा ॥ २६ ॥

निम्नलिखित आठ लक्षण युक्त रजत औषधि कर्म में त्याज्य समझा जाता है। जो चाँदी अग्नि पर तपाने में लाल पीला वर्ण होता है, अग्नि में से निकालने पर काला पड़ जाता है और देखने पर खुश्क हो। यदि उसे आयरणे पर रख कर हथौड़े की चोट मारी जाय तो वह पतला होने के स्थान पर फट जाता हो, भार में हल्का हो, जिसमें दाने से उभरे हुए और खरदरापन हो ॥ २६ ॥

रौप्यगुणाः—

रूप्यं विपाकमधुरं तुवराम्लसारं
शीतं सरं परमलेखनकं च रूप्यम्।
स्निग्धं च वातकफजिज्जठराग्निदीपि
बल्यं परं स्थिरवयस्करणं च मेध्यम् ॥ २७ ॥

चांदी विपाक में मधुर, कषाय तथा अम्लरस युक्त होती है, यह शीतसारक, (मलनिःसारक), लेखन, स्निग्ध, वातहर है, वह जठराग्नि को दीप्त करती है और बढ़ाती है, आयु को स्थिर करने वाली तथा उत्तम मेध्य होती है ॥ २७ ॥

गुणान्तरम्—

रौप्यं शीतं कषायाम्लं स्निग्धं वातहरं गुरु।
रसायनविधानेन सर्वरोगापहारकम् ॥ २८ ॥

शुद्ध चांदी की भस्म शीतल, कषैली और खट्टी होती है। वायु के प्रकोप को शान्त करती है। रसायन की विधि से सेवन करने पर सब रोगों को नष्ट करती है।

विशेष वचन—रजतभस्म की मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। रजतभस्म का शरीर के वात नाड़ी संस्थान के लिये बल्य प्रभाव होता है अतः इसको उत्तम वातनाशक लिखा है स्वर्ण के समान ही मस्तिष्क के तन्तुओं के लिये भी यह बल्य है अतः इसे मेध्य माना जाता है। हृदय के लिये बल्य होने से हृद्य है, और अधिक श्रम, शुक्रनाश, चिन्ता आदि के कारण वातनाड़ियों की उत्तेजना से उत्पन्न हृदय की दुर्बलता के लिये चांदी को उत्तम माना जाता है। एतदर्थ रजतभस्म या चांदी के वर्कों को च्यवनप्राश, अमृतप्रास अथवा सेव या आंवले के मुरब्बे के साथ सेवन कराया जाता है। अजीर्ण के कारण कुपित वात या पित्त जन्य हृत्कम्प के लिये इसको एलाचूर्ण के साथ प्रयोग किया जाता है। यह पञ्चमी नाड़ी या त्रिशाखा नाड़ी की दुर्बलता-जन्य सूर्यावर्त या अर्धावभेदक रोगों के लिये विशेष लाभदायक है। इन रोगों में इसे एला तथा सितोपला चूर्ण के साथ प्रयोग किया जाता है। शीतवीर्य, मधुर कषाय रस तथा मधुर विपाकी होने से रजत उत्तम वातपित्तहर विशेषतः पित्तहर है। पित्तशमन के लिये इसकी भस्म को खश, चन्दन तथा पद्माक आदि शीत और पित्तशामक द्रव्यों के फाण्ट तथा शीत कषाय के साथ दिया जाता है। रजत स्वर्ण के समान ही शरीर में विद्यमान विषों को नष्ट करता है, परन्तु इस विषय में स्वर्णापेक्षया अल्प गुण हैं। यह सर गुण के कारण आंतों की प्रेरक शक्ति को बढ़ाता है जिससे विष्टब्धाजीर्ण में विशेष लाभ होता है। किन्तु रजत के लवणों का ग्राही प्रभाव होता है। In the mouth and Stomach Silveracts as an astringent, It has no astringent effect in the intestine, as it is precipitated as Silver chloride in the stomach and Reduced to metallic Silver in the intestine' मटेरियामेडिका। वातनाड़ियों के लिये बल्य होने के कारण रजत जीर्ण मदात्यय, प्रमेह, अपस्मार आदि रोगों में प्रयुक्त

होता है। क्षय रोग में यह स्वर्ण के समान ही गुणकारी माना जाता है। गर्भाशय शुद्धि के लिये भी बहुत लाभदायक पाया गया है। अतः गर्भाशयभ्रंश, डिम्बाशय शोथ, पीड़ा, गर्भाशय संकोच तथा गर्भाशय शोथज स्राव में इसको त्रिफला कषाय, शिलाजतु, रससिन्दूर आदि औषधियों के साथ प्रयोग किया जाता है। इसी के कारण प्रदरान्तकरस प्रदरारि लौहादि गर्भाशय रोगों में लाभदायक होते हैं। क्लीबरोग, शुक्रमेह, श्वेतप्रदर तथा वातिक-निर्बलता-जन्य क्षय, पाण्डु में इसका प्रयोग लाभदायक होता है।

रजत नत्रित् (Silver Nitrate) भी एलोपेथी चिकित्सा पद्धति में व्यवहृत होने वाला रजत का एक प्रसिद्ध योग है। साधारणतः इसकी निर्माण विधि यह है कि एक कांच के पात्र में हल्का सोरकाम्ल (Nitric acid) डाल कर उसमें धीरे २ शुद्ध रजत का चूर्ण डालते जायें। पूर्व निक्षिप्त चूर्ण के घुल जाने पर पुनः थोड़ा सा चूर्ण डालें जब तक चूर्ण घुले डालते रहें। चूर्ण डालते समय श्वेत वर्ण धूम्र निकलेगा। रजत के घुल जाने पर उसे गाढ़ा करके स्फटिक बना लिये जाते हैं। फिर इनको पिघला कर सांचों में डालकर बत्तियां-सी बनाई जाती हैं। फिर इन बत्तियों को नीली या पीली शीशियों में जिनमें प्रकाश अच्छी तरह प्रवेश न कर सके रखा जाता है। क्योंकि प्रकाश के लगने से रजत इनसे पृथक् हो जाता है। मात्रा ¼ से ½ ग्रेन। प्रयोग वातिकनैर्बल्यहर। रजत नत्रित् का द्रव बाह्य प्रयोग अर्थात् पोथकी, विस्फोट, अभिष्यन्द शोथ आदि में व्यवहृत होता है। पोथकी (कुकरे) के लिये इसके एक औंस (२॥ तोला) शुद्ध जल में २, ५, १०, २०, ३० या ६० ग्रेन रजतनत्रित् डाल कर भिन्न २ शक्तियों के नेत्रबिन्दु बनाये जाते हैं। इनको अभिष्यन्द आदि रोगों में नेत्र में डालने या पलकों को उलटा कर कर्पासयुक्त शलाका द्वारा लगाने के काम में लाते हैं। रजत नत्रित् द्रव से पलकों को स्पर्श (Touch) करने के पश्चात् नेत्रों को लवण जल से धो दिया जाता है जिससे इसका अवशिष्टांश नेत्र के अन्य भाग को हानि न पहुँचा सके। रजत नत्रित् के गुण—यह शारीरिक अवयवों पर लगाने से दाहक और ग्राही है। जिस स्थान पर लगाया जाता है उसके स्रावों को भी हटा देता है। साथ ही यह जीवाणुहर भी है। अंतःप्रयोग में रजतभस्म के समान ही वातनाड़ियों के लिये बल्य है। बहिःप्रयोग में पुराने और कठोर व्रणों के अंकुरों को जलाने के लिये एक औंस शुद्ध जल में ३० या ६० ग्रेन की शक्ति का द्राव लगाया जाता है। पिडिकाओं तथा विसर्प की शोथ के चारों तरफ एक औंस में एक से दो ड्राम की शक्ति का द्राव लगाने से शोथ या पिड़िकाएँ आगे नहीं बढ़ने पाती हैं। इसी तरह पामा शोथ के चारों तरफ एक औंस में ५ या १० ग्रेन की शक्ति के द्राव लगाये जाते हैं। मुखव्रण तथा गलशोथ होने पर एक औंस में १० से २० ग्रेन की शक्ति का द्राव लगाने से शोथ शान्त हो जाता है। जब प्रवाहिका रोग में गुदा तथा बड़ी आंत का अन्तिम भाग भीतर से शोथयुक्त हो जाता है तो उसके लिये १ औंस में ½ ग्रेन की शक्ति के द्राव की दो चार औंस की वस्ति दी जाती है। इसमें चावलों का मैदा या निशास्ता भी मिला देते हैं। पूयमेह में मूत्रमार्ग की शोथ को हटाने के लिये भी एक औंस में एक या दो ग्रेन की शक्ति का द्राव एक या दो औंस की उत्तर वस्ति के रूप में दिया जाता है।

रजत का निष्क्रमण—रजत निष्क्रमण मल (टट्टी के) द्वारा रजत गन्धित (Silver sulphide) के रूप में होता है, जिससे मल का वर्ण काला भूरा सा हो जाता है। इसके अतिरिक्त रजत आन्त्रस्राव तथा पित्त के द्वारा भी बाहर निकलता है। और इस का कुछ अंश यकृत् तथा वृक्कों में सञ्चित पाया जाता है। अतः वृक्कों तथा यकृत् के रोगों में रजत लाभदायक होता है ॥ २८ ॥

स्वर्णादिशोधनम्—

तैले तक्रे गवां मूत्रे ह्यारनाले कुलत्थजे।
क्रमान्निषेचयेत्तप्तं द्रावे द्रावे तु सप्तधा ॥
स्वर्णादिलोहपत्राणां शुद्धिरेषा प्रशस्यते ॥ २९ ॥

स्वर्ण रजत आदि धातुओं के सूक्ष्म पत्रों को तपा २ कर क्रमशः तिल तैल, तक्र (छाछ), गोमूत्र, काञ्जी तथा कुलत्थ के कषाय में सात २ बार बुझावें तो उनकी उत्तम शुद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—यह साधारणतः सब धातुओं की सामान्य शोधन विधि है। यदि विशेष विधि से शोधन नहीं किया जा सकता हो तो इस विधि से किसी भी धातु का शोधन किया जा सकता है। ग्रन्थान्तर में सात २ बार के स्थान पर तीन २ बार ही बुझाने को लिखा है। परन्तु सात २ बार ही बुझाना अच्छा है ॥ २९ ॥

अशुद्धरजतदोषाः—

आयुः शुक्रं बलं हन्ति तापविड्बंधरोगकृत्।
अशुद्धं न मृतं तारं शुद्धं मार्यमतो बुधैः ॥ ३० ॥

अशुद्ध तथा ठीक प्रकार से भस्म न हुई चांदी सेवन करने पर आयु, वीर्य, बल का नाश करती है और शरीर में तापमान को बढ़ा देती है तथा मलबन्ध रोग उत्पन्न करती है। इसलिए चांदी को शुद्ध करके ही मारना (भस्म करना) चाहिये ॥३०॥

रौप्यस्य विशेषशोधनम्—

नागेन टंकणेनैव वापितं शुद्धिमृच्छति।
तारं त्रिवारं निक्षिप्तं तैले ज्योतिष्मतीभवे ॥ ३१ ॥

समभाग सीसक तथा सुहागे के साथ चांदी को तपा २ कर तीन बार ज्योतिष्मती (मालकंगुनी) के तैल में बुझाने से चांदी की शुद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—उक्त शोधनविधि में चांदी के साथ सीसा मिल जाने पर वह शुद्ध के स्थान पर सीसकदोषयुक्त हो जाती है। अतः सीसे को पृथक् करने के लिये निम्नलिखित मतान्तर इसी शुद्धि से सम्बर्द्धित समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

मतान्तरम्—

खर्परे भस्मचूर्णाभ्यां परितः पालिकां चरेत् ।
तत्र रूप्यं विनिक्षिप्य समसीससमन्वितम् ॥ ३२ ॥
जातसीसक्षयं यावद्धमेत्तावत्पुनः पुनः ।
इत्थं संशोधितं रूप्यं योजनीयं रसादिषु ॥ ३३ ॥

चांदी में सीसा मिलाने के लिये एक लोहे की कड़ाही या खर्पर लें। उस में उपलों की राख और चूना कली (Lime) को जल से गीला कर, पात्र के भीतरी पेंदी के बीच में कुछ भाग को छोड़ कर पालिका, (थांवला) बनावें। अब इसके बीच खाली भाग में चांदी और उसके बराबर सीसा डाल दें। फिर खर्पर को कोयलों की भट्टी में रख धौंकनी से अग्नि देते जांय और ऊपर थोड़ा २ सुहागा डालते हुये चलाते जांय जब तक कि सीसा भस्म होकर नष्ट न हो जाय। इस प्रकार शुद्ध की हुई चांदी रस आदि में प्रयोग करनी चाहिये ॥ ३२—३३ ॥

रौप्यमारणम्—

लकुचद्रवसूताभ्यां तारपत्रं प्रलेपयेत् ।
ऊर्ध्वाधो गंधकं दत्त्वा मूषामध्ये निरुध्य च ॥ ३४ ॥
स्वेदयेद्वालुकायंत्रे दिनमेकं दृढाग्निना ।
स्वांगशीतां च तां पिष्टिं साम्लतालेन मर्दिताम् ।
पुटेद् द्वादशवाराणि भस्मीभवति रूप्यकम् ॥ ३५ ॥

सूक्ष्म चांदी के पत्रों पर सम भाग पारद को बड़हल के फलरस में घोट कर इस कल्क का लेप करके एक शराव में नीचे चांदी के बराबर गन्धक बिछा कर उस पर चांदी के लेप किये हुये पत्रों को रख दें फिर इनके ऊपर गन्धक डाल कर दूसरे शराव से उसको बन्द कर दोनों का अच्छी तरह सन्धिलेप कर सुखा के वालुकायन्त्र में रख एक दिन तीव्र अग्नि से पकावें। स्वांगशीत होने पर भीतर से पारद और रजत की पिष्टी को निकाल लें अब उसमें समभाग शुद्ध हरताल मिला काञ्जी से मर्दन कर लघु पुट दें। इस प्रकार बारह पुट देने से चांदी की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में रजत की पारद के साथ पिष्टी करके उस में समभाग, हरताल और गन्धक मिला नीबू रस से मर्दन कर दो तीन पुट देने को लिखा है। किन्तु पारद के साथ मर्दन कर वालुकायन्त्र में पकाने से रजत की रक्त वर्ण भस्म होगी।

मतान्तरम्—

माक्षीकचूर्णलुंगाम्लमर्दितं पुटितं शनैः ।
त्रिंशद्वारेण तत्तारं भस्मसाज्जायतेतराम् ॥ ३६ ॥

शुद्ध रजत १ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म ½ भाग दोनों को एकत्र बिजौरा नीबू रस में मर्दन कर सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट दें। इस प्रकार तीस पुट देने से चांदी की भस्म हो जाती है ॥ ३६ ॥

रौप्यस्य निरुत्थभस्मीकरणम्—

भाव्यं ताप्यं स्नुहीक्षीरैस्तारपत्राणि लेपयेत् ।
मारयेत्पुटयोगेन निरुत्थं जायते ध्रुवम् ॥ ३७ ॥

शुद्ध रजत से चतुर्थांश स्वर्ण माक्षिक भस्म लेकर उसको थोहर के दूध में सात भावना देकर चांदी के पत्रों पर लेप करके सुखा लें फिर इसे शरावसम्पुट में बन्द कर लघुपुट दें। इस प्रकार अच्छी तरह भस्म होने तक पुट देने से चांदी की निरुत्थ (फिर न जीने वाली) भस्म हो जाती है ॥ ३७ ॥

मतान्तरम्—

तारपत्रं चतुर्भागं भागैकं शुद्धतालकम् ।
मर्द्यं जंबीरजद्रावैस्तारपत्राणि लेपयेत् ॥ ३८ ॥
शोधयेदंधयंत्रे च त्रिंशदुत्पलकैः पचेत् ।
चतुर्दशपुटैरेवं निरुत्थं जायते ध्रुवम् ॥ ३९ ॥

शुद्ध रजत पत्र चार भाग, शुद्ध हरताल १ भाग लेकर हरताल को जम्भीरी नीबू रस से अच्छी तरह घोट कर कल्क बना लें, फिर कल्क से चांदी के पत्रों पर लेप करके सुखा कर अन्ध-मूषा में बन्द करके तीस जंगली उपलों की पुट में पकावें। इस प्रकार चौदह पुट देने से चांदी की निरुत्थ भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इस विधि से रजत भस्म करने पर मूषा में पत्रों को रखने के पूर्व रजत के बराबर नीचे गन्धक रख फिर पत्रों को रख फिर गन्धक डाल कर बन्द करके पुट देने को लिखा है। गन्धक देने से इसकी भस्म शीघ्र हो जाती है। केवल हरताल से भस्म करने में अधिक पुट देने पड़ते हैं ॥३९॥

स्वर्णतारयोर्द्रावणम्—

सप्तधा नरमूत्रेण भावयेद्देवदालिकाम् ।
तच्चूर्णवापमात्रेण द्रुतिः स्यात्स्वर्णतारयोः ॥ ४० ॥

वन्दाल के फल चूर्ण को पुरुष के मूत्र से सात भावना देकर सुखा लें, फिर सोना या चांदी को मूषा में रख पिघलावें। पिघलने पर उसमें उक्त चूर्ण का प्रक्षेप करें तो स्वर्ण तथा रजत की द्रुति हो जाती है ॥ ४० ॥

रौप्यप्रयोगविधिः

भस्मीभूतं रजतममलं तत्समौ व्योमभानू
सर्वैस्तुल्यं त्रिकटु सवरं सारघाज्येन युक्तम् ॥
लीढं प्रातः क्षपयतितरां यक्ष्मपाण्डूदरार्शः
श्वासं कासं नयनजरुजः पित्तरोगानशेषान् ॥ ४१ ॥

इति रजताधिकारः—

शुद्ध रजतभस्म एक भाग, अभ्रकभस्म १ भाग तथा ताम्रभस्म

१ भाग, सौंठ १/२ भाग, मिर्च १/२ भाग, पीपल १/२ भाग, हरीतकी १/२ भाग, बहेड़ा चूर्ण १/२ भाग, और आमलकी चूर्ण १/२ भाग इन सब को एकत्र पीसकर रखलें। इसमें से देश काल अवस्था आदि के अनुसार मात्रा लेकर घृत मधु के साथ प्रतिदिन प्रातःकाल चाटें तो राजयक्ष्मा, पाण्डु, उदर, अर्श, श्वास, कास, नेत्ररोग तथा सम्पूर्ण पित्तप्रकोप-जन्य रोग नष्ट हो जाता है॥ ४१॥

अथ ताम्रस्य द्वैविध्यम्—

म्लेच्छं नेपालकं चेति तयोर्नेपालकं वरम्।
नेपालादन्यखन्युत्थं म्लेच्छमित्यभिधीयते॥ ४२॥

तांबे के दो भेद होते हैं १—म्लेच्छ, २—नेपाल संज्ञक। इन दोनों में नेपाल संज्ञक उत्तम होता है। नेपाल प्रदेश की खानों के अतिरिक्त खानों से निकलने वाले ताम्र को भी म्लेच्छ-ताम्र कहा जाता है।

विशेष वचन—ताम्र प्रकृति में स्वतन्त्र रूप से मिलता है परन्तु यह शुद्ध रूप में नहीं मिलता है। प्रायः सोमल, गन्धक, लोहा, कज्जल, उष्मजन आदि से संयुक्त पाया जाता है। इसी तरह भूनाग मयूरपिच्छ तथा त्रिफला आदि औषधियों में भी ताम्र पाया जाता है। इनसे ताम्र को पृथक् करने की विधि को ताम्र-सत्वपातन कहते हैं। यह प्रकृति में स्वर्णमाक्षिक, तूतिया, सोमलिक स्वर्णमाक्षिक आदि रूप में हमें मिलता है। शुद्ध ताम्र का Atomic weight 63.57 द्रवणांक (Melting Point) 1083.c आपेक्षिक गुरुत्व (Specific gravity) 8.95 है।

म्लेच्छताम्रस्य लक्षणम्—

सितकृष्णारुणच्छायमतिवामि कठोरकम्।
क्षालितं च पुनः कृष्णमेतन्म्लेच्छकताम्रकम्॥ ४३॥

जिस ताम्र में श्वेत, कृष्ण तथा रक्तवर्ण की झलक हो और जिसके पात्र में खाद्य वस्तु को रख कर खाने से अधिक वमन होती हो, जो कठोर हो और अच्छी तरह साफ करने पर भी फिर थोड़ी ही देर में काला पड़ जाता हो उसे म्लेच्छताम्र कहते हैं॥ ४३॥

नेपालताम्रस्य लक्षणम्—

सुस्निग्धं मृदुलं शोणं घनाघातक्षमं गुरु।
निर्विकारं गुणश्रेष्ठं ताम्रं नेपालमुच्यते॥ ४४॥

जो तांबा अत्यन्त स्निग्ध (चिकना), कोमल, रक्तवर्ण हो और हथौड़े की चोट को सह सकता हो, अर्थात् हथोड़े की चोट मारने पर फटता नहीं हो। गुरुभार तथा जिसका वर्ण धोने के बाद न बिगड़ता हो या जिससे अधिक वमन आदि विकार उत्पन्न नहीं होते हों वह नेपालताम्र कहा जाता है। यह ताम्र गुणों में श्रेष्ठ होता है। इसी को भस्म आदि के काम में लाना चाहिये।

त्याज्यताम्रम्—

पाण्डुरं कृष्णशोणं च लघुस्फुटनसंयुतम्।
रूक्षांगं सदलं ताम्रं नेष्यते रसकर्मणि॥ ४५॥

जो ताम्र पाण्डुर तथा काला लालवर्ण हो, हल्का हो तथा हथौड़े की चोट से फट जाता हो, खरदरा हो और जिसमें पत्र से निकलते हों वह रस कर्म में उपयोगी नहीं होता है॥ ४५॥

ताम्रस्य गुणाः—

ताम्रं तिक्तकषायकं च मधुरं पाकेऽथ वीर्योष्णकं
साम्लं पित्तकफापहं जठररुक्कुष्ठामजन्त्वन्तकृत्।
ऊर्ध्वाधः परिशोधनं विषयकृत् स्थौल्यापहं क्षुत्करं।
दुर्नामक्षयपाण्डुरोगशमनं नेत्र्यं परं लेखनम्॥ ४६॥

ताम्र की भस्म, तिक्त, कषैली, तथा मधुररस, पाक में मधुर और गुण में उष्ण, अम्ल, पित्तकफनाशक, उदररोग, कुष्ठ, आम, उदरकृमि को नष्ट करती है। यह अधिक मात्रा में वामक और रेचक होती है। अतः आमाशय पक्वाशयस्थ विष को नष्ट करती है। यह यकृत्वृद्धि तथा मोटापन को दूर करती है। इसके सेवन से क्षुधावृद्धि तथा अर्श, क्षय तथा पाण्डुरोग की शान्ति होती है। यह नेत्रों के लिये हितकर तथा लेखन होती है।

विशेष वचन—ताम्रभस्म आमाशय के लिये बल्य तथा आंतों के लिये ग्राही तथा जीवाणुहर है। यह आंतों की वातनाड़ियों के क्षोभों को शान्त करने के कारण शूलहर है। हृदय तथा श्वाससंस्थान के लिये इसका प्रभाव मन्दताकर है क्योंकि इसके देने से इन केन्द्रों में मन्दता आती है अतः यह क्षोभनिवारक है। ताम्रभस्म नाड़ीसंस्थान के लिये उत्तम बल्य है, वातनाड़ीजन्य उद्वतों को शान्त करती है। ताम्रभस्म सोमल के समान त्वच्य है।

निष्क्रमण—ताम्र, मल, मूत्र, स्वेद, पित्त, तथा लालास्राव द्वारा शरीर से बाहर निकलता है। इसलिये ताम्र का उक्त आन्त्र आदि अंगों में विशेष प्रभाव पड़ता है।

उपयोग—मन्दाग्नि में अग्निसंदीपन करने तथा आन्त्रशूलों के लिये गुल्महरयोग के रूप में अथवा ताम्रभस्म को त्रिकुटचूर्ण के साथ दिया जाता है। अतीसार, संग्रहणी, विसूचिका, क्षयातिसार में ताम्रभस्म को कर्पूर, अहिफेनादि के साथ अथवा ताम्रपर्पटी पञ्चामृतपर्पटी, नृपतिवल्लभरस आदि के रूप में देते हैं। वमन लाने के लिये १/१० से १/२ रत्ती ताम्रभस्म को मयूरपिच्छाभस्म १ रत्ती के साथ मधु मिलाकर दिया जाता है। जलोदरशोथ आदि में ताम्र के योग देने से विशेष लाभ होता है। इस लिये जलोदरारिरस, वारिशोषणरस आदि रस दिये जाते हैं। श्वास तथा स्थायी कास में पारद गन्धक द्वारा मारित ताम्रभस्म को मधु या रससिन्दूर के साथ मिला कर देने से बहुत लाभ होता है। आमज्वर, आन्त्रज्वर, विषमज्वर तथा सन्निपातज्वरों में त्रिपुरभैरव, चण्डेश्वर, स्वच्छ चन्द्रभैरव, पञ्चाननरस आदि ताम्र के योग प्रयोग में लाये जाते हैं

जिनसे ज्वर विष नष्ट होते हैं और हृदय को बल मिलता है। ताम्र यकृत्प्लीहावृद्धि को भी हटाता है। क्योंकि यह प्रयोग करने के बाद यकृत्प्लीहा में कुछ २ संकुचित पाया जाता है। इसलिये प्लीहा-सङ्कुचित विषमज्वर के जीवाणुओं पर सम्भवतः इसका घातक प्रभाव होता है। नाड़ी संस्थान के रोगों जैसे सर्वांगनैर्बल्य, वातकम्प, गात्रकम्प, क्लीव और आक्षेपरोग आदि में वातिक निर्बलताओं को दूर करने के लिये ताम्रभस्म को रससिन्दूर या स्वर्णसिन्दूर आदि के साथ दिया जाता है। साधारण अथवा भयंकर त्वक्रोगों में इसको तामेश्वररस, उदयभास्कररस आदि के रूप में दिया जाता है। हृत्कम्प को मिटाने के लिये ताम्र को हृदयार्णवरस के रूप में दिया जाता है। हिक्का को दूर करने के लिये इसे मयूरपिच्छभस्म के साथ मधु में मिलाकर प्रयोग किया जाता है। तीव्र हृदयशूल तथा आक्षेपकयुक्त मक्कल रोग में इसको पिप्पल्यादि गण के कषाय के साथ दिया जाता है। गलग्रन्थिशोथ में ताम्र को मधु के साथ चटाने से शीघ्र लाभ होता है। किसी रोग के अन्तिम समय पर जब नाड़ी अत्यन्त क्षीण होने लगती हो तो ताम्र को मकरध्वज तथा कस्तूरी के साथ मिलाकर देने से नाड़ी पुनः बलवती हो जाती है। विसूचिका की अन्तिम अवस्था में यह अमृत के समान कार्य करती है। अनुपान पान के पत्तों का रस तथा अदरख का रस देना चाहिये। अम्लपित्त में इसको अत्यन्त लाभदायक पाया गया है। परिणामशूल में भी इसको लौहभस्म आदि के साथ देने से विशेष लाभ देखा गया है। यकृत्वृद्धिजन्य जलोदर की यह अद्वितीय औषधि है। रसतरङ्गिणी में इसके विशिष्ट गुण इस प्रकार लिखे हैं। "मृतन्तु ताम्रं शमयत्यवश्यं शाखाश्रितं कोष्ठसमाश्रितम्वा। जत्रूर्ध्वगञ्चापि मलाभिधानं पित्तं कफं चापि परं प्रवृद्धम्" ॥

ताम्रविकार—अशुद्ध ताम्रभस्म खाने से वमन, भ्रम, दाह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में रोगी को विरेचन देकर शरीर से ताम्र को निकाल देना चाहिये। और धनिये का जल दिन में दो तीन बार पिलाना चाहिये। भोजन के लिये दूध चावल तथा घृत देना चाहिये ॥ ४६ ॥

अशोधितामारितताम्रदोषाः—

अशुद्धं ताम्रमायुघ्नं कान्तिवीर्यबलापहम्।
वांतिमूर्च्छाभ्रमोत्क्लेदं कुष्ठं शूलं करोति तत् ॥ ४७ ॥
उत्क्लेदभेदभ्रमदाहमोहास्ताम्रस्य दोषा खलु दुर्धरास्ते।
विशोधनात्तद्विगतस्वदोषं सुधासमं स्याद्रसवीर्यपाके ॥ ४८ ॥

अशुद्ध तथा ठीक भस्म न हुआ ताम्र, आयुनाशक, कान्ति, वीर्य तथा बल नाशक होता है। इससे वमन, मूर्च्छा, भ्रम तथा उत्क्लेद (जी मिचलाना) तथा रक्तदोष (कुष्ठ) और उदरशूल उत्पन्न होते हैं। अशुद्ध ताम्र में उत्क्लेद, अतीसार, भ्रम, दाह तथा मूर्च्छा ये भयंकर दोष होते हैं। ताम्र को शुद्ध करने से उसमें उक्त दोष नहीं रहते और वह रस वीर्य तथा विपाक में अमृत के समान गुणदायक हो जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में अशुद्ध ताम्र को विष से अधिक घातक माना है। क्योंकि विष में कोई एक ही मृत्युत्युकारक दोष प्रधान माना जाता है किन्तु ताम्र में भ्रम, मूर्च्छा, विदाह, उत्क्लेद, धातुशोष, वमन, अरुचि तथा चित्तसन्ताप आठ दोष होते हैं। रससंकेतकलिका में कुष्ठ, रेचन, वमन, भ्रम, ताप, वातरक्त, कामला तथा देह का नाश ये आठ दोष माने गये हैं। अतः ताम्र को पूर्ण रूप से शुद्ध करके भस्म करना चाहिये ॥ ४७–४८ ॥

ताम्रशोधनम्—

ताम्रं क्षाराम्लसंयुक्तं द्रावितं दत्तगैरिकम्।
निक्षिप्तं महिषीतक्रे छगणे सप्तवारकम्।
पंचदोषविनिर्मुक्तं भस्मयोग्यं हि जायते ॥ ४९ ॥

ताम्रचूर्ण को यवक्षार और काञ्जी या नीबू के रस से मर्दन कर अत्यन्त तीव्र कण्डों की अग्नि में पिघला कर उसमें समभाग गेरू का चूर्ण डाल कर पिघली अवस्था में ही भैंस के मूत्र में बुझा दें। इस प्रकार सात बार बुझाने से ताम्र शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में गोमूत्र में अम्ल तथा क्षार मिलाकर एक दिन मान पाक करने का भी विधान है। ताम्रचूर्ण का अग्नि में पिघलना अत्यन्त कठिन होने से ताम्रचूर्ण को गोमूत्रादि से पकाकर इक्कीस बार जल से धो लेने पर ताम्र शुद्ध हो जाता है ॥ ४९ ॥

मतान्तरम्—

ताम्रनिर्मलपत्राणि लिप्त्वा निम्बंबुसिंधुना।
ध्मात्वा सौवीरकक्षेपाद्विशुध्यत्यष्टवारतः ॥ ५० ॥

ताम्र के निर्मल पत्रों पर सैन्धा नमक को नीबू के रस में घोट उसका लेप कर सुखा लें पश्चात् अग्नि में तपाकर जौ की काञ्जी में आठ बार बुझाने से ताम्र शुद्ध हो जाता है ॥ ५० ॥

मतान्तरम्—

निम्बंबुपटुलिप्तानि तापितान्यष्टवारकम्।
विशुध्यंत्यर्कपत्राणि निर्गुंड्या रसमज्जनात् ॥ ५१ ॥

ताम्रपत्रों पर सैन्धानमक को नीबू रस में घोट कर लेप करके सूखने के बाद अग्नि पर तपाकर निगुण्डी (सम्भालू) रस में आठ बार बुझाने से ताम्र शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—सैंधानमक को आक के दूध में पीस कर ताम्रपत्रों पर लेप कर तीन आठ या बारह बार निगुण्डी स्वरस में बुझाने का भी विधान पाया जाता है ॥ ५१ ॥

मतान्तरम्—

गोमूत्रेण पचेद्यामं ताम्रपत्रं दृढाग्निना।
शुद्ध्यते नात्र संदेहो मारणं चाप्यथोच्यते ॥ ५२ ॥

उत्तम ताम्रपत्रों को गोमूत्र (ताम्र से ¼ भाग लवण युक्त)

में एक पहर तक तीव्र आंच में पकावें। इससे निःसन्देह तांबा शुद्ध हो जाता है। आगे इसकी मारणविधि कहते हैं ॥ ५२ ॥

ताम्रमारणम्—

जंबीररससंपिष्टरसगंधकलेपितम्।
शुल्वपत्रं शरावस्थं त्रिपुटैर्याति पंचताम् ॥ ५३ ॥

ताम्रपत्रों के समभाग पारद गन्धक की कज्जली को जम्बीरी नीबू के रस से घोट कर उस कल्क का ताम्रपत्रों पर लेप करके सुखा दें। सूखने के बाद इनको शरावसम्पुट में रख तीन बार गजपुट में फूकने से ताम्र की भस्म हो जाती ॥५३॥

रसरत्नाकरोक्तामृतीकरणम्—

अथवा मारितं ताम्रमम्लेनैकेन मर्दितम्।
तद्गोलं सूरणस्यांता रुद्धा सर्वत्र लेपयेत् ॥ ५४ ॥
शुष्कं गजपुटे पच्यात्सर्वदोषहरं भवेत्।
वांतिं भ्रांतिं विरेकं च न करोति कदाचन ॥ ५५ ॥

ताम्र की भस्म को किसी अम्लद्रव से मर्दन कर गोला सा बना के सुखा लें। फिर इस गोले को जिमीकन्द को बीच में चाकू से चीर कर एक गढ़ा सा बना लें। उस गढ़े में उक्त गोले को रख ऊपर से जिमीकन्द के टुकड़े का ही डाट लगा कर बाहर कपड़मिट्टी करके सुखा लें। पश्चात् इस जिमीकन्द के गोले को गजपुट में पकावें तो ताम्र के सब दोष दूर हो जाते हैं। यह भस्म सेवन करने पर किसी तरह भी वमन, विरेचन तथा भ्रम (चक्कर) नहीं लाती है।

विशेष वचन—ताम्रभस्म के साथ अर्ध भाग शुद्ध गन्धक मिला नीबू के रस में घोट जिमीकन्द के बीच में रख कर कपड़मिट्टी कर गजपुट देने का विधान भी पाया जाता है। परन्तु गन्धक के साथ ताम्र का अमृतीकरण प्राचीन पुस्तकों में नहीं पाया जाता है। उनमें केवल पञ्चामृत (दूध, दही, घृत, शर्करा तथा मधु) तथा जिमीकन्द के रस में ही घोट कर अमृतीकरण करना पाया जाता है। परन्तु आधुनिक वैद्य गन्धक डाल कर उक्त वस्तुओं में घोट कर पुट लगाते हैं। इनका कथन है कि गन्धक साथ होने से दोष निःशेषता के साथ २ इसमें गुण बढ़ जाते हैं और गन्धक के द्वारा पञ्चामृत द्रव्यों का प्रभाव ताम्र के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों तक अच्छी तरह पहुँच जाता है। इसी वास्ते शार्ङ्गधर ने भी अर्कदुग्ध तथा गन्धक से अमृतीकरण लिखा है। अमृतीकरण करने में पञ्चामृत के द्वारा एक से लेकर पांच पुट तक दिये जा सकते हैं ॥ ५४–५५ ॥

मारणान्तरम्—

ताम्रपत्राणि सूक्ष्माणि गोमूत्रे पंचयामकम्।
क्षिप्त्वा रसेन भाण्डे तद्द्विगुणं देहि गंधकम् ॥ ५६ ॥
अम्लपर्णी प्रपिष्याथ छुभितो देहि ताम्रकम्।
सम्यङ् निरुध्य भाण्डे तमग्निं ज्वालय यामकम् ॥
भस्मीभवति ताम्रं तद्यथेष्टं विनियोजयेत् ॥ ५७ ॥

सूक्ष्म कण्टकवेधी ताम्रपत्रों को पांच पहर तक गोमूत्र में डाले रखें बाद को उन्हें निकाल कर ताम्र के समभाग पारद तथा द्विगुण गन्धक को अम्लपर्णी (लोणिया या चांगेरी) पत्रों के साथ अच्छी तरह मर्दन कर इस कल्क द्वारा ताम्र पत्रों पर लेप करें। फिर एक हांडी में पहिले ताम्रपत्र के बराबर गन्धकचूर्ण बिछाकर उस पर पत्रों को रख दें फिर उतना ही गन्धक डाल कर हांडी का मुख बन्द करके एक पहर की अग्नि दें तो ताम्र की भस्म हो जाती है। इसको जहाँ २ भस्म की आवश्यकता हो प्रयोग में लाना चाहिये।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में गोमूत्र में पांच पहर ताम्रपत्रों को रखने के अतिरिक्त ठीक यही ताम्रभस्म विधि लिखी है। पारद को अम्ल (नीबू रस आदि) से मर्दन कर ताम्रपत्रों में लेप करके एक हांडी में चांगेरी का कल्क बिछा उस पर ताम्रसमान शुद्धगन्धकचूर्ण बिछा उस पर पत्रों को रख फिर गन्धकचूर्ण डाल कर ऊपर से चांगेरी कल्क बिछा कर भाण्ड मुख बन्द करके एक पहर की दृढ़ अग्नि देने को लिखा है जिससे ताम्र की भस्म हो जाती है।

ताम्र भस्म की परीक्षा—ताम्रभस्म वह उत्तम कही जाती है जो देखने में मोर के गले सदृश कृष्ण, नील, हरित वर्ण की हो। साथ ही इसके प्रयोग से वमन आदि विकार न उपस्थित हों। अशुद्ध ताम्रभस्म में तूतिये का भाग उपस्थित होने से वह चमकता हुआ दिखाई देता है। अथवा थोड़े से खट्टे दही में ताम्रभस्म मिला कर एक स्वच्छ पात्र या कांच की चौड़े मुख की शीशी में रख दें। बारह घण्टे बाद देखें यदि दही का रंग नीला (जो कि तूतिया के कारण होता है) दीखे तो ताम्रभस्म अशुद्ध अन्यथा शुद्ध समझनी चाहिये। कुछ २ नीलापन दिखाने वाली भस्म को पुनः एक पुट सूरण कन्द में देने से वह उत्तम और निर्दोष हो जाती है ॥ ५६–५७ ॥

ग्रन्थान्तरोक्तताम्रप्रयोगः—

सूताद् द्विगुणितं ताम्रपत्रं कन्यारसैः प्लुतम्।
पिष्ट्वा तुल्येन बलिना भाण्डमध्ये विनिक्षिपेत् ॥५८॥
छन्नं शरावकेणैतत्तदूर्ध्वं लवणं त्यजेत्।
मुखे शरावकं दत्त्वा वह्निं यामचतुष्टयम् ॥ ५९ ॥
अवचूर्ण्यैव तच्छुल्वं वल्लमात्रं प्रयोजयेत्।
पिप्पलीमधुना सार्धं सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ ६० ॥
श्वासं कासं क्षयं पाण्डुमग्निमांद्यमरोचकम्।
गुल्मप्लीहयकृन्मूर्च्छाशूलपक्त्यर्थमुत्तमम् ॥ ६१ ॥
दोषत्रयसमुद्भूतानामयाञ्जयति ध्रुवम्।

रोगानुपानसहितं जयेद्धातुगतं ज्वरम् ।
रसे रसायने ताम्रं योजयेद्युक्तमात्रया ॥ ६२ ॥

शुद्ध पारद से द्विगुण शुद्ध ताम्रपत्रों को लेकर दोनों को घीकुआर के रस में डाल ताम्र के बराबर शुद्ध गन्धक के साथ तीनों को एकत्र घोट कर गोला बना के सुखा लें। फिर इसको एक हांडी में रख कर उसके ऊपर एक शराव ढक दें। और शराव के ऊपर हांडी के अवशिष्ट भाग को लवण से भर दें तथा हांडी के मुख को एक शराव ढक कर बन्द कर दें और हांडी को चूल्हे में चढ़ाकर चार पहर की आंच दें। स्वांगशीत हो जाने पर ताम्रभस्म को पीस कर रखलें। इसमें से एक वल्ल (अधिक से अधिक १ रत्ती) मात्रा में लेकर पिप्पलीचूर्ण और मधु में मिलाकर सब रोगों में प्रयोग किया जाता है। इसके सेवन से श्वास, कास, क्षय, पाण्डु, अग्निमान्द्य, अरुचि, गुल्म, प्लीहा, यकृत् (जिगर) की वृद्धि, मूर्च्छा, पक्तिशूल तथा तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न होने वाले सब रोग नष्ट होते हैं। इसके अतिरिक्त भिन्न २ रोगों को नष्ट करने के लिये विविध अनुपान के साथ इसका प्रयोग किया जाता है। इसके सेवन से धातुगतज्वर दूर हो जाता है। इस ताम्रभस्म को रस तथा रसायन कार्य के लिये योग्य मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—कई वैद्य पहिले पारद ताम्र को घीकुआर रस में घोट कर गोला बनाकर सुखा लेते हैं। फिर एक शराव में ताम्रचूर्ण के बराबर शुद्ध गन्धकचूर्ण विछाकर उस पर उक्त गोले को रख उसके ऊपर पुनः गन्धक डालकर दूसरे शराव से बन्द कर कपड़मिट्टी करके वालुकायन्त्र या लवणयन्त्र में चार पहर या बारह पहर तक पकाते हैं। कई पुस्तकों में यह ताम्रप्रयोगविधि लिखी हुई नहीं पाई जाती है ॥ ५८—६२ ॥

सोमनाथोक्तताम्रप्रयोगः—

शुल्बतुल्येन सूतेन बलिना तत्समेन च ।
तदर्धांशेन तालेन शिलया च तदर्धया ॥ ६३ ॥
विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां भिन्नकज्जलसन्निभाम् ।
यन्त्राध्यायविनिर्दिष्टगर्भयन्त्रोदरांतरे ॥ ६४ ॥
कज्जलीं ताम्रपत्राणि पर्यायेण विनिक्षिपेत् ।
प्रपचेद्यामपर्यंतं स्वांगशीतं विचूर्णयेत् ॥ ६५ ॥
तत्तद्रोगहरानुपानसहितं ताम्रं द्विवल्लोन्मितं
संलीढं परिणामशूलमुदरं शूलं च पाण्डुज्वरम्
गुल्मप्लीहयकृत्क्षयाग्निसदनं मेहं च मूलामयं
दुष्टां च ग्रहणीं हरेद् ध्रुवमिदं श्रीसोमनाथाभिधम् ॥६६॥

इति ताम्राधिकारः ।

शुद्ध ताम्रपत्र आठ तोला, शुद्ध पारद आठ तोला, शुद्ध गन्धक आठ तोला, शुद्ध हरताल ४ तोला, शुद्ध मैनसिल २ तोला लेकर पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना लें। फिर उसमें हरताल और मैनसिल को धीरे २ अच्छी तरह घोटते हुये मिला कर उत्तम कृष्ण वर्ण की कज्जली बना लें। इसके बाद यन्त्राध्याय में लिखे हुये गर्भयन्त्र (गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पिष्टिकाभस्मकारकम्") के भीतर पहिले कुछ युक्त कज्जली को बिछा कर उस पर ताम्रपत्र रख फिर ताम्रपत्र के ऊपर कज्जली बिछायें। इस क्रम से सम्पूर्ण ताम्रपत्रों को कज्जली के नीचे ऊपर करके रख कर यन्त्र का मुख बन्द करके एक पहर की तीव्र अग्नि से पकावें। स्वांगशीत होने पर ताम्रपत्रों को निकाल चूर्ण कर लें। यह सोमनाथीताम्र कहा जाता है। इस ताम्र को दो वल्ल मात्रा में, तत्तत् रोगनाशक औषधियों के अनुपान से सेवन करने पर यह परिणामशूल, उदरशूल, पाण्डु, ज्वर, गुल्म (वायगोला), यकृत्–प्लीहावृद्धि, राजयक्ष्मा, अग्निमान्द्य, प्रमेह, अर्श और दुष्ट संग्रहणी रोग को अवश्य नष्ट करता है।

विशेष वचन—कहीं सोमनाथी ताम्रभस्म बनाने में पहिले ताम्र और पारद को नीबू के रस से घोटा जाता है, ताम्रचूर्ण के श्वेत होने पर इसको जल से धोकर उसमें गन्धक मिला कज्जली बनाने के बाद हरताल मैनसिल मिला घोट कर शरावसम्पुट में बन्द करके वालुकायन्त्र में रख कर १२ घंटे की आंच दी जाती है। ताम्रलोह आदि कठिन धातुओं की भस्म करने में प्रायः पारद का उपयोग होता है। यह देखते हुये भी कि पुट में रखने के बाद पारद उस धातु से पृथक् होकर उड़ जाता है। क्योंकि पारद ३५७ श० के ऊपर ताप देने पर अपने स्थान से उड़ने लगता है। ऐसी दशा में पारद का संयोग व्यर्थ सा प्रतीत होता है। परन्तु यह बात नहीं है। किसी धातु के सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु को शुद्ध तथा प्रभावित करने के लिये उसको द्रवणांक तक गरम किया जाय तो वह दूसरे तत्त्वों को अपने में मिलाने योग्य होता है। धातु के तत्व आपस में इस दृढ़ तथा कठिनता के साथ मिले हुये होते हैं कि उनको सहज में तोड़ना या ढीला करना कठिन होता है। अतः दो ही उपाय रह जाते हैं। १–उसको द्रवणांक तक गरम करना। २–ऐसी वस्तु मिलाना जिसमें धातु के परमाणु शिथिल पड़ जायं। द्रवणांक पर गरम किया हुआ धातु पुनः ताप के शान्त होते ही अपने आकार घनावयवता में आ जाता है। परन्तु पारद के साथ यह फिर अपने आकार में नहीं आता है। पारद में यह गुण है कि धातुओं के परमाणुओं तक घुसकर उनकी बन्धनशक्ति (घनत्व) को शिथिल कर देता है। अर्थात् पारद प्रत्येक धातु को बुभुक्षित कर लेता है। इसीलिये कठोर से कठोर धातुकण घनत्व रहित हो जाते हैं। धातुओं के परमाणु के कम घनत्व और दबाव में आने पर कोई संयोगी पदार्थ उसमें मिला कर योग्य ताप तथा दबाव दिया जाय तो उस धातु के यौगिक बनने लगते हैं। इस विधि से सभी धातुओं के गन्धक के साथ यौगिक बनते हैं। जिन्हें धातु के गन्धिद नाम से कहा जाता है। अतः सोमनाथी ताम्रभस्म ताम्र की गन्धिद कही जाती है। इसमें ताम्र के दो परमाणुओं में गन्धक

का एक परमाणु मिश्रित पाया जाता है । इसमें उष्म जन वायु का संयोग नहीं रहता अतः यह निर्दोष होता है ।

भस्म की मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक ॥ ६३—६६ ॥

अथ लोहभेदाः—

मुंडं तीक्ष्णं च कांतं च त्रिप्रकारमयः स्मृतम् ॥ ६७ ॥

मुख्य रूप से लोह तीन प्रकार का होता है । १—मुण्ड (साधारण), २—तीक्ष्ण (फौलाद), ३—कान्त (उत्तम-(जाति का लोह) ।

विशेष वचन—लोहा कार्वनद्विअम्लजित् (का. अ. २) के साथ मिला हुआ अम्लजित् के रूप में खानों से निकलता है । इन खानों से प्राप्त होने वाले पत्थरों को खूब भूना जाता है । जिससे वह पूरी तरह लोह ओषित् बन जाता है । फिर इसमें से लोह को पृथक् करने के लिये भुने हुये कोयले (जिन्हें कोक कहते हैं) तथा चूने के पत्थरों के साथ भट्टी में तपाते हैं । इस क्रिया से लोह ओषित् की ओषजन बन जाती है, शेष लोहा पृथक् हो जाता है परन्तु साधारण अग्नि से यह क्रिया सिद्ध नहीं होती है । अतः इस कच्ची धातु को पिघलाने के लिये ६० से १०० फुट ऊंची तीव्र अग्नि को सहन करने वाली ईंटों की कोष्ठी बनाई जाती है । इस पर कोयलों की तह बिछा देते हैं । इस क्रम से कई कोयलों की तहें लगाई जाती हैं । कोष्ठी के निचले शिरे में बड़ी २ धौंकनियों के द्वारा गर्म वायु पहुंचाते हैं । धौकनियों की हवा को अधिक गर्म करने के लिये कोष्ठी के ऊपर से निकलने वाले धुंये को एक नल के द्वारा नीचे ले आते हैं । कोष्ठी के भीतर अग्नि देने के पश्चात् जब धौंकनी चलाई जाती है तब कोष्ठी में तीव्र अग्नि उत्पन्न होती है । इसमें कुछ कोयला जलता कार्वनद्विअम्लजित् और (CO^2) बनती है । यह अपनी कुछ ओषजन दूसरे लाल हुये कोयलों को दे देती है जिससे वहाँ और ओषजन रह जाती है । यह फिर ऊपर पड़े हुये लोह में से गुजरती हुई उसकी ओषजन लेकर फिर ओष-जन बन जाती है और लोहा पृथक् हो जाता है । यह ओषजन फिर ऊपर के कोयलों की तह से मिलकर ओषजन दे देती है और फिर पूर्वोक्त क्रम से का. अ २ (CO^2) बन जाती है । इस विधि से पृथक् हुआ तथा पिघला हुआ स्पंजाकर लोहा धीरे धीरे नीचे गिरता जाता है और नीचे जहां अधिक गर्मी होती है जा कर पिघल जाता है । पिघली हुई दशा में यह फिर कोयलों से ओष-जन ले लेता है और कोष्ठी के नीचे बने हुये छिद्र से धारा के रूप में बाहर निकलता है ।

कोष्ठी में चूने का पत्थर भी इसलिये रखा जाता है कि यह लोहे में विद्यमान अन्य अशुद्धियों को फोस्फेट, सिलिकेट, गन्धित् आदि से मिलकर उन्हें केल्सियम के फोस्फिट आदि के रूप में परिवर्तित कर देता है । यह केल्सियम सिलिकेट आदि नीचे गिरते २ पिघल जाते हैं । किन्तु हल्के होने से लोह के ऊपर तैरते हैं । और लोह का मल कोष्ठी के पार्श्व में कुछ ऊंचाई पर बने हुये छिद्र से बाहर निकलता रहता है । इसे ही लोहकिट्ट या मंडूर कहा जाता है । इस विधि से प्राप्त लोहा को ढलवां लोहा या मुंडलोह कहते हैं । इसमें लगभग २½% प्रतिशत कार्बन होती है । यह भंगुर, कठोर, भूरा-सा अपेक्षया शीघ्र द्रवणशील होता है । इसके एक खंड को गर्म कर पीट करके दूसरे टुकड़े से नहीं मिलाया जा सकता है ।

शुद्धलोह—उपरोक्त प्रकार से प्राप्त लोह को फिर कोष्ठी में पहुंचाते हैं जिसमें धौंकनी द्वारा अन्दर हवा पहुंचाई जाती है । इससे लोह में विद्यमान सारी कार्वन जल जाती है । फिर यह लोहा मृदु तथा अभंगुर हो जाता है, शीघ्र नहीं पिघलता है तथा इसके दो खन्डों को गरम करके मिलाया जा सकता है । इसमें कार्वन २% होती है । इसे मृदुलोह कहते हैं ।

तीक्ष्णलोह—यदि भट्टी में पिघले हुये पूर्वोक्तलोह में ढलवें लोह की उचित मात्रा डाल दी जाय तो वह तीक्ष्णलोह या फौलाद बन जाता है । तीक्ष्णलोह बनाने के लिये पूर्वोक्त मृदुलोह की छड़ों को कोयलों की अग्नि में तीव्र लाल किया जाता है जिससे ये छड़ें कुछ कार्वन (carbon) को पकड़ लेती हैं । फिर इन्हें पिघलाया जाता है । ताकि इसमें कार्वन समान रूप में व्याप्त हो जाय । तीक्ष्णलोह फीके से श्वेत वर्ण का होता है । इसमें .३% से १.४% तक कार्वन होती है । यह ढलवे लोहे के समान कठोर और मृदुलोह के समान मृदु भी होता है । किन्तु ढलवे के सदृश भंगुर नहीं होता और मृदु की अपेक्षा शीघ्र पिघल जाता है । और इसके दो खण्डों को गर्म करके मिलाया भी जा सकता है । इसका मुख्य गुण यह है कि इसकी कठोरता को न्यूनाधिक कर सकते हैं । यदि इसे लाल ताप तक पहुँचा कर शीघ्र ही शीत जल में डाल दें तो यह अत्यन्त कठोर होकर कांच को भी काटने वाला बन जाता है । परन्तु साथ ही भंगुर होता है । यदि अत्यन्त गर्म कर धीरे २ ठंडा होने देवें तो यह मृदु लोह समान मृदु तथा अभंगुर हो जाता है । लोहे का द्रवणांक (Melting point 1525° centi grade, Atomic भार 56.0, Density (पानी से कितना गुना भारी है) 7—85 है । लोहे में जितना अधिक भाग Carbon (कोयला) का होगा उतना ही न्यून उसका द्रवणांक हो जाता है ॥ ६७ ॥

मुंडभेदाः—

मृदु कुण्ठं कडारं च त्रिविधं मुण्डमुच्यते ॥ ६८ ॥

मृदु, कुंठ तथा कडार भेद से मुंड लोह के तीन भेद होते हैं ॥ ६८ ॥

मृदुमुण्डलक्षणम्—

द्रुतद्रावमविस्फोटं चिक्कणं मृदु तच्छुभम् ॥ ६९ ॥

शीघ्र पिघलने वाला, हथौड़ी की चोट से न फटने वाला या बिखरने वाला, कोमल, तथा चिकना या चमकदार मुण्डलोह मृदु-मुण्डलोह कहा जाता है ॥ ६६ ॥

कुण्ठमुण्डलक्षणम्—

हतं यत्प्रसरेद् दुःखात्तत्कुण्ठं मध्यमं स्मृतम् ॥ ७० ॥

जो लोह हथौड़े की बहुत चोटों से भी बड़ी कठिनता के साथ बढ़ता या फैलता है उसको कुण्ठमुण्डलोह कहते हैं। यह मध्यम गुणयुक्त होता है ॥ ७० ॥

कडारमुण्डलक्षणम्—

यद्धतं भज्यते भंगे कृष्णं स्यात्तत्कडारकम् ॥ ७१ ॥

कडारमुण्डलोह चोट लगने से फट जाता है या टूट कर बिखर जाता है और टूटने पर भीतर से काले रंग का दीखता है ॥

मुण्डगुणाः—

मुण्डं परं मृदुलकं कफवातशूल-
मूलाममेहगदकामलपाण्डुहारि ।
गुल्मामवातजठरार्तिहरं प्रदीपि
शोफापहं रुधिरकृत्खलु कोष्ठशोधि ॥ ७२ ॥

मुण्डलोह की भस्म (अत्यन्त मृदुमुण्ड की) कफवात के रोग, शूल, अर्श, आमविकार, प्रमेह, कामला, पाण्डुरोग, गुल्म, आमवात (गठिया), उदररोग नाशक है। इससे अग्नि प्रदीप्त होती है। और शोथ रोग शान्त होता है। इसके प्रयोग से रक्त की वृद्धि होती है और कोष्ठ शुद्ध होता है ॥ ७२ ॥

अशुद्धलोहस्य दोषाः—

अशुद्धलोहं न हितं निषेवणा-
दायुर्बलं कांतिविनाशि निश्चितम् ।
हृदि प्रपीडां तनुते ह्यपाटवं
रुजं करोत्येव विशोध्य मारयेत् ॥ ७३ ॥

अशुद्ध लोहभस्म सेवन करना लाभदायक नहीं है। इसके सेवन से आयु, बल तथा कान्ति का निश्चित नाश होता है। हृदय में पीड़ा (शूल) होती है। सम्पूर्ण शरीर में शिथिलता उत्पन्न होकर अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये लोह को शुद्ध करके भस्म करनी चाहिये।

विशेष बचन—खान से उत्पन्न होने वाले लोह-दोषों को (जिनका वर्णन विशेष वचन में आ चुका है।) पृथक् न किया जाय तो उनके कारण उक्त रोग होने की सम्भावना रहती है। ग्रन्थान्तर में सात अशुद्ध लोह के दोष माने गये हैं। "गुरुता दृढतोत्क्लेदः कश्मलं दाहकारिता। अश्मदोषः सदुर्गन्धो दोषाः सप्तायसः स्मृताः"। अन्यत्र अशुद्धलोह के दोष इस प्रकार लिखे हैं। "षण्ढत्वकुष्ठामयमृत्युदं भवेद् हृद्रोगशूलौ कुरुतेऽश्मरीञ्च। नानारुजानाञ्च तथा प्रकोपं करोति हृल्लासमशुद्धलोहम् ॥ ७३ ॥

तीक्ष्णलोहस्य षड्विधत्वम्—

खरं सारं च हृन्नालं तारावट्टं च वाजिरम् ।
काललोहाभिधानं च षड्विधं तीक्ष्णमुच्यते ॥ ७४ ॥

तीक्ष्णलोह (फौलाद) छः प्रकार का होता है। १—खर, २—सार, ३—हृन्नाल, ४—तारावट्ट, ५—वाजिर तथा ६—काललोह ॥ ७४ ॥

खरतीक्ष्णलक्षणम्—

परुषं पोगरोन्मुक्तं भगं पारदवच्छविः ।
नमने भङ्गुरं यत्तत्खरलोहमुदाहृतम् ॥ ७५ ॥

खरलोह पोगर (सिकुड़े हुये बालों की भांति सूक्ष्म रेखायें अथवा तन्तु) से रहित, और तोड़ने पर भीतर से पारदवत्, श्वेत, चमकीला, मोड़ने पर टूट जाने वाला और कठोर होता है ॥

सारतीक्ष्णलक्षणम्—

वेगभङ्गुरधारं यत्सारलोहं तदीरितम् ।
पोगराभासकं पाण्डुभूमिजं सारमुच्यते ॥ ७६ ॥

जोर से दबाव या चोट के कारण जिस लोह की धार टूट जाती, मुड़ जाती हो उसे सारलोह कहते हैं। इसमें कुछ २ पोगर से दीखते हैं यह प्रायः पाण्डुवर्ण की मिट्टी वाले देश की खानों से प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

हृन्नालतीक्ष्णलक्षणम्—

कृष्णपाण्डुवपुश्चञ्चुबीजतुल्योरुपोगरम् ।
छेदने चातिपरुषं हृन्नालमिति कथ्यते ॥ ७७ ॥

हृन्नाल लोह देखने में कृष्ण पाण्डु वर्ण होता है और इस पर एरण्डबीज के छिलके पर पड़ी हुई रेखाओं के सदृश स्थूल रेखायें या तन्तु से दिखाई देते हैं काटने में यह अत्यन्त कठिन होता है ॥ ७७ ॥

सपर्यायपोगरलक्षणम्—

अङ्गच्छया च वङ्गं च पोगरस्याभिधात्रयम् ।
चिकुरं भंगुरं लोहात्पोगरं तत्परं मतम् ॥ ७८ ॥

अङ्ग, छया (छाया) तथा वङ्ग ये तीन पोगर के पर्याय कहे जाते हैं। और भंगुर तथा संकुचित बालों की भांति रेखा या तंतुसमुदाय स्वरूप को पोगर कहते हैं अर्थात् पोगरलोह शीघ्र टूटने वाला तथा चमकदार होता है ॥ ७८ ॥

वाजिरतीक्ष्णलक्षणम्—

पोगरैर्वज्रसंकाशैः सूक्ष्मरेखैश्च सान्द्रकैः ।
निचितं श्यामलाङ्गं च वाजीरं तत्प्रकीर्त्यते ॥ ७६ ॥

वाजिर तीक्ष्णलोह अत्यन्त घना और हीरे के सदृश अत्यन्त कठिन और सूक्ष्म रेखा तथा पोगरों से युक्त होता है और इसका वर्ण श्याम होता है ॥ ७६ ॥

काललोहतीक्ष्णलक्षणम्—

नीलकृष्णप्रभं सान्द्रं मसृणं गुरु भासुरम्।
लोहाघातेऽप्यभङ्गात्मधारं कालायसं मतम्॥ ८०॥

जो लोह नील कृष्ण वर्ण का, चमकीला, स्थूल, चिकना गुरु-भार तथा कान्ति युक्त हो और लोह के घन आघात से भी जिसकी धार न टूटती हो उसे कालायस लोह कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में संक्षेप से तीक्ष्ण लोह की परीक्षा इस प्रकार लिखी है कि "कासीसामलकल्काक्ते लोहगं दृश्यते स्फुटम्। तीक्ष्णलोहं तदुद्दिष्टं मारणायोत्तमं विदुः"। भाव प्रकाश में भी इसी तरह परीक्षा विधि लिखी है "दमाभृच्छिखराकाराण्यङ्गान्यम्लेन लेपिते। लोहे स्युर्यत्र सूक्ष्माणि तत्सारमभिधीयते।" रसकामधेनुकार ने बारह प्रकार के तीक्ष्ण लोहों (खर, सारक, पोगर, वाजर, होन्नाल, पारशव, सार, औंड्र, कलिंग, भद्र, पांड्य और कृष्णायस) के लक्षण लिखे हैं। इसी तरह इनके गुण भी पृथक् २ लिखे हैं। रसार्णव में रोहण, वाजर तथा पडालक भेद से तीक्ष्ण लोह तीन ही प्रकार का माना है। इस रसार्णव के मतभेद का कारण रस-कामधेनु में यह लिखा है कि उक्त तीन रोहण, वाजर तथा पडालक रससिद्धि के लिये काम आते हैं। अतः इन्हीं को मुख्यता दी है"। अन्य तीक्ष्णलोहभेद खड्गादि शस्त्रों के निर्माण में प्रयुक्त होते हैं॥

खरतीक्ष्णगुणाः—

रूक्षं स्यात्खरलोहकं समधुरं पाकेऽथ वीर्ये हिमं।
तिक्तोष्णं कफपित्तकुष्ठजठरप्लीहामपांड्वर्तिनुत्॥
सद्यः शूलयकृद्दक्षयजरामेहामवातापहं
दीप्तं चातिरसायनं बलकरं दुर्नामदाहापहम्॥ ८१॥

खर संज्ञक तीक्ष्ण लोह की भस्म रूक्ष, पाक में मधुर, वीर्य में शीत, तिक्त तथा उष्ण होती है। यह कफ-पित्त-प्रकोपनाशक, कुष्ठ, उदररोग, प्लीहा, आम, पाण्डुरोग, शूल, यकृत् रोग (जिगर का बढ़ना, शोथ आदि), राजयक्ष्मा, जरा (बुढ़ापा) प्रमेह तथा आमवात रोगों को नष्ट करती है। यह अति उत्तम रसायन तथा अग्नि को प्रदीप्त करती है। कुछ काल निरन्तर सेवन करने से शरीर में बल की वृद्धि होती है और बवासीर तथा दाहरोग मिट जाते हैं॥

सारादीनां गुणाः—

खरलोहात्परं सर्वमेकैकस्माच्छतोत्तरम्॥ ८२॥

तीक्ष्ण लोह के अन्य भेद सार आदि गुणों में खर तीक्ष्ण की अपेक्षा क्रमशः उत्तरोत्तर सौ सौ गुना अधिक गुण वाले होते हैं॥

कान्तलोहस्य पञ्चविधत्वम्—

भ्रामकं चुम्बकं चैव कर्षकं द्रावकं तथा।
एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तं च पञ्चमम्॥ ८३॥

कान्त लोह की १—भ्रामक, २—चुम्बक, ३—कर्षक, ४—द्रावक तथा ५—रोमकान्त भेद से पांच जातियां होती हैं।

विशेष वचन—राजनिघण्टु में भ्रामक, चुम्बक, रोमक तथा छेदक—भेद के कान्त में चार भेद लिखे हैं। उसमें चुम्बक और कर्षक को चुम्बक नाम से और द्रावक को छेदक नाम से लिखा है। इसी तरह रसप्रकाशसुधाकर में भी उक्त चार ही भेद लिखे हैं॥

पञ्चविधकान्तस्य भेदान्तरनिर्देशः—

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चसर्वतोमुखमेव तत्।
पीतं कृष्णं तथा रक्तं त्रिवर्णं स्यात्पृथक् पृथक्।
क्रमेण देवतास्तत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥ ८४॥

प्रतिमा (चमक) भेद से निम्न प्रकार से कान्त लोह के भेद किये जाते हैं। १—एकमुख (एकतरफ विशेष-चमक) २—द्विमुख (दो तरफ प्रतिमा-विशेष) ३—त्रिमुख (तीनतरफ प्रतिमा-विशेष) ४—चतुर्मुख (चारों तरफ प्रतिमा-विशेष) ५—पञ्चमुख (पांच तरफ प्रतिमा-विशेष) ६—सर्वतो मुख (सब तरफ प्रतिमा-विशेष) इसी तरह प्रत्येक कान्त पीत, कृष्ण तथा रक्त वर्ण भेद से तीन प्रकार का होता है। और इन वर्णों से युक्त कान्त के क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) ये अधिष्ठातृ-देवता माने जाते हैं॥

कान्तस्य वर्णभेदेन कार्यनिर्देशः—

स्पर्शवेधि भवेत्पीतं कृष्णं श्रेष्ठं रसायने।
रक्तवर्णं तथा चापि रसबन्धे प्रशस्यते॥ ८५॥

उक्त त्रिविध वर्णयुक्त कान्त में पीतवर्ण कान्त स्पर्शमात्र से अन्य धातुओं को पीतवर्ण अर्थात् सुवर्ण बना देता है। अथवा पारद के वेध संस्कार में पूर्ण सहायक होता है। कृष्णवर्ण कान्त रसायन प्रयोग में उत्तम होता है। रक्तवर्ण कान्त रसायनकार्य तथा पारदबन्धन में उत्तम होता है।

विशेष वचन—कान्तलोह के इन भेदों तथा आगे लिखे हुये लक्षणों के अनुसार आजकल कोई लोह ऐसा नहीं पाया जाता है। अतः ग्रन्थान्तर में "कान्तं सुदुर्लभम्" अर्थात् वास्तविक लक्षणयुक्त कान्तलोह अत्यन्त ही अप्राप्य है। अतः इसके विषय में कुछ विशेष नहीं कहा जाता है। इसके कुछ भेद चुम्बक, कर्षक आदि पाये जाते हैं परन्तु उनमें "यत्पात्रे न प्रसरति जले" इत्यादि लक्षण नहीं घटते हैं॥ ८५॥

भ्रामकादीनामधमत्वादिनिर्देशः—

भ्रामकं तु कनिष्ठं स्याच्चुम्बकं मध्यमं तथा।
उत्तमं कर्षकं चैव द्रावकं चोत्तमोत्तमम्॥ ८६॥

उक्त पञ्चविध कान्तलोहों में भ्रामक को कनिष्ठ अर्थात् हीन-गुण, चुम्बककान्त को मध्यमगुण, कर्षक को उत्तमगुण और द्रावक कान्त को उत्तमोत्तमगुण माना जाता है।

विशेष वचन—रोमककान्त का वर्णन न होने से यह भी उत्तमोत्तम गुण युक्त माना जायगा॥ ८६॥

भ्रामकलक्षणम्—

भ्रामयेल्लोहजातं यत्तत्कान्तं भ्रामकं मतम् ॥ ८७ ॥

जो कान्तलोह अन्य लोहों को अपने प्रभाव से अपने चारों तरफ घुमाता या गतियुक्त करता है उसे भ्रामक कान्त कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में भ्रामक के विषय में लिखा है कि किन्हीं २ श्रेष्ठ पर्वतों की खानों में भ्रामक लोह का पत्थर पाया जाता है। उसके मुख में लोह को डालने से वह घूमने लगता है। इस पत्थर से निकाले हुये लोह को भ्रामक कान्तलोह कहते हैं ॥ ८७ ॥

चुम्बककर्षकयोर्लक्षणम्—

चुम्बयेच्चुम्बकं कान्तं कर्षयेत्कर्षकं तथा ॥ ८८ ॥

जो कान्तलोह दूसरे लोहों को स्पर्श करते ही चिपट जाता है उसे चुम्बक लोह कहते हैं। और जो दूसरे लोहखण्डों को केवल अपनी तरफ आकर्षित (खींचना) करता है उसे कर्षकलोह कहते हैं।

विशेष वचन—चुम्बक पत्थर को मेगनिटिक ओक्साइड आफ आयरन (Magnitic oxide of Iron) या Ferroso ferric oxide कहते हैं। इसमें एक विद्युत् शक्ति होती है। जिसको Magnotiom कहते हैं। जिससे यह दूसरे लोह को अपनी तरफ खींचता है। और खनिज द्रव्य है। यद्यपि भ्रामक लोह को (जो कि कान्त पर्याय या चुम्बक का ही भेद है) दूसरे लोह को चारों तरफ खींचने वाला माना गया है। परन्तु वर्तमान अन्वेषण से इस लोह में दो पोल (शिरे) स्थिर किये गये हैं। जिसमें तीव्र शक्ति होती है। और मध्य भाग में कोई शक्ति नहीं होती है जिससे वह उदासीन रहता है। इन दो पोलों में एक को दक्षिणी शिरा दूसरे को उत्तरी शिरा कहा जाता है। उनमें अपनी २ तरफ लोह को आकर्षण करने की शक्ति होती है। अतः लोह चुम्बक भेद भ्रामक में चारों तरफ भ्रमण करना वर्तमान अन्वेषण से सिद्ध नहीं होता है ॥ ८८ ॥

द्रावकलक्षणम्—

साक्षाद्यद्द्रावयेल्लोहं तत्कान्तं द्रावकं भवेत् ॥ ८९ ॥

जिस लोह के संयोग से दूसरे लोह द्रवीभूत (पिघलना) हो जाते हैं उसे द्रावक कान्तलोह कहा जाता है ॥ ८९ ॥

रोमकलक्षणम्—

तद्रोमकान्तं स्फुटिताद्यतो रोमोद्गमो भवेत् ॥ ९० ॥

उस कान्तलोह को रोमककान्त कहते हैं जिसको तोड़ने या फोड़ने से उसके भीतर से छोटे २ रोमों (बालों) की भांति अंकुर से उभर आते हों।

विशेष वचन—रसप्रकाशसुधाकर में रोमक का निम्नलक्षण लिखा है "खन्यां संखन्यमाने हि पाषाणा निःसरन्ति ये। तेभ्यो यद्द्रावितं लोहं रोमकं तत्प्रचक्षते"। अर्थात् लोह की खान में खोदते समय जो लोहमय पाषाण निकलते हैं उनको गला कर निकाला जाने वाला लोह द्रावकलोह कहा जाता है परन्तु यह लक्षण मूलोक्तलक्षण में विशेषता लाने की अपेक्षा मन्दता या बहुत ही सामान्यता लाता है। अतः उत्तम प्रतीत नहीं होता है ॥

एकादिमुखभेदेन कान्तस्याधमत्वादिनिर्देशः—

कनिष्ठं स्यादेकमुखं मध्यं द्वित्रिमुखं भवेत् ।
चतुष्पञ्चमुखं श्रेष्ठमुत्तमं सर्वतोमुखम् ॥ ९१ ॥

एकमुख कान्तलोह कनिष्ठ अर्थात् हीनगुण माना जाता है अथवा कनिष्ठ कान्त एकमुख होता है। मध्यमगुण कान्त दो अथवा तीन मुख (प्रतिमा) वाला होता है। श्रेष्ठ कान्त चार या पांच मुख वाला और सर्वतोमुख कान्तलोह उत्तम होता है ॥ ९१ ॥

भ्रामकादीनां कार्यनिर्देशः—

भ्रामकं चुम्बकं चैव व्याधिनाशे प्रशस्यते ।
रसे रसायने चैव कर्षकं द्रावकं हितम् ॥ ९२ ॥

पांच प्रकार के कान्तलोह में से भ्रामक तथा चुम्बक लोह रोगनाश करने के लिये उत्तम होते हैं। कर्षक तथा द्रावक लोह रस तथा रसायन प्रयोग में उत्तम होते हैं ॥ ९२ ॥

रसकर्मणि कान्तस्य विशेषोपयोगिता—

मदोन्मत्तगजः सूतः कान्तमंकुशमुच्यते ॥ ९३ ॥

पारदरूपी अत्यन्त मदमाते हुये हाथी को वश में (बन्धन) करने के लिये कान्तलोह अंकुश कहा जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में पाया जाता है कि कान्तलोह के बिना पारद का शरीर में क्रमण नहीं होता है और कान्त के साथ पारद शरीर अथवा धातु में जल के ऊपर तैलविन्दु की भांति शीघ्र ही व्याप्त तथा विद्ध हो जाता है। अतः केवल पारद अथवा कान्त के प्रयोग से कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता है इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है "न सूतेन विना कान्तो न कान्तः सूतवर्जितः। कान्तसूतसमायुक्तः प्रयोगो देहधारकः ॥ ९३ ॥

कान्तस्य ग्राह्यवर्ज्यत्वानिर्देशः—

क्षेत्रं ज्ञात्वा ग्रहीतव्यं तत्प्रयत्नेन धीमता ।
मारुताऽऽतपविक्षिप्तं वर्जयेन्नात्र संशयः ॥ ९४ ॥

कान्तलोह के उत्तम क्षेत्र को देख कर उसे निकालना चाहिये और विकृत वायु तथा अतितीक्ष्ण सूर्यकिरणों से क्षुब्ध क्षेत्र (खान) से निकाला हुआ कान्तलोह औषधादिक कार्य में नहीं लेना चाहिये।

विशेष वचन—"ज्ञात्वा" के स्थान पर "खात्वा" पाठ अच्छा प्रतीत होता है। क्षेत्र खान को खन कर उसमें से प्रयत्न पूर्वक सर्वलक्षणयुक्त कान्त ले लिया जाता है ॥ ९४ ॥

कान्तलोहलक्षणम्—

पात्रे यस्य प्रसरति जले तैलबिन्दुर्न लिप्तो ।
गन्धं हिङ्गु त्यजति च तथा तिक्ततां निम्बकल्कः ।

पाके दुग्धं भवति शिखराकारकं नैति भूमौ
कान्तं लौहं तदिदमुदितं लक्षणोक्तं च नान्यत् ॥ ६५ ॥१

कान्तलोह के पात्र में जल भर कर जल के निस्तरंग होने पर उस पर यदि तैल की बूंद डाली जाय तो वह पानी पर नहीं फैलती बल्कि एक स्थान पर ही उसी रूप में रहती है। और यदि हींग को पीस कर उस पात्र में लेप किया जाय तो उसकी गन्ध जाती रहती है। इसी तरह यदि कान्तलोह के पात्र में निम्बकल्क कुछ देर रखा रहे तो उसकी तिक्तता (कड़वाहट) जाती रहती है। यदि कान्तलोह की कढ़ाई में दूध डालकर पकाया जाय तो अधिक से अधिक आंच देने पर भी दूध उबाल खाकर नीचे नहीं गिरता किन्तु ऊपर को ही लाट सी होती जाती है। इन लक्षणों से युक्त लोह को कान्तलोह कहा जाता है। दूसरे को नहीं।

विशेष वचन—रसप्रकाशसुधाकर में कान्तलोह के उक्त लक्षण युक्त परीक्षा में कुछ भेद है "पानीयं क्वथितं चास्मिन् हिंगुगन्धसमं भवेत्। तैलबिन्दुर्जले क्षिप्तो न चातिप्रसृतो भवेत्। लेपोऽपि नैव जायेत शुद्धकान्तस्य लक्षणम्"। ग्रन्थान्तर में निम्न प्रकार से लक्षण और परीक्षा मिलती है "येन पर्वतसारेण भिद्यन्ते शुष्ककाष्ठवत्। अन्यानि गिरिसाराणि तल्लोहं कान्तमुच्यते। शुद्धतारं समं कान्तं तारेणावर्तितं मिलेत्। तदम्बुसिक्ताश्चणका गोरा गच्छन्ति कृष्णताम्। क्वाथ्यमानं पयश्छागं नैवाधः परिसर्पति।" मूलोक्तपरीक्षा में सत्य उतरने वाला आजकल नहीं पाया जाता है॥

कान्तलोहगुणाः—

कान्तायोऽतिरसायनोत्तरतरं स्वस्थे चिरायुःप्रदं
स्निग्धं मेहहरं त्रिदोषशमनं शूलाऽऽममूलापहम्।
गुल्मप्लीहयकृत्क्षयामयहरं पाण्डूदरव्याधिनु-
त्तिक्तोष्णं हिमवीर्यकं किमपरं योगेन सर्वार्तिनुत् ॥६६॥

कान्तलोहभस्म अत्यन्त श्रेष्ठतर रसायन है। यदि इसे स्वस्थ मनुष्य सेवन करे तो उसको आयु दीर्घ होती है। यह स्निग्धता पैदा करती है और त्रिदोष-प्रकोपनाशक है। प्रमेह, शूल, आम, अर्श, गुल्म, प्लीहा, यकृत्, क्षयरोग, पाण्डुरोग और उदररोगों को नष्ट करती है। तिक्त, किञ्चित् उष्ण, वीर्य में हिम होती है। इस तरह इसका और क्या गुण प्रभाव वर्णन किया जाय यह विभिन्न औषधियों के अनुपान तथा योग से सब रोगों को दूर करती है।

विशेष वचन—लोह के सभी समास आंतों में पहुँच कर लोहगन्धिद् के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। और लोह के योग आंतों में पहुँच कर कुछ मलबन्ध भी करते हैं। यद्यपि लोहभस्म विशेष मलबन्ध उत्पन्न नहीं करती है क्योंकि इसको पित्तविरेचक द्रव्यों की भावना द्वारा विशेष रूप से तैयार किया जाता है। लोह आंतों की अन्तःकला द्वारा रक्त में प्रवेश करता है और वहाँ से यकृत् में पहुँच जाता है। यकृत् में इस लोह के कुछ ऐसे ऐन्द्रियिक समास बनते हैं जो शरीर में लग सकते हैं। यह समास रक्त के रञ्जक द्रव्य (Himoglobin) से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। और बहुत सम्भव है कि यही समास हिमोग्लोबिन में बदल जाते हों। इसी लिये पाण्डुरोग में लोह के देने से रक्त में रक्ताणु तथा रक्त के रञ्जकद्रव्य दोनों ही बढ़ जाते हैं। अतः लोहभस्म उत्तम रक्तरञ्जक और रक्तवर्धक है। रक्त में रक्ताणु तथा रक्तरञ्जक द्रव्य के बढ़ जाने से शरीर के सब ही अवयवों में ओषजन अधिक मात्रा में पहुँचने लगती है जिससे सभी शारीरिक अवयवों की कार्यक्षमता बढ़ जाती है, अतः लोह सर्वांगबल्य है।

उपयोग—गलशोथ में एक औंस गरम जल में १० ग्रेन कासीस जो कि लोह का ही समास है डालकर गण्डूष कराये जाते हैं। जिससे गले की शोथ दूर होती है इसी तरह लोह हरिद् आसव को समभाग ग्लिसरीन में मिला फ़ुरहरी से गले में लगाया जाता है। वीसर्प की शोथ पर कासीसद्रव (१ औंस में २० ग्रेन) या लौहिक हरिद् द्राव में भीगा हुआ कपड़ा रखने से शोथ शान्त होता है। इसी तरह अर्श की गुदशोथ या गुदभ्रंश के उक्त द्रवों की लघु वस्ति भी हितकर होती है।

अन्तःप्रयोग में पाण्डु, हलीमक (clorosis), श्वयथु आदि रक्त की निर्बलताजन्य रोगों के लिये लोहभस्म सर्वोत्तम औषधि है। इसी वास्ते उक्त रोगों में लोहे के नवायसलोह विषमज्वरहरलोह विषमज्वरान्तकलोह आदि योग दिये जाते हैं। शोथ पर लोहभस्म का प्रयोग पुनर्नवा आदि द्रव्यों के साथ किया जाता है। भिन्न २ पाण्डुरोग में लोह को सोमल और रससिन्दूर के साथ देने से विशेष लाभ होता है। पित्त-प्रकोप-जन्य स्रावों में नासारक्तस्राव, रक्तप्रदर, रक्तार्श तथा रक्तमेह आदि में लोहभस्म को आमलकी नागकेशर चूर्ण या चतुर्जातकचूर्ण अथवा खदिरसार अथवा वासा स्वरस के साथ दिया जाता है। शरीर की भिन्न २ सामान्य निर्बलताओं में भी लोह का प्रयोग बहुत अधिकता से होता है। इसीलिये लोह को रसायन भी कहते हैं। इसके देने से शारीरिक भिन्न भिन्न अवयव अपना कार्य भली भांति करने लगते हैं। ज्वर के पीछे होने वाली निर्बलता पर लोह के उक्त योग दिये जा सकते हैं। निर्बलता-जन्य नेत्ररोगों में भी सप्तामृत लोह आदि का प्रयोग लाभकारी होता है। साधारण निर्बलता के लिये तथा पलितरोग के लिये और शुक्रमेह आदि रोगों के लिये लोहभस्म को त्रिफला अनुपान से सेवन कराया जाता है। चिरस्थायी प्रतिश्याय कास आदि निर्बलता-जन्य श्लेष्मरोगों में लोह को मधु और पिप्पली के साथ प्रयोग कराया जाता है। आमाशय की निर्बलता में शूल आदि उपद्रवों को हटाने के लिये लोहभस्म को भोजन के कुछ काल पीछे हरीतकीचूर्ण के साथ देते हैं। इसके अतिरिक्त मण्डूर के योग इस

कार्य के लिये लाभकारी होते हैं। त्वक्रोगों के लिये भी त्रिफला या केवल हरीतकी के साथ लोहभस्म को सेवन कराया जाता है। यकृत्-प्लीहा-वृद्धि में विरेचक और पाचक औषधियों के साथ लोहभस्म दी जाती है। वातनाड़ियों की निर्बलता-जन्य कम्परोग अर्दित योषापस्मार नाड़ीदौर्बल्य तथा अन्य वातरोगों में लोह को वला शतावरी अश्वगन्ध आदि वातहर औषधियों के साथ देने से लाभ होता है। लोहप्रस्फुरित के योग भी इसी तरह लाभदायक होते हैं। जीर्णातिसार, ग्रहणी, हृद्रोग, रजोरोध तथा पुरातन वृक्कशोथ आमवात तथा फिरंग की तृतीयावस्था में लोह के योग या भस्म बहुत लाभदायक होती है।

निष्क्रमण—लोह का निष्क्रमण आंतों द्वारा मल से होता है।

अपथ्य—रसोन (लहसुन), राई, मद्य, अम्लद्रव्य, तैल तथा अन्य उष्ण भोजन।

मात्रा ½ रत्ती से २ रत्ती तक ॥ ९६ ॥

लोहस्य शोधनमारणयोरावश्यकता—

सम्यगौषधकल्पानां लोहकल्पः प्रशस्यते।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुद्धं लोहं च मारयेत् ॥ ९७ ॥

उत्तमोत्तम औषधियों (त्रिफला, शाल्मली, आमलकी आदि) के कल्पों (प्रयोगविधि) में लोहकल्प अथवा विभिन्न, औषधिकल्पों में सम्यक् (यथाविधि) मारित लोहभस्म का कल्प ही सर्वोत्तम होता है। अतः सर्वप्रयत्न से लोह को सामान्य तथा विशेष प्रकार से शुद्ध करके ही भस्म करना चाहिये ॥ ९७ ॥

मारणार्थं लोहस्य परिमाणम्—

नायः पचेत्पञ्चपलादर्वागूर्ध्वं त्रयोदशात् ॥ ९८ ॥

पांच पल (२० तोला या ४० तोला) से कम तथा तेरह पल (६२ तोला या १२४ तोला) से अधिक परिमाण में लेकर लोह की भस्म नहीं करनी चाहिये।

विशेष वचन—न्यून परिमाण में समय तथा क्रिया उतनी ही करनी पड़ती है जितनी कि अधिक परिमाण लेने पर करनी पड़ती है परन्तु लाभ कम होता है। अधिक परिमाण लेकर शोधन मारण करने में मर्दन-पुटन आदि क्रियाओं को करते हुये बड़ी असुविधा हो जाती है। अतः सुविधा के अनुकूल सेर भर तक लोह भस्म एक बार कर सकते हैं ॥ ९८ ॥

लोहमारणे मन्त्रः—

आदौ मन्त्रस्ततः कर्म कर्तव्यं मन्त्र उच्यते ॥ ९९ ॥

आदि में लोहे को निम्नलिखित मन्त्र से अभिमन्त्रित कर मारण कर्म करना चाहिये। मन्त्र लिखा जाता है—

"ओं अमृतोद्भवाय स्वाहा।"

अनेन मन्त्रेण लोहमारणम्।

विशेष वचन—उक्त मन्त्र पढ़ कर लोह को मर्दन करके पुट देना चाहिये। रसरत्नाकर में "ओं अमृतोद्भवोद्भवाय स्वाहा" ऐसा मन्त्र है। और वहीं लोहमारण कर्म करने के पूर्व बलिदान मन्त्र भी लिखा है "ओम् अमृतोद्भवाय हूँ फट् स्वाहा। ओम् नमश्चण्डवज्रपाणये महायक्षासनाधिपतये सुरु सुरु स्वाहा पद्मविद्यावलाय स्वाहा"। तन्त्रान्तर में लोह के अभिमन्त्रण बलिदान संस्कार के अतिरिक्त तेरह संस्कारों का नामोल्लेख पाया जाता है। "शाणिघर्षणम्, उद्वर्तनम्, अग्निभावनम्, आतपशोषः, निषेकः, मारणम्, दलनम्, चालनम्, सूर्यपाकः, स्थालीपाकः, चूर्णनम्, पुटपाकः, पाकनिष्पत्तिः"। इस प्रकार तेरह संस्कार माने गये हैं ॥ ९९ ॥

लोहत्रयाणामुत्तरोत्तरगुणाधिक्यम्—

लक्षोत्तरगुणं सर्वं लोहं स्यादुत्तरोत्तरम्।
कान्तं कोटिगुणं तत्र तदप्येव गुणोत्तरम् ॥ १०० ॥

मुण्डादि सब प्रकार के लोह उत्तरोत्तर पहिले की अपेक्षा दूसरा गुणों में लाखों गुना अधिक है। परन्तु कान्तलोह दूसरों की अपेक्षा करोड़ों गुना अधिक गुणकारी है। वह भी उक्त विधि से मन्त्रित कर भस्म किया हुआ हो तो और भी अधिक गुण युक्त हो जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में लिखा है कि "किट्टाच्छतगुणं मुण्डं मुण्डात्तीक्ष्णं शताधिकम्। तीक्ष्णाल्लक्षगुणं कान्तं भक्षणात् कुरुते गुणम्। तस्मात्कान्तं सदा सेव्यं जरामृत्युहरं परम्।" परन्तु रसेन्द्रचिन्तामणि में जो सामान्य लोह से क्रौञ्च द्विगुण, कलिंग अष्टगुण, कलि से शतगुण भद्र और भद्र लोह से सहस्रगुणाधिक वज्र, और वज्र से सौगुना अधिक गुणकारी पाण्डि, और पाण्डि से दसगुना निरंग, और इससे सैकड़ों गुना अधिक गुणकारी कान्त लिखा है। वह कान्त के आठ भेदों को दिखाने के लिये लिखा है। परन्तु यहाँ पर मुण्ड, तीक्ष्ण तथा कान्त लोहों की ही गुणों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता समझनी चाहिये, क्योंकि इन तीनों का ही अधिकतया प्रयोग होता है ॥ १०० ॥

सर्वलोहानां सामान्यशोधनम्—

शशक्षतजसंलिप्तं त्रिवारं परितापितम्।
मुण्डादिसकलं लोहं सर्वदोषान्विमुञ्चति ॥ १०१ ॥

मुण्ड, तीक्ष्ण, कान्त लोह के फलकों को खरगोश के रक्त में भिगो कर अग्नि में तपाये (लाल होने तक)। इस क्रिया को तीन बार दुहराये तो लोह के सब दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ १०१ ॥

लोहानां गिरिजदोषशोधनम्—

क्वाथ्यमष्टगुणे तोये त्रिफलाषोडशं पलम्।
तत्क्वाथे पादशेषे तु लोहस्य पलपञ्चकम् ॥ १०२ ॥

कृत्वा पत्राणि तप्तानि सप्तवारं निषेचयेत् ।
एवं प्रलीयते दोषो गिरिजो लोहसम्भवः ॥ १०३ ॥

सोलह पल त्रिफला लेकर उसमें १२८ पल जल डाल कर एक मिट्टी के पात्र में क्वाथ करें, जब चतुर्थांश रह जाय इसे छान लें। यह लोहशोधन के लिये त्रिफला कषाय है। इसमें लोह के पत्र पांच पल लेकर गरम कर के सात बार बुझावें। इस प्रकार त्रिफलाक्वाथ में सात बार बुझावे देने से लोह पर्वतजन्य सब दोष दूर होकर शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—लोह में पर्वत-जन्य दोष ये माने जाते हैं। गुरुता, दृढ़ता, उत्क्लेद, कश्मल, दाहकारिता, अश्मदोष, दुर्गन्धता ये सात दोष होते हैं। लोह को गरम कर बुझाने में यह ध्यान रखना चाहिये कि ३२ पल त्रिफला क्वाथ के सात बराबर भाग करके पृथक् २ रख लें। अब एक भाग क्वाथ में लोह को बुझावें और उस क्वाथ को फेंक दें। फिर दूसरे भाग में दूसरी बार बुझावें। इस तरह बुझाये हुए क्वाथ को फेंककर नवीन क्वाथ में सात बार बुझावें ॥ १०२-१०३ ॥

मतान्तरम्—

सामुद्रलवणोपेतं तप्तं निर्वापितं खलु ।
त्रिपलाकथिते नूनं गिरिदोषमयस्त्यजेत् ॥ १०४ ॥

अथवा लोहपत्रों पर समुद्रलवण के सान्द्र घोल का लेप कर सुखा लेने के बाद अग्नि में गरम कर के सात बार त्रिफलाकषाय में बुझावा देने से भी लोहे का पर्वतजन्य दोष नष्ट हो जाता है।

मतान्तरम्—

चिञ्चाफलजलक्वाथादयो दोषमुदस्यति ॥ १०५ ॥

अथवा इमली के फल तथा जल (नेत्रवाला) इन दोनों के कषाय में सामुद्र-लवण से लिपे हुए लोहपत्रों को गरम कर सात बार बुझावा देने से लोह का पर्वतजन्य दोष दूर हो जाता है।

विशेष वचन—कोई इस श्लोक में चिञ्चा से इमली, फल से त्रिफला और जल के स्थान पर "दल" ऐसा पाठ करके तेजपत्र का ग्रहण करते हैं। रसार्णव में गिरिज दोष शान्ति के लिये लोहे के पत्रों को गुडूची, हंसपादी, करञ्ज, निर्गुण्डी, गोरोचना, तुम्बुरु आदि किसी एक द्रव्य के रस में बुझावा देने को लिखा है, रसहृदयतन्त्र में केवल निर्गुण्डीरस में सात बार बुझाने से गिरिज दोष की शान्ति लिखी है ॥ १०५॥

मतान्तरे शोधनं मारणञ्च—

यद्वा फलत्रयोपेतं गोमूत्रे कथितं क्षणम् ।
रेचितं घृतसंयुक्तं क्षिप्त्वाऽयः खर्परे पचेत् ॥ १०६ ॥
चालयेल्लोहदण्डेन यावत्क्षिप्तं तृणं दहेत् ।
पिष्ट्वा पिष्ट्वा पचेदेवं पञ्चवारमतः परम् ॥ १०७ ॥
धात्रीफलरसैर्यद्वा त्रिफलाकथितोदकैः ।
पुटेल्लोहं चतुर्वारं भवेद्वारितरं खलु ॥ १०८ ॥

अथवा त्रिफलाकषाय तथा गोमूत्र में अथवा त्रिफला सोलह पल को १२८ पल गोमूत्र में डाल उसी में पांच पल लोहपत्र डाल पकावें, जब अर्धावशेष गोमूत्र रह जाये, लोहपत्रों को निकाल रेती से रितवा कर लोहचूर्ण के समभाग घृत अथवा द्विगुण घृत के साथ मिला कर लोहे या मिट्टी के पात्र में डाल कर दोनों पकावें और लोहे को करछी से चलाते जायँ। जब लोहा पकते पकते इतना गरम हो जाय कि उस पर सूखा तिनका डलें और वह जलने लगे तो उतार कर पीसे और पुनः घृत के साथ पकावें इस प्रकार पांच बार घृत के साथ पकाने के बाद उस लोहचूर्ण को आँवलों के स्वरस में अथवा त्रिफलाकषाय में घोट कर चार गजपुटें दें तो लोह की भस्म वारितर (पानी पर तैरनेवाली) हो जाती है।

विशेष वचन— किन्हीं पुस्तकों में "यद्वा त्रिफलोपेतं गोमूत्रे कथितं क्षणम्"। यह गिरिजदोषशोधन पृथक् लिखा है। और "रेचितं घृतसंयुक्तं" इत्यादि अवशिष्ट विधि लोहमारण की मानी गई है ॥ १०६–१०८ ॥

मतान्तरे मारणम् —

स्नेहाक्तं लोहरजो मूत्रे स्वरसेऽपि रात्रिधात्रीणाम् ।
पृथगेवं सप्तकृत्वो भर्जितमखिलामये योज्यम् ॥ १०९ ॥

अथवा शुद्ध लोहचूर्ण को घृत के साथ भूनकर (सात बार) अन्त में गोमूत्र, हरिद्रास्वरस तथा आमले के स्वरस में घोटकर तीन पुट देने से लोह की भस्म हो जाती है। इसको सब रोगों में प्रयोग किया जा सकता है ॥ १०९ ॥

तीक्ष्णलोहस्य मारणम्—

तीक्ष्णलोहस्य पत्राणि निर्दलानि दृढेऽनले ।
ध्मात्वा क्षिपेज्जले सद्यः पाषाणोलूखलोदरे ॥ ११० ॥
कण्डयेद्गाढनिर्घातैः स्थूलया लोहपारया ।
तन्मध्यात्स्थूलखण्डानि रुद्ध्वा मल्लद्वयान्तरे ॥ १११ ॥
ध्मात्वा क्षिप्त्वा जले सम्यक् पूर्ववत्कण्डयेत्खलु ।
तच्चूर्णं सूतगन्धाभ्यां पुटेद्विंशतिवारकम् ॥ ११२ ॥
पुटे पुटे विधातव्यं पेषणं दृढवत्तरम् ।
एवं भस्मीकृतं लोहं तत्तद्रोगेषु योजयेत् ॥ ११३ ॥

तीक्ष्णलोह के पत्रों को, जो दल रहित अर्थात् सूक्ष्म हों, तीव्र कोयलों की अग्नि में धौंकनी से तपा कर लाल होने पर जल में बुझा दें और तुरन्त ही निकाल कर एक दृढ़ लोह के खरल या हमाम दस्ते में डाल लोह की मूसली (लोहपारा) से खूब कूटें जो खण्ड मोटे मोटे रह जायं या चूर्ण न हो सके उन्हें छान कर अलग करलें और एक शराब में रख कर पुनः तीव्र अग्नि में तपावें और जल में बुझाकर शीघ्र ही लोह मूसली से कूटें जब लोहपत्र चूर्ण रूप में हो जायं तब उनके बराबर शुद्ध

गन्धक और शुद्ध पारद लेकर तीनों को एकत्र मर्दन कर गजपुट में फूक दें। स्वांग शीत होने पर लोह चूर्ण को पुनः निकाल कर उसे समभाग गन्धक और पारद की कज्जली में मर्दन कर फिर गजपुट में फूंक दें। प्रत्येक पुट में लोहचूर्ण को पर्याप्त मर्दन करना चाहिये। इस प्रकार बीस पुट देने से लोह की भस्म हो जाती है। इसको सब रोगों में प्रयोग कर सकते हैं।

विशेष वचन—जल के स्थान पर त्रिफलाकषाय लिया जाय तो कोई हानि नहीं है। क्योंकि त्रिफलाकषाय से ही मर्दन पुट देने से लोह की भस्म हो जाती है और इसकी शुद्धि भी हो जाती है।

कान्तलोहस्य रससिन्धूक्तगुणाः—

कान्तायः कमनीयकान्तिजननं पाण्डवामयोन्मूलनम्।
यक्ष्मव्याधिनिबर्हणं गरहरं दोषत्रयोन्मूलनम्।
नानाकुष्ठनिबर्हणं बलकरं वृष्यं वयःस्तम्भनम्।
सर्वव्याधिहरं रसायनवरं भौमामृतं नापरम्॥ ११४॥

कान्तलोह की भस्म शरीर में सुन्दर कान्ति उत्पन्न करती है। यह पाण्डुरोग को समूल नष्ट करती है। राजयक्ष्मा तथा गरविषहर है। यह शरीर में त्रिदोष प्रकोप को शान्त करती है और अनेक प्रकार के त्वचा तथा कुष्ठरोगों को दूर करती है। यह शरीर में बल तथा उत्पादक अंगों को बल देने वाली, आयु को स्थिर करने वाली, सर्वरोगनाशक तथा उत्तम रसायन है। भूलोक में इससे उत्तम कोई अमृत नहीं है॥११४॥

सर्वलोहानां मारणे मतान्तरम्—

हिङ्गुलस्य पलान्पञ्च नारीस्तन्येन पेषयेत्।
तेन लोहस्य पत्राणि लेपयेत्पलपञ्चकम्॥ ११५॥
रुद्ध्वा गजपुटैः पच्यात्कषायैस्त्रैफलैः पुनः।
जम्बीरैरारनालैर्वा विंशत्यंशेन हिंगुलम्॥ ११६॥
पिष्ट्वा रुद्ध्वा पचेल्लोहं तद्द्रवैः पाचयेत्पुनः।
चत्वारिंशत्पुटैरेवं कान्तं तीक्ष्णं च मुण्डकम्।
म्रियते नात्र संदेहो दत्त्वा दत्त्वैव हिंगुलम्॥ ११७॥

पांच पल शुद्ध हिंगुल को स्त्री के दूध में घोट कर लेप करने के योग्य कल्क बना लें। इस कल्क का पाँच पल लोहपत्रों पर लेप करके शरावसंपुट में बन्द करके गजपुट में फूंक दें। स्वांग शीतल होने के पश्चात् निकाल कर लोहचूर्ण से बीसवाँ भाग हिंगुल मिला त्रिफला कषाय अथवा जम्बीरी नीबू रस या काञ्जी के साथ दोनों को एकत्र घोट कर सुखा के शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट में फूंक दें। इस प्रकार लोहचूर्ण से बीसवाँ भाग हिंगुल मिला उक्त त्रिफलाकषाय आदि द्रवों के साथ घोटकर शरावसंपुट में बन्द कर चालीस गजपुट देने से कान्तलोह, तीक्ष्ण-लोह तथा मुण्डलोह की भस्म हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं।

विशेष वचन—अन्यत्र हिंगुल योग से लोहभस्म करने में लोहचूर्ण से बारहवाँ भाग हिंगुल लोहचूर्ण में मिला घीकुआर के रस में घोट सुखा कर शरावसंपुट में बन्द करके सात गजपुट देने का विधान है। इस क्रिया से भी लोहभस्म हो जाती है परन्तु लोह तथा अभ्रक को जितनी अधिक पुटें दी जाती हैं उतनी ही उनमें गुणों की वृद्धि होती है। "यथा यथा प्रदीयन्ते पुटाः सुबहुशो यदि। तथा तथा प्रकुर्वन्ति गुणानेवं सहस्रशः।" क्योंकि अधिक पुट देने में लोहमर्दन अधिक करना पड़ता है। अधिक मर्दन करने से लोह के कण सूक्ष्म होते जाते हैं और पारद हिंगुल से उनमें शिथिलता बढ़ जाती है जिस से भावनाद्रव्य का प्रभाव उन पर अच्छी तरह होता है और उनमें इतनी अधिक ओषजन हो जाती है जिससे लोहभस्म शीघ्र ही आमाशयान्तःकला द्वारा शोषित होकर रक्त में पहुँच जाती है। इसी वास्ते रसग्रन्थों में किसी धातु की भस्म की परीक्षा लिखी है कि भस्म वारितर हो, अंगुलरेखाओं में भर जाने वाली हो। पुटों का क्या प्रभाव होता है यह एक रासायनिक क्रियाभवन में लोहभस्म के विश्लेषण करने से प्राप्त हुये परिणामों द्वारा दिखाया गया है। १ पुटी लोहभस्म में लोह .१% लौहस् ओषित् ६८.१% लोहिक ओषिक २०.४% विलेय लवण १०. १% पोटासियम प्रस्फुरित १. ३%। १० पुटी लोहभस्म में लोह नहीं लोहस ओषित् २३. १% लोहिक ओषित् ४०.% सिलिका युक्त द्रव्य ३२. १% प्रतिशत विलेय द्रव्य ४-८% प्रतिशत पाये गये। ७८ पुटी लोह में लोह नहीं लोहस् ओषित् ६. ५ प्रतिशत लोहिक ओषित् ५१. २ प्रतिशत सिलिका युक्त द्रव्य ३४. १ प्रतिशत विलेय द्रव्य ५. ४ प्रतिशत, पाये गये। १०० पुटी लोहभस्म में लोह और लोहस् ओषित् नहीं, लोहिक ओषित् ८३.६ प्रतिशत, सिलिकायुक्त द्रव्य १२.६ प्रतिशत, विलेय द्रव्य ३. ७ प्रतिशत पाये गये हैं। पृथक् २ पुटों की लोहभस्म में पाये जाने वाले द्रव्यों की तालिका को देखने से पता लगता है कि लोहभस्म में उक्त परिवर्तन मर्दन द्वारा प्राप्त किये हुये विभिन्न औषधियों के योग से होता है। इसी लिये आयुर्वेद में यह पाया जाता है कि लोहभस्म जिस कार्य के लिये बनानी हो उससे सम्बन्ध रखने वाली औषधियों के साथ उसे पुट दे देते हैं। इसी लिये लोहभस्म-प्रकरण में वात, पित्त तथा कफहर गणों का तथा किरातादिगण आदि का उल्लेख पूर्णतः पाया जाता है। पुटों से न केवल लोह की भस्म ही होती है अपितु उसके अवशिष्ट दोष, जो लोहकणों के स्थूल रहने पर होते हैं, वे भी मिट जाते हैं। "पुटात् दोषविनाशः स्यात्पुटादेव गुणोदयः। म्रियते च पुटाल्लोहः पुटं तस्मात्समाचरेत्"। इसी तरह ग्रन्थान्तर में यह भी बताया है कि किस अवस्था में कितनी पुट की ताकत का लोह काम में लाना चाहिये। "दशादिशतपर्यन्तो गदे पुटविधिर्मतः। शतादिस्तु सहस्रान्तः पुटो देयो रसायने। वाजीकर्मणि विज्ञेयो दशादिशतपञ्च च"। विभिन्न प्रकार से लोह में गुण प्राप्त करने के लिए इसके तेरह संस्कार लिखे गये हैं।

जिनमें से मुख्य भानुपाक, स्थालीपाक तथा पुटपाक माने गये है और ये ही प्रायः किये जाते हैं ॥११५—११७॥

तीक्ष्णलोहस्य विशेषमारणम्—

अथ पूर्वोदितं तीक्ष्णं वसुभल्लकवासयोः।
पुटितं पत्रतोयेन त्रिंशद्वाराणि यत्नतः॥
शोणितं जायते भस्म कृतसिंदूरविभ्रमम्॥ ११८॥

पूर्वोक्त प्रकार से चूर्ण किये हुए तीक्ष्णलोह को श्वेतपुनर्नवा तथा वासापत्र-स्वरस में मर्दन कर शरावसंपुट में बन्द करके गजपुट में फूंक देवें। इस प्रकार तीस बार गजपुट देने से तीक्ष्णलोह की सिंदूर से भ्रम पैदा करने वाली अर्थात् सिंदूर के वर्ण की भांति लाल भस्म हो जाती है ॥११८॥

मतान्तरम्—

यद्वा तीक्ष्णदलोद्भूतं रजश्च त्रिफलाजलैः।
पिष्ट्वा दत्त्वौदनं किञ्चिच्चक्रिकां प्रविधाय च॥ ११९॥
शोषयित्वाऽतियत्नेन प्रपचेत्पञ्चभिः पुटैः।
रक्तवर्णं हि तद्भस्म योजनीयं यथातथम्॥ १२०॥

अथवा तीक्ष्णलोह के चूर्ण में चूर्ण से चतुर्थांश भात या भात का माण्ड मिला त्रिफलाकषाय से मर्दन कर टिकिया बना सुखा कर संपुट में बन्द करके पांच गजपुट दें तो इसकी लालरंग की भस्म बन जाती है। इसको आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाना चाहिये ॥ ११९—१२०॥

मतान्तरे सर्वलोहानां मारणम्—

मत्स्याक्षीगन्धवाह्लीकैर्लकुचद्रवपेषितैः।
विलिप्य सकलं लोहं मत्स्याक्षीकल्कलेपितम्॥ १२१॥
भस्त्राभ्यां सुदृढं ध्मात्वा त्रिशूलीनिर्गमावधि।
अथोद्धृत्य क्षिपेत्काथे त्रिफलागोजलात्मके॥ १२२॥
तस्मादाहृत्य सन्ताड्य मृतमादाय लोहकम्।
पुनश्च पूर्ववद् ध्मात्वा मारयेदखिलायसम्॥ १२३॥
खण्डयित्वा ततो गन्धगुडत्रिफलया सह।
पुटेत् त्रिंशतिवाराणि निरुत्थं भस्म जायते॥ १२४॥

मत्स्याक्षी (शालिञ्च मछेछी) गन्धक, वाह्लीक (केसर या हींग) इनको समभाग में लोहपत्र के बराबर (सम मिला कर) लेकर बड़हल के रस में घोंट कर इस से तीक्ष्ण आदि किसी लोह-पत्रों पर लेप करके सुखा लें फिर इन पत्रों को मछेछी के कल्क (लुगदी) में बन्द कर भट्टी में कोयले के बीच में रख दें। इस भट्टी के दोनों तरफ नीचे दो धौंकनी लगा कर तब तक तीव्र अग्नि धौंकें जब तक दोनों तरफ की अग्नि एक होकर अग्निज्वाला का वर्ण लाल फिर पीला और अन्त में नीला दीखने लगे। पश्चात् इन लोहपत्रों को चीमटे से पकड़ कर बाहर निकाल तत्काल ही त्रिफलाकषाय तथा गोमूत्र में बुझावा दें। फिर त्रिफलाकषाय से तत्काल निकाल लोह खरल में लोह मूसली से चूर्ण होने तक कूटें जब तक कि सूक्ष्म चूर्ण न हो जाय। पुनः इस चूर्ण को मछेछी कल्क में बन्द कर उक्तविधि से धौंकनी द्वारा तपावें। पश्चात् इस चूर्ण को सम-भाग शुद्ध गन्धक के साथ गुड़ तथा त्रिफलाकषाय से घोट कर गजपुट में फूंक दें। इस प्रकार तीस पुट देने से लोह की निरुत्थ (पुनर्जीवित न होने वाली) भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में यह विधि संक्षिप्त तथा सरल करके लिखी है कि लोहपत्रों को गरम करके सौ वार त्रिफला-कषाय में बुझावें जब अच्छी तरह चूर्ण हो जाय तो फिर इस चूर्ण को त्रिफलाकषाय तथा गोमूत्र में स्थालीपाक विधि से पकावें पश्चात् मछेछी तथा त्रिफलाकषाय में इसको घोटकर निरुत्थ होने तक पुट दें। अन्त में एक पुट घृत तथा मधु से दें तो लोह की उत्तम भस्म बन जाती है ॥ १२१—१२४॥

मतान्तरम्—

समगन्धमयश्चूर्णं कुमारीवारिभावितम्।
पुटीकृतं कियत्कालमवश्यं म्रियते ह्ययः॥ १२५॥

अथवा शुद्ध लोहचूर्ण को समभाग शुद्ध गन्धक के साथ घीकुआर के रस में मर्दन कर सुखाकर शरावसंपुट में बन्द करके कुछ (आठ या दश) पुट दें तो लोह की भस्म अवश्य हो जाती है।

विशेष वचन—कुछ पुटों से अभिप्राय लोहभस्म होने तक है। रसप्रकाशसुधाकर में यह विधि इस तरह लिखी है कि "समभाग शुद्धगन्धक तथा लोहचूर्ण को कुमारीरस से मर्दन कर गोला-सा बना लोहपात्र में रख चिरकाल तक छाया में रख देने से लोहभस्म हो जाती है" ॥ १२५॥

मतान्तरम्—

जम्बीररससंयुक्ते दरदे तप्तमायसम्।
बहुवारं विनिक्षिप्तं म्रियते नात्र संशयः॥ १२६॥

जम्बीरी नीबू के रस में लोहचूर्ण से बारहवां भाग हिंगुल घोट-कर घोल बना लें उसमें कम से कम इक्कीस बार लोहपत्र को गरम करके बुझाने से लोह की भस्म हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं!

विशेष वचन—यद्यपि इस विधि में पुट देने का विधान नहीं बताया गया है तथापि उक्त द्रव्यों के साथ लोह को दो तीन पुट अवश्य देनी चाहिये॥ १२६॥

मतान्तरम्—

गोमूत्रैस्त्रिफला क्वाथ्या तत्कषायेण भावयेत्।
त्रिसप्ताहं प्रयत्नेन दिनैकं मर्दयेत्पुनः॥ १२७॥
रुद्ध्वा गजपुटे पच्याद्दिनं क्वाथेन मर्दयेत्।
दिवा मर्द्यं पुटेद्रात्रावेकविंशद्दिनावधि॥
एकविंशत्पुटैरेवं म्रियते त्रिविधं ह्ययः॥ १२८॥

गोमूत्र में त्रिफला का कषाय बनाकर उससे तीन सप्ताह तक शुद्ध लोहचूर्ण की भावना दें अर्थात् लोहचूर्ण में चूर्ण को तर करने योग्य त्रिफलाकषाय डाल घोट कर सुखावें इस प्रकार इक्कीस दिन तक करें। पश्चात् इस चूर्ण को उक्त कषाय के साथ एक दिन मर्दन कर सुखा के संपुट में बन्द कर गजपुट में फूंक दें। दूसरे दिन पुनः उक्त कषाय में मर्दन कर रात्रि में गजपुट दें। इस प्रकार दिन में कषाय से मर्दन कर सुखा कर रात्रि में पुट में फूंकें। इस तरह इक्कीस पुट दें। केवल इन इक्कीस पुटों से ही तीनों प्रकार की लौहों की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—गोमूत्र में कषाय बनाने के लिये त्रिफला लोहचूर्ण के बराबर लेकर अठगुने गोमूत्र में पकाकर चतुर्थांश शेष रखा जाता है। यही नियम सब भावनाओं में कषाय के विषय में समझना चाहिये।

निरुत्थ भस्म की परीक्षा के लिये सर्वलोहों को मित्रपञ्चक (शहद, घी, रत्तियां, सुहागा तथा गूगल) से मिलाकर धौंकनी से धौंक कर पकाना चाहिये। यदि इस प्रकार से लोह न जिये या अग्नि से अपने स्वरूप में न आये तो उसे निरुत्थभस्म कहा जाता है। भस्म की मृतामृत परीक्षा आयुर्वेदप्रकाश में इस तरह लिखी है कि, लोहभस्म मधु, घृत तथा रजत इनको एकत्र संपुट में बन्द कर कोष्ठी में तीव्र अग्नि से तपावें। यदि तपाने पर चांदी का मान (तोल) न घटे तो ठीक भस्म अन्यथा अशुद्ध भस्म समझनी चाहिये। ग्रन्थान्तर में लोहभस्म की शक्ति बढ़ाने के लिये अमृतीकरण का भी विधान पाया जाता है जिससे उसमें सर्वरोगनाशक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। लोहभस्म से द्विगुण या समभाग त्रिफलाकषाय में भस्म को डालकर घोटकर मध्यम अग्नि से पकावें तो उसका अमृतीकरण हो जाता है। ॥ १२७–१२८ ॥

तीक्ष्णलोहद्रावणम्—

त्रिःसप्तकृत्वो गोमूत्रे जालिनीभस्म भावितम्।
शोषयेत्तस्य तापेन तीक्ष्णं मूषागतं द्रवेत्॥ १२९॥

जालिनी (कड़वी तोरई) की भस्म (क्षार) को इक्कीस बार गोमूत्र में भावना देकर धूप में सुखा लें। फिर एक दृढ मूषा में इस भस्म (भावितक्षार) को रख और उस पर तीक्ष्णलोह डालकर तपावें तो लोह की द्रुति हो जाती है। अथवा कड़वी तोरई के क्षार जल से इक्कीस भावना युक्त तीक्ष्णलोह को गोमूत्र में डालकर धूप में सुखा लें पश्चात् उक्त क्षार को मूषा में रख लोह के साथ पिघलावें तो लोह द्रव रूप हो जाता है॥ १२९॥

मतान्तरे द्रावणम्—

सुरदालिभस्म गलितं त्रिःसप्तकृत्वोऽथ गोजले शुष्कम्।
तापेन सलिलसदृशं करोति मूषागतं तीक्ष्णम्॥ १३०॥

सुरभिदालि (बन्दाल) के क्षार को गोमूत्र में इक्कीस भावना देकर सुखा लें पुनः एक दृढ मूषा में तीक्ष्ण लोहचूर्ण डाल तीव्र अग्नि से तपावें और उक्त गोमूत्रभावित क्षार को थोड़ा २ करके डालते जांय तो तीक्ष्णलोह जल के सदृश द्रव हो जाता है॥१३०॥

लोहप्रयोगः—

एतत् स्यादपुनर्भवं हि भसितं लोहस्य दिव्यामृतं
सम्यक् सिद्धरसायनं त्रिकटुकी वेल्लाज्यमध्वन्वितम्।
हन्यान्निष्कमितं जरामरणजव्याधींश्च सत्पुत्रदं
दिष्टं श्रीगिरिशेन कालयवनोद्भूत्यै पुरा तत्पितुः॥१३१

पूर्वोक्त विधि से बनाई हुई लोह की अपुनर्भव (फिर न जीने वाली) भस्म स्वर्गीय अमृत के समान विशेष गुणकारक होती है। यह सिद्ध रसायन है। इसको योग्य मात्रा में लेकर सोंठ मिर्च तथा पीपल के चूर्ण के साथ शहद तथा घृत मिलाकर तीन मासा मात्रा में सेवन किया जाय तो यह जरा, मृत्यु तथा सर्व रोगों को नष्ट करती है और शरीर में धातु की पुष्टि करती हुई योग्य सन्तान (पुत्र) उत्पन्न करने की शक्ति उत्पन्न करती है। इस योग को द्वापरयुग के असुरराज काल-यवन की उत्पत्ति के लिये उसके पिता को श्रीमहादेव ने बताया था॥ १३१ ॥

कान्तलोहस्य रामराजीप्रोक्तशोधनम्—

यत्पात्राध्युषिते तोये तैलबिन्दुर्न सर्पति।
तारेणाऽऽवर्तते यत्तत्कान्तलोहं तनूकृतम्॥ १३२॥
अयसामुत्तमं सिक्त्वं तप्तं तप्तं वरारसे।
एवं शुद्धानि लोहानि पिष्टान्यम्लेन केनचित्॥ १३३॥
मृतसूतस्य पादेन प्रलिप्तानि पुटानले।
पचेत्तुल्येन वा ताप्यगंधाश्महरतेजसा॥ १३४॥
तप्तं क्षाराम्लसंलिप्तं शशरक्तेन भावितम्।
कांतलोहं भवेच्छुद्धं सर्वदोषविवर्जितम्॥ १३५॥

जिस लोह के पात्र में रखे हुये जल में डाली हुई तैल की बूंद न फैले और जिस लोह को रजत (चांदी) के साथ मिलाया जा सकता हो उसे कान्तलोह कहते हैं। इस लक्षणयुक्त सर्वोत्तम कान्तलोह के सूक्ष्म पत्र बनाकर गरम करके त्रिफलाकषाय में अनेक बार बुझावें फिर किसी काञ्जी, जंबीररस, नीबूरस आदि अम्लद्रव के साथ लोह से चतुर्थांश पारदभस्म (रसशिन्दूर) को पीस कर उस कल्क से पत्रों पर लेप करके साधारण पुट दें अथवा लोहचूर्ण के समान भाग स्वर्णमाक्षिक, शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध पारद को किसी अम्ल से मर्दन कर इस कल्क को लोहपत्रों पर लेप करके साधारण पुट दें या अग्नि में तपावें। पश्चात् यवक्षार टंकण तथा किसी अम्ल से उन पर लेप करके सात दिन तक खरगोश के रक्त में रखें बाद को गरम जल से धोकर साफ करलें तो कान्तलोह सर्वदोषरहित, शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—किसी २ पुस्तक में "शशरक्तेन भावितम्" के स्थान पर "शशरक्ते निधापितम्" और "शुद्ध" के स्थान पर "भस्म" पाठ मिलता है॥ १३२–१३५ ॥

सर्वविधलोहानां रामराजीप्रोक्तमारणम्—

शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं खल्लेन कृतकज्जलम्।
द्वयोः समं लोहचूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥ १३६ ॥
यामद्वयात्समुद्धृत्य तद्गोलं ताम्रपात्रके।
आच्छाद्यैरंडपत्रैश्च यामार्धेऽत्युष्णतां व्रजेत् ॥ १३७ ॥
धान्यराशौ न्यसेत्पश्चात्त्रिदिनांते समुद्धरेत्।
संपेष्य गालयेद्वस्त्रे सत्यं वारितरं भवेत् ॥
कांतं तीक्ष्णं च मुंडं च निरुत्थं जायते मृतम् ॥ १३८ ॥
स्वर्णादीन्मारयेदेवं चूर्णं कृत्वा च लोहवत्।
सिद्धयोगो ह्ययं ख्यातः सिद्धानां सुमुखागतः ॥ १३९ ॥
अनुभूतं मया सत्यं सर्वरोगजरापहम्।
त्रिफलामधुसंयुक्तं सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ १४० ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग दोनों एकत्र खरल में डाल कर मर्दन कर कज्जली बना लें। फिर इन दोनों के बराबर अर्थात् तीन भाग लोहचूर्ण लेकर सब को मिला घीकुमारी के रस में दोपहर तक अविच्छिन्न रूप से घोट कर गोला बना लें। इस गोले पर एरण्डपत्र लपेट दें और उसे डोरे से बांध दें। अब उस गोले को तांबे के पात्र (ताम्र सम्पुट) में रख कर अग्नि में या तीव्र सूर्यकिरणों की धूप में रख दें। यह आधे पहर (१½ घंटा) में अत्यन्त गरम हो जाता है। फिर इसे तीन दिन तक धान्यों के ढेर में दबायें और पश्चात् निकाल कर अच्छी तरह खरल में मर्दन करें और कपड़े से छान लें। यह जल पर तरने वाली भस्म होती है। इस प्रकार से कान्त, तीक्ष्ण तथा मुण्ड लोह की निरुत्थ भस्म हो जाती है। इसी विधि से स्वर्णादि अन्य धातुओं का भी चूर्ण करके पारद, गन्धक के साथ मर्दन कर भस्म बनाई जाती है। सिद्ध मनुष्यों के मुख से निकला हुआ यह सिद्ध योग प्रसिद्ध है। इसको मैंने अनुभव में लिया है और सत्य पाया है कि यह (भस्म) सर्वरोग तथा जरा (बुढ़ापा) नाशक है। इसको सब रोगों में त्रिफलाचूर्ण तथा मधु के साथ दिया जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इस लोह भस्म को सोमामृत अथवा स्वयमग्नि या निरग्नि लोहभस्म के नाम से लिखा गया है। अग्नि-संयोग के बिना ही लौह की भस्म होने में साधारणतः कुछ आश्चर्य-सा होता है। परन्तु यदि धात्वादियों के संयोगजन्य रासायनिक परिवर्तन का मनन किया जाय तो यह कुछ आश्चर्य जनक नहीं है। यह पहिले बताया था कि पारद ही एक ऐसी चीज है जो धातुओं की अत्यन्त घनावस्था को शिथिल कर देता है अतः उक्त लोह में पारद से लौह के परमाणु शिथिल होकर उन पर इतना दबाव पड़ता है कि साथ में दिये हुए गंधक के परमाणु लौह धातु के परमाणु के निकट पहुँच जाते हैं ऐसी अवस्था में यदि उष्मीकरण को उद्दीप्त करने के लिये उसमें कुमारीरस मिला दिया जाता है जो रगड़ से उसमें उद्भिद् क्रिया आरम्भ करके उत्ताप को बढ़ा देता है जिससे बिना किसी प्रत्यक्ष दर्शन के खरल में रासायनिक योग होने लगता है। यह ऊष्मीकरण घर्षण के साथ बढ़ता जाता है जिसका परिणाम यह होता है कि उत्ताप की मात्रा शतांश से ऊपर जाने पर धातु में रासायनिक परिवर्तन आरम्भ हो जाता है और लौह के परमाणु गन्धक के परिमाणुओं से मिल कर लौह गन्धित् के अणु बनने लगते हैं। धान्य-राशि में दबाने पर उत्ताप वृद्धि ३५७ श. से ऊपर हो जाने से पारद उड़ने लगता है। ४४० श. पर बहुत कुछ उड़ जाता है। केवल गन्धक ही कुछ अनुपात से परमाणुओं में मिला होता है जिससे लोह का अत्यन्त सूक्ष्म और रक्त वर्ण चूर्ण हो जाता है।

आयुर्वेद प्रकाश में इसके निर्माण में गोलक बनाकर ताम्रपात्र में रख एरण्डपत्रों से ढांप कर दोपहर तक तीव्र धूप में रखने के लिये लिखा है। इस विधि से उत्ताप की वृद्धि में सहायता होने से शीघ्र और अच्छी तरह लोह की भस्म बन सकती है ॥ १३६—१४० ॥

लौहानां रामराजीप्रोक्तगुणाः—

लोहं जंतुविकारपाण्डुपवनक्षीणत्व पित्तामय-
स्थौल्यार्शोग्रहणीज्वरार्तिकफजिच्छोफप्रमेहप्रणुत्।
गुल्मप्लीहविषापहं बलकरं कुष्ठाग्निमांद्यप्रणुत्
सौख्यालंबि रसायनं मृतिहरं कान्तादिकं किट्टवत् ॥ १४१ ॥
मृतानि लोहानि रसीभवंतो
निघ्नन्ति युक्तानि महामयांश्च।
अभ्यासयोगाद् दृढदेहसिद्धिं
कुर्वन्ति रुग्जन्मजराविनाशम् ॥ १४२ ॥

लोहभस्म उदरकृमि, पाण्डु रोग, वातक्षय, पित्तरोग, स्थूलता, अर्श, ग्रहणी, ज्वर तथा कफनाशक और शोथ, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा तथा विष को दूर करती है। शरीर में बल की वृद्धि करती है तथा कुष्ठ (त्वचा रोग) रोग अग्निमान्द्य को मिटाती है। इसी प्रकार यह रसायन और अकालमृत्युहर है। यही गुण कान्त, तीक्ष्ण तथा मुण्ड लौहों के और उनके किट्टों (मण्डूर) के भी माने जाते हैं। भस्म हुये लोह धातु पारद के समान गुणकारी होते हैं। प्रयोग करने से यह भयंकर रोगों को नष्ट करते हैं। इनकी भस्म निरन्तर प्रयोग करने से शरीर को अत्यन्त दृढ़, रोगों के आक्रमणों से सुरक्षित बना देती है। और शरीर में रोग होने की प्रवृत्ति तथा जरा का ह्रास करती है ॥ १४१—१४२ ॥

उत्तमकान्तलौहस्य लक्षणम्—

पक्वजंबूफलच्छायं कांतलोहं तदुत्तमम् ॥ १४३ ॥

पके हुये जामुन फल के समान काला और चमकदार वर्ण का कान्तलौह उत्तम माना जाता है ॥ १४३ ॥

कान्तलौहस्य विशेषमारणम्—

त्रिःसप्तवारं तत्तारकापालकांतहतिर्भवेत् ॥ १४४ ॥
सुरदालिभवं भस्म नरमूत्रेण मर्दितम्।

सुरभिदाली (वन्दाल) की भस्म, १ भाग नरमूत्र आठ भाग

में घोल कर इक्कीस बार छान लें। फिर इसको एक स्वच्छ कड़ाई में डाल कर जल भाग उड़ने तक पकावें। इस क्रिया से देवदाली का क्षार प्राप्त होगा। अब कान्तलोह को पिघला कर उसमें उक्त क्षार का प्रक्षेप डालने से लोह की भस्म या द्रुति हो जाती है।

विशेष वचन—कोई वैद्य इक्कीस बार छाने हुये वन्दालभस्म युक्त पुरुषमूत्र में (जिसमें वन्दाल का क्षार घुल जाता है) कुछ दिन तक कान्तलौह को भिगोये रखने को कहते हैं। अन्यत्र इस विधि को कान्तलौह की द्रुति के लिये प्रयोग किये जाने को लिखा है। और वहाँ "कान्तहतिः" के स्थान पर "कान्तद्रुतिः" पाठ है। द्रुति बनानी हो तो कान्त को पिघला कर उसमें क्षार डालना चाहिये। यदि भस्म बनानी हो तो लोह के गल जाने पर उसको एक पुट देकर पुनः जल में घोल दें और स्वच्छ जल को नितार लें जिससे क्षारीय अंश निकल जाय फिर उसे सुखा कर काम में लाना चाहिये ॥ १४४ ॥

अष्टलोहानां द्रावणम्—

गंधकं कांतपाषाणं चूर्णयित्वा समं समम्।
द्रुते लोहे प्रतीवापो देयो लोहाष्टकं द्रवेत् ॥ १४५ ॥

उक्त लोहाष्टक में से जिस धातु का द्रावण करना हो उसके समभाग शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध कान्त पाषाण (चुम्बक पत्थर) का चूर्ण करले, अब धातु को पिघला कर उसमें गन्धक और कान्तपाषाण चूर्ण का प्रक्षेप डालने से लोह की द्रुति हो जाती है॥

मतान्तरम्—

देवदाल्या द्रवैर्भाव्यं गंधकं दिनसप्तकम्।
तेन प्रवापमात्रेण लोहं तिष्ठति सूतवत् ॥ १४६ ॥

देवदाली (वन्दाल) के स्वरस से गन्धक को सात भावना देकर सुखा लें। पश्चात् लोह को पिघला कर उसमें समभाग उक्त देवदाली-रस-भावित गन्धक डालने से लोह पारद के समान पतला हो जाता है।

विशेष वचन—"लोहं तिष्ठति सूतवत्" के स्थान पर "लोहास्तिष्ठन्ति सूतवत्" ऐसा पाठ होने पर यह द्रावणविधि सब लोहों की मानी जाती है ॥ १४६ ॥

अथ मण्डूरः।

मण्डूरशोधनम्—

अक्षाङ्गारैर्धमेत्किट्टं लोहजं तद्गवां जलैः।
सेचयेदक्षपात्रान्तः सप्तवारं पुनः पुनः ॥
मंडूरोऽयं समाख्यातश्चूर्णं श्लक्ष्णं प्रयोजयेत् ॥ १४७ ॥

लोहकिट्ट (मण्डूर) को बहेड़े की लकड़ी के कोयलों की तीव्र अग्नि में तपा तपा कर बहेड़े के पात्र में रखे हुए गोमूत्र में सात बार बुझाने से मण्डूर शुद्ध हो जाता है। पुनः इसको गोमूत्र से निकाल सुखा तथा पीस कर कार्य में लाना चाहिये।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में गोमूत्र में आठ बार तपा २ कर बुझाने का विधान है। यहाँ पर मण्डूर को शोधन करके ही प्रयोग करने को बताया गया है परन्तु यदि उक्त विधि से शुद्ध मण्डूरचूर्ण को त्रिफलाक्वाथ से भावना देकर दो चार पुट देदी जायँ तो यह उत्तम होगा यही प्रथा चली आती है। इस क्रिया से मण्डूर में गुण भी अधिक हो जाते हैं। शार्ङ्गधर में शुद्ध मण्डूर को द्विगुण गोमूत्र में आलोड़ित कर कड़ाही में तीव्र अग्नि से भर्जन करना (भूनना) बताया गया है। भर्जन करते समय लौहदण्ड से दृढ़ मर्दन करते रहना चाहिये। कम से कम आठ बार भर्जन करके ही प्रयोग करना अच्छा है।

मण्डूर लोहे की मैल होती है जो लोहे के पत्थरों को गरम करते समय लोहे से निकलती है। यह मैल मुण्डलोह से अधिक प्राप्त होती है। ग्रन्थान्तर में उत्तम, मध्यम और अधम भेद से इसको तीन प्रकार का माना है। सौ वर्ष से अधिक पुराना उत्तम, अस्सी वर्ष का पुराना मण्डूर मध्यम और साठ वर्ष का मण्डूर अधम माना जाता है। इससे कम वर्ष के मण्डूर को विषवत् त्याज्य माना है। मुण्ड की भांति यह तीक्ष्णलोह तथा कान्तलोह से भी प्राप्त होता है। कुछ रक्तवर्ण गुरुभार स्निग्ध मण्डूर मुण्ड का मैल कहा जाता है। अञ्जन के समान कृष्णवर्ण गुरुभार, गर्त और कोटर रहित मण्डूर तीक्ष्ण का मैल माना जाता है। कान्त से उत्पन्न होने वाला मण्डूर पिंगलवर्ण, रूक्ष, अत्यन्तगुरुभार, कोटर रहित, कुछ दीर्घ खण्डवाला होता है। इसको यदि काटा जाय तो यह भीतर से पारद के समान चमकीला होता है। संक्षेपतः औषधिव्यवहार में सौ वर्ष का पुराना, गुरुभार, दृढ़, स्निग्ध, कोटर रहित तथा बहुत पुरानी ऊजड़ बस्तियों तथा शहरों के आस-पास पाया जाने वाला मण्डूर लिया जाता है ॥ १४७ ॥

मतान्तरम्—

गोमूत्रैस्त्रिफला काथ्या तत्क्वाथे सेचयेच्छनैः।
लोहकिट्टं सुसंतप्तं यावज्जीर्यति तत्स्वयम्।
तच्चूर्णं जायते पेष्यं मंडूरोऽयं प्रयोजयेत् ॥ १४८ ॥

गोमूत्र में त्रिफला डालकर बनाये हुये कषाय में मण्डूर को अग्नि में खूब गरम कर जब तक कि वह स्वयं चूर्ण रूप न हो जाय बुझाते रहने से इसका चूर्ण हो जाता है। इसको सुखा पीस कर कार्य में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—यहाँ पर भी त्रिफलाकषाय में घोट कर दो तीन पुट दे दी जायँ तो उत्तम होगा। मण्डूर को बुझाने के लिये त्रिफला का गोमूत्र में बनाया हुआ कषाय द्विगुण होना चाहिये।

लौहमण्डूरयोस्तुल्यगुणत्वनिर्देशः—

ये गुणा मारिते मुण्डे ते गुणा मुण्डकिट्टके।
तस्मात्सर्वत्र मण्डूरं रोगशांत्यै प्रयोजयेत् ॥ १४९ ॥

जो गुण भस्म किये हुये मुण्डलौह में हैं वे ही गुण मुण्ड के किट्ट अर्थात् मण्डूर में होते हैं। इसलिये सर्वत्र रोगशान्ति के लिये मण्डूरभस्म का प्रयोग करें।

विशेष वचन—यहाँ पर मुण्डलौह का कथन लौहमात्र का उपलक्षण समझना चाहिये। अतः तीक्ष्णलौह और कान्तलौह से प्राप्त होने वाले मण्डूर में भी तीक्ष्ण तथा कान्तलौह के सदृश गुण समझने चाहिये। अन्यत्र कहा भी है "यस्य लोहस्य ये प्रोक्ताः तत्किट्टमपि तद्गुणम्।" मण्डूर और लोह के गुणसादृश्य से यह अभिप्राय नहीं है कि लौहभस्म का प्रयोग व्यर्थ है। जहाँ मण्डूर के प्रयोग का विधान हो वहाँ मण्डूर का प्रयोग होना ही चाहिये। परन्तु जहाँ लोह का प्रयोग लिखा हो और लौहभस्म की प्राप्ति न हो सके तो वहाँ मण्डूर का प्रयोग करा सकते हैं॥ १४९॥

अथ मण्डूरस्य मण्डूरलौहानामुत्तरोत्तरगुणाधिक्यम्—

किट्टाद्दशगुणं मुण्डं मुण्डात्तीक्ष्णं शतोन्मितम्।
तीक्ष्णाल्लक्षगुणं कान्तं भक्षणात्कुरुते गुणान्।
तस्मात्कान्तं सदा सेव्यं जरामृत्युहरं नृणाम्॥ १५०॥

मण्डूर की अपेक्षा दश गुणा अधिक मुण्डलौहभस्म, मुण्ड से सौ गुणा अधिक तीक्ष्णलौहभस्म तथा तीक्ष्णलौहभस्म से लाख गुणा अधिक कान्तलौहभस्म खाने से गुण करती है। इसलिये जरा तथा अकाल मृत्यु को हरण करने वाली कान्तलौहभस्म सदा सेवन करनी चाहिये॥ १५०॥

अशुद्धलौहस्य ग्रन्थान्तरोक्तदोषाः—

अशुद्धलोहं न हितं निषेवणादा-
युर्बलं कांतिविनाशि निश्चितम्।
हृदि प्रपीडां तनुते ह्यपाटवं
रुजं करोत्येव विशोध्य मारयेत्॥ १५१॥

अशुद्ध लौह सेवन करने में लाभदायक नहीं होता है। किन्तु इसके सेवन करने से आयु, बल तथा कान्ति का निश्चित विनाश होता है। इससे हृदय में पीड़ा, शरीर में शिथिलता तथा अनेकविध रोग होने की अवश्य सम्भावना रहती है। अतः इसको शोधन करके भस्म करना चाहिये॥ १५१॥

शुद्धलौहस्य ग्रन्थान्तरोक्तगुणाः—

आयुष्प्रदाता बलवीर्यकर्ता
रोगप्रहर्ता मदनस्य कर्ता।
अयःसमानं न हि किञ्चिदन्य
द्रसायनं श्रेष्ठतमं हि जन्तोः॥ १५२॥

लौह (भस्म) आयु देने वाला, शरीर में बलवीर्यकारक, रोगनाशक और कामोत्तेजक है। लौह की भस्म के समान अन्य कोई रसायन मनुष्य के लिये उत्तम नहीं है॥ १५२॥

(इत्ययोऽधिकारः)

अथ वंगम्।

वंगस्य द्वैविध्यम्—

खुरकं मिश्रकं चेति द्विविधं वंगमुच्यते।
खुरं तत्र गुणैः श्रेष्ठं मिश्रकं न हितं मतम्॥ १५३॥

१—खुरक और २—मिश्रक भेद से वंग दो प्रकार होता है। इनमें खुरक वङ्ग गुणों में उत्तम और मिश्रक वङ्ग हीनगुण होता है। अतः यह औषधि कार्य में हितकर नहीं है॥

खुरकवङ्गलक्षणम्—

धवलं मृदुलं स्निग्धं द्रुतद्रावं सगौरवम्।
निःशब्दं खुरवंगं स्यात्—

खुरकवङ्ग श्वेतवर्ण कोमल स्निग्ध शीघ्र पिघलने वाला गुरुभार तथा पत्थर या लोहे से टकराने पर शब्द नहीं करता है। अथवा तपा कर औषधियों के रस में बुझाने पर अधिक शब्द नहीं करता है।

मिश्रवङ्गलक्षणम्—

—मिश्रकं श्यामशुभ्रकम्॥ १५४॥

मिश्रकवङ्ग श्वेत कृष्णवर्ण युक्त तथा कठोर और अस्निग्ध आदि गुण युक्त होता है।

विशेष वचन—रसार्णव में श्वेत, कृष्ण विभेद से वङ्ग के दो भेद किये हैं। किन्तु वङ्ग की उत्तमता में अन्यत्र लक्षणों में कुछ भेद है—जैसा कि रसकामधेनु में कहा है "सितं लघु मृदु स्निग्धमुत्तमं वंगमुच्यते।" मिश्रकवङ्ग में धात्वन्तर संयोग होने से शब्द होता है और वह देर से पिघलता है, देखने में यह धूसरवर्ण होता है। बाजार में भी प्रायः दो प्रकार का रांगा पाया जाता है। एक पत्रों वाला जिसे पंसारी लोग दुकान में गुच्छे के रूप में टांगे रखते हैं और कलई करने के काम आता है। और यह "पद्म-खुरी" रांगा के नाम से मिलता है। दूसरा ढाला हुआ कठिन श्वेत कृष्ण वर्ण का मोटा रांगा होता है।

वङ्ग का स्वरूप व प्राप्ति—वङ्ग या कली चांदी के सदृश श्वेत चमकीली धातु है। वह यशद की अपेक्षा मृदु तथा शीशक की अपेक्षा कुछ कठोर है। वह २३२ शतांश की गर्मी पर पिघलने लगती है और २२७० शतांश पर वाष्प बनकर उड़ने लगती है। इसका Atomic weight 118.7 है। यह बात कई बार वैद्यों को देखने में आई होगी कि हरताल आदि के साथ वङ्ग को गजपुट देने पर उसमें कुछ नहीं मिला होगा। यद्यपि वङ्ग सायबेरिया बोलविया में न्यूनाधिक शुद्ध रूप में भी मिल जाता है। तथापि अधिकांश में यौगिक रूप में ही पाया जाता है। यह नैसर्गिक रूप में ओषजन से मिला हुआ पत्थरों (जिनमें गन्धक, संखिया, लौह, तांबा आदि की अशुद्धियां होती हैं) के रूप में मिलता है। इन पत्थरों को चारकोल के साथ गरम करके वङ्ग को पृथक् किया जाता है॥ १५४॥

वंगगुणाः—

वङ्गं तिक्तोष्णकं रूक्षमीषद्वातप्रकोपणम्।
मेहश्लेष्मामयघ्नं च मेदोघ्नं कृमिनाशनम्॥ १५५॥

वंग की भस्म तिक्तरस, गरम (हरताल के योग से की गई भस्म) और रूक्ष है। कोष्ठ में वात का प्रकोप करती है। प्रमेह और श्लेष्मा के रोगों की नाशक है। मेद तथा क्रिमि रोग को दूर करती है।

विशेष वचन—वंगभस्म अन्तःप्रयोग में शरीर के बहुमूत्र, शुक्रमेह, श्वेतप्रदर आदि अनेक स्रावों को बंद करती है अतः ग्राही है। स्राव की भांति स्वेदाधिक्य को भी मिटाती है अतः स्वेदहर है। इसी तरह शरीर के किसी भाग से होने वाले अतिशय स्राव तथा योनिमार्ग के स्रावों को भी दूर करती है। मूत्र तथा उत्पादक अंगों के लिये वंग का बल्य प्रभाव होता है। वंग की भस्म श्वासनली में चिपकी हुई श्लेष्मा को शोषित करती है। सर्वांगीण तथा मानसिक वातिक दुर्बलता के लिये वंग उत्तम औषधि मानी जाती है। आजकल की खोज ने वंग को स्रावीपामा (एग्ज़ीमा) के लिए उत्तम निश्चित किया है। इसके लिये "टिन ऑक्सीन" नामक औषधि का प्रयोग बहुत लाभदायक होता है। शुद्ध वंगभस्म को गन्धक के साथ देने से भी उक्त गुण पाये जाते हैं। मधुमेह में वंग का शिलाजतु के साथ प्रयोग किया जाता है। अन्य मेह रोगों में भी वंग का शिलाजतु अभ्रक के साथ त्रिबंग सोमनाथरस आदि के रूप में प्रयोग होता है। शुक्रमेह तथा जननेन्द्रियों के नैर्बल्य में वंगेश्वर स्वर्णवंग आदि रस लाभदायक रहते हैं। इस प्रयोजन के लिये मूसली, सालिमभूसली, जायफल, कस्तूरी आदि के साथ भिन्न २ रूप में प्रयोग किया जाता है। अन्यत्र वंगभस्म के गुण कुछ विस्तृत रूप से लिखे पाये जाते हैं। "वंगं तीक्ष्णोष्णरूक्षं कफकृमिवमिजिन्मेहमेदोऽनिलघ्नम्। कासश्वासक्षयघ्नं प्रशमितहुतभुङ्मान्द्यमाध्मानदारि। बल्यं वृष्यं प्रभाकृन्मनसिजजनकं सर्वमेहप्रणाशि। प्रज्ञाकृद्वर्ण्यमुच्चैरलघुरतिरसस्यास्पदं बृंहणं च" ॥ १५५ ॥

खुरकवंगशोधनम्—

द्रावयित्वा निशायुक्ते क्षिप्तं निर्गुण्डिकारसे।
विशुद्ध्यति त्रिवारेण खुरवंगं न संशयः॥ १५६ ॥

खुरक वंग को एक लोहे की करछी (जिसका लम्बा डंडा हो) में डाल अग्नि में पिघला कर सम भाग हरिद्रा (हलदी) स्वरस तथा निर्गुण्डी (सभालू) स्वरस में बुझा दें। इस प्रकार तीन बार बुझाने से खुरक वंग शुद्ध हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं।

विशेष वचन—वंग को पिघला कर यों ही किसी खुले मुंह पात्र में रखे हुये जलीय द्रव निर्गुण्डीस्वरस आदि में डालने से यह उछल बाहर आता है और हाथ-मुंह आदि को जला देता है, साथ ही यदि पात्र मिट्टी का हो तो वह उसके उछलने से फूट जाता है। अतः जहाँतक हो सके धातवीय पात्र में निर्गुण्डी आदि का स्वरस डाल कर पात्र के मुख पर बीच में छिद्र युक्त भारी शराव अच्छी तरह टिका देना चाहिये। यदि पात्र को चारों तरफ ईंटों का आधार किया जाय तो और भी सुविधा रहती है, ग्रन्थान्तर में कहा भी है "नागवंगे च गलिते रविदुग्धेन सेचिते। त्रिवारं शुद्धिमायातः सच्छिद्रे हण्डिकान्तरे" ॥ १५६ ॥

मिश्रकवंगशोधनम्—

अम्लतक्रविनिक्षिप्तं वर्षाभूविषतिन्दुभिः।
कट्फलांबुगतं वंगं द्वितीयं परिशुद्ध्यति ॥ १५७ ॥

द्वितीय वंग अर्थात् मिश्रक वंग को पिघला कर एक बार अम्ल (खट्टा) तक्र में बुझावें, पुनः पुनर्नवा तथा कुचले के कषाय में बुझावें। पुनः तीसरी बार कायफलत्वक्-कषाय में पिघला कर बुझावें तो वह शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—कई वैद्य यह अर्थ करते हैं कि मिश्रक वंग तीन दिन अम्ल तक्र में, तीन दिन पुनर्नवा विषतिंदुकषाय में तथा फिर तीन दिन कट्फलकषाय में भिगो कर रखने से मिश्रवंग शुद्ध हो जाता है। परन्तु इस विधि में वंग के कठिन परमाणुओं पर अम्लादिद्रवों का पूर्ण प्रभाव नहीं हो सकता है अतः पिघला कर एक बार की अपेक्षा तीन २ बार बुझाना उत्तम रहेगा। अन्यत्र भी इसको स्पष्ट किया गया है। "पुनर्नवासिन्धुचूर्णविषयुक्तं प्रक्षालितम्। तक्रमध्ये त्रिवारं हि मिश्रं वंगं विशुध्यति"। रसेन्द्रचिन्तामणि में इस श्लोक में बहुत अधिक पाठान्तर देखा जाता है। "अम्लतक्रविनिष्पिष्टवर्षाभूविषसिन्धुभिः। कट्वलाबुगतं वंगं द्वितीयं परिशुद्ध्यति"। ग्रन्थान्तर में "विष" के स्थान पर "वृष" (अड़ूसा) पाठ भी मिलता है। "वंगं द्वितीयम्" के स्थान पर "वंगद्वितयं" अथवा "वंगं द्वितयं" ऐसा पाठ भी मिलता है।

नागवंगकांस्यताम्राणां सामान्यशोधनम्—

शुद्ध्यति नागो वंगो घोषो रविरातपेऽपि मुनिसंख्यैः।
निर्गुण्डीरससेकैस्तन्मूलरजःप्रवापैश्च ॥ १५८ ॥

निर्गुण्डी स्वरस में निर्गुण्डीमूलचूर्ण डालकर उसमें नाग (सीसा), वंग, घोष (कांसा) तथा रवि (तांबा) में से किसी एक धातु को पिघला अथवा पत्रों को गरम कर सात बार बुझाने से उक्त सब धातु शुद्ध हो जाते हैं॥ १५८ ॥

वंगमारणम्—

सतालेनार्कदुग्धेन लिप्त्वा वंगदलानि च।
बोधिचिंचात्वचःक्षारैर्दद्याल्लघुपुटानि च ॥
मर्दयित्वा चरेद्भस्म तद्रसादिषु शस्यते ॥ १५९ ॥

शुद्धवंग के बराबर शुद्ध हरताल लेकर मदार के दूध से पीस कर उसका लेप वंग के कंटकवेधी पात्रों पर कर दें, पश्चात् इन पात्रों को पीपल वृक्ष और इमली की त्वचा के क्षार में रखकर एक या दो लघु पुट दें तो इसकी भस्म हो जाती है। इसे पीस कर रख लें, रस आदि कार्य में प्रयोग करें।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में क्षार के स्थान पर पीपल की त्वचा का ही विधान लिखा है। हरताल को मदार के दूध से

पीस उसका वंगपत्रों पर लेप कर उनके बाहर सात बार पीपल की छाल अच्छी तरह लपेट कर पुट दी जायँ तो एक वार में भस्म हो जाती है। पीपल वृक्ष के क्षार को वंगपत्रों के नीचे ऊपर रख कर पुट देने से शीघ्र ही उत्तम भस्म हो जाती है। यदि पीपल का क्षार इतना प्राप्त न हो सके को इसकी त्वचा की स्वच्छ राख से भी भस्म बन जाती है। परन्तु पहिले हांडी में राख भरकर उसे खूब दबाकर कठिन कर लेना चाहिये फिर वंगपत्र रख पुट में देना चाहिये। वंगभस्म के लिये ग्रन्थान्तर में चिञ्चा (इमली) का इस विधि में प्रयोग कम पाया जाता है ॥ १५६ ॥

मन्तान्तरम्—

प्रद्राव्य खर्परे वंगं षोडशांशं रसं क्षिपेत् ।
स्वल्पस्वल्पाऽऽलकं दत्त्वा भारद्वाजस्य काष्ठतः ।
मर्दयित्वा चरेद्भस्म तद्रसादिषु कीर्तितम् ॥ १६० ॥

एक लोहे की दृढ़ कड़ाही या मिट्टी के दृढ़ कड़ाही नुमा पात्र में शुद्ध वंगपत्रों को डाल चूल्हे पर चढ़ा कर पिघलावें। वंग के पिघल जाने पर उसमें वंग से सोलहवां भाग शुद्ध पारद डाल कर जंगली कपास की लकड़ी से चलावें फिर उसमें थोड़ा-थोड़ा करके शुद्ध हरतालचूर्ण डालते हुये वन-कपास के डंडे से दृढ़ मर्दन करते जायँ जब तक कि उसकी भस्म न हो जाय। यह भस्म रस आदि कार्य में ली जाती है।

विशेष वचन—कड़ाही में वंग की भस्म बन जाने पर उसे एकत्र कर बीच में रख के ऊपर से एक शराव से ढक देना चाहिये और फिर तेज आँच से पकाना चाहिये (एक घंटे तक) पश्चात् अग्नि देना बन्द करके स्वांगशीत होने पर भस्म को निकाल जल में घोल दें और आठ दस घंटे एकान्त में रखदें, जब ऊपर स्वच्छ जल आ जाय उसे नितार कर फेंक दें, शेष भस्म को सुखाकर रखलें अथवा भांग के रस से घोटकर एक पुट दें तो यह उत्तम होता है ॥ १६० ॥

मतान्तरम्—

पलाशद्रवयुक्तेन वंगपत्रं प्रलेपयेत् ।
तालेन पुटितं पश्चान्म्रियते नात्र संशयः ॥ १६१ ॥

हरताल को पलास (ढाक) के मूलस्वरस से पीसकर उसका शुद्ध वंग पत्रों पर लेप करके सुखालें। फिर इन्हें एक शराव में रख सम्पुट में बन्द करके लघुपुट दें तो वंग की भस्म हो जाती है, इसमें सन्देह नहीं।

विशेष वचन—केवल वंगपत्रों को संपुट में रख पुट देने से वंगभस्म होने में सुविधा नहीं रहती है। अतः शराव में पहिले पलाशत्वक्भस्म अथवा इमलीत्वक्भस्म या पीपलत्वक्त्वभस्म भर कर उस पर पत्रों को रख ऊपर पुनः उक्त भस्म डाल अच्छी तरह दबा कर शराव का मुख बन्द करके पुट देने से भस्म होने की भी सुविधा रहेगी। इस प्रकार तीन चार पुट में अच्छी भस्म बन जाती है। जब वंगपत्र चूर्ण हो जायँ तो उनको हरताल के साथ पलाशमूलस्वरस से मर्दन कर टिकिया बना कर राख के बीच में रख पुट देना चाहिये ॥ १६१ ॥

मतान्तरम्—

भल्लाततैलसंलिप्तं वंगं वस्त्रेण वेष्टितम् ।
चिंचापिप्पलपालाशकाष्ठाग्नौ याति पञ्चताम् ॥ १६२ ॥

वंग के पत्रों को भिलावे के तेल से तर करके उनके बराबर वजन में स्वच्छ वस्त्र में लपेट कर गोला सा बना लें। फिर इस गोले को इमली, ढाक अथवा पीपल वृक्ष की लकड़ी की अग्नि में रख कर जलावें तो वंग की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—भिलावे का तेल निकालने की यह विधि है कि पहिले सम्पूर्णांग परिपक्व भिलावों को गोमूत्र में तीन दिन तक डालें, फिर उसमें से निकाल कर तीन दिन तक गोदुग्ध में रखें। पुनः दूध में से निकाल एक लोहे की शीशी या पात्र में भर कर पात्र के मुख पर एक छिद्रयुक्त शराव या ढक्कन लगा दें और कपड़मिट्टी कर दें। फिर जमीन में एक गढ़ा खोदकर (भल्लातकपूर्ण पात्र के आकार से ड्यौढ़ा) उसके बीच में एक छोटा-सा और गढ़ा खोदकर उसमें एक लोह का पात्र रखदें। पुनः उस पात्र के मुख पर भिलावे वाले पात्र को औंधामुख टिकाकर चारों तरफ कोयलों या कण्डों की आंच देने से भिलावों का तेल निकल कर नीचे के पात्र में आजाता है ॥ १६२ ॥

वंगप्रयोगः—

वंगभस्मसमं कान्तं व्योमभस्म च तत्समम् ।
मर्दयेत्कनकाम्भोभिर्निम्बपत्ररसैरपि ॥ १६३ ॥
दाडिमस्य मयूरस्य रसेन च पृथक् पृथक् ।
भूपालावर्त्तभस्माथ विनिक्षिप्य समांशकम् ॥ १६४ ॥
गोमूत्रकशिलाधातुजलैः सम्यग्विमर्दयेत् ।
ततो गुग्गुलुतोयेन मर्दयित्वा दिनाष्टकम् ॥ १६५ ॥
विशोष्य परिचूर्ण्याथ समभागेन योजयेत् ।
घृष्टं बन्धूकनिर्यासैर्नाकुलीबीजचूर्णकैः ॥ १६६ ॥
ततः क्षिपेत्करण्डान्तर्विधाय पटगालितम् ।
गोतक्रपिष्टरजनीसारेण सह पाययेत् ॥ १६७ ॥
चतुर्भिर्वल्लकैस्तुल्यं रम्यं वंगरसायनम् ।
निश्चितं तेन नश्यन्ति मेहा विंशतिभेदकाः ॥ १६८ ॥
शालयो मुद्गसूपं च नवनीतं तिलोद्भवम् ।
पटोलं तिक्तकुण्डीरं तक्रं पथ्याय शस्यते ॥ १६९ ॥

उक्त विधि से मारित वंग एक भाग, कान्तलौहभस्म एक भाग, अभ्रकभस्म एक भाग लेकर सब को एकत्र घीकुमारी, निम्बपत्ररस, अपामार्गमूलस्वरस से पृथक् मर्दन कर पश्चात् उसमें वंगभस्म के बराबर लाजवर्द की भस्म मिला गोमूत्र तथा शिलाजीत

के जल से सात सात बार मर्दन कर फिर आठ दिन तक गूगल जल से मर्दन करें। पश्चात् अच्छी तरह सुखाकर बन्धूक (दुपहरिया) के निर्यास (कषाय अथवा स्वरस) तथा नाकुली (रास्ना अथवा सेमल) बीजचूर्ण के साथ (इनको वंगभस्म के बराबर लेना चाहिये) मर्दन कर कपड़े में छान कर शीशी में रखलें। इसमें से चार वल्लप्रमाण मात्रा में लेकर हरिद्राचूर्ण तथा तक्र के अनुपान से सेवन करें। यह वंग रसायन कही जाती है। इसके सेवन करने से बीस प्रकार के प्रमेह निश्चित नष्ट हो जाते हैं। इस रसायन के सेवन काल में शालि चावलों का भात, मूंग की दाल, मक्खन, तिलों का तेल, परवल का शाक, कड़वी तन्दूरी का शाक तथा तक्र ये सब पथ्य माने जाते हैं।

विशेष वचन—"कनकाम्भोभिः" के स्थान पर "कन्यकाम्भोभिः" पाठ अच्छा है। 'घृष्टं बन्धूकनिर्यासैर्नाकुलीबीजचूर्णकैः' के स्थान पर "भृष्टबब्बुलनिर्यासैर्बाकुचीबीजचूर्णकैः" ऐसा पाठ भी है। ऐसी अवस्था में भुनी हुई बबूल की गोंद का जल तथा बावचीचूर्ण लेना चाहिये ॥ १६३–१६६ ॥

(इति वंगाधिकारः)

अथ सीसकम्।

शुद्धाशुद्धसीसकलक्षणम्—

द्रुतद्रावं महाभारं छेदे कृष्णं समुज्ज्वलम्।
पूतिगन्धं बहिः कृष्णं शुद्धं सीसमतोऽन्यथा ॥ १७० ॥

शीघ्र पिघलने वाला, अत्यन्त भारयुक्त, छैणी से काटने पर काला, चमकीला और दुर्गंधयुक्त, बाहरी भाग में देखने पर कृष्णवर्ण सीसा शुद्ध, (धात्वन्तर संयोग रहित) होता है। इसके विपरीत लक्षण युक्त सीसा अशुद्ध समझना चाहिये।

विशेष वचन—सीसक नैसर्गिक तौर से शीशक गन्धित् के रूप में मिलता है। कालेसुर में यह अधिक पाया जाता है। शीशक की कच्ची धातु (शीशक गन्धित्) को भून कर उसमें से इसे पृथक् किया जाता है। यह चमकीली नीली भूरी सी धातु है। स्पर्श में घिसने पर कागज पर लिखती है। खुली हवा में रखने से इसमें जंक नहीं लगता है किन्तु गीली हवा में लग जाता है। जो शीशक कार्वनित् होता है। शीशक को खूब तपाकर श्वेत कर दिया जाय तो ऊर्ध्वपातन भी होता है। भपके से शुद्ध किये हुये जल का शीशक पर कोई प्रभाव नहीं होता है, क्योंकि इसमें हवा नहीं होती परन्तु अन्य कोमल जल जैसे वर्षा जल का इस पर शीघ्र प्रभाव होता है। वर्षाजल में घुली हुई हवा की ओषजन सीसे के साथ मिलकर सीसे का ओषित् (Oxide) बना देती है, यह ओषित् जल में घुलकर सीसक का उद्रित् (Hydrate) बन जाती है। यद्यपि उद्रित् बहुत थोड़ी होती है तथापि इससे जल का स्वाद तथा प्रभाव खराब हो जाता है। इसीलिये वर्षा का जल शीशे की बाल्टियों तथा टबों में नहीं रखा जाता है। नदी तथा कुओं के कठोर जल पर इसका प्रभाव बिलकुल नहीं होता है। सीसे का आपेक्षिक गुरुत्व 113.4 से लेकर 11.37 तक है। Atomic भार 207.22 है। यह 325°c तापांश पर पिघलने लगती है और 1150 c तापांश पर उबलने लगती है ॥१७०॥

सीसकगुणाः—

अत्युष्णं सीसकं स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम्।
प्रमेहतोयदोषघ्नं दीपनं चाऽऽमवातनुत् ॥ १७१ ॥

शीशक भस्म अत्यन्त गरम, स्निग्ध, तिक्तरस तथा वातकफप्रकोपनाशक होती है। इसके सेवन करने से प्रमेह तथा जल के दोष नष्ट हो जाते हैं, और यह अग्निदीपक तथा आमवातरोगहर भी है।

विशेष वचन—सीसक समास के द्रावों का बहिःप्रभाव शोथशामक होता है। सीसकभस्म मूत्र, रक्त आदि शारीरिक स्रावों को कम करती है। नाग की भस्म प्रमेह की उत्तम औषधि मानी जाती है। सम्भवतः वृक्कों के लिये बल्य होने के कारण इसमें यह गुण है। नाड़ीसंस्थान के लिये भी नाग (सीसा) उत्तम बल्य है। क्योंकि यह नाड़ीसंस्थान, वृक्क, यकृत् और अस्थियों में सञ्चित हुआ पाया जाता है। सम्भवतः इन अंगों पर इसका बल्य प्रभाव होता है। रक्तस्रावी गुदांकुरों पर भी इसका ग्राही प्रभाव होता है। इसके प्रयोग से ग्रहणी की ग्रहणात्मक शक्ति बढ़ जाती है। श्वासरोग, आमवात आदि श्लैष्मिक रोगों में यह श्लेष्महर प्रभाव रखता है। आंतों की शोथ को दूर करने में यह मुख्य औषधि मानी जाती है। अतः प्रयोग में आंतों के स्राव को बन्द करने के लिये नागभस्म और कभी-कभी सीसक अहिफेनादि वटी दी जाती है। आन्त्रक्षयरोग के लिये स्वर्णपर्पटी के साथ सीसकभस्म दी जाती है। अथवा रसतरंगिणीलिखित "आन्त्राशोषान्तकरस" का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है। इसके देने से रात्रिस्वेद और अतीसार कम हो जाता है। इसको रक्तप्रदर तथा रक्तार्श में क्रमशः पुष्पानुग चूर्ण और नागकेशरचूर्ण के साथ देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है। रक्तार्श तथा रक्तप्रदर के लिये नागभस्म को खांड के साथ अथवा केतकीदण्ड से मर्दन की हुई नागभस्म को खांड से देने पर विशेष लाभ होता है। बहुमूत्र, मधुमेह, शुक्रमेह आदि मेह रोगों में वंग के समान नागभस्म को अभ्रक, शिलाजतु अथवा हरिद्रा, आमलकी चूर्ण के साथ प्रयोग किया जाता है। नाड़ीसंस्थान की दुर्बलता में इसको स्वर्ण सिन्दूर, रससिन्दूर आदि के साथ प्रयोग करने से नैर्बल्य, कम्प आदि वातिक रोगों में लाभ होता है।

निष्क्रमण—नाग का निष्क्रमण मूत्र, पित्त, स्वेद, स्तन्य (छाती का दूध) और आंतों में से मल द्वारा होता है। अतः इन अवयवों पर इसका ग्राही प्रभाव होता है।

ग्रन्थान्तर में इसके गुण इस प्रकार लिखे हैं। "नागः समीर-

कफपित्तहन्ता सर्वप्रमेहवनराजिकृपीटयोनिः। उष्णः सरो रजतरञ्जनकृद्व्रणार्शोगुल्मग्रहण्यतिसृतिव्रणदांशुमाली" ॥ १७१ ॥

सीसकशोधनम्—

सिंदुवारजटकौन्तीहरिद्राचूर्णकं क्षिपेत्।
द्रुते नागेऽथ निर्गुण्ड्यास्त्रिवारं निक्षिपेद्रसे ॥
नागः शुद्धोभवेदेवं मूर्च्छास्फोटादि नाऽऽचरेत् ॥ १७२ ॥

एक मिट्टी के पात्र में सीसक को पिघला कर उसमें थोड़ा थोड़ा करके सिम्भालू जड़ का चूर्ण और हरेणुका चूर्ण डालें, जब वह जल जाय तब पिघले हुये सीसक को निर्गुण्डी के स्वरस में बुझावें। इस प्रकार तीन बार बुझाने से सीसक शुद्ध हो जाता है, फिर इसकी भस्म बना कर सेवन से शरीर में कोई रक्तविकृतिजन्य फोड़ा-फुन्सी आदि नहीं होते हैं।

विशेष वचन—एक बार सिन्दुवार की जड़ के चूर्ण से घोट कर, दूसरी बार रेणुकाचूर्ण से, तीसरी बार हरिद्राचूर्ण से घोट कर भी सिम्भालू के रस में भी बुझाया जाता है। बहुत तीव्र अग्नि देते हुये अग्नि के ऊपर रगड़ने से नाग का चूर्ण हो जाता है। अतः मध्यम अग्नि से उसको पिघलाना चाहिये ॥ १७२ ॥

सीसकमारणम्—

तिर्यगाकारचुल्ल्यां तु तिर्यग्वक्त्रं घटं न्यसेत् ॥
तं च वक्त्रं विना सर्वं गोपयेद्यत्नतो मृदा ॥ १७३ ॥
भृष्टयंत्राभिधे तस्मिन् पात्रे सीसं विनिक्षिपेत् ॥
पलविंशतिकं शुद्धमधस्तीव्रानलं क्षिपेत् ॥ १७४ ॥
द्रुते नागे क्षिपेत्सूतं शुद्धं कर्षमितं शुभम्।
घर्षयित्वा क्षिपेत्क्षारमेकैकं हि पलं पलम् ॥ १७५ ॥
अर्जुनस्याक्षवृक्षस्य महाराजगिरेरपि।
दाडिमस्य मयूरस्य क्षिप्त्वा क्षारं पृथक् पृथक् ॥ १७६ ॥
एवं विंशतिरात्राणि पचेत्तीव्रेण वह्निना।
विघट्टयन्दृढं दोर्भ्यां लोहदर्व्या प्रयत्नतः ॥ १७७ ॥
रक्तं तज्जायते भस्म कपोतच्छायमेव वा।
नागं दोषविनिर्मुक्तं जायतेऽतिरसायनम् ॥ १७८ ॥

भड़भूजे के भाड़ की तरह सामने मुखवाला तिर्यक् (तिरछे आकार वाला) चूल्हा बनाकर उस पर तिरछा या सामने मुख वाला घड़ा या हांडी रख दें, फिर इसको चारों तरफ से मुख भाग को छोड़ कर अच्छी तरह मिट्टी से लीप पोत दें। इस "भ्रष्ट यन्त्र" "भाड़" अर्थात् चूल्हे पर रखी हुई तिरछे मुख की हांडी में बीस पल परिमाण शुद्ध सीसा डाल कर नीचे चूल्हे में तेज अग्नि जलावें। जब सीसा पिघल जाय तो उसमें एक कर्ष शुद्ध तथा स्वच्छ पारद डाल कर रगड़ें। फिर इसमें क्रमशः अर्जुनक्षार, बहेड़ाक्षार, अमलतासक्षार, अनारक्षार तथा अपामार्गक्षार प्रत्येक पल पल प्रमाण थोड़ा थोड़ा करके डालते हुये लोहे की करछी से घोटते जायँ। इस तरह उसे बीस दिन तक तीव्र अग्नि से पकावें। इस विधि से नाग की रक्तवर्णभस्म अथवा कबूतर के वर्ण की कृष्णश्वेत, चमकीली, धूसरवर्ण की भस्म बन जाती है। इसमें कोई दोष नहीं रहता तथा यह उत्तम रसायन हो जाती है।

विशेष वचन—क्षारों को डालते हुये बनाई जाने वाली नागभस्म में क्षारांश पर्याप्त उपस्थित रहता है अतः उसको निकालने के लिये उक्त भस्म को जल में घोल कर एकान्त में रख दिया जाता है, जब सब क्षारांश जल में घुल जाता है तो ऊपरी जल को पृथक् कर लिया जाता है शेष भस्म को सुखा कर काम में लाते हैं। इतने पर भी पुनः नागभस्म की अपुनर्भव परीक्षा कर लेनी चाहिये ॥१७३–१७८॥

मतान्तरम्—

हतमुत्थापितं सीसं दशवारेण सिध्यति।
तन्मृतं सीसकं सर्वदोषमुक्तं रसायनम् ॥१७९॥

सीसे की उक्त विधि से अथवा अन्य विधि से एक बार भस्म करके उसे फिर उत्थापित करके पुनः भस्म करना चाहिये। इस प्रकार दस बार भस्म करके फिर सीसक को मित्रपंचक अथवा किसी औषधि से जिलाकर अन्त में भस्म करने से सीसकभस्म सर्वदोषरहित तथा रसायन होती है।

विशेष वचन—कई इस का अर्थ यह करते हैं कि भ्रष्ट यन्त्र की विधि से मारित नाग को पुनः उत्थापित कर फिर भ्रष्ट यन्त्र विधि से दस बार उत्थापित और भस्म करना चाहिये ॥१७९॥

सीसकस्य निरुत्थभस्मीकरणम्—

अश्वत्थचिंचात्वग्भस्म नागस्य चतुरंशतः।
क्षिपेन्नागं पचेत्पात्रे चालयेल्लोहचाटुना ॥ १८० ॥
यावद्भस्म तदुद्धृत्य भस्मतुल्या मनःशिला।
जम्बीरैरारनालैर्वा पिष्ट्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत् ॥ १८१ ॥
स्वांगशीतं पुनः पिष्ट्वा विंशत्यंशशिलायुतम्।
अम्लेनैव तु यामैकं पूर्ववत्पाचयेत्पुटे।
एवं षष्टिपुटैः पक्वो नागः स्यात्सुनिरुत्थकः ॥ १८२ ॥

शुद्ध सीसक एक भाग, पीपलवृक्षत्वक् भस्म ¼ भाग इमली की छाल की भस्म ¼ भाग लें। पहिले सीसे को कड़ाही में डाल अग्नि पर पिघलावें। पिघलने के बाद उसमें थोड़ा थोड़ा उक्त इमली तथा पीपल की भस्म डालें और लोहे की करछी से चलाते जायँ। इस प्रकार तब तक करें जब तक सीसे की भस्म न बन जाय। फिर इस भस्म को चूल्हे से उतार कर उसमें समभाग शुद्ध मनसिलचूर्ण मिला जम्बीरीनीबू या काञ्जी से घोटकर टिकिया बना लें, उनको एक शरावसंपुट में बन्द करके पुट दें। स्वांगशीत होने पर फिर इस भस्म में बीसवां भाग मैनसिल को मिला जम्बीरीनीबू या काञ्जी से घोटकर टिकिया बना संपुट में बन्द करके एक प्रहर पुट में पकावें। इस प्रकार बीसवां भाग मैनसिल डाल कर किसी अम्ल

के साथ घोट साठ पुट देने से सीसक की निरुत्थ भस्म बन जाती है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में पीपल तथा इमली के छाल की भस्म के स्थान पर त्वचाचूर्ण ही लिया गया है "चश्चाश्वत्थत्वचश्चूर्णं चतुर्थांशेन निक्षिपेत्।" व्यवहार में भी छाल का चूर्ण ही प्रयुक्त होता है। त्वक्चूर्ण के साथ नाग या वंगभस्म करने में रगड़ते समय अधिक सुविधा रहती है। जोर से रगड़ने पर धातु का चूर्ण शीघ्र हो जाता है। परन्तु भस्म के साथ ज़ोर से रगड़ना कठिन होता है। भस्म अथवा त्वक्चूर्ण डालने पर नागभस्म को जल में घोलकर क्षारशून्य कर लेना चाहिये। नाग-धातुमारण में मैनसिल ही सर्वोत्तम द्रव्य है। गन्धक अथवा मैनसिल के योग से की जाने वाली नागभस्म सर्वोत्तम होती है। अन्य विधियों से नागभस्म की जाती है जिनमें शिला या गन्धक नहीं पड़ते हैं। परन्तु इन विधियों से मारित नागभस्म अल्पकालिक प्रयोग के लिये ही काम आती है। इस भस्म के चिरकाल तक प्रयोग करने से शीशकविषसम्बन्धी हानि की सम्भावना रहती है। वैद्यकल्पद्रुम में उक्त-विधि में मारण करने पर पीपल आदि के त्वक्चूर्ण से भस्म करने के बाद उसमें भस्म से अर्धभाग शुद्ध गन्धक तथा अर्धभाग शुद्ध मैनसिल डाल कर अम्ल से मर्दन करने के बाद लघुपुट में पकाने को लिखा है। इस विधि से मारित नागभस्म और भी उत्तम होगी॥ १८०–१८२॥

निरुत्थभस्मीकरणे मतान्तरम्—

शिलया रविदुग्धेन नागपत्राणि लेपयेत्।
मारयेत्पुटयोगेन निरुत्थं जायते तथा॥ १८३॥

शुद्ध सीसक-पत्रों के बराबर मैनसिल को लेकर उसको मदार के दुग्ध में घोटकर उसका नाग-पत्रों पर लेप करके सुखा लें, फिर इन पत्रों को शरावसंपुट में बन्द करके लघुपुट दें। इस तरह जब तक निरुत्थ भस्म न हो जाय पुट देते रहें॥ १८३॥

सीसकप्रयोगः—

एवं नागोद्भवं भस्म ताप्यभस्मार्धभागिकम्।
पादं पादं क्षिपेद्भस्म शुल्वस्य विमलस्य च॥ १८४॥
कान्ताभ्रसत्वयोश्चापि स्फटिकस्य पृथक् पृथक्।
सर्वमेकत्र संचूर्ण्य पुटेत्त्रिफलवारिणा॥ १८५॥
त्रिंशद्वनगिरिण्डैश्च त्रिंशद्वारं विचूर्ण्य तत्।
व्योषवल्लकचूर्णैश्च समांशैः सह मेलयेत्॥ १८६॥
मध्वाज्यसहितं हन्ति प्रलीढं वल्लमात्रया।
अशीतिवातजान्रोगान्धनुर्वातं विशेषतः॥ १८७॥
कफरोगानशेषांश्च मूत्ररोगांश्च सर्वशः॥
श्वासं कासं क्षयं पाण्डुं श्वयथुं शीतकज्वरम्॥ १८८॥
ग्रहणीमामदोषं च वह्निमान्द्यं सुदुर्जरम्।
सर्वानुदकदोषांश्च तत्तद्रोगानुपानतः॥ १८९॥

उपर्युक्त विधि से बनी हुई नागभस्म १ भाग, स्वर्णमाक्षिक भस्म ½ भाग, ताम्रभस्म ¼ भाग, विमलमाक्षिक भस्म ¼ भाग, कान्तलोहभस्म ¼ भाग, अभ्रकसत्व ¼ भाग और स्फटिकभस्म ¼ भाग लेकर सबको एकत्र खरल में डाल त्रिफलाकषाय से अच्छी तरह घोट कर सुखा कर संपुट में बन्द करके तीन जंगली उपलों की अग्नि में पुट दें। इस प्रकार त्रिफलाकषाय से घोट कर तीन जंगली उपलों की तीस पुट दें। फिर इसमें नागभस्म के बराबर सोंठ, मिर्च तथा पिप्पलीचूर्ण तथा समभाग बायविडंगचूर्ण मिला कर रखलें। इसमें से प्रतिदिन २ रत्ती मात्रा में मधु तथा घृत के साथ सेवन करें तो यह योग अस्सी प्रकार के वातरोग विशेषतः धनुर्वात (टॅटेनस) सब प्रकार के कफरोग, मूत्ररोग, श्वास, कास, क्षय, पाण्डुरोग, शोथ, शीतज्वर, ग्रहणीरोग, आमदोष, मन्दाग्नि, और सब प्रकार जल-दोष से उत्पन्न होने वाले विकारों को भिन्न २ अनुपानों से नष्ट करता है। इसे नाग-रसायन भी कहते हैं।

(इति सीसकाधिकारः)

अथ पित्तलम्—

पित्तलस्य द्वैविध्यम्—

रीतिका काकतुण्डी च द्विविधं पित्तलं भवेत्॥ १९०॥

पीतल नाम का धातु (मिश्रधातु) रीतिका तथा काकतुण्डी भेद से दो प्रकार का होता है।

विशेष वचन—पीतल, ताम्र तथा यशद के योग से बनने वाली धातु है। इसमें (शुद्ध पित्तल में) दो भाग ताम्र और एक भाग यशद का होता है। इस अनुपात से बने हुये पीतल को ही रीतिका कहा जाता है। यही उत्तम पीतल होता है। इसको हिन्दी-भाषा में चद्दर की पीतल भी कहते हैं। उक्त अनुपात से भिन्न संयोगज पित्तल काकतुण्डी कहा जाता है। इसमें ताम्र और यशद के अतिरिक्त नाग और लोह का भी मिश्रण होता है। इसीलिये कहीं कहीं इसके लिये "त्रिलौहक" शब्द व्यवहृत होता है। अतएव यह औषधि प्रयोग में ग्राह्य नहीं है। इसको हिन्दीभाषा में "नाल का पीतल" कहते हैं। यह मोड़ने पर टूट जाता है। भाव प्रकाश में पीतल को ताम्र और यशद का उपधातु कहा है।

रीतिकालक्षणम्—

सन्ताप्य कांजिके क्षिप्त्वा ताम्राभा रीतिका मता॥ १९१॥

रीतिका पीतल को अग्नि में खूब तपाकर काञ्जी में बुझावें तो उसका वर्ण ताम्र के सदृश दिखाई देता है॥ १९१॥

काकतुण्डीलक्षणम्—

एवं या जायते कृष्णा काकतुण्डीति सा मता॥ १९२॥

जो पीतल अग्नि में खूब तपाकर काञ्जी में बुझाये जाने पर काले रंग का हो जाता है, उसे काकतुण्डी पीतल कहते हैं। यह औषधि कर्म में ग्राह्य नहीं है॥ १९२॥

रीतिकागुणाः—

रीतिस्तिक्तरसा रूक्षा जन्तुघ्नी सास्रपित्तनुत् ।
पाण्डुकुष्ठहरा योगात्सोष्णवीर्या च शीतला ॥ १६३ ॥

पित्तल की भस्म—तिक्तरस, रूक्ष, कृमिनाशक, रक्तपित्तनाशक, पाण्डुरोग तथा कुष्ठरोगहर है। यह उष्ण औषधियों के योग से बनाई जाने पर या उष्णगुण औषधियों के साथ सेवन करने पर उष्णप्रभावक तथा शीत औषधियों के योग से बनी होने पर या शीत औषधियों के साथ सेवन करने पर शीतप्रभावक होती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में पीतलभस्म के गुणों के विषय में लिखा है कि "पित्तलस्य गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशाः बुधैः। संयोगजप्रभावेण तस्याऽन्येऽपि गुणाः स्मृताः"। संक्षेपतः इसके गुण ताम्र तथा यशद के सदृश होते हैं। आयुर्वेदप्रकाश में इसको लवणरस और कुछ विलेखन माना गया है। रसकामधेनु में इसको विष तथा प्लीहरोगनाशक और वातपित्तप्रकोपहर भी लिखा है। पीतलभस्म की मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती पर्यन्त है ॥ १६३ ॥

काकतुंडीगुणाः—

काकतुण्डी गतस्नेहा तिक्तोष्णा कफपित्तनुत् ।
यकृत्प्लीहहरा शीतवीर्या च परिकीर्तिता ॥ १६४ ॥

काकतुण्डी पीतल की भस्म स्निग्धता रहित, तिक्त, उष्ण, कफ-पित्तप्रकोपनाशक, यकृत्-प्लीहारोगहर तथा शीतवीर्य होती है।

विशेष वचन—"गतस्नेहा" के स्थान पर "त्वतिस्नेहा" ऐसा पाठ भी है। राजनिघण्टु में भी पीतल को स्निग्ध लिखा है "शुद्धा स्निग्धा मृदुः शीता" इत्यादि। परन्तु विज्ञ लोग इन गुणों को शुद्ध पीतल के गुण मानते हैं ॥ १६४ ॥

शुभरीतिकालक्षणम्—

गुर्वी मृद्वी च पीताभा सारांगी ताडनक्षमा ।
सुस्निग्धा मसृणांगी च रीतिरेतादृशी शुभा ॥ १६५ ॥

शुभ (ग्राह्य) पीतल गुरुभार, मृदु, पीताभवर्ण, दृढ़ अथवा मलरहित, चोट से न टूटने वाला किन्तु फैलनेवाला, चिकना, चमकदार होता है। इसको औषधि कार्य में लेना चाहिये।

अशुभरीतिकालक्षणम्—

पाण्डुपीता खरा रूक्षा बर्बरा ताडनक्षमा ।
पूतिगन्धा तथा लघ्वी रीतिर्नेष्टा रसादिषु ॥ १६६ ॥

अशुभ (अग्राह्य) पीतल, पाण्डुपीतवर्ण (सफेद पीला), खरदरा, रूक्ष, अरुचिकर शब्दवाला, निकृष्ट, चोट से टूटनेवाला, दुर्गन्धयुक्त, लघुभार होता है। यह रस आदि कर्म में नहीं लिया जाता है ॥ १६६ ॥

रीतिकाशोधनम्—

तप्त्वा क्षिप्त्वा च निर्गुंडीरसे श्यामारजोन्विते ।
पञ्चवारेण संशुद्धिं रीतिरायातिनिश्चितम् ॥ १६७ ॥

शुद्ध पीतल को अग्नि में खूब गरम करके हरिद्राचूर्ण अथवा हरिद्रारसमिश्रितसिम्भालू के रस में बुझावें। इस क्रिया को पांच बार दुहराने से निश्चित पीतल की शुद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचिन्तामणि में केवल निर्गुण्डीस्वरस में सात बार बुझाने को लिखा है। अन्यत्र पीतल तथा कांस्य का शोधन ताम्रवत् लिखा है "राजरीतिं तथा घोषं ताम्रवन्मार-येत्पृथक्। तद्वञ्च शोधनं तेषां ताम्रवद्गुणकारकम्"। अतः पीतल को गोमूत्र में बुझाकर भी शुद्ध कर सकते हैं ॥ १६७ ॥

रीतिकाद्रावणम्—

सुवर्णरीतिकाचूर्णं भक्षितं विष्ठितं पुनः ।
छागेन कृष्णवर्णेन मत्तेन तरुणेन च ॥ १६८ ॥
तल्लिप्तं खर्परे दग्धं द्रुतिं मुञ्चति शोभनाम् ।
चतुर्दशलसद्वर्णसुवर्णसदृशच्छविः ॥
देहलोहकरी प्रोक्ता युक्ता रसरसायने ॥ १६९ ॥

स्वर्णवर्णयुक्त पीतल के सूक्ष्म चूर्ण को किसी खाने के पदार्थ आटा छाणस आदि के साथ मिलाकर एक मदमाते काले रंग के जवान बकरे को खिलावें। खिलाने के बाद जब चूर्ण हजम हो जाय उसके मल (मींगणों) को लेकर उसे एक मिट्टी के ठीकरे पर अच्छी तरह लेप कर दें और उस खर्पर (ठीकरा) को तीव्र अग्नि में रख तपावें तो पीतल की उत्तम द्रुति होती है यह द्रुति चौदह प्रकार के भिन्न २ जाति के सुवर्ण की कान्ति के समान दीखती है। यह शरीर तथा लोह आदि धातु को सिद्ध करती और रस तथा रसायन कर्म से प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में उक्त विधि से अर्थात् द्रुतिविधि से प्राप्त पीतल की मुद्रिका (अंगूठी) बनाकर धारण करने को लिखा है। यह देखने में स्वच्छ तथा सर्वोत्तम स्वर्ण के समान होती है। बकरे की मींगणों को द्रावकवर्ग की औषधियों के साथ पीस कर ठीकरे पर लेप करना चाहिए ॥१६८—१६९ ॥

रीतिकामारणम्—

निम्बूरसशिलागन्धवेष्टिता पुटिताऽष्टधा ।
रीतिरायाति भस्मत्वं ततो योज्या यथायथम् ॥ २०० ॥

पीतल के पत्रों के बराबर भाग शुद्ध मैनसिल और शुद्ध गन्धक लेकर इन दोनों को कागजी नींबू के रस से घोट कर उसका पीतल के पत्रों पर लेप करके सुखाले, पश्चात् इन पत्रों को शरावसंपुट में बन्द करके गजपुट में फूंक दें। इस प्रकार आठ बार पुट देने से पीतल की भस्म बन जाती है। इसको आवश्यकता-नुसार योगों में काम लाना चाहिए ॥ २०० ॥

मतान्तरम्—

ताम्रवन्मारणं तस्याः कृत्वा सर्वत्र योजयेत् ॥ २०१ ॥

अथवा राजरीति का ताम्र के समान मारण (भस्म) करके सर्वत्र प्रयोग करना चाहिए ॥ २०१ ॥

पित्तलप्रयोगः—

मृतारकूटकं कान्तं व्योमसत्त्वं च मारितम् ।
त्र्यं समांशकं तुल्यव्योष् जतुघ्नसंयुतम् ॥ २०२ ॥
ब्रह्मबीजाजमोदाऽग्निभल्लाततिलसंयुतम्
सेवितं निष्कमात्रं हि जन्तुघ्नं कुष्ठनाशनम् ॥
विशेषाच्छ्वेतकुष्ठघ्नं दीपनं पाचनं हितम् ॥ २०३ ॥

पीतल की भस्म १ भाग, कान्तभस्म १ भाग, अभ्रकसत्वभस्म १ भाग लेकर एकत्र खरल कर लें। फिर इसमें पीतलभस्म के बराबर त्रिकटुचूर्ण, वायविडंगचूर्ण, ढाक के बीजों का चूर्ण, अजमोद, चित्रकमूलचूर्ण, शुद्ध भिलावाचूर्ण तथा तिलचूर्ण मिलाकर एकत्र खरल करके रखलें। इसमें से प्रतिदिन एक निष्क परिमाण (१ मासे से २ मासा) में लेकर सेवन करने से उदर-कृमि, कुष्टरोग, विशेषतः सफेद कोढ़ नष्ट होता है। इसके अति-रिक्त यह दीपक तथा पाचक अर्थात् आम को पकाने वाला भी है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में पित्तलभस्म को निम्बाष्टक-चूर्ण के साथ सेवन करने को लिखा है ॥ २०२—२०३ ॥

(इति पित्तलाधिकारः)

अथ कांस्यम् ।

कांस्यस्योत्पत्तिः—

अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागखुरकेण च ।
विद्रुतेन भवेत्कांस्यं तत्सौराष्ट्रभवं शुभम् ॥ २०४ ॥

शुद्ध ताम्र आठ भाग, शुद्ध खुरक वंग दो भाग दोनों एकत्र मिलाकर पिघलाने से कांसा बनता है। इस अनुपात से कांसे का निर्माण सौराष्ट्र देश में अधिक होता है। अतः यह कांसा औषधि-प्रयोग में अच्छा माना जाता है।

विशेष वचन—ताम्र तथा वंग के आठ और दो के अनुपात से बनाये जाने वाले कांसे को "फूल" कांसा कहते हैं। यह भी पीतल की तरह मिश्र या उपधातु माना जाता है। "खुरकेण" के स्थान पर "कुटिलेन" ऐसा पाठ भी है। कुटिल भी रांगे को कहा जाता है। ग्रन्थान्तर में कांसे के दो भेद माने गये हैं। १—पुष्प कांस्य, २—तैलिक कांस्य। इनमें पुष्प कांस्य अधिक श्वेत होता है। किन्तु तैलिक कांस्य कपिश वर्ण (श्वेत पीला) होता है। अतएव पुष्प कांस्य श्रेष्ठ माना गया है ॥ २०४ ॥

प्रशस्तकांस्यलक्षणम्—

तीक्ष्णशब्दं मृदु स्निग्धमीषच्छ्यामलशुभ्रकम् ।
निर्मलं दाहरक्तं च षोढा कांस्यं प्रशस्यते ॥ २०५ ॥

औषधिप्रयोग में प्रयुक्त होने वाला कांस्य तीक्ष्ण शब्द वाला कोमल (स्पर्श में सुख कर) चिकना कुछ श्यामता लिये हुये श्वेत वर्ण और उज्ज्वल तथा अग्नि पर तपाने से लाल होने वाला इन छः गुणों से युक्त उत्तम माना जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में प्रशस्त कांस्य की घन-अग्निसह-नता भी एक गुण माना है ॥ २०५ ॥

अप्रशस्तकांस्यलक्षणम्—

तत्पीतं दहने ताम्रं खरं रूक्षं घनासहम् ।
मन्दनादं गतज्योतिः सप्तधा कांस्यमुत्सृजेत् ॥ २०६ ॥

जिस कांस्य का वर्ण पीला और अग्नि पर तपाने से ताम्र वर्ण होने वाला, खरदरा, रूक्ष, हथौड़े की चोट को न सहने वाला मन्द शब्द युक्त और चमक रहित, इन सात लक्षणों से युक्त कांस्य ग्राह्य नहीं होता है।

विशेष वचन—अप्रशस्त कांस्य साधारण अग्नि ताप में भी फट जाया करता है इसी वास्ते कांसे के पात्रों में कोई चीज नहीं पकाई जाती है। "मन्दनादं गतज्योतिः" के स्थान पर "मर्दनादा-गतज्योतिः" ऐसा पाठ होने पर घिसने या रगड़ने से चमकने वाला अर्थ होता है ॥ २०६ ॥

कांस्यगुणाः—

कांस्यं लघु च तिक्तोष्णं लेखनं दृक्प्रसादनम् ।
कृमिकुष्ठहरं वातपित्तघ्नं दीपनं हितम् ॥ २०७ ॥
घृतमेकं विना चान्यत्सर्वं कांस्यगतं नृणाम् ।
भुक्तमारोग्यसुखदं हितं सात्म्यकरं तथा ॥ २०८ ॥

कांस्य अथवा कांस्य की भस्म लघु, तिक्त, उष्ण, लेखन तथा दृष्टि को स्वच्छ करने वाली, कृमि तथा कुष्ठ को नष्ट करने वाली, वातपित्तप्रकोपहर, अग्निदीपन करने वाली होती है। एक घृत को छोड़कर अन्य सब खाद्य वस्तुओं को कांसे के पात्र में रखकर खाने से आरोग्य तथा सुख प्राप्त होती है, अतः इसके पात्र में भोजन करना सदा हितकर तथा सात्म्य होता है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में कांस्य-भस्म को गुरु, तिक्तरस तथा कफपित्तहर लिखा है। रसकामधेनु में इसको लघु, वृष्य, शरीर को दृढ़ करनेवाली और अर्शरोगनाशक भी लिखा है। मात्रा कांस्य-भस्म की ½ रत्ती से १ रत्ती तक है। शास्त्रों में कांसे के पात्र में रखे हुए घृत को विष के समान त्याज्य लिखा है। अतः चिर काल तक कांसे के पात्र में रखे हुए घृत को अहित तथा असात्म्य समझा जाता है ॥ २०७—२०८ ॥

कांस्यशोधनम्—

तप्तं कांस्यं गवां मूत्रे वापितं परिशुध्यति ॥ २०९ ॥

कांसे के पात्रों को अग्नि में गरम करके गोमूत्र में (सात बार) बुझाने से कांसे की शुद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में ताम्रपत्रों को गोमूत्र में पकाने से अथवा किसी अम्ल काञ्जी आदि में पकाने से शुद्धि मानी जाती है। इसके अतिरिक्त कांसे का शोधन ताम्र के समान करने को भी लिखा पाया जाता है। रसपद्धति की टीका में इसे घोड़े के मूत्र में बुझाकर शुद्ध करने को भी बताया गया है ॥ २०९ ॥

कांस्यमारणम्—

म्रियते गन्धतालाभ्यां निरुत्थं पञ्चभिः पुटैः ॥ २१० ॥

शुद्ध कांस्यपत्रों के बराबर शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध हरताल लेकर नींबू के रस से घोट कर इसका कांस्यपत्रों पर लेप कर के सुखालें। पश्चात् इन पत्रों को संपुट में बन्द करके गजपुट में फूंक दें। इस प्रकार पांच पुट देने से इसको निरुत्थ भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में गन्धक को अर्कदुग्ध से मर्दन कर इस कल्क का ताम्रपत्रों पर (गन्धक समभाग) लेप कर मूषा में रख गजपुट देने की विधि लिखी है। रसपद्धति टीका में केवल गन्धकतैल से पुट देने को लिखा है। क्योंकि इसमें ताम्र का भाग अधिक होता है। अतः गन्धक से इसकी अच्छी भस्म बनती है ॥

मतान्तरम्—

त्रिक्षारं पञ्चलवणं सप्तधाऽम्लेन भावयेत्।
कांस्याऽऽरकूटपत्राणि तेन कल्केन लेपयेत्।
रुद्ध्वा गजपुटे पक्वं शुद्धिमायाति नान्यथा ॥ २११ ॥

त्रिक्षार (यवक्षार, सज्जीखार और सुहागा) पञ्चलवण (सैन्धा नमक, विड नमक, सौचल नमक, रेह नमक तथा समुद्र नमक) को कांस्य तथा पीतल के पत्रों के बराबर लेकर काञ्जी या नींबू के रस से घोट कर उस कल्क का कांसे या पीतल के पत्रों पर लेप करके सुखालें, पश्चात् संपुट में बन्द करके पांच गजपुट दें तो कांसा और पीतल भस्म हो जाता है।

विशेष वचन—"शुद्धिमायाति नान्यथा" के स्थान पर "शुद्धभस्मत्वमाप्नुयात्" पाठ ही अच्छा प्रतीत होता है। क्योंकि यहाँ पर मारणविधि में मतान्तर दिया हुआ है न कि शोधनविधि में। "कांस्यारकूटपत्राणि" के स्थान पर "कांस्यारघोषपत्राणि" ऐसा पाठ होने पर "आरः इति घोषः शब्दः संज्ञा" अर्थात् आर घोष शब्द से कहा जाने वाला ऐसी व्युत्पत्ति अर्थ करना भी पीतल ही अर्थ होता है ॥ २११ ॥

(इति कांस्याधिकारः)

वर्तलौहम्।

वर्तलोहस्य स्वरूपम्—

कांस्यार्करीतिलोहाऽहिजातं तद्वर्तलोहकम्।
तदेव पंचलोहाख्यं लोहविद्भिरुदाहृतम् ॥ २१२ ॥

कांसा, तांबा, पीतल, लोहा तथा सीसा इन पाँच धातुओं को समभाग में लेकर एकत्र पिघलाकर बनाई हुई धातु "वर्तलौह" के नाम से कही जाती है। इसी को विद्वान लोग "पञ्चलौह" भी कहते हैं।

विशेष वचन—रसप्रकाशसुधाकर में इसको लोहा, कांसा, तांबा तथा पीतल इन चार धातुओं से बनाया जानेवाला लिखा है। इसी को उसमें "विडलोह" नाम से भी लिया है। परन्तु आयुर्वेदप्रकाश में कांस्य, रीति, ताम्र, नाग तथा वंग के मिश्रण से बनी हुई धातु को वर्त या भर्त लौह से लिया गया है। इसक भरत कहते हैं ॥ २१२ ॥

वर्तलौहगुणाः—

हिमाम्लं कटुकं रूक्षं कफपित्तविनाशनम्।
रुच्यं त्वच्यं कृमिघ्नं च नेत्र्यं मलविशोधनम् ॥ २१३ ॥

भरत या वर्तलौह की भस्म, हिम, अम्ल, कटुरस, रूक्ष, कफपित्तप्रकोपनाशक, रुचिकारक, त्वचा के रोगों को तथा उसकी दुर्बलता को दूर करने वाली, कृमिरोगहर, नेत्रों के लिये हितकर तथा मलशोधक होती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इसकी भस्म को गले के रोगों के लिये अच्छा बताया गया है ॥ २१३ ॥

तद्भाण्डे साधितं सर्वमन्नव्यंजनसूपकम्।
अम्लेन वर्जितं चातिदीपनं पाचनं हितम् ॥ २१४ ॥

वर्तलौह के पात्र में पकाई हुई अन्न, शाक तथा दाल आदि चीजें, अग्निदीपक तथा पाचक और हितकर होती हैं। परन्तु खट्टी चीजें इसमें पकाने से वह खराब हो जाती हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में खारी द्रव्यों को भी इसमें पकाने का निषेध लिखा हुआ है ॥ २१४ ॥

वर्तलौहशोधनम्—

द्रुतमश्वजले क्षिप्तं वर्तलोहं विशुध्यति ॥ २१५ ॥

वर्तलौह को अग्नि में पिघलाकर घोड़े के मूत्र में सात बार बुझाने से वह शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में तैल, तक्र, गोमूत्र, काञ्जी तथा कुलत्थकषाय में इसकी शुद्धि करने के पश्चात् बकरी के मूत्र में शोधन करने का विधान पाया जाता है ॥ २१५ ॥

वर्तलौहमारणम्—

म्रियते गंधतालाभ्यां पुटितं वर्तलोहकम्।
तेषु तेष्विह योगेषु योजनीयं यथाविधि ॥ २१६ ॥

शुद्ध वर्तलौह के बराबर भाग शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध हरताल लेकर उनको एकत्र जल से पीस कर उसका वर्तलौहपत्रों पर लेप करके संपुट में बन्द करके पुट देने से वर्तलौह की भस्म हो जाती है। इस प्रकार की हुई वर्तलौह की भस्म को भिन्न-भिन्न योगों में शास्त्रानुकूल मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—गन्धक तथा हरताल को अर्कदुग्ध से मर्दन कर उस कल्क से पत्रों पर लेप करके सम्पुट में बन्द करके पांच गजपुट देने से वर्तलौह की भस्म हो जाती है ॥ २१६ ॥

(इति वर्तलौहाधिकारः)

रसोपरसलोहानां सूतसाधकत्वनिर्देशः—

जातिमद्भिर्विशुद्धैश्च विधिना परिसाधितैः।
रसोपरसलोहाद्यैः सूतः सिध्यति नान्यथा ॥ २१७ ॥

उत्तम जाति के उक्त रस, अभ्रक, वैक्रान्त आदि उपरस, गन्धक, कासीस, हरताल आदि तथा लोह स्वर्ण आदि धातुओं को विधिपूर्वक शुद्ध तथा भस्म करके इनके योग से ही पारद सिद्ध होकर देहलोहमयीसिद्धि को उत्पन्न कर सकता है। अर्थात् शरीर को अजर अमर बनाता है अन्यथा नहीं ॥ २१७ ॥

भस्मीभूतरत्नादीनामेव सूतयोगे प्रयोज्यतानिर्देशः—

रत्नानि लोहानि वराटशुक्तिपाषाणजातं खुरशृंगशल्यम् ।
महारसाद्येषु कठोरदेहं भस्मीकृतं स्यात्खलु सूतयोग्यम् ॥ २१८ ॥

सब प्रकार के वज्र आदि रत्न, सुवर्णादि धातु, कौड़ी, सीप, तथा पाषाणजन्य खनिज पदार्थ अथवा कान्तपाषाण, गैरिक आदि, खुर, शृंग (सींग) तथा शल्य (हड्डी) तथा महारस-उपरसों में जो २ भी कठिनावयव, अभ्रक, वैक्रान्त आदि कठिन पदार्थ हैं वे सब उत्तम प्रकार से शुद्ध करके भस्म के रूप में बनाने पर ही पारद के कार्य में उपयुक्त हो सकते हैं। अतः बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि उक्त रत्नादियों की शास्त्रानुकूल विधि से शुद्धि तथा भस्म करें ॥ २१८ ॥

अथ भूनागः ।

भूनागसत्त्वपातनम्—

वज्राणां द्रावणार्थाय सत्त्वं भूनागजं ब्रुवे ।
तदेव परमं तेजः सूतराजेन्द्रवज्रयोः ॥ २१९ ॥
धौतभूनागसंभूतं मर्दयेद्भृंगजद्रवैः ।
निंबुद्रवैश्च निर्गुण्ड्याः स्वरसैस्त्रिदिनं पृथक् ॥ २२० ॥
तद्द्रावणगणोपेतं संमर्द्य वटकीकृतम् ।
निरुध्य दृढमूषायां द्विदण्डं प्रधमेद् दृढम् ॥ २२१ ॥
स्वतः शीतं समाहृत्य पट्टके विनिवेश्य तत् ।
खकान् राजिकातुल्यान् रेणूनतिभरान्वितान् ॥ २२२ ॥
द्वादशांशार्कसंयुक्तान्धमित्वा खकान् हरेत् ।
प्रक्षाल्य खकानाशु समादाय प्रयत्नतः ॥ २२३ ॥
वज्रादिद्रावणं तेन प्रकुर्वीत यथेप्सितम् ।
खरसत्त्वमिदं प्रोक्तं रसायनमनुत्तमम् ।
द्वित्रिमूषासु चैकस्यां सत्त्वं भवति निश्चितम् ॥ २२४ ॥

वज्र (हीरा) के द्रावण (पिघलाना) के लिए भूनाग (केंचुवा) के सत्त्व का वर्णन करता हूँ। क्योंकि भूनागसत्व ही पारद तथा वज्र की गुण-वृद्धि के लिये सर्वश्रेष्ठ तेज है। केंचुओं को लेकर जल से अच्छी तरह धोकर के मिट्टी आदि साफ कर लें, फिर इन्हें सुखाकर चूर्ण करें। इसके बाद इस चूर्ण को तीन दिन भांगरे के रस, तीन दिन नींबू के रस से और तीन दिन तक निर्गुण्डी स्वरस से पृथक्२ मर्दन करके फिर इसमें द्रावणगण (आगे लिखा हुआ) की औषधि मिला खूब मर्दन करके उसकी गोलियाँ बनालें। इन गोलियों को एक दृढ मूषा में रख कर दो दण्ड (पौना घण्टा) तक तीव्र अग्नि में पकावें। स्वांग शीत होने पर निकाल कर लोहे की छलनी या कपड़े में छानलें। छानने में जो राई के बराबर भारी-रेत की तरह के दानें मिलें उन्हें एकत्र कर उनमें पुनः बारहवां भाग ताम्रचूर्ण मिला मूषा में रख कर तीव्र अग्नि से तपावें और खों को पृथक् करलें, इन सत्वकणों को जल से धोकर स्वच्छ करलें। आवश्यकतानुसार इनसे वज्र आदि का द्रावण करें। इसको "खरसत्व" कहते हैं और यह उत्तम रसायन होता है। इस सत्व को पूर्णतः प्राप्त करने के लिये दो या तीन मूषाएं लेनी पड़ती हैं। एक मूषा में भी कभी २ सब सत्व अच्छी तरह निकल जाता है ॥ २१९—२२४ ॥

मतान्तरम्—

भुजङ्गमानुपादाय चतुष्प्रस्थसमन्वितान् ।
सुवर्णरूप्यताम्रायस्कांतसंभूतिभूमिजान् ॥ २२५ ॥
प्रक्षाल्य रजनीतोयैः शीतलैश्च जलैरपि ।
उपोषितं मयूरं वा शूरं वा चरणायुधम् ॥ २२६ ॥
क्रमेण चारयित्वाथ तद्विष्ठां समुपाहरेत् ।
क्षाराम्लैः सह संपेष्य विशोष्य च खरातपे ॥ २२७ ॥
ततः खर्परके क्षिप्त्वा भर्जयित्वा मषीं चरेत् ।
मषीं द्रावणवर्गेण संयुक्तां सम्प्रमर्दिताम् ॥ २२८ ॥
निरुध्य कोष्ठिकामध्ये प्रधमेद्धटिकाद्वयम् ।
शीतलीभूतमूषायाः खोटमाहृत्य पेषयेत् ॥ २२९ ॥
प्रक्षाल्य खकान् सूक्ष्मान् समादाय प्रयत्नतः ।
सुवर्णमानवद् ध्मात्वा खं कृत्वा नियोजयेत् ॥ २३० ॥

स्वर्ण (सोना), चांदी, तांबा, कान्तलोह, निकलने वाली खानों की मिट्टी में उत्पन्न होने वाले केंचुओं को चार प्रस्थ परिमाण में लेकर प्रथम हलदी के क्षाय या स्वरस से धोकर फिर दूसरी बार शीतल जल से धोकर साफ कर लें। फिर इसको एक भूखे मोर या जवान मुर्गे को थोड़ा २ करके सब खिला दें। पश्चात् उसकी विष्ठा (मल) को एकत्र कर जवाखार आदि क्षारों तथा अम्लवर्ग (आगे लिखा हुआ) की औषधि के साथ घोट कर तीव्र सूर्यताप में सुखालें। फिर इस चूर्ण को एक मिट्टी के चौड़े पात्र में डाल चूल्हे पर रख भूनकर मसी (स्याही) बना इसमें द्रावणवर्ग की औषधियां मिला खूब मर्दन कर मूषा में रख कोष्ठिकयन्त्र की अग्नि में दो घड़ी तक पकावें। मूषा के स्वतः शान्त होने पर उसकी नली में जमे हुए खोट (काले से गोले) को निकाल कर पीसलें और धोकर पुनः इसके सूक्ष्म कणों को मूषा में रख स्वर्ण पिघलाने वाले अग्निताप में तपा कर पुनः चूर्ण करके उपयोग में लावें।

विशेष वचन—रसेन्द्रचिन्तामणि में मुर्गे या मोर की विष्ठा एकत्रित करने में प्रथमांशिक मल-मूत्र को छोड़ कर शुद्ध भूनाग

की बनी हुई विष्ठा को लेने के लिये लिखा है। रसपद्धति की टीकाकार ने विष्ठा का परिमाण भी बताया है कि कुड़व परिमाण विष्ठा लेकर उसको क्षारादि के साथ पीसना चाहिये। अन्त में रवों को एकत्र कर तपाने में सुवर्णद्रावणवत् टंकण डाल कर पिघलाना चाहिये। रसेन्द्रचिन्तामणि में भूनागसत्वपातन की विधि अधिक स्पष्ट और सरल है। "सद्यो भूनागमादाय चारयेच्छिखिनं बुधः। अथवा कुक्कुटं वीरं कृत्वा मन्दिरमागतम्। मलमूत्रं गृहीत्वा च संत्याज्य प्रथमांशिकम्। आलोड्य क्षारमध्वाज्यैर्धमेत्सत्वार्थमादरात्। मुञ्चन्ति ताम्रवत् सत्वं तन्मुद्राजलपानतः। नश्यन्ति जङ्गमविषं स्थावरञ्च न संशयः" ॥ २२५—२३० ॥

भूनागसत्वप्रयोगविधिः—

भूनागोद्भवसत्त्वमुत्तममिदं श्रीसोमदेवोदितं
दत्तं पादमितं द्विशाणकनकेनैकं गतेनोर्मिकाम्।
तद्धौताम्बुविलेपितं स्थिरचरोद्भूतं विषं नेत्ररुक्
शूलं मूलगदं च कर्णजरुजो हन्यात्प्रसूतिग्रहम् ॥२३१॥

श्री सोमदेव द्वारा बताई हुई विधि से निकाला हुआ उक्त उत्तम भूनागसत्व, चतुर्थांश १॥ मासा, और शुद्ध स्वर्ण दो शाण (६ मासा) लेकर दोनों को एकत्र गला कर उसकी एक अंगूठी बनालें। इस अंगूठी के धुले हुये जल के लेप करने से स्थावर तथा जंगम विष, नेत्रपीड़ा, शूल, अर्श, कर्णपीड़ा, तथा सूतिकारोग अथवा कष्टप्रसव ये सब रोग दूर हो जाते हैं ॥ २३१ ॥

(इति भूनागाधिकारः)

अथ तैलपातनविधिः।

अंकोलबीजतैलपातनम्—

मूलान्युत्तरवारुण्या जर्जरीकृत्य कांजिके।
क्षिपेदङ्कोल्लबीजानां पेषिकां जर्जरीकृताम् ॥
तत्तैलं घृतवत्स्यानं ग्राह्यं तत्तु यथाविधि ॥ २३२ ॥

इन्द्रवारुणी (इन्द्रायण) की जड़ों को कूट काञ्जी में डाल दें और उसमें अंकोलबीजों की पेशिका (बीजों की मींगी) को बारीक पीस कर डाल दें। अब इस पात्र को तेज धूप में रख दें। इस क्रिया से तैल पिघल कर काञ्जी के ऊपर घृत के सदृश तैरता हुआ दिखाई देगा। उसको विधिपूर्वक अर्थात् किसी कपड़े के फाये या हाथ से पृथक् करलें।

विशेष वचन—धातु अधिकार में तैलों का वर्णन करने का यह अभिप्राय है कि पारद की भस्म आदि के निर्माण में तथा रस, उपरस, धातु, उपधातु के शोधन, मारण तथा रञ्जन आदि कर्मों में तैलों का बहुधा उपयोग होता है, अतः उनको दिखाने के लिये यहाँ तैलों का वर्णन किया गया है "कथ्यतेऽङ्कोलतैलं च रसभस्मादिनिर्मितौ। पुण्यश्लोकमाहात्म्यैः श्रीमद्भिर्देवसूनुभिः।" इस अधिकार में यद्यपि अन्यान्य तैलपातन भी लिखे गये हैं परन्तु मुख्य उद्देश अंकोलतैल है इसकी विस्तृत विधि और गुण उपयोग "रसेन्द्रचूडामणि" नामक ग्रन्थ में अच्छी तरह स्पष्ट की गई है। आवश्यकता होने पर उसी विधि से तैलपातन करना चाहिये। अथवा तैल भी बीजों का सत्व होता है इसलिये सत्वपातनप्रकरण में तैलपातन विधि लिखना युक्तिसंगत है ॥ २३२ ॥

मतान्तरम्—

सम्पेष्योत्तरवारुण्याः पेटकार्या दलान्यथ।
काञ्जिकेन ततस्तेन कल्केन परिमर्दयेत् ॥ २३३ ॥
रजश्चाङ्कोल्लबीजानां तद्बद्ध्वा विरलाम्बरे।
तद्विलम्ब्याऽऽतपे तीव्रे तस्याधश्चषकं न्यसेत् ॥
तस्मिन्निपतितं तैलमादेयं श्वित्रनाशनम् ॥ २३४ ॥

अथवा इन्द्रायण तथा पेटकारी (मालकंगूनी) के पत्तों को काञ्जी से पीस कर गीला-सा कल्क बना लें। फिर इस कल्क अंकोल (ढेरा) बीज चूर्ण को एकत्र मिला कर अच्छी तरह मर्दन करके एक झीने कपड़े में बाँधकर पोटली सी बना लेवें। अब उसको तेज धूप में किसी चीज के सहारे लटका दें और पोटली के नीचे कोई कांच का कटोरा या प्याला रख दें। सूर्य की तेजी से बीजों में से जो तैल उस प्याले में गिरे (बूंद २ गिरता है) उसे सुरक्षित रखना चाहिये। यह सफेद कोढ़ को नष्ट करता है ॥२३३–२३४॥

मतान्तरम्

अङ्कोल्लबीजसम्भूतं चूर्णं सम्मर्द्य काञ्जिकैः।
एकरात्रोषितं तत्तु पिण्डीकृत्य ततः परम् ॥ २३५ ॥
स्वेदयेत्कन्दुके यन्त्रे घटिकाद्वितयं ततः।
तां च पिण्डीं दृढे वस्त्रे वध्वा निष्पीड्य काष्ठतः ॥२३६॥
अधःपात्रस्थितं तैलं समाहृत्य नियोजयेत्।
एवं कन्दुकयन्त्रेण सर्वतैलान्युपाहरेत् ॥ २३७ ॥

अथवा अंकोलबीजों के चूर्ण को काञ्जी में अच्छी तरह पीस कर एक रात्र वैसा ही पड़ा रहने दें। बाद को सब को एकत्र कर एक गोला-सा बना लें। पश्चात् इस गोले को कन्दुकयन्त्र (आगे लिखा जाने वाला) में रख कर दो घड़ी पर्यन्त स्वेदन करें। जब यह गोला अच्छी तरह स्विन्न हो जाय तो इसे एक दृढ़ वस्त्र में बांधकर पोटली-सी बनालें। इस पोटली के दोनों तरफ लकड़ी लगाकर इससे नीचे को जोर से दबाते हुए तैल निकाल लें। पोटली को दबाते समय उसके नीचे कोई स्वच्छ पात्र रख देना चाहिये। इस तैल को सब उपयोगी कार्यों में प्रयुक्त करना चाहिए। इस प्रकार कन्दुकयन्त्र विधि से सब तैलों को निकालना चाहिये।

विशेष वचन—"काष्ठतः निष्पीड्य" का अर्थ यदि अधिक मात्रा में तैल निकालना हो तो कोल्हू में उक्त कल्क को डाल कर तैल निकालना समझा जा सकता है, इसमें सुविधा भी होती है और कोई विकृति भी नहीं आती है। कन्दुकयन्त्र को वाष्पस्वेदनयन्त्र

भी कहा जाता है, उसका संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है। साम्बु-स्थालीमुखे बद्धे वस्त्रे स्वेद्यं निधाय च। पिधाय पच्यते यत्र तद्यन्त्र-स्वेदनं स्मृतम्" ॥ २३५—२३७ ॥

मतान्तरम्—

अङ्कोलस्यापि तैलं स्यात्काकतुण्डया समूलया ॥ २३८ ॥

अंकोल (ढेरा) की बीजमज्जा को मूल सहित काकतुण्डी (सफेद रत्ती) के स्वरस से घोट कर गोला-सा बना कन्दुकयन्त्र में स्वेदन कर कपड़े में रखकर काष्ठनिष्पीड़न द्वारा तैल निकाला जाता है ॥ २३८ ॥

वाकुचीदेवदालीबीजानां तैलपातनम्—

बाकुचीदेवदाल्योश्च कर्कोटीमूलतो भवेत् ॥ २३९ ॥

बावची अथवा बन्दाल में से जिसके भी बीजों का तेल निकालना अभीष्ट हो उन्हें ककोंटी (ककोड़ा) के मूलस्वरस से मर्दन कर गोला बना पूर्वोक्त यन्त्र से स्वेदन कर उक्त विधि से तैल निकालना चाहिये ॥ २३९ ॥

विषमुष्टितैलपातनम्—

अपामार्गकषायेण तैलं स्याद्विषमुष्टिजम् ॥ २४० ॥

विषमुष्टि (कुचला) के बीजमज्जा को अपामार्ग (चिरचिटा) के कषाय की भावना देकर स्वेदन करके उक्त विधि से तैल निकाला जाता है ॥ २४० ॥

जैपालतैलपातनम्—

मूलक्वाथैः कुमार्याश्च तैलं जैपालजं हरेत् ॥ २४१ ॥

घीकुमारी की जड़ के कषाय से जैपाल (जमालगोटा) बीजमज्जा को भावित कर स्वेदन कर दृढ़ निष्पीड़न करने से जमालगोटे का तेल निकालना चाहिये।

विशेष वचन—किसी औषधि के स्नेहयुक्त बीजों का तैल निकालने के लिये आजकल बादाम तैल निकालने वाली मशीन या निष्पीडनयन्त्र का व्यवहार सुविधाजनक होता है। यही सुविधाजनक काष्ठनिष्पीड़न है। बादाम की भांति जमालगोटे के बीजों में भी अधिक स्नेह होता है, उनको भी सिल पर पीसकर या यों ही उक्त यन्त्र में डाल कर दबावें तो शुद्ध तैल निकल आता है। इसको अंग्रेजी में "क्रोटन आइल" कहते हैं ॥ २४१ ॥

बाकुचीबीजतैलपातने प्रकारान्तरम्—

क्वाथैरक्तापमार्गस्य बाकुचीतैलमाहरेत् ॥ २४२ ॥

अथवा बाकुचीबीजों का लाल अपामार्ग (चिरचिरा) के कषाय से भावना देकर गोला-सा बना स्वेदन करके उक्त यन्त्र से तैल निकालना चाहिये ॥ २४२ ॥

कृष्णामिश्रश्वेतगुञ्जाबीजतैलपातनम्—

कृष्णायाः काकतुण्ड्याश्च बीजचूर्णानि कारयेत्।
कान्तपाषाणचूर्णं च एकीकृत्य निरोधयेत्।
धान्यराशिगतं पश्चादुद्धृत्य तैलमाहरेत् ॥ २४३ ॥

कृष्णा (पिप्पली) काकतुण्डी (सफेद रत्ती) के बीजों को समभाग में लेकर सूक्ष्मचूर्ण करलें। फिर इस चूर्ण में तृतीयांश या पिप्पली के बराबर कान्तपाषाण चूर्ण मिलाकर एक पात्र में डाल कर मुख बन्द करके धान्यों की राशि में १५ दिन तक बन्द रखें। पश्चात् औषधिकल्क को निकाल उक्त विधि और यन्त्र से तैल निकाल लें ॥ २४३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये लोहशोधनमारणादिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः।

अथ षष्ठोऽध्यायः।

अथ शिष्योपनयनम्।

रसशास्त्रप्रकटने हेतुनिर्देशः—

रसशास्त्राणि सर्वाणि समालोच्य यथाक्रमम्।
साधकानां हितार्थाय प्रकटीक्रियतेऽधुना ॥ १ ॥

अत्र यथाक्रम शास्त्र में लिखी हुई स्वेदनमूर्छनोत्थापन आदि प्रक्रियाओं के अनुसार अथवा शास्त्र में लिखी हुई प्रक्रियाओं का स्वयं अनुष्ठाम करके तदनुसार सम्पूर्ण रसशास्त्रों को अच्छी तरह अवलोकन कर (उनमें से स्वयं सब प्रक्रियाओं को देखकर निःसन्देह होकर) साधकों (रससिद्धि की इच्छा करने वालों) के हित के लिये रसशास्त्र का वर्णन किया जाता है।

विशेष वचन—शिष्योपनयन-सम्बन्धी अध्याय लिखने का विशेष अभिप्राय यह है कि पारद के शोधनादि कर्मों में पूर्ण सिद्धि न केवल संस्कारों के द्वारा होती है किन्तु सिद्ध मन्त्र तथा विशेष शक्ति के द्वारा भी होती है। मन्त्रादि के प्रयोग में दीक्षासंस्कार रहित शिष्य का अधिकार नहीं होता है। अतः उसको रससंस्कार में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रादि का शुद्ध तथा विधिपूर्वक उच्चारण तथा अनुष्ठान करने के लिये शिष्य को प्रथम गुरु के पास दीक्षा लेनी आवश्यक होती है। इसी दीक्षा लेने की विधि को शिष्य का उप (गुरु के समीप) नयन (वेदादि शास्त्र अभ्यास के लिये लाना) शिष्योपनयन कहा जाता है। "गृह्योक्तकर्मणा येन समीपं नीयते गुरोः। बालो वेदाय तद्योगाद्बालस्योपनयं विदुः"। यह उपनयन वेदशास्त्र को पढ़ने के लिये किया जाता है। वेदादि शास्त्र पढ़ने के बाद आयुर्वेद शास्त्र पढ़ने के लिये पुनः उसका उपनयन करना उपनयन कहा जाता है। अथवा आयुर्वेदशास्त्र (जो कि अथर्ववेद का उपांग है) का भी वेदादि शास्त्र की भांति उपनय किया जाता है ॥ १ ॥

शास्त्रक्रमयोरन्योन्याऽपेक्षितत्वम्—

न क्रमेण विना शास्त्रं न शास्त्रेण विना क्रमः।
शास्त्रं क्रमयुतं ज्ञात्वाऽयः करोति स सिद्धिभाक् ॥ २ ॥

क्रम (विषय, वस्तु आदि का योग्य विन्यास स्थापना आदि) के बिना शास्त्र और शास्त्र के बिना क्रम कोई उपयोगिता नहीं रखता है। अतः जो रस-वैद्य शास्त्र का क्रमपूर्वक ज्ञाता होकर रस आदि कर्म करता है उसको अवश्य सिद्धि प्राप्त होती।

विशेष वचन—किसी कार्य की सफलता में शास्त्र क्रम मुख्य हेतु माना जाता है। जब तक कार्य सम्पादन की विधि को पहिले शास्त्र में न देखा जायगा तब तक उसका अनुकरण करना कठिन है। इसी तरह क्रम को जानते हुए भी शास्त्र के बिना विशेष विज्ञान का अधूरापन कार्य-सिद्धि में बाधक होता है। अतः जिस कार्य को किया जाय उससे सम्बन्ध रखने वाले सब क्रमों को प्रथम अच्छी तरह देख लिया जाय फिर इस क्रमानुसार कार्य करने में सफलता होती है ॥ २ ॥

रसविद्याया गुरोर्लक्षणम्—

आचार्यो ज्ञानवान्दक्षो रसशास्त्रविशारदः।
मन्त्रसिद्धो महावीरो निश्चलः शिववत्सलः ॥ ३ ॥
देवीभक्तः सदा धीरो देवतायागतत्परः।
सर्वाऽऽम्नायविशेषज्ञः कुशलो रसकर्मणि।
एवं लक्षणसंयुक्तो रसविद्यागुरुर्भवेत् ॥ ४ ॥

रसविद्या की शिक्षा देने वाला गुरु आचार्य (कल्प तथा रहस्य का अध्यापक) पूर्ण ज्ञानवान् सब कार्यों में दक्ष (चतुर), रसशास्त्र में निपुण, मन्त्रों में सिद्धि प्राप्त किया हुआ, साहसी, स्थिरमति, शिव का भक्त, देवीभक्त, सदैव धैर्यशाली, प्रतिदिन देवादि यज्ञ करने वाला, सर्ववेदों का ज्ञाता तथा रसकर्म (पारद के संस्कार आदि सर्व कर्म) में कुशल, इन लक्षणों से सम्पन्न मनुष्य रसविद्यागुरु होने का अधिकारी है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में सदाचार. सच्चरित्र, समदर्शी, सत्यवादी, असंकुचित हृदय, निर्लोभी आदि अनेक लक्षण रस-विद्यागुरु के पाये जाते हैं। रसेन्द्रचूडामणि में रसविद्यागुरु के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं। "शिष्यस्याऽपरिवञ्चको जनयुतो लोभादिदोषोज्झितः। धर्मिष्ठो न च दाम्भिकः सकरुणः सत्यान्वितः सात्विकः। सूतेन्द्रागमवत्परं करपरीपाटीपटीयान् शुचिः। सत्कीर्तिः रससंहितार्थनिपुणः सत्पक्वहस्तो गुरुः ॥ निघण्टुदेशकाभिज्ञः सर्व-भाषाविशेषवित्। ऊहापोहार्थविज्ञाता रसाचार्यः स उच्यते ॥ नाना-रूपरसागमेषु निपुणः दीक्षाविधानक्षमो, द्वन्द्वानां परिमेलको दलकरः सूतेन्द्रसंस्कारवित्। रोगज्ञानविचक्षणोऽनलशिखावर्णैश्च पाकादिवित् सूतोपद्रवशान्तिकृत् स हि गुरुः श्रीशम्भुदेवो मतः"। अन्यत्र बहुत ही संक्षिप्त और युक्तियुक्त लक्षण मिलता है। "अध्यापयन्ति यदि दर्शयितुं क्षमन्ते सूतेन्द्रकर्म गुरवो गुरवस्त एव। शिष्यास्त एव रचयन्ति पुरो गुरूणां शेषाः पुनस्तदुभयाभिनयं भजन्ते" ॥३–४॥

शिष्यलक्षणम्—

गुरुभक्ताः सदाचाराः सत्यवन्तो दृढव्रताः।
निरालस्याः स्वधर्मज्ञाः सदाऽऽज्ञापरिपालकाः ॥ ५ ॥
दंभमात्सर्यनिर्मुक्ताः कुलाऽऽचारेषु दीक्षिताः।
अत्यन्तसाधकाः शान्ता मन्त्राऽऽराधनतत्पराः ॥
इत्येवंलक्षणैर्युक्ताः शिष्याः स्युः सूतसिद्धये ॥ ६ ॥

निम्न लक्षणों से युक्त शिष्य पारद की सिद्धि के अधिकारी होते हैं। जो गुरुभक्त हों, सदाचारी, सत्यभाषी या आचार वाले, दृढ़व्रत (प्रतिज्ञा) आलस्यरहित, अपने धर्म को जानने वाले, सदा गुरु की आज्ञा पालन करने वाले, जिनमें दम्भ (ढोंग) तथा मात्सर्य (दूसरे की सम्पत्ति आदि को देख कर जलना डाह करना) न हो। अपने २ कुल वंश के आचार-विचारों से सम्यक् परिचित, साधक होने के लिये अत्यन्त उत्साही, शान्तप्रकृति और मन्त्र की सिद्धि करने में तत्पर रहनेवाले योग्य शिष्य कहलाते हैं। अर्थात् उक्त लक्षण युक्त शिष्य रसविद्या के अधिकारी होते हैं।

विशेष वचन—कुलाचार के विषय में ग्रन्थान्तर में यह बताया है कि जीव, प्रकृतितत्व, दिशा, काल, आकाशादि पञ्च-महाभूतों को कुल शब्द से कहा जाता है। इन पर निर्विकल्प बुद्धि से आचरण करना कुलाचार कहा जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि शिष्यों को परम आस्तिक और सब प्राणियों पर समदर्शी होना चाहिये। शिष्यों को मायावी बन कर छल करके विद्या नहीं सीखनी चाहिये। "मायया गुरुतो विद्यां न गृह्णीयात् कदाचन। दुष्टं वर्णमवाप्नोति निष्फलत्वं हि कर्मणि ॥" सुश्रुत में उपनयन के योग्य शिष्य के विषय में यह लिखा है कि "ब्राह्मणक्षत्रिय-वैश्यानामन्यतममन्वयवयः शीलशौर्यशौचाचारविनयशक्तिबलमेधा-धृतिस्मृतिमतिप्रतिपत्तियुक्तं तनुजिह्वौष्ठदन्ताग्रमृजुवक्त्राक्षिनासं प्रसन्न-चित्तवाक्चेष्टं क्लेशसहं च भिषक् शिष्यमुपनयेत्। अतो विपरीत-गुणन्नोपनयेत्" ॥ ५–६ ॥

सहायकलक्षणम्—

सहायाः सोद्यमास्तत्र यथा शिष्यास्ततोऽधिकाः।
कुलीनाः स्वाभिभक्ताश्च कर्तव्या रसकर्मणि ॥ ७ ॥

रसकार्य में नियुक्त किये जानेवाले सहायक या परिचारक अथवा भृत्य भी शिष्यों से अधिक उद्यमी आलस्य रहित अपने कर्तव्य को पालन करने वाले, कुलीन (अच्छे कुल के) और स्वामिभक्त होने चाहिये अर्थात् इन लक्षणों से युक्त भृत्यों को रस कर्म में नयुक्त करना चाहिये ॥ ७ ॥

नास्तिकानां वैफल्यनिर्देशः—

नास्तिका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरुतोऽपरात्।
विद्यां ग्रहीतुमिच्छन्ति चौर्याच्छद्मखलोत्सवात् ॥ ८ ॥
न तेषां सिध्यते किञ्चिन्मणिमन्त्रौषधादिकम्।
कुर्वन्ति यदि मोहेन नाशयन्ति स्वकं धनम् ॥
इहलोके सुखं नास्ति परलोके तथैव च ॥ ९ ॥

जो शिष्य, गुरु अथवा किसी दूसरे से चोरी, छल, कपट, धूर्तता तथा ढोंग से विद्या प्राप्त करना चाहते हैं। वे नास्तिक दुराचारी, धूर्त और लम्पट होते हैं। ऐसे शिष्यों को मणि, मन्त्र तथा औषध आदि में कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। यदि ऐसे शिष्य लोग मूर्खता से रससिद्धि के लिये उद्योग करते हैं तो वे अपने द्रव्य को व्यर्थ नष्ट करते हैं। उनको न इस लोक में सुख मिलता है और न परलोक में ॥ ८-९ ॥

गुरुसन्तोषस्य सिद्धिप्रदत्वनिर्देशः—

तस्माद्भक्तिबलादेव सन्तुष्यति यदा गुरुः ।
तदा शिष्येण सा ग्राह्या रसविद्याऽऽत्मसिद्धये ।
हस्तमस्तकयोगेन वरं लब्ध्वा सुसाधयेत् ॥ १० ॥

अतः मायारहित भक्ति भाव से जब गुरु प्रसन्न हो जायँ तभी शिष्य को आत्मसिद्धि (अपने कार्य में सफलता) के लिये रसविद्या का ग्रहण करना चाहिये। और अन्त में दोनों हाथ जोड़ कर शिर नवा कर गुरु से वरदान (आशीर्वाद) प्राप्त कर रसविद्या का साधन आरम्भ करना चाहिये ॥ १० ॥

रससाधनोपयोगिदेशनिर्देशः—

आतंकरहिते देशे धर्मराज्ये मनोरमे ।
उमामहेश्वरोपेते समृद्धे नगरे शुभे ॥ ११ ॥
कर्तव्यं साधनं तत्र रसराजस्य धीमता ।
अत्यन्तोपवने रम्ये चतुर्द्वारोपशोभिते ॥ १२ ॥
तत्र शाला प्रकर्तव्या सुविस्तीर्णा मनोरमा ।
सम्यग्वातायनोपेता दिव्यचित्रैर्विचित्रिता ॥ १३ ॥

विघ्नबाधा तथा भय रहित देश में जहाँ पर धर्मपूर्वक राज्य हो और जहाँ पर शिव-पार्वती का मन्दिर हो उसके पास में बसने वाले सुन्दर समृद्धिशाली स्वच्छ नगर में बुद्धिमान् रससाधक को पारद का साधन (संस्कार) करना चाहिये। रससंस्कार के लिये एक सुन्दर उपवन (बागीचा) युक्त चार दीवारी वाले स्थान पर, एक लम्बी चौड़ी अत्यन्त रमणीक खिड़की व झरोखों से युक्त और अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम चित्रों (रससंस्कार में काम आनेवाले यन्त्रमूषापुट आदि) से विभूषित रसायनशाला बनानी चाहिये।

विशेष वचन—रसशाला में कोई नल या पम्प आदि का भी होना आवश्यक है क्योंकि पात्रादि को धोने, क्वाथ आदि बनाने तथा यंत्रों (पुट) के निर्माण के लिये जल का होना जरूरी है। उसमें औषधियों की धूलि आदि से बचाने के लिये भी पर्याप्त साधन होना चाहिये। साथ ही उसमें खरल, काच कूपिका, काष्ठ कोयला, उपले, मृत्तिका, चलनी तथा विविध प्रकार की औषधि आदि रखने की सुव्यवस्था होनी चाहिये ॥ ११—१३ ॥

रससाधनोपयोगिगृहनिर्माणप्रकारः—

तत्समीपे समे दीप्ते कर्तव्यं रसमण्डपम् ।
अतिगुप्तं सुविस्तीर्णं कपाटार्गलशोभितम् ॥ १४ ॥
ध्वजच्छत्रवितानाढ्यं पुष्पमालाविलम्बितम् ।
भेरिकाहलघण्टादिशृङ्गिनादविनादितम् ॥ १५ ॥
भूः समा तत्र कर्तव्या सुदृढा दर्पणोपमा ।
तन्मध्ये वेदिका रम्या कर्तव्या लक्षणान्विता ॥ १६ ॥

उक्त रसशाला के समीप सम और प्रकाश युक्त भूमि पर एक रसमण्डप बनावें, यह मण्डप अत्यन्त गुप्त (सुरक्षित) लम्बा, चौड़ा, सुन्दर किवाड़ तथा अर्गला (आगल जो किसी मार्ग पर पशु आदि के निषेध के लिये तीन चार तिरछे लकड़ी के डंडों से बनाई जाती है) से सुशोभित होना चाहिये। और वहाँ ध्वजा (पताका निशान) छत्र, चन्दोवा (सामियाना), पुष्पमाला आदि सजाये गये हों। और वहाँ समय २ पर नगारा ढोल घंटा घड़ियाल शंख आदि बजाये जाते हों। और वहाँ पर की भूमि समान (चौरस) दृढ़ तथा स्वच्छ शीशे के समान चमकदार (गोबर आदि से लीपकर) बना कर उसके बीच में मनोहर और चार कोने वाली उत्तम लक्षणों से युक्त एक वेदी बनानी चाहिये।

रसलिंगप्रस्तुतप्रकारनिर्देशः—

निष्कत्रयं हेमपत्रं रसेन्द्रं नवनिष्ककम् ।
अम्लेन मर्दयेद्यामं तेन लिंगं तु कारयेत् ॥ १७ ॥
दोलायन्त्रे सारनाले जम्बीरस्थं दिनं पचेत् ।
तल्लिंगं पूजयेत्तत्र सुशुभैरुपचारकैः ॥ १८ ॥

तीन निष्क (९ मासा) सोने के वर्क, उत्तम शुद्ध पारद नौ निष्क (२७ मासा) लेकर दोनों को एकत्र खरल में नींबू के रस से एक पहर तक मर्दन कर उसका शिवलिंग बनावें। फिर उस लिंग को एक जम्बीरी नींबू के भीतर रखकर कपड़े की पोटली में बांध कर काञ्जी में दोलायन्त्र द्वारा एक दिन तक मन्द अग्नि से स्वेदन करें। इस प्रकार स्वेदन करने से पारद का लिंग दृढ़ हो जाता है। उसको उक्त वेदी पर रखकर सुन्दर उपचारों से पूजा करें।

विशेष वचन—एक पहर तक नींबूरस में मर्दन करने से पारद का पिण्ड नहीं बनता है। अतः पिण्ड बनने तक मर्दन करना चाहिये। सम्भवतः इसी वास्ते रसकामधेनु में तीन दिन तक मर्दन करने को लिखा है, अतः तीन दिन तक मर्दन करना उत्तम होगा। दोलायन्त्र में स्वेदन करते समय बहुत ही मन्द अग्नि देनी चाहिये अथवा पारद का पिण्ड दृढ़ न हो सकेगा ॥ १७–१८ ॥

रसलिंगार्चनादौ फलविशेषः—

लिंगकोटिसहस्रस्य यत्फलं सम्यगर्चनात् ।
तत्फलं कोटिगुणितं रसलिंगार्चनाद्भवेत् ॥ १९ ॥
ब्रह्महत्यासहस्राणि गोहत्याश्चायुतानि हि ।
तत्क्षणाद्विलयं यान्ति रसलिंगस्य दर्शनात् ॥ २० ॥
स्पर्शनात्प्राप्यते मुक्तिरिति सत्यं शिवोदितम् ।

हजारों व करोड़ों शिवलिंगों की विधिपूर्वक पूजा करने से जो फल प्राप्त होता है उससे करोड़ों गुण अधिक फल पारद का लिंग बना कर पूजन करने से प्राप्त होता है। हजारों की संख्या में की हुई ब्रह्महत्याओं और लाखों की संख्या में की गई गोहत्याओं का पाप पारद के लिंग दर्शन से तत्क्षण नष्ट हो जाता है। इस लिंग के स्पर्शमात्र से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यह शिव का कहा हुआ सत्य वाक्य है॥ १९—२०॥

पूजाविधिनिर्देशः—

आग्नेय्यां श्रीमघोरेण मन्त्रराजेन चार्चयेत्॥ २१॥

उक्त रसलिंग की वेदिका के आग्नेय दिशा में स्थापना करके आगे लिखे हुए अघोर मन्त्र "ओं ह्रां ह्रीं हूम्" इत्यादि से उसकी पूजा करनी चाहिये।

विशेष वचन—अन्यत्र अघोर मन्त्र 'ओम् अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः' इस प्रकार लिखा हुआ पाया जाता है॥ २१॥

अथ ध्यानम्—

अष्टादशभुजं शुभ्रं पंचवक्त्रं त्रिलोचनम्।
प्रेतारूढं नीलकंठं रसलिंगं विचिन्तयेत्॥ २२॥
तस्योत्संगे महादेवीमेकवक्त्रां चतुर्भुजाम्।
अक्षमालांकुशं दक्षे वामे पाशाभयं शुभम्॥
दधतीं तप्तहेमाभां पीतवस्त्रां विभावयेत्॥ २३॥

रसलिंग की पूजा करते हुए अठारह भुजा युक्त शुभ्र (श्वेत) वर्ण, पञ्चमुख तथा तीन नेत्र वाले और मृतक के ऊपर सवार हुये श्रीनीलकण्ठ महादेव का ध्यान करें। और साथ ही उस रसलिंग की गोद में मानसिक ध्यान में ही श्री महादेवी पार्वती की स्थापना कर उसका भी ध्यान करें कि वह देवी एकमुख, चार भुजावाली, जिसके दाहिने हाथों में रुद्राक्ष की माला और अंकुश है। तथा बायें हाथों में शुभ पाश तथा अभय अस्त्र है। उक्त माला आदि को धारण करती हुई, सन्तप्त सुवर्ण की कान्ति वाली पीतवर्ण धारण की हुई देवी भी यहाँ पर उपस्थित है इस प्रकार ध्यान करना चाहिये॥ २२—२३॥

देवीपूजायां मन्त्रम्—

"वाङ्मयी श्रीः कामराजशक्तिबीजं रशाङ्कुशायै
नमो" द्वादशार्णेषा ज्ञेया विद्या रसांकुशा॥ २४॥

देवी के पूजन के लिये बारह अक्षर युक्त रसांकुश विद्या मन्त्र "वाङ्मयी श्रीः कामराजशक्तिबीजं रसांकुशायै नमः" का प्रयोग करना चाहिये॥ २४॥

पूजने प्रकारनिर्देशः—

अनया पूजयेद्देवीं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः।
नन्दीभृङ्गीमहाकालकुलीरान्पूर्वदिक्क्रमात्॥ २५॥
पूजयेन्नाममंत्रैश्च प्रणवादिनमोन्तकैः।
एवं नित्यार्चनं तत्र कर्तव्यं रससिद्धये॥ २६॥

उपर्युक्त रसांकुशा विद्या मंत्र का उच्चारण करते हुये पुष्प अक्षत आदि से पार्वती देवी की पूजा करें। रस लिंग के पूर्व में नन्दी, पश्चिम में भृंगी, उत्तर दिशा में महाकाल और दक्षिण में कुलीर नाम शिव के गणों की स्थापना करके उनका नाम मन्त्रादि से पूजन करें। अर्थात् इनके पूजन मंत्रों में पहिले प्रणव ओंकार हो बीच में गण का नाम और अन्त में 'नमः' होना चाहिये अर्थात् "ओं नन्दिने नमः" "ओं भृंगिणे नमः" "ओं महाकालाय नमः" "ओं कुलीराय नमः" कहते हुए गणों की पूजा करें। इस प्रकार रसशाला के अन्तर्गत रसमण्डप में वेदी के ऊपर पारद की सिद्धि के लिये प्रतिदिन रसलिंग, देवी और उनके गणों की ध्यान-पूर्वक पूजा करनी चाहिये।

विशेष वचन—रसकामधेनु में षडंग देवता आदि का भी पूजा-विधान पाया जाता है जैसे "रसांकुशमन्त्रमुच्चार्य रसेश्वराय सांगाय सपरिवाराय इदं कल्पयामि नम इति सर्वोचारैः सम्पूज्य तदग्नीशानवायव्यमध्वदिक्षु षडंगदेवताः सम्पूज्य रससारोक्तमन्त्रैः पूजयेत्। तद्यथा भद्राय नमः। विश्वाय नमः। विश्वरूपाय नमः। तत्पुरुषाय नमः। यक्षाय नमः। यक्षरूपाय नमः। एकाय नमः एकाक्षराय नमः। वरदाय नमः। त्र्यक्षाय नमः। ॐ हस्ते मम देहि सिद्धिं देहि २ स्वाहा। ॐ ईश्वराय नमः। इति गन्धाक्षतपुष्पैः सम्पूज्य, अघोरमन्त्रेण पुष्पाञ्जलिं दद्यात्"। आजकल इस प्रथा के लोप हो जाने से इसका वर्णन तथा आचरण करना कठिन प्रतीत होता है जो रसवैद्य इस विधि से रससिद्धि के इच्छुक हों वे रसार्णव, रसकामधेनु, रसेन्द्रचूडामणि तथा अन्य तान्त्रिक ग्रन्थों का भली भांति अवलोकन करके इसका अनुपान कर सकते हैं॥ २५—२६॥

रसविद्यादाने दीक्षाविधिः—

रसविद्या शिवेनोक्ता दातव्या साधकाय वै।
यथोक्तेन विधानेन गुरुणा मुदितात्मना॥ २७॥
सुमुहूर्ते सुनक्षत्रे चन्द्रताराबलान्विते।
कलशं तोयसम्पूर्णं हेमरत्नफलैर्युतम्॥ २८॥
स्थापयेद्रसलिंगाग्रे दिव्यवस्त्रेण वेष्टितम्।
गन्धपुष्पाक्षतैर्धूपैर्नैवेद्यैश्च सुपूजयेत्॥ २९॥
पूजान्ते हवनं कुर्याद्योनिकुण्डे सुलक्षणे।
तिलाज्यैः पायसैः पुष्पैः शतपुष्पादिकैः पृथक्॥ ३०॥
अघोरेण रसांकुश्या होमांते शिष्यमाह्वयेत्।
कालिनीशक्तिसंयुक्तं रससिद्धिपरायणम्॥ ३१॥

शिव जी की कही हुई रसविद्या को प्रसन्नचित्त गुरु, शास्त्रोक्त विधान से साधक (शिष्य) को प्रदान करे। शास्त्रोक्त विधान यह है

कि शुभ मुहूर्त तथा नक्षत्र में जब कि चन्द्रमा तथा बृहस्पति और तारागण पूर्णबल से अनुकूल हों। जल से पूर्ण एक सुवर्ण कलश लेकर उसमें स्वर्ण, रत्न, फल, फूल आदि डालकर बाहर से उस पर सुन्दर रेशमी रक्त वर्ण वस्त्र लपेट कर रसलिंग के आगे स्थापन करें। फिर उसकी (कलश की) गन्ध, (गोली चन्दन आदि) पुष्प अक्षतों और धूप दीप तथा नैवेद्य आदि से पूजा करें। पूजा करने के बाद शास्त्रोक्त विधि से बनाये हुए योनिकुण्ड (योनिआकार) में तिल, घृत, दुग्ध अथवा खीर, पुष्प तथा शतपुष्प (कमल-पुष्पादि अथवा सौंप सोया) आदि पृथक् पृथक् पदार्थों द्वारा अघोर मन्त्र तथा रसांकुशा नामक मंत्र से हवन करें। हवन करने के पश्चात् कालिनी (आगे लिखे लक्षण वाली) शक्ति से युक्त और पारद कर्म सिद्धि में तत्पर शिष्य को वहां पर बुलावें।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में कलशस्थापन में कलश को श्वेत रक्त दो वस्त्रों से लपेटने को लिखा है। इसी तरह उसमें पांच रत्न डालने का विधान भी पाया जाता है। कहीं २ लिंगपूजा के बाद और कलशस्थापन के पूर्व यक्ष राक्षस आदि को बलि देने का भी विधान है ॥ २७—३१ ॥

कालिनीलक्षणम्—

यस्यास्तु कुंचिताः केशाः श्यामा या पद्मलोचना।
सुरूपा तरुणी भिन्नां विस्तीर्णजघना शुभा ॥ ३२ ॥
संकीर्णहृदया पीनस्तनभारेण नम्रिता।
चुम्बनालिंगनस्पर्शकोमला मृदुभाषिणी ॥ ३३ ॥
अश्वत्थपत्रसदृशयोनिदेशसुशोभिता।
कृष्णपक्षे पुष्पवती सा नारी कालिनी स्मृता ॥
रसबन्धे प्रयोगे च उत्तमा सा रसायने ॥ ३४ ॥

जिस स्त्री के शिर के बाल सुन्दर घूंघरवाले तथा श्यामवर्ण हों, नेत्र कमल के समान हों, जिसका सुन्दर रूप हो और जो युवती तथा यौवनमद से मस्त हो, जिसकी जांघें मोटी गोल हों, जिसमें अन्यान्य ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शुभ लक्षण पाये जाते हों और जिसका हृदय संकीर्ण; पुष्ट स्तनों के भार से जो नम्र हुई हो और जो चुम्बन, आलिंगन तथा स्पर्श में अत्यन्त कोमल, और मृदुभाषिणी हो, जिस का योनि प्रदेश पीपल वृक्ष के पत्ते सदृश ऊर्ध्व प्रदेश में चौड़ा गोल उभरा हुआ निम्न प्रदेश में पतला नुकीला हो और जो कृष्ण पक्ष में ही ऋतुमती होती हो इन लक्षणों से युक्त स्त्री को कालिनी कहा जाता है। उक्त लक्षण से युक्त स्त्री को रसायन कर्म तथा पारद बन्धन प्रयोग में उत्तम माना जाता है ॥ ३२—३४ ॥

कालिन्यभावे तदनुकल्पविधिः—

तदभावे सुरूपा तु या काचित्तरुणाङ्गना।
तस्या देयं त्रिसप्ताहं गंधकं घृतसंयुतम्।
कर्षैकैकं प्रभातो तु सा भवेत्कालिनीसमा ॥ ३५ ॥
एवं शक्तियुतो योऽसौ दीक्षयेत्तं गुरूत्तमः।
सुस्नातमभिषिञ्चेत मंत्रेण कलशोदकैः ॥ ३६ ॥
अघोरामंकुशीं विद्यां दद्याच्छिष्याय सद्गुरुः।
यथाशक्त्या सुशिष्येण दातव्या गुरुदक्षिणा ॥ ३७ ॥
अथाज्ञया गुरोर्मन्त्रं लक्षं लक्षं पृथगजपेत्।
"ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूम् अघोरतर प्रस्फुट २ प्रकट २ कह २ शमय २ जात २ दह २ पातय २
ॐ ह्रीं ह्रैं ह्रौं ह्रूम् अघोराय फट्" इममघोरमन्त्रन्तु
"ॐ कामराजशक्तिबीजरसाङ्कुशायै आज्ञैया विद्यां रसाङ्कुशाम्" ॥
अनया पूजयेद्देवीं शक्तिमङ्कुशविद्यया ॥ ३८ ॥
दशांशं जुहुयात्कुंडे त्रिकोणे हस्तमात्रके।
जातिपुष्पं त्रिमध्वक्तं पूर्णान्ते कन्यकार्चनम् ॥ ३९ ॥

यदि उक्तलक्षण युक्त कालिनी स्त्री न मिल सके तो किसी सुन्दर स्वरूप वाली युवती स्त्री को प्रतिदिन प्रातःकाल १ एक कर्ष (१ तोला) शुद्ध गन्धक घृत के साथ मिलाकर २१ दिन तक बराबर खिलावें तो उसमें कालिनी के समान गुण आ जाते हैं। इस कालिनी की शक्ति से सम्पन्न अर्थात् कालिनी स्त्री वाला, शिष्य के लिये गुरु को दीक्षा देनी चाहिये। दीक्षा देने के पूर्व शिष्य को साधारण स्नान कराकर पश्चात् कलश जल से मन्त्र पूर्वक अभिषेक करें, पश्चात् गुरु उसको अघोरा तथा अंकुशी विद्या प्रदान करे और शिष्य को भी यथाशक्ति गुरु को दक्षिणा देनी चाहिये। इसके पश्चात् शिष्य गुरु की आज्ञा लेकर उक्त द्विविध विद्याओं के मन्त्रों का एक २ लक्ष संख्या में पृथक् २ जाप करे। "ओं ह्रां ह्रीं ह्रम् अघोरतर प्रस्फुट २ प्रकट २ कह २ क्षमय २ जात २ दह २ पातत्र २ ओं ह्रीं ह्रैं ह्रौं ह्रूम् अघोराय फट्" यह अघोर मन्त्र हैं। और "ओंम् काशिराजशक्तिबीजरसांकुशा आज्ञैया विद्यां रसांकुशाम्" यह रसांकुशा मन्त्र है। इस अंकुश विधान से रसांकुशी देवी का पूजन करें। पश्चात् एक हाथ चौड़ा और त्रिकोणाकार (तिखूंटा) एक कुण्ड बना उसमें त्रिमधु (शहत, घृत तथा शर्करा) युक्त चमेली के पुष्पों को मन्त्र जाप के दशमांश अर्थात् २० हजार बार हवन करे, हवन पूर्ण होने पर कुमारी कन्याओं का पूजन करें ॥ ३५—३९ ॥

देवतापूजनविधिः—

कृत्वाथ प्रविशेच्छालां शुद्धां लिप्तां सवेदिकाम्।
षट्कोणमण्डलं तत्र सिंरेदूण द्विहस्तकम् ॥ ४० ॥
वेदिकायां लिखेत्सम्यक् तद्वहिश्चाष्टपत्रकम्।
कमलं चतुरस्रं च चतुर्द्वारैः सुशोभितम् ॥ ४१ ॥

कर्णिकायां न्यसेत्खल्लं लोहजं स्वर्णलेखितम् ।
तन्मध्ये रसराजं तु पलानां शतमात्रकम् ॥
पंचाशत्पंचविंशद्वा पूजयेद्रसलिंगवत् ॥ ४२ ॥

इसके पश्चात् गोबर से लिपी हुई (कली की हुई) वेदी वाली रसायन शाला में प्रवेश करें और वेदी के ऊपर दो हाथ लम्बा चौड़ा सिन्दूर से षट्कोण (छकोना) मण्डल बनावें। इसके बाद मण्डल के बाह्य भाग में आठ पत्र वाला कमल लिखें इसके चारों द्वारों पर चतुरस्र (चौकोण) मण्डल बनावें, उक्त लिखित कमल की कर्णिका (मध्यकली) के बीच में उत्तम लोहे का खरल रख कर उसको सोने की रेखाओं से चित्रित कर दें, फिर इस खरल में सौ पल पारद अथवा पचास पल अथवा पच्चीस पल पारद ढालकर उसकी रसलिंग के समान पूजा करें।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में षट्कोण मण्डल एक हाथ चौड़ा लम्बा भी लिखा है। षट्कोण मण्डल बनाने के लिये चावलों या उनके आटे का प्रयोग भी पाया जाता है ॥ ४०—४२ ॥

रसशक्तयः—

वज्रवैक्रान्तवज्राभ्रकान्तपाषाणटंकणम् ।
भूनागः शक्तयश्चैताः षट्कोणे पूजयेत्क्रमात् ॥ ४३ ॥

वज्र (हीरा), वैक्रान्त, वज्राभ्र (काला अभ्रक), कान्त-पाषाण, टंकण तथा भूनाग (कैंचुवा) पारद की इन छः शक्तियों को षट्कोण मण्डल के छः कोनों में रखकर क्रमशः पूजन करें।

विशेष वचन—प्रश्नावतार में षट्कोण में महाकाल आदि छः देवताओं को स्थापित कर पूजन करने का विधान है। महाकाल, महाबल, अघोर वज्र चीरक, क्रोध तथा कङ्काल ये छः देवताओं के नाम है ॥ ४३ ॥

तत्र उपरसाः—

गन्धतालककासीसशिलाकंकुष्ठभूषणम् ।
राजावर्तो गैरिकं च ख्याता उपरसा अमी ।
पूज्या अष्टदलेष्वेते पूर्वादीशानगं क्रमात् ॥ ४४ ॥

गन्धक, हरताल, कासीस, मैनसिल, कंकुष्ठ, भूषण (सौराष्ट्री या अञ्जन), राजावर्त तथा गेरू ये आठ उपरस हैं। इनको अष्टदल कमल के पत्रों पर क्रम से पूर्वदिशा से लेकर ईशानकोण पर्यन्त स्थापन कर पूजन करें। अर्थात् गन्धक को पूर्वदिशा के पत्र में, हरताल को अग्निकोण में, कासीस को दक्षिणदिशा में, मैनसिल को नैऋत्यकोण में, कंकुष्ठ को पश्चिमदिशा में, सौराष्ट्री या अञ्जन को वायव्यकोण में, राजावर्त को उत्तरदिशा में और गेरू को ईशानकोण में स्थापन करें।

विशेष वचन—रसार्णव में उक्त आठ उपरसों की स्थापना के पूर्व दल के प्रथम भाग में क्रमशः वज्र, मुक्ता, प्रवाल, गोमेद, नीलाञ्जन, वैदूर्य, पुष्पराग, गारुत्मत मणियों को रख मध्य में माणिक्य को रख पूजन करने का विधान है। और दलों के अवशिष्ट भाग में क्रमशः गन्धकादि को स्थापन करने को बताया गया है ॥ ४४ ॥

तत्र महारसाः—

रसकं विमला ताप्यं चपला तुत्थमञ्जनम् ।
हिङ्गुलं सस्यकं चैव ख्याता एते महारसाः ।
पूर्वादीशानपर्यन्तं पत्राग्रेषु प्रपूजयेत् ॥ ४५ ॥

खर्पर, विमलामाक्षिक, स्वर्णमाक्षिक, चपल, तूतिया, अञ्जन, हिंगुल तथा सस्यक (नीलाथोथा) ये आठ महारस कहे जाते हैं। इनको पत्रों के अग्रभाग में क्रम से पूर्वदिशा से ईशानकोण पर्यन्त स्थापन कर पूजन करें।

विशेष वचन—यहाँ पर तुत्थ से खर्परतुत्थ का अर्थ लिया जाता है। अंजन तथा हिंगुल के साधारण रस तथा उपरसों में होते हुए भी महारसों में लिखना रसवाद में ही समझना चाहिये। रसवाद के अतिरिक्त ये साधारण रस या उपरस ही हैं ॥ ४५ ॥

अष्टलोहपूजाक्रमः—

पूर्वद्वारे स्वर्णरौप्ये दक्षिणे ताम्रसीसके ।
पश्चिमे वंगकान्तौ च उत्तरे मुण्डतीक्ष्णके ।
सर्वमेतदघोरेण पूजयेदंकुशान्वितम् ॥ ४६ ॥

वेदी के चार द्वारों पर क्रमशः पूर्व द्वार पर सुवर्ण तथा रजत का, दक्षिण द्वार पर ताम्र तथा सीसक का, पश्चिम द्वार पर वंग और कान्तलौह का तथा उत्तर द्वार पर मुण्ड तथा तीक्ष्णलौह का स्थापन कर पूर्वोक्त अघोर तथा रसांकुश मन्त्र से पूजन करें।

विशेष वचन—अन्यत्र पत्राग्रों पर स्वर्ण रौप्य पूर्व में, ताम्र तथा सीसक दक्षिण में, वंग कान्त पश्चिम में और मुण्ड तथा तीक्ष्ण लौह उत्तर में स्थापन करके पूजन करने की विधि पाई जाती है। वेदिका के चतुरस्र (चार द्वार) की रेखाओं पर विडकाञ्जिकादि सम्पूर्ण औषधि तथा उपकरण समूह जो कि पारद साधन में काम आते हैं स्थापन कर पूजन करने को बताया गया है ॥ ४६ ॥

उपकरणानां पूजाविधिः—

विडं कांजिकयंत्राणि क्षारमृल्लवणानि च ।
कोष्ठी मूषा वंकनालतुषांगारवनोपलाः ॥ ४७ ॥
भस्त्रिका दण्डिकानेकाः शिलाः खल्वान्युलूखलम् ।
स्वर्णकारोपकरणं समस्ततुलनानि च ॥ ४८ ॥
मृत्काष्ठताम्रलोहोत्थपात्राणि विविधानि च ।
दिव्यौषधीनां वर्गाश्च रंजकस्नेहनानि च ॥
एतानि द्वारबाह्ये तु मूलमंत्रेण पूजयेत् ॥ ४९ ॥
वाङ्माया ह्रीं ततः त्रं च दमश्च पञ्चाक्षरो मनुः ।
अनेन मूलमंत्रेण भैरवं तत्र पूजयेत् ॥
सर्वेषां रससिद्धानां नाम संकीर्तयेत्तदा ॥ ५० ॥

विड (पारद जारण करने के निमित्त निर्मित क्षार समुदाय योग), काञ्जी, अनेकविध आगे वर्णन किये जाने वाले यन्त्र, क्षार, मृत्तिका, लवण, छोटी बड़ी कोष्ठी (अंगेठी) तथा मूषा, वंकनाल, तुष (भुस), कोयले, जंगली उपले, धौंकनी, छोटी बड़ी अनेक प्रकार की मूसली, सिल, खरल, ऊखल (हमाम दस्ता), सुनार के यहाँ काम आने वाले अनेक उपकरण (सामग्री), छोटे बड़े तराजू तथा मिट्टी, लकड़ी तांबा तथा लौह के बने हुये अनेक प्रकार के पात्र, विविध प्रकार की दिव्य (रुद्रवन्ती सोमलता आदि) औषधियों के गण, पारद तथा रजत आदि को रंगने वाली औषधियाँ, सम्पूर्ण स्नेहवर्ग (घृत तैल आदि), इन सब पदार्थों को द्वार के बाहर स्थापन करके मूलमन्त्र "वाङ्मायां ह्रीं, ततः द्रें च दमश्च पञ्चाक्षरो मनुः" इस पञ्चाक्षर मूलमंत्र से पूजन करें और इसी मूलमंत्र से उस स्थान पर भैरव का भी पूजन करें। इसके साथ ही सम्पूर्ण रससिद्ध आचार्यों का नाम संकीर्तन पूर्वक पूजन करें ॥

रससिद्धानां नामानि—

व्यालाचार्यश्चन्द्रसेनः सुबुद्धिर्नरवाहनः
नागार्जुनो रत्नघोषः सुरानंदो यशोधनः ॥ ५१ ॥
इन्द्रधूमश्च मांडव्यश्चर्पटी शूरसेनकः ।
आगमो नागबुद्धिश्च खण्डः कापालिको मतः ॥ ५२ ॥
कामारिस्तान्त्रिकः शम्भुर्लङ्कालम्पटशारदौ ।
बाणासुरो मुनिश्रेष्ठो गोविन्दः कपिलो बलिः ॥ ५३ ॥
एते सर्वे तु सूतेन्द्रा रससिद्धा महाबलाः ।
चरन्ति सर्वलोकेषु नित्या भोगपरायणाः ॥ ५४ ॥
सप्तविंशतिसंख्याका रससिद्धिप्रदायकाः ।
वैद्याः पूज्याः प्रयत्नेन ततः कुर्याद्रसार्चनम् ॥ ५५ ॥
हर्पयन्द्विजदेवानां तर्पयेदिष्टदेवताः ।
कुमारीयोगिनीयोगीश्वरान्मेलकसाधकान् ॥
तर्पयेत्पूजयेद्भक्त्या यथाशक्त्यनुसारतः ॥ ५६ ॥
इत्येवं सर्वसम्भारयुक्तं कुर्याद्रसोत्सवम् ।
सर्वविघ्नप्रशांत्यर्थं सर्वेप्सितफलप्रदम् ॥ ५७ ॥

व्यालाचार्य, चन्द्रसेन, सुबुद्धि, नरवाहन, नागार्जुन, रत्नघोष, सुरानन्द, यशोधन, इन्द्रधूम, माण्डव्य, चर्पटि, शूरसेनक, आगम, नागबुद्धि, खण्ड, कापालिक, कामारि, तान्त्रिक, शम्भु, लंकालम्पट, शारद, बाणासुर, मुनिश्रेष्ठ, गोविन्द, कपिल तथा बलि ये सत्ताईस रसाचार्य, सूतेन्द्र अर्थात् पारद के साधन कर्म में इन्द्रवत् बलशाली हैं, ये आचार्य लोग रससिद्ध (इन्होंने रसशास्त्र में पूर्ण सफलता प्राप्त की है अथवा जिन्होंने रसशास्त्र या पारद को अपने आधीन कर लिया है) तथा महाबल (विशेष बल) हैं। ये नित्य भोगपरायण होकर सम्पूर्ण लोकों में विचरते फिरते हैं। ये भी पारद कर्म में सिद्धि देने वाले हैं। अतः उक्त सत्ताईस रसवैद्यों का भी प्रयत्न पूर्वक "ओं नागार्जुनाय नमः" इत्यादि मंत्र से पूजन करना चाहिये इसके अतिरिक्त ब्राह्मण तथा देवों को प्रसन्न करते हुये अपने इष्ट देवता का विधिपूर्वक पूजन करें। इसी प्रकार कन्या, योगिनी, योगीश्वर तथा पारद के अनेकविध मिश्रणों के विशेषज्ञों का अपनी शक्ति अनुसार भक्ति भाव से तर्पण और पूजन करना चाहिये। पारद या रससिद्धि में समस्त विघ्नों की शान्ति और इच्छित फलों की प्राप्ति के लिये इस प्रकार बड़े समारोह के साथ रसोत्सव करना चाहिये ॥ ५१—५७ ॥

अदीक्षितस्य रसविद्यासाधनवैफल्यम्—

अन्यथा यो विमूढात्मा मन्त्रदीक्षाक्रमाद्विना ।
कर्तुमिच्छति सूतस्य साधनं गुरुवर्जितः ॥ ५८ ॥
नासौ सिद्धिमवाप्नोति यत्नकोटिशतैरपि ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शास्त्रोक्तां कारयेत्क्रियाम् ॥ ५९ ॥

उक्त क्रम के विरुद्ध अर्थात् बिना दीक्षा लिये और बिना गुरु के पास रहकर कार्य सीखे जो नासमझ मनुष्य अर्थात् रसविद्या मन्त्र तथा दीक्षा (शिक्षा) रहित वैद्य, पारद का साधन (संस्कार) करना चाहता है, वह प्रत्यक्ष दर्शन तथा शास्त्र ज्ञान न होने से सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः प्रयत्न पूर्वक सम्पूर्ण शास्त्रोक्त विधियों का अनुसरण करके पारद का साधन करना चाहिये ॥ ५८—५९ ॥

केषां पारदः सिध्यति—

सम्यक्साधनसोद्यमा गुरुयुता राजाऽज्ञयाऽलंकृताः
नानाकर्मपराङ्मुखा रसपराश्चाढ्या जनैश्चार्थिताः ।
मात्रायन्त्रसुपाककर्मकुशलाः सर्वौषधे कोविदाः
तेषां सिध्यति नान्यथा विधिबलाच्छ्रीपारदःपारदः ॥ ६० ॥

जिनके पास शास्त्रानुकूल विड आदि उत्तम साधन हैं और जो निरन्तर उद्यमशील अर्थात् निरालसी हैं, जिन्होंने गुरु से विधिपूर्वक विद्या को पढ़ा और कर्माभ्यास किया हो, जिन्हें राज्य की तरफ से रसकार्य के लिये विशेष आज्ञा तथा सन्मान प्राप्त हो और जो अन्य सब कार्यों को छोड़कर केवल पारद साधन कर्म में ही लगे रहने वाले हों अर्थात् जिनके पास पारद सम्बन्धी खोज के अतिरिक्त कोई कार्य न हों, जो धनी हो स्वयं भी इस कार्य के लिये धन व्यय कर सकते हों उन्हीं को परोपकार सम्बन्धी कार्यों में प्रायः सफलता मिलती है। जो अन्य मनुष्यों के कथनानुसार अपना स्वार्थ छोड़कर रससाधन करते हों और जो पारद या औषधियों के मात्रा प्रमाण, यन्त्र और पाक आदि कर्म में कुशल हों, पारद के शोधनादि कार्य में कितनी औषधि, कितना जल, कितना शेष, किस प्रकार मर्दन, किस यन्त्र में मर्दन, किस तरह पाक और कितना पाक करना चाहिये इत्यादि सब बातों के जानने वाले हों, जो सब औषधियों को अच्छी तरह जानते हों और जिनका प्रारब्ध भी बलवान् हो ऐसे मनुष्यों को ही सर्वसिद्धि प्रदान करने वाले पारद की सिद्धि होती है ॥ ६० ॥

कस्मै किमर्थं रसविद्या प्रदातव्या—

रसशास्त्रं प्रदातव्यं विप्राणां धर्महेतवे ।
राज्ञे वैश्याय वृद्धयर्थं दास्यार्थमितरस्य च ॥ ६१ ॥

रसविद्या की शिक्षा ब्राह्मणों को जनता की भलाई के लिये, अर्थात् ब्राह्मण लोग रसशास्त्र पढ़कर बिना किसी लोभ के नित्य नूतन खोज से जनता का कल्याण करने की भावना से रसशास्त्र को पढ़ें । क्षत्रिय तथा वैश्यों को रसविद्या की शिक्षा धन-धान्य की वृद्धि अर्थात् इसके द्वारा अनेकविध वस्तुनिर्माण, औषधिनिर्माण आदि के निमित्त कारखाने खोलकर इसके प्रचार के साथ व्यापारिक उन्नति करने के लिये देनी चाहिये । शूद्रों को अपने कर्म में अर्थात् प्रत्येक के कार्य में सहायता देने के लिये रसविद्या सिखानी चाहिये ॥ ६१ ॥

गुरोर्महत्त्वम्—

गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्येच्छिवे तुष्टे रसस्तथा ।
रसे तुष्टे क्रियाः सर्वाः सिध्यन्त्येव न संशयः ॥ ६२ ॥

किसी विद्या को ग्रहण करते समय यदि गुरु (पूर्वोक्त लक्षण युक्त) प्रसन्न हो जाता हो तो उस पर श्रीशिवजी भी प्रसन्न हो जाते हैं । शिवजी के प्रसन्न होने पर (जिनका कि पारद वीर्य माना जाता है) रस (पारद) प्रसन्न हो जाता है और पारद के प्रसन्न हो जाने से अर्थात् पारद के सर्वकर्मक्षम हो जाने से सम्पूर्ण क्रियायें निःसन्देह सिद्ध हो जाती है ॥ ६२ ॥

रसविद्याया गोप्यत्वम्—

रसविद्या दृढं गोप्या मातुर्गुह्यमिव ध्रुवम् ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशनात् ॥ ६३ ॥
न रोगिविदितं कार्यं बहुभिर्विदितं तथा ।
रोगिणां बहुभिर्ज्ञातं भवेन्निर्वीर्यमौषधम् ॥ ६४ ॥

अपनी माता के लांछन (दोष) की भांति या माता के गुप्त स्थान की भांति रसविद्या को अच्छी तरह गुप्त रखना चाहिये । अर्थात् अधिकारी अनधिकारी का ध्यान रख कर इसे प्रकाश करना चाहिये । इसको गुप्त रखने पर इसका प्रभाव अधिक शक्तिशाली होता है और यत्रतत्र इसका रहस्योद्घाटन करने से इसका आदर नहीं रहता है । इसी तरह जो औषधि, रोगी तथा अन्य सब मनुष्यों को मालूम है वह निर्वीर्य होती है । रोगी तथा अन्य सब मनुष्यों से परिचित औषधि कोई कार्य नहीं करती है । क्योंकि औषधि मन्त्र आदियों पर विश्वास एक आवश्यक वस्तु है जहाँ विश्वास न हो, वहाँ फल नहीं मिलता है । ऐसा कहा जाता है ॥ ६३—६४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भट्टाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये शिष्योपनयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

अथ रसशाला ।

रसशालानिर्माणस्य स्थाननिर्देशः—

रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधाविवर्जिते ।
सर्वौषधिमये देशे रम्ये कूपसमन्विते ॥ १ ॥
यक्षत्र्यक्षसहस्राक्षदिग्विभागसुशोभने ।
नानोपकरणोपेतां प्राकारेण सुशोभिताम् ॥ २ ॥

सब विघ्नबाधाओं से रहित तथा सब वनस्पति तथा औषधि प्राप्य और पास में ही स्वच्छ जल युक्त कूप (कुआँ) वाले मनोहर प्रदेश को चुनकर उसके यक्षदिशा (उत्तर दिशा) त्र्यक्षदिशा (ईशानकोण) अथवा सहस्राक्ष (इन्द्र) दिशा (पूर्वदिशा) में अथवा सुन्दर पूर्वोत्तर दिशा में एक रसशाला बनावें । यह सब तरह के, रसकर्म में काम आने वाले उपकरणों से युक्त होनी चाहिये, इसके चारों तरफ प्राकार चारदीवारी होनी चाहिये ताकि पशु आदि, वनस्पति तथा प्रस्तुत औषधि को खराब न कर सकें ॥ १—२ ॥

रसशालायाः कुत्र किं कर्म कर्तव्यं तन्निर्देशः—

शालायाः पूर्वदिग्भागे स्थापयेद्रसभैरवम् ।
वह्निकर्माणि चाग्नेये याम्ये पाषाणकर्म च ॥ ३ ॥
नैर्ऋत्ये शस्त्रकर्माणि वारुणे क्षालनादिकम् ।
शोषणं वायुकोणे च वेधकर्मोत्तरे तथा ॥
स्थापनं सिद्धवस्तूनां प्रकुर्यादीशकोणके ॥ ४ ॥

उक्त रसशाला के पूर्व दिशा में रस भैरव की स्थापना करें । अर्थात् षष्ठाध्याय में लिखित रसलिंग की स्थापना करें । आग्नेय दिशा या कोण में अग्निकर्म अर्थात् भट्टी, चूल्हा, कोष्ठी, पुट आदि दिशा से पकाने के कार्यों की योजना करें । याम्य (दक्षिण) दिशा में पाषाण कर्म अर्थात् सिल या खरलों में घोटने का कार्य करें । नैऋत्य (दक्षिण पश्चिम कोण) दिशा में शस्त्रकर्म (धातुओं को छीलकर बारीक करना यन्त्रादिनिर्माण में मिस्त्री आदि से कार्य लेने की योजना) की स्थापना करें । वरुणदिशा (पश्चिम) में प्रक्षालन (औषधियों तथा पात्रादि को धोना) कर्म की, वायव्यकोण में शोषणकर्म (चक्रिका भावना औषधि वस्त्रादि का सुखाना) की उत्तरदिशा में पारद का वेधकर्म (पारद के स्पर्श-मात्र से दूसरे धातुओं का सुवर्ण रजत आदि बनाना) की आयोजना करें । और ईशान कोण में निर्मित रस, धातु, भस्म, अवलेह, घृत, तैल आदि के यथाविधि रखने का प्रबन्ध करना चाहिये ।

विशेष वचन—पूजा आदि सत्कार्यों में पूर्वाभिमुख बैठने का कर्मकाण्ड ग्रन्थों में विधान होने से रसलिंग की पूर्वदिशा में स्थापना की गई है । आग्नेयकोण अग्निदेवता का माना जाता है अतः उस

कोण में अग्निकार्यों की योजना को लिखा है। दक्षिणदिशा दण्ड देने वाले या धारण करने वाले यमराज की मानी जाती है अतः उस दिशा में दण्ड, पाषाणसाध्य कर्मों की योजना की गई है। नैऋत्य दिशा असुरों की मानी जाती है, शस्त्रचिकित्सा या कर्म को आसुरी चिकित्सा कर्म कहा जाता है अतः इस दिशा में शस्त्र कर्म करने का निर्देश किया गया है। पश्चिमदिशा का अधिपति वरुण (जल का स्वामी) माना जाता है अतः इस दिशा में प्रक्षालनादि जलकर्म का निर्देश किया गया है। वायव्यकोण वायु देवता का होता है जो शोषणादि कर्म करता है अतः शोषणादि कर्म के लिये वायव्यदिशा नियत की गई है। उत्तरदिशा कुबेर (धन के स्वामी) की नियत की जाती है अतः उत्तरदिशा में पारद द्वारा स्वर्णादिधातु का निर्माण या वेधसंस्कार का विधान लिखा है। ईशानदिशा शिव की मानी जाती है, अतः स्वर्णादि मारित भस्म तथा औषधियां रोग को दूर कर शिव (कल्याण) कारक होती है। इस लिये प्रस्तुत औषधियों को ईशानकोण में रखने का विधान लिखा है ॥ ३—४ ॥

रसशालायां संग्राह्याणि उपकरणानिः—

पदार्थसंग्रहः कार्यो रससाधनहेतुकः ।
सत्त्वपातनकोष्ठीं च झरत्कोष्ठीं सुशोभनाम् ॥ ५ ॥
भूमिकोष्ठीं चलत्कोष्ठीं जलद्रोण्योऽप्यनेकशः ।
भस्त्रिकायुगलं तद्वन्नलिके वंशलोहयोः ॥ ६ ॥
स्वर्णायोघोपशुल्वाश्मकुंड्यश्चर्मकृतां तथा ।
करणानि विचित्राणि द्रव्याण्यपि समाहरेत् ॥ ७ ॥
कण्डनीपेषणीखल्पाद्रोणीस्तपाश्च वर्तुलाः ।
आयसास्तप्तखल्लाश्च मर्दकाश्च तथाविधाः ॥ ८ ॥
सूक्ष्मच्छिद्रसहस्राढ्या द्रव्यगालनहेतवे
चालनी च कटत्राणि शलाका हि च कुंडली ॥ ९ ॥

उक्त रसशाला में पारद की सिद्धि में काम आने वाले विभिन्न पदार्थों का संग्रह भी करना चाहिये। इसमें संग्रह करने योग्य आवश्यकीय पदार्थ ये हैं। रस-उपरसों के सत्वपातनार्थ विभिन्न प्रकार की कोष्ठी (अंगेठी) सुन्दर मुखवाली झरत्कोष्ठ (अनेक छिद्रों वाली अंगेठी) भूमि में बनी हुई अंगेठी चलायमान (इधर उधर ले जाने योग्य) कोष्ठी, अनेक प्रकार की तथा अनेकों संख्या में जल भरने के लिये द्रोणी (टब नाद आदि) दो धौंकनी, दो नली (फूंकनी) ये बांस और लोह की होनी चाहिये। इसी प्रकार स्वर्ण, लोह, कांस्य, ताम्र आदि धातुओं की तथा पत्थर और चमड़े की बनी हुई कुंडियां (थाली) अथवा चर्मकार के यहाँ काम आने वाले अनेक प्रकार के उपकरण तथा अनेक प्रकार द्रव्यों का संग्रह करना चाहिये। इसके अतिरिक्त, छोटी बड़ी मूसल तथा सिल या चक्की द्रोणी-आकार (किश्ती नुमा) तथा वर्तुल (गोल), लोह अथवा पत्थर के खरल, और मूसली, औषधि चूर्ण को छानने के लिये हजारों सूक्ष्म छिद्रों वाली चलनी, धातुओं को काटने के लिये कटत्र (छैनी) अथवा औषधियों को ढकने के लिये—जैसे खरलों को ढकने केलिये बनाये जाते हैं,—ढक्कन, रससिंदूरादि में पाकपरीक्षा करने के लिये अनेकविध शलाका सलाई (सींक) तथा कड़ाही आदि पेंदी रहित पात्रों को टिकाने के लिये लोहे के बने हुए मोड़े जिन पर हलवाई लोग दूध आदि कड़ाही उतार कर रखते हैं। इन सब चीजों का संग्रह करें ॥ ५-९ ॥

चालनीस्वरूपम्—

चालनी त्रिविधा प्रोक्ता तत्स्वरूपं च कथ्यते ।
वैणवीभिः शलाकाभिर्निर्मिता ग्रथिता गुणैः ।
कीर्तिता सा सदा स्थूलद्रव्याणां गालने हिता ॥ १० ॥
चूर्णचालनहेतोश्च चालन्यन्यापि वंशजा ॥ ११ ॥
कर्णिकारस्य शाल्मल्या हरिजातस्य कंबया ।
चतुरंगुलविस्तारयुक्तया निर्मिता शुभा ॥ १२ ॥
कुण्डल्यरत्निविस्तारा छागचर्माभिवेष्टिता ।
वाजिबालांबरानद्धतला चालनिकाऽपरा ॥
तया प्रचालनं कुर्याद्वस्तु सूक्ष्मतरं रजः ॥ १३ ॥

औषधि चूर्ण को छानने वाली चालनी तीन प्रकार की होती है उनका स्वरूप कहा जाता है १ बांस की तुलियों से बनी हुई और दृढ गुण (डोरी) से बंधी हुई चलनी मोटी वस्तुओं को छानने के लिये काम आती है। यह सूप की भांति ही बनी हुई होती है। २—चूर्ण को छानने के लिये बांस की बनी हुई अथवा किसी अन्य चीज की बनी हुई होती है। ३—चालनी कर्णिकार (कनेर) सीमल या बांस के छिलकों की अच्छी तरह चलनी बना कर उसको चारों तरफ से कुण्डली कर दें अर्थात् किनारों पर बकरे के चर्म से मढ़ दें। इसकी चौड़ाई तथा लम्बाई, अरत्नि (मुट्ठा बांधकर कनिष्ठिका अंगुलि को सीधाकर हाथ की कोहनी से कनिष्ठिका अंगुली पर्यन्त लम्बाई) होनी चाहिये, इसके तल भाग में (भीतर की तरफ) घोड़े की पूँछ के बालों को अथवा सूक्ष्म वस्त्र को बांध दें। इससे अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण छाना जाता है। प्रायः सब चलनी गोल कुंडली की भांति बनाई जाती है ॥

मूषादिवस्तुसंग्रहः—

मूषा-मृत्तुष-कार्पासवनोपलकपिष्टकम् ।
त्रिविधं भेषजं धातुजीवमूलमयं तथा ॥
शिखित्रा गोवरं चैव शर्करा च सितोपला ॥ १४ ॥

उक्त रसशाला में मूषा के लिये मिट्टी अथवा मूषा तथा मिट्टी, कपास, भुस, जंगली उपले, चावलों की पिट्ठी, तथा तीन प्रकार की औषधियां, स्वर्ण, रूप्य, ताम्र आदि स्थावर द्रव्य, दुग्ध, मूत्र, गोबर, रस, घृत, पित्त, मधु आदि जीव (जंगम) द्रव्य तथा

मूलमय अर्थात् बन में उगने वाली औद्भिद औषधियां तथा कोयला, गोबर, और बालू, रेत, इनका भी संग्रह होना चाहिये ॥ १४ ॥

शिखित्र-कोकिलास्वरूपम्—

शिखित्राः पावकोच्छिष्टा अंगारा कोकिला मताः ॥ १५ ॥
कोकिलाश्चेतितांगारा निर्वाणाः पयसा विना ॥ १६ ॥

अधसूखी हुई लकड़ियों को एकत्र जलाकर धुवां निकलना बन्द होते ही मिट्टी से उनको बुझा कर बनाये हुए कोयलें शिखित्र कहे जाते हैं। बिना पानी के स्वयं बुझे हुये कोयलों को कोकिला (कोयला) या अंगार कहते हैं।

विशेष वचन—शिखित्र पावकोच्छिष्ट अंगार तथा कोकिला यह सब कोयलों के नाम पर्याय पाये जाते हैं। रसार्णव में इनके भेद इस प्रकार लिखे हैं "जलेन सिक्ताश्चेत्तर्हि कोकिला अन्यथा तु पावकोच्छिष्टाः, ते च वंशखादिरमाधूकबदरीदारुसम्भवाः" इनमें मिट्टी से बुझे हुए कोयले ससत्व होने से तीव्र अग्नि वाले और जल से या स्वतः बुझे हुए कोयले सत्वरहित होने से मन्दाग्नियुक्त होते हैं। अतः सत्वपातनादि में मिट्टी से बुझे हुए तथा साधारण अग्निकर्म में साधारण कोयले काम में लाये जाते हैं ॥ १५–१६ ॥

उपलस्य पर्यायाः—

पिष्टकं छगणं छाणमुपलं चोत्पलं तथा।
गिरिण्डोपलसाठी च संशुष्कच्छगणाभिधाः ॥ १७ ॥
काचायोमृद्वराटानां कूपिका चषकानि च ॥ १८ ॥

पिष्टक, छगण, छाण, उपल, उत्पल, गिरिण्डोत्पल तथा साठी ये सात नाम सूखे हुए गोबर या उपलों के हैं। इनका तथा कांच, लोहा, मिट्टी तथा कौड़ियों से निर्माण की हुई आतसी शीशियां तथा प्यालों का भी रसशाला में संग्रह करें।

कूपिका पर्यायाः—

कूपिका कुपिका सिद्धा गोला चैव गिरिण्डिका ॥ १९ ॥

कूपिका, कुपिका, सिद्धा, गोला तथा गिरिण्डिका ये कूपियों या शीशियों के पर्यायवाचक शब्द हैं ॥ १९ ॥

चषकस्य पर्यायाः—

चषकं च कटोरी च वाटिका खारिका तथा।
कञ्चोली ग्राहिका चेति नामान्येकार्थकानि हि ॥ २० ॥
शूर्पादिवेणुपात्राणि क्षुद्रशुक्तिप्राश्च शङ्खिका।
क्षुरप्राश्च तथा पाक्यं यच्चान्यत्तत्र युज्यते ॥
पालिका कर्णिका चैव शाकच्छेदनशस्त्रकाः ॥ २१ ॥

चषक, करोटी, वाटिका, खारिका, कञ्चोली, ग्राहिका, ये सब प्याले, गिलास, वाटी, कटोरी जाति के पात्रों के नाम हैं। इनका तथा सूप, टोकरी आदि बांस के बने हुए पात्रों तथा छोटी २ सीपों, तथा छोटे २ शंखों, खुरपों, औषधिपाक करने योग्य विशेष प्रकार के पात्रों या पांशुलवण (रेह) का, इस तरह और भी जो २ आवश्यक वस्तुयें हैं, उनका संग्रह करना चाहिये। इसी तरह पालिका तथा शाकादि (पत्र पुष्प तथा फलादि) को काटने के लिये कर्णिका नामक शस्त्रों का संग्रह करना चाहिये।

विशेष वचन—"क्षुद्रशुक्तिप्राश्च शंखिकाः" के स्थान पर 'क्षुद्रा शुक्तिप्राश्च शंखिका" ऐसा पाठ भी है। तब क्षुप्रा का अर्थ शम्बूक "घोंघा" होता है ॥ २०—२१ ॥

रससाधनाङ्गानामर्चनायाः कर्तव्यतानिर्देशः—

शालासंमार्जनाद्यं हि रसपाकान्तकर्म यत्।
तत्रोपयोगि यच्चान्यत्तत्सर्वं परविद्यया ॥ २२ ॥
श्रीरसांकुशया सर्वं मन्त्रयित्वा समर्चयेत्।
अन्यथा तद्गतं तेजः परिगृह्णन्ति भैरवाः ॥ २३ ॥

रसशाला को झाड़ने या सम्मार्जनादि कर्म से लेकर रसपाक के अन्त तक काम में आने वाले जो २ भी उपयोगी पदार्थ या उपकरण वहाँ एकत्र किये जायँ उन सब को सर्वोत्तम रसांकुशा विद्या मन्त्र से अभिमन्त्रित कर पूजन करना चाहिये। अन्यथा इनका पूजन न करने से भैरव (विशेष शक्ति) उन द्रव्यों को तेजहीन कर देते हैं। जिससे पारद कर्म अच्छी तरह नहीं हो सकता है ॥ २२—२३ ॥

रसकर्मणि नियोज्या वैद्याः—

रससंवित्तरा वैद्या निघण्टुज्ञाश्च वार्तिकाः।
सर्वदेशजभाषाज्ञाः संग्राह्यास्तेऽपि साधकैः ॥ २४ ॥

उक्त रसशाला में अनेक वैद्यों की भी नियुक्ति होनी चाहिये, जो कुछ पारद पर विचार करते हों और कुछ बनस्पति के गुणों और कार्यों का अन्वेषण करते हों और उन्हें सर्वदेश की भाषा का ज्ञान हो, कुछ वार्तिक (परिभाषा) के जानकार हों जो प्रत्येक समय परिभाषा के विषय में विचार करते हों। ऐसे वैद्य भी रसशाला में नियुक्त होने चाहिये।

विशेष वचन—शास्त्र में सूत्र रूप से कथित तथा अकथित अस्पष्ट कथित वाक्यों को स्पष्ट करने वाले वाक्य को वार्तिक कहा जाता है "उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तकारि तु वार्तिकम्"। "रससंवित्तरा वैद्याः" के स्थान पर "रससंहितया वैद्याः" पाठ होने पर रसशास्त्र के विशेषज्ञ अर्थ होता है। कई वैद्य मूल–श्लोकोक्त चारों गुणयुक्त वैद्यों की नियुक्ति करते हैं और कहीं "रससञ्चिन्तका वैद्याः" पाठ भी है ॥ २४ ॥

रसपाककालेऽघोरमन्त्रजपः—

रसपाकावसानं हि सदाऽघोरं च जापयेत् ॥ २५ ॥

रसपाक (सिद्ध) होने के अवसान में सदा अघोरमन्त्र का जाप करना चाहिये अथवा रसपाक होने तक किसी ब्राह्मण द्वारा अघोर-मन्त्र का जप कराते रहना चाहिये ॥ २५ ॥

परिचारकलक्षणम्—

सोद्यमाः शुचयः शूरा बलिष्ठाः परिचारकाः ॥ २६ ॥

रसशाला में जो परिचारक (सेवक) रखे जांय वे उद्यमी, स्वच्छ, पवित्र व सदाचारी, शूरवीर तथा बलवान् होने चाहिये ॥

रसकर्मयोग्यवैद्यलक्षणम्—

धर्मिष्ठः सत्यवाग्विद्वान् शिवकेशवपूजकः ।
सदयः पद्महस्तश्च संयोज्यो रसवैद्यके ॥ २७ ॥

रसशाला में रससाधन कर्म में नियुक्त वैद्य धर्म में तत्पर, सत्यपरायण, विद्वान्, शिव तथा विष्णु का सेवक होना चाहिये। रसकर्म में नियुक्त वैद्य दयावान् तथा पद्महस्त-जिसके हाथ के तलवे कमलवत् रक्त हों अथवा जिसके हाथ में कमल का चिह्न हो, होना चाहिये ॥ २७ ॥

पद्महस्तवैद्यलक्षणम्—

पताकाकुम्भपाथोजमत्स्यचापाङ्कपाणिकः ।
अनामाधःस्थरेखाङ्कः स स्यादमृतहस्तवान् ॥ २८ ॥

जिस वैद्य के हस्ततल में ध्वजा, कलश, कमल, मछली तथा धनुष इनमें से अधिकों के चिह्न हों और जिसके हस्ततल में अनामिका अंगुलि के मूल तक ऊर्ध्वरेखा पहुँची हो वह अमृतहस्त, पद्महस्त या पीयूषपाणि कहलाता है। ऐसे मनुष्य के हाथ से ही रससिद्ध होता है ॥ २८ ॥

वर्जनीयवैद्यलक्षणम्—

अदेशिकः कृपामुक्तो लुब्धो गुरुविवर्जितः ।
कृष्णरेखाकरो वैद्यो दग्धहस्तः स उच्यते ॥ २९ ॥

अन्यदेशीय अथवा म्लेच्छदेशीय या अशिक्षित, निर्दयी, लोभी, गुरुदीक्षारहित, कृष्ण रेखाओं से युक्त हस्ततल वाले वैद्य को दग्धहस्त कहा जाता है। यह रसकर्म अथवा चिकित्साकर्म में निषिद्ध माना जाता है ॥ २९ ॥

निधिसाधने नियोज्यपुरुषस्य लक्षणम्—

भूतनिग्रहमन्त्रज्ञास्ते योज्या निधिसाधने ॥ ३० ॥

निधियों नवनिधि (विशेषशक्ति अथवा पद्मशङ्ख आदि) के साधन (वश) में भूतों को दूर करने वाले मन्त्रों के जानकार मनुष्यों की नियुक्त करनी चाहिये ॥ ३० ॥

बलिसाधने नियोज्यपुरुषलक्षणम्—

बलिष्ठाः सत्यवन्तश्च रक्ताक्षाः कृष्णविग्रहाः ।
भूतत्रासनविद्याश्च ते योज्या बलिसाधने ॥ ३१ ॥

देवी, रसभैरव तथा अन्य देवस्थानों में निवेदित वस्तुओं (बलि) को सुरक्षित रखने के लिये, बलवान्, सत्यभाषी, रक्तनेत्र, कृष्णशरीर तथा भूतों को भयभीत करने वाली विद्या को जानने वाले पुरुष की नियुक्ति करनी चाहिये ॥ ३१ ॥

रसायने नियोज्यपुरुषलक्षणम्—

निर्लोभाः सत्यवक्तारो देवब्राह्मणपूजकाः ।
यमिनः पथ्यभोक्तारो योजनीया रसायने ॥ ३२ ॥

रसायन औषधियों के निर्माण में निर्लोभी, सत्यभाषी, देवता तथा ब्राह्मणों के पूजक, संयमी (जितेन्द्रिय तथा मनोजयी) तथा पथ्याहारी वैद्यों या मनुष्यं की नियुक्ति करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

धातुवादे नियोज्यपुरुषलक्षणम्—

धनवन्तो वदान्याश्च सर्वोपस्करसंयुताः ।
गुरुवाक्यरता नित्यं धातुवादेषु ते शुभाः ॥ ३३ ॥

स्वर्ण, रजत आदि धातुओं की निर्माण क्रिया में धनवान् (अपने घर के) अर्थात् निर्लोभी, दानवीर, (उदार भाव) सम्पूर्ण उपकरणों (धातुनिर्माण में काम आने वाले) से युक्त तथा गुरु के वाक्यों पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाले तथा गुरु के कथनानुसार चलने वाले मनुष्य अथवा वैद्य धातुनिर्माण के अतिरिक्त उनके शोधनमारणादि कर्म में भी नियुक्त करने चाहिये ॥ ३३ ॥

भेषजाहरणे नियोज्यपुरुषलक्षणम्—

तत्तदौषधनामज्ञाः शुचयो वञ्चनोज्झिताः ।
नानाविषयभाषाज्ञास्ते मता भेषजाहृतौ ॥ ३४ ॥

रसकर्म में व्यवहृत होने वाली अनेकविध औषधियों के संग्रह करने में ऐसे मनुष्य नियुक्त करने चाहिये जो प्रत्येक औषधि का हर एक भाषा में नाम जानते हों, शुद्ध रहते हों, छल कपट रहित हों और हर एक देश की भाषा से अच्छी तरह परिचित हों ॥३४॥

रसविद्यायां लब्धव्यसाफल्यस्य लक्षणम्—

शुचीनां सत्यवाक्यानामास्तिकानां मनस्विनाम् ।
सन्देहोज्झितचित्तानां रसः सिध्यति सर्वदा ॥ ३५ ॥

बाह्याभ्यन्तर भाव से पवित्र, सत्यवक्ता, वेदों पर विश्वास करने वाले, विचारवान् या मन को जीतने वाले, कर्तव्य कार्य के निष्पादन में सर्वथा सन्देह रहित मनुष्यों को सदा पारदसिद्धि होती है ॥

रससिद्धसाधकस्य कर्तव्यम्—

दशाष्टक्रियया सिद्धो रसोऽसौ साधकोत्तमः ।
हा रसो नष्टमित्युक्त्वा सेवेतान्यत्र तं रसम् ॥ ३६ ॥

स्वेदनमर्दनमूर्च्छनादि आगे लिखे हुये अठारह संस्कारों द्वारा पारद कर्म के सफल हो जाने पर, रससाधक को चाहिये कि वह हा ! अत्यन्तखेद ! रस (पारद) की मृत्यु हो गई ऐसा कहकर पुनः दूसरे स्थान में (पहिले स्थान को छोड़कर) रसकर्म आरम्भ करें ।

विशेष वचन—अन्य पुस्तकों में 'हा रसो नष्ट'' के स्थान पर "महारसोऽयमित्युक्त्वा" ऐसा पाठ है। अर्थात् पारद के (रस) अठारह संस्कार सिद्ध हो जाने पर उसका अन्यन्त्र प्रयोग "महारस' के नाम से करना चाहिये। यह पाठ कुछ अच्छा प्रतीत होता है।

"हा !" पाठ में शिवसम्भूत पारद की मृति से रससाधक को दुःख होना स्वाभाविक है। शत्रु को मारने पर यदि युधिष्ठिर राम आदि को दुःख हो सकता है तो पूजनीय शिव के अंश को भस्म करने से भी विचारवान् मनुष्य को कुछ दुःख होना सम्भव है। परन्तु "महारस" ऐसा ही पाठ रसरत्नसमुचय ग्रन्थ का है—यह पाठ रसेन्द्रचूडामणि से उद्धृत किया गया है। यदि विचारवान् को पीछे दुःख होता है तो वह पहिले ही इस कर्म को न आरम्भ करे॥

रससिद्धेः फलम्—

रससिद्धो भवेन्मर्त्यो दाता भोक्ता न याचकः।
जरामुक्तो जगत्पूज्यो दिव्यकान्तिः सदा सुखी॥ ३७॥

जिस मनुष्य को रस की सिद्धि हो जाती है वह दानी और भोगी होता है। उसे कभी किसी से मांगना नहीं पड़ता और वह जरावस्था से रहित (सदायुवक) संसार में माननीय (विख्यात) और उत्तम कान्तिवाला तथा सदासुखी (रोगरहित) रहता है। अर्थात् उसके पास सब सिद्धियां आजाती हैं॥ ३७॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भट्टाचार्यकृतौ रसरत्नसमुच्चये रसशालाप्रकरणं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः

अथ परिभाषा।

परिभाषायाः प्रयोजनम्—

कथ्यते सोमदेवेन मुग्धवैद्यप्रबुद्धये।
परिभाषा रसेन्द्रस्य शास्त्रैः सिद्धैश्च भाषिता॥ १॥

अब अल्पबुद्धि वाले वैद्यों के ज्ञान के लिए रसशास्त्र के विद्वान् सोमदेव द्वारा वर्णित परिभाषा का वर्णन किया जाता है। यह परिभाषा पारद सम्बन्धी शास्त्रों तथा सिद्ध (पारद कर्म में) सज्जनों द्वारा सम्मत है। अर्थात् शास्त्र तथा सिद्ध जनों द्वारा सम्मत रसशास्त्र की परिभाषा का जो कि अल्पज्ञान युक्त वैद्यों के लिये सुविधाजनक है, सोमदेव द्वारा वर्णन किया जाता है।

विशेष वचन—शास्त्रों में ऐसे बहुत शब्द आते हैं, जिनका अर्थ व्याकरण की दृष्टि में कुछ और व्यवहारिक दृष्टि से कुछ और होता है। इसकी सुविधा के लिये तथा ऐसी क्रिया तथा विधान-जिनका वर्णन विस्तृत होता है—उनको संक्षिप्त रूप में परिचित करने के लिये जो शब्द प्रयोग में लाये जाते हैं उसको परिभाषा कहते हैं। इस के सहारे चिकित्सक तथा औषधिनिर्माता को अपने कार्य में मार्ग प्रदर्शन होता है जैसे परिभाषाप्रदीप में कहा है कि "ध्वान्ते पथि चरिष्णूनां यथा दीपः प्रदर्शकः। नानाशास्त्रज्ञभिषजां संग्रहोऽयं तथा भवेत्। अव्यक्तानुक्तलेशोक्तसन्दिग्धार्थप्रकाशिकाः। परिभाषाः प्रकथ्यन्ते दीपीभूताः सुनिश्चिताः॥ १॥

धन्वन्तरिभागः—

अर्धं सिद्धरसस्य तैलघृतयोर्लेहस्य भागोऽष्टमः
संसिद्धाखिललोहचूर्णवटकादीनां तथा सप्तमः।
यो दीयेत भिषग्वराय गदिभिर्निर्दिश्य धन्वन्तरिं
सर्वाऽऽरोग्यसुखाप्तये निगदितो भागः स धन्वन्तरेः॥ २॥

रोगी अपने रोग की निवृत्ति के लिये वैद्य द्वारा बनाई जाने वाली औषधि का जो भाग धन्वन्तरि (प्रधान वैद्य) के उद्देश्य से अर्थात् धन्वन्तरि को प्रसन्न करने के लिये अपने सब प्रकार के सुख तथा आरोग्यता प्राप्ति के निमित्त औषधिनिर्माता वैद्य को अर्पण करता है उसे "धन्वन्तरिभाग" कहते हैं। इसका भिन्न २ सिद्ध औषधियों में भिन्न २ प्रमाण है। सिद्धरस (जारणमारणादि) क्रियाओं के साथ बनाये हुये विभिन्न शक्ति (जरामरणादिनाशक शक्ति) युक्त पारद के योगों का आधा हिस्सा तैल, घृत (नारायणतैल, चन्दनादितैल, पिप्पल्यादित्रिफलाघृत आदि) का तथा च्यवनप्राश, अमृतप्राश, वासाव लेह आदि अवलेह का आठवां भाग इसी तरह, तय्यार किये हुये लोह आदि धातु भस्म, चूर्ण, तथा गुटिका आदि का आठवां भाग वैद्य द्वारा तय्यार कराने पर वैद्य को देना चाहिये।

विशेष वचन—कई वैद्य लोहभस्म-चूर्ण गुटिकाओं के दिये जाने वाले भाग में अष्टम तथा सप्तम विकल्प करते हैं। और तैल तथा घृत का रसवत् अर्धांश देने को कहते हैं। रसेन्द्रचूडामणि में "लेहस्य" के स्थान पर "लोहस्य' ऐसा पाठ है और आगे "लोह" के स्थान "लेह" पाठ दिया हुआ है। इस रुद्र या धन्वन्तरिभाग से वैद्य को अपनी जीविकावन्यनोपार्जन नहीं करना चाहिये बल्कि इन औषधियों से दीन मनुष्यों, गुरु जनों और असहाय रोगियों की चिकित्सा करनी चाहिये। चरक ने लिखा है "गुरुविप्रसिद्धतपस्विदुर्गतानां स्वभेषजैरुपाचरेत्"। रसतरङ्गिणी में सिद्धरसादिका और तैल घृतों का अर्धांश, भस्मीभूत धातु आदि का चतुर्थांश अवलेह का अष्टमांश वैद्य को देना धन्वन्तरि-भाग में लिखा है। रसेन्द्रचूड़ामणि में धन्वन्तरिभाग को ही "अश्विनीकुमारभाग" लिखा है॥ २॥

रुद्रभागः—

भैषज्यक्रीणितद्रव्यभागोऽप्येकादशो हि यः
वणिग्भ्यो गृह्यते वैद्य रुद्रभागः स उच्यते॥ ३॥

व्यापारियों से औषधियों के निमित्त खरीदे हुये द्रव्यों में से ग्यारहवां भाग वैद्य को देना रुद्रभाग कहा जाता है।

विशेष वचन—"भैषज्यक्रीणितद्रव्य" के स्थान पर "भैषज्यं क्रीणितं द्रव्यं" ऐसा पाठ है। यह रुद्रभाग शिवसंप्रदायवालों का

निश्चित किया हुआ है। अन्य ग्रन्थों में यह महत्त्व नहीं रखता है अतः कोई इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं॥ ३॥

विश्वासघातकवैद्यलक्षणम्—

प्रगृह्याऽधिकरुद्रांशं योऽसमीचीनमौषधम्।
दापयेल्लुब्धधीर्वैद्यः स स्याद्विश्वासघातकः॥ ४॥

जो लोभी वैद्य व्यापारियों की खराब पुरानी सड़ी हुई औषधियों को बिका कर उनसे ग्यारवें भाग के स्थान पर आठवां या नवां भाग लेकर रोगियों को खराब औषधि सेवन कराता है वह विश्वासघातक वैद्य कहलाता है॥ ४॥

कज्जली—

धातुभिर्गन्धकाद्यैश्च निर्द्रवैर्मर्दितो रसः।
सुश्लक्ष्णः कज्जलाभोऽसौ कज्जलीत्यभिधीयते॥ ५॥

पारद को स्वर्ण आदि धातुओं तथा गन्धक अभ्रक आदि उपरस-महारसों के साथ विना किसी द्रव (जल क्वाथ स्वरस आदि) के खूब मर्दन कर खूब चिक्कण तथा कज्जल के समान काला कर लेना कज्जली कही जाती है।

विशेष वचन—"सुश्लक्ष्णः" और "कज्जलाभः" ये दो लक्षण पृथक् २ पाये जायेंगे न कि सर्वत्र। गन्धक के साथ पारद को मर्दन करने पर दोनों ही लक्षण मिलते हैं। किन्तु स्वर्ण आदि सब धातुओं के साथ पारद के मर्दन करने पर वह अत्यन्त काला चमकीला नहीं होता है। पारद के साथ की गई कज्जली औषधियों में व्यवहारोपयोगी तब समझनी चाहिये जब उसकी थोड़ी मात्रा को हथेली पर रख उस पर दो बूंद जल को डाल कर अंगुली से खूब रगड़े सूख जाने पर देखने से उसमें पारद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण भी न दिखाई दें॥ ५॥

रसपङ्कः—

सद्रवा मर्दिता सैव रसपङ्क इति स्मृतः॥ ६॥

यदि उक्त कज्जली बनाते समय उसमें जल क्वाथ स्वरस आदि डाल कर मर्दन किया जाय तो वह चिकना गिली सा कल्क बन जाता है। उसे 'रसपंक' (कीचड़) कहते हैं॥ ६॥

रसपिष्टी—

अर्कांशतुल्याद्रसतोऽथ गन्धा
न्निष्कार्धतुल्यात्त्रुटिशोऽभिखल्ले।
अर्कातपे तीव्रतरे विमर्द्यात्
पिष्टी भवेत्सानवनीतरूपा॥ ७॥

शुद्ध गन्धक अर्ध निष्क (डेढ़ मासा) और शुद्ध पारद गन्धक की अपेक्षा अर्कांश (बारहवां भाग) लेकर दोनों को खरल में डाल कर तेज धूप में तब तक दृढ़ मर्दन करें जब तक कि उसकी मक्खन के सदृश कोमल तथा गीली पिट्ठी न बन जाय। इसको 'रसपिष्टी' कहते हैं।

विशेष वचन—रसपिष्टी बनाते समय दृढ़ मर्दन के साथ इतनी तेज धूप होनी चाहिये जिससे गन्धक पिघल कर घृत के सदृश होजाय। रसकामधेनु में पिष्टी के विषय में स्पष्ट लिखा है कि "रसो द्वादशभागस्तु, गुंजामात्रं तु गन्धकम्। मर्दितं घृतवद्धर्मे रसपिष्टीति कीर्त्यते।"॥ ७॥

मतान्तरेण पिष्टी—

खल्ले विमर्द्य गन्धेन दुग्धेन सह पारदम्।
पेषणात्पिष्टतां याति सा पिष्टीति मता परैः॥ ८॥

पारद को गन्धक तथा दुग्ध (स्नुहीक्षीर अर्कक्षीर आदि) के साथ दृढ़ मर्दन करके पिट्ठी की भांति बना लेना भी 'पिष्टी' कही जाती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचूडामणि में "दुग्धेन" के स्थान पर "शुद्धेन" पाठ है। जिससे यह प्रतीत होता है कि गन्धक के साथ पारद इतना मर्दन किया जाय कि जिससे वह पिट्ठी सा हो जाय परन्तु ग्रन्थान्तर में दुग्ध के साथ भी मर्दन करने को लिखा है।

पातनपिष्टी—

चतुर्थांशसुवर्णेन रसेन घृष्टपिष्टिका।
भवेत्पातनपिष्टी सा रसस्योत्तमसिद्धिदा॥ ९॥

शुद्ध पारद एक भाग सुवर्ण ¼ भाग दोनों को एकत्र मर्दन कर बनाई जाने वाली पिष्टी को 'पातनपिष्टी' कहते हैं। यह ऊर्ध्व-पातन आदि कर्म के निमित्त बनाई जाती है। इसके द्वारा पारद में विशेषसिद्धि शक्ति उत्पन्न हो जाती है॥ ९॥

स्वर्णरौप्ययोः कृष्टिः—

रूप्यं वा जातरूपं वा सरगन्धादिभिर्हतम्।
समुत्थितं च बहुशः सा कृष्टी हेमतारयोः॥ १०॥

पारद गन्धक आदि द्रव्यों के साथ स्वर्ण अथवा रजत को भस्म करके पुनः उनको उत्थापन गण के साथ मर्दन कर लघु पुट देकर पुनर्जीवित किया जाय इस क्रिया को कई बार दुहराने से जो स्वच्छ सुवर्ण तथा रजत की प्राप्ति होती है उसको 'स्वर्ण-कृष्टि' और 'तारकृष्टि' कहते हैं।

विशेष वचन—कई रसवैद्य इसका यह अर्थ करते हैं कि स्वर्ण अथवा रजत को पारद गन्धक आदि द्रव्यों से अथवा किसी मारक द्रव्य से मर्दन करते हुए धूप में सुखा कर ऊर्ध्वपातन में पारद को उड़ालें, शेष नीचे स्वर्ण को ले लें। इस क्रिया से प्राप्त स्वर्ण या रजत स्वच्छ वर्ण हो जाते हैं और इनको दूसरे धातुओं में मिलाने से ये उनमें वर्ण पैदा कर देते हैं॥ १०॥

कृष्ट्याः कार्यम्—

कृष्टीं क्षिपेत्सुवार्णान्तर्न वर्णो हीयते तया॥ ११॥

उक्त विधि से निर्मित कृष्टि को सुवर्ण के साथ मर्दन कर लघुपुट दिया जाय तो इसमें सुवर्ण का वर्ण बदलता नहीं है।

विशेष वचन—रसकामधेनु में इसके लिये लिखा है कि "वर्णं न नाशयति सा दत्ता रागकरी स्मृता" ॥ ११ ॥

स्वर्णकृष्टीबीजस्य कार्यम्—

स्वर्णकृष्ट्या कृतं बीजं रसस्य परिरञ्जनम् ॥ १२ ॥

स्वर्णकृष्टी द्वारा बनाया हुआ बीज (आगे वर्णित लक्षण) पारद को स्वर्णरूप में रंगने के कार्य आता है ॥ १२ ॥

वरलोहकम्—

ताम्रं तीक्ष्णसमायुक्तं द्रुतं निक्षिप्य भूरिशः ।
सगन्धलकुचद्रावे निर्गतं वरलोहकम् ॥ १३ ॥

ताम्र तथा तीक्ष्ण लोह दोनों को समभाग में लेकर एकत्र पिघला कर गन्धक चूर्णयुक्त बड़हल के रस में बुझावें, पुनः निकालकर पिघला कर उक्त गन्धक मिश्रित स्वरस में बुझावें। इस प्रकार सात बार करने से एक उत्तम लोह (धातु) बन जाता है जिसे 'वरलोह' कहते हैं।

विशेष वचन—रसकामधेनु में ताम्र, तीक्ष्ण लौह तथा गन्धक को एकत्र पिघलाकर लकुच के अम्लफल स्वरस में इक्कीस बार बुझाने को लिखा है। सम्भवतः गन्धक को धातुओं के साथ ही पिघलाने से धातुओं के पिघलने में सुविधा रहती हो ॥ १३ ॥

हेमरक्ती—

तेन रक्तीकृतं स्वर्णं हेमरक्तीत्युदाहृतम् ॥ १४ ॥

उक्त वरलोह के संयोग से रक्त वर्ण हुआ सुवर्ण 'हेमरक्ती' नाम से कहा जाता है।

विशेष वचन—सम्भवतः यह विधि आजकल के गिन्नी के स्वर्ण की परिचायिका हो। क्योंकि उसमें स्वर्ण के साथ अल्पांश में शुद्ध ताम्र मिला हुआ होता है ॥ १४ ॥

हेमरक्त्याः कार्यम्—

निक्षिप्ता सा द्रुते स्वर्णे वर्णोत्कर्षविधायोनि ।
तारस्य रञ्जनी चापि बीजरागविधायिनी ॥ १५ ॥

उक्त हेमरक्ती को थोड़ी सी मात्रा में पिघले हुए स्वर्ण में डाला जाय तो इससे स्वर्ण का वर्ण विशेष चमकीला और उत्तम हो जाता है। इसके द्वारा चांदी का वर्ण भी पीला हो जाता है। यही बीज रूप से धातुओं में भिन्न प्रकार के रंगों को पैदा कर देती है।

ताररक्ती—

एवमेव प्रकर्तव्या ताररक्ती मनोहरा ।
रञ्जनी खलु रूप्यस्य बीजानामपि रञ्जिनी ॥ १६ ॥

हेमरक्ती की विधि के अनुसार ही सुन्दर ताररक्ती बनाई जाती है। यह भी रजत के वर्ण को उत्तम कर देती है और रजत बनाने वाले योगों के साथ बीजों की रंजन शक्ति को बढ़ा देती है ॥ १५ ॥

दलम्—

मृतेन वा बद्धरसेन वाऽन्य
-ल्लोहेनवा साधितमन्यलोहम् ।
सितं च पीतत्वमुपागतं त
द्दलं हि चन्द्रानलयोः प्रसिद्धम् ॥ १७ ॥

विशेष वचन—दल शब्द से पत्र का अर्थ लिया जाता है। कोई भी धातु जिसको स्वर्ण या रजत बनाना हो पत्र रूप में लेकर पारद आदि से संयुक्त कर विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा संस्कृत की जायेगी। संयोग और संस्कार से उत्पन्न धातु के वर्ण को रजत-सादृश्य से चन्द्रदल और अग्निवर्णसादृश्य से अनल-दल से कहा गया है। "सितंत्व पीतत्व" के स्थान पर "सितञ्च पीतञ्च" ऐसा पाठ भी है ॥ १७ ॥

अन्यविधदलम्—

आ-मासकृतबद्धेन रसेन सह योजितम् ।
साधितं वाऽन्यलोहेन सितं पीतं च तद्दलम् ॥ १८ ॥

एक मासपर्यन्त पारद की निगडीकरण (उड़ने की शक्ति को रोकना) प्रक्रिया से संयमित (नियामनसंस्कारयुक्त) पारद के साथ मिलाकर अथवा किसी अन्य धातु से मिलाकर श्वेत या पीतवर्ण के धातुनिर्माण को दल-शब्द से कहा जाता है।

विशेष वचन—"आ-मास" के स्थान पर "आवास" ऐसा पाठ होने पर सर्पाक्षी, क्षीरिणी आदि नियामकगणोक्त औषधियों में रखने से नियमित पारद ऐसा अर्थ होता है ॥ १८ ॥

शुल्वनागम्—

माक्षिकेण हतं ताम्रं दशवारं समुत्थितम् ।
तद्वद्विशुद्धनागं हि द्वितयं तच्चतुष्पलम् ॥ १९ ॥
नीलाञ्जनहतं भूयः सप्तवारं समुत्थितम् ।
इति संसिद्धमेतद्धि शुल्वनागं प्रकीर्त्यते ॥ २० ॥

स्वर्णमाक्षिक के साथ तांबे की भस्म करके पुनः उसको जीवित करें। इस प्रकार दश बार भस्म कर पुनः पुनः उत्थापित ताम्र, इसी प्रकार स्वर्णमाक्षिक के साथ दश बार मृत और उत्थापित नाग, इन दो धातुओं को पृथक् २ चार २ पल लेकर एकत्र करें अर्थात् पिघला कर एक करलें, पुनः इस मिश्रित धातु को नीलाञ्जन के साथ भस्म करें और पुनः जीवित करें। इस प्रकार नीलाञ्जन के योग से सात बार भस्म कर अन्त में जीवित की हुई धातु को शुल्व (ताम्र) नाग सीसा शब्द से कहा जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में शुल्वनाग को भी 'चन्दानलदल' नाम से लिया गया है ॥ १९—२० ॥

शुल्वनागगुणाः—

साधितस्तेन सूतेन्द्रो वदने विधृतो नृणाम् ।
निहन्ति मासमात्रेण मेहव्यूहमशेषतः ॥ २१ ॥
पथ्याशनस्य वर्षेण पलितं वलिभिः सह ।
गृध्रदृष्टिर्लसत्पुष्टिः सर्वारोग्यसमन्वितः ॥ २२ ॥

उक्त शुल्वनाग द्वारा साधित (मृत अथवा सिद्ध) पारद की गोली मुख में रखने से एक मास में सम्पूर्ण प्रमेह रोग दूर हो जाते हैं। इसी प्रकार जो मनुष्य पथ्यपूर्वक एक वर्ष तक इस गोली को मुख में धारण करें तो उनके पलित (अकाल में ही बालों का पकना) और बलि (अकाल में ही वृद्धावस्था उत्पन्न होना) दोनों रोग नष्ट हो जाते हैं। और मनुष्य गृध्र (गिद्ध) के समान दूर और तीव्र दृष्टि वाला हो जाता है। शरीर पुष्ट तथा कान्तिमान् दिखाई देता है। साथ ही सब प्रकार की आरोग्यता लाभ करता है ॥ २१—२२ ॥

पिञ्जरी—

लोहं लोहान्तरे क्षिप्तं ध्मातं निर्वापितं द्रवे।
पाण्डुपीतप्रभं जातं पिञ्जरीत्यभिधीयते ॥ २३ ॥

किसी धातु को पिघला कर दूसरी पिघली हुई धातु के साथ मिलाकर त्रिफला आदि द्रवों में बुझावें जिससे उसका वर्ण श्वेत-पीत हो जावे तो उसे 'पिञ्जरीलोह' शब्द से कहा जाता है ॥ २३ ॥

चन्द्रार्कम्—

भागाः षोड़श तारस्य तथा द्वादश भास्वतः
एकत्राऽऽवर्त्तितास्तेन चन्द्रार्कमिति कथ्यते ॥ २४ ॥

सोलह भाग चांदी तथा बारह भाग ताम्र के लेकर दोनों को एकत्र पिघलाने से जो धातु तैयार होती है उसे 'चन्द्रार्क' कहा जाता है ॥ २४ ॥

निर्वाहणम्—

साध्यलोहेऽन्यलोहं चेत् प्रक्षिप्तं वङ्कनालतः।
निर्वापणन्तु तत् प्रोक्तं वैद्यैर्निर्वाहणं खलु ॥ २५ ॥

साध्यलोह (संस्कार अथवा सिद्धि योग्य अर्थात् जिसकी सिद्धि तथा संस्कार पिघलाना आदि किये जा रहे हों) में उसी समय दूसरी धातु को गलाकर वंकनाल (आगे वर्णित) द्वारा उसमें मिलाने को प्राचीन वैद्यक में निर्वाहण शब्द से कहा जाता है इसी का पर्यायवाचक 'निर्वापण' शब्द से कहा जाता है। परन्तु इन दोनों में कुछ भेद है। जैसे जिसधातु को पिघला कर मिलाते हैं, उसे निर्वापण और जिस धातु में मिलाते हैं उसे निर्वाहण शब्द से कहा जाता है ॥

निर्वापणस्य मात्रानिर्देशः—

क्षिपेन्निर्वापणं द्रव्यं निर्वाह्ये समभागिकम्।
आवाह्यं वापनीये च भागे दृष्टे च दृष्टवत् ॥ २६ ॥

निर्वाह्यधातु (जिसमें मिलाया जाता हो) में निर्वापण (मिलाई जाने वाली धातु) समभाग में मिलाई जाती है। अथवा वापनीय (मिलाई जाने वाली धातु) का मान ज्ञात होने पर उसको अपने अनुभव के अनुसार ही डालना चाहिये। अर्थात् अनुभव विशेष से रसवैद्य निर्वाहणद्रव्य को निर्वापणद्रव्य से न्यूनाधिक भी कर सकता है ॥ २६ ॥

वारितरलोहलक्षणम्—

मृतं तरति यत्तोये लोहं वारितरं हि तत् ॥ २७ ॥

जो विधिपूर्वक की हुई धातु की भस्म जल के ऊपर तैरने लगती है उसे 'वारितरभस्म' कहते हैं।

विशेष वचन—धातु की भस्म वारितर उसी अवस्था में होती हैं जब उसके परमाणुओं की कठिनता हट जाती है और उनमें ओषजन का अधिक से अधिक योग हो जाता है। इसीलिये आयुर्वेदशास्त्र में धातुओं को जितना अधिक पुट दिया जाय उतना ही अधिक गुणप्रद लिखा है। लोहादिभस्म को निस्तरंग जल में डालकर देखें वह नीचे तो नहीं बैठती? जब डाली हुई भस्म (भस्म को बहुत अल्प मात्रा में तथा धीरे डालना चाहिये) पानी पर तैरने लगे तो उसके ऊपर धीरे २ एक दो करके चावल डालें एक पाव तक चावल ऊपर तैरने लगते हैं। यह उत्तम वारितर भस्म होती है ॥ २७ ॥

रेखापूर्णाख्यमृतलोहलक्षणम्—

अङ्गुष्ठतर्जनीघृष्टं यत्तद्रेखान्तरे विशेत्।
मृतलोहं तदुद्दिष्टं रेखापूर्णाभिधानतः ॥ २८ ॥

जो धातु की भस्म, अंगूठा और तर्जनी द्वारा रगड़ने पर अंगुलियों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेखाओं में प्रवेश कर जाय और फिर झाड़ने या कपड़े से पोंछने पर भी उसमें चिपकी रहे तो उस मृतलोह को 'रेखापूर्ण' कहते हैं ॥ २८ ॥

अपुनर्भवलोहलक्षणम्—

गुड-गुञ्जा-सुखस्पर्श-मध्वाज्यैः सह योजितम्।
नाऽऽयाति प्रकृतिं ध्मानादपुनर्भवमुच्यते ॥ २९ ॥

जो धातु की भस्म गुड़, गुञ्जा (रत्ती), सुखस्पर्श (सुहागा) शहद तथा घृत के साथ मिला मूषा में रख अग्नि में धौंकनी से फूंकने पर फिर अपने स्वरूप में न आवे तो उसे अपुनर्भव लोहभस्म कहते हैं। अर्थात् फिर किसी तरह भी न जी सकनेवाली धातु की भस्म 'अपुनर्भव' कहलाती है।

ऊनमलक्षणम्—

तस्योपरि गुरुद्रव्यं धान्यञ्चोपनयेद् ध्रुवम्।
हंसवत्तीर्यते वारिण्यूनमं परिकीर्त्तितम् ॥ ३० ॥

अपुनर्भव रूप से बनी हुई धातु की भस्म को जल के ऊपर डालकर उसके ऊपर धान्य आदि किसी गुरु द्रव्य को डाला जाय तो वह हंस की भांति जल पर तैरता है। इसी परीक्षा को 'ऊनम' परीक्षा कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में "ऊनमं" के स्थान पर "उत्तमं" ऐसा पाठ है ॥ ३० ॥

निरुत्थलौहम्—

रौप्येण सह संयुक्तं ध्मातं रौप्येण चेल्लगेत्।
तदा निरुत्थमित्युक्तं लोहं तदपुनर्भवम् ॥ ३१ ॥

किसी धातु की भस्म को चांदी के पत्रों के साथ मूषा में रख-कर तपाया जाय, फिर इसे नीचे उतार कर देखें, यदि भस्म चांदी के पत्रों से न लगे तो उसे 'निरुत्थलोह' या 'अपुनर्भव' लोह कहा जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में भस्म तथा तारपत्रों के साथ मधु तथा घृत मिलाकर मूषा में रखने को लिखा है। रजतपत्रों के पिघल जाने पर नीचे उतार कर देखें यदि रजत (पत्र) का भार पहिले की अपेक्षा बढ़ जाये तो वह शुद्ध नहीं है॥ ३१॥

बीजलक्षणम्—

निर्वापणविशेषेण तत्तद्वर्णं भवेद् यदा।
मृदुलं चित्रसंस्कारं तद्बीजमिति कथ्यते॥ ३२॥

किसी धातु को पिघला कर उसमें अन्य धातु को निर्वापण करके पिघली हुई धातु में निर्वापण द्रव्य के अनुसार विभिन्न वर्ण की उत्पत्ति के साथ उसमें मृदुता करने वाले अद्भुत संस्कार को 'बीज' शब्द से कहा जाता है।

विशेष वचन—अन्यत्र शास्त्रों में भिन्न २ धातुओं के लिये भिन्न २ बीजों का वर्णन पाया जाता है। यही बीज उपधातु महारस आदि के सत्वों तथा कतिपय औषधियों के योग से भिन्न २ प्रकार के बनाये जाते हैं। बीजार्थ प्रस्तुत धातु, उपरस, महारस आदि के सत्वों को शुद्ध तथा परिपक्वावस्था में प्रयोग करने पर ही बीज द्वारा धात्वन्तर में बीजसदृश वर्ण तथा मृदुता आती है अतः पक्व बीज का प्रयोग उत्तम माना जाता है। सम्पूर्ण बीजों में से रसहृदयतन्त्रकार ने भ्रामकलोह तथा सीसकचूर्ण को सौ बार पिघला कर भिन्न २ औषधियों में बुझाने से महाबीज का वर्णन किया है। यह बीज सर्वोत्तम माना जाता है, इसके द्वारा स्वर्ण-रजत आदि धातु का निर्माण किया जाता है। रसार्णव में बीज के भेदादियों का निम्न प्रकार से वर्णन है "हेमतारवशाद्बीजं द्विविधं तावदीश्वरि। पीतारुणैर्हेमबीजं तारबीजं सितैर्भवेत्॥ कल्पितं रञ्जितं पक्वमिति भूयस्त्रिया भवेत्। कल्पितं द्विविधं तत्र शुद्धमिश्रविभेदतः॥ रसोपरसलोहानां बीजानां कल्पितं पृथक्। शुद्धं मिश्रन्तु संयोगाद्यथालाभं सुरेश्वरि!॥ बीजानि कल्पितान्येवं रञ्जितानि परं शृणु। घनं माक्षिकचूर्णेन शुल्वचूर्णेन रञ्जितम्॥ द्वन्द्वितं ताप्यसत्वेन रसराजस्य रञ्जनम्। आरक्तवल्लिभिर्मूत्रैर्बहुवापरिभावितैः। कुनटीगन्धपाषाणैर्हेममाक्षिकहिंगुलैः। वापितं सेवितं रक्तगणैः स्नेहैर्मृतं ततः। रञ्जितं रसराजस्य तादृशं ताम्रं विशेषतः। केवलं विमलं ताम्रं वापितं दरदेन वा॥ कुरुते त्रिगुणं जीर्णं लाक्षारससन्निभं रसम्। द्विगुणं रसकं दत्वा ताम्रं सुध्मातमीश्वरि!॥ कृष्णाभ्रकस्य चूर्णं च रक्तवर्णं मुहुः पुटैः। ताप्येन वा मृतं हेम, त्रिगुणेन विपाचितम्॥ हयिडकायान्तु रसकं ताप्यसैंधवसंयुतम्। इन्द्रगोपनिभं यावत्सर्वं द्विगुणजारणात्॥ द्रुतहेमनिभं सूतं कुरुते नात्र संशयः। अभ्रकं हेमताम्रं च शिलया माक्षिकेण च। गैरिकेण च मुख्येन रसकेन च रञ्जयेत्॥" इन बीजों द्वारा ही स्वर्ण-रजतधातुओं का निर्माण होता है जिसकी एक सरल और संक्षिप्त विधि रसार्णव में इस प्रकार है। इस विधि को कपालीयोग के नाम से लिखा है। "शुल्वपत्रपलैकन्तु पलार्धं गन्धकस्य तु। टङ्कणं कर्षमेकन्तु कर्षैका रसकज्जली॥ माक्षिकं कर्षमेकन्तु सर्वमेकत्र कारयेत्। अन्धमूषागतं ध्मातं खोटो भवति तत्क्षणात्॥ तं खोटं सूक्ष्मचूर्णन्तु चणकाम्लेन मर्दयेत्। आरण्यगोमयेनैव पुटान् दद्याच्चतुर्दश॥ इन्द्रगोपकसंकाशं जायते नात्र संशयः। तच्चूर्णं मधुना युक्तं शुद्धतारं तु रञ्जयेत्॥ रञ्जयेत्त्रीणि वाराणि शोभनं हेम जायते। एकः कपालिकायोगः सर्वलोहानि रञ्जयेत्॥" इन विधानों को क्रियात्मक रूप देना वैद्यसमाज का कर्तव्य है॥ ३२॥

उत्तरणम्—

इदमेव विनिर्दिष्टं वैद्यैरुत्तरणं खलु।
संसृष्टलोहयोरेकलोहस्य परिनाशनम्॥ ३३॥

दो लोहों को आपस में मिलाकर अथवा मिले हुए दो धातुओं में से, तपाकर, बुझाकर अथवा जलाकर या उसमें किसी टंकण आदि क्षारों का प्रक्षेप डालकर एक धातु को उसमें से पृथक् करने को वैद्य लोग "उत्तरण" कहते हैं अथवा बीज का ही पर्याय उत्तरण है। न्यारिये लोग इस विधि को अच्छी तरह जानते हैं।

ताडनम्—

प्रध्मातं वङ्कनालेन तत्ताडनमुदाहृतम्॥ ३४॥

परस्पर मिली हुई दो धातुओं में जब एक धातु की शुद्धि और अन्य धातु का नाश करने के लिये उनको मूषायन्त्र में रख कर बंकनाल द्वारा फूँकते हैं तो इस क्रिया को 'ताडन' कहते हैं।

विशेष वचन—कई वैद्य बीज का ही पर्यायवाचक उत्तरण को मानते हैं। और ताडन का लक्षण "संसृष्टलोहयोः" से लेकर "तत्ताडनमुदाहृतम्" तक करते हैं। ताडन परीक्षा का नाम है। जिस धातु को नष्ट किया गया है उसका कुछ अंश है कि नहीं यह ज्ञान उसको तपाकर वर्ण के देखने से होता है॥ ३४॥

धान्याभ्रलक्षणम्—

चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रबद्धं हि काञ्जिके।
निर्यातं मर्दनाद्वस्त्राद्धान्याभ्रमिति कथ्यते॥ ३५॥

कृष्णअभ्रक चूर्ण को धानों के साथ (¼ भाग धान्य) कपड़े (कम्बल) में बांधकर काञ्जी में भिगोकर दृढ़ मर्दन करने से वस्त्र से निकलने वाला अतिसूक्ष्म अभ्रकचूर्ण 'धान्याभ्र' कहा जाता है।

विशेष वचन—इसका विशेष वर्णन द्वितीयाध्याय में किया गया है॥ ३५॥

सत्वलक्षणम्—

क्षाराम्लद्रावकैर्युक्तं ध्मातमाकरकोष्ठके।
यस्ततः निर्गतः सारः सत्त्वमित्यभिधीयते॥ ३६॥

किसी कच्ची धातु या अभ्रक आदि महारसों को क्षार अम्ल तथा द्रावकवर्ग की औषधियों के साथ मिलाकर कोष्ठिकायन्त्र में तपाने से जो सार भाग निकलता है। अर्थात् उस धातु या महारस में होने वाली असली जो मुख्य धातु प्राप्त होती है उसे 'सत्व' कहते हैं।

विशेष वचन—विभिन्न द्रव्यों से विभिन्न प्रकार से सत्वपातन करने की विधि पूर्वाध्यायों में वर्णन की गई है उसके अनुसार तत्तत्सत्वों का ग्रहण करना चाहिए॥ ३६॥

एककोलीसलक्षणम्—

कोष्ठिका-शिखरापूर्णैः कोकिलैर्ध्मानयोगतः।
मूषाकण्ठमनुप्राप्तै रेककोलीसको मतः॥ ३७॥

कोष्ठिका यन्त्र में द्रव्ययुक्त मूषा के साथ (शिखर पर्यन्त) कोयले भर कर धौंकनी से फूंकें जब मूषागत मारणीयद्रव्य मूषा के कण्ठपर्यन्त भाग तक आ जावें या मूषा के कण्ठ भाग में आ लगे तो इस विधि को 'एककोलीसक' क्रिया कहते हैं। यह क्रिया अनेकविधमूषा-गत द्रव्यों को पकाने और सत्वपातनादि कर्म करने में द्रव्य की शक्ति (काठिन्य मृदुता) के अनुसार कार्य में प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचूड़ामणि में 'कोकिलैः' के स्थान पर 'कोलिशैः' ऐसा पाठ है। यह पाठ भी ठीक है क्योंकि "कोलिश" भी कोयलों को कहते हैं। "शिखित्राः पावकोच्छिष्टा मृतांगाराश्च कोकिलाः। कृष्णांगा कोलिशाश्चेति पर्यायास्ते परस्परम्।" ॥ ३७॥

द्रावणादिकर्मसाधने काष्ठनिर्देशः—

द्रावणे सत्त्वपाते च माधुकाः खादिराः शुभाः।
दुर्द्रावे वंशजास्ते तु स्वेदने बादराः शुभाः॥ ३८॥

किसी धातु अथवा रसोपरस का द्रावण (पिघलाना) अथवा सत्वपातन करना हो तो इस क्रिया में महुआ और खैर के कोयले उत्तम होते हैं। बड़ी कठिनता से पिघलने वाले द्रव्यों के द्रावण करने के लिये बांस के कोयले अच्छे होते हैं और किसी द्रव्य पारद आदि को स्वेदन करना हो तो बेर की लकड़ी अच्छी होती है।

विशेष वचन—"दुर्द्रावे" के स्थान पर "निर्द्रवे" पाठ अच्छा प्रतीत होता है। क्योंकि द्रावण के बिना ही किसी पदार्थ को फूंकना हो तो उसके लिये बांस के कोयले अच्छे होते हैं। ये देर तक अग्नि को सहते हैं और शीघ्र ही भस्म में परिणत नहीं होते हैं। और "माधुकाः" के स्थान "माधूकाः" ऐसा पाठ अच्छा है॥

हिंगुलाकृष्टरसः—

विद्याधराख्ययंत्रस्थादार्द्रकद्रावमर्दितात्।
समाकृष्टो रसो योऽसौ हिंगुलाकृष्ट उच्यते॥ ३९॥

हिंगुल (सिंगरफ) को अदरक के रस से दो तीन भावना देकर अथवा एक दिन पर्यन्त मर्दन कर सुखाकर विद्याधर (उर्ध्व-पातन) यन्त्र में बन्द करके चूल्हे में रख आवश्यकतानुसार अग्नि देकर निकाले जाने वाले पारद को 'हिंगुलाकृष्टरस' कहा जाता है।

विशेष वचन—हिंगुल से पारद निकालने में हिंगुल को जम्बीरी नींबू के रस से एक दिन मर्दन करके सुखाकर एक चौड़े मुंह की हांडी में रख दिया जाता है, फिर इस हांडी के मुख पर दूसरी इतनी बड़ी हांडी का मुख टिका कर सन्धिलेप किया जाता है। यह डमरुयन्त्र नाम से प्रसिद्ध है। अब इस यन्त्र को चूल्हे में रख कर कम से कम तीन पहर साधारण अग्नि से पकावें। पकाते हुए ऊपर की हांडी में पेंदी में एक मोटा गीला कपड़ा रख दें, जब कपड़ा सूख जाय फिर उसे जल से तर कर दें। स्वांग शीत होने पर हांडी को सावधानी के साथ खोलकर ऊपर की हांडी के भीतर काले चमकीले धुँवें के रूप में चिपके हुए पदार्थ को एक खरदरे कपड़े या बोरी के टुकड़े से रगड़ें तो पारद हांडी में एकत्र हो जायगा। फिर इस पारद को त्रिगुणा या चतुर्गुण वस्त्र से छान लिया जाता है और गरम काञ्जी से धोकर काम में लाते हैं। यह पारद सर्वदोष रहित होता है॥ ३९॥

घोषाकृष्टलक्षणम्—

स्वल्पतालयुतं कांस्यं वंकनालेन ताडितम्।
मुक्तरंगं हि तत्ताम्रं घोषाकृष्टमुदाहृतम्॥ ४०॥

कांसे के चूर्ण में थोड़ा सा हरताल का चूर्ण मिलाकर यदि इसको वंकनाल द्वारा अग्नि में फूंका जाय तो इसमें से वंग का भाग नष्ट हो जाता है और शुद्ध ताम्र रह जाता है इस प्रकार कांसे से निकाले हुये ताम्र को 'घोषाकृष्ट' ताम्र कहते हैं।

विशेष वचन—यह पहिले लिखा गया है कि कांसा, ताम्र तथा वंग का संयोगज धातु है। कांसा में से ताम्र को पृथक् करने की विधि को घोषाकृष्ट शब्द से कहा जाता है। वंग का नाशक हरताल (Arsenic sulphide) होता है, इसके द्वारा वंग काoxide-tio::हो जाता है और ताम्र अवशिष्ट रह जाता है।

वरनागलक्षणम्—

तीक्ष्णनीलांजनोपेतं ध्मातं हि बहुशो दृढम्
मृदु कृष्णं द्रुतद्रावं वरनागं तदुच्यते॥ ४१॥

तीक्ष्ण लोह तथा नीलाञ्जन (काला सुरमा) दोनों को बराबर भाग में लेकर एकत्र करके मूषा में रख कर बार २ तपाने से इसमें से मृदु, कृष्णवर्ण और शीघ्र पिघलने वाली एक धातु प्राप्त होती है जिसे 'वरनाग' शब्द से कहा जाता है।

विशेष वचन—यदि लोहांश युक्त नाग धातु की आवश्यकता हो तो उसे प्राप्त करने की उक्त सरल विधि है। अन्यथा सीसा तथा तीक्ष्ण लोह को एकत्र पिघला कर मिलाना कठिन होता है। क्योंकि इन दोनों का द्रावणांक परस्पर बहुत भिन्न है जितने द्रावणांक में लोह पिघलता है उतने में सीसा का ओक्सीडेशन हो जाता है और लोह में नहीं मिलने पाता है। अतः तीक्ष्ण लोह को

नीलाञ्जन (जिसमें नाग होता है) के साथ मिला उक्तनामक वशिष्ट लौह प्राप्त हो जाता है। "तीक्ष्ण" के स्थान पर "तीक्ष्णं" पाठ अच्छा प्रतीत होता है और यही पाठ रसेन्द्रचूड़ामणि आदि पुस्तकों में भी पाया जाता है। "तीक्ष्णनीलाञ्जनोपेतं" पाठ होने पर तीक्ष्ण लौह तथा नीलाञ्जन से युक्त कोई अन्य द्रव्य भी अपेक्षित होता है। अतः इस वाक्य के साथ "नागमिति शेषः" करना पड़ता है। रसकामधेनु में वरनाग की स्पष्ट और सरल विधि इस प्रकार पाई जाती है जिससे 'तीक्ष्णं' पाठ ही उचित प्रतीत होता है। "अञ्जनं तीक्ष्णसंयुक्तं तत्समं टंकणं कुरु। अन्धमूषागतं ध्मातं वरनाग इति स्मृतः" ॥ ४१ ॥

उत्थापनलक्षणम्—

मृतस्य पुनरुद्भूतिः संप्रोक्तोत्थापनाख्यया ॥ ४२ ॥

किसी मृत (भस्म हुए) धातु को पुनः द्रावण वर्ग की औषधियों से मिला कर मूषा में रख तपाकर के अपने स्वरूप (स्वर्ण आदि) में ले आना 'उत्थापन' कहा जाता है ॥ ४२ ॥

ढालनलक्षणम्—

द्रुतद्रव्यस्य निक्षेपो द्रवे तड्ढालनं मतम् ॥ ४३ ॥

किसी द्रव्य (स्वर्ण आदि धातु) को अग्नि पर पिघला के जल औषधि स्वरस्व कषाय अथवा किसी द्रव प्रदार्थ में डालकर जमा लेना (गाढ़ा कर लेना) ढालन कहा जाता है ॥ ४३ ॥

नागसम्भूतचपलः—

त्रिंशपलमितं नागं भानुदुग्धेन मर्दितम्।
विमर्द्य पुटयेत्तावद्यावत्कर्षावशेषितम् ॥ ४४ ॥
न तत्पुटसहस्रेण क्षयमायाति सर्वथा।
चपलोऽयं समादिष्टो वार्तिकैर्नागसंभवः ॥ ४५ ॥

तीस पल प्रमाण (१२० तोला) सीसक को लेकर मदार के दूध से मर्दन कर सम्पुट से बन्द करके पुट दें। इस प्रकार तब तक पुट देते जायँ जब तक कि नाग एक कर्ष (तोला) मात्र अवशेष न रह जाय। इस प्रकार अनेकों पुटों के बाद एक कर्ष मात्रा में अवशेष रहने वाला नाग फिर हजारों पुट देने से भी क्षय (नष्ट या कम) नहीं होता है। इस नागसत्व को वार्तिककारों ने 'नागजन्य चपल' कहा है।

विशेष वचन—यह चपलधातु, महारसप्रकरण में पढ़े गये चपल से सर्वथा भिन्न है। इसको बनाने में पहिले-पहल गजपुट नहीं देना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से यह पात्र में चिपक जाता है जिससे बिना पात्र को तोड़े हुये इसका निकालना कठिन हो जाता है और यह मात्रा में भी घट जाता है। जब इसकी भस्म बन जाय तब धीरे २ पुट में उपलों की संख्या बढ़ा कर गजपुट में फूँकना आरम्भ कर दें। रसेन्द्रचिन्तामणि में बीस पल परिमित सीसक को कर्षावशेष रख कर एक विशेष प्रकार की नाग धातु बनाने का विधान पाया जाता है जिसको उसमें 'गुह्यनाग' संज्ञा दी है। यह उक्त चपल से कई गुणा अधिक गुणशाली माना गया है। यहाँ तक लिखा है कि यह नाग अपने से लक्षगुण अधिक स्वर्ण शलाका का ग्रास कर लेता है और इसके प्रक्षेप से खारी प्रमाण द्रुह स्वलोर्ण बन जाता है। पाठकों के विचारार्थ पाठ उद्धृत किया जाता है। "पलविंशतिनागस्य शुद्धस्य कृतचक्रिकम्। रूपिकादुग्धसम्पिष्टशिलया परिलेपितम्॥ शरावसम्पुटे रुद्ध्वा पचेत्क्रोडपुटेन तम्। तावद्वारं पचेद्यत्नाद् यावद्भस्मप्रजायते। गुड़गुग्गुलुगुञ्जाज्यसारघैः परिमर्द्य तत्। मूषामध्येनिरुध्याऽथ ध्मानादुत्थापितं पुनः॥ चक्रान्तेन पुनः कृत्वा पलप्रमितपारदैः। लिप्त्वा लिम्पेत्सिताकस्य पयसा शिलयाऽपि वा॥ पचेद्गजपुटैरेनं वाराणां खलु विंशतिः। पुटे पुटे हि नागस्य कुर्यादुत्थापनं खलु॥ नीलज्योतिद्रवैः सम्यग् दशवाराणि ढालयेत्। इति सिद्धं ततः सीसं कर्षमात्रावशेषितम्। गुह्यनागाख्यया प्रोक्तं श्रेष्ठं रससरायनम्। निष्कमात्रे तु नागेऽस्मिन् लौहखार्यां द्रुते सति। स्वतो लक्षगुणां हैमीं शलाकां ग्रसति ध्रुवम्। गुह्यभागोऽयमुद्दिष्टः वक्ति स्वच्छन्दभैरवः" ॥ ४४–४५ ॥

वंगसम्भूतचपलः—

इत्थं हि चपलः कार्यो वंगस्यापि न संशयः ॥ ४६ ॥

नाग की भांति वंग धातु का भी चपल बनाया जाता है इसमें सन्देह नहीं ॥ ४६ ॥

चपलस्य कार्यम्—

तत्स्पृष्टहस्तसंस्पृष्टः केवलो बध्यते रसः ॥ ४७ ॥

उक्त प्रकार से निर्मित चपल को हाथों से स्पर्श कर या रगड़ कर यदि शुद्ध धात्वन्तरसंयोग रहित पारद को स्पर्श किया जाय तो पारद बद्ध अर्थात् न उड़ सकने वाला हो जाता है ॥ ४७ ॥

तादृशबद्धरसस्य कार्यम्—

स रसो धातुवादेषु शस्यते न रसायने।
अयं हि खर्वणाख्येन लोकनाथेन कीर्तितः ॥ ४८ ॥

उक्त चपल स्पर्शयुक्त हाथों द्वारा बद्ध किया हुआ पारद धातुवाद (स्वर्णरजत आदि धातुनिर्माण) में उपयोगी होता है। रसायनप्रयोग में यह उपयोगी नहीं है। यह विधान 'खर्वण' नामक किसी रसवैद्य ने कहा है।

विशेष वचन—कहीं ४८ श्लोक के बाद "नागं निरुत्थितं कृत्वा खर्परैः षड्गुणैः सह। षष्टिश्चतुर्थवेधेन तारमायाति काञ्चनम्" इतना अधिक पाठ मिलता है ॥ ४८ ॥

धौतम्—

भूभुजंगशकृत्तोयैः प्रक्षाल्यापहृतं रजः।
कृष्णवर्णं हि तत्प्रोक्तं धौताख्यं रसवादिभिः ॥ ४९ ॥

केंचुओं की सूखी विष्ठा को जल से अनेक बार धोने से जो उसमें से कृष्ण वर्ण के चूर्णकण प्राप्त हों उसे रसवादी शास्त्री लोग 'धौत' शब्द से कहते हैं।

विशेष वचन—चपल प्रकरण के बाद ही "धौत" के पढ़ने और तत् शब्द के प्रयोग से यह विषय चपल से ही सम्बन्ध रखता है। अतः यह अर्थ उचित प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त विधि से प्राप्त चपल को पुनः केंचुओं के मलजल से धो २ कर उसकी रजः (मैल) को (जोकि पुट के कारण लग जाती है) साफ़ कर लें, जब वह चपल कृष्ण वर्ण का हो जाय तो उसे 'धौत' शब्द से कहा जाता है। अतः व्यवहार में प्रयोग करते समय इसके लिये "धौतनाग चपल" से कहा जाना चाहिये ॥ ४९ ॥

द्वन्द्वानम्—

द्रव्ययोर्मर्दनाध्मानाद्द्वन्द्वानं परिकीर्तितम् ॥ ५० ॥

दो द्रव्यों (धातुओं) को एकत्र मर्दन कर मूषा में रख कर फूँकने को 'द्वन्द्वान' कहते हैं।

विशेष वचन—धातुवाद में प्रायः द्वन्द्वान की विधि काम आती है। विभिन्न धातु और उपरस आदि को मिला कर उनसे अन्त में पारद की सिद्धि की जाती है और इस पारद के संयोग से लोह स्वर्णमय हो जाती है। दो भिन्नप्रकृति के द्रव्यों को मिलाने के लिये अनेक योग पाये जाते हैं। सर्व द्वन्द्वों को मिलाने के लिये रसहृदयतन्त्र-लिखित योग अच्छा है। "ऊर्णाटंकणगिरिजतुकर्णाविमलेन्द्रगोपकर्कटकैः। नारीपयसा पिष्टैः सर्वद्वन्द्वानि मिलन्ति हि"॥

भञ्जनी—

भागादुद्रव्याधिकक्षेपमनुवर्णसुवर्णके ॥
द्रवैर्वा वह्निकाग्रासो भञ्जनी वादिभिर्मता ॥ ५१ ॥

वर्ण सुवर्णक (राजपीतल) में पीतल की भस्म करने के लिये लिखित द्रव्यों को उनके अनुपात से अधिक मात्रा में डालने के अनु (पश्चात्) मारणीय द्रव्योंकी अग्निको कम करनेकी विधि को अथवा किसी औषधि के कषाय स्वरस आदि द्रव से मारणीय द्रव्यों की अग्नि को कम करना 'भञ्जनी' कहा जाता है।

विशेष वचन—कहीं २ पर "सुवर्ण आदि धातुओं में जब अन्य धातु का अधिक भाग मिलाया जाता है तो उसे अनुवर्ण तथा सुवर्णक कहते हैं" ऐसा अर्थ पाया जाता है जो अधिक रुचिकर और संगत प्रतीत नहीं होता। रसेन्द्रचूड़ामणि में प्रकृत मूल से बिलकुल भिन्न ही पाठ मिलता है। "भागाद्रूप्यादिके क्षेपमनुवर्णसुवर्णके। दलैर्वा वर्णिकाह्रासो भञ्जिनी वादिभिर्मता" ॥ ५१ ॥

चुल्लका—

पतंगीकल्कतो जाता लोहे तारे च हेमता।
दिनानि कतिचित्स्थित्वा यात्यसौ चुल्लका मता ॥५२॥

पतंगी (रंगनेवाली औषधियों के समुदाय) के कल्क के भीतर कुछ दिन तक लौह तथा चाँदी को रखने से जो उसमें स्वर्णवर्णता (सोने का रंग) आ जाती है और कुछ काल पश्चात् वह हेमता नष्ट हो जाती है उस अवस्था को 'चुल्लका' शब्द से कहा जाता है।

विशेष लक्षण—कोई इस श्लोक में हेमता तथा चुल्लका इन दो लक्षणों को मानते हैं। पूर्व आधा श्लोक हेमता का और उत्तरार्ध श्लोक चुल्लका का लक्षण माना जाता है। ऐसी अवस्था में यह अर्थ किया जाता है कि आगे लिखे हुए पतंगीराग नामक द्रव्यों के कल्क लेप से सर्वलौह में विशेषतः चांदी में स्वर्ण-वर्ण का आजाना 'हेमता' कहलाता है। और पतंगी-कल्क के अन्दर रख कर प्राप्त स्वर्ण-वर्ण को 'चुल्लका' कहा जाता है। इसमें भी चुल्लका लक्षण में कई दूसरा अर्थ करते हैं कि "यह हेमता कुछ दिन रह कर नष्ट हो जाती है तो इसे चुल्लका कहते हैं"। जैसे "पतंगिकल्कतो जाता लोहे तारत्वहेमता। दिनानि कतिचित् स्थित्वा यात्यसौ पलिका मता" र. चू. ॥ ५२ ॥

पतङ्गीरागः—

रञ्जिताद्धि चिराल्लोहाद्ध्मानाद्वा चिरकालतः।
विनिर्यासः स निर्दिष्टः पतंगीरागसंज्ञकः ॥ ५३ ॥

चिरकाल तक वक्ष्यमाण रञ्जनार्थ प्रयोग में आने वाले रक्त-वर्ण, पीतवर्ण की औषधियों में रखने से रञ्जी हुई किसी धातु में से निकलने वाले विनिर्यास (प्रवाही सत्व) को अथवा किसी रञ्जित (रंगा हुआ) धातु को चिरकाल तक तपाने से निकलने वाले सत्व को 'पतंगीराग' शब्द से कहा जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में पारद द्वारा रंजित लोह के तपाने से निकलने वाले सत्व को 'पतंगीराग' शब्द से लिखा है। "रंजिताच्च रसाल्लोहाद्ध्मानाद्वा चिरकालतः। विनिर्याति स निर्दिष्टः पतंगीरागसंज्ञिकः ॥ ५३ ॥

आवापः—

द्रुते द्रव्यांतरक्षेपो लोहाद्ये क्रियते हि यः।
स आवापः प्रतीवापस्तदेवाऽऽच्छादनं मतम् ॥ ५४ ॥

धातु तथा उपरस आदि को पिघला कर उसमें जो अन्य पदार्थ का प्रक्षेप किया जाता है। जैसे स्वर्ण रजत आदि के गलते समय उसमें सुहागादि डाला जाता है उसे 'आवाप' शब्द से कहा जाता है और इसी आवाप को 'प्रतीवाप' तथा 'आच्छादन' भी कहते हैं।

विशेष वचन—वंगादि धातुओं को कड़ाही में पिघला कर उसमें पीपल, इमली, जीरा, अजवायन आदि द्रव्यों के चूर्ण को डाल कर उनकी भस्म बनाने में आवाप का प्रयोग होता है। ॥५४॥

अभिषेकः—

द्रुते वह्निस्थिते लोहे विरम्याष्टनिमेषकम्।
सलिलस्य परिक्षेपः सोऽभिषेक इति स्मृतः ॥ ५५ ॥

किसी लौह आदि धातु को अग्नि में पिघला कर, अग्नि से उतार आठ निमेष (पलक मारना) पर्यन्त रुककर उसमें जल डालना 'अभिषेक' कहा जाता है।

विशेष वचन—आठ निमेषों की गिनती अग्नि से उतारते ही करनी चाहिये अन्यथा नीचे रख कर गिनने से धातु जम जायेगी और जल डालने का प्रभाव ठीक न हो सकेगा। ॥ ५५ ॥

निर्वापः—

तप्तस्याप्सु विनिक्षेपो निर्वापः स्नपनं च तत् ॥ ५६ ॥

किसी लोह ताम्र आदि धातु को अग्नि में तपाकर (गरम-करके) उसी क्षण निकाल कर किसी औषधि के स्वरस कषाय अथवा जल में बुझाने को 'निर्वाप' 'निषेक' अथवा 'स्नपन' कहा जाता है ॥ ५६ ॥

प्रक्षेपकालनिर्देशः—

प्रतीवापादिकं कार्यं द्रुते लोहे सुनिर्मले ॥ ५७ ॥

निर्वाप प्रतीवाप अथवा अभिषेक उस अवस्था में करना चाहिये जब कि लोह आदि पिघल कर स्वच्छ हो जायें ॥ ५७ ॥

शुद्धावर्तः—

यदा हुताशो दीप्तार्चिः शुक्लोत्थानसमन्वितः।
शुद्धावर्तस्तदा ज्ञेयः स कालः सत्त्वनिर्गमे ॥ ५८ ॥

सत्वपातन के लिये कोष्ठी आदि यन्त्र में, मूषासहित भरे हुये कोयलों की अग्नि जब अच्छी तरह सब स्थान के कोयलों में प्रज्वलित हो जाय और उसमें से श्वेत ज्वालायें निकलने लगें तो अग्नि की इस स्थिति को 'शुद्धावर्त' कहा जाता है। अग्नि की यह स्थिति सत्व निकलने का समय माना जाता है ॥ ५८ ॥

बीजावर्तः—

द्राव्यद्रव्यनिभा ज्वाला दृश्यते धमने यदा।
द्रावस्योन्मुखता सेयं बीजावर्तः स उच्यते ॥ ५९ ॥

स्वर्ण ताम्र आदि धातुओं को अग्नि पर पिघलाने के लिये रखने पर जब अग्नि की ज्वाला उनके वर्ण के अनुसार पीत, ताम्र आदि वर्ण की दिखाई देने लगे तो यह काल धातु में द्रवण (पिघलना) के आरंभ का सूचक है। इसी को 'बीजावर्त' नाम से कहा जाता है ॥ ५९ ॥

स्वाङ्गशीतलम्—

वह्निस्थमेव शीतं यत्तदुक्तं स्वांगशीतलम् ॥ ६० ॥

किसी धातु को भस्म करने के लिये पुट में फूंकने या सिन्दूर आदि के लिये बालुका यन्त्र आदि में पकाने पर अग्नि देना बन्द करने के बाद अपने आप ही पुट अथवा यन्त्र में ही ठंडे हो जायँ तो उस अवस्था को 'स्वाङ्गशीलता, स्वांगशीत या स्वतःशीत' कहते हैं ॥ ६० ॥

बहिःशीतम्—

अग्नेराकृष्य शीतं यत्तद्बहिःशीतमीरितम् ॥ ६१ ॥

अग्नि में पकाते या पिघलाते हुये ही गरम गरम पकती धातु या औषधि को नीचे उतार कर ठंडा करना बहिःशीत कहा जाता है।

विशेष वचन—यह क्रिया प्रायः पुटपाक, पर्पटीपाक आदि में की जाती है ॥ ६१ ॥

स्वेदनलक्षणम्—

क्षाराम्लैरौषधैर्वाऽपि दोलायन्त्रे स्थितस्य हि।
पचनं स्वेदनाख्यं स्यान्मलशैथिल्यकारकम् ॥ ६२ ॥

यवक्षार, सर्जक्षार आदि क्षार तथा काञ्जी निम्बूस्वरस आदि अम्लों को दोलायन्त्र में भर अथवा द्रव्यशोधनार्थ लिखी हुई औषधियों के स्वरस कषाय आदि को दोलायन्त्र में भर कर उसमें पारद आदि स्वेद्य द्रव्य को पोटली में बांधकर पकाने को 'स्वेदन' कहते हैं। इस तरह दोलायन्त्र में पकाने से द्रव्य में चिपका हुआ मल शिथिल (ढीला) पड़ जाता है, फिर अन्य प्रक्षालनादि क्रियाओं से सरलता के साथ निकाला जा सकता है ॥ ६२ ॥

मर्दनलक्षणम्—

उदितैरौषधैः सार्धं सर्वाम्लैः काञ्जिकैरपि।
पेषणं मर्दनाख्यं स्याद्बहिर्मलविनाशनम् ॥ ६३ ॥

मर्दनार्थ लिखी हुई औषधियों के साथ अथवा सर्वाम्ल पदार्थो या काञ्जी के साथ पारद आदि द्रव्यों को घोटना 'मर्दन' कहा जाता है। इस क्रिया से द्रव्य का विशेषतः पारद का बाह्य मल नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—मर्दन क्रिया या संस्कार विशेषतः पारद के लिये आवश्यक होता है। उसमें से ही धात्वन्तरसंयोगजन्य बाह्य मल का दूरीकरण किया जाता है। लोहभस्म आदि भस्मनिर्माण तथा वटिका आदि निर्माणार्थ जो मर्दन किया जाता है उसमें बाह्य मल को दूर करने की आवश्यकता नहीं होती है। अतः यदि पारद का बाह्य मल दूरीकरणार्थ मर्दनसंस्कार करना अभीष्ट हो तो पारद से षोडशांश ईंट का चूर्ण, सैन्धव लवण, अजवायन, घर का धुवां (जो पाकशाला की दीवारों में होता है तथा भीतरी छत पर लग जाता है), गुड़, राई तथा सोंठ का चूर्ण लेकर दोनों को एकत्र जल अथवा कुमारीरस से सात दिन तक घोटना चाहिये। अन्त में गरम काञ्जी से धो २ कर पारद को स्वच्छ करलें। बाह्य मल के निकल जाने से पारद पहिले की अपेक्षा अधिक चमकीला हो जाता है

मूर्च्छनलक्षणम्—

मर्दनाऽऽदिष्टभैषज्यैर्नष्टपिष्टत्वकारकम्।
तन्मूर्च्छनं हि वङ्गाहि-मलादिदोषनाशनम् ॥ ६४ ॥

मर्दनार्थ लिखी हुई औषधियों के साथ अथवा जिन ओषधियों से मूर्च्छन करना अभीष्ट हो उनके साथ पारद या अन्य द्रव्य को घोट कर उसकी पिष्टी, कज्जली अथवा सूक्ष्म चूर्ण करना मर्दन कहा जाता है। इस क्रिया से पारद आदि द्रव्यों में रहने वाले वंग सीसा के दोष तथा मल कंकुची मलों का नाश किया जाता है।

विशेष वचन—यह मूर्च्छन संस्कार विशेषतः पारद के मल, विष तथा अग्नि-दोषों को नष्ट करने के लिये किया जाता है। इसके

लिये पारद को यवक्षार सर्जक्षार, पंचलवण तथा काञ्जी, नीबू स्वरस आदि के साथ इतना घोटा जाता है कि पारद की इन द्रव्यों के साथ पिष्टी बन जाती है, फिर इसको काञ्जी से धोकर पारद को निकाल कर पुनः उक्त औषधि से मर्दन कर पिष्टी बना काञ्जी से धो लें। इस प्रकार सात बार करने से पारद के उक्त तीनों दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ६४ ॥

उत्थापनलक्षणम्—

स्वेदातपादियोगेन स्वरूपापादनं हि यत्।
तदुत्थापनमित्युक्तं मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनम् ॥ ६५ ॥

पारद आदि द्रव्यों का स्वेदन, रौद्रशोषण (घाम में सुखाना), मर्दन आदि क्रियाओं द्वारा पुनः अपने स्वरूप में ले आना उत्थापन कहा जाता है। इस क्रिया से पारद की मूर्च्छन क्रिया से उत्पन्न स्वरूपनाशयुक्त विपत्ति दूर की जाती है। अर्थात् मूर्च्छन में जो पारद दूसरे द्रव्यों के साथ नष्टपिष्ट हो जाता है उसे पुनः अपने स्वरूप में ला‌या जाता है।

विशेष वचन—उत्थापन करने के लिये पारद को सुहागा, लवण, मधु के साथ अच्छी तरह घोट कर गोला-सा बना पोटली में बांध करके क्षाराम्ल द्रवयुक्त दोलायन्त्र से तीन बार स्वेदन किया जाता है। अथवा अम्लकाञ्जी से पारद को एक पहर तक मर्दन कर जल से धो लिया जाता है ॥ ६५ ॥

बन्धनलक्षणम्—

स्वरूपस्य विनाशेन पिष्टत्वाद् बंधनं हि तत्।
विद्वद्भिर्निर्जितः सूतो नष्टपिष्टिः स उच्यते ॥ ६६ ॥

पारद को गन्धक आदि लिखित द्रव्यों के साथ मर्दन कर पारद के चंचल स्वभाव को दूर करते हुये उसको पिष्टी के रूप में कर लेना 'बन्धन' कहा जाता है। इसको विद्वान् लोग नष्टपिष्टि भी कहते हैं।

विशेष वचन—यह बन्धन लक्षण पारद के बन्धन संस्कार का बोधक नहीं है। क्योंकि पारद का स्वरूप त्याग तो रस सिन्दूर कज्जली मर्दन संस्कार आदि कई अवस्थाओं में भी होता है, परन्तु उन अवस्थाओं में "वह्निनाऽनुच्छिद्यमानत्वं बन्धत्वम्" अर्थात् अग्नि ताप से भी अविचलित भाव में रहना, यह लक्षण नहीं घटता है। अतः यह लक्षण मर्दन आदि क्रियाओं में घटता है। बन्ध संस्कार का विशेष विवरण आगे विस्तृत रूप से किया गया है ॥

पातनलक्षणम्—

उक्तौषधैर्मर्दितपारदस्य यन्त्रस्थितस्योर्ध्वमधश्च तिर्यक्।
निर्यातनं पातनसंज्ञमुक्तं वङ्गाहिसम्पर्कजकञ्चुघ्नम् ॥

भिन्न भिन्न पातन-विधियों में लिखी हुई औषधि के साथ पारद को मर्दन कर ऊर्ध्वपातन, अधःपातन तथा तिर्यक्पातन किया जाता है उसे 'पातन' संस्कार या क्रिया कहते हैं। इस क्रिया से पारद के सम्पूर्ण नाग, वंग तथा कञ्चुक दोष शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—ऊर्ध्वादिपातनयन्त्र तथा इनकी विधि आगे विस्तृत रूप से लिखी हुई है, अतः वहां पर ही विस्तार से देखना चाहिये ॥ ६७ ॥

रोधनलक्षणम्—

जलसैन्धवयुक्तस्य रसस्य दिवसत्रयम्।
स्थितिरास्थापनी कुम्भे याऽसौ रोधनमुच्यते ॥ ६८ ॥

जल और सैन्धव लवण के साथ पारद को एक मिट्टी के घड़े में भर कर तीन दिन तक पड़े रहने दें, बाद को पारद को साफ कर लें, इस क्रिया को 'रोधन' क्रिया कहते हैं। यह क्रिया पारद में उसकी अपनी स्थिति (चंचलत्वादि गुण) को पुनः प्राप्त करा देती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में 'रोधन' के स्थान पर 'बोधन' संज्ञा दी हुई है। कोई 'निरोधन' नाम से भी इसका ग्रहण करते हैं। "एवं कदर्थितः सूतः षण्ढत्वमधिगच्छति। तन्मुक्तयेऽस्य क्रियते बोधनं कथ्यते हि तत् ॥" ऊर्ध्वादिपातन क्रियाओं से पारद में उत्पन्न हुई खिन्नता या दुर्बलता को दूर करने के लिये इसे तीन चार दिन तक निश्चल भाव से पड़ा रहने दिया जाता है तो यह पुनः अपनी शक्ति प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थान्तर में यह विधि बहुत सरल और स्पष्ट पाई जाती है। "दिक्पलं सैन्धवं चूर्णं जलं प्रस्थत्रयं तथा। धारयेद्घटमध्ये च सूतकं दोषवर्जितम् ॥ रुद्ध्वा तस्य मुखं सम्यग् मर्दितं मृत्स्नया कुरु। निर्वाते निर्जने देशे धारयेद्दिवसत्रयम्। अनेनैव प्रकारेण रोधनं कुरु वैद्यराट्" ॥ ६८ ॥

नियामनलक्षणम्—

रोधनाल्लब्धवीर्यस्य चपलत्वनिवृत्तये।
क्रियते पारदे स्वेदः प्रोक्तं नियमनं हि तत् ॥ ६९ ॥

रोधन संस्कार अथवा क्रिया द्वारा पुनः अपनी स्थिति या शक्ति को प्राप्त करके चपल दोष दूर करने के लिये जो उसका स्वेदन किया जाता है उसे 'नियमन' संस्कार कहते ।

विशेष वचन—यहाँ पर कई चपल का अर्थ पारद की चंचलता करते हैं, 'चपलत्वपरिहारपूर्वकस्थिरत्वसम्पादनं नियमनम्'। परन्तु यदि पारद के चपल दोष दूर करने के साथ उसमें शुद्ध गुणों की स्थिरता करना नियमन संस्कार हो तो यह अच्छा अर्थ प्रतीत होता है। पारद की स्वाभाविक चपलता तो स्वेदन देने से नहीं किन्तु अत्यन्त शीतांश में रखने से भी दूर हो जाती है। ऐसी दशा में पारद के चाकू से काट कर टुकड़े किये जा सकते हैं। अतः चपल से चपल धातुसंयोगजन्य दोष मानना उचित प्रतीत होता है। चंचलता पारद का स्वाभाविक धर्म है। इसीलिये पारद के लक्षण या स्वरूप का वर्णन करते हुये इसको 'गलद्रूप्यनिभम्' या 'क्विक सिलवर' रूप वाला लिखा है। किन्तु दोषों का वर्णन करते हुये चंचलता को दोष लिखा है। "नागो वंगो मलो वह्निश्चाञ्चल्यं च

विधं गिरिः। असह्याग्निर्महादोषा निसर्गात्पारदे स्थिताः॥" इस चपलता के विषय में नवीन तथा प्राचीन रसवैद्य इस प्रकार विचार करते हैं। नवीन विचारकों का मत है कि चापल्य दोष पारद में चपल धातु (Bismith) के मिलाने से उत्पन्न होता है। व्यापार के लिये कभी २ पारद में उसके द्रवणांक (मेल्टिंग प्वाइन्ट) को न्यून करने के लिये चपल मिलाया जाता है। इस प्रकार का पारद प्रायः स्टीरियो टाईपिंग (Stereo typing) के व्यापार में लगाया जाता है। ऐसे व्यापार के लिये बनाये हुए पारद को यदि औपधिकार्य (अन्तःप्रयोग) में लाया जाय तो इसमें अशुद्धि बहुत सम्भवनीय है। नवीन रसवैद्य विचार करते हैं कि बहुत सम्भव है प्राचीन काल में भी व्यापारी लोग चपल के मिश्रक (Alloy of Bismith) बनाते हों। आयुर्वेद में लिखे चपल धातु के गुणों में भी यह लिखा हुआ है। कि चपल रसबन्धकारक है, 'चपलो वृष्यो रसबन्धकारकः'। साथ ही आजकल पाया जाने वाला चपल लाक्षावत् शीघ्रद्रावी भी होता है। परन्तु प्राचीन मतावलम्बी चपल का विस्मिथ के साथ पूर्ण सादृश्य न देखकर चपल को विस्मिथ नहीं मानते और वे कहते हैं कि पारद का साधारण तापक्रम पर द्रव रहने का जो स्वभाव है वही पारद का चापल्य दोष है। परन्तु चपलता पारद का स्वाभाविक गुण है न कि दोष, यह पहिले बताया गया है। अतः पारद में चपल या किसी धातु का मिश्रण माने बिना यह दोष सिद्ध होना कठिन है। इसके अतिरिक्त यदि चापल्यमात्र (स्वाभाविक स्वरूप) ही दोष होता तो शुद्धि के बाद भी पारद का साधारण तापक्रम में द्रव रहने का स्वभाव बना रहता है, उस अवस्था में भी अशुद्ध ही माना जाता, किन्तु शुद्ध माना जाता है। कई विद्वान् इसको कोई महत्त्व नहीं देते और कहते हैं "पारद में विष वह्नि तथा मल ये तीन दोष ही मुख्य हैं"। "अन्येऽपि कथिता दोषा भिषग्भिः पारदे यदि। तथाप्येते त्रयो दोषाः हरणीया विशेषतः॥" चपलदोष निवृत्ति के लिये बोधन, या रोधन संस्कार युक्त पारद को चतुर्गुण मोटे वस्त्र में बांधकर पोटली बना लें, फिर इस पोटली को एक पात्र या हांडी में जिसमें लहसुन-भांगरा-स्वरस, नागरमोथा, इमली, नौसादर और काञ्जी डाली गई हो लटका दें और धीरे २ एक दिन की अग्नि से स्वेदन करें॥ ६९॥

दीपनलक्षणम्—

धातुपाषाणमूलाद्यैः संयुक्तो घटमध्यगः।
ग्रासार्थं त्रिदिनं स्वेदो दीपनं तन्मतं बुधैः॥ ७०॥

धातु पाषाण (उपधातु) वनस्पतियों के मूल काण्ड त्वचा काञ्जी आदियों को एक घड़े में भर कर उसमें पारद को पोटली में बांध लटका कर तीन दिन तक स्वेदन करना 'दीपन' संस्कार कहा जाता है। पारद का यह संस्कार अभ्रक स्वर्ण आदि को ग्रास (खाने) करने की शक्ति को बढ़ाने के लिये किया जाता है।

विशेष वचन—पारद की धातुओं को पचाने की शक्ति बढ़ाने के लिये दीपन संस्कार करने के लिये अनेक विधियां पाई जाती हैं। प्रथम विधि—यथासम्भवप्राप्त स्थावर तथा जंगम विष, लवण, क्षार, दीपक, पाचक, पिप्पली, शुण्ठी, चित्रक, आर्द्रक, शोभाञ्जन, टंकण, काञ्जी आदि को एक घड़े में डालकर उसमें दोलायन्त्र द्वारा तीन दिन तक पारद को स्वेदन करने से पारद धातु ग्रास और उसके जारण (जीर्ण) करने में पूर्ण बलवान् हो जाता है। अथवा, रसेन्द्रचिन्तामणि के अनुसार द्वितीय विधि - कासीस, पञ्चलवण, राई, कालीमिर्च, सौहांजने के बीज, सुहागा इन सबको काञ्जी में घोल एक हांडी में डाल उसमें दोलायंत्र द्वारा पारद का तीन दिन तक स्वेदन करने अथवा केवल चित्रक क्काथ और काञ्जी में तीन दिन तक स्वेदन करने से पारद धातुओं को ग्रास योग्य बन जाता है॥ ७०॥

ग्रासमानम्—

इयन्मानस्य सूतस्य भोज्यद्रव्यात्मिका मितिः।
इयतीत्युच्यते याऽसौ ग्रासमानं समीरितम्॥ ७१॥

इतने परिमाण युक्त पारद, इतने परिमाण में दूसरे धातु का ग्रास कर सकता है। इस प्रकार जो पारद में दिये जाने वाले ग्रास का निश्चय किया जाता है उसे 'ग्रासमान' कहते हैं। अर्थात् इतना पारद इतने परिमाण में धातु को ग्रास कर सकता है यह निश्चय करना 'ग्रासमान' कहा जाता है।

विशेष वचन—पारद में धातुओं को जीर्ण करने के लिये ग्रास का मान चार प्रकार से लिखा हुआ है—१. ग्रासमान पारद से चौंसठवां भाग, २. ग्रासमान पारद से बत्तीसवां भाग, ३. ग्रासमान सोलहवां भाग, ४. ग्रासमान आठवां भाग दिया जाता है। इससे अधिक मात्रा में ग्रास देने से पारद उसको जीर्ण नहीं कर सकता है। परन्तु कोई आचार्य ग्रास का मान पारद से सोलहवां भाग ही निश्चित करते हैं। ग्रन्थान्तर में पृथक् २ ग्रास युक्त पारद के लक्षण भी लिखे हुए हैं जैसे "चतुःषष्ठ्यंशकग्रासाद् दण्डधारी भवेद्रसः। जलौकावद्द्वितीये तु ग्रासयोगे सुरेश्वरि! ग्रासेन तु तृतीयेन काकविष्ठासमो भवेत्। ग्रासेन तु चतुर्थेन दधिखण्डसमो भवेत्।" ग्रास देने के बाद पारद को पुनः दीपक पाचक औषधियों से स्वेदन करना चाहिये, पश्चात् द्वितीय ग्रास देना चाहिये। यदि पारद पुनः अपने द्रवस्वभाव तथा मान में आ जाय तो ग्रास को जीर्ण समझना चाहिये॥ ७१॥

जारणाय त्रैविध्यनिर्देशः—

ग्रासस्य चारणं गर्भे द्रावणं जारणं तथा।
इति त्रिरूपा निर्दिष्टा जारणा वरवार्तिकैः॥ ७२॥

वर वार्तिककारों ने जारणा के तीन विभाग किये हैं। १—ग्रास का चारण, २—ग्रास का पारद गर्भ में द्रावण (पिघलाना), ३—जारण अर्थात् ग्रास को जीर्ण (हजम) करना। पारद के

बीच में मिलाये जाने वाले स्वर्ण अभ्र आदि पदार्थ को ग्रास कहा जाता है। इस ग्रास को जब बिना अग्नि संयोग के खरल में पारद के साथ थोड़ा २ करके मिलाया जाता है तो उसे चारण (चुगाना) कहा जाता है। चारित पदार्थ को पारद गर्भ में ही जीर्ण करने के लिये द्रवीभूत करना द्रावण कहा जाता है। पुनः पारद गर्भ में द्रवीभूत पदार्थ को विड योग तथा यन्त्रों में स्वेदन कर जीर्ण (हजम) करने को जारण कहते हैं, अर्थात् द्रवीभूत ग्रास को पका कर पारद का अंग बना देना जारण कहा जाता है।

विशेष वचन—जारणार्थ दिये जाने वाले अभ्रक आदि द्रव्य को शोधनमारण विधान से पूर्ण संस्कृत करके ही ग्रास करना चाहिये। जारणार्थ दिये हुये द्रव्य के पारद में लीन होने पर पारद को पुनः स्वेदन करना चाहिये ॥ ७२ ॥

जारणायाः पुनस्त्रैविध्यम्—

ग्रासः पिण्डः परीणामस्तिस्रश्चाख्याः पराः पुनः ॥ ७३ ॥

ग्रास, पिण्ड तथा परिणाम ये भी जारण की तीन अन्य अवस्थायें हैं। इनमें अभ्रकादि को पारद को खिलाना या उसमें डाल कर मिलाना 'ग्रास' कहा जाता है। और ग्रास देकर पारद का पिण्डाकार रूप कर लेना 'पिण्ड' कहा जाता है। दिये गए ग्रास का परिणामान्तर (दूसरा रूप) करना 'परिणाम' कहा जाता है।

विशेष वचन—रसहृदयतन्त्र में जारणा या चारणा के ग्रास पिष्टी तथा गर्भ ये तीन ही भेद लिखे हैं ॥ ७३ ॥

जारणायाःपुनर्द्वैविध्यनिर्देशः—

समुखा निर्मुखा चेति जारणा द्विविधा पुनः ॥ ७४ ॥

समुख और निर्मुख भेद से भी जारणा दो प्रकार की मानी जाती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में जारणा के बालजारणा और वृद्धजारणा ये दो भेद लिखे हैं। विविध प्रकार के खोट विड़ आदि बन्धन से बालजारणा तथा धातुओं के द्वारा वृद्ध या बद्ध जारणा की जाती है। अथवा गन्धकादि साधारण द्रव्यों के जारण को बालजारण अथवा और धातुओं के जारण को वृद्धजारण कहा जा सकता है। बराबर भाग जीर्णाभ्रक पारदीय जारणा को बालजारणा तथा षड्गुण जीर्णाभ्रक जारणा को वृद्धजारणा कहा जाता है ॥ ७४ ॥

निर्मुखजारणालक्षणम्—

निर्मुखा जारणा प्रोक्ता बीजाऽऽदानेन भागतः ॥ ७५ ॥

पारद को ग्रास लेने के लिये जो शक्तिसम्पन्न बनाया जाता है उसे बीज क्रिया कहते हैं। यह बीजदान क्रिया पारद से चौसठवां भाग शुद्ध स्वर्ण तथा रजत के देने से की जाती है। यदि बीज दान में जो चौसठवां भाग धातु का देना लिखा हो तो उससे अधिक या न्यून बीज दान किया जाय तो पारद में धातु का ग्रास करने के लिये मुख नहीं बनता है ऐसी अवस्था में अर्थात् बिना मुखीकरण के जारण करना 'निर्मुख जारण' कहा जाता है ॥७५॥

बीजनिर्देशः—

शुद्धं स्वर्णं च रूप्यं च बीजमित्यभिधीयते ॥ ७६ ॥

शुद्ध स्वर्ण तथा रजत को जो कि ग्रासार्थ पारद में डाला जाता है 'बीज' कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में स्वर्ण तथा रजत के अतिरिक्त नाग, वंग तथा ताम्र धातु के योग से भी बीज बनाने का विधान पाया जाता है। स्वर्ण बीज तथा तार-बीज की विधि ग्रन्थान्तर में इस प्रकार लिखी है "कुनटीहतकरिणा वा रविणा वा ताप्यगन्धकहतेन। दरदनिहतासिना वा निर्व्यूढहेम तद्बीजम् ॥ कुटिलं विमला तीक्ष्णं समं चूर्णं प्रकल्पयेत्। पुटितं पञ्चवारन्तु तारे बाह्यं शनैर्धमेत् ॥ यावद्दशगुणं तत्तु तारबीजं भवेच्छुभम्"॥ ७६ ॥

मुखलक्षणम्—

चतुःषष्ट्यंशतो बीजप्रक्षेपो मुखमुच्यते ॥ ७७ ॥

उपर्युक्त स्वर्ण, रजत, नाग वंगादि योग से बनाये हुये बीज का अथवा स्वर्ण, रौप्य का पारद से चौसठवां भाग पारद में डाल कर मर्दन करके पारद को स्वेदन करना 'मुखीकरण' कहा जाता है॥

समुखजारणालक्षणम्—

एवं कृते रसो ग्रासलोलुपो मुखवान् भवेत्।
कठिनान्यपि लोहानि क्षमो भवति भक्षितुम् ॥
इयं हि समुखा प्रोक्ता जारणा मृगचारिणा ॥ ७८ ॥

उक्त विधि से बनाये हुये बीजों का चौसठवां भाग पारद में डालने से पारद द्रव्यों के ग्रास लेने के लिये लालायित तथा मुखयुक्त हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह पारद कठिन से भी कठिन लोह आदि धातुओं को भक्षण करने योग्य हो जाता है। पारद को इस शक्तियुक्त बना लेने को ही मृगचारी नामक कोई रसतन्त्रकार 'समुखजारणा' के नाम से कहते हैं ॥ ७८ ॥

राक्षसवक्त्ररसलक्षणम्—

दिव्यौषधिसमायोगात्स्थितः प्रकटकोष्ठिषु।
भुञ्जीताखिललोहाद्यं योऽसौ राक्षसवक्त्रवान् ॥ ७९ ॥

दिव्यौषधि संयोग से अर्थात् दिव्यौषधि को मिला कर अथवा मैनसिल के साथ पारद को मूषा में डाल कर उसे खुले मुख के कोष्ठिकायन्त्र की अग्नि पर रख कर तपाते हुये उसमें सब प्रकार की लोहादि धातु डाली जायं और उनको पारद खा जाय तो उसे 'राक्षसवक्त्ररस' (राक्षस मुख वाला) कहते हैं।

विशेष वचन—दिव्यौषधि से अभिप्राय कोई रसेन्द्रचूडामणिलिखित सोमवल्ली, सर्पिणी, स्थलपद्मिनी, उचाटा, ईश्वरी, रुदन्ती, नागिनी आदि चौंसठ औषधियों से लेते हैं। परन्तु ग्रन्थान्तर में राक्षसवक्त्ररस बनाने में दिव्यौषधि से मनःशिला ही ली गई है। ग्रन्थान्तर में राक्षसवक्त्ररस बनाने की विधि इस प्रकार है। "ताप्यसत्वं कलांशेन, हेम्ना तद्द्विगुणेन हि। ततमायसखल्वे न तप्तेनाथ प्रमर्दयेत् ॥ व्यक्तं हि रसचक्रेण क्षारेण चणकस्य हि। जम्भीरपूर-

कज्जलैर्मर्दयेदेकविंशतिम् ॥ वासरे याममेकन्तु प्रत्येकं हि विमर्दयेत् । यातुधानमुखं सम्यक् यात्येव हि न संशयः ॥"

चारणालक्षणम्—

रसस्य जठरे ग्रासक्षपणं चारणा मता ॥ ८० ॥

पारद में थोड़ा २ करके ग्रासार्थ लोह आदि को डाल कर उसमें मिलाते रहना 'चारणा' (खिलाना) कहा जाता है।

विशेष वचन—पारद में जितना धातु आदि का भाग ग्रास रूप में देना होता है उसके पूर्ण मान को ग्रास के नाम से कहा जाता है। परन्तु ग्रास का थोड़ा २ करके पारद में दल करना चारणा कहा जाता है। अत एव लिखा है "चारणं नाम अभ्रहेमादीनां रसेऽन्तर्भावो न रसीभवनम्" ॥ ८० ॥

गर्भद्रुतिलक्षणम्—

ग्रस्तस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहृता ॥ ८१ ॥

पूर्वोक्त विधि से ग्रस्त (खाया हुआ) पदार्थ को पारद के भीतर ही द्रावण (पिघलना) करना 'गर्भद्रुति' कहा जाता है।

विशेष वचन—ग्रास को जीर्ण करने के लिये गर्भद्रुति आवश्यक होती है। ग्रसित पदार्थ बिना पिघले हुए जीर्ण नहीं हो सकता है। जैसे खाया हुआ भोजन बिना दांतों से चबाये और आमाशय द्वारा सूक्ष्म तथा द्रव रूप हुए जीर्ण नहीं होता। अतः लिखा है कि "गर्भद्रुतिमन्तरेण जारणैव न स्यात्"। ग्रन्थान्तर में गर्भद्रुति का अन्यविध लक्षण पाया जाता है। "वह्निव्यतिरेकेऽपि रसग्रासीकृतानां लोहानां द्रवत्वं गर्भद्रुतिः"। गर्भद्रुति करने के लिये रसहृदयतन्त्रोक्त विधान का अनुसरण करना चाहिये। यथा "अथवा औषधपिण्डे दोलातप्ते खर्परे विधिना पुनरपि पिण्डे क्षेप्यं गर्भे यावद् द्रुतिर्भवति" ॥ ८१ ॥

बाह्यद्रुतिलक्षणम्—

बहिरेव द्रुतिं कृत्वा घनसत्त्वादिकं खलु ।
जारणाय रसेन्द्रस्य सा बाह्यद्रुतिरुच्यते ॥ ८२ ॥

अभ्रकसत्व आदि को बाहर ही अग्नि में पिघला कर जारण के लिये पारद में मिला देना 'बाह्यद्रुति' कही जाती है।

विशेष वचन—गर्भद्रुति में अभ्रकसत्व आदि को पारद में ग्रास कराकर पुनः पारद को विविध अम्ल द्रवों और विड़ों के साथ स्वेदन करके उसके ग्रास को पारद के अन्दर ही पिघलाया जाता है। परन्तु बाह्यद्रुति में ग्रासार्थ द्रव्य को बाहर पहिले अग्नि में पिघला कर पुनः पारद में मिलाया जाता है। अत एव लिखा है "बाह्यद्रुतिर्नाम जार्यमाणानामभ्रलोहादिकानां बहिरेव द्रुतिं कृत्वा रसरूपाणां तेषां रसे द्वन्द्वमेलापनम्"। बाह्यद्रुति के लिये अभ्रकसत्व को सुवर्चला (हुलहुल) और वज्रवल्लीरस से मर्दन कर मूषा में रख तपाया जाता है। जब अभ्रकसत्व पिघल कर द्रव हो जाता है तब उसे सम भाग पारद में मिलाया जाता है। इसी विधि को बाह्यद्रुति विधि कहते हैं ॥ ८२ ॥

द्रुतेः पञ्चविधत्वनिर्देशः—

निर्लेपत्वं द्रुतत्वं च तेजस्त्वं लघुता तथा ।
असंयोगश्च सूतेन पञ्चधा द्रुतिलक्षणम् ॥ ८३ ॥

पारद में दिये हुये धातुग्रास को जारण करने के लिये द्रव या द्रुति की जाती है तो उस अवस्था में निम्न पाँच लक्षण पाये जाने चाहिये। १–अत्यन्त पतलापन (जैसा जल) होने से न चिपकने वाला, २–पतलापन, ३–चमकदारपन, ४–लघुता और ५–पारद के साथ न मिलना, ये पाँच लक्षणयुक्त द्रुति उत्तम कही जाती है।

विशेष वचन—द्रुतत्व शब्द से ही द्रुति का पतलापन का लक्षण मिल जाने से 'निर्लेपत्व' का अर्थ मलराहित्य करना अच्छा है। बाह्यद्रुति में यह मैल का अंश पिघलने पर दिखाई देता है। लाघव का अर्थ यह लिया जाता है कि जिस धातु का जो स्वाभाविक गुरुत्व है वह उस समय कुछ कम हो जाता है ॥ ८३ ॥

द्रुतिस्वरूपम्—

औषधाध्मानयोगेन लोहं धात्वादिकं तथा ।
सन्तिष्ठते द्रवाकारं सा द्रुतिः परिकीर्तिता ॥ ८४ ॥

लोह अभ्रक आदि धातु, रसोपरसों को द्रावक औषधियों के साथ मिला कर मूषा (कुठाली) में रख अग्नि द्वारा तपाये जाने पर धातु आदि का पिघल कर पतले रूप में हो जाना 'द्रुति' कहा जाता है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचूड़ामणि में "औषधाध्मानयोगेन" के स्थान पर "तुषधान्यादियोगेन" ऐसा पाठ है। जिससे यह अर्थ निकलता है कि द्रुति (बाह्यद्रुति) बिना अग्निसंयोग के भी की जा सकती है। जैसे रसेन्द्रसारसंग्रह में अभ्रक की बिना अग्निसंयोग के द्रुति लिखी है। "अगस्त्यपुष्पतोयेन पिष्टं शूरणकन्दगम् गोष्ठभूमिगतं मासं जायते रससन्निभम् ॥" इसी तरह अन्य बाह्यद्रुतियों का भी अग्नि के बिना विधान पाया जाता है ॥ २४ ॥

जारणाभेद-जारणालक्षणम्—

द्रुतग्रासपरीणामो विडयन्त्रादियोगतः ।
जारणेत्युच्यते तस्याः प्रकाराः सन्ति कोटिशः ॥ ८५ ॥

पारद में ग्रासार्थ दिये हुये धातु के पिघले हुए उस ग्रास का, विडयोग अथवा यन्त्र-पाचन क्रिया द्वारा परिणाम (परिपाक) करना जारणा शब्द से कहा जाता है। ग्रास को पकाने के लिये प्रयुक्त होने वाली इस जारणा विधि के करोड़ों प्रकार शास्त्रों में पाये जाते हैं।

विशेष वचन—यहाँ पर धातु ग्रास को जीर्ण करने की विधि को जारणा शब्द से कहा गया है। इसी भेद के अन्तर्गत गन्धक जारण जिससे रससिन्दूर (आदि योग बनाये जाते हैं) आ जाते हैं। और जो रसेन्द्रचिन्तामणि में 'जारणा हि पातनगालनव्यतिरेकेण घनहेमादिग्रासपूर्वकं पूर्वावस्थापन्नत्वम्' ऐसा लक्षण लिखा

है। वह चारणा (खिलाना) नामक जारणा (जिसका वर्णन पहिले किया जा चुका है) के अभिप्राय से लिखा गया है। यन्त्र-योग से ग्रास को जीर्ण करने का विधान कच्छपयन्त्रप्रकरण में लिखा है। जैसे शश्वद्धृतामुपात्रेस्थशरावच्छिद्रसंस्थिता। पङ्क-मूषाजलं तस्यां रसोऽष्टांशबिडावृतः॥ संरुद्धो लोहपात्र्याऽथ मुद्रितो दृढमुद्रया। बालुकां तदुपर्यष्टांगुलमानां विनिक्षिपेत्॥ हठात्तदुपरि ध्मातो रसस्तद्गर्भसंस्थितः। मयूरमायुना लिप्तं काञ्चनं ग्रसति ध्रुवम्॥" इस प्रकार दोलायन्त्र, वालुकायन्त्र आदि से भी जारण करने का विधान पाया जाता है॥ ८५॥

विडलक्षणम्—

क्षारैरम्लैश्च गन्धाद्यैर्मूत्रैश्च पटुभिस्तथा।
रसग्रासस्य जीर्णार्थं तद्विडं परिकीर्तितम्॥ ८६॥

यवक्षार, सर्जक्षार, टंकण, वास्तूक (बथुआ) आदि के क्षार तथा अम्ल वर्गोक्त जम्बीर, बीजपूर, काञ्जी आदि अम्लद्रव्य, और गन्धक, कासीस, शंख आदि पदार्थ तथा अष्टविध मूत्र, तथा पांचों नमकों के योग से बने हुए योगविशेषों को 'विड' शब्द से कहा जाता है। इस विड को पारद के ग्रास को जीर्ण करने के लिये प्रयोग किया जाता है।

विशेष वचन—'पटुभिः' शब्द से यद्यपि सर्वत्र पञ्चलवण लिये जाते हैं परन्तु यहां रसेन्द्रचिन्तामणि के अनुसार छः लवण लिये जाने चाहिये। राजनिघण्टु के अनुसार छः लवण ये हैं। 'काच-सैन्धव-सामुद्र-विड-सौवर्चलैः समैः। स्यात्पञ्चलवणं तच्च मृत्स्नोपेतं षडाह्वयम्॥' विड बनाने के लिए रसेन्द्रचिन्तामणि-लिखित विधान उत्तम माना जाता है। इसमें क्षारादि का स्पष्ट वर्णन है, "वास्तूकैरण्डकदलीदेवदालीपुनर्नवाः। वासापलाशनिचुलतिलकाञ्चनमोचकाः॥ सर्वांगखण्डं सच्छिद्रं नातिशुष्कं शिलातले। दग्धं काण्डं तिलानां च पञ्चाङ्गं मूलकस्य च॥ प्लावयेन्मूत्रवर्गेण जलं तस्मात्परिस्रुतम्। लोहपात्रे पचेद्यन्त्रे हंसपाकेऽग्निमानवित्॥ वाष्पाणां बुद्बुदानां च बहूनामुद्गमो यदा। तदा काशीशसौराष्ट्री क्षारत्रयकटुत्रयम्॥ गन्धकञ्च सिताहिंगुलवणानि च षट् तथा। एषां चूर्णं क्षिपेद्विद्वि लोहसम्पुटमध्यतः सप्ताहं भूगतं पश्चाद् धार्यस्तु प्रचुरो विडः॥" विडों के विषय में आयुर्वेदप्रकाश में यह 'काञ्चनादिग्रसनतीव्रबुभुक्षाकराणि द्रव्याणि विडानि कथ्यन्ते' कहकर स्वर्णजारण विड, रजतजारण विड, वाडवानल आदि अनेक विडों का उल्लेख किया है। अतः तत्तत् धातुग्रासजारणार्थ भिन्न २ विडों का प्रयोग करना चाहिये॥ ८६॥

रञ्जनलक्षणम्

सुसिद्धबीजधात्वादि-जारणेन रसस्य हि।
पीतादिरागजननं रञ्जनं परिकीर्त्तितम्॥ ८७॥

सिद्धबीज तथा धातु आदि के पारद में जारण करने से उसमें (पारद में) जो पीत रक्त आदि वर्ण उत्पन्न किया जाता है उसे 'रञ्जन' क्रिया कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तरों में पारद रञ्जन की अनेक विधियां पाई जाती हैं। रसचिन्तामणिलिखित कंकुष्ठ, हरताल, गन्धक, हिंगुल, मैनसिल, माक्षिक, सैन्धव आदि औषधि युक्तरञ्जकवर्ग तथा रसहृदयतन्त्रलिखित दाडिम, खदिर, हरिद्रा, बन्धूक- (गुल दुपहरिया) पुष्प, मञ्जिष्ठा आदि रक्तवर्ण की औषधियों द्वारा विविध विधियों से पारद को रंगा जाता है रसेन्द्रचिन्तामणि में पारदरञ्जन कर्म इस प्रकार लिखा है, "दरदं माक्षिकं गन्धं राजावर्तं प्रवालकम्। शिलातुत्थञ्च कंकुष्ठं समचूर्णं प्रकल्पयेत्॥ वर्गाभ्यां पीतरक्ताभ्यां कंकुनीतैलकैः सह। भावयेद्दिवसाद् पञ्च सूर्यतापे पुनः पुनः॥ जारितं सूतलोहञ्च कल्केनानेन संयुतम्। वालुकाहण्डिमध्यस्थं शरावपुटमध्यगम्॥ त्रिदिनं पाचयेच्चुल्यां कल्को देयः पुनः पुनः। रञ्जितो जायते सूतः शतवेधी न संशयः"॥ ८७॥

सारणालक्षणम्—

सूते सतैलयन्त्रस्थे स्वर्णादिक्षेपणं हि यत्।
वेधाधिक्यकरं लोहे सारणा सा प्रकीर्त्तिता॥ ८८॥

एक तैलपरिपूर्ण अन्धमूषा में पारद डालकर उसको अग्नि में रख उसमें जो स्वर्ण आदि धातुओं का प्रक्षेप डाला जाता है इस क्रिया को 'सारण' क्रिया कहते हैं यह क्रिया पारद की लोहवेधन शक्ति (स्वर्ण आदि धातु उत्पादन शक्ति) को बढाने के लिये की जाती है।

विशेष वचन—धातुवाद के लिये सारणाक्रिया आवश्यक मानी जाती है। बिना इसके पारद की रञ्जन तथा बीजजारण क्रिया व्यर्थ हो जाती है और यह (पारद) षण्ढदोषयुक्त हो जाता है अतएव इसमें धातुवेधन शक्ति भी नहीं आती है। सारणालक्षण में लिखे हुये तैल के लिये साधारण तैल न समझ कर रसहृदयोक्त वसातैल अथवा रक्तवर्गोक्त औषधिकषाय, तथा दुग्ध जोतिष्मतीविभीतक मज्जा; करञ्ज तथा कड़वी तुम्बी के बीजों का तैल, प्रवाल, भूनागमल, काक आदि के मलकल्क से सिद्ध तैल लेना चाहिये। अन्यत्र सारणार्थ तैल इस प्रकार लिखा है। "द्विगुणं रक्तपुष्पाणां रक्तपीतगणस्य च। क्वाथं चतुर्गुणं क्षीरं तैलमेकं सुरेश्वरि॥ ज्योतिष्मतीकरञ्जाक्षकटुतुम्बीसमुद्भवम्। पाटलाकाकतुण्ड्यम्बुमहाराष्ट्रीरसैः पृथक्॥ भेकशूकरमेषाहिमत्स्यकूर्मजलौकसाम्। वसया चैकया युक्तं षोडशांशैः सुपेषितैः॥ भूलतामलमाक्षीकद्वन्द्वमेलापकौषधैः। पातितं गालितं चैव सारणा तैलमुच्यते"॥ ८८॥

वेधलक्षणम्

व्यवायिभेषजोपेतो द्रव्ये क्षिप्तो रसः खलु।
वेध इत्युच्यते तज्ज्ञैः स चानेकविधः स्मृतः॥ ८९॥

व्यवायि गुण युक्त औषधियों (नागवल्ली, धातु, अहिफेन, भंग आदि) से संस्कृत अथवा युक्त पारद को किसी धातु में डालने या मलने से स्वर्ण अथवा रजत बनाना 'वेध' कहा जाता है। संक्षेपतः व्यवायि औषधियों से युक्त पारद को स्वर्ण या रजत बनाने के निमित्त अन्य लौह ताम्र आदि में डालना वेध कहा जाता है। यह वेध अनेक प्रकार से किया जाता है अत एव अनेक प्रकार का होता है।

विशेष वचन वेध का अर्थ विधना या घुसना होता है। अतः जब तक पारद का सारण तथा क्रामण संस्कार या क्रिया न की जाय तब तक उसमें लौहादि धातुओं के अन्दर प्रवेश कर उनको स्वर्ण तथा रजत के रूप में बदलने की शक्ति नहीं आती है। 'अनया खलु सारणया क्रामणेन च विशतियोजितो विधिवत्। असति वेधविधौ न रसः स्वगुणान् प्रकाशयति'। एक धातु को दूसरे धातु के रूप में बदल देना यह आयुर्वेदीय रसायनशास्त्र की ही विशेष प्रक्रिया प्रतीत होती है। अन्य वा पाश्चात्य रासायनिक विद्वानों का यह दृढ़ मत है कि एक धातु के तत्व दूसरे धातु के तत्वों में कभी भी नहीं बदले जा सकते हैं। हां वे एक बार की "हेलियम" बनाते समय की आकस्मिक घटना से जिसमें पारद को प्रयोग में लाते हुये स्वतः स्वर्ण बन पड़ा, अत्यन्त आश्चर्य युक्त हैं। तब से इस पर लगे हुये हैं कि पारद से किस प्रकार स्वर्ण बन जाता है। परन्तु उनको फिर सफलता नहीं मिल रही है। सम्भव है किसी दिन पारदयोग से उन्हें सफलता मिल जाय। इस वेधक्रिया में पारद को इतना सुसंस्कृत किया जाता है जिससे वह अपने से शतगुण, सहस्रगुण तथा कोटिगुण अधिक धातु को स्वर्ण या रजत में परिवर्तित कर देता है। इसी को शास्त्र में शतांशविधि, सहस्रांश-विधि वेध आदि नाम से कहा जाता है। व्यवायि औषधियों से वेध करने का विधान संक्षेपतः इस प्रकार पाया जाता है, "धूर्ततैलमहेः फेनं कङ्गुणीतैलमेव च। भृंगीतैलं विषञ्चैव तैलं जातीफलोद्भवम्॥ हयमारशिफातैलमन्धेः शोषकतैलकम्। एतान्यन्यानि तैलानि विद्धि वेधकराणि च॥ सिद्धसूतेन च समं मर्दितं वेधकृद्भवेत्" ॥ ८९ ॥

वेधस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः —

लेपः क्षेपश्च कुन्तश्च धूमाख्यः शब्द संज्ञकः ॥ ९० ॥

वेधीकरण प्रक्रिया के लेपवेध, क्षेपवेध, कुन्तवेध, धूमवेध तथा शब्दवेध ये पांच प्रकार माने जाते हैं ॥ ९० ॥

लेपवेधलक्षणम्

लेपनं कुरुते लोहं स्वर्णं वा रजतं तथा।
लेपवेधः स विज्ञेयः पुटमत्र च सौरकम् ॥ ९१ ॥

जब किसी धातु पर जारण, विड, सारण आदि क्रिया द्वारा सुसंस्कृत पारद का लेप करके स्वर्ण अथवा रजत बनाया जाता है तो इसे लेपवेध कहते हैं। इस वेध में पारद का धातु पर लेप करके सौरकपुट (अत्यन्त तेज धूप में सुखाना) देना चाहिये।

विशेष वचन—'सौरकम्' के स्थान पर 'सौकरम्' ऐसा पाठ होने पर वराहपुट अर्थ करना चाहिये। अन्यत्र लेपवेध द्वारा स्वर्ण बनाने की विधि इस प्रकार पाई जाती है। "सूक्ष्माणि ताम्रपत्राणि कलधूतभवानि च। कल्केन लेपितान्येवं ध्मापयेदन्ध मूषया॥ शीतीभूते समुत्तार्य लेपवेधः स कथ्यते।" ग्रन्थान्तर में वेध निर्मित धातु को एक पक्ष (१५ दिन) तक जमीन में गाड़ कर फिर काम में लाने को भी लिखा है। 'विद्धरसेन यद्द्रव्यं पश्चाद स्थापयेद्भुवि। तत आनीय नगरे विक्रीणीत विचक्षणः ॥ ९१ ॥

क्षेपवेधलक्षणम् —

प्रक्षेपणं द्रुते लोहे वेधः स्यात्क्षेपसंज्ञितः ॥ ९२ ॥

रजत, लौह, वंग आदि धातुओं को पिघलाकर उनमें उक्त जारण विडादि क्रिया युक्त गुण पारद डाल कर स्वर्ण बनाना 'क्षेप (डालना) वेध' कहा जाता है।

कुन्तवेधलक्षणम्—

संदंशधृतसूतेन द्रुतद्रव्याहृतिश्च या।
सुवर्णत्वादिकरणं कुन्तवेधः स उच्यते ॥ ९३ ॥

ताम्र आदि धातुओं की द्रुति में, गुटिकाकार पारद को संदंश (कुन्त संडाशी) से पकड़ कर द्रुति में डुबो कर बाहर निकाल लेने से स्वर्ण या रजत बनाने की विधि को 'कुन्तवेध' कहा जाता है।

विशेष वचन—अन्यत्र कुन्तवेध की विधि इस प्रकार पाई जाती है, "चत्वारः प्रतिवापाः सुलाक्षया मत्स्यपित्तभावितया। तारे वा शुल्वे वा तारारिष्टेऽथवा कृष्टौ॥ तदनुक्रामणमृदितः सिक्थगरिवेष्टितो देयः। अतिविद्रुते च तस्मिन् वेध्योऽसौ कुन्तवेधेन" ॥ ९३ ॥

धूमवेधलक्षणम्—

वह्नौ धूमायमानेऽन्तःप्रक्षिप्तरसधूमतः।
स्वर्णाद्यापादनं लोहे धूमवेधः स ईरितः ॥ ९४ ॥

धूम (धुआँ) युक्त अग्नि में एक पात्र रख कर उसमें वेधन शक्ति युक्त पारद को डालदें जब पारद में धुँआ निकलने लगे तब उसमें अन्यत्र पिघले हुए लोह को डाल दें। इस पारदीय धुएँ के स्पर्श से स्वर्णादि धातुओं के निर्माण को 'धूमवेध' कहते हैं।

विशेष वचन—धूमवेध में दो विधियां प्रयुक्त करने को कही जाती हैं। १—अग्नि पर पारद के रखने पर धुआं निकलने लगे तब धातु को पिघलाकर अग्नि में डालना, २—पिघले हुये धातु में पारदीय धुएँ के वाष्पों को पहुँचाना। यह विधि भी वैद्यों द्वारा परीक्षित होकर प्रकाश में आने योग्य है ॥ ९४ ॥

शब्दवेधलक्षणम्—

मुखस्थितरसेनाल्पलोहस्य धमनात्खलु।
स्वर्णरूप्यत्वजननं शब्दवेधः स कीर्त्तितः ॥ ९५ ॥

वेधनशक्तियुक्त पारद की गुटिका बनाकर उसको मुख में रख

के रजत, ताम्र, वंग आदि धातु को गलाकर उसमें फूंक मारने से स्वर्ण तथा रजत विधान को शब्दवेध कहते हैं।

विशेष वचन—'धमनात्' के स्थान पर 'दमनात्' पाठ होने पर मुख में पारद गुटिका के नीचे एक छोटे से लोह के टुकड़े को गुटिका से दबायें तो वह स्वर्णरूप में परिवर्तित हो जाता है। अन्यत्र शब्दवेध का इस प्रकार लक्षण लिखा है, 'वह्वे रसवरे साक्षात्स्पर्शनाजायते रवः। तथैव जायते वेधः शब्दवेधः स कथ्यते ॥" सम्यक् रूप से समझने में आने योग्य शब्दवेधक्रिया इस प्रकार की जा सकती है कि किसी लोह आदि धातु को अग्नि में द्रुत करके उसको मुख में (अपने) रखे, पारद (वेध समर्थ-पारद की गोगी) से एक नली द्वारा फूंक के जोर से धमन करना चाहिये। जिससे वह धातु में मिलकर स्वर्ण या रजत के रूप में परिणत हो जाती है ॥ ९५ ॥

उद्घाटनलक्षणम्—

प्रकाशनं च वर्णस्य तदुद्घाटनमीरितम् ॥ ९६ ॥

वेधशक्ति युक्त पारद द्वारा बनाई हुई धातु की मलिनता को दूर कर उसके यथार्थ वर्ण को प्रकाशित करने की विधि को 'उद्घाटन' के नाम से कहा जाता है।

विशेष वचन—स्वर्ण तथा रजत की मलिनता को दूर करने के लिये उसे तपा २ कर साधारण अम्ल द्रवों में बुझाया जाता है। अथवा उसके पत्रों पर क्षार, मृत्तिका, लवण आदि का लेप करके एक मृदुपुट देकर उसके मैल को पृथक् किया जाता है। "सिद्धद्रव्यस्य" के स्थान पर "विद्धद्रव्यस्य" ऐसा पाठ होने पर वेध संस्कार युक्त पारद वेधजन्य द्रव्य ऐसा अर्थ होता है। पारद में वेधन शक्ति पैदा करने के लिये धातु आदि के योग से अथवा जारणाविधि से जो धातु जीर्ण किये जाते हैं उनके संस्कारों से वेधजन्य धातु में कुछ मलिनता (मैल) होना स्वाभाविक है। अतः इसको पिघला कर स्वच्छ कर लेने से भी दूर किया जा सकता है।

स्वेदनलक्षणम्—

क्षाराम्लैरौषधैः सार्द्धं भाण्डं रुद्ध्वाऽतियत्नतः।
भूमौ निखन्यते यत्नात्स्वेदनं सम्प्रकीर्तितम् ॥ ९७ ॥

क्षार (यवक्षार आदि) तथा अम्ल और स्वेदनीय उष्ण औषधियों के साथ पारद को एक घड़े में भर भर कर घड़े का मुख अच्छी तरह बन्द करके जमीन में गाड़ देना भी 'स्वेदन' कहा जाता है।

विशेष वचन—क्षार अम्ल आदि द्रव्यों को जमीन में गाड़ने से उनमें बिना अग्नि के ही भूमि की आन्तरिक ऊष्मा से तीव्र उष्णता उत्पन्न होती है जिससे पारद संस्कृत होता है।

संन्यासलक्षणम्—

रसस्यौषधयुक्तस्य भाण्डरुद्धस्य यत्नतः।
मन्दाग्नियुतचुल्ल्यन्तः क्षेपः संन्यास उच्यते ॥ ९८ ॥

पारद को स्वेदन औषधियों के साथ जिनमें काञ्जी, नीबूरस आदि द्रव द्रव्य भी हों एक मिट्टी के घड़े में भर कर उसका मुख बन्द करके चूल्हे में चढ़ा कर मन्द २ अग्नि से कई दिन तक पकाना 'संन्यास' कहा जाता है ॥ ९८ ॥

स्वेदनसंन्यासयोर्गुणाः—

द्वावेतौ स्वेदसंन्यासौ रसराजस्य निश्चितम्।
गुणप्रभावजनकौ शीघ्रव्याप्तिकरौ तथा ॥ ९९ ॥

पारद की यह पूर्वोक्त स्वेदन तथा संन्यास क्रियाएं निश्चित ही पारद के गुण और प्रभाव को बढ़ाने वाली हैं। इन क्रियाओं से पारद में व्यवायि गुण की वृद्धि होती है जिससे वह शरीर तथा धातु में शीघ्र प्रवेश करनेवाला हो जाता है। पारद संयोगवाही होने से इसमें उक्त संस्कारों के गुण शीघ्रतया प्राप्त हो जाते हैं ॥

परिभाषाज्ञानस्य फलम्—

रसनिगममहाब्धेः सोमदेवः समन्तात्
स्फुटतरपरिभाषानामरत्नानि हृत्वा।
व्यरचयदतियत्नात्तैरिमां कण्ठमालां
कलयतु भिषगग्र्यो मण्डनार्थं सभायाम् ॥१००॥

रसशास्त्र के विद्वान् सोमदेव ने रसशास्त्ररूपी महासमुद्र से बड़े परिश्रम के साथ, अत्यन्त स्पष्टार्थ को बतानेवाली परिभाषा नामरूप रत्नों को निकाल कर उनकी यह कण्ठमाला (कण्ठ में करने योग्य कण्ठभूषण) तय्यार की है। श्रेष्ठ रसवैद्य को चाहिये कि वह अपनी इस कण्ठमाला को रसवैद्य सभा में अपने को सुशोभित अथवा सर्वोच्च प्रकट करने के लिये सदा धारण करना चाहिये। अर्थात् रसवैद्य को यह परिभाषा सदा स्मृतिपथ में रखनी चाहिये। ताकि रसनिर्माण में कहीं गलती न हो जाय ॥ १०० ॥

भवेत्पठितवारोऽयमध्यायो रसवादिनाम्।
रसकर्माणि कुर्वाणो न स मुह्यति कुत्रचित् ॥ १०१ ॥

भिन्न २ रसशास्त्रों के विद्वानों के द्वारा निश्चित रूप से वर्णन किया हुआ यह अध्याय जिस रसवैद्य को पढ़ते २ कण्ठस्थ हो जाता है अथवा जो इसे कई बार पढ़ कर अच्छी तरह समझ लेता है। वह रसक्रिया को करता हुआ किसी प्रयोग में भी मोहित नहीं होता अर्थात् कहीं भी गलती नहीं करता है ॥ १०१ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यकृतौ रसरत्नसमुच्चये रसपरिभाषाकथनं नामाष्टमोऽध्यायः।

अथ नवमोऽध्यायः।

अथ यन्त्राणि।

प्रस्तुताध्यायस्य कर्तव्यनिर्देशः—

अथ यन्त्राणि वक्ष्यन्ते रसतन्त्राण्यशेषतः।
समालोक्य समासेन सोमदेवेन साम्प्रतम् ॥ १ ॥

अब परिभाषाओं के वर्णन के पश्चात् सम्पूर्ण रसतन्त्रों (शास्त्र) को अच्छी तरह देख कर रसशास्त्र के विद्वान् सोमदेव द्वारा दोलायन्त्र, वालुकायन्त्र आदि यन्त्रों का वर्णन किया जाता है। ये यन्त्र रस, उपरस आदि के स्वेदन, पचन, मर्दन आदि क्रियाओं के काम आते हैं ॥ १ ॥

यन्त्रशब्दस्य निरुक्तिः —

स्वेदादिकर्म निर्मातुं वार्तिकेन्द्रैः प्रयत्नतः।
यंत्र्यते पारदो यस्मात्तस्माद्यन्त्रमिति स्मृतम् ॥ २ ॥

वार्तिकशास्त्रविशारदों ने स्वेदन-मूर्च्छनादि क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों को 'यन्त्र' इस वास्ते कहा है कि इनके द्वारा स्वेदन आदि कर्म में बहुत अच्छी तरह पारद का यन्त्रण, नियमन अथवा बन्धन या रक्षा की जाती है अतः यन्त्र की 'यन्त्र्यते नियम्यते बध्यते रक्ष्यते वा पारदोऽनेनोपायेन तद्यन्त्रम्' ऐसी निरुक्ति की है। वार्तिक का अर्थ भी दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी जीने रसशास्त्र विशारद किया है ॥ २ ॥

दोलायन्त्रम्—

द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्धोदकस्य च।
मुखस्योभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः ॥ ३ ॥
तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम्।
बद्ध्वा तु स्वेदयेदेतद्दोलायन्त्रमिति स्मृतम् ॥ ४ ॥

एक हांडी में द्रवद्रव्य (रस, क्वाथ, काञ्जी) आधे भाग तक भर दें। उस हांडी के किनारों में दो आमने सामने छेद कर दें। फिर इन छेदों में एक सीधी लकड़ी या लोहशलाका डाल दें। फिर स्वेद्य द्रव्य को एक कपड़े की पोटली में बांधकर उस लकड़ी के बीच में टांग दें, और हांडी के नीचे आंच जलावें और गरम द्रवद्रव्य से स्वेदन (पाक) करें। इसको 'दोलायन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन— दोलायन्त्र में यदि कोई द्रव वस्तु जैसे पारद का स्वेदन करना हो उसे खाली कपड़े में न रख कर पहिले भोजपत्र में रख फिर कपड़े की पोटली में बांधना चाहिये। पोटली नीचे पड़े हांडी के द्रव भाग के मध्य में लटकती रहनी चाहिये, परन्तु पोटली हांडी की पेंदी से नहीं छूनी चाहिये। कोई इस प्रकार करते हैं कि पहिले पोटली के स्वेद्य औषधियुक्त भाग को द्रव में लटकाते और स्वेदन करते हैं जब द्रव पोटली से नीचे रहने लगता है तब पोटली ढीली करके द्रव में करते जाते हैं। इस प्रकार जब पोटली में डूबने योग्य द्रव नहीं रहता तब स्वेदन बन्द किया जाता है या और द्रव द्रव्य डाल दिया जाता है। अच्छी प्रकार स्वेदन के लिये हांडी के मुख को एक मिट्टी के टीकरे से ढांप देना चाहिये, परन्तु सन्धि को बन्द न करें, अन्यथा हांडी फूट जाने का डर रहता है। क्योंकि इस विधि में स्वेद्य द्रव की पोटली दोला अर्थात् झूला के समान द्रव द्रव्य में लटकती रहती है अतः इसे दोलायन्त्र कहते हैं। रसेन्द्रचूडामणि में पारद-स्वेदन के लिये पारद को भूर्जपत्र में लपेट (पोटली) कर फिर इसे त्रिगुण वस्त्र में बांध कर पोटली बनाने को लिखा है और इसी को स्वेदनयन्त्र के नाम से भी लिखा है 'दोलायन्त्रमिदं प्रोक्तं स्वेदनाख्यं तदेव हि'। कई बार केवल वस्त्र में ही वस्तु को बाँधकर स्वेदन किया जाता है भूर्जपत्रकी जरूरत नहीं होती। विशेषतः विषके शोधन में पानी में वस्तु नहीं जानी चाहिये ॥ ३—४ ॥

स्वेदनं यन्त्रम्—

साम्बुस्थालीमुखे बद्धवस्त्रे पाक्यं निवेशयेत्।
पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनीयन्त्रमुच्यते ॥ ५ ॥

जल अथवा द्रव द्रव्य (स्वरस, कषाय, काञ्जी, दुग्ध आदि) को एक हांडी में भर कर उसके मुख पर वस्त्र बाँध कर फिर इस वस्त्र के ऊपर पाक्य (स्वेद्य) द्रव्य को रख ऊपर से किसी शराव से ढक दें, फिर इस हांडी को चूल्हे पर चढ़ा कर पकावें। इस प्रकार जो स्वेदन द्वारा पाक किया जाता है उसे "स्वेदनीयंत्र विधान कहते हैं।

विशेष वचन—स्वेदनीयन्त्र में द्रवद्रव्य को हांडी में आधा तक भरना चाहिये नहीं तो नीचे आंच देने पर द्रव्य में उबाल आकर बाहर निकल जायेगा अतः आधा भाग भरने पर मन्द अग्नि से वाष्पमात्र ऊपर को आकर वस्त्रस्थ द्रव्य को स्वेदन करेगा। हांडी के मुख पर पात्र न रखने से वाष्प सीधी ऊपर को चली जायग अतः एक मृत्खर्पर ऊपर से ढांप देना चाहिये। वास्तव में इस यन्त्र को वाष्पस्वेदनयन्त्र कहा जाता है। क्योंकि इसमें वाष्प (भाफ) के द्वारा ही द्रव्य का पाक किया जाता है। र. रा. प. तथा र. रा. सु. आदि ग्रन्थों में स्वेदनीयन्त्र के नाम से लिखा है। गुजरात में ढोकरा बनाने का जो साधन बरता जाता है, वह यही है ॥ ५ ॥

पातनायन्त्रम्

अष्टाङ्गुलपरीणाहमानाहेन दशाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः ॥ ६ ॥
अधोभाण्डे मुखं तस्य भाण्डस्योपरिवर्त्तिनः।
षोडशाङ्गुलविस्तीर्णप्रघ्नस्यास्ये प्रवेशयेत् ॥ ७ ॥
पार्श्वयोर्महिषीक्षीरचूर्णमण्डूरफाणितैः।
लिप्त्वा विशोषयेत्सन्धिं जलाधारे जलं क्षिपेत्।
चुल्ल्यामारोपयेदेतत्पातनायन्त्रमीरितम् ॥ ८ ॥

एक हांडी, जिसके पेंदे का व्यास १६ अंगुल हो, लें, उसको उलटा कर उसकी पीठ पर एक जलाधार (पाली या थांवला) बनावें। जलाधार की लम्बाई १० अंगुल चौड़ाई ८ अंगुल और ऊंचाई ४ अंगुल होनी चाहिये। पश्चात् एक दूसरी हांडी जिसका मुख पहिली हांडी से कुछ कम चौड़ा हो और ऊपर की हांडी के मुख में जा सके, लें। अब इस हांडी को नीचे सीधी रखकर उसमें पारद या हिंगुलु आदि द्रव्य डाल दें। तदनन्तर जलाधार युक्त

हांडी को औंधा मुंह कर पारदयुक्त हांडी के मुख को उस हांडी के मुख में प्रविष्ट करदें। दोनों हांडियों की मुखसन्धि पर भैंस का दूध, चूना, मण्डूर, फाणित (सीरा) इन्हें एकत्र मिलाकर अच्छी तरह लेप करदें और शुष्क करलें। सूखने के बाद यन्त्र को चूल्हे पर चढ़ाकर जलाधार में जल भर दें। इसको 'पातनायन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—उक्त यन्त्र से पारद का ऊर्ध्वपातन किया जाता है अतः इसे ऊर्ध्वपातनयन्त्र भी कहा जाता है। इसमें पारद जलाधार युक्त हांडी के अन्दर जा गिरता है। कोई २ उक्त जलाधार के नीचे प्रदेश में एक नली लगा देते हैं। जिस से पानी गरम हो जाने पर उसे निकालने में बहुत सुगमता होती है। इस नली में एक कपड़े का डाट लगा हुआ होता है। आवश्यकता होने पर इस डाट को निकाल कर पानी निकाला जाता है, फिर डाट लगा कर उसमें शीतल जल भरना आवश्यक होता है। यह जल पांच २ मिनट के बाद भी बदला जा सकता है। जलाधार प्रायः वह्निमृत्स्ना से बनाना चाहिये जिससे वह शीघ्र न गलने पाए। रसकामधेनु में पातनायन्त्र को ही डमरुयन्त्र तथा विद्याधरयन्त्र माना गया है। रसपद्धति में डमरुयन्त्र के स्वरूपयुक्तयन्त्र को पातनायन्त्र (ऊर्ध्वपातन) माना है। कामरत्न में "उपर्यापो ह्यधो वह्निर्मध्ये च रसपिष्टिका। क्रमादग्निर्विदध्यात्तत्पातनायन्त्रमुच्यते॥" यह इसका लक्षण लिखा है। रसेन्द्रचूडामणि में इसको ऊर्ध्वपातनायन्त्र के नाम से लिखा है। उसमें इसके बनाने की विधि कुछ भिन्न है—"अष्टांगुलमिता सम्यक् वर्तुला चिपटी तले। चतुरंगुलतः कण्ठादधो द्रोण्या समन्विता॥ चतुरंगुलविस्तारनिम्नया दृढबद्धया। तत्पिधानघटीमूले षोडशांगुलविस्तरा॥ नवांगुलविस्तारकण्ठेन च समन्विता। पूर्वघट्यां रसं क्षिप्त्वा न्युब्जां दद्यात्परां घटीम्॥ सोर्ध्वं निम्नं च परितो दृढपालिकयान्विताम्। पाल्यां द्रोण्यां क्षिपेत्तोयं पावकं ज्वालयेदधः। ऊर्ध्वपातनयन्त्रं हि नन्दिना परिकीर्तितम्" ॥ ६—८॥

अधःपातनप्रकारः—

अथोर्ध्वभाजने लिप्तस्थापितस्य जले सुधीः।
दीप्तैर्वनोपलैः कुर्यादध:पातं प्रयत्नतः॥ ६॥

पातनयन्त्र की विधि के अनुसार दो हांडी लेकर एक हांडी (ऊपर की हांडी) के भीतर पेंदी में पारदपिष्टी को पोत कर रख दें। फिर दूसरी हांडी में आधा जल भर कर उसके मुख में पारदवाली हांडी का मुख अच्छी तरह फंसाकर, भैंस का दूध, चूना मण्डूर और सीरे के कल्क से लेप कर सुखा लें, फिर ऊपरली हांडी के तले में एक प्याली या जलाधार सा बना उसमें जंगली ऊपले रखकर अग्नि जलावें। इस प्रकार ऊपर से गर्मी पाकर पारद नीचे घड़े के जल में, जा गिरता है, इसे 'अधःपातन' विधि कहते हैं।

विशेष वचन—अधःपातन करने में नीचे के जलयुक्त घड़े को एक गढ़े में जिसमें नीचे कीचड़ या गारा हो, रख देना चाहिये और गढ़े में घड़े के चारों ओर भी कीचड़ या गारा डाल देना चाहिये, जिससे घड़े का जल ऊपर की अग्नि से गरम न होने पाये। गढ़े में निचली हांडी बिलकुल दबी रहनी चाहिये। ऊपरली हांडी के प्रकट भाग के चारों ओर जंगली उपले रख कर आग लगानी चाहिये। रसपद्धति में इसका लक्षण स्पष्ट लिखा है—"ऊर्ध्वभाण्डतलं लिप्तं रसकल्केन धीमता अधोभाण्डमुखे तस्य मुखं सम्यक् प्रवेशयेत्॥ कृत्वा डमरुवद्यन्त्रं सन्धिं लिप्त्वा च पूर्ववत्। निधाय पंकिले गर्ते यन्त्रं भूमिसमीकृतम्। दीप्तैः वनं पलैः कुर्यादधःपातनकं बुधः" ॥ ६॥

दीपिकायन्त्रम्—

कच्छपयन्त्रान्तर्गतमृण्मयपीठस्थदीपिकासंस्थः।
यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायन्त्रम्॥ १०॥

कच्छपयन्त्र (आगे वर्णित) में कही हुई विधि के अनुसार जलयुक्त एक चौड़े पात्र (टब या नाद) के ऊपर जल को अच्छी तरह स्पर्श करता हुआ एक दूसरा चौड़ा पात्र (हांडी या ठीकरा) टिका दें, फिर इस पात्र के भीतरी तले में पारदयुक्त मूषासम्पुट रख कर उसके ऊपर कच्छपयन्त्र के अनुसार एक लोहे की कटोरी ढक कर अच्छी तरह सन्धिलेप करके ऊपर से अग्नि दें तो पारद ऊपर की गर्मी के कारण मूषा से निकल कर नीचे के पात्र, जिसका बाहरी पेंदा जल में डूबा हुआ होता है, में जा गिरता है। इस यन्त्र को 'दीपिकायन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—यह यन्त्र पारद के स्वेदन के लिये प्रयुक्त होता है और अधःपातन के लिये प्रयुक्त होता है। कई व्याख्याकार जल के ऊपर टिके हुये पात्र के तलभाग में छिद्र कर देने को कहते हैं, जिससे पारद छिद्रों द्वारा जल में जा गिरे॥ १०॥

डेकीयन्त्रम्—

भाण्डकण्ठादधश्छिद्रे वेणुनालं विनिक्षिपेत्।
कांस्यपात्रद्वयं कृत्वा सम्पुटं जलगर्भितम्॥ ११॥
नलिकास्यं तत्र योज्यं दृढं तच्चापि कारयेत्।
युक्तद्रव्यैर्विनिक्षिप्तः पूर्वं तत्र घटे रसः॥ १२॥
अग्निना तापितो नालात्तोये तस्मिन् पतत्यधः।
यावदुष्णं भवेत्सर्वं भाजनं तावदेव हि।
जायते रससन्धानं डेकीयन्त्रमितीरितम्॥ १३॥

एक घड़ा लें, उसके तलदेश के नीचे छिद्र कर उसमें एक सीधी लम्बी बांस आदि की तिरछी नीचे को झुकी हुई नली जोड़ दें। उस नली का दूसरा सिरा चूल्हे में रक्खे हुए घड़े के बराबर ऊंचे थांवले पर रखे हुए दो कांसे के कटोरों के बने हुए सम्पुट (जिसके भीतर जल भरा हो और सम्पुट के ऊपर वाले कटोरे में छेद किया हो) के छिद्र से जोड़ कर अच्छी तरह दृढ़ करके कपड़मिट्टी कर दें। अब क्षार अम्ल आदि उपयुक्त द्रव्यों के साथ पारद को अच्छी तरह खरल करके उक्त घड़े में डालकर घड़े के मुख पर एक ढक्कन रख कर सन्धिस्थान को भली प्रकार कपड़मिट्टी से

अथवा पातनायन्त्र लिखित भैंस का दूध, चूना आदि द्रव्यों से बन्द कर दें। अब घड़े के नीचे चूल्हे में अग्नि जलावें। इस प्रकार अग्नि द्वारा तपा हुआ पारद नली में से होकर जलयुक्त कांसे के सम्पुट में गिरने लगता है। जब सम्पूर्ण घड़ा खूब अच्छी प्रकार से तप जाय तब समझना चाहिये कि सम्पूर्ण पारद का सन्धान (निर्गमन) हो गया है। इसको 'डेकीयन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—यह डेकीयन्त्र नली को तिरछा कर सम्पुट से जोड़ने पर तिर्यक्पातनयन्त्र और नली को नीचे कर सम्पुट से जोड़ने पर अधःपात नयन्त्र हो जाता है। इसमें कांसे के दो कटोरों के स्थान पर एक ही ऐसा पात्र बनाया जाय जिसके मुख में नली के बराबर चौड़ा छिद्र हो तो सुविधा रहेगी। इसी तरह सम्पुटों के भीतर जल भर कर उसके सन्धिलेप करने से भी सन्धिलेप के जल जाने का भय रहता है। अतः कांसे का एक छिद्रयुक्त गोल पात्र बना उसके छिद्र से, घड़े से आने वाली नली को जोड़ कर कांस्य-पात्र को शीतल जल के पात्र में डुबाये रखना चाहिये। नलिका पर भी विशेषतः जब वह किसी धातु की हो शीतल रखने के लिये वस्त्र लपेट कर शीतल जल की धारा गिराते रहना चाहिये। भैंस का दूध चूना आदि से सन्धिलेप करने से पारा उड़ कर बाहर नहीं जा सकता है। अतः घड़े और सम्पुट के नलिका-छिद्रों पर भी उक्त द्रव्यों का लेप करना चाहिये।

जारणायन्त्रम्—

लोहमूषाद्वयं कृत्वा द्वादशाङ्गुलमानतः।
ईषच्छिद्रान्वितामेकां तत्र गन्धकसंयुताम् ॥ १४ ॥
मूषायां रसयुक्तायामन्यस्यां तां प्रवेशयेत्।
तोयं स्यात्सूतकस्याध ऊर्ध्वाधो वह्निदीपनम् ॥ १५ ॥

बारह अंगुल प्रमाण लम्बी छः अंगुल चौड़ी लोहे की एक मूषा और पौने बारह अंगुल लम्बी पौने छः अंगुल चौड़ी दूसरी लोह की मूषा, इस प्रकार लोहे की दो मूषा बनावें। पौने बारह अंगुल वाली मूषा के लम्बाई रुख वाले भाग में चारों तरफ कुछ बारीक छिद्र करके उसमें पारद के समभाग शुद्ध गन्धक का चूर्ण भर दें। और दूसरी लोहमूषा में पारद भर कर इसमें गन्धक वाली मूषा को मुख की तरफ से अच्छी तरह फँसा कर दृढ़ करके चूना मण्डूर आदि के कल्क से लेप कर सुखा दें फिर एक चौड़े नाद में जल भर कर उसके मुख पर बीच में पारदवाली मूषा प्रमाण चौड़ा छिद्र कर एक दूसरा पात्र टिका दें। इस पात्र के छिद्र में पारद वाली मूषा इस तरह फसावें जिससे इसका पारद वाला भाग मात्र जल में डूबा रहे। अब अवशिष्ट मूषा के नीचे ऊपर कोयले या उपलों की अग्नि देवें। इस क्रिया से गन्धक जीर्ण होता है अतः इसे 'जारणायन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में जहाँ पारद में गन्धक जारण के लिये लवण, सिकता, हंसपाक, नाभि, डामर, पालिका, गर्भकूपी, आदि अनेकों यन्त्रों के नाम लिखे हैं वहाँ इस विधि से जारण करने के निमित्त बनाये जाने वाले यन्त्र को 'मूषायन्त्र' के नाम से लिखा है। और कहीं आगे लिखे जाने वाले जारणायन्त्र का प्रकारान्तर भी इसी के साथ जुड़ा हुआ पाया जाता है। परन्तु इन दोनों की पृथक्ता इनके लक्षणों और विधियों से स्पष्ट हो जाती है। देखने से यह प्रथम जारणायन्त्र कच्छपयन्त्र का ही एक भेदविशेष ज्ञात होता है। अतः इन यन्त्रों के निर्माण में असुविधा प्रतीत होने पर कच्छपयन्त्र द्वारा ही गन्धक का जारण करना उत्तम होगा। यहाँ पर हमने मूल श्लोक के अनुसार अक्षरशः अर्थ न करके सुविधा के लिये दो मूषाओं के आकार मान में भेद लिख दिया है, अन्यथा दोनों ही मूषा एक-सी होने पर एक दूसरे में प्रविष्ट नहीं की जा सकती हैं॥ १४—१५॥

जारणयन्त्रस्य प्रकारान्तरम्—

रसोनकरसं भद्रे ! यत्नतो वस्त्रगालितम्।
दापयेत्प्रचुरं यत्नादाप्लाव्य रसगन्धकौ ॥ १६ ॥
स्थालिकायां पिधायोर्ध्वं स्थालीमन्यां दृढां कुरु।
सन्धिं विलेपयेद्यत्नान्मृदा वस्त्रेण चैव हि ॥ १७ ॥
स्थाल्यन्तरे कपोताख्यं पुटं कर्षाग्निना सदा।
यन्त्रस्याधः करीषाग्निं दद्यात्तीव्राग्निमेव वा ॥ १८ ॥
एवं तु त्रिदिनं कुर्यात्ततो यन्त्रं विमोचयेत्।
तप्तोदके तप्तचुल्ल्यां न कुर्याच्छीतलां क्रियाम् ॥ १९ ॥
न तत्र क्षीयते सूतो न च गच्छति कुत्रचित्।
अनेन च क्रमेणैव कुर्याद्गन्धकजारणम् ॥ २० ॥

हे भद्रे ! यत्नपूर्वक रसोन (लहसुन) का स्वरस निकाल उसको कपड़े में छान कर उससे प्रचुर प्रमाण में, पारद और गन्धक की कज्जली को तर करके इस कज्जली को एक दृढ़ हांडी में भर उसके मुख पर दूसरी हांडी या शराव रख कर दृढ़ करके उक्त द्रव्यों से अथवा कपड़मिट्टी द्वारा सन्धिलेप करके सुखालें। अब इस संपुट को पुनः एक बड़ी चौड़ी जलयुक्त हांडी में रख इसके (सम्पुट) चारों तरफ कपोतपुट (आठ जंगली उपलों से दिये जाने वाला पुट) दें। अथवा यन्त्र के नीचे उपलों की या लकड़ी की तीव्र अग्नि दें। इस प्रकार तीन दिन तक बराबर अग्नि देते रहें। पश्चात् इस यन्त्र को खोलें। परन्तु जब तक हांडी का जल तथा चूल्हा गरम हो तब तक इसे नहीं खोलना चाहिये और न इसे उतार शीतल जल आदि से ठंडा कर खोलने का ही प्रयत्न करना चाहिये। इस विधि से पारद में गन्धक जारण करने पर न तो पारद नष्ट होता है और ना ही वह उड़ कर चला जाता है। इसी प्रकार से ही गन्धक का जारण करना चाहिये।

विशेष वचन—'रसोनकरसम्' के स्थान पर 'रसोनकवसाम्' पाठ होने पर भी लहसुन के मण्ड अथवा मज्जा जो कि छानने पर

गाढ़ी चर्बी-सी प्रतीत होती है। अर्थात् गाढ़े स्वरस का अर्थ होता है! 'कर्षाग्निना' के स्थान पर 'न चाधिकम्' ऐसा पाठ भी पाया जाता है। जिससे ऊपर अग्नि देने पर कपोत पुट से अधिक अग्नि देने का निषेध होता है॥ १६—२०॥

कच्छपयन्त्रम्—

जलपूर्णपात्रमध्ये दत्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम्।
तदुपरि विडमध्यगतः स्थाप्यः सूतः कृतः कोष्ठ्याम्॥२१॥
लघुलोहकटोरिकया कृतषण्मृत्सन्धिलेपयाऽऽच्छाद्य।
पूर्वोक्तघटखर्परमध्येऽङ्गारैः खदिरकोलभवैः॥ २२॥
स्वेदनतो मर्दनतः कच्छपयन्त्रस्थितो रसो जरति।
अग्निबलेनैव ततो गर्भे द्रवन्ति सर्वसत्त्वानि॥ २३॥

एक बड़ा पात्र (टब या नाद) लेकर उसमें जल भर दें। फिर इस पात्र के मुख पर एक ऐसा चौड़ा पात्र रखें जिसका बाहरी पेंदा जल से अच्छी तरह स्पर्श करता हो, अब इस पात्र या घटखर्पर के बीच में विडद्रव्यों के साथ अथवा केवल गन्धक के साथ पारद को एक मूषा में बन्द करके रखें। अब इस पारदयुक्त मूषा को एक लोहे की कटोरी से ढककर इस पर छः कपड़मिट्टी करके सुखा लें। पश्चात् खर्पर के ऊपर कटोरी के चारों तरफ खैर और बेरी के कोयलों की अग्नि दें, स्वेदन, मर्दन संस्कार करके इस विधि से कच्छपयन्त्र में रखा हुआ पारद गन्धक को अपने में जीर्ण कर लेता है। इस जारणसंस्कार से पारदीय बुभुक्षा (अग्नि) बढ़ जाती है। इसी यन्त्र से गन्धकादि के द्वारा दीप्त अग्नि बलयुक्त पारद में डाले हुये अभ्रक, स्वर्ण आदि, सत्वलोह आदि धातु द्रव हो जाते हैं। इस यन्त्र का आकार कच्छप (कच्छुआ) के सदृश होने से इसे 'कच्छपयन्त्र' कहते हैं। यह गन्धक जारण के लिये बहुत उपयोगी है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इस यन्त्र को जलकूर्मयन्त्र नाम से लिखा है। और वहाँ पर रस के पात्रों की लम्बाई चौड़ाई का मान भी स्पष्ट किया है, जैसे-"दैर्घ्याद्धः स्थालिकाया मानं स्याद् द्वादशांगुलम्। षोडशांगुलविस्तारां चतुःकीलयुतां मुखे॥ जलेनापूर्यतां स्थालीं निखनेद्भूमिमध्यतः। उपरिष्टाच्छरावं तु मुखं कीलेषु निःक्षिपेत्॥ अतो भाण्डे जलेमग्नशरावं च तथा भवेत्। जलकूर्मिदं यन्त्रं शस्तं जारणकर्मणि॥" ग्रन्थान्तर में विड के साथ जम्बीरी नीबू का रस डालने का भी विधान पाया जाता है। कोई २ ग्रन्थकार इसी में सोमनाल का अन्तर्भाव कर देते हैं। रसेन्द्रचूडामणि में लोहकटोरिका के स्थान पर मल्ल (शराव) का उल्लेख है॥

विद्याधरयन्त्रम्—

यन्त्रं विद्याधरं ज्ञेयं स्थालीद्वितयसम्पुटात्।
चुल्लीं चतुर्मुखीं कृत्वा यन्त्रभाण्डं निवेशयेत्॥ २४॥
तत्रौषधं विनिक्षिप्य निरुन्ध्याद्भाण्डकाननम्।
यन्त्रं विद्याधरं नाम तन्त्रज्ञैः परिकीर्त्तितम्॥ २५॥

दो समानमुखवाली हांडियों को जोड़ कर बनाये जाने वाले यन्त्र को 'विद्याधरयन्त्र' समझना चाहिये। एक हाँड़ी में पारद आदि औषधि भर कर उसके मुख पर दूसरी हांडी को औंधामुख जोड़ कर अच्छी तरह सन्धिलेप करके सुखा लें। अब इस यन्त्र को चार मुख वाले चूल्हे (जिसमें चारों तरफ से लकड़ी लग सकें) पर रख कर अग्नि देवें! इसी को रसशास्त्रज्ञों ने 'विद्याधरयन्त्र' के नाम से कहा है।

विशेष वचन—दो हांडियों के मुखों को जोड़ कर बनाये जाने से वह यन्त्र डमरुवत् हो जाता है। यदि इसमें औषधि या रसयुक्त हांडी पर दूसरी हांडी को सीधा रख कर सन्धिलेप किया जाय तो यह ग्रन्थान्तरोक्त विद्याधरयन्त्र से मिल जाता है। इसमें ऊर्ध्व हांडी में जल डालना होता है। अन्यत्र वर्णित विद्याधरयन्त्र की विधि इस प्रकार है—एक हांडी में पारा डाल कर नीचे रखें उसके मुख पर एक दूसरी हांडी ऊपर को मुंह करके रख दें। नीचे की हांडी के मुँह पर ऊपर की हांडी का तला जहाँ लगा हुआ हो उस स्थान की सन्धि को मिट्टी से बन्द कर दें, और ऊपर की हांडी में जल भर दें। नीचे अग्नि जलावें पारद उड़ कर ऊपर की हांडी के नीचे की ओर पैंदे में लग जायेगा। स्वांग शीतल होने पर सन्धि को सावधानी से खोल पारद को सम्भालकर एकत्रित कर लें। ऊपर की हांडी का जल गरम हो जाय तो उसको बदल कर ठंडा जल भर देना चाहिये। इस क्रिया से पारद ऊपर उड़ जाता है। अतः इसे ऊर्ध्वपातनयन्त्र भी कहते हैं। विद्याधर एक प्रकार की देवयोनि है जो आकाशचारी मानी जाती है। उस के समान पारद को ऊपर उड़ाने वाले यन्त्र को विद्याधरयन्त्र नाम से कहा जाता है॥ २४—२५॥

सोमनालयन्त्रम्—

ऊर्ध्वं वह्निरधश्चापो मध्ये तु रससंग्रहः।
सोमनालमिदं प्रोक्तं जारयेद्गगनादिकम्॥ २६॥

पारद में गन्धक जारण करने के लिये जिस विधि में पारद वाली मूषा के नीचे जल और ऊपर अग्नि दी जाती है उसे 'सोमनालयन्त्र' विधान कहा जाता है। इस यन्त्र का उपयोग पारद में गगन आदि को जारण करने के लिये किया जाता है। इसके बनाने की विधि यह है कि एक मिट्टी के पात्र में जल भर कर उसके ऊपर जल को स्पर्श करती हुई एक पारदयुक्त मूषा रख कर (कच्छपयन्त्र की भांति) उसको शराव से बन्द करके जारणायन्त्र या कच्छपयन्त्र की भाँति अग्नि देवें।

विशेष वचन—इसके लक्षण से स्पष्ट है कि यह जारणायन्त्र या कच्छपयन्त्र के समान ही बनाया जाता है और गन्धक आदि के जारणार्थ प्रयुक्त होता है। रसकामधेनु में जलकूर्मयन्त्र (जो कि

(कच्छपयन्त्र का ही रूप है) को ही सोमनालयन्त्र के नाम से लिया गया है। अन्यत्र सोमनालयन्त्र के लक्षण इस प्रकार पाये जाते हैं। "गाजवेल्लिग्रहं सम्यक्पात्रेऽथोमुखविस्तरे। तद्वदाच्छादनं रम्यं सोमनालमिहोदितम्॥" 'गगनादिकम्' के स्थान पर 'गन्धकादिकम्' पाठ भी पाया जाता है। रसपद्धति की टीका में इसे माक्षिकसत्व तथा अभ्रकसत्व के जारणार्थ प्रयोग में लिया है। क्योंकि इस यन्त्र में नीचे सोम (जल) भरा रहता है, बीच में मूषा के भीतर पारद रहता है और ऊपर अग्नि जलाते हैं। अतः इसे सोमनालयन्त्र कहा जाता है॥ २६॥

गर्भयन्त्रम्—

गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पिष्टिकाभस्मकारकम्।
चतुरङ्गुलदीर्घान्तु त्र्यङ्गुलोन्मितविस्तराम्॥ २७॥
मृण्मयीं सुदृढां मूषां वर्तुलं कारयेन्मुखम्।
लोणस्य विंशतिर्भागा भाग एकस्तु गुग्गुलोः॥ २८॥
सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु वारं वारं पुनः पुनः।
मूषालेपं दृढं कृत्वा लवणार्द्धमृदम्बुभिः॥ २६॥
कर्षेत्तुषाग्निना भूमौ स्वेदयेन्मृदु मानवित्।
अहोरात्रे त्रिरात्रं वा रसेन्द्रो भस्मतां व्रजेत्॥ ३०॥

पारद की पिष्टि तथा अन्य रसोपरस आदि के भस्म करने के लिये गर्भयन्त्र का विधान कहा जाता है। मिट्टी की चार अंगुल लम्बी और तीन अंगुल चौड़ी एक दृढ़ मूषा बनावें, जिसका मुख गोल होना चाहिये। पश्चात् २० भाग लोहचूर्ण और एक भाग गूगल लेकर उसमें ४० भाग मिट्टी मिला जल के साथ खूब बारीक पीसकर इस कल्क का उक्त मूषा के भीतर और बाहर बार २ लेप करके सुखा लें। पश्चात् इसमें पारद पिष्टि भर कर मूषामुख को ढक कर बन्द कर दें। उसके ऊपर मिट्टी आधा भाग और लवण एक भाग जल में पीसकर इसका लेप करके सुखा लें। पश्चात् जमीन में एक गढ़ा खोद उसमें आधा भाग तुष (भुस) भरकर उसके ऊपर मूषा रख अवशिष्ट भाग को फिर तुष से भर कर मृदु अग्नि से स्वेदन करें। इस प्रकार एक दिन रात अथवा तीन दिन रात बराबर स्वेद देने से पारद भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—रसकामधेनु में लवण तथा गूगल का लेप मूषा के भीतरी भाग में ही करने को बताया गया है। रसेन्द्रचूडामणि में 'लोणस्य' के स्थान पर 'लोहस्य, ऐसा पाठ है। परन्तु आगे 'लवणेन' ऐसा पाठ मिलने से 'लोणस्य' पाठ ही उचित प्रतीत होता है। 'कर्षेत्' के स्थान पर 'गर्ते' पाठ ठीक प्रतीत होता है।

हंसपाकयन्त्रम्

खर्परं सिकतापूर्णं कृत्वा यस्योपरि न्यसेत्।
अपरं खर्परं तत्र शनैर्मृद्वाग्निना पचेत्॥ ३१॥
पञ्चक्षारैस्तथा मूत्रैर्लवणं च विडं ततः।
हंसपाकं समाख्यातं यन्त्रं तद्वार्त्तिकोत्तमैः॥ ३२॥

एक खर्पर (मिट्टी के बने हुये पतले चौड़े कुण्डे) में किनारों तक बालुका भर उसके ऊपर दूसरा चौड़ा ठीकरा या कुण्डा रख उसके ऊपर जवाखार, आदि पञ्चक्षार तथा पाचों नमक तथा पूर्वोक्त विड द्रव्यों को गोमूत्र के साथ एकत्र पीस कर रखें और धीरे २ मन्द अग्नि से पकावें। उत्तम वार्तिककारों ने इसे 'हंस-पाकयन्त्र' नाम से कहा है। हंस सूर्य को कहते हैं इस यन्त्र में अग्नि प्रखर सूर्य की किरणों के बराबर देकर पाक किया जाता है। अतः इसे हंसपाक नाम से लिखा है।

विशेष वचन—यह यन्त्र विड के पाकार्थ प्रयुक्त होता है।

बालुकायन्त्रम्—

सरसां गूढवक्त्रां मृद्वस्त्राङ्गुलघनावृताम्।
शोषितां काचकलशीं त्रिषु भागेषु पूरयेत्॥ ३३॥
भाण्डे वितस्तिगम्भीरे बालुका सुप्रतिष्ठता।
तद्भाण्डं पूरयेत्त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत्॥ ३४॥
भाण्डवक्त्रं मणिकया सन्धिं लिम्पेन्मृदा पचेत्।
चुल्ल्यां तृणस्य चादाहान्मणिकापृष्ठवर्त्तिनः।
एतद्धि बालुकायन्त्रं तद्यन्त्रं लवणाश्रयम्॥ ३५॥
पञ्चाढबालुकापूर्णभाण्डे निक्षिप्य यत्नतः।
पच्यते रसगोलाद्यं बालुकायन्त्रमीरितम्॥ ३६॥

एक कांच की कूपी (शीशी) पर एक अंगुल मोटी कपड़ मिट्टी करके सुखा लें। फिर उसमें कज्जली आदि पाक्य द्रव्य तिहाई भाग भर दें। अब इस कूपी को एक बालिस्त गहरी हांडी में रख दें। इस हांडी पर भी तीन कपड़मिट्टी कर लेनी चाहिये। इस हांडी में काचकूपी को रख उसके तीन हिस्से तक अथवा गले तक हांडी में बालू भर दें। अब हांडी के मुख को एक शराब से ढक कर बन्द कर दें और सन्धि को अच्छी तरह लीप दें। अब इसे चूल्हे पर रख कर मन्द, मध्य तथा तीव्र क्रम से आग दें। शराब के ऊपर रखे हुए तृण के जलने पर सामान्यतः बालुकायन्त्रपाक ठीक समझा जाता है। इसको बालुकायन्त्र कहते हैं। यदि बालू के स्थान पर लवण हो तो यही लवणयन्त्र कहलायेगा। यदि कूपी के स्थान पर पाक्य औषधि (पारद गोलक आदि) युक्त मूषा या सम्पुट आदि रख उसके ऊपर पांच आढक बालू भर पकाया जायगा तो भी इसको बालुकायन्त्र कहते हैं।

विशेष वचन—बालुकायन्त्र में कज्जली युक्त कांचकूपी रख कर अन्तर्धूम तथा बहिर्धूम इस प्रकार दो विधियों से पाक किया जाता है उक्तविधि बहिर्धूमपाक की है। अन्तर्धूमपाक के लिये हांडी की पेंदी पर तर्जिनी-अंगुली-प्रमाण छिद्र कर उस पर एक अभ्रक का पत्र रख उस पर दो तीन अंगुल बालू भर कर कज्जली युक्त शीशी जिसका मुख अच्छी प्रकार से बन्द किया हुआ हो, रख दें। "...रसगर्भिणीमभ्रस्तर्जन्यगुंलिप्रमाणितछिद्रायामनुरूप-स्थालिकायामारोप्य"। यह काचकूपी बालू वाली हांडी से तीन

चौथाई ऊँची होनी चाहिए। अब इस हांडी के चारों ओर शीशी के मुख से भी दो एक अंगुल ऊपर तक बीच में बालू भर देनी चाहिये। फिर शराव रख सन्धिलेप करके तृणदाह पर्यन्त अग्नि देनी चाहिये। रसकामधेनु में काचकूपी सात अंगुल ऊँची लिखी है। रसेन्द्रचिन्तामणि में अभ्रकपत्र के स्थान पर दो अंगुल ऊँचे लवणखण्डों को रख उस पर काचकूपी रख बालू भरने के लिये लिखा है। साथ ही तृणपरीक्षा के स्थान पर तीन-चार अथवा पांच दिन की अग्नि देने को लिखा है। बालुकायन्त्र में चलनी से साफ की हुई मोटी रेत भरनी चाहिये। काचकूपी की लम्बाई चौड़ाई तथा कज्जली का कोई परिमाण न होने पर यही सम्प्रदाय चला हुआ है कि शीशी में चतुर्थांश कज्जली भर दी जाय। काचकूपी दृढ़ होनी चाहिए। इस कार्य के लिये मोटे पैंदे की काली बोतल अच्छी रहती है। अन्तर्धूमपाक के लिये काचकूपी पर कम से कम पांच अन्यथा सात पृथक् २ कपड़मिट्टी करना चाहिये। ग्रन्थान्तर में जो सैकतयन्त्र पाया जाता है, वह इस बालुका (सिकता) यन्त्र से सर्वथा भिन्न है। उसका लक्षण इस प्रकार है। "कोष्ठिकाऽधो बहुच्छिद्रा गर्तस्योपरि कोष्ठिका। भाण्डस्य बालुका कण्ठलग्ना तत्सैकतं भवेत्"। ३३-३६।

लवणयन्त्रम्—

एवं लवणनिक्षेपात्प्रोक्तं लवणयन्त्रकम्॥ ३७॥

बालुकायन्त्र में बालुका के स्थान में उसी विधि और प्रमाण से यदि लवण डाला जाय तो उसे 'लवणयन्त्र' कहते हैं॥ ३७॥

लवणयन्त्रस्य प्रकारान्तरम्—

अन्तःकृतरसालेपताम्रपात्रमुखस्य च।
लिप्त्वा मृल्लवणेनैव सन्धिं भाण्डतलस्य च॥ ३८॥
तद्भाण्डं पटुनाऽऽपूर्य क्षारैर्वा पूर्ववत्पचेत्।
एवं लवणयन्त्रं स्याद्रसकर्मणि शस्यते॥ ३९॥

एक ताम्र के पात्र के भीतर पाक्य द्रव्य पारद या कज्जली आदि का लेप करके उसके मुख पर एक छोटा अन्य पात्र रख इन दोनों की सन्धि को मिट्टी और नमक से अच्छी तरह बन्द कर दें। फिर वालुकायन्त्र की भांति एक बड़ी हांडी के बीच में इस ताम्रपात्र को रख कर हांडी के मुख तक पात्र के चारों तरफ लवण अथवा जवाखार आदि क्षार भर दें। अब शराव से हांडी का मुख बन्द करके बालुकायन्त्र की भांति पाक करना चाहिये। इस प्रकार निर्मित लवणयन्त्र पारद के संस्कारों में विशेष उपयोगी होता है।

विशेष वचन—उक्त लवणयन्त्र की विधि में कोई यह अर्थ भी करते हैं कि ताम्रपात्र में पारद आदि द्रव्य डाल कर उसके मुख पर एक बड़ा चौड़ा लम्बा गहरा (बालिस्त प्रमाण) अन्य पात्र अधोमुख रख करके सन्धिलेप किया जाय, पश्चात् इस पात्र को ताम्रपात्र सहित सीधा कर उसके अवशिष्ट भाग में लवण भर कर उक्त विधि से पाक करने को भी कहते हैं॥ ३८—३९॥

नालिकायन्त्रम्—

लोहनालगतं सूतं भाण्डे लवणपूरिते।
निरुद्धं विपचेत्तद्वन्नालिकायन्त्रमीरितम्॥ ४०॥

एक लोहनिर्मित नाल (नली के आकार की मूषा) में पाक्य पारद आदि द्रव्य को भर कर उसके मुख को कपड़मिट्टी से बन्द करके इस नाल को एक चौड़े पात्र में रख ऊपर से लवण भर कर पात्रमुख को बन्द करके पूर्वोक्त विधि से पकाने को 'नालिकायन्त्र' कहा जाता है॥ ४०॥

भूधरयन्त्रम्—

बालुकागूढसर्वाङ्गां गर्ते मूषा रसान्विताम्।
दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम्॥ ४१॥

भूमि में एक गढ़ा खोद कर उसमें दो तीन अंगुल बालू भर दें। इसके ऊपर पारद आदि पाक्य औषधियुक्त मूषा रख दें, फिर इस मूषा के चारों ओर दो दो अंगुल बालू आ जाय इस तरह गढ़े में बालू भरें जिससे मूषा के ऊपर भी दो अंगुल बालू आ जाय इसके ऊपर उपले रख कर आग लगा दें। इसे 'भूधरयन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—यह यन्त्र पारद आदि द्रव्यों को स्वेदन या लघुपाक के निमित्त प्रयुक्त किया जाता है। ग्रन्थान्तर में भूधरयन्त्र का लक्षण दूसरे प्रकार से लिखा है—दो हांडियों के मुख को जोड़ कर डमरुयन्त्र के समान अथवा अधःपातनयन्त्र के समान बना लें। फिर एक हांडी-जितना गढ़ा खोद कर इसे रख दें। नीचे की हांडी गढ़े में रहेगी। गढ़े के शेष भाग को मिट्टी से भर दें। "यन्त्रं डमरुवद्वाथ वाऽधःपातनयन्त्रवत्। भूगर्ते तत्समाधाय चोर्ध्वमाकीर्य वह्निना॥ अधः स्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा सूतकं तत्र पातयेत्। एतद्भूधरयन्त्रं स्यात् सूतसंस्कारकर्मणि॥" इन दोनों हांडियों में जिसे ऊपर रखना हो उसके अन्दर की ओर पेंदी में पारद पिष्टी का लेप पहिले कर लेना चाहिये और नीचे रखने वाली हांडी में ठंडा पानी भर देना चाहिये। ऊपर की हांडी के चारों ओर उपले रखकर आग लगा दें। पारद ऊपर की हांडी से नीचे की हांडी के जल में गिर जायगा। पृथ्वी के अन्दर पारद का पाक करने से अथवा पारद का अधःपातन पृथ्वी के अन्दर रखी हांडी में होने से यह भूधरयन्त्र कहलाता है।

पुटयन्त्रम्—

शरावसम्पुटान्तस्थं करीषेष्वग्निमानवित्।
पचेच्चुल्ल्यां द्वियामं वा रसं तत्पुटयन्त्रकम्॥ ४२॥

दो शरावसंपुट में औषधि युक्त पारद भर कर सम्पुट का अच्छी तरह सन्धिलेप करके सुखा लें। फिर इस सम्पुट को

अग्निप्रमाणज्ञ वैद्य को चाहिये कि चूल्हे अथवा उपलों की दो पहर तक अग्नि देकर पाक करें। इसको 'पुटयन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—रस शब्द से महारस उपरसों का भी बोध होने के कारण यह यन्त्र स्वर्ण, रजत आदि के मारणार्थ भी उपयोग में आ सकता है॥ ४२॥

कोष्ठीयन्त्रम्—

षोडशांगुलविस्तीर्णं हस्तमात्रायतं समम्।
धातुसत्त्वनिपातार्थं कोष्ठीयन्त्रमिति स्मृतम्॥ ४३॥

धातुओं के सत्वपातन करने के लिये सामान्यतः १६ अंगुल व्यास की और एक हाथ भर ऊंची जो भट्टी बनाई जाती है उसे 'कोष्ठीयन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—कोष्ठीयन्त्र बनाने के लिए एक बालिस्त लम्बी छः अंगुल चौड़ी दो दृढ़ मूषा बना लें। एक मूषा को जमीन में गाड़ दें उसके मुख पर दूसरी मूषा में सत्वपातनार्थ द्रव्यों को भर कर और मुख पर एक छिद्र युक्त शराव लगा औंधा मुख करके रख दें और सन्धि-बन्धन कर दें। अब लोहारों की भट्टी की भांति ऊपर की मूषा के चारों तरफ नीचे से ऊपर को चौड़ा कोयलों को रखने का आधार (सोलह अंगुल ऊंचा) बनावें। इस आधार या ऊपरली मूषा के कण्ठप्रदेश के सामने जमीन पर धौंकनी द्वारा हवा देने के लिये एक छिद्र भी बना दें। भट्टी में कोयले डालकर इनके बीच में मूषा रख धौंकनी से धौंक कर आवश्यकतानुसार मात्रा में अग्नि को तीव्र करना चाहिए। रसेन्द्रचूड़ामणि में कोष्ठिकायन्त्र का लक्षण पूर्वोक्त लक्षण से भिन्न तथ विस्तृत पाया जाता है। यथा "स्थूलभाण्डोदरस्यान्तर्वालुकां निक्षिपेच्छुभाम्। वितस्तिप्रमितोत्सेधं नलं तत्र निवेशयेत्॥ अपक्वां मृण्मयीं कोष्ठीं द्वादशांगुलकोच्छ्रयाम्। षडङ्गुलकविस्तीर्णां मध्येऽतिमसृणीकृताम्॥ पञ्चाङ्गुलं पिधानं च तीक्ष्णाग्रं मुकुटाकृतिम्। न न्यूनां नाधिकां कोष्ठीं कण्ठतो मसृणां बहिः॥ कोष्ठ्यां विनिक्षिपेद्गन्धं षट्पलं सूक्ष्मचूर्णितम्। कोष्ठ्यां त्रिपादिकां लौहीं विनिवेश्य स्थिरीकृताम्॥ तस्यां च विन्यसेत् खारीं लौहीं वा कान्तलोहजाम्। तस्यां सूतं क्षिपेच्छुद्धं पलविंशतिमानतः॥ ततो निधाय मतिमान् पिधानं मुकुटाकृति। सन्धिबन्धं प्रकुर्वीत सुधामृत्स्नागुडादिभिः। सन्धिबन्धे विशुष्के च क्षिपेदुपरि बालुकाः। भाण्डवक्त्रं निरुध्याथ ज्वालयेत्तदधोऽनलम्॥ खरं यामत्रयं यावत्ततो गन्धकजारणम्। पिधानलग्नधूमोऽसौ गलित्वा निपतेद्रसे॥ एवं हि षड्गुणं गन्धं मुक्त्वा सूतो बली भवेत्। करोति खलु सूतेन्द्रो निर्दिष्टान् सकलान् गुणान्। कोष्ठिकायन्त्रमेतद्धि नन्दिना परिकीर्तितम्" ॥ ४३॥

वलभीयन्त्रम्—

यत्र लोहमये पात्रे पार्श्वयोर्वलयद्वयम्।
तादृक् स्वल्पतरं पात्रं वलयप्रोतकोष्ठकम्॥ ४४॥
पूर्वपात्रोपरि न्यस्य स्वल्पपात्रे परिक्षिपेत्।
रसं सम्मूर्च्छितं स्थूलपात्रमापूर्य काञ्जिकैः॥ ४५॥
द्वियामं स्वेदयेदेवं रसोत्थापनहेतवे।
एतत्स्याद्वलभीयन्त्रं रसे षाड्गुण्यकारकम्॥
सूक्ष्मकान्तमये पात्रे रसः स्याद्गुणवत्तरः॥ ४६॥

एक बृहत् आकार गोल लोह का पात्र या टब बनावें, इसके भीतरी कण्ठप्रदेश पर आमने-सामने दो कड़े बनावें। इसी प्रकार इस पात्र के मुख में आने योग्य दूसरा लोहपात्र बनावें, किन्तु उसके बाह्य कण्ठप्रदेश पर दो कड़े बनायें। अब बड़े पात्र में काञ्जी भरें और इसके मुख पर दूसरा पात्र अच्छी तरह फंसा कर उसमें मूर्च्छित पारद डाल कर इसको चूल्हे पर रख कर दो प्रहर तक अग्नि दें। यह यन्त्र पारद की मूर्च्छना को दूर कर उसमें पुनः जागृति उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त होता है। इसको वलभीयन्त्र कहते हैं। इस यन्त्र द्वारा स्वेदन करने से पारद छः गुणा अधिक गुणवान् अथवा चरकोक्त "विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया" ये षड्गुणप्रद शक्तिजनक हो जाता है। और इस यन्त्र के द्वारा स्वेदन करने में साधारण लोह की अपेक्षा कान्तलोह पात्र में स्वेदन करने से पारद और भी अधिक गुणवान् हो जाता है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचूड़ामणि में "एतत्स्याद्वलभी" के स्थान पर "तत्स्याद् बलवती" पाठ है॥ ४४—४६॥

तिर्यक्पातनयन्त्रम्—

क्षिपेद्रसं घटे दीर्घनताधोनालसंयुते।
तन्नालं निक्षिपेदन्यघटकुक्ष्यन्तरे खलु॥ ४७॥
तत्र रुद्ध्वा मृदा सम्यग्वदने घटयोरथ।
अधस्ताद्रसकुम्भस्य ज्वालयेत्तीव्रपावकम्॥ ४८॥
इतरस्मिन्घटे तोयं प्रक्षिपेत्स्वादुशीतलम्।
तिर्यक्पातनमेतद्धि वार्तिकैरभिधीयते॥ ४९॥

कुछ लम्बाकृति एक घड़े में कण्ठ प्रदेश से कुछ नीचे एक छिद्र कर उसमें एक धातु अथवा बांस आदि की नली तिरछी और नीचे को झुकी हुई जोड़ दें। उस नली का दूसरा सिरा नीचे रखें, दूसरे पानी से भरे हुए घड़े के कण्ठप्रदेशीय छिद्र में जोड़ दें। अब पहिले वाले घड़े को चूल्हे पर रख उसमें पारद आदि औषधि डाल दें। दूसरे घड़े को भी चूल्हे के बराबर ऊंची ईंटों की बनी हुई चौकी पर रख दें। अब इन दोनों घड़ों के मुखों पर अलग २ दो शराव रख कर चना, गुड़ आदि से अच्छी तरह सन्धिलेप करदें। और पारदयुक्त घट के नीचे चूल्हे में अग्नि जलावें। और दूसरे घड़े में बाहर से भी ठंडा जल डालते जायें पारद उड़ कर पानी वाले घड़े में आजायगा। इस यन्त्र द्वारा पारद को तिरछे गिराने से वार्तिककारों ने इसे 'तिर्यक्पातन यन्त्र' नाम से कहा है।

विशेष वचन—इसका विशेष वर्णन पहले आ चुका है। इसमें नली पर कपड़ा लपेट कर उसको भी शीतल जल से बराबर ठंडा रखना चाहिये ॥ ४९ ॥

पालिकायन्त्रम्—

चषकं वर्तुलं लौहं विनताग्रोद्ध्वदण्डकम्।
एतद्धि पालिकायन्त्रं बलिजारणहेतवे ॥ ५० ॥

एक ऐसा गोल लोहे का प्याला बनावें जिस पर एक तरफ लोहे का पतला एक खड़ा डंडा लगा हुआ हो। यह डंडा अन्त में कुछ बाहर की तरफ मुड़ा हो। यही 'पालिका' (पली) यन्त्र कहा जाता है। इसके द्वारा गन्धक का जारण किया जाता है।

विशेष वचन—पालिकायन्त्र का सादृश्य पली से, जो कि बाजार में तेलियों के पास तेल निकालने के लिये कनस्तरों में पड़ी रहती है, बिलकुल मिलता है। इसमें डंडा आसानी से निकालने या गर्त आदि में रखने के लिये लगाया जाता है। रसकामधेनु में इसे पारद की कृष्णभस्म करने के लिये उपयोगी लिखा है, "एतच्च दीप्ताग्निना, घटिकामात्रेण कृष्णरसभस्मकरणे। तत्र लोहपाके (पालिकायाम्) गन्धकं द्रावयित्वा पारदो देयः। पश्चाल्लोहदण्डेनैकीकृत्य करणीयम्" ॥ ५० ॥

घटयन्त्रम्—

चतुष्प्रस्थजलाधारश्चतुरङ्गुलिकाऽऽननः।
घटयन्त्रमिदं प्रोक्तं तदाप्यायनकं स्मृतम् ॥ ५१ ॥

चार प्रस्थ परिमाण जल आने के योग्य एक घड़ा लेवें जिसका मुख चार अंगुल चौड़ा हो इसे 'घटयन्त्र' कहते हैं। यह पारद के आप्यायन (पोषण) के लिये व्यवहृत होता है।

विशेष वचन—"आप्यायनकम्" के स्थान पर "उत्थापनकम्" ऐसा पाठ होने पर पारद के उत्थापन के निमित्त घटयन्त्र का प्रयोग होता है। उत्थापक औषधियों के सहित पारद को घड़े में भर कर कुछ दिन रखने से वह पुनः जाग्रत हो जाता है ॥ ५१ ॥

इष्टिकायन्त्रम्—

विधाय वर्तुलं गर्तं मल्लमत्र निधाय च।
विनिधायेष्टकां तत्र मध्यगर्तवतीं शुभाम् ॥ ५२ ॥
गर्तस्य परितः कुर्यात्पालिकामङ्गुलोच्छ्रयाम्।
गर्ते सूतं विनिक्षिप्य गर्तास्ये वसनं क्षिपेत् ॥ ५३ ॥
निक्षिपेद्गन्धकं तत्र मल्लेनाऽस्यं निरुध्य च।
मल्लपालिकयोर्मध्ये मृदा सम्यङ् निरुध्य च ॥ ५४ ॥
वनोत्पलैः पुटं देयं कपोताख्यं न चाधिकम्।
इष्टिकायन्त्रमेतत्स्याद्गन्धकं तेन जारयेत् ॥ ५५ ॥

जमीन में एक गोलाकार गर्त (गढ़ा) बना उस पर एक मोटा शराव या प्याला रख दें, अब इसके ऊपर बीच में आवश्यकतानुसार दो अंगुल चौड़ा गहरा गढ़ा की हुई ईंट जमा कर ईंट के गर्त के चारों तरफ एक अंगुल ऊंची पालिका (थावला, मेंड) बना दें। पश्चात् ईंट के गढ़े में पारद भर कर गढ़े के मुंह पर एक दृढ़ वस्त्र बांध दें, फिर इस वस्त्र के ऊपर गन्धक डालकर दूसरे शराव से ढक दें और शराव तथा पाली के बीच सन्धि को अच्छी तरह मिट्टी से बन्द कर दें। अब शराव के ऊपर जंगली उपले रख कर कपोतपुट के रूप में अग्नि लगा दें। कपोतपुट में अग्नि तीव्र नहीं देनी चाहिये क्योंकि तीव्र अग्नि से पारद गन्धक उड़ जाने की संभावना रहती है। इसको इष्टिकायन्त्र कहते हैं। इसके द्वारा गन्धक का जारण किया जाता है।

विशेष वचन—र. रा. सु. में जमीन में गढ़ा बनाकर उसमें मल्ल रखने का विधान नहीं है। किन्तु पारद के ऊपर रखे हुये शराव के ऊपर बालुका डालकर बालू में उपले रखने के लिये लिखा है। उसमें कपोतपुट के स्थान पर लघु पुट देने को कहा गया है ॥ ५२—५५ ॥

हिंगुलाकृष्टिविद्याधरयन्त्रम्—

स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ् निरुध्य च।
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदधः ॥
एतद्विद्याधरं यन्त्रं हिंगुलाकृष्टिहेतवे ॥ ५६ ॥

एक हांडी में शुद्ध हिंगुल डालकर नीचे रखें। इसके मुख पर दूसरी हांडी ऊपर मुंह करके रख दें। नीचे की हांडी के मुख तथा ऊपर की हांडी के तली पर जहाँ दोनों का जोड़ हो कपड़मिट्टी से अच्छी तरह बन्द कर दें। ऊपर की हांडी में जल भर दें, नीचे आग जलावें। पारद उड़कर ऊपर की हांडी के नीचे की ओर पेंदी में लगा हुआ मिलेगा। हांडी के स्वांगशीत होने पर सावधानी से खोलकर पारद को निकाल लें। आग देते समय ऊपर की हांडी में जल गरम होने पर उसको बदल कर शीतल जल डाल देना चाहिये। यह हिंगुल से पारद निकालने के लिये उपयोग में आने वाला 'विद्याधरयन्त्र' है

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इसी को ऊर्ध्वपातनयन्त्र कहा गया है। किसी २ ग्रंथ में "हिंगुलाकृष्टिहेतवे" इसके बाद "रसं संमूर्च्छितं स्थूलपात्रमापूर्णकाञ्जिकैः। द्वियामं स्वेदयेदेवं रसोत्थापनहेतवे ॥" इतना पाठ अधिक पाया जाता है। इस यन्त्र द्वारा हिंगुल से पारद निकालने पर हिंगुल को पहिले जम्बीरादि अम्ल द्रव्यों से मर्दन कर लेना चाहिये ॥ ५६ ॥

डमरुयंत्रम्—

यन्त्रस्थाल्युपरि स्थालीं न्युब्जां दत्त्वा निरुन्धयेत्।
यन्त्रं डमरुकाख्यं तद्रसभस्मकृते हितम् ॥ ५७ ॥

दो समान मुख वाली हांडियों को लेकर, एक में पारद भर दें। और दूसरी हांडी को इस हांडी के मुख पर औंधा मुंह करके ढक दें और दोनों की मुखसन्धि पर अच्छी तरह कपड़मिट्टी करके

सुखालें, अब इसको चूल्हे में रख कर आग देवें । डमरु (मदारियों के बजाने की डुगडुगी) के समान इस यन्त्र का आकार होने से इसे 'डमरुयन्त्र' कहते हैं । यह पारद की भस्म करने के लिये उपयोग में आता है ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में यह यन्त्र पारद के ऊर्ध्वपातन अथवा हिंगुल से पारद निकालने के लिये लिखा है । रस भस्म के लिये यह बहुत ही कम प्रयुक्त होता है । ऊर्ध्वपातन करने में ऊपर की औंधीमुख हांडी की पेंदी पर चौतह मोटा गीला कपड़ा रखना चाहिये जिससे पेंदी के भीतर पारद शीतांक पाकर जम जाय । और कपड़े के गरम हो जाने पर उसे उलट कर पुनः शीत जल से तर कर देना चाहिये । रसपद्धति में इस यन्त्र का स्पष्ट लक्षण इस प्रकार है, "यंत्रस्थाल्युपरि स्थालीं न्युब्जां दत्त्वा निरुध्यते । कृत्वाऽलवालं तत्पृष्ठे केनाप्यत्र जलं क्षिपेत् ॥ अधस्ताज्ज्वालयेदग्निमूर्ध्वगं रसमुद्धरेत् । यन्त्रं डमरुकं त्वेतदूर्ध्वपातनकारकम्" ॥ ५७ ॥

नाभियन्त्रम्—

मल्लमध्ये चरेद्गर्तं तत्र सूतं सगन्धकम् ।
गर्तस्य परितः कुड्यं प्रकुर्यादङ्गुलोच्छ्रितम् ॥ ५८ ॥
ततश्चाऽऽच्छादयेत्सम्यग्गोस्तनाकारमूषया ।
सम्यक् तोयमृदा रुद्ध्वा सम्यगत्रोच्यमानया ॥ ५९ ॥

लौह अथवा मिट्टी की तल भाग में पर्याप्त मोटी एक थाली बनावें । इसके किनारे चार अंगुल ऊंचे हों । इसके बीच में पारद गन्धक आने योग्य एक गर्त बना कर इसमें पारद गन्धक की कज्जली डाल दें । गर्त के चारों तरफ एक अंगुल ऊंची कुड्य (पाली मेड़ या दीवार) बनावें । अब एक ऐसी गोस्तनाकार (गाय के थन के समान आकार अर्थात् आगे को कुछ पतली गोल और पीछे को चौड़ी चपटी) मूषा लें, जो कुड्य पर अच्छी तरह जम सकती हो, उसे जमाकर अर्थात् पाली को मूषा से अच्छी तरह ढक कर निम्नलिखित तोयमृत्तिका से इसकी सन्धियों को अच्छी तरह बन्द करदें ॥

तोयमृल्लक्षणम्—

लेहवल्कृतबब्बूलक्काथेन परिमर्दितम् ।
जीर्णकिट्टरजः सूक्ष्मं गुड़चूर्णसमन्वितम् ।
इयं हि जलमृत्प्रोक्ता दुर्भेद्या सलिलैः खलु ॥ ६० ॥

पुरातन लोह किट्ट (मण्डूर) के सूक्ष्म चूर्ण में समभाग पुरातन गुड़ और चूना मिला कर गाढ़े बबूल के क्काथ से खूब मर्दन कर बनाई हुई सन्धिलेपार्थ मिट्टी या उपकरण को 'जलमृत्' कहते हैं । यह मृत्तिका सूख जाने पर जल में डालने से चिरकाल तक नहीं गलने पाती है ॥ ६० ॥

वह्निमृत्स्ना—

खटिकापटुकिट्टैश्च महिषीदुग्धमर्दितैः ।
वह्निमृत्स्ना भवेद्घोरवह्नितापसहा खलु ॥ ६१ ॥
एतया मृत्स्नया रुद्धो न गन्तुं क्षमते रसः ।
विदग्धवनिताप्रौढप्रेम्णा रुद्धः पुमानिव ॥ ६२ ॥
नन्दी नागार्जुनश्चैव ब्रह्मज्योतिर्मुनीश्वरः ।
वेत्ति श्रीसोमदेवश्च नापरः पृथिवीतले ॥ ६३ ॥
ततो जलं विनिक्षिप्य वह्निं प्रज्वालयेदधः ।
नाभियन्त्रमिदं प्रोक्तं नन्दिना सर्ववेदिना ॥
अनेन जीर्यते सूतो निर्धूमः शुद्धगन्धकः ॥ ६४ ॥

खड़िया मिट्टी, लवण, तथा लोहकिट्ट (मण्डूर) को समभाग में लेकर भैंस के दूध से बारीक घोट कर बनाई हुई लेप करने की मिट्टी को 'वह्निमृत्' कहते हैं । यह मिट्टी अत्यन्त तीव्र अभिताप को सह सकती है अर्थात् आग में तपाने पर फटती नहीं है ॥६१॥

उक्त मृतिका से अच्छी तरह बंद किया हुआ पारद, रसिक स्त्री के प्रगाढ़ प्रेम में फंसे हुए पुरुष के समान, तीव्र अग्नि देने पर भी नहीं उड़ सकता है । इस यंत्र की विधि को भूमण्डल में नन्दी, नागार्जुन, ब्रह्मज्योति, मुनीश्वर और श्री सोमदेव इन पांचों के अतिरिक्त कोई नहीं जानता है ॥ ६२—६३ ॥

पाली में मूषा जमा कर उसके चारों तरफ जलमृत्तिका का लेप करके अच्छी तरह सुखाने के बाद थाली में एक अंगुल भर ऊंचा जल भर दें और थाली के नीचे अग्नि जलायें इसको रसशास्त्र के सर्वज्ञ नन्दी रसाचार्य ने 'नाभियंत्र' नाम से लिखा है। इस यंत्र द्वारा पारद का निर्धूम गंधक जारण होता है ॥ ६४ ॥

ग्रस्तयंत्रम्—

मूषां मूषोदराविष्टामाद्यन्तः समवर्तुलाम् ।
चिपिटां च तले प्रोक्तं ग्रस्तयन्त्रं मनीषिभिः ॥
सूतेन्द्ररन्धनार्थं हि रसविद्भिरुदीरितम् ॥ ६५ ॥

तलभाग की तरफ चपटी किनारे निकली हुई (जैसे मीजर ग्लास खड़ा करने के लिये नीचे चपटे होते हैं) मुख से लेकर मूल तक चारों तरफ एक समान लम्बी चौड़ी गोल एक मूषा बनायें, इसमें पारद को भर कर उसके मुख में दूसरी उसी प्रकार की मूषा को मुंह की तरफ से पूरी फंसा कर दोनों मूषाओं को एक मूषा बना लें । अर्थात् एक मूषा दूसरी मूषा को ग्रस्त (खा जाना) करले, ऐसा कर लें । और उपर्युक्त वह्निमृत्तिका से इसके चारों तरफ कपड़मिट्टी करके सुखा लें । इसे साधारण पुट या अग्नि में रख कर पकावें । इस यंत्र को रस के विद्वानों ने पारदपाक के निमित्त वर्णन किया है । इस यंत्र द्वारा पकाने से पारद उड़ता नहीं है, इसको 'ग्रस्तयंत्र' कहते हैं ॥ ६५ ॥

स्थालीयंत्रम्—

स्थाल्यां ताम्रादि निक्षिप्य मल्लेनाऽऽस्यं निरुद्ध्य च ।
पच्यते स्थालिकाधस्तात्स्थालीयन्त्रमितीरितम् ॥ ६६ ॥

एक हांडी में अम्ल आदि द्रव्य भर कर इसी में ताम्रलोह

आदि धातु आदि द्रव्यों के स्थूल चूर्ण भी डाल दें, फिर हांडी के मुख पर सूक्ष्म छिद्रयुक्त शराव रख सन्धिलेप करदें। हांडी को चूल्हे पर चढ़ा कर नीचे आग देवें। इसे 'स्थालीयन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—यह यन्त्र ताम्र आदि धातुओं की शुद्धि के निमित्त उपयोग में आता है। इस विधि से ही लौह का स्थाली-पाक किया जाता है॥ ६६॥

धूपयंत्रम्—

विधायाष्टाङ्गुलं पात्रं लौहमष्टाङ्गुलोच्छ्रयम्।
कण्ठाधो ह्यङ्गुले देशे गलाधारे हि तत्र च॥
तिर्यग्लोहशलाकाश्च तन्वीस्तिर्यग्विनिक्षिपेत्।
तनूनि स्वर्णपत्राणि तासामुपरि विन्यसेत्॥ ६८॥
पत्राधो निक्षिपेद्धूमं वक्ष्यमाणमिहैव हि।
तत्पात्रं न्युब्जपात्रेण छादयेदपरेण हि॥ ६९॥
मृदा विलिप्य सन्धिञ्च वह्निं प्रज्वालयेदधः।
तेन पत्राणि कृत्स्नानि हतान्युक्तविधानतः॥ ७०॥
रसश्चरति वेगेन द्रुतं गर्भे द्रवन्ति च।
गन्धालकशिलानां हि कज्जल्या वा मृताहिना॥ ७१॥
धूपनं स्वर्णपत्राणां प्रथमं परिकीर्त्तितम्।
तारार्थं तारपत्राणि मृतवङ्गेन धूपयेत्॥ ७२॥
धूपयेच्च यथायोग्यैरन्यैरुपरसैरपि।
धूपयन्त्रमिदं प्रोक्तं जारणाद्रव्यसाधने॥ ७३॥

एक ऐसा लोहे का पात्र लें जो आठ अंगुल ऊंचा, आठ अंगुल चौड़ा हो। उसमें गन्धक, हरताल तथा मैनसिल धूपन द्रव्य (धुआँ देने वाले), जिनसे स्वर्ण तथा रजतपत्रों को धुआँ देना हो, डाल दें। अथवा सीसाभस्म डाल दें। उस पात्र में कण्ठ प्रदेश के नीचे निर्मित जलाधार पर पतली पतली लोहे की शलाकायें (वा लोहे की पतली जाली) लगा दें। उन शलाकाओं या जाली पर स्वर्ण के बारीक कण्टकवेधी पत्र रख दें। अब इस लोहपात्र के ऊपर दूसरा लोहपात्र उलटा मुख रख कर कपड़मिट्टी से सन्धिबन्द करके सुखा लें। इस यन्त्र को चूल्हे पर रख कर नीचे मन्द २ अग्नि जलावें। इस प्रकार धूपन देने से स्वर्णपत्र काले और भस्मरूप में हो जाते हैं। जिन्हें पारद शीघ्र ही खा जाता है और वे पत्र पारद में शीघ्र द्रवरूप हो जाते हैं। अर्थात् इनकी शीघ्र गर्भद्रुति हो जाती है। तारकर्म अर्थात् चांदी के पत्रों को धूपन करने में चांदी के पत्रों को वंग या वंगभस्म से धूपन किया जाता है। इसी प्रकार पूर्वोक्त अन्यान्य उपरसों द्वारा भी धूपन किया जाता है। जारणार्थ द्रव्य को प्रस्तुत करने के लिये इस धूपयन्त्र का प्रयोग होता है॥ ६७—७३॥

कन्दुकयन्त्रम्—

स्थूलस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वासो बद्ध्वा मुखे दृढम्।
तत्र स्वेद्यं विनिक्षिप्य तन्मुखं प्रपिधाय च॥ ७४॥
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं यन्त्रं तत्कन्दुकाभिधम्।
स्वेदनीयन्त्रमित्यन्ये प्राहुश्चेदं मनीषिणः॥ ७५॥

एक सुदृढ़ हांडी में आधाभाग जल भर लें। उसके मुंह पर एक स्वच्छ तथा दृढ़ कपड़ा दृढ़ता के साथ बांध दें। उस कपड़े पर स्वेदन करने योग्य पदार्थ रख दें। फिर हांडी के मुख पर एक दूसरी हांडी औंधामुंह रख दें। नीचे आग जलावें। इस प्रकार द्रव्यों का स्वेदन इस यंत्र से किया जाता है, अतः इसे कोई 'स्वेदनयंत्र' भी कहते हैं। इसी का नाम 'कन्दुकयंत्र' भी है॥

कन्दुकयंत्रस्य प्रकारान्तरम्—

यद्वा स्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा तृणं क्षिप्त्वा मुखोपरि।
स्वेद्यद्रव्यं परिक्षिप्य पिधानं प्रविधाय च।
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं यन्त्रं तत्कन्दुकं स्मृतम्॥ ७६॥

अथवा एक हांडी में आधा भाग जल भर दें। उसके मुख में एक तृणों (सूखी घास) का एक गुच्छा फंसा दें। इस तृण-गुच्छ के ऊपर स्वेदन करने योग्य पदार्थ रख दें। हांडी के मुख पर दूसरी हांडी औंधामुंह रख दें। नीचे आग जलावें। इस प्रकार स्वेदन करने को भी 'कन्दुकयन्त्र' कहा जाता है॥ ७६॥

खल्लयन्त्रम्—

खल्लयोग्या शिला नीला श्यामा स्निग्धा दृढा गुरुः।
षोडशाङ्गुलकोत्सेधा नवाङ्गुलकविस्तरा॥ ७७॥
चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा घर्षणी द्वादशाङ्गुला।
विंशत्यङ्गुलदीर्घा वा स्यादुत्सेधे दशाङ्गुला॥
खल्लप्रमाणं तज्ज्ञेयं श्रेष्ठं स्याद्रसकर्मणि॥ ७८॥

खरल बनाने के लिये नीले अथवा काले रंग का चिकना, दृढ़ और गुरुभार पत्थर लेकर उसकी १६ अंगुल ऊंची, नौ अंगुल चौड़ी और २४ अंगुल लम्बी खरल बनायें। ऐसे खरल के लिये बारह अंगुल लम्बी नीचे से ऊपर को पतली हाथ में आने योग्य मूसली बनावें। अथवा बीस अंगुल लम्बी दस अंगुल ऊंची खरल बनावें। पारद आदि रसों के शोधन-मर्दन आदि संस्कारों में इस प्रमाण और आकार की खरलें उत्तम समझी जाती हैं।

विशेष वचन—खरलों के उत्सेध (उंचाई) में आधाभाग तलप्रदेश का समझा जाता है, जिससे सोलह अंगुल ऊंची खरल भीतर गर्भ में आठ अंगुल गहरी होगी। इसमें बारह अंगुल लम्बी मूसली का तृतीयांश (चार अंगुल) भाग पकड़ने के कार्य में आयेगा॥ ७७—७८॥

खल्लयन्त्रस्य द्वैविध्यनिर्देशः—

खल्लयन्त्रं द्विधा प्रोक्तं रसादिसुखमर्दने॥ ७९॥

पारद आदि द्रव्यों के अच्छी तरह मर्दन करने के लिये दो प्रकार के (लम्बे और गोल) खल्लयन्त्र कहे जाते हैं॥ ७९॥

द्विविधखल्लयोः सामान्य लक्षणम्—

निरुद्गारौ सुमसृणौ कार्यौ पुत्रिकया युतौ॥ ८०॥

लम्बी अथवा गोल दोनों प्रकार की खरलें निरुद्गार (तौल या भीतरी पार्श्व प्रदेश में नीचे ऊंचे न हों, जिससे मर्दन करते समय धक्का लग कर औषधि बाहर न निकल जाय । अथवा ऊपरी आमने सामने के कोणों में बाहर को फैले न हों जिससे मूसली को आगे पीछे चलाते हुये औषधि बाहर न निकल जाय । किन्तु कोण भाग में किनारे कुछ भीतर को झुके हुये हों) तथा चिकने और पुत्रिका (मूसली) से युक्त होने चाहिये ।

विशेष वचन—कहीं २ खरल तीन प्रकार के माने गये हैं । इनमें दो उक्त प्रकार से बनाये हुये शिलाखरल और तीसरी लोह की खरल । इसी लिये कहीं २ 'खल्लयन्त्रं त्रिधा' ऐसा पाठ पाया जाता है । ८० श्लोक में लिखित लक्षण शिलानिर्मित खरलों के समझने चाहिये ॥ ८० ॥

शोधनार्थमर्धचन्द्राकृतिखल्लम्—

उत्सेधे स दशाङ्गुलः खलु कलातुल्याङ्गुलायामवान्
विस्तारेण दशाङ्गुलो मुनिमितैर्निम्नस्तथैवाङ्गुलैः ।
पाल्यां द्व्यङ्गुलविस्तरश्च मसृणोऽतीवार्द्धचन्द्रोपमो
घर्षो द्वादशकाङ्गुलश्च तदयं खल्लो मतः सिद्धये ॥८१॥
अस्मिन्पञ्चपलः सूतो मर्दनीयो विशुद्धये ।
तत्तदौचित्ययोगेन खल्लेष्वन्येषु योजयेत् ॥ ८२ ॥

एक १० अंगुल ऊंची, १६ अंगुल लम्बी, १० अंगुल चौड़ी और सात अंगुल गहरी खरल बनायें । जिसकी पाली (किनारा) दो अंगुल चौड़ी हो । जो खूब रगड़ कर चिकनी हो या शिला के दृढ़ होने के कारण जिसमें तेज चाकू का निशान न पड़ सकता हो । इसकी १२ अंगुल लम्बी मूसली बनानी चाहिये । इस प्रकार की खरल देखने में अर्धचन्द्राकार होती है अतः इसे 'अर्धचन्द्राकृति' खल्ल कहते हैं । यह खरल पारद आदि रसोपरसों की सिद्धि (शोधन मर्दन) के लिये उत्तम मानी जाती है । इस अर्धचन्द्राकार खरल में पांच पल (२० तोला) पारद शोधनार्थ मर्दन करना चाहिये । इसी प्रकार पारद के परिमाणानुसार विविध प्रकार की छोटी या बड़ी २ खरलों में पारद डाल कर मर्दन करना चाहिये ।

विशेष वचन—रसेन्द्रचूड़ामणि में ६ अंगुल ऊंची, १६ अंगुल लम्बी, ६ अंगुल चौड़ी, ६ अंगुल गहरी और १० अंगुल लम्बी मूसली वाली खरल को इस कार्य के लिये व्यवहृत करने के लिये लिखा है ॥ ८१—८२ ॥

मर्दनार्थं वर्तुलखल्लनिर्देशः—

द्वादशाङ्गुलविस्तारः खल्लोऽतिमसृणोपलः ।
चतुरङ्गुलनिम्नश्च मध्येऽतिमसृणीकृतः ॥ ८३ ॥
मर्दकश्चिपिटोऽधस्तात्सुग्राहश्च शिखोपरि ।
अयं तु वर्तुलः खल्लो मर्दनेऽतिसुखप्रदः ॥ ८४ ॥

एक १२ अंगुल गोल चौड़ा चिकने पत्थर का, बीच में चार अंगुल गहरा, खूब रगड़ कर चिकना किया हुआ खल्ल बनाया जाता है जिसे 'वर्तुल' खल्ल कहते हैं । इसकी मूसली नीचे प्रदेश में चपटी और ऊपर की तरफ अच्छी तरह पकड़ने योग्य बनानी चाहिये । यह खरल रस आदियों के मर्दन करने में अत्यन्त सुविधाजनक होती है ।

विशेष वचन—इस प्रकार की खरलें आजकल नव्य चिकित्सापद्धति में अधिक व्यवहृत होती हैं । इसमें औषधि किगरने का भय बहुत कम रहता है । रत्न आदि को घोटने के लिये अकीक या यशभ पत्थर की खरल उत्तम है । एवैट की खरल विदेशों से आती है, वह पक्की होती है ॥ ८३—८४ ॥

तप्तखल्लार्थं खल्लनिर्देशः—

लौहो नवाङ्गुलः खल्लो निम्नत्वे च षडङ्गुलः ।
मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्चैव तप्तखल्लाभिधोऽप्ययम् ॥ ८५ ॥

तप्त खरलविधि से पारद का मर्दन करने के लिये एक लोह की ६ अंगुल लम्बी, ६ अंगुल गहरी खरल बनानी चाहिये । जिसकी मूसली आठ अंगुल लम्बी होनी चाहिये । इसमें पारद डाल कर तप्तखल्लविधि से मर्दन करना चाहिये ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में तप्तखल्ल के लिये १२ अंगुल विस्तृत, ४ अंगुल गहरी लोहे की गोल खरल का विधान पाया जाता है ॥ ८५ ॥

तप्तखल्लविधिः—

कृत्वा खल्लाकृतिं चुल्लीमङ्गारैः परिपूरिताम् ।
तस्यां निवेश्य तं खल्लं पार्श्वे भस्त्रिकया धमेत् ॥ ८६ ॥
तदन्तर्मर्दिता पिष्टिः क्षारैरम्लैश्च संयुता ।
प्रद्रवत्यतिवेगेन स्वेदिता नात्र संशयः ॥
कृतः कान्तायसा सोऽयं भवेत् कोटिगुणो रसः ॥ ८७ ॥

खरल के आकार का अथवा गोल एक चूल्हा बना कर उसको कोयलों से भर दें । कोयलों के ऊपर चूल्हे में खरल रख कर चूल्हे के नीचे एक तरफ बने हुये छेद में लगी हुई धौंकनी से आग दें । इस खरल में पारद की पिष्टी को डाल कर उसमें क्षार तथा अम्ल द्रव्य मिला कर अच्छी प्रकार मर्दन करें । इस प्रकार तप्त खरल में क्षार आदि द्रव्यों के साथ मर्दन की हुई रसपिष्टी स्वेदित होकर शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाती है । यदि तप्तखल्लविधि में साधारण लोहखरल की अपेक्षा कान्तलोहजन्य खरल का प्रयोग किया जाय तो यह साधारण लोह खरल में मर्दित और स्वेदित पारद की अपेक्षा करोड़ों गुणा अधिक गुणवान् होता है ।

विशेष वचन—खरल को चूल्हे पर रख मर्दन करने में असुविधा रहती है अतः जमीन में गढ़ा खोद कर चूल्हा बनाना चाहिये । चूल्हा खरल से छोटा होने पर वायुमार्ग का अवरोध होने से अग्नि तीव्र नहीं हो सकेगी और अधिक चौड़ा होने पर अग्नि चारों तरफ ऊपर को फैल जाने से मर्दन करना कठिन हो जायगा । अतः खरल के बराबर चूल्हा बना उसके चारों

कोनों पर एक २ अंगुल मोटे पत्थर या लोहे के चपटे टुकड़े जमा कर उन पर खरल रख मर्दन करने में सुविधा रहती है। ग्रन्थान्तर में तप्तखल्वविधान उक्तविधि से कुछ भिन्न प्रकार का पाया जाता है, "अजाशकृत् तुषाग्नि तु भूगर्ते त्रितयं क्षिपेत्। तस्योपरि स्थितः खल्वस्तप्तखल्वः स उच्यते"

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चयेय न्त्रनिरूपणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

अथ मूषादिकथनम् ।

मूषायाः पर्यायाः—

मूषा हि क्रौञ्चिका प्रोक्ता कुमुदी करहाटिका ।
पाचनी वह्निमित्रा च रसवादिभिरिष्यते ॥ १ ॥

रसशास्त्रज्ञ लोग मूषा (घरिया) को क्रौञ्चिका, कुमुदी, करहाटिका, पाचनी तथा वह्निमित्रा, इन नामों से व्यवहार में लाते हैं। अर्थात् मूषा के ये पर्यायवाचक शब्द हैं ॥ १ ॥

मूषानिरुक्तिः—

मुष्णाति दोषान् मूषा या सा मूषेति निगद्यते ॥ २ ॥

क्योंकि मूषा द्वारा पाक आदि प्रक्रियाओं के अनुष्ठान से मूषास्थित द्रव्य के दोष क्षीण हो जाते हैं अथवा यह मूषा उसमें रख कर पकाये हुये द्रव्यों के दोषों को मुष (चुरा) लेती है अतः इसे 'मूषा' शब्द से कहा जाता है।

विशेष वचन—मूषा अनेक आकार की होती हैं। अतः इसको श्वेत पुष्प कमलवत् देख कर कुमुदिका, द्रव्य पाचनार्थ काम में आने से पाचनी, अग्नि में रख तीव्र अग्नि से भी न फटने के कारण वह्निमित्रा नाम से लिखा गया है। आज कल धातुओं को जलाने के लिये बाजार में छोटी बड़ी सब प्रकार की धारिया-मूषा मिलती है उनको लेकर कामचलाना चाहिये ॥ २ ॥

मूषाया उपादानम्—

उपादानं भवेत्तस्या मृत्तिका लोहमेव च ॥ ३ ॥

मूषानिर्माणार्थ, मिट्टी तथा लोह यह दोनों द्रव्य मुख्य उपादान माने जाते हैं। अर्थात् इनके द्वारा मूषा बनाई जाती है ॥ ३ ॥

मूषाप्रशंसा—

मूषामुखविनिष्क्रान्ता वरमेकापि काकिणी ।
दुर्जनप्रणिपातेन धिग्लक्षमपि मानिनाम् ॥ ४ ॥

रसविद्या के सम्यक् ज्ञान से मूषापुट तथा अन्यान्य पुटादिओं से विधिपूर्वक निर्माण किये रस-उपरस आदि के द्वारा यदि स्वतन्त्र रूप से २० कौड़ी या एक धेला भी प्राप्त हो तो वह सर्वोत्तम है। परन्तु आत्माभिमानी तथा उद्यमी पुरुष के लिये नीच मनुष्य की सेवा या खुशामद कर प्राप्त किये हुए एक लक्ष रुपये भी अस्पर्श योग्य हैं। अर्थात् स्वतन्त्रवृति मनुष्य अपने बाहुबल से न्यायपूर्वक उपार्जित कौड़ी की अपेक्षा अन्याय और खुशामद से उपार्जित लाखों रुपयों को घृणा की दृष्टि से देखता है।

विशेष वचन—काकिणी, पण (पैसा) के चतुर्थांश को कहते हैं "पणगण्डकयोस्तुर्ये उदमानस्य काकिणी" इति रुद्रः। तथा मेदनीकोश में भी पण चतुर्थांश को काकिणी नाम से लिखा है। लीलावती में बीस कौड़ियों को काकिणी नाम से लिया है 'वराटकानां दशकद्वयं तत्सा काकिणी" परन्तु व्यवहार में काकिणी से एक कौड़ी का ग्रहण किया जाता है ॥ ४ ॥

सन्धिलेपस्य पर्यायाः—

मूषापिधानयोर्बन्धे बन्धनं सन्धिलेपनम् ।
अन्धणं रन्धणं चैव संश्लिष्टं सन्धिबन्धनम् ॥ ५ ॥

मूषा और उसके (ढक्कन) के बन्ध (जोड़) को बन्धन, सन्धिलेपन, अन्धण, रन्धण, संश्लिष्ट, तथा सन्धिबन्धन नाम से कहा जाता है। अर्थात् सन्धिलेप के ये पर्यायवाचक शब्द हैं ॥५॥

मूषोपयोगिमृत्तिका—

मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा ।
चिराध्मानसहा सा हि मूषार्थमतिशस्यते ॥
तदभावे च वाल्मीकी कौलाली वा समीर्यते ॥ ६ ॥

मूषानिर्माण के लिये पाण्डुवर्ण और स्थूल कण वाली मिट्टी अथवा रेतीली लाल कुछ पीले वर्ण की मिट्टी लेनी चाहिये, इस प्रकार की मिट्टी पर्याप्त देर तक अग्नि में तपाने से भी नहीं फटती है। यदि इस प्रकार की शुद्ध मिट्टी न मिल सके तो इसके स्थान पर बांबी की मिट्टी या कुम्हार के पात्र बनाने की मिट्टी को काम में लाना चाहिये।

विशेष वचन—शैवालभद्र में मूषा के लिये चिक्कण, पिच्छिल तथा कृष्णवर्ण मृत्तिका को योग्य माना है। "चिक्कणा पिच्छिला गुर्वी, कृष्णमृत्सर्वपूजिता। पीता वा तद्गुणैर्युक्ता सिकतादिविवर्जिता॥

मूषोपयोगिद्रव्याणि—

या मृत्तिका दग्धतुषैः शणेन
शिखित्रकैर्वा हयलद्दिना च ।
लौहेन दण्डेन च कुट्टिता सा
साधारणा स्यात्खलु मूषिकार्थे ॥ ७ ॥

तुष (भुस) की राख, बारीक सन के टुकड़े, कोयले और घोड़े की लीद सब समानभाग लेकर पूर्वोक्तगुणयुक्त मृत्तिका में मिलाकर थोड़ा २ जल डाल कर लोहे की हथौड़ी से खूब कूट २ कर एक रस करके तय्यार की हुई मिट्टी साधारण प्रकार की मूषा निर्माणार्थ व्यवहार में लानी चाहिये।

विशेष वचन—यद्यपि श्लोक में "वा" शब्द से सामान्य मूषा के लिये दो प्रकार से मृत्तिका बनाने का निर्देश है १—भुस की राख और सण तथा मिट्टी ये उपादान है। २—कोयले, घोड़े की लीद और मिट्टी ये उपादान हैं। परन्तु इन सब को मिला कर

बनाई गई मिट्टी अधिक अग्नि सहन करने वाली होती है। उक्त सर्व द्रव्यों को मिलाकर बनाई हुई मूषा को सामान्य मूषा कहते हैं ॥ ७ ॥

मूषाया उपकरणान्तराणि—

श्वेताश्मानस्तुषा दग्धाः शिखित्राः शणखर्परे ।
लद्दिः किट्टं कृष्णमृत्स्ना संयोज्या मूषिकामृदा ॥ ८ ॥

मूषानिर्माणार्थ बनाई जाने वाली मिट्टी में उसकी दृढ़ता को बढ़ाने के लिये, संगमरमर या सेलखड़ी, तुष की राख, सनसूत्र, कोयले, घोड़े की लीद, घड़े के ठीकरों का चूर्ण, लोहकीटचूर्ण और काली मिट्टी ये द्रव्य भी मूषा बनाने योग्य मृत्तिका के साथ मिला देने चाहिये।

विशेष वचन—'शणखर्परे' के स्थान पर 'शणकर्पटे' ऐसा पाठ होने पर कर्पट शब्द से कपड़े की लीर अथवा रुई डालनी चाहिये। सोनार लोग भी स्वर्ण तथा रजत को पिघलाने वाली घरियाओं की मिट्टी में रुई को कूट २ कर मिलाते हैं।

वज्रमूषा—

मृदस्त्रिभागाः शणलद्दिभागौ भागश्च निर्दग्धतुषोपलादेः ।
किट्टार्धभागंपरिखण्ड्य वज्रमूषां विदध्यात्खलु सत्त्वपाते॥९॥

अत्यन्त दृढ़ मूषा बनाने के लिये मिट्टी ३ भाग, सनसूत्र १ भाग, घोड़े की लीद १ भाग, भुस की राख एक भाग, सेलखड़ी १ भाग, कोयला १ भाग, लोहकीट ½ भाग, लेकर इन सबको एकत्र खूब अच्छी तरह लोहे के हथौड़े से कूट कर जल मिलाते हुए मूषा बनायें। इस अनुपात से बनाई हुई मूषा को वज्रमूषा कहते हैं। यह मूषा धातु आदि कठिन द्रव्यों के सत्वपातनार्थ काम में आती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में दग्धतुष दो भाग, बांबी की मिट्टी १ भाग, मण्डूर १ भाग, श्वेत पाषाण (संगमरमर या खड़िया मिट्टी) १ भाग, पुरुष के बाल १ भाग, सब को बकरी के दूध में खूब अच्छी तरह घोट कर बनाई हुई मूषा को 'वज्रमूषा' लिखा है। इस मूषा में पारद डालकर, मूषाकल्क से ही इस मूषा को बन्द करके पाक करने से पारद भला प्रकार सिद्ध हो जाता है। रसकामधेनु में विभिन्न द्रव्यों द्वारा अनेक प्रकार की मूषायन्त्रों का वर्णन मिलता है। आवश्यकतानुसार वहां से देख कर कार्यसाधन करना चाहिये ॥ ९ ॥

योगमूषा—

दग्धाङ्गारतुषोपेता मृत्स्ना वल्मीकमृत्तिका ।
तत्तद्विडसमायुक्ता तत्तद्विडविलेपिता ॥ १० ॥
तया या विहिता मूषा योगमूषेति कथ्यते ।
अनया साधितः सूतो जायते गुणवत्तरः ॥ ११ ॥

जले हुए कोयले तथा तुष, पाण्डुस्थूल गुण (कण) युक्त रेतीली मिट्टी, बांबी की मिट्टी और विड द्रव्य (क्षार, अम्ल, गन्धक, पांचों नमक आदि), इन सबको समभाग में लेकर इमामदस्ते में खूब कूट कर जल से मूषा बना लें। फिर इस मूषा को भीतर और बाहर सब तरफ से विभिन्न विड द्रव्यों के कल्क से लेप कर दें। इस प्रकार बनाई हुई मूषा को 'योगमूषा' कहते हैं। इस मूषा से सिद्ध किया हुआ पारद विशेष गुणवान् होता है।

विशेष वचन—रसप्रकाशसुधाकर में तुषभस्म, वल्मीकमृत्तिका तथा विड द्रव्यों द्वारा योगमूषा बनाने को लिखा है ॥ १०–११ ॥

वज्रद्राविणी मूषा—

गारभूनागधौताभ्यां शणैर्दग्धतुषैरपि ।
समैः समा च मूषा मृन्महिषीदुग्धमर्दिता ॥ १२ ॥
क्रौञ्चिका यन्त्रमात्रं हि बहुधा परिकीर्त्तिता ।
तया विरचिता मूषा वज्रद्रावणकोचिता ॥ १३ ॥

तालाब या नदी का चिकना गारा, केंचुओं की मिट्टी (जो कि उनको धोकर निकाली गई हो), सन तथा दग्धतुषों को समभाग में लेकर इन सबके बराबर रेतीली मिट्टी लेकर इन सब को भैंस के दूध से घोट कर बनाई मूषा को 'वज्रद्राविणी मूषा' कहते हैं। मूषायन्त्र मात्र को क्रौञ्चिका शब्द से कहा जाता है। यह क्रौञ्चिका (मूषा) अनेक प्रकार की होती है।

विशेष वचन—गार शब्द से कोई कोष्ठागारिका (अञ्जनहारी की मिट्टी) का ग्रहण करते हैं। परन्तु रसकामधेनु में गार शब्द से कीचड़ का ग्रहण करते हुये लिखा है कि 'जले चिरंशीर्णमृतिका गारम्'। अतः गार शब्द से पुराना चिकना कीचड़ ही लेना चाहिये। कीचड़ लेना श्रेष्ठ है गाँवों में घरों को बाहर से लेपने के लिये कीचड़ और पुराने भूसे का उपयोग होता है। (सम्पादक)।

गारमूषा—

दुग्धषड्गुणगाराष्ट-किट्टाङ्गारशणान्विता ।
कृष्णमृद्भिः कृता मूषा गारमूषेत्युदाहृता ॥
यामयुग्मपरिध्मानान्नासौ द्रवति वह्निना ॥ १४ ॥

काली मिट्टी १ भाग, कीचड़ ६ भाग, लोहकिट्टचूर्ण ८ भाग, कोयलों का चूर्ण ८ भाग, सनसूत्र ८ भाग लेकर इन सब को एकत्र भैंस के दूध से खूब कूट और घोट कर बनाई हुई मूषा को 'गारमूषा' कहते हैं। इसको दो प्रहर तक बराबर अग्नि में तपाने से भी यह अग्निपात से नहीं फटती।

विशेष वचन—गारमूषा में गार की प्रधानता समझते हुए कहीं 'दुग्धं षड्गुणगाराढ्य' ऐसा पाठ भी मिलता है। ऐसी दशा में काली मिट्टी १ भाग, सन १ भाग, कोयले १ भाग और गार ६ भाग लिया जाता है। तन्त्रान्तर में गारमूषा का लक्षण इस प्रकार है, "गारभूनागसत्वेन शणैर्दग्धतुषैरपि। मर्दिता महिषीक्षीरे मृत्तिका पञ्चमात्रकम्। तन्मृदा रचितामूषा गारमूषेति कथ्यते" ॥

वरमूषा—

वज्राङ्गारतुषास्तुल्यास्तच्चतुर्गुणमृत्तिका ।
गारा च मृत्तिकातुल्यः सर्वैरेतैर्विनिर्मिता ॥
वरमूषेति निर्दिष्टा याममग्निं सहेत सा ॥ १५ ॥

वज्र (लोह अथवा किट्ट), कोयले तथा तुषभस्म ये तीनों समभाग, काली अथवा रेतीली मिट्टी चार भाग और गार चार भाग लेकर इन सब को एकत्र मर्दन करके बनाई हुई मूषा को 'वरमूषा' कहते हैं। यह मूषा एक प्रहर तक तीव्र अग्नि को सहन कर सकती है।

विशेष वचन—कोई टीकाकार 'वज्रांगार' थूहर के कोयले अर्थ कहते हैं। परन्तु रसेन्द्रचूड़ामणि में 'वज्र' के स्थान पर 'वस्त्र' पाठ होने से सर्वसंगत हो जाती है। अतः रुई उसमें डालनी चाहिये। रसप्रकाशसुधाकर में 'गारश्च मृत्तिका तुल्यः' के स्थान पर 'भूनागमृत्तिके तुल्ये' ऐसा पाठ भेद है ॥ १५ ॥

वर्णमूषा—

पाषाणरहिता रक्ता रक्तवर्गानुसाधिता ।
मृत्तया साधिता मूषा क्षितिखेचरलेपिता ।
वर्णमूषेति सा प्रोक्ता वर्णोत्कर्षे नियुज्यते ॥ १६ ॥

पत्थर तथा कंकड़ से रहित लाल मृत्तिका को आगे लिखे हुए रक्तवर्ग की कुसुम्भ आदि औषधियों के कषाय में पाँच सात भावना देकर अथवा पका कर अच्छी तरह घोट करके इसकी मूषा बनायें। इसको फटकरी और कसीस के कल्क से भीतर और बाहर की तरफ लेप करके सुखा लें। इस विधि से बनी हुई मूषा को 'वर्णमूषा' कहते हैं। यह मूषा स्वर्णादि धातु, उपधातु, रस, उपरस, आदि के वर्णों की उत्कर्षता (श्रेष्ठता) उत्पन्न करने के लिये प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन— कई क्षितिचर का अर्थ भूनाग और खेचर का अर्थ कासीस कहते हैं। और कई क्षितिस्थखेचर एक ही शब्द को मानते हुये कासीस अर्थ करते हैं। परन्तु रसप्रकाशसुधाकर में इसको स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "तूरी पुष्पकसीसाभ्यां लेपिता सा च मूषिका।" अतः स्फटिकी और कासीस दोनों लेने चाहिये।

रूप्यमूषा—

एवं हि श्वेतवर्गेण रूप्यमूषा समीरिता ॥ १७ ॥

वर्णमूषा की भांति पाषाण आदि से रहित श्वेतवर्ण मृतिका को आगे लिखे ये श्वेतवर्ग की तगर, कुटजत्वक्, चमेली, श्वेत गुञ्जा आदि औषधियों के कषाय से पांच सात भावना देकर बनाई हुई तथा क्षिति, खेचर कल्कलिप्त मूषा को 'रूप्यमूषा' कहते हैं। यह मूषा रजत, वंग आदि श्वेत धातु आदि को श्रेष्ठ और स्वच्छ करने के लिये प्रयुक्त होती है ॥ १७ ॥

विडमूषा—

तत्तद्भेदमृदोद्भूता तत्तद्विडविलेपिता ।
देहलोहार्थयोगार्थं विडमूषेत्युदाहृता ॥ १८ ॥

भिन्न भिन्न प्रकार की मृतिका अर्थात् काली मिट्टी, बांबी की रेतीली तथा चिकनी मिट्टियों से बनाई हुई और विभिन्न प्रकार के विड द्रव्यों के कल्क से लेप की हुई मूषा को 'विडमूषा' कहते हैं। यह मूषा शरीर को लोहवत् दृढ़ बनाने वाले योगों के सिद्ध करने में प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में विडमूषा का निर्माण इस प्रकार बताया गया है, "विडेन रचिता या तु विडेनैव प्रलेपिता। देहलोहार्थसिद्ध्यर्थ विडमूषेत्युदाहृता ॥" अतः कहीं "तत्तद्भेदमृदोद्भूता" के स्थान पर "तत्तद्विडमृदोद्भूता" ऐसा पाठ मिलता है ॥ १८ ॥

वज्रद्रावणोपयोगिमूषान्तरम्—

गारभूनागधौताभ्यां तुषमृष्टशणेन च ।
समैः समा च मूषामृन्महिषीदुग्धमर्दिता ॥ १९ ॥
क्रौञ्चिका यन्त्रमात्रे हि बहुधा परिकीर्तिता ।
तया विरचिता मूषा लिप्ता मत्कुणशोणितैः ॥ २० ॥
बालाब्दध्वनिमूलैश्च वज्रद्रावणक्रौञ्चिका ।
सहतेऽग्निं चतुर्यामं द्रवेण व्यथिता सती ॥ २१ ॥

कीचड़, केंचुओं की मिट्टी, तुषभस्म, मृष्ट शण (बारीक पीसा या कूटा हुआ सन) सब एक एक भाग, इन सब के बराबर मूषामृत्तिका लेकर सब को एकत्र भैंस के दूध से अच्छी तरह मर्दन कर बनाई हुई छोटी बड़ी मूषाओं को, नेत्रबाला, वनचौलाई की मूल को खटमलों के रक्त में पीस कर उसका लेपकर के सूखा लें। इसे "वज्रद्रावणमूषा" कहते हैं। अर्थात् इसमें हीरे को पिघलाया जाता है। यह मूषा द्रवपदार्थों से भरी हुई होकर भी आग में रखने पर चार पहर की अग्नि को सहन कर सकती है।

विशेष वचन—"तुषमृष्टशणेन" के स्थान पर "तुषमष्टगुणेन" ऐसा पाठ भी देखने में आता है। परन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि रसप्रकाशसुधाकर में इसके विषय में स्पष्ट लिखा है कि "तुषमध्या शणेन च।" पूर्वोक्त वज्रद्रावणार्थ बनाई हुई मूषाओं में भी "शणैर्दग्धतुषैरपि" ऐसा पाठ मिलता है। अतः "अष्टगुणेन" पाठ ठीक नहीं है। बाल शब्द का कोई नूतन अर्थ करते हैं। और कोई बाल शब्द से घोड़े के पूंछ के बाल अर्थ करते हैं। परन्तु रसप्रकाशसुधाकर में "बलारसेन" से खरेंटी अर्थ किया है। इसी तरह इसके बनाने में भी कुछ भिन्नता रसप्रकाशसुधाकर में देखी जाती है कि गार आदि द्रव्यों को भैंस के दूध में तीन दिन तक मर्दन कर १५ दिन तक रखने के बाद मूषा बनानी चाहिये। "गारभूनागधौताभ्यां" के स्थान पर "गृहभूनागसत्वेन" ऐसा पाठ भी वहीं मिलता है ॥ १९–२१ ॥

मूषाऽऽप्यायनम्—

द्रवे द्रवीभावमुखे मूषाया ध्मानयोगतः ।
चणमुद्धरणं यत्तन्मूषाऽऽप्यायनमुच्यते ॥ २२ ॥

मूषास्थित द्रावणोपयोगि द्रव्य के अग्नियोग से पिघलने की तय्यारी पर कुछ क्षण के लिये मूषा को अग्नि से हटा कर पुनः अग्नि में रख कर तपाना 'मूषाप्यायन' कहा जाता है। अर्थात् सहसा तीव्र अग्नि देने से अत्यन्त दृढ़ मूषा के भी फटने का डर रहता है अतः कुछ अग्नि देकर उसे सह्य करने के बाद पूरी अग्नि देने से उसके फटने का डार नहीं रहता है।

विशेष वचन—'द्रवे' के स्थान पर 'द्रव्ये' पाठ युक्तिसंगत प्रतीत होता है। क्योंकि द्रव वस्तु को स्वतः द्रवस्वरूप होने से द्रवोन्मुखता नहीं देखी जाती है। इसी बात को दृष्टि में रखते हुये रसेन्द्रचूडामणि में 'द्रवीभावमुपेयुष्याःमूषाया ध्मानयोगतः। क्षण-मुद्धरणं यत्तन्मूषाप्यायनमुच्यते ॥' ऐसा लक्षण किया है ॥ २२ ॥

वृन्ताकमूषा—

वृन्ताकाकारमूषायां नालं द्वादशकाङ्गुलम्।
धत्तूरपुष्पवच्चोर्ध्वं सुदृढं श्लिष्टपुष्पवत् ॥ २३ ॥
अष्टाङ्गुलञ्च सच्छिद्रं सा स्याद्वृन्ताकमूषिका।
अनया खर्परादीनां मृदूनांसत्त्वमाहरेत् ॥ २४ ॥

एक गोल बड़े बैंगन के आकार की मूषा बना कर उसके मुख पर आठ अंगुल लम्बी नली लगा दें, जिसका अग्रमुख धतूरे के पुष्पवत् आगे को चौड़ा फैला हुआ हो और नली में भीतर छिद्र हो। मूषा और नाल की संधिस्थान को अच्छी तरह संधिलेप करके सुखा लें। अत्र मूषा में औषधि भर कर अर्थात् खर्पर आदि मृदु द्रव्य भर, उनका सत्वपातन करें ॥ २३ ॥

गोस्तनी—

मूषा या गोस्तनाकारा शिखायुक्तपिधानका।
सत्त्वानां द्रावणे शुद्धौ मूषा सा गोस्तनी भवेत् ॥ २५ ॥

गोस्तन आकार की एक मूषा बना कर उसके मुख पर ऐसा पिधान (ढक्कन) रखें जो नीचे से ऊपर को शिखाकार (पतला) हो, पिधान के चौड़े भाग को मूषामुख में रख कर मूषा में द्रव्य डाल कर आवश्यकतानुसार पाक करें। यह मूषा सत्वद्रावण तथा शुद्धि के लिये प्रयुक्त होती है। इस मूषा का आकार गोस्तनवत् होने से इसे 'गोस्तनी' मूषा कहते हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में गोस्तनीमूषा को ही अन्धमूषा के नाम से लिया गया है "अन्धमूषा तु कर्तव्या गोस्तनाकारसन्निभा। पिधानकसमायुक्ता किञ्चिदुन्नतमस्तका ॥" रसप्रकाशसुधाकर में शिखाकार पिधान का कोई वर्णन नहीं है। "गोस्तनाकारमूषाया मुखोपरि विमुद्रिता"। परन्तु शिखायुक्त पिधान (ढक्कन) होने से मूषागत द्रव्यों की स्थिति देखने में सुविधा रहती है ॥ २५ ॥

मल्लमूषा—

निर्दिष्टा मल्लमूषा या मल्लद्वितयसम्पुटात्।
पर्पट्यादिरसादीनां स्वेदनाय प्रकीर्तिता ॥ २६ ॥

दो मिट्टी के शराव या सकोरों को लें एक में औषधि डाल कर इसको दूसरे सकोरे के साथ जोड़ कर बनाये जाने वाले सम्पुट रूप मूषा को 'मल्लमूषा' कहते हैं। यह मूषा पर्पटी आदि रसों के स्वेदन करने में प्रयुक्त होती है ॥ २६ ॥

पक्वमूषा—

कुलालभाण्डरूपा या दृढा च परिपाचिता।
पक्वमूषेति सा प्रोक्ता पोटल्यादिविपाचने ॥ २७ ॥

कुम्हार की बनाई हुई हांडी या घट के लिये बनाये हुये भिन्न २ कपाल के आकार की एक दृढ़ और अग्नि में अच्छी तरह पकाई हुई मूषा को 'पक्वमूषा' कहते हैं। क्योंकि इसे पहले ही अग्नि में पका कर जल आदि द्रव्य डाल कर प्रयुक्त करते हैं। यह मूषा पारद आदि द्रव्यों की पोटली को द्रवद्रव्यों के साथ इसमें डाल कर पकाने या स्वेदन करने के काम आती है ॥ २७ ॥

गोलमूषा—

निर्वक्त्रगोलकाकारा पुटनद्रव्यगर्भिणी।
गोलमूषेति सा प्रोक्ता सत्वरद्रवरोधिनी ॥ २८ ॥

मुख रहित (मुख के आकार में कण्ठ आदि प्रदेश रहित) गोल गेंद के आकार की एक मूषा बना उसमें पुट देने योग्य द्रव्य भर कर मुख भाग को बन्द करके बनाई हुई गोलाकार मूषा को 'गोलमषा' कहते हैं। इसमें पिघले हुये पदार्थ शीघ्र ही गिरने नहीं पाते हैं।

विशेष वचन—'सत्वरद्रवरोधिनी' के स्थान पर 'सत्वरं द्रव्य-शोधिनी' ऐसा पाठ भी पाया जाता है ॥ २८ ॥

महामूषा—

तले या कूर्पराकारा क्रमादुपरि विस्तृता।
स्थूलवृन्ताकवत्स्थूला महामूषेत्यसौ स्मृता ॥
सा चायोऽभ्रकसत्वादेः पुटाय द्रावणाय च ॥ २९ ॥

एक ऐसी मूषा बनायें, जो तल प्रदेश में कूर्पर (हाथ की कोहनी) आकार अर्थात् पतली कुछ नुकीली हो, और फिर क्रमशः ऊपर को चौड़ी होती जाय, जैसे मोटा नुकीला बैंगन होता है। इस प्रकार की स्थूलाकार, अर्थात् एक प्रकार से हवनकुण्ड (धातुनिर्मित) सी दीखती हो, मूषा को महामूषा कहते हैं। यह मूषा अभ्रक, लौह आदि धातुओं के सत्व को पुट देने अथवा पिघलाने के लिये प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—रसप्रकाशसुधाकर में इसका लक्षण इस प्रकार है—"अतिस्थूलाऽतिदीर्घा च मुखे किञ्चिच्च विस्तृता। महामूषेति सा प्रोक्ता सत्वरद्रव्यशोधिनी ॥"

मण्डूकमूषा—

मण्डूकाकारमूषा या निम्नताऽऽयामविस्तरा।
षडङ्गुलप्रमाणेन मूषा मण्डूकसंज्ञिका।
भूमौ निखन्य तां मूषां दद्यात्पुटमथोपरि ॥ ३० ॥

छः अंगुल लम्बी चौड़ी गहरी मण्डूक (मेंढक) आकार अर्थात् तलभाग की तरफ अधिकाधिक चौड़ी और मुख की तरफ कुछ संकुचित और पतली मूषा को 'मण्डूकमूषा' कहते हैं। इस मूषा में द्रव्य भर कर जमीन में एक बालिस्त गहरी गाड़ कर ऊपर से उपले आदि रख कर पुट दिया जाता है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इसको मञ्जूषमूषा के नाम से लिखा है। मञ्जूषा (कपड़े के बने हुये तनी वाले पुराने जमाने के) बटुवे को कहते हैं। तनी खींच कर बन्द किया हुआ बटुवा बहुत कुछ मेंढक के आकार से मिलता है। रसकामधेनु में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है, "षडङ्गुलप्रमाणेन मूषा मञ्जूषसंज्ञिता। मञ्जूषाकार मूषाया निम्नताकारविस्तरा। भूमौ निखन्य तां मूषां दद्यात्पुटमथोपरि ॥" रसप्रकाशसुधाकर में इसको रसमारणार्थ प्रयोग में लाने को लिखा है ॥ ३० ॥

मुषलमूषा—

मूषा या चिपिटा मूले वर्तुलाऽष्टांगुलोच्छ्रया।
मूषा सा मुषलाख्या स्याच्चक्रिबद्धरसे हिता ॥ ३१ ॥

मूलप्रदेश में चपटी और ऊर्ध्वभाग में गोलाकार आठ अंगुल ऊंची मूषा को 'मुषलमूषा' कहते हैं। यह मूषा स्त्रीरोगाधिकारोक्त 'चक्रिबद्धरस' निर्माणार्थ प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—रसप्रकाशसुधाकर में "अष्टांगुलोच्छ्रया" के स्थान पर "द्व्यङ्गुलाश्रया" ऐसा पाठ मिलता है। सम्भवतः इस का अभिप्राय मूषल के मुख पर चारों तरफ लगाई हुई लोहे की दो अंगुल चौड़ी पत्ती से हो ॥ ३१ ॥

कोष्ठिकाप्रस्तावः—

सत्त्वानां पातनार्थाय पातितानां विशुद्धये।
कोष्ठिका विविधाकारास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ ३२ ॥

लौह, अभ्रक, रत्न आदि अनेक पदार्थों के सत्वपातनार्थ तथा पतितसत्वों के शोधनार्थ विविध प्रकार और आकार की कोष्ठिका (भट्टियों) की आवश्यकता होती है। अतः उनका लक्षण कहा जाता है ॥ ३२ ॥

अंगारकोष्ठी—

राजहस्तसमुत्सेधा तदर्द्धायामविस्तरा।
चतुरस्रा च कुड्येन वेष्टिता मृण्मयेन च ॥ ३३ ॥
एकभित्तौ चरेद्द्वारं वितस्त्याभोगसंयुतम्।
द्वारं सार्द्धवितस्त्या च सम्मितं सुदृढं शुभम् ॥ ३४ ॥
देहल्यधो विधातव्यं धमनाय यथोचितम्।
प्रादेशप्रमिता भित्तिरुत्तरङ्गस्य चोर्द्धतः ॥ ३५ ॥
द्वारं चोपरि कर्त्तव्यं प्रादेशप्रमितं खलु।
ततश्चेष्टिकया रुद्ध्वा द्वारसन्धिं विलिप्य च ॥ ३६॥
शिखित्रैस्तां समापूर्य्य धमेद्भस्त्राद्वयेन च।
शिखित्रान् धमनद्रव्यमूर्द्ध्वद्वारेण निक्षिपेत् ॥ ३७॥
सत्त्वपातनगोलांश्च पञ्च पञ्च पुनः पुनः।
भवेदङ्गारकोष्ठीयं खराणां सत्त्वपातिनी ॥ ३८ ॥

एक ऐसी ईटों की भट्टी बनायें जिसकी ऊंचाई दो हाथ और चौड़ाई एक हाथ हो। परन्तु इसकी दीवार चौपहल होनी चाहिये। इस भट्टी के चारों तरफ आठ अंगुल स्थान छोड़ कर, चार अंगुल मोटी भट्टी के बराबर ऊंची एक और मिट्टी की गोल दीवार बनायें। इस बाहरी दीवार पर एक स्थान पर एक बालिस्त चौड़ा ऊंचा एक दरवाजा बना दें जिसके द्वारा भट्टी की राख आदि भी आसानी से बाहर निकाली जा सके। अब भट्टी के तल प्रदेश पर एक भित्ती (दीवार) में डेढ़ बालिस्त अर्थात् सोलह अंगुल गोलाई वाला एक द्वार या छिद्र बनायें। जिसमें धौंकनियों का मुख लगाकर भट्टी के कोयलों को तेज किया जासके। अब इस भट्टी की बाहरी दूसरी दीवार पर ऊपर की तरफ एक-प्रादेशमात्र अर्थात् दश अंगुल दीवार को छोड़कर दूसरा एक दस अंगुल चौड़ा लम्बा द्वार बनायें। किन्तु इसको एक ईंट से बन्द कर साधारण रूप से सन्धिलेप कर दें। अब भट्टी में खदिर, बेर आदि के कोयलों को भर कर बीच में सत्वपातनार्थ गोलकों को मूषा में भर कर रखें। और देहली प्रदेश पर बने हुए द्वार पर दो धौंकनियों का मुख लगा कर अग्नि डाल कर तेज धौंकना शुरू करें। जब मूषा में गोलक पिघल जाय या भट्टी में कोयले कम हो जायँ तो ऊपर के द्वार को (जिसे ईंट से बन्द कर रखा है) खोल कर उसके द्वारा कोयले या गोलक डालें। और पुनः उस द्वार को ईंट से पूर्ववत् बन्द करदें। प्रतिवार पांच २ गोलक डाल कर तपाया जाता है। इसे 'अंगारकोष्ठी' कहते हैं। यह खर (कठिन) द्रव्यों के सत्वपातन करने के लिये प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—यदि अंगारकोष्ठी में दो धौंकनियों को आमने सामने की दो दीवारों के तलप्रदेश पर लगा कर धौंका जाय तो और भी सुभीता रहता है। कोयलों और सत्वपातनार्थ गोलकों को ऊर्ध्वद्वार से डालने का अभिप्राय यह है कि भट्टी के ठीक ऊपर को कोयलों की तीव्र ज्वाला निकलने पर उनको ठीक तरीके पर नहीं डाला जा सकेगा। किन्तु ऊर्ध्वद्वार से उनको आसानी से डाला जा सकता है। भट्टी के चारों तरफ मिट्टी का कुड्य (डोली) इस रूप में बनाया जायगा कि जैसे आटा पीसने वाली चक्की के चारों तरफ चक्की के पत्थरों के बराबर ऊंची एक मिट्टी की दीवार बनाई जाती है और आगे की तरफ एक स्थान पर आटा निकलने के लिये खुली रखी जाती है। इसके होने पर धौंकने से अग्नि की ऊष्मा से रक्षा भी होती है। कुड्य में द्वार बनाने से यह भी अर्थ निकलता है कि धौंकनीमुख को भट्टी के तलप्रदेश पर आसानी से लगाया जा सकें ॥ ३३–३८ ॥

पातालकोष्ठी—

दृढभूमौ चरेद्वृत्तं वितस्त्या सम्मितं शुभम्।
वर्तुलं चाथ तन्मध्ये गर्त्तमन्यं प्रकल्पयेत् ॥ ३९ ॥

चतुरंगुलविस्तारनिम्नत्वेन समन्वितम्।
गर्ताद्धरणिपर्यन्तं तिर्यङ्नालसमन्वितम्॥ ४०॥
किञ्चित्समुन्नतं बाह्य-गर्ताभिमुखनिम्नगम्।
मृच्चक्रीं पञ्चरन्ध्राढ्यां गर्भगर्त्तोदरे क्षिपेत्॥ ४१॥
आपूर्य कोकिलैः कोष्ठीं ध्मापयेदेकभस्त्रया।
पातालकोष्ठिका ह्येषा मृदूनां सत्त्वपातिनी॥
ध्मानसाध्यपदार्थानां नन्दिना परिकीर्त्तिता॥ ४२॥

कठिन पृथ्वी भाग पर एक ऐसा गढ़ा बनावें जो एक बालिस्त (बारह अंगुल) लम्बा उतना ही चौड़ा और गोल हो अब गढ़े के मध्यतल प्रदेश में चार अंगुल चौड़ा तथा गहरा एक और गढ़ा बनायें जिसका मुख तिरछा होना चाहिये। इस तिरछे मुखवाले निम्नगर्त के मुख पर निचले सिरे से पृथ्वी तक एक तिरछी नली लगा दी जाती है। अब तिरछे मुख वाले गर्त के उपर पांच छिद्रयुक्त मिट्टी का फलक रख दें जिससे कोयले नीचे न गिरें और निम्नगर्त से नली द्वारा वायु भी अच्छी तरह कोयलों में पहुंच सके। पश्चात् मिट्टी के फलक के ऊपर कोष्ठी में कोयले भर कर उसमें ऊपर सत्वपातनार्थ मूषा रख ऊपर से कोयले भर कर नाल द्वारा धौंकनी से वायु अन्दर पहुँचाते हुये अग्नि दीप्त करके मृदु द्रव्यों का सत्वपातन करें। इस विधि से बनी हुई कोष्ठी को 'पातालकोष्ठी' कहते हैं। भट्ठी में धौंकने से सिद्ध होने वाले मृदु द्रव्यों के सत्वप्राप्ति के निमित्त नन्दी रसाचार्य ने इसे कोष्ठी का वर्णन किया है॥ ३९-४२॥

गारकोष्ठी—

द्वादशांगुलनिम्ना या प्रादेशप्रमिता तथा।
चतुरङ्गुलतश्चोर्ध्वं वलयेन समन्विता॥ ४३॥
भूरिच्छिद्रवतीं चक्रीं वलयोपरि निक्षिपेत्।
शिखित्रांस्तत्र निक्षिप्य ध्मापयेद्वंकनालतः॥
गारकोष्ठीयमाख्याता मृष्टलोहविनाशनी॥ ४४॥

बारह अंगुल गहरी तथा प्रादेश प्रमाण (दस या ग्यारह अंगुल) गोल चौड़ी एक मिट्टी की या लोहे की भट्ठी या अंगेठी सी बनावें। इसके तलभाग से चार अंगुल ऊंचाई पर भीतर की तरफ चारों ओर कुछ आगे को बढ़ा हुआ एक घेरा, जिसे वलय कहते हैं, बनावें। इस घेरे पर अनेक छिद्र युक्त जाली (जैसे अंगेठी में कोयलों को अटकाने के लिये होती है) रख दें, अब जाली पर कोयलों को भर कर वंकनाल द्वारा ध्मापन करें। इसको 'गारकोष्ठी' कहते हैं। यह शोधित धातुओं के भस्म करने के लिये प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—वंक (तिरछा) नाल द्वारा ध्मापन (धौंकना) होने से कई इसको तिर्यक्प्रधमन कोष्ठी भी कहते हैं। ग्रन्थान्तर में इस कोष्ठी का उपयोग मृदु सत्वों के पातनार्थ लिखा है॥ ४३-४४

वंकनालम्—

मूषामृद्भिर्विधातव्यमरत्निप्रमितं दृढम्।
अधोमुखं च तद्वक्त्रे नालं पञ्चाङ्गुलं खलु॥
वंकनालमिदं प्रोक्तं दृढध्मानाय कीर्त्तितम्॥ ४५॥

मूषा यन्त्र बनाने योग्य मिट्टी की एक अरत्नि (कोहनी से लेकर कनिष्ठिका अंगुलि के सिरे तक की लम्बाई) पर्यन्त लम्बी फूकने के लिये नली बनाई जाती है। यह भट्ठी की तरफ वाले निम्न मुख पर पांच अंगुल प्रमाण लम्बी नीचे को झुकी हुई एक दूसरी नली से युक्त होनी चाहिए। इस प्रकार की तेज धौंकने के लिये बनाई हुई नली को 'वंकनाल' कहते हैं।

विशेष वचन—सोनारों के पास बनी हुई पीतल आदि धातु की एक हाथ लम्बी फूकनी को (जिसका अगला सूक्ष्म मुख कुछ भीतर झुका हो) भी वंकनाल कहते हैं। सोनार इस नली को आभूषणों के अवयवों को जोड़ते समय दीपक की ज्वाला को धातु पर लाते हुये उपयोग में लाते हैं॥ ४५॥

सिद्धरसादीनां कोष्ठी—

कोष्ठी सिद्धरसादीनां विधानाय विधीयते।
द्वादशांगुलकोत्सेधा सा बुध्ने चतुरंगुला॥
तिर्यक्प्रधमनाऽऽस्या च मृदुद्रव्यविशोधनी॥ ४६॥

सिद्ध रस आदिओं के पाकार्थ एक अन्य कोष्ठी उपयोग में ली जाती है। जो बारह अंगुल ऊंची और तल प्रदेश में चार अंगुल गर्त या छिद्रयुक्त होती है। इसका धौंकनी वाला छिद्र तिरछा मुख होता है। इसमें धौंकनी लगाकर धौंका जाता है। इसे 'सिद्धरसकोष्ठी' कहते हैं। इस के द्वारा मृदुद्रव्यों का शोधन किया जाता है। कोई इसे मूषाकोष्ठी भी कहते हैं॥ ४६॥

(इति मूषाकोष्ठिकायन्त्राणि)

अथ पुटानि।

पुटस्य प्रयोजननिर्देशः—

रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम्।
नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम्॥ ४७॥

रस, उपरस, धातु आदि द्रव्यों के पाक (अग्नि या ऊष्मा द्वारा) प्रमाण को जानने के लिये पुट का प्रयोग होता है। अर्थात् किस द्रव्य को कितनी अग्नि से कितनी बार पकाना चाहिये इसके लिये उसे भिन्न २ औषधिओं के योग से भिन्न २ तापांश पर पकाना 'पुट' कहा जाता है। जो द्रव्य जितनी अग्नि में पकाने योग्य है उससे कम या अधिक पाक करना लाभदायक नहीं है। अतः योग्य अग्नि और योग्य विधि से परिपक्व औषधि हितकर होती है।

विशेष वचन—भिन्न २ द्रव्यों में विशेषतः धातुओं तथा पाषाणमय द्रव्यों में पृथक् २ प्रकार की अग्निसहन शक्ति होती

है। उससे कम पाक करने से उसमें परिपाकजन्य गुणान्तराधान नहीं होता है। और अधिक पाक करने से द्रव्यगत कार्यशील तत्व दग्ध हो जाते हैं। अतः रसशास्त्र के चिकित्सक को प्रत्येक धातु उपरसादि के द्रवणांक का पूरा ज्ञान होना चाहिये ॥ ४७ ॥

पुटस्य फलम्—

लोहादेरपुनर्भावो गुणाधिक्यं ततोऽग्रता ।
अनप्सु मज्जनं रेखापूर्णता पुटतो भवेत् ॥ ४८ ॥
पुटाद् ग्राव्णो लघुत्वं च शीघ्रव्याप्तिश्च दीपनम् ।
जारितादपि सूतेन्द्राल्लोहानामधिको गुणः ॥ ४९ ॥
यथाऽऽत्मनि विशेद्वह्निर्बहिस्थपुटयोगतः ।
चूर्णत्वाद्धि गुणावाप्तिस्तथा लोहेषु निश्चितम् ॥ ५० ॥

पुट के योग से ही लोह आदि धातुओं की भस्म निरुत्थ होती है, और उसमें गुण तथा श्रेष्ठता बढ़ जाती है। और पुट योग से ही गुरुभार धातुओं की भस्म जल में तैरने लगती है और रेखापूर्ण होती है। पुट देने से पद्मराग, स्फटिक आदि पाषाणमय द्रव्य लघु हो जाते हैं और वे आमाशय आदि अंगों की झिल्ली द्वारा शीघ्र ही शोषित होकर शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। तथा पाषाणमय होते हुये भी पुट के द्वारा उनमें अग्निदीपन शक्ति उत्पन्न हो जाती है। पुट के योग से बनाई हुई लौहादि धातुओं की भस्म, जारणसंस्कार युक्त पारद अथवा रससिन्दूर आदि से भी अधिक गुणशाली हो जाती है। जिस प्रकार मूषा में रखे हुये पुटनद्रव्य में बाहर से पुट देने पर अग्नि प्रवेश करती है और अग्नियोग से उस द्रव्य में लाघव तथा प्रदीपक आदि गुण प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार लोह आदि धातुओं को पुट देने से उनका चूर्ण होकर उनमें गुणविशेषता बढ़ जाती है। यह निश्चित है।

विशेष वचन—लौह आदि धातुओं में पुटयोग से क्या२ परिवर्तन हो जाते हैं यह लौहप्रकरण में लिखा जा चुका है। 'यथाऽऽत्मनि' के स्थान पर 'यथाश्मनि' पाठ उचित है। और 'चूर्णत्वाद्धि' के स्थान पर 'चूर्णत्वादि ऐसा पाठ अधिक रुचिकर है। पुटों के देने से अवशिष्टांश दोष भी नष्ट होते हैं। पुटों से भस्म करने पर भी धातुओं की भस्म को पुनः मित्रपञ्चक के साथ फूंक लेना चाहिये। यदि इसमें वह सत्यसिद्ध हो तो उसे काम में लावें अन्यथा नहीं। कच्ची भस्म के शरीर के अन्दर वहां के रासायनिक विश्लेषणों से फिर अपने स्वरूप को प्राप्त कर शरीर की जीवनशक्ति या सेलों को नष्ट करती है और उदरसम्बन्धी अनेक रोग पैदा कर शरीर को नष्ट कर देती है। अतः शीघ्रता से अल्प प्रयास द्वारा निर्मित औषधियां लाभदायक न होने से अपने रूप से जनता के विश्वास को हटाने में सहायक हो सकती हैं। वैज्ञानिकों का यह मत है कि प्रत्येक पदार्थ गुरुत्वाकर्षण के कारण आकाश की तरफ डालने पर पृथ्वी की ओर ही आता है। पुट देने से पदार्थ की यह अधोगमनशक्ति कम होने से उसकी भस्म आमाशयादि पाचक अंगों में देर तक रहेगी जिससे उस धातु या भस्म का पाचन ठीक होकर सूक्ष्म रूप से शरीर में अधिक से अधिक मात्रा में शोषित होकर रक्त से मिल करके सारे शरीर में फैल कर शरीर के भिन्न २ अंगों में होने वाली विकृति को दूर करने में समर्थ होती है। अतः पुट प्रयोग आयुर्वेदीय रसशास्त्र का एक अद्भुत विज्ञान है। इसी विज्ञान से इस शास्त्र में भिन्न २ पुटों से धातुओं आदि पर विभिन्न तापांश की अग्नि देने का अधिक प्रयत्न किया है। इससे नव्यमतावलम्बी का यह विचार कि 'दश पुटों की अग्नि को तोल कर एक ही बार में एक पुट द्वारा अग्नि देना' व्यर्थ हो जाता है ॥ ४८—५० ॥

महापुटम्—

निम्नविस्तरतः कुण्डे द्विहस्ते चतुरस्रके ।
वनोत्पलसहस्रेण पूरिते पुटनौषधम् ॥ ५१ ॥
क्रौञ्च्यां रुद्धं प्रयत्नेन पिष्टिकोपरि निक्षिपेत् ।
वनोत्पलसहस्रार्द्धं क्रौंचिकोपरि विन्यसेत् ॥
वह्निं प्रज्वालयेत्तत्र महापुटमिदं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

जमीन में एक ऐसा दृढ़ गढ़ा बनायें जिसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा गहराई दो हाथ और गोल हो। उसमें एक हजार जंगली उपले भर कर उन पर मूषा में बन्द की हुई पुट देने योग्य औषधि को रखें और इसके ऊपर पांच सौ अरने उपले और डाल कर गढ़ा भर दें और आग जलावें। इसको 'महापुट' कहते हैं।

विशेष वचन—महापुट आदि बड़े पुटों में अरने उपले भरने के बाद अग्नि देने या जलाने को लिखा है। परन्तु गढ़े को पूर्ण भर कर ऊपर से अग्नि रख कर जलाने से ऊपर के उपले व्यर्थ जलते हैं और औषधि का पाक भी ठीक नहीं होता है। गर्त के मुख तक उपले भरने के बाद ऊपर अग्नि जलाने से ऊपर से जलते २ गढ़े के बीच तक अग्नि के आने तक द्रव्य में कुछ भी अग्नि का प्रभाव नहीं होगा। बाद को ऊपर की अग्नि बुझ जाने से मूषा से नीचे गई हुई अग्नि के ऊपर राख हो जाने से वह अच्छी तरह जल नहीं सकती है और जलने पर आधे उपलों की ही अग्नि पुटन द्रव्य में लग सकती है। अतः मूषा या सम्पुट रखते समय ही सम्पुट के चारों तरफ जलते हुए कोयले या उपले रख देने चाहिये जिससे ऊपर तथा नीचे को एक साथ अग्नि फैले और एक समान तापांश द्रव्य को लगे ॥ ५१—५२ ॥

गजपुटम्—

राजहस्तप्रमाणेन चतुरस्रं च निम्नकम् ।
पूर्णञ्चोपलसाठीभिः कण्ठावध्यथ विन्यसेत् ॥ ५३ ॥
विन्यसेत्कुमुदीं तत्र पुटनद्रव्यपूरिताम् ।
पूर्णच्छगणतोऽर्धानि गिरिण्डान विनिक्षिपेत् ॥
एतद्गजपुटं प्रोक्तं महागुणविधायकम् ॥ ५४ ॥

भूमि में राजहस्त (सवा हाथ, ३० अंगुल) प्रमाण लम्बा चौड़ा और गहरा गोल एक पक्का गढ़ा बनायें, इसमें कण्ठ पर्यन्त भाग तक अरने उपले भर कर उन पर पुटनद्रव्य से युक्त मूषा या शरावसम्पुट रख कर पहिले डाले गये उपलों से आधे उपले ऊपर डाल दें। पुटनद्रव्यों में अत्यन्त गुणोत्पादक इस पुट का नाम 'गजपुट' कहा जाता है।

विशेष वचन—हाथ की लम्बाई साधारणतः २४ अंगुल होती है। राजहस्त (श्रेष्ठ हाथ) ३० अंगुल या सवा हाथ का माना जाता है। अत एव भावप्रकाश में गजपुट के लक्षण में "सपादहस्तमानेन कुण्डे निम्ने तथाऽऽयते" इत्यादि से इसको स्पष्ट कर दिया है। भावप्रकाश में राजहस्त को गजहस्त के नाम से भी लिया है "साधारणनरांगुल्या त्रिंशदंगुलको गजः"। कोष ग्रन्थों में गजप्रमाण दो हाथ और पौने दो हाथ, इस तरह दो प्रकार का बताया गया है। दो हाथ या ४८ अंगुल चौड़ा गहरा लम्बा गढ़ा बना कर जो पुट दिया जाता है उसे यहाँ पहिले ही महापुट के नाम से लिखा है अतः गज का राजहस्त का अर्थ दो हाथ उचित प्रतीत नहीं होता है। यदि पौने दो हाथ से ४२ अंगुल लम्बा चौड़ा गहरा गढ़ा लिया जाय तो यह व्यवहार सिद्ध नहीं है। रसराजमहोदधि में गजपुट का नाम सवा हाथ लिखते हुए भी उपलों की संख्या महापुटवत् डेढ़ हजार लिखी है ॥ ५३–५४ ॥

वाराहपुटम्—

इत्थं चारत्निके कुण्डे पुटं वाराहमुच्यते ॥ ५५ ॥

भूमि में एक अरत्नि लम्बा, एक अरत्नि चौड़ा और एक अरत्नि गहरा एक गढ़ा खोद कर उसके आधे भाग में जंगली उपलें भर कर मूषा रख के अवशिष्ट भाग को उपलों से भर कर पुट देने को 'वाराहपुट' कहते हैं।

विशेष वचन—मुट्ठी बन्द करके कनिष्ठिका (हाथ की सब से छोटी) अंगुली को खोल दें। इस अंगुली के अग्रभाग से कूर्पर (कोहनी) पर्यन्त प्रकोष्ठ भाग का माप "अरत्नि" शब्द से लिया जाता है। यह लगभग २० या २१ अंगुल होता है ॥ ५५ ॥

कुक्कुटपुटम्—

पुटं भूमितले यत्तद्वितस्तिद्वितयोच्छ्रयम् ।
तावच्च तलविस्तीर्णं तत्स्यात्कुक्कुटकं पुटम् ॥ ५६ ॥

भूमितल पर दो बालिस्त ऊंचा और दो बालिस्त चौड़ा जंगली उपलों से जो पुट दिया जाता है उसे 'कुक्कुटपुट' कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इस पुट को जमीन में गढ़ा खोद देने को पाया जाता है। अतः कई वैद्य भूमि में बारह अंगुल लम्बा चौड़ा गढ़ा बना कर भी पुट देते हैं। वितस्ति या बालिस्त बारह अंगुल की होती है ॥ ५६ ॥

कपोतपुटम्—

यत्पुटं दीयते भूमावष्टसंख्यैर्वनोत्पलैः ।
बद्ध्वा सूतार्कभस्मार्थं कपोतपुटमुच्यते ॥ ५७ ॥

पारद आदि लघु पुटन योग्य द्रव्यों की भस्म करने के लिये समतल पृथ्वी पर आठ जंगली उपलों से मूषा या लघु सम्पुट को ऊपर नीचे चारों ओर से बांध (वेष्टन [लपेट]) कर जो पुट दिया जाता है उसे 'कपोतपुट' कहते हैं।

विशेष वचन—कपोतपुट में मूषा को चारों तरफ से वेष्टन करने के लिये उपलों के टुकड़े कर सकते हैं ॥ ५७ ॥

गोवरस्वरूपम्—

गोष्ठान्तर्गोखुरक्षुण्णं शुष्कं चूर्णितगोमयम् ।
गोवरं तत्समादिष्टं वरिष्ठं रससाधने ॥ ५८ ॥

गोशाला में गौओं के खुरों से चूर्ण हुआ गोबर सूखने पर गोबर या गोर्वर कहलाता है। यह रससिद्धि में उत्तम माना जाता है॥

गोवरपुटम्—

गोवरैर्वा तुषैर्वापि पुटं यत्र प्रदीयते ।
तद्गोवरपुटं प्रोक्तं रसभस्मप्रसिद्धये ॥ ५९ ॥

शरावसम्पुट को गोबर या तुष के ढेर में रख कर आग लगा देने को 'गोवरपुट' कहा जाता है। यह पुट पारद भस्म बनाने में दी जाती है।

विशेष वचन—भावप्रकाश में एक बड़े भाण्ड में गोबरचूर्ण या तुषों को डाल कर उसके बीच में मूषा रख कर गोबरपुट देने को लिखा है इससे अग्नि तीव्र लगती है और कुछ देर तक रहती है, साथ ही इस पर बाह्य वायु का भी कम प्रभाव पड़ता है। इसी तरह जमीन में भी गढ़ा खोद कर गोवरपुट दिया जा सकता है।

भाण्डपुटम्—

स्थूलभाण्डे तुषापूर्णे मध्ये मूषासमन्विते ।
वह्निना विहिते पाके तद्भाण्डपुटमुच्यते ॥ ६० ॥

एक मज़बूत मोटे मिट्टी के पात्र के भीतर आधे भाग में तुष भर उसमें मूषा रख कर शेष भाग को भी तुषों से भर कर अग्नि प्रदीप्त करते हैं। इस प्रकार से जो पुट दिया जाता है उसे 'भाण्डपुट, कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में भाण्ड में तुष नीचे ऊपर और बीच में मूषा रख कर भाण्ड मुख को शराव से बन्द करके अग्नि डाल कर पकाने को लिखा है। ऐसी दशा में मुख बन्द कर देने से अग्नि जल नहीं सकती। अतः उस भाण्ड को चूल्हे पर रख नीचे आग जलाकर पकावें या भाण्ड में अग्नि डाल नाममात्र का ढक्कन रखें जिससे वायु आ जा सके।

बालुकापुटम्—

अधस्तादुपरिष्टाच्च क्रौंचिकाच्छाद्यते खलु ।
बालुकाभिः प्रतप्ताभिर्यत्र तद्बालुकापुटम् ॥ ६१ ॥

पुटनद्रव्ययुक्त मूषा को ऊपर नीचे गरम गरम रेत से आच्छादित कर देना 'बालुकापुट' कहाता है। अथवा एक दृढ़ मिट्टी के पात्र में आधा रेत डाल कर उस पर शरावसम्पुट या पुटनद्रव्य से

पूरित मूषा रख ऊपर रेत भर दें, शराव से पात्र का मुख बन्द कर सन्धिलेप कर दें। अब इस पात्र के चारों ओर जंगली उपले रख आग लगा दें। अथवा पात्र को चूल्हे पर रख नीचे आग जलावें॥

भूधरपुटम्—

वह्निमित्रां क्षितौ सम्यङ् निखन्याद्द्व्यंगुलादधः।
उपरिष्टात्पुटं यत्र पुटं तद्भूधराह्वयम्॥ ६२॥

भूमि में एक गढ़ा खोद कर उसमें औषधि-पूरित वह्निमित्रा (दीर्घकाल तक तपाने से भी न जलने वाली मूषा) को रख दें। मूषा का मुखाग्र दो अंगुल भूमितल से नीचा होना चाहिये। इसी तरह गढ़े में भी मूषा के चारों ओर दो अंगुल स्थान खाली होना चाहिये। इस खाली जगह में बालू या रेत भर दें, मूषा के मुख पर भी दो अंगुल रेत आ जानी चाहिये। अब इस पर उपलों को रख कर आग दें। इसे 'भूधरपुट' कहते हैं।

विशेष वचन—भूधरपुट का साधारण यह अर्थ होते हुये भी कि "पृथ्वी में एक ऐसा गढ़ा खोदें जिसमें मूषा रखने से वह (मूषा) जमीन के ऊपरी तल से दो अंगुल नीचे रहे और उसके ऊपर उपलों की आग देनी चाहिये।" तन्त्रान्तर के अनुसार पूर्वोक्त अर्थ किया गया है। तन्त्रान्तर में ऐसा लिखा है कि "वालुकागूढ़सर्वांगां गर्ते मूषां रसान्विताम्। दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम्॥"

लावकपुटम्—

ऊर्ध्वं षोडशिका मात्रैस्तुषैर्वा गोवरैः पुटम्।
यत्र तल्लावकाख्यं स्यात्सुमृदुद्रव्यसाधनं॥ ६३॥

जमीन के ऊपर समतल भाग में धान के तुष या गोवरचूर्ण की षोडशिका (१ पल) प्रमाण ढेरी के बीच में मूषा रख कर जो पुट दिया जाता है उसे 'लावकपुट' कहते हैं। इस प्रकार का पुट अत्यन्त मृदुद्रव्य-साधन के लिये दिया जाता है।

विशेष वचन—कइयों ने इस प्रकार वर्णन किया है कि जमीन पर एक बालिस्त भर ऊंची और चौड़ी गोबर या तुषों की ढेरी में जो पुट दिया जाता है, उसे लावकपुट कहते हैं' यही अर्थ सब से अधिक रुचिकर है। कहीं २ 'मात्रैः' के स्थान पर 'मूत्रैः' पाठ मिलता है जो उचित प्रतीत नहीं होता है। इसका अर्थ यह होता है कि'एक पल से अधिक गोमूत्र से युक्त तुष या गोबर से पुट दें'॥ ६३॥

अनुक्तपुटमाने कर्तव्यनिर्देशः—

अनुक्तपुटमाने तु साध्यद्रव्यबलाबलात्।
पुटं विज्ञाय दातव्यमूहापोहविचक्षणैः॥ ६४॥

जिस धातु या रस के पाक करने में जहाँ पुट का प्रमाण (कितने उपलों का और कितने पुट का) न दिया गया हो वहाँ साध्य (पुट द्रव्य) द्रव्य के बलाबल (मृदुता कठोरता आदि) को देख कर ऊहापोह द्वारा पुट (मृदु, महापुट) का विचार स्वयं ही कर लेना चाहिये॥ ६४॥

उपलपर्यायाः—

पिष्टकं छगणं छाणमुत्पलं चोपलं तथा।
गिरिण्डोपलसाठी च वराटी छगणाभिधाः॥ ६५॥

पिष्टक, छगण, छाण, उत्पल, उपल, गिरिण्ड, उपलसाठी तथा वराटी, ये सूखे जंगली उपलों के नाम हैं॥ ६५॥

अकृत्रिमकृत्रिमलोहानि—

सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रपु सीसकमायसम्।
षडेतानि च लोहानि कृत्रिमौ कांस्यपित्तलौ॥ ६६॥

सुवर्ण, रजत (चांदी) तांबा, रांगा, सीसा तथा लोहा, ये छः धातु अकृत्रिम हैं अर्थात् इनके अपने स्वतन्त्र तत्त्व होते हैं। कांसा और पीतल ये धातु कृत्रिम (दो धातुओं के योग से बने हुए) हैं। इस तरह सब मिला कर आठ धातु मानी जाती हैं॥ ६६॥

षड्लवणानि

लवणानि षडुच्यन्ते सामुद्रं सैन्धवं विडम्।
सौवर्चलं रोमकञ्च चूलिकालवणं तथा॥ ६७॥

सामुद्र, सेन्धा, विड, सौंचल, रोमक (सांभर), चूलिकालवण (नौसादर), ये 'छः लवण' या 'लवणवर्ग' हैं॥ ६७॥

क्षारत्रयम्—

क्षारत्रयं समाख्यातं यवसर्जिकटंकणम्॥ ६८॥

यवक्षार, सज्जीखार और सुहागा इसे 'क्षारवर्ग; अथवा 'तीन क्षार' कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में तिल, अपामार्ग, पलाश, सेहुण्ड, कदली तथा इमली आदि के क्षारों को मिला कर आठ क्षार पाये जाते हैं। जिनका रस, उपरस कार्यों में प्रयोग होता है। परन्तु इन सब में प्रधानतम होने से यहाँ पर इन तीनों का ही परिगणन किया है। अप्रधान क्षारों का पृथक् आगे वर्णन किया है।

क्षारपञ्चकम्—

पलाशमुष्ककक्षारौ यवक्षारः सुवर्चिका।
तिलनालोद्भवः क्षारः संयुक्तं क्षारपञ्चकम्॥ ६९॥

पलाशक्षार, मोरवाक्षार, यवक्षार, सज्जीखार तथा तिलनालक्षार इन पांचों के योग को 'क्षारपञ्चक' कहते हैं।

विशेष वचन—रसादि कार्यों में प्रयुक्त होने वाले क्षारोंको पृथक् २ न लिख कर वर्ग रूप में लिखा गया है। जहाँ पाँच क्षारों की आवश्यकता हो वहाँ क्षारपञ्चक और जहाँ तीन की आवश्यकता में क्षारत्रय लेना चाहिये। ग्रन्थान्तर में यवक्षार, सर्जक्षार को भी क्षारद्वय के नाम से लिखा है॥ ६९॥

मधुरत्रयम्—

घृतं गुडो माक्षिकं च विज्ञेयं मधुरत्रयम् ॥ ७० ॥

घृत, गुड़ तथा माक्षिक (मधु) इन तीनों को 'मधुरत्रय' शब्द से कहा जाता है।

विशेष वचन—त्रिमधुर भी इन्हीं तीनों का नाम है ॥ ७० ॥

रसकर्मणि तैलयोनिफलानि—

कंगुणी-तुंबिनी-घोषा-करीर-श्रीफलोद्भवम् ।
कटुवार्त्ताकसिद्धार्थसोमराजीविभीतजम् ॥ ७१ ॥
अतसीजं महाकाली-निम्बजं तिलजं तथा ।
अपामार्गोद्देवदाली-दन्ती-तुम्बुरुविग्रहात् ॥ ७२ ॥
अंकोलोन्मत्तभल्लातपलाशेभ्यस्तथैव च ।
एतेभ्यस्तैलमादाय रसकर्मणि योजयेत् ॥ ७३ ॥

कंगुणी (मालकागुनीबीज), कड़वीतुम्बी, कड़वीतोरी के बीज, करीर के बीज, बेल के बीज, कड़वे बैंगन के बीज, सरसों, बावची, बहेडे की मींगी, अलसी- बीज, बकायनबीजमज्जा, निम्बबीजमज्जा, तिल, अपामार्ग, बन्दाल, दन्ती (जमालगोटा), नैपालीधनिया, अंकोल, धत्तूर (धतूरा), भिलावा तथा पलाश (ढाक) के बीजों में से तैल निकाल कर रसकर्म में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—रसकामधेनु में कुसुम्भ, करञ्ज, एरण्ड तथा राई का तैल भी रसकर्म में प्रयुक्त करने को लिखा है ॥ ७१-७३॥

वसावर्गः—

जम्बूकमंडूकवसा वसा कच्छपसम्भवा ।
कर्कटीशिशुमारी च गोशूकरनरोद्भवा ॥
अजोष्ट्रखरमेषाणां महिषस्य वसा तथा ॥ ७४ ॥

गीदड़, मेंढक, कछुआ, केकड़ा, गोह (अथवा जलीय जन्तु जो नौले के आकार का होता है) गाय, सूअर, मनुष्य, बकरी, ऊंट, गधा, मेड़ा तथा भैंसा इनकी चर्बी को 'वसावर्ग' कहा जाता है। ये भी रसकर्म में भावना देने के निमित्त प्रयुक्त होती हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में उक्त जीवों के अतिरिक्त मत्स्य, सिंह, उल्लू, घोड़े की चर्बी को भी रसकर्म में प्रयोग करने के लिये पाया जाता है ॥ ७४ ॥

मूत्रवर्गः—

मूत्राणि हस्ति-करभ-महिषी-खरवाजिनाम् ।
गोऽजावीनां स्त्रियः पुंसां पुष्पं बीजं तु योजयेत् ॥७५॥

हाथी, ऊंट, गधा तथा घोड़ा, इन सब के पुरुषजाति के मूत्र लें। तथा भैंस, गाय, बकरी, भेड़ इन प्राणियों के स्त्रीजाति के मूत्र लें। यह 'मूत्रवर्ग' कहाता है मूत्रवर्ग की भांति रसकर्म में स्त्री का आर्तव और पुरुष का वीर्य भी उपयोग में आता है।

विशेष वचन—यद्यपि यहां हस्ति (हाथी) आदि के बीच में ही "महिषी" को पढ़ा है परन्तु उसके स्त्रीलिंग होने से भैंस (स्त्री जाति) ही का ग्रहण है। वस्तुतः "स्त्रियः" "पुंसां" ये पद हाथी आदि की पुरुष वा स्त्री जाति के निर्देश के लिये नहीं हैं ये तो नारी और नर के मूत्र लेने के लिये कहे गये हैं। अन्यत्र भी कहा है—"नरतुरगकुञ्जरोष्ट्रकखरमहिषमेषगोजाभिः। नार्याश्च मत्रदशकं दशभिः स्मृतमेभिरेवात्र॥" इस प्रकार ये दशमूत्र हैं, जिनका रसकर्मशोधन प्रक्षालनादि कार्यों में प्रयोग होता है। यदि नर और नारी का मूत्र न लिया जाय तो शेष मूत्राष्टक कहाता है। रसार्णव में मूत्रपञ्चक कहा है। "हस्त्यश्वच्छागनारीणां मूत्रं गव्यं च पञ्चमम्।" इसी तरह स्त्री के आर्तव का भी रसकर्म में प्रयोग देखा जाता है। परन्तु ग्रन्थान्तर में "पुष्पं बीजं च योजयेत्" के स्थान पर "मूत्रवर्ग उदाहृतः" ऐसा पाठ है ॥ ७५ ॥

पञ्चमाहिषम्—

माहिषाम्बु दधि क्षीरं साभिघारं शकृद्रसः ।
तत्पञ्चमाहिषं ज्ञेयं—

भैंस का मूत्र, दही, दूध, घृत और भैंस का ही गोबररस इन पांचों को 'पञ्चमाहिष' कहा जाता है।

छागलपञ्चकम्—

—तद्वच्छागलपञ्चकम् ॥ ७६ ॥

इसी तरह बकरी का मूत्र, दही, दूध, घृत और बकरी के गोबररस को 'छागलपञ्चक' कहते हैं ॥ ७६ ॥

अम्लवर्गः—

अम्लवेतस-जम्बीरी-निम्बूकं बीजपूरकम् ।
चाङ्गेरी चणकाम्लञ्च अम्लीकं कोल-दाडिमम् ॥ ७७ ॥
अम्बष्ठा तिन्तिडीकञ्च नारङ्गं रसपत्रिका ।
करमर्दं तथा चान्यदम्लवर्गः प्रकीर्त्तितः ॥ ७८ ॥
चणकाम्लश्च सर्वेषामेक एव प्रशस्यते ।
अम्लवेतसमेकं वा सर्वेषामुत्तमोत्तमम् ॥
रसादीनां विशुद्ध्यर्थं द्रावणे जारणे हितम् ॥ ७९ ॥

अम्लवेत, जम्बीरी नींबू, कागजी नींबू, बीजौरा नींबू, चांगेरी, चणकाम्ल (चणे का खार), इमली, बेर, अनार (खट्टा), अम्बाड़ा, तिन्तिड़ीक (विषांबिलजिरिस्क), नारंगी, कपित्थ, करमर्द (करौंदा), इनको तथा अन्य जो पदार्थ अम्लरसयुक्त हों वे सब अम्लवर्ग में लिये जाते हैं। अम्लवर्ग के द्रव्यों में चणकाम्ल सबसे अच्छा अथवा अम्लवेत ही सबसे उत्तम अम्ल है। अर्थात् अम्लवर्गोक्त सर्व औषधियों के न मिलने पर केवल चणकाम्ल या वेतसाम्ल से अच्छी तरह कार्य हो सकता है। ये दोनों मुख्य अम्लद्रव्य रस आदि द्रव्यों की शुद्धि, जारण तथा द्रावणकर्म में प्रयुक्त होते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में मद्य और काञ्जी आदियों को अम्लवर्ग में लिखा है। यथा "अन्यान्यम्लानि सर्वाणि मद्यानि च

विशेषतः । सवधान्यसमुद्भूतं काञ्जिकं तुषजातयः । अत्र कोद्रववर्ज्यञ्च प्रशस्तं 'यवकाञ्जिकम्' " ॥ ७७—७९ ॥

अम्लपञ्चकम्—

कोलदाडिमवृक्षाम्लचुल्लिकाचुक्रिकारसः ।
पञ्चाम्लकं समुद्दिष्टं तच्चोक्तं चाम्लपञ्चकम् ॥ ८० ॥

बेर, दाड़िम, विषांविल, चुल्लिका और चूका इन पांच द्रव्यों को 'पञ्चाम्ल' तथा 'अम्लपञ्चक' कहा जाता है ।

विशेष वचन—चुल्लिका शब्द अम्लवाचकद्रव्यविशेष में बहुत ही अल्प देखा जाता है । चक्रसंग्रह में "चुल्लिका" के स्थान पर "चुक्रीका" ऐसा पाठ मिलता है, 'कोलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रीकाचुक्रिकारसः । पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्तृष्णां नियच्छति ॥" अतः "चुक्रीका" ऐसा पाठ उचित है । चुक्रिका खट्टे पालक वा कुलफे को कहते हैं ॥ ८० ॥

पञ्चमृत्तिका—

इष्टिका गैरिका लोणं भस्म वल्मीकमृत्तिका ।
रसप्रयोगकुशलैः कीर्त्तिताः पञ्च मृत्तिकाः ॥ ८१ ॥

ईंट का चूर्ण, गेरू, लोण (सेन्धानमक), भस्म (राख) तथा बांबी की मिट्टी इन पांच वस्तुओं को रसप्रयोग में कुशल वैद्यों ने 'पञ्चमृत्तिका' शब्द से कहा है ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में "भस्म" के स्थान पर "धूम" पाठ मिलता है । "वल्मीकमृत्तिका धूमं गैरिकं चेष्टिका पटुः । इत्येता मृत्तिकाः पञ्च"

विषवर्गः—

शृङ्गीकं कालकूटं च वत्सनाभं सकृत्रिमम् ।
पित्तं च विषवर्गोऽयं स वरः परिकीर्त्तितः ॥ ८२ ॥
रसकर्मणि शस्तोऽयं तद्भेदनविधावपि ।
अयुक्त्या सेवितश्चायं मारयत्येव निश्चितम् ॥ ८३ ॥

१—शृंगिक विष (सिंगिया), २—कालकूट विष, ३—वत्सनाभ (मिठा तेलिया), ४—कृत्रिम विष (बनावटी मल-मूत्र-नख आदि संयोगज विष), ५—पीत (हलदिया विष) इनके समुदाय को 'विषवर्ग' कहा जाता है । यह विषवर्ग पारदकर्म तथा पारदबन्धन कर्म में उत्तम माना जाता है । इन विषों का अयुक्तिपूर्वक सेवन (अन्तः प्रयोग) करने से निश्चित ही मृत्यु हो जाती है ।

विशेष वचन—"सकृत्रिमम्" के स्थान पर "च साक्तुकम्" पाठ योग्य है । इसी तरह "तद्भेदनविधावपि" के स्थान पर रसकर्म में "तद्बन्धनविधावपि" ऐसा पाठ उचित है । रेचन से यहाँ पर कोई अर्थ नहीं निकलता है । कहीं कहीं पर "पीतं" के स्थान पर "पित्तं" ऐसा देखा जाता है । पित्त शब्द से विषैले प्राणियों का विषात्मक पित्त लिया जाता है । परन्तु ग्रन्थान्तरोक्त पञ्चमहाविषों में पित्त का निर्देश नहीं पाया जाता है । जैसे—"शृंगिकः कालकूटश्च मुस्तको वत्सनामकः । सक्तुकश्चेति योगोऽयं महापञ्चविषाभिधः ॥" अन्यत्र नौ या अठारह तथा अनेक विष माने गये हैं ॥८२-८३॥

उपविषवर्गः—

लाङ्गली विषमुष्टिश्च करवीरं जया तथा ।
नीलकः कनकोऽर्कश्च वर्गो ह्युपविषात्मकः ॥ ८४ ॥

कलिहारी, कुचला, सफ़ेद कनेर की छाल, भांग, भिलावाबीज, धत्तूराबीज, सफ़ेद मदार की मूलत्वक् इनको 'उपविषवर्ग' कहते हैं ।

विशेष वचन—मतान्तर में सेहुण्डदुग्ध, श्वेतगुञ्जा तथा अहिफेन भी उपविष जाति में कहे जाते हैं । रसेन्द्रचूड़ामणि में "दीपनः पाचनो भेदी रसे क्वापि च युज्यते" इतना अधिक पाठ मिलता है ॥ ८४ ॥

दुग्धवर्गः—

हस्त्यश्व-वनिता धेनुर्गर्दभी छागिकाविका ।
उष्ट्रिकोदुम्बराश्वत्थभानुन्यग्रोधतिल्वकम् ॥ ८५ ॥
दुग्धिका स्नुग्गणश्चैव तथैवोत्तमकण्टिका ।
एषां दुग्धैर्विनिर्दिष्टो दुग्धवर्गो रसादिषु ॥ ८६ ॥

हथिनी, घोड़ी, स्त्री, गाय, गधी, बकरी, भेड़, ऊंटनी इन जंगम जीवों का दूध तथा स्थावरों में गूलर, पीपलवृक्ष, आक, बड़, तिल्वक (रेचक द्रव्य), दूधी तथा सेहुण्डथूहर आदि थूहर की जाति, तथा बड़ी दन्ती या जमालगोटे के दूध को 'दुग्धवर्ग' कहते हैं । यह रसादि की सिद्धि या कर्म में प्रयुक्त होता है ।

विशेष वचन—"उत्तमकंटिका" के स्थान पर "उत्तमकर्णिका" पाठ भी है ॥

विड्वर्गः—

पारावतस्य चाषस्य कपोतस्य कलापिनः ।
गृध्रस्य कुक्कुटस्यापि विनिर्दिष्टो हि विङ्गणः ।
शोधनं सर्वलोहानां पुटनाल्लेपनात्खलु ॥ ८७ ॥

कबूतर (घरेलू), नीलकण्ठ या स्वर्ण चातक, जंगली कबूतर, मोर, गीध, मुर्गा इनकी विष्ठा के समुदाय को 'विङ्गण' कहते हैं । यह सब धातुओं पर नींबूरस या काञ्जी के साथ पीस कर लेप करके लघुपुट देने से उनकी शुद्धि करता है ॥

रक्तवर्गः—

कुसुम्भं खदिरो लाक्षा मंजिष्ठा रक्तचन्दनम् ।
अक्षी च बन्धुजीवश्च तथा कर्पूरगन्धिनी ।
माक्षिकं चेति विज्ञेयो रक्तवर्गोऽतिरञ्जनः ॥ ८८ ॥

कसूम पुष्प, केत्था, लाख, मजीठ, लाल चन्दन, रक्त कमल, दुपहरिया पुष्प (जो दोपहर में ही खिलता है), कपूरकचरीपुष्प, या हरिद्राविशेष तथा मधु या स्वर्णमाक्षिक इनके समुदाय को 'रक्तवर्ग' कहते हैं । यह वर्ग पारद आदि द्रव्यों के रञ्जन (रंगने) के प्रयोग में काम आता है ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में दाडिमत्वक्, नारंगीत्वक्, धान के पुष्प, मेंहदी के पत्र, हरिद्रापुष्प आदि भी रक्तवर्ग में लिखे हुये पाये जाते हैं। रसार्णव में मञ्जिष्ठा, केशरकाश्मीरी, लालचन्दन, कत्था, तथा विजयसारपुष्प को ही रक्तवर्ग में लिखा है। "अक्षी" के स्थान पर "अक्षीवम्" पाठ होने पर रक्तशोभाञ्जनपुष्प अर्थ किया जाता है परन्तु रसेन्द्रचूड़ामणि में "अक्षी" पाठ मिलता है। इस वर्ग के द्रव्य रक्त की शुद्धि तथा वृद्धि करने वाले होने के कारण रक्तवर्ग के नाम से कहे जाते हैं। माक्षिक शब्द स्वर्णमाक्षिक तथा मधु इन दो द्रव्यों में व्यवहृत होता है। परन्तु रक्तवर्ग के क्वाथ से जब भावना देनी होती है तब स्वर्णमाक्षिक अर्थ ठीक नहीं होता है और न ही मधु का क्वाथ होता है। हां, मधु के बिना पकाये हुये ही जल मिला कर या बिना जल के ही भावना के लिये काम में ला सकते हैं। कुछ लोगों का विचार है माक्षिक में जो लाल रंग है वह जल में घुल जाता है, उस जल से भावना का कार्य हो सकता है। परन्तु भावनार्थ "मधु" अर्थ अधिक सुविधाजनक है ॥ ८८ ॥

पीतवर्गः

किंशुकः कर्णिकारश्च हरिद्राद्वितयं तथा।
पीतवर्गोऽयमादिष्टो रसराजस्य कर्मणि ॥ ८९ ॥

ढाक के फूल, अमलतास के फूल, हल्दी तथा दारुहल्दी इनको 'पीतवर्ग' कहते हैं। इसका भी पारद के रञ्जन आदि कर्म में उपयोग होता है।

विशेष वचन—रसार्णव में कुसुम्भ, पतंग तथा मदयन्तिका भी पीतवर्ग में लिखे गये हैं ॥ ८९ ॥

श्वेतवर्गः—

तगरः कुटजः कुन्दो गुञ्जा जीवन्तिका तथा।
सिताम्भोरुहकन्दश्च श्वेतवर्ग उदाहृतः ॥ ९० ॥

तगर, कुटज (कुडा), चांदनीपुष्प (कुन्दपुष्प), श्वेत गुञ्जा, जीवन्तीशाक, श्वेत कमल, विदारीकन्द इनको 'श्वेतवर्ग' कहते हैं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में श्वेत पुष्प वाली औषधियों को भी श्वेतवर्ग में लिया गया है। "शुक्लपुष्पसंज्ञेयो गणः शुक्लाख्यसंज्ञकः"। यह वर्ग वंग, रजत आदि की श्वेतता बढ़ाने के लिये प्रयुक्त होता है ॥ ९० ॥

कृष्णवर्गः—

कदली कारवल्ली च त्रिफला नीलिका नलः।
पंकः कासीसदालाम्रं कृष्णवर्ग उदाहृतः ॥ ९१ ॥

केला, करेला (छोटा), त्रिफला, नील (नीलिनी), क्षुप, नरसल, कीचड़, कसीस, कच्चा आम्रफल या आम्रमज्जा इन द्रव्यों को 'कृष्णवर्ग' कहा जाता है।

विशेष वचन—रसकामधेनु में 'पङ्क' के स्थान पर 'पञ्च' और 'कारवल्ली' के स्थान पर 'क्रूरवल्ली' पाठ पाया जाता है ॥ ९१ ॥

रक्तवर्गादीनां प्रयोजननिर्देशः—

रक्तवर्गादिवर्गैश्च द्रव्यं यज्जारणात्मकम्।
भावनीयं प्रयत्नेन तद्रागाप्तये खलु ॥ ९२ ॥

जारण करने योग्य द्रव्य को, रक्त, पीत, कृष्ण तथा श्वेत जिस वर्ण में रंगना अभीष्ट हो उस रक्त पीत वर्गोक्त सम्पूर्ण अर्ध या निर्दिष्ट औषधियों के क्वाथ स्वरस में अनेक बार भावना देकर जारण वा पुटनकर्म करना चाहिये ॥ ९२ ॥

शोधनीयगणः—

काचटंकणशिप्राभिः शोधनीयो गणो मतः ॥ ९३ ॥
सत्त्वानां बद्धसूतस्य लोहानां मलनाशनः।
कापालीकङ्कुणध्वंसी रसवादिभिरुच्यते ॥ ९४ ॥

काच (लवण-मृतिकाविशेष), सुहागा तथा शिप्रा (सीप) इन द्रव्यों को 'शोधनीयगण' कहा जाता है। यह गण धातु आदि के सत्व तथा बद्ध पारद और लोहों (धातु) के मल को दूर करने के लिये प्रयुक्त होता है। इसको रसशास्त्रियों ने धातु उपरस आदि में स्थित कापालिक दोष (कुष्ठकारक विकृति जो कि उनमें विष, कंकड़, पत्थर, मिट्टी आदि के रूप में खनिज होती हैं) को नष्ट करने वाला कहा है।

विशेषवचन—शोधनीयगण के विषय में दो विचार देखे जाते हैं। पहला विचार उक्तरूप में है, दूसरा विचार 'मलनाशनः' गणसम्बन्धी है। जो लोग पृथक् मलनाशन मानते हैं वे 'कापाली, कङ्गुणध्वंसी' ऐसा पाठ पढ़ते हैं। कापाली (हिंस्रा) कङ्गुण से प्रियंगु और ध्वंसी से अखरोट-विशेष का अर्थ करते हैं। परन्तु रसेन्द्रचूड़ामणि में जिससे यह पाठ मिलता है 'कापालिकागणध्वंसी' पाठ देखने में आता है। साथ ही कापालिका आदि औषधियों का ठीक निश्चय भी नहीं हो सकता है। अतः हमने शोधनीयवर्ग में ही इसको लिखा है ॥ ९३—९४ ॥

लोहकाठिन्यनाशनो योगः—

महिषी मेषशृङ्गी च कलिङ्गो धवबीजयुक्।
शशास्थीनि च योगोऽयं लोहकाठिन्यनाशनः ॥ ९५ ॥

महिषीकन्द (श्वेतालु), मेढासिंगी, इन्द्रजौ, धवबीज तथा शश (खरगोश) की अस्थि, इन सब का एकत्र योग 'लोहकाठिन्यनाशकवर्ग' कहाता है। अर्थात् युक्त द्रव्यों के योग से धातुओं में मृदुता आजाती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचूड़ामणि के अनुसार 'महिषीमेषशृंगी च' के स्थान पर 'महिषीमेषशृंगोऽत्र' पाठ मिलता है और यही पाठ रुचिकर प्रतीत होता है। शृंग में अस्थि की अपेक्षा phosphat अधिक होता है जो कि साधारण खटिक तथा चूने से अधिक मृदुता तथा स्वच्छता करने वाला माना जाता है। अतः यहां पर भैंस तथा मेढा के सींग लेने चाहिये। कहीं १ 'महिषीमेढाण्डगर्भः' ऐसा पाठ भी देखा जाता है ॥ ९५ ॥

द्रावणगणः—

गुडगुग्गुलुगुञ्जाऽऽज्यसारघैष्टङ्कणान्वितः ।
दुर्द्रावाखिललोहादेर्द्रावणाय गणो मतः ॥ ६६ ॥

गुड़, गूगल, श्वेतगुञ्जा, घृत, मधु तथा सुहागा, इन सब पदार्थों को 'द्रावणगण' कहा जाता है। यह अत्यन्त कठिनता से पिघलने वाले धातुओं को पिघलाने में काम आता है। द्रुतिकर्म में इसका उपयोग अधिक होता है।

विशेष वचन—अन्यत्र गुड़, गुञ्जा, मधु घृत तथा टंकण इन पांचों को ही 'द्रावकवर्ग' माना गया है ॥ ६६ ॥

क्षाराम्लविषस्नेहानां कार्यम्—

क्षाराः सर्वे मलं हन्युरम्लं शोधनजारणम् ।
मान्द्यं विषाणि निघ्नन्ति स्नैग्ध्यं स्नेहाः प्रकुर्वते ॥६७॥

यवक्षार आदि पूर्वोक्त क्षारों के साथ धातु आदियों का मर्दन आदि क्रिया करने से धातुगत मल की शुद्धि होती है। अम्लद्रव्यों के साथ मर्दनादि कर्म से शोधन तथा जारण क्रिया की जाती है। विषों के साथ पारद आदि का मर्दन करने से उसमें तीव्रता बढ़ जाती है। कंगुणी आदि के तैलों के योग से धातुओं में जड़ता का दोष नष्ट होकर स्निग्धता की शक्ति आ जाती है ॥ ६७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भट्टाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये मूषाकोष्ठिकापुटादिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः

रसशोधनादिकथनम् ।

अथ मानपरिभाषा—

षट्त्रुटयश्च कलिक्षा स्यात्षड्लिक्षा यूकमुच्यते ।
षड्यूकास्तु रजःसंज्ञं कथितं तव सुव्रते ! ॥ १ ॥
षड्जः सर्षपः साक्षात्सिद्धार्थः स च कीर्तितः ।
षट्सिद्धार्थेन देवेशि ! यवस्त्वेकः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥
षड्यवैरेकगुञ्जा स्यात्त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते ।
षड्भिरेव तु गुञ्जाभिर्माष एकः प्रकीर्तितः ॥
माषा द्वादश तोलः स्यादष्टौ तोलाः पलं भवेत् ॥ ३ ॥

छः त्रुटियों (३६ अणु) का भार एक लीख के बराबर होता है। ६ लीख बराबर एक छोटी यूक (जूं) के माना जाता है। हे सुव्रते ! ६ यूक बराबर भार को रजः (धूलिकण) कहते हैं।

६ रज (कण) का १ सर्षप होता है इसी को सिद्धार्थक भी कहते हैं। हे देवेशि ! ६ सिद्धार्थक का एक यव होता है।

६ यव की १ गुञ्जा (रत्ती) होती है और तीन गुञ्जा को एक वल्ल कहते हैं। ६ गुञ्जा का एक मासा होता है। १२ मासे का १ तोला और आठ तोले का एक पल होता है।

विशेष वचन—"त्रुटि" को "त्रसरेणु" शब्द से भी कहा जाता है। यह परमाणुओं के बराबर भार होती है। ब्रह्मवैवर्त में लिखा है कि "परमाणुद्वयेनाणुः त्रसरेणुस्तु ते त्रयः"। अतः ६ परमाणु भारयुक्त कण को त्रुटि समझना चाहिये। ग्रन्थान्तर में "माषा द्वादशतोलः स्यादष्टौ तोलाः पलं भवेत्" के स्थान पर "माषाः षोडश तोलः स्याच्चतुस्तोलैः पलं भवेत्।" ऐसा पाठ है। रसार्णव में बारह माषे का तोला मानते हुये चार तोले का पल माना है। "माषा द्वादशतोलः स्यात्तच्चतुर्थः पलं भवेत्।" इस तरह पल और तोले के विषय में विभिन्न मतभेद देखा जाता है। रसार्णव में "द्वात्रिंशत्पलिकं देवि ! शुभन्तु परिकीर्तितम्। शुभस्य तु सहस्रे द्वे भार एकः प्रकीर्तितः॥" मूल में इतना पाठ अधिक दिया गया है ॥ १-३ ॥

मानपरिभाषायां मतान्तरम्—

त्रुटिः स्यादणुभिः षड्भिस्तैर्लिक्षा षड्भिरीरिता ।
ताभिः षड्भिर्भवेद्यूकः षड्यूकास्तद्रजः स्मृतम् ॥ ४ ॥
षड्जः सर्षपः प्रोक्तस्तैः षड्भिर्यव ईरितः ।
एका गुञ्जा यवैः षड्भिर्निष्पावस्तु द्विगुञ्जकः । ॥ ५ ॥
स्याद्गुञ्जात्रितयं वल्लो द्वौ वल्लौ माष उच्यते ।
द्वौ माषौ धरणं ते द्वे शाणं निष्ककलाः स्मृताः ॥ ६ ॥
निष्कद्वयन्तु वटकः स च कोल इतीरितः ।
स्यात्कोलत्रितयं तोलः कर्षो निष्कचतुष्टयम् ॥ ७ ॥
उदुम्बरं पाणितलं सुवर्णं कवलग्रहः ।
अक्षं विडालपदकं शुक्तिः पाणितलद्वयम् ॥ ८ ॥
शुक्तिद्वयं पलं केचिदन्ये शक्तित्रयं विदुः ।
तदेव कथितं मुष्टिः प्रकुञ्चो विल्वमित्यपि ॥ ६ ॥
पलद्वयं तु प्रसृतं तद्द्वयं कुडवोऽञ्जलिः ।
कुडवौ मानिका तौ स्यात्प्रस्थो द्वे मानिके स्मृतः ॥ १० ॥
प्रस्थद्वयं शुभं तौ द्वौ पात्रकं द्वयमाढकम् ।
तैश्चतुर्भिर्घटोन्माननल्वनामर्णशूर्पकाः ॥ ११ ॥
द्रोणस्य शब्दाः पर्यायाः पलानां शतकं तुला ।
चत्वारिंशत्पलशतं तुलाः भारः प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥
रसार्णवादिशास्त्राणि निरीक्ष्य कथितं मया ।
रसोपयोगि यत्किञ्चिदिङ्मात्रं तत्प्रदर्शितम् ॥ १३ ॥

६ परमाणुओं की	१ त्रुटि
६ त्रुटि की	१ लिक्षा
६ लिक्षा की	१ यूका (जूं)
६ यूका का	१ रज
६ रज का	१ सर्षप (सरसों)
६ सर्षप का	१ यव
६ यव की	१ गुञ्जा (रत्ती)
२ गुञ्जा का	१ निष्पाव।
३ गुञ्जा का	१ वल्ल।
२ वल्ल का	१ माषा।
२ माषे का	१ धरण।
२ धरण का	१ शाण, निष्क, कला
२ निष्क का	१ वटक, कोल।
३ कोल का	१ तोला, कर्ष, निष्कचतुष्टय। उदुम्बर, पाणितल, सुवर्ण, कवलग्रह, अक्ष, विडाल-पदक।

२ कर्ष का	१ शुक्ति
२ शुक्ति की	१ पल, मुष्टि, प्रकुञ्च, विल्व; कोई ३ शुक्ति का पल मानते हैं।
२ पल की	१ प्रसृति या प्रसृत
२ प्रसृत का	१ कुडव, अञ्जलि
२ कुडव की	१ माणिका
२ माणिका का	१ प्रस्थ
२ प्रस्थ का	१ शुभ
२ शुभ का	१ पत्र आढक वा द्रय
४ आढक का	१ घट उन्मान नल्वण, अर्मण, शूर्पक वा द्रोण
१०० पल की	१ तुला
४० तुला का	१ भार

रसार्णवादि रसशास्त्रों का निरीक्षण करके रस (पारद) आदि के संस्कार करने में उपयोगी मानपरिभाषा का यह केवल दिग्दर्शनमात्र वर्णन किया गया है।

विशेष वचन—यहाँ पर दो प्रकार का मान दिया गया है। १—६ रत्ती का एक माषा। २—१२ रत्ती का माषा। इसके अतिरिक्त ५, ७, ८, ९, १०, ११ रत्ती का भी माषा माना जाता है। इस तरह सर्वत्र मान में भिन्नता आ जाती है। सुश्रुत और चरक के मान में भी भिन्नता है। सुश्रुत ५ रत्ती का माषा मानता है, चरक १० या १२ रत्ती का। इस तरह सुश्रुत से चरक का मान दुगुना माना जाता है। परन्तु रसशास्त्र में कही जाने वाली मानपरिभाषाओं में पूर्वोक्त ६ रत्ती का माषा प्रचलित है। जैसे "षडभिरेव तु गुञ्जाभिर्माष एकः प्रकीर्तितः" पहिले आ चुका है। उसके अनुसार आजकल के प्रचलित मान के साथ इस प्रकार समता होती है। शाण=चौथाई, तोला (तीन माषा), कोल=आधा तोला, कर्ष=१ तोला, शुक्ति=२ तोला, पल=४ तोला, प्रसृत=८ तोला. कुडव=१६ तोला, मानिक या शराव=३२ तोला प्रस्थ=६४ तोला, आढक=२५६ तोला, (३ सेर ३ छटांक १ तोला), द्रोण=१०२४ तोला, (१२ सेर १२ छटांक ४ तोला), कुम्भ=२०४८ तोला, (२५ सेर ९ छटांक ३ तोला), गोणी=४०९६ तोला (१ मन ११ सेर ३ छटांक १ तोला), खारी १६३८४ तोला (५ मन ४ सेर १२ छटांक ४ तोला), तुला=४०० तोला (५ सेर), भार=८००० तोला (२ मन २० सेर)। ९६ रत्ती का १ तोला मानकर यह स्पष्टीकरण है। "माषः षोडशतोलः स्यात्तचतुर्भिः पलं स्मृतम्"। किसी योग के द्रव्यों के मूल पाठ में कहे हुये प्रमाण में 'तोलक' मान का निर्देश न होने पर वर्तमान देसी तोल से मिलाने के लिये १२ रत्ती का माषा मान कर भी कार्य करने से कोई खराबी नहीं आती है। इस प्रकार मानने में कर्ष के बजाय १ कोल अर्थात् तोले में ९६ रत्तियां हो जाती हैं और पल ८ तोले का हो जाता है। "अष्टौ तोलाः पलं भवेत्।" ऐसी अवस्था में योगनिर्माण में कोई त्रुटि नहीं होती है। परन्तु यदि अन्य प्रमाणों के साथ 'तोलक' शब्द से योग में किसी द्रव्य का प्रमाण निर्दिष्ट हो तो गलती हो सकती है। क्योंकि 'तोलक' को ९६ रत्ती ही समझा जाता है। जो ४ तोले का पल मानते हैं वे भी तोलक से ९६ रत्ती ही लेते हैं। अतः निर्दिष्ट प्रमाण के साथ 'तोलक' का अर्थ एक तोला या दो तोला लेकर कार्य करना चाहिये।

रसराजस्य संस्कारकथने प्रतिज्ञा—

अधुना रसराजस्य संस्कारान् सम्प्रचक्ष्महे ॥ १४ ॥

अब सब रसों में श्रेष्ठ पारद के सम्पूर्ण संस्कारों का वर्णन किया जाता है ॥ १४ ॥

अष्टादशसंस्काराणां नामानि—

स्यात्स्वेदनं तदनु मर्दनमूर्छने च
उत्थापनं पतनरोधनियामनानि ॥
सन्दीपनं गगनभक्षणमानमत्र
संचारणा तदनु गर्भगता द्रुतिश्च ॥ १५ ॥
बाह्यद्रुतिः सूतकजारणा स्याद्
ग्रासस्तथा सारणकर्म पश्चात् ॥
संक्रामणं वेधविधिः शरीरे
योगस्त-थाष्टादशधाऽत्र कर्म ॥ १६ ॥

पारद के १ स्वेदन, २ मर्दन, ३ मूर्छन, ४ उत्थापन, ५ त्रिविधपातन, ६ रोधन, ७ नियामन, ८ संदीपन, ९ गगनभक्षणमान, १० सञ्चारण, ११ गर्भद्रुति, १२ बाह्यद्रुति, १३ जारण, १४ ग्रास, १५ सारणकर्म, १६ संक्रामण, १७ वेधीन, १८ शरीरयोग, ये अठारह संस्कार माने गये हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में बोधन, रञ्जन तथा अनुवासन संस्कार भी माने गए हैं। परन्तु बोधन का स्वेदन में, अनुवासन का रोधनमें और रञ्जन का क्रामण में अन्तर्भाव करके अठारह संस्कार माने जाते हैं। रसमार्तण्ड में रससंस्कारों के नामसंस्करण

में कुछ भिन्नता देखी जाती है । जैसे—'पट्टाभिसरणसंज्ञस्तु संस्कारः प्रथमो मतः । मलापकर्षणं स्वेदः शुद्धिर्मर्दनधावने ॥ मूर्च्छनोत्थापने तिर्यगूर्ध्वाधःपातनं शुचिः । वीर्यानयनसंस्कारो नियामश्च निरोधनम् ॥ दीपनं लेलिहानं च समुखीकरणं तथा । इत्थं हि संस्कृतः सूतः सिद्धये देहलोहयोः ॥" रससार और रसमार्तण्ड में पढ़े हुये पट्टाभिसरण संस्कार का संस्कारों का ही अंग होने से ग्रहण किया गया है । धावन का मर्दन के बाद उसे निर्मल करने के लिये वीर्यानयन का स्वेदन के रूप में और लेलिहान का दीपन के रूप में ग्रहण किया गया है । आयुर्वेदप्रकाश में १६ पारद संस्कार पाये जाते हैं । परन्तु मूलोक्त अठारह संस्कार अधिक प्रसिद्ध है ।

संस्कार—पारद के स्वाभाविक अष्ट दोषों की विकृति को दूर करके उसमें एक अद्भुत गुण उत्पन्न करने को संस्कार कहा जाता है । "संस्कारो हि गुणान्तराधानम् ।" अतः असंस्कृत पारद में कोई विशेष गुण नहीं होते हैं । इन अठारह संस्कारों में से कम से कम तीन और अधिक से अधिक अठारह संस्कार अवश्य करने चाहिये । अठारह संस्कारों में भी प्रथम के आठ संस्कार सुखसाध्य और अवशिष्ट चारण, संक्रामण, ग्रास, सारण आदि कतिपय संस्कार स्पष्टार्थ या निरुक्ति वा पारिभाषिक अर्थ के व्यक्त न होने से कष्टसाध्य हैं । अन्यत्र संस्कारों के दो प्रयोजन बताते हुये इनके दो भेद किये जाते हैं । १—देहकर्मार्थ, २—धातुवादार्थ । शारीरिक रोगों को दूर करने और रसायन तथा वाजीकरणार्थ औषधियों के निर्माण में अष्टसंस्कारयुक्त पारद लिया जाता है । स्वर्ण रजत धातुओं के निर्माणार्थ प्रायः चारणा, जारणा, वेध आदि अठारह संस्कारयुक्त पारद का ग्रहण किया जाता है । "सूतस्यैते च संस्काराः कथिता देहकर्मणि । तथा च दशसंस्कारा देहलोहकराः स्मृताः ॥"

व्याधिविशेषे रसप्रयोगनिषेधः—

न योज्यो मर्मणि च्छिन्ने च क्षाराग्निदग्धयोः ॥१७॥

मर्मस्थान (शिरा, धमनी आदि) के कट जाने पर या तीव्र क्षार (acid) अथवा अग्नि से जल जाने पर पारद का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

विशेष वचन—पाश्चात्य द्रव्य गुण शास्त्र में पारद सम्बन्धी इस प्रकार का निषेध नहीं पाया जाता है । उसमें पारदीययोगों के प्रयोग में सावधानी दिखाते हुये यह अवश्य बताया गया है कि "शरीर के किसी अधिक लम्बे चौड़े भाग में पारद लगाने से वह शोषित होकर विषप्रभाव कर सकता है" इसी तरह उसमें योनि तथा गर्भाशय में पारदीय घनघोलों (Concentrated Solution) का सूचीवेध करना भी निषिद्ध किया है । परन्तु उसमें यह स्पष्ट लिखा है कि "शरीर के प्लोषित या घृष्टस्थान पर वा व्रणपर, पारदीयलेप घोल और रसकर्पूर के बाह्य प्रयोग से पारद शरीर में शोषित होकर प्रभाव करता है ।" पचननिवारक (Antisetptic) होने पारद दुर्गन्धि युक्त व्रणों में व्यवहृत होता है । और यह पराश्रयी कृमिनाशक भी है । यहाँ पर निषेध करने का यही तात्पर्य प्रतीत होता है कि केवल पारद, उक्त अवस्थाओं में प्रयोग करने पर शीघ्र शोषित होकर विषैले लक्षण उत्पन्न कर देगा । इसी तरह आभ्यन्तर प्रयोग में यह किसी तरह पित्त प्रकोप को बढ़ा कर क्षाराग्निदग्ध व्रणों को विकृत कर देगा । इसी तरह मर्मस्थानों के कट जाने पर भी अन्तःप्रयोग करने पर उस स्थान पर पाक (पित्त प्रकोप) उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है । क्योंकि केवल (गन्धक रहित) पारद विषात्मक प्रभाव रखता है । जब तक कि शरीर में उपदंश आदि का विष न हो ॥

शुद्धमूर्च्छितरसयोर्गुणः—

शुद्धः स मृद्वग्निसहो मूर्च्छितो व्याधिनाशनः ॥ १८ ॥

शुद्ध पारद मृदु अग्नि सहन कर सकता है । मूर्च्छित अर्थात् रससिन्दूर मकरध्वज आदि के रूप में पारद व्याधि (रोग) नाशक होता है ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में 'स मृद्वग्निसहः' के स्थान पर 'समृद्धाग्निसहः' ऐसा पाठ मिलता है जिसका अर्थ यह होता है कि तीव्रतर अग्नि को भी सहने वाला । इस अर्थ अथवा पाठ से मृत पारद और शुद्ध पारद में कोई विशेषता नहीं रहेगी । मृत पारद भी तीव्राग्नि में स्थिर रहता है । अतः 'स मृद्वग्निसहः' पाठ उचित प्रतीत होता है । सम्भवतः यह पाठ पारद के असह्याग्नि दोषराहित्य का द्योतक हो अथवा पारद के उड़ने में तापांश का द्योतक हो । ग्रन्थान्तर में शुद्ध पारद का 'अन्तःसुनीलो बहिरुज्ज्वलो यो मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाशः । शस्तः" यह लक्षण पाया जाता है । इसके अतिरिक्त शुद्ध पारद द्रवीभूत रजत के सदृश उज्ज्वल वर्ण होता है और साधारण (मृदु) तापक्रम पर द्रव रूप में रहता है । हिलाने से इसके गोल कण बनते हैं । इस पारद को अत्यन्त शीतांश पर रखने से यह रांगे की भांति जम कर ठोस हो जाता है और चाकू से काटा जा सकता है शुद्ध पारद की द्राव वस्था में पतली यह पारदर्शक होती है । और उसमें नीलवर्ण की आभा दिखाई देती है । यदि शुद्ध पारद को थोड़ी मात्रा में एक कांच या चीनी के पात्र में रख उसके ऊपर की ओर से तेज पानी की धारा डाली जाय तो पारद के बुद्बुद (Bubbles) पानी की तह पर तैरने लगते हैं । इनमें नीली आभा दिखाई देती है और ये बुद्बुद शीघ्र ही फूट कर ठोस पारदकण के रूप में बदल जाते हैं । शुद्ध पारद का आपेक्षिक घनत्व (Specific Gravity) जल की अपेक्षा १३, ६ होता है । शुद्ध पारद ३५७ डिग्री के ताप से उड़ने लगता है । इसकी वाष्प वर्णरहित होती है । संक्षेपतः साधारण तापक्रम में द्रव रूप में रहने वाला नागवंग धातुसंयोग से रहित शुभ्रवर्ण पारद-शुद्ध होता है । बाजार से प्राप्त होने वाला पारद उक्त

लक्षणयुक्त कभी नहीं होता है । किन्तु Scince Laboratary में यह इसी शुद्ध रूप से व्यवहृत होता है । यह पारद आयुर्वेदीय विधान से साधारण रूप में ऊर्ध्व-अधःपातन किये हुये पारद से कुछ भी भिन्न नहीं होता है ॥ १८ ॥

मृतसूतस्य गुणः—

निष्कम्पवेगस्तीव्राग्नावायुरारोग्यदो मृतः ॥ १६ ॥

मृत (भस्म किया हुआ) पारद तीव्रतर अग्नि में कितनी ही देर रखने पर भी निष्कम्पवेग अर्थात् स्थिरस्वभाव रहता है । इसके सेवन से आयुवृद्धि तथा शरीर में नीरोगता हो जाती है ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में मृत पारद की कुछ विशेष परीक्षा तथा गुण लिखे पाये जाते हैं । "निर्धूमस्तेजसा हीनो गौरवेण समन्वितः । अंगारस्थापितो यश्च न प्रयाति विरूपताम् ॥ न च लाघवमायाति चापल्यं विजहाति च । आधिव्याधिहरो यश्च मृतः सूतः स उच्यते ॥' इसी तरह ग्रन्थान्तर में भी मृत सूत को जरा-व्याधिनाशक माना गया है ॥ १६ ॥

रसे नैसर्गिकदोषास्तेषां कार्याणि—

विषं वह्निर्मलश्चेति दोषा नैसर्गिकास्त्रयः
रसे मरणसन्तापमूर्च्छानां हेतवः क्रमात् ॥ २० ॥

विष (मारक दोष), वह्नि (दाहकता वा अग्निगुण) तथा मल ये तीन दोष पारद में स्वाभाविक होते हैं । इन दोषों से क्रमशः कहे जाने वाले रोग सम्भव हैं—यदि अशुद्ध पारद, जिसमें विषों के तत्व घुले हैं, खाया जाय तो उस दोष से मृत्यु हो जाती है । इसी तरह वह्निदोषयुक्त पारद का सेवन किया जाय तो इस दोष से शरीर में दाह, सन्ताप (गर्मी पित्त का प्रकोप) बढ़ जाते हैं । मलदोषयुक्त पारद से मूर्च्छा हो जाती है ।

विशेष वचन—खान से निकलते समय पारद में नाग, वंग धातुओं के योग के अतिरिक्त अन्य धातु (सुरमा आदि) की अशुद्धि पाई जाती है जिससे पारद में उस धातु के विषैले प्रभाव उपस्थित होते हैं जिनसे मूर्च्छा उपद्रव होता है । इस विषय को फार्माकालोजी थेरापुटिक्स एण्ड मेटेरिया मेडिका में इस प्रकार लिखा है—"other matals especially alead, arsenic and antimony may be present'

अतः पारद में अन्य धातुओं के कारण मलिनता या अशुद्धि सम्भव होती है, और स्वाभाविक रूप से पाई जाती है । वह्निदोष (दाहकता)-तात्कालिक पारदविषप्रभाव को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पारद के यौगिक रसकर्पूर, दालचिकना, मुग्धरस, ग्रेपाउडर, कोष्ट में जाकर भयंकर प्रभाव करते हैं जिससे शरीर में पित्त (अग्नि) का प्रकोप होकर वमन, विरेचन, शूल, रक्तातिसार, मूर्च्छा आदि उपद्रव उत्पन्न होकर अन्त में मृत्यु तक हो जाती है । यह भी पारद का स्वाभाविक दोष है । घोष मेटेरिया मेडिका में भी इसी बात को पुष्ट किया है —

"Acute Toxication-Acute poisoning is not common mercurials, especially the mercuric salts produce severe gestro entrites with vomiting pains purging and bloody stools collapse and even death."

विषदोष—पारद खान से निकलते समय खान की अनेक विषैली और उड़नशील संखिया आदि खनिजों को अपने में घोल लेता है । उनसे युक्त पारद पातन करने पर भी शीघ्र शुद्ध नहीं होता है । अतः यह विषदोष भी पारद का एक मुख्य तथा महादोष है । इस दोष के कारण ही पारद के यौगिक मृत्यु के कारण बनते हैं ॥ २० ॥

रसस्य यौगिकदोषद्वयं तस्य कार्यञ्च—

यौगिकौ नागवंगौ द्वौ तौ जाड्याध्मानकुष्ठदौ ॥ २१ ॥

पारद में उक्त तीन नैसर्गिक दोषों के अतिरिक्त नाग और वंग (रांगा) के भी दो दोष पाये जाते हैं । इन दो दोषों को 'यौगिक दोष' कहा जाता है । क्योंकि यह दोष पारद में इन धातुओं के योग से उत्पन्न होता है । इन धातुओं के संयोग से युक्त पारद के सेवन करने से अशुद्ध नाग तथा वंग के लक्षण-जैसे शरीर में जड़ता, आंतों में वायु अवरोध से अफारा तथा रक्त दूषित होने से कुष्ठ (त्वचा के) रोग उत्पन्न होते हैं ।

विशेष वचन—पारद में सीसा और रांगा स्वभावतः भी खानों द्वारा पाये जाते हैं । अतएव कई ग्रन्थों में नैसर्गिक दोषों में ही नाग तथा वंग के दोषों को गिन लिया गया है । व्यापार की दृष्टि से भी नाग तथा वंग धातु को पारद में प्रायः मिलाया जाता है । इन धातुओं के मिलाने से पारद की उड़नशीलता बहुत कम हो जाती है । अतएव तन्त्रान्तर में रससिन्दूरादि योगों को बताते हुए पारद की शीघ्र उड़नशीलता को मन्द करने के लिये उनमें शीशे का कुछ अंश डालने को लिखा है । जैसे—"भागो रसस्य त्रय एव भागा गन्धस्य माषः पवनाशनस्य (नागस्य) ।" इन बातों से पूर्वकालीन पारद व्यापार की बहुलता तथा कुशलता भी प्रकट होती है । इस दोषयुक्त पारद के सेवन करने से शरीर में व्रण तथा त्वक्-रोगों की उत्पत्ति प्रायः रक्त के दूषित होने से देखी जाती है । तन्त्रान्तर में वंग दोषयुक्त पारद सेवन करने से शरीर में कफ तथा वातप्रकोपजन्य रोगों का प्रादुर्भाव होना पाया जाता है । साथ ही तन्त्रान्तर में यह भी मिलता है धात्वन्तरसंयोग युक्त पारद यदि घन (ठोस) और अत्यधिक गुरु हो तो उसका प्रयोग (अन्तः तथा बाहरी सेवन) नहीं करना चाहिये । तादृशं (नागवंगजीर्णं) वर्जयेद्वात्तथा खलु घनं गुरु । म्रियन्ते प्राणिनो यस्य भक्षणात्तं परिक्षिपेत् ॥" र. का. धे. ।

रसस्यौपाधिकदोषाः—

औपाधिकाः पुनश्चान्ये कीर्तिताः सप्तकञ्चुकाः ।
भूमिजा गिरिजा वार्जाः— ॥ २२ ॥

पारद में भूमि आदि के संपर्क से प्राप्त होने वाले और भी दोष होते हैं। जिनमें सप्त कंचुक, भूमिज दोष, गिरिज दोष तथा वारिज दोष माने जाते हैं।

विशेष वचन—औपाधिक दोष भयंकर नहीं माने जाते हैं फिर भी उनकी शुद्धि तथा सम्पर्क ज्ञान आवश्यक होता है। पर्वत के जिस अन्तराल से पारद बाहर निकलता है उसमें पाई जाने वाली विकृतियों तथा दोषों के सम्पर्क को 'गिरिदोष' कहा जाता है। अतः पारद के सम्बन्ध में पर्वतों तथा स्थानों का भी पूर्ण निश्चय करना चाहिये कि अमुक पर्वत में अमुक धातु या विष अधिक पाया जाता है, अतः इस स्थान या खान के पारद में यह विकृति हो सकती है। इस विषय की ओर ध्यान देकर उसका ग्रहण करना गिरिदोष का ज्ञान है। यद्यपि इस दोष के ज्ञान में ही पारद के अन्य भूमिज तथा वारिज दोष ज्ञान भी समाविष्ट या अन्तर्गत हो जाते हैं। फिर भी उनके पृथक् ज्ञान और विशेष शोधन के लिये उनका वर्णन किया गया है। जिस भूमि से पारद निकलता है उसके संसर्गज दोषों को भूमिज दोष, और भूमि के अन्तराल में से जिस स्रोत के जल में घुल कर पारद ऊपर आकर हिंगुल के रूप में परिणत होता है उसके दोष को वारिज दोष कहा जाता है। इस तरह ये तीनों दोष भी साधारणतः पारद में पाये जाते हैं। सात कञ्चुकों के नाम आगे दिये हुये हैं। परन्तु कञ्चुक क्या चीज है? यह जान लेना आवश्यक है। कञ्चुक आवरण को कहते हैं। यह आवरण पारद में मिले हुये धातुओं के द्वारा होता है। ऐसा विचार किया जाता है कि पारद अन्य सब धातुओं की अपेक्षा गुरु (भारी) है। जब वह अन्य धातुओं के साथ मिलकर मिश्रण (Alloy) बनाता है, तब यह धातुओं के नीचे की ओर रहता है, और मिश्रण के अन्य धातु इसके ऊपर आवरण की भांति रहते हैं। अतः पारद के इस प्रकार के आवरण को कञ्चुक कहते हैं। नवीन रसायन ज्ञानानुसार आजकल पारद के मिश्रक, धातुओं के अनेक व्यवहारोपयोगी रूपान्तर बनाने के लिये किये जाते हैं। यह मिश्रक अत्यधिक दबाव (On very high pressure) पर पृथक् हो जाते हैं, अर्थात् पारद इनसे अलग निकल आता है। नाग, वंग, स्वर्ण, रजत आदि भिन्न प्रकार के धातुओं के साथ मिलने से पारद के मिश्रण (Alloy of mercury) का रूप रंग गुण धर्म भी पृथक् २ होते हैं। अत एव पारद में कञ्चुक औपाधिका दोष माने गये हैं। धातुओं की संख्यानुसार कञ्चुक दोषों की संख्या भी सात मानी जाती है। पारद में धातुओं के अतिरिक्त कुछ एक ऐसी गैसों का भी सम्पर्क होता है जिससे पारद में कञ्चुक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। रसतरंगिणीकार ने कञ्चुकों के विषय में इस प्रकार प्रकाश डाला है। "धातवोरससंश्लिष्टा यदा विष्णुपदामृतम्। गृह्णन्ति हि तदा तेषां कश्चिद्भागोऽवशीर्यते॥ ततश्चूर्णत्वमापन्ना रसमाच्छादयन्ति ते। तेनावरणसाम्येन धातवः सूतसंगताः॥ कञ्चुकाख्यां भजन्तीति प्राच्यपाश्चात्यसम्मतिः। कैश्चिदेते कञ्चुकाख्या दोषा औपाधिकाः स्मृताः॥" यह विषय अशुद्ध बाजारू पारद की परीक्षा में स्पष्ट हो जाता है कि यह पारद अशुद्ध तथा धात्वन्तरसंयोगयुक्त है।

"Impure mercury when shaken with air, yield a black powder, caused by the oxidation of the metallic impurities and the film of the oxide encloses a small globule of the liquid metal. Chemistry by H. E. and C. Schorlemmer F. R. S. ?

ग्रन्थान्तर में नागवंगादि दोषों के अतिरिक्त चापल्य तथा असह्याग्नि दोष भी लिखे हैं। "नागो वंगो मलो वह्निश्चाञ्चल्यञ्च विषं गिरिः। असह्याग्नि महादोषा निसर्गात्पारदे स्थिताः॥" चाञ्चल्यदोष—चपलता, द्रवता इसके पर्यायवाचक शब्द हैं। चापल्यदोष के सम्बन्ध में नवीन विचार है कि यह दोष पारद में चपल धातु (जिसे कोई-कोई विस्मिथ कहते हैं) के मिलाने से उत्पन्न होता है। व्यापार के लिये अन्य धातुओं की भांति कभी २ पारद में उसके द्रवणांक (मेल्टिंग प्वाइन्ट) को न्यून करने के लिये चपल मिलाया जाता है, जिससे पारद शीघ्र ही अत्यन्त मन्द अग्नि पर पिघल जाता है। चपलधातु मिश्रित पारद प्रायः स्टीरियो टाइपिंग (Stereo Typing) के व्यापार में लगाया जाता है। ऐसे व्यापार के लिये बनाये हुये पारद को यदि औषधिकार्य में लाया जाय तो इसमें अशुद्धि बहुत सम्भवनीय हैं। नवीन अन्वेषकों का विचार है कि बहुत सम्भव है प्राचीन काल में भी व्यापारी लोग चपल के मिश्रक (Alloy of Bismith) बनाते हों। आयुर्वेद में लिखे हुये चपल धातु के गुणों में भी यह लिखा है कि चपल रसबन्धकारक है, "चपलो वृष्यो रसबन्धकारकः"। साथ ही आजकल पाया जाने वाला या निश्चय किया जाने वाला चपल (जिसका वर्णन पहिले आ चुका है) लाक्षावत् शीघ्र द्रावी भी होता है। परन्तु प्राचीन मतावलम्बी वैद्य, चपलसंयोगजन्य पारद के चपल दोष को स्वीकार नहीं करते हैं और कहते हैं कि पारद का साधारण तापक्रम पर द्रव रहने का जो स्वभाव है वही इसका चापल्यदोष है। परन्तु चपलता पारद का स्वाभाविक गुण है न कि दोष। प्राकृतिक पारद द्रवरूप में ही पाया जाता है। रसकामधेनु में यह स्पष्ट लिखा है कि पारद पिघली हुई चांदी के समान चंचल और श्वेत होता है, "गलद्रूप्यनिभम्"। अतः पारद में चपल अथवा अन्य किसी धातु का मिश्रण माने बिना यह दोष सिद्ध होना कठिन है। यदि चापल्य (स्वाभाविक स्वरूप) मात्र ही दोष होता तो शुद्धि के बाद भी जब पारद का साधारण तापक्रम में द्रव रहने का स्वभाव बना

रहता है, तो। उसे अशुद्ध ही माना जाता। परन्तु शुद्ध माना जाता है। जो प्राच्य विद्वान् इन कठिनाइयों की उपस्थिति में इस दोष को कोई विशेष महत्त्व नहीं देते उनमें से रसरत्नसमुच्चयकार भी एक हैं। आयुर्वेदप्रकाश में इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है कि पारद में सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण से बहुत से दोष प्राप्त होते हैं परन्तु तीन मूलोक्त दोष मुख्य हैं। "अन्येऽपि कथिता दोषा भिषग्भिः पारदे यदि। तथाप्येते त्रयो दोषा हरणीया विशेषतः॥"

असह्याग्नि दोष—नवीन अन्वेषणों के अनुसार पारद के खनिजों में कुछ ऐसे खनिजों का पता लगा है जो उड़नशील निश्चित हुए हैं। जैसे ऑक्सिजन गैस, लवण गैस chlorin आदि। इन खनिजों की विद्यमानता में पारद अपने तापक्रम के पूर्व ही उड़ने लगता है। अर्थात् जो शुद्ध पारद ३५७ डिग्री के तापक्रम पर उड़ने लगता है, यदि वह किन्हीं खनिजों की विद्यमानता से अल्पतापक्रम पर ही उड़ने लगे तो उसमें असह्याग्नि दोष माना जाता है। परन्तु कुछ प्राचीन वैद्यों का विचार है कि पारद की जो स्वाभाविक उड़नशीलता है वही इसका असह्याग्नि दोष है। परन्तु इस प्रकार के विचार में भी वही दोष उपस्थित हो सकता है जो कि चाञ्चल्य दोष के विषय में है॥ २२॥

रसदोषाणां द्वादशत्वकथनम्—

—ते च द्वौ नागवङ्गजौ।
द्वादशैते रसे दोषाः प्रोक्ता रसविशारदैः॥ २३॥

संक्षेपतः पारद में नैसर्गिक तीन–विष, वह्नि तथा मल दोष, सात औपाधिक (कञ्चुक) दोष और दो यौगिक नाग, वंग दोष सब मिलाकर बारह दोष रसशास्त्र के विद्वानों ने कहे हैं।

विशेष वचन—गिरिज, वारिज तथा भूमिज दोष खनि दोषों में ही, जिनमें मल वह्नि तथा विष दोष आते हैं। अन्तर्भूत हो जाते हैं॥ २३॥

सप्त कञ्चुकाः—

पर्पटी पाटनी भेदी द्रावी मलकरी तथा।
अन्धकारी तथा ध्वाङ्क्षी विज्ञेयाः सप्त कञ्चुकाः॥२४॥

अशुद्ध पारद में १ पर्पटी, २ पाटनी, ३ भेदी, ४ द्रावी, ५ मलकरी, ६ अन्धकारी, ७ ध्वांक्षी ये 'सप्त कञ्चुक' या 'आवरण' माने जाते हैं।

विशेष वचन—उक्त सप्तविध कञ्चुकों के नामों से कुछ यह भी ज्ञान होता है कि इन आवरणों से युक्त पारद अन्तःप्रयोग करने पर भिन्न-भिन्न विकृतियों को पैदा करता है। जिस कञ्चुक से जिस प्रकार की विकृति देखी जाती है उसी के अनुरूप कञ्चुक का नामसंस्करण कर दिया गया है, प्रतीत होता है। जैसे पर्पटाकार या छिलके वाले त्वक्-रोगों को उत्पन्न करने से अथवा पर्पटीवत् शरीर के स्वस्थ धातुओं के शोषण तथा ग्रहण करने से पर्पटी कञ्चुक नाम दिया गया है। शरीर में विविध प्रकार के स्फोटों का उत्पादक होने से अथवा शरीरविदारक धर्म होने से पर्पटी (पाटली) कञ्चुक नाम दिया गया है। मलभेदन (रेचन) दोषकारक होने से भेदी, शारीरिक धातुओं में अत्यधिक द्रवतोत्पादक दोष के कारण द्रावी, शरीर में दोषप्रकोपकारक होने से मलकरी, मूर्च्छा या अन्धकार उत्पादक होने से अन्धकारी और शरीर में काकवत् कृष्णवर्णोत्पादक होने अथवा काकवत् कर्कश स्वरोत्पादक दोष से ध्वांक्षी कञ्चुक नाम दिया गया है। तन्त्रान्तर में उक्त कञ्चुकों को भिन्न ही नाम से लिखा गया है—"मृत्पाषाणजलाख्याश्च कालिकोपालिका तथा। श्यामा कापालिका चेति पारदे सप्त कञ्चुकाः॥" इसी तरह कञ्चुकदोषजन्य विकारों के नाम भी तन्त्रान्तर में पाये जाते हैं—"पाण्डुर्मृदोऽश्मनो जाड्यं खालित्यं जलकञ्चुकात्। उपाल्या गजचर्माणि कलिकाया रुजोदरे॥ श्यामायास्तु प्रमेहास्तु कपाल्या जठराणि वै। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सूतः शोध्यो विजानता॥" इन दोषों से युक्त अथवा अशुद्ध पारद को किसी साफ चीनी या कांच के पात्र में रख कर उसे (पात्र को) तिरछा किया जाय तो पारद के कण पुच्छयुक्त दिखाई देते हैं। इसी तरह उसे वायु में हिलाया जाय तो पारद के ऊपरी भाग में काले से चूर्ण की सतह जम जाती है जिससे पारद के छोटे छोटे कण आवृत होते हैं। यह रज पारद के साथ मिले हुये धातुओं के आतञ्चन (oxidation) होने से उत्पन्न होती है। यही कञ्चुकयुक्त पारद है॥ २४॥

भूमिजादीनां कार्यम्—

भूमिजाः कुर्वते कुष्ठं गिरिजा जाड्यमेव च।
वारिजा वातसङ्घातं दोषाढ्यं नागवङ्गयोः॥ २५॥

पारदस्थ भूमिज दोषों के परिणाम से शरीर से कुष्ठ (त्वक्-रोग), गिरिज दोष से शरीर में जड़ता, वारिज दोषों से शरीर में वात प्रकोप तथा नागवंग सम्पर्कजन्य दोषों से शरीर जड़ता, कुष्ठ रोग, आध्मान तथा वात प्रकोप होता है॥ २५॥

उपसंहारः—

तस्मात् सूतविधानार्थं सहायैर्निपुणैर्युतः।
सर्वोपस्करमादाय रसकर्म समारभेत्॥ २६॥

क्योंकि प्राकृतिक पारद में उक्त प्रकार से अनेक दोष होते हैं अतः पारद को दोषरहित करने के लिये रसकार्य में निपुण सहायकों के साथ सम्पूर्ण रसकर्मोपयोगी यन्त्रमूषादि सामग्री उपस्थित कर पारद का कर्म (संस्कार) करना चाहिये॥ २६॥

संस्कारार्थं सूतपरिमाणम्—

द्वे सहस्रे पलानान्तु सहस्रं शतमेव वा।
अष्टविंशत्पलान्येव दश पञ्चैकमेव वा॥ २७॥

पलार्द्धेनैव कर्त्तव्यः संस्कारः सूतकस्य च ।
सुदिने शुभनक्षत्रे रसशोधनमारभेत् ॥ २८ ॥

शुभ दिन तथा शुभ नक्षत्र में पारद का शोधन करना चाहिए। संस्कार करने के लिए दो हजार पल, एक हजार पल, सौ पल, अट्ठाइस पल, दश पल वा पांच पल अथवा एक पल वा अर्ध पल पारद लेना चाहिये ॥ २७—२८ ॥

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में कर्ष प्रमाण तक भी पारद का शोधन करने के लिये आदेश पाया जाता है। यदि पल या अर्ध पल पारद का संस्कार या शोधन करना हो तो उसमें क्रियायें वे ही करनी पड़ेंगी जो पांच सेर पारद में करनी पड़ती हैं, और दिन भी उतने ही लगेंगे। इतने पर भी संस्कारार्थ अल्प परिमाण (अर्ध पल) पारद में मिलाई जाने वाली औषधियों के परिमाण में भी बहुत कमी होने से तोल में बहुत बारीकी रखनी पड़ेगी। इन सब बातों के होते हुए भी अल्प परिमाण पारद के शोधन में फल बहुत ही कम मिलेगा क्योंकि पूर्ण शोधन करने पर पारद बहुत कम हो जाता है जिससे कार्यसिद्धि नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त यदि पारद का शोधन दो चार दिन में हो तो शोधक इतनी परवाह न करे परन्तु पारद का कितनी ही मात्रा में शोधन किया जाय कम से कम एक मास लग ही जाता है। ऐसी दशा में आज एक छटांक कल एक छटांक शुद्ध पारद की आवश्यकता हो तो इस प्रकार पारद शोधन करने में बड़ी असुविधा होगी और समय तथा धन का भी व्यर्थ अपव्यय होगा। अतः पारद का शोधन जितनी अधिक मात्रा (परिमाण) में हो सके उतना अच्छा है। अतएव उक्त मूल श्लोकों के बाद रसरत्नाकर में यह स्पष्ट लिख दिया है कि "बहुप्रयाससाध्यत्वात्फलं स्वल्पतया भवेत्।" दूसरे रसवैद्य इस विषय में यह हेतु प्रदर्शित करते हैं कि "यह प्रत्यक्ष देखा गया है कि पारद पूर्ण संस्कारों के साथ अच्छी तरह शुद्ध होने पर अष्टमांश रह जाता है।" यदि कोई पाव भर शुद्ध पारद के लिये पाव भर ही पारद लेकर शोधन करने लगे तो उसका कार्य सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि शोधन के बाद पारद ॥ तोला ही शेष रह जायगा। अतः शोधन के निमित्त अधिक परिमाण में पारद लेना चाहिये। रसराजसुन्दर में भी यही स्पष्ट किया है। जैसे—"स्वेदनादिनवकर्मसंस्कृतः सप्तकञ्चुकवर्जितो भवेत्। अष्टमांशमवशिष्यते सदा शुद्धः सूत इति कथ्यते तदा॥" इसके अतिरिक्त किसी रसशास्त्रकार ने यह भी लिखा है—"यदा सम्यक् शोधितो रसराजोऽष्टमांशोऽवशिष्यते। तदा सप्तकञ्चुकोज्झितः शुद्धरसराजो ज्ञातव्यः। यथापूर्वं स्थितस्तादृशोऽस्ति सप्तकञ्चुकसम्बन्धिनः सप्त भागा गच्छन्ति।" र. प्र.। किन्तु योगरत्नाकर में शोधन के विषय में पारद का न्यून से न्यून अधिक से अधिक प्रमाण का भी निश्चय कर दिया है, "पलादूनस्य सूतस्य शतपल्यधिकस्य च। न संस्कारः प्रकर्तव्यः संस्कारः स्यात्ततोऽपरः" ॥ २७—२८ ॥

अथ संस्काराः।

स्वेदनविधिः—

त्र्यूषणं लवणासुर्यौ चित्रकार्द्रकमूलकम्।
क्षिप्त्वा सूतो मुहुः स्वेद्यः काञ्जिकेन दिनत्रयम् ॥ २९ ॥

एक पात्र में सौंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, सैन्धानमक, राई, चित्रकमूलचूर्ण, अदरख और मूली तथा काञ्जी डाल कर उसके मुख में चौतह कपड़े की पोटली में बंधा हुआ पारद दोलायन्त्रविधि के अनुसार लटकाकर तीन दिन तक लगातार मन्द मन्द अग्नि पर पकाने से पारद का सब मल दूर हो जाता है। यह पारद की स्वेदन संस्कार की विधि है ॥ २९ ॥

मर्दनविधिः—

गृहधूमेष्टिकाचूर्णं तथा दधि गुडान्वितम्।
लवणासुरसंयुक्तं क्षिप्त्वा सूतं विमर्दयेत् ॥ ३० ॥
षोडशांशन्तु तद्द्रव्यं सूतमानान्नियोजयेत्।
सूतं क्षिप्त्वा समं तेन दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ॥ ३१ ॥
जीर्णाभ्रकं तथा बीजजीर्णसूतं तथैव च।
नैर्मल्यार्थं हि सूतस्य खल्ले धृत्वा तु मर्दयेत् ॥ ३२ ॥
गृह्णाति निर्मलो रागान् ग्रासे ग्रासे विमर्दितः।
मर्दनाख्यं हि यत् कर्म तत् सूतगुणकृद्भवेत् ॥ ३३ ॥

रसोई का धुंआं, ईंट का चूर्ण, गुड़, दही, सैंधानमक, राई, इन सब द्रव्यों को पारद की अपेक्षा पृथक् पृथक् सोलहवां भाग लेकर खरल में डाल पारद के साथ क्रमपूर्वक तीन दिन तक मर्दन करें। और फिर एक मिट्टी के पात्र में डाल कर गरम काञ्जी से धोकर साफ कर लें। इस प्रकार मर्दन करने से पारद का बाह्य मल जो स्वेदनक्रिया द्वारा शिथिल किया गया है निकल जाता है। इसी प्रकार जीर्णाभ्रक पारद तथा जीर्णबीज पारद के मल को दूर करने के लिये गृहधूमादि द्रव्यों के साथ मर्दन करना चाहिये। यदि पारद को स्वर्ण, अभ्रक आदि द्रव्यों के ग्रास देते हुये प्रत्येक ग्रास के अनन्तर उक्त द्रव्यों से मर्दन किया जाय तो पारद निर्मल हो जाता है और उसमें पीत, रक्त आदि राग (रंग) ग्रहण करने की शक्ति बढ़ जाती है। साथ ही मर्दन विशेष से उसकी शक्ति बढ़ जाती है।

विशेष वचन— मर्दनार्थ ग्रन्थान्तरों में अनेक द्रव्यों का वर्णन मिलता है परन्तु क्षार अम्ल तथा लवण के साथ मर्दन करने से स्वेदन द्वारा शिथिलीभूत पारे का मल, अम्ल आदि द्रव्यों में घुल कर बाहर निकल जाता है। अतः क्षार अम्ल तथा लवण द्रव्यों का प्रयोग करना आवश्यकीय है ॥ ३०—३३ ॥

मूर्च्छनसंस्कारः—

गृहकन्या मलं हन्यात् त्रिफला वह्निनाशिनी।
चित्रमूलं विषं हन्ति तस्मादेभिः प्रयत्नतः ॥ ३४ ॥

मिश्रितं सूतकं द्रव्यैः सप्तवाराणि मूर्च्छयेत् ।
इत्थं सम्मूर्च्छितः सूतो दोषशून्यः प्रजायते ॥ ३५ ॥

यदि पारद को घीकुआर के रस से खूब मर्दन कर नष्ट-पिष्ट करके पुनः काञ्जी से धोकर साफ कर लें तो इस क्रिया से पारद का मलदोष नष्ट होता है । इसी तरह त्रिफलाचूर्ण के साथ पारद को नष्ट-पिष्ट करके काञ्जी से धोकर साफ करने से उसका वह्निदोष नष्ट हो जाता है । चित्रकमूलचूर्ण के साथ मर्दन कर काञ्जी से धोने पर उसका विषदोष नष्ट हो जाता है । अतः घीकुआर आदि द्रव्यों को पारद से षोडशांश लेकर पारद के साथ खूब मर्दन कर नष्टपिष्टी बना कर अन्त में गरम काञ्जी से धोकर साफ कर लें । इस प्रकार सात बार पृथक् पृथक् द्रव्यों से पारद को नष्ट-पिष्ट रूप में घोट कर काञ्जी से धो लेने पर उसके मल, वह्नि तथा विष दोष नष्ट हो जाते हैं ॥ ३४—३५ ॥

उत्थापनसंस्कारः—

अस्माद्विरेकात्संशुद्धो रसः पात्यस्ततः परम् ।
उद्धृतः काञ्जिकक्काथात्पूतिदोषनिवृत्तये ॥ ३६ ॥

उक्त प्रकार से किये जाने वाले विरेक (शोधन) द्वारा जब पारद मूर्च्छित अवस्था में अर्थात् नष्ट-पिष्ट रूप में होता है तो उसे उष्ण काञ्जी आदि में डालना चाहिये, अथवा स्वेदन प्रक्षालन करना चाहिये । इस तरह काञ्जी या किसी औषधि के कषाय में पारद को डाल धोकर पुनः अपने स्वरूप में ले आना 'उत्थापन-संस्कार' कहा जाता है । इस क्रिया से उसमें दुर्गन्धिदोष भी नहीं रहने पाता है ।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में भी मूर्च्छित पारद को उत्थापित करने के लिये अनेक विधियां देखी जाती हैं । उनमें सबसे सरल यह विधि है कि पारद को काञ्जी के साथ तीन-चार घण्टे मर्दन करके शीतल जल से अच्छी तरह धो लेने से पारद मूर्च्छितदोष से रहित हो जाता है ॥ ३६ ॥

पातनसंस्कारः—

ताम्रेण पिष्टिकां कृत्वा पातयेदूर्ध्वभाजने ।
वङ्गनागौ परित्यज्य शुद्धो भवति सूतकः ॥ ३७ ॥

पारद ३ भाग, ताम्रचूर्ण ९ भाग लेकर दोनों को नींबू के रस से खूब घोट कर पिष्टी या कल्क बना लें । फिर इस कल्क को एक पात्र (हांडी) की भीतरी तली में लेप कर उसके मुख पर दूसरा पात्र रख सन्धिलेप करके नीचे आंच दें तो पारद का ऊर्ध्वपातन हो जाता है । इस क्रिया से पातित किया हुआ पारद नाग और वंग के अंशों को छोड़ देता है और शुद्ध हो जाता है ।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में इसका स्पष्ट वर्णन किया गया है कि—"भागास्त्रयो रसस्याऽर्कभागमेकं विमर्दयेत् । जम्बीर-द्रवयोगेण यावदायाति पिण्डताम् ॥ तत्पिण्डं तलभाण्डस्थमूर्ध्व-भाण्डे जलं क्षिपेत् । कृत्वालवालकं वापि ततः सूतं समुद्धरेत् ॥ ऊर्ध्वपातनमित्युक्तं भिषग्भिः सूतशोधने ॥" पातनसंस्कार के लिये पूर्ववर्णित विद्याधरयन्त्र अथवा डमरुयन्त्र का उपयोग करना चाहिये । पातनायन्त्र (जिसका विधान पहिले आ चुका है) द्वारा भी पातनसंस्कार किया जा सकता है । इस विधि से पारद का ऊर्ध्वपातन करने से पारद ऊपर के पात्र में चिपक जाता है और नीचे के पात्र में ताम्र की अर्धमृत भस्म मिलती है ॥ ३७ ॥

ऊर्ध्वाधःपातनयोः संख्यानिर्देशः—

शुल्वेन पातयेत्पिष्टीं त्रिधोर्ध्वं सप्तधा त्वधः ॥ ३८ ॥

ताम्र के साथ बनाई हुई पारद की पिष्टी को तीन बार ऊर्ध्व-पातन विधान से और सात बार अधःपातन विधान से पातन करना चाहिये ।

विशेष वचन—ऊर्ध्व तथा अधःपातन करने में पारद तथा ताम्र का क्रमशः तीन और एक का अनुपात होना चाहिये । अर्थात् तीन भाग पारद में एक भाग ताम्रचूर्ण मिला कर पिष्टी बनानी चाहिये ॥ ३८ ॥

अधःपातनविधिः—

त्रिफलाशिग्रुशिखिभिर्लवणासुरिसंयुतैः ।
नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेच्चोर्ध्वभाजने ॥
ततो दीप्तैरधःपातमुत्पलैस्तत्र कारयेत् ॥ ३९ ॥

त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), शिग्रु (सुहांजना) मूल, चित्रकमूल, सैंधा नमक तथा राई, इन सब को समभाग में एकत्र पीसकर, पारद के साथ मर्दन करें । जब पारद नष्ट-पिष्ट हो जाय तब इसे ऊपर के पात्र के अन्दर लीप देवें । और नीचे के पात्र में जल भर देवें । अब दोनों पात्रों के मुख की सन्धि पर लेप करके नीचे के पात्र सहित ऊपर के पात्र को सन्धि से पर्याप्त ऊपर तक भूमि में गाड़ दें । अब ऊपर के पात्र के चारों ओर उपले लगा कर पुट दें । इस प्रकार पारद का अधःपातन करें । इस विधि से पारद ऊपर के पात्र से निकल कर निचले पात्र के जल में जा गिरता है ।

विशेष वचन—त्रिफला आदि द्रव्यों को पारद के समान लेना चाहिये । ग्रन्थान्तर में अधःपातनार्थ जम्बीरी नींबू के रस से एक दिन पर्यन्त मर्दन किया हुआ गन्धक, कौंच के बीजों के साथ सुहांजना आदि द्रव्यों को लिया है । रसेन्द्रचिन्तामणि में उक्त द्रव्यों के साथ अभ्रक का श्लक्ष्णचूर्ण भी लिया गया है । रसेन्द्र-सारसंग्रह में अधःपातन की निम्न बहुत सरल विधि पाई जाती है । जैसे—"नवीनताम्रं गन्धं घृष्ट्वा जम्भाम्भसा दिनम् । वानरी-शिग्रुशिखिभिः सैन्धवासुरिसंयुतैः ॥ नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेदूर्ध्व-भाण्डके । ऊर्ध्वभाण्डोदरं लिप्त्वाऽधोभाण्डं जलसंयुतम् ॥ सन्धिलेपं द्वयं कृत्वा तद् यन्त्रं भुवि पूरयेत् । उपरिष्टात् पुटे दत्ते जले पतितपारदः । अधःपातनमित्युक्तं सिद्धाद्यैः सूतकर्मणि ।"

नष्ट पिष्ट—पारद को किसी द्रव्य के साथ इतना घोटना चाहिये कि वह उसमें सूक्ष्म रूप से मिल जाय तथा उसकी चमक न दिखाई दे। यही नष्टपिष्ट कहाता है ॥ ३९ ॥

पातने प्रकारान्तराणि—

हरिद्राऽङ्कोल्लशम्पाककुमारीत्रिफलाग्निभिः।
तण्डुलीयकवर्षाभूहिंगुसैन्धवमाक्षिकैः॥ ४० ॥
पिष्टं रसं सलवणैः सर्पाक्ष्यादिभिरेव वा।
पातयेदथवा देवि! व्रणघ्नीयत्तलाचनैः॥ ४१ ॥
इत्थं ह्यधोर्ध्वपातेन पातितोऽसौ यदा भवेत्।
तदा रसायने योग्यो भवेद्द्रव्यविशेषतः॥ ४२ ॥

हरिद्राचूर्ण, अंकोल (अंकोला-ढेरा), अमलतास, घीकुआर, त्रिफला, चित्रकमूल, चौलाई, पुनर्नवा, हिंगु, सैन्धानमक तथा शहद इन सबको समभाग में लेकर एकत्र पीसकर पारद के साथ मिला मर्दन करके ऊर्ध्व अथवा अधःपात्र में लेप करके या डाल कर सन्धिलेप करके ऊर्ध्व या अधः प्रकार से पातन करना चाहिये। अथवा सर्पाक्षी,क्षीरिणी आदि आगे लिखे हुए द्रव्यों के साथ सैन्धानमक तथा पारद को घोट कर नष्टपिष्ट करके ऊर्ध्व या अधःपातन करें। अथवा व्रणघ्नी (छोटा करेला) वटवृक्ष की त्वचा तथा लोचन (सफेद जीरा) इन द्रव्यों के साथ पारद को घोटकर नष्ट-पिष्ट करके ऊर्ध्व या अधःपातन करें। इस प्रकार उक्त द्रव्यों के साथ मर्दन कर नष्ट-पिष्ट करके ऊर्ध्व और अधःपातित किया हुआ पारद, द्रव्यविशेष के संयोगजन्य संस्कार से, रसायन के योग्य हो जाता है ॥ ४०—४२ ॥

प्रकारान्तरम्—

अथवा दीपकयन्त्रे निपातितः सर्वदोषनिर्मुक्तः॥ ४३ ॥

अथवा उक्त औषधियों के साथ पारद को अच्छी तरह घोट नष्ट-पिष्ट करके दीपिकायन्त्र में पातन किया जाय तो वह भी नाग-वंगादि सर्व दोषों से रहित हो जाता है ॥ ४३ ॥

तिर्यक्पातनम्—

तिर्यक्पातनविधिना निपातितः सूतराजस्तु।
श्लक्ष्णीकृतमभ्रदलं रसेन्द्रयुक्तं तथाऽऽरनालेन॥ ४४ ॥
खल्ले दत्त्वा मृदितं यावत्तन्नष्टपिष्टतामेति।
कुर्यात्तिर्यक्पातनपातितसूतं क्रमेण दृढवह्निम्॥ ४५ ॥
संस्वेद्यः पात्योऽसौ न पतति यावद्दृढश्चाग्नौ।
तदाऽसौ शुद्ध्यते सूतः कर्मकारी भवेद्ध्रुवम्॥ ४६ ॥

तिर्यक्पातन विधान से पतित किया हुआ पारद सर्वदोष शून्य हो जाता है। इसकी विधि यह है कि खरल में अभ्रक के श्लक्ष्ण चूर्ण (सूक्ष्मचूर्ण) के साथ पारद को समभाग में डाल कर जम्बीरी नींबू के रस से घोंट कर नष्ट-पिष्ट किया जाता है। फिर इस पिष्टी को तिर्यक्पातन यन्त्र में डाल कर दूसरे पात्र में जल भर कर, पारद पिष्टी वाले पात्र या घड़े के गलप्रदेश के कुछ नीचे एक छिद्र में नली लगा इस नली को जल वाले पात्र के कुक्षिप्रदेश में बनाये हुये छिद्र में अच्छी तरह संयुक्त कर नलिका-संयोगयुक्त स्थानों पर अच्छी तरह मृतिका से सन्धिलेप कर दें और दोनों पात्रों के मुख पर शराव रख कर उनकी सन्धियों पर भी लेप कर दें। पश्चात् पारद वाले पात्र के नीचे मृदु, मध्य तथा तीव्र क्रम से तीव्र अग्नि दें, जब तक कि पारद जल वाले पात्र में उड़ कर सञ्चित न हो जाय। इस प्रकार 'तिर्यक्पातित' पारद को दोलायन्त्र विधि से तीन दिन तक स्वेदन करें। पश्चात् इसे पुनः तिर्यक्पातन यन्त्र द्वारा पातित करें। इस क्रिया को अनेक बार करना चाहिये जिससे पारद में दृढ़ अग्नि को सहन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाय। इस प्रकार पातित तथा स्वेदित पारद सर्वथा शुद्ध होता है और यह अवश्य ही कार्यसिद्धि करने वाला हो जाता है।

विशेष वचन—तिर्यक्पातन के बाद स्वेदन करने के विषय में आयुर्वेदप्रकाश में लिखा है कि "अत्रावसरे केचित्पुनः स्वेदनमिच्छन्ति।" अतः तिर्यक्पातन के बाद यदि स्वेदन करना अभीष्ट हो तो एक पात्र में काञ्जी, त्रिकटु, त्रिफला, चित्रकमूल और कुमारी-रस डाल कर उसमें एक शराव भर (आधा सेर) रसोनस्वरस में घोटे हुए पारद को चतुर्गुण वस्त्र की पोटली में बांध कर मध्यम अग्नि से एक दिनमान पकाना चाहिये ॥ ४४—४६ ॥

मर्दनादीनां कार्यम्—

मर्दनैर्मूर्च्छनैः पातैर्मन्दः शान्तो भवेद्रसः॥ ४७ ॥

मर्दनक्रिया, मूर्च्छनक्रिया तथा ऊर्ध्व, अधः तथा तिर्यक्पातन क्रियाओं वा संस्कारों के करने से पारद, मन्द (शिथिल शक्ति) तथा शान्त (मूर्च्छितावस्थायुक्त) हो जाता है।

विशेष वचन—कोई इस श्लोक का अर्थ यह करते हैं कि मर्दनादि क्रियाओं के करने से मन्द अर्थात् दोषयुक्त पारद, शान्त अर्थात् दोषरहित हो जाता है। परन्तु तिर्यक्पातन के अनन्तर पारद जब कि उसमें से कञ्चुक तथा नाग वंगादि दोष नष्ट हो जाते हैं, तो वह खिन्न तथा अशक्त-सा हो जाता है जिससे उसमें पूर्ण शक्ति नहीं होती है। इस शक्ति को पुनः जागृत करने के लिये बोधन संस्कार का विधान होने से यहाँ पर मन्द का दोषयुक्त तथा शान्त का दोष रहित अर्थ नहीं होता है। वाग्भट में इन्हीं शब्दों से मन्द का अर्थ शिथिलता लिया है—"मर्दनैर्मूर्च्छनैः पातैर्मरणान्तो भवेद्रसः। शक्तयुत्कर्षाय बोध्योऽसौ गुरुदर्शितवर्त्मना॥" इसी तरह रसेन्द्रसारसंग्रह में भी लिखा है कि—"मर्दन पातन आदि कर्मों से यद्यपि पारद के नाग वंग आदि दोष तो हट जाते हैं परन्तु पारद स्वयं कुछ हीनवीर्य (नपुंसक) हो जाता है। इस दोष को दूर करने के लिये पारद का बोधन संस्कार किया जाता है।" रसहृदयतन्त्र में भी इसी प्रकार लिखा है, "मर्दनमूर्च्छनपातैः कदर्थितो मन्दवीर्यत्वम्" ॥ ४७ ॥

रोधनम्—

सृष्ट्यम्बुजैर्निरोधेन ततो मुखकरो रसः।
स्वेदनादिवशात्सूतो वीर्यं प्राप्नोत्यनुत्तमम्॥ ४८ ॥

लवण और जल में पारद को डाल कर कुछ काल तक एक स्थान में बन्द कर रखें तो इसमें धातुग्रास करने के लिये मुखीकरण हो जाता है और स्वेदन आदि क्रियाओं द्वारा होने वाली निर्वीयता दूर होकर इसमें उत्तम कार्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

विशेष वचन---इस संस्कार को अन्यत्र रोधन नाम से भी आचार्यों ने कहा है । सृष्ट्यम्बुज के विषय में अनेक मतभेद देखे जाते हैं । कई तो 'सृष्ट्यम्बुज' से केवल सैन्धा नमक का ग्रहण करते हैं और कई शक्त्यवतार में कहे गये—"गोजाविनरनारीणां मूत्रं शुक्रञ्च शोणितम् । सृष्टिरेषा समाख्याता षण्ढदोषनिवारिणी॥" इस वचन के अनुसार गाय आदि के मूत्र, शुक्र और रक्त (आर्तव) इन तीनों को सृष्टि से ग्रहण करते हैं । और अम्बुज से लवण लेते हैं । रसावतार में कहे गये—"स्त्रीपुंसोः शुक्रयुगलमप्रसूतारजस्तथा । एतत्सृष्टित्रयं प्रोक्तं गुह्यमेतद्वरानने ॥" इस वचन के अनुसार कई 'सृष्टि' से स्त्री और पुरुष दोनों के शुक्र और अप्रसूता स्त्री के रज को लेते हैं । कई टीकाकार 'सृष्टि' से बृद्धि 'अम्बु' से नेत्रवाला तथा 'ज' से विष का ग्रहण करते हैं । परन्तु अधिकतर वैद्य 'सृष्ट्यम्बुज' से सैन्धव लवण का ही ग्रहण करते हैं । और पारद को वहाँ डुबाने के लिये जल भी साथ डाला जाता है । अन्यत्र कहा भी है—जलसैन्धवयुक्तस्य रसस्य दिवसत्रयम् । स्थितिरास्थापिनी कुम्भे याऽसौ रोधनमुच्यते" अन्यत्र भी रोधन के विषय में स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—"दिक्पलं सैन्धवं चूर्णं जलं प्रस्थत्रयं तथा । धारयेद्घटमध्ये च सूतकं दोषवर्जितम् ॥ रुद्ध्वा तस्या मुखं सम्यक् मर्दितं मृत्स्नया कुरु । निर्वाते निर्जने देशे धारयेद्दिवसत्रयम् ॥ अनेनैव प्रकारेण रोधनं कुरु वैद्यराट् ॥" केवल लवण से भी रोधन संस्कार का विधान मिलता है । यथा—"अथवा कूपिकामध्ये सूतं सैन्धवसंयुतम् । भूगर्भे च ततः स्थाप्यमेकविंशदिनावधि । अयं निरोधको नाम्ना महासुखकरो रसे ॥" रसेन्द्रसारसंग्रह में लिखी हुई "सूते जलं विनिक्षिप्य तत्र तन्मज्जनावधि ।", इत्यादि रोधन संस्कार की विधि ठीक स्पष्ट प्रतीत नहीं होती है ॥ ४८ ॥

नियामनम्—

नियम्योऽसौ ततः सम्यक् चपलत्वनिवृत्तये ।
कर्कोटी-फणिनेत्राभ्यां वृश्चिकाम्बुज-मार्कवैः ॥
समं कृत्वाऽऽरनालेन स्वेदयेच्च दिनत्रयम् ॥ ४९ ॥

रोधन संस्कार करने के पश्चात् पारद का चपल दोष दूर करने के लिये नियामनसंस्कार करना चाहिये । इसके लिये बांझ ककोड़ा, सर्पाक्षी (नाकुली या नांई) श्वेतपुनर्नवा, कमल या हिज्जल तथा भृंगराज इन सब औषधियों को पारद के बराबर लेकर पारद के साथ काञ्जी से अच्छी तरह मर्दन करके गोला सा बना कर स्वेदन यन्त्र में तीन दिन तक स्वेदन करना चाहिये ।

विशेष वचन—रोधन संस्कार द्वारा लब्धवीर्य पारद के चपल दोष को दूर करने को नियामन कहा जाता है—"रोधनाल्लब्धवीर्यस्य चपलत्वनिवृत्तये । क्रियते पारदे स्वेदः प्रोक्तं नियमनं हि तत् ॥" स्वेदन करने के बाद पारद को काञ्जी से धोकर साफ कर लेना चाहिये । ग्रन्थान्तर में इसकी स्पष्ट विधि इस प्रकार दी है—"उत्तराशाभवस्थूलरक्तसैन्धवलोष्ठकः । तद्गर्भे रंध्रकं कृत्वा सूतं तत्र विनिक्षिपेत् ॥ ततस्तु चणकक्षारं दत्वा चोपरि निम्बुजम् । रसे प्रक्षिप्य दातव्यं तादृक् सैन्धवखण्डकम् ॥ गर्तं कृत्वा धरागर्भे दत्वा सैन्धवसम्पुटम् । धूलिमष्टांगुलां दत्वा कारीषं दिनसप्तकम् ॥ वह्निं प्रज्वाल्य तद्ग्राह्यं क्षालयेत्काञ्जिकेन च । अयं नियामनो नाम संस्कारो गदितो बुधैः" ॥ ४९ ॥

प्रकारान्तरम्—

मरिचैर्भूखगयुक्तैर्लवणासुरिशिग्रुटङ्कणोपेतः ।
काञ्जिकयुक्तैस्त्रिदिनं ग्रासार्थी जायते स्वेदात् ॥ ५९ ॥

कालीमरिच, स्वर्णमाक्षिकभस्म, सैन्धवलवण, राई, सुहांजने की छाल तथा सुहागा इन द्रव्यों को एक घड़े या पात्र में डाल उसमें काञ्जी भर कर फिर इसमें पारद को चतुर्गुण वस्त्र की पोटली में बांध कर दोलायन्त्र विधि से तीन दिन तक स्वेदन करने से पारद, धातु के ग्रास करने योग्य हो जाता है ।

विशेष वचन—वस्त्र की पोटली में बांधने के पूर्व पारद को भोजपत्र में बाँध लेना चाहिये अन्यथा वह निकल कर नीचे गिर जायगा ॥ ५० ॥

दीपनम्—

त्रिक्षारसिन्धुखगभू-शिखिशिग्रुराजी-
तीक्ष्णाम्लवेतसमुखैर्लवणोषणाम्लैः ।
नेपालताम्रदलशोषितमारनाले
साम्लासवाम्लपुटितं रसदीपनं तत् ॥ ५१ ॥

यवक्षार, सर्जक्षार, सुहागा, सैन्धवनमक, कासीस, फिटकरी, चित्रकमूलत्वक्, सुहांजना, राई, चव्य अथवा वचा, अमलवेत आदि अम्ल वर्गोक्त द्रव्यों (जिन में लवण, कटु तथा अम्लरस विशेष हो) को नैपालदेशीय सूक्ष्म ताम्रपत्र (चूर्ण) के साथ काञ्जी से मर्दन कर इस काञ्जीयुक्त द्रव में पारद को स्वेदन (तीन दिन) करके पश्चात्-अत्यन्त अम्ल काञ्जी (आसवाम्ल) से मर्दन कर लघुपुट (कुक्कुट) देना पारद का दीपन कहा जाता है ।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में रस दीपन के लिये इसी विधि को कुछ परिवर्त्तन करके लिखा है अर्थात् पहिले 'स्वेदयेदासवाम्लेन' इत्यादि श्लोक लिख कर फिर इस विधि को लिखा है, जिससे इस श्लोक की व्याख्या तथा विधि भी ठीक हो जाती है । अन्यथा 'साम्लासवाम्लपुटितम्' इस पद्य का अर्थ ठीक नहीं होता है । क्योंकि पुट देने से पारद उड़ जाता है । अतः ग्रन्थान्तरोक्त 'पुटितं'

के स्थान पर 'मुदितम्' पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। ऐसी दशा में उक्त दीपन विधान न होकर 'आसवाम्ल' निर्माण हो जाता है। अतः उक्त पद्य से यह अर्थ लेना चाहिये कि पारद दीपन के लिये अम्ल आरनाल में त्रिक्षार आदि लवण कटु तथा अम्ल द्रव तथा अत्यन्त सूक्ष्म ताम्रपत्र डाल कर कुछ काल सन्धान करके अम्ल काञ्जी का आसव बना कर उसमें पारद का दोलायन्त्र विधान से तीन दिन तक स्वेदन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

(प्रकारान्तरेण दीपनम्—

स्वेदयेदासवाम्लेन वीर्य्यतेजःप्रवृद्धये ।
यथोपयोगं स्वेद्यःस्यान्मूलिकानां रसेषु च ॥ ५२ ॥

वीर्य (रोगनाशक प्रभाव) तथा तेज की वृद्धि के लिये पारद को आसवाम्ल (काञ्जी का आसव) में तीन दिन तक स्वेदन करना चाहिये। अथवा आगे लिखी जाने वाली मूलिनी औषधियों के रस में आवश्यकतानुसार स्वेदन करना चाहिये। इससे पारद में धातुग्रास करने की शक्ति बढ़ जाती है।

विशेष वचन—आसवाम्ला से ५१ श्लोकोक्त विधि से निर्मित अत्यन्त अम्लद्रव लेना चाहिये। ग्रन्थान्तर में इसी को 'आसवाम्ल' कहा गया है। रसहृदयतन्त्र में तुषजल को ही आसवाम्ल के नाम से लिया है—"कासीसद्विनिशिग्रुबीजलवणक्षारासुरीषट्कटु । स्वर्वल्लीजलपिप्पलीतुषजलस्वेदेन तं दीपयेत् ॥" ग्रन्थान्तर में पारद को षोडशांश यवक्षार के साथ बिजौरा नींबू के अन्दर रख कर क्षारादि द्रव्यों से इक्कीस दिन तक दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करना पाया जाता है। यथा—"स्वेदनं रसराजस्य क्षाराम्लविषमद्यकैः। बीजपूरं समादाय वृन्तमुत्सृज्य कारयेत् ॥ तस्य मध्ये क्षिपेत्सूतं कलांशक्षारसंयुतम्। द्वारं निरुध्य यत्नेन वस्त्रमध्ये निबन्धयेत् ॥ दोलास्वेदः प्रकर्तव्य एकविंशदिनावधि। दिने दिने प्रकर्तव्यं नूतनं बीजपूरकम् ॥ लेलिहानो हि धातूंश्च पीड्यमानो बुभुक्षया" ॥५२॥

रसभावनादौ मूलिन्यः—

सर्पाक्षी क्षीरिणी बन्ध्या मत्स्याक्षी शंखपुष्पिका ।
काकजंघा शिखिशिखा ब्रह्मदण्ड्याखुकर्णिका ॥ ५३ ॥
वर्षाभूः कम्बुकी दूर्वा सैर्यकोत्पलशिम्बिकाः ।
शतावरी वज्रलता वज्रकन्दाग्निकर्णिका ॥ ५४ ॥
श्वेतार्कशिग्रुधत्तूरमृगदूर्वारसांकुशाः ।
रम्भा रक्ताभनिर्गुण्डी लज्जालुः सुरदालिका ॥ ५५ ॥
मण्डूकपर्णी पाताली चित्रकं ग्रीष्मसुन्दरी ।
काकमाची महाराष्ट्री हरिद्रा तिलपर्णिका ॥ ५६ ॥
जाती जयन्ती श्रीदेवी भूकदम्बः कुसुम्भकः ।
कोशातकी नीरं कणा लांगली कटुतुम्बिका ॥ ५७ ॥
चक्रमर्दोऽमृता कन्दः सूर्य्यावर्तेपुपुंखिका ।
वाराही हस्तिशुण्डी च प्रायेण रसमूलिका ॥ ५८ ॥
रसस्य भावने स्वेदे मूषालेपे च पूजिताः ।
इत्यष्टौ सूतसंस्काराः समा द्रव्ये रसायने ।
कार्यास्ते प्रथमं शेषा नोक्ता द्रव्योपयोगिनः ॥ ५६ ।

गन्धनाकुली, दूधी या खिरनी, बांझ ककोडा, मछेछी, शंखपुष्पिका (शंखाहुली), काकजंघा, मयूरशिखा वा अपामार्गमञ्जरी, ब्रह्मदण्डी, आखुकर्णिका (मूसाकानी), पुनर्नवा, शिरीष, दूब, सैर्यक (बांसा झिण्डी), नीलकमल, सोंवी, शतावर, वज्रलता (हाडजोड़), वज्रकन्द, शकरकन्द, अथवा जंगली जिमीकन्द। अग्निकर्णिका, श्वेतअर्क (मदार) सुहांजना, धतूरा कोमलदूर्वांकुर, (या नीलदूर्वा) रसांकुश (सुहागा), कदली, रत्ती, सिभालु, लज्जालु (छुई मुई) सुरदालिका (वन्दालडोडा) मण्डूकपर्णी (ब्राह्मीभेद) पाताली (पातालगरुड़ी) चित्रकमूल, ग्रीष्मसुन्दर (बंगाली में गीमाशाक कहते हैं), मकोय, गजपीपल, हरिद्रा, तिलपर्णी (रक्तचन्दन या वनतुलसी), जाती, (चमेली), जयन्ती, (अरणी), श्रीदेवी (हुलहुल या तुलसी), कदम्ब, कसूम, कड़वीतोरी, नेत्रबाला, पिप्पली, कलिहारी, कड़वीतुम्बी, चक्रमर्द (पनवाड़) गुडूची, माणकन्द, सूर्यावर्ता (सूरजमुखी), इषुपुङ्खिका (शरफोंका), वाराहीकन्द, हस्तिशुण्डी। ये औषधियां प्रायः पारद के दीपनादि संस्कारों के करने में मूलिका नाम या गण से कही जाती है। ये औषधियाँ पारद की भावना तथा स्वेदन और जिन मूषाओं में पारदसंस्कार किया जाता है उन मूषाओं पर भीतर बाहर लेपन करने में प्रयुक्त होती हैं।

इस प्रकार पारद के आठ संस्कारों का वर्णन किया गया है। ये आठ संस्कार, द्रव्य अर्थात् स्वर्णादि धातु निर्माण और रसायन प्रयोग इन दोनों कार्यों में समान या आवश्यक होते हैं। अतः अठारह संस्कारों में से पहिले के आठ स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियामन और दीपन संस्कार दोनों कार्यों के लिए अवश्य करने चाहिये। किन्तु शेष गगनभक्षण आदि अवशिष्ट दश संस्कार केवल द्रव्योपयोगी (धातुनिर्माणोपयोगी) होने से नहीं कहे गये हैं।

विशेष वचन—अन्यत्र भारंगी, रुदन्ती, अवाक्पुष्पी आदि औषधियों को मूलिका नाम से लिया है। यथा—"भार्ङ्गी मूषकपर्णी च शरपुंखोर्ध्वपुंखिका। आवाक्पुष्पी रुदन्ती च भेकपर्णी गवाक्षिका पुनर्नवा शिखिशिखा कुट्टारश्चित्रकांकुली। गोपालकर्कटी चेन्द्रा गोडुम्बा शाणिका तथा ॥ काण्डवल्ली त्रिधारा च स्नुही वज्री त्रिधारकः। आदित्यभक्ताऽपामार्गो बीजमेरण्डसम्भवम्। देवदाली हरिक्रान्ता नाकुली शंखपुष्पिका। कर्कोटी कुडहञ्चो च हलिनी क्षीरकन्दकः ॥ वज्रकन्दश्चन्द्रवल्ली कोकमा इति मूलिकाः ॥" मूलोक्त मूलिनियों में से वज्रलता का लक्षण इस प्रकार पाया जाता है— "कुरण्टपत्रच्छदनोपमानप्रसूतपत्रा च सदुग्धकन्दा। सा वज्रवल्ली कटुतिक्तसारा वज्रांकपत्रा रसबन्धिनी च ॥" वाराही नामक औषधि का लक्षण इस प्रकार पाया जाता है—"मुसलीकन्दवत्कन्दा तद्दला-

कारवद्दला। सक्षीरा लोमशा प्रोक्ता वाराही रसबन्धिनी॥" ग्रन्थान्तर में मूलिका शब्द से अष्टमूलिकाओं को भी लिया गया है।

१—"कञ्चुकी" पाठ०। २—"अग्निकर्णिका" इत्यत्र 'अद्रिकर्णिका" इत्येव पाठः समीचीनः, अन्यत्रापि "गिरिकर्णिका" इति दृश्यते। तथा सति अद्रिकर्णिकया "नीला अपराजिता अथवा राजवृक्षो वा गृह्यते"। ३—'भृंग' पा०। ४—'मूर्वा, पाठः। ५—'रक्ताभ' इत्यत्र 'रक्ता' च इति पाठोऽथवा 'रक्ताग्र' इति पा०। ६—'भूकुदम्बः' इत्यत्र 'भूकन्दश्च' इति पा०। ७—'नीरं कणा' इत्यत्र 'नीपकणा' अथवा 'नीरकणा' पा०। ८—'प्रायेण रसमूलिका': इत्यत्र 'प्रयोगे रसमूलिकाः' इति पा०॥ ५३—५६॥

रसबन्धनं वक्तुं प्रतिज्ञा—

पञ्चविंशतिसंख्याकान् रसबन्धान् प्रचक्ष्महे।
येन येन हि चाञ्चल्यं दुर्ग्रहत्वं च नश्यति।
रसराजस्य संप्रोक्तो बन्धनार्थो हि वार्तिकैः॥ ६०॥

अब पारद के पचीस संख्यायुक्त बन्धनों का वर्णन करते हैं। जिस क्रिया के अनुष्ठान से पारद की चञ्चलता तथा दुर्ग्रहता नष्ट हो जाती है अर्थात् पारद को (स्वतन्त्र पारद केवल पारद) गुटिका आदि के रूप में प्रयोग करने पर कोई कठिनाई न होती हो उस क्रिया या विधि को वार्तिककारों ने पारद का बन्धन या रसबन्ध नाम से कहा है॥ ६०॥

रसबन्धाः—

हठारोटौ तथाऽऽभासः क्रियाहीनश्च पिष्टिका।
क्षारः खोटश्च पोटश्च कल्कबन्धश्च कज्जिलः॥ ६१॥
सजीवश्चैव निर्जीवो निर्बीजश्च सबीजकः।
शृङ्खलाद्रुतिबन्धौ च बालकश्च कुमारकः॥ ६२॥
तरुणश्च तथा वृद्धो मूर्तिबद्धस्तथाऽपरः।
जलबन्धोऽग्निबन्धश्च सुसंस्कृतकृताभिधः॥
महाबन्धाभिधश्चेति पञ्चविंशतिरीरिताः॥ ६३॥

१—हठबन्ध, २—आरोटबन्ध, ३—आभासबन्ध, ४—क्रियाहीनबन्ध, ५—पिष्टिकाबन्ध, ६—क्षारबन्ध, ७—खोटबन्ध, ८—पोटबन्ध, ९—कल्कबन्ध, १०—कज्जलिबन्ध, ११—सजीवबन्ध, १२—निर्जीवबन्ध, १३—निर्बीजबन्ध, १४—सबीजबन्ध, १५—शृंखलाबन्ध, १६—द्रुतिबन्ध, १७—बालकबन्ध, १८—कुमारबन्ध, १९—तरुणबन्ध, २०—वृद्धबन्ध, २१—मूर्तिबन्ध, २२—जलबन्ध, २३—अग्निबन्ध, २४—सुसंस्कृतबन्ध, २५—महाबन्ध, इस प्रकार पारद के पच्चीस बन्ध कहे गये हैं। जिनका लक्षण आगे पृथक् २ किया गया है।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में अभ्रक, वंग, नाग, गन्धक, स्वर्ण, लोह, माक्षिक, तार, अष्टमहारस, तीक्ष्ण, कान्त, वैक्रान्त, चपल, विमल, स्रोतोञ्जन, तालक, सोमल, तुत्थक, खर्पर, निगड, वज्र, पिष्टक, आदि अनेक नामों से पारद के बन्धन विधान पाये जाते हैं। इनके लिये रसकामधेनु आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये। अन्यत्र खोट, पाट, जलौका तथा भस्म भेद से पारद के चार प्रकार के बन्ध पाये जाते हैं। यथा "खोटः पाटो जलौका च, भस्मत्वं च चतुर्विधम्। बन्धश्चतुर्विधो ज्ञेयो रसेन्द्रे भिषगुत्तमैः। पाटः पर्पटिकाबन्धः पिष्टीबन्धस्तु खोटकः। जलौका पक्कबन्धः स्याद्भस्म भस्मनिभं भवेत्॥" रसार्णव में मूर्च्छित, मृत, जलौकाबन्ध, मूर्तिबन्ध, पट्टबन्ध, भस्म तथा खोट नाम से सात ही बन्ध लिये गये हैं। इनको रसबन्ध के अतिरिक्त पक्क पारद भेद के नाम से भी लिया जाता है॥ ६१—६३॥

मतान्तरीयबन्धः—

केचिद्वदन्ति षड्विंशो जलूकाबन्धसंज्ञकः।
स तावन्नेष्यते देहे स्त्रीणां द्रावेऽतिशस्यते॥ ६४॥

कोई छब्बीसवां रसबन्ध भी मानते हैं जिसको जलूका (जलौका) बन्ध नाम से कहा जाता है। परन्तु इस प्रकार से बद्ध पारदयोग शारीरिक रोगों के दूर करने में प्रयुक्त नहीं होता है। किन्तु इस बन्ध प्रयोग से स्त्रियों में मैथुन के समय स्खलन न होने वाली शक्ति शीघ्रता से हो जाती है। अथवा इसके उपयोग से स्त्री वशीकरण होता है। अतः इसे मुख्य रसबन्ध नहीं माना जाता है।

विशेष वचन—"बन्ध" शब्द से कहीं पारद का उपयोग तथा कहीं पारद के रससिन्दूर, मकरध्वज, चन्द्रोदय, रसकर्पूर आदि योगों का ग्रहण समझा जाता है। धातु तथा उपरसों के द्वारा भी पारद को शरीरोपयोगी बनाना पारदबन्ध समझा जाता है॥६४॥

हठबन्धः—

हठो रसः स विज्ञेयः सम्यक् शुद्धिविवर्जितः।
स सेवितो नृणां कुर्यान्मृत्युं वा व्याधिमुद्धतम्॥ ६५॥

पारद की अच्छी तरह शुद्धि किये बिना ही उपयोग में लाना 'हठरस' प्रयोग कहा जाता है।। क्योंकि अशुद्ध पारद का सर्वत्र निषेध है। जबर्दस्ती पारदशोधन में शास्त्राज्ञा की अवहेलना करके प्रयोग करना ही हठता है। इस शुद्धि रहित पारद का सेवन करने से मनुष्यों (सेवन करने वालों) की मृत्यु हो जाती है अथवा उनके शरीर में कोई भंयकर व्याधि उत्पन्न हो जाती है॥ ६५॥

आरोटबन्धः—

सुशोधितो रसः सम्यगारोट इति कथ्यते।
स क्षेत्रीकरणे श्रेष्ठः शनैर्व्याधिविनाशनः॥ ६६॥

उत्तम प्रकार से शुद्ध किये हुये पारद को 'आरोटबन्ध' शब्द से कहा जाता है। इस पारद के सेवन से शरीर की व्याधियां शनैः२ नष्ट हो जाती हैं और शरीर में दृढ़ता (कार्यक्षमता) आ जाती है। शरीर में दृढ़ता उत्पन्न करने के लिये इसे श्रेष्ठ माना जाता है।

विशेष वचन—क्षेत्रीकरण का अर्थ कहीं २ यह भी लिया जाता है कि "स्त्रियों के गर्भाशय में शुद्धिपूर्वक गर्भ धारण शक्ति प्रदान करना।" रसदर्पण में सम्यक्शोधित और एक बार मृत पारद को 'आरोटशब्द से लिया है—"आरोटसंज्ञां लभते वारमेकं

मृतस्तु यः। आरोटो लोहजीर्णः स्यात्पतङ्गी पारदेश्वरः॥" यहाँ पर क्षेत्रीकरण का वास्तविक तात्पर्य यह है कि रसायन सेवन करने के पूर्व शरीर को पञ्च कर्मों से शुद्ध करके यदि शरीर में कोई रोग हो तो उसे औषधि (पारदयोग आदि) द्वारा दूर कर देना चाहिये। तदनन्तर रसायन सेवन करना चाहिये। रसायनसेवन के पूर्व शरीर को रसायनसेवन के योग्य बनाना 'क्षेत्रीकरण' कहा जाता है। क्षेत्र करण का स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि "संज्ञातपञ्चकृत्यस्य जैत्रैर्यद्रदनाशनम्। रसायनादौ तत्प्राज्ञैः क्षेत्रीकरणमुच्यते" ॥ ६६॥

आभासबन्धः—

पुटितो यो रसो याति योगं मुक्त्वा स्वभावताम्।
भावितो धातुमूलाद्यैराभासो गुणवैकृतेः॥ ६७॥

पूर्वोक्त स्वर्ण आदि धातुओं तथा सर्पाक्षी आदि मूलिनी औषधियों द्वारा भावित तथा पुट दिया हुआ पारद का गुण वैकृतेः (द्रव्यान्तर संयोग द्वारा गुण विपरीत होने से) स्वभावतां (स्वाभाविक पारदीय गुणों को) छोड़ कर योग (योगवाही गुण धर्म को या सेवन करने योग्य) को प्राप्त होना 'आभास' रसबन्ध कहा जाता है।

विशेष वचन—"योगं मुक्त्वा स्वभावताम्' के स्थान पर "योगयुक्त्या स्ववासनाम्" ऐसा पाठ तथा 'धातुमूलाद्यैः' के स्थान पर 'मायुमूलाद्यैः" ऐसा पाठ देखा जाता है। 'मायु' शब्द से 'पित्त' लिया जाता है। 'गुणवैकृतेः' के स्थान पर 'गुणवैकृती' पाठ भी पाया जाता है॥ ६७॥

क्रियाहीनबन्धः—

असंशोधितलोहाद्यैः साधितो यो रसोत्तमः।
क्रियाहीनः स विज्ञेयो विक्रियां यात्यपथ्यतः॥ ६८॥

बिना शुद्ध किये हुये स्वर्ण रजत आदि धातुओं के द्वारा जो पारद सिद्ध किया जाता है, उसे 'क्रियाहीनबद्ध पारद' कहते हैं। इस क्रियाहीन पारद के सेवनकाल में यदि पथ्य पदार्थों तथा उपायों का पूर्णतः सेवन न किया जाय तो इसके द्वारा शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः यदि पारद के साथ धातुओं का जारण मारण करना हो तो उन्हें पहले शुद्ध कर लेना चाहिये।

विशेष वचन—ताम्रसिन्दूर, स्वर्णसिन्दूर, मल्लसिन्दूर आदि के निर्माण में यदि ताम्र आदि धातु उपरसादि को अशुद्ध ही डाल कर बनाया जाय तो उसके दोषों के कुछ शेष रहने के कारण पारदीय योग अथवा प्रयोग विकार उत्पन्न कर देते हैं। अतएव रससिन्दूरादि के निर्माण में भी गन्धक को शुद्ध करके डाला जाता है॥ ६८॥

पिष्टिकाबन्धः—

तीव्रातपे गाढतरावमर्दात्पिष्टी भवेत्सा नवनीतरूपा।
स रसः पिष्टिकाबन्धो दीपनः पाचनस्तराम्॥ ६९॥

शुद्ध पारद को खरल में डाल कर अत्यन्त तीव्र धूप में पर्याप्त मर्दन करने से जो उसकी नवनीत (मक्खन) के रूप में पिष्टी (पीठी) बनती है। उसे पारद का पिष्टिकारूप बन्ध कहते हैं। पारद की यह पिष्टी सेवन करने पर दीपन तथा अत्यन्त पाचन कार्य करती है।

विशेष वचन—केवल पारद को खरल में तीव्र धूप में रगड़ने से उसकी पिष्टी बनना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि अधिक ताप में पारद अधिकाधिक द्रव होता जाता है और अन्त में वाष्प रूप से उड़ने लगता है। अतः पूर्वकथनानुसार इसमें समभाग शुद्ध गन्धक डाल कर तीव्र धूप में मर्दन करने से यह पिष्टी सम्भव है। मूलोक्त श्लोक का उत्तरार्ध अन्यत्र इस प्रकार है—"ख्यातः स सूतः किल पिष्टिबद्धः सन्दीपनः पाचनकृद्विशेषात्।" यही पाठ उचित प्रतीत होता है। मूलोक्त पाठ में छन्दोभंग दोष प्रतीत होता है॥ ६९॥

क्षारबन्धः—

शंखशुक्तिवराटाद्यैर्योऽसौ संसाधितो रसः।
क्षारबन्धः परं दीप्तिपुष्टिकृच्छूलनाशनः॥ ७०॥

शंख, शुक्ति (सीप) तथा वराट (कौड़ी) आदि द्रव्यों के साथ उत्तम शास्त्रोक्त विधियों से सिद्ध किया हुआ पारद 'क्षारबन्ध-पारद' कहा जाता है। इसके अन्तःप्रयोग करने से अग्नि की दीप्ति तथा शरीर की पुष्टि होती है। उदर में पक्तिशूल, पित्तशूल, परिणामशूल की शान्ति होती है।

विशेष वचन—शंख, शुक्ति आदि द्रव्यों से पारद का साधन बहुत ही अल्प होता है। अतः यहाँ पर शंखादि द्रव्यों के साथ पारद को मिला कर उसके उपयोग को कौड़ी, शुक्ति आदि में पारद के साथ अन्य औषधियों को भर कर बनाये हुए योगों को क्षारबद्ध समझना उचित प्रतीत होता है। शंखवटी में पारद को गन्धकादि द्रव्यों के साथ मिला कर बद्ध किया जाता है और उसके प्रयोग से शूल आदि रोग शान्त होते हैं॥ ७०॥

खोटबन्धलक्षणम्—

बन्धो यः खोटतां याति ध्मातो ध्मातः क्षयं व्रजेत्।
खोटबन्धः स विज्ञेयः शीघ्रं सर्वगदापहः॥७१॥

जिस पारद को पारदबन्धक विविध औषधि तथा धातुओं के योग से मर्दन कर मूषा में बन्द करके बार बार अग्नि (विविध पुटों) में तपाया या फूंका जाय जिससे वह न उड़कर औषधियों में ही क्षय (लीन) हो जाय तो उस पारद को 'खोटबन्ध' कहते हैं। यह शीघ्र ही सब रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—खोटता का अर्थ अग्नि में रख कर तपाने से भी न उड़ने वाला किया जाता है—"अग्निमध्ये यदा तिष्ठेत् खोटबद्धस्य लक्षणम्।" जब खोट का अर्थ अग्नि में अनुड्डयन स्वभाव किया जाता है तो क्षय का अर्थ औषधियों में लीन होना

ही किया जा सकता है। अन्यत्र भी खोटबन्ध का यही अर्थ किया गया है, जैसे—"अथवा छेदने स्निग्धं रश्मिना मृदुता भवेत्। अक्षयं कठिनं श्वेतं खोटबद्धस्य लक्षणम् ॥" ग्रन्थान्तर में खोटबद्ध का लक्षण अन्यथा ही पाया जाता है, यथा—"कुक्कुटाण्डनिभं यत्तु लक्ष्यते सैन्धवं यथा। आवर्तिते रसस्तद्वत् खोटबद्धस्य लक्षणम्" ॥ ७१ ॥

पोटबन्धलक्षणम्—

द्रुतकज्जलिका मोचापत्रके चिपिटीकृता।
स पोटः पर्पटी सैव बालाद्यखिलरोगनुत् ॥ ७२ ॥

शुद्ध पारद और गन्धक की कज्जली को एक लोहपात्र अथवा चम्मच में थोड़ा-सा घृत लगा कर डाल दें। अब इसे अग्नि पर रख कर गरम कर जब गन्धक पिघल कर पतली हो जाय तो इसे गोबर के ऊपर बिछे हुए कदलीपत्र पर ढाल कर, दूसरे कदलीपत्र से दबा कर चपटी, पपड़ी-सी बना लें। जैसे रसपर्पटी, पञ्चामृत-पर्पटी आदि बनाई जाती है। यह गोबर तथा कदलीपत्र के शीतसंयोग से शीघ्र ही जम जाती है। इस पर्पटाकार पारद के बन्ध को 'पोट' अथवा 'पर्पटीबन्ध' कहते हैं। इस पर्पटी के सेवन से बालक, युवा तथा वृद्धों के सभी रोग विशेषतः पाचनसम्बन्धी उदररोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—अन्यत्र "सपोटः पर्पटी सैव बालाद्यखिलरोगनुत्।" के स्थान पर "सपाटः पर्पटी सैव बद्धश्चाखिलरोगनुत्।" पाठ पाया जाता है ॥७२॥

कल्कबन्धलक्षणम्—

स्वेदाद्यैः साधितः सूतः पङ्कत्वं समुपागतः।
कल्कबद्धः स विज्ञेयो योगोक्तफलदायकः ॥ ७३ ॥

स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन आदि संस्कारों से संस्कृत पारद को गन्धक आदि किसी द्रव्य के साथ मर्दन कर पंक (कीचड़) या पिण्ड के समान बना लेना 'कल्कबन्ध' कहा जाता है। यह पारद भी भिन्न २ अनुपानों के साथ सेवन करने से योग में वर्णित यथार्थ फल प्रदान करता है। अर्थात् जिस योग में यह पारद डाला जाता है उसके जो गुण लिखे हैं वे सब इसके योग से सत्य सिद्ध होते हैं।

विशेष वचन – कल्कबन्धन एक प्रकार के 'रसपंक' का द्योतक है। यदि पारद गन्धक आदि की कज्जली में किसी द्रव द्रव्य का योग करके मर्दन किया जाय (जैसे घृत, तैल दूध आदि द्रव्यों से मर्दन करना) तो पारद चूर्ण न होकर कीचड़ के रूप में द्रव्यान्तर से मिश्रित होगा। इसे कल्कबन्ध कहते हैं 'योगोक्त-फलदायकः' के स्थान पर 'योगेन फलदायकः' ऐसा पाठ भी पाया जाता है ॥ ७३ ॥

कज्जलीबन्धलक्षणम्—

कज्जली रसगन्धोत्था सुश्लक्ष्णा कज्जलोपमा।
तत्तद्योगेन संयुक्ता कज्जलीबन्ध उच्यते ॥ ७४ ॥

शुद्ध पारद और गन्धक को आवश्यकतानुसार सम द्विगुण आदि भागों में लेकर खूब अच्छी तरह मर्दन करें। जब यह घुटते २ काजल के समान काली और चमकीली हो जाय तो इसे कज्जली कहते हैं। अथवा पारद इसमें कज्जली रूप में बंधा हुआ अर्थात् चञ्चलता तथा दुर्ग्रहता से रहित होकर उपस्थित होता है अतः 'कज्जलीबन्ध' या '०बद्ध' नाम से कहा जाता है। यह कज्ज-लीबद्धपारद भी भिन्न २ द्रव्यों के अनुपान योग से सेवन करने पर अनेक प्रकार के गुण करता है।

विशेष वचन—'तत्तद्योगेन संयुक्त' इससे यह प्रतीत होता है कि पारद गन्धक की कज्जली में रस-उपरसों की भस्म, स्वर्ण आदि धातुओं की भस्म मिलाने से इसमें विशेष गुण उत्पन्न हो जाते हैं। आजकल कई चिकित्सक केवल कज्जली या कज्जलीयुक्त धातुभस्म औषधियों के सत्व से चिकित्सा कर सफलता को प्राप्त करते हैं। और आयुर्वेदीय प्रायः सभी रस कज्जली के योग से बनाये जाते हैं। ये सब कज्जलीबन्ध ही समझने चाहिये ॥ ७४ ॥

सजीवबन्धलक्षणम्—

भस्मीकृतो गच्छति वह्नियोगाद्
रसः सजीवः स खलु प्रदिष्टः।
संसेवितोऽसौ न करोति भस्म-
कार्यं जवाद्रोगविनाशनं च ॥ ७५ ॥

विधि पूर्वक शोधन, मर्दन, मूर्च्छन आदि संस्कारों के पश्चात् विभिन्न काष्ठ औषधियों के साथ अथवा स्वर्णमाक्षिक आदि खनिजों के साथ अग्नि के संयोग से पारद की भस्म करते समय उसमें से जो कुछ भाग इतस्ततः उड़ जाता है। इस उड़े हुये पारद को 'सजीवबन्धयुक्त' पारद कहा जाता है। इस पारद के सेवन करने से इसमें पारद भस्म के गुण नहीं होते हैं। अर्थात् यह पारद पारदभस्म के समान गुणकारी नहीं होता और न शीघ्र रोगों को ही नष्ट कर सकता है। क्योंकि ऐसे पारद में वह्निसंयोग से उड़ जाने का स्वभाव (जीवगति) उपस्थित रहता है। अतः इसे सजीवबन्ध पारद कहते हैं। अथवा भस्म रूप में परिणत करने पर भी जो पारद अग्नि पर रखने से उड़ जाता है उसे सजीवबद्ध पारद कहते हैं। यह पारद भस्म रूप में होने पर भी पारदभस्म के गुणों को नहीं दर्शाता और न शीघ्र रोगनाशक शक्ति ही रखता है।

विशेष वचन—पारद को गन्धकाम्ल में डालने से उसकी भस्म हो जाती है परन्तु उसको पुनः अग्नि पर रखने से वह उड़ जाता है और सेवन करने से रससिन्दूर आदि साधारण पारद योगों के समान भी बल नहीं होता है। अतः किसी अशास्त्रोक्त विधि से पारद को भस्मरूप में करके प्रयोग करने से कुछ लाभ नहीं होता

और न इस प्रकार के पारद से पारदभस्म के गुणों की आशा ही रखनी चाहिये ॥ ७५ ॥

निर्जीवबन्धलक्षणम्—

जीर्णाभ्रको वा परिजीर्णगन्धो
भस्मीकृतश्चाखिललोहमौलिः ।
निर्जीवनामा हि स भस्मसूतो
निःशेषरोगान्विनिहन्ति सद्यः ॥ ७६ ॥

अभ्रकजीर्ण तथा गन्धकजीर्ण पारद को पुनः भस्म किया जाय तो वह निर्जीवबन्ध अर्थात् अग्निसंयोग से न उड़ने वाला पारद कहा जाता है । उक्त क्रम से जारित तथा भस्मीभूत पारद सेवन करने में धातुओं की भस्मों से भी श्रेष्ठतर गुणकारक होता है । अर्थात् स्वर्णादि सम्पूर्ण धातुओं की भस्म सेवन करने से जो गुण होते हैं वे सब निर्जीवबद्धपारद के सेवन से प्राप्त होते हैं । यह पारद शीघ्रातिशीघ्र शरीर के संपूर्ण रोगों को नष्ट करता है ।

विशेष वचन—अग्निसंयोग अर्थात् अग्नि में रख कर पकाने या जलाने पर इस पारद को न उड़ने तथा न क्षीण होने के कारण ही निर्जीव संज्ञा दी गई है । अभ्रकजारणा तथा गन्धकजारणा की विधि पहिले लिखी गई है ॥ ७६ ॥

निर्बीजबन्धलक्षणम्—

रसस्तु पादांशसुवर्णजीर्णः पिष्टीकृतो गन्धकयोगतश्च ।
तुल्यांशगन्धैः पुटितः क्रमेण निर्बीजनामा सकलामयघ्नः ॥

चतुर्थांश स्वर्ण जारित (जीर्ण) पारद को शुद्ध गन्धक के साथ मर्दन कर पिष्टी बना कर पुनः उसमें समभाग शुद्ध गन्धक मिला मर्दन करके लघुपुट दें । इस प्रकार स्वर्ण जीर्ण पारद की पिष्टी में समभाग गन्धक मिलाकर सात बार लघुपुट देवें तो यह पारद 'निर्बीजसंज्ञक' हो जाता है । यह सेवन करने से सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है ।

विशेष वचन—गन्धक के साथ पारद की पिष्टी बनाते समय इसमें थोड़ा सा गोघृत या नींबू का रस डाल कर पिष्टी बनानी चाहिये । शुद्ध स्वर्ण तथा रजत इन दोनों को बीज शब्द से कहा जाता है । "शुद्धं स्वर्णं च रूप्यञ्च बीजमित्यभिधीयते ।" क्योंकि इस बन्ध में केवल स्वर्ण ही पड़ता है इस लिये इसे निर्बीजबद्ध पारद कहा गया है ॥ ७७ ॥

सबीजबन्धलक्षणम्—

पिष्टीकृतैरभ्रकसत्वहेमतारार्ककान्तैः परिजारितो यः ।
हतस्ततः षड्गुणगन्धकेन सबीजबद्धो विपुलप्रभावः ॥७८॥

प्रथम अभ्रकसत्व, सुवर्णभस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म तथा कान्तलोहभस्म प्रत्येक पारद से चतुर्थांश लेकर पारद में मिला घोट कर पिष्टी बना कर इन धातुओं को पारद में अच्छी तरह जीर्ण करके उक्त धातुओं के जारण करने के बाद अन्त में पारद से षड्गुण गन्धक लेकर उसके साथ इस पारद को मर्दन करके मूषा में बन्द कर पुट के योग से भस्म किया जाय तो इसे सजीवबद्ध पारद कहते हैं । यह पारद भी सेवन करने पर अत्यन्त प्रभावशाली होता है ।

विशेष वचन—पिष्टी शब्द से यहाँ अभ्रक आदि की द्रुति से तात्पर्य है । उक्त अभ्रकादि की गर्भद्रुति करने के पश्चात् पारद को षड्गुण गन्धक द्वारा भस्म करना चाहिये । मारण करने के लिये गर्भयन्त्र का उपयोग करना चाहिये । रसार्णव में स्वर्ण अभ्रादि रसबन्धविधान का वर्णन इस प्रकार किया है, "हेमाभ्रं चैव ताराभ्रं शुल्वाभ्रं तीक्ष्णमभ्रकम् । वंगाभ्रञ्चैव नागाभ्रं समं सूतेन बन्धयेत् ॥ यथालाभौषधीघृष्टं महारससमन्वितम् । हेम्ना तारेण शुल्वेन तीक्ष्ण-वंगोरगैस्तथा ॥ एभिर्व्यस्तैः समस्तैर्वा पिष्टिं कृत्वा समांशिकाम् । मारयेत्पूर्वविधिना गर्भयन्त्रे तुषाग्निना ॥ समांशं सूतकं दत्वा वारं वारं पुनः पुनः । जायते विविधः खोटः कान्तबद्धो महारसः ॥' पूर्व विधि से यहाँ पर निगडबन्धन विधि अभिप्रेत है ॥ ७८ ॥

शृंखलाबन्धलक्षणम्—

वज्रादिनिहतः सूते हतः सूतः समोऽपरः ।
शृंखलाबद्धसूतस्तु देहलोहविधायकः ।
चित्रप्रभावां वेगेन व्याप्तिं जानाति शंकरः ॥ ७९ ॥

वज्र (हीरा) आदि द्रव्यों को मुखीकरण संस्कारयुक्त पारद में ग्रास देकर गर्भद्रुति करके अन्त में पारद की भस्म करली जाय, पुनः इस पारद में बनस्पतियों (मूलिनी आदि) से भस्म किया हुआ अन्य पारद समभाग मिलाया जाय तो इसे शृंखलाबद्ध पारद कहते हैं । इस पारद के सेवन से शरीर लोहवत् दृढ (नीरोग और बलवान्) हो जाता है । इस पारद से शरीर में शीघ्रता से होने वाली अलौकिक गुणयुक्त व्याप्ति को शंकर ही अच्छी तरह जानते हैं । अर्थात् इस पारद के गुणों को वर्णन करना अत्यन्त कठिन है ।

विशेष वचन—बहुत सम्भव है कि इस पारद के द्वारा शरीर के सेलों तथा विविध संस्थानों में ऐसे विचित्र भौतिक (Physical) और रासायनिक परिवर्तन—(Chemical changes) होते होंगे जिनका निश्चय आधुनिक वैज्ञानिक नहीं कर सके हों । आजकल भी बहुत ऐसे भौतिक तथा रासायनिक परिवर्तन शरीर में देखे जाते हैं जिनके निश्चय करने में वैज्ञानिकों को सफलता नहीं मिली है । निश्चित ही उक्त विधि से निर्मित पारद के प्रभाव (शरीर में) अज्ञेय हो सकते हैं ॥ ७९ ॥

द्रुतिबन्धलक्षणम्—

युक्तोऽपि बाह्यद्रुतिभिश्च सूतो
बन्धंगतो वा भसितस्वरूपः ।
स राजिकापादमितो निहन्ति
दुस्साध्यरोगान्द्रुतिबद्धनामा ॥ ८० ॥

स्वर्ण रजत आदि धातुओं की बाह्यद्रुति करके पारद में मिला कर भस्म किये हुये पारद को अथवा गर्भद्रुति करके भस्म किये पारद को द्रुतिबद्ध पारद कहते हैं। यह द्रुतिबद्ध पारद, राजिका (राई) के चतुर्थांश प्रमाण मात्रा में सेवन करने से शरीर में कष्टसाध्य रोगों को भी नष्ट कर देता है॥ ८०॥

बालकबन्धलक्षणम्—

समाभ्रजीर्णः शिवजस्तु बालः संसेवितो योगयुतो जवेन।
रसायनो भाविगदापहश्च सोपद्रवारिष्टगदान्निहन्ति॥८१॥

समभाग अभ्रकसत्व जीर्णपारद या भस्म को बालकबन्ध पारद कहा जाता है। इस प्रकार के पारद को विविध द्रव्यों के अनुपान अथवा योगों के साथ सेवन करने से यह उत्तम रसायन गुणकारक होता है। एवं सम्पूर्ण उपद्रव और अरिष्टकारक लक्षणों से युक्त व्याधियों को तथा भविष्य में होने वाले शारीरिक रोगों को शीघ्र ही नष्ट करता है। अर्थात् इस पारद के सेवन से शरीर की रोगनाशक, क्षमाशक्ति की वृद्धि होती है॥ ८१॥

कुमारबन्धलक्षणम्—

हरोद्भवो यो द्विगुणाभ्रजीर्णः स
स्यात्कुमारो मिततण्डुलोऽसौ।
त्रिःसप्तरात्रैः खलु पापरोग-
संघातघाती च रसायनं च॥ ८२॥

द्विगुण अभ्रकसत्व, जीर्णपारद की भस्म को 'कुमारबद्ध' पारद नाम से कहा जाता है। इस पारद की भस्म को एक चावल प्रमाण प्रतिदिन एक बार इक्कीस दिन तक सेवन करने से पापकर्मजन्य गलित कुष्ठ, श्वित्रकुष्ठ, भगन्दर आदि रोगसमुदाय भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। और यदि इसको स्वस्थ शरीर में सेवन किया जाय तो इससे शरीर में रसायन के समान गुण प्राप्त होते हैं॥ ८२॥

तरुणबन्धलक्षणम्—

चतुर्गुणव्योमकृताशनोऽसौ
रसायनाग्र्यस्तरुणाभिधानः।
स सप्तरात्रात्सकलामयघ्नो
रसायनो वीर्यबलप्रदाता॥ ८३॥

चतुर्गुण अभ्रकसत्व, जीर्णपारद की भस्म को 'तरुणबद्धपारद' कहते हैं। यह पारद सम्पूर्ण रसायनों में उत्तम होता है। इसको सात दिन तक आधा चावल प्रमाण में सेवन करने से सम्पूर्ण रोग दूर हो जाते हैं। स्वस्थ शरीर में सेवन करने से यह बल और वीर्य को बढ़ाता है तथा रसायन अर्थात् जरा व्याधि का नाश करता है॥

वृद्धबन्धलक्षणम्—

यस्याभ्रकः षड्गुणितो हि जीर्णः
प्राप्ताग्निसंख्यः स हि वृद्धनामा।
देहे च लोहे च नियोजनीयः
शिवादृते कोऽस्य गुणान्प्रवक्ति॥ ८४॥

षड्गुण अभ्रक जीर्ण पारद की भस्म को जो कि अग्नि पर रखने से बिलकुल भी नहीं उड़ती हो वृद्धबन्ध पारद के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार से बद्ध (भस्म किये हुये) पारद को शरीरोपयोगी प्रयोगों में तथा लोह (धातुवाद स्वर्ण चांदी के निर्माण) प्रयोग में व्यवहार करना चाहिये। इसके गुणों को शिव जी के अतिरिक्त और कोई वर्णन नहीं कर सकता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में अभ्रकजीर्ण रसभस्म (बन्ध) के कुछ गुणों का वर्णन पाया जाता है। यथा—"अभ्रकजीर्णपलैकेन व्याधिना नाभिभूयते। द्वितीये शुक्रवृद्धिः स्यात्तृतीये बलवान् भवेत्॥ चतुर्थे पलितं हन्ति वलीं जयति पञ्चमे। षष्ठे श्रुतिधरो वाग्मी सप्तमे नेत्ररोगजित्। अष्टमे वीर्यवृद्धिः स्याद्ब्रह्मायुर्ब्रह्मविक्रमः। नवपलोपयोगेन सुरमेलापको भवेत्। दशपलप्रयोगेण द्वितीयः शंकरो भवेत्॥" इसी प्रकार ग्रन्थान्तर में अन्य स्वर्णादि धातु जीर्ण पारदभस्म के गुणों का भी विस्तार रसकामधेनु आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये॥ ८४॥

मूर्त्तिबन्धलक्षणम्—

यो दिव्यमूलिकाभिश्च कृतोऽत्यग्निसहो रसः।
विनाऽभ्रजारणात् स स्यान्मूर्त्तिबन्धो महारसः॥ ८५॥
अयं हि जार्य्यमाणस्तु नाग्निना क्षीयते रसः।
योजितः सर्वयोगेषु निरौपम्यफलप्रदः॥ ८६॥

अभ्रक जारण के बिना ही जिस शुद्ध तथा केवल पारद को दिव्यौषधि तथा मूलिका नामक औषधियों के योग से भस्म करके अग्नि में न उड़ने वाला बना लिया जाता है उसको 'मूर्त्तिबद्ध' पारद कहते हैं। यह अन्य बद्ध रसों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ होने से 'महारस' भी कहा जाता है। इसको कितनी ही बार और अधिक से अधिक अग्नि में पकाने से भी इसमें क्षीणता (न्यूनता) नहीं आती है। अर्थात् तोल में कभी कम नहीं होने पाता है। यह महारस रोगों के नाश करने में आश्चर्यजनक गुण दिखाता है। एतदर्थ इसको सब प्रकार के योगों में प्रयोग किया जाता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में पारदबन्धनार्थ व्याघ्री, सिंही, वज्री, कुमारी (घीकुआर), कलिहारी, कदली, अग्निदमनी (नागदौन), हंसपादी इन आठ महौषधियों को लिया गया है। रसार्णव में कटुकी, वधायरा, रक्तचित्रक, रुद्रवन्ती, सोमलता, ब्रह्मदण्डी, दग्धरुहा, आदि औषधियों को पारदबन्धनार्थ प्रयुक्त किया गया है। अन्यत्र सोमलता, स्थलपद्मिनी, सर्पिणी, उच्चटा, ईश्वरी, भूतकेशी कृष्णलता, ताम्रवल्ली, गोरोचनलता, लशुनवल्ली, रुदन्ती, वाराही, सप्तपर्णी, छत्रिणी, चाण्डाली, महौषधि, आदि ६४ दिव्यौषधियों को पारदबन्धनमारणादि के लिये प्रयुक्त किया गया है। इन दिव्यौषधियों का विस्तृत वर्णन रसकामधेनु आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये। तन्त्रान्तर में मूर्तिबद्ध पारद का लक्षण इस प्रकार पाया जाता है—"गुरुत्वं मरणत्वं च तेजसा सूर्यसन्निभम्। शिखिमध्ये

धृतं तिष्ठेन्मूर्तिबन्धनलक्षणम् ॥" अथवा "शलाका जारणाद्वापि, मूर्तिबन्धत्वमिष्यते" । इस से स्पष्ट होता है कि भस्मावस्था में भी जो पारद सूर्यप्रकाश के सदृश चमकीला गुरुभार होता हुआ भी अग्नि पर न उड़े वह मूर्तिबद्ध पारद है ॥ ८५—८६ ॥

जलबन्धलक्षणम्—

शिलातोयमुखैस्तोयैर्बद्धोऽसौ जलबन्धवान् ।
स जरारोगमृत्युघ्नः कल्पोक्तफलदायकः ॥ ८७ ॥

शिलोदक, अमृतोदक, तथा विषोदक प्रभृति जलों के द्वारा मर्दन कर बद्ध किये हुये पारद को जलबद्ध पारद कहते हैं। यह पारद सेवन करने पर जरा (बुढ़ापा) तथा सकल रोग और मृत्यु को नष्ट करता है। तथा पारदकल्पोक्त संपूर्ण फलप्रदायक है।

विशेष वचन—शिलोदक आदि जलों का निर्माण-विधान रसार्णव ग्रन्थ में विस्तृत रूप में पाया जाता है ॥ ८७ ॥

अग्निबन्धलक्षणम्—

केवलो योगयुक्तो वा ध्मातः स्याद्गुटिकाकृतिः ।
अक्षीणश्चाग्निबद्धोऽसौ खेचरत्वादिकृत् स हि ॥ ८८ ॥

केवल पारद अथवा द्रव्यान्तर संयुक्त पारद को अग्नि पर रख कर तपाने से यदि वह न उड़े और न मात्रा में ही कम हो किन्तु उसकी गोली सी बंध जाय तो उसे अग्निबद्ध पारद कहते हैं। इस पारद की गोली को मुख में रखने से अथवा हाथ में रखने से आकाश में उड़ सकने की शक्ति प्राप्त होती है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में अनेकविध खेचरी गुटिकाओं का वर्णन पाया जाता है। परन्तु अब तक ऐसा कोई पारद का संस्कार सिद्ध नहीं हुआ है जिससे मनुष्य आकाश में उड़ सकता है। यों तो वेदों में भी कहीं कहीं पारद द्वारा विमानों का उड़ना पाया जाता है। परन्तु क्रिया के लोप होने से अथवा पारद के पूर्ण संस्कारों की प्रथा का पूर्ण ज्ञान न रहने से यह विद्या सन्देहास्पद प्रतीत होती है। अतः जब तक पारद के संस्कारों तथा इनके करने में प्रयुक्त होने वाली परिभाषाओं का पूर्ण और स्पष्ट ज्ञान नहीं हो जाता तब तक शास्त्रोक्त पारदीय अलौकिक गुणों का प्रत्यक्षीकरण कठिन प्रतीत होता है। इसी तरह पारद की वीर्यबन्धनार्थ, स्वशरीर के अदृश्यार्थ, भूगर्भविज्ञानार्थ, शत्रु के वशीकरण आदि के निमित्त भी रसतन्त्र में अनेक विधियों का उल्लेख पाया जाता है। परन्तु निरन्तर अन्वेषण न होने के कारण ये सब विद्यायें पुस्तक के रूप में ही पड़ी हुई हैं। रसबन्धों की संख्या निर्देश करते समय अग्निबन्ध के पश्चात् 'सुसंस्कृताभिध' नामक रसबन्ध का भी निर्देश किया गया है। परन्तु विवरण में उसका कोई लक्षण नहीं मिलता है। यह ग्रन्थलेखक का प्रमाद अथवा अन्य किसी का प्रमाद है। क्योंकि अन्यत्र सुसंस्कृताभिध पारदबन्ध का विवरण स्पष्ट मिलता है। इस ग्रन्थ में लिखे हुये मूर्च्छाकल्प को ही ग्रन्थान्तर में सुसंस्कृत रसबन्ध माना गया है। कई वैद्य सुसंस्कृत को अग्निबन्ध का विशेषण मानने की चेष्टा करते हैं। परन्तु ऐसा करने से मूलोक्त रसबन्धनों की संख्या २४ ही रह जायगी। अतः आगे लिखा हुआ मूर्च्छाकल्प सुसंस्कृत पारद का लक्षण समझना चाहिये। 'योगयुक्तो' के स्थान पर 'लोहयुक्तो' ऐसा पाठ भी पाया जाता है ॥८८॥

महाबन्धरसलक्षणम्—

हेम्ना वा रजतेन वा सहचरो ध्मातो व्रजत्येकता-
मक्षीणो निविड़ो गुरुश्च गुटिकाकारोऽतिदीर्घोज्ज्वलः ।
चूर्णत्वं पटुवत् प्रयाति निहतो घृष्टो न मुञ्चेन्मलं
निर्गन्धी द्रवति क्षणात् स हि महाबद्धाभिधानो रसः ॥८९॥

जो पारद स्वर्ण अथवा चांदी के साथ मिला घोट कर मारकवर्ग की औषधियों के कल्क की मूषा में बन्द करके तीव्रातितीव्र अग्नि में तपाने से भी न उड़ कर स्वर्ण अथवा चांदी में अच्छी तरह मिल जाय और जिससे स्वर्ण तथा रजत का परिमाण, पारद के मिलाने से दोनों के बराबर होकर एक गुरुभार गुटिका के रूप में हो जाय और जो देखने में अत्यन्त चमकीला हो। इसे 'महाबन्ध पारद' कहते हैं। यदि इस गुटिकारूपबद्ध पारद को तोड़ा जाय तो यह सैन्धवलवण या खण्ड के सदृश चूर-चूर हो जाता है और इसमें किसी प्रकार की मैल तथा गन्ध भी नहीं पाई जाती है और आवश्यकता होने पर यदि इसको तपाया जाय तो यह पुनः शीघ्र द्रवीभूत हो जाता है ॥ ८९ ॥

सूतानां संक्षिप्तमूर्च्छाकल्पः—

विष्णुक्रान्ता-शशि-लता-कुम्भी-कनकमूलकैः ।
विशाला-नागिनी-कन्दव्याघ्रपादीकुरुण्टकैः ॥ ९० ॥
वृश्चिकालीभुशुण्डीभ्यां हंसपाद्या सहासुरैः ।
अप्रसूतगवां मूत्रैः पिष्टं वालुकके पचेत् ॥ ९१ ॥
पक्वमेवं मृतैर्लोहैर्मर्दितं विपचेद्रसम् ।
यन्त्रेषु मूर्च्छा सूतानामेष कल्पः समासतः ॥ ९२ ॥

विष्णुक्रान्ता (अपराजिता कोयल), सोमलता, कुम्भी (जलकुम्भी अथवा दन्ती), धतूरमूल, इन्द्रायण की जड़, नागिनी (नागदौन), जिमीकन्द, व्याघ्रपाद (खदिरभेद), पीले फूल का पियावांसा, पुनर्नवा, हस्तिशुण्डी, हंसपदी और असुर (समुद्रलवण या राई) इन औषधियों को समान भाग में लेकर इनके स्वरस या क्वाथ में पारद को घोटें। फिर बिना ब्याही हुई गाय के गोमूत्र में पारद को अच्छी तरह मर्दन कर सुखा लें फिर उक्त औषधियों को गोमूत्र में घोट कर बनाई हुई दृढ़ मूषा में पारद को रख कर मधाकल्क से ही उसे बन्द करके बालुकापुट या यन्त्र के मध्य में रख कर पका लेवें। पश्चात् पुट से निकाल कर इस पारद में मृत स्वर्णादि धातुओं की भस्म तथा गन्धक आदि उपरसों में से कोई उपरस विशेषतः गन्धक मिला कर मूषा में बन्द करके बालुकायन्त्र में रख कर पाक करें। इस प्रकार पकाया हुआ पारद मूर्च्छित

पारद कहा जाता है। बालुकायन्त्र की भांति अन्य लवण आदि यन्त्रों में भी पारद का पाक करके मूर्च्छित किया जा सकता है। संक्षेपतः पारद मूर्च्छन करने का यह विधान है।

विशेष वचन—पारद के रससिन्दूर, स्वर्णसिन्दूर, मकरध्वज, चन्द्रोदय आदि रूप में मूर्च्छित करने का यह संक्षिप्त विधान बताया गया है। तन्त्रान्तर की भांति इस ग्रन्थ से रससिन्दूर आदि पारदीय समरसों को बनाने की विधि विस्तार तथा पूर्ण ऊहापोह के साथ नहीं दी गई है। अतः रससिन्दूरादि निर्माणार्थ अन्य रसेन्द्रसार, रसरत्नाकर आदि रसग्रन्थों को देख कर उनका निर्माण करना चाहिये। रसेन्द्रसारसंग्रह में मूर्च्छित पारद के लक्षण तथा विधि इस प्रकार लिखी हुई है—"गन्धकेन रसं प्राज्ञः सुदृढं मर्दयेद् भिषक्। कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापलम्। दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छितो रसकोविदैः॥" रसार्णव में भी मूर्च्छित पारद के यही लक्षण लिखे हैं—"नानावर्णो भवेत्सूतो विहाय घनचापलम्। लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं हि वदन्ति तम्॥" मूर्च्छित करना भी पारदबन्ध का ही एक भेद है। यथा—"मूर्च्छितो मृतसूतश्च जलौकाबन्ध एव च। चतुर्थो मूर्तिबन्धस्तु पट्टबन्धश्च पञ्चमः। भस्मसूतश्च खोटश्च संस्कारात्सप्तधा रसः॥" कई ग्रन्थ में 'समासतः' के स्थान पर 'सुसंस्कृतः' ऐसा पाठ पाया जाता है जिससे इस विधि को सुसंस्कृतबन्ध पारद का लक्षण माना जाता है। यही पाठ उत्तम प्रतीत होता है। क्योंकि रसबन्धप्रतिज्ञा में २५ बन्धों का निर्देश है। ऐसी दशा में यदि 'समासतः' पाठ हो तो प्रतिज्ञाहानिदोष उपस्थित हो जायगा। अन्यत्र 'पिष्टं बालुकके' के स्थान पर 'पिष्टं वा कुलके' ऐसा पाठ मिलता है जो ठीक नहीं प्रतीत होता है। और कहीं 'कुलके' के स्थान पर 'कुक्कुटे' ऐसा पाठ भी देखा जाता है। जिससे "पारद को विष्णुक्रान्ता आदि औषधियों के साथ घोट कर मूषा में बन्द करके 'कुक्कुटपुट' में फूंकना चाहिये" ऐसा अर्थ होता है। इसी तरह 'मूलकैः' के के स्थान पर 'कूलकैः' और 'कुरुण्टकैः' के स्थान पर 'कुतुम्बकैः' पाठ भी पाया जाता है॥ ९०—९२॥

जलूकाबन्धलक्षणम्—

सूते गर्भनियोजितार्द्धकनके पादांशनागेऽथवा
पञ्चाङ्गुष्ठक-शाल्मली-कृतमदा-श्लेष्मातबीजैस्तथा।
तद्वत्तेजिनिकोलकाख्यफलजैश्चूर्णं तिलं पत्रकं
तप्ते खल्लतले निधाय मृदिते जाता जलूका वरा॥९३॥
सैषा स्यात्कपिकच्छुरोमपटले चन्द्रावतीतैलके
चन्द्रे टङ्कणकामपिप्पलिजले स्विन्ना भवेत्तेजिनी।
तप्ते खल्लतले विमर्द्य विधिवद्यत्नाद्वटी या कृता,
सा स्त्रीणां मददर्पनाशनकरी ख्याता जलूकावरा॥९४॥

शुद्ध पारद में पारद से अर्धभाग स्वर्ण मिला कर अथवा पारद से चतुर्थांश शुद्ध नाग मिलाकर अच्छी तरह घोट कर इसकी पिष्टी बना लें, अब इस पिष्टी को एकतप्त खरल में डाल कर एरण्डबीज, शाल्मली (सीमल) पुष्प अथवा गोंद, भांग के बीज, लसोड़े के बीज, मूर्वाबीज, या मालकाँगनी, बेर की गुठली की गिरी, तिल और तेजपत्र या तमालपत्र इन सब औषधियों को पारद से षोडशांश भाग में लेकर अच्छी तरह मर्दन करके उत्तम जलूका (मोटी जोंक के समान बत्ती सी) बना लें। इस प्रकार की क्रिया को जलूकाबन्ध कहते हैं। अब इस जलौका को कौंच के बीजों को उनके रुआं और छिलके सहित पारद से सोलहवां भाग लेकर तथा सोलहवां भाग बावचीतेल या चमेलीतैल लेकर उसमें पारद को डालकर एक दिनमान अच्छी तरह मर्दन करें। फिर एक दिन इस जलौकाकल्क को कर्पूरजल में मर्दन करें। अन्त में इस गोले को एक भोजपत्र में लपेट कर, काम (दौना) और पिप्पली के कषाय में टंकण डाल कर इस कषाय में दोलायन्त्र द्वारा एक प्रहर तक स्वेदन करें। इसमें विशेष तेज (शक्ति) हो जाता है। अन्त में इसे तप्त खरल में डाल कर मालकंगनी के तैल या रस में मर्दन कर वटिका (वर्ति) बना लें। इस प्रकार से निर्मित जलूका (पारद तथा औषधियों की वर्ति) स्त्रियों के कामदेव के मद को नष्ट करने में श्रेष्ठ होती है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में प्राप्त जलौकाबन्धविधान में स्वर्ण या नाग का अष्टमांश भाग पारद में डाला जाता है, रस के साथ ही गन्धक भी अष्टमांश पारद में डाला जाता है। और इसमें पके हुये लिसोड़े के फल, सीमलवृक्ष का पञ्चांग, तालमखाना, तिलकल्क, कपूर, टंकण तथा कौंच के फल के रूंए, बावचीतैल तथा सैन्धवनमक मिला, पिप्पली कषाय के साथ तप्त खरल में इक्कीस दिन तक मर्दन करके जलौका बनाई जाती है। यह जलौका बनाने में यदि हाथ से मोटी पतली होने का डर हो तो सीमियां बत्ती बनाने वाली मशीन की भांति यन्त्र बना कर उसके द्वारा इसकी बत्तियां बनाली जाती हैं। अत एव किसी २ पुस्तक में 'विमर्द्य विधिवद्यत्नाद्वटी' के स्थान पर 'विमर्दनविधिर्यन्त्राद्वलि' ऐसा पाठ मिलता है। आवश्यकतानुसार इसकी वटिका या वर्ति बना कर प्रयुक्त की जा सकती है॥ ९३—९४॥

जलूकायास्त्रिविधप्रमाणनिर्देशः—

बाल्ये चाष्टाङ्गुला योज्या यौवने च दशाङ्गुला।
द्वादशैव प्रगल्भानां जलूका त्रिविधा मता॥ ९५॥

बाल्य (सोलह वर्ष से कम उमर में) अवस्था वाली स्त्री के लिये इस का प्रयोग करना हो तो इसे आठ अंगुल प्रमाण योनि में प्रवेश करना चाहिये। युवावस्था सम्पन्न स्त्री के लिये यह दश अंगुल प्रमाण योनि में प्रवेश की जाती है और प्रगल्भ अर्थात् तीस वर्ष से अधिक उमर वाली स्त्री के लिये यह बारह अंगुल

प्रमाण योनि में प्रवेश की जाती है। इस तरह जलूका तीन प्रकार की मानी जाती है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इसको पुरुष के लिये प्रयोग करने के लिये भी निर्देश है। जो पुरुष शीघ्र स्खलित हो जाता है, उसको इसे सिर में धारण कर मैथुन करने से वीर्यपात नहीं होता है। ऐसा लिखा है, "यो वा तां धारयेन्मूर्ध्नि वीर्यं तस्य स्थिरं भवेत्"। इन उपायों को देख कर कामी पुरुष बिना सोचे समझे इनका प्रयोग न करें। क्योंकि ये विधियां अपूर्ण हैं। अतः केवल इन विधियों से निर्मित्त वर्तियों के प्रयोग से लाभ के स्थान पर हानि होने की शंका है। यहां पर ऐसी विधियों का दिग्दर्शन केवल विज्ञान का द्योतक मात्र समझना चाहिये ॥ ९५ ॥

जलूकायाः संस्कारविशेषः—

धृत्वा सूक्ष्ममुखे पात्रे मेषीक्षीरं प्रदापयेत्।
स्थापयेदातपे तीव्रे वासराण्येकविंशतिः ॥ ९६ ॥

उक्त विधि से निर्मित जलूका के वलय (अंगूठी या छल्ला) को एक संकीर्णमुख वाले पात्र में रख कर उस पात्र में भेड़ का दूध डाल कर तेज धूप में रख दें। जब दूध सूख जाय तो दूसरे दिन फिर दुबारा दूध भर कर धूप में रख दें। इस प्रकार प्रति दिन भेड़ का दूध डाल कर इक्कीस दिन तक तेज धूप में रख सुखा कर निकाल ले। इस संस्कार द्वारा युक्त जलौका में एक विशेष गुण की वृद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—'सूक्ष्ममुखे पात्रे के' स्थान पर 'सूतमुखे पात्रम्' पाठ होने पर जलूकाबन्ध क्रिया में वलयाकार रूप में किये हुये पारद के संयोग स्थान का अर्थ किया जाता है। परन्तु यह अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है ॥ ९६ ॥

अन्यविधां जलूकां वक्तुं प्रतिज्ञा—

द्वितीयात्र मया प्रोक्ता जलौका द्रावणे हिता।
पुरुषाणां स्थिता मूर्ध्नि द्रावयेद्बीजमद्भुतम् ॥ ९७ ॥

हमने यहां पर स्त्री को द्रवण (शीघ्र स्खलन करने) के लिये अत्यन्त उपयोगी एक दूसरी जलूका का भी वर्णन किया है। आगे लिखी हुई इस दूसरी जलूका को स्त्री योनि में रखने से ही न केवल स्त्री शीघ्र स्खलित होती हैं बल्कि पुरुष यदि इसे सिर में धारण करके मैथुन करे तो स्त्री ही पुरुष से पूर्व स्खलित होगी। यह इसमें आश्चर्यजनक प्रभाव है ॥ ९७ ॥

द्वितीयप्रकारजलूकाबन्धः—

मुनिपत्ररसं चैव शल्मलीवृन्तवारि च।
जातीमूलस्य तोयञ्च शिंशपातोयसंयुतम् ॥ ९८ ॥
श्लेष्मातकफलं चैव त्रिफलाचूर्णमेव च।
कोकिलाक्षस्य चूर्णं च पारदं मर्दयेद्बुधः ॥ ९९ ॥
जलूका जायते दिव्या रामाजनमनोहरा।
सा योज्या कामजाले तु कामयेत्कामिनी स्वयम् ॥१००॥

अगस्तिया के पत्रों का रस, सीमल के पुष्प-वृन्त (डंठल) का स्वरस, चमेली के जड़ का स्वरस और शीशम की मूलत्वक् के स्वरस में लिसोडाफल (शुष्क), त्रिफलाचूर्ण, तालमखानाचूर्ण और शुद्ध पारद इन सब को समभाग में लेकर अच्छी तरह मर्दन करें। तदनन्तर अष्टांगुल, दशांगुल तथा द्वादशांगुल प्रमाण में जलूका बना लें। यह जलूका स्त्रियों के मन को मुग्ध करने वाली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसको स्त्रीप्रसंग करने के पूर्व स्त्रीयोनि में रखने से स्त्री स्वयं कामुकी हो जाती है ॥ ९८—१०० ॥

जलूकाबन्धान्तरम्—

त्रिफलाभृङ्गमहौषधमधुसर्पिश्छागदुग्धगोमूत्रे।
नागं सप्तनिषिक्तं समरसजारितं जलूका स्यात् ॥१०१॥

सीसक को पिघला कर, त्रिफलाकषाय, भृङ्गराजस्वरस, शुण्ठी-कषाय, मधु, घृत, अजा (बकरी) दुग्ध तथा गोमूत्र में पृथक् २ सात सात बार बुझा कर शुद्ध कर लें। फिर इसमें समभाग शुद्ध पारद मिला कर जारण करके आवश्यकतानुसार जलौका बना लें। इसके व्यवहार से पूर्ववत् कार्य होता है।

विशेष वचन—नाग को त्रिफलाकषाय आदि में शुद्ध करके पुनः अन्त में पिघला पारद में मिलाने से इसकी पिष्टी बन जाती है। इसकी जलौका बना कर प्रयोग करनी चाहिये ॥ १०१ ॥

प्रकारान्तरम्—

भानुस्वरदिनसंख्याप्रमाणसूतं गृहीतदीनारम्।
अङ्कोलराजवृक्षककन्यारसतश्च शोधनं कुर्यात् ॥ १०२ ॥
शशिरेखावरवर्णी सकोकिलाक्षापामार्गकनकानाम्।
चूर्णैः सहैकविंशतिदिनानि सम्मर्दयेत्सम्यक् ॥ १०३ ॥
निशायाः काञ्जिकं यूषं दत्त्वा योनौ प्रवेशयेत्।
बालमध्यमवृद्धासु योज्या विज्ञाय तत्क्रमात्।
नीरसानामपि नृणां योषा स्यात्सङ्गमोत्सुका ॥ १०४ ॥

स्वर्णजारित अथवा स्वर्णयुक्त २० पल प्रमाण पारद लेकर उसे अंकोल (अंकोला), अमलतास तथा घीकुआर इन प्रत्येक औषधियों के कषाय या स्वरस के साथ पृथक् २ एक एक दिन तक खरल करके, अन्त में काञ्जी से धोकर शुद्ध कर लें। इसके पश्चात् इसमें पारद के समान (सब मिला कर) बावची या गुडूची, हरिद्रा वा गोरोचना, तालमखाना, अपामार्ग तथा धत्तूर-बीजचूर्ण मिला कर, हरिद्राकषाय तथा काञ्जी के साथ २१ दिन तक अच्छी तरह मर्दन करके, उक्त क्रमानुसार विविध प्रकार की जलूका बना लें। इन जलूकाओं को योनि में रख कर प्रसंग करना चाहिये। अर्थात् बाला स्त्री के अष्टांगुल, मध्यमवयस्क स्त्री के दशांगुल और तीस वर्ष से अधिक उमर वाली स्त्री के लिये द्वादशांगुल प्रमाण वर्ति बनाकर योनि में प्रवेश करे। इस जलूका को योनि में प्रवेश कराने से विषयवासना से रहित अर्थात्

कामचेष्टाशून्य स्त्रियों में भी पुरुषों के साथ रमण करने की इच्छा जाग्रत हो जाती है ॥ १०२—१०४ ॥

प्रकारान्तरम्—

रसभागं चतुष्कं च वङ्गभागं च पञ्चमम् ।
सुरसारससंयुक्तं टङ्कणेन समन्वितम् ॥ १०५ ॥
त्रिदिनं मर्दयित्वा च गोलकं तं रसोद्भवम् ।
लिङ्गाग्रे योनिनिक्षिप्तं यावदायुर्वशङ्करम् ॥ १०६ ॥

शुद्ध पारद चार भाग, शुद्ध वंग एक भाग या पांच भाग तथा टंकण एक भाग लेकर प्रथम वंग को अग्नि में पिघला कर तुरन्त ही पिघले हुए वंग को खरल में रखे हुए पारे में मिला कर घोटना चाहिये, फिर इसमें सुहागा मिलायें। अब इन तीनों को तुलसीरस से तीन दिन तक अच्छी तरह घोट कर गोली बना लें। इस छोटी सी गोली को लिंग के अग्र छिद्र में प्रविष्ट करके स्त्री-योनि में प्रवेश कर (लिंग के) मैथुन करने से स्त्री जन्मपर्यन्त पुरुष की वशीभूत हो जाती है।

विशेष वचन—'गोलक' का अर्थ कई 'वलयं' करते हैं। जिससे यह प्रतीत होता है कि पारद का वर्ति स्थान पर एक छल्ला बना लिया जाय, इसे शिश्नमुण्ड में लगा कर मैथुन करना चाहिये ॥ १०५—१०६ ॥

प्रकारान्तरम्—

कर्पूर-शूरण-सुभृंग-सुमेघनादै-
र्नागं निषिच्य तु मिथो वलयेद्रसेन ।
लिंगस्थितेन वलयेन नितम्बिनीनां
स्वामी भवत्यनुदिनं स तु जीवहेतुः ॥ १०७ ॥

सीसक को अग्नि पर एक लोहे की करछी पर पिघला कर कर्पूरजल, जिमिकन्द-स्वरस, भृङ्गराज-स्वरस और उत्तम चौलाई के स्वरस में पृथक् पृथक् एक बार बुझा कर पश्चात् इसे समभाग पारद में मिला दे। नाग पिघला कर पारद में मिलाया जाता है। अब इस पारद नाग की पिष्टी से वलय (छल्ला) बना कर लिंगाग्र में प्रविष्ट करके मैथुन करे। इसके प्रयोग से पुरुष स्त्री के लिये नित नूतन युवा स्वामी अनुभव होता है। अर्थात् स्त्री इस पुरुष को अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करती है।

विशेष वचन—नाग को यदि उक्त चार द्रवों में पृथक् पृथक् सात सात बार सिंचन किया जाय तो उत्तम होगा ॥ १०७ ॥

योनिविद्रावणम्—

टङ्कणपिप्पलिकामा-शूरणकर्पूरमातुलुङ्गरसैः ।
कृत्वा स्वांगुलिलेपं योनिं विद्रावयेत् स्त्रीणाम् ॥ १०८ ॥

सुहागा, पिप्पली, काकमाची (मकोय), जिमीकन्द, कर्पूर इन सबको समभाग में लेकर बिजौरा नीबू के रस से मर्दन कर के अत्यन्त सूक्ष्म चिपकने वाला कल्क बना लें। इस कल्क को यदि पुरुष अपनी जननेन्द्रिय पर लेप करके सूख जाने के बाद स्त्रीसंभोग करे तो स्त्री शीघ्र ही स्खलित हो जाती है।

विशेष वचन—कुछ टीकाकारों ने इस प्रयोग में पारद मिलाने के लिये लिखा है परन्तु कुछ भी हो ऐसे प्रयोग बिना समझे बूझे काम में लाने से हानि ही होती है ॥ १०८ ॥

मदनवलयम्—

अग्न्यावर्त्तितनागे हरबीजं निक्षिपेत्ततो द्विगुणम् ।
मुनिकनकनागसर्पैर्दन्त्याऽथ सिच्याच्च तन्मध्यम् ॥१०९॥
तक्रेण मर्दयित्वा गणेन मदनवलयं कुर्यात् ।
रति समये वनितानां रतिगर्वविनाशनं कुरुते ॥११०॥

शुद्ध सीसक को लोहपात्र में रख अग्नि पर तपावें। पिघल जाने पर उसमें सीसक से द्विगुण शुद्ध पारद मिला दें। पश्चात् इनको अगस्तिया, धतूर, ताम्बूल, सर्पाक्षी (गन्धनाकुली) तथा दन्ती-स्वरस में सिंचन करें अर्थात् बुझावें। इसके अनन्तर इस पिष्टी को तीव्र (खट्टा) तक्र से अच्छी तरह मर्दन कर लिंग में आने योग्य वलय (छल्ला) बना लें। स्त्रीभोग के समय इस को लिंग में वलय प्रवेश कर मैथुन करने से स्त्री की कामेच्छा का मद नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—'सर्पैर्दन्त्याऽथ' के स्थान पर 'वल्लीरसेन' तथा 'गणेन' के स्थान पर 'तीक्ष्णेन' ऐसा पाठ पाया जाता है। 'तक्रेण' के स्थान पर 'तिक्तेन' पाठ भी पाया जाता है ॥ १०९—११० ॥

प्रकारान्तरम्—

व्याघ्रीबृहतीफलरससूरणकन्दं च चणकपत्राम्लम् ।
कपिकच्छुवज्रवल्लीपिप्पलिकामाम्लिकाचूर्णम् ॥ १११ ॥
अग्न्यावर्तितनागं नववारं मर्दयेद्धिमैर्द्रव्यैः ।
स्मरवलयं कृत्वैतद्वनितानां द्रावणं कुरुते ॥ ११२ ॥

सीसे को अग्नि में पिघला कर कण्टकारी-स्वरस या कषाय में सिंचन करें और इसी के रस में मर्दन करें। इसी तरह दूसरे दिन बड़ी कटेरी के स्वरस या कषाय में सिंचन और मर्दन करें। इसके पश्चात् जिमीकंद तथा चने के क्षार जल में सिंचन और मर्दन करें। पुनः इसको कौंच के बीज, हाड़जोड़, पिप्पली, मकोय, और इमली चूर्ण के कषाय या स्वरस से मर्दन करें। फिर इस नाग को पिघला कर इसमें द्विगुण शुद्ध पारद मिला कर पूर्वोक्त प्रकार से वलय बना लें। इस वलय के उपयोग से भी स्त्री का द्रावण हो जाता है।

विशेष वचन—सीसे को व्याघ्री आदि नौ द्रव्यों के स्वरस से सिंचन कर पुनः उसमें पारद का मिश्रण करना चाहिये। बिना पारद के इस का वलय नहीं बनेगा, अतः पूर्वोक्त वलय प्रकार के अनुसार यहाँ पर द्विगुण पारद भी लिखा गया है। "मर्दयेद्धिमैर्द्रव्यैः" के स्थान पर "मर्दयेदिमैर्द्रव्यै" ऐसा पाठ होने पर इन नौ द्रव्यों का अर्थ होता है। किन्तु "हिमैः" पाठ होने पर नाग को नव द्रव्यों के अतिरिक्त गुडूची, आमलकी, उशीर, निम्ब, पर्पट,

सारिवा दूर्वा आदि शीतवीर्य द्रव्यों के साथ भी मर्दन करना चाहिये ऐसा अर्थ किया जाता है। कई इस योग की अंगूठी बना अंगुली में पहिन कर स्त्रीसम्भोग करने को कहते हैं ॥१११-११२॥

सूतमारणम्—

पलाशबीजं रक्तञ्च जम्बीराम्लेन सूतकम्।
सजीवं मर्दितं यन्त्रे पाचितं म्रियते ध्रुवम् ॥११३॥

सजीव (उक्त लक्षण) बन्धनामक पारद या साधारण हिंगुलोत्थ पारद १ भाग, पलाशबीज १ भाग, रक्त (केशर) १ भाग लेकर इन तीनों को एकत्र कर खरल में जम्बीरी नींबू के रस से अच्छी तरह मर्दन कर सुखा कर पुट में बन्द करके पकाने से अथवा अन्धमूषा आदि किसी उपयोगी यन्त्र में रख भस्त्रा द्वारा धौंकने से पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—मृत या भस्मीभूत पारद के विषय में पहिले लिखा जा चुका है कि वास्तव में मृत पारद निर्धूम, तेजोहीन होता है। परन्तु उसका भारीपन कम नहीं होता है। जलते हुये कोयलों पर डालने से इसमें कोई विकार (वर्णपरिवर्तन) नहीं आता और ना ही वह पूर्वापेक्षया भार में ही किञ्चित् कम होता है। इसके साथ ही उसमें रोगनाशक शक्ति पूर्ण रूप से प्राप्त हो तो वह सम्यक् मृत पारद कहा जाता है। अथवा पारद की ऐसी अवस्था तेज एसिडों में डालने से भी हो जाती है परन्तु उसमें मृत पारद के कोई गुण नहीं पाये जाते हैं। पारद के अन्य संस्कारों के साथ आजकल पारद का वास्तविक भस्मीकरण भी लुप्त हो गया है। जितने भी पारद भस्म करने के प्रकार बताये जाते हैं उनमें पारद की भस्म न बन कर पारद के साथ मर्दित औषधियों की भस्म प्राप्त होती है। कई ग्रन्थकारों ने भी इस बात को माना है कि केवल पारद-भस्म विधि के सिद्ध होने पर रसचिकित्सक के लिये और कुछ प्राप्य नहीं रह जाता है। अर्थात् वह केवल पारदभस्म से सब रोगों की चिकित्सा कर सकता है। अतः इस तरफ पर्याप्त अन्वेषण की आवश्यकता है।

'पलाशबीजं रक्तञ्च' के स्थान पर 'पलाशबीजकरक्त' ऐसा पाठ छन्दोभंग दोष से ठीक प्रतीत नहीं होता है। कई टीकाकार 'सजीव' का अर्थ अष्टवर्गोक्त 'जीवक' (कूर्चकाकार सूक्ष्मपत्रविशिष्ट कन्द) नामक औषधि ग्रहण करते हैं तन्त्रान्तर में पारद मारण-मूर्च्छनादि क्रियाओं में अष्टवर्गोक्त काकोली आदि द्रव्यों का निर्देश भी पाया जाता है। अतः यह अर्थ भी सम्भव हो सकता है॥

प्रकारान्तरम्—

खरमञ्जरिबीजान्वितपुष्करबीजैः सुचूर्णितैः कल्कम्।
कृत्वा सूतं पुटयेद्दृढमूषायां भवेद्भस्म॥११४॥

अपामार्गबीज १ भाग, कमलबीज १ भाग, शुद्ध पारद १ भाग, इन तीनों को एकत्र कर जल से अच्छी तरह मर्दन कर कल्क बना लें। फिर इस कल्क के गोलक को एक दृढ़ मूषा में बंद कर अच्छी तरह सन्धिलेप करके सुखा कर लघुपुट दें तो पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—'पुष्कर' के स्थान पर 'पुष्पक' पाठान्तर मिलता है॥

प्रकारान्तरम्—

काकोडुम्बरिकाया दुग्धेन सुभावितो हिङ्गुः।
मर्दनपुटेन विधिना सूतं भस्मीकरोत्येव ॥११५॥

काकोदुम्बरिका (कठूमर गूलर का भेद) के दुग्ध से असली हीरा हींग को सात बार भावना देकर सुखा लें। यह हिंगु १ भाग और शुद्ध पारद १ भाग दोनों को एकत्र जल अथवा उक्त गूलर के दूध से मर्दन कर गूलरदुग्ध भावित हिंगु की ही मूषा में रख अच्छी तरह बन्द करके पुट देने से पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इस विधि को अधिक स्पष्ट किया गया है और गजपुट में पकाने को बताया गया है। यथा—"काष्ठोदुम्बरिका दुग्धं रसं किञ्चिद्विमर्दयेत्। तद्दुग्धपिष्टहिङ्गोश्च मूषायुग्मं प्रकल्पयेत्॥ क्षिप्त्वा तत्संपुटे सूतं तंत्रमुद्रां प्रकल्पयेत्। धृत्वा तद्गोलकं प्राज्ञो मृन्मूषासंपुटेऽधिके॥ पचेद्गजपुटे तेन सूतको याति भस्मताम्।" परन्तु वास्तव में यह क्रिया इस प्रकार की जाती है कि गूलर के दूध से सात भावना देकर हिंगु की दो मूषा बना लें और सुखा लें। अब गूलर के दूध में मर्दन किये हुए पारद के गोले को इन मूषाओं में बन्द कर हिंगुकल्क से ही इनका सन्धिलेप कर दें। पुनः इस मूषासम्पुट को एक दूसरे मिट्टी के सम्पुट में बन्द कर सन्धिलेप (वह्निमृत्स्ना से) करके लघुपुट में फूंक दें। स्वांगशीत होनेपर निकालें तो इसमें से कृष्ण वर्ण की लघुभार भस्म निकलेगी। यह भी अच्छा गुण करती है। "मर्दनपुटेन विधिना" के स्थान पर "मर्दनपुटनविधानात्" पाठान्तर भी मिलता है॥ ११५॥

प्रकारान्तरम्—

देवदालीं हरिक्रान्तामारनालेन पेषयेत्।
तद्द्रवैः सप्तधा सूतं कुर्यान्मर्दितमूर्च्छितम्॥ ११६॥
तत्सूतं खर्परे दद्याद्दत्त्वा दत्त्वा तु तद्द्रवम्।
चुल्ल्योपरि पचेच्चाह्नि भस्म स्याल्लवणोपमम् ॥११७॥

वन्दाल तथा अपराजिता (नीले फूल की कोयल) इन दोनों को काञ्जी में घोट कर स्वरस से पारद को सात बार मर्दन तथा मूर्च्छन करें। अर्थात् उक्त औषधियों के स्वरस में सात बार इतना मर्दन करें कि पारद बिलकुल अदृश्य हो जाय। पश्चात् इस पारद की पिष्टी को एक मिट्टी के ठीकरे में डाल चूल्हे पर रख नीचे अग्नि जलावें और पारद के ऊपर थोड़ा-थोड़ा करके वन्दाल तथा अपराजिता-स्वरस डालते जायं इस प्रकार एक दिन (बारह घण्टे) मध्यम अग्नि द्वारा पकाने से सैन्धवलवण के समान श्वेत भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—कई लोग सैन्धव रूप में अवशिष्ट इस भस्म

को आरनाल तथा अपराजिता आदि द्रव्यों का क्षार मानते हैं। परन्तु यदि इसमें पारद के तापांक से अधिक अग्नि दी गई तो पारद उड़ जायगा अन्यथा पारद भी उसमें मिलेगा। परन्तु खुली अग्नि पर रखने से पारद उड़ जायगा। इसको पारद की श्वेत भस्म माना जाता है। इस तरह अन्यत्र पारद की भस्मों का विधान पाया जाता है। मूलिनी अथवा दिव्यौषधियों के अतिरिक्त गन्धकादि के साथ भी पारद की भस्म-विधि पाई जाती है। जैसे रसरहस्य में लिखा है कि—"सूतं गन्धकसंयुक्तं कुमारीरसमर्दितम्। कृष्णवर्णं भवेद्भस्म देवानामपि दुर्लभम्॥" परन्तु इन विधियों से पारद की असली भस्म नहीं होती है किन्तु पारद मूर्च्छितावस्था में रहता है। परन्तु अनेक घटनाओं से यह प्रतीत होता है कि यदि पारद को मारकवर्गोक्त औषधियों के रस की भावना दी जाय तो वह भस्म हो सकता है। नकछींकनी के रस में पारद को आठ या नौ सप्ताह पर्यन्त बराबर मर्दन करके नष्टपिष्ट करलें और सुखा कर गोला-सा बना लें। अब इस गोले को एक सम्पूर्ण पेठे के भीतर रख कर पेठे पर कपड़मिट्टी कर दें और पेठे को एक खुली हांडी या कुण्डे में रख कर महागजपुट (गज भर चौड़ा-लम्बा-गहरा गढ़ा) में फूंक दें तो पारद की भस्म हो जाती है। यह भस्म पूरी तौल में और न उड़ने वाली होती है। यह वैद्यों के अनुभव में आई हुई भस्म है अतः मारकवर्गोक्त औषधियों में पारद को घोट कर पुट देने में इसकी कुछ आशा की जाती है।

रसेन्द्रसार आदि ग्रन्थों में पारद की भस्म के जो चार भेद लिखे हैं वे इस प्रकार हैं—

"श्वेतं पीतं तथा रक्तं कृष्णञ्चेति चतुर्विधम्। लक्षणं भस्म सूतानां श्रेष्ठं स्यादुत्तरोत्तरम्॥" ये भी वास्तव में पारद की भस्म नहीं हैं। इनमें रसकर्पूरादि की भी गणना की गई है और न इस भस्म में मृत पारद के लक्षण ही घटते हैं॥११६-११७॥

प्रकारान्तरम्—

अपामार्गस्य बीजानि तथैरण्डस्य चूर्णयेत्।
तच्चूर्णं पारदे देयं मूषायामधरोत्तरम्।
रुध्वा लघुपुटैः पच्याच्चतुर्भिर्भस्मतां नयेत्॥११८॥

अपामार्ग तथा एरण्डबीजमज्जा दोनों को समभाग में लेकर चूर्ण कर लें। एक दृढ़ मूषा अथवा वज्रमूषा में उक्त द्रव्यों का आधा चूर्ण बिछा कर उस पर पारद रख के अवशिष्ट चूर्ण बिछा दें। मूषा का मुख बन्द करके सन्धिलेप कर दें, अब इस मूषा को दूसरी मूषा से बन्द करके अच्छी तरह सन्धिलेप करके लघुपुट दें। स्वांगशीत होने पर पारद को निकाल कर पुनः अपमार्ग तथा एरण्डबीज-चूर्ण के बीच में रख कर लघुपुट दें। इस प्रकार चार लघुपुट देने से पारद की भस्म हो जाती है॥११८॥

प्रकारान्तरम्—

कटुतुम्ब्युद्भवे कन्दे गर्भे नारीपयःप्लुते।
सप्तधा म्रियते सूतः स्वेदितो गोमयाग्निना॥११९॥

शुद्ध पारद को स्त्रीदुग्ध अथवा घीकुआर के गूदे में अच्छी तरह मर्दन करके कड़वी तुम्बी के मोटे कन्द में छिद्र कर उसमें इस पारद को भर दें। फिर कन्द को शरावसम्पुट में बन्द करके उपलों की अग्नि से लघुपुट द्वारा सात बार स्वेदन अर्थात् पाक करने से पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—'पयःप्लुते' के स्थान पर 'पयःप्लुतः' पाठ पारद का विशेषण होने से उचित प्रतीत होता है। ग्रन्थान्तर में उक्त विधि से भस्म करते हुये कर्कटी कन्द का ग्रहण किया गया है। और लघुपुट के स्थान पर गजपुट देने को लिखा है। यथा—"भुजंगवल्लीनीरेण मर्दयेत् पारदं दृढम्। कर्कोटीकन्द-मृण्मूषासम्पुटस्थं पुटेद्गजे॥" इस प्रकार की हुई पारद की भस्म की मात्रा $\frac{1}{4}$ से $\frac{1}{2}$ रत्ती॥ ११९॥

प्रकारान्तरम्—

अङ्कोलस्य शिफावारि-पिष्टं खल्ले विमर्दयेत्।
सूतं गन्धकसन्तुल्यं दिनान्ते तं निरोधयेत्।
पुटयेद्भूधरे यन्त्रे दिनान्ते स मृतो भवेत्॥ १२०॥

शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक को समभाग में लेकर इनकी कज्जली बनायें। इस कज्जली को अंकोल की जड़ के रस से एक दिन पर्यन्त मर्दन करें। अब इस कज्जलीकल्क को एक दृढ़ मूषा में अच्छी तरह बन्द कर भूधरयन्त्र में एक दिन (बारह घण्टे) पाक करने से पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—यहाँ पर भूधरयन्त्र से अधःपातनयन्त्र के भेद भूधरयन्त्र से अभिप्राय नहीं है। किन्तु इसका अभिप्राय—भूमि में एक गढ़ा खोद कर उसमें तीन अंगुल की तह में बालुका भर कर उस पर मूषा को रख, मूषा के चारों तरफ तीन अंगुल तह की बालुका भर देना और बालुका के ऊपर उपले रख कर अग्नि लगा कर पुट देने, से है।

मात्रा—आधुनिक १ रत्ती से २ रत्ती तक॥ १२०॥

अन्यविधं मारणम्—

वटक्षीरेण सूताभ्रौ मर्दयेत् प्रहरत्रयम्।
पाचयेत्तेन काष्ठेन भस्मीभवति तद्रसः॥ १२१॥

शुद्ध पारद एक भाग तथा शुद्ध अभ्रक (धान्याभ्रक) अथवा अभ्रकसत्त्व चूर्ण एक भाग लेकर दोनों को खरल में अच्छी तरह घोटें, अब इसको बड़ के दूध से तीन पहर तक अच्छी तरह मर्दन करें। अब इस कल्क को एक मूषा या शराव में बन्द करके एक चौड़े मिट्टी के पात्र में या बालुकायन्त्र की बालुका के बीच में रख कर चूल्हे पर चढ़ा बड़ की लकड़ी की आग से

चार पहर पकायें तो पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—इस भस्म में भी पारद की दुग्ध के साथ अभ्रक में कुछ भावना रह जाती है। जो भस्म रूप में ली जाती है किन्तु वह अभ्रक का ही भाग समझना चाहिये। 'प्रहरत्रयम्' के स्थान पर 'प्रहरद्वयम्' पाठ पाया जाता है।

मात्रा—½ रत्ती से १ रत्ती तक॥ १२१॥

रसभस्मसेवनविधिः—

अथातुरो रसाचार्यं साक्षाद्देवं महेश्वरम्।
साधितं च रसं शृङ्गदन्तवेण्वादिधारितम्॥ १२२॥
अर्चयित्वा यथाशक्ति देवगोब्राह्मणानपि।
पर्णखण्डे धृतं सूतं जग्ध्वा स्यादनुपानतः॥ १२३॥

रसभस्म सिद्धि के पश्चात् यदि किसी रोगी ने उक्त पारद भस्म का सेवन करना हो तो उसे (रोगी को) रसभस्म करने वाले वैद्य को रसाचार्य, साक्षात् महेश्वर, देव अर्थात् शिव जी का रूप निर्धारित कर उसकी यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये। इसी तरह वास्तविक रूप में मृत (भस्मीभूत साधित) पारद को भी जिसे भस्म करने के बाद शृङ्ग, दन्तोलूखल, वेणु (बांस) आदि द्रव्यों को शीशी में रखा गया हो, यथाशक्ति पूजा करके देवता, गाय तथा ब्राह्मणों की भी यथा शक्ति पूजा करनी चाहिये। इसके पश्चात् पारदभस्म को पान के पत्ते में रख यथायोग्यानुपान से सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—अनुपान की कल्पना वैद्य पर निर्भर होती है। संक्षेपतः अनुपान में काष्ठ औषधियों के स्वरस, फाण्ट, कषाय आदि व्यवहृत होते हैं। जो औषधि जिस रोग पर विशेष प्रभाव करती है उसके स्वरसादि को पारद या पारद के योगों में अनुपान के रूप में कल्पना किया जाता है। जैसे बांसा कण्टकारी आदि को कास रोग में। पुष्करमूल, धत्तूर आदि को श्वास रोग में। बिल्व कुटज आदि को अतीसार में, चिरायता, गुडूची, त्रायमाणा आदि ज्वर में, सारिवा खदिर आदि रक्तविकृति रोग में। मूसली, शतावरी, बला आदि दौर्बल्य रोग में अनुपान रूप में दी जा सकती हैं। अनुपानतरङ्गिणी में पारदभस्म या उसके योग रससिन्दूरादि के अनुपान कुछ इस प्रकार बताये हैं—"पिप्पलीमधुसंयुक्तं वातरोगं वरानने। सितोपलावरायुक्तं पित्तमेहनिवारणम्॥ भार्ङ्गीत्र्यूषणमाक्षीकैः कसनश्वासशूलनुत्। सितारात्रिसमायुक्तं रक्तदोषं विनाशयेत्॥ कामलापाण्डुमन्दाग्नीन् वरात्र्यूषणयुग्जयेत्। यथा विष्णुः श्रिया युक्तो हृदिस्थो भक्तपातकान्॥ हृद्रोगं बद्धकोष्ठं च वह्निमान्द्यादिकान् गदान्। जयेत् चित्रकपाञ्चालीशिवासौवर्चलान्वितम्॥ शिलाजतुसितैलाभिर्मूत्रकृच्छ्रापनुद्भवेत्। सौवर्चलवरायुक्तं रेचयेन्नवयौवने!॥ जातीपत्रीलवंगाम्बुभंगापिप्पलिकुंकुमैः। कर्पूरेण च संयुक्तं धातुवृद्धिकरं परम्॥ लवंगरुच्यकशिवायुक्तं सर्वज्वरापहम्। प्रिये! भंगाजमोदाभ्यां छर्दिरोगप्रणाशनम्॥ गुडपर्पटसंयुक्तं कृमीन् कोष्ठगतान् जयेत्। लवंगभंगाफूकैश्च सर्वातीसारनुत्प्रिये!॥ वातं माक्षिकपाञ्चालीचूर्णयुक्तं विनिर्जयेत्। सितोपलायुतं पित्तं जयेदम्बुजलोचने!॥ त्रिकटुवग्नियुतं हन्यात् कफरोगं सुदारुणम्॥"

पारदभस्म को शंखदन्तादिनिर्मित पात्र में रखने का यह अभिप्राय है कि पारदभस्म ऐसे पात्र में रखी जाय जिससे उसमें बाह्य नमीदार वायु का प्रभाव न हो। शंख दन्त आदि द्रव्यों में जल तथा गीली वायु का कोई प्रभाव नहीं होता है जिस तरह कांच की शीशी में। वेणु में वायुगत नमी को शोषण करने की विशेष शक्ति होने से इसको भी काम में लाया जा सकता है।

रससेवने पथ्यविधिः—

घृतसैन्धवधान्याकजीरकार्द्रकसंस्कृतम्।
तण्डुलीयक-धान्याक-पटोलालम्बुषादिकम्॥ १२४॥
गोधूमजीर्णशाल्यन्नं गव्यं क्षीरं घृतं दधि।
हंसोदकं मुद्गरसः पथ्यवर्गः समासतः॥ १२५॥

पारदभस्म या पारद के सेवनकाल में, चौलाई, धनिया, परवल, लौकी, तोरी आदि शाकों को तथा दालों को घृत, सैन्धानमक, धनिया, जीरा तथा आर्द्रक द्रव्यों से संस्कृत करके देना चाहियें अर्थात् शाकों और दालों को घृत से छौंक कर जीरा आदि द्रव्य मसाले के रूप में मिला कर देना चाहिये। इसी तरह अन्नों में गेहूं, पुराने चावल, गाय का दूध, घृत तथा दही, हंसोदक (सूर्य किरणों से शुद्ध जल), मूंग का यूष ये सब वस्तु खानी पथ्य हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में पारद-सेवन-काल में पुनर्नवा, वास्तूक, बैगन, भिस, जुही या चिल्लिका का शाक भी पथ्य रूप में देने को पाया जाता है। दीपक पाचक द्रव्यों में नागरमोथा तथा पिप्पली भी पथ्य मानी गई है।

हंसोदक का लक्षण इस प्रकार है "दिवा सूर्यांशुसन्तप्तं निशि चन्द्रांशुशीतलम्। कालेन पक्वममलमगस्त्येनाऽविषीकृतम्॥ हंसोदकमिति ख्यातं शारदं निर्मलं शुचि॥" अर्थात् अगस्त्य नक्षत्र उदय होने के बाद स्वच्छ भूमि में वर्षा हुआ जल सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणों से अच्छी तरह संसृष्ट होने पर हंस (किरण) उदक कहा जाता है। इसके अभाव में शुद्ध जल को उबाल छान कर काम में लाना चाहिये। "लम्बुषादिकम्" के स्थान पर "लाबुकादिकम्" पाठान्तर मिलता है। यही पाठ उचित प्रतीत होता है। क्योंकि "अलम्बुषा" से कड़वी तोरी या लौकी ली जाती है। जो कड़वी होने से नहीं खाई जा सकती है॥ १२४—१२५॥

रससेवने अपथ्यानि—

बृहती बिल्वकूष्माण्डं वेत्राग्रं कारवेल्लकम्।
माषं मसूरं निष्पावं कुलित्थं सर्षपं तिलम्॥ १२६॥

लङ्घनोद्वर्त्तनस्नानताम्रचूड़सुराऽऽसवान् ।
आनूपमांसं धान्याम्लं भोजनं कदलीदले ।
कांस्ये च गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णोष्णञ्च भृशं त्यजेत्॥१२७॥

बृहती (बड़ी कंटकारी) बिल्वफल, पेठा का शाक, बेंत के अंकुर, करेले का शाक, माष (उड़द), मसूर, मटर, कुलत्थ, सर्षप, लंघन करना, शरीर में उबटन करना, स्नान, ताम्रचूड़ (मुर्गा) मद्य तथा आसव, आनूपदेश में उत्पन्न होने वाले प्राणियों का मांस, काञ्जी, कदलीपत्र में भोजन करना और कांसे के पात्र में भोजन करना तथा गुरु, विष्टम्भि (काब्ज़ि) अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उष्ण द्रव्यों और भोजनों का परिहार करना चाहिये। अर्थात् पारदसेवन के दिनों में इन द्रव्यों को न खाना चाहिये।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में रससेवनकाल में लवण, दधि, दुग्ध, नारिकेल, आम्र, अखरोट, काञ्चनारपुष्पशाक, सुहांजना-पुष्पशाक, द्राक्षा और परूषक फल आदि का भी निषेध किया है। परन्तु दधि, घृत, नारिकेल, द्राक्षा आदि द्रव्य पोषक और शीत-पित्तशामक होने से हानिकारक नहीं हैं। पारदसेवनकाल में केवल वात और पित्तप्रकोप द्रव्यों को विशेषरूप से त्याग देना चाहिये। 'वातलान्यतिवर्जयेत्'। अनुपानतरङ्गिणी में नित्य कोष्ण जल से स्नान करने को भी लिखा है। यही ठीक है स्वास्थ्य के लिये स्नान अत्यन्तावश्यक कार्य है। स्नान के अतिरिक्त विहार के सम्बन्ध में भी निर्देश पाया जाता है, जैसे—"अत्यशनातिपाने च ह्यतिनिद्रा-तिजागरे। स्त्रीणामतिप्रसङ्गञ्च ह्याध्मानं च विवर्जयेत्॥ अतिकोपं महाहर्षमतिदुःखमतिस्त्रृहाम्। शुष्कवादं जलक्रीडमतिचिन्तां च वर्जयेत्॥ पातकं न च कर्त्तव्यं पशुसंगञ्च वर्जयेत्। चतुष्पथे न गंतव्यं विण्मूत्रं न च लंघयेत्॥"

पाश्चात्यचिकित्सापद्धति में भी पारदसेवनकाल में निम्न आदेश पाये जाते हैं—

१—खट्टे फल, हरे शाक, काफी (coffee) और मृदु-विरेचक (Aperient) आदि का उपयोग बहुत कम करना चाहिये।

२—मद्य, आसव, अरिष्ट आदि उत्तेजक द्रव्य जहाँ तक सम्भव हो छोड़ देने चाहिये।

३—तम्बाकू, सिगरेट, सिगार आदि का पीना एकदम बन्द कर देना चाहिये।

४—प्रायः उष्ण वस्त्र पहिनने चाहिये और शीत से बचना चाहिये। 'लंघन' के स्थान पर 'बन्धन' पाठ रुचिकर प्रतीत नहीं होता है। सुरा और आसव से निम्नलिखित लक्षण युक्त द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये। "परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः।" इति सुरा। "यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः।" इत्यासवः॥ १२६—१२७॥

देवीशास्त्रोक्तककारादिगणः—

कण्टारीफलकाञ्जिकञ्च कलमस्तैलं तथा राजिका
निम्बूकं कतकं कलिङ्गकफलं कूष्माण्डकं कर्कटी।
कारीकुक्कुटकारवेल्लकफलं कर्कोटिकायाः फलं
वृन्ताकञ्च कपित्थकं खलु गणः प्रोक्तः ककारादिकः।१२८।
देवीशास्त्रोदितः सोऽयं ककारादिगणो मतः।
शास्त्रान्तरविनिर्दिष्टः कथ्यतेऽन्यप्रकारतः ॥१२९॥

कण्टकारीफल, काञ्जी, कलमीशाक, राई, तेल, नींबू, निर्मली, तरबूज़, पेठा, ककड़ी, कारी (कण्टकारी भेद), मुर्गे का मांस, करेला, ककोड़े के फल, बैगन, कैथ का फल, इसको ककारादिगण कहा जाता है। यह ककारादिगण देवीशास्त्र में कहा गया है। अब अन्य शास्त्र से कहे गये ककारादिगण का दूसरे रूप से वर्णन किया जाता है।

विशेष वचन—अन्य प्रकार से कहने का यह अभिप्राय है कि उक्त गण को ककारादिगण कहते हुये भी इसमें जो द्रव्य बताये गये हैं उन सब में 'क' अक्षर आदि में नहीं आता है किन्तु अन्यशास्त्रोक्त ककारादिवर्ग में यह बात नहीं होगी, वह वास्तव में 'ककारादिवर्ग' होगा।

"कारी" के स्थान पर "केकी" अथवा "कीरी" पाठ समीचीन प्रतीत होता है। "केकी" से मोरनी और "कीरी" से शुक-स्त्री का ग्रहण किया जाता है। "कलमः" के स्थान पर "कमठः" पाठान्तर पाया जाता है। "कमठ" से कछुए का मांस लिया जाता है॥ १२८—१२९॥

श्रीकृष्णदेवोक्तककारादिगणः—

कङ्गुः कन्दुककोलकुक्कुटकल-क्रोडाः कुलत्थास्तथा
कण्टारी कटुतैलकृष्णगलकः कूर्मः कलायः कणा।
कर्कारुश्च कठिल्लकश्च कतकं कर्कोटकं कर्कटी
काली काञ्जिकमेष कादिकगणः श्रीकृष्णदेवोदितः।१३०।

कंगुनी, सुपारी या कन्दूरीफल, बेर, मुर्गा, कल (हंस कबूतर, मयूर आदि कलकण्ठ वाले पक्षी) सूअर का मांस, कण्टकारी के फल, कड़वा तैल, कृष्ण गलक, कृष्णवर्ण की गड़क-नामक मछली, कछुआ, मटर, पिप्पली, पेठाभेद, करेला, निर्मली, ककोड़ाफल, ककड़ी, काला जीरा और काञ्जी, यह श्रीकृष्णदेवोक्त ककारादिगण कहा जाता है।

विशेष वचन—"कणा" के स्थान पर "कणी" ऐसा पाठ होने पर अश्वकण्ठलता का ग्रहण करना चाहिये॥ १३०॥

ककारादिनिषेधस्यापवादः—

यस्मिन् रसे च कण्ठोक्त्या ककारादिर्निषेधितः।
तत्र तत्र निषेध्यस्तुतदौचित्यमतोऽन्यतः ॥१३१॥

जिस २ पारदयोग के सेवन करने में ककारादिगण के पदार्थों

का निषेध किया गया हो उस उस रस पर उक्त ककारादि द्रव्य विशेषतः निषिद्ध हैं। न कि सर्वत्र ककारादि द्रव्य निषिद्ध समझने चाहिये। निषिद्ध स्थान के अतिरिक्त रसप्रयोग में इनमें से जो जो उपयुक्त समझें उनका प्रयोग कर सकते हैं। अथवा निषिद्ध ककारादि द्रव्यों के समगुण अन्य वर्गों को भी ककारादिवत् निषिद्ध समझना चाहिये ॥१३१॥

रसव्यापदि प्रतीकारः—

उद्गारे सति दध्यन्नं कृष्णमीनं सजीरकम्।
अभ्यङ्गमनिलक्षोभे तैलैर्नारायणादिभिः ॥ १३२ ॥
अरतौ शीततोयेन मस्तकोपरि सेचनम्।
तृष्णायां नारिकेलाम्बु मुद्गयूषं सशर्करम् ॥ १३३ ॥

पारद सेवन के समय अपथ्य प्रयोग से होनेवाली विकृतियों में यदि उद्गार अधिक आने लगे तो रोगी को दही चावल अथवा जीरकचूर्ण प्रक्षेपयुक्त कृष्णवर्ण मछली खिलानी चाहिये। यदि शरीर में वातिक क्षोभ अर्थात् वातिक उपद्रव तोदभेदवत् पीड़ा आदि हों तो शरीर में नारायणतैल, विष्णुतैल, शतावरी आदि तैलों का अभ्यंग करना चाहिये। और यदि रोगी की बेचैनी बहुत बढ़ जाय अर्थात् पित्तप्रकोप अधिक हो जाय तो सिर में शीतल जल से सिंचन करना चाहिये। प्यास अधिक लगे तो नारियल का जल अथवा मूंग का यूष शर्करा मिला कर देना चाहिये।

विशेष वचन—पारद-सेवन-काल में पालनीय नियमों का उल्लंघन करने या मात्रा आदि का पूर्ण विचार न करने से प्रायः पारद व्यापत्ति (विकार mercuric poison) हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त कभी मात्रा आदि के विषय में पूर्ण सावधानी होते हुए भी अशुद्ध पारद (नाग वंग धातु मिश्रित) होने से पारद विष विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जिससे सारे शरीर में सन्ताप बढ़ जाता है। तृषा अधिक लगती है। हृदय तथा मन दुर्बल पड़ जाते हैं। कभी कभी किसी को वमन भी होने लगती है। शरीर में वातिक क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। इस रसव्यापत्ति को ही अन्यत्र रसाजीर्ण नाम से लिखा है—"रसराजे त्वजीर्णे तु प्रत्ययोऽयं भवेत् प्रिये ! । मूर्च्छाशोफौ भ्रमः कम्पः छर्दिर्मोहो ज्वरस्तथा ॥ हिक्कावेपथुशूलानि निद्रालस्यमरोचकः। लिंगस्तम्भोऽप्यतीसारः कासश्वासविजृम्भिकाः ॥ कर्णास्यचक्षुः कुक्षौ च वृषणोदरमूर्धनि। मन्ददाहो विबन्धश्च जातः सर्वांगसंक्षयः ॥ अन्यांश्चैव महाव्याधीन् रसाजीर्णे तु लक्षयेत् ॥" पारदीय विकार उत्पन्न होने पर उक्त उपचार के साथ रोगी को शीत वायु सेवन, शीत जलावगाहन करना चाहिये। हृदय की दुर्बलता में हृद्य आसवारिष्टों या कषाय-स्वरसों के साथ मुक्ता, प्रवाल, स्वर्ण, वंशलोचन, गुडूचीसत्व आदि का कूष्माण्डजल से सेवन कराना चाहिये। अथवा पर्पट, उशीर, धान्याक, मधुयष्टी आदि शीत-पित्तहर द्रव्यों का फाण्ट या शीतकषाय मिश्री मिला कर पिलाना चाहिये। रसाजीर्ण में अन्यत्र यह उपचार करना लिखा है—"कर्कोटीमूलरसं कषायमथ सिन्धुना पिबेत्त्रिदिनम्। सौवर्चलसहितं वा गोजलसहितं रसाजीर्णे ॥" अशुद्ध पारद सेवनजन्य विकारों को शान्त करने के लिये शुद्ध गन्धक के अतिरिक्त अन्य कोई महौषधि नहीं मानी जाती है—"विकारो यदि जायेत पारदान्मलसंयुतात्। गन्धकं सेवयेद्धीमान् पाचितं विधिपूर्वकम् ॥" "गवां दुग्धयुतं पीत्वा गन्धकं दिनसप्तकम्। पारदस्य विकारेण मुक्तः सुखमवाप्नुयात् ॥" यदि गन्धक को गोदुग्ध और घृत के साथ सेवन कराया जाय तो अधिक लाभदायक होता है। नाग-वंगादि दोषयुक्त पारद के सेवन करने से उत्पन्न होने वाले विकारों में विशेषतः कुटकी तथा करेले की जड़ को गोमूत्र के साथ सेवन करने से सब दोष दूर हो जाते हैं ॥१३३॥

रससेवने उपचारविधिः—

द्राक्षादाड़िमखर्जूरकदलीनां फलं भजेत्।
रसवीर्य्यविवृद्ध्यर्थं दधिक्षीरेक्षुशर्कराः।
शीतोपचारमन्यच्च— ॥१३४॥

पारद-सेवन-काल में पित्तवृद्धिजन्य क्षोभ की शान्ति के लिये द्राक्षा, अनार, खजूर और कदलीफल (केला) का सेवन करना चाहिये। पारद-सेवनकाल में इन फलों के सेवन से शरीर में रस और वीर्य की वृद्धि होती है, जिससे वह (पारद) शीघ्र गुण करता है। इसके अतिरिक्त पोषक द्रव्य, दही, दूध, इक्षुरस, शर्करा आदि का भी सेवन करना चाहिये। अन्य शीत उपचार भी इस काल में करने चाहिये जिससे दाह, मूर्छा, अरति आदि दोष उत्पन्न न होने पावें ॥१३४॥

रसत्यागे उपचारविधिः—

—रसत्यागविधौ पुनः।
भक्षयेद्बृहतीबिल्वं सकृत् साधारणो विधिः ॥१३५॥

पारदसेवन का सहसा त्याग करने पर भी कई बार कालान्तर में व्यापत्ति होने की आशंका रहती है। अतः पारद-सेवन-जन्य गुणों को स्थिर करने के लिये तथा पश्चात्कालभावी विपत्ति से बचने के लिए पारद छोड़ने से पूर्व एक बार कण्टकारीफल तथा बिल्वफलमज्जा या उसका मुरब्बा का सेवन करना चाहिये। इसके बाद भोजनपानादि में साधारण आहार-विहार का या इच्छानुकूल योग्य आहार-विहार का सेवन कर सकते हैं। अथवा पारदसेवन की यह साधारण विधि है ॥१३५॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये रसशोधनबन्धन-भस्मजलूकादिनिरूपणन्नाम एकादशोऽध्यायः ॥११॥

—:※:—

पारदीय विशेष विवेचन

आधुनिक समय बुद्धिवाद (Rationalism) तथा प्रत्यक्षवाद का है। जो ज्ञान-विज्ञान वर्तमान समय की वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं (Laboratories) की कसौटी पर पूरा उतर चुका हो और जो सप्रमाण विस्तृत रूप से युक्तियुक्त लोगों के सामने रखा हो उसी को लोग सत्य और पूर्ण मानते हैं अन्यथा किसी भी सत्य का कोई मूल्य नहीं होता। किन्तु प्राचीन काल की शैली भिन्न थी। ऋषि महर्षि वाग्जाल और शब्दवितण्डा-वाद में न पड़ कर प्रत्येक अनुभवसिद्ध बात को सूत्ररूप से वर्णन कर दिया करते थे। और उन गूढ़ तत्त्वों की व्याख्या गुरु-शिष्य अध्यापन-अध्ययन परम्परा में गुरु द्वारा प्राप्त होती थी। किन्तु गुरु शिष्य-पद्धति का लोप होने पर हमारे सामने केवल गूढ़ार्थ सूत्र ही रह गये और उनके वास्तविक अर्थों का ज्ञान जाता रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि आज हम उनके असली अर्थों और भावों को नहीं समझ सकते हैं जिससे यहाँ तक भी सन्देह होने लगता है कि आया जो कुछ लिखा है वह सत्य भी है अथवा निरी गप्पें ही हैं। रसरत्न-समुच्चय जैसे सर्वप्रिय और श्रेष्ठ ग्रन्थ की टीका करते समय यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ कि पारद जैसे अमोघ खनिज पर, जिसके विषय में अनेक प्रकार की लोकगाथा, अनेक प्रकार के भ्रम और सन्देह हैं; और जिसके लिखे हुए गुणों को केवल कल्पना की उड़ान मानते हैं, आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल नवीन सिद्धान्तानुसार प्रकाश डाला जाय। जिससे तद्विषयक तथ्य का ज्ञान हो तथा आम जनता की मिथ्या धारणा का निवारण हो और साथ ही यह सिद्ध हो जाय कि पारदादि खनिजों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, नवीन गवेषणाओं के द्वारा भी शत-प्रतिशत उन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि होती है॥

ऋषि कथित पारदोत्पत्ति मत

इसी रसरत्नसमुच्चय के पूर्व खण्ड अ. १ में महर्षि वाग्भट्ट लिखते हैं—

शैलेऽस्मिञ्छिवयोः प्रीत्यां परस्परजिगीषया।
संप्रवृत्ते च संभोगे त्रिलोकीक्षोभकारिणि॥ आदि २

पूर्ण वर्णन तथा उसका भावार्थ यथास्थल देखें। अब आगे पारदोत्पत्तिका नवीन मत पाठकोंके सामने रखते हैं जिससे स्पष्ट विदित हो जायगा कि प्राच्य प्रतीच्य मत का कहाँ तक समन्वय हो सकता है और देखेंगे कि दोनों एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उक्त पद्यों में वाग्भट्ट ने स्पष्ट वर्णन कर दिया है कि हिमाचल के अन्तराल में जब जड़ और चैतन्य शक्तियों का द्वन्द्व होता है तब संघर्षण से उत्पन्न हुई अग्नि ज्वालामुखी रूपमें प्रकट होती है जो उत्पन्न होने से पूर्व पृथ्वी को कम्पायमान करके भूकम्प उत्पन्न करती है। तदनन्तर पृथ्वी अनेक स्थानों पर फट जाती है जिसमें प्रथम कपोतवर्ण का धूम निकलता है (कपोतरूपिणं प्राप्तं हिमवत्कन्दरेऽनलम्) तदनन्तर अनलज्वाला का प्रादुर्भाव होता है (अपद्विभाव-संक्षुब्धं) इस समय भूकम्प शान्त हो जाता है (तं दृष्ट्वा लज्जितः शंभुर्विरतः सुरतात्तदा) जब ज्वालामुखी के आग्नेय पाषाण शीतावस्था को प्राप्त होने लगते हैं तब तदन्तःस्थ उड़नशील खनिजों का उष्ण जल के साथ मिलकर वाष्पीभवन होने लगता है और वह शीतल होने पर ऊपर आकर जम जाते हैं। जो उड़नशील खनिज वाष्पीयकरण द्वारा इस प्रकार जमते हैं, उनके जमने का क्रम डाक्टर सी. जी. कलिस प्रोफेसर इम्पीरियल कालेज लण्डन के मतानुसार इस प्रकार है—

निम्नतम भाग में पातालिक आग्नेय पाषाण ग्रेनाइट (Granite) और उसके ऊपरी भाग में एक ओर जलज, पारद, टुरमलीन, पुखराज, वंग और टंगस्टन रहते हैं, तथा दूसरी ओर भारी धातु ताम्र, नाग, यशद, सुवर्ण, रजत और रौप्यमाक्षिक रहते हैं। इसी को चित्र द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

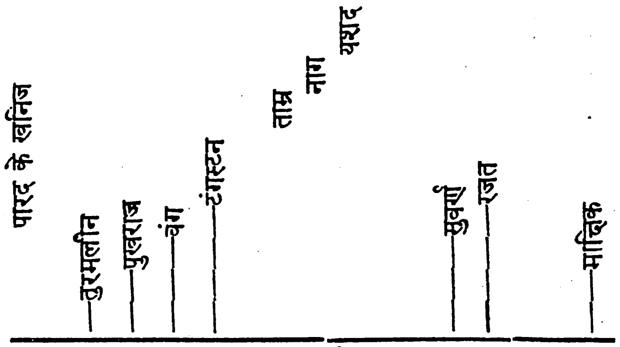

[पातालिक आग्नेय पाषाण ग्रेनाइट (Granite)]

इस प्रकार ऐसी खानों में से एक के पश्चात् दूसरे-दूसरे खनिज को खोद कर प्राप्त किया जा सकता है (संजातास्तन्मलाधानाद्धातवः सिद्धिदायकाः)। जहाँ-जहाँ पारद की खाने हैं वहाँ कहीं-कहीं पर नलाकार कूप दृष्टिगोचर होते हैं जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण इटली प्रदेश में है। यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका (United States of America) में भी ऐसे स्थान हैं जिनकी समानता "शतयोजननिम्नास्ते (विस्तीर्णाः) जाताः कूपास्तु पंच च" से हो सकती है। उक्त ग्रन्थकार ने पांच कूपों का उल्लेख किया है किन्तु वहाँ पर इस समय १९ कूप (shafts) हैं जिनसे पारद निकाला जाता है, सम्भव है उस समय केवल पांच कूप ही प्राप्त हुए हों 'शतयोजना' गहराई अधिक लगती है। आजकल २४५० फुट गहरे कूप से पारद प्राप्य है। कई उद्धरणों से विदित होगा कि भूगर्भ के अन्दर सौ मील की खुदाई पारद निकालने के लिये हुई है॥

जो अर्वाचीन प्रत्यक्षदर्शी विद्वानों के पारदोत्पत्तिविषयक ज्ञान के साथ पूर्ण समन्वयात्मक हैं। किन्तु भाग्यवश प्राचीन वर्णनशैली ऐसी आलंकारिक और तान्त्रिक काल की भक्तिभाव पूर्ण भाषा है कि जिसको ठीक-ठीक समझने और समझाने के लिये भी प्रत्यक्ष-दर्शन गवेषणाओं का सहारा लेना ही पड़ता है। रसरत्नसमुच्चयकार ने भी कहा है:—"एतां रससमुत्पत्तिं यो जानाति स धार्मिकः।"

रसोत्पत्तिविषयक नवीन मत

पारद की सर्वप्रथम प्राप्ति

पाश्चात्य देशों में सर्वप्रथम हिंगुल का अस्तित्व सन् १५६६ ई० में पेरु देश के हुवान्कावेलिका (Huancavelica) नामक स्थान में विदित हुआ और सन् १६३३ ई० में लोपेज-सावेद्रा-बार्बा (Lopez Saavedra Barba) नामक व्यक्ति ने पारद निकालने के लिये अल्युडेल (Aludel) नामक भट्टी की योजना की जिसको आगे चल कर १६४६ ई० में बुस्टामेण्ट (Bustamente) नामी एक रसायनशास्त्री ने स्पेन देश के पारदीय खनिज प्राप्ति के प्रसिद्ध अल्माडन (Almaden) की खानों में प्रचलित किया। इस भट्टी का प्रयोग वहां पर दो शताब्दियों से भी अधिक काल तक होता रहा किन्तु उनका स्थान अब नव्यप्रकारेण निर्मित भट्टियों ने ले लिया है।

भूगर्भ-विज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार संसार में पारद एक करोड़ पचहत्तर लाख वर्ष से पचास लाख पर्ष (आर्कियन से क्वाटर्नरी) आयु प्रदर्शित करने वाले शिला-व्यूहों में पाया गया है। पारद की प्राप्ति अनेक रूप-रङ्ग वाले भिन्न२ जातीय जलज तथा आग्नेय शिलाखंडों में व्याप्त मिलती है। उदाहरणार्थ—बालुशिला (sandstons) मृत्तिका शिला (sbales) चूर्ण पाषाण (Limestone) स्फटिक शिला (quartzite) आदि जलज और ज्वालामुखी की लावा आदि आग्नेय पाषाणों के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उक्त उभय-गुण-धर्म-रहित रूपान्तरित पाषाण खंडी (scnists) में भी यह पाया जाता है, किन्तु अधिक मात्रा में आग्नेय पाषाणखंडों के समीप ही उपलब्ध हैं।

संसारमें प्राप्त होने वाले समस्त खनिज भूगर्भ से प्राप्त होते हैं। उनमें पारद ही अकेला एक ऐसा खनिज है जो साधारण तापांश (Normal Temperature) पर भी द्रव रूप में ही प्राप्त हो जाता है। यह पिघली हुई चाँदी के समान होता है। प्रतीत होता है कि इसी कारण से रसकामधेनु-ग्रन्थ-कर्ता श्रीचूड़ामणि ने इसको "गलद्रूप्यनिभम्" की संज्ञा दी है—और इसी संज्ञा का द्योतक पाश्चात्य नाम Qurck silver है। Medical term में इसे Merenry कहते हैं। स्वतन्त्ररूप से भी पारद कभी २ हिंगुल वा अन्य पारदीय खनिजों के साथ अत्यल्प मात्रा में प्राप्त होता है। प्राचीन काल से ही हिङ्गुल से पारद निकालने की प्रथा चली आ रही है।

यथा—"दरदं पातने यन्त्रे पातयेत् सलिलाशये।
सत्वं सूतकसङ्काशं जायते नात्र संशयः॥" (रसार्णव)
पतितो दरदे देशे गौरवाद्वह्निवक्त्रतः।
स रसो भूतले लीनस्तत्तद् शनिवासिनः॥
तां मृदं पातनायन्त्रे क्षिप्त्वा सूतं हरन्ति च॥" (रसरत्नसमुच्चय)
"ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण हिंगुलादुत्थितो रसः।
हिंगुलोत्थः स्मृतश्चैव हिंगुलाकृष्ट उच्यते॥ (रसतन्त्र)

भारतेतर देशों में भी हिङ्गुल से ही पारद निकाला जाता रहा है। थियोफ्रास्टस (Theophrastus) नाम के विद्वान् ने ईसा के पूर्व ३०० शताब्दि के लगभग ताम्रचूर्ण और हिङ्गुल को सिरके के साथ पीसकर, उड़ाकर पारद पृथक् करने की विधि लिखी है। एवं डायस्कोरीडीज (Dioscorides) नाम के विद्वान् ने भी लोहचूर्णमिश्रित हिङ्गुल से पारद निकालने का उल्लेख किया है। अभी भी उच्च पैमाने पर पारद निकालने के लिये ये विधियाँ प्रयुक्त होती हैं।

सोना चांदी बनाने वाले कीमियागर लोगों ने पारद पर अनेक प्रकार के परीक्षण किये, और इन्हीं के अनुभव से पारद-मिश्रक (Amalgams) का ज्ञान सर्वप्रथम व्यवहार में आया।

पारद का तत्व (Element) है इसका सङ्केतवाची चिह्न (Symbol) Hg. है। इसका परमाणु भार २०० तथा आपेक्षिक घनत्व १३०५६ है। इसका हिमाङ्क (Freezing point) जमाने वाला भाप) ३९° सी. है तथा क्वथनाङ्क (Boiling point) उबलने वाला भाप) ३५९° सी. है।

पूर्वकाल में एक धारणा चली आ रही थी कि लोह अथवा पारद स्वर्ण वा रजत में परिवर्तित हो सकती है और पारस मणि द्वारा इसी कार्य की सिद्धि मानते थे। उस पारस मणि के अन्वेषण में अनेक व्यक्तियों ने अपना जीवन भी नष्ट कर दिया। किन्तु आज दिन तक प्राप्त न होने पर लोगों ने पारस मणि की तरफ से ध्यान हटा कर ऐसी क्रियाओं के अन्वेषण में अपना समय और शक्ति लगाने का संकल्प किया है जिससे वास्तव में लोह और पारद को स्वर्ण और रजत में परिणत कर सकें।

पारदीय खनिजों के जमाव को देखने से यह भी विदित होता है कि भूगर्भ में जब आग्नेय पाषाण क्रमशः शीतल होने लगते हैं उस समय उड़नशील खनिज, जो उनके भीतरी भाग में उपस्थित थे, वाष्प रूप में उड़ कर ऊपर के समीपवर्ती शिलाखंडों की दरारों में जमा हो जाते हैं। उनमें पारदीय खनिज भी अन्यतम है। इसी कारण से उष्ण जल के स्रोतों के समीप आजकल भी पारद पाया जाता है।

अमेरिका के प्रसिद्ध भूगर्भवेत्ता रेन्सम (Ransome) और स्पर (Spurr) नाम के विद्वानों का विचार है कि पारद सदा ज्वालामुखी आग्नेय पाषाणों के सिलसिले में ही पाया जाता है, क्योंकि इसका अस्तित्व अधिकांश वर्तमान ज्वालामुखी पाषाणों में ही पाया गया है। किन्तु रससिद्धान्त का भी अपवाद स्पेन देश की बड़ी बड़ी खानें हैं, जो अल्माडन नामक स्थान में विद्यमान हैं और भूगर्भकाल के निर्णयानुसार अत्यन्त प्राचीन हैं। उनमें पारद १३०० फीट की गहराई तक पाया जाता है। इसी प्रकार अमेरिका प्रदेश की केलिफोर्नियां (California) न्यू इड्रिया (New Idria) न्यू अल्माडन (New Almaden) जहां पारद २२०० फीट की गहराई में प्राप्त है, ये पारद की खानें हैं जिनका सम्बन्ध ज्वालामुखी के उद्गम से नहीं है।

इस प्रकार अनेक मतभेद होने पर भी इस बात पर सब विद्वान् सहमत हैं कि पारद भूगर्भ से बाहर उष्ण जल के साथ ही पृथ्वी पर आता है और इसी लिये यह अपने खनिजों के साथ भू-भाग के उपरितल में ही अधिकतर जमा मिलता है। जिस उष्ण जल के साथ पारद निकलता है, वह जल चाहे वर्षा द्वारा पृथ्वी में अन्तराल के उष्ण भाग में जाकर पुनः उष्ण स्रोत के रूप में बाहर निकला हो, चाहे पातालिक आग्नेय पाषाणों से निकल कर बाहर आया हो; किन्तु यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध है कि पारद उष्ण जल के साथ ही क्षारीय घोलों में घुला हुआ पृथ्वी की ऊपरी दरारों में या पृथ्वी पर आकर प्राकृतिक पारद और पारदीय खनिज हिङ्गुल आदि के रूप में जमा हुआ है।

खनिज से पारद निकालने की विधि कठिन नहीं है। खनिज को खुले स्थान पर फूंकते हैं जिससे हिङ्गुलस्थ गन्धक (Sulphur Dioxide) सल्फर डाइआक्साइड में परिणत होकर पारद स्वतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार हिङ्गुल को सुधा-चूर्ण से मिश्रित करके रिटोर्टों द्वारा करने से (Calcium Sulphide) केल्शियम सल्फाइड और (Sulphate) सलफेट बन कर पारद अलग निकल आता है। इन विधियों से पारद निकालने पर भी उनमें अनेक दोष तथा अशुद्धियां रह जाती हैं तथा जिन जिन यन्त्रों (Machinery) से निकाला जाता है। उनका संसर्गज दोष भी इसमें मिश्रित हो जाता है। इन अपद्रव्यों को दूर करने के लिये केमोयास नामक चर्म द्वारा इसको छान लिया जाता है। शेष नाग, वङ्ग, यशद आदि दोषों को दूर करने के लिये ऊर्ध्वपातनादि शास्त्रोक्त विधियों को काम में लाना पड़ता है। डाइल्यूट नत्रिकाम्ल (Dilute Nitric Acid) द्वारा भी पारद की शुद्धि की जाती है। पारद को उक्त अम्ल (Acid) में घोल देने से अन्य धातुएं उसमें घुल जाती हैं और शेष शुद्ध पारद भी जल से धोकर वस्त्रपूत करके काम में लाया जा सकता है।

अब उन खनिजों का वर्णन करेंगे जिनसे पारद प्राप्त किया जाता है। वे संख्या में अल्प ही हैं तथा उनका रासायनिक (Chemical) संगठन साधारण (Simple) है।

मुख्य २ खनिज

(१) हिङ्गुलः—(Cinnabar Hgs):—

पारद प्राप्ति का प्रधानतम खनिज यही है। इसका सम्पूर्ण भेद, निर्माण उत्पत्ति आदि विषयक वर्णन हिङ्गुल के प्रकरण में होगा।

(२) चर्मारः—(Metacinnabar Hgs) "चर्मारः कृष्णरूपःस्यात्" (रसकामधेनु)

यह एक कृष्ण वर्ण का खनिज है जो स्फटिकाकार (Crystals) तथा मृत्तिका रूप में पाया जाता है। रासायनिक संगठन इसमें और रक्त हिङ्गुल में कोई अन्तर नहीं होता है इसका काठिन्य होता है तथा विशिष्ट गुरुत्व (Specific gravity) ७·८१ होता है। यदि इसको चीनी मृतिका की कसौटी पर रगड़ा जाय तो कृष्ण रेखा खिंच जायगी इसकी आभा धातु की द्युति के समान होती है। मृत्तिका रूप में प्राप्त होने वाले का विशिष्ट गुरुत्व कुछ न्यून होता है।

(३) हीरकद्युति—केलोमल (Calomel $Hg_2 Cl_2$)

यह हीरकाभ (हीरकद्युतिसंकाशम्-रसकामधेनु) स्फटिकाकार पारद-खनिज (Mercurous Chloride Calomel) है। **प्राप्तिस्थानः**—यह प्राकृतावस्था में स्पेनदेशीय इड्रिया (Idria) और अल्माडन (Almaden) नामक स्थानों में अल्पमात्रा में प्राप्त होता है। **गुण वर्णन**—यह भी स्फटिकाकार (Crystal Life) ही प्रायः मिलता है। किन्तु इनका संगठन जटिल होता है। यह पाण्डु वा श्वेत रंग का होता है। चीनी मृत्तिका की कसौटी पर घिसने से हल्की पाण्डु वर्ण श्वेताभ रेखा खिंचती है। स्फटिक हीरक की तरह चमकते हैं। इसका विशिष्ट गुरुत्व (Specific Gravity) ६·५ होता है। इस आधुनिक वर्णन के साथ रसकामधेनुकार के सूत्ररूप वर्णन की बहुत कुछ समता प्राप्त होती है। यथा—"हीरकद्युतिसंकाशं प्रमाणाद्धीरकात्कचित्" इस वर्णन को पढ़ कर यह शक करने की गुंजाइश नहीं रहती कि प्राचीन समय की लिखी हुई बातें विज्ञान सम्मत और प्रत्यक्षदृष्ट नहीं हैं। ये उतनी ही वैज्ञानिक हैं जितना नवशिक्षित-वर्ग वैज्ञानिक होने का दावा करते हैं।

यह खनिज अत्यन्त अल्प मात्रा में प्राप्त होता है किन्तु औषध रूप में अत्यधिक प्रयोग होता है। इसी कमी को पूरा करने के लिये प्राचीन भारतीय रसविशारदों ने रासायनिक विधि द्वारा इसको निर्माण करने का तरीका निकाला और इसका नाम

रसकपूर रखा। जिसके बड़े २ कारखाने आज तक भी सूरत में मिलते हैं जिनमें प्रतिवर्ष दो ढाई सौ मन माल बन कर सम्पूर्ण देश में विक्रयार्थ बाहर जाता है। स्वर्ण के समान इसका भी भाव पारद के ऊपर निर्भर रहता है जो घटता बढ़ता रहता है। मद्रास और हैदराबाद दक्षिण में इसके कारखाने मिल जाते हैं और वहाँ के निवासी प्रायः हर शीत ऋतु में रसायन के तौर पर इसका सेवन करते हैं। ये लोग सूरत का तैयार हुआ माल लेकर उसे पुनः आतशी शीशी में भर कर बालुकायन्त्र द्वारा उसे उड़ाते हैं और इस प्रकार पर्पटी रूप में तैयार हो जाता है जो शुद्ध समझा जाता है। सूरत वाला रसकपूर प्रायः १२) से २४) रु० प्रति सेर के भाव पर बेचा जाता है। रसकपूर और हिङ्गुल बनाने वाले खास २ आदमी होते हैं जिनका यही खानदानी रोजगार होता है। वे लोग बारीक से बारीक इसे बना कर बेचते हैं। एक २ भट्ठी में २-२, २॥-२॥ मन का धान उतारते हैं। ये धान पिंडाकार बारीक २ चमकीले स्फटिक के सम्मिलित कणों का समुदाय होता है। हाथ से दबाने पर इनका चूर्ण सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाता है।

प्रसंगवश यहां पर रसकपूरनिर्माण की प्राचीन और नवीन विधियों का वर्णन कर देना अनुपयुक्त नहीं होगा। रसकपूर की प्राचीन निर्माणविधिः—

"शुद्धं सूतसमं कुर्यात्प्रत्येकं गैरिकं सुधीः।
इष्टिकां खटिकां तद्वत्स्फटिकां सिन्धुजन्म च ॥
वाल्मीकं क्षारलवणं भाण्डरंजकमृत्तिकाम्।
सर्वाण्येतानि संचूर्ण्य वाससा चापि शोधयेत् ॥
एभिश्चूर्णैर्युतं सूतं यावद्यामं विमर्दयेत्।
तच्चूर्णसहितं सूतं स्थालीमध्ये परिक्षिपेत् ॥
तस्याः स्थाल्या मुखस्थालीमपरां धारयेत्समाम्।
सहस्रकुट्टितमृदा मुद्रयेदनयोर्मुखम् ॥
संशोष्य मुद्रयेद् भूमौ भूयः संशोष्य मुद्रयेत्।
सम्यग् विशोष्य मुद्रां तां स्थालीं चुल्ल्यां विधारयेत् ॥
अग्निं निरन्तरं दद्याद्यावद्दिनचतुष्टयम्।
अङ्गारोपरि तद्यन्त्रं रक्षेद्यत्नादहर्निशम्।
शनैरुद्घाटयेद्यन्त्रमूर्ध्वस्थालीगतं रसम्।
कर्पूरवत्सुविमलं गृह्णीयाद्गुणवत्तरम् ॥ (इति भावप्रकाश)

अर्थात्—शुद्ध पारद, गैरिक, ईंटका चूर्ण, खड़िया मिट्टी, स्फटिका, सैंधव, वामी की मृत्तिका, क्षारलवण, हिरमिजी (लाल) मिट्टी—ये सब द्रव्य समभाग लेकर पारद के अतिरिक्त सब द्रव्यों को बारीक पीस कर कपड़छान कर पारद के साथ उनको एक प्रहर तक मर्दन करें। उक्त मर्दित द्रव्य को एक मजबूत हांडी में रखें और उस पर ठीक जमने वाली दूसरी हांडी मुँह की ओर ढकदें। इनकी मुखसंधि को कपड़मिट्टी द्वारा बन्द कर दें और सुखा लें। शुष्क होने पर एक बार फिर कपड़मिट्टी करें। मुख बन्द करने में सावधानी रखें कि पारद वाष्पीभवन के समय बाहर न निकल सके। सन्धिलेप के शुष्क होने पर निरन्तर चार दिन और चार रात तक बबूल की लकड़ी की आंच दें स्वाङ्गशीतल होने पर सावधानी से सन्धि खोल कर ऊपर हांडी में कपूरवत् लगे हुए द्रव्य को धीरे से सावधानतया ग्रहण कर लें। यह फिरंग (Syphilis) उपदंशादि रोगों के लिये उत्तम औषध है।

रसकर्पूर निर्माण की अर्वाचीन विधिः—

अर्वाचीन विधिमें केवल पारद और खाने का साधारण नमक यथावश्यक मात्रा में लेकर और उड़ाकर रसकपूर बनाते हैं। अग्नि देने की प्राचीन विधि ही कुछ परिवर्तन के साथ व्यवहार की जाती है। इसमें पारद १०० भाग के साथ नमक की गेस क्लोरीन (Chlorin) १६ भाग मिली रहती है। इसको पाश्चात्य चिकित्सक 'कलोमल' (Calomel) संज्ञा से व्यवहार करते हैं। सब-क्लोराइड-आफ-मर्करी (Sub-chloride of Mercury) भी इसे ही कहते हैं। रसकपूर इसका प्राचीन नाम था किन्तु आजकल 'पर-क्लोराइड-आफ-मर्करी' के लिये यह नाम व्यवहृत होता है, जिसमें पारद के साथ क्लोरीन की मात्रा ३५॥ होती है। इसका व्यवहार भी फिरंगोपदंशादि रोगों में अधिकतर होता है। शस्त्रकर्म में भी इसका घोल (Solution) प्रयुक्त अधिक होता है। रासायनिक दृष्टि से ये दोनों भिन्न-भिन्न गुण-धर्म-वाले द्रव्य हैं और एक दूसरे के स्थान पर कभी व्यवहार नहीं करने चाहिये इसी लिये इन दोनों के लिये रसकपूर संज्ञा व्यवहृत नहीं होनी चाहिये चाहे दोनों की निर्माण-विधि लगभग एक-सी ही है। इन दोनों के नाम भिन्न २ होने चाहिये। आधुनिक रसकपूर (Perchloride of Mercury) के लिये रसकपूर और केलोमेल के लिये सुधानिधि रस या रस-पुष्टा नाम व्यवहार में लाने चाहिये, जिससे दोनों द्रव्यों का भ्रम दूर हो जाय। रसतरङ्गिणी के विद्वान् लेखक स्व० नरेन्द्रनाथ मित्रा ने इसका सुन्दर नाम-भेद इस प्रकार किया है।

"रसपुष्पं रससुमं कुसुमं रसपूर्वकम्।
मतं निरुच्यते कैश्चित्सुधानिधिरसाख्यया ॥"

(४) पारद का चतुर्थ खनिज नैसर्गिक पारद (Native Mercury) है। यह अल्प मात्रा में प्राप्त है और इसके कण खनिज हिंगुल के साथ बिखरे हुये पाये जाते हैं। यह इटली और स्पेनदेशीय खानों में प्राप्त होता है।

(५) पारद रजतमिश्रक (Silver.Amalgam) पर्पटी-निभम्।

यह प्रकृति में पारद और रजत के भिन्न-भिन्न परिणाम में बना पाया जाता है। चीली (Chile) देशीय खानों में अधिक

होता है। जर्मनी स्पेन, यूनाइटेड स्टेट्स् की खानों में भी प्राप्त हो जाता है।

(६) टेट्राहीड्राइट या मर्च्यूलर फेहलोर (Tetrahedrite or Mercuril Fahlore) पिंडरूपम्-पिंडाकार।

इसमें भी व्यापार के योग्य पारद निकल सकता है किन्तु यह वास्तव में ताम्र का ही खनिज है, बहुत अल्प मात्रा में पाया जाता है। जर्मनी के बोसनिया (Bosnia) और पेलेटिनेट (Palatinate) नामक स्थानों में विशेषतः प्राप्त होता है।

पारद के उक्त खनिजों की परीक्षा

एक कांच की परीक्षा नलिका (Test Tube) में उक्त पारदीय खनिज और चूना या खाने वाला सोडा भर कर स्पिरिट लेम्प (Spirit Lamp) पर तपाने से नलिकाके शीतल प्रदेशमें पारदके कण जमे हुए नजर आयेंगे। यदि पारदका खनिज पारद, गन्धक का यौगिक (हिंगुल) हुआ तो नलिकाके शीतल प्रदेश में रक्त हिंगुल और पारद दोनों दिखाई देंगे, एवं जलते हुये गन्धक की तीव्र गन्ध प्रतीत होगी।

पारद-प्राप्ति के कुछ गौण खनिज

उपर्युक्त खनिजोंके अतिरिक्त अल्प मात्रा में प्राप्त होने वाले कुछ पारदीय खनिज ऐसे भी हैं जो किसी स्थानविशेषमें ही प्राप्त होते हैं जिनसे भी पारद निकाला जा सकता है।

(१) लिविंगस्टोनाइट (Livingstonite $2\ sb_2 S_3\ Hg\ S$)

यह हिंगुल और एण्टीमनी का फौलाद सा कृष्ण वर्ण यौगिक है। इसमें धातु की सी चमक होती है। घिसने पर रक्त वर्ण रेखा उतरती है। यह स्फटिकाकार वल्मीक शिखराकार पिंड सा होता है। कठोरता २, विशिष्ट गुरुत्व ४.८१ होता है। मक्सिको (Mexico) देशीय पारद पारद निकालनेका मुख्य खनिज है, वहाँपर चिरकालतक इसकी खान का कार्य होता रहा है। यह गन्धक और गोदन्तीके साथ भी पाया जाता है। इसका वर्णन 'रसरत्नसमुच्चय' में लिखे 'स्रोतोञ्जन' के साथ बहुत मिलता है:—

"वल्मीकशिखराकारं भङ्गे नीलोत्पलद्युति।
घृष्टं तु गैरिकच्छायं स्रोतोजं लक्षयेद् ध्रुवम्॥" (रसरत्नसमुच्चय)

सांप की बामी जैसा शिखराकार (Columnar Massive form) तोड़नेपर नील कमल सा दिखाई दे और कसौटी पर घिसने से गैरिक वर्ण रक्त रेखा पड़े वह अवश्य 'स्रोतोञ्जन' है। साफ फौलादका रङ्ग नीलकमल के पत्ते के वर्ण का होता है। इस यौगिक में सुरमा है, इसलिये इसको स्रोतोञ्जन मानना ठीक है।

२ बार्सेनाइट (Barcenite)—यह बहुत जटिल अल्पमात्रामें पाया जाने वाला खनिज है, इसका प्रादुर्भाव उपर्युक्त लिबिङ्ग स्टोनाइटसे ही होता है। केवल मेक्सिको देशके हिज़ुको (Huitzuco) नामक स्थानपर ही प्राप्त होता है।

सन् १८७८ ई. में जे. डब्ल्यू. मेलेट (J. W. Mallet) ने मेरियानो बार्सीना (Mariano Barcena) के नामपर ही इस खनिजका नामकरण किया है। मेक्सिकनभूगर्भ-विज्ञों का मत है कि यह खनिज हिंगुल और एण्टीमनी आक्साइड (Antimany oxide $Sb_2{}^{o}{}_3$) का यौगिक है। यह मृत्तिका के ढेले के आकार का कृष्ण वर्ण का होता है। कसौटी पर घिसनेसे राख (Ash-grey) और कुछ हरापन लिये हुये रङ्गकी लकीर खिंचती है। कठोरता ५.५, विशिष्ट गुरुत्व ५.३४३ है।

(३) ग्वाडाल काजाराइट—(Guadal Cazarite):—

यह खनिज प्रायः कृष्ण हिंगुल की ही जातिका होता है। इसमें थोड़ा-सा यशद (२ से ४%) और अल्पमात्रामें सेलेनियम (Selenium) १%, (यह धातु गन्धक का सा होता है और आजकल वायरलेस टेलिग्राफीमें फोटो भेजनेके कार्यमें उपयोगी है) मिला रहता है। इसके सहयोगी खनिज रक्त हिंगुल बेराइटस (Barytas) और स्फटिक (Quartz) है। यह मेक्सिको प्रान्त के ग्वाडल-काजार (Guadalcazar) स्थानमें प्राप्त होनेके कारण इसका नाम ग्राम नामपर ही अन्य खनिजोंसे पृथक् समझनेके लिये रख दिया गया है।

अब पारद के वे खनिज लिखे जाते हैं जो अत्यल्प मात्रा में लब्ध हैं किन्तु ब्रिवस्टर कौन्टी (Brewster County) टेकसास (Texas) में इतनी मात्रा में मिलते हैं कि जिनसे खानका व्यवसाय किया जा सकता है:—

(१) टेर्लिंङ्ग्वाइट (Terlinguaite $Hg_2\ Clo_2$) यह पारद क्लोरीन और ओक्सिजन का यौगिक (Oxychloride of Mercury) है। इसके गन्धकानुरूप वर्ण स्फटिक पाये जाते हैं। वायु में रखनेसे इसका रङ्ग पीलेसे गहरा जैतून जैसा हरा (Olive Green) हो जाता है। कठोरता २ से ३ तक विशिष्ट गुरुत्व ८.७२५ है।

(२) इगलेस्टोनाइट (Eglestonite $Hg_4\ Cl_2 0$) यह छोटे छोटे भूरे पीले रङ्ग के स्फटिकों में पाया जाता है। इसके कणों में रोजन (सूखा गन्धाविरोजा) की सी चमक नजर आती है। यह धूप में शीघ्र ही कृष्ण वर्णका हो जाता है। कठोरता २ से ३ तक विशिष्ट गुरुत्व ८.३२७ है।

(३) क्लेनाइट (Kleinite—Mercury Ammonium Chloride) यह पारद और नौसादरका प्राकृतिक यौगिक है। इसके स्फटिक भी गन्धक के समान पीत वर्ण के होते हैं और उनमें विकृत स्थानोंपर नारङ्गीके वर्ण के दाग होते हैं।

कठोरता ३ से ४ तक विशिष्ट गुरुत्वं ७·६८ यह भी टेलिग्वाइट के साथ पाया जाता है।

(४) मोजेसाइट (Mosesite) यह खनिज भी प्राकृतिक पारद नवसादरका यौगिक है यह भी टेलिग्वाइटके साथ ही पाया जाता है।

(५) मोन्ट्रोयडाइड (Montroydite Hg o) यह नारंगी से लाल रंगों में पाया जाता है जिनमें काँच की सी चमक रहती है और कठोरता २ से भी कम। यह खनिज उपर्युक्त चारों खनिजों के साथ पाया जाता है।

उक्त पाचों खनिज रसशास्त्रोक्त 'सुपीतः शुकतुंडकः' जाति के पारदीय खनिजों के साथ समता रखते हैं। ये गन्धक से पीले और नारङ्गी रङ्ग के होते हैं। ये सभी खनिज पारदप्राप्ति के साधन हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी पारदीय खनिज हैं जो बहुत ही अत्यल्प मात्रा में पाये जाते हैं :—

(१) टीमेनाइट (Tiemanite Hg, Se) यह सिलेनियं और पारद का खनिज है।

(२) ओनोफ्राइट (Onofrite HgS, Se) यह गंधक सिलेनियं और पारद का यौगिक है।

(३) कालोरेडोआइट (Coloradoite Hg. Te.) यह टेलुरियं नामक खनिज और पारद का यौगिक है।

(४) लेहरबेकाइट (Lehrbachite a Selenide of Lead and Mercury) यह सेलेनाइट, सीसा (नाग) और पारद का यौगिक है।

(५) आयोडीराइट (iodyrite) यह अत्यल्प मात्रा में चीली (chile) नामक स्थान पर आयोडाइट, रजत और पारद का यौगिक पाया जाता है।

आयुर्वेद रसशास्त्रों में हिङ्गल के शीर्षक में जो वर्णन मिलता है वह समस्त पारद के खनिजों के विषय में समझना चाहिये। पारद के मुख्य खनिजों का विस्तृत उल्लेख हो चुका है किन्तु गौण खनिजों को उन्हीं में समावेश करने का प्रयत्न किया है। आजकल भी प्रधान खनिजों से ही पारद निकालने का व्यवसाय चलता है। शेष खनिज किसी विशेष देश के स्थानविशेष में प्राप्त होते हैं। जिनका पारद-निकृष्टि के लिये कभी २ उपयोग होता रहा है। इसकी रूपरेखा रसकामधेनु-रचयिता ने निम्नोक्त श्लोकार्थ में सुन्दर रूप से खींची है :—

"पिण्डरूपमिदं साक्षात् दृश्यते दृष्टिसौख्यदम्।"

इन अवतरणों से निश्चयात्मक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपलब्ध हिंगुल वर्णनात्मक साहित्य सर्वथा ठीक है। केवल ग्रन्थ संग्रहात्मक होने के कारण सिलसिले वार खनिजों का स्वरूप समझना कठिन हो गया है। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि प्राचीन भारतीय रसशास्त्रियों को पारद-निकृष्टि के समस्त खनिज विदित थे उन्होंने उनका वर्णन इतना ही किया है जितना औषधनिर्माण ज्ञान के लिये आवश्यक है। रसशास्त्रियों ने औषधोपयोगी खनिजों का संक्षेप में परिचय देकर उसके शोधन मारण और औषधि-गुण-धर्म पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयास किया है। वैद्यों का यह अभिमान ठीक हो सकता है कि गत भारतीय संस्कृति के समय में, जब देश की उन्नत दशा रही हो, सर्वत्र ज्ञान प्रसार करने का कार्य यहां के विद्वान् करते रहे हों, पर आजकल की पारतन्त्र्य दशा में उक्त अभिमान छोड़ कर रसशास्त्रोक्त खनिजों का वर्तमानकालिक उपलब्ध ज्ञान प्राप्त करना वैद्य बन्धुओं के लिये परमावश्यक है। जो औषध द्रव्य बाजार में आ रहे हैं वे प्रायः कृत्रिम और अशुद्ध मिलते हैं। और बड़ी २ नामधारी फार्मेसियां, जिनके अधिष्ठाता द्रव्य शास्त्र के निरक्षर भट्टाचार्य हैं, इन्हीं द्रव्यों से निर्मित औषधियां, देश की परोपकारिणी फार्मेसी कह कर, बेचते हैं और लोगों के गले में ज़हर का घूंट उतारते हैं। इनकी मूर्खता और हठधर्मी का फल निर्दोष जनता को उठाना पड़ रहा है।

पारद के भेद

"रसो रसेन्द्रः सूतश्च पारदो मिश्रकस्तथा।
इति पञ्चविधो जातः क्षेत्रभेदेन शम्भुजः॥"

१ रसपारदः—यह रक्त वर्ण का होता है। इसे (Red oxide of Mercury) रेड आक्साइड आफ मरकरी कहते हैं।

२ रसेन्द्रः—यह रूक्ष तथा श्याव वर्ण का होता है। इसे इम्प्योर (Impure) पारद कहते हैं।

३ सूतः—पीताभ तथा रूक्ष होता है। येलो आक्साइड आफ मरकरी (Yellow oxide of mercury) समझना चाहिये।

४ पारदः—यह चञ्चल श्वेत वर्ण वाला—पिघली हुई चांदी 'गलद्रूप्यनिभम्' होता है। इसको नेटिव मर्करी (Native Mercury) समझना चाहिये।

५ मिश्रकः—यह पांचवें प्रकार का पारद अन्य धातुओं के साथ मिला रहता है। यह मयूरपक्ष के समान सुन्दर चमकदार होता है। यह नागवङ्गादि दोषयुक्त होता है (Mixed with Line, Zine and Lead.)

अशुद्ध पारद के लक्षण

"धूम्रः परिपांडुरश्च चित्रो न योज्यो रसकर्मसिद्धौ।"

रस ग्रन्थों में विष, वह्नि, मल, नाग, वङ्ग आदि दोषों के अतिरिक्त चापल्य, गिरि और असह्याग्नि ये तीन महादोष और भी माने गये हैं। चपल (विस्मथ-धातु) कभी कभी पारद के साथ संयुक्त होता है। चपल के साथ पारद उसके द्रवणांक

(Melting point) को घटाने के लिये मिलाते हैं। इससे पारद मन्द आंच पर भी शीघ्र ही पिघल जाता है और उसे स्टीरियो टाइपिंग (Stereo typing) के व्यापार में आजकल व्यवहृत किया जाता है। यह औषधोपयोगी नहीं होता क्योंकि इसमें चपल दोष उपस्थित होता है। चपलधातु के जो कुछ गुण लिखे हैं। वे सब आजकल भी नव्य-विज्ञान सम्मत सिद्ध हुये हैं। विशेषतः इसको रसबन्धनकारक माना गया है और लाक्षावत् शीघ्रद्रावी भी। इसका एक योगिक वुड्स मेटल (Wood's Meyta) नाम से बाजारों में प्राप्त होता है उसका द्रवणांक (Meting point) ६०.५ डिग्री है। इसी प्रकार गिरि दोष समझना चाहिये। पारद में खनिजों के साथ आरसेनिक (Arsenic संखिया) और एन्टीमनी (Antimony सुरमा) अधिकांश में मिले हुये प्राप्त होते हैं। ये दोनों दोष संभवतः गिरि दोष हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसे भी पारदीय खनिज हैं जिनके साथ अत्यल्प मात्रा में पाये जाने वाले आक्सीजन (Oxygen) और लवणगेस (Chlorian) के यौगिक होते हैं, ये अत्यन्त उड़नशील होते हैं। यह मन्दतम अग्नि को भी सहन नहीं कर सकते हैं। इन्हीं दोषों को देख कर पारद में असह्याग्नि दोष भी गौण-रूप में माना गया है। यही बात आयुर्वेद-प्रकाशोक्त निर्माण उद्धरण से पुष्ट होती है :—

"नागो वंगो मलं वह्निश्चापल्यं च विषं गिरिः।
असह्याग्निर्महादोषा निसर्गात्पारदे स्थिताः।
विषं वह्निर्मलश्चे ति दोषा मुख्यतमास्त्रयः॥"

रस में स्वाभाविक और सांसर्गिक दोषों को एकत्र लिख कर पुनः पृथक् कर दिया है। कुछ विद्वानों का मत है कि जो स्वाभाविक उड़नशीलता है वही उसका असंह्याग्नि दोष है और जो साधारण तापक्रम पर भी द्रव रहने का स्वभाव है वही चापल्य दोष है। ये उसके स्वाभाविक गुण हैं। इनको दोष मानकर उनका निराकरण करने का प्रयत्न करना गलती है। इससे पारद का धातुत्व नष्ट होने की अथवा द्रव्यान्तरत्व होने की संभावना है।

साधारणतया बाजार का पारा किसी विशेषांश में अन्य धातुओं से संयुक्त रहता है, इस कारण यदि स्वच्छ चीनी के पात्र में थोड़ा सा पारद रख कर उसे तिरछा करें तो पारद के कण पुच्छयुक्त दिखाई देंगे। अशुद्ध पारद को यदि वायु में हिलावें तो पारद के ऊपरी भाग में काले से चूर्ण की सतह जम जावेगी जिससे पारद के छोटे २ कण आवृत हो जायगें। यह रज पारद के साथ मिले हुये धातुओं के आक्सिडेशन (oxidation) होने से उत्पन्न होती है। रस-तरंगिणीकार ने भी यह मत लिखा है :—

"धातवो रससंश्लिष्टा यदा विष्णुपदामृतम्।
गृह्णन्ति हि तदा तेषां कश्चिद् भागोऽवशीर्यते॥
ततश्चूर्णत्वमापन्ना रसमाच्छादयन्ति ते।
तेनावरणसाम्येन धातवः सूतसंगताः॥
कञ्चुकाख्यां भजन्तीति प्राच्यपाश्चात्यसंमतिः।
कैश्चिदेते कञ्चुकाख्या दोषा औपाधिकाः स्मृताः॥"

इन अन्य धातुओं के संयोग से पारद को मुक्त करने का उपाय पातनक्रिया (Distillation) है। यदि पारद के साथ अल्प मात्रा भी यशद अथवा नाग की मिलावट होगी तो उसकी उड़नशीलता बहुत कम हो जायगी। इसी बात का प्रमाण आयुर्वेद-प्रकाशोक्त रससिन्दूरनिर्माण-विधि के पाठ में "पवनाशनस्य" (नागस्य) शब्द के प्रयोग से प्राप्त होता है। इसी लिये तीव्र आंच देने की आज्ञा दे दी है। क्योंकि उड़ जाने की सम्भावना कम होती है।

"भार्गीरसस्य त्रय एव भागाः, गन्धस्य माषः पवनाशनस्य।
संमर्द्य गाढं सकलं सुभाण्डे, तां कज्जलीं काचकृते निदध्यात्॥
संवेष्ट्य मृत्कर्पटकैर्घटीं तां, मुखे रुचूर्णां गुटिकां च दत्वा।
क्रमाग्निना त्रीणि दिनानि पक्त्वा, तां बालुकायन्त्रगतां ततः स्यात्॥
बन्धूकपुष्पारुणमीशजस्य, भस्म प्रयोज्यं सकलामयेषु।
निजानुपानैर्मरणं जटां च, निहन्ति वल्लक्रमसेवनेन॥"

(आयुर्वेदप्रकाश)

शुद्ध पारद के लक्षण

शुद्ध पारद रजताभ उज्ज्वल वर्ण का होता है। साधारण तापक्रम पर द्रव रूप रहता है और हिलाने से इसके गोल कण बनते हैं तथा पृथ्वी पर पात्र से गिरा देने पर छोटे २ कणों में विभक्त होकर फैल जाता है। इन बिखरे हुये कणों को पुनः मार्जनी वा वस्त्र से एकत्रित करके पात्र में भर सकते हैं। पारद अत्यन्त शीतांश पर सफेद रांगे (Tin) का सा ठोस हो जाता है और चाकू से काटा जा सकता है। द्रवावस्था में पारद की पतली तह पारदर्शक (Translucent) होती है और उसमें नीले रंग की आभा दिखाई देती है। रसेन्द्रसार में भी लिखा है:—

"अन्तःसुनीलो बहिरुज्ज्वलो यो, मध्याह्नसूर्यप्रतिमप्रकाशः।"

थोड़ा सा पारद एक काच वा चीनी के पात्र में रख कर उस पर ऊपर की ओर से पानी की तेज़ धारा गिराई जाय तो पारद के बुलबुले (Bubbles) पानी की सतह पर तैरते हुये दिखाई देते हैं जिनमें नीली आभा दिखाई पड़ती है और वे शीघ्र ही फूट कर ठोस पारदकण में परिवर्तित हो जाते हैं। पारद का आपेक्षिक घनत्व १३.६ है। पारद ३५७ डिग्री की गरमी पर उड़ने लगता है। पारद-वाष्प वर्णरहित होती है। रसायनशास्त्र (Chemistry) के अनुसार यद्यपि पारद उच्च तापमान पर उड़ता है तथापि साधारण तापक्रम पर भी अत्यल्प मात्रा में उड़ता देखा

गया है। एक चीनी के पात्र में पारद रख कर ऊपर सुवर्ण के पत्र में ढक देने से दो तीन मास में इसकी मन्द उड़न-शीलता का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। इतने समय में पारद सुवर्णपत्र पर लगा दृष्टिगोचर होता है। पारद द्रव्य होते हुए भी खाँड, गन्धक और खड़िया की त्रिगुणा मात्रा के साथ घोटने से अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त हो जाता है। इसको पारद की मूर्छना वा मारण (Extinction or deadning) कहते हैं।

पारद के दोष

प्राकृतिक पारद, हिङ्गुलोत्थ पारद तथा उसके रसकर्पूरादि यौगिक दाहक विष हैं। पारद में अन्य धातु भी मिले रहते हैं। इन्हीं दोषों को दिखाने के लिये "विषं वह्निर्मलश्चेति दोषा नैसर्गिकास्त्रयः" पाठ पढ़ा है। अर्थात् अशुद्ध पारद मारक होने से विष, दाहक होने से वह्नि और धात्वन्तर के संयोग होने से मल-दोष से युक्त पारद माना गया है। दोषयुक्त पारद के अथवा पारदीय यौगिक के अधिक मात्रा में सेवन करने से "रसे मरण-सन्तापमूर्च्छानां हेतवः क्रमात्" आदि उपद्रव होते हैं। यही उपद्रव पाश्चात्य रसशास्त्रज्ञ भी मानते हैं। घोष की मटेरिया मेडिका (Meteria Medica) में पारद प्रयोग के(Acute Taxico Action) के प्रकरण में लिखा है:—

Acute Toxin Action:—Acute poisoning is not common. Mercurials especially the Mercuric Salts, produce severe Gastro-entities with vomiting. pains, purging, and bloody Stools, Collaps, and even death."

अर्थात्—पारद के यौगिक विशेषतः रसकर्पूरादि (केरोसिव सबलिमेट) रसपुष्प (Calomel) और मुग्धरस (Gray powder) सेवन करने से कोष्ठ में भयङ्कर उपद्रव वमन (Vomiting), विरेचन (Purging), शूल (Pain) रक्तातिसार, (Bloody stools) मूर्च्छा, (Collap.e) तथा अन्ततः मृत्यु (Death) भी हो जाती है। इसीलिये पारद के संस्कारों की हमारे प्राचीन रसशास्त्रों में पूर्ण व्यवस्था लिखी गई है जिससे इन दोषों का नाश होकर ये अधिक रोगनाशक शक्तिसम्पन्न बन जायं। पारद का विष प्रभाव तो स्वाभाविक ही है। प्राकृतिक पारद में संखिया तथा एन्टीमनी मिले रहते हैं। ये दोनों उड़नशील भयङ्कर विष हैं अतः पारदशुद्धि के समय इन विषों की शुद्धि का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। पारद में दो यौगिक दोष नाग (Lead) और वङ्ग (Tin) भी माने गये हैं:—

"यौगिकौ नागवङ्गौ द्वौ तौ जाड्यध्मानकुष्ठदौ ॥"

ये दोष नवीन विज्ञान सम्मत भी हैं जैसा घोष की मेटेरिया मेडिका में लिखा है—"Impurities—Lead, Tin and other metals".

अन्य धातुओं के विषय में लाडर ब्रन्टन नामक विद्वान् ने अपने फारमोकोलोजी थेराप्युटिक्स एण्ड मेटेरिया मेडिका (Pharmacology Therea-puetics and Materia Medica) नामक ग्रन्थ के ६६१ पृष्ठ पर लिखा है "Other metals especially Lead, Arsenic and Antimony may be psesent" अर्थात् अन्य दोषों में नाग, मल और स्रोतोञ्जन भी हो सकते हैं। इन अवतरणों से स्पष्ट है कि पारद में अन्य धातु मिले रहते हैं अतएव मल दोष की भावना सर्वथा सत्य है।

आजकल पारद से सुवर्ण बनाने वाले वैज्ञानिकों का विचार है कि पारद से सुवर्ण किसी दशा में भी पृथक् करना प्रायः असम्भव-सा है।

पारद के कञ्चुक

उक्त दोषों के अतिरिक्त पारद में सप्त कञ्चुक दोष भी माने गये हैं। जिनको रसशास्त्र में औपाधिक माना गया है—

'औपाधिकाः पुनश्चान्ये कीर्तिताः सप्त कञ्चुकाः।
पर्पटी पाटिनी भेदी द्रावी मलकरी तथा।
अन्धकारी तथा ध्वांक्षी विज्ञेयाः सप्त कञ्चुकाः ॥'

यह पर्पटी आदि नाम की कल्पना पारदीय मिश्रक की आकृति, गुण और कार्य के आधार पर की गई है। जैसा पुनः लिखा है:—

"तस्मात्सूतविधानार्थं सहायैर्निपुणैर्युतः।
संस्कारोपस्करमादाय रसकर्म समाचरेत् ॥"

आधुनिक विद्वानों ने पारद पर विशेष प्रकारकी वायु (गेस) का भी कञ्चुक (आवरण) माना है। यह आवरण अत्यन्त सूक्ष्म होता है और विशिष्ट यन्त्र द्वारा ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यथाः—

"J. J. Haak and R. Sissingh have shown that a layer of absorbed gas, only one molecule thick can be detected optically on the surface of mercury" (monograph of Mercury ores page 15)

पारद में अन्य धातु मिला कर जब मिश्रक बनाते हैं तब जो प्रभाव होता है उसके विषय में रसेन्द्रचूडामणिका पाठ अवलोकनीय है:—

"आकृष्णश्चपलो रूक्षः कपिलः कालिकावृतः।
तमारजीर्णं जानीयात् सूतकं वातकोपमम् ॥
श्वेतञ्च विद्धि सुस्निग्धं गुरुभोजनभोजिनम्।

नागजीर्णं विजानीयात् रसेन्द्रं कफकोपनम् ॥
प्रागुक्तलक्षणैर्युक्तं **समस्तैर्जीणतां** गतम् ।
तथा **रसकजीर्णं** च रसेन्द्रं सान्निपातिम् ॥
तादृशं वर्जयेद्यत्नात्तथा खलु घनं गुरु ।
म्रियन्ते प्राणिनो यस्य भक्षणात्तं परिक्षिपेत् ॥

उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि यशद, नाग, रसक आदि जिन खनिजों में मिले हुये हों तो वे त्याज्य हैं। यहाँ पर "आर" शब्द यशद वाचक रहते हुये भी वंगार्थ में समझना चाहिये। क्योंकि प्राचीन-काल में यशद के स्थान में उसके खनिज रसक (खर्पर) ही का प्रयोग करते थे। और यहां रसक अलग भी लिखा है। रसक के सत्वपातन में भी यशद न लिखकर "वङ्गाभं द्रवते सत्वम्" ऐसा लिखा है। यह पाठ इस बात की पुष्टि करता है कि अन्य धातुओं के संयोग को ही कञ्चुक कहते थे और इस उपाधि से मुक्त करने के लिये पारद की अष्टादश संस्कार की व्यवस्था की गई है। कुछ और भी दोष पारद के रसग्रन्थों में माने हैं किन्तु वे इतने महत्वपूर्ण नहीं है। भूमिज, वारिज, गिरिज सरल दोष हैं। जिस भूमि से पारद निकला उसी भूमि के संसर्गज दोष, जिस स्रोत के जल में घुल कर ऊपर आकर हिंगुल के रूप में बना उसके जलज दोष और जिस पर्वत के गर्भ से प्राप्त किया उसके गिरिज दोष पारद में प्राप्त होना सहज है। अतः स्थानीय दोषों का भी परिमार्जन कर लेना आवश्यक है।

धातुओं के परस्पर मिश्रण को आंगल भाषा में अलोय (Allowy) कहते हैं। रसरत्नसमुच्चय में अलोय बनाने की विधि इस प्रकार लिखी है :—

"काष्ठौषधयो नागे, नागो वङ्गेऽथ वङ्गमपि शुल्बे।
शुल्बं तारे तारं कनके, कनकं च लीयते सूते ॥"

आधुनिक रसायन और खनिज विज्ञान के परिशीलन से विदित होता है कि पारद प्रायः सब धातुओं के साथ मिल कर मिश्रण (आलोप) बनता है तब यह उन मिश्रित धातुओं के नीचे की ओर रहता है और मिश्रण के अन्य धातु ऊपर आवरण की भांति तैरते हैं। यही आवरण कञ्चुक होते हैं।

पारद के मिश्रण अत्यधिक दबाव पर विश्लिष्ट हो जाते हैं याने पारद पृथक् हो जाता है। इसी ज्ञानाधार पर आयुर्वेद से पारदशोधन की अनेक विधियों का आविष्कार हुआ। साधारणतया पारद लेटिन गेबर (The Latin Geber) के मतानुसार वंग, सुवर्ण, ताम्र, रजत और लोह के साथ मिलता है। अन्य विज्ञों के मतानुसार पारद यशद, नाग और प्लेटीनम् (Platinum) धातुओं के साथ भी मिल जाता है। लोह के साथ कठिनता से मिलता है। बाजार में मिश्रक व्यापारार्थ आते हैं। पारद और वंग का मिश्रक शीशे पर कलई करने के काम में लाया जाता है। स्वर्ण और रजत के मिश्रक सुनहरी, रुपहरी गिल्ट की कारीगरी में प्रयुक्त होते हैं। यशद और वंग के मिश्रक विद्युत् यन्त्रों के रबर पर चढ़ाने के काम आते हैं। इसी प्रकार भिन्न २ मात्रा से बने हुये रजत, ताम्र, वंग और कभी २ स्वर्ण और प्लेटिनम् के पारदीय मिश्रक दाँतों के खोल (Cavity) भरने में काम आते हैं। इनके अतिरिक्त पोटाशियं (Potassium) सोडियम् (Sodium), अमोनियम् (Ammonium), केडमियम् (Cadmium) के अमाल्गम् (Amal-gams) भी तैय्यार होते हैं।

पारद के संस्कार

उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिये तथा पारद में रोगनाशक अद्भुत शक्ति उत्पन्न करने के लिये आयुर्वेद ने १९ संस्कारों का विधान किया है। किन्तु इस समय संस्कारसम्बन्धी ज्ञान बड़ा अधूरा और सीमित सा रह गया है और ना ही संस्कारोपयोगी सब साधन और सामग्री उपलब्ध हैं, तथा उन संस्कारी द्रव्यों के विषय में अनेक भ्रम हैं जिनका निर्णय होना आवश्यक है। रसग्रन्थों में अठारह भी और आठ संस्कार भी करने का उल्लेख है। इनमें से कहीं कहीं तीन और कहीं कहीं आठ संस्कार करने की प्रथा अब भी प्रचलित है। बाजारी पारद के साधनार्थ रसशास्त्रोक्त तीन प्रकार के पातनसंस्कार तो अवश्य ही करना चाहिये। अष्टादश संस्कार के नाम वर्णन इसी पुस्तक में आ चुके हैं।

इनके अतिरिक्त बोधन, रञ्जन और अनुवासन संस्कार भी माने गये हैं। पातन संस्कार के तीन भेद हैं:— १ ऊर्ध्वपातन, २ अधःपातन, ३ तिर्यक्पातन। अष्टादश संस्कारों में प्रथम आठ संस्कार अधिक कठिन नहीं किन्तु शेष दस संस्कार करने में विशेष क्रियाकुशलता और अभ्यास की आवश्यकता है। चारण, संक्रामण, ग्रास, सारण, वेधन, शरीरयोग, द्रुति ये शब्द अब भी मतभेद का विषय हैं जिन पर एक मत स्थिर करने की आवश्यकता है। यह गुरुपरम्परा-पद्धति के नष्ट हो जाने और 'गोप्यं गोप्यं' की संकीर्ण प्रवृत्ति का फल है अन्यथा क्या ही सुन्दर पद्धति थीः—

"अध्यापयन्ति यदि दर्शयितुं क्षमन्ते, सूतेन्द्रकर्म गुरवो गुरवस्त एव।
शिष्यास्त एव रचयन्ति पुरो गुरूणां, शेषाः पुनस्तदुभयाभिनयं भजन्ते ॥

पारद का आयात-निर्यात

आजकल विदेशी खानों से बाजार में लोह या चीनी के मजबूत पात्र में भर कर पारद आता है। प्रत्येक पात्र में ७५ पौंड (लगभग ३७॥ सेर) पारद होता है। इस पात्र को फ्लास्क (Flask) कहते हैं।

सन् १९१२ से १९२१ तक संसार में पारद नीचे लिखी सारणी के अनुसार भिन्न २ देशों से निकला था।

पारद भेजने वाले देशों के नाम	१९१२	१९१३	१९१४	१९१५	१९१६
आस्ट्रेलिया	—	—	—	१३००	७००
न्यूजीलैंड	—	—	—	—	—
आस्ट्रिया	१६८१३००	१८०७८००	१९४०५००	१६७५५००	९०४८००
हंगरी	१८७१००	१९५८००	१६६०००	१३९६००	१७६४००
इटली	२२०५१००	२२१३५००	२३६५६००	२१७१६००	२४१०५००
रूस	—	—	—	६००००	८२५००
स्पेन	२७६९१००	२७४६४००	२१०००००	२६९४४००	१७५२५००
चीन	९५००	४६००	११५००	४६४५००	३९१९००
मेक्सिको	३६४३००	३६५४००	३५८०००	२०७२००	११५७००
युनाइटेड स्टेट्स	१८७९६००	१५१६०००	१२४११००	१५७७५००	२२४४९००
अन्य देश	१०००	४०९००	२१००	२७००	७७६००

पारद भेजने वाले देशों के नाम	१९१७	१९१८	१९१९	१९२०	१९२१
आस्ट्रेलिया	—	—	—	—	—
न्यूजीलैण्ड	४१००	११३००	११२००	११३००	—
आस्ट्रिया	१४३००००	९२६०००	—	—	—
हंगरी	—	—	—	—	—
इटली	२३६२०००	२२८८४००	१८६२९००	२९२०३००	२४२४४००
रूस	३७५००	—	—	—	—
स्पेन	१८८६०००	१२५०८००	२७०४१००	१९९००००	१३२४४००
चीन	५७६०००	६४६८००	१७७२००	९३३००	—
मेक्सिको	७३०००	३५०७००	२६२२००	१६९७००	२२०४००
यूनाइटेड स्टेट्स	२७११९००	२४६६२००	१६०६१००	१००४४००	४०५४००
अन्य देश	४७९००	३२००	२१२००	३३७००	२२०४००

युनाइटेड किङ्गडम (United Kingdom, England. Wales and Scotland) में पारद की आयात नीचे लिखी सारणी के अनुसार सन् १९१२ से १९२१ तक भिन्न २ देशों से हुई है:—

पारद भेजने वाले देश	१९१२	१९१३	१९१४	१९१५	१९१६
स्पेन	२६७११००	२६६२५००	२३१९८००	२१५९०००	२३३२८००
इटली	५९५१००	४८१७००	३७२६००	७६११००	—
आस्ट्रिया हंगरी	—	१३२५००	—	—	—
फ्रान्स	—	—	—	२००	—
मेक्सिको	१३०५००	६७१००	५४४००	१५००	८००
अन्य देश	१४८०००	१८९९००	८५८००	९४४००	२२१५००
ब्रिटिश अधिकृत देश	—	—	—	२७२००	१२००
टोटल	३५४४७००	३४०१२००	२८३२६००	३०४३४००	२५५६३००

पारद भेजने वाले देश	१९१७	१९१८	१९१९	१९२०	१९२१
स्पेन	३९९३००	७७२८००	२४८१८००	१०४४३००	—
इटली	८८०९००	३०४३००	३३७०००	१२०८१००	—
आस्ट्रिया हंगरी	—	—	—	१९८३००	—
फ्रान्स	७७०८००	—	२००	७०७००	—
मेक्सिको	—	—	६३००	३९००	—
अन्य देश	१२२४००	४००	१६६००	१५६७००	—
ब्रिटिश अधिकृत देश	—	—	—	—	१५४०६
टोटल	२१७३४००	१०७७५००	२८४१९००	२६८२०००	१५४०६

पारद खरीदने वाले मुख्य देश और उनके खरीदने की मान-सारिणी

देशों के नाम	१९१२	१९१३	१९१४	१९१५	१९१६
यूनाइटेड किङ्गडम	३५४४७००	३४०१२००	२८३२६००	३०४३४००	२५५६३००
भारतवर्ष	——	२९१७००	१४१६००	७७०००	२१९९००
यूनि० आफ साउथ अफ्रीका	२८१६००	२६५४००	३००८००	२८५४००	१८४१००
केनाडा	१३७५००	२१९४००	२०४२००	१८४४००	७९२००
आस्ट्रेलिया	११६४००	१०१५००	४६०००	५२९००	७५१००
फ्रान्स	४६६५००	४३५७००	३६८९००	७२६७००	१२५२०००
जर्मनी	२१८२०००	२११८०००	——	——	——
इटली	३३००	७००	——	९५००	६२६००
स्वीडन	११३००	११३००	१२८००	३०२००	३५१००
जापान	——	——	——	२७१०००	५६२२००
चीन	१०८०००	८८२००	५११००	२६४००	४८१००
यूनाइटेड स्टेट्स	८२७००	१७१७००	६१४९००	४२१९००	४२४४००
देशों के नाम	१९१७	१९१८	१९१९	१९२०	१९२१
युनाइटेड किङ्गडम	२१७३४००	१०७७५००	२८४१९००	२६८२०००	१६४०६००
भारतवर्ष	१५८३००	९५९००	४८०९००	२०२९००	१५७१००
यूनि० आफ साउथ अफ्रीका	१४२३००	२४५५००	१०६४००	१८८०००	१८३०००
केनाडा	७१६००	५६९००	२६५००	२०९०००	३४६००
आस्ट्रेलिया	३६२००	७१०००	२६५००	५२०००	५२२००
फ्रान्स	१०८००००	१८७७३००	४१३७००	४६२८००	७०५००
जर्मनी	——	——	——	——	——
इटली	——	——	——	——	——
स्वीडन	३१९००	१५६००	७९५००	७७५००	९९०००
जापान	३८३०००	५५५५००	९८३४००	——	——
चीन	३१९००	१५६००	७९५००	७७५००	९९०००
युनाइटेड स्टेट्स	३९०५००	५०३९००	७९७६००	१०७२७००	७९५०००

ये अंक पाउन्ड के मान से हैं।

युनाइटेड किङ्गडम से अन्य देशों में पारद का निर्यात सन् १९१२ से १९२० तक नीचे लिखे अनुसार हुआ।

पारद लेने वाले देशों के नाम	१९१२	१९१३	१९१४	१९१५	१९१६	१९१७	१९१८	१९१९	१९२०
भारतवर्ष	२८६८००	१९९४००	१२०८००	७८०००	२५७५००	६५९००	२३८००	५३९५००	१०३३००
हाँगकाँग	७७६९००	६२७५००	१३५७००	६३७००	२६३००	--	--	९१०६००	४६७३००
यूनियन आफ साउथ अफ्रीका	१०७८००	१३६४००	१२१९००	१२०१००	२१०८००	७६५००	२२१६००	९६६००	१९३५००
केनाडा	८६१००	५३९००	१३७८००	६६५००	७३५००	५२००	१३३००	६४००	—
आस्ट्रेलिया	७८०००	६९८००	४६९००	७२८००	४४८००	१९०००	३१४००	२८२००	४६३००
वेल्जियम	९३१००	६८८००	५८७००	---	—	—	—	१०६७००	६२००
फ्रांस	१५४८००	१४९७००	३३१९००	२२७७००	२७६८००	७२८००	११७१००	१४४४००	५०६००
जर्मनी	३१२५००	१३६१००	१००४००	---	—	—	—	९८००	७९९००
रूस	२१०१००	२४४५००	१२८६००	१०९८००	११८२००	११४९००	--	५९००	९८००
जापान	१००५००	२४०००	१०४००	८६२००	२०४४००	३८००	३७१८००	८४३०००	११०१००
यूनाइटेड स्टेट्स	३७१००	१५४५००	३७९४००	५८५००	२१७६००	--	१००	५८२०००	१८१५००
अन्य ब्रिटिश अधिकृत देश	२७६००	३३५००	२४०००	१८४००	२६५००	२१८००	२६८००	६८००	७९५००
अन्य बाहरी देश	१४४१००	११३०००	११६६००	७४८००	६८४००	२४३००	३५२००	१५८५००	८०२००

ये अंक पाउन्ड के मान से हैं।

पारद का शरीरावयवों पर प्रभाव

बाह्य शरीर पर प्रभाव (Externally)

पारदीय योगों के शरीर में प्रविष्ट करने के लिये चर्म पर रगड़ा जाता है अथवा धूम्र दिया जाता है। ये रोमकूप और स्वेदस्रोत द्वारा प्रविष्ट होते हैं। रुग्ण तथा क्षत चर्म पर अथवा श्लेष्मकला पर लगाने से शोधन (Antiseptic) तथा संक्रमणनाशक (Disinfectant) का कार्य्य करते हैं। रसकर्पूर विशेषतया प्रभाव करता है। रसकर्पूर का एक भाग पाँच लाख भाग जल में घुला हुआ कीटाणुओं (Germs) की वृद्धि को रोकता है और पचीस हजार भाग में घुला हुआ साधारण जीवाणुओं का नाश करता है। जर्मनी का जो प्लेग कमीशन (Plague Commission) बम्बई में प्लेग की जांच के लिये आया था उसने परीक्षण (Experiment) करके देखा कि एक फीसदी के रसकर्पूर का घोल प्लेग में कीटाणुओं का तत्क्षण नाश कर देता है। इसी प्रकार पारद के अन्य क्षार भी पराश्रयी (Parasiticide) कीटाणुनाशक है। रसकर्पूर का मृदु घोल ($\frac{1}{2}$ से $\frac{1}{4}$ ग्रेन रसकर्पूर और जल १ औंस) और अन्य रसपुष्प और पारदीय क्षारों के लेप आदि शोथहर (Antiphlosistic), संकोचक (Astringents), उत्तेजक (Stimulant) और प्रतिद्रावक (Resolvent) होते हैं। इसके विपरीत घनघोल शोथोत्पादक होते हैं।

आभ्यन्तरिक शरीर पर प्रभाव (Internally)

आभ्यन्तर शरीर पर भी वैसा ही प्रभाव होता है जैसा बाहिरी शरीर पर। अधिकांश में भीतरी भाग में श्लेष्मकला का ही आवरण होने के कारण चर्म की अपेक्षा पारदीय क्षारों का प्रभाव शीघ्र होता है।

महास्रोत (Gastro-Intestinal) **पर** :—पारदीय रसकर्पूरादि क्षार मुख, दन्तमूल, दन्तवेष्टक और लालाग्रन्थियों पर प्रभाव करते हैं जिससे लालास्राव और मुखपाक हो जाया करते हैं। यह प्रभाव रसकर्पूर खिलाने के समय स्थानीय (Local) नहीं होता किन्तु जब वह शरीर में व्याप्त होकर पुनः बाहर लालाग्रन्थियों द्वारा निकलता है उस समय देखा जाता है। जो वैद्य फिरंग रोगी को बड़ी मात्रा में रसकर्पूर शीघ्र लाभ होने के लिये खिलाते हैं उन्होंने देखा होगा कि कुछ काल के उपरान्त रोगी का मुख शोथमय हो जाता है और अविराम लालास्राव प्रवृत्त होने लगता है। यह स्राव शनैः २ घन होने लगता है और सारे दाँत प्रायः हिल जाते हैं। पारदीय क्षार आमाशय में पहुँचने पर विशेष जटिल यौगिक के रूप में परिवर्तित होकर प्रथम अघुलनशील बनते हैं। इनमें मुख्यतया अल्ब्यूमन (Albumin),

सोडियम क्लोराइड (Sodium Chloride साधारण लवण) और क्लोरीन (Chlorine) मिले होते हैं। ये प्रारम्भ में अघुलनशील होते हैं। किन्तु फिर अलब्यूमन या नमक जो आमाशय में रहता है उसके आधिक्य से घुलनशील होकर शीघ्र शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। सम्भवतः इसीलिये वैद्य लोग पारद प्रयोग के समय नमक का परहेज कराते हैं। लघ्वान्त्र के ऊपरी भाग और ग्रहणी में खनिज पारद कज्जली, रसपर्पटी, मुग्धरस (grey powder) रसपुष्प (Calomel) के जाने से स्थानीय ग्रन्थिक उद्रेचन (Secreations) आन्त्रगति बढ़ाते हैं। इस प्रभाव का फल यह होता है कि आन्त्रिक द्रव्य इतनी शीघ्रता से नीचे की ओर गति करते हैं जिससे साधारण पित्त,—जो स्वाभाविक दशा में शरीर में पुनः शोषित हो जाता है,—वह नहीं हो पाता, और दस्त गहरा हरा सा होने लगता है। इसी लिये पारदीय क्षारों को रेचक मानते हैं। यह रेचक-शक्ति क्षार-रेचनों के योगों से अधिक हो जाती है। इस प्रभाव के लिये मग्नेशियम् सल्फास (Megnesium Sulp.) कृष्ण-लवण मिश्रित पंच संस्कारादि योग व्यवहार किये जा सकते हैं। आजकल ब्लू पिल्स (Blue pills) इच्छाभेदी, के लोमल आदि रात्रि में सेवन कराकर प्रातःकाल क्षारविरेचन पिलाने की प्रथा प्रायः पाश्चात्य चिकित्सों में प्रचलित है। ऐसा करने से मृदु विरेचन हो जाता है। किसी शारीरिक क्षमता आदि के कारण रसपुष्पादि लेने पर विरेचन न होता हो तो ये शारीरिक त्रुटि उत्पन्न करते हैं। अतः रोगी की पारदीय क्षमता का पूर्ण विचार कर सावधानतया इसका प्रयोग करना चाहिये। पारदीय के यौगिक लघ्वान्त्र में होने वाली सड़ाँद (Formentation) को भी दूर करते हैं। इसी लिये रसचिकित्सक रसपर्पटी, ताम्रपर्पटी, पंचामृत-पर्पटी स्वर्णपर्पटी आदि व्यवहार में लाते हैं। ऐसे प्रयोगों से फूले हुये दस्त बन्द हो जाते हैं और पेट का फूलना भी कम हो जाता है। एवं रोगी के शरीर में शक्ति उत्पन्न होती है। इन प्रयोगों के साथ लवणयुक्त भोजन बन्द कर देना अच्छा है।

यकृत् (Liver) **पर प्रभाव** :—आज तक मल के वर्ण को देख कर यह विश्वास किया जाता रहा है कि पारद के क्षार पित्तस्रावक हैं। किन्तु यह विश्वास भ्रमात्मक है। सम्भवतया रसकपूर का प्रभाव आंशिक रूप से होता है। परन्तु साधारणतया शरीर में पुनः प्रविष्ट हो जाने वाले पित्त की गति अधोगामी हो जाने के कारण पारद और रसपुष्प मल के साथ अधिक पित्त को निकालने में सहायता देते हैं। और इनका प्रभाव पित्तस्रोत और पित्ताशय पर उत्तेजक होता है। अतः पित्तरेचक समझे जाते हैं।

रक्त पर प्रभाव (Blood and circulation) :—रक्ताणु वृद्धि करने के कारण पारद के यौगिक शक्तिप्रद (Tonics) माने जाते हैं। आयुर्वेद में रससिन्दूर, स्वर्णसिन्दूर, मल्लसिन्दूर, ताल-सिन्दूर, विषसिन्दूर, शिलासिन्दूर, चन्द्रोदय, मकरध्वज आदि योग काम में लाते हैं जिनका अत्युत्तम प्रभाव होता है। पारद के अतियोग से पाण्डु रोग होता है। पारदीय प्रयोग रक्त के श्वेताणुओं की गति को मन्द करते हैं। यह प्रभाव पाचन-विकृति के फलस्वरूप होता है। इसका ठीक २ निर्णय नहीं हो सकता।

वृक्क पर प्रभाव (Kidneys):—रसपुष्प या ब्लू पिल्स (Blue pills) का प्रयोग करने से कभी २ इनका प्रभाव मूत्रल (Diuretic) देखा जाता है। यह प्रभाव स्किल (Sequill) और डिजिटेलिस (Digitilis) के सहयोग से बढ़ जाता है। वृक्क रोगों में सावधानतया रसपुष्प आदि प्रयुक्त करने चाहिये। हृदयदौर्बल्य के कारण जलोदर हो जाय तो उसमें इसका प्रयोग लाभप्रद हो सकता है।

पारद का शरीर से बहिर्गमन (Elimination):—पारद शरीर से मूत्र, पित्त, दुग्ध, स्वेद, लाला द्वारा बाहर निकलता है। वृक्क रोगों में यह गति मन्द हो जाती है। पारद का मल के साथ निकास कज्जली (Sulphide) के रूप में होता है। यह शरीर के सम्पूर्ण अवयवों में जमा पाया जाता है। विशेषकर यकृत् और अस्थिसुधांश भाग में पाया जाता है लालास्राव द्वारा निकलते समय मसूड़े सूज जाते हैं। और दांत हिल जाते हैं। यह प्रभाव लालास्रावोत्पादक कोषों पर होता है। अथवा उनके अन्दर आने वाली गत्युत्पादक तंतुओं पर होता है। फिरंग (Syphillis) के लिये पारद विशिष्ट (Spicific) औषध मानी जाती है। विशेषकर प्रारम्भिक और माध्यमिक फिरंग (Ist. and 2nd. stage) में विशेष लाभ होता है। सम्भवतया यह प्रभाव फिरंगोत्पादक-कीटाणुनाशक शक्ति के कारण होता है। फिरंगोत्पादक पराश्रयी कीटाणु को ट्रीपोनीम्स पेलीडम (Triponims Pallidim) कहते हैं।

क्षमता (Toleration):—आयु, स्त्री, पुरुषों की भिन्न प्रवृत्ति, स्वभावादि के कारण पारद के प्रभाव में अन्तर पड़ जाता है। यह नियम सा है कि युवा की अपेक्षा बालक और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष उसको भली भाँति सहन कर सकते हैं। वृक्करोग, गण्डमाला, रक्त-पित्त, शारदीय ज्वर आदि से पीड़ित रोगी इसके प्रभाव से शीघ्र प्रभावित होते हैं। कुछ प्रकृतियों पर पारद का इतना प्रभाव हो जाता है कि रसपुष्प की एक मात्रा ही लालास्राव उत्पन्न कर देती है। डा० घोष का अनुभव है कि उन्होंने एक रोगी को १½ रत्ती केलेमोल केलोसिन्थ के सत्व के साथ मिला कर दिया जिससे विरेचन भी हो गया किन्तु फिर भी रोगी को लालास्रावादि पारदीय विष उत्पन्न हो गये। स्त्रियों को गर्भ

रहते पारदीय औषधियों का प्रयोग करने में कोई विशेष हानि नहीं है।

तात्कालिक विष लक्षण (Acute Toxic Action):– साधारणतया पारद के प्रयोग से संखिया आदि उग्र विषों की भांति तल्लक्षण भयंकर विष प्रभाव नहीं देखा जाता तथापि रसकर्पूरादि पारदीय क्षार यौगिक उग्रविष हैं जिनके प्रयोग से महास्रोत के अन्दर भयंकर उपद्रव होते हैं। यथा वमन, शूल, विरेचन, रक्तातिसार, मूर्च्छा तथा मृत्यु तक हो सकती है।

प्रतिविष (Antidotes):—प्रारम्भ में सावधानी के साथ वमन कराना या स्टमक पम्प (Stomach pump) से स्नेह पान करा कर प्रक्षालन करना स्नेहन द्रव्य, दुग्ध, अण्डे की सफेदी तथा तैलादि का खूब प्रयोग करें। बाद में अलकोहल (Alcohal) और मारफीन (Marphin) का प्रयोग करें।

चिरकालिक विष - प्रभाव (Chronic Toxic Action Mercurialism):—यह प्रभाव उन रोगियों पर प्रायः देखा जाता है जो या तो पारद का दुरुपयोग करते हैं अथवा अकालिक घटना द्वारा पारद शनैः शनैः शरीर में प्रवेश होने दिया करते हैं। उदाहरणार्थ रसकर्पूर के व्यवसायियों, पारद की खानों में कार्य करने वालों या आयनों पर कली चढ़ाने वालों के नाम लिये जा सकते हैं। इसके विष का प्रथम लक्षण श्वास-दुर्गन्धि, मसूड़ों की शोथ समझना चाहिये। इन लक्षणों के देखते ही पारदीय प्रयोग यदि सेवन कराया जा रहा है तो उसी समय बन्द कर देना चाहिये। प्राथमिक लक्षणों के उपरान्त रोगी को मुख में धातु का सा रुचिकर स्वाद अनुभव होने लगता है। मसूड़े ऐसे सूज जाते हैं कि अल्प स्पर्श से भी रक्तस्राव होने लगता है और दांत हिलने लगते हैं। मुख से लालास्राव, गले में कण्ठ-शालूक और गलनाड़ीशोथ हो जाता है। ज्यों ही ये लक्षण अधिकाधिक बढ़ने लगते हैं त्यों ही जिह्वा पर चीर पड़ने लगते हैं तथा वह शोथमय हो जाती है। कर्णमूल हनुमूल ग्रन्थियां फूल जाती हैं। मसूड़े व्रणयुक्त हो जाते हैं और धीरे धीरे लालास्राव गाढ़ा और चिक्कण अविरत रूप से बहने लगता है। ज्वर होता है, क्षीणता बढ़ जाती है। यदि पारद की मात्रा बड़ी और चिरकाल तक सेवन की जाय तो उक्त लक्षण अधिक उग्र हो जाते हैं और दांत प्रायः गिरने लगते हैं। सारे मुख में व्रणशोथ हो जाता है। हन्वस्थि का क्षय, शरीरशैथिल्य, पाण्डु आदि रोग हो जाते हैं और बाहर रक्तस्राव होने से रोगी मर जाता है। साधारणतया पारद के वाष्प से यदि शरीर लगातार सम्बन्धित रहता है तब एक विशेष प्रकार का शरीर में कम्प होने लगता है। यह प्रथम मुख-मण्डल पर दिखाई पड़ता है और धीरे धीरे हाथ-पांवों की तरफ बढ़ता है। जिन मांसपेशियों पर इनका प्रभाव पड़ता है वह अत्यन्त दुर्बल हो जाती हैं, साथ ही मानसिक दौर्बल्य और ज्ञानेन्द्रियों का क्षय होने लगता है। इसका कम्प ऐच्छिक होता है। किसी कार्य की इच्छा करके मांसपेशियों की गति को न समझ इसका प्रकोप अनुभव होने लगता है। पारद साधारण तापक्रम पर उड़ने लगता है। इसकी उड़नशीलता कितनी ही अल्प क्यों न हो बराबर शरीर पर प्रभाव होने से विष लक्षण उत्पन्न होते जाते हैं। इसकी शरीर में शोषण होने की गति अविरत प्रवृत्त रह सकती है। इसलिये दर्पणादि पर लगी पारदीय कली से सुरक्षित रहना चाहिये। समय समय पर ऐसे वाष्प से भी पारद का विषप्रभाव देखा गया है।

पारद और उसके यौगिकों का औषध-विज्ञान

बाह्य-प्रयोग

बाह्य शरीर की शोधनक्रिया (Antiseptic) के लिये रसकर्पूर और सायानाइड (Cyanide) के घोल (Solutions) व्यवहृत किये जाते हैं। विशेषतः रसकर्पूर का घोल संक्रमणनाशक (Disinfectant) कार्य के लिये और शस्त्र व प्रसव कर्म के निमित्त उपयोग किया जाता है। १ भाग रसकर्पूर, १००० भाग शुद्ध जल में घोल कर शस्त्रागार, टेबल, मेज़, कुर्सी, पट्टी, रुई आदि उपयोगी सामान, जिनमें संक्रमण की सम्भावना है, धोये जा सकते हैं। इसी घोल से सर्जन के हाथ और जिस स्थान पर या शरीर के अंगविशेष पर शस्त्रकर्म किया जाय उसको और तौलिया आदि उपचार द्रव्यों को शुद्ध किया जा सकता है। १–१०००० भाग का घोल साधारणतया व्रणप्रक्षालन के लिये व्यवहार कर सकते हैं, किन्तु यदि व्रण दुर्गन्धयुक्त फिरंग रोग सम्बन्धी हो तो पूर्वोक्त घोल विशेषोपयोगी सिद्ध हो सकता है। योनिमार्ग तथा गर्भाशय प्रक्षालनार्थ १–५००० का घोल काम में लाया जाता है। यदि इसकी चिरकालीन उपयोग की आवश्यकता हो तो १–१०००० भाग का ही घोल प्रयुक्त करना चाहिये। पराश्रयी-कृमिनाशक प्रभाव के लिये सिट्रिन (Citrine) और धवल-निक्षेप (White Precipitate) के लेप या रसकर्पूर का घोल (१-२ ग्रेन—१ औंस जल) व्यवहार किये जाते हैं। दद्रु, पामा, विचर्चिका आदि चर्मरोगों में भी इसका उपयोग किया जा सकता है। भयङ्कर पामा, कंडू की खाज दूर करने के लिये ब्लू आइन्टमेन्ट-केलोयल आइन्टमेन्ट (१ ड्राम रसकर्पूर, वेसलीन १ औंस) ब्लेकवाश, येलोवाश के प्रयोग से बहुत लाभ होता है। धवलनिक्षेप का पूरा शुद्ध नाम (Mercuric Ammonium Chloride) है। पारद के अनेक लेप उत्तेजक और शोषक हैं। इनका प्रयोग गंडमाला, गलगंड, अर्बुद, अस्थ्यर्बुद, चिरकालिक सन्धिशोथ आदि में किया जाता है।

शोथहर प्रयोग के लिये हलका सिट्रिन आयन्ट मेन्ट (Sitrine ointment) ग्रन्थियों पर लगा कर प्लास्टर लगा

देने से शीघ्र फट जाती है। अनेक प्रकार के स्तनविद्रधि आदि शोथों में ओलिएटं हाइड्रार्जिरि का द्रव ५% मार्फीन (१--६०) मिला कर लगाने से अधिक लाभ होता है। दाहक प्रभाव के लिये मर्क्यूरिकनाइट्रेट घोल कर प्रयोग किया जाता है। विशिष्ट प्रभाव के लिये ब्लेकवाश, प्रतिदिन फिरंग आदि के व्रणों के धोने के लिये उपयुक्त औषधियां हैं। जिन व्रणों में फिरंग के उपद्रव का सन्देह हो उनको रसकर्पूर के (१--५००) घोल से देना अच्छा है।

आभ्यन्तरिक प्रयोग—महास्रोत (Gastro Intestinal Treat)

फिरंगज स्थानीय मुखव्रण रसकर्पूर के घोल से धोने से शीघ्र भर जाते हैं। एतदर्थ रसकर्पूर ४ ग्रेन, मृदु हाईड्रो क्लोरिक अम्ल (Hydrochloric Acid) १० विन्दु, जल १० औंस का घोल अच्छा है। बच्चों के वमन जो प्रायः दूध पिलाने के उपरान्त तत्क्षण या दो चार घंटे के उपरान्त हो जाया करते हैं, वे मुग्धरस (Grey powder) $\frac{1}{12}$ ग्रेन से $\frac{1}{3}$ ग्रेन की मात्रा दो तीन घण्टे के अन्तर से देने पर रुक जाते हैं। बालकों के हरे श्वेत, मटियाले, चिकने, अल्प मात्रा में आने वाले दस्तों में रसपुष्प और मुग्धरस का प्रयोग सफलतापूर्वक होता है। युवा पुरुषों की विसूचिका (Cholera) में इसका प्रयोग लाभप्रद है। इसके साथ विस्मिथ और कर्पूर मिलाकर देने से अधिक लाभ होता है। कण्ठव्रत (Quinsy) और रक्तज्वर (Scarlatina) जिसमें श्वासकष्ट अवश्यम्भावी है, मुग्धरस $\frac{1}{2}$ ग्रेन प्रति घण्टा देना चाहिये। कष्टप्रद हिक्का रोग में अल्प मात्रा में रसपुष्प और ब्लू-पिल के प्रयोग से लाभ होता है। यदि रसपुष्प विरेचनार्थ दिया जाय तो अधिक लाभप्रद है किन्तु अहिफेनसेवियों को इससे कुछ नहीं बनता है। किसी भी दशा में रसपुष्प का प्रयोग करने के उपरान्त क्षारीय रेचन देना हितकर होता है। पारदीय विरेचक औषधियां प्रतिदिन नहीं देनी चाहिये। प्रतिदिन के प्रयोग से इनका प्रभाव न्यून हो जाता है और शरीर में संग्रह होने का भय रहता है। ऐसा करने से कभी कभी भयंकर आन्त्रिक उपद्रव हो जाते हैं। युवा पुरुषों को प्रवाहिका की दशा में रसकर्पूर $\frac{1}{100}$ ग्रेन की मात्रा में प्रतिघण्टा या दो घण्टा के अन्तर से देना लाभप्रद है। आन्त्रिक व्रत में सूक्ष्म मात्रा में रसकर्पूर का प्रयोग बहुत लाभ करता है। अनेक प्रारम्भिक रोगों में जब जिह्वा बहुत मलिन रहती है, अल्प मात्रा में विरेचक रूप से रसपुष्प या मुग्धरस का प्रयोग करने से जिह्वा साफ हो जाती है।

यकृत्सम्बन्धी पैत्तिक विकृति में रात्रि में रसपुष्प या ब्लूपिल्स देकर प्रातःकाल सनाय के रेचक यौगिक सिडलिज़ पाउडर (Seideitz Powder) या यष्टमादिचूर्ण (Liquorio Powder) देने से अच्छा लाभ होता है। शारीरिक आभ्यन्तरिक शोथ में पारदीय यौगिक प्रयोग करने का भी मत प्रचलित है। अमेरिका के चिकित्सक हृदयावरण में प्रयुक्त करते हैं। जलोदरादि रोगों में दिन में अनेक बार रसपुष्पादि देने से हृदय-सम्बन्धी जलोदर में विशेषतः मूत्रल प्रभाव करता है। यदि रसपुष्प डिजिटेलिस (Digitalis) और स्क्विल (Squill) के साथ मिला कर दिया जाय तो यह प्रभाव अधिक हो जाता है। यकृत् विकारजन्य जलोदर में अस्थायी लाभ करता है। वृक्क-विकारजन्य जलोदर में उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। वृक्क के विकारों में पारद घटित औषधियों का सावधानी से प्रयोग करना चाहिये।

शरीर में पारद प्रविष्ट करने की विधियाँ

मुख के द्वारा ब्लू पिल, केलोमल, ग्रेपाउड़र, करोसिव सब्लिमेट (रसकर्पूर) आदि औषधियों को प्रयोग करते हैं। शरीर में इन औषधियों का शोषण श्लेष्मकला द्वारा होता है जो मुख से गुदा तक सारे महास्रोत में आवृत्त रहती है।

गुदा—पारद की गुदवर्ति (Mercuriar Suppository) फिरंगजन्य गुदविकार में गुदा में प्रवेश की जाती है।

नस्य—(Inhalation) का प्रयोग कभी कभी फिरंगजन्य नासा के विकारों में उपयोगी होता है।

धूम्रीकरण (Fumigation) उड़नशील रसपुष्प को इस प्रकार से शरीर में प्रवेश करने के लिये व्यवहार करते हैं। पामा आदि चर्मरोगों में गन्धक को भी सारे शरीर में धूम्र द्वारा पहुंचाया जाता है। गन्धक और पारद को शरीर में पहुंचाने के लिये अथवा शरीर के किसी अंगविशेष पर प्रभाव पैदा करने के लिये यह व्यवस्था की जाती है। जब पारद का धूम्र दिया जाता है तब उसके साथ ही जल वाष्प से भी स्वेद कराया जाता है या जाबारेन्डी (Jaborandi) औषध रूप में पसीना लाने के लिये दी जाती है। कभी कभी धूम्रीकरण से अत्यन्त दुर्बलता और अप्रसन्नता प्रतीत होती है। पाचन और रेचन क्रिया की विकृति नहीं होती और रोगी को लाभ हो जाता है। बहुत से रोगी मुख से पारदीय यौगिक व्यवहार करने पर भी अच्छे नहीं होते। वे धूम्रीकरण और लेपन के पारदीय यौगिकों से अच्छे हो जाया करते हैं। धूम्रीकरण सर्वाङ्ग या एकाङ्ग पर प्रभाव पैदा करने के लिये व्यवहृत होता है।

लेपन (Unction)

शरीर के किसी अंग विशेष पर ब्लू-आइन्टमेन्ट, लिनिमेन्ट या पारद के ओलियेट रगड़ने से पारद रक्त के अन्दर प्रवेश कर जाता है एतदर्थ जंघा का अन्तरीय भाग और हाथ की कक्षा (axilla) अधिकतर उपयोगी स्थान समझे जाते हैं। यह विधि बालकों की चिकित्सा के लिये अधिक व्यवहार्य समझी जाती है। २० से ६० ग्रेन ब्लू-आइन्टमेन्ट प्रति रात्रि में या

एक दिन के अन्तर से व्यवहार किया जा सकता है। जिस स्थान पर यह लेप प्रयुक्त किया जाये उसे बदलते रहना चाहिये। अन्यथा स्थानिक (Local) दाहादि उपद्रव उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है। जर्मन आइन्टमेन्ट (१ भाग पारद, ३ भाग वेसलीन) बी. पी. के यौगिक की अपेक्षा अच्छा है। फिरंग रोग की चिकित्सा में विशेष लाभ नियमित जीवन और उत्तम जल वायु वाले स्वास्थ्यकर स्थान में रहने से शीघ्र होता है। शरीर के प्लुष्ट या घृष्ट स्थान पर अथवा व्रण पर पारदीय लेप, घोल और रसपुष्प के उपयोग से पारद शरीर में शोषित होकर प्रभाव करता है। शरीर के भीतरी त्वचा अथवा मांस के माध्यम द्वारा पारद प्रवेश करने की विधि ब्रिटिश सेना और अन्य देशों में अधिक प्रचलित है। एतदर्थ यदि घुलनशील पारदीय क्षारों के यौगिक लिये जायँ तो प्रतिदिन इन्जेक्शन करना चाहिये और केवल पारद या उनके घुलनशील क्षार लिये जायँ तो साप्ताहिक इन्जेक्शन करना आयश्यक है। आजकल घुलनशीन क्षार-यौगिकों में रसकर्पूर $\frac{1}{3}$ ग्रेन १७ बिन्दु सुत (Distiled) जल में घुला कर उसमें थोड़ा सा सोडियमक्लोराइड (Sodium Chloride खाने का नमक) $\frac{1}{2}$ ग्रेन मिला कर प्रयोग किया जा सकता है। या बाइनायोडाइड (Biniodide) $\frac{1}{3}$ ग्रेन की मात्रा में प्रयुक्त हो सकता है।

अघुलनशीन पारदीय क्षारों में रसपुष्प (Calomel) सब से अधिक शक्तिशाली और प्रभावकारी होता है। रसपुष्प १ ग्रेन, तप्त जैतून का तेल (Sterlized olive oil) १७ बिन्दु में मिला कर सप्ताह में एक बार इन्जेक्शन करना चाहिये। जैतून के तेल के अभाव में वेसलीन काम में लाई जा सकती है। इसके प्रयोग से कभी २ बहुत कष्ट होता है। इस लिये निम्नलिखित यौगिक अधिक उपयोगी समझा जाता है। इसे ग्रे आइल (Grey oil) कहते हैं :—

हाइड्राजिर १ औंस, एडेप्सलेनीएन् हाइड ४ ड्राम,
लिक्विड पेराफिन १० ड्राम, कार्बोलाइड्ड २ %

इस यौगिक का सप्ताह में १० बिन्दु इन्जेक्शन करने का व्यवहार है। अनेक विद्वानों ने इसके प्रयोग करने की सम्मति दी है। सर जे. हचिन्सन (Sir J. Hutchinson) इसका मांस मध्यम इन्जेक्शन (Intramuscular injection) करने का विरोध करते हैं। उनकी राय है कि यह पारद का अघुलनशीन क्षारीय योग है। इसके अघुलनशील पारदीय क्षार का शरीर में शोषण होने में सन्देह है, अतः यह शरीर में संग्रह होकर पारदीय विष का प्रभाव पैदा हो जाने से रोगी मरते हुये देखे गये हैं। अन्तर्भागीय इन्जेक्शन (Intravenous injection) कोहनी के नीचे की प्रधान शिरा में लेन (Lane) नामक विद्वान् ने सफलतापूर्वक २० बिन्दु फी सदी साइनाइड आफ मर्करी (Cyanide of Mercury) का घोल इन्जेक्शन द्वारा प्रवेश किया है।

पारद स्नान (Bath)

हेनरी ली (Henry Lee) का यन्त्र इस प्रकार की चिकित्सा के लिये उपयुक्त है। इस यन्त्र में एक स्पिरिट लैंप लोहजाली से चारों तरफ मढ़ा रहता है। जाली के ऊपरी भाग में चीनी की तश्तरी लगी रहती है जिसमें एक औंस के करीब जल भर दिया जाता है और लैंप जला दिया जाता है। जब पानी उबलने लगता है तब उसमें २० से ३० ग्रेन के लगभग उड़ाया हुआ रसपुष्प (Calomel) डाल दिया जाता है और इसको रोगी के पलंग या कुरसी के नीचे रख कर उस पर नग्न रोगी रबड़ के क्लोक (Clock) से आकण्ठ ढक कर बैठा दिया जाता है जिससे यह अङ्ग से चिपटे नहीं और समस्त शरीर ढक दें। बीच २ में क्लोक उठा कर वाष्प को मुख तक आने का आवश्यकतानुसार प्रयत्न भी करते हैं। यह क्रिया १५ मिनट तक की जाती है और चिकित्सक पूर्णतया देख रेख करता रहता है। अन्यथा रोगी के मूर्च्छित होने का भय रहता है। इस क्रिया के समाप्त होने पर क्लोक सहित रोगी को सावधानी के साथ उठा कर लिटा देते हैं और क्लोक हटा कर शरीर पोंछ कर स्वच्छ वस्त्र पहना दिये जाते हैं।

सावधानी (Precautions)

रोगी की पाचनक्रिया शुद्ध न होने पर मुख द्वारा पारदीय यौगिक सेवन नहीं कराने चाहिये। दुर्बल, पाण्डुरोगी, कण्ठमाला-पीड़ित और वृक्करोगियों को पारद सात्म्य नहीं होता। शरीर के किसी विस्तृत भाग पर पारद लगाने से वह शोषण होकर विष प्रभाव कर सकता है। अतः यथासम्भव थोड़े से स्थान पर ही पारद लगाने का प्रयत्न करें। योनि और गर्भाशय में पारदीय घन घोलो (Concentrated solution) का इञ्जेक्शन न करें। जब चिरकाल तक पारदीय यौगिक देने की आवश्यकता हो तब रोगी के लिये निम्नोक्त पथ्य का अवश्य प्रबन्ध करें।

(१) फल, हरे शाक, काफी (Cofee) और मृदुविरेचक (Laxative) आदि का उपयोग अत्यन्त अल्प करें।

(२) मद्य, आसव, अरिष्ट आदि उत्तेजक द्रव्य जहाँ तक सम्भव हो छोड़ दें।

(३) तमाखू, सिगरेट, सिगार आदि का पीना एकदम बन्द कर दें।

(४) प्रायः उष्ण वस्त्र धारण करें और शीत से पूर्ण सावधान रहें।

(५) पारद का सेवन करने वाला पेठा, ककड़ी, करेला, तरबूज, कुसुम्भ कर्कोट का शाक, केला, मकोय का शाक, कुलथी, तिल, अलसी का तेल, उड़द, कबूतर का मांस, सिरका, दही,

भात, बेर, नारियल, आम, राई, स्त्रीप्रसङ्ग, रात्रि-जागरण आदि का पूर्ण परहेज रखें।

पारदीय खनिज प्राप्ति के स्थान

१. ब्रिटिश बोर्नियो (British Borneo)—इस प्रान्त में रक्त हिंगुल (हंसपाद) प्राकृतिक पारद और रसपुष्प (Calomel) अल्प मात्रा में पाया जाता है।

२. भारतवर्ष (India)—यहां अब तक कोई निश्चित स्थान पारद या उसके खनिजों की प्राप्ति का विदित नहीं हुआ है। अभी हाल ही में चित्राल (पंजाब) की नदी की रेत में हिंगुल के अस्तित्व का पता लगा है। यह स्थान सावधानी से सुरक्षित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त अदन (Adan), अफ़गानिस्तान, अंडमन आइलेण्ड (Andaman Island), बर्मा (Burma), तिब्बत आदि पार्श्ववर्ती देशों में भी हिंगुल के मिलने की संदिग्ध सूचनाएं समय समय पर प्रकाशित हुई हैं। (बिबिलोग्राफी भाग २)

३. अफ्रीका (Africa)—न्यासालेन्ड (Nyasaland) नामक स्थान में पारद का होना बताया गया है किन्तु उसकी व्योरेवार रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

४. यूनियन आफ साउथ अफ्रीका (Union of South Africa)—ट्रान्सवाल जिले में स्फटिक के साथ मिला हुआ हिंगुल पाया जाता है। एवं इसी देश के अन्य स्थानों में गेलेना (Galana or Lead Sulphide), यशद (Zine), स्फटिक, रेणुशिला आदि के साथ प्राप्त होता है। एक स्थान पर प्राकृतिक पारद सस्वर्ण पाया जाता है।

५. उत्तरीय अमेरिका (North America)—केनाडा (Canada) के सब प्रान्तों में भिन्न भिन्न जाति का खनिज पाषाण और उष्ण स्रोतों में प्राकृतिक पारद और हिंगुल प्राप्य है।

६. आस्ट्रेलिया (Australia)—इस देश में हिंगुल और प्राकृतिक पारद अनेक स्थानों में पाया जाता है। सन् १८९२ तक केवल क्वीन्सलेन्ड (Queensland) से १३७०० पाउन्ड पारद निकाला गया है। यहाँ ज्वालामुखी पाषाणों में भी अधिकतर पारदीय खनिज प्राप्त होते हैं। पारदीय खनिज निकालने के लिये यहाँ अनेक कूप खोदे गये हैं जिनकी गहराई ५० से २४० फीट तक है।

७. पापुआ (Papua)—इस देश में भी पारद के खनिज पाए जाते हैं किन्तु अभी तक पारद निकालने का काम प्रारम्भ नहीं हुआ है इसलिए यहाँ के खनिजों का व्यावहारिक मूल्य का पता नहीं लग सका है।

८. न्यू ज़ीलेन्ड (New Zeland)—इस देश में सोना, चान्दी, माक्षिक आदि खनिजों के साथ अनेक स्थानों में पारदीय खनिज पाये जाते हैं। सन् १९१७ से १९२० ई० तक ५०० फ्लास्क पारद पुही पुही (Puhi Puhi) नामक स्थान से निकाला गया था। इस देश में एक स्थान पर उष्ण स्रोत में हिंगुल प्राकृतिक गन्धक के साथ अन्य खनिजों के सहयोग में पाया जाता है।

९. अल्बेनिया (Albanaia)—यह विदित हुआ है कि इस देश में भी पारद के खनिज हिंगुल और प्राकृतिक पारद पाये जाते हैं किन्तु व्योरा अभी तक मालूम नहीं हो सका है।

१०. जेकोस्लोवेकिया (Czechoslovakia)—इसके दो तीन प्रान्तों में हिंगुल पारद मिश्रक (Amalgam), माक्षिक, स्फटिक आदि के साथ पाया जाता है। खड़िया के रूपान्तरित स्लेट और लावा के तर (Sheet) के बीच में हिंगुल, गेलेना और यशद भी पाये जाते हैं।

११. फ्रान्स और कार्सिका (France and Corsica)—इस देश के अनेक प्रान्तों में हिंगुल और प्राकृतिक पारद चूने (Calcite) की भूमि में माक्षिक, स्फटिक, यशद, खर्पर (Calarmine), गेलेना (Galena), पारदीय मिश्रक (Amalgam), एन्टिमनि, गन्धक, आर्सेनिक, प्लेटिनम् (Platinum) आदि के साथ पाया जाता है। इसमें प्लेटिनम् का अल्पांश ही मिलता है!

१२. जर्मनी (Germany)—जर्मनी में पारद के खनिज अधिक नहीं प्राप्त होते हैं, जितने भी अब तक प्राप्त हुए थे वे सब काम में आ गये हैं। तथापि किसी किसी स्थानविशेष पर अनेक अन्य खनिजों के साथ धागे की शकल के तार से हिंगुल के रेशे पाये जाते हैं। एक स्थान पर फोसिल मच्छियों में भी हिंगुल जमा हुआ पाया गया है।

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक पारद, रजत मिश्रक (Silver Amalgam) के लोमल (रसपुष्प), मेटे सिन्नाबार (कृष्ण हिंगुल), मर्क्यूरिल फेह्लोर (Mercurial Fehlore) ताम्रमिश्रक भी पाये जाते हैं। इनके साथ २ माक्षिक, रक्त और पीत गैरिक, साइडराइट (Siderite), सुरमा (Gelena) टेट्रा हीडराइट (Tetrahedrite) सुवर्ण-रौप्यमाक्षिक, स्फटिक, एन्टिमनी, अयस्कान्ति (Pyrolusite) सिलीमेलेन (Psilomelane) आदि खनिज भी मिलते हैं। एक स्थान पर २७०० फुट और दूसरे स्थान पर १२०० फुट की विस्तृत भूमि पर फैले हुए पारदीय खनिज पाये गये हैं। राइनलेन्ड (Rhinland) के जिले में ९० फ्लास्क पारद प्रतिवर्ष यशद खनिज के साथ निकलता है।

१३. हंगरी (Hungary)—महायुद्ध के पूर्व हंगरी में वार्षिक ९० टन पारद निकलता था। अब उसके प्रान्त बदल गये हैं। हंगरी में एन्टिमनि के साथ पारदीय खनिज पाये जाते

थे। जहाँ तक विदित हुआ है आजकल इस देश में पारद निकालने का व्यवसाय बन्द हो गया है।

१४. इटली (Italy)—इटली में सर्वत्र पारदीय खनिज प्राप्त होते हैं। वहाँ पर कई एक पुरानी बड़ी २ खाने हैं। पारदीय खानों का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता है। इटली में पारद के मुख्य चार खनिज पाये जाते हैं।

(१) स्टील ओर (Steel ore = Stehlerz) दैत्येन्द्ररक्त। इसमें ७५ फीसदी पारद मिलता है।

(२) लीवर ओर (Lever ore = Lebererz) यकृदाकार हिंगुल या दरदः। यह मृत्तिका जाति का हिंगुल है। इस पर स्टेहलर्ज (Stehlerz) का आवरण (Kernels) कञ्चुक चढ़ा रहता है।

(३) कोरेलाइन (Coralline = Corallenerz) प्रवालाभ हिंगुल।

(४) ब्रिक ओर (Brick ore) गिरि सिन्दूर या रक्त हिंगुल (जपाकुसुमसंकाशः हंसपादो महोत्तमः)। यह पारदीय खनिजों के किनारे पाया जाता है। सम्भवतः इसी प्रकार के खनिजों को देख कर उक्त वाक्य लिखे गये हैं। इटली के इड्रिया (Idria) नामक स्थान में सबसे पुरानी पारद की बड़ी खानें हैं। इन खानों में एक स्थल पर फन्नेल (Funnel) की शकल के पाइप (नल) हैं। सम्भव है ऐसे ही कूपाकार छिद्र देख कर रसरत्नसमुचय में "जाताः कूपाश्च पंच च" वाक्य किसी महर्षि ने लिखे हों। इस विषय में मानो ग्राफ़ आफ़ मर्करी के निम्नलिखित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं—

"In the immediately neighbouring rock are several funnel-shaped cavities, also filled with metalliferous sands and clays, the proportion of cinnabar measuring with the depth. These funnel-shaped cavities appear to bear some analogy to the vertical pipes or holes (Trajas) in Gypsum—at the mercury mines of Huitzuco, Gnerrero, Mexico. Broadly speaking, the hole deposit forms a large funnel, the position of which is marked on the surface by a distinct depressions.

१५. पोर्तुगाल (Portugal)—कुछ वर्षों से इस देश में भी पारद की निकासी होने लगी है।

१६. रूमानिया (Rumania)—इस प्रदेश के ज़लाटना (Zalatna) नामक स्थान के पारदीय खनिजों से पारद निकालने का व्यवसाय किया जाता था, किन्तु व्यवसाय लाभकारक न होने के कारण प्राचुर्य बन्द सा हो गया है।

१७. रशिया (Russia) **यूरोप और एशिया के अन्दर युक्रेन** (Ukraine) **सहित**—इस देश में सन् १८९७ में ६१६ मेट्रिक टन पारद निकला था। सन् १९१० में तीन-चार सौ मेट्रिक टन के लगभग पारद की निकासी हुई और उसके एक ही वर्ष के बाद सन् १९११ में केवल २५ मेट्रिक टन की उपज रह गई। अब बहुत अल्प मात्रा में इस देश में पारद का रोजगार होता है। सारे एशिया में हिंगुल, प्राकृतिक पारद आदि पारदीय खनिज प्राप्त होते हैं। माक्षिक, एन्टिमनी, गन्धक, गेलेना, स्फटिक, चूना आदि खनिजों के साथ २ व पत्थर के कोयले के साथ भी हिंगुल मिला पाया जाता है।

१८. स्कैन्डिनेविया (Scandinavia)—यहां पर प्राकृतिक रजत के साथ पारद पाया जाता है। स्वेडन के साला (Sala) नामक स्थान पर पारदीय रजत मिश्रक (Silver Amalgam) प्राकितक पारद और किसी किसी स्थान पर अल्प मात्रा में हिंगुल भी पाया जाता है।

१९. स्पेन (Spain)—इस समय संसार में स्पेनदेशीय अल्माडन (Almadan) नामक स्थान की पारदीय खनिजों की खानें सर्वप्रधान हैं। संसार की पारद की मांग एक-तिहाई इसी की खानों से पूरी होती है। इस स्थान की खानों में विशेषता यह है कि गहराई के साथ २ ऊँचे दर्जे के उत्तम पारदीय खनिज निकलते जाते हैं। इस समय तक १३०० फुट की गहराई की खानें खुद चुकी हैं। इस देश में शताब्दियों से पारद निकालने का व्यवसाय हो रहा है। यहाँ का मुख्य खनिज पारद निकालने योग्य रक्त हिंगुल (Cinnabar) ही अधिकता से मिलता है। यह हिंगुल बहुत तेज़ लाल रङ्ग का होता है। "जपाकुसुमसंकाशो हंसपादो महोत्तमः" इस प्रकार का हिंगुल आता रहा है।

यहाँ शुद्ध रवेदार हिंगुल अल्प मात्रा में पाया जाता है। जितना भी मिलता है वह स्फटिक, माक्षिक और बाइट के खों के साथ में मिलता है। ढेले की शकल का हिंगुल जिसमें ६५ से ८५ फीसदी पारद रहता है बहुतायत से पाया जाता है। इसके सहयोग में अन्य खनिज बहुत कम मिले पाये जाते हैं। प्राकृतिक पारद, केलोमल बहुत कम मात्रा में मिलता है। स्पेन के एक प्रान्त में रक्त और कृष्ण हिंगुल, हरिताल, मनःशिला, आर्सेनिक (Arsenic) सुधापाषाण (Lime stone), रेणुपाषाण (Sand stone) आदि के साथ पाया जाता है।

अल्माडन की खानों में सन् १५६४ ई० से १९१९ ई० तक नीचे लिखी सारणी के अनुसार पारद की निकासी हुई है—

समय	मेट्रिक टन्स	वार्षिक निकासी
१५६४—१७००	१७८६३	१०३
१७००—१८००	४२११४६	४२१
१८००—१८७५	६०१६	८०२
१८७६—१९१९	४३०००(अनुमानित)	१०००(अनुमानित)

२०. **युगोस्लाविया** (Yugoslavia)—इस स्टेट में बोसनिया (Bosnia), सर्विया (Servia), स्लोवेनिया कार्निएला (Slovania—Carniala) प्रान्तों में मुख्यतः पारद के खनिज पाये जाते हैं।

२१. **एशिया माइनर** (Asia Minor)—इस देश में ३००० वर्षों से पारद निकालने का व्यवसाय हो रहा है। सन् १९०६ और १९०७ में वार्षिक ३००० फ्लास्क पारद कोनिया और केरोबुकम् माइनस (Konia and Karo Burum Mines) में निकला था। इसी प्रकार एनाटोलिया (Anatolia) में ४००० से ५,००० फ्लास्क प्रतिवर्ष निकलता रहता है। सन् १९०९ में तुर्कस्थानीय (Turkish) पारद की निकासी १४२ टन्स (३७८९ फ्लास्क) हुई थी। महायुद्ध के समय एसियाटिक तुर्की की पारदीय खानें जर्मनी के अधिकार में आ गई थीं।

२२. **चीन** (China)—चीन के अनेक स्थानों में पारदीय खनिजों के मिलने की सूचनायें समय २ पर प्रकाशित होती रही हैं। इस समय केवल युआनशानचङ्ग (Yuanshanchang) नामक स्थान की खानें ही प्रसिद्ध हैं। यहाँ पर दो प्रकार का हिंगुल पाया जाता है। एक रङ्ग का तेज लाल (Bright red) और दूसरे का गहरा लाल (Dark opeque red) होता है। यहाँ बहुत ही प्राचीन प्रणाली से हिंगुल एकत्रित किया जाता है। एवं इसे ईंगुर (Vermillion) के रूप में ही तैय्यार करते हैं। जिसका स्थानीय व्यापारी रंगसाज़ी में उपयोग करते हैं। प्राचीन काल में इसी प्रकार के हिंगुल के व्यापार के कारण भारतीय रस-शास्त्रियों ने "चीनपिष्टं" और "चूर्णपारदः" पर्य्याय शब्द रख कर हिंगुल के चीनसम्बन्धी व्यापार को चिरस्मरणीय बना दिया है। चीन में सन् १९०५ ई० के पूर्व अनेक वर्ष तक प्रतिवर्ष ६४० फ्लास्क पारद निकलता रहा है। सन् १९१९ ई० में ६४६८०० पाउन्ड पारद चीन से निकला था।

२३. **जापान** (Japan)—वर्तमान में जापान में केवल एक स्थान की खानें पारद निकालने के लिये खोदी जा रही हैं। यहाँ पर हिंगुल, चूने के पाषाण (Calcite) और रेणुशिला के साथ पाया जाता है।

२४. **न्यू केलेडोनिया** (New Caledonia)—न्यू केलेडोनिया के बोरेल (Bourail) केनाला (Canala) कोनोआना (Konaona) और पिवाका (Piwaka) नामक स्थान पर पौने दो से सवा-दो फी सदी पारद निकालने वाले खनिज प्राप्त होते हैं। किन्तु आजकल यहाँ पर पारद की निकासी का कारोबार बन्द है।

२५. **फारस** (Persia)—प्राचीन समय से ही फारस में पारदीय खनिजों का होना विदित था। तखतई-सुलेमान (Takht-i-Suleiman) नामक प्रदेश के जिलों में हिंगुल, प्राकृतिक पारद, पत्र हरिताल और मनःशिला मिलते हैं। हरिताल और मनःशिला पर्सियन कुर्दिस्तान (Persian Kurdistan) नामक स्थान पर भी पाये जाते हैं।

२६. **अफ्रीका** (Africa)—अफ्रीका के एलजीरिया (Algeria) नामक स्थान से कुछ समय पूर्व थोड़ा पारद विदेशों में भेजा गया था। इस देश से यशद, रजतयुक्त स्रोतोञ्जन (Argenti Ferons), खर्पर (Calamine), नीलाञ्जन (Antimony) आदि के साथ में हिंगुल पाया जाता है।

एलजीरिया (Algeria) के अतिरिक्त बीर-बेनी सोलाह (Bir-Beni-Sulah) नामक स्थान में जो कोलो (Collo) से ६ मील की दूरी पर है, गेलेना के साथ में हिंगुल मिलता है। और भी अफ्रीका के अनेक प्रदेश हैं जिनमें गेलेना या यशद के साथ हिंगुल पाया जाता है। कहीं कहीं स्वतन्त्ररूप से भी हिंगुल मिलता है।

२७. **इटालियन सोमेलिलेण्ड** (Italian Somaliland)—इस देश के उत्तरी भाग में हिंगुल होने की सूचना प्रकाशित हुई है।

२८. **ट्युनिस** (Tunis)—एलजीरिया के समान यहाँ भी अनेक प्रकार के खनिजों के साथ हिंगुल का जमाव मिलता है।

२९. **अपर सेनेगल और नीगर** (Upper Senegal and Neger)—इस देश के बम्बोक (Bambouk) प्रान्त में पारदीय खनिज मिलते हैं।

३०. **नार्थ अमेरिका** (North America)—उत्तर अमेरिका के पारदीय खनिज अलस्का (Alaska) से सेन्ट्रल अमेरिका (Central America) तक कार्डिलेरनरीजियन (Cardilleranregion) में प्राप्त होते हैं।

३१. **होन्डुरास** (Honduras)—होन्डुरास के प्रजासत्तात्मक राज्य में पारदीय खनिजों का होना चिरकाल से विदित है। सन् १९०९ ई० में १३८ फ्लास्क पारद की निकासी हुई है। स्पेनिश लोगों के राज्यकाल में उत्तम हिंगुल का जमाव कोमायागुआ (Comayagua) विभाग में रहा, किन्तु फिर उसका उपयोग नहीं किया गया।

३२. **मेक्सिको** (Mexico)—मेक्सिको में सर्वत्र पारदीय खनिजों का जमाव पाया जाता है। किन्तु मुख्यतः सान

लुइस पोटासी (San Louis Potasi) और ग्वेरेरो (Guerrero) राज्य में पाये जाते हैं। यहाँ के सब पारदीय खनिज ज्वालामुखी के उद्गम स्थानीय उष्ण स्रोतों की रासायनिक क्रिया से उत्पन्न हुए विदित होते हैं। इस देश में रक्त हिंगुल, कृष्ण हिंगुल और रसपुष्प (Calomel) व प्राकृतिक पारद बहुतायत से पाये जाते हैं। जहाँ पर पारदीय खनिज मिलते हैं वहाँ १०० से १३४ फीट की गहराई के फनल की शकल के कूप या छिद्र हैं। ये गर्त तेज़ चक्कर के साथ बहने वाले जल से बने हुए प्रतीत होते हैं। मेक्सिको के सब स्थानों की पारद निकालने की खानों का वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि रसरत्न-समुच्चय में जो पारद गन्धक के यौगिक बनने का वृत्त लिखा है वह यदि आलङ्कारिक भाषा में न होता तो इसी प्रकार से लिखा हुआ आज मिलता।

३३. यूनाइटेड स्टेट्स (United states)—प्रायः सारे यूनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में पारदीय खनिज पाये जाते हैं। संसार में स्पेन के उपरान्त केलिफोर्निया का दूसरा नम्बर है। इस देश में रक्तहिंगुल, कृष्णहिंगुल, रसपुष्प (Calomel) और प्राकृतिक पारद प्रायः मिलित रूप में मिलते हैं। पारदीय अन्य खनिज भी साधारणतया इस देश में यत्र तत्र प्राप्त होते हैं अमेरिका के संयुक्त राज्य के पारदीय खनिज हलकी जाति के हैं, इनमें पारद ०.५% फीसदी निकलता है। सन् १९१८ के उपरान्त पारद का मूल्य गिर जाने से और खान के व्यवसाय का व्यय बढ़ जाने से यहाँ के पारद की निकासी पर बुरा प्रभाव पड़ा है जिससे सन् १९२१ में ६३३९ फ्लास्क ही पारद निकाला गया। यह मात्रा सन् १९२० की अपेक्षा अधिक है और सन् १९१२ से १९१९ तक की अपेक्षा चतुर्थांश के लगभग है और जो सन् १८५० से अब तक की निकासी को देखने से सब से अल्प मात्रा मानी जाती है। इस निकासी में भी टेक्सास से ३१ फ्लास्क केलीफोर्निया से ३०९१, नवाडा से १०० और इडाहो से १ फ्लास्क पारद निकला है। सन् १९१७ से अलस्का और एरिजोना से पारद बिल्कुल नहीं निकाला गया, इसी प्रकार इडोहा से सन् १९१९ और १९२० में औरेगेन से १९२१ में एकदम पारद की निकासी नहीं हुई।

३४. अलस्का (Alaska)—इस प्रदेश में जार्जटाउन (George Town) के १५ मील ऊपर नदी के उत्तरीय किनारे पर १९०६ में हिंगुल के अस्तित्व का पता लगा और वहाँ पारद निकालने का कार्य प्रारम्भ किया गया। वहाँ पर स्टिबनाइट (Stibnite), स्फटिक (Quarty), साइडराइट (Siderite) आदि खनिजों के सहयोग में हिंगुल पाया जाता है। स्टिबनाइट (Antimony Sulphide) और हिंगुल मालूम होता है साथ ही साथ भूगर्भ से निकल कर जमे हुए हैं, क्योंकि एक दूसरे पर जमे हुए पाये जाते हैं। जहाँ पर ये खनिज प्राप्त होते हैं उस स्थान के दुर्गम होने के कारण पारद निकालने का कार्य बन्द सा रहता है। तथापि सन् १९१९ में वहाँ नवीन पद्धति से कार्यारम्भ किया गया और जो माल निकला वह वहाँ के ही व्यवसाइयों के हाथ बेच दिया गया। इस नदी के बहाव की तरफ १०० मील नीचे की ओर एक स्थान पर हिंगुल पाया गया है। किन्तु वहाँ पर भी पारद निकासी का काम अब तक प्रारम्भ नहीं हुआ है। इसके अतिरिक्त भी अन्य कई स्थानों में हिंगुल पाया जाता है और सैकड़ों पाउन्ड निकाला जाता है। नोमे सीवार्ड पेनिन्सुला (Nome Seward Peninsula) से लगभग ६० मील की दूरी पर "फ्रेसर माइनिङ्ग डेनियल क्रीक" नामक स्थान है। वहाँ पर एकत्रित रूप से अच्छी मात्रा में हिंगुल प्राप्य है।

३५. एरिजोना (Arizona)—इस प्रदेश में ६ मील तक लम्बे और ११ मील तक चौड़े फैलाव में पारदीय खनिज पाये जाते हैं। जिस भाग में हिंगुल मिलता है वह ३०० से ५०० फीट की दूरी पर क्षेत्र रूप से विभक्त है। पारद निकालने का सारा कार्य खनिज की अधिकता को देख कर बीच के भाग में प्रारम्भ हुआ है। यहाँ पर हिंगुल पृथ्वी की शिरा और छोटे २ गर्त व खंडहरों में पाया जाता है। कभी २ रौप्यमाक्षिक, सुवर्ण माक्षिक, गैरिक आदि के साथ में भी हिंगुल मिल जाता है। एक स्थान पर ३ मील चौड़ा हिंगुल-प्राप्ति का क्षेत्र है, जहाँ पर कृष्ण और रक्त दोनों प्रकार का हिंगुल, स्फटिक, सुधापाषाण, गैरिक आदि की भूमि में पाया जाता है, सन् १९१७ में ४० फ्लास्क पारद यहाँ से निकला था।

३६. केलिफोर्निया (California)—सन् १८५० से १९२१ तक केलिफोर्निया पारद निकालने का प्रधान देश रहा है। यहाँ से २२६११८१ फ्लास्क अर्थात् ७६२९३ मेट्रिक टन्स पारद वार्षिक निकलता है। यह मात्रा प्रसिद्ध स्पेनदेशीय अल्माडन की खानों की निकासी से ५० वर्ष की पारद की पैदाइश के बराबर है। किसी कारणवश केलिफोर्निया की अपेक्षा टेक्सास की पारद की निकासी सन् १९२१ में अधिक रही है। लगभग ८०% फीसदी अमेरिका के संयुक्त राज्य में पारद की पैदाइश १० खानों से हुई है। इन खानों में मुख्य न्यूएल्माडन की खान है, जहाँ से सन् १८५० से १९१७ ई० तक १०२११८३ फ्लास्क पारद निकला है। इससे दूसरे नम्बर पर न्यू इड्रिया की खाने हैं जहाँ से सन् १८५८ से १९१७ ई० तक ३०६४७५ फ्लास्क की निकासी हुई है। तीसरा नम्बर ओटहिल का है, यहाँ से १८७६ से १९१७ ई० तक १५२०९९ फ्लास्क पारद की निकासी हुई है।

केलिफोर्निया का पारदीय खनिज प्राप्ति का स्थान ४०० मील लम्बा और ७५ मील चौड़ा है और यहाँ पर प्राचीन व अर्वाचीन ज्वालामुखी के उद्गम चिह्न अनेक पाये जाते हैं। सन् १९१९ ई० में पारदीय खानों के मुख्य ज़िले सानबेनीटो न्यू इड्रिया (San Benito, New Idria Mines), सान्टा क्लेरा (Santa Clara) सोनोमा (Sonoma), सान लुइस ओबिस्पो (San Luis Obispo), नापा (Napa) और लेक (Lake) गिने जाते हैं।

३७. कार्न कौन्टी (Karn County)—कार्न कौन्टी नाम के प्रान्त में पारदीय खनिज प्राप्ति का जो स्थान है वह केलिफोर्निया के ज्ञात पारदीय खनिज प्राप्ति स्थान से भिन्न है। यहाँ का कारखाना हाल ही की शोध का फल है। यहाँ की गहराई केवल ३० फीट ही भूगर्भ में हैं। यहाँ से पारदीय की निकासी हुई है किन्तु उसका ब्योरा उपलब्ध नहीं हैं। ग्रेट वेस्टर्न नामक खान से सन् १८८३ से १९०९ तक ९८३१६ फ्लास्क पारद निकाला गया। बाद को यह खान बन्द कर दी गई है। प्रसिद्ध सल्फर-बैंक नामक गन्धक की खान से, जहाँ पहिले केवल गन्धक की ही निकासी होती थी, ७२४०० फ्लास्क पारद निकाला गया है। यहाँ के स्रोत के जल से जो गैसें निकली हैं वे कार्बोनिक एसिड, सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन, सल्फर डाई ओक्साइड और मार्श गेस हैं। इन जलों में कार्बोडनेट्स बारेट्स, सोडियम् क्लोराइड (लवण) पोटासियम् क्लोराइड, अमोनियम् क्लोराइड (नौसादर) व अल्कलाइन सल्फाइड घुले पाये जाते हैं। हिंगुल विकृत वेसाल्ट नामक ज्वालामुखी पाषाणखंडों के तले पाया जाता है जो किसी स्थान पर दानेदार और किसी स्थान पर मृत्तिकाकृति का हिंगुल जमा मिलता है। यहाँ के हिंगुल के सहयोग में गन्धक, ओपल, स्फटिक और रौप्यमाक्षिक पाये जाते हैं। बेकर (Backer) का कथन है कि सल्फरबैंक के अन्तराल की खान केलिफोर्निया के प्रधान पारदीय खानों के मुकाबले की है।

१९१७ में सल्फरबैंक नामक खानों का माल ८००,००० टन वाष्पयन्त्रों से पीसा गया था और सब से अधिक पारद इस देश से सन् १९१८ में निकाला गया, किन्तु सन् १९१९ में फिर पारद की निकासी नाम शेष रह गई। लेक जिले में पारद निकालने के स्थान सेन्ट जोन्स (St. Johns) और हेलन (Helen) हैं। नापा जिले में सन् १८६३ से १९१९ तक ३३८९५१ फ्लास्क पारद की निकासी हुई। इसके अतिरिक्त कोरोना (Corona), नाक्स विल (Knox ville), मनहाटन (Manhattan) नामक खानों में भी रक्त हिंगुल, उष्ण हिंगुल, रौप्यमाक्षिक, गन्धक, स्टिबनाइट के साथ पाया जाता है। किन्तु सन् १९२० से इन खानों का व्यवसाय बन्द है।

ओटहिल (Oat Hill) की खान में रेणुशिला के अन्दर जमा हुआ हिंगुल पाया जाता है। सन् १८७६ से १९१७ तक १५२५६६ फ्लास्क पारद की निकासी हुई है।

सान बेनिटो (San Benito) जिले में ३३४२५९ फ्लास्क पारद सन् १८६५ से १९१९ तक निकाला गया। अमेरिका के संयुक्त राज्य के पारद निकासी का यह जिला सब से अधिक उपजाऊ समझा जाता है। न्यू इड्रिया की खान से इस स्टेट के सब पारद निकासी की अपेक्षा आधा पारद निकाला गया है। न्यू इड्रिया की खान में अधिकतर उष्ण हिंगुल पाया जाता है। यहाँ पारद प्राप्ति का स्थान २½ मील के फैलाव में है। १५-२० मील भूगर्भ के अन्तराल में खुदाई का काम हो रहा है।

सान, लुइस, ओबिस्पो जिलों में (San, Luis, Obispo Country) यहाँ के आदिम निवासी (Indians) शताब्दियों से हिंगुल का रंग के काम में उपयोग करते हैं। व्यापारियों ने सब से प्रथम सन् १८६२ में इस स्थान के खान की रक्षा की और सन् १८७६ से १९१८ तक ४९६०० फ्लास्क पारद निकला।

क्लो (Klau) नामक खान से १४२१३ फ्लास्क पारद निकाल कर सन् १९१६ में काम बन्द कर दिया गया था और फिर सन् १९१९ में प्रारम्भ हुआ। यहाँ पर हिंगुल, स्फटिक और रौप्यमाक्षिक के सहयोग में पाया जाता है। यहाँ पर के खनिजों के साथ प्राकृतिक गन्धक भी पाया जाता है।

ओसीनिक (Oceanic) नामक खान से १९१७ के अन्त तक २३५५१ फ्लास्क पारद निकाला गया था। इस ज़िले में केवल इसी खान से सन् १९१८ में १४६० फ्लास्क पारद की निकासी हुई। यहाँ की भूमि में हिंगुल एकसा सर्वत्र पाया जाता है। यहाँ सन् १९१९ में पारद का एक और खनिज ५५० फुट की गहराई पर पाया गया है।

३८. सेन्टा क्लेरा कौन्टि (Santa Clara County)—इस प्रान्त में न्यू एलमाडन की खानों का पता सन् १८२४ में लग गया था, किन्तु सन् १८४५ तक यहाँ के पारदीय खनिज हिंगुल की पहिचान न हो सकी। यहाँ की खानों से पारद की बड़ी मात्रा निकलने का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। इस समय तक १८ कूप (Shafts) खोदे गये हैं। यहाँ के भूगर्भवर्ती कन्दराओं की लम्बाई १०० मील के लगभग है। इन कन्दराओं में से अनेक कन्दराएं अपने आप बैठ भी गई हैं। सन् १९१७ में सब से अधिक गहराई २४५० फुट मानहिल नामक पहाड़ी की चोटी (जो १६०० फुट ऊँची है) के नीचे थी। इसलिये यह संसार में सब से बड़ी और गहरी खान गिनी जाती है। ८०० फुट गहराई के नीचे का भाग कुछ वर्ष हुये बन्द कर दिया गया

है। स्पेन की अल्माडन खानों के हिंगुल की अपेक्षा यहाँ का माल अत्यन्त निम्न श्रेणी का है, जिसमें केवल १३/४ से १ फीसदी तक पारद पाया जाता है। सोलनो (Solano) नामक जिले में सन् १८७३ से १९१८ तक १७११६ फ्लास्क पारद की निकासी हुई। यहाँ की खान का नाम सेन्ट जोन्स (St. Johns) है। इस खान का पता सन् १८५२ में लगा और सन् १८७३ में यहाँ से पारद निकालने का व्यवसाय प्रारम्भ हुआ। तब से सन् १९१७ तक १६४५५ फ्लास्क पारद निकाला गया था। यहाँ पर हिंगुल, रौप्यमाक्षिक या विमल (Marcasite) के साथ पाया जाता है। हिंगुल के समीप जाड़ों में गाढ़ा गाढ़ा खनिज तैल भी जमा मिलता है। यह खान ६५० फुट गहरी है।

सोनोमा (Sonoma) जिले में सन् १८७३ से १९१९ ई० तक ६९०६३ फ्लास्क पारद निकाला गया। जिसमें ग्रेट ईस्टर्न और माउन्ट जेक्सन नामक खानों से १८७५ से १९१७ तक ४२०९२ फ्लास्क पारद की निकासी हुई। यहाँ पर भी हिंगुल रौप्यमाक्षिक के साथ में पाया जाता है। इसी ज़िले में रेटल स्नेक (Rattle Snake) खान में प्राकृतिक पारद (Native Mercury) काली मिट्टी की शकल में जमा हुआ मिलता है। इसके साथ स्नेहयुक्त शिलाजतु (Oily Bitumen) भी मिला पाया जाता है।

सोक्रेट की खान (Socrate's Mine) में भी प्राकृतिक पारद पाया जाता है। नीचे की गहराई में हिंगुल भी मिलता है। सन् १९१८ में यहाँ से कुछ पारद की निकासी की गई किन्तु १९१९ में काम बन्द रहा।

ट्रिनिटि (Trinity) ज़िले में १८७५ से १९१७ तक ३१११६ फ्लास्क पारद उत्पन्न हुआ। इसमें से केस्टेला (Castella) के पास की अल्टूना (Altoona) खान से २९००० फ्लास्क पारद निकला, शेष अन्यत्र से निकला। यहाँ पर जो हिंगुल मिलता है उसका क्षेत्रफल ४०० फुट लम्बा और ४ से ५० फुट चौड़ा है। येलो (Yellow) जिले में रीड (Reed) नामक खान में कृष्ण हिंगुल ही मुख्य खनिज रौप्यमाक्षिक के साथ पाया जाता है। यहाँ की खान ३०० फुट गहरी है।

३९. इडाहो (Idaho)—वेली (Velly) जिले में १ मील लम्बी चौड़ी भूमि में हिंगुल रौप्यमाक्षिक के साथ मिला पाया जाता है। यहाँ की फर्न नामक खान से १९१७ में ५ फ्लास्क और १९१८ में २२ फ्लास्क पारद निकला।

४०. निवाडा (Nevada)—इस स्टेट में बहुत सी जगह फैला हुआ हिंगुल पाया जाता है। पिलोर नामक पहाड़ के उत्तर-पूरब दो मील की दूरी पर और मीना स्थान से दक्षिण-पूरब आठ मील की दूरी पर एक पहाड़ है। उसमें हिंगुल अधिकता से मिलता है, इसीलिये उसका नाम हिंगुल पर्वत (Cinnabar Mountain) रख दिया गया है।

४१. ओरेगन (Oregon)—इस राज्य में हिंगुल सर्वत्र पाया जाता है किन्तु पारद के निकालने की खानें थोड़ी सी हैं। जेक्सन जिले में गोल्ड हिल (सुमेरु) के उत्तर १२ मील दूरी पर हिंगुल अधिक मात्रा में पाया जाता है। यहाँ पर १०० से ३०० फुट चौड़ा क्षेत्र है जहाँ पर ग्रेनाइट रेणुपाषाण का सांयोगिक जमाव है। यहाँ के खनिज में हिंगुल, प्राकृतिक पारद, रौप्यमाक्षिक, सुवर्ण, यशद और कृष्ण हिंगुल सा एक भारी खनिज पाया जाता है। सर्वत्र उत्तम श्रेणी का खनिज मण्डूर की शकल का १ से २० इञ्च का मोटा और वृक्ष की आकृति में पाया जाता है। यहाँ पारद निकालने का व्यवसाय क्रमशः उन्नति कर रहा है। यहाँ की खान २७२ फुट गहरी और ६० फुट लम्बी इस समय है। यहाँ से १५०० टन खनिज से ४२३७५ पाउन्ड पारद निकाला गया।

लेन (Lane)—जिले में हिंगुल और प्राकृतिक पारद साथ २ पाये जाते हैं। रौप्यमाक्षिक और विमल भी हिंगुल के सहयोगी खनिज हैं। यहाँ का मुख्य खन्दाक (Stapa) १९० फुट लम्बा और १९ फुट चौड़ा है जिसकी गहराई लगभग ४०० फुट के नीचे चली गई है। इसके अन्दर का खनिज १५०००० टन कूता गया था। यहाँ की खान पारद निकालने की मुख्य खान समझी जाती थी किन्तु १९१९ में बन्द करदी गई। सन् १९१६ से १९२० तक १८५२ फ्लास्क पारद की निकासी ओरेगन राज्य से हुई।

टेक्सास (Texas) राज्य की सारी पारद की निकासी ब्रिवस्टर जिले (Brewester County) से हुई। इस स्थान की खोज १८९४ में हुई और १८९९ से १९१९ तक ८९६७० फ्लास्क पारद निकाला गया। यहाँ का पारद प्राप्ति का क्षेत्र १५ मील लम्बा और २ मील चौड़ा है। यहाँ की सब से अधिक गहराई १९०६ में ३०० फुट थी किन्तु चर्नड्रिल (Churndrill) से ४४७ फुट की गहराई पर भी हिंगुल के चिह्न प्राप्त हुए। यहाँ पर पारद के अनेक खनिज पाये जाते हैं। किसी किसी कन्दरा में ओक्सीक्लोराइड, टर्लिङ्गवाइट, ईग्लस्टो-नाइट, मेट्रोडाइट, प्राकृतिक पारद और अल्प मात्रा में केलोमल (रसपुष्प) हिङ्गुल के साथ २ पाये जाते हैं। टेक्सास के टेर्लिंगुआ (Terlingua) जिले में केलिफोर्निया की अपेक्षा अधिक उत्तम श्रेणी का हिङ्गुल प्राप्त होता रहा है। यहाँ की खान २५०० फुट लम्बी और ७५० फुट गहरी है। यहाँ पर चूने के कंकड़ के साथ २ हिंगुल, प्राकृतिक पारद, खालिस गन्धक, रौप्यमाक्षिक और विमल अन्य खनिजों के सहयोग में पाये जाते हैं। १८९९ से १९२० तक टेक्सास से ९३२७१ फ्लास्क पारद की

निकासी की गई। सब से अधिक माल १६१७ में १०७६१ फ़्लास्क पारद निकाला गया। बाद में काम शिथिल पड़ गया तथापि सन् १६२१ में केलिफोर्निया की अपेक्षा टेक्सास में पारद अधिक निकाला गया। उसकी मात्रा ३१८४ फ्लास्क थी।

४२. उटाह (Utah)—यहाँ पर मृत्तिका जातिके हिंगुल से बहुत मात्रा में पारद निकालने का अध्यवसाय होता रहा। यहाँ पर सोने की खान में से ही पारद के खनिजों के निकास का पता लगा। इस खान में टिमानाइट (Tiemannit Hgsse) और ओनाफ्राइट (Onofrite Hgsse) नामक पारदीय खनिजों से भी थोड़ा पारद निकाला गया। १६०५ में १११३ फ़्लास्क पारद निकाला गया था।

४३. वाशिङ्गटन (Washington)—यहाँ के प्रान्तों में भी पारद की पर्याप्त निकासी हुई है, तथापि १६१२ के उपरान्त पारद के भाव गिर जाने से और निकासी का खर्च बढ़ जाने से इसका व्यवसाय मन्द पड़ गया है। स्पेन की सरकार अपने यहाँ पारद की निकासी अधिक बढ़ाने के लिये नवीन आविष्कारों का बाहुल्य से उपयोग कर रही है, ऐसी दशा में अमेरिका के संयुक्त राज्य के पारद व्यवसाय को अवश्य हानि पहुँचेगी। यहाँ पर १०% फीसदी वर्तमान में पारद निकासी पर कर लगता है। सन् १६१४ से १६२१ तक नीचे लिखी सारणी के अनुसार संयुक्त राज्य में पारद निकाला गया है। यह मान ७५ पाउण्ड फ्लास्क का है।

सन्	केलिफोर्निया	टेक्सास	निवादा	ओरेगन	एरिजोना इडाहो, वाशिंगटन	टोटल	फ्लास्क
१६१४	११३०३	३१५६	२०८६	—	—	१६५४८	,,
१६१५	१४२८३	४४२३(अ)	२३२७	(क)	—	२१०३३	,,
१६१६	२१०४५	६३०६(ब)	२१६८	३७८	५ (ख)	२६६३२	,,
१६१७	२३६३८	१०७६१	६६७	३१३	१२०(ग)	३६१५६	,,
१६१८	२२६६४	८४५१	१०४४	७०२	२२(घ)	३२८८३	,,
१६१६	१५२०५	५०१६	७५६	४३५	—	२१४१५	,,
१६२०	६८४६	३४३६	८३	२४	—	१३३६२	,,
१६२१	३०५५	३१२३	१००	—	१(घ)	६३३६	,,

(अ) इसमें ऐरिजोना की निकासी भी सम्मिलित है।

(ब) इसमें भी ऐरिजोना और ओरेगन की निकासी मिली हुई है।

(क) टेक्सास के साथ निकासी दी गई है।

(ख) केवल ऐरिजोना की उत्पत्ति है।

(ग) ऐरिजोना ४०, वाशिंगटन ७५ और इडाहो ५ फ्लास्क है।

(घ) केवल इडाहो की निकासी है।

४४. दक्षिण अमेरिका (South America)—ब्राजिल (Brazil) यहाँ पारद के खनिज पेट्रोलिये वाले शिलाजतु की भूमि में छोटे-छोटे कणों के रूप में बिखरा पाया जाता है या सुवर्ण युक्त स्फटिक के साथ हिंगुल युक्त पाया जाता है।

४५. चिली (Chile)—इस देश में हिंगुल रेड पाउडर (Red Powder Oxide) गिरि सिन्दूर प्राकृतिक पारद टिट्रेहाईड्रेड (Tetrahedrite) आदि पारद के खनिज पाये जाते हैं। इनके सहयोग में रौप्यमाक्षिक, सुवर्णमाक्षिक, गैरिक, कठिन स्फटिक आदि मिले रहते हैं। इसी जिले में प्राकृतिक पारद रजत-मिश्रक चिरकाल से पारद निकालने के लिये ज्ञात रहा है। इसके आसपास के स्थानों में हिंगुल पाया जाता है।

४६. कोलम्बिया (Columbia)—इस देश में हिंगुल सूक्ष्म चूर्ण के रूप में इधर-उधर फैला हुआ पाया जाता है। रौप्यमाक्षिक और हिंगुल के साथ साथ प्राकृतिक पारद भी मिला पाया जाता है। सुवर्ण और रजत के प्राकृतिक पारदीय मिश्रक भी यहाँ पर प्राप्त होते हैं। यहाँ के खनिज हलकी जाति के होने के कारण पारद निकालने का व्यवसाय चिरकाल तक नहीं चल सकता।

४७. डच गायना (Dutch Guiana)—इस देश में ६ मील के फैलाव में हिंगुल का विस्तार मालूम हुआ और परीक्षा के लिये जो कूप खोदा गया उसमें २० फुट की गहराई पर उत्तम श्रेणी का खनिज प्राप्त हुआ। इसके उपरान्त यहाँ का विशेष विवरण प्रकाशित नहीं हुआ, न व्यापार के लिये यहाँ कोई अध्यवसाय ही किया गया।

४८. यूकोडर (Equador)—यहाँ पर पारद निकालने का व्यवसाय बहुत प्राचीन काल से चलता है। आजकल खान में खनिज शेष नहीं है तथापि आसपास की भूमि में प्राकृतिक पारद पाया जाता है। कहीं २ पर हिंगुल भी मिला है।

४९. पेरु (Peru)—पेरु के आदिम निवासी लोग हिंगुल को रंगसाजी में व्यवहार करते थे, ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है। यहाँ पर पारद खनिजों का बहुत बड़ा व्यापार रहा है। सन् १५६६ से १५७० के लगभग स्पेन राज्य ने २५०००० ड्यूकेट्स (लगभग ११७००० पाउण्ड) देकर यहाँ की पारद की खान खरीद ली थी। यह खान २२० फुट लम्बी, १११ फुट चौड़ी और ४४५ फुट गहरी थी। बाद में निरन्तर कार्य होते रहने से यहाँ की गहराई १४०४ फुट तक हो गई थी। इस खान का काम बे-सिलसिले रहा, पर खुदाई का काम खूब होता रहा। यहाँ पर एक स्थान की खुदाई मुरब्बा ४००० गज और उपरितल पर गहराई १०० से २०० फुट की है। सन् १५०१ से १६०३ तक इस खान से माल इस प्रकार निकाला गया—

समय	टोटल पारद की उत्पत्ति	वार्षिक उत्पत्ति किन्टलस में सेंद्रिकरण	वार्षिक उत्पत्ति फ़्लास्क के हिसाब में
१५०१–१७८९	१०४०४६६	२१८	६४२४
१७९०–१८४३	६५७६६	५५	१६३०
१८४४–१९०३	१००००	७०६	२२५

यहाँ पर की गहराई की नाप करने के लिये २१३ फुट गहरा कूप खोदने के लिये प्रयत्न किया गया किन्तु वह १९७ फुट पर जाकर विफल हुआ, तब अन्यत्र प्रयत्न किया गया वहाँ पर ९८५ फुट गहराई तक पहुँच कर फिर पूर्व खनित भूमि के अन्तराल में पहुँचने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि यह खुदाई पूर्ण हो गई तो ३९३७ फुट की गहराई होगी, इस प्रयत्न के लिये भट्टियाँ (Furnaces) तय्यार हो गई हैं। इस खान के पास में उष्ण जल के कई स्रोत हैं।

५०. जुनिन (Junin)—इस विभाग के योलि (Youli) जिले में स्फटिक की शिराओं में और रेणु-पाषाणों में हिंगुल जमा हुआ पाया जाता है। हिंगुल के सहयोग में रौप्यमाक्षिक पाया जाता है। यहाँ पर हिंगुलप्राप्ति के स्थान के समीप उष्ण जल का स्रोत है और उसकी तह पर प्राकृतिक गन्धक पाया जाता है। इस जिले में एक अनकाचस (Ancaches) कहलाता है। वहाँ पृथ्वी की शिराओं में गेलेना, यशद, रौप्यमाक्षिक और सुवर्णमाक्षिक के साथ-साथ हिंगुल भी पाया जाता है।

५१. हुवानुको (Huanuco)—इस विभाग के चोन्टा (Chonta) ज़िले में तीन जमाव हैं जिसमें रौप्यमाक्षिक, यशद, गेलेना और सुवर्णमाक्षिक। हिंगुल, टेट्राहिड्रेट (Tetrahedrite) आदि रेणु-पाषाण और स्फटिक-पाषाणों के पाये जाते हैं।

५२. विनेज़ुए (Venexue)—सन् १९०४ में यह सूचना प्रकाशित हुई थी कि यहाँ उष्ण स्रोत के गन्धक के जमाव के साथ-साथ हिंगुल भी पाया जाता है। हिंगुल के साथ रौप्यमाक्षिक भी मिलता है।

ब्योरेवार विवरण का कारण

ऊपर के पारदीय खनिज के ब्योरेवार विवरण के लिखने का उद्देश्य यह है कि रसशास्त्रोक्त पारद गन्धक सम्बन्धी अनेक बातों पर विचार करने के लिये उपयुक्त सामग्री प्राप्त हो सके और साथ ही हमारे देश के भ्रमणशील वैद्य उपयुक्त उष्णस्रोतों के पूज्य धार्मिक कुण्डों व तीर्थों पर जाकर गन्धक व हिंगुल या तत्सम्बन्धी अनेक जानकारियां प्राप्त करने का प्रयत्न कर सकें। बद्रीनाथ की यात्रा में और बिहार आदि अन्य प्रान्तों में अनेक उष्ण स्रोत हैं और वहाँ पर धर्मार्थी प्रतिवर्ष तीर्थ करने जाते हैं। यदि उनका ध्यान इस ओर आकर्षित होने लगे तो सम्भव है अनेक प्रकार के अमूल्य खनिजों का पता लग जावे और भविष्य में विदेशियों का मुख न ताकना पड़े तथा हमारे रसशास्त्र की सामग्री एकत्रित करने की सुलभता हो सके।

इति पारदप्रकरणम्।

अथ हिंगुल प्रकरणम्

हिंगुल, हंसपादः (Cinnabar)(Hgs) **जपाकुसुमसंकाशः,** (Bright red Sulphide)

गुड़हर के पुष्प का सा लाल हिंगुल पारद निकालने का यही एक मुख्य खनिज है। इसका रंग तेज लाल होता है। यह पारद और गन्धक का यौगिक है। इसका रंग वैसा ही होता है जैसा जपाकुसुम का होता है। इसलिये "रेड सल्फाइड आफ मर्करी" खनिज ही रसशास्त्र का हंसपाद हिंगुल है। साधारणतया यह मृत्तिका के ढेले सा या दानेदार प्रकृति में प्राप्त होता है। कभी कभी इसके रवे (Crystals) भी पाये जाते हैं। चीनी मिट्टी की कसौटी पर घिसने से लाल लकीर खिंचती है। इसकी कठोरता हीरे की अपेक्षा २ से २·५ के लगभग होती है। हीरे की कठोरता दस मानी गई है। इसका विशिष्ट गुरुत्व जल की अपेक्षा ८ से ८·२ होता है। इसके दो भेद और हैं—

(१) यकृदाकार हिंगुल (Hepatic cinnabar)—यह मृत्तिका की जाति का है। सम्भवतः रसरत्नसमुच्चयोक्त यही दरद है।

"स रसो भूतले लीनस्तद्देशनिवासिनः।
तां मृदं पातनायंत्रे क्षिप्त्वा सूतं हरन्ति च ॥"

(२) प्रवालाभः कोरेलीन (Coralline)—इसका एक नाम है "कोरेलीन अर्टज" जिसका अर्थ है मूंगे की सी मृत्तिका। यह जर्मन भाषा का नाम है। सम्भवतः इसी के लिये

रसरत्नसमुच्चयकार ने "श्वेतरेखः प्रवालाभो हंसपादः स ईरितः" लिखा है। यह पूर्वोक्त हिंगुल का ही भेद है। उसका स्वरूप मूंगे का सा होता है। इसमें हिंगुल २% शिलाजत्वंश (Bitumen) ५% और स्फुरसुधांश (Phosphate of lime) ५६% रहते हैं। इस प्रकार का हिंगुल इटली देश में बहुतायत से पाया जाता है। यहाँ पर इसकी दो जातियाँ इसी खनिज के साथ और भी मिलती हैं जिनके नाम ये हैं—

1. Steel ore (Stahlerz) (स्टील ओर) दैत्येन्द्ररक्तः।
2. Brick ore (Ziegelerz) (ब्रिक ओर) गिरिसिन्दूर।

इस विषय के अंग्रेजी पाठ के शब्द भी विचारणीय हैं:—

There ore four recognized varieties of ore:—

(i) Steel ore (Stahlerz) the richest. It occurs in a compact and crypto-crystalline form. containing some bituman and carries 75% mercury.

(ii) Lever ore (Lebrez) or hepatic Cinnabar a bituminous earthy variety often forming the Kernels of Stahlerz:

(iii) Coralline ore (Korollenerz) a curved lameller variety of (2) It is usually found in grip, and appears as singular pertifications having the form of Cerals. It contains 2% Cinnabar 5% bitumen and 5% phosphate of Lime.

(iv) Brick-ore (Ziegeelrz) Sany, granularand of a brigh tred colour. It contains 68% mercury when pure and is mixed with dolomite, some quartz and native mercury, but.is free from bitumen, It always occurs at the margins of the deposit. Loc. Cit. 41-42.

हिंगुल परिचय

"रसगंधकसंभूतो हिंगुलः प्रोच्यते बुधैः।
तस्मात्सूतस्थयोर्ग्राह्यः सोऽपि शोध्यस्तु सूतवत् ॥" (रसकामधेनु)

इसका भावार्थ यह है कि रस और गन्धक के रासायनिक यौगिक (Sulphide of mercury) को हिंगुल कहते हैं। इस लिये हिंगुल से पारद निकाल कर उसे खनिज पारद की तरह शुद्ध करें।

देश और रंगादि भेद से हिंगुल के अनेक नाम।

हिंगुलं, म्लेच्छं, इंगुलं, चर्मारवर्धनं, चूर्णपारदं, दरदं, कुरुविन्दं, चीनपिष्टं, लघुकन्दरसं, चर्मारगंधिका, रत्नरागकारी, हंसपादः, चर्मारः, सुपीतकः, शुकतुंडकः, इन हिंगुल के पर्यायवाची नामों को देखने से स्पष्ट विदित होता है कि पारद हिंगुल और तत्सम्बन्धी अन्य खनिजों को भारतेतर देशों से व्यापारी लोग यहाँ लाया करते थे। जहाँ से आया और जिस तरह के कार्य में उपयुक्त हुआ या पात्र आदि में रखा गया उसी को स्मरण करने के लिये वैसे ही नाम रख दिये गये। उदाहरण के लिये म्लेच्छ शब्द को देखिये। यह शब्द पौराणिक और वैज्ञानिक काल में यवनों के लिये व्यवहृत हुआ है। यहाँ यवन (ग्रीक) लोग बहुत आया-जाया करते थे और यहाँ का कलाकौशल सीख जाते थे, तथा जो विशेष उन्नति करते थे उसी की परीक्षा यहाँ देकर यहाँ के निवासियों के श्रद्धाभाजन बनते थे। इसी बात का द्योतक एक श्लोक वाराहमिहिराचार्य विरचित "पञ्चसिद्धान्तिका" नामक ग्रन्थ में पाया जाता है। इस ग्रन्थ को प्रसिद्ध डाक्टर थीबो और सुधाकर जी द्विवेदी ने संपादित किया है—

"म्लेच्छा हि यवनास्तेषु, सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविज्जनः ॥"

म्लेच्छ शब्द का प्रयोग भारत पर आक्रमण करने वाली जातियों के विषय में भी प्रयुक्त हुआ है। युगपुराण नामक ग्रन्थ गार्गी संहिता में लिखा है:—

"ततः साकेतमाक्रम्य, पञ्चालान् मथुरान्तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्यन्ति कुसुमध्वजम् ॥"

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि भारत के अतिरिक्त देश निवासी लोग प्रायः म्लेच्छ (यवन) कहलाते थे। पारद और उसके अन्य खनिज भारतेतर देशों से आया करते थे। इस लिये हिंगुल के लिये म्लेच्छ शब्द का प्रयोग हुआ।

इसी प्रकार चीन से चूर्ण रूप में हिंगुल आता था। अतः 'चीनपिष्टं' शब्द रख दिया। उस ज़माने में व्यापारी चमड़े के थैले में भर कर हिंगुल लाया करते थे; इस लिये "चर्मारगन्धिका" नाम रख दिया। काँच के पीछे हिंगुल की कलई की जाती है। जिससे उसमें प्रतिबिम्ब दीख सके, इस कार्य को बतलाने के लिये 'रत्नरागकारी' पर्याय बना दिया। चीन में अब तक हिंगुल को पीस कर ही व्यापार में लगाते हैं।

(मोनोग्राफ़ ओन मर्करी ओर्स पृष्ठ ५६) 'दरद' शब्द स्थानवाची है। सर पी. सी. राय महोदय ने अपने प्रसिद्ध 'हिस्टरी आफ हिन्दू केमिस्ट्री' नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ७८, प्रथम भाग में लिखा है कि हिंगुल काश्मीर के समीप वाले दरदि स्थान से आता था इस लिये इसको दरद कहते थे। किन्तु 'सर्वे आफ इण्डिया'

की रिपोर्ट में इस स्थान में हिंगुल होने का कोई जिक्र नहीं है। मेरी राय में यह स्थान अरबसागर और फारस की खाड़ी में है जिसको दोरदुर कहते हैं। यह दो पहाड़ियों के बीच का तंग समुद्री मार्ग है। सम्भवतः इसी मार्ग से यवन लोग भारत में हिंगुल लाया करते थे इस लिये संस्कृत में दोरदुर को शुद्ध बनाकर "दरदः" कर दिया गया हो। इस स्थान का वर्णन "सुलेमान सौदागर" नामक पुस्तिका (काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित) में देखें। मुसलमान सौदागर पारद और हिंगुल की खोज में फिरते थे और उसका ज्ञान रखते थे। इसका वर्णन बाल नामक विद्वान् ने किया है कि एंडमन आइलैण्ड (Andaman Islands) में भी पारद मिलता है। उसका मुसलमान सौदागरों ने जिक्र किया है। बिब्लियोग्राफी (Bibliography) के पृष्ठ ३६३ पर इस प्रकार लिखा है:—

Ball quotes a statement made by Mohammaden travellers in the ninth century, to the effect that a party of sailors, having landed on an island supposed to de one of the Andamans, and having lit a fire, saw a metal resembling Molten Silver run from the heated rock. They are said to have brought away a quantity of the ore, but were compelled by storm to throw it overboard; and the locality though carefully sought for, was never again identified.

Another account by Hamilton (744 vol. II 66; quoted by Mouat 1263-3-12) states that a slave from the little Andaman, who had been permitted to revisit his country, bought away a qrantity of quick-silver which he reported to be abundant.

Ball appears to consider it possible that Cinnabar may occur in connection with the intrusions of serpentine known to exist in the islands (B. 171).

यवन लोग यहाँ से ज्ञान-भण्डार लेकर अनेक बार लाभ उठा चुके हैं। चरक, सुश्रुत आदि का अनुवाद कर चिकित्सानैपुण्य भी प्राप्त किया है। रसकर्मकौशल भी भारत से ही प्राप्त किया। एवं उसके उपयोगी द्रव्य लाकर व्यापार से भी यथेष्ट लाभ उठाते रहे हैं। सर पी. सी. राय ने अपने ऐतिहासिक ग्रन्थ में भली प्रकार इस बात का विस्तृत वर्णन किया है।

कृष्ण वर्ण के हिंगुल को 'चर्मारः' पीले रंग वाले को 'सुपीतकः' और लाल रंगवालेको 'हंसपादः, शुकतुण्डकः' नाम दिये गये हैं। उक्त नव्य मत में सब प्रकार के प्राप्य पारदीय खनिजों का वृत्त दिया जा चुका है। आजकल मुख्य खनिज रक्त हिंगुल का ही वर्णन यत्र तत्र आधुनिक ग्रन्थोंमें पाया जाता है और वह भी दुर्लभ हो गया है। इस लिए खनिज और कृत्रिम का भेद समझना कठिन हो गया है। पर हर्ष है कि अब पूर्वाचार्यों के मतों का फिर से गवेषणा पूर्वक विचार होने लगा है।

अनेक प्राप्य रसग्रन्थों के अनुशीलन से और अर्वाचीन खनिज शास्त्रों के उहापोह से यह विदित होता है कि प्राचीन काल में खनिज हिंगुल ही व्यावहार होता था। पारद और उसके खनिज अरब, चीन, जापान आदि देशों के व्यापारी स्थल या जल मार्ग से लाकर यहाँपर बेचा करते थे। किन्तु म्लेच्छों के आक्रमण काल में बाह्य व्यापार अधिकांश में बन्द-सा हो गया एवं देश के अन्दर ही रासायनिक विधि से हिंगुल बना कर चिकित्साव्यापार तथा रंग आदि का व्यवहार चलाया जाने लगा। स्त्रियां हिंगुल की बिंदु लगाना सौभाग्य का चिह्न समझती हैं। आजकल भी इङ्गुर (इङ्गुल) के नाम से इस प्रान्त में इसका व्यवहार होता है। इसे साधारणतया सिन्दूर (गिरिसिन्दूर) भी कहते थे। यह गिरिसिन्दूर (मर्करी ऑक्साइड) का ही नाम है।

किन्तु खेद है कि आज कल गिरिसिन्दूर शब्द नागसिन्दूर (लेड पेरॉक्साइड) के लिए व्यवहृत होने लग गया है, और जहाँ-जहाँ सिन्दूर का व्यवहार होता है वहाँ पर यही काम में लाया जाता है किन्तु यह भ्रमात्मक है। जिन-जिन योगों में इसका व्यवहार होता है वहाँ पर पूर्ण ऊहापोह के अनन्तर ही गिरिसिन्दूर या नागसिन्दूर डालने की व्यवस्था होनी चाहिये।

आजकल रक्तवर्ण का 'लेड पेरॉक्साइड' (नागसिन्दूर) वार्निश के काम में बहुतायत से आता है।

कृत्रिम हिंगुल बनाने का प्रचार 'रसरत्नसमुच्चय' के संग्रह काल के अनन्तर हुआ है। क्योंकि उसमें तथा उसके समकालीन अन्य संग्रह ग्रन्थों में इसके निर्माण का वर्णन नहीं है, न सर पी. सी. राय ने ही इसका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि कृत्रिम हिंगुल-निर्माण विधि भावमित्र के पश्चात् यहाँ पवित्र हुई है। 'भावप्रकाश' में रसकपूर निर्माण-विधि तो लिखी है किन्तु रासायनिक विधि से हिंगुल बनाने का कहीं उल्लेख मात्र भी नहीं है। अस्तु, आजकल सारे देश में कृत्रिम हिंगुल का ही प्रचार हो रहा है। अल्पसंख्यक विज्ञ वैद्योंके अतिरिक्त वैद्यसमुदाय यह भी नहीं जानता कि हिंगुल कहां से आता है और वह कृत्रिम है या खनिज।

बाजार में आजकल दो प्रकार का कृत्रिम हिंगुल विक्रयार्थ आ रहा है। एक तो 'कण' और दूसरे को 'समी' कहते हैं। समी,

सूरत (गुजरात) में बनता है। सूरत में इसके बड़े कारखाने हैं। प्राचीन रीति से रसकर्पूर को बनाने वाले व्यापारी इसे भी बनाते हैं। दूसरा कठा बङ्गाली कहलाता है। सुना जाता है कि मुर्शिदाबाद (बङ्गाल) में इसके कारखाने हैं। किन्तु सब से अधिक अमेरिका इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों से आकर बिकता है। सूरत के वैद्य कहते हैं कि यहाँ के व्यापारी विलायती ढङ्ग से गन्धक के तेजाब के योग से हिंगुल बनाकर बड़ा लाभ उठा रहे हैं। वहाँ के हिंगुल के एक व्यापारी ने भी स्वीकार किया है कि गन्धक के तेजाब से बनाने से आंच कम देनी पड़ती है। और माल शीघ्र तैय्यार हो जाता है। किन्तु गुण में प्राचीन ढङ्ग से बना हुआ ही अच्छा होता है। सूरत आदि के वैद्य पहिले इसे बनवाया करते थे। वहाँ वाले अब भी इसको बनाने को राज़ी हैं।

हिंगुल निर्माण की भारतीय विधिः—

"अशुद्धं पारदं भागं चतुर्भागञ्च गन्धकम्।
उभौ क्षिप्त्वा लोहपात्रे क्षणं मृद्वग्निना पचेत् ॥
तस्मिन्मनःशिलाचूर्णं पारदाद्दशमांशकम्।
क्षिप्त्वा चाल्यमयोदर्व्या त्ववतार्य सुशीतलम् ॥
ततस्तु खण्डशः कृत्वा काचकूप्यां निरुध्य च।
वस्त्रमृत्तिकया सम्यक्काचकूपीं प्रलेपयेत् ॥
सर्वतोऽङ्गुलमानेन छायाशुष्कं तु कारयेत्।
बालुकायन्त्रगर्भे तु दिनं मृद्वग्निना पचेत् ॥
क्रमवृद्धाग्निना पश्चात्पचेद्दिवसपञ्चकम्।
सप्ताहात्तत्समुद्धृत्य हिंगुलं स्यान्मनोहरम् ॥" (रसकामधेनु)

भावार्थः—अशुद्ध पारद १ भाग, गन्धक ४ भाग, दोनों लोहे की कड़ाही में डाल कर थोड़ी देर तक मन्द आँच से पकावें, बाद में पारद की अपेक्षा दशमांश मनःशिला चूर्ण मिला कर लोहे की दर्वी (करछी) से हिला कर स्वांगशीतल होने पर उतार दें। यह कृष्ण वर्ण का एक ढेला सा बन जायगा। फिर इसके छोटे छोटे टुकड़े करके आतशी शीशी में भर दें और उस पर कपड़मिट्टी कर दें। कपड़मिट्टी की तह एक अंगुल मोटी चारों ओर से होनी चाहिए। उसे छाया में सुखा कर बालुकायन्त्र से, सिन्दूरविधि से, एक दिन मन्दाग्नि से पाक करें। बाद में वृद्धाग्नि क्रम से पांच दिन तक अग्नि दें। एक सप्ताह के बाद स्वांगशीतल होने पर आतशी शीशी सावधानी से तोड़ कर हिंगुल निकाल लें। पाश्चात्य ढंग से हिंगुल बनाने की विधि रसतरंगिणी में इस प्रकार लिखी हैः—

"वस्तुभागमितं गन्धं सूतं नेत्रयुगोन्मितम्।
मृदङ्गयन्त्रे संस्थाप्यं वारङ्गं भ्रामयेत्ततः ॥
तस्य सम्भ्रमणादेव श्लक्ष्णचूर्णं प्रजायते।
व्यावर्तनपिधानञ्च संभ्राम्य ह्यवतारयेत् ॥

चूर्णं धूसरवर्णाभं यन्त्रान्निष्कासयेत्ततः।
सुदृढायां ततः स्थाल्यां चूर्णमेतन्निधापयेत् ॥
रेखान्वितमुखी स्थाली बुधैरत्र प्रशस्यते।
व्यावर्तनमुखीमन्यां स्थालीं तस्यां निधापयेत् ॥
स्थालीं संभ्राम्य परितो यत्नतो रोधयेन्मुखम्।
ततः संस्थापयेच्चुल्यां वह्निं दद्याच्छनैः शनैः ॥
अधःस्थालीकण्ठसंस्थं हिंगुलं तु समाहरेत्।
ऊर्ध्वस्थालीतलस्थञ्च पुनः पक्त्वा समाहरेत् ॥

हिंगुल से पारदाकृष्टि की विधि

बनावटी हिंगुल से अथवा खनिज हिंगुल से विद्याधरयन्त्र और डमरुयन्त्र से निकाला हुआ पारद बिल्कुल शुद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त और भी दो तीन विधियाँ व्यवहार में हैं किन्तु डमरुयंत्र के अतिरिक्त कोई विधि विश्वसनीय नहीं है।

आजकल जहाँ पारद की बड़ी २ खानें हैं वहाँ पर पारद प्रायः खनिज हिंगुल से निकाला जाता है। जो खनिज पारद निकालने के लिए लिया जाता है उसमें सामान्यतया ½ से १ फीसदी तक पारद की मात्रा रहती है। शेष अन्य द्रव्य मिले रहते हैं। पारद उड़नशील है इस लिए पारद की वाष्प को एकत्रित करने के लिए सन्धि रहित शीतल रहने योग्य बहुत ही उत्तम यंत्र की आवश्यकता है। साथ ही मन्द आँच देने वाली भट्ठी भी होनी चाहिए, अन्यथा पारद न्यून प्राप्त होता है। साधारणतया व्यापार के लिये बाजारू पारा नीचे लिखे अनुसार निकाला जाता है।

१. खुले हवादार स्थान में चीनी की कलई के बर्तन में हिंगुल रख कर मन्द मन्द आँच देते हैं जिससे गंधक उड़ जाता है और पारद नीचे रह जाता है।

२. इसी प्रकार हिंगुल को चूने के साथ मिला कर गरम करते हैं जिससे गंधक चूने के साथ मिल कर एक रासायनिक यौगिक में परिणत हो जाता है और पारद पृथक् हो जाता है।

३. पारद निकालने के लिए हिंगुल को लोहचूर्ण के साथ मिला कर गरम करते हैं जिससे लोहगन्धक का एक रासायनिक योग बन कर अलग हो जाता है और पारद पृथक् हो जाता है।

इस प्रकार से निकाला हुआ पारद विशेष कार्य के लिए फिर उड़ा कर वेकूम (Vacuum शून्य) विधि से यह डमरुयन्त्र से शुद्ध करते हैं। मर्क कम्पनी का पारद जो रसायनशाला के लिए आता है वह दो बार उड़ाया हुआ होता है। आयुर्वेद के रसशास्त्रियों ने ऊर्ध्वपातन, अधःपातन और तिर्यक्पातन विधि से पारद का विशेष शोधन करना लिखा है। यह विधि प्रकृति में स्वतन्त्र मिलने वाले खनिज-पारद (Native Mercury) के लिए समझना चाहिए। हिंगुल से

डमरुयन्त्र (पातनयन्त्र) के द्वारा निकाला हुआ पारद औषधियों में व्यवहार करने योग्य माना है, वस्तुतः रासायनिक विश्लेषण से भी यह पारद एकदम शुद्ध होता है अर्थात् केवल पारद होता है। उसके अन्दर अन्य कोई भी धातुजन्य अशुद्धि नहीं रहती। इसलिए लिखा है कि हिंगुलोत्थ पारद सप्तकञ्चुक रहित है। ये कञ्चुक अन्य धातुओं के संयोग से बनते हैं।

"दरदं पातने यन्त्रे पातयेत्सलिलाशये।
सत्वं सूतकसंकाशं जायते नात्र संशयः॥" (रसार्णव)
"तं सूतं योजयेद्योगे सप्तकञ्चुकवर्जितम्।
ज्वरादिहरणे सर्वरसेषु विनियोजयेत्॥" (रसदर्पण)

भावार्थः—हिंगुल को पातनयन्त्र में रख कर मन्द आँच से उड़ा कर जलाशय में एकत्रित करें। जो पारद इस प्रकार उड़ा कर संग्रह किया जायगा वह एकदम शुद्ध होगा। इस सप्तकञ्चुक वर्जित पारद को ज्वरादिरोगनाशक सब प्रकार के रसों में व्यवहार करें।

खनिज हिंगुल की उत्पत्ति

"प्रथमे रजसि स्नातां, हयारूढां स्वलंकृताम्······" आदि इसी रसरत्नसमुच्चय के अ० १ में वर्णित है।

इति हिंगुलप्रकरम्।

—:०:—

गन्धक विवरण

इस ग्रन्थ में गन्धकोत्पत्ति-विषयक वर्णन "पार्वती-ईश्वर-संवाद" रूप में लिखा गया है, वह वास्तव में आलंकारिक वर्णन है। इस बात का दिग्दर्शन गन्धक-प्रकरण में कराया गया है, अब इसका विस्तृत वर्णन करने का प्रयत्न किया जाता है। यहाँ पर स्त्री की उपमा प्रकृति को दी गई है। प्रकृति को स्त्री का स्वरूप मान कर कथा रसिक ढङ्ग से वर्णन की गई है "श्वेतद्वीपे पुरा" आदि छः पंक्तियों में श्वेतद्वीप (जिसको आधुनिक बहुत से विद्वान् सिसली भी मानते हैं) के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है जो अभी भी उसी प्रकार द्रष्टव्य है। इसके आगे "तत्र त्यक्ता तु तद्वस्त्रं सुस्नाता क्षीरसागरे" तक गन्धक का, प्रकृति की गोद से उष्णस्रोतों द्वारा निकल कर समुद्र-प्रवेश का, आलंकारिक वर्णन है। "क्षीराब्धिमथने चैतदमृतेन सहोत्थिता·····गन्धकाख्यो भवत्ययम्" इन पक्तियों द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि सर्वप्रथम गन्धक की प्राप्ति समुद्र के तल से ही हुई है और गन्धक की तीव्र गन्ध मनःप्रसादक होने के कारण उसका यथार्थ नामकरण-संस्कार "गन्धक" किया। इस सम्पूर्ण वर्णन का भावात्मक विवरण इस प्रकार किया जा सकता है:—

प्रकृति अपने हासविलास सहित पूर्ण यौवन से पूरी छटा पर थी। विशेषकर श्वेतद्वीप का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनमोहक और चित्तरंजक था। उष्णता के अधिक बढ़ जाने से पृथ्वी का तापक्रम बढ़ गया और उसमें क्षोभ उत्पन्न होकर श्वेतद्वीप की भूमि फट पड़ी। उसमें से पिघला हुआ गन्धक लाल वर्ण का बह निकला और वह बह कर शनैः शनैः समुद्र में जा मिला। और उसमें जम जम कर एकत्रित होता रहा। अधिक एकत्रित होने पर उसकी गन्ध फैली जिसको सूंघ कर अन्वेषकों ने उसका पता लगाया। इसी तीव्र गन्ध के कारण इसका नाम गन्धक रख दिया। बाद में प्रयोग करके पारद के बन्धन, जारण आदि में उपयोग प्रारम्भ किया तथा नवीन-नवीन आविष्कार और उपयोग निकाले गये। इस तत्त्व का ज्ञान सांसारिक प्राणियों को कब से है, इस विषय में ऐतिहासिक वृत्त मौन हैं। (सम्भव है इसके ज्ञान का श्रेय गोरी जाति के नहीं जानने के कारण इतिहास को भी मौन रहना पड़ा हो!)

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने इसकी ज्वलन शक्ति के कारण इसका नाम सल्फर Sulphur (Sul = Sal = Salt + Fur = Fire = Saltfire) अर्थात् ज्वलनशील लवण रखा।

गन्धकोत्पत्ति सिद्धान्त

१. गन्धक, हाइड्रोजन गैस और गन्धक का यौगिक (Hydrogen-Sulphide) के रूप में जल मिश्रित होकर अनेक स्रोतों द्वारा समुद्र में मिल जाता है अथवा समुद्र के भीतर ही अनेक प्राकृतिक तथा रासायनिक क्रियाओं एवं परिवर्तनों द्वारा उत्पन्न होता रहता है। साधारणतया सूक्ष्म गन्धकोत्पादक जीवाणुओं की प्रतिक्रिया से "हाइड्रोजन सल्फाइड" (Hydrogen-Sulphide) का "हाइड्रोजन" (Hydrogen) वायु के ऑक्सीज़न (Oxygen) के साथ मिलकर जल ($H_{2}O$) बनाता है और गन्धक पृथक् होकर समुद्रतल में बारीक चूर्ण के स्तरों में जमता रहता है।

२. प्रकृति में गन्धक चूने के साथ मिल कर "केल्शियं सल्फेट" (Calcium Sulphate चूने गन्धक का यौगिक गोदन्ती) बन जाता है। यह केल्शियं सल्फेट पानी में घुल कर स्रोतों द्वारा किसी स्थिर जलाशय में जाकर जमा हो जाता है और उस जलाशय का जल शुष्क होने पर वही तल शिष्ट के रूप में बैठ जाता है। इस तल शिष्ट के ऊपर अनेक जलीय वा सड़ी हुई वनस्पतियों की या जीवाणु-सम्बन्धी प्रतिक्रिया होने से केल्शियं-सल्फाइड रह जाता है। इस पर शनैः शनैः वायु के कार्बनडाई-ऑक्साइड गैस का प्रभाव पड़ता है जिससे "केल्शियंसेल्फाइड" से "केल्शियं-कार्बोनेट" (चूने का पत्थर) बन जाता है और गन्धक पृथक् हो जाता है। इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले गन्धक का उत्तम प्राप्ति स्थान सिसली (Sicily) है। संसार के गन्धक की अधिकांश माँग यहीं से पूर्ण की जाती है।

गन्धक-उपलब्धि

प्राचीन रसविशारदों ने गन्धक के रासायनिक परिवर्तन और

गुणों का वर्णन भली प्रकार किया है तथा उसका औषध रूप में उपयोग लिख कर अत्यन्त श्रेयस्कर कार्य किया है। किन्तु सर्वप्रथम किस महापुरुष ने इसका अध्ययन किया यह अन्वेषण के गर्भ में है। योरोप में सर्वप्रथम मिस्चरलिच (Mitscherlich) नामक विद्वान् ने सर्वप्रथम गन्धक की अनेक प्रकार की परिवर्तित रासायनिक दशाओं का ज्ञान प्राप्त करने का सफल प्रयत्न किया था। गन्धक प्रकृति में स्वतन्त्ररूपेण प्राप्तव्य थोड़े से मूलतत्वों में से है। यह प्रशान्त वा प्रज्वलित ज्वालामुखी प्रदेशों में स्वतन्त्र दशा में आधिक्य से पाया जाता है। इटली (Italy), सिसली (Sicily), आइसलेन्ड (Iceland) आदि यूरोपीय देशों में अधिक मात्रा में प्राप्त होता है। असाधारणतया अन्य खनिजों के साथ में भी यह यौगिकरूपेण पाया जाता है। कहीं कहीं हाइड्रोजन गेस (Hydrogen gass) के साथ "सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन" (Sulphurated Hydrogen) के रूप में उष्ण स्रोतों में प्राप्त होता है ऐसे स्रोत बद्रीनाथ के मार्ग में प्रायः द्रष्टव्य हैं। भारतवर्ष के अन्य बिहार, बंगाल, आसाम, मद्रास आदि प्रान्तीय तीर्थस्थानों में प्रायः ऐसे उष्ण स्रोत मिलते हैं। इन स्रोतों में से गन्धक की तीव्र गन्ध आया करती है। यौगिक गन्धक "सल्फाइड" (Sulphide) के रूप में निम्नलिखित अनेक खनिजों के साथ मिला करता है :—

(१) रौप्यमाक्षिक (Iron pyrites) लोहमाक्षिक।
(२) सुवर्णमाक्षिक (Copper pyrites) ताम्रमाक्षिक।
(३) कांस्यमाक्षिक (Arsen pyrites) तालमाक्षिक।
(४) कान्तमाक्षिक (Pyrrhotite) चुम्बकीयलोहमाक्षिक।
(५) विमल (Marcasite pyritous) लोहमाक्षिक (विशिष्टरूपयुक्त)
(६) गन्धनाग (Galena) नीलाञ्जन।
(७) गन्धयशद (Zinc blende) यशद का खनिज।
(८) गन्धवरनाग (Stibnite)।
(९) गन्धरजत (Argentite) रजतखनिज।
(१०) हिंगुल (Cinnabar) पारद का खनिज।
(११) गोदन्ती (Gypsum) गन्धक का खनिज।
(१२) बेरियं सल्फेट (Heavy Spar) वराइट।
(१३) बोनाईट (Bornite) पाषाणस्वरूप ताम्रमाक्षिक।

उपर्युक्त खनिजों की मात्रा किसी स्थान पर बहुत व्यापक और अधिक मात्रा में पायी जाती है। स्वतन्त्र तथा अन्य खनिजमिश्रित गन्धक प्रायः पृथ्वी के हरेक भाग से निकलता है।

निम्नलिखित वनस्पतिगणों में भी गन्धक पाया जाता है:—राईवर्ग, लहसुनवर्ग, गाजरवर्ग; इनके रस और बीजों के तैल में सल्फेट (Sulphate) और सल्फाइड (Sulphide) के रूप में गन्धक प्राप्त होता है। प्राणिवर्ग में भी यह रक्तादि धातुओं में अत्यल्प मात्रा में मिला रहता है। पित्त में २५ फीसदी गन्धक, गन्धकाम्ल (Sulphuric Acid) के रूप में विद्यमान रहता है।

प्रकृति में अनेक प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियाओं से गन्धक उत्पन्न होता है। माक्षिक के "ओषजनीकरण" (Oxydation) से भी गन्धक पृथक् होकर जहाँ माक्षिककण घुले रहते हैं, वहाँ के कोष्ठों में जमा पाया जाता है। जहाँ पर ज्वालामुखी की कन्दराओं से अनेक प्रकार की गन्धकीय गैसें ऊपर की ओर निकलती हैं वहां पर "सल्फरडाइ आक्साइड" (Sulphur dioxide) और "हाइड्रोजन सल्फाइट" (Hydrogen Sulphite) की प्रतिक्रिया से गन्धकाम्ल और गन्धक उत्पन्न होता है (H_2S हाइड्रोजन सल्फाइड $+ 2SO_2$ सल्फर डाई आक्साइड $= H_2SO_2$ गन्धकाम्ल और 2S गन्धक) कहीं कहीं सम्भवतः हाइड्रोजन सल्फाइड और आक्सीजन की अपूर्ण प्रतिक्रिया से गन्धक बनता है। ($2H_2SO$ हाइड्रोजन सल्फाइड $+ O_2$ आक्सीजन की प्रतिक्रिया से $2H_2O$ जल और 2S गन्धक) अथवा सल्फरडाई आक्साइड और जल की प्रतिक्रिया से गन्धकाम्ल और गन्धक पैदा होता है। ($3SO_2 + 2H_2O = 2H_2SO_4 + S$) इस प्रकार से उत्पन्न हुआ गन्धक का बड़ा जमाव 'अबासनोबेरीमाइन होकैडो जापान (Abosanoberi Mine, Hokkaido Japan) में गन्धक निकालने के लिये काम में लाया जा रहा है। यह जमाव पुराने सूखे ज्वालामुखी-सम्बन्धी मृत्तिकामय तालाबों के क्षेत्र के साथ पाया गया है। इस जमाव से बहुत बड़ी मात्रा में गन्धक निकाल कर युनाइटेड स्टेट को भेजा जाता है। इसी प्रकार के जमाव मेक्सिको (Mexico) आदि प्रदेशों में भी प्राप्त होते हैं। सब से अधिक गन्धक खुश्क या तर उष्ण स्रोतों के आसपास में पाया जाता है। ऐसे स्थानों में हाइड्रोजन सल्फाइड के अपूर्ण ओषजनीकरण से अथवा गन्धकोत्पादक जीवाणुओं की प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है। इस तरह से उत्पन्न हुए गन्धक के जमाव अमेरिका के पश्चिमी राज्यों में प्रायः मिलते हैं, यथा "कुपराइट" (Cuprite), इस्मेरेल्डा कौन्टी (Esmeralda County) नवाडा (Navada), सल्फरबेंक केलिफोर्निया (Sulpher Bank, California), रेबिट होल माइन्स हम्बोल्ट कौन्टी (Rabbit Hole Mine's Humboldt County), उटाह (Utoh), कौडी (Cody), थर्मो पोलिस (Thermopolis), व्योमिङ्ग (Wyoming) आदि। व्योमिङ्ग जिले में प्राप्त होने वाला गन्धक अल्पांश में चूने के साथ मिश्रित पाया जाता है। संसार में जितना भी नैसर्गिक गन्धक प्राप्त होता है वह सब उष्ण स्रोतों के उद्गम से ही नहीं निकलता अपितु सबसे अधिक निक्षिप्त स्तरों के जमाव (Sedimentary beds) में पाया जाता है और ऐसे जमावों का घनिष्ट सम्बन्ध गोदन्ती व सुधापाषाण (Lime

stone) के साथ रहता है इनके अतिरिक्त कालसाइट (Calcite) अरेगोनाइट (Aragonite) ओपल (Opal) और कभी कभी स्फटिक (Quastz) आदि के साथ गन्धक मिला हुआ प्राप्त होता है गैसिय और घन हाइड्रोकार्बन (Gaseous and Solid Hydrocarbons) के साथ में भी गन्धक का सहयोग देखा गया है। संसार के बड़े बड़े गोदन्ती के क्षेत्रों के साथ विशेषरूप से गन्धक का सम्बन्ध सदा और सर्वत्र पाया जाता है। गन्धक गोदन्ती और चूने के साथ शिरा, मृत्तिका, राल की शकल तथा रवों आदि के रूप में पाया जाता है।

गन्धकयुक्त खनिजों से गन्धक की निकृष्टि

गन्धक ११५°c., डिग्री के तापक्रम पर द्रवित होता है। द्रवित दशा में पार्थिव अशुद्धियों से बहा कर साधारणतया शुद्ध दशा में गन्धक अन्यत्र एकत्रित कर लिया जा सकता है। एतदर्थ अशुद्ध प्राकृतिक गन्धक को या उसके खनिजों को ईंट के भट्ठे में चुन देते हैं। इसी चुनाई को इस प्रकार किया जाता है कि जिसमें वायु का आवागमन आसानी से होता रहे। तथा स्थान कुछ ढलवा बनाया जाता है ताकि द्रवित हुआ गन्धक वह कर नीचे आ सके। इस प्रकार जमा कर गन्धक को जला दिया जाता है जो स्वयं थोड़ा सा जल कर दूसरे को पिघला देता है और द्रवित गन्धक बह कर बर्तनों में एकत्रित हो जाता है। गन्धक ४४०°c. डिग्री के तापक्रम पर उबलने लगता है। उस समय उसमें से भूरे लालवर्ण के वाष्प निकलने लगते हैं जो शीतलता पाकर पुनः जम कर एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रकार गन्धक को वाष्पीकरण क्रिया से उड़ा कर शीतल कर इसके पुष्प शुद्ध रूप में एकत्रित किये जा सकते हैं। इस प्रकार से शोधित गन्धक अत्यन्त निर्मल होता है। इसको "पुष्पित गन्धक" (Flower of sulphur) कहते हैं।

साधारण तापक्रम पर गन्धक हल्का सा पीला रहता है। ११५°c. डिग्री के तापक्रम पर यह पिघलने लगता है और उससे कुछ अधिक तापक्रम पर इसका हलका पीला पिच्छिल द्रव हो जाता है। तापांश ज्यों-ज्यों अधिक बढ़ता जायगा त्यों-त्यों गन्धक का द्रव अधिक पिच्छिल और वर्ण में कृष्णतायुक्त होता जायगा। २५०°c. डिग्री तापक्रम पर यह प्रायः सर्वांश में कठिन और कृष्णवर्ण का हो जाता है। २५०°c., डिग्री तापक्रम से अधिक तापक्रम बढ़ने पर यह कठिनता से फिर द्रवावस्था में परिणत होने लगता है और उसमें से भूरी सी लाल रंग की वाष्प निकलने लगती है, यदि इसको और अधिक उष्ण किया जाय तो ५००°c., डिग्री तापक्रम पर ६५०°c., डिग्री के लगभग पुनः प्रवाल के रंग का पीला हो जाता है। यदि गन्धक को ३५०°c., के तापक्रम पर उष्ण कर किसी शीतल जल के बर्तन में डाल दें तो उसमें रबड़ का सा लचीलापन आ जावेगा और यह हाथ से भली प्रकार दबाया जा सकता है। इसी गुण के कारण इसको (Plastic sulphur) नम्यगन्धक कहते हैं। रसविशारदों ने ऐसे गन्धक का नाम बलीवसा रखा है।

गोदन्ती से गन्धक की प्राप्ति

गन्धक प्राकृतिक दशा में गोदन्ती से पृथक् होकर ही पीत रूप धारण करता है। इस विश्लेषणात्मक उत्पत्ति का कारण एकजातीय गन्धकोत्पादक जीवाणु हैं। इन जीवाणुओं की रासायनिक प्रतिक्रियाओं से गोदन्ती का केल्शियं सल्फाइड (Calcium Sulphide) और 'हाइड्रोजन सल्फाइड' (Hydrogen Sulphide) में परिवर्तन होता है। इस प्रकार का परिवर्तन विवादास्पद है। तथापि यह निश्चित है कि यह परिवर्तन मन्द ताप पर होता है। जी, बिस्काफ़ (G. Bischof) नामक विद्वान् ने सर्वप्रथम इस विषय पर वाद किया और निम्नलिखित रासायनिक परिवर्तनों को स्थिर करने में समर्थ हुआ। इन परिवर्तनसूचक सूत्रों को यहाँ लिख देना उचित प्रतीत होता है।

$$Ca\,So_4 - 2H_2{}^o + 2C = Ca\ S + 2Co_2 + 2H_2{}^o$$

गोदन्ती जल कार्बन केल्शियं सल्फाइड कार्बन डाई आक्साइड जल

$$Ca\,S + C^o{}_2 + H_2{}^o = Ca\,Co_3 + H_2\,S$$

केल्शियं सल्फाइड कार्बनडाई आक्साइड जल केल्शियं कर्बोनेट सुधापाषाण हाइड्रोजन सल्फ़ाइड

$$2H_2S + {}^o{}_2 = 2H_2{}^o + 2S$$

हाइड्रोजन सल्फाइड आक्सीजन जल गन्धक

इस प्रकार के निर्णय के विपरीत विचार वालों का मत है कि गन्धक प्रायः हजारों फुट की गहराई पर उत्पन्न होता है। उक्त परिवर्तन के लिये इतना आक्सिजन वहाँ मिलना प्रायः असम्भव है। इस लिये उनकी राय है कि सम्भवतः हाइड्रोजन सल्फाइड, जो गोदन्ती से निकलता है, वह केल्शियं कार्बोनेट पर रासायनिक प्रतिक्रिया करता है जिससे पुनर्भव गोदन्ती सेकेन्डरी (Secondary) और गन्धक उत्पन्न होता है।

आ० वान० लासो (A. Von. Lasawl) नामक रसायनज्ञ का विचार है कि सिसली का गन्धकीय जमाव निर्मल तालाबों के जल में हाइड्रोजन सल्फाइड (Hydrogen Sulphide) मिश्रित जलस्रोतों के मिलने से हुआ है। जी. स्पेजिया (G. Spezia) नामक विद्वान् का भी अभिप्राय है कि गन्धकयुक्त उष्ण स्रोतों के जल मिश्रण से ही समुद्र की तली में गन्धक का जमाव हुआ है। ओ० स्टुजर (O. Stutzer) नामक भूगर्भशास्त्रज्ञ ने सिसली के निक्षिप्त स्तरवर्ती गन्धकीय जमाव के विषय में अभी हाल ही में यह विचार प्रकट किया है कि गन्धक किसी भी स्थिर जलाशय में हाइड्रोजन सल्फाइड के उत्पन्न होने से जमा हो सकता है।

हाइड्रोजन सल्फाइड गैस स्थिर जलाशयों में जीवाणुओं के सद्भाव के कारण अथवा विलीन केल्शियं सल्फेट पर कार्बन वटाइड्रोकार्बन की प्रतिक्रिया से पैदा होता है। इस प्रकार हाइड्रोजन सल्फाइड गैस के उत्पन्न होने पर वायवीय आक्सिजन के प्रभाव से या जीवाणुओं के कारण हाइड्रोजन सल्फाइड गैस का हाइड्रोजन ओक्सिजन के साथ मिलकर जल उत्पन्न करता है और गन्धक बारीक चूर्ण के रूप में नीचे तली में बैठ जाता है। इसी प्रकार की रासायनिक क्रिया से धीरे धीरे गन्धक का बड़ा निक्षिप्तस्तर जम जाता है।

इसी प्रकार जलीय वनस्पतियों के सद्भाव से अनेक जीवाणु सल्फेड से हाइड्रोजन सल्फाइड बनाते हैं। हाइड्रोजन सल्फाइड को गंधकीय जीवाणु (Sulphur Bactesia) ओक्सिजन युक्त करके अपने अपने कोष्ठों में बारीक बारीक गन्धक का चूर्ण जमा करते रहते हैं। इस प्रकार का हाइड्रोजन सल्फाइड का ओक्सिडेशन गन्धकीय जीवाणुओं की प्राणरक्षा करता है और इसी तरह की प्रतिक्रिया से जो गन्धकाम्ल पैदा होता है, वह कार्बोनेर की रासायनिक प्रतिक्रिया से सल्फेट के रूप में परिवर्तित हो जाता है और वह शोषित होकर जीवाणुओं की वृद्धि में सहायक होता है।

ये गन्धकीय जीवाणु गन्धक के स्रोत, समुद्र और तालाबों के कीचड़ में पाये जाते हैं जहाँ पर हाइड्रोजन सल्फाइड उत्पन्न होता रहता है। स्टुअर की यह भी सम्मति है कि कृष्ण सागर (Black Sea) के स्थिर जल में गहराई के साथ हाइड्रोजन सल्फाइड की मात्रा बढ़ती हुई मालूम होती है। इस स्टुअर के सिद्धान्त के साथ डब्ल्यू. एफ. हन्ट (W. F. Hunt) नामक विद्वान् भी सहमत है और उसने गन्धकीय जीवाणुओं का प्रभाव विस्तार के साथ लिखा है। तथापि इस प्रकार के निक्षिप्तस्तर से जमने वाले गन्धकविषयक सिद्धान्त निश्चित नहीं समझे जा सकते हैं क्योंकि गोदन्ती के जमाव से गन्धक का बनना इतना व्यापक है कि उसमें सन्देह नहीं किया जा सकता और ब्लैक-सी में गन्धक जमने का उपयुक्त साधन रहते भी समुद्र की गहराई के रुख खुदाई करने पर गन्धकप्राप्ति का चिन्ह दिखाई नहीं देता, इसी लिये स्टुअर के सिद्धान्त मनन करने योग्य होने पर भी अभी तक विद्वानों का इनमें सन्देह बना हुआ है।

मेडिटेरेनियन (Mediterranean) प्रदेशों में सर्वत्र व्यापक रूप से गोदन्ती के साथ गन्धक पाया जाता है। इस प्रकार के गन्धक का प्राप्ति-स्थान मुख्यतः सिसली (Sicily) है। सिसली से लाखों मन गन्धक निकाल कर वर्षों से संसार की अधिकांश मांग पूरी की जा रही है।

सिसली के निक्षिप्तस्तर से बनी चट्टानें कुछ सामुद्रिक और कुछ पार्थिव स्तरों से बनी हुई हैं। ये चट्टाने क्ले (Clay) से बनी हुई हैं, जिन पर डाइटोमोसेयस (Diatomoceous) और रेडियो-लेरियन (Radiolarian) जीवों के शेषांश का स्तर चढ़ा हुआ है। ऐसे भूभाग पर गन्धक उत्पन्न करने वाली गोदन्ती का विस्तृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र का चौरस फैलाव ८०० कीलो मीटर है। इस क्षेत्र की मोटाई ३०० फुट के लगभग है, जिसमें मुख्यतः गोदन्ती, चूने के पत्थर, नमक, मृत्तिका, रेणुपाषाण पाये जाते हैं। इस प्रकार के गन्धकोत्पादक क्षेत्र यहाँ पर तीन चार हैं। वहाँ पर भूरे नीलवर्ण के (Bluish grey) सुधापाषाण में गन्धक प्राप्त होता है।

सिसली के जमाव में ८ से २५ फीसदी गन्धक मिला पाया जाता है। टर्श्यरी (Tertiary) और क्रिटेशस् (Cretaceous) आयु के क्षेत्र में जो लूसियाना (Lousiana) व टेक्सास् (Texas) के समुद्र तक (Sea Coust) के नीचे हैं, गन्धक प्रचुर मात्रा में प्राप्य है। सन् १८६५ ई० में एक असाधारण गन्धकीय दीर्घ जमाव काल्केसीयु पेरिश (Calcasiew Parish) २३० माइल न्यू ओर्लियन्स (New Orleans) ल्यूसियाना में पाया गया था, जिसकी गहराई टर्श्यरी और क्रिटेशस् आयु की मृत्तिका, बालु, सुधापाषाण के नीचे ४४३ फुट की है। वहाँ पर कूप खोदने से विदित हुआ है कि १०० फुट की मोटी तह तो प्रायः शुद्ध गन्धक ही के जमाव की है और उसके नीचे बहुत बड़ा गन्धकोत्पादक गोदन्ती का जमाव है। यह भी विदित हुआ है कि यह जमाव गल्फ कोस्ट(Gulf Coast)की किसी एक लवण की बड़ी गुम्मज (Domes) के उपरिभाग मे हुआ है। इस प्रकार के गन्धकीय जमाव अन्यत्र गल्फ कोस्ट के किनारे किनारे अनेक स्थानों में पाये जाते हैं। टेक्सा की ब्राज़ोस् (Brazos) नदी के मुख के पास भी ऐसा ही गन्धकीय जमाव पाया गया है। यहाँ पर गन्धक का क्षेत्र ७५० फुट की नीचाई पर कंकर (Gravel), रेत (Sand) और मृत्तिका के नीचे पाया गया है। इसके भी १५० फुट नीचे गन्धकोत्पादक सुधापाषाण, गोदन्ती, डोलोमाइट (Dolomite) है, जिनमें १० से ५० प्रतिशत तक गन्धक मिलता है। ये क्षेत्र गोदन्ती, सुधापाषाण और बालुपाषाण से आच्छन्न रहते हैं।

अब तक सिसली की खान से वार्षिक ४,५०,००० मेट्रिक टन गंधक निकाल कर संसार की आवश्यकता पूर्ति होती रही है। किन्तु सन् १६०१ में फ्राश (frash) विधि का आविष्कार होने से व्यापारिक स्थिति का परिवर्तन हो गया और युनाइटेड स्टेट ने २,००,००० से ३,००,००० टन तक गन्धक की निकासी की, जिससे सिसली की प्रधानता नष्ट हो गई।

सन् १६१५ में सिसली से ३,६४,२६० मेट्रिक टन गन्धक निकाला गया था और उसी समय युनाइटेड स्टेट्स में से ४,००,००० टन गन्धक की निकासी की गई। आजकल गन्धक

की निकासी करने का अधिक कार्य युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका में होता है, तथापि संसार की गन्धकसम्बन्धी आवश्यकता उक्त दोनों देशों के सम्मिलित गन्धकीय व्यवसाय से पूरी हो रही है।

गन्धक निकालने के व्यवसाय में इस समय तक युनाइटेड स्टेट्स आफ अमेरिका की ल्युसियाना, टेक्सास, व्योमिङ्ग और नवाडा रियासतें प्रधान गिनी जाती हैं।

गन्धक की अनेकरूपता

शास्त्रकारों ने गन्धक चार प्रकार का माना है रक्त, पीत, श्वेत और कृष्ण। यथाः—

"स चापि त्रिविधो देवि शुकचञ्चु-निभो वरः।
मध्यमः पीतवर्णः स्याच्छुक्लवर्णोऽधमः प्रिये॥
चतुर्धा गन्धको ज्ञेयो वर्णैः श्वेतादिभिः खलु।" इत्यादि

नवीन वैज्ञानिक इसको तीन प्रकारों में विभक्त करते हैं जिनके विभिन्न रूपों में विशिष्ट प्रकार के वे लक्षण रहते हैं। यथाः—

१. स्फटिकाकार गन्धक (Crystalline Forms) पुनः इसके उपभेद इस प्रकार हैं :—

(क) अष्टफलकीय स्फटिकाकार (Octahedral)
(ख) त्रिपार्श्वीय „ „ (Prismatic)

२. अस्फटिकीय गंधक (Amorphous Forms) इसके उपभेद इस प्रकार हैं :—

(क) नम्य गन्धक (Peastic Sulphur)
(ख) श्वेत अस्फटिकीय (White Amorphous)
(ग) पीत अस्फटिकीय (Yellow Amorphous)

३. द्रवित अणुसामूहिक गन्धक (Colloidal Sulphur) इनकी विस्तृत व्याख्या इस प्रकार है :—

१. (क) अष्टफलकीय गन्धक (Octahedral Sulphur)—

यह प्रकृति में बहुतायत से नहीं प्राप्त होता है। कार्बन बाई-सल्फाइड (Carbon Bisulphide) के विलयन में गन्धक को घोल कर मन्द ताप द्वारा वाष्पीभवन करने पर अष्टफलकीय स्फटिकाकार गन्धक प्राप्त होता है। इसका विशिष्ट गुरुत्व (Specific grrvity) 2.045 हैं।

(ख) त्रिपार्श्वीय गन्धक (Prismatic Sulphur)—

यह सूक्ष्म कणों में प्राप्य है। इसका विशिष्ट गुरुत्व १०३३ है और इसका द्रवणांक (Melting Point) १२०°c है। यदि कुछ काल तक इसको साधारण तापक्रम पर रखा जाय तो यह अपने वर्तमान रूप को छोड़ कर स्थायी विषम कोणाकार (Rhombic) रूप धारण कर लेता है। यह भी कार्बन बाईसल्फाइड द्रव में घुल जाता है।

२. (क) नम्य गंधक (Plastic Sulphur)—

३५°c डिग्री तापक्रम पर पिघले हुए गन्धक को शीतल जल में ढालने से नम्य गन्धक प्राप्त होता है। यह गन्धक साधारण गन्धक के स्फटिकों की तरह टूटता नहीं अपितु नम जाया करता है। तथा रबड़ की भाँति स्थितिस्थापकता को प्राप्त हो जाता है। यह गन्धक कार्बन बाईसल्फाइड में विलयनशील नहीं है। इसका विशिष्ट गुरुत्व १०९५० है। पड़ा रहने देने पर यह शनैः शनैः कठोरता को प्राप्त होकर प्राकृतिक गन्धक की शकल में आ जाता है।

(ख) श्वेत अस्फटिकीय गंधक (White Amorphous Sulphur)—

इसका दूसरा नाम गन्धक का दूध (Milk of Sulphur) भी है। जब लवणाम्ल (Hydrochloric Acid) को पोलि-सल्फाइड (PolySulphide) के साथ मिलाया जाता है तब अत्यन्त सूक्ष्म अणवाकार श्वेत रंग का चूर्ण सा तल भाग में बैठ जाता है यही श्वेत गन्धक होता है। यह कार्बन बाईसल्फाइड में नहीं घुलता है।

(ग) पीत अस्फटिकीय गंधक (Yellow Amorphous Sulphur)—

गन्धक का वाष्पीकरण करके इन वाष्पों को लेकर शीतल करने से यह गन्धक प्राप्त होता है। यह गन्धक भी कार्बन बाई-सल्फाइड के घोल में अविलेप्य है।

३-द्रवित अणुसामूहिक गंधक(Colloidal Sulphur)—

इस गन्धक के साधारण विलयन और इस विलयन में भेद यह है कि इसके कारण विलयन दशा में भी साधारण विलयन की अपेक्षा अस्वच्छ होता है तथापि यह स्वयं तलछट के रूप में मटीले जल की तरह बैठ नहीं पाता है। इसके कण परमसूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Ultra Microscope) से ही द्रष्टव्य हैं। अन्य विलयन के कण इससे भी नहीं देखे जा सकते हैं।

यह घोल सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन (Sulphurated Hydrogen) और सल्फर डाइ ओक्साइड (Sulphur di oxide) के विलयनों के मिश्रण से तैय्यार होता है।

इस प्रकार गन्धक की अनेकरूपता होते हुए भी गन्धक का मूलस्वरूप सब में समान होता है जो इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है:—उपर्युक्त गन्धकीय स्वरूपों में से किसी एक को लेकर यदि खुले स्थान में वायु में जलावें तो जो परिवर्तन साधारण शुद्ध गन्धक के जलाने पर होंगे वही परिवर्तन इन गन्धकों के जलाने पर भी होंगे। अर्थात् सब एक ही सल्फर डाई आक्साइड (Sulphur di oxide) तैयार होंगे।

वास्तव में प्राकृतिक खनिज गन्धक पीतवर्ण ही होता है। शेष वर्ण सब उसके विकृत रूपान्तर मात्र हैं। कृष्ण और रक्त वर्ण

केवल ताप के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं।

शास्त्रोक्त रक्तवर्ण तथा कृष्णवर्ण गन्धक कभी देखे नहीं गये हैं। संभव है प्राचीन समय में यह प्राप्य हों अथवा रसायनशाला में विधि विशेष द्वारा बनाये जाते रहे हों।

गंधक और गंधकीय खनिजप्राप्तिके स्थान

अफ़गानिस्तान के हजारा जाट (Hazara Jat) नामक स्थान में प्राकृतिक गन्धक बहुतायत से प्राप्त होता है। पीतगन्धक के ढेले और शिरायें गोदन्ती के खण्डों के साथ दस्त-इ-सफ़ेद (Dast-i-safed) नामक स्थान के इतस्ततः मिलते हैं।

आसाम के लखीमपुर जिले के 'माकुम' (Makum) ग्राम में माक्षिक के खण्ड (Shales) भूगर्भज कोयले के साथ ऊपर आसाम में प्राप्त होते हैं। किन्तु इनकी मात्रा इतनी नहीं है, कि जिससे गन्धक निकाल कर व्यापारिक लाभ उठाया जा सके।

बलुचिस्तान (Baluchistan) के कोह-इ-सुलतान (Koh-i-sultan) नामक स्थान में प्रशान्त ज्वालामुखी के आसपास के परिवर्तित स्थानों में पीत गन्धक और गोदन्ती पाये जाते हैं। यहाँ के निवासी खनिज गंधक को नाँदों में भर कर गरम करते हैं। जब गंधक पिघल जाती है, तब उसे तसलों के ढाँचों में ढाल कर अन्य-अन्य पार्थिव अशुद्धियों से शुद्ध कर लिया करते हैं। बोलन पास के 'ड्राज बेण्ट' (Draj Bent) और गोकुर्थ (GoKurth) नामक स्थानों में भी मृत्तिकाकृति चूने के साथ गंधक प्राप्त है, किन्तु निकासी कठिन है।

कच्छी (Kachhi) जिला के सन्नी (Sanni) नामक स्थान में गन्धक की बड़ी खान रही है। सन् १८४६ ई० में हुटन (Huttan) नामक अंग्रेज ने इस स्थान को जाकर देखा था। उसका कथन है कि इस स्थान में गन्धक अष्टपार्श्वीय रवों और चूर्ण के रूप में बहुतायत से प्राप्त हो सकता है। अब भी यहाँ के निवासी खनिज गन्धक को निकाल कर 'सन्नी' के पूर्व में स्थित बाग (Bagh) नामक स्थान पर ले जाकर उसे तैल के साथ पिघला कर शुद्ध किया करते हैं। बाग नामक स्थान सन्नी से ४८ मील दूर है। यहाँ की खान की खुदाई का काम अफ़ग़ानिस्तान के अमीर की तरफ से होता रहा है, पर अब ब्रिटिश सरकार के आधिपत्य के कारण गन्धक की निकासी का कार्य बन्द कर दिया गया है। किसी कारणवश खान में आग लग जाने से खान का कुछ अंश जल भी गया है। सन् १९०६ ई० में इस खान को टिप्पर (Tippr) नामक अङ्गरेज देखने गया था। उसका लिखना है कि इस स्थान में गन्धक शिवालिक मृत्तिका के साथ शिराओं के रूपमें प्राप्त होता है। कुछ स्थान पर गन्धक इस प्रकार जमा हुआ है कि वह आसानी से जल सकता है। होलैण्ड (Holland) नामक विद्वान् की राय है कि यहाँ का गन्धकीय जमाव व्यापारिक लाभ उठाने के योग्य है।

लास बेला(Las Bela)जिले में कान बेरार(Kan Berar) नामक स्थान के इतस्ततः खारे स्रोतों के समीप गन्धक का जमाव देखा गया है। यहाँ के स्रोतों के समीप रेणुशिला की शिराओं में लवण और गन्धक की शिरायें द्रष्टव्य हैं, किन्तु परीक्षानन्तर विदित हुआ कि जमाव व्यापारोपयोगी नहीं है।

मेकरन तट (Mekran Coast) के जिले में करघारी (Karghari) के पास गोलकुर्ट (Golkurt) स्थान में गन्धक एकत्रित की जा सकती है।

सिबि (Sibi) जिले में 'खाटान' (Khattan) नामक स्थान के मिट्टी के तैल के कूप के पास वाले उष्ण स्रोतों के स्राव से रवेदार गन्धक का बहुत सा जमाव पाया जाता है।

बेरन आइलेण्ड (Barten Island) में भी गन्धक का जमाव पाया जाता है, किन्तु उसकी मोटाई २ या ३ इञ्च से अधिक नहीं है और कई दर्जन टन से अधिक गन्धक निकालने का अनुमान भी नहीं किया जाता है।

बिहार, उड़ीसा मयूरभंज रियासत के धल भूमि सीमाप्रांत के मालघाटी के पास में विशेषरूपेण रौप्यमाक्षिक (Iron pyrites) अनेक स्थानों में पाया जाता है। आजकल गन्धक निकालने का यह प्रधान खनिज समझा जाता है।

सिंध भूम जिले में सुवर्णमाक्षिक (Copper Pyrite) से ताम्र के साथ गन्धक बहुतायत से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ के ताम्र के खनिजों का व्यापार उसी दशा में लाभकारक हो सकता है, जब बड़े पैमानोंपर कार्य किया जाय।

बम्बई (Bombay) सिंध के गिज़री बन्दर (Ghizri Bunder) पर गन्धक के जमाव का पता लगाया है। यहाँ के खनिजों से ६० फीसदी गन्धक प्राप्त किया जा सकता है। किसी समय लाकि (Laki) नामक स्थान के स्रोतों के स्राव से जो गन्धक के जमाव 'जामा' (Scum) के रूप बनते थे, उनसे वहाँ के ग्राम्यजन गन्धक निकालने का अध्यवसाय करते थे। किंतु व्यापारिक लाभ के लिये यहाँ की गन्धक पर्याप्त नहीं समझी जाती।

बर्मा (Burma) सन् १८७३ में स्ट्रोवर (Strover) नामक विद्वान् ने लिखा है कि बर्मी राजाओं के राज्य काल में अपर बर्मा में अनेक स्थानों से २८००० विस (एक बर्मी तौल) गन्धक रौप्यमाक्षिक से उड़ा कर प्रतिवर्ष निकाला जाता रहा है। बर्मा में गन्धक के व्यवसाय का मुख्य केन्द्र जोन्स (Jones) के लेखानुसार 'मासुन' (Mowsun) नामक प्रांत के समीप रहा है।

दक्षिणी शान राज्यों (Southern Shan States) में भी गन्धक निकालने का व्यवसाय अब तक होता रहा है। शान

राज्यों की अनेक प्रकार की स्फटिकशिलाओं में रौप्यमाक्षिक पाया गया है। इस रौप्यमाक्षिक से गन्धक निकालने का कारोबार चल सकता है। यहाँ के रौप्यमाक्षिक में सुवर्ण, रजत आदि बहुमूल्य खनिज प्राप्त नहीं होते। ये स्थान इतने निकट हैं कि यहाँ पर रौप्यमाक्षिक से गंधकाम्ल बनाने का व्यवसाय लाभपूर्वक नहीं चलाया जा सकता है।

दक्षिण हैदराबाद (Deccan Hyderabad) के गुलवर्गा (Gulbarg) जिले में मुदानूर (Mudanur) नामक स्थान पर आधिक्य से रौप्यमाक्षिक प्राप्त होता है जिससे गन्धक निकालने का व्यवसाय किसी जमाने में होता रहा है।

काश्मीर (Kashmir) के बाल्टि स्थान (Baltistan) जिले में अनेक उष्ण स्रोतों से गंधक का जमाव होता है। रुपशु (Rupshu) जिले की पुगा घाटी (Puga Valley) के उष्णस्रोतसम्बन्धी गंधकीय जमाव से काश्मीर दरबार की तरफ से गंधक निकालने का कारोबार हुआ करता था। यहाँ शीत अधिक होने के कारण केवल वर्ष में चार मास तक ही कारखाना चलता था, जिससे गंधक की वार्षिक निकासी २०-२५ टन हो जाया करती थी।

मद्रास (Madras) के आरकोट (Arcot) जिले में आध मील तक गंधक का जमाव वोलंडरपेट (Wolunderpet) से कुछेक मील की दूरी पर वोडिया पोलियं (Wodia Paliam) नामक जिले में स्थित है।

गोदावरी के किनारे किनारे दलदलों के क्षेत्रों में पानी सूख जाने पर ढेलों के रूप में जमा हुआ गन्धक पाया जाता है। यहाँ के गन्धक के खनिजों में २८% फीसदी स्वतन्त्र गंधक और २८ फीसदी निश्चित रूप में गंधक पाया जाता है।

ट्रावनकोर (Travancore) राज्य में मंगामलाई (Mangamalai) नामक पहाड़ी पर कान्तमाक्षिक (Pyrrhotite) मिलता है। इससे गंधक निकाला जा सकता है। इसी स्थान के पश्चिमी भाग की ओर कुछ दूरी पर एक दूसरा जमाव भी कांतमाक्षिक का है।

उत्तर-पश्चिमीय सीमाप्रांत (N. W. F. Province) के कोहाट जिले में इन्डस (Indus) नदी के पश्चिमी किनारे पर माक्षिकी (Pyritous) मिश्रित स्फटिक (Alum) के खपड़े सुधापाषाण के नीचे जमे पाये जाते हैं। इन खपड़ों से गंधक निकालने का व्यवसाय किया जाता रहा है। गंधक निकालने के लिये डमरुयंत्र का उपयोग किया जाता था। इस यंत्र द्वारा गंधक उड़ा कर "गंधक के फूल" (Flower of Sulphur) तैय्यार किये जाते रहे हैं।

शिरानी (Shirani) नामक जिले में डामुन्डा (Dommunda) के पास में रौप्यमाक्षिक के परिवर्तन से गंधक जमा होता हुआ देखा गया है।

पंजाब (Punjab) में डेरागाजीखाँ के सोरीपास नामक स्थान पर गंधक निकालने का कारोबार चलता था। यहाँ पर गंधक गोदन्ती के साथ उष्ण स्रोतों से जमा हुआ दिखाई देता है। गोदंती के अंदर पीत गंधक के रेशे मिले पाये जाते हैं। कोहाट की भांति डमरुयंत्र से उड़ा कर शुद्ध गंधक एकत्रित करने का व्यवहार यहाँ भी चालू था। गंधारी पहाड़ के दक्षिणी किनारे पर सफेद क्षेत्रों में भी गन्धक पाया जाता है।

झङ्ग (Jhang) में किराना पहाड़ी के पाषाणों में कान्तमाक्षिक के ढेले पाये गये हैं। हुन्डीवाला नामक स्थान की खान में भी रेलवे स्टेशन के पास विमल के नमूने प्राप्त हुये हैं।

मियाँवाली (Mianwali) जिले में पेट्रोलियं प्राप्ति की जमीन में गंधक पाया जाता है। बोरिङ्ग (Bowring) नामक स्थान के पास पेट्रोलियं के स्रोत के समीप समीप मीलों तक पहाड़ी भूमि पर गोदन्ती के साथ गंधक पाया जाता है। किन्तु यहाँ पर व्यापारोपयोगी गंधक की मात्रा मिलने में सन्देह है।

रावलपिंडी के जिले में मशालापास के पूर्वी ओर की पहाड़ी पर गंधक की खान में काम होता रहा है।

संयुक्त प्रांत (United Provinces) के देहरादून, जोन्सार जिलों में मेवार (Maiwar) नामक स्थान की सीसक की खान की परिधि में गंधक पाया जाता है और उसका इतना निकास होता है कि जिससे सीसक निकालने का सारा व्यय प्राप्त हो जाया करता है।

कुमायूँ जिले के उष्ण स्रोतों से अल्प मात्रा में गंधक जमा पाया जाता है। कुमायूँ प्रान्त के नीचे लिखे स्थानों का गंधक प्राप्ति के विषय में विशेषतः उल्लेख है :—

(१) राम गंगा और गजिया नदी के तटवर्ती उष्ण स्रोत।

(२) नन्द प्रयाग के पास मन्सियारी मल्ला, दसोली और मल्ला नागपुर।

उक्त स्थानों के अतिरिक्त अनेक उष्ण स्रोतों के आसपास में न्यूनाधिक मात्रा में गंधक पाया जाता है।

गन्धक का शरीरावयवों पर प्रभाव

बाह्याङ्ग पर प्रभाव (Externel Effect)—स्वस्थ चर्म पर केवल गन्धक लगाया जाय तो उसका कोई प्रभाव नहीं होता है। किन्तु यदि गन्धक को किसी अन्य स्नेह (Grassy Substance) के साथ मिश्रित करके प्रलेप किया जाय तो वह सल्फाइड (Sulphide) में परिवर्तित होकर मृदु दाह (Irritation) उत्पन्न करता है जिससे स्थानीक कोमल चर्म की रक्तवाहिनियाँ विस्तृत हो जाती हैं और कभी कभी भयंकर

त्वक्प्रदाह (Dermatitis) भी हो जाता है। गन्धकपराश्रयी जीवाणुनाशक (Parasiticide) है अतः जिस स्थान पर इसको लगाया जाता है उस स्थान के कण्डोत्पादक जीवाणु शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। यदि किसी व्रण पर गन्धक लगाया जाय तो उस स्थान पर सल्फाइड (Sulphide) अधिक बनता है जिससे उस स्थान पर घोर दाह उत्पन्न हो जाता है और कभी कभी वहाँ के सौत्रिक तंतु (Tissues) भी नष्ट हो जाते हैं। गंधक के जीवाणुनाशक होने के कारण ही इटली में इसका उपयोग अंगूरों की बेलों के फंगस (Fungus) मारने के लिये किया जाता है।

अन्तरङ्ग प्रभाव (Internal Effect)—गन्धक लाला में अविलेय है अतः खाते समय इसमें कोई विशेष स्वाद (Taste) नहीं आता है। आमाशय में पहुँच कर भी गन्धक में कोई परिवर्तन नहीं आता है जब गंधक क्षुद्रान्त्र में पहुँचता है तब वहाँ पर क्षारीय पित्त (Alkaline bile) के संसर्ग से इसका अल्प भाग क्षारीय गन्धक (Alkaline Sulphide) में परिवर्तित होकर अल्पमात्रा में शरीर में प्रवेश करता है किन्तु गन्धक का अधिकतर भाग अपरिवर्तित रूप में ही मल के साथ बाहर निकल जाता है। गन्धक की कितनी मात्रा पच जाती है यह गन्धक के भिन्न भिन्न योगों पर निर्भर है। डा० बुचहैम ने परीक्षण द्वारा सिद्ध किया है कि यदि गन्धक का अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण प्रयोग कराया जाय तो उसका ४० प्रतिशत भाग मूत्र द्वारा बाहर निकल जाता है किन्तु पुष्पगन्धक (Sublimed sulphur) का केवल १५ प्रतिशत भाग ही बाहर निकलता है। गन्धक का अन्त्रों पर मृदु रेचक (Laxative) प्रभाव होता है। यह अन्त्रों की आकुञ्चन प्रसारण गति (Peristalsis) को कुछ उत्तेजित करता है जिससे पेट में बिना किसी प्रकार का शूल या पीड़ा उत्पन्न किये ही मामूली सा दस्त आ जाता है। गन्धक का अन्त्रों पर तीन प्रकार से प्रभाव होता है।

१. गंधक प्रयोग से आन्तों में क्षारीय गन्धक और सल्फुरेटेड हाइड्रोजन (Sulphurated Hydrogen) उत्पन्न होता है। ये अन्त्र गति को उत्तेजित करते हैं जिससे अन्त्र सम्बन्धी स्राव अधिक मात्रा में उत्पन्न होते हैं।

२. सल्फुरेटेड हाइड्रोजन (Sulphurated Hydrogen) आँतों में दबाव पैदा करता है और उस दबाव से अन्त्रस्थमल आगे को धकेला जाता है। इस प्रकार यह मल को धकेल कर बाहर निकाल देता है।

३. गन्धक के कठिन तथा रूक्ष कण जब आंतों की मांसपेशियों में स्थान पर रगड़ खाते हैं तो आँतों की गति उत्तेजित हो जाती है। जिससे मल नीचे को शीघ्र आ जाता है।

केवल गन्धक का प्रयोग करने पर उससे सल्फुरेटेड हाइड्रोजन गैस अधिक मात्रा में बनती है जो बार बार अपानवायु द्वारा बाहर निकलती है और इसमें बड़ी दुर्गन्ध आती है। इस असह्य गन्ध के कारण ही इसका प्रयोग करना पसन्द नहीं किया जाता है।

अन्य प्रभाव (Remote effects)—गन्धक रक्त में सल्फाइड और सल्फुरेटेड हाइड्रोजन (Sulphid & Sulphurated Hydrogen) के रूप में प्रवेश करता है। ये दोनों ही तीव्र विष हैं। ये विष प्रथम रक्तरञ्जक कणों (Haemoglobin) को कम करना प्रारम्भ करते हैं और अन्ततः उनको नष्ट कर देते हैं। इससे मूर्च्छा युक्त हलीमक रोग और माँसपेशीगत निर्बलता होने का डर रहता है। साधारणतया गन्धक की इतनी अधिक मात्रा प्रयुक्त नहीं होती है जिससे उक्त उपद्रव हो सकें। यह सम्भव है कि आन्तों में सल्फुरेटेड हाइड्रोजन गैस (Sulphurated Hydrogen gass) अधिक मात्रा में उत्पन्न होकर रक्त में प्रविष्ट हो जाय और उसके कारण अग्निमांद्य, विबन्ध, आम विषादियुक्त वातरोग (Nervous Symptoms) उत्पन्न हो जायँ।

गन्धक मुख्यतः सल्फेट (Sulphates) के रूप में मूत्र द्वारा बाहर निकलता है और सल्फुरेटेड हाइड्रोजन के रूप में फुफ्फुस, स्वेद और दुग्ध द्वारा बाहर निकलता है निरन्तर गन्धक सेवन वाले मनुष्य का श्वास दुर्गन्धमय होता है, तथा जो उसके शरीर में रजत आभूषण पहिने होते हैं वे त्वचा के स्वेद के संसर्ग से कृष्ण वर्ण हो जाते हैं। गन्धक Albuminous Waste के रोगों में कोई लाभ नहीं करता है।

गंधक का रोगशामक उपयोग

बाह्य प्रयोग (Externally)—छूत वाले कमरों को शुद्ध करने के लिये गन्धक का प्रयोग बहुतायत से होता है। लगभग ½ सेर गन्धक को कूट कर दरड़ा कर लिया जाता है और उसको अशुद्ध सुरा (Methylated Spirit) में भिगो दिया जाता है। इसको एक वर्तन रख कर आग लगा दी जाती है। इस धुएँ में से SO_2 गैस निकलती है जो कमरे के सब संक्रामक कीटाणुओं का नाश कर देती है।

गन्धक का मुख्य प्रयोग पामा, कण्डु, विचर्चिका आदि त्वक्-रोगों में होता है। यदि गन्धक का प्रयोग विधिवत् किया जाय तो लाभ अवश्यम्भावी होता है और रोगी की दशा के अनुसार मात्रा में प्रयोग करते हुए यह प्रदाह आदि उपद्रव भी उत्पन्न नहीं करता है। पुष्प गन्धक का चूर्ण लगाने के काम लेना चाहिये क्योंकि यह उपचर्म की ऊपर की परत के नीचे तक शीघ्र पहुंच जाता है और वहाँ पर स्थित चर्मरोगोत्पादक कीटाणुओं को मार देता है। इस प्रकार गन्धक

लेपन से रुग्ण स्थान पर दाह उत्पन्न होता है तथा दुर्गन्ध आती है। इस लिये बहुत से रोगी इसका उपयोग पसन्द नहीं करते हैं। ऐसी दशा में इसको (Storak) वा (Balsam of Peru) के साथ मिश्रित करके प्रयोग कराया जाता है।

यदि चर्मरोग पिड़िका, पामा, पूय और दाह युक्त हो तो (अंगवेन्ट सल्फ़ुरिस कम्पोजिटा) का योग प्रयुक्त करना चाहिये। इस में खड़िया होती है जिससे चर्मरोग युक्त स्थान में कीड़ों के रहने वाली नलिकायें खुल जाती हैं और पानी का शोषण हो जाता है। उक्त प्रलेप के उष्ण अवगाहन के उपरान्त दिन में दो बार प्रयोग कराने से तीन दिन पानी में पामादि ठीक हो जाते हैं।

युवान पिड़िकाओं (Acnes) को दूर करने के लिये निम्नोक्त विलयन का प्रयोग अधिक लाभप्रद रहता है :—

शुद्ध गन्धक १ ड्राम, ग्लिसरीन १ औंस, अर्कगुलाब १० औंस। इन सब को अच्छी प्रकार मिलाकर रूई द्वारा इसको मुह पर पिडिकाओं में लगाया जाता है।

आमवात तथा गृध्रसी में स्थानिक मांसपेशियों पर गन्धक के चूर्ण को रगड़ कर वहाँ पर फलालेन बाँध देने से पर्याप्त लाभ होता।

अन्तःप्रयोग (Internally) गन्धक मृदुविरेचनार्थ अधिकतर प्रयोग किया जाता है। बिना शूलादि उत्पन्न किये दस्त साफ़ लाने के कारण गन्धक को रक्तार्श, भगन्दर, गुदभ्रंश प्रभृति रोगों में प्रयुक्त किया जाता है जिससे केवल दस्त आने में ही सुविधा नहीं होती है अपितु उन रोगों में यह रक्तप्रणालियों पर अवसादक प्रभाव (Soothing Effect) भी कराता है जिससे पीड़ा शान्त हो जाती है। इस प्रकार के प्रभाव के लिये सनायपत्तिचूर्ण और गन्धकचूर्ण का समान भाग अवलेह रूप में प्रयोग करना अधिक अच्छा रहता है। अधिक समय तक गन्धक का लगातार प्रयोग करने से मन्दाग्नि हो जाती है और मलाशय में प्रदाह हो जाता है जिससे पतले दस्त आना आरम्भ हो जाता है। नागविष (Plumbism) रोग में अन्त्र द्वारा नाग का शोषण रोकने के लिये गन्धक का प्रयोग किया जाता है। जीर्ण आमवात (Chromic Rheumatisn) और सन्धिवात (Gout) में इसका सफल प्रयोग होता है। डाक्टर लोग इसके लिये इसको (Chelsea Peusioner) के रूप में प्रयोग कराते हैं। त्वक्‌रोगों में, यथा पामा, कण्डु, विचर्चिका प्रभृति में इसको खाने के लिये भी देते हैं। गन्धक को जैतून के तैल में मिश्रित करके, सन्धिवात, जीर्ण आमवात आदि रोगों में अन्तःपेशीय सूचिवेध करना (Intramuscular injection) अच्छा लाभ करता है।

प्राचीन समय में हिपोक्रेट् (Hippocrete) के सम्प्रदाय वाले श्वासरोग में गन्धक का प्रयोग कराते रहे हैं। आजकल भी बहुत से चिकित्सक पुरानी खाँसी में इसका उपयोग अधिक लाभकारक समझते हैं। इस प्रभाव के लिये स्पेनदेशीय लोग प्याज़ उबाल कर रात्रि में सोते समय खिलाया करते हैं। प्याज़ में गन्धक होता है। इसी तरह किसी समय में सल्फ़ुरेटेड हाइड्रोजन का इञ्जेकशन क्षयरोगनिवारण के लिये गुदा में किया जाता था, पर अब इसका उपयोग बन्द हो गया है।

इति गन्धक-विवरणम्।

अथ द्वादशोऽध्यायः।

ज्वरचिकित्सनम्।

चिकित्सनीयरोगाणां नामानि—

ज्वरस्य रक्तपित्तस्य कासस्य श्वासहिध्मयोः।
वैस्वर्यस्य क्षयस्यापि तथारोचप्रसेकयोः॥ १॥
छर्दिहृद्रोगयोश्चैव तृष्णामद्योद्भवार्शसाम्।
उदावर्तातिसाराणां ग्रहण्यर्तिप्रवाहिणोः॥ २॥
विषूच्या वह्निमान्द्यस्य मूत्रकृच्छ्राश्मरीरुजाम्।
मेहस्य सोमरोगस्य पिटिकानां च विद्रधेः॥ ३॥
वृद्धिगुल्मादिरोगाणां शूलानामुदरस्य च।
पाण्डुशोफविसर्पाणां कुष्ठश्वित्रनभस्वताम्॥ ४॥
वातास्रस्यावृतानां च वन्ध्यानां गर्भिणीरुजाम्।
सूतिकाबालरोगाणामुन्मादेऽपस्मृतावपि॥ ५॥
नेत्ररोगे कर्णरोगे नासारोगाऽऽस्यरोगयोः।
शिरःसञ्जातरोगेषु व्रणे भङ्गे भगंदरे॥ ६॥
ग्रंथ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे विषेषु च।
जरायास्त्वनपत्यानां बीजपोषणहेतवे॥ ७॥
परिपाठ्याऽनया सर्वरोगाणां हि चिकित्सनम्।
रसलोहविषैरत्र योगैर्वक्ष्ये यथागमम्॥ ८॥

सर्वप्रकार के ज्वर, रक्तपित्त, कास, श्वास, हिक्का, स्वरभेद, राजयक्ष्मा, अरुचि तथा मुखप्रसेक (पानी गिरना), वमन, हृद्रोग, तृष्णा, मदात्यय, अर्श, उदावर्त, अतीसार, ग्रहणी, प्रवाहिका, विसूचिका, अग्निमान्द्य, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी-पीड़ा (पथरी), विंशति प्रकार के प्रमेह, सोमरोग, प्रमेह पिडिका, विद्रधि, अण्डवृद्धि, अन्त्रवृद्धि (हार्निया), गुल्म (वायुगोला), शूल, उदररोग, पाण्डु, शोथ, वीसर्प, कुष्ठ, श्वित्रकुष्ठ (सफ़ेद कोढ़), क्षुद्रकुष्ठ, वायुरोग, वातरक्त, आवृतवात, वन्ध्यारोग, गर्भिणीरोग, सूतिकारोग तथा बालरोग, उन्माद, अपस्मार (मृगी), नेत्ररोग,

कर्णरोग, नासारोग, मुखरोग, शिरोरोग, व्रण, भग्न (हड्डी का टूटना), भगन्दर, गलगण्ड, गण्डमाला आदि ग्रन्थिरोग, क्षुद्र-रोग, उपदंश, उष्णवात (सुजाकभेद) आदि गुह्यरोग, विषविकार, वृद्धावस्था के रोग, सन्तान का न होना अर्थात् गर्भाशय डिम्ब तथा शुक्राशय और शुक्रकीटों के रोग, आर्तव तथा वीर्य की दुर्बलता अर्थात् रसायन वाजीकरणादि धातुवृद्धि के उपायों को इसके आगे क्रम से (जिस क्रम से रोग लिखे हैं) विविध रस, लोह तथा विष के योगों द्वारा शास्त्रानुकूल विधि से अर्थात् अनुपान, मात्रा, उपयोग, नियम, अवस्था आदि को लक्ष्य कर वर्णन किया जायगा।

विशेष वचन—वात (वायु) का आवरण वायु से तथा पित्त और कफ से भी होता है। इस तरह आवृत्त वातों के निम्न प्रकार से अनेक भेद बन जाते हैं। १—पित्तावृत वात में दाह, तृष्णा आदि पित्त-लक्षण, उष्ण द्रव्यों के उपयोग से सन्ताप की वृद्धि, शीत द्रव्यों की इच्छा होती है। २—कफावृत वात में शरीर में गौरव (भारीपन) शीतबोध, शूल, आदि लक्षण होते हैं और कफशामक चिकित्सा करने से जैसे लङ्घन लघु भोजन तथा कटुतिक्त द्रव्यों के सेवन करने से आराम अनुभव होता है। ३—रक्तावृत वात में त्वचा मांस के भीतर दाह, शोथ, पीड़ा, लालिमा, शरीर में चकत्ते तथा चिऊंटी संचार का अनुभव आदि लक्षण होते हैं। ४—मेदसावृत वात में शोथ, अरुचि, किसी अंगावयव की बेडौल वृद्धि आदि लक्षण होते हैं। ५—अस्थ्यावृत वात में अस्थियों में पीड़ा होती है जिससे मनुष्य उनको दबाना (मर्दन) चाहता है, उनमें सूचीव्यधनवत् पीड़ा होती है। ६—मज्जावृत वात में अस्थियां कोमल पड़ जाती हैं और उनके भीतर अत्यधिक शूल प्रतीत होता है। ७—मांसावृत वात में शरीर में अनेक प्रकार की पिड़िकाएँ तथा शोथ और पिपीलिकासंचार का अनुभव होता है। ८—शुक्रावृत वात में शुक्र का शीघ्र अथवा देर में स्खलन और सन्तानोत्पत्ति न कर सकना उसमें ग्रंथि आदि विकार होते हैं। ९—अन्नावृत वात में भोजन करने पर पेट में पीड़ा भोजन के जीर्ण होने पर शान्ति होती है। १०—मूत्रावृत वात में मूत्र अच्छी तरह नहीं आता और वस्ति प्रदेश में आध्मान हो जाता है। ११—मलावृत वात में मलबन्ध तथा मलाशय में कर्तनवत् पीड़ा तथा स्निग्ध द्रव्य का शीघ्र शोषण हो जाता है।

इसके अतिरिक्त आवृत वातों के कुछ ऐसे भी भेद होते हैं जिनमें एक वात दूसरे वात से आवृत हो, समान, उदान तथा प्राण वायु से आवृत हो। इत्यादि। यह लक्षण बहुत सूक्ष्म दृष्टि तथा निरन्तराभ्यास साध्य होते हैं॥ १—८॥

वातज्वरलक्षणम्—

रोमाञ्चकंपौ वदने मधुत्वमुज्जृम्भणं मस्तकतोददाहौ।
वातज्वरस्योक्तमिदं हि लक्ष्म भुक्तोत्तरः स्याद्दिशश्वदेव॥

शरीर में रोमाञ्च (रोंगटे खड़े होना), कम्प (कांपना) और मुख का स्वाद मीठा, अधिक जिमांई आना, शिर में तोदनवत् पीड़ा, दाह तथा ज्वर का नित्य भोजन जीर्ण होने पर उत्पन्न या प्रकट होना ये वातज्वर के लक्षण हैं।

विशेष वचन—वातज्वर के लक्षणों में अन्यत्र मुख का स्वाद कषायरस या फीका पाया जाता है। क्योंकि वातप्रकोप प्रायः कषाय से होता है अतः मुख का स्वाद भी प्रायः कषाय होता है। इसी तरह चरकादि सभी मुख्य ग्रन्थों में वातप्रकोप में कषायरसता, पित्तप्रकोप में कटुतिक्तरसता तथा श्लेष्मप्रकोप में मधुर रसता पाई जाती है। चरकनिदानस्थान में लिखा है कि 'कषायास्यमास्यवैरस्यंवा'। सुश्रुत उत्तरतन्त्र में भी 'शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता' यह लक्षण लिखा हुआ है। अतः मधुत्व के स्थान पर "अमधुत्वम्" ऐसा पाठ ठीक है।

भोजन जीर्ण होने पर शरीर में वातप्रकोप का काल माना जाता है। इसके अतिरिक्त वातप्रकोप कालों में आने वाला ज्वर भी वातज्वर कहा जाता है। वातप्रकोप निम्न अवस्थाओं पर होता है। "वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च" अतः "भुक्तोत्तर" का अर्थ यहाँ पर भोजन के जीर्ण होने पर किया गया है।

उक्त लक्षणों के अतिरिक्त भी वातज्वर के लक्षण अन्यत्र पाये जाते हैं जिनका निर्णय करने के लिए चरक, सुश्रुत तथा माधवनिदान आदि ग्रन्थ देखने चाहिये॥ ९॥

पित्तज्वरलक्षणम्—

विरेकशोषास्यकटुत्वतीव्रतापप्रलापभ्रममूर्छनानि।
एतानि पित्तज्वरलक्षणानि वमिः सतृष्णांगविदाहिता च॥१०॥

विरेचन (पतले दस्त होना), मुखशोष, मुख का कड़वा स्वाद, तीव्र ज्वर, प्रलाप, भ्रम (चक्कर), मूर्च्छा, तृष्णा, हाथ पैरों में दाह (गर्मी) होना ये पित्तज्वर के लक्षण कहे जाते हैं। इनके साथ साथ में पित्त की वमन भी होती है।

विशेष वचन— पित्त के आंतों में क्षोभ करने से अतीसार और हृदय के तीव्र क्रिया करने से मस्तिष्क में रक्तसञ्चय होने पर पित्तज्वर में मूर्च्छा आदि लक्षण हो जाते हैं।

वात के समान पित्त की वृद्धि या प्रकोप भी कटुरस से होने के कारण पित्तज्वर में मुख का स्वाद कटुरस हो जाता है। कटुरस को हिन्दी में चरपरा (जैसा मिर्च) कहा जाता है परन्तु इस प्रकार का स्वाद कम ही पाया जाता है। अतः कटु का अर्थ यहाँ पर तिक्त (कडुआ) लेना चाहिये। कटु शब्द भी तिक्तवाची पाया जाता है, जैसे "कटुः स्यात् कटुतिक्तयोः" ॥१०॥

कफज्वरलक्षणम्—

कासश्वासौ मुखे जाड्यं माधुर्यं बहुनिद्रता।
प्रस्वेदः स्वल्पदाहश्च श्लेष्मजज्वरलक्षणम्॥११॥

कास (खांसी), श्वास, मुख में जाड्य अर्थात् अरुचि, तथा मीठा स्वाद, निद्रा अधिक, प्रस्वेद (पसीना), कण्ठ आदि स्थानों में साधारण दाह (गर्मी) ये कफज्वर के लक्षण कहे जाते हैं।

विशेष वचन—प्रस्वेद का अर्थ अत्यधिक पसीना आना होता है परन्तु ज्वर में प्रायः स्वेदावरोध होने के कारण प्रस्वेद का अर्थ या प्रस्वेद के स्थान पर 'अस्वेद' पाठ युक्तियुक्त मालूम देता है। 'अस्वेद' पाठ न भी किया जाय तो प्रस्वेद की उत्पत्ति से ही यह अर्थ पसीना न आना हो सकता है। 'प्रगतः स्वेदः प्रस्वेदः' प्रशब्द प्रगतार्थ द्योतक होने से इस अर्थ में कोई त्रुटि नहीं होती है। अन्यत्र भी प्रशब्द से यही अर्थ लिया जाता है। चक्रदत्त की अतीसारचिकित्सा में स्पष्ट लिखा है कि—"प्रद्रवं (प्रगतद्रवं) लघुभोजनम्" चरक सुश्रुतादि ग्रन्थों में भी कफज्वर में अधिक पसीना आना यह लक्षण कहीं नहीं पाया जाता है।

स्वल्पदाहः—अन्यत्र कफज्वर में "गौरवं शीतमुत्क्लेदः" इत्यादि लक्षणों से शीतबोध होने पर दाह नहीं पाया जाता है। सर्व ज्वरों में पित्तप्रकोप न्यूनाधिक रूप में अवश्य होने से, वात और पित्त-ज्वरवत् कफज्वर में भी अल्पांश में दाह पाया जा सकता है।

द्वन्द्वसन्निपातज्वराणामातिदेशिकलक्षणम्—

मिश्रितं लक्षणं यत्तु द्वयोस्त्रिषु भवेच्च तत् ॥१२॥

शरीर में दो दोषों के प्रकोप होने पर दोनों दोषों के लक्षण मिले हुये पाये जाते हैं। अर्थात् वात और कफ के प्रकोपजन्य ज्वर में रोमाञ्च कम्प आदि तथा श्वास-कास आदि दोनों प्रकार के लक्षण पाये जाते हैं। और यदि शरीर में तीनों दोषों के प्रकोप से ज्वर हो तो उसमें उक्त तीनों ही ज्वरों के लक्षण पाये जायेंगे। इसे सान्निपातिक ज्वर कहते हैं।

विशेष वचन—द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वरों में जहाँ दोषानुकूल ही लक्षण होते हैं वहाँ उसे साध्य माना जाता है और ऐसे ज्वर को "प्रकृतिसमसमवाय" कहते हैं। और जहाँ पर पृथक् पृथक् दोषजन्य ज्वरों में लिखे हुये लक्षणों के अतिरिक्त मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं उसे "विकृतिविषमसमवाय" कहते हैं। प्रकृति सम-समवायज्वर साध्य तथा विकृतिविषमसमवाय ज्वर कष्टसाध्य होते हैं॥

अथ रसायनानि।

त्रैलोक्यसुन्दररसः—

विमर्दिताभ्यां रसगंधकाभ्यां नीरेण कुर्यादिह गोलकं तम्।
भाण्डे नवीने विनिवेश्य पश्चात्तद्गोलकस्योपरि ताम्रपात्रम्॥
सार्धं मुहूर्तं विनिरुध्य धीमानुदीपयेद्दीप्तकृशानुनाऽस्य।
अधस्ततः सिद्ध्यति पर्पटीयं नवज्वरारण्यकृशानुमेघः॥१४॥
विलिप्य पूर्वं रसनां च तालुदेशं च सिन्धूद्भवजीरकाद्रैः।
वल्लोन्मितां चार्द्रकतोयमिश्रामेनां नियोज्य स्थगयेत्पटेन॥१५॥
घर्मोद्गमो यावततः परं च तक्रौदनं पथ्यमिह प्रयोज्यम्।
कुर्याद्दिनानां त्रितयं यदीत्थं ज्वरस्य शंकाऽपि तदा भवे-त्किम्॥१६॥

शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक दोनों को समभाग लेकर एकत्र मर्दन कर कज्जली कर लें। अब इस कज्जली को जल के साथ मर्दन कर गोला सा बना लें। इस गोले को एक नूतन तथा दृढ़ पात्र में रख कर इसको किसी ताम्रपात्र से ढक कर अच्छी तरह सन्धिलेप कर दें। फिर इस पात्र को चूल्हे पर रख कर सार्ध मुहूर्त अर्थात् ३ घड़ी तक तीव्र अग्नि देवें। इस प्रकार पात्र में पर्पटी (पपड़ी) के आकार का रस तय्यार होता है। यह रस वनज्वररूपी वनाग्नि के लिये मेघवत् कार्य करता है। अर्थात् जंगल में अग्नि लगने पर जैसे वर्षा होने से वह शीघ्र बुझ जाती है, उसी तरह इस रस के प्रयोग से नवज्वर शीघ्र शान्त हो जाता है। इस रस को प्रयुक्त करने के पूर्व रोगी की जिह्वा तथा तालु प्रदेश को सैन्धानमक, जीरा तथा अदरख तीनों को एकत्र पीस कर इससे लिप्त कर दें। इसके पश्चात् इस रस की एक वल्ल मात्रा को अदरख के स्वरस में मिला कर सेवन करावें और रोगी को गरम वस्त्र पसीना आने तक ओढा दें। इसके देने से पसीना आकर ज्वर उतर जाता है। ज्वर उतरने के बाद रोगी को मट्ठा और भात का पथ्य दें। इस प्रकार तीन दिन तक इस रस का प्रयोग करने से ज्वर की आशंका भी नहीं हो सकती है।

विशेष वचन—इस रस को पर्पटीरस भी कहा जाता है; क्योंकि अग्नि पर पकाने से गन्धक पिघल कर नीचे पात्र में पारद के साथ जम कर मोटी पर्पटी का रूप धारण कर लेता है। किन्तु रसपर्पटी से इसकी निर्माण-विधि भिन्न है। सम्भवतः ताम्र-पात्राच्छादन से इसमें ज्वरनाशक शक्ति तथा स्वेदक शक्ति अधिक हो जाती है। वल्ल शब्द से ३ रत्ती का बोध होता है। यह इसकी पूर्ण मात्रा समझनी चाहिये। अन्यथा १ रत्ती मात्रा पर्याप्त है। इस रस को बनाते समय ताम्रपात्र से कल्क को ढक कर ताम्रपात्र के ऊपर बालुका भर देनी चाहिये॥ १३–१६॥

त्रैलोक्यडम्बररसः

सूतार्कगन्धचपला-जयपालतिक्ता
पथ्या त्रिवृच्च विषतिन्दुकजान् समांशान्।
सम्भाव्य वज्रिपयसा मधुना त्रिवल्ल-
स्त्रैलोक्यडम्बररसोऽभिनवज्वरघ्नः॥१७॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, पिप्पलीचूर्ण, शुद्ध जमालगोटा, कुटकीचूर्ण, हरीतकीचूर्ण, त्रिवी (निसोत) चूर्ण तथा शुद्ध कुचले का चूर्ण प्रत्येक द्रव्य समान भाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर इसे डण्डाथोहर (सेहुण्ड) के दूध में घोट कर तीन रत्ती प्रमाण गोली बना लें। इसे शहद के साथ मिला कर देवें तो यह

नूतन ज्वर के वेग को कम करता है। इसका नाम 'त्रैलोक्यडम्बर' (तीन लोकों में चमत्कार करने वाला) रस है।

विशेष वचन—इस रस को मलबन्ध तथा अजीर्णयुक्त ज्वर में प्रायः प्रयोग किया जाता है। परन्तु आन्त्र में शोथ या क्षोभ होने पर इसे नहीं देना चाहिये। प्रसंगवश यहाँ कुचलाशोधन भी लिखा जाता है—कुचले को थोड़े से घृत में तवे पर भूनें, जब फूल कर लाल हो जाय तो निकाल लें और चाकू से त्वचा को अलग कर लें, इसकी जीभी को भी निकाल कर कार्य में प्रयुक्त करें। दूसरी विधि यह है कि कुचले के बीजों को सात दिन तक अदरख के रस में पड़ा रहने दें। सात दिन बाद जब बीज फूल जायँ तो निकाल लें। ऊपर का छिलका और कुचले के बीज की जीभी को निकाल फेंकें। शेष भाग को सुखा कर काम में लावें। दूसरी विधि के अनुसार ही गोमूत्र में १५ दिन तक डाल कर भी कुचले की शुद्धि की जाती है। इस तरह शुद्ध किये हुये कुचले को सर्वत्र प्रयोग कर सकते हैं। मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥ १७ ॥

मेघनादरसः—

पादांशकंसाररविः समांशगन्धो विपक्वः स्वकषायपिष्टः।
रसः क्रमान्माषमितश्चलादिज्वरेषु नाम्ना किल मेघनादः॥

कांस्यभस्म १ भाग, पित्तलभस्म १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग, शुद्ध पारद ४ भाग, शुद्ध गन्धक ४ भाग लेकर पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना लें। तदनन्तर इसमें कांस्य आदि द्रव्यों की भस्म मिला कर रक्त तण्डुलीयक (लाल चौलाई) के स्वरस या कषाय में घोट कर एक लघु पुट देवें, स्वांगशीत होने पर औषधि निकाल लें। इसमें से एक उड़द प्रमाण मात्रा में प्रयोग करने पर यह रस वात-पित्त तथा कफ-प्रकोप-जन्य ज्वरों को नष्ट करता है। इसका नाम मेघनादरस है।

विशेष वचन—इस मेघनादरस का भिन्न-भिन्न पुस्तकों में भिन्न भिन्न पाठ पाया जाता है। इसके विषय में द्रव्यों के प्रमाण तथा मर्दनार्थ द्रव्यों का उल्लेख भी स्पष्ट रूप में मिलता है। परन्तु उक्त मूलश्लोक में किसी चीज का स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता है। "कंस" शब्द कांसे के लिये कहीं प्रयुक्त होता है। "समांशगन्धः पादांशकंसाररविः" इनको लिखते हुये पारद का नामोल्लेख नहीं किया है। मूल में लिखा हुआ "रस" शब्द मेघनाद के बाद प्रयुक्त करने के लिये है जिससे चौलाई स्वरस का बोध होता है। इसी तरह "कषायपिष्टः" से भी कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता है। अतः यह पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है। अन्यत्र इस रस का शुद्ध और स्पष्ट पाठ इस प्रकार पाया जाता है, यथा "सूतांशकौ साररवी समांशगन्धो विपक्वः स्वकषायपिष्टः। रसः क्रमान्माषमितश्चलादिज्वरेषु नाम्ना किल मेघनादः॥" यहाँ पर सार (लोहभस्म) रवि (ताम्रभस्म) पारद से चतुर्थांश, गन्धक पारद के समांश और शुद्ध पारद एक भाग लिये गये हैं। इनमें भी पहले कज्जली करके पश्चात् ताम्र तथा लोहभस्म मिला कर इसको यदि वातज्वर नाश के लिये बनाना हो तो वातज्वरहर द्रव्यों के कषाय से, पित्तज्वरहर बनाने के लिये पित्तज्वरहर द्रव्यों के कषाय से, कफज्वरहर बनाने के लिये कफज्वरहर द्रव्यों के कषाय से मर्दन कर एक पुट देकर एक उड़द के बराबर प्रयोग करने से वातादि-प्रकोप-जन्य सम्पूर्ण ज्वर नष्ट होने को लिखा है।

रसेन्द्रसारसंग्रह में पित्तल, कांस्य तथा ताम्र की भस्म प्रत्येक १ भाग और शुद्ध गन्धक तीन-तीन भाग लेकर लाल चौलाई के स्वरस में घोट पिण्डी बनाकर सम्पुट में बन्द करके गजपुट देकर मेघनादरस-निर्माण करने को लिखा है। परन्तु मात्रा दो रत्ती लिखी है। भैषज्यरत्नावली लिखित मेघनादरस में पित्तल के स्थान पर तार (चांदी) भस्म ली गई है। और चौलाई के रस में मर्दन कर छः पुट देने को लिखा है। मात्रा १ रत्ती, पथ्य दूध भात देना चाहिये। यदि तरुण ज्वर में अतीसार भी हो तो नागर, अतीस, मुस्ता, चिरायता, गुडूची तथा कुटज कषाय का अनुपान देना चाहिये ॥ १८ ॥

ज्वरगजहरिरसः—

दरदजलदयुक्तं शुद्धसूतञ्च गन्धं
प्रहरमथ सुपिष्टं वल्लयुग्मञ्च दद्यात्।
ज्वरगजहरिसंज्ञं शृङ्गवेरोदकेन
प्रथमजनितदाही क्षीरभक्तेन भोज्यः॥ १९॥

शुद्ध हिंगुल, कृष्णाभ्रक भस्म, शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक इन चारों को समान भाग में लें। पहिले पारद और गन्धक की कज्जली बनायें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों की भस्म मिला कर अच्छी तरह मर्दन करके (एक प्रहर तक) रख लें। इसमें से दो रत्ती प्रमाण मात्रा में लेकर अदरख के रस में मिला कर सेवन करायें। यदि ज्वर दाहपूर्वक हो तो इसके सेवनकाल में दूध भात खिलाना चाहिये। अथवा इसके देने से दाह विशेष होने पर रोगी को दूध चावल पथ्य देना चाहिये। यह ज्वर के लिये लाभदायक है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर तथा वैद्यचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में इसको "चन्द्रकलारस" के नाम से लिखा है। योगरत्नाकर में इसको मुस्ता, दाडिम, दूर्वा, केतकी, स्त्रीदुग्ध, सहदेवी, कुमारी-रस, पर्पटस्वरस, शतावरीस्वरस से पृथक् पृथक् एक २ दिन भावना देकर, पश्चात् इसमें कुटकी, गुडूचीसत्व, पर्पट, उशीर, पिप्पली, विरोजा तथा सारिवा इन सबका समभाग चूर्ण मिला, द्राक्षाकषाय से सात भावना देने को लिखा है। योगरत्नाकर में इसको पित्तज्वर तथा रक्तपित्तयुक्त ज्वरों के लिये विशेष उपयोगी माना है। तिक्त गुडूची पर्पटादि द्रव्यों की भावना और मिश्रण होने से इसको

ग्रीष्मकाल तथा शरत्काल के महादाहयुक्त ज्वरों के लिये अच्छा माना जाता है।

रसकल्पद्रुम में दरद (हिंगुल) के स्थान पर विष (वत्सनाभ) लिया गया है और तुलसी की भावना देने को लिखा है। "दाही" के स्थान पर "दाहे" पाठ अधिक स्पष्ट और सरल प्रतीत होता है। मूल पाठानुसार इस रस को बनाने में अदरखरस की सात भावना देनी चाहिये॥ १६॥

दीपिकारसः—

सन्तप्तसीसभागं च पारदं गन्धकं कणाम्।
समभागं पृथक् तत्र मेलयेच्च यथाविधि॥ २०॥
जम्बीरस्य रसे सर्वं मर्दयेच्च दिनत्रयम्।
मेघनादकुमार्योश्च रसे चापि दिनत्रयम्॥ २१॥
दिनद्वयमजामूत्रे गवां मूत्रे दिनत्रयम्।
भावयेच्च यथायोग्यं तस्मिन्नेतानि दापयेत्॥ २२॥
सैन्धवं चित्रकं भागं सौवर्चलवणं तथा।
तेन सम्मेलनं कृत्वा भावयेच्च पुनः पुनः॥ २३॥
अनेन विधिना सम्यक् सिद्धो भवति तद्रसः।
शर्कराघृतसंयुक्तं दद्याद्वल्लत्रयं रसम्॥ २४॥
गोधूमस्यौदनं पथ्यं माषसूपं च वास्तुकम्।
धात्रीफलसमायुक्तं सर्वज्वरविनाशनम्।
दीपिकारस इत्येष तन्त्रज्ञैः परिकीर्तितः॥ २५॥

एक तोला शुद्ध नाग को अग्नि में तपा कर पिघलायें और उसमें एक तोला शुद्ध पारद मिला अच्छी तरह मर्दन कर उसमें १ तोला शुद्ध गन्धक और पिप्पलीचूर्ण मिला इन सबको एकत्र जम्बीरी नींबू के रस में तीन दिन तक मर्दन करें। पश्चात् इसे चौलाई के स्वरस तथा कुमारीरस में पृथक् पृथक् तीन दिन तक मर्दन करें। तदनन्तर दो दिन बकरी के मूत्र से और तीन दिन गोमूत्र में अच्छी तरह मर्दन कर पुनः इसमें सौवर्चलनमक, सैन्धवनमक, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण, एक एक तोला मिला पुनः उक्त क्रम से जम्बीरी नींबू, चौलाईस्वरस, कुमारीरस तथा गोमूत्र से पृथक् तीन तीन भावना तथा बकरी के मूत्र में दो दिन भावना देकर औषधि तैयार कर लें। अर्थात् इसकी तीन तीन रत्ती की गोली बना लें। इनमें से एक गोली घी और शक्कर के साथ देने से सब प्रकार के ज्वर निवृत्त हो जाते हैं। इस रस के सेवनकाल में पथ्य के रूप में गेहूँ का दलिया, उड़द की दाल, भात, बथुए का शाक, आंवले के यूष के साथ दिया जाता है। इसको रसशास्त्रकारों ने 'दीपिकारस' कहा है।

विशेष वचन—नाग को पिघला कर पारद में मिलाने से नाग की मृति नहीं होती है। और यदि नाग को पिघला कर उसमें गन्धक मिला पुनः चूल्हे पर रख थोड़ा-थोड़ा पिप्पली चूर्ण डाल कर इसकी कज्जली-सी बना ली जाय तो भी नाग की मृति नहीं होती है। अतः 'सन्तप्त' से शुद्ध अर्थात् भस्म अर्थ लेने से कोई त्रुटि नहीं रह जाती है। पारद गन्धक की कज्जली में सीसक भस्म तथा पिप्पली चूर्ण मिला उक्त द्रव्यों से मर्दन करने से इस रस को तैय्यार करना चाहिये। मात्रा १ रत्ती॥ २०—२५॥

शीतभञ्जीरसः—

पारदं रसकं तालं तुत्थं गन्धकटंकणम्।
सर्वमेतत्समं शुद्धं कारवल्ल्या द्रवैर्दिनम्॥ २६॥
मर्दयेत्तेन कल्केन ताम्रपात्रोदरं लिपेत्।
अंगुलार्धार्धमानेन तं पचेत्सिकताह्वये॥ २७॥
यन्त्रे यावत्स्फुटन्त्येवं व्रीहयस्तस्य पृष्ठतः।
ततः सुशीतलं ग्राह्यं ताम्रपात्रोदराद्भिषक्॥ २८॥
शीतभंजी रसो नाम चूर्णयेन्मरिचैः समम्।
माषैकं पर्णखण्डेन भक्षयेन्नाशयेज्ज्वरम्।
त्रिदिनैर्विषमं तीव्रमेकद्वित्रिचतुर्थकम्॥ २९॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध खपरिया, शुद्ध नीलाथोथा शुद्ध सुहागा और शुद्ध हड़ताल प्रत्येक द्रव्य सम भाग में लें। पहले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बनायें, पश्चात् इसमें शेष द्रव्य मिला कर अच्छी तरह मर्दन कर लें। फिर इसको करेले के रस से एक दिन तक घोटें। फिर इस कल्क को एक ताम्बे के पात्र के अन्दर की ओर चौथाई अंगुल तक या चौथाई अंगुल मोटा लेप कर दें। फिर इस ताम्रपात्र को उलटा मुँह करके एक हाँडी में रखें और उस ताम्रपात्र से बड़ा एक और मिट्टी का पात्र लेकर उससे ताम्रपात्र को ढक दें। अब बेर के पत्तों के कल्क से इन पात्रों की सन्धिलेप करके ऊपर हाँडी के शेष भाग को बालू से भर दें। उसके (बालू के) ऊपर कुछ धान डाल दें। पात्र के नीचे अग्निज्वाला देवें। यह ज्वाला तबतक देनी चाहिये जब तक बालुका के ऊपर डाले धान न खिल जायँ। पश्चात् शीतल होने पर ताम्र के पात्र में से इस रस को निकाल पीस कर सम्भाल करके रख लें। इस रस को एक उड़द भर मात्रा में समभाग मरिचचूर्ण मिला कर पान के पत्ते में रख कर खाने से तीन दिन में ही तीव्र एकाहिक, द्वयाहिक, तृतीयक और चातुर्थिक विषमज्वर नष्ट हो जाता है। इसका नाम 'शीतभञ्जीरस' है।

विशेष वचन—चन्द्रिकाकार ने 'रसक' का अर्थ खपरिया न करके यहाँ 'फटकरी' अर्थ किया है। इस तरह चौथाई अंगुल के स्थान पर 'अर्धांगुल लेप' यह पाठ भी पाया जाता है। इस रस में ताम्रपात्र, शुद्ध ताम्र का तथा बहुत सूक्ष्म पत्र (कण्टकवेधी) का होना चाहिये। जो उक्त द्रव्यों के लेप के साथ ही भस्म हो जाय। यद्यपि मूल पाठ में यह बात स्पष्ट नहीं है तथापि अन्य स्थानों में इसे स्पष्ट किया गया है। जैसे भैषज्यरत्नावली में—'यन्त्रे यावत्स्फु-

न्त्येव व्रीहयस्तस्य पृष्ठतः। ताम्रपात्रं समुद्धृत्य चूर्णयेन्मारिचैः समम्। शीतभञ्जीरसो नाम द्विगुञ्जं वातिके ज्वरे। दातव्यं पर्णखण्डेन मुहूर्तान्नाशयेज्ज्वरम्॥' यह पाठ दिया गया है। ताम्रपात्र बनाने के लिए पारद आदि द्रव्यों के मिलित प्रमाण के सम भाग शुद्ध ताम्रपत्र लिया जाता है। पाक हो जाने के पश्चात् जब इस औषधि को निकाल पीसते हैं तभी कई सम्पूर्ण ताम्रादि के समान ही मरिचचूर्ण भी मिला देते हैं। तब इसकी मात्रा एक रत्ती भर भी दी जा सकती है।

रत्नमुक्तावली में टंकण के स्थान पर मनःशिला डाल कर इसको 'शीतारिरस' नाम दिया है। परन्तु इसमें ताम्रपात्रों पर लेपनादि क्रिया नहीं बताई है। इसी तरह कहीं इसमें वत्सनाग विष अधिक डाल कर 'शीतांकुश' नाम से लिखा है। अन्यत्र 'भक्षयेन्नाशयेत् ज्वरम्' के स्थानपर "त्रिदिनान्नाशयेज्ज्वरम्" ऐसा पाठान्तर देकर आगे का "त्रिदिनैः" इत्यादि पाठ नहीं दिया गया है॥ २६–२९॥

मृतसंजीवनरसः—

कूष्माण्डचूर्णतिलजैः प्रतिशुद्धतालं
गाढं विमर्द्य सुषवीसलिलेन तुल्यम्।
सूतेन हिंगुलभुवा सिकताख्ययन्त्रे
गोलं विधाय परिवृत्तकपालमध्ये॥३०॥
पत्रेण तं दिनपतेश्च पिधाय रुद्ध्वा
संधिं तयोर्गुडसुधाखटिकाशिवाभिः।
वह्नौ पचेन्मृदुनि पात्रशिरःस्थशाली-
वैवर्ण्यमात्रमवधिं प्रविधाय धीमान्॥ ३१॥
वल्लं ततः सुरसमिश्रममुष्य दद्यात्
सर्पिः सिताकणपयो मधु चानुपेयम्।
जेतुं ज्वरान्प्रविषमानिह वांतिशांत्यै
मौलौ सुशीतलजलस्य ददीत धाराम्॥ ३२॥
अथामयांतं रसराजमौलिभूषामणिं तं मृतजीवनाख्यम्।
सुधारसेनेव रसेन येन सञ्जीवनं स्यात्सहसाऽऽतुराणाम्॥

पेठे के स्वरस, चूर्णोदक तथा तिलक्षार-जल में दोलायन्त्र द्वारा अच्छी प्रकार से शुद्ध की हुई हरताल और हिंगुल से निकाला हुआ शुद्ध पारद इन दोनों को समभाग प्रमाण में लेकर, करेले के स्वरस में अच्छी तरह एकत्र मर्दन करके गोला-सा बना लें। इस गोले के चारों तरफ पके हुए अर्कपत्र लपेट कर मिट्टी की गोल मूषा में रख दें। इस मूषा के ऊपर दूसरी मूषा रख इन दोनों की सन्धि को गुड़, चूना, खड़िया तथा हरीतकी चूर्ण कल्क से अच्छी तरह बन्द करके सुखा लें। फिर इस मूषा को बालुकायन्त्र में रख कर ऊपर बालुका भर दें। बालुका के ऊपर कुछ धान डाल दें। पात्र के नीचे मन्द-मन्द अग्नि जलावें, जब तक कि बालुका के ऊपर कुछ धान काले न पड़ जायँ। स्वाँग शीतल होने पर औषधि निकाल कर पीस लें। इसमें से एक रत्ती प्रमाण औषधि लेकर तुलसीस्वरस के साथ देवें। इसके ऊपर दूध में पिप्पलीचूर्ण घृत, मधु तथा मिश्री मिला कर पिलावें।

सब प्रकार के विषम ज्वरों को दूर करने वाला है। इस औषिध के सेवन करने से यदि रोगी को वमन होने लगे तो शिर में शीतल जल की धारा छोड़नी चाहिये। सर्व आमय (रोग, विशेषतः ज्वर) के अन्त (नाश) करने वाले तथा सम्पूर्ण रसों के शिरोभूषण इस रस को मृतसञ्जीवन रस कहते हैं। इसके द्वारा रोगियों का रोग दूर होकर अमृत के समान शीघ्र ही लाभ होता है।

विशेष वचन—कई "दिनपतेः पत्रेण" से ताम्रपत्र का अर्थ करते हैं। ऐसी दशा में रस को गोला बना कर हाँड़ी में रख इसके ऊपर शुद्ध ताम्रपत्र औंधा रख सन्धिलेप करके पकाना चाहिये। अथवा ताम्रपत्र पर पूर्वोक्त शीतभञ्जीरस की भाँति लेप कर इस रस को बनाना चाहिये॥ ३०—३३॥

द्वितीयः शीतभञ्जीरसः—

सूततालशिलास्तुल्या मर्दयेत् कर्कटीरसे।
ताम्रपत्रे विनिक्षिप्य तत् कल्कं कज्जलीकृतम्॥ ३४॥
विपचेत् बालुकायन्त्रे यथोक्तविधिना ततः।
दद्यान्मरिचचूर्णेन माषमात्रं भिषग्वरः॥ ३५॥
प्रपिबेदुष्णतोयस्य चुलुकं शीतकज्वरे।
शीतभञ्जीरसः सोऽयं शीतज्वरनिवारणः॥ ३६॥

शुद्ध पारद, शुद्ध हरताल और शुद्ध मनसिल तीनों को समभाग में लेकर ककड़ी के रस से अच्छी तरह मर्दन करके कज्जली-आकार कल्क को ताम्रपात्र में डाल कर पूर्वोक्त विधान से बालुकायन्त्र में पकावें। इसमें समभाग मरिच-चूर्ण मिला पीस कर रख लें। इसमें से शीतज्वर के लिये एक उड़द प्रमाण मात्रा में सेवन कर ऊपर से गरम जल की घूंट पीवें। यह शीतज्वर को दूर करता है।

विशेष वचन—इसमें यदि ताम्रपात्र को भी साथ ही भस्म करना अभीष्ट हो तो पारद के समभाग शुद्ध गन्धक भी डालना चाहिये। गन्धक के बिना ताम्र की अच्छी तरह भस्म नहीं बन सकती। सम्भवतः "कज्जलीकृतम्" का भी यही अभिप्राय हो। केवल पारद आदि तीन द्रव्यों को एकत्र मर्दन करने से उनका कज्जलाकार वर्ण नहीं होता है। अतः रसेन्द्रसारसंग्रह में इसी रस को गन्धक के साथ कुछ अनुपात का परिवर्तन करके निम्न प्रकार से लिखा है, यथा "तालकं दरदोद्भूतपारदो गन्धकः शिला। क्रमवृद्धया ताम्रपात्रीं द्रवैरेतैर्विलेपयेत्॥ अधोमुखीं दृढे भाण्डे तां निरुद्ध्याऽथ पूरयेत्। चुल्ल्यां बालुकया घस्रमग्निं प्रज्वालयेद् दृढम्॥

शीते संचूर्ण्य माषोऽस्य नागवल्लीदले स्थितः। भक्षितो मरिचैः सार्धं समस्तान् विषमज्वरान्। शीतदाहादिकान् हन्यात् पथ्यं शाल्योदनं पयः॥" ताम्रपत्र से बनाये जाने वाले इन रसों में ताम्र का अच्छी तरह अमृतीकरण न करने से ही वमन और ऊष्मा दाह आदि पित्तप्रकोप के लक्षण उत्पन्न होते हैं। जिनके लिये मस्तक पर शीतल जल की धारा डालने को कहा है। ताम्रयुक्त इन रसों की आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से ½ रत्ती पर्यन्त जाननी चाहिये॥ ३४–३६॥

वृद्धज्वरांकुशः

रसहिंगुलजेपालैर्वृद्ध्या दन्त्यंबुमर्दितैः।
दिनार्धेन ज्वरं हन्याद्गुञ्जैकं सितया सह॥ ३७॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध हिंगुल दो भाग, शुद्ध जैपालबीजचूर्ण तीन भाग। हिंगुल के साथ पारद को मर्दन करके मिलायें। पश्चात् इसमें जैपालबीज चूर्ण मिला कर दन्तीमूल (जमालगोटे की जड़) कषाय से पीस कर एक रत्ती प्रमाण की गोली बना लें। प्रयोग के समय गोली को पीस कर उसमें थोड़ी सी खांड मिला लें और जल के साथ दें। इसके प्रयोग से आधे दिन में ज्वर शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—आयुर्वेद में केवल दो-एक अपवादों को छोड़ कर बिना गन्धक पारद के योग हानिकारक होते हैं। अतः इस रस में अनुक्त गन्धक भी देना ही चाहिये, और पारद के साथ क्रम में गन्धक क्योंकि दूसरा द्रव्य है। अतः गन्धक के दो भाग ही लेने चाहिये। फिर पारद गन्धक की कज्जली बना उसमें हिंगुल घोट कर पश्चात् अन्य द्रव्य मिला कर गोली बनानी चाहिये।

इस योग को ही भावप्रकाश में 'ज्वरघ्नी वटिका' के नाम से और रसप्रकाश-सुधाकर में 'ज्वराररिस' नाम से कहा है। उन सब में गन्धक का योग है। कोई इसको 'हिंगुलेश्वर' नाम से भी कहते हैं।

इस रस में जैपाल होने से यह रेचन लाता है। अतः यदि ज्वर विषम हो और कोष्ठबद्धता हो तो इसका प्रयोग लाभदायक होता है। अन्यथा अभिनवज्वर में विरेचन निषिद्ध है। लङ्घन द्वारा दोषों का पाक होने पर अवस्था को अच्छी तरह देखते हुये ऐसे रसों का प्रयोग किया जाता है। मलेरिया तथा अजीर्ण ज्वरों का निश्चय हो जाने पर इस रस का प्रयोग सात आठ दिन से भी पूर्व कर सकते हैं। अन्यत्र इसका पाठ इस प्रकार है—"क्रमेण वृद्धान् रसगन्धहिंगुलान्, नैकुम्भबीजान्यथ दन्तिवारिणा। पिष्टाऽस्य गुञ्जाऽभिनवज्वरापहा जलेन चाह्या सितया प्रयोज्या"॥ ३७॥

महाज्वरांकुशः—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं धूर्तबीजं त्रिभिः समम्।
चतुर्भिश्च समं व्योषं चूर्णीकृत्य निधापयेत्॥ ३८॥
दन्तभाण्डेऽथवा शार्ङ्गे काष्ठे नैव कदाचन।
वातश्लेष्मज्वरे देयं द्वंद्वजे वा त्रिदोषजे॥ ३९॥
रसेन शृङ्गवेरस्य जम्बीरस्याऽथवा पुनः।
गुञ्जाद्वयं च जीर्णेऽस्मिन्दधिभक्तं प्रयोजयेत्॥ ४०॥
एकद्वित्रिदिनैर्हन्याज्ज्वरान्दोषक्रमेण तु।
महाज्वराङ्कुशो नाम रसोऽयं शंभुनोदितः॥ ४१॥

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध वत्सनाभविष १ तोला, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध धत्तूरे (काले) के बीज ३ तोले, सोंठचूर्ण २ तोला, मरिचचूर्ण २ तोला, पिप्पलीचूर्ण २ तोला लें। प्रथम पारद और गन्धक की कज्जली बनावें। फिर इसमें सब द्रव्यों को मिला कर पीस कर रख लें! इस औषधि को रखने के लिये दाँत का अथवा शृङ्ग का पात्र (शीशी) होना चाहिये। लकड़ी के पात्र में इसे कभी नहीं रखना चाहिये। इस महाज्वरांकुशरस की २ रत्ती मात्रा जम्बीरी नींबू के रस से अथवा अदरख के रस से दें तो वातश्लेष्म ज्वर (इन्फ्लुइञ्जा) तथा द्वन्द्वज ज्वर (वातपित्त, पित्तश्लेष्मज ज्वर) और त्रिदोषप्रकोपयुक्त ज्वर नष्ट होते हैं। औषधि के जीर्ण होने पर रोगी को दही भात खिलाना चाहिये। यह रस वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक ज्वरों को क्रमशः एक दो और तीन दिन में नष्ट कर देता है। इस रस को 'महाज्वरांकुश' कहते हैं। इसे शम्भु (शिव) ने कहा है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचिन्तामणि तथा रसरत्नाकर प्रभृति तन्त्रों में भी यह योग ऐसा ही मिलता है। परन्तु वहाँ इसमें त्रिकटुचूर्ण को द्विगुण मान में लिया गया है, यथा "सूतं गन्धं विषं तुल्यं धूर्तबीजं त्रिभिः समम्। चतुर्णां द्विगुणं व्योषचूर्णं गुञ्जाद्वयं हितम्॥" योगरत्नाकर में इसके बनाने में कुछ विशेषता पाई जाती है। वहाँ इस रस के चूर्ण को स्वर्णक्षीरी (चोक) रस से चार भावना देकर धूप में सुखा पुनः चूर्ण करने को कहा गया है। शार्ङ्गधरसंहिता में त्रिकटुचूर्ण के स्थान पर स्वर्णक्षीरी (चोक) चूर्ण डालने को कहा गया है। अन्यत्र इस रस को अष्टविध ज्वरों का नाशक लिखा है। किन्तु यह रस नवज्वर में तथा विषमज्वर (मलेरिया) में जब प्रलाप हो तो प्रलाप तथा ज्वर के वेग को कम करता है। और बारी से आने वाले विषमज्वरों में ज्वर आने के तीन चार घण्टे पूर्व देने से ज्वर रुक जाता है।

त्रिकटु तथा धत्तूरबीज योग से यह रस श्लैष्मिक तथा वातश्लैष्मिक ज्वरों में, जब गले में शोथ, खरास, अवरोध, कास, शिरपीड़ा तथा अंगमर्द आदि लक्षणों की उपस्थिति हो तो उत्तम गुण करता है। डिफ्थेरिया तथा गलग्रन्थिवृद्धि की आशंका में भी इसे दिया जा सकता है। परन्तु इस दशा में इसका अनुपान जंबीररस नहीं होना चाहिये॥ ३८–४१॥

मृत्युञ्जयरसः—

तालं ताम्ररजो रसश्च गगनं गन्धश्च नेपालकं
दीनारप्रमितं तदर्धमुदितं टङ्कं शिला माक्षिकम्।

दीनारद्वितयं विषस्य शिखिनः पिष्ट्वा रसैः पाचितो
यश्चिन्तामणिवज्ज्वरौघविजयी नाम्ना तु मृत्युञ्जयः ॥४२॥

हरतालभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध पारद, कृष्णाभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध जैपालबीजचूर्ण, प्रत्येक एक-एक भाग, भुना हुआ सुहागा, शुद्ध मैनसिल और शुद्ध स्वर्णमाक्षिकभस्म प्रत्येक आधा-आधा भाग और शुद्ध वत्सनाभ दो भाग लें। पहले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली कर लें। इसमें हरतालभस्म आदि द्रव्य मिला कर चित्रकमूलत्वक् कषाय में घोट कर गोला-सा बना सम्पुट में बन्द करके साधारण पुट दें। स्वांग शीत होने पर औषधि को निकाल पीसकर रख लें। यह औषधि चिन्तामणिरस के समान अथवा ईश्वर के सदृश सम्पूर्ण ज्वरों को दूर करता है। इसको 'मृत्युञ्जयरस' कहते हैं।

विशेष वचन—"दीनार" शब्द का अर्थ अमरकोष में चार मासा किया है। यहाँ पर औषधि तोल में सुविधा करने के लिये उसको एक भाग शब्द से लिखा गया है। उक्त अनुपात से जितना चाहें यह रस बनाया जा सकता है।

"पाचितः" का अर्थ कई शरावसम्पुट में रख अच्छी तरह कपड़मिट्टी करके भूधरयन्त्र में पाक करने को कहते हैं और कई बालुकायन्त्र में पकाने को कहते हैं।

प्रसंगानुसार यहाँ जैपाल तथा विष का शोधन लिखते हैं—अच्छे जैपालबीजों को लेकर उनकी मींगी निकाल लें। इनको भैंस के गोबर में दो दिन रखें। पश्चात् इस भैंस के गोबर म कुछ जल डाल कर इनको एक पहर तक स्वेदन करें। स्वेदन के पश्चात् निकाल कर स्वच्छ जल से धो डालें। पुनः चाकू से बीच में चीर कर इनकी जीभी को निकाल दें। अब इनको खरल में अच्छी तरह निम्बु के रस के साथ पीस कर कल्क बना लें। पुनः इस कल्क को एक कोरे घड़े की बाहरी पेंदी पर उलटा करके लेप कर दें। शुष्क हो जाने पर उतार कर कार्य में लावें। कई वैद्य ब्लाटिंग पेपर पर इसको पोत कर दूसरा पेपर इसमें चिपका कर उसके तैलांश को कम कर लेते हैं। वत्सनाभ शुद्ध करने के लिये इसके छोटे छोटे खण्ड करके ताजे गोमूत्र में तीन दिन तक भिगो छोड़ें। प्रतिदिन गोमूत्र बदल देवें। जब विष के खण्ड फूल कर मोटे हो जायँ और उनके बीच में कोई कठिन भाग न रहे तो निकाल कर धूप में सुखा कर काम में ले आवें।

गोमूत्र के अतिरिक्त सर्वविषों की शुद्धि त्रिफलाकषाय में भी की जाती है।

उक्त मृत्युञ्जयरस आजकल व्यवहार में कम आता है। यह जीर्ण विषम ज्वरों तथा दौर्बल्ययुक्त ज्वरों में विशेष लाभादायक होता है। आजकल व्यवहृत होने वाले मृत्युञ्जयरस का योग इस प्रकार है—"विषस्यैकस्तथाभागो मरिचं पिप्पलीकणः। गन्धकस्य तथा भागो भागः स्यात् टंकणस्य च। सर्वत्र समभागः स्याद् हिंगुलन्तु द्विभागिकम्। चूर्णयेत् खल्लमध्ये तु मुद्गमानां वटीं चरेत्"।

यह रस तीव्र सन्निपात की प्रथमावस्था में तथा विषमज्वरों में जब तापपरिमाण अधिक हो तो दिन में दो तीन बार, थोड़ा-सा यवक्षार मिला कर जल के साथ देना चाहिये। इसके देने से स्वेद आकर ताप-परिमाण कम हो जाता है। परन्तु आन्त्रज्वर या हृदयदौर्बल्ययुक्त ज्वरों में इसका अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये। बालक, गर्भिणी, राजयक्ष्मा आदि रोगाक्रान्त क्षीण मनुष्यों को इसका सेवन लाभदायक नहीं होता है। भिन्न-भिन्न ज्वरों के लिये इसका अनुपान रसेन्द्रसार आदि ग्रन्थों में देखने चाहिये।

मूलोक्त मृत्युञ्जयरस के पाठ में जो "नेपालकम्" के स्थान पर "जैपालकम्" पाठ पढते हैं वह तन्त्रान्तर दर्शन से ठीक नहीं है। इसी तरह जो "नेपालकम्" से शिला लेते हैं वह भी ठीक नहीं है॥ ४२॥

सर्वज्वरारिसः—

तालं ताम्रमयोरजश्च चपला तुत्थाभ्रकं कांतकं
नागं स्याच्च समांशकं सुमृदितं मूलं च पौनर्नवम्।
भृंगीकासहरीपुनर्नवमहामन्दारपत्रोद्भवैः
कल्कं बालुकयन्त्रपाचितमिदं सर्वज्वरस्यांतकृत् ॥४३॥

हरतालभस्म, ताम्रभस्म, लोहभस्म, पिप्पलीचूर्ण, शुद्ध नीलाथोथा (तूतिया), कृष्णाभ्रकभस्म, कान्तलोहभस्म, नागभस्म तथा पुनर्नवामूलचूर्ण प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र खरल में डाल कर भृंगी (भांग अथवा अतीस), कसौंदी, पुनर्नवा, गोरक्षतण्डुला (नागवला) तथा अर्क पत्र के स्वरस से पृथक् एक-एक बार भावना देकर कल्क को सुखा कर गोला-सा बना लें। इसको अच्छी तरह सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके बालुकायन्त्र में एक दिन मन्द-मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशातं होने पर औषधि को निकाल पीस कर रखलें। यह रस सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है। 'इसे सर्वज्वरारिरस' कहते हैं।

विशेष वचन—यह रस जीर्णज्वरों में, जब कि रक्ताणुओं की क्षति, यकृत् प्लीहा की वृद्धि हो गई हो, विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। कई बार नीलाथोथा तथा ताम्रभस्म के ठीक न होने से इसके द्वारा वान्ति होने लगती है। इस लिये इन्हें पूर्ण शुद्धरूप में लेना चाहिये। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती। तन्त्रान्तरोक्त सर्वज्वरारिरस उक्त रस से भिन्न है—यथा "रसं गन्धकं हिंगुलं मौक्तिकञ्च पृथक् टङ्कमानं रविञ्चाददीत। विचूर्ण्य क्षिपेत्कूपिकायां द्वियामं खरेऽग्नौ प्चेज्जूर्तिमेहौ हरेत्तत्" भृंगी से भृंगराज और महामन्दार से अर्कवृक्ष कयी लेते हैं, और कोई मन्दार से

पारिभद्र लेते हैं। महामन्दार का पर्याय महार्क है इसलिये बड़ा आक ही लेना चाहिये ॥ ४३ ॥

चक्रसूर्यरसः—

तुल्येन तुल्यः शिवजश्च गन्धो जम्बीरनीरेण विमर्दनीयः।
दिनत्रयं मेलय तेन तुल्यं व्योषं ततः सिद्ध्यति चन्द्रसूर्यः॥
वल्लो विजेतुं विषमाख्यलम्बि दलेन देयो भुजगाख्यवल्ल्याः।
दुग्धं हितं स्यादिह शृङ्गवेररसेन शैत्येषु निषेवणीयः॥
तक्रं सगर्भज्वरशूलयोस्तु द्राक्षांबुना पथ्यमनन्तरोक्तम्।
रोधं वरायाः सलिलेन शूलं जम्बीरनीरेण वराजलेन॥
अपस्मृतावत्र नियोजनीयमभ्यञ्जनं निम्बपयोभवाभ्याम्।
घृतौदनं स्यादिह भोजनाय जम्बीरनीरेण निहन्ति गुल्मम्॥
हिंग्वम्लिकानिम्बुरसेन देयं प्लीहोदरे स्यादिह तक्रभक्तः।
स्तंभार्थमस्मिन्ससितं पयः स्याद्गुडो नियोज्यो वमनप्रशान्त्यै॥ ४८॥

शुद्ध तूतिया, शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक इन तीनों को प्रत्येक समभाग में लें। पहले पारद, गन्धक की कज्जली बनावें। पश्चात् इसमें शुद्ध तुत्थक मिला कर जम्बीरी नींबू के रस से तीन दिन तक मर्दन कर सुखा लें। पुनः इस चूर्ण में समभाग त्रिकटुचूर्ण मिला पीस कर रख लें। यह चन्द्रसूर्यरस तय्यार हो गया। इसकी एक एक रत्ती मात्रा विषमज्वर आने से एक घंटा पूर्व पान के साथ देनी चाहिये। यदि तीन मात्रायें ज्वर से पूर्व दी जायँ तो विषमज्वर नहीं चढ़ता है। इस रस के सेवनकाल में पथ्य में दूध देना चाहिये। सब प्रकार के शीतज्वरों में इसको अदरख के रस के साथ देकर तक्र का पथ्य देना चाहिये। गर्भिणी स्त्री को ज्वर तथा उदरशूल होने पर इसे द्राक्षारस के साथ देना चाहिये। मलावरोध (कब्ज़) में इसको त्रिफलाकषाय से देना चाहिये। तीव्र उदरशूल में जम्बीरी नींबू के रस के साथ प्रयोग करें। अपस्मार में भी त्रिफलाकषाय से सेवन करा कर निम्बपत्ररस तथा घृत की शरीर में मालिश करानी चाहिये। अथवा निम्बपत्ररस तथा गोघृत में मिला कर इस रस का आंखों में अञ्जन करना चाहिये। और भोजन में रोगी को घृत तथा भात देना चाहिये। यह रस जम्बीरी नींबू के रस के साथ प्रयुक्त करने पर गुल्मरोग को नष्ट करता है। प्लीहोदररोग में इसे हींग (भुनी हुई), इमली तथा नींबू के रस में मिला कर प्रयोग कराना चाहिये और भात तथा तक्र पथ्य में देना चाहिये। वीर्यस्तम्भन के लिये दुग्ध तथा मिश्री अनुपान से लेना चाहिये। वमनशान्ति के लिये इसको गुड़ में मिला कर सेवन कराना चाहिये ॥४४-४८॥

विषप्रयोगाऽयोग्यनिर्देशः—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि वसुवर्षाणि यस्य वा।
विषं तस्य न दातव्यं दत्तं चेद्दोषकारकम्॥ ४९॥

संखिया, वत्सनाभ आदि विषों को अस्सी वर्ष की अवस्था वाले वृद्ध तथा आठ वर्ष से कम उमर वाले बालक को सेवन नहीं कराने चाहिये। यदि सेवन कराये जायेंगे तो उनसे हानि होगी।

विशेष वचन—प्रकरण रहित होने से कोई इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानते हैं। अस्सी वर्ष से अधिक उम्र में वातप्रकोप अधिक होने से विषभक्षणोत्तर होने वाली दुर्बलता सह्य नहीं होती है जिस से इसकी मात्रा बढ़ानी पड़ती है और शीघ्र ही दूसरी मात्रा लेनी पड़ती है। इसी तरह बालक शरीर में विष सेवन कराने से शीघ्र ही क्षोभ बढ़ जाता है, परिणामतः आक्षेप आदि वातिक व्याधियों का उदय हो जाता है। परन्तु यदि रोग विषसाध्य ही हो तो रोगशान्त्यर्थ विष का प्रयोग हानिकारक नहीं होता है। पथ्य में स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करते रहना चाहिये ॥ ४९ ॥

उमाप्रसादनो रसः—

मेघपारदवैगंधविषव्योषपटूनि च।
जीरकद्वयमेतानि समभागानि कारयेत्॥ ५०॥
सिंदुवाररसेनापि लशुनस्य रसेन च।
अपामार्गरसेनापि सप्तरात्रं विमर्दयेत्॥ ५१॥
तत्पक्वं वालुकायन्त्रे गुञ्जामात्रं प्रयोजयेत्।
सनागवल्लीमरिचं ततः शीतांबु पाययेत्॥ ५२॥
उमाप्रसादनो नाम रसः शीतज्वरापहः।
चातुर्थिकं त्रिरात्रं वा नाशयेत्किमुताऽपरान्॥ ५३॥

कृष्णाभ्रकभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ, सोंठ, मिरच, पिप्पली, पांचों नमक, श्वेतजीरक तथा कृष्णजीरक, इन सब को समभाग में ले। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें अभ्रकादि द्रव्यों के सूक्ष्म चूर्ण मिलायें। पश्चात् इस चूर्ण को सिम्भालूस्वरस, लसुनस्वरस तथा अपामार्ग स्वरस में पृथक्-पृथक् सात-सात बार मर्दन कर सुखा लें। पश्चात् इस को एक सम्पुट या मूषा में बन्द करके बालुकायन्त्र में पकावें। स्वांगशीत होने पर मूषा में से औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इस रस में से एक रत्ती प्रमाण भस्म लेकर उसमें समभाग मरिचचूर्ण मिला इसको पान में रख कर खिलायें और खिलाने के बाद शीत जल का अनुपान करायें। यह 'उमाप्रसादनरस' है और शीत ज्वर को नष्ट करता है। यह रस चातुर्थिक तथा तृतीयक ज्वरों को भी नष्ट कर देता है। अन्य साधारण विषमज्वरों का तो कहना ही क्या है।

विशेष वचन—अन्यत्र 'वैगन्ध' के स्थान पर 'गन्धाश्म' पाठ है। गन्धाश्म गन्धक को ही कहते हैं। 'मेघ' से कोई मुस्तक लेते हैं। परन्तु अभ्रक ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है। अन्यत्र भी ऐसे स्थलों में अभ्रक का ही ग्रहण किया गया है। 'पटु' शब्द से कोई केवल सैन्धव मात्र लेते हैं। परन्तु पांचों नमक लेने से

रस की मूत्रल तथा स्वेदक शक्ति बढ़ जाती है जिससे शीतज्वर शीघ्र उतर जाता है अथवा नहीं चढ़ता है। अतः पांचों नमक लेना हानिकारक नहीं है ॥५०--५३॥

ज्वरांकुशो रसः—

टङ्कणं रसगन्धौ च समभागान्प्रकल्पयेत् ।
नेपालं द्विगुणं दत्वा मर्दयेत्खल्लमध्यतः ॥ ५४ ॥
श्लक्ष्णतां याति तद्यावत्तावत्तन्मर्दयेच्छनैः ।
सैन्धवं मरिचं शङ्खं चिञ्चाक्षारं समाक्षिकम् ॥ ५५ ॥
तत्तुल्यमेतत्कृत्वाऽथ निम्बूतोयेन मर्दयेत् ।
चणप्रमाणवटिकान् भक्षयेच्च दिनत्रयम् ॥ ५६ ॥
ऐकाहिकं द्व्याहिकं च त्र्याहिकं च चतुर्थकम् ।
सर्वज्वरविनाशाय ज्वराङ्कुश इति स्मृतः ॥ ५७ ॥

भूना हुआ सुहागा, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक प्रत्येक एक-एक भाग, नेपाली ताम्र की भस्म २ भाग लेकर सब को एकत्र खरल में मर्दन करें। परन्तु पारद गन्धक को पहले अलग २ कज्जली बना लेनी चाहिये। अच्छी तरह मर्दन करने के बाद सैन्धव, मरिच, शङ्खभस्म, इमली का क्षार तथा स्वर्णमाक्षिकभस्म प्रत्येक को एक-एक भाग लेकर इसमें मिला कर कागज़ी नींबू के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन कर चने के प्रमाण गोलियां बना लें। इस रस को तीन दिन तक सेवन करने से एकतरा, द्वयाहिक, तृतीयक और चातुर्थिक आदि सब विषमज्वर दूर हो जाते हैं। यह रस सब प्रकार के ज्वरों के लिए अंकुश के समान कार्य करता है। अतः इसे 'ज्वरांकुश' कहा जाता है।

विशेष वचन--'नेपालम्' के स्थान पर 'जैपालम्' पाठान्तर होने पर यह रस जीर्ण विषमज्वरों के लिये तथा सर्वज्वरों के लिये उतना लाभदायक नहीं होगा जितना नूतन विषमज्वर तथा अजीर्णज्वर, मलबन्धजन्यज्वरों के लिये। ताम्र डालने पर इसका अनुपान ताम्बूलपत्र होना चाहिये अन्यथा शीतजल अनुपान होना चाहिये ॥ ५४—५७ ॥

सर्वाङ्गसुन्दरचिन्तामणिरसः--

अभ्रकं गन्धकं सूतं तोलैकैकं पृथक्पृथक् ।
गृहीत्वा विषतोलार्द्धं तोलार्द्धं तित्तरीफलम् ॥ ५८ ॥
एतत्सर्वं समं कृत्वा मर्दयेत्खल्लमध्यतः ।
श्लक्ष्णतां याति तद्यावत्तावत्सम्मर्दयेच्छनैः ॥ ५९ ॥
विस्तारे परिणाहे च गर्त्तां कृत्वा षडंगुलाम् ।
फणिवल्लीदलान्यन्तर्गर्त्तायां प्रक्षिपेन्नरः ॥ ६० ॥
पर्णेषु सूतकल्कं तं गर्त्तायां स्थापयेद्दृढम् ।
कल्कादुपरि तत्पर्णैर्गर्त्तावक्त्रं प्रपूरयेत् ॥ ६१ ॥
गर्त्तायान्तु ततो देयं पुटमारण्यकोत्पलैः ।
स्वाङ्गशीतलतां ज्ञात्वा समाकर्षेत्ततः परम् ॥ ६२ ॥
सूतलिप्तदलैः सार्द्धं कल्कं खल्ले विमर्दयेत् ।
तोलार्द्धममृतं क्षिप्त्वा तोलार्द्धं तित्तरीफलम् ॥ ६३ ॥
स्थापयेत्खल्लितं कल्कं योजयेद्गुञ्जमात्रया ।
शृङ्गवेराम्भसा युक्तं तीक्ष्णचित्रकसैन्धवैः ॥ ६४ ॥
सन्निपाते तथा वाते त्रिदोषे विषमज्वरे ।
अग्निमान्द्ये ग्रहिण्यां च तथा देयोऽतिसारिणि ॥ ६५ ॥
भोजनं दधिभक्तं च रसेऽस्मिन्सम्प्रयोजयेत् ।
व्याध्याधिक्यं यथा कुर्यादुदकं ढालयेत्ततः ॥ ६६ ॥
एष योगवरः श्रीमान्प्राणिनां प्राणदायकः ।
चिन्तामणिरिति ख्यातो रसः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥ ६७ ॥

कृष्णाभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक और शुद्ध पारद, प्रत्येक एक भाग, शुद्ध वत्सनाभ ½ भाग, शुद्ध जैपालबीजचूर्ण ½ भाग लेवें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना लें। फिर उसमें अभ्रकभस्म मिला पान के रस से मर्दन कर गोला-सा बना लें। गोले को सुखा कर इस पर चारों तरफ से पान के पत्ते लपेट कर बांध दें। पश्चात् छः अंगुल चौड़ा तथा गहरा भूमि में एक गढ़ा खोद कर उसको आधे भाग तक पान के पत्तों से भर दें। इन पत्तों के ऊपर उक्त गोला रख कर पुनः पान के पत्तों से गढ़े को ऊपर तक भर दें। गर्त के मुख पर आरने उपले रख कर पुट दें। स्वांगशीत होने पर बिना जले हुये स्विन्न पर्णपत्रों के साथ गोले को निकाल खरल में डाल कर अच्छी तरह मर्दन करें। पश्चात् इसमें शुद्ध वत्सनाभविष तथा तित्तरीफल (शुद्ध जैपाल-बीजचूर्ण) मिला अच्छी तरह घोट कर एक एक रत्ती की गोलियाँ बना लें। प्रयोग के समय इस रस को १ रत्ती मात्रा में लेकर इसमें मरिच, चित्रकमूल, तथा सैन्धानमक का समभाग चूर्ण मिला, अदरख के रस में घोल कर पिलाना चाहिये। यह रस सन्निपातज्वर, वातिकज्वर, त्रिदोषप्रकोपयुक्त विषमज्वर, अग्नि-मान्द्यरोग, संग्रहणी या ग्रहणी की दुर्बलता तथा अतीसार में लाभदायक होता है। इस रस के प्रयोगकाल में रोगी को भोजन दही तथा भात पथ्य के रूप में देना चाहिये। यदि इस रस के प्रयोग से सिर में पीड़ा या गरमी अथवा रोग लक्षणों की वृद्धि हो जाय तो रोगी के सिर में शीतल जल की धारा डालें या शीतल जल की पट्टी बाँध दें। यह श्रेष्ठरस मृतसदृश रोगियों के लिये बल तथा प्राण प्रदान करने से श्रेष्ठ माना जाता है। यह चिन्तामणि की भाँति सम्पूर्ण अंगों के विकारों को दूर करके उनमें सुन्दरता और बल पैदा करता है अतः इसे 'सर्वाङ्गसुन्दर' रस कहते हैं।

विशेष वचन--योगचन्द्रिका में इस रस को वातिक विकार, अग्निमान्द्य तथा अर्शरोग में प्रयुक्त करने को लिखा है। इसमें

जैपालबीजचूर्ण तथा वत्सनाभ विष को सब द्रव्यों के समान ही लिया है। उसका पाठ इस प्रकार है—"अभ्रगन्धकरजः पृथगच्छं तित्तरीफलविषाद्युतञ्च। सम्विमर्द्य फणिवल्लिदलेषु स्वास्तृतेष्वधिषडङ्गुलगर्ते ॥ सम्विधाय रसकल्कमधोर्द्ध तद्दलैः खरवक्त्रपिधानम्। सन्निधाय लघुवह्निकरीषैर्दापयेत्पुटमथाहृतमेतत् ॥ सोहिवल्लिदलमुस्तयुगेन प्रागिवान्वितमथातिविमर्द्य। रक्तिकामितमथार्द्रकवारा, चित्रकोषणवरैः सह दद्यात्। वाताग्निसादगुदजातिसृतित्रिदोषनानासमज्वरहरो दधिभक्तपथ्यः। सर्वाङ्गसुन्दर इति प्रथितो रसोऽयमार्यैः पुरातनभिषग्भिरुदीरितस्तु ॥" इसमें नागरमुस्ताचूर्ण और मिलाने के लिये लिखा गया है। तिन्तिडी फल—जमाल गोटे का पर्याय है; वही लेना ठीक है। परन्तु चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ से प्रकाशित सुरत्नोज्वला टीका में ईमली का फल अर्थ लिया है, यह विचारणीय है। उसमें तिन्तिड़ी फल पाठ दिया है; इसका भी अर्थ वैद्यक शब्द सिन्धु में जमाल गोटा है ॥ ५८—६७ ॥

लोकनाथगुटिका—

सूतेन्द्रं परिमर्द्य पञ्चपटुभिः क्षारैस्त्रिभिस्तं ततः
पिण्डे हिङ्गुमहौषधासुरिमये संस्वेद्य धान्योदके।
निर्गुंडीयवुंहुताशमंथतिलपर्ण्युन्मत्तभृङ्गार्द्र कं
कामातागिरिकर्णिकाप्लवदलापश्चाङ्गुलोत्थैर्जलैः ॥६८॥
सूतेन्द्रेण समैर्विमर्द्य सहजैः पित्तैस्ततो भावये—
द्दंष्ट्रिच्छागलुलायमत्स्यशिखिनां सा सन्निपाताञ्जयेत्।
विख्याता भुवि लोकनाथगुटिका मारीचमात्रा हिता
स्यादस्याः सहितं दधीक्षुशकलं वीर्यं भवेच्छीतलम् ।६९।

शुद्ध पारद को पाँचों नमक तथा यवक्षार, सर्जक्षार, टंकणक्षार तीन क्षारों (पारद समभाग अथवा षोडशांश) के साथ अच्छी तरह मर्दन करके गोला-सा बना लें। इस गोले को हींग, शुण्ठी तथा राई के समभाग में बनाये हुए एक पिण्ड (गोला) के भीतर रख कर इस पिण्ड को सुखा लें। पश्चात् इसको चौतह कपड़े की पोटली में बाँध कर काञ्जीमें दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन कर लें। पश्चात् गोलक में से पारद को निकाल सम्भालू, नेत्रबाला, अरणी, तिलपर्णी, धतूरा, भाँगरा, अदरख, कामाता (मकोय), अपराजिता, केवड़ीमोथा, पान के पत्ते, एरण्डमूल इनके स्वरस अथवा कषाय को पारद समान भाग लेकर इन स्वरस अथवा कषायों से मर्दन करें। पश्चात् इस पारद को समभाग, सूअर, बकरा, भैंस, मछली, तथा मोर के शुद्ध पित्तों के साथ पृथक् २ मर्दन अथवा भावना देकर कालीमिरच के बराबर गोली बना लें। यह गोली संसार में 'लोकनाथगुटिका' के नाम से प्रसिद्ध है और सर्व प्रकार के सन्निपातज्वरों को नष्ट करती है। इस गुटिका के सेवनकाल में यदि दही तथा गन्ने का रस आदि शीतल पदार्थों का प्रयोग किया जाय तो इस गुटिका की कार्य करने की शक्ति बढ़ जाती है।

विशेष वचन—रससागर में इस गुटिका को 'सुवर्णलोकनाथ' नाम से लिखा है। अन्यत्र इसको लोकनाथरस नाम दिया है। रसेन्द्रचिन्तामणि में पारद का लवणक्षारों के साथ मर्दन करके उसके शेष दोषों की निवृत्ति तथा गुणवृद्धि करने को लिखा है, यथा "पञ्चभिर्लवणैः सूतं त्रिभिः क्षारैः तथैव च। मर्दयेद्दोषनाशाय गुणाधिक्यविधित्सया। एवं संशोध्य सूतेन्द्रं राजिकाहिंगुशुण्ठिभिः॥ इत्यादि।" रसेन्द्रचिन्तामणि में स्वेदन करने की चार प्रहर अवधि भी दी हुई है। और तिलपर्णी, कैवर्तीमुस्तक तथा तांबूल के स्थान पर वहाँ ब्राह्मी तथा पीपल वृक्ष के पत्ते लिये हैं। पथ्य तथा गुणादि के विषय में अन्यत्र इसी प्रकार विवरण पाया जाता है। परन्तु ग्रन्थान्तरों में इसके बनाने की दो विधियाँ समझी जाती हैं। १—निर्गुण्डी आदि द्रव्यों के रसों के साथ मर्दन कर गुटिका बना लेना। २—उक्त द्रव्यों के साथ मर्दन कर पश्चात् छाग आदि के पित्तों से मर्दन या भावना देना। इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"इयं श्रीलोकनाथेन सन्निपातनिवृत्तये। कीर्तिता गुटिका पुण्या दृष्टप्रत्ययकारिणी। इमां प्राप्य बटीं यस्मात्सन्निपाताद्विमुच्यते ॥ मयूरमीनवाराहछागमाहिषसम्भवैः। प्रत्येकेनाऽथ सर्वैर्वा भाविताचेदियं भवेत् ॥ पातयेत्तत्रतोयानि सुशीतानि बहूनि च ॥ शर्करादधिसंयुक्तं भक्तमस्मिन् प्रदापयेत्। इक्षवश्च तथा योज्या रसवीर्यविवृद्धये। शीतद्रव्यैर्भवेद् वीर्यं पित्तवृद्धे महारसे ॥"

यद्यपि इसमें गन्धक डालने का विधान नहीं है। परन्तु यदि शुद्ध गन्धक पारद के समान भाग डाल दिया जाय तो सम्भवतः अधिक उष्णता होने की शंका न रहे ॥६८—६९ ॥

अथ सूचिकाभरणो रसः

वज्रवैक्रांतयोर्भस्म प्रत्येकं निष्कसम्मितम्।
शृंगीविषं द्विनिष्कं च त्रिनिष्कं चूलिकापटु ॥७०॥
पञ्चनिष्कोऽग्निजारश्च सर्वमेकत्र मेलयेत्।
तावद्भस्म रसं यावन्मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥ ७१ ॥
शार्ङ्गेष्टादिकवर्गस्य क्षारनीरेण भावयेत्।
त्रयोविंशतिवाराणि विमर्द्य च विशोष्य च ॥ ७२ ॥
ततो विमर्द्य दिवसं क्षिपेद्दन्तकरण्डके।
मृतसंजीवनाख्योऽयं सूचिकाभरणो रसः ॥ ७३ ॥
सन्निपातेन तीव्रेण मुमुर्षोर्भूगतस्य च।
तालुनि प्रच्छयित्वाऽथ रसमेनं विनिक्षिपेत् ॥ ७४ ॥
सूच्यातिसूक्ष्मया तोयभिन्नयाऽतिप्रयत्नतः।
ततस्तैलेन तं लिप्त्वा निर्वाते सन्निवेशयेत् ॥ ७५ ॥
ततोऽर्धप्रहरादूर्ध्वं मुक्तमूत्रपुरीषकम्।
लब्धसंज्ञं प्रतापाढ्यं दोलायन्तं शिरो मुहुः ॥ ७६ ॥

आयुष्मन्तं विजानीयादन्यथा चान्यथा खलु ।
ततः शीताम्बुसम्पूर्णे कटाहे तं निवेशयेत् ॥ ७७ ॥
तत्र चोत्क्वथितं तोयमपनीयापरं क्षिपेत् ।
याचमानममुं पश्चात्पाययेत्ससितं पयः ॥ ७८ ॥
दधि वा सितयोपेतं नारिकेलजलं तथा ।
रम्भाफलानि दद्याच्च म्रियते सोऽन्यथा खलु ॥ ७९ ॥
लब्धसंज्ञं प्रभाषन्तं याचमानं फलादिकम् ।
तस्मादाकृष्य तैलाक्तं तैलं पिष्ट्वापनीय च ॥ ८० ॥
लेपयेद्गन्धकर्पूरैरापादतलमस्तकम् ।
इत्यादिशिशिरैर्द्रव्यैः सप्तरात्रमुपाचरेत् ॥ ८१ ॥
कर्णाक्षिनासिकावक्त्रे क्षिपेत्पोताश्रयं मुहुः ।
अष्टमेऽहनि संप्राप्ते दर्दुरीमूलजं रसम् ॥ ८२ ॥
ससितं पाययेद्वेगमवतारयितुं रसम् ।
रसेऽवतारिते पश्चाद्यथेष्टं भोजनं दधि ॥ ८३ ॥
श्वासोच्छ्वासयुतं चान्यैर्मुक्तजीवनलक्षणैः ।
कटाहे जलसम्पूर्णे निक्षिपेद्बोधलब्धये ॥ ८४ ॥
लब्धबोधं तमाकृष्य पूर्ववत्समुपाचरेत् ।
जीवित्वा यावदायुष्यं म्रियते तदनन्तरम् ॥ ८५ ॥
सन्निपाते महाघोरे मज्जन्तं मृत्युसागरे ।
उद्धरेत्तस्य धर्मस्य ब्रह्माप्यन्तं न विन्दति ॥ ८६ ॥
सन्निपातमहामृत्युभयनिर्मुक्तमानवः ।
अपि सर्वस्वदानेन प्राणाचार्यं प्रपूजयेत् ॥८७॥
अन्यथा नरके तावद्यावत्कल्पविकल्पना ।
इत्याज्ञा शाङ्करी ज्ञेया शम्भुना परिकीर्त्तिता ॥ ८८ ॥
प्रकाश्या नैव कर्तव्या रसोत्तरणमूलिका ।
शास्त्रं विना प्रयच्छन्ते मंदा वित्ताभिकांक्षया ।
गुरुप्रसादमासाद्य सन्निपाते प्रयुज्यताम् ॥ ७९ ॥

वज्रभस्म ४ मासा, वैक्रान्तभस्म ४ मासा, शृङ्गिक (सींगिया विष) ८ मासा, नौसादर १२ मासा, अग्निजार (अम्बर) २० मासा, और पारदभस्म (रससिन्दूर) इन सब द्रव्यों के बराबर अर्थात् ४८ मासा लें। सबको एकत्र खरल में तीन दिन तक अच्छी प्रकार मर्दन करें। तदन्तर आगे लिखे जाने वाले शार्ङ्गष्टादिवर्ग की औषधियोंके क्षारीय जल से २३ भावना देकर अच्छी तरह मर्दन शोषण करते हुये पात्र में एक दिन बिना किसी द्रव्य के इसको मर्दन करें। पुनः इस शुष्करस को हाथी के दाँत की बनाई हुई डिबिया या शीशी में रख लेवें। इसको सूचिकाभरणरस अथवा सन्निपात से मृतसदृश मनुष्यों को जीवन देने के कारण मृतसञ्जीवनरस भी कहते हैं। तीव्र सन्निपात के कारण मरने वाले और जमीन में उतारे हुए मनुष्य की जीवन रक्षा के लिए, इस रस के प्रयोग करने की यह विधि है कि रोगी के तालु प्रदेश पर बालों को मुड़वा कर एक हल्का-सा चीरा देवें। अब इस चीरे दिये स्थान पर बहुत बारीक सुई के अग्र भाग को जल में डुबोकर उसके नोक में जितना रस लग सके उतना लेकर उसको मर्दन करें। अर्थात् चीरे वाले स्थान के रक्त में इस रस को मिला कर शरीर में शोषित कर दें। अब रोगी के सर्व शरीर में तैल पोत कर निर्वात स्थान या एकान्त में लिटा दें। आधे प्रहर के बाद यदि रोगी को मलमूत्र होकर किञ्चित् चेतना के साथ प्रलाप आरम्भ हो जाय और उसका शिर इधर उधर हिलने लगे तो समझना चाहिये कि औषधि ने अपना कार्य किया है और रोगी बच जायगा। यदि आधे प्रहर में रोगी पर कुछ भी परिवर्तन दृष्टि गोचर न हो तो उसे मृत समझना चाहिये। यदि रोगी सजीव प्रतीत हो तो उसे शीतल जल के टब में बैठा दें। रोगी की गरमी से जब टब का जल गरम हो जाये तब उसे (पानी) निकाल फिर उस टब में शीतल जल भर दें। इस क्रम को पूर्ण चेतना आने तक बराबर जारी रखना चाहिये। यदि रोगी खाने पीने के लिए कुछ माँगे तो उसे मिश्री मिला कर दूध अथवा शर्करा और दही अथवा नारियल का जल तथा पक्व कदलीफल खिलावें। शरीर में पुनः तीव्र गर्मी पैदा होने पर जो उपचार किये जाते हैं और क्षुधा तृषा के लिये फल आदि का जो प्रबन्ध किया जाता है, यदि इसमें असावधानी हो जाय तो रोगी मर जायगा। अच्छी तरह चेतना (होश) आजाने पर जब वह बोलने लगे और खाने के लिये फल, दूध आदि माँगे उसे देकर रोगी को शीतल जल के टब से बाहर निकाल कर सब शरीर को कपड़े से पोंछ कर, चन्दन, कपूर, खश, नेत्रबाला, नागरमोथा आदि शीतगुण द्रव्यों का आपादतल मस्तक शरीर में लेप कर दें। इस प्रकार सात दिन तक उक्त प्रकार से शीत उपचार करें। और रोगी के कान, आँख, नाक और मुंह में शीतल जल के छींटे देते रहना चाहिये। आठवें दिन इस रस का प्रभाव कम करने के लिये अर्थात् ऊष्मा को घटाने के लिये दर्दुरीमूल (पुनर्नवामूल) स्वरस में मिश्री मिला कर पिलावें। इससे रस का प्रभाव अर्थात् ऊष्मा कम पड़ जायेगी। इसके बाद यथेष्ट भोजन और दही देना चाहिये। यदि रोगी को श्वासप्रश्वास हो और उसमें कोई जीवन के लक्षण न दिखाई दें अर्थात् श्वासोच्छ्वास क्रिया के अतिरिक्त और कोई लक्षण न दिखाई दे तो उसे चैतन्य करने के लिये जलपूर्ण पात्र (टब) में बैठायें जब तक कि उसमें चेतना न आ जाय। चेतना आने के बाद उसे टब से निकाल पूर्ववत् शीतोपचार करें। इस प्रकार उपचार करने से रोगी जीवित होकर पुनः आयु शेष होने तक जीवित रहता है। अत्यन्त भयंकर सन्निपात रूपी मृत्यु के समुद्र में डूबते हुये रोगी का जो उद्धार करता है उस (वैद्य) के पुण्य प्रताप का ब्रह्मा भी पार नहीं पा सकता है। अतः सन्निपातरूप कालभय से निर्मुक्त हुए मनुष्य को चाहिये कि अपने जीवनदाता

प्राणाचार्य (वैद्य) की अपना सर्वस्व दान करके भी पूजा करे। जो मनुष्य ऐसा नहीं करता अर्थात् वैद्य के किये हुए उपकार को भूल कर उसके साथ प्रत्युपकार नहीं करता वह कल्पकल्पान्त पर्यन्त घोर नरक में पड़ कर दुःख भोगता है। कुछ रसों के विषय में शंकर भगवान् ने ऐसी आज्ञा दी है। अर्थात् यह शिव जी का वचन है कि इस प्रकार की रसविद्या का सब से प्रकाश नहीं करना चाहिये। क्योंकि मन्द बुद्धि वाले मनुष्य धनप्राप्ति की इच्छा (लोभ) से शास्त्रज्ञान तथा गुरु की कृपा के बिना ही इस रस को प्रयोग करने लगेंगे। परन्तु पूर्ण ज्ञान और अनुभव न होने से न रोगी को बचा सकेंगे और न रसविद्या के महत्त्व को ही सुरक्षित कर सकेंगे। इस लिये सद्वैद्य को चाहिये कि पूर्णरूप से शास्त्रज्ञान और गुरु के प्रसाद को प्राप्त कर फिर इस रस को सन्निपात जैसी भयंकर व्याधि में प्रयोग करें॥ ७०—८९॥

शार्ङ्गेष्टादिवर्गः—

शार्ङ्गेष्टा च तथा व्याघ्री करीरस्तिलपर्णिका।
इन्द्रवारुणिका मुस्ता हरिद्राऽङ्कोलपूलिका॥ ९०॥
अपामार्गः कणाः स्वर्णः कटुतुम्बी च तिंतिडी।
शार्ङ्गेष्टादिकवर्गोऽयं सन्निपातहरः परम्॥ ९१॥

शार्ङ्गेष्टा (मकोय या काकजङ्घा) कटेरी, करीर, तिलपर्णी (हुलहुल या रक्तचन्दन), इन्द्रायण, नागरमोथा, हरिद्रा, अकोला की जड़, अपामार्ग, पिप्पली, धतूरा, कड़वी तूंबी, इमली, यह शार्ङ्गेष्टादिवर्ग कहा जाता है और यह सन्निपातज्वर नष्ट करने वाले रसों को भावना देने के लिये परमोपयोगी है॥ ९०—९१॥

सूचीमुखो रसः—

सूतं गन्धकतालकं मणिशिलां तार्प्यं लवं तुत्थकं
जेपालं विषटंकणं मधुफलं कृत्वा समांशं दृढम्।
कृत्वा कज्जलिकां विषोल्वणफणेः पित्तैश्च संभावयेत्
क्षिप्त्वा सीसककूपिके रसवरं सूचीमुखं नामतः॥ ९२॥
ब्रह्मद्वारविकीर्णलोहितलवे गुंजैकमात्रं ददे-
द्दत्वा संपुटबद्धतद्विकधनुर्वाते सशाखाहिमे।
कासं श्वासमरोचकं प्रलपनं कम्पं च हिक्कातुरं
मूकत्वं बधिरत्वमुन्मदमपस्मारं जयेत्तत्क्षणात्॥ ९०॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, जायफलचूर्ण, तुत्थभस्म, जैपालबीजचूर्ण, वत्सनाभविष, भुना हुआ सुहागा, महुआचूर्ण, इन सब को समभाग में लें। पहले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों के बारीक चूर्ण को मिला कर ज़हरीले सर्प के पित्त से एक या दो भावना देकर सुखा लें और शीशी में भर कर रख छोड़ें। इसको 'सूचीमुखरस' कहते हैं। जो रोगी घोर सन्निपात, धनुस्तम्भ (वातविकार) में जकड़ गया हो और जिसके हाथ पैर शिर ठण्डे और ढीले पड़ गये हों उसके ब्रह्मरन्ध्र (ब्रह्मतालु जहाँ पर छोटी उमर ३-४ महीने के बच्चों के शिर पर स्पन्दन होता है) पर तेज शस्त्र से थोड़ा सा चीर कर रक्त निकालें। रक्त निकलते ही उस छिद्र पर इस रस की एक रत्ती मात्रा डाल कर रक्त में घर्षण करके विलीन कर दें। इस प्रकार उपचार करने से रोगी अवश्य काल के ग्रास से बच जाता है। यह रस कास, श्वास, अरुचि, प्रलाप, कम्पन, हिक्का, मूकता (गूंगापन), बधिरता (बहरापन), उन्माद, अपस्मार इन सब रोगों को तत्काल नष्ट करता है।

विशेष वचन—इस रस के ब्रह्मरन्ध्र में रगड़ने से भी रोगी की ऊष्मा बहुत बढ़ जाती है, अतः ऊष्मा शान्त करने के लिये उसको शीत द्रव्य गन्ना, दूध, दही, शक्कर आदि देने चाहिये। इसके अतिरिक्त रोगी को शीतजल के टब में भी बैठाना चाहिये। इस क्रिया से न केवल उष्मा शान्त होती है अपितु प्रयुक्त रस की शक्ति भी बढ़ जाती है। इसलिये अन्यत्र लिखा है—"ये रसाः पित्तसंयुक्ताः प्रोक्ताः सर्वत्र शम्भुना। जलसेकावगाहैश्च बलिनस्ते तु नान्यथा। यथा लाभेन पित्तेन रसाः सर्वे भवन्ति हि॥" अन्यत्र इस रस को 'सूचिकाभरणरस' के नाम से लिखा है। लव का अर्थ-जायफल और लवङ्ग दोनों हैं। दोनों में से कोई भी ले सकते हैं॥ ९२—९३॥

सन्निपातगजांकुशः—

रसगंधकताम्राभ्रं लांगलीवह्निरामठम्।
बन्ध्यापटोलनिर्गुंडीसुगन्धानिम्बपल्लवाः॥ ९४॥
पाठा क्षारत्रयं क्ष्वेलबोलधत्तूरतन्दुलैः।
शृङ्गीमधुकसारं च जम्बीराम्लेन मर्दयेत्॥ ९५॥
कुर्याद्धि निष्कमानेन वटिका सा नियच्छति।
संस्वेददाहाभिन्यासं सन्निपातगजांकुशः॥ ९६॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, कृष्णाभ्रकभस्म, कलिहारी की जड़ का चूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, हींग भुनी, बांझककोड़ाचूर्ण, पटोलपत्रचूर्ण, सिम्भालूचूर्ण, रास्ना अथवा सुगन्धबालाचूर्ण, निम्बपत्रचूर्ण, पाठाचूर्ण, यवक्षार, सर्जक्षार तथा सुहागा, शुद्ध वत्सनाभ, बोलचूर्ण, धतूराबीज, चौलाई की जड़ का चूर्ण, काकड़ासिंगीचूर्ण, महुआसार अथवा मुलेठीसत्व इन सब औषधियों को समान भाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें अन्य द्रव्यों का बारीक चूर्ण मिला कर जम्बीरी नींबू के रस से अच्छी तरह मर्दन करके तीन तीन मासे की गोली बना लें। यह गोलियां यथोचित अनुपान के साथ सेवन करने से अत्यन्त स्वेद तथा दाहयुक्त अभिन्यास नामक सन्निपात ज्वर को नष्ट करती हैं। इस रस को सन्निपातगजांकुश कहते हैं।

विशेष वचन--इस रस के निर्माण तथा द्रव्ययोजना के विषय में तन्त्रान्तरों में मतभेद दिखाई देता है। इसी तरह रत्नाकर में इसको वातज्वरगजांकुश नाम से लिखा है। परन्तु निघण्टुरत्नाकर, रसकामधेनु आदि ग्रन्थों में पाया जाने वाला पाठ सब से अधिक रुचिकर तथा युक्तिसंगत प्रतीत होता है। इस रस की ३ या ४ मासा मात्रा बहुत अधिक है। अतः निम्न पाठ के अनुसार उसका निर्माण कर प्रयोग करना लाभदायक होगा--इस पाठ में बन्ध्या-पटोलादि द्रव्यों के रस से मर्दन करने को लिखा है, यथा "मृतं सूतं मृतं चाभ्रं शुद्धतालकमाक्षिके। रामठं तुल्यतुल्यं स्यान्मर्दयेत्खल्वके द्रवैः ।। बन्ध्यापटोलनिर्गुण्डीसुगन्धानिम्बचित्रकैः । धत्तूरलाङ्गलीपाठाभृङ्गीजम्बीरजैर्द्रवैः ।। त्रिदिनं मर्दयेदेभिश्चूर्णं कृत्वा विमिश्रयेत्। त्रिक्षारं सैन्धवं व्योषं विषं मधूकसारकम् ।। तुल्यं तुल्यं विचूर्ण्याऽथ पूर्वोक्तञ्च रसं समम्। एकीकृत्य भवेत्सिद्धः सन्निपातगजांकुशः ।। सन्निपातं निहन्त्याशु गुञ्जामात्रः प्रयोजितः ।।"

रसरत्नाकर के इस योग में माक्षिक के स्थान पर ताम्रभस्म लेने को लिखा है। इससे रस की शक्ति अधिक बढ़ जायगी और मूलोक्त पाठ से अधिक संगत हो जायगा। लांगली का शोधन गोमूत्र में होता है ।। ९४–९६ ।।

चातुर्थिकहरो रसः--

ससारा वैष्णवीसेना अचला कादि कंकणा।
रागरुद्रोपमोपेता प्रौढा मस्तकशालिनी ।। ९७ ।।
त्रिभागं तालकं विद्यादेकभागं तु पारदम् ।
तदर्द्धं गंधकं चैव तदर्द्धं तु मनःशिला ।। ९८ ।।
कारवल्लीदलरसैर्मर्दयेत्प्रहरत्रयम् ।
पाचितो बालुकायन्त्रे चातुर्थिकहरो रसः ।। ९९ ।।

सार (पारद) के सहित, वैष्णवीसेना (शुद्ध हरताल), अचला (शुद्ध मैनसिल), कादि (करेले के पत्तों का रस), कङ्कणा (शुद्ध गन्धक) इन औषधियों को निम्न अनुपान से लें। शुद्ध हरताल ३ भाग, शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक ½ भाग, शुद्ध मनसिल ¼ भाग में लेकर पहिले पारद तथा गन्धक की कज्जली करें। पश्चात् इसमें हरताल मिला कर करेले का रस डाल कर फिर मैनसिल का चूर्ण मिला तीन पहर तक अच्छी तरह मर्दन करें। पश्चात् गोला-सा बना सुखा कर एक शरावसम्पुट में बन्द करके अच्छी तरह तीन चार कपड़मिट्टी कर दें। पश्चात् इस सम्पुट को बालुकायन्त्र में रख दें। और बालु के ऊपर धान डाल दें। अथवा राग (ताम्रपात्र) में गोले को डाल, इसके चारों तरफ रुद्रोपमा (बालुका) डाल करके अर्थात् बालुकायन्त्र में रख के नीचे अग्नि जलायें। जब प्रौढ़ामस्तकशालिनी (धान पक कर खिल जायँ) हो जाय तो अग्नि देना बन्द कर दें। यह चातुर्थिकहर रस चातुर्थिकज्वर को नष्ट करता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में "ससारा वैष्णवीसेना" इत्यादि प्रथम श्लोक नहीं पाया जाता है। और न इससे कोई लाभ ही है। क्योंकि आगे सब द्रव्यों के नाम तथा अनुपातों का स्पष्ट वर्णन कर ही दिया गया है। अतः प्रथम श्लोक का कोई स्फुट अर्थ न होते हुये भी आगे के द्रव्यों को देख कर उक्त अर्थ किया जाता है।

किसी किसी ग्रन्थ में "कादिकंकणा" के स्थान पर "कादिकं कणा" ऐसा पृथक् पाठ दिया गया है जो सुन्दर प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि आगे द्रव्यों के नाम तथा अनुपात निर्देश करते हुये कणा (पिप्पली) का नामोल्लेख नहीं है अतः "कादि-कङ्कणा" यही पाठ होना चाहिये। रत्नाकरौषधयोग नामक पुस्तक में इस रस को "ज्वरगजांकुश" नाम से लिखा गया है। मात्रा १ रत्ती तक ।। ९७—९९ ।।

चातुर्थिकगजांकुशरसः—

स्याद्रसेन समायुक्तो गन्धकः सुमनोहरः ।
हियावल्लित्रिगुणितो निर्गुंडीरसमर्दितः ।। १०० ।।
सप्तवाराणि तद्योज्यमार्द्रकस्वरसेन तु ।
सन्ततादिज्वरं हन्याच्चातुर्थिकगजांकुशः ।। १११ ।।

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध हरताल ३ भाग लें। पहले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली करें। पश्चात् इसमें शुद्ध हरताल मिला निर्गुण्डी के स्वरस से अच्छी तरह सात भावना दें। और १–१ रत्ती की गोली बना लें। यह रस 'चातुर्थिकगजांकुश' नाम से कहा जाता है। इसकी एक एक रत्ती की तीन गोलियां ज्वर आने से पूर्व एक घंटे के अन्तर से अदरख स्वरस के साथ देने से सन्तत, सतत आदि सब प्रकार के विषमज्वर नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—कई चिकित्सक इसका अनुपान भाँग धतूरा तथा कंटकारी एक एक मासा लेकर २ तोला जल से पीस कर निकाले हुये स्वरस देने को कहते हैं।

"हियावल्लित्रिगुणितः" के स्थान पर "हृद्वल्लिकात्रिगुणिता" ऐसा पाठ रस की कार्य करने की शक्ति को देखते हुये अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। केवल पारद गन्धक की कज्जली को निर्गुण्डी-स्वरस से मर्दन कर जो गुण होते हैं वे शुद्ध हरताल या हरताल की भस्म मिलाने पर कई गुना अधिक होते हैं। दूसरा हरताल संखिये का योग होने से विषमज्वरों की सर्वोत्तम औषधि है। 'हृद्वल्लिका' पाठ रखने पर 'तिपतिया' लेना चाहिये ।।१००-१०१।।

द्वितीयमृत्युञ्जयरसः—

ताप्यतालकजेपालवत्सनाभमनःशिलाः ।
ताम्रगन्धकसूतं च मुसलीरसमर्दितः ।
मृत्युञ्जय इति ख्यातः कुक्कुटीपुटपाचितः ।। १०२ ।।

वल्लद्वयं प्रयुञ्जीत यथेष्टं दधिभोजनम् ।
नवज्वरं सन्निपातं हन्यादेष महारसः ॥ १०३ ॥

स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध हरताल अथवा (अभाव में) रसमाणिक्य, शुद्ध जैपालबीजचूर्ण, शुद्ध वत्सनाभ, शुद्ध मैनसिल, ताम्रभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद सब को समान भाग में लेवें । पहले पारद गन्धक की कज्जली बनावें । तदनन्तर उसमें स्वर्णमाक्षिकभस्म आदि मिला कर अन्त में मैनसिलचूर्ण मिला कर मुलहीस्वरस से अच्छी तरह मर्दन करके गोला सा बना कर सुखा लें । इस गोले को शरावसम्पुट में बन्द करके कपड़मिट्टी कर सुखा लें और कुक्कुटपुट में पका लें । यह 'मृत्युञ्जय' नाम से प्रसिद्ध रस है । इसको दो वल्ल मात्रा में उचित अनुपान के साथ प्रयोग करना चाहिये । यह महारस नवज्वर तथा सन्निपातज्वर को नष्ट करता है । इसके सेवनकाल में रोगी को पथ्य में दही के साथ भोजन देना चाहिये ।

विशेष वचन—वल्ल का अर्थ तीन रत्ती करने से इस रस की मात्रा अधिक हो जाती है । अतः वल्ल से एक रत्ती लेना चाहिये । अथवा चौबीस घण्टे में इस रस को ६ रत्ती तक सेवन कराया जा सकता है । रसराजसुन्दर आदि ग्रन्थों में 'जैपाल' के स्थान पर 'नेपाल' पाठ भी पाया जाता है । जो रुचिकर प्रतीत नहीं होता है । क्योंकि नेपाल (ताम्र) का आगे स्पष्ट उल्लेख किया गया है । नेपाल शब्द का आग्रह होने पर ताम्र दो वार आने पर इसके दो भोग लिये जा सकते हैं । परन्तु यदि ऐसा समाधान कर लिया जाय तो कुछ हानि नहीं होगी—कि नवज्वर के लिये इसका प्रयोग किया जाय तो इसमें जैपाल डाला जाय और यदि केवल सन्निपात के लिये इसका प्रयोग करना हो तो इसमें द्विगुण ताम्र डाला जाय ॥ १०२–१०३ ॥

पञ्चवक्त्ररसः—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं मरिचं टङ्कणं कणाम्
मर्दयेद्धूर्तजद्रावैर्दिनमेकं तु शोषयेत् ॥ १०४ ॥
पञ्चवक्त्रो रसो नाम द्विगुञ्जः सन्निपातजित् ।
अर्कमूलकषायं च सत्र्यूषमनुपाययेत् ।
दध्योदनं हितं तत्र जलयोगं च कारयेत् ॥ १०५ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध गन्धक, मिरचचूर्ण, शुद्ध सुहागा, पिप्पलीचूर्ण इन सब को समभाग लें । पहले पारद और गन्धक की कज्जली कर लें, फिर शेष द्रव्यों का चूर्ण उसमें मिला कर धतूरे के रस में एक दिन तक मर्दन कर सुखा कर रख लें अथवा दो रत्ती की गोली बना लें । इसे 'पञ्चवक्त्ररस' कहते हैं । दो रत्ती मात्रा में प्रयोग करने से यह रस सन्निपातज्वर को दूर करता है । इस रस का अनुपान आक की जड़ के क्वाथ में त्रिकटु का चूर्ण डाल कर करना चाहिये । अर्थात् इस रस की एक गोली खिला कर पीछे से उक्त अनुपान पिलाना चाहिये । इसमें दही और भात पथ्य है । यदि गरमी मालूम हो तो पानार्थ शीतल जल देना चाहिये और मस्तक पर भी शीतल जल की धारा डालनी चाहिये ।

विशेष वचन—यह रस भावप्रकाश, भैषज्यरत्नावली तथा रसेन्द्रचूड़ामणि आदि ग्रन्थों में भी पढ़ा गया है । परन्तु उनमें पिप्पली नहीं लिखी है । कहीं-कहीं इस रस में टीकाकारों ने वत्सनाभ के स्थान पर नागभस्म लिखी है । परन्तु यहाँ पर "विष" शब्द के स्पष्ट लिखने से अन्यत्र नागभस्म का अर्थ नहीं लेना चाहिये ।

इस रस की आधुनिक मात्रा आधी रत्ती से एक रत्ती तक समझनी चाहिये । इस रस के द्वारा स्वेद आकर ज्वर कम होता है ॥ १०४—१०५ ॥

उन्मत्तरसः—

रसगंधकतुल्यांशं धत्तूरफलजद्रवैः ।
मर्दयेद्दिनमेकं तु तत्तुल्यं त्रिकटु क्षिपेत् ।
उन्मत्ताख्यो रसो नाम्ना नस्ये स्यात्सन्निपातजित् ॥१०६॥

शुद्ध पारद १ तो०, शुद्ध गन्धक १ तो० लेकर कज्जली कर लें । फिर इस कज्जली को शुद्ध धत्तूरबीजों के क्वाथ के साथ एक दिन तक अच्छी प्रकार से घोटकर इसमें कज्जली के समभाग (२ तो०) त्रिकटु का चूर्ण मिला कर अच्छी तरह घोटकर सुखा के शीशी में भरकर रख लें । इस उन्मत्तरस को नासिका के द्वारा सूंघने से सन्निपातजन्य मूर्च्छा दूर हो जाती है ॥ १०६ ॥

सन्निपाताञ्जनरसः—

निस्त्वग्जेपालजं बीजं दशनिष्कं प्रचूर्णयेत्
मरिचं पिप्पली सूतं प्रतिनिष्कं विमिश्रयेत् ॥ १०७ ॥
भाव्यं जम्बीरजैर्द्रवैः सप्ताहं तत्प्रयत्नतः ।
सन्निपातं निहन्त्याशु अञ्जने यः शिवः स्मृतः ॥ १०८ ॥
मदनफलं बिडलवणं सर्षपाः प्रतिनिष्कद्वयम् ।
चूर्णयित्वा त्रिफलाक्वाथेन सटंकणं पिबेत् ॥ १०९ ॥
कुष्ठपाण्डुज्वराजीर्णकामलाकण्ठरोगनुत् ।
नस्ये च गिरिकर्ण्युत्थबीजैकं शीतवारिणा ॥ ११० ॥

छिलके रहित जैपालबीज १० निष्क, परिमाण में लेकर अच्छी तरह पीस लेवें । फिर इसमें मरिचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण तथा शुद्ध पारद प्रत्येक एक-एक निष्क प्रमाण मिला कर जम्बीरी नींबू के रस में अच्छी तरह सात भावनायें दें । यह रस नेत्रों में अञ्जन करने से सन्निपातज्वर को शीघ्र नष्ट करता है और अञ्जन करने में सुखजनक भी है । इसको आँखों में लगाने के बाद रोगी को त्रिफला कषाय में मदनफलचूर्ण, विड्लवण, सर्षप, तथा टंकण प्रत्येक एक एक निष्क परिमाण मिलाकर पिलाना चाहिये । कुष्ठ, पाण्डु-ज्वर, कामला, अजीर्ण तथा कण्ठगत रोग को नष्ट करने के

लिये केवल अपराजिता के बीज को जल में पीस कर उसमें इस रस को मिला कर नस्य भी दिया जाता है।

विशेष वचन—कहीं-कहीं 'कुष्ठपाण्ड' इत्यादि अन्तिम पद्य को पृथक् पढ़ा गया है और इसको सन्निपाताद्धिर नस्य के नाम से लिया गया है। उक्त रोगों को दूर करने के लिये अपराजिता के एक बीज को शीतल जल में पीस कर नस्य देना चाहिये॥१०७-११०॥

प्रतापलङ्केश्वरः—

प्रत्येकं रसगन्धयोर्द्विपलयोः कृत्वा मसीं शुद्धयो-
रस्यां म्लेच्छलुलायलोचनमनोधात्रीप्रकुंचत्रयम्।
पथ्याया बद्धरत्रिकं त्रिकटु षट् शाणं वचा धर्मिणी
वेल्लांभोधरपत्रकद्विरदकिंजल्काऽश्वगंधाह्वयम्॥१११॥
पिष्ट्वैतत्समधूकसारमखिलं कर्षोन्मितं न्यस्य तत्
प्रोन्मर्द्यार्द्धकरंजकामृतयुतं सागस्तिकत्र्यूषणैः।
भूधात्रीविजयासरित्पतिफलं ज्वालामुखीमार्कवैः
प्रत्येकं विदधीत निश्चलमतिः सप्त क्रमाद्भावनाः॥११२॥
पित्तैरथो पंच विधाय पंचभिः करंजपत्रामृतधूपनं ततः।
दत्त्वाऽऽर्द्रकस्य स्वरसेन तण्डुलाकृति विदध्याद्गुटिकां भिषग्वरः॥
देयैका सन्निपाते प्रतिहतविषये मोहनेत्रप्रसुप्त्योः
स्याद्गुल्मे साजमोदा पवनविकृतिषु त्र्यूषणेन ग्रहण्याम्।
दातव्या जीरकेण द्विपतुरगनृणां प्राणसंरक्षणाय
कारुण्यांभोधिरेतं रसकसमरसं वैद्यनाथोऽभ्यधत्त॥११४॥

शुद्ध पारद २ पल, शुद्ध गन्धक २ पल, लेकर इनकी अच्छी तरह से कज्जली कर लें। फिर इसमें ताम्रभस्म, शुद्ध भैंसिया गूगल, शुद्ध मैनसिल, आमलकीचूर्ण प्रत्येक तीन तीन पल मिलायें। इसके पश्चात् इसमें हरीतकीचूर्ण १½ कर्ष, त्रिकटुचूर्ण, ६ शाण, वचाचूर्ण, धर्मिणीचूर्ण, (रेणुका या अनन्तमूल) वायविडंगचूर्ण, नागरमोथाचूर्ण, तेजपातचूर्ण, नागकेशरचूर्ण तथा असगन्धचूर्ण प्रत्येक एक कर्ष तथा महुआफूल एक कर्ष मिला अच्छी तरह दो प्रहर तक खरल करके पुनः इसमें करञ्जत्वक्चूर्ण तथा शुद्ध वत्सनाभविष प्रत्येक अर्ध कर्ष मिलायें। अब इसको अगथियापुष्पस्वरस, त्रिकटुकषाय, भुईं आँवला, भाँग, समुद्रफल, चित्रक तथा भृंगराज के स्वरस या कषाय में पृथक् पृथक् सात भावनायें दें और सुखा लें। इसके पश्चात् इसको पूर्वोक्त पञ्चपित्तों (मछली, गाय, घोड़ा, हरिण तथा मोर) से पाँच भावना दें। तत्पश्चात् इस रस को करञ्जपत्र तथा वत्सनाभविष की धूनी देकर फिर अदरख के रस में अच्छी तरह मर्दन कर चावल भर की गोलियां बना लें। इनमें से जब सन्निपातज्वर में इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो गई हो और रोगी गूढ़ मोहनिद्रा तथा अचेतनावस्था में पड़ा हो उसके नेत्रों की पुतली में स्पर्शशक्ति का बोध न हो तब एक गोली अदरख के स्वरस में मिला कर देवें। गुल्मरोग में इसे अजमोदाचूर्ण या कषाय से, वातविकारों में त्रिकटुचूर्ण के साथ और संग्रहणी रोग में इसको जीरकचूर्ण के साथ देवें। अमृत के समान गुणदायक इस प्रतापलङ्केश्वर रस को हाथी, घोड़ा तथा मनुष्यों की प्राणरक्षा के लिये अत्यन्त दयालु वैद्यनाथनामक वैद्य ने अथवा वैद्यों के नाथ (धन्वन्तरि भगवान्) ने कहा है।

विशेष वचन—कई टीकाकार "अर्धकरञ्जकामृतयुतम्" इस कथन से सर्व पारद आदि द्रव्यों के चूर्ण से अर्धभाग करञ्ज तथा वत्सनाभ लेने को कहते हैं। सम्भवतः इसी विचार से इनकी मात्रा ½ रत्ती नियत की गई हो। परन्तु हृदय की दुर्बलता में अर्ध भाग विषान्वित रस का प्रयोग हानिकारक होता है। इसमें भी पञ्चपित्तों की भावना दी जाती है। अतः गरमी मालूम होने पर शीतोपचार तथा दही भात का पथ्य देना चाहिये। तन्त्रान्तर में इस रस को 'प्राणेश्वर' तथा 'कारुण्याम्भोधि' नाम भी दिये गये हैं। परन्तु ऐसे रसों का प्रयोग आजकल क्वचित् कदाचित् होता है। 'रसकसमरसम्' के स्थान पर 'अमृतसमरसम्' पाठ अधिक रुचिकर है। मन का अर्थ जटामाँसी है, कईयों ने मनःशिला न लेकर जटामाँसी लिया है॥ १११-११४॥

प्राणेश्वररसः—

गन्धकाभ्रसमः सूतो वाराहीरसमर्दितः।
पाचितो वालुकायन्त्रे त्रिफलाव्योषचित्रकैः॥११५॥
त्रिक्षारं पंचलवणहिंगुगुग्गुलुदीप्यकैः।
सजीरकैः सेन्द्रयवैः पृथग्रससमैर्युतः॥११६॥
माषमात्रोऽनुपानेन द्विपलस्योष्णवारिणः।
अभिन्यासानलभ्रंशग्रहणीपाण्डुगुल्मिनाम्॥११७॥
कुर्यात्प्राणपरित्राणमतः प्राणेश्वरः स्मृतः।
व्याधिवृद्धौ प्रयोगोऽस्य द्वौ वारौ वैद्यसंमतः॥११८॥

शुद्ध गन्धक १ भाग, कृष्णाभ्रकभस्म १ भाग, शुद्ध पारद १ भाग लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बनावें। अब इसमें अभ्रकभस्म डाल कर वाराहीकन्द के रस से मर्दन करें। पश्चात् शरावसम्पुट में अथवा मूषा में बन्द कर के अच्छी तरह पाँच सात कपड़मिट्टी करनी चाहिये। पश्चात् इस सम्पुट को वालुकायन्त्र में रख मध्यम अग्नि देकर पकावें। फिर स्वांगशीत होने पर औषधि को निकाल पीस कर उसमें पारद के समान भाग, त्रिफला, त्रिकटु, चित्रक, तीनों क्षार, पाँचों नमक, हींग, शुद्ध गूगल, अजवायन, जीरा, इन्द्रजौ, इन २० बीस द्रव्यों का चूर्ण बारीक करके मिलायें। इसमें से १ माषक (मासा) परिमाण मात्रा में लेकर दो पल गरम जल से सेवन करावें। यह रस प्रयोग करने से अभिन्यास (सन्निपातज्वर) अग्निमान्द्य, ग्रहणी, पाण्डुरोग तथा गुल्मरोग से पीडित मनुष्यों के प्राणों का परित्राण (रक्षा) करता है अतः

इसको प्राणों का ईश्वर प्राणेश्वर कहा जाता है। रोग की प्रबलता में अथवा उपद्रवावस्था में इस रस को दिन में दो बार प्रयोग करना चाहिये। यह वृद्ध वैद्यों का मत है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इस रस की औषधियों के विषय में अनेकविधि भेद पाया जाता है। कहीं इसमें ताम्र है, कहीं विष और कहीं फटकरी भी ली गई है। निघण्टुरत्नाकर आदि ग्रन्थों में अभ्रक के स्थान पर ताम्रभस्म तथा पारदभस्म (रससिन्दूर) अधिक लिखी है वहाँ इस रस को बालुकायन्त्र में पकाने पर असुविधा होने पर भूधरयन्त्र में पकाने को लिखा है। भैषज्यरत्नावली में जो प्राणेश्वररस है वह इस प्रकार है—"शुक्तसूतं तथा गन्धं सूतार्धं (मृताभ्रं) विषसंयुतम्। समस्तं (समं तत्) मर्दयेत्तालमूलीनीरैस्त्र्यहं बुधः॥ पूरयेत् कूपिकां तां च सन्निरुध्य विशोषयेत्। सप्तमृत्कर्पटिकावस्त्रैर्वेष्टयित्वा तु शोषयेत्॥ पुटेत्कुम्भीप्रमाणेन स्वांगशीतं समुद्धरेत्। गृहीत्वा कूपिकायाश्च मर्दयेच्च दिनं ततः। अजाजी जीरकं हिंगुस्वर्जिकाटंकणैर्युतम्। गुग्गुलुः पञ्च लवणं यवक्षारोपमानिका॥ मरिचं पिप्पली चैव प्रत्येकञ्च समांशतः। एषां कषायेण पुनर्भावयेत् सप्तधाऽतपे॥ नागवल्लीदलयुतं पञ्चगुञ्जं रसेश्वरम्। दद्यात् नवज्वरे तीव्रे कोष्णं वारि पिबेदनु॥ प्राणेश्वरेण नाम्ना सन्निपातप्रकोपजित्। शीतज्वरे दाहपूर्वे गुल्मे शूले त्रिदोषजे॥ वाञ्छितं भोजनं दद्यात् कुर्याचन्दनलेपनम्। तापोद्रेकप्रशमनो नानातीसारनाशनः॥ भवेच नात्र सन्देहः स्वास्थ्यञ्च लभते नरः॥" इसी रस को आजकल वैद्य लोग ज्वरातिसार में प्रयुक्त करते हैं।

प्राणेश्वर की आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक पर्याप्त होती है। ११५–११८।

मृतसञ्जीवनरसः—

रसायोव्योषकंकुष्ठशिलातालाभ्रहिंगुलान्।
कुम्भ्यग्निभृङ्गमारीषतण्डुलीयकमाक्षिकान्॥ ११९॥
हस्तिशुण्डीयुतांस्तुल्यांस्तदर्द्धं शिवगन्धकान्।
त्र्यहमार्द्राम्बुना पिष्ट्वा कूपिस्थं बालुकाग्निना॥ १२०॥
जयाजम्बीरनिर्गुण्डीचाङ्गेरीवारि निक्षिपेत्।
पक्त्वा चतुर्दशाहानि पिष्ट्वाऽऽर्द्रकं विशोषयेत्॥१२१॥
मृतसञ्जीवनाख्योऽयं रसो वल्लमितोऽशितः।
द्राक् जयेदौषधं सन्निपातादीन् सकलान् गदान्॥ १२२॥

पारदभस्म अथवा रससिन्दूर, लोहभस्म, त्रिकटुचूर्ण, शुद्ध कंकुष्ठ, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरताल, अभ्रकभस्म, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध जैपालबीजचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, चौलाईमूलचूर्ण, मारिषशाक, भृंगराजचूर्ण, माक्षिकभस्म, हस्तिशुण्डीचूर्ण प्रत्येक द्रव्य एक एक भाग लें। इन सब औषधियों से अर्धभाग पारद गन्धक की कज्जली (पारद गन्धक समभागयुक्त) लेवें। उक्त सब द्रव्यों एक भाग में लेवें। पहले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें को एकत्र खरल में डाल कर अदरख के रस से तीन दिनतक घोटें। तत्पश्चात् इसको एक काँचकूपी में डाल कर बालुकायन्त्र में रख चौदह दिन तक मन्द-मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल खरल में डाल कर इसको अरणि, जम्बीरी नीबू, निर्गुण्डी तथा चांगेरीस्वरस से पृथक्-पृथक् एक-एक दिन घोट कर अन्त में अदरख के रस से पीस कर सुखा लेवें। यह 'सञ्जीवन' नामक रस एक वल्ल मात्रा में सेवन करने से शीघ्र ही सन्निपात आदि सम्पूर्ण रोगों को दूर करता है।

विशेष वचन—कई टीकाकार "चांगेरीवारि निक्षिपेत्" इससे यह अर्थ निकालते हैं कि एक चौड़े मुंह की कूपी में आर्द्रकस्वरसमर्दित पारदभस्मादि द्रव्य डाल कर उसे ठीकरेमें भरी हुई बालुका के ऊपर रखें। नीचे से अग्नि देवें और कूपी पर जया आदि द्रव्यों के स्वरस को छोड़ते हुए चौदह दिन तक पकावें। परन्तु भैषज्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में इससे मिलते-जुलते मृतसञ्जीवनरस में इसको जया आदि द्रव्यों के स्वरस से मर्दन कर बालुकायन्त्र में पकाने को लिखा हुआ है। अतः हमने भी यहाँपर मर्दन कर पकाने को लिखा है, यथा "निर्गुण्डीविजयाद्रावैस्त्रिदिनं मर्दयेत् पुनः। काचकुप्यां निवेश्याथ बालुकायन्त्रके पचेत्॥" कांचकूपी में स्वरस डालते हुए पकाने में अत्यन्त असुविधा रहेगी और फल कुछ विशेष नहीं प्राप्त होगा॥ ११९—१२२॥

द्वितीयमृतसञ्जीवनरसः—

रसभागो भवेदेको गन्धको द्विगुणो मतः।
विषतालककंकुष्ठशिलाहिंगुललोहकम्॥ १२३॥
वह्नित्रिकटुभृंगाह्वहेममाक्षिकमभ्रकम्।
हस्तिशुण्डी विषं कुम्भी तण्डुलीयकताम्रकौ॥ १२४॥
एषां प्रत्येकमेकैकं भागमादाय चूर्णयेत्।
आर्द्रकस्य द्रवेणैव मर्दयेच्च दिनत्रयम्॥ १२५॥
जंबीरस्य रसो ग्राह्यः पलत्रयपरीक्षितः।
त्रिफलायाश्च निर्गुण्ड्याः प्रत्येकं च पलत्रयम्॥ १२६॥
रसस्य पलमात्रं तु चांगेर्याः परिकीर्तितम्।
काचकूप्यां विनिक्षिप्य यन्त्रे क्षिप्त्वा प्रयत्नवान्॥१२७॥
उद्धृत्यार्द्रकनिर्यासैर्मर्दयित्वा विशोषयेत्।
मृतसञ्जीवनो नाम रसोऽयं विदितो भुवि॥
गुञ्जाद्वयं ददीतास्य सन्निपातापनुत्तये॥ १२८॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग, शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध हरताल, शुद्ध कंकुष्ठ, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हिंगुल, लोहभस्म, चित्रकमूलचूर्ण, त्रिकटुचूर्ण, भृंगराजचूर्ण, स्वर्णमाक्षिकभस्म, अभ्रकभस्म, हस्तिशुण्डीचूर्ण, विष (अतीस) शुद्ध जैपालबीजचूर्ण, चौलाई की जड़ का चूर्ण, ताम्रभस्म, इन सब औषधियों को एक

अन्य द्रव्यों के चूर्ण को मिला कर पीसें। फिर इसको अदरख के रस के साथ तीन दिन तक मर्दन करें। पुनः इसमें तीन पल जम्बीरी नींबू का रस, त्रिफलाकषाय तीन पल, निर्गुण्डीस्वरस तीन पल, चांगेरी (चौपतिया) स्वरस एक पल डाल कर पृथक्-पृथक् मर्दन करके सुखा लेवें। अथवा इन स्वरस आदि को औषधि के साथ काचकूपी में डाल दें। अब काचकूपी में भर कर सावधानी से पकावें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकालें और पुनः अदरख के रस से मर्दन कर सुखा लेवें। यह औषधि संसार में 'मृतसञ्जीवन' रस के नाम से प्रसिद्ध है। सन्निपात को नष्ट करने के लिये इसको दो गुञ्जा मात्रा में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—"यन्त्रे क्षिप्त्वा प्रयत्नवान्" के स्थान पर "स्वेदयेत् सप्तकद्वयम्', पाठान्तर से यह अर्थ निकलता है कि इस रस को यन्त्र में डाल कर जम्बीरादि रसों को डाल कर चौदह दिन तक पकाना चाहिये। काचकूपी में द्रव द्रव्यों को डाल कर अग्नि पर पकाने में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, अतः 'प्रयत्नवान्' लिखा है। भैषज्यरत्नावली आदि अनेक ग्रन्थों में मृतसञ्जीवनरस को केवल दो प्रहर तक पकाने को लिखा है।

इस रस में 'विष' शब्द दो बार प्रयोग किया गया है अतः एक विष शब्द से वत्सनाभ और द्वितीय से वत्सनाभभेद अतिविषा ली गयी है। भैषज्यरत्नावली में भी अतिविषा ही ली है। इसी तरह भैषज्यरत्नावली में कंकुष्ठ के स्थान पर वराटी (कौड़ी) को लिया गया है। कहीं कहीं यह रस 'सञ्जीवनरस' के नाम से मिलता है। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक पर्याप्त है। भैषज्यरत्नावली में इससे थोड़ा सा भिन्न मृतसञ्जीवनरस इस प्रकार लिखा है, यथा "शुद्धसूतं द्विधा गन्धं खल्ले तत् कज्जलीकृतम्। अभ्रलोहकयोर्भस्म ताम्रभस्मसमं समम्॥ विषतालं वराटश्च शिलाहिंगुलचित्रकाः। हस्तिशुण्डी चातिविषा त्र्यूषणं हेममाक्षिकम्॥ चूर्णं विमर्द्दयेद्द्रावैरार्द्रकस्य दिनत्रयम्। निर्गुण्डीविजयाद्रावैस्त्रिदिनं मर्दयेत् पुनः॥ काचकूप्यां निवेश्याथ बालुकायन्त्रके पचेत्। द्वियामान्ते समुद्धृत्य मर्दयेदार्द्रकद्रवैः॥ मृतसञ्जीवनो नाम रसोऽयं शंकरोदितः। मृतोऽपि सन्निपातार्तो जीवत्येव न संशयः" ॥१२३-१२८॥

सन्निपातकुठारः—

वङ्गं नागं च सूतं च नेपालं गन्धकं तथा।
शुल्वं विषं समांशेन रसेनार्द्रेण मर्दयेत्॥ १२९॥
पुनर्मर्द्येत निर्गुण्ड्याश्चाङ्गेर्या रसमर्दितः।
एकवल्लप्रयोगेण रसोऽयं सन्निपातनुत्॥ १३०॥

वङ्गभस्म, नागभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध नेपाल (मैनसिल), ताम्रभस्म, शुद्ध वत्सनाभ इन सब द्रव्यों को समभाग में लें। पहले पारद गन्धक की कज्जली करें। पश्चात् इसमें वङ्गभस्म आदि द्रव्य मिला कर अदरख के रस से एक दिन घोटें, फिर निर्गुण्डीस्वरस से और अन्त में चांगेरीस्वरस से एक दिन घोट कर १ रत्ती की गोलियाँ बना लें। इस रस की एक गोली देने से सन्निपातज्वर नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—कोई कोई रसवैद्य 'नेपाल' के स्थान पर अन्य सन्निपातहररसों की भाँति 'जैपाल' पाठ पढ़ने को कहते हैं। इस रस को अदरख या पान के रस में घोल कर देना चाहिये॥-१३०॥

नवज्वरारिः—

गन्धकं च रसं शुद्धं प्रत्येकं कर्षसम्मितम्।
एकत्र कज्जलीं कृत्वा ततः कुर्वीत गोलकम्॥ १३१॥
नवभाण्डे विनिक्षिप्य ताम्रपात्रेण गोपयेत्।
दृढं निरुध्य तत्पात्रमग्नावारोपयेत्ततः॥ १३२॥
व्रीहिस्फुटनमात्रेण स्वांगशीतं समुद्धरेत्।
नवज्वरे प्रयुञ्जीत रसं पर्पटिकाह्वयम्॥ १३३॥
आर्द्रकस्य रसेनैव त्रिवल्लं त्रिदिनं भिषक्।
ज्वरितं छादयेद्गाढं यावत्स्वेदः समुद्भवेत्॥ १३४॥
तक्रभक्तं भवेत्पथ्यं ज्वरमुक्तस्य देहिनः।
नवज्वरारिरित्येष रसः परमदुर्लभः।
वातज्वरे विशेषेण रसः साधारणो मतः॥ १३५॥

शुद्ध पारद १ कर्ष, शुद्ध गन्धक १ कर्ष लेवें। इन दोनों की एकत्र अच्छी तरह कज्जली करके जलयोग से गोला-सा बना लें। फिर इस गोले को एक मिट्टी की हाँडी में रखें। और इस गोले को एक कण्टकवेधी ताम्रपात्र (कटोरी) से ढक देवें। फिर ताम्रपात्र तथा हांडी की सन्धियों को अच्छी तरह बन्द करके हांडी के नीचे अग्नि देवें। ताम्रपात्र के ऊपर रखे हुये धानों के खिल जाने तक पाक करें। स्वांगशीतल होने पर सावधानी से रस को निकाल कर नवज्वर में प्रयोग करें। इस रस को पर्पटिकारस भी कहते हैं। इसकी तीन वल्ल प्रमाण मात्रा तीन दिन तक अदरख के स्वरस से देनी चाहिये। इस रस को खिला कर रोगी के शरीर में पसीना लाने के लिये गरम और मोटे कम्बलों से उसके शरीर को ढक देना चाहिये। पसीना आने के बाद शनैः शनैः कपड़ा हटाना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन एक मात्रा देकर पसीना देवें। तीन दिन के बाद जब रोगी का ज्वर दूर हो जाय तो उसे तक्र और भात पथ्य में देना चाहिये। यह 'नवज्वरारिरस' सर्वसाधारण के लिये परम दुर्लभ है। यह वातज्वर के लिये विशेष उपयोगी है।

विशेष वचन—इसमें पारद गन्धक के गोलक के आच्छादनार्थ जो ताम्रपात्र (कटोरी) बनाया जाय वह अत्यन्त शुद्ध होना चाहिये। और मात्रा का परिमाण भी १ तोला ताम्र का होना चाहिये। गोलक को हांडी में रख ताम्रपात्र से ढक कर सन्धिबन्ध करके पात्र के चारों तरफ हांडी के मुख तक बालुका भर देनी

चाहिये। इस वालुका के पृष्ठ पर धान रख देने चाहिये। नीचे तब तक अग्नि देनी चाहिये जब तक वालुकास्थित धान खिल न जायँ। पश्चात् सावधानी से खोल कर ताम्रपात्र सहित गोलक को पीस लेना चाहिये। ताम्रपात्र कृष्णवर्ण तथा भंगुर अवस्था में पाया जाता है। जैसे कि पञ्चामृतपर्पटी आदि के खण्ड। अतः इस रस को पर्पटिकारस भी कहा गया है। इसकी मात्रा एक दिन में १ रत्ती पर्याप्त है। ३ रत्ती प्रतिदिन देने से अत्यन्त ऊष्मा बढ़ जायगी। इस रस को पारद गन्धक की कज्जली का ताम्रपात्र के भीतर लेप करके भी बनाया जा सकता है॥

जलमञ्जरीरसः—

टंकणं रसगंधौ च मरिचानि समांशकम्।
सर्वं जंबीरनीरेण दिनानि त्रीणि मर्दयेत्॥ १३६॥
संशोष्य शर्करायुक्तं मत्स्यपित्तेन भावयेत्।
भावितं तद्रसं सिद्धमार्द्रकस्वरसैस्त्र्यहम्॥ १३७॥
वल्लं वारत्रयं देयं पानार्थं वारि शीतलम्।
तक्रभक्तं भवेत्पथ्यं वृन्ताकफलसंयुतम्॥
सर्वान्निवज्वरान् हन्ति रसोऽयं जलमञ्जरी॥ १३८॥

शुद्ध सुहागा, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक और कालीमिरचचूर्ण इन सब को समभाग में लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें पश्चात् इसमें टंकण और मरिचचूर्ण मिलायें। फिर इसको तीन दिन तक जम्बीरी नींबू के रस से अच्छी तरह घोटें। फिर इसमें शर्करा (खाँड) सब द्रव्यों के बराबर मिलायें और मछली के पित्त से भावना देवें। पुनः इसको अदरख रस की तीन भावनायें दें। इस रस को तीन वल्ल मात्रा में अदरख के रस से देवें। रोगी को तृषा लगने पर शीतल जल देना चाहिये। इसके सेवनकाल में बैंगन की भाजी तथा तक्र और भात पथ्य में देना चाहिये। यह 'जलमञ्जरी' नामक रस सब प्रकार के ज्वरों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में इस रस को चन्द्रशेखर नाम से लिखा है। और भैषज्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में इसे उदरमञ्जरी नाम से लिखा है। कई टीकाकारों ने शर्करा के स्थान पर विष लेने को लिखा है। वस्तुतः "शर्करा" शब्द से विष का ग्रहण निघण्टु के विरुद्ध है। खांड डाल कर बनाया हुआ रस गुणों में किसी तरह कम नहीं होता है। और कई वैद्य शर्करा से मैनसिल लेते हैं। मैनसिल युक्त यह रस अति उष्णगुण होता है, शर्करा के स्थान पर मैनसिल डालने पर तन्त्रान्तर में इसे चन्द्रशेखर संज्ञा दी है, यथा "विहाय शर्करां यदा प्रदीयते मनःशिला। तदा निरामकज्वरारिरेष चन्द्रशेखरः॥" तीन वल्ल मात्रा इसकी अधिक है अतः इसे १ रत्ती से दो रत्ती तक प्रयोग कर सकते हैं। अन्यत्र इस रस को इस प्रकार लिखा है, यथा "सूतो गन्धष्टङ्कणः सोषणश्च सर्वैस्तुल्या शर्करा, मत्स्यपित्तैः। भूयोभूयो मर्दयेत्तत्त्रिरात्रं वल्लो देयः शृङ्गबेरद्रवेण॥ तापे शीतं भोजयेत्तक्रभक्तं वृन्ताकाढ्यं पथ्यमेतत्प्रदिष्टम्। अह्नैवोग्रं हन्ति सद्यो ज्वरन्तु तापाधिक्ये मूर्ध्नि तोयं विदध्यात्॥" इस रस के सेवन से पित्ताधिक्य हो जाय तो शिर पर शीतल जल का परिषेक करना चाहिये। इससे स्वेद आकर ज्वर भी उतर जाता है और रोगी निर्बल भी नहीं होता है। अर्थात् हृदय की शक्ति कम नहीं होती है। यह रस मत्स्यपित्त द्वारा भावित होने से आन्त्रज्वर में,—जब कि यकृत् से पित्त अच्छी तरह नहीं निकलता और उदर में आध्मान और मल में दुर्गन्ध आती है,—$\frac{1}{2}$ रत्ती मात्रा में बहुत लाभदायक होता है। शिला के योग से निर्मित उदकमञ्जरीरस की $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक पूर्ण मात्रा निर्धारित करनी चाहिये। शर्करायोग से बना हुआ रस पित्तप्रकोपजन्य ज्वरों के लिये भी अच्छा माना गया है॥—१३८॥

कान्तरसः—

कांतलोहस्य पत्राणि कण्टवेध्यानि कारयेत्।
ततः संपेष्य तं कल्कं मर्दयेत्त्रिदिनं पुनः॥ १३९॥
रसतुल्येन मत्स्यस्य पित्तेन परिभावयेत्।
सिद्धः कांतरसो ह्येष प्रयोज्योऽभिनवज्वरे।
शृंगबेरानुपानेन मात्रया भिषगुत्तमैः॥ १४०॥

कान्तलोह के कण्टकवेधी पत्रों पर पारद गन्धक की कज्जली पोत कर अथवा हिंगुल का कल्क पोत कर भस्म बना लेवें। पश्चात् इस भस्म के बराबर शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक और सुहागा लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें फिर इसमें लोहभस्म तथा टंकण मिला कर निम्बपत्रस्वरस से अच्छी तरह मर्दन करें। किञ्चित् सूख जाने पर इसमें पारद समभाग मछली का पित्त डाल कर तीन भावनायें दें। इस प्रकार यह कान्तरस सिद्ध (तय्यार) होता है। इसको उचित मात्रा में अदरख के रस के साथ नवज्वर में प्रयोग करने से ज्वर शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—इस रस का मूल पाठ कुछ भ्रान्त है। अतः हमने निम्नलिखित पाठ के अनुसार उक्त अर्थ किया है। अन्यत्र इसका इस प्रकार स्पष्ट पाठ मिलता है जो युक्तिसंगत है—"कान्तस्य कण्टवेध्यानां पत्राणां भस्म कारयेत्। तत्समश्च रसो गन्धष्टङ्कणो निम्बवारिणा॥" इतना पहला पद्य लिख कर पुनः "ततः सम्पेष्य तंकल्कमित्यादि" पाठ होना चाहिये। इस रस की आधुनिक मात्रा $\frac{1}{2}$ रत्ती से १ रत्ती तक पर्याप्त होगी॥ १३९—१४०॥

चन्द्रोदयरसः—

रसगंधौ तथा वंगमभ्रकं समभागतः।
मेलयित्वाथ वंगेन समं सूतं विमर्दयेत्॥ १४१॥

तत्रैकीकृत्य गंधाभ्रे पेष्यं जम्बीरवारिणा ।
सामान्यं पुटमादद्यात्सप्तधा साधितं रसम् ॥ १४२ ॥
कुमार्या चित्रकेणापि भावयित्वाऽथ सप्तधा ।
गुडेन जीरकेणापि ज्वरे जीर्णे प्रयोजयेत् ॥ १४३ ॥
कासे श्वासे कुमार्या च त्रिफलाक्वाथयोगतः ।
उन्मादं च धनुर्वातममृताक्वाथसंयुतः ॥
इत्येवं रोगतापघ्नो रसश्चन्द्रोदयाभिधः ॥ १४४ ॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध वंगपत्र एक भाग, कृष्णाभ्रकभस्म १ भाग लें। पहिले वंग को अग्नि पर पिघलायें, तुरन्त ही दूसरे खरल में पड़े हुये पारद के साथ मिला कर शीघ्र ही मर्दन करना शुरू कर दें। जब पारद वंग की पिष्टी बन जाय तब उसमें गन्धक मिला कर मर्दन करें। कज्जली बन जाने पर उसमें अभ्रकभस्म मिला कर जम्बीरी नींबू के रस से घोटें। पश्चात् इस कल्क को शरावसम्पुट में बन्द करके लघु पुट दें। पुनः पुट से निकाल कर जम्बीरी नींबू के रस से घोट कर शरावसम्पुट में बन्द करके लघु पुट देवें। इस प्रकार सात लघुपुट देवें। तदनन्तर इसको कुमारीरस की सात और चित्रकमूलकषाय की सात भावना देकर सुखा लें। इस तरह सिद्ध किये हुये इस रस को जीर्णज्वर में गुड़ और जीरकचूर्ण के साथ प्रयोग करें। कास तथा श्वास रोग में कुमारीरस अथवा त्रिफलाक्वाथ के साथ देवें। उन्माद और धनुर्वात रोग में गुडूचीस्वरस अथवा कषाय के साथ सेवन करायें। इस प्रकार सेवन करने से यह चन्द्रोदय नामक रस सम्पूर्ण रोगों के ताप (पीड़ा) को नष्ट करता है।

विशेष वचन—पारद वंग की पिष्टी बना कर उसको जम्बीरी नींबू के रस से घोट कर जल से धो लेने पर वंग का मल और भी साफ हो जाता है। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती।

निघण्टुरत्नाकर आदि ग्रंथों में पाये जाने वाले चन्द्रोदयरस में वंग के स्थान पर वंगभस्म ली गई है। इसके अतिरिक्त उसमें शिलाजतु तथा छोटी इलायची के बीज भी पारद समभाग लिये गये हैं। परन्तु यह रस प्रमेह आदि रोगों के लिये लाभदायक होता है। इसी तरह वंग योग से बनाया हुआ मूलोक्तरस भी प्रमेह रोग में दिया जा सकता है॥ १४१—१४४॥

जीर्णज्वरारिः—

नागं वङ्गं रसं ताम्रं गन्धकं टंकणं तथा ।
सूतं विषं च नेपालं हरितालं समं तथा ॥ १४५ ॥
वटक्षीरेण सम्मर्द्य सर्वं कुर्यात्तु गोलकम् ।
तं गोलकं भाण्डमध्ये पाचयेद्दीपवह्निना ॥ १४६ ॥
तं गोलं शीतलं कृत्वा भृङ्गराजेन मर्दयेत् ।
आर्द्रकस्य रसेनापि मर्दयेच्च पुनः पुनः ॥ १४७ ॥
चणप्रमाणवटकान् रसेनाऽऽर्द्रस्य दापयेत् ।
गुञ्जाद्वयप्रमाणेन ज्वरं जीर्णं हरत्यसौ ॥ १४८ ॥

नागभस्म, वङ्गभस्म, शुद्ध रसौंत, ताम्रभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध टङ्कण, शुद्ध पारद, शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरताल, इन सब द्रव्यों को पृथक्-पृथक् समभाग में लेवें। पहले पारद गन्धक की कज्जली बनायें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर बड़ के दूध से अच्छी तरह घोट कर गोला-सा बना लें। अब इस गोले को एक हाँडी में बन्द करके सन्धिलेप करदें। पश्चात् इस हाँडी के नीचे एक अंगुल मोटी बत्ती वाले दीपक की चार पहर अग्नि दें। स्वांग शीतल होने पर निकाल कर इस औषधि को भांगरे और अदरख के रस की पृथक्-पृथक् सात सात भावना दें। अन्त में चने के बराबर अर्थात् दो रत्ती की गोलियाँ बना लें। इनमें से एक एक गोली अदरख के रस के साथ देने से जीर्णज्वर शीघ्र दूर हो जाता है।

विशेष वचन—इस रस के योग में 'रसं' 'सूतं' इस प्रकार दो स्थानों में पारद का उल्लेख है। इस वास्ते कोई रस का अर्थ रसोत करते हैं। परन्तु तन्त्रान्तर में 'सूतं' के स्थान पर 'रसकं' पाठ मिलता है। यही पाठ उचित प्रतीत होता है। क्योंकि जीर्णज्वर के लिये रसक (खपरिया) उत्तम औषधि है। नेपाल से कई टीकाकार जैपाल का ग्रहण करते हैं। परन्तु जीर्णज्वर में जैपाल का प्रयोग अत्यन्त विरल होने से तथा पुट में पकाने पर जैपाल का कुछ भी गुण न रहने से इसका ग्रहण उचित प्रतीत नहीं होता है। अतः हमने नेपाल से शिला का ग्रहण किया है। 'दीपवह्निना' के स्थान पर 'दीप्तवह्निना' पाठ पाया जाता है। ऐसी दशा में केवल एक प्रहर तक ही पकाना चाहिये। और यह ध्यान रखना चाहिये कि गन्धकधूम बाहिर न निकलने पाये। दो रत्ती की मात्रा इस रस की बहुत अधिक प्रतीत होती है। अतः आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती पर्याप्त समझनी चाहिये। तन्त्रान्तर में इस रस को 'जीर्णज्वरहर रस' अथवा 'ज्वरविद्रावण' रस के नाम से लिखा है॥ १४५—१४८॥

नवज्वरमुरारिः—

हरश्च गन्धकं चैव कुनटी च समं समम् ।
मर्द्यं कर्कोटिकायाश्च रसेन विनियोजयेत् ॥ १४९ ॥
नवज्वरमुरारिः स्याद्वल्लं शर्करया सह ।
तंडुलीयरसेनानुपानं शर्करयाऽपि वा ॥
गुंजाद्वयप्रमाणेन ज्वरान् हन्ति नवान् हठात् ॥ १५० ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, इन तीनों को समान भाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें बांझ ककोड़े का रस डाल कर फिर उसमें मैनसिलचूर्ण मिला कर एक दिन पर्यन्त अच्छी तरह मर्दन करें। सूखने पर शीशी में रख छोड़े। इसको 'नवज्वरमुरारि' रस कहते हैं। इसकी एक वल्ल मात्रा को शर्करा के साथ खिला कर अनुपान के रूप में चौलाइ

का स्वरस शर्करा मिला कर पिलाना चाहिये। अथवा केवल शर्करा के साथ ही इसका प्रयोग करना चाहिये। यों तो यह रस साधारणतः सब ज्वरों को नष्ट करता है। परन्तु नवीन ज्वरों को दो रत्ती प्रमाण में सेवन करने से हठात् बन्द कर देता है।

विशेष वचन—नवीन ज्वरों को रोकने के लिये इसे ज्वर आने से पूर्व दो रत्ती मात्रा में सेवन करना चाहिये। ज्वर चढ़ने पर इसका सेवन करना ठीक नहीं है। नवीन ज्वरों के लिये दो रत्ती की मात्रा अधिक नहीं है ॥ १४९—१५० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये ज्वरचिकित्सितन्नाम द्वादशोऽध्यायः।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः।

अथ रक्तपित्तादिचिकित्सनम्।

रक्तपित्तस्य निदानसम्प्राप्ती—

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णविदाहिरूक्षैः
पित्तं प्रदुष्टमशनैरतिसेवितैस्तैः।
संदूष्य रक्तममुनोभयमार्गवर्ति
निर्यात्यसृक्स्थलयकृत्प्लिह तोऽतिमात्रम् ॥ १ ॥

कटु (चरपरा जैसे मिर्च), अम्ल (खट्टी), तीक्ष्ण (जैसे राई), नमकीन, गरम तथा विदाही (छाती में जलन करने वाले) और रूक्ष (शुष्क जैसे समाकोदों आदि खुश्क गरम अन्न) भोजनों और द्रव्यों के अधिक चिरकाल तक सेवन करने से अथवा तत्तत् पित्तप्रकोप व्यवहार तथा स्थितियों से जैसे चिरकाल तक गर्मी के दिनों में अग्नि के पास बैठ कर कार्य करना तेज घूमना या परिश्रम करना, अथवा तीव्र मद्य आदि पीना। शरीर में पित्त दूषित होकर रक्त को भी दूषित कर देता है। इस प्रकार की निदान और सम्प्राप्ति होने पर यकृत् और प्लीहा (जो कि रक्तवहन के मूल स्थल हैं) में रञ्जक पित्त की मात्रा बढ़ जाती है जिससे दोनों मार्गों (ऊपर तथा नीचे) से अधिक मात्रा में रक्त निकलने लगता है। इस रोग को, जिसमें नासिकामुख-कर्ण द्वारा तथा गुदामेहनेन्द्रिय द्वारा रक्तस्राव हो, रक्तपित्त कहते हैं।

विशेष वचन—रक्तपित्तमें सेरों खून निकलता है यदि यह शुद्ध रक्त हो तो रोगी की मृत्यु हो जानी चाहिये। किन्तु यह विशेषरूप से रञ्जकपित्त (जो कि यकृत् में उत्पन्न होता है) की वृद्धि है जो रक्त में मिल कर नासिका आदि मार्गों से बाहर निकलने लगता है। यकृत् तथा प्लीहा को रक्तवाहि स्रोतों का मूल माना जाता है—'प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥'' चरक। रक्तपित्त में उक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ ऐसे कारण भी होते हैं जिनसे शरीर में खटिक धातु कम हो जाता है और रक्त में द्रवता बढ़ जाती है।

पटोलादियोगः—

पटोलमायसं चूर्णं सूतेन्द्रं समचारितम्।
लोहारिवर्गसङ्घृष्टं रक्तपित्तहरं परम् ॥ २ ॥

पटोलपत्र, लोहभस्म, रससिन्दूर इन तीनों को समानभाग में लेवें। फिर लोहारिवर्ग की औषधियों के कषाय में मर्दन कर सुखा लेवें। यह पटोलादियोग उत्तम रक्तपित्तहर है।

विशेष वचन—'पटोलं' के स्थान पर 'पलैकं' पाठ अधिक प्रीतिकर प्रतीत होता है। यों तो पटोल भी पित्तहर द्रव्यों में उत्तम माना जाता है। किन्तु रस प्रकरण के कारण 'पलैकं' पाठ रुचिकर लगता है। पटोलपत्र डालने पर इस योग की मात्रा १ से २ रत्ती दिन में दो तीन बार पर्याप्त होगी। लोहारिवर्ग को तन्त्रान्तर में इस प्रकार लिखा है—''त्रिफला त्रिवृता दन्ती कटुकी तालमूलिका। वृद्धदारकवृश्चीर-वृषपत्रकचित्रकाः ॥ शृङ्गवेरविडंगौ च भृङ्गभल्लातकौषधम्। दाडिमस्य च पुष्पाणि शतपुत्री पुनर्नवा ॥ कुठारक्रामकौ कन्दः तन्त्री भेकस्य पर्णिका। हस्तिकर्णपलाशश्च कुलिशः केशराजकः ॥ माणः खण्डितकर्णश्च गोजिह्वालोहमारकः। गिरिशान्तनकः प्रोक्तस्त्रिफलादिरयं गणः ॥'' अन्यत्र लोहमारकगण से रक्तरोधकगण का ग्रहण किया जाता है। जिसमें वासा, अपामार्ग, नीलकमल तथा शतावरी आदि रक्तरोधक औषधियाँ होती हैं ॥ २ ॥

रसेन्द्रयोगः—

वृषादलानां स्वरसस्य कर्षं रसेन्द्रगुञ्जामधुशार्करायुतम्।
लिहन् प्रभाते मनुजो निहन्याद्दुःखाकरं दारुणरक्तपित्तम् ॥

अडूसे के पत्रों का स्वरस १ कर्ष, रसेन्द्र (रससिन्दूर) १ गुञ्जा, मधु १ मासा, शर्करा (खांड) १ मासा मिला कर प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करने से अत्यन्त भयंकर और कष्टप्रद रक्तपित्त रोग नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—रक्त के लिये वासा (अडूसा) उत्तम औषधि मानी जाती है। यह रक्तवाहिनियों को संकुचित करके रक्तस्राव बन्द कर देता है। अतः अन्यत्र वासा के विषय में लिखा है—''वासायां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च। रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति'' ॥ ३ ॥

रक्तपित्ताङ्कुशो रसः—

पारदं हिंगुलूकं च ऊर्ध्वयन्त्रेण मेलयेत्।
कुक्कुटाण्डरसं भागं टङ्कणक्षारमेव च ॥४॥
गन्धकस्य तथा भागं घृतेन परिमर्दयेत्।
सिद्धं रसं समादाय जीरतोयेन दापयेत् ॥५॥
दिनानि त्रीणि मासं च ग्रहणीरक्तदोषजित्।
ज्वरदाहविनाशश्च रक्तपित्तविनाशनम् ॥६॥

शुद्ध पारद तथा शुद्ध हिंगुल दोनों को समभाग में लेकर अच्छी तरह मर्दन कर कज्जली बना लें। पश्चात् इसे ऊर्ध्वपातन

में बन्द कर के अग्नि देकर पारद (हिंगुल और पारद) को निकाल लें। पश्चात् इस ऊर्ध्वपातिक पारद के बराबर मुर्गी के अण्डे का रस, भुना हुआ सुहागा तथा शुद्ध गन्धक लें। पहले पारद गन्धक की कज्जली बनावें। पश्चात् इसमें अण्डे का रस तथा टङ्कण डाल कर अच्छी तरह मर्दन करें। पश्चात् इसे पारद के समभाग गोघृत से अच्छी तरह मर्दन कर १ मासे की गोली बना लें। इस प्रकार सिद्ध किये हुये इस रस की १ गोली जीरे के क्वाथ के साथ सेवन करायें। इस रस के तीन दिन सेवन करने से ग्रहणी तथा रक्त के रोग, पित्तप्रकोपजन्य ज्वर, दाह तथा रक्तपित्तरोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—वसवराजीयतन्त्र में इस रस को 'पित्तमुद्गर' नाम से लिखा है। वहाँ इसके विषय में कुछ पाठभेद भी देखने को मिलता है, यथा "पारदं हिंगुलोत्थं च ह्यूर्ध्वपातनतो नयेत्। कुक्कुडाण्डरसाद्भागः टंकणक्षारमेव च॥ गन्धकस्य तथा भागो घृतेन परिमर्दयेत्। सिद्धं रसं समादाय जीरतोयेन दापयेत्॥ माषत्रयं प्रतिदिनम्......" और कहीं कहीं "पारदं हिंगुलूकं च पूर्वं यन्त्रेण मेलयेत्।" ऐसा पाठ भी पाया जाता है। इस पाठ में हिंगुल तथा पारद को पहिले खरलयन्त्र में मिलाना चाहिये यह अर्थ होता है। और वसवराजीय पाठ से केवल हिंगुलोत्थपारद लेना चाहिये। यदि पारद और हिंगुल दोनों ही लेने हों तो इन दोनों को एकत्र मिला गन्धक के साथ कज्जली करनी चाहिये। अन्यथा हिंगुलोत्थ पारद के गन्धकादि द्रव्य मिला कर इस रस को बनाना चाहिये आधुनिक मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक॥४-६॥

चन्द्रकलारसः—

प्रत्येकं तोलमानेन सूतकं ताम्रभस्मकम्।
दिनानि त्रीणि गुटिकां कृत्वा चाग्नौ विनिक्षिपेत्॥७॥
ततः शुष्कं समादाय पुनरेव च मर्दयेत्।
समस्तैः समगन्धैश्च कृत्वा कज्जलिकां च तैः॥ ८॥
मुस्तादाडिमदूर्वाभिः केतकीस्तनवारिभिः।
सहदेव्याः कुमार्याश्च पर्पटस्यापि वारिणा॥ ९॥
रामशीतलिकातोयैः शतावर्या रसेन च।
भावयित्वा प्रयत्नेन दिवसे दिवसे पृथक्॥ १०॥
तिक्तं गुडूचिकासत्त्वं पर्पटोशीरमागधीः।
शृंगाटं सारिवा चैषां समानं सूक्ष्मचूर्णकम्॥ ११॥
द्राक्षादिककषायेण सप्तधा परिभावयेत्।
ततः पोताश्रयं क्षिप्त्वा वट्यः कार्याश्चणोपमाः॥ १२॥
अयं चन्द्रकलानामा रसेन्द्रः परिकीर्तितः।
सर्वपित्तगदध्वंसी वातपित्तगदापहः॥ १३॥
अन्तर्बाह्यमहादाहविध्वंसनमहाक्षमः।
ग्रीष्मकाले शरत्काले विशेषेण प्रशस्यते॥ १४॥
कुरुते नाग्निमान्द्यं च महातापज्वरं हरेत्।
भ्रमं मूर्च्छां हरत्याशु स्त्रीणां रक्तमहास्रवम्॥ १५॥
ऊर्द्ध्वाधो रक्तपित्तं च रक्तवान्तिं विशेषतः।
मूत्रकृच्छ्राणि सर्वाणि नाशयेन्नात्र संशयः॥ १६॥

शुद्ध पारद तथा ताम्रभस्म प्रत्येक को एक तोला लेकर दोनों को एकत्र जल से अथवा अडूसे के रस से तीन दिन मर्दन करके गोला-सा बना लें। अब इस गोले को मूषासम्पुट में बन्द करके तीन चार उपलों की अग्नि से पका लें। जलीयांश शोषण होने पर उसको पुनः अच्छी तरह मर्दन कर लें। अब इसमें समभाग (दोनों के बराबर) शुद्ध गन्धक मिला कर अच्छी तरह कज्जली कर लेवें। अब इस कज्जली को नागरमोथा, दाड़िम, दूर्वा (दूब), केवड़ा, सहदेवी, कुमारी, पित्तपापड़ा, रामशीतलिका (दक्षिण देश में रामशालि नाम से प्रसिद्ध पत्रशाक), शतावरी; इन प्रत्येक औषधियों के स्वरस या कषाय में पृथक् पृथक् कम से कम एक एक दिन भावना दें। पश्चात् इसमें चिरायता, गुडूचीसत्व, पित्तपापड़ा, खश, पिप्पली, सिंगाड़ा, अनन्तमूल; इन औषधियों को समभाग में लेकर अर्थात् प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण पारद के बराबर लेकर मिला दें, और फिर इसको द्राक्षादिगण के कषाय से सात भावना दें, और चणक-प्रमाण गोलियाँ बना कर छाया में सुखा लें। यह 'चन्द्र-कला' नामक रसेन्द्र (महान्) रस कहा जाता है। यह सर्वप्रकार के पित्तरोगों तथा वातपित्तजन्य रोगों को नष्ट करता है। यह शरीर की भयंकर आन्तरिक तथा बाह्य दाह को नष्ट करता है। शरदृतु तथा ग्रीष्मऋतु में पित्तप्रकोप से होने वाले दाह तथा पित्तरोगों में यह विशेष रूप से लाभदायक होता है। इसके प्रयोग से अग्नि-मान्द्य नहीं होने पाता और यह अत्यन्त तापयुक्त ज्वर (१०४-१०५ डिग्री) को शान्त करता है। यह थकावट, मूर्च्छा, स्त्रियों के रक्त-प्रदर, ऊर्ध्व तथा अधोगरक्तपित्तरोग तथा रक्तवमन को विशेष रूप से शान्त करता है। इसके अतिरिक्त यह रस सर्वप्रकार के मूत्रकृच्छ्रों को भी नष्ट करता है। इसमें सन्देह नहीं।

विशेष वचन—ग्रन्थान्तर में इस रस को 'महान् चन्द्रकला' नाम से लिखा है। और कहीं इसका पाठ मूत्रकृच्छ्रप्रकरण में पाया जाता है। भैषज्यरत्नावली में इस रस का इस प्रकार पाठ है—"प्रत्येकं कर्षमानं स्यात्सूतं ताम्रं तथाभ्रकम्। द्विगुणं गन्धकञ्चैव कृत्वा कज्जलिकां शुभाम्॥ मुस्तदाडिमदूर्वोत्थैः केतकी·स्तवकद्रवैः। सहदेव्याः कुमार्याश्च पर्पटस्य च वारिणा॥ रामशीतलिका तोयैः शतावर्याः रसेन च। भावयित्वा प्रयत्नेन दिवसे दिवसे पृथक्॥ तिक्तागुडूचिकासत्वपर्पटोशीरमाधवीः। श्रीगन्धं सारिवा तेषां समानं सूक्ष्मचूर्णितम्॥ द्राक्षाफलकषायेण सप्तधा परिभावयेत्। ततः पोताश्रयं कृत्वा वट्यः कार्याश्चणोपमाः॥" मूल पाठ में 'केतकी-

स्तनवारिभिः' के स्थान पर 'केतकीस्तववारिभिः' पाठ होने से स्तवक (गुच्छे) का ही अर्थ हो जाता है। स्तनवारि पाठ के पक्षपाती स्तनवारि से स्त्रीदुग्ध या गोदुग्ध लेते हैं। यह भी पित्तहर द्रव्य है। स्त्रीदुग्ध की भावना देने से भी कोई हानि नहीं होती है। सर्वत्र तन्त्रान्तर में 'सूतकं ताम्रभस्मकम्' के स्थान पर 'सूतं ताम्रं तथाभ्रकम्' पाठ पाया जाता है। यदि अभ्रक भी डाला जाय तो इससे रस में गुणवृद्धि ही होगी। क्योंकि अभ्रक रक्त में जमने की शक्ति को उत्पन्न करता है। तन्त्रान्तर में इसको पित्तप्रकोपजन्य प्रमेहों के लिये भी उत्तम लिखा है। इसमें सन्देह नहीं। अभ्रक-युक्त इस रस को पित्तशामक द्रव्यों के फाण्ड से देने पर मूत्र में आने वाले रक्त के लाल, कृष्ण तथा नीलवर्ण कण; जिसमें रक्त-मेह, कृष्णमेह तथा नीलप्रमेह होते हैं; सब नष्ट होते हैं। द्राक्षादिकषाय तन्त्रान्तर में इस प्रकार लिखा है—"द्राक्षामधूकमधुकं रोध्रकाश्मर्यसारिवाः। मुस्तामलकह्रीवेर-पद्मकेशरपद्मकम्। मृणाल-चन्दनोशीरनीलोत्पलपरूषकम्॥" 'पोताश्रयं का कई टीकाकार जल अर्थ करते हैं और कई कर्पूर। परन्तु तन्त्रान्तर में 'ततः पोताश्रयं क्षिप्त्वा' के स्थान पर 'छायाशुष्कं विधायाथ' ऐसा पाठ पाये जाने से हमने भी छायाशुष्क अर्थ किया है। और 'भ्रमं मूर्च्छां हरत्याशु स्त्रीणां रक्तं महाश्रमम्' के स्थान पर 'भ्रममूर्च्छा-हरश्चाशु स्त्रीणां रक्तं महास्रवम्' पाठ उचित प्रतीत होता है॥

पटोलकादियोगः—

सपटोलकहिंगूलः सक्षौद्रो रक्तपित्तनुत्॥ १७॥

पटोलपत्रचूर्ण तथा शुद्ध हिंगुलचूर्ण मिला कर मधु के साथ चाटने से रक्तपित्त नष्ट होता है।

विशेष वचन—पटोलपत्र तथा हिंगुल दोनों को समभाग में लेकर यदि एक रत्ती की मात्रा में भी सेवन किया जाय तो पटोल-पत्र (पित्तशामक) के ½ रत्ती होने से विशेष लाभ होने की आशा नहीं रहती है। अतः शुद्ध हिंगुल ¼ रत्ती मात्रा में मधु के साथ चटा कर अनुपान के रूप में पटोलपत्रस्वरस १–२ तोला मिलाने से उचित लाभ हो सकता है॥ १७॥

नवनीतादियोगः—

नवनीतं सिता लाजा द्राक्षया सह भक्षयेत्॥ १८॥

रक्तपित्त के प्रकोप काल में मक्खन, मिश्री, धान की खील तथा मुनक्का इनको समभाग में मिला चाटने से रक्तपित शान्त होता है॥ १८॥

शिरोलेपः—

मस्तके च घृतं दद्याद्रक्तपित्तहरं परम्॥ १९॥

नासिका से निकलने वाले रक्तपित्त में मस्तक पर घृत (मक्खन) का लेप करने से रक्तपित्त शान्त हो जाता है॥ १९॥

द्राक्षादिकषायः—

द्राक्षावासायुतं क्वाथं शर्कराभान्वितं पिबेत्॥ २०॥

द्राक्षा तथा वासा के कषाय में शर्करा मिला कर पिलाने से भी रक्तपित्त शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—"शर्कराभावितं पिबेत्" के स्थान पर रसरत्नाकरोक्त "पिबेच्च शर्करान्वितम्" पाठ अधिक सरल तथा स्पष्ट है॥ २०॥

योगद्वयम्—

वासारसं सिताक्षौद्रैर्लाजान् वा शर्करासमान्।
भक्षयन् रक्तपित्तार्त्तस्तृष्णादाहज्वरं जयेत्॥ २१॥

वासास्वरस में मिश्री तथा मधु मिला कर सेवन करने से अथवा धान की खील शर्करा तथा वासास्वरस मिला कर सेवन करने से रक्तपित्त दाह तथा तृष्णादि पित्तप्रकोपजन्य रोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—"लाजान् वा शर्करासमान्" के स्थान पर "वासा वा शर्करासमा" पाठान्तर है॥ २१॥

सितामृता—

धात्रीचूर्णं सितातुल्यं भक्षयेद्रक्तपित्तनुत्॥ २२॥

आमलकीचूर्ण २ मासा, मिश्री २ मासा मिला कर जल से सेवन करने से भी रक्तपित्त शान्त हो जाता है॥ २२॥

[इति रक्तपित्तचिकित्सा]

अथ कासचिकित्सा

अथ कासस्य निदानादिकम्—

दोषाः शोषमनोऽभितापकुपिताः कुर्वन्ति कासं ततः
पित्तं पूतिकफं प्रपीतनयनः पूयोपमं ष्ठीवति।
शीतोष्णेच्छुरकारणेन बहुभुक्स्निग्धप्रसन्नाननः
पार्श्वार्त्यल्पबलक्षयाकृतिरपि प्रादुर्भवत्यन्यथा॥ २३॥

शरीर में धातुक्षय अथवा यक्ष्मारोग, चिरकाल तक मानसिक दुख, चिन्ता, भय आदि से वातादि दोष कुपित होकर कासरोग को उत्पन्न करते हैं। कास के उत्पन्न होने पर मनुष्य, रक्त अल्पता के कारण पीतवर्णनेत्र हो जाता है। और दुर्गन्धित तथा पीप के समान पीत वर्ण का कफ थूकता है। ऐसे रोगी को अकारण ही कभी शीत तथा कभी उष्ण पदार्थों के सेवन की इच्छा होती है। भोजन की मात्रा बढ़ जाती है और देखने में रोगी का मुख प्रसन्न दिखाई देता है। हालांकि उसकी पसलियों में पीड़ा, बेचैनी, बल की कमी, तथा शरीर भार की हानि उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त रोगी की निज प्रकृति (वातादि) के अनुसार भी उसमें लक्षण पाये जाते हैं।

विशेष वचन—कास के उक्त लक्षण तीव्र और जीर्णावस्था के (जिसमें फुफ्फुसों में शोथ द्रव तथा पूय पैदा हो गई हो) प्रतीत होते हैं। साधारण कास में पूय के सदृश दुर्गन्धित कफ नहीं

निकलता है। ग्रन्थ का उद्देश्य निदान सम्बन्धी न होने से यहाँ सब बातों का विस्तार नहीं दिया जाता है। अतः इस विषय को चरक आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये ॥ २३ ॥

अर्कादियोगः—

सार्क तीक्ष्णाभ्रको ऽगस्त्यकासमर्दवरारसैः।
मर्दितो वेतसाम्लेन पिण्डितः कासनाशनः ॥ २४ ॥

ताम्रभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म तथा कृष्णाभ्रकभस्म को समभाग में लेकर अगस्त्य के फूलों का रस, कसौंदी त्रिफला तथा अम्लवेत के स्वरस या कषाय में पृथक्-पृथक् एक एक दिन मर्दन करके एक एक रत्ती की गोली बना लें। इन गोलियों को [वासास्वरस में मिला कर] सेवन करने से कास रोग नष्ट होता है ॥ २४ ॥

कासहरो रसः—

तारे पिष्टशिलां क्षिप्त्वा हरितालाच्चतुर्गुणम्।
वासागोक्षुरसाराभ्यां मर्दयेत् प्रहरद्वयम् ॥ २५ ॥
प्रस्विन्नो वालुकायन्त्रे गुञ्जाद्वितयसंमितः।
कासं त्रिकटुनिर्गुण्डीमूलचूर्णयुतो हरेत् ॥ २६ ॥

रजतभस्म १ भाग, शुद्ध हरताल १ भाग, शुद्ध मैनसिलचूर्ण ४ भाग लेवें। पहिले मैनसिल तथा रजतभस्म को एकत्र मर्दन करके फिर इसमें हरताल मिला कर वासा तथा गोखरू का स्वरस डाल कर पृथक् दो दो प्रहर तक अच्छी तरह मर्दन करें। अब इस गोले को एक शरावसम्पुट अथवा मूषापुट में बन्द करके कपड़मिट्टी करके सुखा लें और बालुकायन्त्र में पकायें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इसमें से २ गुंजा मात्रा लेकर इसमें त्रिकटुचूर्ण- निर्गुण्डीमूलचूर्ण मिला कर जल से सेवन करने पर कास नष्ट हो जाती है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती। बालुकायन्त्र में इतना स्वेदन करना चाहिये जिससे हरताल तथा शिला पिघल कर रजतभस्म के साथ मिल कर रसमाणिक्य का रूप धारण कर लेवें। रसचन्द्रिका में लिखित कासहर रस में द्रव्यों के अनुपान में कुछ भिन्नता है, यथा "तारपिष्टी शिलां क्षिप्त्वा हरितालश्चतुर्गुणम्। वासागोक्षुरसाराभ्यां मर्दितः प्रहरद्वयम् ॥ यहाँ तारपिष्टी से पारद और रजत की पिष्टी से अभिप्राय प्रतीत होता है॥

रत्नकरण्डकरसः—

भूनागाभ्रकयोः सत्त्वं कान्तहेमाभ्ररूपकम्।
मुक्ताफलानि रत्नानि ताप्यं वैक्रान्तमेव च ॥ २७ ॥
भस्मीकृतमिदं सर्वं पृथङ्माषमितं मतम्।
निष्कमात्रमितं शुद्धं राजावर्त्तरजस्तथा ॥ २८ ॥
एतत्सर्वं समं योज्यं मर्दयित्वाम्लवेतसैः।
रुद्ध्वा मूषोदरे कोष्ठ्यां धमेदाकाशदर्शनम् ॥ २९ ॥

शतवारं धमेदेवं मर्दयित्वाऽम्लवेतसैः।
ततः संचूर्णिते चास्मिन्मुक्ताभस्म द्विशाणकम् ॥ ३० ॥
मरिचं पंचशाणेयं क्षिप्त्वा संमर्द्य यत्नतः।
रम्ये करंडके क्षिप्त्वा स्थापयेत्तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥
सोऽयं रत्नकरण्डको रसवरो मध्वाज्यसंक्रामणो
हन्याच्छ्वासगदं ज्वरं ग्रहणिकां कासं च हिध्मामयम्।
शूलं शोषमहोदरं बहुविधं कुष्ठं च हन्याद्द्रुतान्
बल्यो वृष्यकरः प्रदीपनतमःस्वस्थोचितो वेगवान्॥३२॥

शुद्ध भूनागसत्व, शुद्ध अभ्रकसत्व, कान्तलोहभस्म, सुवर्णभस्म, अभ्रकभस्म, रजतभस्म, मुक्ता, नवरत्न (हीरा, पन्ना, माणिक्य, पुखराज, नीलम, लसुनियाँ, गोमेद, प्रवाल, वैदूर्यमणि) स्वर्णमाक्षिकभस्म, वैक्रान्तभस्म, प्रत्येक एक एक मासा, शुद्ध राजवर्त (लाजवर्दभस्म) १ निष्क लेकर सबको एकत्र मिला कर अम्लवेत के रस अथवा जम्बीरी नींबू के रस से १–२ दिन तक मर्दन करके गोला-सा बना कर सुखा लें। इस गोले को मूषा के सम्पुट में बन्द करके अच्छी तरह सन्धिलेप करके सुखा लें और कोष्ठी (कोयलों की भट्ठी) में रख कर तब तक तपावें जब तक कि कोयलों की ज्वाला का वर्ण आस्मानी रंग का न हो जाय। तब अग्नि देना बन्द करके स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल खरल में डाल कर पुनः अम्लवेत के रस से मर्दन कर मूषा में बन्द करके पुनः कोष्ठी में तपावें। इस तरह सौबार अम्लवेत के रस से मर्दन कर कोष्ठी में तपायें। तदनन्तर औषधियों को पीस कर उसमें ८ मासा मुक्ताभस्म और कालीमिरच का चूर्ण २० मासा मिला कर घोट करके एक सुन्दर शीशी में रख लें। यह 'रत्नकरण्डकरस' कहा जाता है और रक्तपित्तहर रसों में सर्वोत्तम है। इसको यथोचित मात्रा ($\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती) में घृत और मधु में मिलाकर सेवन करने से ज्वर, संग्रहणी, कास, हिक्का, शूल, शोष (क्षय), उदररोग तथा अनेक प्रकार के कष्ट तथा त्वक्रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। यह रस अत्यन्त बलकारक वीर्यवर्धक (धातुक्षय को नष्ट करने वाला) जठराग्निदीपक है। यदि यह रस स्वस्थ मनुष्य को सेवन कराया जाय तो उसकी आयुवृद्धि तथा बलवृद्धि होती है।

विशेष वचन—'आकाशदर्शनम्' का कई टीकाकार अभ्रकदर्शन अर्थात् फूकते हुये मूषा में से अभ्रक निकल कर दीखने लगे ऐसा अर्थ करते हैं। यह ठीक नहीं है क्योंकि अभ्रक उड़ता नहीं है। अतः नीलहरित्वर्ण की सी ज्वाला निकलने तक तपाना चाहिये। 'हेमाभ्ररूप्यकम्' के स्थान पर 'हेमाऽर्करूप्यकम्' पाठ अधिक अच्छा है। अर्क से ताम्रभस्म ली जाती है। यह रस राजयक्ष्मा, कास, क्षीण, दुर्बलता में विशेष उपयोगी है। बालकों के सूखा रोग में भी यह विशेष लाभ करता है। फुफ्फुसों में शोथ

द्रव तथा पूय हो जाने पर इससे अत्यन्त लाभ होता है अर्थात् इसके प्रयोग करने से व्रणों के मुखों पर खटिक लवण जम जाते हैं जिससे फुप्फुस-व्रण आगे को फैलना बन्द हो जाते हैं ॥

भूताङ्कुशो रसः—

शुद्धसूतस्य भागैकं भागैकं शुद्धगन्धकम् ।
भागत्रयं मृतं ताम्रं मरिचं पञ्चभागिकम् ॥३३॥
मृताभ्रस्य चतुर्भागं भागमेकं विषं क्षिपेत् ।
भूतांकुशस्य भागैकं सर्वं चाम्लेन मर्दयेत् ॥३४॥
यामं भूतांकुशो नाम माषैकं वातकासजित् ।
अनुपानं लिहेत्क्षौद्रैर्विभीतकफलत्वचः ॥
पित्तकासारुचिश्वासक्षयकासांश्च नाशयेत् ॥३५॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, ताम्रभस्म तीन भाग, कालीमिरचचूर्ण ५ भाग, कृष्णाभ्रकभस्म ४ भाग, शुद्ध वत्सनाभविष १ भाग, सफेद सरसों १ भाग लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बनायें, फिर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिलाकर अमलवेत के रस से १ प्रहर तक अच्छी तरह मर्दन करें और सुखा कर रख लें। इसमें से १ मासा मात्रा में लेकर चतुर्थांश विभीतक-चूर्ण और द्विगुण मधु मिला कर चटायें। इसके सेवन करने से वातिककास, पित्तकास, अरुचि, श्वासक्षय और पाण्डु रोग नष्ट होते हैं। इसको 'भूतांकुश' रस कहा जाता है।

विशेष वचन—भूतांकुश से कई स्थानों में धतूरबीज लिये जाते हैं। परन्तु भूतापसर्पण या भूतबाधानाशन के लिये सफेद सरसों अधिक लिये जाने के कारण यहाँ पर सरसों लिये गये हैं। "क्षयकासांश्च नाशयेत्" के स्थान पर "क्षयं पाण्डुञ्च नाशयेत्" पाठ ठीक है। तन्त्रान्तर में इस नाम का रस उन्माद रोग में लिखा है। वह इससे सर्वथा भिन्न है। मूलोक्त भूतांकुश की मात्रा अत्यधिक है। अतः आधुनिक मात्रा १रत्ती से २रत्ती पर्याप्त समझनी चाहिये। भूतांकुश से सुरबोज्ज्वलाटीका में शंखभस्म ली है, परन्तु शंख की अपेक्षा सरसों में भूतांकुश नाम अधिक है, सरसों का पर्याय रक्षोघ्न भी है ॥ ३३–३५ ॥

बोलबद्धरसः—

रसभस्म विषं तुल्यं गन्धकं द्विगुणं मतम् ।
बोलतालकबाह्लीककर्कोटीमाक्षिकं निशा ॥३६॥
कंटकारीयवक्षारलांगलीक्षारसैन्धवम् ।
मधूकसारं संचूर्ण्य सप्ताहं चार्द्रकद्रवैः ॥३७॥
गुटिकां बदराकारां श्लेष्मकासापनुत्तये ।
भक्षयेद्बोलबद्धोऽयं रसः सश्वासपाण्डुजित् ॥३८॥

पारदभस्म (रससिन्दूर) १ भाग, शुद्ध वत्सनाभ १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग, बोल एक भाग, शुद्ध हरताल, भुनी हुई हींग, ककोड़ाचूर्ण, स्वर्णमाक्षिकभस्म, हरिद्राचूर्ण, कण्टकारीचूर्ण, यवक्षार, कलिहारीमूलचूर्ण, सैन्धानमक, जीराचूर्ण, महुआ या मुलेठी का सत्व, प्रत्येक १ भाग लेवें। पहिले रससिन्दूर तथा गन्धक की कज्जली बना कर फिर उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिलायें। इसके पश्चात् सबको सात दिन तक अदरख के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन कर छोटे बेर के बराबर गोलियाँ बना लें। यह रस कफप्रकोपजन्य कास के लिये परमोपयोगी है। इसके अतिरिक्त इसके प्रयोग से श्वास तथा पाण्डुरोग भी नष्ट होते हैं। इसे 'बोलबद्ध' रस कहते हैं।

विशेष वचन—"लांगलीक्षारसैन्धवम्" के स्थान पर "लांगली-जीरसैन्धवम्" पाठ ठीक है। क्षार शब्द के पक्षपाती वैद्य लोग नवसादर लेने को कहते हैं। नवसादर भी श्लेष्मा निकालने तथा श्वासनाली को शुद्ध करने में प्रयुक्त किया जाता है। बेर के बराबर गुटिका कुछ बड़ी हो जाती है, अतः चणक-प्रमाण वटिका उपयुक्त रहती है। रसकामधेनु ग्रन्थ में "वाह्लीक" के स्थान पर "पाठा" तथा "चित्रक" औषधियों का ग्रहण किया गया है ॥

अग्निरसः—

रसगंधकपिप्पल्यो हरीतक्यक्षवासकम् ।
षडुत्तरगुणं चूर्णं बब्बुलक्वाथभावितम् ॥३९॥
एकविंशतिवाराणि शोषयित्वा विचूर्णयेत् ।
भक्षयेन्मधुना हन्ति कासमग्निरसो ह्ययम् ॥४०॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग, पिप्पलीचूर्ण ३ भाग, हरीतकीचूर्ण ४ भाग, बहेड़ाचूर्ण ५ भाग, वसामूलत्वक्चूर्ण ६ भाग, लेकर पहिले पारद गन्धक की कज्जली बनायें। फिर इसमें पिप्पली आदि द्रव्यों के चूर्ण मिला कर बबूल की छाल के कषाय की २१ भावना देकर सुखा लेवें। इसे 'अग्निरस' कहते हैं। इसको मधु के साथ मिला कर सेवन करने से कास रोग नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक दिन में तीन बार। इस रस में यदि सात भाग भार्गीमूलत्वक्चूर्ण मिला दिया जाय तो इसे "भार्गोत्तरवटी" के नाम से कहा जाता है। वैद्यचिन्तामणि के कास-प्रकरण में लिखे हुये अग्निरस में पारद आदि ६ औषधियाँ समभाग में ली गई हैं और उसमें मधुयष्टी तथा गुड़ अधिक है। मुलेठी सबके समान और गुड़ सबके बराबर लिया गया है। इसकी दो रत्ती मात्रा लिखी है ॥ ३९—४० ॥

भृंगराजयोगः—

भृंगराजस्य पत्राणि मधुना चूर्णितानि हि ।
गोलकं धारयेद्वक्त्रे कासविध्वंसशान्तये ॥ ४१ ॥

भाँगरे के गीले पत्रों को पीस कर उसमें समभाग शहत मिला कर गोली बना लें। इन गोलियों को मुख में रख कर चूसने से खाँसने में कठिनाई दूर हो जाती है। अथवा कास तथा मलबन्ध नष्ट हो जाता है ॥ ४१ ॥

अर्कादियोगः—

अर्कैरण्डस्य पत्राणां रसं पीत्वा च कासजित् ॥ ४३ ॥

अर्क (मदार) तथा एरण्ड के पत्तों के रसपान करने से भी कास नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—आक तथा एरण्ड के पत्रों को अग्नि में तपा कर रस निकालना चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो इस रस में मधु भी मिलाया जा सकता है ॥ ४२ ॥

कासघ्नधूमद्वयम्—

दन्तीमूलस्य धूमं वा निर्गुण्ड्या वा पिबेज्जयेत् ॥४२॥

दन्तीमूलत्वक् के धूम (धूवां) अथवा निर्गुण्डीमूलत्वक् का धूम पान करने से भी कास शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—धूमपान करने के लिये एक शराव में कोयले भर कर उसमें उक्त द्रव्यों के चूर्ण डाल कर शराव के ऊपर एक दूसरा बीच में छिद्रयुक्त शराव औंधा रख दें और छिद्र में नली लगा कर धुयें को मुख द्वारा खींचना चाहिये। अथवा इन द्रव्यों की सिगरेट बना कर जला कर पीना चाहिये ॥ ४३ ॥

स्वयमग्निरसः—

त्रिकटु त्रिफला चैला जातीफललवंगकम्।
एतेषां समभागानां समः पूर्वरसो भवेत् ॥ ४४ ॥
सञ्चूर्ण्याऽऽलोडयेत्क्षौद्रे भक्ष्यो निष्कद्वयं द्वयम्।
स्वयमग्निरसो नाम्ना क्षयकासनिकृन्तनः ॥ ४५ ॥

सौंठ, मरिच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, इलायचीबीज, जायफल, लौंग इन सब औषधियों के चूर्ण को समभाग में लेकर एकत्र पीसलें। अब इस मिलित चूर्ण में समभग पूर्वोक्त अग्निरस मिला कर पीस लें तो यह 'स्वयमग्निरस' के नाम से कहा जाता है। इसकी २ निष्क मात्रा मधु में मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से क्षयसम्बन्धी कास नष्ट हो जाता है ॥ ४४–४५ ॥

क्षयकासघ्नो योगः—

इन्द्रवारुणिकामूलं भृंगीकृष्णातिलैः सह।
भक्षयेत् क्षयकासार्त्तो निष्कमात्रं प्रशान्तये ॥ ४६ ॥

इन्द्रायण की जड़ की छाल, अतिविषा या भाँगरा, पिप्पली तथा कृष्णतिल इन सब को समान भाग में लेकर बारीक चूर्ण कर लें। इसमें से १ निष्क मात्रा में सेवन करने से क्षयसम्बन्धी कास शान्त हो जाता है ॥ ४६ ॥ [इति कासचिकित्सा]

अथ श्वासचिकित्सा

अथ श्वासस्य सम्प्राप्तिः—

श्लेष्मोपरुद्धगमनः पवनोऽतिदुष्टः
संदूषयन्ननु जलान्नवहाश्चनाडीः।
आमाशयोद्भवमिमं विदधात्युरस्थः
श्वासं च वक्रगमनो हि शरीरभाजाम् ॥ ४७ ॥

वात कफप्रकोपक द्रव्यों के सेवन से जब श्लेष्मा द्वारा प्राण-वायु का मार्ग रुक जाता है तो प्राणवायु विकृत होकर जलवाही स्रोत तथा अन्नवाही स्रोत (आहारनलिका आदि) को दूषित कर देता है जिससे रोगी को तृषा, मुखशोष, अरुचि आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और श्वास की गति तीव्र या अनियमित तथा कष्टप्रद हो जाती है। इस प्रकार की शारीरिक विकृति के साथ उत्पन्न होने वाले श्वास को आमाशयविकृतिजन्य (मिथ्याहार से) श्वास कहा जाता है।

विशेष वचन—श्वासरोग में मुख्यतः श्वासनाली, श्वासप्रणाली तथा वायुकोष्ठों की विकृति होती है। इन स्थानों की विकृति के अनुसार ही शास्त्रों में श्वास के अनेकविध भेदों का वर्णन पाया जाता है। श्लेष्मा शब्द से श्वासनाली आदि में शोथ का ग्रहण किया जाता है। कई बार यह श्वास वायुकोष्ठों के विकृत अथवा विस्तृत होने से भी उत्पन्न हो जाता है। ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य निदान का वर्णन न होने से हम विस्तार में नहीं जा सकते हैं। अतः इसके लिये चरक आदि आयुर्वेदीय ग्रन्थों का सम्यक् अव लोकन करना चाहिये ॥ ४७ ॥

ऊर्ध्वश्वासारिः—

इन्द्रवारुणिकामूलं देवदारु कटुत्रयम्।
शर्करासहितं खादेदूर्ध्ववश्वासप्रशान्तये ॥ ४८ ॥

इन्द्रायण की मूल, देवदारु तथा त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पिप्पली) इनको समभाग लेकर कषाय बनायें। कषाय को छान कर इसमें शर्करा मिलाकर पिलाने से ऊर्ध्वश्वास शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—ऊर्ध्वश्वास में रोगी का बाहर आने वाला श्वास लम्बा होता है और भीतर जाने वाला श्वास बहुत अल्प होता है। ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः॥ उक्त योग श्वासहर रसों में अनुपान रूप में देने से विशेष लाभ करता है ॥ ४८ ॥

सूर्यावर्तरसः—

सूतार्धं गन्धकं मर्द्यं यामैकं कन्यकाद्रवैः।
द्वयोः समं ताम्रपत्रं पूर्वकल्केन लेपयेत् ॥ ४९ ॥
दिनैकं हण्डिकायन्त्रे पक्वमादाय चूर्णयेत्।
सूर्यावर्त्तरसो ह्येष द्विगुंजः श्वासजिद् भवेत् ॥ ५० ॥

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, दोनों को कज्जली करें। फिर घीकुमार के रस से उसे एक प्रहर तक अच्छी तरह खरल करें। फिर शुद्ध ताँबे के पतले (कंटकवेधी) पत्र ३ तोला लेकर उस पर उक्त कज्जली की पीठी को लेप दें और एक हाँडी में डाल कर मुँह बन्द करके दिन भर पकावें। पक जाने पर उतार ठंडा करके चूर्ण करलें अर्थात् पीस लें। इसे दो रत्ती भर मात्रा में प्रयोग करावें। यह सूर्यावर्त रस श्वास को दूर करता है।

विशेष वचन—भैषज्यरत्नावली में पारद गन्धक को समभाग में लेने को कहा है। और इस रस को बालुकायन्त्र में पकाने को लिखा है। शार्ङ्गधर में इसे स्थालिकायन्त्र में पकाने को लिखा है। स्थालिका तथा हण्डिका में कोई विशेष भेद नहीं होता है। "ताम्रपत्रं पूर्वकल्केन लेपयेत्" के स्थान पर "ताम्रभस्म पूर्वकल्केन मेलयेत्" पाठ होने पर कज्जली कल्क और ताम्रभस्म मिला कर हाँडी में पकाना चाहिये। भस्म के साथ पकाने से ताम्र के वान्ति आदि दोषों की कोई आशंका न रहेगी। भैषज्यरत्नावली में पूर्वोक्त इन्द्रवारुणिका मूल आदि योग को अनुपान रूप में देने को लिखा है। यह रस मन्दाग्नि, शोथ तथा ज्वरयुक्त श्वास में भी हितकर है। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से आधी रत्ती तक ।४९-५०।

सौगन्धिकयोगः—

गन्धकं मरिचं साज्यं पिबेच्छ्वासकफापहम् ॥ ५१ ॥

शोधित गन्धक तथा मरिचचूर्ण को घृत के साथ सेवन करने से श्वास तथा कफ रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। घृत गुनगुना ६ मासा से १ तोला तक। "पिबेच्छ्वासकफापहम्" के स्थान पर "श्वासकासक्षयापहम्" पाठ भी मिलता है। ॥ ५१ ॥

शिलादिचूर्णम्—

शिला हिंगु विडंगं च मरिचं कुष्ठसैन्धवम् ।
मध्वाज्याभ्यां लिहेत्कर्षं श्वासकासकफापहम् ॥ ५२ ॥

शुद्ध मैनसिल, भुनींहींग, विडंगचूर्ण, मरिचचूर्ण, पुष्करमूलचूर्ण और सैन्धवलवण सब समभाग लेकर एकत्र पीस लेवें। इसकी १ कर्ष मात्रा मधु तथा घृत के साथ चाटने से श्वास-कास तथा कफ के रोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—कई टीकाकारों ने शिला से शिलाजतु का ग्रहण किया है परन्तु मनः शिला सोमल का योग होने से श्वास तथा कफ रोगों में अधिक लाभदायक है। अतः मैनसिल का ग्रहण करना अधिक अच्छा है। आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक।

श्वासान्तकरसः—

सूतः षोडश तत्समो दिनकरस्तस्यार्द्धभागो बलिः
सिन्धुस्तस्य समः सुसूक्ष्ममृदितः षट् पिप्पलीचूर्णितः ।
जम्बीरस्वरसेन मर्दितमिदं तप्तं सुपक्वं भवेत्
कासश्वासकगुल्मशूलजठरं पाण्डुं लिहन्नाशयेत् ॥ ५३ ॥

शुद्ध पारद १६ तोला, ताम्रभस्म १६ तोला, शुद्ध गन्धक ८ तोला, सैन्धानमक ८ तोला और पिप्पलीचूर्ण ६ तोला लेकर, पहिले गन्धक और पारद की कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर जम्बीरी नींबू के रस से (एक दिन) मर्दन कर गोला सा बना लें। इस गोले के सूख जाने पर इसको शरावसम्पुट में बन्द करके भाण्डपुट में एक दिन पकावें। अच्छी तरह पक जाने पर निकाल पीस कर रख लें। इस रस को प्रतिदिन प्रातः सायंकाल सेवन करने से कास, श्वास, गुल्मरोग, शूल, उदररोग, तथा पाण्डुरोग दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—यदि इस की गोली बनानी हो तो गोला बना कर उसको एरण्ड आदि के पत्तों से लपेट बाहर से मिट्टी पोत कर पुटपाक करलें। जब मिट्टी का वर्ण लाल हो जाय तो निकाल घोट गोलियाँ बना लें। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। अनुपान में अदरख का स्वरस अथवा वासा का स्वरस देना चाहिये। रसराजसुन्दर में इस रस को 'पारदादिरस' के नाम से लिखा है। वसवराजीवतन्त्र में पिप्पली के स्थान पर ६ भाग टंकण डाल कर इसको 'सूतराजीय' रस के नाम से लिखा है ॥ ५३ ॥

श्वासहरवटकः—

साधारणन्तु वटकं वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।
पारदं गन्धकञ्चैव पलमेकं पृथक् पृथक् ॥ ५४ ॥
पलत्रयं त्रिकटुकं वंगमेकपलं क्षिपेत् ।
सर्वमेकत्र संयोज्य दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ॥ ५५ ॥
मूत्रेण च तथा त्रीणि दिनानि परिमर्दयेत् ।
अक्षप्रमाणवटकं छायाशुष्कन्तु कारयेत् ॥ ५६ ॥
नित्यमेकन्तु वटकं दिनानि त्रिंशदेव च ।
श्वासकासज्वरहरमग्निमान्द्यासचिप्रणुत् ॥ ५७ ॥

अब बाल, वृद्ध तथा स्त्री इन सब के उपयोगी साधारण श्वासहर वटक का वर्णन किया जाता है। शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, त्रिकटुचूर्ण ३ भाग, वंगभस्म १ भाग लेकर पहले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कर तीन दिन तक मर्दन करें। इसके पश्चात् इस मर्दित चूर्ण को गोमूत्र में तीन दिन घोट कर अक्ष (१ तोला) प्रमाण गोलियाँ बनायें और इन्हें छाया में सुखा कर रख लें। इनमें से प्रतिदिन एक एक गोली सेवन करें। इस वटक के तीस दिन पर्यन्त नियमपूर्वक सेवन करने से श्वास कास रोग जिसमें ज्वर अग्निमान्द्य तथा अरुचि हो रही हो दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। इस रस को तन्त्रान्तर में 'श्वासगजांकुश' नाम से लिखा है और रसेन्द्ररत्नकोष में 'सहचरवटी' के नाम से लिखा है। रसचिन्तामणि में इस रस की मात्रा १ मासा लिखी है। परन्तु वह भी अधिक समझनी चाहिये। अनुपान में वासा-स्वरस मधु मिला कर देना अत्यन्त लाभदायक है ॥ ५४–५७ ॥

भागोत्तरगुटिका—

रसभागो भवेदेको गन्धको द्विगुणो मतः ।
त्रिभागा पिप्पली ग्राह्या चतुर्भागा हरीतकी ॥ ५८ ॥

विभीतः पञ्चभागस्तु वासा षड्गुणिता भवेत्।
भार्ङ्गी सप्तगुणा ग्राह्या सर्वं चूर्णं प्रकल्पयेत् ॥ ५९ ॥
बब्बुलक्वाथमादाय भावयेदेकविंशतिः।
विभीतकप्रमाणेन मधुना गुटिकां चरेत्।
एकैकां भक्षयेत्प्रातः श्वासकासनिवृत्तये ॥ ६० ॥

शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक २ तोला, पिप्पलीचूर्ण ३ तोला, हरड़ का चूर्ण ४ तोला, बहेड़े का चूर्ण ५ तोला, वासा-मूलत्वक्चूर्ण ६ तोला तथा भार्ङ्गीचूर्ण ७ तोला लें। पहले पारद गन्धक की कज्जली बना कर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कर बबूल के कषाय की इक्कीस भावना देवें। फिर इसमें गोली बनाने योग्य शहत मिला कर बहेड़े के फल के समान अथवा १ तोले की गोली बना लें। इनमें से प्रतिदिन प्रातःकाल एक एक गोली सेवन करने से श्वास तथा कास नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से १ मासा तक। इसके तन्त्रान्तरों में रसगुटिका सप्तोत्तरगुटिका तथा सप्तामृतवटिका आदि नाम हैं। किसी किसी रसग्रन्थ में छः भाग बासा के स्थान पर छः भाग आमलकीचूर्ण लिखा है जो अशुद्ध प्रतीत होता है। क्योंकि एक तो आमलकी की अपेक्षा वासा श्वास कास के लिये उत्तम द्रव्य है। दूसरे अन्य सब ग्रन्थों में वासा पाठ ही पाया जाता है। योगरत्नाकर में इस रस की सेवनविधि तथा अनुपान भी लिखा है, यथा "दद्यान्मासत्रयं क्षुद्राक्वाथं दशकणायुतम्। पिबेत्तदनु कासाच्च श्वासाच्च परिमुच्यते ॥" परन्तु दश पिप्पली डाल कर कटेरी का कषाय पिलाने से गर्मी अधिक बढ़ जाती है। अतः एक या दो रत्ती पिप्पलीचूर्ण डाल कर पिलाना चाहिये। पीछे आये (श्लोक ४० में) अग्निरस का ही रूपान्तर है; भार्ङ्गी अधिक है ॥ ५८–६० ॥

नीलकण्ठरसः–

सूतं शुल्वं सुलोहं बलिममृतयुतं त्रित्रिकं रेणुकाब्दं
गण्डीरं केसराग्निं द्विगुणगुडयुतं मर्दयित्वा समस्तम्।
कुर्यात्कोलास्थिमात्रान् सुरुचिरवटकान् भक्षयेत्प्राग्दिनादौ
पथ्याशीसर्वरोगान् हरति च नितरां नीलकण्ठाऽभिधानः ॥

शुद्ध पारद, ताम्रभस्म, कान्तलोहभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभविष, त्रिकत्रय अर्थात् त्रिफला, त्रिकटु तथा त्रिजातक (इलायची, तेजपात, दालचीनी), रेणुका, नागरमोथा, गण्डीर (शमठ शाक-थुण्ठिया शाक), नागकेशर तथा चित्रक; इन सब का चूर्ण पृथक् पृथक् समान भाग में लें। पहले पारद गन्धक की कज्जली बनायें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिलायें। अन्त में सब औषधियों से द्विगुण पुराना गुड़ मिला मर्दन करके बेर की गुठली के बराबर गोलियाँ बना लें। इनमें से प्रतिदिन प्रातःकाल एक एक गोली का सेवन करें और पथ्यपूर्वक रहें। इस प्रकार कुछ काल निरन्तर सेवन करने से सब रोगों की शान्ति हो जाती है। इसे 'नीलकण्ठरस' कहा जाता है।

विशेष वचन—रसमानस तथा वैद्यविलास ग्रन्थों के रसायन-प्रकरण में लिखे हुये नीलकण्ठ रस में अभ्रकभस्म अधिक लेकर बिना गुड़ के अदरख रस से मर्दन कर गोलियाँ बनाने को लिखा है। साथ ही इसमें जैपालबीजचूर्ण भी लिखा है। रसेन्द्रसारसंग्रहोक्त नीलकण्ठरस इस प्रकार है। "सूतकं गन्धकं लौहं विषं चित्रकपद्मकम् ॥ वराङ्गरेणुकामुस्तं ग्रन्थ्येलानागकेशरम्। त्रिकटु त्रिफला चैव शुल्वभस्म तथैव च ॥ एतानि समभागानि द्विगुणो गुड उच्यते। सम्मर्द्य वटकं कृत्वा भक्षयेच्चणकोन्मितम् ॥ कासे श्वासे क्षये गुल्मे प्रमेहे विषमज्वरे। हिक्कायां ग्रहणीदोषे शोथे पाण्ड्वामये तथा ॥ मूलकृच्छ्रे मूढगर्भे वातरोगे च दारुणे। नीलकण्ठो रसो नाम ब्रह्मणा निर्मितः पुरा ॥ अनुपानविशेषेण सर्वरोगहरो भवेत् ॥" इस रस का आमवात या साधारण पीड़ाओं पर अच्छा प्रभाव देखा जाता है। एक एक गोली दिन में तीन चार बार गरम जल से देनी चाहिये। अन्य रोगों में विविध अनुपान से प्रयोग कराया जाता है ॥ ६१ ॥

श्वासकासकरिकेशरीरसः—

तारताम्ररसपिष्टिकाशिलागन्धतालसमभागिकं रसैः।
आटरूषसुरसार्द्रसंभवैर्मर्दय प्रकुरु गोलकं ततः ॥६२॥
मृत्स्नया च परिवेष्ट्य गोलकं यामयुग्ममथ भूधरे पचेत्।
गन्धकेन कुरु तत्समं ततश्चाऽऽटरूषकटुकैर्विभावयेत् ॥
श्वासकासकरिकेसरी रसो वल्लमस्य परिसेवयेद्बुधः ॥६४॥

रजतभस्म, ताम्रभस्म, पारदपिष्टिका, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल; इन सब को समान भाग में लेवें। पहिले पारदपिष्टिका तथा गन्धक की कज्जली बनायें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला, अडूसा, तुलसी तथा अदरख के स्वरस में पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन करके गोला सा बना लें। पश्चात् इस गोले को एक शराव सम्पुट या मूषापुट में बन्द करके ऊपर तीन चार कपड़मिट्टी करके सुखा लें और भूधरयन्त्र में दो प्रहर तक अग्नि देकर पकायें। स्वांगशीत होने पर निकाल चूर्ण करके उसमें समभाग शुद्ध गन्धकचूर्ण मिला कर अडूसा तथा त्रिकटु-कषाय से पृथक् पृथक् सात भावना देकर सुखा कर रख लें। यह रस श्वासकासरूपी हाथी के दमन (वश) करने के लिये सिंह के समान कार्य करता है अर्थात् इसके सेवन से श्वासकास नष्ट हो जाते हैं। इसकी एक वल्ल मात्रा उचित अनुपान के साथ सेवन करानी चाहिये।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इस रस को पक्वपीनस तथा पूतिनस्य रोगों में नस्य द्वारा प्रयोग करने को लिखा है। आधुनिक

मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक। कहीं कहीं 'गन्धकेन' के स्थान पर 'गोलकेन' ऐसा पाठ भी मिलता है जो युक्ति संगत नहीं है ॥

सूर्यरसः--

रसगन्धकताम्राभ्रं कणाशुण्ठ्यूषणं समम्।
भूतमेकं विषं चैकं सूर्यः कासादिनाशनः ॥६५॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, पिप्पली, शुण्ठी तथा मरिच का चूर्ण, भूत (बहेड़ा या नागरमोथा) चूर्ण, शुद्ध वत्सनाभविष, प्रत्येक समानभाग लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें तत्पश्चात् उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला घोट कर रख लें। यह 'सूर्यरस' है। यह उचित मात्रा में प्रयोग करने पर कास आदि रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—आधी रत्ती से १ रत्ती तक ॥ ६५ ॥

[इति श्वास चिकित्सा]

अथ हिक्काचिकित्सा।

हिक्कानाशनो रसः—

रसगन्धकधान्याभ्रतालताप्योपलं क्रमात्।
भागवृद्धं वचाकुष्ठहरिद्राक्षारचित्रकैः ॥६६॥
सपाठालाङ्गलीव्योषसैन्धवाक्षविषैः समम्।
भावितं भृङ्गनीरेण हिक्कावैस्वर्य्यकासनुत् ॥६७॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग, शुद्ध धान्याभ्रक ३ भाग, शुद्ध हरताल ४ भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म ५ भाग, गोदन्त-हरतालभस्म ६ भाग लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्णों को मिला कर घोटें, फिर अन्त में घुड़वच, कुष्ठ (पुष्करमूल), हरिद्रा, यवक्षार, चित्रकमूलत्वक्, पाठा, कलिहारी, त्रिकटु, सैन्धानमक, बहेड़ाफल का गूदा तथा शुद्ध वत्सनाभविष प्रत्येक का एक एक भाग सूक्ष्म चूर्ण इसमें भृंगराज के स्वरस की दो तीन भावना देकर गोलियाँ बना लें। यह रस हिचकी स्वरभेद तथा कास को नष्ट करता है।

विशेष वचन–आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥

कज्जलयोगः--

पक्वताम्रे रसः पिष्टो बलिना हिध्मिनां हितः ॥ ६८ ॥

शुद्ध नेपाल ताम्र की भस्म, शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक की समभाग कज्जली बना कर रख लें। अब इसमें थोड़ा सा घृत मिलाकर गोला सा बना लेवें। इस गोले को एक मूषा में बन्द करके बालुकायन्त्र में पका लेवें। इस योग के सिद्ध होने पर इसमें से उचित मात्रा में प्रयोग करने पर हिचकी में लाभ होता है।

विशेष वचन—यदि शीघ्रता में इस रस की आवश्यकता आजाय तो शुद्ध गन्धक पारद की कज्जली में ताम्रभस्म मिला कर प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक ॥ ६८ ॥

शिलापूतरसः—

चूर्णं पाठेन्द्रवारुण्योर्भाण्डे दत्त्वाऽथ कूटनीम्।
तत्पृष्ठे शुद्धसूतं तु कुनटय़ंशं प्रदापयेत् ॥ ६९ ॥
सूतार्धं कुनटीचूर्णं तस्यार्धं पूर्वमूलिका
चूर्णं दत्त्वा पचेच्चुल्ल्यां यामाष्टं मृदुवह्निना।
शिलापूतो रसो नाम हन्ति हिक्कां त्रिगुञ्जकः ॥ ७० ॥

एक पात्र या हाँडी में पाठा तथा इन्द्रायणमूलचूर्ण अच्छी तरह बिछाकर इसके ऊपर पारद के बराबर भाग शुद्ध मैनसिल का चूर्ण डाल लें अर्थात् एक तोला पाठा, इन्द्रायणमूलचूर्ण बिछाकर उस पर १ तोला मनःशिलाचूर्ण और शिलाचूर्ण के ऊपर गर्त सा बना १ तोला शुद्ध पारद डाल दें। अब पारद के ऊपर पुनः पारद से आधा भाग अर्थात् ½ तोला मैनसिल का चूर्ण डाल इसके ऊपर पुनः पाठा, इन्द्रायणमूल का चूर्ण ½ तोला डाल कर एक शराव से ढक कर सन्धिबन्धन करके सुखा लें। अब हाँडी के अवशिष्ट भाग को बालुका से भर कर सावधानी से हाँडी का मुख बन्द कर सन्धिलेप करके चूल्हे में मन्द मन्द अग्नि से आठ प्रहर तक पकायें। स्वांग शीतल होने पर धीरे से ऊपरी शराव को खोल कर उसके भीतर लगे हुये किञ्चित् पीतश्वेतवर्ण जौहर को निकाल लें। यही 'शिलापूत' रस है। इसे तीन रत्ती मात्रा में प्रयोग करने से हिचकी नष्ट हो जाती है।

विशेष वचन—इस रस को चूल्हे में पकाते समय यदि हाँडी के ढकन पर गीला कपड़ा रखा जाय तो रस निकलने में और भी सुविधा होती है। यह तभी हो सकता है जब कि औषधि के ऊपर ढकन न रख कर केवल हाँडी के मुख पर ही शराव रख कर इसको बनाया जाय इस रस को यदि उक्त विधि से डमरू यन्त्र में बनाया जाय तो और भी सुविधा रहेगी। आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक। तन्त्रान्तर में इस रस की मात्रा देकर अनुपान रूप में रास्ना, कण्टकारी, चित्रक, बला का कषाय अथवा इन औषधियों से क्षीरपाक विधानानुसार बनाया हुआ दूध लिखा है। रसचन्द्रिका में इस रस के प्रयोग के पश्चात् हरिद्रा तथा अपामार्ग का धूमपान कराने को भी लिखा है ॥ ६९—७० ॥

रास्नादिक्षीरम्—

क्वाथं रास्नाबृहत्यग्निबलादुग्धैश्च पाययेत् ॥ ७१ ॥

हिक्कारोगपीड़ित मनुष्य को रास्ना, बृहती (बड़ी कटेरी), चित्रकमूलत्वक तथा खिरेंटी के कषाय में दूध मिला कर पिलाना चाहिये अथवा रास्ना आदि द्रव्यों का क्षीरपाकविधान से दूध पका कर देना चाहिये।

विशेष वचन—यदि रास्नादि क्षीर को शिलापूतरस के अनुपान रूप में दिया जाय तो यह उत्तम रहेगा। इसी तरह अन्य स्थलों में आने वाले योग जो कि बिना पारद या धातुओं के इस ग्रन्थ में आते हैं वे भी प्रायः अनुपान के रूप में प्रयुक्त करने चाहिये।७१।

हिक्काघ्नधूपः—

हिक्किनं पाययेद्धूमं पत्रैः शिखिनिशोद्भवैः ॥ ७२ ॥

हिचकी वाले मनुष्य को अपामार्ग तथा हरिद्रा के पत्रों का अथवा चित्रक और हरिद्रापत्रों का धूमपान भी कराना चाहिये ॥ ७२ ॥ [इति हिक्काचिकित्सा]

पर्पटीरसः—

रसं द्विगुणगन्धेन मर्दयित्वा सभृङ्गकम् ।
लोहपात्रे घृताभ्यक्ते द्रावितं बदराग्निना ॥ ७३ ॥
ऊर्ध्वाऽधो गोमयं दत्त्वा कदल्याः कोमले दले ।
स्निग्धया लोहदर्व्या च पर्पटाकारतां नयेत् ॥ ७४ ॥
लोहपात्रे विनिक्षिप्ता लोहपर्पटिका भवेत् ।
ताम्रपात्रे विनिक्षिप्ता ताम्रपर्पटिका भवेत् ॥ ७५ ॥
विषपादं च युञ्जीत तत्साध्येष्वामयेषु च ।
सुरसाया जयन्त्याश्च कन्यकाऽऽटरूषयोः ॥ ७६ ॥
त्रिफलाया मुनेर्भार्ङ्ग्या मुण्ड्यास्त्रिकटुचित्रयोः ।
भृङ्गराजस्य वह्नेश्च प्रत्यहं द्रवभावितम् ॥ ७७ ॥
आर्द्रकस्य रसेनापि सप्तधा भावयेत्पुनः ।
अंगारैः स्वेदयेदीषत्पर्पटीरसमुत्तमम् ॥ ७८ ॥
गुञ्जाष्टकं ददीतास्य ताम्बूलीपत्रसंयुतम् ।
पिप्पलीदशकैः क्वाथं निर्गुण्ड्याश्चानुपाययेत् ।
स्वरभंगे कफे श्वासे प्रयोज्यः सर्वदा रसः ॥ ७९ ॥
त्रिकण्टकस्य मूलानि शुण्ठीं संक्षुद्य निक्षिपेत् ।
अजाक्षीरे सनीरार्धे यावत्क्षीरं विपाचयेत् ॥ ८० ॥
तत्क्षीरं पाययेद्रात्रौ सकणं भोजनेऽपि च ।
कूष्माण्डं वर्जयेच्चिञ्चां वृन्ताकं कर्कटीमपि ॥ ८१ ॥
आरनालं च तैलं च संसर्गं च विवर्जयेत् ।
मासत्रयं च सेवेत कासश्वासनिवृत्तये ॥ ८२ ॥
सजीरहिंगुकव्योषैः शमयेद्ग्रहणीं रसः ।
दशमूलाऽऽम्भसा वातज्वरं त्रिकटुना कफम् ॥ ८३ ॥
ज्वरं मधुकसारेण पञ्चकोलेन सर्वजम् ।
यक्ष्माणं मधुपिप्पल्या गोमूत्रेण गुदाङ्कुरान् ॥ ८४ ॥
शूलमेरण्डतैलेन पाण्डुशोफं सगुग्गुलुः ।
कुष्ठानि भृंगभल्लातवाकुचीपञ्चनिम्बकैः ॥ ८५ ॥
धत्तूरबीजसंयोगान्मेहोन्मादविनाशिनी ।
अपस्मारं निहन्त्याशु व्योषनिम्बुदलैः सह ॥ ८६ ॥
स्तनन्धयशिशूनां तु रसोऽयं नितरां हितः ।
पथ्याक्षचूर्णाद्विशाद्वयार्धाश्चान्यान् सुखुस्तरान् ॥
सजातीफलशोतोदं योजयेत्पर्पटीरसम् ।
पित्ताजीर्णे शिरश्चास्य शीततोयेन सेचयेत् ॥ ८८ ॥
नस्यं निष्ठीवनं धूमं तीक्ष्णं वमनरेचनम् ।
अन्नं रूक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम् ॥
चिरकालस्थितं मद्यं योजयेत्कफरोगिणे ॥ ८९ ॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग लेकर दोनों को भाँगरे के स्वरस में मर्दन कर कज्जली कर लें । अब इस कज्जली को घी से चुपड़ी एक लोहे की कड़छी में पिघला कर (बेरी के कोयलों से) पिघलते ही गोबर पर रखे हुये केले के पत्ते पर उलटा कर डाल देवें और ऊपर से भी केले का पत्र रख कर हाथ की तली से या लोहे की कड़छी से दबा कर ऊपर गोबर रख कर ठंडा होने पर पर्पटी (पपड़ी) बना लेवें । यदि उक्त कज्जली को लोहे के पात्र में डाल कर पर्पटी बनायें तो यह लोहपर्पटी और ताम्बे के पात्र में डाल कर बनायें तो ताम्रपर्पटी कहलायेगी । यदि ज्वर अतीसार आदि रोगों में विष का उपयोग अभीष्ट हो तो इस पर्पटी में चतुर्थांश शुद्ध वत्सनाभविष मिला सकते हैं । अन्यथा आवश्यक नहीं । पश्चात् इस पर्पटी को सुरसा (तुलसी), जयन्ती, घीकार, अडूसा, त्रिफला, अगथिया, भारंगी, मुण्डी (गोरखमुण्डी), त्रिकटु, चित्रक, भाँगरा, शुद्ध वह्नि (भिलावा); इनके स्वरस या कषाय की कम से कम एक एक दिन भावना अथवा सात सात भावनायें दें । पश्चात् अदरख के रस की सात भावना देकर लोहपात्र में डाल अङ्गारों पर मन्द मन्द आँच से कुछ स्वेदन करें अर्थात् गन्धक की गन्ध उठते ही उतार लें । इसको आठ रत्ती प्रमाण, पान के पत्ते में रख कर सेवन करायें । अनुपान में निर्गुंडीकषाय में दशपीपलों का चूर्ण डाल कर पिलायें । यह रस स्वरभंग, कफप्रकोप और श्वासरोग में सदा प्रयोग किया जाता है । रात्रि को सोते समय गोखुरु की जड़ और सोंठ से साधित बकरी का दूध पिप्पलीचूर्ण का प्रक्षेप देकर पिलायें । दूध में आधा पानी डाल कर पानी सूखने तक पकाना चाहिये । इस रस को श्वास के नाश के लिये तीन मास तक सेवन करना चाहिये । इस रस के सेवनकाल में रोगी को पेठा, इमली, बैंगन, ककड़ी, काञ्जी, तैल इन द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिये और स्त्रीसंभोग भी त्याज्य है ।

ग्रहणीरोग में इस रस को श्वेतजीराचूर्ण, भुनी हींग और त्रिकटुचूर्ण के साथ देना चाहिये । वातज्वर में दशमूलकषाय अनुपान के रूप में देना चाहिये । कफरोगों में त्रिकटुचूर्ण से देना चाहिये । ज्वर में मुलेठीकषाय अनुपान देना चाहिये । सन्निपातज्वरों में पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ) का कषाय अनुपान देना चाहिये । पिप्पलीचूर्ण तथा मधु से यह राजयक्ष्मा को नष्ट करता है । अर्शरोग में गोमूत्र अनुपान देना चाहिये । शूल में एरण्डतैल के साथ या दूध और एरण्डतैल अनुपान से देना चाहिये । पाण्डुशोथ को नष्ट करने के लिये

इस रस को शुद्ध गुग्गुलु के साथ देना चाहिये। यह रस भाँगरा, शुद्ध भिलावा, वाकुची (बावची) तथा निम्बपञ्चाङ्ग के कषाय अनुपान से कुष्ट (त्वक्‌रोग) को नष्ट करता है। भयंकर उन्माद में धतूरबीजचूर्ण के साथ दिया जाता है। अपस्मार में त्रिकटुचूर्ण तथा नीम्बू के पत्तों के साथ देना चाहिये। दूध पीते बच्चों के लिये भी यह रस अत्यन्त हितकर है। यह रस हरड़, बहेड़ा आदि भिन्न-भिन्न द्रव्यों के चूर्णोंके साथ बहुतसे दुस्तर रोगों को नष्ट करता है। पित्तजन्य अजीर्णरोग में इसे जायफल चूर्ण में मिला कर शीत-जलानुपान से सेवन करायें और पित्तप्रकोपजन्य रोगों में रोगी को शीतल जल से स्नान भी कराना चाहिये। कफप्रकोपजन्य रोगों में यह रस सेवन करा कर तीक्ष्ण नस्य, मुख से निष्ठीवन कर्म, तीव्र औषधियों के धूम तथा वमन और रेचनकर्म भी कराये जाते हैं। और रोगी को रूक्ष-तीक्ष्ण-उष्ण-गुण भोजन तथा कटु-तिक्त-कषाय-रस भोजन और पुरातन मद्य का सेवन भी कराया जाता है।

विशेष वचन—इस रस की आठ गुञ्जा मात्रा वृद्धिह्रास क्रम से समझनी चाहिये। अन्यथा १ से २ रत्ती मात्रा देनी चाहिये। भैषज्यरत्नावली में एक और लोह तथा ताम्रभस्म डाल कर पर्पटी बनाई जाती है किन्तु निर्माण तथा उपयोग विधान दोनों का प्रायः सदृश ही है, यथा "भागो रसस्य गन्धस्य द्वावेको लोहभस्मनः। एतद्भ्रष्टं द्रवीभूतं मृद्वग्नौ कदलीदले ॥ पातयेद्गोमयगते तथैवोपरि योजयेत्। ततः पिष्ट्वा द्रवैरेभिः सप्तधा भावयेत्पृथक् ॥ मार्ङ्गी मुंडी मुनिवरा जया निर्गुन्डिका तथा। व्योषवासककन्यार्द्र-द्रवैस्तस्मात् पुटे पचेत् ॥ आगन्धं खर्परे ताम्रे पर्पटस्याख्यो रसो भवेत्। सर्वरोगहरैस्तैस्तैरनुपानैर्द्विमाषकैः ॥ ताम्बूलीपत्रसहितः श्वासकासहरः परः। सकणः सुरसाक्वाथोऽनुपानं वासकज्जलम् ॥ अम्लिकातैलवार्ताकु कूष्माण्डं कदलीफलम्। वर्ज्यं मांसरसं सर्वं पथ्यं दद्यात् विचक्षणः ॥ वर्जयेच्च विशेषेण कफकृत्स्त्रीसुखादिकम् ॥" ताम्रपर्पटी के विषय में योगरत्नाकर के श्वासकासाधिकार में कहा है कि "मृतं ताम्रं त्रिभागं च रसं गन्धञ्च तत्समम्। भागमेकं वत्सनाभं कज्जलीखल्वमध्यगम् ॥ गोघृतेन कृतं कल्कं लोहपात्रे विपाचयेत्। ढालयेदर्कपत्रस्थां पर्पटीं रससिद्धये ॥ गुञ्जाद्वयं त्रयं चैव पिप्पलीमधुसंयुतम्। त्रिसप्तरात्रयोगेन रोगराजं च नाशयेत् ॥ आर्द्रकस्य रसेनैव सन्निपातं नियच्छति। त्रिफलारससंयुक्ता पाण्डुरोगं विनाशयेत् ॥ वातारितैलसंयुक्ता सर्वशूलनिवारिणी। कुमारीरसयोगेन वातपित्तोपशान्तिकृत्। वाकुचीरससंयुक्ता सर्वदद्रुविनाशिनी। त्रिफलामधुसंयुक्ता सर्वमेहनिवारिणी ॥ खदिरक्वाथपानेन कुष्ठाष्टादशनाशिनी। मन्थानभैरवेणोक्ता लोकानां हितकाम्यया ॥" अर्थात् ताम्रभस्म ३ भाग, शुद्ध पारद ३ भाग, शुद्ध गन्धक ३ भाग, इन्हें एकत्र मिला कुछ गोघृत डाल कर मर्दन करें और लोहे की कड़छी में पिघला कर आक के पत्ते पर पर्पटी बना लें। पर्पटी को पीस कर इसमें १ भाग शुद्ध वत्सनाभविष मिला लें। दो या तीन रत्ती मात्रा में (आजकल १ रत्ती मात्रा में) लेकर यक्ष्मा में पिप्पलीचूर्ण और मधु के साथ दें। सन्निपात में अदरख के रस के साथ। पाण्डुरोग में त्रिफलाकषाय के साथ। सर्वप्रकार के शूलों में एरण्डतैल के साथ। वातपित्त के रोगों में घीकुआर के रस के साथ। दद्रु में बावची के क्वाथ से। सर्वप्रकार के मेहों में त्रिफलाक्वाथ और मधु के साथ। अठारहों कुष्ठों में खैर की लकड़ी के क्वाथ से देवें ॥ ७३-८९ ॥

मन्थानभैरवः—

मृतसूतं मृतं ताम्रं हिंगु पुष्करमूलकम्।
सैन्धवं गन्धकं तालं कटुकं चूर्णयेत्समान् ॥ ९० ॥
देवदालीपुनर्नव्योर्निर्गुण्डीमेघनादयोः।
तिक्तकोषातकीद्रावैर्दिनैकं मर्दयेद्दृढम् ॥ ९१ ॥
माषमात्रं लिहेत्क्षौद्रैः रसं मन्थानभैरवम्।
कफरोगप्रशान्त्यर्थं निम्बक्वाथं पिबेदनु ॥ ९२ ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), ताम्रभस्म, भुनी हींग, पोहकरमूल, सैन्धानमक, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल और त्रिकटुचूर्ण सबको समान भाग में लें। पहिले रससिन्दूर तथा गन्धक को एकत्र पीस कर कज्जली बना लें। पश्चात् इसमें अन्य औषधियों का चूर्ण मिला कर बन्दाल, पुनर्नवा, सिम्भालू, चौलाई और कड़वी तोरी के स्वरस या कषाय में पृथक् पृथक् एक दिन मर्दन करके सुखा कर रख लें, अथवा १ मासे की गोली बना लें इसमें से १ मासा मात्रा में लेकर मधु के साथ चटाकर अनुपान में नीम की छाल का कषाय पिलायें। यह मन्थानभैरवरस सम्पूर्ण कफप्रकोपजन्य रोगों को शांत करता है।

विशेष वचन—रसायनसंग्रहकार ने इस रस को "पञ्चवक्त्र" रस के नाम से लिखा है और उसमें इसको रक्तपित रोग के लिये सर्वोत्तम लिखा है। परन्तु उष्ण तथा उत्तेजक द्रव्यों के कारण इसका रक्तपित्त पर शामक प्रभाव सम्भव नहीं प्रतीत होता है। इसी तरह उक्त ग्रन्थ में "कटुकं" के स्थान पर "कटुकीम्" पाठ मिलता है। सम्भवतः कटुकी के कारण ही वह इसे रक्तपित्त में प्रयोग करने को कहते हों। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक पर्याप्त है। अम्लपित्तरोग के लिये मन्थान भैरव में भी यही पाठ वैद्यक शब्द सिन्धु में दिया है। इसमें कटुकं के स्थान पर कुटकी; देवदाली के स्थान पर देवदारु परिवर्तित है। अनुपान-नीम का कषाय ॥ ९०-९२ ॥

गन्धपाषाणयोगः—

कर्षैकं गन्धकं शुद्धं घृतैश्चोष्णोदकैः पिबेत्।
कफं हरत्यथवा क्षौद्रैः पञ्चवक्त्ररसः खलु ॥ ९३ ॥

एक कर्ष प्रमाण शुद्ध गन्धक को घृत में मिलाकर चाट कर ऊपर से उष्ण जल पीने से कफप्रकोप शान्त हो जाता है। अथवा

ज्वराधिकारोक्त पञ्चवक्त्ररस अथवा पूर्वोक्त मन्थानभैरवरस को मधु के साथ मिला कर सेवन कराने से भी कफप्रकोप शान्त हो जाता है ॥ ६३ ॥

विश्वादिवटिका—

विश्वादित्रिकनिर्गतद्रवनिशाकीरप्रियोत्थं दलं
नीलग्रीवगलालयं सुरपतेस्तृतीयनेत्राभिधम् ।
विद्वत्पुञ्जवती कृमिप्रतिभटं निर्गुण्डिकावारिणा
तुल्यांशाश्चणकप्रमाणवटिकाः सश्वासकासघ्निकाः ॥

शुण्ठी आदि त्रिक अर्थात् त्रिकटु, सूखी हल्दी, कीरप्रिय (नीम) के पत्ते, नीलग्रीव (शिव) के गल में रहने वाला अर्थात् विष (शुद्ध वत्सनाभ), सुरपति (शिव) के तृतीय नेत्र नाम वाला अर्थात् अग्नि (चित्रकमूलत्वक्), विद्वत्पुञ्जवती (वासा), क्रिमिप्रतिभट (विडंग), इन सब के चूर्ण को समान भाग में लेकर निर्गुण्डीस्वरस से मर्दन कर चणक-प्रमाण गोलियाँ बना लें । इन गोलियों के सेवन करने से श्वास तथा कास रोग दूर हो जाते हैं ।

विशेष वचन—कोई 'कीरप्रियदल' से सिरस के पत्ते और 'विद्वत्पुञ्जवती' से ब्राह्मी का अर्थ करते हैं । परन्तु वासा तथा निम्ब श्वास नाली के लिये शामक प्रभाव रखने से अधिक उपयोगी द्रव्य हैं ॥ ६४ ॥ [इति श्वासकासहिक्कास्वरभेदचिकित्सा]

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ
रसरत्नसमुच्चये रक्तपित्तकासश्वासहिध्मावैस्वर्य्य
चिकित्सतं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

राजयक्ष्मादिचिकित्सनम् ।

राजयक्ष्मणो लक्षणम्—

अग्निमान्द्यं ज्वरः शैत्यं वान्तिः शोणितपूययोः ।
सत्त्वहानिश्च दौर्बल्यं राजरोगस्य लक्षणम् ॥ १ ॥

अग्नि की मन्दता, निरन्तर ज्वर, शीतबोध, मुख से सहसा रक्त की वमन होना या थूक में पूय निकलना, शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता का बढ़ जाना और कुछ स्वभाव में भी परिवर्तन होना 'राजयक्ष्मा' का लक्षण है ।

विशेष वचन—उक्त लक्षण संक्षेप में दिये गये हैं । लक्षणों के विस्तार को देखने के लिये चरक आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये । परन्तु न्यूनाधिक रूप में निरन्तर ज्वर, दौर्बल्य तथा कास और उत्तरोत्तर शारीरिक भार का कम होना यह राजयक्ष्मा का सरल लक्षण है—"अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयोः । ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥"

किसी पुस्तक में उक्त मूल श्लोक के बाद पञ्चामृतरस का पाठ—"रसस्य भस्मना युक्तं लौहं कृष्णाभ्रकं मृतम् । शिलाजतुकर्कैशीरं समभागञ्च कल्पयेत् ॥ एष पञ्चामृतो नाम रोगराजनिकृन्तनः । पिप्पलीमधुसर्पिभिः प्रयोज्यो भिषजा द्रुतम् ॥" अधिक मिलता है । आगे लिखा जाने वाला पञ्चामृतरस इस रस से भिन्न है और दोनों का ही पाठ पाया जाता है ॥ १ ॥

कनकसुन्दरो रसः—

रसस्य तुल्यभागेन हेमभस्म प्रकल्पयेत् ।
तालकं गन्धकं तुत्थं माक्षिकं रसकं शिलाम् ॥ २ ॥
रससाम्येन युञ्जीत तुत्थं भस्मीकृतं न्यसेत् ।
वह्नौ भस्मीकृतञ्चैव मयूरकसुतुत्थकम् ॥ ३ ॥
किञ्चिट्टङ्कणकं दत्त्वा मार्जारस्य विशा युतम् ।
प्रथमं पुटयेद्धा द्वितीयं मधुना सह ॥ ४ ॥
तालकं शोधयेदग्रे कूष्माण्डक्षारपाचनात् ।
तैले पचेत्ततः सम्यक् चूर्णे वा परिशोधयेत् ॥ ५ ॥
गन्धकं शोधयेद्दुग्धे रसकं नरवारिणा ।
माक्षिकं सिन्धुसंयुक्तं वीजपूररसे पचेत् ॥ ६ ॥
जयन्तीद्रवसम्पिष्टां शिलां तत्रैव पाचयेत् ।
एकीकृत्य ततः सर्वकर्मक्षीरेण मर्दयेत् ॥ ७ ॥
जयन्तीभृङ्गराजाभ्यां वासापाठाकृशानुभिः ।
अगस्तिलाङ्गलीभ्याञ्च प्रत्येकं दिवसं शनैः ॥ ८ ॥

ततस्तु गोलकं बद्ध्वा पचेत् पूर्ववदाहृतः ।
चूर्णयित्वा ततः सम्यक् भावयेदार्द्रकाम्बुना ॥ ९ ॥
सप्तधा व्योषनिर्य्यासैः रसः कनकसुन्दरः ।
गुञ्जाद्वयं त्रयं वाऽस्य राजयक्ष्मापनुत्तये ॥ १० ॥
मधुना पिप्पलीभिश्च मरिचैर्वा घृतान्वितैः ।
लेहयेद्रोगिणं वैद्यो वयोबलविशेषवित् ॥ ११ ॥
जयपालरजोभिर्वा शुण्ठ्या गव्यघृताक्तया ।
ददीत शूलिने प्राज्ञो गुल्मिने च विशेषतः ॥ १२ ॥
कादिवर्ज्यं चरेत् पथ्यं हृद्यं बल्यञ्च पूर्ववत् ।
सन्निपाते ददीतैनमार्द्रकद्रवसंयुतम् ॥
गुडूचीत्रिफलाक्वाथैः संस्कृतो गुग्गुलुर्वरः ॥ १३ ॥

शुद्ध पारद, स्वर्णभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गन्धक, शुद्ध तुत्थ (तूतिया), स्वर्णमाक्षिकभस्म, खपरियाभस्म, शुद्ध मैनसिल; इन सब औषधियों को समान भाग में लें । पहले पारद गन्धक की कज्जली करें । फिर अन्य द्रव्य मिला कर पीसें और एक दिन पर्यन्त आक के दूध में मर्दन करें । तदनन्तर जयन्ती, भाँगरा, वाँसा (अडूसा), पाठा, चित्रक, अगथिया, कलिहारी; इन सब के स्वरस या कषाय में पृथक्-पृथक् एक-एक दिन मर्दन करें । अन्त में इसका गोला-सा बना कर मृगांकरसवत् पाक करें । तदनन्तर औषधि को निकाल कर अदरख के रस की तथा त्रिकटुकषाय की क्रमशः सात-

सात भावनायें देवें। और पीस कर रख लें। इस प्रकार 'कनकसुन्दररस' तय्यार हो जाता है।

इस रस में तुत्थ को समभाग विडाल की विष्ठा और तुत्थ चतुर्थांश टंकण (सुहागा) के साथ दही में घोट कर एक पुट और द्वितीय पुट में शहत के साथ घोट कर पुट देकर भस्म करके डालना चाहिये। हरताल को भी दोलायन्त्र द्वारा पेठे के स्वेदन करके तथा चूने के पानी में अथवा तिलैतल में स्वेदन कर शुद्ध करके डालना चाहिये। गन्धक को गन्धकशोधनविधि के अनुसार दूध में शुद्ध करके डालना चाहिये। खर्पर को भी पुरुष के मूत्र में २१ दिन तक स्वेदन देकर शुद्ध करके डालना चाहिये। सोनमाखी को समभाग सैन्धानमक मिला कर बिजौरानींबू के रस में घोट कर तीन बार वराहपुट देकर अन्त में स्वर्णमाक्षिक में मिले हुये लवण को पृथक् करने के लिये माक्षिकभस्म को जल में घोल कर निकाल लें। इस तरह माक्षिक की भस्म करके डालना चाहिये। इसी तरह मैनसिल को भी जयन्ती के स्वरस में दोलायन्त्र द्वारा शुद्ध करके अथवा शोधनप्रकरण में लिखी हुई विधि के अनुसार शुद्ध करके डालना चाहिये।

इस रस की दो अथवा तीन रत्ती मात्रा राजयक्ष्माके रोगी को शहत और पिप्पलीचूर्ण के साथ अथवा मरिचचूर्ण, घृत के साथ देनी चाहिये। रोगी की अवस्था तथा बल को देखकर इस रस की मात्रा में न्यूनाधिकता भी हो सकती है और अनुपान या सहपान भी दूसरे कल्पित किये जा सकते हैं। शूल वाले रोगी को इस रस के साथ जमालगोटाचूर्ण मिला अथवा गोघृत और शुण्ठीचूर्ण मिला कर सेवन कराना चाहिये। गुल्मरोग में गोघृत तथा शुण्ठीचूर्ण के साथ सेवन कराने से विशेष लाभ होता है। इस रस के सेवनकाल में पूर्वोक्त ककारादिवर्ग के द्रव्यों का परिहार करना चाहिये। तथा हृदय को बल देने वाले अथवा रुचिकर तथा बल्य भोजनों का सेवन करना चाहिये। सन्निपातज्वर में इसको अदरख के रस के साथ देना चाहिये। इस रस के प्रयोगकाल में गुडूची तथा त्रिफला कषाय में दोलायन्त्र द्वारा शुद्ध गुग्गुल का सेवन करना श्रेष्ठ रहता है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर, योगतरंगिणी आदि सब ग्रन्थों में सर्वत्र स्वर्णभस्म पारद से चतुर्थांश लिखी है। अतः "तुल्यभागेन", के स्थान पर "तुर्यभागेन" पाठ उचित प्रतीत होता है। रसेन्द्रसारसंग्रह में इसका पाठ इस प्रकार है—"रसस्य तुर्यभागेन हेमभस्म प्रयोजयेत्। मनःशिला गन्धकञ्च तुत्थं माक्षिकतालकम्॥ विषं च टंकणं सर्वं रसतुल्यं प्रदापयेत्। मर्दयेत् सर्वमेकत्र खल्लयन्त्रे च निर्मले॥ जयन्तीभृंगराजोत्थैः पाठाया वासकस्य च। अगस्तिलांगलाग्नीनां स्वरसैश्च पृथक्-पृथक्॥ भावयित्वा विशोष्याऽथ पुनश्चार्द्रकवारिणा। सप्तधा भावयित्वा च रसः कनकसुन्दरः॥ गुञ्जाद्वयं त्रयं वापि राजयक्ष्मप्रशान्तये। मधुना पिप्पलीभिर्वा मरिचैर्वा घृतान्वितम्॥ सन्निपाते प्रदातव्यमार्द्रकस्य रसेन वै। जयपालरजोभिर्वा गुल्मिने शूलरोगिणे॥ अम्लवर्ज्यं चरेत् पथ्यं बल्यं हृद्यं रसायनम्। वर्ज्जयेल्लवणं हिंगु तक्रं दधि विदाहि तत्॥" यहाँ टंकण और विष अधिक है किन्तु खर्पर नहीं है। रसरत्नाकरोक्त कनकसुन्दररस में टंकण पारद से चतुर्थांश है। विष के स्थान पर खर्पर है। और सब द्रव्यों को आक के दूध में मर्दन करने का विधान है। पाक करने का आदेश नहीं है, जैसे—"रसभस्म चतुर्थांशं हेमभस्म प्रकल्पयेत्। तालकं रसकं तुत्थं माक्षिकं गन्धकं शिला॥ रसमानानि युञ्जीत सूतपादञ्च टंकणम्। दिनैकैकं क्रमेणैव तत्सर्वं मर्दयेद्दृढम्॥ अर्कक्षीरं जयन्ती च भृङ्गी वासा च लाङ्गली। अगस्तिचित्रकं पाठा सर्वमेषां द्रवैः पृथक्॥ द्विगुञ्जं भक्षयेन्नित्यमनुपानं मृगाङ्कवत्। क्षयं हन्ति महातीव्रं रसः कनकसुन्दरः॥"

तन्त्रान्तर में सन्निपातज्वर में इस रस को आर्द्रकस्वरस तथा गुग्गुल के साथ देने को लिखा है। आधुनिक मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक।

इस रस को राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में प्रयोग करना चाहिये। गुल्म, शूल के लिये इसका प्रयोग विरल ही देखा जाता है यदि प्रयोग करना हो तो शुद्ध जैपालचूर्ण $\frac{1}{4}$ रत्ती मिला कर करना चाहिये॥ २-१३॥

राजमृगाङ्करसः—

रसभस्म त्रयो भागा भागैकं हेमभस्मकम्।
मृतताम्रस्य भागैकं शिलागन्धकतालकम्॥ १४॥
प्रतिभागद्वयं शुद्धमेकीकृत्य विचूर्णयेत्।
वराटान् पूरयेत्तेन अजाक्षीरेण टङ्कणम्॥ १५॥
पिष्ट्वा तेन मुखं रुद्ध्वा मृद्भाण्डे तान्निरोधयेत्।
शुद्धं गजपुटे पच्याच्चूर्णयेत्स्वांगशीतलम्॥ १६॥
रसो राजमृगाङ्कोऽयं चतुर्गुञ्जः क्षयापहः।
दशपिप्पलिकाक्षौद्रैर्मरिचैकोनविंशतिः॥
सघृतैर्दापयेद्वैद्यो रोगराजप्रशान्तये॥ १७॥

रससिन्दूर तीन भाग, स्वर्णभस्म एक भाग, ताम्रभस्म एक भाग, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरताल, प्रत्येक दो भाग लेकर एकत्र पीस करके कौड़ियों में भर दें। बकरी के दूध से सुहागे को पीस कर उससे कौड़ियों के मुख को बन्द कर दें। अब इन कौड़ियों को एक हाँडी में बन्द करके सन्धिलेप कर सुखा कर गजपुट में फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल कर कौड़ियों के समेत ही औषधि को पीस कर चूर्ण कर लें। इस रस की चार रत्ती मात्रा लेकर दश पीपलों का चूर्ण और शहत मिलाकर देवें। अथवा १६ कालीमिर्च और घी मिला कर दें तो क्षयरोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—रसराजसुन्दर तथा रसेन्द्रसारसंग्रह में ताम्रभस्म के स्थान पर रजतभस्म का पाठ है। और रसप्रकाशसुधाकर में ताम्र या रजत के स्थान पर अभ्रकभस्म कही है। रससिन्दूर आदि द्रव्यों के चूर्ण को कौड़ियों के भीतर भर कर पकाने के लिये बड़ी पीली तथा गाँठदार कौड़ियाँ लेनी चाहियें। गजपुट में तीव्र अग्नि के कारण रस की शक्ति न्यून हो जाने से इसको लघुपुट या वराहपुट देना ही ठीक है। इस रस की आधुनिक मात्रा १ रत्ती है। इसे २ रत्ती पिप्पली चूर्ण और मधु के साथ देना चाहिये। यदि मरिच-चूर्ण के साथ देना हो तो ३ रत्ती मरिचचूर्ण मिलाकर मक्खन घृत के साथ देना चाहिये। यह रस आन्त्रक्षय की शोथावस्था में अधिक लाभ करता है। क्षयातीसार में भी यह अच्छा लाभ करता है। ज्वर के साथ कफ कास श्वास, पार्श्वशूल तथा शिरःपीड़ा में भी यह अच्छा लाभ करता है॥ १४-१७॥

शंखेश्वररसः—

शङ्खस्य वलयान्निष्कं चतुर्निष्कं वराटकम्।
निष्कार्द्धं नीलतुत्थस्य सर्वतुल्यं तु गन्धकम्॥ १८॥
गन्धतुल्यं मृतं नागं नागतुल्यं मृतं रसम्।
टंकणं रसतुल्यं स्यान्मर्द्यं पाच्यं मृगांकवत्॥
राजयक्ष्महरः सोऽयं नाम्ना शंखेश्वरो मतः॥ १९॥

शंखनाभिचूर्ण १ निष्क, वराटिकाचूर्ण ४ निष्क, शुद्ध नीलाथोथा ½ निष्क, शुद्ध गन्धक ५½ निष्क, नागभस्म, रससिन्दूर और सुहागा ये सब गन्धक के समान भाग लेकर सब को एकत्र पीस कर मृगाङ्करस के समान ही पीली बड़ी गाँठदार कौड़ियों में भर देवें। और बकरी के दूध में सुहागा पीस कर इससे कौड़ियों का मुख बन्द कर शरावसम्पुट में रख कर लघुपुट दें। स्वांगशीत होने पर निकाल कौड़ियों के समेत पीस कर रख लें। यह 'शंखेश्वररस' कहा जाता है। इसके प्रयोग से राजयक्ष्मा रोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। यह रस फुफ्फुसीय तथा आन्त्रीय दोनों प्रकार के यक्ष्मा रोग के लिये लाभदायक है॥ १८-१९॥

मृगाङ्कपोटलीरसः—

शङ्खनाभिं गवां क्षीरैः पेषयेन्निष्कषोडश।
तेन मूषा प्रकर्त्तव्या तन्मध्ये भस्मसूतकम्॥ २०॥
निष्कार्द्धं गन्धकात्त्रीणि चूर्णीकृत्य विनिक्षिपेत्।
रुद्ध्वा तद्वद् घृयेद्वस्त्रे मृत्तिकां लेपयेद्बहिः॥ २१॥
शोष्यं गजपुटे पच्यान्मूषया सह चूर्णयेत्।
गुञ्जैकमनुपानेन क्षयं हन्ति मृगांकवत्॥ २२॥

सोलह निष्क प्रमाण शंखनाभि के चूर्ण को गाय के दूध में अच्छी तरह घोट कर दो मूषा बना लें। जब यह मूषा सूख जाँय तब इनमें से एक मूषा में पारद की भस्म (रससिन्दूर) ½ निष्क अर्थात् दो मासा करीब, शुद्ध गन्धक तीन निष्क इन दोनों की अच्छी तरह कज्जली बना कर भर दें। अब इसे दूसरी मूषा से बन्द करके सन्धिलेप करके अच्छी तरह कपड़मिट्टी पर सुखा लें। फिर इसे एक शरावसम्पुट में बन्द कर गजपुट में फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर सम्पुट खोल कर कपड़मिट्टी को सावधानी से पृथक् करके, अवशिष्ट मूषा सहित सब औषधि को पीस कर रख लें। इसे 'मृगांकपोटलीरस' कहते हैं। इसको एक रत्ती परिमाण मात्रा में मृगाङ्करस के समान विभिन्न अनुपानों से देने पर क्षयरोग दूर हो जाता है।

विशेष वचन—गजपुट देने पर मूषा के बाहर केवल कपड़-मिट्टी या मिट्टी का लेप करने से पारद गन्धक दोनों ही उड़ जायेंगे अतः कपड़मिट्टी करके उसे एक शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट में फूँकना चाहिये॥ २०-२२॥

मातुलुङ्गादियोगः—

मातुलुङ्गस्य मूलानि लाजचूर्णं ससैन्धवम्।
पिप्पलीमधुना युक्तं खादेद्वान्तिप्रशान्तये॥२३॥

बिजौरा नींबू की जड़ की छाल, धान की खील, सैन्धवलवण को समभाग में लेकर २ रत्ती से ३ रत्ती मात्रा में, मधु और १ रत्ती पिप्पलीचूर्ण के साथ चाटने से वान्ति (उलटी होना) रोग शान्त हो जाता है॥ २३॥

रजन्यादियोगः—

रजनीशङ्खपूगं च निष्कैकं वान्तिनाशनम्॥२४॥

हरिद्रा, शंखभस्म तथा दक्षिणी या चिकनी सुपारी का सम-भाग में एकत्र चूर्ण करके रख लें। इसमें से ३ रत्ती से ६ रत्ती मात्रा में मधु के साथ चटाने से वमन शान्त हो जाती है॥२४॥

सौभाग्ययोगः—

निष्कार्द्धं टङ्कणं वाऽथ काकमाचीद्रवैः पिबेत्॥२५॥

अर्धनिष्क प्रमाण टंकण की भस्म को मकोय के स्वरस में मिला कर पिलाने से भी वमन शान्त हो जाती है।

विशेष वचन—२ मासा टंकण की भस्म की मात्रा बहुत अधिक है। अतः आधुनिक मात्रा ३ रत्ती से ५ रत्ती तक समझनी चाहिये॥ २५॥

सुगन्धायोगः—

सुगन्धां वा पिबेत्खादेत्सर्ववान्तिप्रशान्तये॥२६॥

वमन को शान्त करने के लिये सुगन्धा (तुलसी या सौंफ) के स्वरस को अथवा तुलसी के पत्तों का चूर्ण शहद के साथ सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—सुगन्धा से कोई सौंफ का ग्रहण करते हैं। सौंफ और सोया भी वमन में लाभदायक हैं। सुगन्धा से खस या

नेत्रवाला लेना अधिक अच्छा मैं समझता हूँ। यूं सौंफ भी लाभ करती है ॥ २६ ॥

रक्तवान्तिहरो योगः—

अलक्तकरसं क्षौद्रैं रक्तवान्तिहरं परम् ॥२७॥

राजयक्ष्मा में यदि रक्त की वमन होती हो तो लाक्षा जल मधु मिला कर दिन में तीन चार बार पिलाना चाहिये।

विशेष वचन—चरक में भी रक्तवमन के लिये उरःक्षत-चिकित्सा में रक्तनिष्ठीवन, रक्तस्रवण को बन्द करने के लिये लाक्षाचूर्ण को दूध के साथ मिश्री या मधु मिला कर पिलाने को लिखा है ॥ २७ ॥

मृगाङ्कपोटलीरसः—

द्विनिष्कं भस्मसूतस्य निष्कैकं स्वर्णभस्मकम्।
शुद्धगन्धकनिष्कौ द्वौ चूर्णित्वा चित्रकद्रवैः ॥२८॥
द्वियामान्ते विशोष्याथ तेन पूर्या वराटिकाः।
वराटान्मृण्मये भाण्डे रुद्ध्वा गजपुटे पचेत् ॥२९॥
स्वाङ्गशीतं विचूर्ण्याऽथ पोटलीं हेमगर्भिताम्।
मृगाङ्कवचतुर्गुञ्जं भक्षितं राजयक्ष्मनुत् ॥३०॥

पारदभस्म २ निष्क अर्थात् रससिन्दूर ८ मासा, स्वर्णभस्म १ निष्क, शुद्ध गन्धक और रससिन्दूर की कज्जली बनावें। फिर इसमें स्वर्णभस्म मिला कर चित्रकमूलस्वरस से दो प्रहर तक अच्छी तरह घोट कर सुखा लें। अब इसको पीली गाँठदार बड़ी बड़ी कौड़ियों के भीतर भर दें और कौड़ियों के मुख दूध से पिसे हुये सुहागे से बन्द करके सुखा लें और एक हाँडी या शरावसम्पुट में इन कौड़ियों को बन्द करके गजपुट में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर औषधि को निकाल कर कौड़ियों समेत पीस कर रख लें। इसको 'हेमगर्भपोटली' या 'मृगाङ्कपोटलीरस' कहते हैं। इस रस को ४ रत्ती परिमाण मात्रा में लेकर मधु और पीपल के चूर्ण के साथ सेवन करने से राजयक्ष्मा रोग दूर हो जाता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तरोक्त हेमगर्भपोटली में पारदभस्म ३ भाग, स्वर्णभस्म १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग और शुद्ध गन्धक १ भाग लिया जाता है। इसकी निर्माणविधि प्रकृत रस के सदृश ही है। इसकी आधुनिक मात्रा १ रत्ती की समझनी चाहिये। शार्ङ्गधर, योगमहार्णव, निघण्टुरत्नाकर आदि ग्रन्थों में पाये जाने वाले मृगांकपोटलीरस का पाठ इस प्रकार है—"भूर्जवत्तनुपत्राणि हेम्नः सूक्ष्माणि कारयेत्। तुल्यानि तानि सूतेन खल्वे क्षिप्त्वा विमर्दयेत् ॥ काञ्चनाररसेनैव ज्वाला-मुख्या रसेन वा। लाङ्गल्या वा रसैस्तावद्यावद्भवति पिष्टिका ॥ ततो हेम्नः चतुर्थांशं टङ्कणं तत्र निक्षिपेत्। पिष्टमौक्तिकचूर्णं च हेमद्विगुणमावहेत् ॥ तेषु सर्वसमं गन्धं क्षिप्त्वा चैकत्र मर्दयेत्। तेषां कृत्वा ततो गोलं वासोभिः परिवेष्टयेत् ॥ पश्चात् मृदा वेष्टयित्वा शोषयित्वात्र धारयेत्। शराव-सम्पुटस्यान्ते तत्र मुद्रां प्रदापयेत् ॥ लवणापूरिते भाण्डे धारयेत्तच्च सम्पुटम्। मुद्रां दत्वा शोषयित्वा बहुभिर्गोमयैः पुटेत् ॥ ततः शीते समाहृत्य गन्धं सूतसमं क्षिपेत्। घृष्ट्वा च पूर्ववत् खल्वे पुटेद्गजपुटेन तु ॥ स्वाङ्गशीतं ततो नीत्वा गुञ्जायुग्मं प्रकल्पयेत्। अष्टभिर्मरिचैर्युक्तः कृष्णात्रययुतोऽथवा ॥ विलोक्य देयादोषादीनेकैका रसरक्तिका। सर्पिषा मधुना वापि दद्याद्दोषाद्यपेक्षया ॥" रसप्रकाशसुधाकर में इसी रस को 'हेमगर्भपोटली' के नाम से लिखा है ॥

यक्ष्मणि औषधविशेषसेवनोपदेशः—

स्वयमग्निरसं खादेत्त्रिनिष्कं राजयक्ष्मनुत् ॥३१॥

राजयक्ष्मा में यदि कास की विशेषता हो तो प्रकृत अर्थात् मृगांकपोटली या हेमगर्भपोटली रस के साथ कासाधिकारोक्त 'स्वयमग्निरस' को भी तीन निष्क परिमाण मिला कर सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—स्वयमग्निरस की यहाँ पर २ रत्ती तक मात्रा लेनी चाहिये ॥ ३१ ॥

पञ्चामृतरसः—

भस्मसूताभ्रलोहानां शिलाजतु विषं समम्।
गुडूचीत्रिफलाक्वाथैः संस्कृतं गुग्गुलं तथा ॥३२॥
मृतं नेपालताम्रं च सूतस्थाने नियोजयेत्।
एकीकृत्य द्विगुञ्जं तद्भक्षयेद्राजयक्ष्मनुत् ॥
पञ्चामृतरसो नाम ह्यनुपानं च पूर्ववत् ॥३३॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), अभ्रकभस्म, लोहभस्म, शुद्ध शिलाजतु, शुद्ध वत्सनाभविष तथा गुडूची और त्रिफलाकषाय में शुद्ध किया हुआ गुग्गुलु इन सब को पृथक् २ समभाग लेवें। पहिले पारदभस्म, अभ्रक तथा लोहभस्म को एकत्र पीस कर चूर्ण कर लें। फिर इसमें शिलाजतु तथा गूगल मिलाकर दो दो रत्ती की गोलियाँ बना लें। अनुपान में मधु और पिप्पलीचूर्ण लेना चाहिये। इसे 'पञ्चामृतरस' कहते हैं। यह राजयक्ष्मा को नष्ट करता है। इस रस के निर्माण में यदि पारदभस्म न मिल सके तो उसके स्थान में ताम्रभस्म लेनी चाहिये।

विशेष वचन—योगरत्नाकर के क्षयरोगप्रकरण में लिखा हुआ पञ्चामृतरस का पाठ इससे भिन्न है, जैसे—"भस्मीभूतसुवर्णतारदिनकृत्सूताभ्रसत्वैः क्रमात्संवृद्धैस्त्रितयं त्रिभिः कृमिहराम्भोदैः युतः कट्फलैः। निर्गुण्डीदशमूलवह्निरजनीव्योषार्द्रकैः भावितो गोलीकृत्य विशोषितो निगदितः पञ्चामृताख्यो रसः।" किन्तु प्रकृत रस एक प्रकार से शिलाजत्वादि लौह के सदृश योग है। यह योग यक्ष्मा में अत्यन्त लाभ करता है। इससे ज्वर, दुर्बलता, पार्श्वशूल आदि उपद्रवों में शीघ्र लाभ होता है। श्लेष्मा के साथ रक्त अथवा पूय आने पर इसको बकरी के धारोष्ण दूध के साथ देना चाहिये। भैषज्यरत्नावली में शिलाजत्वादि लौह का

पाठ निम्न प्रकार से है—"शिलाजतुमधुव्योष ताप्यलोहरजांसि च। क्षीरेण लेहितस्याशु क्षयः क्षयमवाप्नुयात्।३२-३३।

जयन्ती प्रयोगः—

हरेत्क्षीराजगन्धाभ्यां जयन्ती वा क्षयापहा॥३४॥

जयन्ती के पत्रों का स्वरस १ तोला लेकर उसको असगन्ध के चूर्ण और दुग्ध के साथ मिलाकर प्रतिदिन पान करने से राजयक्ष्मा नष्ट होता है।

विशेष वचन—कुछ टीकाकारों ने जयन्ती-प्रयोग को पञ्चामृतरस के सेवन करने के पश्चात् अनुपान स्वरूप में सेवन करने को लिखा है।३४।

लोकनाथरसः—

तुल्यं पारदगन्धकं त्रिकटुकं ताभ्यां रजः कम्बुजं
तैस्तुल्यं च भवेत्कपर्दभसितं स्यात्पारदाट्टङ्कणम्।
पादांशं सकलैः समानमरिचं लिह्यात्क्रमात्साज्यकं
यावन्निष्कमितं भवेत्प्रतिदिनं मासात्क्षयः शाम्यति॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, त्रिकटुचूर्ण (मिलित) २ भाग, शंखभस्म अथवा शम्बूक कीड़े की भस्म ४ भाग, कौड़ी की भस्म ८ भाग, भुना हुआ सुहागा ½ भाग, मरिचचूर्ण १६½ भाग लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कर पीस कर के रख लें। इस रस की १ रत्ती अथवा सवा रत्ती मात्रा लेकर घृत में मिला कर सेवन करना चाहिये। इसके सेवन में वर्धमान क्रम रखना पड़ता है। अर्थात् पहिले दिन १ रत्ती, दूसरे दिन २ रत्ती इस तरह प्रतिदिन एक-एक रत्ती बढ़ा कर निष्क-परिमाण मात्रा तक बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार एक मास में यह निष्क परिमाण मात्रा तक पहुँचने पर क्षय को दूर कर देता है।

विशेष वचन—रसचन्द्रिका में इस रस को क्षयशामक रस के नाम से लिखा है॥ ३५॥

लोकेश्वररसः—

रसस्य भस्मना हेम पादांशेन प्रकल्पयेत्।
गन्धकं द्विगुणं दत्त्वा मर्दयेच्चित्रकाम्बुना॥३६॥
चराचरास्ये सम्पूर्य टंकणेन निरुध्य च।
भाण्डे चूर्णप्रलिप्तेऽथ क्षिप्त्वा रुन्धीत मृत्स्नया॥
शोषयित्वा पुटेद्गर्तेऽरत्निमात्रेऽपराह्णके।
स्वांङ्गशीतलमुद्धृत्य चूर्णयित्वाऽथ विन्यसेत्॥३८॥
एष लोकेश्वरो नाम पुष्टिवीर्यविवर्द्धनः।
गुञ्जाचतुष्टयं साज्यं मरिचैश्च समन्वितम्॥३९॥
खादेत्परमया भक्त्या लोकेशे सर्वदर्शिनि।
अङ्गकार्श्येऽग्निमान्द्ये च रसोऽयं कासहिक्कयोः॥४०॥
मरिचैर्घृतसंयुक्तैः प्रदातव्यो दिनत्रयम्।
लवणं वर्जयेत्तत्र साज्यं सदधि भोजनम्॥ ४१॥
एकविंशद्दिनं यावन्मरिचं सघृतं पिबेत्।
पथ्यं मृगांकवद्देयं शयीतोत्तानपादतः॥ ४२॥
वमने सम्प्रवृत्ते तु गुडूचीद्रवमाहरेत्।
मधुना पाययेत्सार्धं दग्धवृन्ताकमाशयेत्॥ ४३॥
स्नानं शीतलतोयेन मूर्ध्नि धारां विनिक्षिपेत्।
जाते श्लेष्मविकारे तु कदलीफलमाहरेत्॥ ४४॥
भृष्ट्वा तन्मरिचैः सार्धं भोजयेच्छ्लेष्मनुत्तये।
आर्द्रकं मधुमिश्रं वा गुडार्द्रकमथापि वा॥ ४५॥
भृष्ट्वा कुस्तुम्बरीमाषान्निस्तुषांश्चूर्णयेत्ततः।
शर्कराघृतसम्मिश्रान्ददीताऽरुचिशान्तये॥ ४६॥
भृष्ट्वा कुस्तुम्बरीं सम्यग्घृते शर्करया पिबेत्।
एलां मरिचसंयुक्तां यावद्भ्रान्तिः प्रशाम्यति॥ ४७॥
अजमोदं विडङ्गं च पिष्ट्वा तक्रेण पाययेत्।
कृमिकोपप्रशान्त्यर्थं क्वाथं वातघ्नमुस्तयोः॥ ४८॥
संस्कृत्य दुग्धिकां वह्नौ विरेके च प्रयोजयेत्।
ईषद्भृष्ट्वा जयाचूर्णं मधुना खादयेन्निशि॥ ४९॥
अंगतोदे घृतेनांगं मर्दयित्वोष्णवारिणा।
स्नापयेद्रोगिणं वैद्यो लोकनाथं रसं स्मरन्॥ ५०॥

रससिन्दूर १ तोला, स्वर्णभस्म ३ मासा, शुद्ध गन्धक २ तोला। पहिले रससिन्दूर और गन्धक को अच्छी तरह पीस कर कज्जली बना लें। फिर इसमें स्वर्णभस्म मिला कर चित्रक के क्वाथ से घोटें। सूख जाने पर इसको पीली कौड़ियों के मुखों में भर दें और सुहागे और दूध के कल्क से कौड़ियों का मुख बन्द कर दें। अब एक मिट्टी की हाँडी के भीतर चूने का लेप करके अथवा हाँडी में चूने की कलीसी फेर करके कपड़मिट्टी कर लें। लेप के सूख जाने पर हाँडी में इन कौड़ियों को भर कर हाँडी का मुख बन्द कर सन्धिबन्धन करके सुखा लें। अब इस हाँडी को सायंकाल अरत्निमात्र गहरे गढ़े में रखकर पुट देवें। अगले दिन स्वांगशीतल होने पर निकालकर कौड़ियों समेत औषधि को पीस कर शीशी में रख लें। यह 'लोकेश्वररस' वीर्यवर्धक और पुष्टिकारक है। इसको चार रत्ती मात्रा में लेकर कालीमिरच का चूर्ण और घृत मिला कर सर्वदर्शी लोकेश शंकर भगवान् में परमभक्ति रखता हुआ अर्थात् पूर्ण आस्तिक बुद्धि से रोगी इसका सेवन करे। इस रस को देह की कृशता, अग्निमान्द्य, खाँसी, हिचकी रोग में तीन दिन मरिचचूर्ण तथा घृत में मिलाकर सेवन करावे। इसके सेवनकाल में रोगी को नमक नहीं खाना चाहिये। भोजन में दही और घृत मिला कर देना चाहिये। रोगी इक्कीस दिन तक घी में काली-

मिरचों का चूर्ण मिला कर पीवें। इसमें भी पथ्य मृगांक के समान देवें। रोगी सीधा चित लेटा रहे। यदि इस रस के सेवन से रोगी को वमन होने लगे तो उसे गुडूचीस्वरस में मधु मिला कर पिलाना चाहिये और बैंगन का भुर्ता देना चाहिये। शीतल जल से स्नान करायें और मस्तक पर शीतल जल की धारा छोड़ें। यदि इस शीत उपचार से कफ के उपद्रव उत्पन्न हो जाँय तो केले की फली भून कर उसमें मिरचचूर्ण मिला कर देवें। अथवा अदरख के स्वरस में मधु मिला कर, अथवा गुड़ (पुराना) और अदरखरस मिला कर सेवन करायें। अरुचि होने पर धनिये को भून कर उसमें शर्करा, घृत मिला कर दिया जाता है। इसी तरह वमन होने पर रोगी को भुना हुआ धनियाचूर्ण में घृत और शर्करा मिला कर अथवा इलायची और मिरच के चूर्ण में घृत और शर्करा मिला कर सेवन कराना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में यदि उदर, आन्त्र तथा मल में कृमि की उत्पत्ति हो जाय तो उसको शान्त करने के लिये अजमोद और वायविडंग के चूर्ण को तक्र के साथ खिलावें और एरण्ड की जड़ और नागरमोथा का कषाय पिलावें। इस रस के सेवनकाल में यदि रोगी को दस्त होने लगें या यक्ष्मा में अतीसार की उपस्थिति हो तो दुद्धी के पञ्चाङ्ग को अग्नि पर गरम करके उसका रस निकाल कर पिलाना चाहिये। अथवा रात्रि के समय भाँग के चूर्ण को घी में भून कर उसमें शहत मिला कर चटाना चाहिये। यदि अंगों में वेदना हो या अंग टूटते हों तो अंगों में घृत की मालिश करके रोगी को गरम जल से स्नान करायें।

विशेष वचन—इस रस की आधुनिक मात्रा ½ आधी रत्ती। कहीं २ इस रस को गजपुट में फूंक कर बनाने को लिखा है। परन्तु इसमें अल्पमात्रा में द्रव्य होने पर गजपुट देने से द्रव्यों की शक्ति नष्ट हो जायगी। अतः लघुपुट या अरत्निपुट देना ठीक है। तन्त्रान्तर में इस रस को और बहुत सी अवस्थाओं में प्रयोग करने को बताया गया है। लिखा है कि "जो रोगी विषम भोजनों से सूख गये हों जो अष्ठील और पाण्डुरोग से मारे जा रहे हों और जो कुवैद्य की चिकित्सा से अथवा चिन्ता शोक आदि मानसिक रोगों से कान्ति हीन हो गये हों तथा जो श्रम, मद और उन्माद से प्रमाद को प्राप्त हो गये हों उन सब की इस लोकेश्वरपोटलीरस के सेवन से रोगमुक्ति और पीड़ामुक्ति होती है ॥ ३६—५० ॥

वैद्यनाथरसः—

शङ्खस्य वलय निष्कं चतुर्निष्कं वराटिकाः।
कर्षांशं नीलतुत्थं च तालं गन्धाश्मटंकणम् ॥ ५१ ॥

तुत्थं नागरसं चार्द्धं निष्कांशं पूर्ववत्पुटेत्।
वराटचूर्णं मण्डूरकल्पितालेपने पचेत् ॥ ५२ ॥

अस्यार्द्धं माषं मरिचार्द्धमाषं ताम्बूलवल्लीरसभावितं च।
तत्पत्रलिप्तं मधुनाऽवलिह्याद्धैयंगवीनेन घृतेन वाऽपि॥५३॥
नाडीमार्गे निर्गते चाल्पमल्पं पथ्यं भोज्यं लोकनाथोपदिष्टम्
यामे यामे चैवमामण्डलान्तात् सिद्धं सद्यःशोषजिद्वैद्यनाथः

शंखनाभिभस्म एक निष्क, पीली कौड़ियों का चूर्ण या भस्म १६ निष्क, शुद्ध तूतिया, शुद्ध हरताल, शुद्ध गन्धक, भुना हुआ सुहागा ये चार द्रव्य एक-एक कर्ष, और रजतभस्म, नागभस्म और पारदभस्म प्रत्येक अर्ध निष्क परिमाण में लेवें। पहिले पारदभस्म और गन्धक की कज्जली बना लें, फिर इसमें अन्य सब द्रव्यों के चूर्ण को मिला कर पीस लेवें। फिर इसको पीली गाँठदार कौड़ियों में भर कर सुहागा और दूध के कल्क से कौड़ियों का मुख बन्द करके सुखा लें। फिर एक हाँड़ी में भीतर मण्डूरचूर्ण तथा कौड़ी चूर्ण की कलीसी फेर कर सुखाकर उसमें उक्त कौड़ियों को रख हाँड़ी का मुख बन्द करके सुखा लें और लघुपुट में फूँक देवें। स्वांगशीत होने पर निकाल कौड़ियों समेत पीस कर रख लें। यह 'वैद्यनाथरस' तय्यार हो गया। इसमें से ४ रत्ती परिमाण में लेकर उसमें चार रत्ती कालीमिरचों का चूर्ण मिला दोनों को पान के रस में घोट कर पतला कल्क सा बना लेवें। अब इस कल्क को पान के ऊपर कत्था और चूने की तरह लगा कर सेवन करें। अथवा ताजे मक्खन और मधु में मिला कर सेवन करें इस रस के आमाशय से पक्वाशय में चले जाने पर रोगी को प्रति प्रहर के बाद थोड़ा पथ्यभोजन लोकेश्वररस की भाँति ही देते रहना चाहिये। और दाहादि होने पर लोकेश्वरवत् ही उपचार भी करना चाहिये। इस प्रकार ४० या ४८ दिन तक सेवन करने से यह रस धातुशोष क्षय रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा आधा रत्ती। प्रकृत रस के मूलपाठ में 'तुत्थम्' के स्थान पर 'तारम्' पाठ ठीक है। रसचंद्रिका में भी 'तार' पाठ है। तुत्थ पाठ से तूतिया द्विगुण होने पर यह रस वामक और क्षोभकगुण वाला हो जायगा। रसचन्द्रिका में 'नीलतुत्थं' के स्थान पर 'नीलकटकम्' पाठ ठीक नहीं है। क्योंकि नीले काँच की चूड़ी का टुकड़ा यदि पीस कर डाला जायगा तो वह आँतों के लिये अत्यन्त हानिकारक होगा और यदि उसे बिना पीसे हुये ही डाल कर हल्का पुट देकर निकाल दें तो उससे कुछ भी लाभ नहीं है। 'वराट चूर्ण' के स्थान पर 'वराटचूर्ण' ऐसा समासान्त पाठ ठीक है ॥ ५१—५४ ॥

द्वितीयलोकनाथः—

अध्यर्द्धं निष्कौ रसतुत्थभागौ पृथक्पृथग्गन्धकटंकर्षम्।
शंखस्य कर्षं मृतताम्रतो द्वौ वराटिकानां नव सम्पुटस्थान्
पक्त्वा पचेदर्कदलद्रवाद्रान् भूयोऽर्धभागेन करीषकाणाम्
अस्यार्द्धपादं मरिचार्द्धभागं गन्धाश्मनिष्कं च घृतेन
लिह्यात् ॥ ५६ ॥

अश्नीयात्पूर्वकृतपथ्यं वासराण्येकविंशतिः ।
लोकनाथरसो नाम्ना रोगराजनिकृन्तनः ॥ ५७ ॥

शुद्ध पारद १½ निष्क, शुद्ध तूतीया १½ निष्क, शुद्ध गन्धक, भुना सुहागा तथा शंखभस्म एक एक कर्ष, ताम्रभस्म २ कर्ष और पीली कौड़ियों का चूर्ण ६ कर्ष लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें शुद्ध तूतियाभस्म मिला कर अच्छी तरह घोटें पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर पीस कर शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट या गजपुट में फूँक देवें। स्वांगशीत होने पर निकाल कर इसको आक के पत्तों के रस से घोट कर सूखने के बाद शरावसम्पुट में बन्द करके, पूर्व पुट की अपेक्षा आधे उपलों के पुट में पकावें। स्वांगशीत होने पर निकाल पीस कर रख लेवें। इस की ⅛ निष्क परिमाण मात्रा लेकर उसमें ½ निष्क कालीमरिचचूर्ण तथा एक निष्क शुद्ध गन्धकचूर्ण मिला कर सबको एकत्र पीस करके घी या मक्खन में मिला कर चटावें। इस रस के सेवनकाल में पूर्वोक्त लोकनाथरस के समान ही पथ्य सेवन करें और इक्कीस दिन तक इसका सेवन करें। यह रस विधिपूर्वक सेवन करने से राजयक्ष्मा को समूल नष्ट कर देता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। इसमें शुद्ध तूतिये की अपेक्षा तुत्थभस्म लेना सुख कर होता है। तुत्थभस्म लेने से वमन होने का डर नहीं रहता है ॥५५—५७॥

प्राणनाथरसः—

आयोरजो विंशतिनिष्कमानं विभावितं भृंगरसाढकेन ।
धत्तूरभार्ङ्गित्रिफलारसार्द्धं तुल्यांशताप्यं विपचेत्पुटेषु ॥
सूतश्च निष्कं समभागतुत्थं गन्धोपलौ द्वौ चतुरो वराटान्।
पक्त्वा पुटाग्नौ समलोहचूर्णान् पचेत्तथा पूर्वरसैर्विमिश्रान्।
चूर्णेऽस्मिन्मरिचाः सप्त तुत्थटंकणयोर्दश ।
संसृजेत्तत्पृथङ्निष्कान् प्राणनाथाह्वयोदितः ।६०।
अर्द्धपादो रसाद्भक्ष्यः केवलाद्राजयक्ष्मिभिः ।
शोषोदराऽर्शोग्रहणीज्वरगुल्माद्युपद्रुतैः ।६१।

लोहभस्म २० निष्क अर्थात् ५ तोला को एक आढक अर्थात् चार सेर भाँग या भाँगरे के स्वरस में धीरे धीरे भावना देकर सुखा लें। फिर इसमें २० निष्क परिमाण स्वर्णमाक्षिकभस्म मिला आधा आढक धत्तूरे के रस में घोट कर सुखा कर सम्पुट में बन्द करके वाराहपुट में फूंक देवें। पुनः भार्ङ्गी तथा त्रिफलाकषाय में पृथक् पृथक् घोट कर लघु पुट दें। स्वांगशीत होने पर पुट से निकाल कर पीस लें। फिर शुद्ध पारद १ निष्क, शुद्ध तुत्थ १ निष्क, शुद्ध गन्धक २ निष्क, कौड़ी का चूर्ण ४ निष्क, लोहभस्म ८ निष्क लेकर पहले पारद गन्धक की कज्जली बना उसमें तुत्थादि द्रव्यों के चूर्ण मिला कर पीसें। फिर इसे धतूर, त्रिफला, भार्ङ्गी तथा भृङ्गराजस्वरस से पृथक् २ एक २ दिन घोट कर लघु पुट दें। इस प्रकार धतूर आदि चार द्रव्यों के स्वरस अथवा कषाय से पृथक् पृथक् चार पुट देकर रस तय्यार कर लें। अब उक्त प्रकार से सिद्ध किये हुये दोनों प्रकार की लोहभस्मों को एकत्र मिला दें। और इसमें कालीमिरचचूर्ण ७ निष्क, तूतियाभस्म १० निष्क और भुना हुआ सुहागा १० निष्क परिमाण मिला कर एक दिन तक अच्छी तरह मर्दन करके रख लें। इस विधि से तय्यार किये हुये इस रस को 'प्राणनाथरस' कहते हैं। इस रस में से पारद परिमाण भाग अर्थात् १ निष्क अर्धपाद अर्थात् ४ रत्ती मात्रा लेकर राजयक्ष्मा के रोगी को सेवन कराना चाहिये राजयक्ष्मा के अतिरिक्त इस रस को धातुशोष, उदररोग, अर्श, संग्रहणी, ज्वर, गुल्म आदि उपद्रवग्रस्त मनुष्यों को भी यथोचित अनुपान और मात्रा में सेवन कराना चाहिये।

विशेष वचन—कई टीकाकार अयोरज या लोहचूर्ण (बुरादा) लेने को कहते हैं। परन्तु लोहभस्म लेना अधिक गुणदायक होगा। क्योंकि आठ पुटों में लोहचूर्ण की अच्छी तरह भस्म नहीं बन सकती है। अन्यत्र भी लोहचूर्ण से लोहभस्म का ग्रहण होता है। निघण्टु-रत्नाकर, रसकामधेनु आदि ग्रन्थों में पाये जाने वाले प्राणनाथरस में "लोहभस्म" का स्पष्ट उल्लेख किया है। जिसका पाठ इस प्रकार है, "लोहभस्म पलैकन्तु द्विपलं भृंगजद्रवम्। वराभार्ङ्गीभवं द्रावं पलैकैकं नियोजयेत्। पलैकस्मिन् त्रैफलोत्थे सर्वं भर्ज्यञ्च खर्परे। लोहांशं माक्षिकं शुद्धं मर्द्यं पूर्वोदितैर्द्रवैः॥ रुद्ध्वा त्रिभिः पुटैः पाच्यं द्रवैर्मर्द्यं पुनः पुनः। मृतं सूतं मृतं वंगं निष्कं निष्कं विमिश्रयेत्॥ द्वौ निष्कौ शुद्धगन्धस्य चतुर्निष्का वराटिका। एकीकृत्य पुटे पाच्यं पूर्वलोहविमिश्रितम्॥ पूर्वोक्तैस्तु द्रवैर्मर्द्यं पुटेनैकेन पाचयेत्। सप्तनिष्कान् मरीचानां तुत्थटङ्कणयोर्दश॥ मेलयेच्च पृथक् सर्वं प्राणनाथाऽह्वयो रसः। भक्षयेन्निष्कपादार्धमसाध्यं राजयक्ष्मनुत्। शोफोदरार्शोग्रहणीज्वरगुल्महरन्तथा।' प्रकृत रस की आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥५८-६२॥

वज्ररसः—

कर्षं खर्परसत्त्वस्य षण्मासे हेम्नि विद्रुते ।
षण्निष्कसूतं गन्धाश्मन्यष्टनिष्के प्रवेशितम् ॥६२॥
प्रबालमुक्ताफलयोश्चूर्णं हेमसमांशयोः ।
क्रमाद्द्वित्रिचतुर्निष्कं मृतायः सीसभास्करम् ॥६३॥
चाङ्गेर्यम्लेन यामांस्त्रीन्मर्दितं चूर्णितं पृथक् ।
द्वौ निष्कौ नीलवटकव्योमायस्कान्ततालकात् ॥६४॥
अंकोलकंगुणीबीजतुत्थेभ्यश्चतुरः पृथक् ।
अष्टौ च टंकणक्षाराद्वराटानां च त्रिंशतिः ॥६५॥

महाजम्बीरनीरस्य प्रस्थद्वन्द्वेन पेषयेत् ।
एतदष्टशरावस्थं शुद्धं खार्यास्तुषस्य च ॥ ६७ ॥
करीषभारे च पचेदथ माषद्वयं ततः ।
एतावद्गन्धकात्पादं मरिचाद्भावितादपि ॥६७॥
मधुनाऽऽलोडितं लिह्यात्ताम्बूलीपत्रलेपितम् ।
गतेऽस्य घटिकामात्रे प्रतियामं च पथ्यभुक् ॥६८॥
नो चेदुद्दीपितो वह्निः क्षणाद्धातूनपचत्यतः ।
दिनमेकं निषेव्यैनं त्याज्यान्यामण्डलं त्यजेत् ॥६९॥
ततः परं यथेष्टाशी द्वादशाब्दं सुखी भवेत् ।
एकमेकं दिनं भुक्त्वा वर्षे वर्षे महारसम् ॥७०॥
वर्षादौ च त्यजेत्त्याज्यं द्वादशाब्दं जरां जयेत् ।
एष वज्ररसो नाम क्षयपर्वतभेदनः ॥७१॥

६ मासे शुद्ध स्वर्ण को पिघला कर उसमें १ कर्ष खपरिया-सत्व मिलाकर अच्छी तरह मर्दन कर पिष्टी या चूर्ण बना लें। फिर आठ निष्क परिमाण शुद्ध गन्धक में पिघला कर उसमें छः निष्क परिमाण शुद्ध पारद मिलावें और इनकी कज्जली बना लें। अब स्वर्णखर्पर वाली पिष्टी या चूर्ण और इस कज्जली को एकत्र मिला कर पीसें और इसमें प्रवालभस्म तथा मुक्ताभस्म या मुक्ता पिष्टी प्रत्येक ६ मासे, लोहभस्म २ निष्क, नागभस्म ३ निष्क, ताम्रभस्म ४ निष्क परिमाण में मिला, अम्ल-लोनिया चाँगेरी के स्वरस में तीन प्रहर तक अच्छी तरह मर्दन करके सुखा लें। फिर इसमें नीलमूलचूर्ण या शुद्ध नीलवड़ी या काला खपरिया का सत्व, अभ्रकभस्म, कान्तलोहभस्म और शुद्ध हरताल में प्रत्येक दो दो निष्क, अंकोल के बीज, मालकागुनीबीज, शुद्ध तूतियाभस्म प्रत्येक चार निष्क परिमाण और फूला हुआ सुहागा आठ निष्क और कौड़ियों की भस्म २० बीस निष्क, परिमाण मिलाकर दो प्रस्थ बिजौरा नींबू के रस में अच्छी तरह मर्दन कर गोला सा बना सुखालें, पश्चात् इसको एक शरावसम्पुट में बन्द करके कपड़मिट्टी करदें। पुनः इस सम्पुट को दूसरे शराव-सम्पुट में बन्द करके कपड़मिट्टी कर दें। अब इसको एक गढ़े में जिसमें १ खारी परिमाण भुस और एक भार परिमाण जंगली उपले आसकें इनके बीच में रख कर पुट देवें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पीस कर रख लें। पश्चात् सेवनकाल में इस रस में से २ मासा परिमाण लेकर उसमें २ मासा शुद्ध गन्धक और शुद्ध मरिचचूर्ण आधा मासा मिला पीस कर इसमें शहत मिला कर पान के पत्ते पर लेप करके रोगी को खिला दें। एक घड़ी के बाद ही रोगी को क्षुधा लगेगी तब पथ्य भोजन थोड़ा २ करके देवें। इस प्रकार प्रत्येक प्रहर बाद अर्थात् हर तीसरे घण्टे में रोगी को पथ्य भोजन अर्थात् लघु स्निग्ध तथा पोषक पदार्थों का सेवन करायें यदि औषधि सेवन के बाद पथ्य सेवन के नियम की अवहेलना की जाय तो तीव्र रूप से बढ़ी हुई जाठराग्नि रसरक्तादि धातुओं को पाक (क्षय) करने लगती है। इस रस को उक्त प्रकार से एक दिन सेवन करके ४८ दिन या ४० दिन तक अपथ्य आहार विहारों का त्याग करना चाहिये। अठतालीस दिन के बाद यथेच्छ आहार विहार सेवन करें। इस प्रकार १ दिन के सेवन और ४८ दिन के पथ्यसेवन से मनुष्य को १२ वर्ष तक कोई कष्ट नहीं होता है। प्रति-वर्ष १ दिन इस रस का सेवन कर त्याज्य वस्तुओं का त्याग करने से १२-१२ वर्ष की आयु वृद्धि हो जाती है अर्थात् १२ वर्ष तक उसे बुढ़ापा स्पर्श नहीं कर सकता है। यह वज्ररस क्षयरोग रूपी पर्वत को भेदन (नष्ट) करने के लिये इन्द्र के वज्र के समान है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इसको 'वज्रेश्वररस' के नाम से लिखा है। रसकामधेनु आदि कतिपय ग्रन्थों में इसके पाठ में भी कुछ भिन्नता पाई जाती है परन्तु मूल पाठ प्रकृत पाठ समझा जाता है। इसके पाठ में इस प्रकार भिन्नता पाई जाती है—"कर्षं खर्परसत्वस्य समांशे हेमविद्रुते। निक्षिपेच्चूर्णयेत्तद्वत्पण्निष्कं शुद्ध-गन्धकम् ॥ अंकोलं कंगुणीबीजं तुत्थं तालं चतुः चतुः। मुक्ता-प्रवालचूर्णञ्च प्रतिनिष्काष्टकं क्षिपेत् ॥ मृतलौहस्य निष्कौ द्वौ टंकणस्याष्टनिष्ककम्। द्वौ निष्कौ नीलकटुकी वराटीनाञ्च विंशतिः ॥ सितां निष्कत्रयं योज्यं सर्वं खल्वे विमर्दयेत्। चाङ्गेर्यम्लेन यामैकं जम्बीराम्लैर्दिनद्वयम् ॥ रुद्ध्वा पुटाष्टकं देयं दिनमेकं तुषाग्निका। जम्बीरोत्थद्रवेणैव पिष्ट्वा पिष्ट्वा पुटे पचेत् ॥ ततो वनोपलैरेव देयं गजपुटं महत्। आदाय चूर्णयेच्छ्लक्ष्णं चूर्णार्धं शुद्धगन्धकम् ॥ गन्धार्धं मरिचं चूर्णमेकीकृत्य द्विमाषकम्। लेहयेन्मधुना सार्धं नागवल्लीदलोत्थितम् ॥ पथ्याशी प्रतियामं स्यादमुक्ते विषवद्भवेत् । रसो वज्रेश्वरः ख्यातः क्षयपर्वतभेदनः ॥" इस पाठान्तर में रस-निर्माण विधि में भी कुछ भिन्नता है। एक ही पुट देने से स्वर्ण तथा खर्पर सत्व का भस्म होना कठिन है अतः स्वर्ण के स्थान पर स्वर्णभस्म और खर्परसत्व के स्थान पर खर्परभस्म लेने में कोई हानि नहीं है। और इस बात का कोई वर्णन नहीं कि वर्ष में इसको एक बार सेवन करने से बारह वर्ष तक कोई बिमारी नहीं होने पाती है। प्रकृत रस के "नीलवटक" पाठ के स्थान पर "नील-कटुकी" पाठ अधिक सुगम प्रतीत होता है॥ ६२—७१ ॥

महावीररसः—

निष्कौ द्वौ तुत्थभागस्य रसादेकं सुसंस्कृतात् ।
निष्कं विषस्य द्वौ तीक्ष्णात्कर्षांशं गन्धमौक्तिकात् ॥७२॥
अग्निपर्णीहरिलताभृङ्गार्द्रसुरसारसैः ।
मर्दितं लांगलीकन्दप्रलिप्ते सम्पुटे पचेत् ॥ ७३ ॥
अर्धपादं च पोटल्याः काकिन्यौ द्वे विषस्य च ।
लिहेन्मरिचचूर्णं च मधुना पोटलीसमम् ॥ ७४ ॥

क्षयग्रहण्यतीसारवह्निदौर्बल्यकासिनाम् ।
पाण्डुगुल्मवतां श्रेष्ठो महावीरो हितो रसः ॥ ७५ ॥
अतिस्थूलस्य पूयासृक्कफानुद्गमतः क्षये ।
न योजयेत्क्षीररसान् विरुद्धक्रमतत्त्वतः ॥ ७६ ॥

शुद्ध तूतिया २ निष्क, शुद्ध और संस्कार युक्त पारद १ निष्क, शुद्ध वत्सनाभविष १ निष्क, तीक्ष्णलौहभस्म २ निष्क, शुद्ध गन्धक १ कर्ष, मुक्ता १ कर्ष लेकर सब से पहिले पारद गन्धक की कज्जली बनालें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण को मिला कर घोट लें तत्पश्चात् इसको अरणी, हरिलता (ब्राह्मी), भृंगराज, अदरख और तुलसी इन प्रत्येक औषधियों के स्वरस या कषाय में पृथक पृथक् एक-एक दिन खरल करके गोला सा बना लें। फिर एक हाँडी या शकोरे के भीतर कलिहारी की जड़ के कल्क का लेप करके उसमें उक्त सूखे हुये गोले को रख पात्र का मुख शराव से बन्द करके कपड़मिट्टी करके सुखा लें और लघुपुट में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर उक्त पोटली या गोलक को निकाल लें। और पीस कर रख लें। इसमें से निष्क का अर्ध-पाद अर्थात् ४ रत्ती मात्रा में लेकर उसमें दो रत्ती शुद्ध विष और मरिचचूर्ण ४ रत्ती मिला कर मधुके साथ सेवन करें। यह महावीर-रस क्षय, ग्रहणी, अतीसार, अग्निमान्द्य, कास, पाण्डुरोग और गुल्मरोग में लाभदायक होता है। क्षयरोग में रोगी के मेदस्वी होने पर अथवा कफ में पीप तथा रक्त मिला कर आने में दूध तथा माँसरस का सेवन नहीं कराना चाहिये। क्योंकि इनके सेवन से कफ पूय तथा मेदा धातु की वृद्धि होती है जिससे रोगी को कोई लाभ नहीं होता है।

विशेष वचन—एक मात्रा में दो रत्ती विष बहुत अधिक होता है अतः ⅛ रत्ती विष मिलाना चाहिये। आधुनिक मात्रा ⅛ रत्ती से १ रत्ती तक। अग्निपर्णी से कई विष्णुक्रान्ता लेते हैं ॥ ७२-७६ ॥

पञ्चामृतपर्पटीरसः—

सुवर्णं रजतं ताम्रं सत्त्वाभ्रं कान्तलोहकम् ।
क्रमवृद्धमिदं सर्वं शाणेयौ नागवङ्गकौ ॥ ७७ ॥
द्रावयित्वैकतः सर्वं रेतयित्वा ततश्चरेत् ।
पृथक्पलमितं गन्धं शिलालं विनिधाय च ॥ ७८ ॥
सर्वं खल्ले विनिक्षिप्य मर्दयेदम्लवर्गतः ।
तार्क्ष्यं नीलाञ्जनं तालं शिलागन्धं च चूर्णितम् ॥७९॥
दत्त्वा दत्त्वा पुटेत्तावद्यावद्विंशतिवारकम् ।
लोहाद्द्विगुणसूतेन ततो द्विगुणगन्धतः ॥ ८० ॥
विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां क्षिप्त्वा तां लोहपात्रके ।
द्रावयेद्बदराङ्गारैर्मृदुभिश्चाथ निक्षिपेत् ॥ ८१ ॥

हेमादिपञ्चलोहानां भस्म चाथ विलोडयेत् ।
अथ तत्कदलीपत्रे गोमयस्थे विनिक्षिपेत् ॥ ८२ ॥
पत्रेणाऽन्येन सञ्छाद्य कुर्याद्यत्नेन चिप्पिटीम् ।
तस्योपरि क्षिपेत्सद्यो गोमयं स्तोकमेव च ॥ ८३ ॥
स्वतः शीतां समाहृत्य पटचूर्णं विधाय च ।
निक्षिपेदूर्ध्वदण्डायां पालिकायां ततः परम् ॥ ८४ ॥
पूर्ववद्बदराङ्गारैर्मृदुभिर्द्रावयेच्छनैः ।
तुल्याऽऽलकशिलागन्धं पलार्द्धं विषभावितम् ॥ ८५ ॥
पूर्वपर्पटिका तुल्यं तस्मादल्पं मुहुर्मुहुः ।
जारयेत्पलिकामध्ये यथा दह्येन्न पर्पटी ॥ ८६ ॥
पलिकेति विनिर्दिष्टा स्नेहक्षेपणयन्त्रिका ।
जीर्णे तालादिके चूर्णे पटचूर्णं विधीयताम् ॥ ८७ ॥
पूतीकरञ्जषट्कोलव्याघ्रीशोभाञ्जनाङ्घ्रिभिः ।
एतैः पञ्चपलैः क्वाथं षोडशांशावशेषितम् ॥ ८८ ॥
तेन क्वाथेन संस्वेद्य शोषयेत्सप्तधा हि ताम् ।
विषतिन्दुफलोद्भूतै रसैर्निर्गुण्डिकारसैः ॥ ८९ ॥
विभाव्य पलिकामध्ये क्षिप्त्वा बदरवह्निना ।
ईषत्प्रस्वेदनं कृत्वा स्थापयेदतियत्नतः ॥ ९० ॥
उक्ता भैरवनाथेन स्यात्पञ्चामृतपर्पटी ।
व्योषाज्यसहिता लीढा गुञ्जाबीजेन सम्मिता ॥ ९१ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णं विनिहन्ति क्षयामयम् ।
श्वासं कासं विषूचीं च प्रमेहमुदरामयम् ॥ ९२॥
अरोचकं च दुःसाध्यं प्रसेकं च्छर्दिद्वद्रवम् ।
सर्वजं गुदरोगं च शूलकुष्ठान्यशेषतः ॥ ९३ ॥
वातज्वरं च विड्बन्धं ग्रहणीं कफजान् गदान् ।
एकद्वन्द्वत्रिदोषोत्थान्रोगानन्यान्महागदान् ॥ ९४ ॥
अग्निमान्द्यं विशेषेण हन्तीयं पर्पटी ध्रुवम् ।
एवं समूह्य दातव्या रोगेषु भिषगुत्तमैः ॥ ९५ ॥
तत्तद्रोगहरैर्योगैस्तत्तद्रोगानुपानतः ॥
क्षयादिसर्वरोगघ्नी स्यात्पञ्चामृतपर्पटी ॥ ९६ ॥
तिलसर्षपबिल्वाम्लकारवेल्लकुसुम्भकम् ।
त्यजेत्पारावतं मांसं वृन्ताकं कुक्कुटं तथा ॥ ९७ ॥

शुद्ध स्वर्ण १ कर्ष, शुद्ध रजत २ कर्ष, शुद्ध ताम्र ३ कर्ष, कृष्णाभ्रकसत्व ४ कर्ष, शुद्ध कान्तलोह ५ कर्ष, शुद्ध नाग १ शाण (कर्ष का चतुर्थांश), शुद्ध वङ्ग १ शाण, परिमाण में लेकर सब को एकत्र मूषा में रख कर तीव्र अग्नि द्वारा तपा कर पिघलायें। जब सब धातु आपस में मिल कर एक हो जाँय तो नीचे उतार कर स्वांगशीतल होने के बाद इस को रेती से अच्छी तरह रेत कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चूर्ण कर

लें। फिर इस में शुद्ध गन्धक १ पल, शुद्ध मैनसिल १ पल, शुद्ध कर सब को एकत्र अम्लवर्ग के द्रवों में अथवा नीम्बू के रस में १–२ दिन अच्छी तरह मर्दन करें। फिर स्वर्णमाक्षिक (शुद्ध), शुद्ध काला सुरमा, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल तथा शुद्ध गन्धक का समभाग चूर्ण १ कर्ष प्रमाण उक्त चूर्ण में मिला कर शरावसम्पुट में बन्द करके गजपुट में फूँक देवें। इस प्रकार २० बीस बार गजपुट दें। प्रत्येक पुट में स्वर्णमाक्षिक आदि द्रव्यों का १ कर्ष चूर्ण डाल नीम्बू के रस से मर्दन कर पुट देना चाहिये। इस प्रकार बीस गजपुट देने से उक्त स्वर्ण आदि धातुओं की भस्म हो जाती है। इसके बाद लोह से द्विगुण अर्थात् १० कर्ष शुद्ध पारद तथा २० कर्ष शुद्ध गन्धक की कज्जली बनावें। इसको एक लोहे की कड़ाही में थोड़ा सा घृत चुपड़ कर डाल देवें और चूल्हे पर रख कर बेर की लकड़ियों की मन्द मन्द अग्नि से पिघलायें। कज्जली के पिघल कर द्रवरूप हो जाने पर उसमें उक्त रूप से बनी हुई स्वर्ण आदि धातुओं की भस्म डाल कर अच्छी तरह मिला लें। अब इसे गाय के गोबर पर बिछे हुये कोमल कदलीपत्र पर ढाल देवें। और शीघ्र ही इसके ऊपर दूसरा कदलीपत्र रख हाथ से दबाते हुये चपटी पपड़ी-सी बना लें। और इस पपड़ी को शीतल करने के लिये ऊपर के कदलीपत्र पर भी पुनः गोबर रख कर कुछ क्षण दबा देना चाहिये। स्वांगशीत होने पर पर्पटी को निकाल खरल में डाल कर कपड़छन चूर्ण कर लेवें। इसके अनन्तर इस पर्पटीचूर्ण को एक लोहे की पली (तेल निकालने के लिये बनाई जाने वाली पली के आकार की) में जो पर्याप्त गहरी तथा जिसमें ऊपर को पकड़ने के लिये एक लम्बी डण्डी लगी हो डाल कर पूर्ववत् बेर की लकड़ी के कोयलों में मन्द मन्द अग्नि से तपायें। पर्पटी के पिघल जाने पर उसमें वत्सनाभविष मिश्रित या भावित शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल तथा शुद्ध गन्धक का समभाग में पर्पटिका के बराबर चूर्ण को थोड़ी थोड़ी मात्रा में डालते जांय और पली में पिघले हुये रस को लोह की करछी से चलाते जाँय। जब हरताल आदि का चूर्ण सब जारण हो जाय। तब पली को नीचे उतार कर ठण्डा कर लें और पर्पटी पीस कर कपड़छन चूर्ण कर लें। पली में पर्पटी डाल कर हरताल आदि का चूर्ण जारण करते हुये यह ध्यान रखना चाहिये कि कोयलों की अग्निज्वाला से पर्पटी न जल जाय। (जिस पली या करछी से तैल घृत आदि को निकाल कर दूसरे पात्र में डालते हैं उसे पली कहते हैं लम्बे बींडे की करछी भी पली कही जा सकती है) इसके पश्चात् पूतिकरञ्ज, षट्कोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी और कालीमिरच), कण्टकारी, मुण्डीजनामूल प्रत्येक ५ पल लेकर सब कूट करके सोलह गुने जल में क्वाथ बनायें और षोडशांश अवशेष रख कर छान लें। इस छने हुये क्वाथ से उक्त पर्पटीचूर्ण को सात भावना दें। फिर इसे कुचले के रस की सात तथा निर्गुण्डीरस की सात भावना देवें। इसके पश्चात् इस पर्पटीचूर्ण को पुनः पली में डाल बेर के कोयलों की मन्द मन्द अग्नि में तपायें। जब गन्धक की गन्ध आने लगे और जलीयांश नष्ट हो जाय तो उतार ठंडा करके पीस कर रख लें। इस प्रकार यह पञ्चामृतपर्पटी तय्यार होती है। इसका भैरवनाथ ने वर्णन किया है अतः इसे भैरवनाथी पञ्चामृतपर्पटी कहते हैं। इसको १ रत्ती परिमाण मात्रा में लेकर त्रिकटुचूर्ण तथा गोघृत या मक्खन के साथ सेवन करने से सर्व लक्षण-युक्त अर्थात् ग्यारह लक्षणयुक्त क्षयरोग नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह पर्पटी श्वास, कास, विसूचिका (हैजा), प्रमेह, उदररोग, अरुचि, प्रसेक (मुख से पानी निकलना) वमन, हृदयरोग, सर्वप्रकार के अर्श रोग, शूल, कुष्ठ, (त्वक्रोग), वातज्वर, मलबन्ध, संग्रहणी, कफप्रकोपजन्य रोग, एक दोषज, द्विदोषज तथा त्रिदोषप्रकोपजोग, तथा अन्याय भयंकर रोगों को नष्ट करती है। अग्निमान्द्य के लिये यह विशेष उपयोगी रस है। इस रस की उक्त शक्ति को देख कर उत्तम वैद्यों को इसे भिन्न भिन्न रोगनाशक योगों तथा भिन्न भिन्न रोगों के अनुपान के साथ प्रयोग करना चाहिये। यह पञ्चामृतपर्पटी क्षय आदि सब रोगों को नष्ट करती है। इस पर्पटी के सेवनकाल में तिल तथा तिलतैल, सर्षप (सरसों), विल्व, खट्टे पदार्थ, करेला, कसूम के बीज तथा शाक, कबूतर का माँस बैगन का शाक या भुर्ता और मुर्गे का माँस ये सब पदार्थ सेवन नहीं करने चाहिये।

विशेष वचन—प्रस्वेदन से कई दोलायन्त्र द्वारा स्वेदन करना अर्थ करते हैं परन्तु दोलायन्त्र से स्वेदन करने में पर्पटी छन कर कषाय में मिल जायगी। अतः सात भावनायें देनी चाहिये। यदि स्वेदन से विशेष अर्थ लेना हो तो करञ्जादि द्रव्यों के कषाय से पर्पटी द्रव्यों को पीस कल्क सदृश बना पलिका में रख कुछ देर बेर के कोयलों की मन्द मन्द अग्नि में सेंक करके जलीयांश का शोषण कर लेना चाहिये। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक॥

गन्धकपिष्ट्यादियोगः [तृष्णाहररस]—

युक्तं गन्धकपिष्ट्याऽयस्तालकं गन्धमाक्षिकम्।
युक्त्या तद्भस्मतां नीतं तृष्णाच्छर्दिनिवारणम्॥९८॥

पारिभाषिक प्रकरण में लिखी हुई गन्धकपिष्टी अथवा पारद गन्धक की कज्जली के योग से लोह, हरताल तथा स्वर्णमाक्षिक की भस्म बना कर फिर इन तीनों को एकत्र मिला रख लें। इसमें से उचित मात्रा में योग्य अनुपान के साथ सेवन करने से तृष्णा तथा वमन रोग दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—रसेन्द्रमङ्गल नामक हस्तलिखित पुस्तक में इस योग को लोह के बिना गन्धक की पिष्टी द्वारा बना कर 'तृष्णाछर्दिरह-

रस' नाम दिया है। उसका पाठ इस प्रकार दिया है—"गन्धपिष्टिसमायुक्तं तालं ताप्यञ्च गन्धकम्। युक्त्या भस्मत्वमानीतं तृष्णाछर्दिनिवारणम् ॥" रसयोगसागर में इस रस की निर्माणविधि इस प्रकार लिखी है—"शुद्ध पारद १ तोला, शुद्ध गन्धक ३ मासे मिला कर नींबू के रस में ४ प्रहर घोट कर इसकी कज्जली करें, फिर इसमें शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म और शुद्ध गन्धक १-१ तोला मिलाकर नींबू के रस से १-२ दिन मर्दन कर गोली बना कर सुखा लें। इन गोलियों के सूखने पर एक पुरानी ईंट में आठ अंगुल गढ़ा खोदकर इन गोलियों को रख दें और नीचे आँच दें, और ऊपर से साफ किये हुये नींबू के रस का चोवा दें। इस प्रकार लगातार एक दिन चोवा देकर गोली को निकाल फिर एक दिन खरल में मर्दन कर गोली बना सम्पुट में बन्द कर ६–७ कपड़मिट्टी करके सेर भर उपलों की खुली जगह में अग्नि देवें। फिर निकाल हरिताल और गन्धक प्रत्येक एक तोला डाल चार प्रहर घोट कर पूर्व की तरह अग्नि देवें। इस तरह जब तक पारे की भस्म न हो जाय तब तक करना चाहिये। जब उसकी अग्निस्थायी भस्म हो जाय उसे निकाल कर रख छोड़ें। इनमें से १–३ रत्ती तक मात्रा में लेकर इसमें इलायची, वंशलोचन, मुलेठी और पिप्पली १–१ रत्ती मिला कर मधु में चटाने से अत्यन्त बढ़ी हुई प्यास, वमन, हैजा, दाह, रक्तपित्त, भ्रम आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।" पिष्टी बनाने के लिये पारा गन्धक को दूध के साथ घोटना चाहिये। स्वर्णमाक्षिक की भस्म गन्धक के योग से बनी लेना उत्तम है ।॥ ९८ ॥

राजावर्तरसः—

राजावर्त्तो रसः शुल्वं मधुकं घृतपाचितम्।
मध्वाज्यशर्करायुक्तं हन्ति सर्वान् मदात्ययान् ॥९९॥

राजावर्तभस्म (कान्तपाषाणभस्म या लाजवर्द), रसभस्म (रससिन्दूर) ताम्रभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म को समभाग में लेकर गोघृत में पका कर जब शुष्क हो जाय निकाल कर रख छोड़ें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर मधु घृत तथा शर्करा के साथ सेवन करने से सर्वप्रकार के मदात्ययरोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—मूल पाठ में "मधुकं" के स्थान पर "माक्षिकं" पाठ ठीक है। क्योंकि मुलेठी लेने से वह घृत में पकाते समय जल जायगी और उसका कोई प्रभाव नहीं रहेगा। साथ ही तन्त्रान्तर में भी "माक्षिक" ऐसा पाठ है। आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक ॥ ९९ ॥

द्वितीयराजावर्तरसः—

राजावर्तरसः शुल्वं सूतगर्भे नियोजितम्।
यष्टीमधुरसैर्घृष्टं घृतमध्ये विपाचितम् ॥
मध्वाज्यशर्करायुक्तं हन्ति सर्वान् मदात्ययान् ॥१००॥

पूर्वोक्त विधि से बनाया हुआ राजावर्तरस तथा शुद्ध ताम्रभस्म को समभाग में लेकर एकत्र करके समभाग शुद्ध पारद में मिला कर मुलेठी के रस से अच्छी तरह मर्दन करें। पश्चात् इसे घृत में जलीयांश शोषण होने तक अच्छी तरह पका लें अर्थात् घृत के जल कर उड़ने तक उसे पकायें। पश्चात् पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर मधु, घृत तथा शर्करा के साथ सेवन करने से सब प्रकार के मदात्ययरोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—रसकामधेनु, रत्नाकरौषधयोग आदि ग्रन्थों में इस रस को ग्रहणीरोगधिकार में इस प्रकार लिखा है, यथा "मृतं सूतं मृतं शुल्वं यष्टिकां राजवर्तकम्। तुल्यांशं मर्दयेदाज्ये क्षणं मृद्वग्निना पचेत् ॥ सितामध्वाज्यसहितं माषार्द्धं भक्षयेत्सदा। राजावर्तरसो नाम ग्रहणी रोगनाशनः ॥" अर्थात् रससिन्दूर, ताम्रभस्म, मुलेठीचूर्ण; लाजवर्दभस्म; इनको समभाग में लेकर इनको थोड़े से घृत में डाल १–२ दिन अच्छी तरह मर्दन करें। पश्चात् अत्यन्त लघुपुट में पका कर निकाल लें। इसमें से ½ मासा मात्रा लेकर घृत, मधु तथा शर्करा में मिला कर खाने से ग्रहणी रोग नष्ट होता है। रसकामधेनुकार ने शुल्व के स्थान पर स्वर्ण लिखा है। जो ग्रहणी तथा मदात्यय दोनों रोगों के लिये लाभदायक है। अतः इस रस को तन्त्रान्तर विधि से बना कर प्रयोग करने पर कोई क्षति नहीं हो सकती है, और "सूतगर्भे" पाठ से उत्पन्न कठिनाई भी दूर हो जाती है ॥ १०० ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये राजयक्ष्मारुचिप्रसेकवान्तिहृद्रोगतृष्णामदात्ययप्रकरणं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः।

अथार्शसां चिकित्सनम्।

अर्शसां स्वरूपलक्षणम्—

गुदस्य बहिरन्तर्वा जायन्ते चर्मकीलकाः।
सर्वरोगकराः पुंसामर्शांसीति हि विश्रुताः ॥ १ ॥

गुदा के बाहर तथा भीतर प्रदेश (वलियाँ) में सर्व रोगों को उत्पन्न करने वाले चर्मकीलों (चमड़े या मांसमय कील के आकार के) का उत्पन्न होना अर्शरोग कहा जाता है, जिसे बवासीर के मस्से कहते हैं।

विशेष वचन—गुदा के भीतर या ओष्ठ प्रदेश में शिराओं की उत्थित अवस्था को अर्श समझना चाहिये। ये शिरायें फूल कर उभर सी जाती हैं जो देखने में मांसांकुर की भाँति होती हैं। अतः निदान में लिखा है—"दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि सन्दूष्य विविधाकृतीन्। मांसांकुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥" इनके

कारणों के विषय में चरक आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये ॥ १ ॥

पित्तार्शोलक्षणम्—

रुधिरस्राविणस्तेषां पित्तजाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥

उक्त मांसांकुरों में रक्तस्रावी मस्सों (Bleeding piles) को पित्तज अर्श कहा जाता है। इसी को खूनी बवासीर कहते हैं।

विशेष वचन—पित्तार्श में जब मलबन्ध होकर मल कठिन होकर आता है तो मल के दबाव से इन मस्सों का मुख फट जाने से उनमें से रक्तस्राव होने लगता है ॥ २ ॥

वातार्शोलक्षणम्—

वातजा निःसहोत्थाना उदावर्तं प्रकुर्वते ॥ ३ ॥

वातप्रकोप से उत्पन्न अर्श रोग में मलबन्ध विशेष होता है जिससे उदावर्त (मलजन्य विष के रक्त में मिलने से शरीर में वातप्रकोप तथा अपान वायु का विपरीत गमन) हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस अर्श में पीड़ा भी अधिक होती है ॥ ३ ॥

श्लेष्मसन्निपातार्शोलक्षणम्—

श्वयथुं श्लेष्मजाः कुर्युः सर्वं कुर्युस्त्रिदोषजाः ॥ ४ ॥

कफप्रकोपयुक्त अर्श में गुदप्रदेश पर शोथ (सूजन) अधिक हो जाती है और गुदप्रदेश पर भारीपन अनुभव होता है। सन्निपातिक अर्शों में तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं ॥४॥

अर्शःकुठाररसः—

शुद्धसूतं पलैकं तु द्विपलं शुद्धगन्धकम्।
मृतं ताम्रं मृतं लोहं प्रत्येकं तु पलत्रयम् ॥ ५ ॥
त्र्यूषणं लाङ्गली दन्ती पिलुकं चित्रकं तथा।
प्रत्येकं द्विपलं योज्यं यवक्षारं च टङ्कणम् ॥ ६ ॥
उभौ पञ्चपलौ योज्यौ सैन्धवं पलपञ्चकम्।
द्वात्रिंशत्पलगोमूत्रं स्नुहीक्षीरं च तत्समम् ॥ ७ ॥
मृद्वग्निना पचेत्स्थाल्यां सर्वं यावत्सुपिण्डितम्।
माषद्वयं सदा खादेद्रसो ह्यर्शःकुठारकः।
तक्रेण दाडिमाम्भोभिः पक्वकन्देन वाऽथ तत् ॥ ८ ॥

शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक दो पल लेकर दोनों की अच्छी तरह कज्जली कर लें। इसमें फिर ताम्रभस्म तीन पल, लोहभस्म तीन पल मिलायें। फिर इसमें कलिहारीमूलचूर्ण दो पल, त्रिकटुचूर्ण प्रत्येक दो पल, दन्तीमूलचूर्ण दो पल, पीलुचूर्ण दो पल, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण दो पल, यवक्षार पाँच पल, भुना हुआ सुहागा पाँच पल, सैन्धानमक पाँच पल डाल कर पीस लें। पश्चात् इसमें गोमूत्र बत्तीस पल, स्नुही (डण्डाथोहर) का दूध बत्तीस पल मिला एक लोहपात्र या मिट्टी के पात्र में डाल चूल्हे में रख कर मन्द अग्नि पर पकावें। जब पक कर औषधि पिण्डाकृति हो जाय तो नीचे उतार कर उसमें से २ मासा प्रमाण में लेकर रोगी को प्रतिदिन देना चाहिये। इस रस के प्रयोग में अनुपान छाछ, अनार का रस अथवा पकाया हुआ जिमीकन्द देना चाहिये।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इससे मिलते जुलते और भी अर्शःकुठाररस के योग हैं। उनमें अधिक साम्यता भैषज्यरत्नावली लिखित-योग से है। जैसे "शुद्धसूतं द्विधा गन्धं मृतलौहञ्च ताम्रकम्। प्रत्येकं द्विपलं दन्ती त्र्यूषणं सूरणं तथा ॥ शुभा टंकयवक्षार सैन्धवं पलपञ्चकम्। पलाष्टकं स्नुहीक्षीरं द्वात्रिंशच्च गवां जलैः ॥ आपिण्डितं पचेदग्नौ खादेन्माषद्वयं ततः। रसश्चार्शःकुठारोऽयं सर्वरोगकुलान्तकः ॥" अर्थात् शुद्ध पारद १ पल, शुद्ध गन्धक २ पल, लोहभस्म २ पल, ताम्रभस्म २ पल, दन्तीमूल, सोंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, जिमीकन्दचूर्ण वंशलोचनचूर्ण, सुहागा, यवक्षार, सैंधानमक, प्रत्येक ५ पल, थूहर का दूध ८ पल, गोमूत्र बत्तीस पल इसे पूर्ववत् यथाविधि मिला कर मन्द अग्नि पर पकायें, पिण्डाकृति होने पर उतार लें। और २ माषा मात्रा में सेवन करें। मूल पाठ में 'पीलुकं' के स्थान पर "चित्रकं पुष्करं तथा" ऐसा पाठान्तर है। चित्रक भी वातिक श्लैष्मिक अर्श में अत्यन्त लाभदायक होता है ॥ ५-८ ॥

वचादिमोदकः—

वचाहिंगुविडङ्गानि सैन्धवं जीरनागरम्।
मरिचं पिप्पली कुष्ठं पथ्या वह्न्यजमोदकम् ॥ ९ ॥
क्रमोत्तरगुणं चूर्णं सर्वेषां द्विगुणं गुडम्।
कर्षं चोष्णजलेनानुपिबेद्वातार्शसां जये ॥ १० ॥

घुड़वच, भुनी हींग, वायविडंग, सैन्धानमक, जीरा, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, कुष्ठ, हरीतकी, चित्रकमूलछाल और अजमोदः इन औषधियों को पूर्व से अर्थात् वच से हींग इस तरह उत्तरोत्तर एक एक भाग वृद्धि में लेवें। अर्थात् वच १ भाग, हींग २ भाग; विडंग ३ भाग इस प्रकार आगे आगे एक भाग बढ़ाते हुये लेवें। और बारीक कूट पीस कर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में सब चूर्ण से दुगुना पुराना गुड़ मिला घोट कर एक एक कर्ष की गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को प्रातः सायं उष्ण जल के साथ सेवन करने से वातज, अर्श नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ मासे से २ मासे तक ॥९-१०॥

तीक्ष्णमुखो रसः [पित्तार्शोहररस]—

मृतसूताभ्रहेमार्कतीक्ष्णमुण्डं सगन्धकम्।
माण्डूरं माक्षिकं तुल्यं मर्द्यं कन्याद्रवैर्दिनम् ॥ ११ ॥
अन्धमूषागतं पाच्यं त्रिदिनं तुषवह्निना।
चूर्णितं सितया माषं खादेत् पित्तार्शसां जये ॥ १२ ॥

रससिन्दूर, अभ्रकभस्म, स्वर्णभस्म, ताम्रभस्म, तीक्ष्णलौह-भस्म, मुण्डलौहभस्म, शुद्ध गन्धक, मण्डूरभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म; इन सब द्रव्यों को समभाग में लेकर एकत्र खरल में डाल कर घीकुमार के रस से दिन भर घोट कर अन्धमूषा में बन्द करके तीन दिन तुष (धानजौ आदि की भुसी) के अग्नि में मन्द मन्द सेक से पकायें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पीस कर रख लें। इसकी १ मासा मात्रा खांड या मिश्री में मिला कर खाने से पित्तप्रकोप-जन्य अर्शरोग नष्ट होता है।

विशेष वचन—गुणपाठ को देखने से इस रस का नाम 'पित्तार्शोहर' रस युक्तियुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि पित्तार्श के लिये इसका प्रयोग लिखा है। परन्तु रसरत्नाकर, भैषज्यरत्नावली आदि में इसको 'तीक्ष्णमुखरस' नाम से ही लिखा है। अन्यत्र इसके निर्माण तथा प्रयोग में कुछ भिन्नता देखी जाती है। जैसे भैषज्यरत्नावली के पाठ से ज्ञात होता है, "मृतसूतार्कहेमाभ्रं तीक्ष्णं मुण्डञ्च गन्धकम्। मण्डूरञ्च समं ताप्यं मर्द्यं कन्याद्रवैर्दिनम्॥ अन्धमूषागतं सर्वं ततः पाच्यं दृढाग्निना। चूर्णितं सितया मांसं खादेत् तच्चार्शसां हितम्॥ रसस्तीक्ष्णमुखो नाम चासाध्यमपि साध-येत्॥" रसराजसुन्दर में प्रकृतरस का अनुपान मधुरत्रय अर्थात् खाँड, मधु और घी लिखा है। कई पुस्तकों में निम्न पाठ अधिक है—भल्लातकं तिलं पथ्याचूर्णं गुड़समायुतम्। मोदकं भक्षये-न्मासात् पित्तरक्तार्शसां जयेत्॥ ११-१२॥

लोहाष्टकम्—

मृतं लोहं चेन्द्रयवं शुण्ठी भल्लातचित्रकम्।
बिल्वमज्जाविडङ्गानि पथ्या तुल्यं विचूर्णयेत्॥
सर्वतुल्यं गुडं योज्यं कर्षं भुक्त्वाऽर्शसां जयेत्॥१३॥

लोहभस्म, इन्द्रजौ, सौंठ, शुद्ध भिलावा, चित्रकमूलत्वक्, बेल की गिरी, वायविडङ्ग और हरीतकी; इन सब को समभाग लेकर कूट करके सूक्ष्म कपड़छन चूर्ण कर लें। फिर इसमें सारे चूर्ण के बराबर पुराना गुड़ मिला पिण्ड-सा बना के रख लें। इसमें से प्रतिदिन १ कर्ष मात्रा में सेवन करने से अर्शरोग दूर हो जाता है।

विशेष वचन—कर्ष मात्रा अत्यधिक है। क्योंकि १ तोले में आठवाँ भाग लोह का १½ मासा हो जाता है जो कि मलबन्ध-कारक हो सकेगा। अतः आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक।

श्लेष्मार्शसि औषधिविशेषनिर्देशः—

श्लेष्मार्शसः प्रशान्त्यर्थं देयमानन्दभैरवम्।
मृतताम्रेण संतुल्यं देयं गुञ्जात्रयं हि तत्॥ १४॥

कफप्रकोपजन्य अर्श रोग के लिये अतीसारप्रकरण में लिखे जाने वाले आनन्दभैरवरस को ताम्रभस्म के साथ प्रयोग करने से विशेष लाभ होता है। इन दोनों की मात्रा ३ रत्ती है।

विशेष वचन—आनन्दभैरव तथा ताम्रभस्म को समभाग में लेकर मिश्रित मात्रा ½ रत्ती से १½ रत्ती तक होनी चाहिये॥ १४॥

सर्वलोकाश्रयो रसः—

शुद्धं सूतं पलं गन्धं गन्धार्द्धं तालताप्यकम्।
अमृतं रसकं चैव तालकार्द्धविभागिकम्॥ १५॥
एतेषां कज्जलीं कुर्याद्दृढं सम्मर्द्य वासरम्।
त्रिदिनं मर्दयेच्चाथ दत्त्वा निम्बुजलं खलु॥ १६॥
वटीकृत्य विशोष्याथ काचकूप्यां निधापयेत्।
निष्कतुल्याऽर्कपत्रेण पिधायास्यं प्रयत्नतः॥ १७॥
सार्धांगुलमितोत्सेधं मृत्स्नया तां विलेप्य च।
ततो भाण्डतृतीयांशे सिकतापरिपूरिते॥ १८॥
निधाय सिकतामूर्ध्नि सिकताभिः प्रपूरयेत्।
रुद्ध्वाऽऽस्यं तदधो वह्निं ज्वालयेत्सार्द्धवासरम्॥१९॥
स्वांगशीतलितं काचघटादाकृष्य तं रसम्।
पटचूर्णं विधायाथ ताम्रमभ्रं पलद्वयम्॥ २०॥
पलार्द्धममृतं चैव मरिचं च चतुष्पलम्।
एकीकृत्य क्षिपेत्सर्वं नारिकेलकरण्डके॥ २१॥
साज्यो गुञ्जाद्विमानो हरति रसवरः सर्वलोकाश्रयोऽयं
वातश्लेष्मोत्थरोगान्गुदजनितगदं शोषपाण्ड्वामयं च।
यक्ष्माणं वातशूलं ज्वरमपि निखिलं वह्निमान्द्यं च गुल्मं
तत्तद्रोगघ्नयोगैः सकलगदचयं दीपनं तत्क्षणेन॥ २२॥

शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक एक पल, शुद्ध हरताल आधा पल, स्वर्ण माक्षिकभस्म आधा पल, शुद्ध वत्सनाभविष १ कर्ष और शुद्ध खर्पर १ कर्ष लेवें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें अन्य द्रव्यों का सूक्ष्म चूर्ण मिला कर खरल में एक दिन तक निरन्तर मर्दन करें। पश्चात् इसमें नींबू का रस डाल कर तीन दिन तक मर्दन करके छोटी छोटी गोलियाँ सी बना कर सुखा लें। अब इन गोलियों को काँच की चौड़े मुख की आतसी शीशी में भर कर गोलियों के ऊपर शीशी के मुख में एक निष्क परिमाण भार का सूक्ष्म शुद्ध ताम्रपत्र रख दें। और शीशी का मुख बन्द कर दें। अब इस शीशी के ऊपर चारों तरफ डेढ़ अंगुल ऊँची मिट्टी का लेप कर दें। अथवा शीशी में तीन चार अच्छी कपड़मिट्टी कर लें। इस लेप अथवा कपड़मिट्टी के सूख जाने पर एक मटके या नाद में तीन हिस्से बालू भर उसमें शीशी को गाढ़ कर नाद या मटके को गले तक रेत से भर दें। और नाद का मुँह ढक्कन से बन्द कर सन्धिलेप कर दें। अब मटके को चूल्हे पर चढ़ा कर १॥ दिन तक क्रम वृद्ध अग्नि देवें। स्वांगशीत होने पर शीशी से सब औषधि निकाल कर बारीक पीस लेवें। इसके पश्चात् एक पल ताम्रभस्म एक पल अभ्रकभस्म, आधा पल शुद्ध वत्सनाभ, चार पल मरिचचूर्ण को इस पूर्व रस में मिला अच्छी तरह से

मर्दन कर सूखे हुये नारियल की शीशी में रख लें। इसमें से २ रत्ती परिमाण मात्रा में घृत में मिला कर सेवन करने से वातश्लैष्मिक रोग, अर्शरोग, शोष, पाण्डुरोग, राजयक्ष्मा, वातजशूल, सर्वज्वर, अग्निमान्द्य, गुल्म, आदि सम्पूर्ण रोग तत्तत् रोगोचित अनुपान से देने पर नष्ट हो जाते हैं। इस रस के सेवन से तत्काल अर्थात् शीघ्र ही क्षुधावृद्धि हो जाती है। इसे सर्वलोकाश्रयरस कहते हैं।

विशेष वचन—इस रस के निर्माण में जो शुद्ध १ निष्क परिमाण ताम्रपत्र शीशी में रक्खा था उसको भी इसी के साथ पीस कर मिला लेना चाहिये। परन्तु ताम्रपत्र कण्टकवेधी हो। अन्यथा उसकी अच्छी भस्म नहीं होगी। यदि उसकी अच्छी तरह भस्म न बने तो उसके स्थान पर दूसरी अमृतीकरणयुक्त ताम्रभस्म लेनी चाहिये। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। तन्त्रान्तर में इस रस को 'अर्शोघ्नरस' नाम से भी लिखा है॥ १५-२२॥

अर्शोघ्नवटकः—

अर्शोघ्नं वटकं वक्ष्ये पुत्रक! शृणु भद्रक!।
पिप्पलीपिप्पलीमूलवनशूरणचित्रकम्॥ २३॥
मारिचं कंटकारी च रक्तपुष्पी समांशकाः।
पलमेकं पृथक् सर्वं श्लक्ष्णं दृषदि पेषयेत्॥ २४॥
गजाजपशुमूत्रेषु शुभे भाण्डे विनिक्षिपेत्।
मृद्वग्निना पचेत्सर्वं चूर्णशेषं यथा भवेत्॥ २५॥
लोणत्रयं च तत्रैव पलमेकं तु निक्षिपेत्।
अक्षप्रमाणवटकान् कुर्यादेवं पृथक्पृथक्॥ २६॥
त्रिंशद्दिनानि मतिमानर्शोघ्नं दीपनं परम्।
घृततक्रसमायुक्तं भोजनं सम्प्रदापयेत्॥ २७॥

हे भद्रक पुत्र! अब अर्शनाशक वटक का वर्णन किया जाता है। पिप्पली, पिप्पलीमूल, जङ्गली जिमीकन्द, चित्रकमूलत्वक्, मिरच, कटैली, रक्तपुष्पी (लाल आक के जड़ की छाल) इन सब के चूर्ण को पृथक् २ एक एक पल प्रमाण मात्रा में एकत्र कर लेवें। अब इस चूर्ण को एक दृढ़ मिट्टी के पात्र में डाल कर उसमें हाथी, बकरी और गाय के मूत्र में से किसी का मूत्र डाल कर मन्द मन्द अग्नि से पकायें। जब मूत्र शेष हो जाय तो इसमें सैन्धवनमक, सौंचलनमक तथा विडनमक का मिश्रितचूर्ण एक पल परिमाण मिला कर एक एक कर्ष की गोलियाँ या मोदक जैसे बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक एक वटक उष्ण जल अनुपान या तक्रानुपान से तीस दिन तक सेवन करने से अर्शरोग नष्ट हो जाता है, और अग्नि की दीप्ति होती है। वटिका सेवन करने के बाद क्षुधा लगने पर घृत तथा छाछ युक्त भोजन देना चाहिये।

अर्शोहररसः—

गन्धकं तारताम्रं च कृत्वा चैकत्र पिष्टिकाम्।
तत्समं चाभ्रकं तीक्ष्णं गन्धकात्पञ्चमांशकम्॥ २८॥
विषं च षोडशांशेन द्वौ भागौ सूतकस्य च।
एकीकृत्य प्रयत्नेन जम्बीरद्रवमर्दितम्॥ २९॥
भाजने मृण्मये स्थाप्य वराक्वाथेन भावयेत्।
दशमूलशतावर्योः क्वाथे पाच्यः क्रमेण हि॥ ३०॥
अथोत्तार्य प्रयत्नेन वटिकां कारयेद् बुधः।
गुञ्जात्रयप्रमाणेन हन्ति शूलं गुदाङ्कुरम्॥ ३१॥

शुद्ध गन्धक एक भाग, रजतभस्म एक भाग, ताम्रभस्म एक भाग लेकर सबको मर्दन करके पिष्टीचूर्ण बना लेवें। फिर तीन भाग कृष्णाभ्रकभस्म और गन्धक से पाँचवाँ भाग (⅕ अर्थात् तोले के हिसाब से २। मासा) तीक्ष्णलोहभस्म, शुद्धवत्सनाभविष गन्धक से सोलहवाँ भाग, शुद्ध पारद दो भाग लेकर पहिले पारद को उक्त पिष्टी में मिला कर मर्दन कर बाद को अन्य अभ्रक आदि द्रव्यों को मिलायें, फिर इसको जम्बीरी नींबू के रस से मर्दन करके एक मिट्टी के पात्र में रख कर त्रिफलाकषाय की तीन या सात भावना देवें। पश्चात् इसको दशमूल तथा शतावर के कषाय में मन्द मन्द अग्नि से पकावें। जलीयांश सूख जाने पर उतार कर तीन रत्ती की गोलियाँ बना लें। ये गोलियाँ गुदव्याधि (बवासीर) तथा शूल रोग को नष्ट करती हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इस रस को गुदव्याधिहर अथवा अर्शोघ्नवटिका नाम से भी लिखा गया है। 'गन्धकं पञ्चमांशकम्' के स्थान पर 'गन्धकात्पञ्चमांशकम्' ऐसा ही होना चाहिये। इसी तरह 'गुदव्याधिञ्च शूलनुत्' के स्थान पर 'हन्ति शूलार्शसी क्षणात्' पाठ भी पाया जाता है। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक॥ २८-३१॥

मूलकुठारः—

वरनागं तथा व्योमसत्त्वं शुल्वं च तीक्ष्णकम्।
सर्वमेकत्र विद्राव्य क्षिप्त्वाऽऽलं चाल्पमल्पकम्॥ ३२॥
चालयेदनिशं यावत्तालकं त्रिगुणं खलु।
ततस्तेन विमर्द्याथ पिष्टीं कुर्याद्रसेन हि॥ ३३॥
ततो भल्लातकीवृक्षमूलान्तस्थां खनेच्च ताम्।
मासादाकृष्य तां पिष्टीं गव्यदुग्धे विनिक्षिपेत्॥ ३४॥
ततो भल्लातकीतैलं हृतं पातालयन्त्रतः।
आयसे भाजने स्निग्धे पिष्टिकां तां निवेश्य च॥ ३५॥
प्रस्थमात्रं हि तत्तैलं जारयेदतियत्नतः।
तत्तैलभावितैर्गन्धैः पुटित्वा भस्मतां व्रजेत्॥ ३६॥
ततः कार्त्तिकमासोत्थकोरंटदलजैः रसैः।
रसं सम्मर्द्य सम्मर्द्य घर्मे संस्थाप्य मारयेत्॥ ३७॥
तद्भस्म मेलयेत्पूर्वभस्मना समभागिकम्।
वनशूरणनिर्गुण्डी महाराष्ट्रीभकण्टिका॥ ३८॥

वज्रवल्ली शिखी चैषां रसैः पिष्ट्वा विशोषयेत् ॥
त्रिवारं मार्कवद्रावैर्द्रावयित्वा विशोषयेत् ॥
चूर्णीकृत्य प्रयत्नेन क्षिपेत्काचकरण्डके ॥ ३९ ॥
सोऽयं मूलकुठारको रसवरो दीप्याग्निवेल्लोत्तमा-
संयुक्तः स घृतश्च वल्लतुलितः संसेवितो नाशयेत् ।
अर्शांस्याननासिकाक्षिगुदजान्यत्युग्रपीडानि च
प्लीहानं ग्रहणीं च गुल्मयकृतौ मान्द्यं च कुष्ठामयान् ॥

वरनाग (अष्टमाध्याय में वर्णित सीसक अथवा ६० पुट दिया हुआ नागभस्म), अभ्रकसत्व, शुद्ध ताम्र तथा शुद्ध तीक्ष्ण-लौह; सब को समभाग में लेकर एक लोहे की कड़ाही अथवा मूषा में डाल कर तीव्र अग्नि में पिघलायें। जब सब धातु पिघल कर एक हो जायँ तब उसमें थोड़ी थोड़ी मात्रा में शुद्ध हरताल का चूर्ण डालते जायँ और एक लोहे की कड़छी से चलाते जायँ। इस प्रकार जब उक्त नाग आदि धातुओं से त्रिगुण हरतालचूर्ण उसमें जल जाय तो उसे नीचे उतार कर शीतल कर लें। पश्चात् इस धातुओं के चूर्ण में समान भाग शुद्ध पारद मिला खरल में डाल कर पिष्टी बना लें। इस पिष्टी को किसी पात्र में बन्द करके भिलावे के पेड़ की जड़ के पास मिट्टी में गाड़ देवें। एक मास के बाद उक्त पिष्टी को निकाल गाय के दूध में एक भावना देवें। अब इस गोदुग्धभावित पिष्टी को लोह की कड़ाही में डाल चूल्हे पर रख नीचे अग्नि जलावें और पतालयन्त्र द्वारा निकाले हुये भिलावे के तैल को इस पिष्टी पर थोड़ा थोड़ा डालते जायँ। इस प्रकार जब एक प्रस्थ भिलावे का तैल जारित हो जाय तो नीचे उतार शीतल करके उसमें भल्लातकतैल-भावित शुद्ध गन्धकचूर्ण चतुर्थांश डाल कर मर्दन करके गजपुट में फूँक लें। इस प्रकार तब तक गन्धक के साथ मर्दन कर पुट देकर फूँकते जाँय जब तक कि उक्त धातुओं की अच्छी तरह भस्म न होजाय। अन्त में धातुओं की ठीक भस्म होने पर उसे पीस कर रख लें। अब निम्न विधि से पारद की भस्म बनायें। कार्त्तिक मास में फूलने वाले पियावांसा के स्वरस में शुद्ध पारद को (कई वार) मर्दन कर धूप में सुखायें। पारद को पियावांसा के स्वरस में घोट कर तेज़ धूप में रखने की विधि को तब तक दुहराना चाहिये, जब तक कि पारद की भस्म न हो जाय। अब इस प्रकार बनी हुई पारदभस्म में समभाग पूर्वोक्त प्रकार से बनी हुई वरनाग आदि धातु की भस्म मिला कर इसको जंगली जिमीकन्द, निर्गुण्डी, गजपीपल, नागकेशर, अतिवला, हाड़जोड़, चित्रक के पृथक् २ स्वरस या कषाय में एक एक दिन मर्दन कर सुखा लें। तदनन्तर इस योग को भाँगरे के स्वरस में तीन भावना देकर सुखा कर सावधानी के साथ किसी दृढ़ शीशी आदि में रख लें। यह मूलकुठारस' कहा जाता है। इस रस को एक वेल्ल परिमित मात्रा में लेकर अजमोद, चित्रकमूल त्वक्, वायविडंग तथा त्रिफला के साथ घृत में मिला कर सेवन करने से सर्वप्रकार के अर्शरोग, मुख, नासिका, नेत्र और गुद-स्थान के अर्श (मस्से), जिनमें अत्यन्त पीड़ा होती है, शान्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह रस प्लीहावृद्धि, ग्रहणी, गुल्म, यकृत्वृद्धि, अग्निमान्द्य तथा कुष्ठरोग (त्वक्रोग) को भी नष्ट करता है।

विशेष वचन—इस रस को 'अर्शःकुठार' नाम से भी लिखा गया है। 'त्रिगुणम्' के स्थान पर 'द्विगुणम्' पाठान्तर भी पाया जाता है। यदि पारदभस्म बनाने में वांसास्वरस से अन्तिम वार घोट कर एक लघुपुट दिया जाय तो उत्तम रहेगा। अन्यथा कई दिन धूप में रखने से भस्म होना बहुत ही कठिन है ॥४०॥

महोदयप्रत्ययसारः—

रसग्रस्तसमुद्गीर्णगन्धकस्य पलत्रयम् ।
मृतसूत्राभ्रताम्रायः कर्षं कर्षं पृथक् पृथक् ॥४१॥
पलं हिंगुलचूर्णस्य माक्षिकस्य पलत्रयम् ।
पलं कम्पिल्लकस्यापि विषस्यार्द्धपलं तथा ॥४२॥
सप्ताहं मर्दयेत् सर्वं दत्त्वा चूर्णोदकं मुहुः ।
ततस्तद्गोलकं कृत्वा सप्ताहश्चाऽऽतपे क्षिपेत् ॥४३॥
गुडचूर्णं शिलाचूर्णं लिम्पेदङ्गुलिकाघनम् ।
त्रिपलं गन्धकं दत्त्वा क्रौञ्चयामथ च गोलकम् ॥४४॥
गोलकस्योपरिष्टाच्च क्षिपेत्तालपलत्रयम् ।
संरुध्यातिप्रयत्नेन दद्याद्गजपुटं खलु ॥४५॥
स्वाङ्गशीतलमाहृत्य गोलकं लेपनैः सह ।
विचूर्ण्य सप्तवारं हि विषतिन्दुफलोद्भवैः ॥४६॥
द्रवैरथाऽऽतपे शुष्कं क्षिपेद्रम्ये करण्डके ।
त्रिंशदंशेन वैक्रान्तभस्म तस्मिन् विनिक्षिपेत् ॥४७॥
अयं हि नन्दीश्वरसम्प्रदिष्टो रसो विशिष्टः खलु रोगहन्ता ।
निःशेषरोगेष्वहतप्रतापोमहोदयप्रत्ययसारनामा ॥४८॥
हन्यात् सर्वगुदामयान् क्षयगदं कुष्ठञ्च मन्दाग्नितां
शूलाध्मानगदं कफं श्वसनतामुन्मादकापस्मृती ।
सर्वा वातरुजो महाज्वरगदान्नानाप्रकारांस्तथा
वातश्लेष्मभवं महामयचयं दुष्टग्रहण्यामयम् ॥४९॥

पारद में जारणकर्म करके प्राप्त की हुई गन्धक तीन पल, रससिन्दूर एक कर्ष, कृष्णाभ्रकभस्म एक कर्ष, शुद्ध हिंगुल एक कर्ष, स्वर्णमाक्षिकभस्म तीन पल, शुद्ध कवीला एक पल, शुद्ध वत्सनाभविष आधा पल लें। पहिले गन्धक तथा रससिन्दूर की कज्जली बनायें। फिर उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण को मिला कर चूने के पानी से सात दिन तक थोड़ा थोड़ा चूने का पानी डालते हुए मर्दन करें। तत्पश्चात् इसका गोला-सा बना कर उसे सात दिन तक तेज धूप में सुखायें। पश्चात् इस गोले के ऊपर समभाग गुड़

और मैनसिल का जल से पीस कर १ अंगुल मोटा लेप चढ़ा दें। सूखने के बाद १ बड़ी मूषा में ३ पल गन्धक का चूर्ण डाल कर उस पर उक्त गोले को रख फिर इसके ऊपर ३ पल हरतालचूर्ण डाल कर मूषा के मुख को बन्द करके अच्छी तरह ३-४ कपड़-मिट्टी करके सुखा लें और गजपुट में फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल लेप सहित गोले को पीस कर रख लें। अब इस चूर्ण को कुचले के फलरस की सात भावनायें देकर धूप में सुखा लें। अन्त में इस भावित द्रव्य में इसके तीसवाँ भाग वैक्रान्त-भस्म मिला पीस कर रख लें। यह नन्दीश्वर का कहा हुआ 'महोदयप्रत्ययसार रस' सब रोगों के नाश करने में अव्यर्थ शक्ति रखता है। यह सर्वप्रकार के अर्श, क्षय, सम्पूर्ण कुष्ठरोग, मन्दाग्नि, शूल, आध्मान, कफ, श्वास, उन्माद, सर्ववातरोग, सर्वज्वर, वातश्लेष्मप्रकोपजन्य अन्यान्य भयंकर रोग तथा संग्रहणीरोगों को विधि तथा पथ्यपूर्वक सेवन करने से शीघ्र नष्ट करता है।

विशेष वचन—रससिन्दूर, मकरध्वज आदि के निर्माण में यदि शीशी में सलाई न दी जाय और मन्द मन्द अग्नि से पाक किया जाय तो गन्धक धीरे २ उड़ कर शीशी के गले में चिपक कर सञ्चित हो जाती है वही "रसग्रस्तसमुद्गीर्ण गन्धक" कही जाती है। कोई टीकाकार "गुड़चूर्ण" से गुड़ और चूना दो द्रव्य लेते हैं। अन्तिम पुट देकर औषधि को लेप सहित ही पीस कर रखने के उपदेश होने से यह उचित नहीं प्रतीत होता है कि इसमें चूना भी डाला जाय। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। रसग्रस्तसमुदीर्ण का अर्थ–पारद से जारित गन्धक है, जैसा रससिन्दूर के पाक में शीशी के नीचे मिलती है॥ ४१–४९॥

कनकसुन्दरो रसः—

स्याद्रसं धौतमाक्षीकं कान्ताभ्रं नागहाटकम्।
पृथ्वीभटेन संतुल्यं सर्वतुल्यं च गन्धकम्॥५०॥
दत्त्वा विद्याधरे यन्त्रे पुटेदारण्यकोपलैः।
स्वाङ्गशीतलमुद्धृत्य त्र्यूषणेन विमिश्रयेत्॥५१॥
अर्शोव्याधौ कटीशूले चक्षुःशूले च दारुणे।
सन्निपाते क्षये कासे श्वासे मन्दानले ज्वरे॥५२॥
कर्णशूले शिरःशूले दन्तशूले प्रयोजयेत्।
पीनसे प्लीह्नि हृच्छूले ग्रन्थिवाते च दारुणे॥५३॥
एकाङ्गे वा धनुर्वाते कम्पवाते च मूर्च्छिते।
ज्वरांश्च विषमान्सर्वान् हन्ति रोगाननेकधा॥५४॥
सेवितः पथ्ययोगेन रसः कनकसुन्दरः।
गुञ्जा मात्रं ददीतास्य यथायुक्तानुपानतः॥५५॥
घृतेन संयुतो वाते मधुना पैत्तिके ज्वरे।
पिप्पल्या श्लैष्मिके देयः पित्तोद्भूते सचन्दनः॥५६॥
तक्रेण श्लेष्मवातोत्थे वातपित्ते घृतान्वितः।
श्लेष्मपित्ते चार्द्रकेण निर्गुण्ड्या सान्निपातिके॥५७॥
फलत्रयेण शूलेषु विषमेषु ज्वरेष्वपि।
आर्द्रकेणाथवा दद्याद्वह्निमान्द्ये विशेषतः॥५८॥
अभिष्यन्दे शिरःशूले गायत्रीबोलसंयुतम्।
पक्षिमांसरसमायुक्तं कफवाते च मूर्च्छिते॥५९॥
एकाङ्गे च धनुर्वाते क्षीरमुक्तं च पीनसे।
पाण्डुरोगे क्षये कासे मरिचाज्यैश्च कामले॥६०॥
अजमोदाविडंगैश्च नाभिशूलेऽग्निमांद्यजित्।
रूक्षज्वरेऽरुचौ देयः कदलीफलसंयुतः॥
बोलेनाऽर्द्धकटीशूले भाषितं नागबोधिना॥६१॥

शुद्ध पारद, स्वर्णमाक्षिकभस्म, कान्तलोहभस्म, कृष्णाभ्रक-भस्म, नागभस्म तथा स्वर्णभस्म प्रत्येक एक एक भाग और शुद्ध गन्धक ६ भाग लेकर पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। इसमें सब द्रव्यों के चूर्ण को मिला अच्छी तरह पीस कर एक दृढ़मूषा में बन्द करके विद्याधरयन्त्र में रख आरने उपलों से अग्नि देवें। स्वांगशीत होने पर मूषा में रखे हुये भीतर के द्रव्य को निकाल कर उसमें समान भाग त्रिकटुचूर्ण मिला एक दिन अच्छी तरह मर्दन करके रख लें। यह रस अर्शरोग, कमर का शूल, भयंकर नेत्र शूल, सन्निपात, क्षय, श्वास, कास, मन्दाग्नि, ज्वर, कर्णशूल, शिरःशूल, दन्तशूल, पीनस (पुरातन बिगड़ा हुआ जुकाम), प्लीहावृद्धि, हृदयशूल, भयानक ग्रन्थिवात, एकाङ्गवात, धनुर्वात तथा कम्पवात और मूर्च्छारोग में प्रयुक्त किया जाता है। और यह रस सर्व प्रकार के विषमज्वर तथा अनेक प्रकार के रोगों को भी नष्ट करता है। यदि इसे पथ्यपूर्वक नियम से सेवन किया जाय। प्रत्येक रोग में इसको उस रोग के अनुकूल या लिखित अनुपान के साथ एक रत्ती मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। वातज्वर में इस रस को घृत के साथ दिया जाता है। पित्तप्रकोप-युक्त ज्वर में मधु अथवा चन्दन के कषाय फाण्ट के साथ दिया जाता है। कफज्वर में पिप्पलीचूर्ण मिला कर सेवन कराया जाता है। श्लेष्मवात प्रकोप में तक्र के साथ, वातपित्त में घृत के साथ, श्लेष्म तथा पित्तप्रकोप में अदरख के साथ और सन्निपात में निर्गुण्डी स्वरस के साथ दिया जाता है। सर्व प्रकार के शूलों तथा विषमज्वरों में साधारणतः इसको त्रिफलाचूर्ण या त्रिफलाकषाय के साथ दिया जाता है। मन्दाग्नि होने पर विशेष रूप से अदरख का रस अनुपान में लेना चाहिये। नेत्राभिष्यन्द (आंखों का दुखना) और शिरःशूल रोग में इसको खदिरत्वक्कषाय तथा बोलचूर्ण के साथ दिया जाता है। कफवात प्रकोपजन्य मूर्च्छा में इस रस को जांगलदेशीय पक्षियों के मांसरस के साथ देना चाहिये। एकांगवात, धनुर्वात तथा पीनस रोग में दूध अनुपान दिया जाता

है। पाण्डुरोग, क्षय, कास, श्वास तथा कामला रोग में मिरचचूर्ण और घृत के साथ दिया जाता है। नाभिशूल और अग्निमान्द्य में अजमोद और विडंगचूर्ण के साथ देना चाहिये। शरीर में वातप्रकोप से रूक्षता बढ़ने पर होने वाले ज्वर तथा अरुचि में इसको पक्वकदलीफल के साथ देना चाहिये। कटि के अर्धभाग में शूल रहने पर इसको बोलचूर्ण के साथ प्रयोग करना चाहिये। इस रस को तथा इस रस में रोगानुसार उक्त अनुपान की कल्पना को नागबोधि नामक रसाचार्य ने वर्णन किया है और उसी ने इस रस की कल्पना भी की है।

विशेष वचन—'पृथ्वीभट' शब्द से यहाँ पर तोला लिया जाता है। पृथ्वीभट का अर्थ जमीन खोदने में वीर (बहादुर) अर्थात् सूअर होता है। इसी को कोल भी कहते हैं। अतः पृथ्वीभट से कोल (१ कर्ष) लिया गया है। जहाँ पर 'पृथ्वीभटेन संयुक्तं" ऐसा पाठ है। वहाँ संखिया लेने को लिखा है। वाहट नामक ग्रन्थ में गन्धक के स्थान पर स्वर्ण और स्वर्ण के स्थान पर गन्धक का प्रयोग लिखा है। पारद गन्धक की कज्जली आदि द्रव्यों को विद्याधरयन्त्र में रखने के पूर्व तुलसी, चित्रक, अदरख आदि किसी के रस में तीन दिन तक मर्दन कर गोला सा बना कर सुखा लेना चाहिये ॥ ५०–६१ ॥

अर्केश्वरो रसः—

नागं पारदगन्धकं त्रिलवणं वार्य्यर्कजं मेलये-
देकैकश्च पलं पलं त्रयमतः पञ्च क्रमान्मर्दयेत्।
सर्वं तद्दिवसत्रयं तदनु तद्दत्त्वा पुटं भावना
कुर्यात्सत्रिफलाग्निवेतसरसैः पंचाधिकाविंशतिः॥६२॥
पश्चैतत् क्रमशस्ततो गुडभवैर्दत्तोऽस्य वल्लो जलै-
र्हन्त्यर्शांस्यखिलानि शूरणघृतैस्तस्याशनमस्मिन्हितम्।
अर्केशः परिवर्ज्यतामिति मुनिः श्रीवासुदेवोऽवदत्
कूष्मांडीफलमाषपायसमतिव्यायाममर्कातपम् ॥६३॥

नागभस्म एक पल, शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक एक पल, त्रिलवण (सौवर्चल, सैन्धव तथा विड) तीन पल (मिलित) तथा पके हुये आक के पत्तों का रस पाँच पल लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला दें। अब इसको तीन दिन तक अर्कपत्र-स्वरस से अच्छी तरह मर्दन करके सुखा लें। सूखने के बाद इसको एक शरावसम्पुट में बन्द कर कपड़मिट्टी करके लघुपुट में फूँक दें। इसके पश्चात् स्वांगशीतल होने पर सम्पुट में से औषध को निकाल कर इसको हरीतकी, बहेड़ा, आँवला, चित्रक तथा अम्लवेत के पृथक् २ कषाय या स्वरस में पाँच पाँच भावना देकर सुखा कर चूर्ण कर लें अथवा १ रत्ती की गोलियाँ बना लें। इस रस की १ रत्ती मात्रा को गुड़ की चाशनी या शर्बत के साथ प्रयोग करने से सब प्रकार के अर्श नष्ट हो जाते हैं। इस रस के सेवनकाल में रोगी को जिमीकन्द का शाक तथा घृत के साथ भोजन करना चाहिये। यही पथ्य है। यह 'अर्केश्वररस' श्रीवासुदेव मुनि नामक वैद्य द्वारा बताया गया है। इसके सेवनकाल में पेठा, उड़द, खीर तथा अत्यधिक व्यायाम, धूप में रहना अत्यधिक कार्य करना, इन सब का परिहार करना चाहिये।

विशेष वचन—'वार्यर्कजम्' के कोई २ टीकाकार वारिजम् तथा अर्कजम् इस तरह अर्थ करते हुए दो पृथक् २ द्रव्य लेते हुए वारिज से शंखभस्म और अर्कज से तुत्थभस्म का ग्रहण करते हैं। परन्तु रसकौस्तुभ में इसका अर्थ आक का स्वरस ही किया गया है। अतः अर्क का ही स्वरस लेने में कोई हानि नहीं है ॥६२-६३॥

तीक्ष्णमुखो रसः—

रसेन्द्रहेमार्कविडालगोला सुरायसं लोहमलाभ्रगन्धाः।
ताप्यं च कन्यारसमर्दितोऽयं पक्वः पुटे तीक्ष्णमुखोऽर्शसां स्यात् ॥ ६४ ॥

शुद्ध पारद, स्वर्णभस्म, ताम्रभस्म, विडनमक, शुद्ध हरताल, गोल (लाल रंग का गन्ध बोल विजयसार), तीक्ष्णलोहभस्म, मण्डूरभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक तथा स्वर्णमाक्षिकभस्म सब समभाग में लेकर पहले पारे गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर घीकुमार के रस से एक दिन पर्यन्त अच्छी तरह मर्दन कर सुखा करके शरावसम्पुट में बन्द कर दें और कपड़मिट्टी करके लघुपुट में फूँक दें। स्वांगशीत होने पर निकाल लें। यह 'तीक्ष्णमुख' नामक रस अर्शरोग के लिये पूर्वोक्त तीक्ष्णमुखरस के समान ही गुणकारक होता है।

विशेष वचन—इस रस को भी पूर्वोक्त तीक्ष्णमुख रस की भाँति तुषों की अग्नि में तीन दिन तक धीरे धीरे पकाया जाय तो अत्यन्त लाभदायक होगा मात्रा इसकी पूर्वोक्त रस के समान ही समझनी चाहिये। सुरत्नोज्वलाटीका में विडाल से हरताल और गोला से मनःशिला अर्थ किया है, जो चिन्तनीय है ॥ ६४ ॥

अर्शःकुठाररसः—

श्रेष्ठादन्त्यग्नियुग्मत्रिकटुकहलिनीपीलुकुम्भं विपक्वं
प्रस्थे मूत्रस्य सस्नुक्पयसि रसपलं द्वे पले गन्धकस्य।
लोहस्य त्रीणि ताम्रात्कुडवमथ रजःक्षारयोश्चापि पञ्च
क्षिप्त्वा स्थाल्यां पचेत्तु ज्वलति दहनतश्चूर्णमर्शः कुठारः॥

त्रिफलाचूर्ण, दन्तीमूलचूर्ण, दोनों चित्रक अर्थात् श्वेतपुष्पचित्रकचूर्ण, रक्तपुष्पचित्रकचूर्ण अथवा चित्रकचूर्ण तथा भिलावाचूर्ण, त्रिकटुचूर्ण, लांगलीमूलचूर्ण, पीलुचूर्ण, त्रिवृत् (निशोथ) चूर्ण प्रत्येक एक एक पल, शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक दो पल, गोमूत्र एक प्रस्थ, सेहुण्डदुग्ध १ प्रस्थ, लोहभस्म तीन पल, ताम्रभस्म चार पल, यवक्षार पाँच पल, सुहागा पाँच पल लेवें। पहिले

पारद गन्धक की कज्जली बना कर फिर उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण को मिलायें और इसे एक मिट्टी के पात्र में डालकर इसके ऊपर उपर्युक्त गोमूत्र डाल कर और मन्द मन्द अग्नि से पकावें। जब पाक होने को आ जाय तो इसमें शुद्ध सेहुण्डदुग्ध थोड़ा थोड़ा डालते हुये अतिमृदु अग्नि से पकायें। परन्तु पकते समय कड़छी से हिलाते रहना चाहिये अन्यथा द्रव्य नीचे लग जाने से जल जाता है। जब पक कर पिण्डाकृति हो जाय पात्र को नीचे उतार कर किसी स्वच्छ पात्र में रख लें। यह 'अर्शःकुठाररस' कहा जाता है।

विशेष वचन—यदि सेहुण्डदुग्ध अधिक प्रतीत हो तो वैद्य आवश्यकतानुसार मान में कुछ कमी भी कर सकता है। आधुनिक मात्रा ३ रत्ती से ४ रत्ती तक। 'क्षारयोः' इस द्विवचन से रसरत्नाकर के अनुसार यवक्षार और सुहागा ये दो क्षार लिये जाते हैं न कि क्षारद्वय के हिसाब से यवक्षार और सर्जक्षार। रसरत्नाकर में स्पष्ट किया गया है कि 'यवक्षारश्च टंकणम्। उभे पञ्चपले योज्ये। स्नुहीक्षीर ३२ पल और गोमूत्र ३२ पल लेने का विधान रसरत्नाकर में है। रसेन्द्रसार संग्रह में स्नुहीक्षीर ८ पल और गोमूत्र ३२ पल लेना कहा है ॥ ६५ ॥

त्रैलोक्यतिलकः—

वज्रकृष्णाभ्रजं सत्त्वं शोधितं काचटंकणम्।
रेतयित्वा रजःकृत्वा भर्जयित्वा घृतेन तत् ॥६६॥
अष्टांशसस्यकोपेतं पुटेद्वारत्रयं ततः।
त्रिवारं नृपवर्त्तेन लुङ्गस्वरसयोगिना ॥६७॥
चतुर्वारं च वर्षाभूवासामत्स्याक्षिकारसैः।
गुग्गुलुत्रिफलाक्वाथैस्त्रिंशद्वाराणि यत्नतः ॥६८॥
तुल्यांशरसगन्धोत्थकज्जल्याऽष्टांशभागया।
पुटेत्पंचाशतं वारान्मर्दयेच्च पुटे पुटे ॥६९॥
शोधितं रेतितं कान्तसत्त्वं च घृतमर्दितम्।
पुटेदष्टांशदरदैः संयुक्तं लकुचांबुना ॥७०॥
दशवारं तथा सम्यक् तारं शुद्धं मनोह्वया।
तथा विंशतिवाराणि बलिना मीमदम्लरसैः ॥७१॥
दशवाराणि ताप्येन कृष्णगोघृतयोगिना।
उभयं समभागां तत्पुटेन्निर्गुण्डिकारसैः ॥७२॥
रसगन्धोत्थकज्जल्या दशवारं पुटेत्पुनः।
तस्मिन्नष्टांशभागेन क्षिपेद्वैक्रान्तभस्मकम् ॥७३॥
राजावर्तकलांशेन समभागेन पर्पटी।
तत्सर्वं परिमर्द्याथ भावयित्वाऽऽर्द्रकाम्बुना ॥७४॥
गुडूच्याः स्वरसेनापि भूकदम्बरसेन वा।
भृङ्गराजरसेनापि चित्रमूलरसेन च ॥७५॥
व्योषशाकिनीकन्दैर्भूयोऽप्यार्द्रद्रवेण च।
पटचूर्णमतः कृत्वा क्षिपेच्छुद्धकरण्डके ॥७६॥
त्रैलोक्यतिलकः सोऽयं ख्यातः सर्वरसोत्तमः।
सर्वव्याधिहरः श्रीमाञ्छम्भुना परिकीर्तितः ॥७७॥
उदावर्तं च विड्बन्धं व्यथां च जठरोद्भवाम्।
लोहलं मन्दबुद्धित्वं शूलित्वमपि बन्ध्यताम् ॥७८॥
सूतिरोगानशेषांश्च शूलं नानाविधं तथा।
परिणामाख्यशूलञ्च तथा भिन्द्यात्समुत्कटम् ॥७९॥
रक्तगुल्मं च नारीणां रजःशूलं च दुःसहम्।
अनुपानं च पथ्यं च तत्तद्रोगानुरूपतः ॥८०॥

कृष्णवर्ण वज्राभ्रकसत्व, शुद्ध स्फटिकमणि, सुहागा, सब को समभाग में लेकर अच्छी तरह एकत्र मर्दन करके चूर्ण कर लें। फिर इसको घृत में अच्छी तरह भूनें। जब सब घृत जल जाय तब नीचे उतार कर उसमें सब चूर्ण की अपेक्षा आठवाँ भाग शुद्ध तूतियाचूर्ण मिला दें। और शरावसम्पुट में बन्द कर कपड़मिट्टी करके गजपुट में फूँक दें। इस प्रकार तीन पुट देवें। इसके अनन्तर इस औषधि को बिजौरा नींबू के रस में घोट कर तीन पुट दें। इसके बाद पुनर्नवा, वासा तथा मछेड़ी के स्वरस या कषाय में घोट कर चार पुट दें। पुनः गुग्गुलु तथा त्रिफलाकषाय में घोट कर तीस पुट देवें। प्रत्येक पुट में त्रिफलाकषाय तथा गूगल में घोटना चाहिये। इसके पश्चात् इसमें समभाग में बनाई पारद गन्धक की कज्जली सम्पूर्ण औषधियों के चूर्ण की अपेक्षा अष्टमांश मिला कर पुट दें। इस प्रकार कज्जली को आठवाँ भाग मिला कर क्रमशः पचास पुट देवें और प्रत्येक पुट में सर्वचूर्ण को अच्छी तरह मर्दन करते जायँ। इसके पश्चात् उत्तम कान्तलोहसत्व को रेत से रेत कर चूर्ण करके घृत में भून लें और इसमें लोहचूर्ण का आठवाँ भाग हिंगुल मिला बड़हर के (खटल) फल के रस से मर्दन कर शरावसम्पुट में बन्द करके पुट दें। इस प्रकार दशपुट दें। और कान्तलोहसत्व की भस्म तय्यार कर लें। अब शुद्ध रजतचूर्ण में रजत से अष्टमांश, मनःशिलाचूर्ण मिलाकर किसी अम्ल से मर्दन कर लघुपुट दें। इस प्रकार मैनसिल के साथ रजत को दशपुट दें। इसके पश्चात् इस रजतभस्म में आठवाँ भाग गन्धक मिला मछेछी के स्वरस में घोट कर शराव सम्पुट में बन्द करके २० पुट देवें। इसके पश्चात् इसमें अष्टमांश स्वर्णमाक्षिकचूर्ण मिला कृष्णवर्ण गाय के घृत से मर्दन कर दश पुट दें। इस प्रकार सिद्ध किये रजतभस्म तथा कान्तलोहसत्वभस्म को पूर्वोक्त कृष्णाभ्रकसत्वभस्म में समभाग में मिलाकर निर्गुण्डीस्वरस से मर्दन कर लघुपुट दें। इसके अनन्तर इस मिश्रित भस्म को अष्टमांश पारद गन्धक की कज्जली के साथ मर्दन कर दश लघुपुट दें। प्रत्येक पुट में अष्टमांश कज्जली मिलानी चाहिये।

इसके पश्चात् इस रस में अष्टमांश वैक्रान्तभस्म तथा षोडशांश लाजवर्द की भस्म और समान भाग रसपर्पटी मिला कर अच्छी तरह एक दिन तक मर्दन करें। इसके अनन्तर इस समुदित रस को अदरख, गुडूची, भूकदम्ब, भृंगराज, चित्रकमूल के स्वरस से पृथक् पृथक् मर्दन कर एक एक भावना दें। इसके बाद, त्रिकटु, भाँग, कण्टकारी, जिमीकन्द के स्वरस से पृथक् पृथक् एक भावना दें। अन्त में पुनः अदरखस्वरस की एक भावना देकर सुखा लें। पश्चात् कपड़छन चूर्ण करके एक साफ शीशी में रख लें। इसको "त्रैलोक्यतिलक' रस कहते हैं। यह अर्शोहर रसों में सर्वोत्तम रस है। यह सम्पूर्ण व्याधियों को नष्ट करने वाला तथा श्रीवर्धक रस है। शम्भु ने इस रस का वर्णन किया है। यह रस उदावर्त, मलबन्ध, उदरपीड़ा, रक्तविकृतिजन्य रोग, बुद्धि की मन्दता, शूल तथा स्त्रियों में बन्ध्यापन सम्पूर्ण प्रसूतिरोग, अनेक प्रकार के शूल, परिणामशूल को नष्ट करता है। इसके अतिरिक्त यह रस स्त्रियों के रक्तगुल्म कठिन दुःसह कष्टरजःशूल को भी नष्ट करता है। उक्त रोगों में इस रस को तत्तत् रोगहर अनुपान तथा पथ्य के साथ प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—इस रस में शस्यक से खर्पर भी कई लोग लेते हैं। "नृपवर्तन" के स्थान पर "नृपगर्जन" पाठ होने से गजपुट की ध्वनि प्रतित होती है। "चतुर्वारश्च वर्षाभू" के स्थान पर "दशवारश्च वर्षाभू" पाठान्तर मिलता है। कहीं कहीं इस रस के अनन्तर "कान्तवैक्रान्तशुल्वाभ्रसगन्धकभस्मना। सैषा वर्तिर्गुदे धार्या सस्नुक्क्षीरेण सोषणा॥ शूरणं कासमर्दन्तु शिग्रुवार्ताकुवास्तुकम्। सुपक्वं योजयेच्छाकं पथ्यं गोधूमतण्डुलैः॥" इतना अधिक पाठ देखा जाता है। "रेतयित्वारजः"के स्थान पर "घर्षणेन रज." पाठ उचित प्रतीत होता है। कोई काच शब्द से काँच का ग्रहण करते हैं और कई काचलवण को लेते हैं। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक॥ ६६—८०॥

अर्शोहरयोगः—

कुसुम्भमृदुपत्राणि काञ्जिकेनैव पाचयेत्।
शाकवद्भक्षयेन्नित्यमर्शोरोगप्रशान्तये॥ ८१॥

कुसुम्भ के कोमल पत्तों को काञ्जी में पका कर इस शाक का प्रतिदिन सेवन करने से अर्शरोग शान्त होता है। कुसुम्भ एक काँटेदार क्षुप है—जिसके बीजों से तेल निकालते हैं। फूल से पीला रंग बनता है॥ ८१॥

देवदाल्यादिलेपः—

देवदाल्याश्च बीजानि सैन्धवेन सुचूर्णितः।
आरनालेन लेपोऽयं मूलरोगनिकृन्तनः॥ ८२॥

बन्दालबीज और सैन्धानमक दोनों को समभाग में लेकर काञ्जी में पीस कर मस्सों पर लेप करने से मूल (अर्श) रोग नष्ट हो जाता है अर्थात् मस्से बैठ जाते हैं॥ ८२॥

अर्शःकुठारलेपः—

काञ्चनीकुसुमं चूर्णं शङ्खचूर्णं मनःशिलाम्।
गजपिप्पलिकातोयैर्लेपो ह्यर्शःकुठारकः॥ ८३॥

हरिद्राग्ण, शङ्खचूर्ण तथा मैनसिलचूर्ण को समभाग में लेकर एकत्र गजपीपल के जल में घोट कर लेप करने से बवासीर के मस्से नष्ट हो जाते हैं। कांचनी से कचनारी को ग्रहण करना उत्तम है॥

अर्शोघ्नशौचः—

देवदाल्याः कषायेण ह्यर्शोघ्नं शौचमाचरेत्।
गुदनिःसरणं चापि शान्तिमायाति नान्यथा॥ ८४॥

मस्सों की बढ़ी हुई अवस्था में जब शोथ अधिक हो तो प्रतिदिन शौच जाने के बाद देवदालीकषाय से गुदा का प्रक्षालन करना चाहिये। अर्थात् विन्दालकषाय से आबदस्त लेना चाहिये। इसी कषाय के प्रक्षालन से गुदा का बाहिर निकल आना भी बन्द हो जाता है॥ ८४॥

दुर्नामहरलेपः—

आरनालेन सम्पिष्टा सबीजा कटुतुम्बिका।
सगुडा हन्ति लेपेन दुर्नामानि समूलतः॥ ८५॥

कड़वी तुम्बी को बीजों के सहित काञ्जी में पीस कर उसमें गुड़ मिला कर प्रतिदिन दिन में दो या तीन वार लेप करने से बवासीर के मस्से समूल नष्ट हो जाते हैं॥ ८५॥

अर्शोघ्नी वर्तिः—

पीलुतैलेन संलिप्ता वर्त्तिका गुदमध्यगा।
घातयत्यर्शसां शीघ्रं सकलां वेदनां तथा॥ ८६॥

एक स्वच्छ रुई की बत्ती को पीलुवृक्ष के बीजों के तैल में भिगो कर गुदा के भीतर रखने से बवासीर के मस्सों की पीड़ा तथा मस्से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं॥ ८६॥

क्षीरादिलेपः—

अर्कक्षीरं स्नुहीकाण्डं कटुकालाबुपत्रकम्।
करञ्जं छागमूत्रेण लेपः स्राव्यर्शसां हितः॥ ८७॥

आक का दूध, डण्डाथोहर, कड़वी तुम्बी के पत्ते और करञ्ज की कौंपल (अंकुर) को बकरे के मूत्र में पीस कर लेप करने से स्रावी अर्श अर्थात् रक्तार्श में लाभ होता है॥ ८७॥

शिग्रुमूलादिलेपः—

शिग्रुमूलार्कजैः पत्रैर्लेपनं हितमर्शसाम्॥ ८८॥

सुहांजने की जड़ की छाल तथा आक के पत्तों को बकरे के मूत्र में पीस कर मस्सों पर लेप करना भी लाभदायक है।

विशेष वचन—अर्शोहर आदि योग रसों के उक्त अन्तःप्रयोग के साथ साथ किये जा सकते हैं। इस प्रकार के लेप, प्रक्षालन,

धूपन आदि विधानकार्य चिकित्सा में विस्तार के साथ पाये जाते हैं। इनमें न्यूनाधिकता भी की जा सकती है। कोई कोई शिग्रुमूलादि लेप में शिग्रुपत्र, मूलकपत्र तथा अर्कपत्र; इन तीनों को लेते हैं॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये अर्शोऽधिकारो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

अथ षोडशोऽध्यायः।

अथोदावर्तादिचिकित्सनम्।

उदावर्तनिदानम्—

रूक्षैःकोद्रवजीर्ण[जूर्ण]मुद्गचणकैःक्रुद्धोऽनिलोऽधो वहन्
रुद्ध्वा वर्त्म मलं विशोष्य कुरुते विण्मूत्रसंगं ततः।
हृत्पृष्ठोदरबस्तिमस्तकरुजः सश्वासकासं ज्वरं
गच्छन्नूर्ध्वमसौ हि नूनमनिशं कोपादुदावर्तयेत्॥१॥

रूक्षगुण वाले पदार्थ जैसे कोदों, ज्वार, मूँग, चना आदि अन्नों के अधिक और चिरकाल तक सेवन करने से वायु प्रकुपित होकर महास्रोत में नीचे पक्वाशय तथा मलाशय की तरफ जाता हुआ, मलमार्ग को अवरुद्ध करके मल को सुखा देता है जिससे मल (विष्टा) तथा मूत्र रुक जाते हैं। इनके रुकने से मलजन्य विष धीरे धीरे रक्त में मिला कर शरीर में फैलता है तो हृदय, पृष्ठ, उदर, वस्ति (मसाना), शिर में पीड़ा होने लगती है। श्वाससंस्थान में मल विषयुक्त रक्त के कारण कास और श्वा लगते हैं। इस विकृति के सर्व शरीर में व्याप्त होने पर सर्व शरीर में क्षोभ होने से ज्वर उत्पन्न हो जाता है। यदि वायु का प्रकोप बढ़ता जाय और मलबन्ध अधिकाधिक होता जाय तो निम्नमार्ग से अवरुद्ध हुआ वायु अत्यधिक कुपित होकर ऊर्ध्वमार्ग से निकलता हुआ मुख द्वारा मल को बाहर निकालने लगता है।

विशेष वचन—चरक आदि ग्रन्थों में उदावर्त के विषय में यह भी लिखा है कि मल रूप में निकलने वाले तत्त्वों और विकृतियों के शरीर में रुक जाने से उदावर्त हो जाता है। उदावर्त से शरीर में से स्वभावतः होने वाली क्षुधा, नेत्रस्राव (आँसू), निद्रा, तृषा आदि की प्रवृत्ति को लिया गया है। अर्थात् इनके वेगों को रोकने से भी वायु प्रकुपित होकर उदावर्त रोग उत्पन्न कर देता है। साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरंभृशम्। आध्मानमिति जानीयात् घोरं वात निरोधजम्॥ १॥

उदावर्तहरघृतम्—

कंकुष्ठहिंगुसिन्धूत्थत्रिवृद्दंतीवचाऽभयाः।
चित्रकस्य तु मूलं च कल्कीकृत्य पचेद् घृतम्॥ २॥
चतुर्गुणे गवां क्षीरे युक्तं स्नुक्क्षीरमात्रया।
उदावर्तोदरानाहान् हन्ति पानेन सर्वदा॥ ३॥

कंकुष्ठ (उसारारेवन्द) हिंगु, सैन्धानमक, त्रिवी, दन्तीमूलत्वक्, वचा, हरीतकी, चित्रकमूलत्वक् इन सब औषधियों को आपस में समभाग लेकर सबको मिला कर घृत से चतुर्थांश लें। और जल के साथ पीस कर कल्क या पिष्टी सी बना लें। अब कल्क से चतुर्गुण घृत में इस कल्क को डाल कर उसमें घृत से चतुर्गुण गोदुग्ध डाल कर अच्छी तरह मिला किसी कली किये हुये पात्र में मन्द २ अग्नि से जलीयांश नष्ट होने तक पकायें। जब घृत मात्र शेष रह जाय तब पात्र को उतार छान कर घृत को रख लें। इस घृत में उदावर्त रोगी के कोष्ठ का ध्यान रखते हुये आवश्यक मात्रा में शुद्ध सेहुण्ड दुग्ध मिला कर प्रयोग करना चाहिये। इसके पीने से उदावर्त, उदररोग तथा मलबन्धरोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—घृत पाक होने पर उसमें झाग बैठने लगते हैं और उनमें से थोड़ा सा घृत लेकर जलते हुये कोयलों पर डाला जाय तो उससे कोई शब्द नहीं होता है। यदि घृत में जल अभी शेष हो तो उसे अग्नि में डालते ही शब्द होने लगेगा। अतः घृत की पाकपरीक्षा करके काम में लाना चाहिये।

आधुनिक मात्रा ६ मासा से एक तोला। इसमें यदि सेहुण्डदुग्ध मिलाना हो तो एक या दो मासा मिला कर देना चाहिये। परन्तु सेहुण्डदुग्ध शुद्ध होना चाहिये॥ २–३॥

अथातिसारचिकित्सा।

अतीसारनिदानम्—

अत्यम्बुपानतिलपिष्टविरूढरूक्ष-
शुष्कामिषाध्यशनबद्धकलग्रहाद्यैः।
क्रुद्धोऽनिलोऽतिसरणाय च कल्पतेऽग्निं
हत्वा मलं शिथिलयन्नपि तोयधातुन्॥ ४॥

अधिक जलपान, तिल अथवा तिल की पिष्टी के बने हुये पदार्थों का अधिक सेवन, अंकुरित धान्य, रूक्ष (शुष्क) गुणयुक्त अन्न, सुखाया हुआ माँस, पूर्व खाये हुये भोजन के पचने से पहले ही फिर भोजन करने से अथवा बार बार भोजन करने से, मलबन्ध होने पर, वेगावरोध आदि कारणों से प्रकुपित हुआ वायु अग्नि (पाचक अग्नि) को नष्ट कर आँतों से जलीयांश को अधिक निकालता हुआ मल को पतला करता है तो अतीसार (दस्त) हो जाता है।

विशेष वचन—उक्त कारणों के अतिरिक्त निदानग्रन्थों में कृमिदोष, ऋतुपरिवर्तन, विकृतजलपान, शोकादि भी अतीसार के कारण लिखे हैं। उक्त कारणों की उपस्थिति में आँतों में एक प्रकार का क्षोभ पैदा होता है जिससे मल पतला आने लगता है।

दर्दुररसः—

सुश्लक्ष्णतीक्ष्णचूर्णं तु रसेन्द्रसमभागिकम्।
कांचनाररसैर्घृष्टं सर्वाऽतीसारनाशनम्॥ ५॥

तीक्ष्णलोह की बारीक पिसी हुई भस्म और पारदभस्म (रससिन्दूर) दोनों को समभाग लेकर एकत्र कचनार के रस में एक दिन मर्दन कर तय्यार किया हुआ रस सब अतीसारों को नष्ट करता है ॥ ५ ॥

द्वितीयदर्दुररसः—

पिष्टः समेन तीक्ष्णेन काञ्चनाराम्बुमर्दितः ।
पुटपक्वोऽतिसारघ्नः सूतोऽयं दर्दुराह्वयः ॥ ६ ॥

तीक्ष्ण लोहभस्म तथा रससिन्दूर को समभाग में लेकर कचनार के रस में मर्दन करके शरावसम्पुट में बन्द कर सुखा लें। पश्चात् इसे लघुपुट में फूँक दें। दर्दुरनामक यह रस अतीसार को नष्ट करता है।

विशेष वचन—उक्त द्विविध दर्दुररसों में द्रव्यों की पूर्ण समता होते हुये भी एक पाक रहित तथा द्वितीय पाक युक्त होने से भेद माना जाता है। परन्तु ग्रन्थान्तर में ये दोनों एक ही रस माने जाते हैं। उसमें पाकयुक्त ही दर्दुररस लिखा है जिसका पाठ इस प्रकार है—"सुश्लक्ष्णतीक्ष्णचूर्णन्तु रसेन्द्रसमभागिकम्। काञ्चनाररसैर्घृष्टं दिनमेकं प्रयत्नतः ॥ पुनस्तदेकं दिवसं जम्बीराम्बुविमर्दितम्। पुटपक्वोऽतिसारघ्नः सूतोऽयं दर्दुराह्वयः ॥" रसेन्द्रमंगल ग्रन्थ में लिखित दर्दुररस में लोह तथा पारद के अतिरिक्त अभ्रकभस्म अधिक है। किन्तु इसमें पारद को ही प्रधानता दी गई है, यथा "मण्डूकायसजं चूर्णं समं सूतस्य चारितम्। दन्तीद्रवेण संघृष्टं ग्रहणीदोषनाशनम्" ॥ ६ ॥

आनन्दभैरवो रसः—

हिंगुलं वत्सनाभं च मरिचं टंकणं कणा ।
मर्दयेत्समभागं च रसो ह्यानन्दभैरवः ॥ ७ ॥
गुंजैकां वाऽर्द्धगुञ्जां वा बलं ज्ञात्वा प्रदापयेत् ।
मधुना लेहयेच्चानु कुटजस्य फलं त्वचम् ॥ ८ ॥
चूर्णितं कर्षमात्रं तु त्रिदोषोत्थातिसारजित् ।
दध्यन्नं दापयेत्पथ्यं गवाज्यं तक्रमेव वा ॥
पिपासायां जलं शीतं विजया च हिता निशि ॥ ९ ॥

शुद्ध हिंगुल, शुद्ध वत्सनाभविष, मरिचचूर्ण, भुना हुआ सुहागा, पिप्पलीचूर्ण सब को समभाग में लेकर एक दिन अच्छी तरह मर्दन करके रख लें। यह आनन्द 'भैरवरस' कहा जाता है। इसकी आधी रत्ती अथवा एक रत्ती मात्रा रोगी के बलाबल को देख कर प्रयोग करनी चाहिये। इस रस को उक्त मात्रा को मधु के साथ चटा कर पश्चात् कुटजचूर्ण ६ मासा, इन्द्रयवचूर्ण ६ मासा, मधु में मिला कर देने से त्रिदोषप्रकोपजन्य अतीसार भी शान्त हो जाता है। इस रस के सेवन काल में दही भात, गाय का घी तथा तक्र पथ्यरूप में सेवन करने चाहियें। तृषा अधिक लगने पर थोड़ा थोड़ा शीतल जल पिलाना चाहिये और रात्रि को अधिक दस्त आने पर इसके साथ थोड़ा सा भाँग का चूर्ण मिला कर देना हितकर होता है।

विशेष वचन—आनन्दभैरवरस तन्त्रान्तरों में कम से कम दस बारह प्रकार के मिलते हैं। परन्तु उनमें प्रकृत आनन्दभैरवरस से द्रव्यों में भिन्नता है। परन्तु भैषज्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में लिखित तथा अधिक रूप से व्यवहृत होने वाला आनन्दभैरवरस प्रकृतरस से अत्यन्त समता रखता है। इसमें शुद्ध हिंगुल शुद्ध विष, सौंठ, मिर्च, पिप्पलीचूर्ण, शुद्ध सुहागा, शुद्ध गन्धक; इन द्रव्यों को समभाग में लेकर जम्बीरी नींबू के रस से छः घण्टे तक अच्छी तरह मर्दन कर एक या दो रत्ती प्रमाण की गोली बना ली जाती है। यह रस न केवल अतीसार में बल्कि श्वास, कास, ग्रहणी, सन्निपात, अपस्मार, आमवात, वातरोग, प्रमेह, अजीर्ण, अग्निमान्द्य रोगों में भी प्रयुक्त किया जाता है।

चिकित्सासागर ग्रन्थ में 'चूर्णयेत्समभागेन' इसके स्थान पर 'मर्दयेदहिफेनेन' पाठ मिलता है। परन्तु अहिफेनयुक्त आनन्दभैरवरस पुरातन अतीसार में ही प्रयुक्त करना चाहिये। वातिकज्वर में, जब शरीर में अत्यन्त पीड़ा होती है तब इससे शीघ्र आराम आता है। आनन्दभैरवरस ज्वरातिसार अथवा संग्रहणी में ज्वर तथा उदर में पीड़ा होने पर विशेष लाभदायक औषधि है। अजीर्णजन्य अतीसार में भी यह अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। इसको कुटजत्वक्चूर्ण या रसक्रिया के साथ देना चाहिये।

सुधासाररसः—

पृथक्पलिकगन्धाश्मसूतसञ्जातकज्जलीम् ।
प्रद्राव्य निक्षिपेद्व्योम पलैकं गतचन्द्रिकम् ॥१०॥
काष्ठेनालोड्य तत्सर्वं क्षिपेत्कुटजपत्रके ।
पुनः सञ्चूर्ण्य यत्नेन भावयेत्तदनन्तरम् ॥११॥
बालतिन्दुफलद्रावैः क्षीरैरौदुम्बरैस्तथा ।
अरलुत्वक्प्रसैश्चापि दुग्धिनीस्वरसैस्तथा ॥१२॥
पुटपक्वस्य बालस्य दाडिमस्य रसैः शुभैः ।
कृष्णाकाम्बोजिकामूलरसैः कुटजवल्कजैः ॥१३॥
तुल्यांशविश्वगान्धारीचूर्णं द्विपलिकं क्षिपेत् ।
मुस्तावत्सकदीप्याग्निमोचसारं सजीरकम् ॥१४॥
वत्सनाभं च कर्षांशं प्रत्येकं तत्र निक्षिपेत् ।
विचूर्ण्य भावयेद्भूयः शुंठीक्वाथेन सप्तधा ॥१५॥
इत्थं सिद्धो रसः पिष्टः करण्डे विनिवेशयेत् ।
सुधासार इति ख्यातः सुधारससमद्युतिः ॥१६॥
दीपनः पाचनो ग्राही हृद्यो रुचिकरस्तथा ।
दोषत्रयातिसारं च दुर्जयं भेषजान्तरैः ॥१७॥
आमं चैवामरक्तं च ज्वरातीसारमेव च ।
सातिसारां विषूचीं च प्रतिबध्नाति तत्क्षणात् ।
मान्यमानव्यतिक्रान्तिरिव पुण्यफलोदयम् ॥१८॥

पिष्टविश्वाब्दकल्केन विधाय खलु चक्रिकाम् ।
निक्षिपेत् स्वेदनीयन्त्रे पक्त्वाऽर्द्धघटिकावधि ॥१९॥
आकृष्य तज्जलैरेव सम्प्रमर्द्याहरेद्रसम् ।
सुधासाररसं तत्र क्षिप्त्वा धान्यकसम्मितम् ॥२०॥
पूर्वोदितेषु रोगेषु प्रदद्यीत भिषग्वरः ।
गोतक्रेणाजदध्ना वा पथ्यं देयं हितं मितम् ॥२१॥
बालरम्भाफलं गुर्वीफलं विल्वफलं तथा ।
आम्रपेशी च मधुकं वृन्ताकञ्च प्रशस्तये ॥२२॥
सर्वातिसारं ग्रहणीञ्च हिक्कां मन्दाग्निमानाहमरोचकञ्च ।
निहन्ति सद्यो विहितामपाके द्वित्रिप्रयोगेण रसोत्तमोऽयम् ॥

शुद्ध गन्धक १ पल, शुद्ध पारद १ पल की बनाई हुई कज्जली को एक लोहे की कड़ाही या पात्र में डाल कर पिघलायें। जब यह कज्जली पिघल कर पतली-सी हो जाय तो उसमें एक पल चन्द्रिका रहित उत्तम कृष्णाभ्रकभस्म डाल कर लकड़ी से अच्छी तरह सब को मिला कर गोबर के ऊपर बिछे हुये कुड़े के पत्ते पर इसको ढाल दें और दूसरे कुड़े के पत्र से दबा कर पर्पटी बना लेवें। पश्चात् इस पर्पटी का सूक्ष्म चूर्ण करके इसको कच्चे तेंदुये के फल-रस, गूलर का दूध, अरलुत्वक्कषाय, दुधी का स्वरस और पुटपक्क कच्चे अनार का रस, कासमर्दकषाय, गुञ्जामूल, कुटजत्वक्कषाय में क्रमशः एक एक भावना देवें। पश्चात् इसमें शुण्ठीचूर्ण एक पल, कण्टकारी या दुरालभाचूर्ण एक पल और नागरमोथा, कुटज, अजवायन, चित्रक, मोचरस, जीरा, शुद्ध वत्सनाभविष; इन प्रत्येक औषधियों का चूर्ण एक एक कर्ष मिला पीस लें। अन्त में फिर इस सब द्रव्यसमूह को शुण्ठीकषाय की सात भावना देकर सुखा के एक साफ शीशी में रख लें। यह 'सुधासाररस' कहलाता है। इसके सेवन करने से मनुष्य के शरीर में अमृतसेवन करने के समान द्युति बढ़ जाती है। यह दीपन, पाचन तथा ग्राही, हृदय के लिये लाभदायक तथा अन्त में रुचि पैदा करता है। अन्य औषधियों से शान्त न होने वाले भयंकर त्रिदोषजन्य अतिसार, आमातिसार, आमरक्तातिसार, ज्वरातिसार, वमन तथा अतिसार अर्थात् हैजा को तत्क्षण शान्त कर देता है। जैसे माननीय पुरुष की इज्जत न करने से सत्कर्मों का फल तत्काल नष्ट हो जाता है। वैसे ही इस रस के प्रयोग करने से उक्त सब रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। वैद्य को चाहिये कि वह इस रस को उक्त रोगों में निम्नविधि से साधित अनुपान के स्थान सेवन करायें। शुण्ठी और नागरमोथा दोनों को समान भाग में लेकर जल के साथ पीस कर कल्क की टिकियायें बना लें। इनको स्वेदनीयन्त्र में रख कर आधी घड़ी पर्यन्त स्वेदन देकर पका लें। पश्चात् यन्त्र से निकाल और यन्त्र के जल से ही उसको मर्दन करके कपड़े में रख निचोड़ कर रस निकाल लें, इस रस के साथ एक मासा परिमाण सुधासाररस का प्रयोग करें। इस रस के सेवनकाल में रोगी को गाय के तक्र या बकरी के दही के साथ अल्प परिमाण में पथ्य (अन्नादि) देना चाहिये। इसके अतिरिक्त कच्चा केला, कच्ची सुपारी, कच्चे बेल की गिरी, आम की गुठली की मज्जा, मुलेठी, बैंगन ये सब द्रव्य भी पथ्यरूप में देने के योग्य हैं। यह रस सब प्रकार के अतीसार, संग्रहणी, हिक्का, मन्दाग्नि, मलबन्ध, अरुचि आदि रोगों को दो या तीन बार के प्रयोग से ही शान्त कर देता है और आमदोष में यह अत्यन्त लाभदायक है ॥ १०—२३ ॥

विशेष वचन—किसी किसी पुस्तक में "पिष्टविश्वाब्दकल्केन से लेकर "द्वित्रिप्रयोगेण रसोत्तमोऽयम्" पर्यन्त रसोत्तम-नाम से पृथक् रस माना गया है। परन्तु यह सुधासाररस का अनुमान होने से पृथक् रस नहीं माना जाता है। क्योंकि "सुधासाररसं क्षिप्त्वा तत्र" ऐसा स्पष्ट लिखा है। किसी किसी पुस्तक में "दुर्जयं भेष-जान्तरैः" इसके बाद "प्रवाहिकाञ्च निर्वाहीं त्रिभिरर्शों गुदशूलकम्" इतना पाठ अधिक पाया जाता है। उक्त शुण्ठी मुस्ता को पकाने के लिये स्वेदनीयन्त्र की कठिनाई हो तो पुटपाक द्वारा भी यह कार्य हो सकता है। इस रस को प्रातः तथा सायंकाल दो समय दिया जाता है। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ।१०-२३।

स्वेदनीयन्त्रलक्षणम्—

साम्बुस्थालीमुखाबद्धे वस्त्रे पाक्यं निधाय च ।
पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनीयन्त्रमुच्यते ॥ २४ ॥

एक हाँडी में आधा जल भर उसके मुख पर कुछ ढीला मोटा कपड़ा बाँध दें। अब कपड़े पर स्वेद्य द्रव्य को रख हाँडी के मुख पर कोई-शराव आदि औंधा मुख करके रख दें जिससे वाष्प बाहर न निकल कर स्वेद्य द्रव्य को पकाये। हाँडी को चूल्हे में रख कर नीचे निश्चित अवधि तक साधारण अग्नि जलायें। इसे 'स्वेदनी-यन्त्र' कहते हैं।

विशेष वचन—कोई इसी यन्त्र को तिन्दुकयन्त्र भी कहते हैं ॥ २४ ॥

लोकेश्वररसः—

द्वौ भागौ गन्धकस्याष्टौ शंखचूर्णस्य योजयेत् ।
एकमेव रसस्यांशमर्कक्षीरेण मर्दयेत् ॥ २५ ॥
चित्रकस्य द्रवेणैवं शोषयित्वा पुनः पुनः ।
एकीकृत्य रसेनाथ क्षारं दत्त्वा तदर्द्धकम् ॥ २६ ॥
अर्कक्षीरेण कुर्वीत गोलकानथ शोषयेत् ।
निरुध्य चूर्णलिप्तेऽथ भाण्डे दद्यात्पुटं ततः ॥ २७ ॥
लोकेश्वररसो ह्येष ग्रहणीरोगकृन्तनः ।
गुञ्जाचतुष्टयं चास्य मरीचाज्यसमन्वितम् ।
ददीत दधिभक्तं च पथ्यं लोकेश्वरे तथा ॥ २८ ॥

शुद्ध गन्धक दो भाग, शंखचूर्ण (भस्म) ८ भाग और शुद्ध पारद १ भाग, लेवें। पहिले पारद गन्धक की कजली बना कर

उसमें शंखचूर्ण डाल कर अच्छी तरह पीसें। अब इसे अर्कदुग्ध से मर्दन कर सात भावनायें दें, और इसी तरह चित्रकमूलकषाय से सात भावनायें दें। पश्चात् इसमें सर्वद्रव्यापेक्षया अर्ध भाग यवक्षार अथवा सुहागा मिला अर्कदुग्ध से एक दिन अच्छी तरह मर्दन करके झड़बेरी के समान बड़ी बड़ी गोलियाँ बनाकर सुखा लें। अब इन गोलियों को भीतर से चूना पुती हुई एक हाँडी में भर कर उसका मुँह बन्द कर सन्धिलेप करके सुखा लें। अन्त में एक लघुपुट में फूँक देवें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पीस कर रख लें। यह 'लोकेश्वररस' ग्रहणी रोग को नष्ट करता है। इसको चार रत्ती परिमाण में लेकर मरिचचूर्ण और घृत में मिला कर सेवन करें। इसके सेवनकाल में दही और भात पथ्य में देना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। "लोकेश्वरे तथा" के स्थान पर "ग्रहण्याञ्च विशेषतः" पाठान्तर है। इसको अन्यत्र लोकनाथ रस के नाम से भी लिखा है २५-२८

लोकनाथरसः—

मृतपारदभागैकं चत्वारः शुद्धगन्धकात्।
यामञ्च मर्दयेत्खल्ले तेन पूर्या वराटकाः॥ २९॥
टंकणं तु गवां क्षीरैः पिष्ट्वा तेन मुखं लिपेत्।
वराटानां प्रयत्नेन रुद्ध्वा भाण्डे पुटे पचेत्॥ ३०॥
स्वांगशीतं समुद्धृत्य ततश्चूर्ण्या वराटकाः।
लोकनाथरसो नाम्ना क्षौद्रैः गुंजाचतुष्टयम्॥ ३१॥
नागरातिविषामुस्तादेवदारुवचान्वितम्।
कषायमनुपानं स्याद्वातातीसारनाशनः॥ ३२॥

रससिन्दूर १ भाग, शुद्ध गन्धक चार भाग दोनों को एक प्रहर तक एकत्र मर्दन करके कज्जली बना लें। फिर इस कज्जली को कौड़ियों में भर कर उनके मुँह को सुहागे को, गोदुग्ध में पीस कर, उससे बन्द करके सुखा लें। पश्चात् इन कौड़ियों को एक हाँडी में रख ऊपर से मुख बन्द कर साधारणपुट में फूँक देवें। स्वांगशीतल होने पर कौड़ियों समेत ही पीस कर रख लें। यह 'लोकनाथरस' कहा जाता है। चार रत्ती भर इसकी मात्रा शहद में मिला कर खिलावें। वातातिसार में इसका अनुपान सोंठ, अतीस, मोथा, देवदारु, वचा इनका कषाय बना कर देना चाहिये।

विशेष वचन—यह योग भैषज्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में भी दिया गया है। परन्तु उनमें "वातातीसारनाशनः" के स्थान पर 'सर्वातीसारनाशनम्' पाठ है। जैसे—"भस्म सूतस्य भागैकं चत्वारः शुद्धगन्धकात्। क्षिप्त्वा वराटिकागर्भे टंकणेन निरुध्य च॥ भाण्डे रुद्ध्वा पुटे पाच्यं स्वांगशीतं समुद्धरेत्। लोकनाथरसो नाम क्षौद्रैः गुंजाचतुष्टयम्॥ नागरातिविषामुस्तं देवदारुवचान्वितम्। कषायमनुपानन्तु सर्वातीसारनाशनम्॥"

एक लोकनाथरस रसराजसुन्दर में दिया है, वहाँ शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग है। और सुहागे को गोदुग्ध के बजाय गोमूत्र में पीसने को कहा है। जैसे—"शुद्धसूतं द्विधा गन्धं मर्दयेत्प्रहरद्वयम्। सञ्जाते कज्जले श्लक्ष्णे तेन पूर्या वराटिका। टङ्कणञ्च गवां मूत्रे पिष्ट्वा लेप्यं मुखं ततः॥ वराटिकाः प्रयत्नेन रुद्ध्वा भाण्डे पुटे पचेत्। स्वांगशीतं तथा भाण्डमुत्तार्य च वराटिकाः॥ ततः सूक्ष्मं कृतं चूर्णं लोकेश्वररसः स्मृतः। चतुर्गुञ्जाप्रमाणेन लीढं च मधुना समम्॥ अतीसारं ग्रहण्यर्शो नाशयेत्तत्क्षणादपि॥" आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक॥ २९-३२॥

षण्निष्कतैलम्—

षण्निष्कं तिलतैलस्य निष्कं जम्बीरजं रसम्।
लवणं पञ्चगुञ्जं च अङ्गुल्या मर्दयेद् दृढम्॥
आमवातातिसारघ्नं लिहेत्पथ्यं च पूर्ववत्॥ ३३॥

तिलतैल ६ निष्क, जम्बीरी नीम्बू का रस १ निष्क, सैन्धव-नमक ५ रत्ती लेकर सब को एक काँच के पात्र में डाल अँगुलियों से अच्छी तरह फेंट लें। इस प्रकार बने हुये तैल के अवलेह को प्रतिदिन सेवन करने से आमवात तथा अतीसाररोग नष्ट होते हैं। इसमें पथ्य पूर्ववत् करना चाहिये॥ ३३॥

नागसुन्दररसः—

नागभस्मरसव्योमगन्धैरर्द्धपलोन्मितैः।
कुर्वीत कज्जलीं श्लक्ष्णां प्रक्षिपेत्तदनन्तरम्॥ ३४॥
द्विपलोन्मितरालायां द्रुतायां परिमिश्रिताम्।
भृङ्गैर्यक्षाक्षसिन्धूत्थवचाव्योषद्विजीरकैः॥ ३५॥
सपथ्याविजयादीप्यैस्तुल्यांशैरवचूर्णितैः।
मेलयेत्प्राक्तनं कल्कं भावयेत्तदनन्तरम्॥ ३६॥
महानिम्बत्वचासारैः काम्बोजीमूलजद्रवैः।
रसैर्नागबलायाश्च गुडूच्याश्च त्रिधा त्रिधा॥
ततश्च गुटिकाः कार्या बदरास्थिप्रमाणतः॥ ३७॥
हन्यादेव हि नागसुन्दररसो वल्लोन्मितः सेवितो।
नानातीसरणामयं गुदपरिभ्रंशं तथा बिम्बिशीम्॥ ३८॥

नागभस्म आधा पल, शुद्ध पारद आधा पल, कृष्णाभ्रकभस्म आधा पल, शुद्ध गन्धक आधा पल लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बनायें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर अच्छी तरह पीस लें। पश्चात् दो पल परिमाण राल को अग्नि में अच्छी तरह पिघला कर उसमें कज्जली को मिला दें और ठंडा होने पर अच्छी तरह पीस लें। फिर इसमें बड़जटाचूर्ण, बहेड़ा, सैन्धानमक, घुड़वच, त्रिकटु तथा जीरक, हरीतकी, भाँग, अजवाइन; इन औषधियों का स्वच्छ कपड़छन चूर्ण प्रत्येक एक एक कर्ष मिला कर पीस ले। अब इसको, बकायन की छाल, माषपर्णीमूलस्वरस, नागवला (नागेरन), गुडूची के स्वरस की पृथक्

पृथक् तीन तीन भावना देकर छोटी झड़बेरी की गुठली समान गोलियाँ बना लें। यह 'नागसुन्दररस' कहलाता है। इसको एक वल्ल मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से अनेक प्रकार का अतीसार, गुदभ्रंश (काँच का बाहर निकलना) तथा प्रवाहिकारोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। कहीं २. 'त्रिंशिशीम्' के अनन्तर 'रक्तस्रावमिप्रमेहनिवहं प्रोद्दामदूषीविषम्। नानादोषसमुद्भवग्रहणिकादोषं क्रिमीणाङ्कुलम्॥" इतना पाठ अधिक पाया जाता है। और कहीं "दुर्नामग्रहणीविकारगुदजान् ये चापि मूलोद्भवाः। सर्वे ते विलयं प्रयान्ति मनुजे श्रीशम्भुनोक्तं पुरा॥" इतना पाठ अधिक पाया जाता है। 'तुल्यांशैः' के स्थान पर 'कर्षांशैः' ऐसा पाठ भी पाया जाता है॥

अथ ग्रहणीचिकित्सा।

ग्रहणीलक्षणम्—

मलं संगृह्य संगृह्य कदाचिदतिरेचयेत्।
अरुचिः श्वयथुर्मान्द्यं ग्रहणीरोगलक्षणम्॥३९॥

कभी मल का रुक रुक कर दस्त आना अथवा कभी एकदम पतले दस्तों का आना। इसके साथ भोजन में अरुचि, हाथों में विशेषतः पैरों में शोथ तथा अग्निमान्द्य हो तो ग्रहणीरोग कहा जाता है।

विशेष वचन—अतीसार की भाँति ग्रहणीरोग भी प्रायः गुरु विष्टम्भि द्रव्यों के चिरकाल तक सेवन करने से तथा मात्राधिक भोजन, अध्यशन करने से उत्पन्न होता है। इसमें मल कभी पक्व और कभी अपक्वरूप में ही निकल जाता है। निदान में लिखा है कि—"नाभेरुपर्यग्निबलोपपत्तं हिता षष्ठी पितधरा या पूर्वं समुदाहृता। पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः॥ सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति। पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्॥ ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः"॥३९॥

ग्रहणीवज्रकपाटरसः—

मृतसूताभ्रकं गन्धं यवक्षारं सटंकणम्।
वचा जया समं सर्वं जयन्ती भृंगजद्रवैः॥४०॥
सजंबीरैस्त्र्यहं मर्द्यं शोषयेत्तं च गोलकम्।
मन्दवह्नौ शनैः स्वेद्यं यामार्द्धं लौहपात्रके॥४१॥
रससाम्ये प्रतिविषा देया मोचरसस्तथा।
भावयेद्विजयाद्रावैः शोष्यं पेष्यं च सप्तधा।
रसो वज्रकपाटोऽयं निष्कार्द्धं मधुना लिहेत्॥४२॥
वह्निशुंठीविडं बिल्वं लवणं पेषयेत्समम्।
पिबेदुष्णाम्भसा चानु वातोत्थां ग्रहणीं जयेत्॥४३॥

रससिन्दूर, कृष्णाभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक, यवक्षार, सुहागा, घुवड़चचूर्ण, जयाचूर्ण (भाँग), इन सबको समानभाग लें। पहिले रससिन्दूर और गन्धक की अच्छी तरह कज्जली करें, फिर उसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर पीस लें। पश्चात् इसको जयन्ती, भृंगराज तथा जम्बीरी नींबू के स्वरस में पृथक् २ तीन तीन दिन मर्दन कर गोली बना लें। अब उनको एक लोहपात्र में डाल अग्नि के ऊपर रख मन्द २ अग्नि से आधा प्रहर तक स्वेदन करें। स्वांगशीतल होने पर उसमें रससिन्दूर के समभाग अतिविषाचूर्ण और मोचरसचूर्ण मिला कर अच्छी तरह पीस कर भाँग के स्वरस में मर्दन कर भावना दें। इस प्रकार भाँग के स्वरस से सात भावनायें देकर सुखा के रख लें। इस रस का नाम 'वज्रकपाटरस' है। इसको आधा निष्क मात्रा में लेकर मधु मिला कर चटायें। वातिकग्रहणी में इस रस को चाटने के बाद चित्रक, शुण्ठी, विड़नमक, बिल्वगिरी, सैन्धवलवण को समभाग में एकत्र पीस कर इस चूर्ण को गरम जल के साथ सेवन कराना चाहिये। यह इसका अनुपान है।

विशेष वचन—लोहपात्र में स्वेदन करने का अर्थ लोह की मूषा में गोलक को बन्द करके लवणयन्त्र में पकाना है। तन्त्रान्तर में इसको स्पष्ट किया गया है। जैसे—"मृतसूताभ्रकं गन्धं यवक्षारं सटंकणम्। अग्निमन्थं वचां कुर्यात् सूततुल्यानिमान् सुधीः॥ ततो जयन्तीजम्बीरभृंगद्रावैर्विमर्दयेत्। त्रिवासरं ततो गोलं कृत्वा संशोष्य धारयेत्॥ लवणान्तर्गतं लोहपात्रे सम्यग्विमुद्रितम्। अधोवह्निं शनैः कुर्याद् यामार्धञ्च तदुद्धरेत्॥ रसतुल्यामतिविषां दद्यान्मोचरसन्तथा॥" इत्यादि। रसेन्द्रचिन्तामणि के अनुसार इस रस को निम्नविधि से भी बना सकते हैं, यथा "त्रिवासरं ततो गोलं कृत्वा संशोष्य धारयेत्। लोहपात्रे शरावञ्च दत्त्वोपरि विमुद्रयेत्। अधो वह्निं शनैः कुर्याद्यामार्धं तत उद्धरेत्। रसतुल्यामतिविषां दद्यान्मोचरसन्तथा॥" अर्थात् एक लोहे की कड़ाही में औषधि गोलक रखें, उस पर औंधा मुँह एक शराव रख कर सन्धिलेप कर दें, कड़ाही के शेष भाग को नमक से भर दें। नमक से यह शराव चारों ओर से और ऊपर तक अच्छी तरह ढक जाना चाहिये। पश्चात् नीचे अग्नि देकर डेढ़ प्रहर तक पाक करें। आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ८ रत्ती तक जाननी चाहिये॥—४०-४३॥

अग्निकुमारो रसः—

दग्धां कपर्दिकां पिष्ट्वा त्र्यूषणं टंकणं विषम्।
गन्धकं शुद्धसूतं च तुल्यं जंबीरजैर्द्रवैः॥४४॥
मर्दयेद् भक्षयेन्माषं मरिचाज्यं लिहेदनु।
निहन्ति ग्रहणीरोगं पथ्यं तक्रौदनं हितम्॥४५॥

कौड़ी की पिसी हुई भस्म, त्रिकटुचूर्ण, भुना हुआ सुहागा, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद; इन सब को

समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बनायें। पश्चात् इसमें सब द्रव्यों का चूर्ण मिला कर जम्बीरी नींबू के रस से एक दिन अच्छी तरह मर्दन करके सुखा लें। इसमें से एक मासा मात्रा में लेकर इसमें घृत और मरिचचूर्ण को मिलाकर चटायें। यह रस ग्रहणी रोग को नष्ट करता है। इस रस के सेवनकाल में तक्र तथा भात पथ्य में देना चाहिये ॥ ४४–४५ ॥

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से तीन रत्ती तक जाननी चाहिये।

शम्बूकादिचूर्णम्—

दग्धशम्बूकसिन्धूत्थं तुल्यं क्षौद्रेण लेहयेत्।
निष्कैकैकं निहन्त्याशु ग्रहणीरोगमुत्कटम् ॥ ४६ ॥

शम्बूक (एक प्रकार का शंखकीट) की भस्म तथा सैन्धा-नमक दोनों को समान भाग में लेकर मधु के साथ चटाने से भयं-कर ग्रहणीरोग नष्ट हो जाता है। शम्बूक तथा सैन्धव की मिश्रित एक निष्क मात्रा होनी चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ६ रत्ती तक है। भैषज्यरत्नावली में "ग्रहणीरोगमुत्कटम्" के स्थान पर "वातसंग्रह-णीगदम्" ऐसा पाठभेद है ॥४६॥

कनकसुन्दरो रसः—

हिंगुलं मरिचं गन्धं पिप्पली टंकणं विषम्।
कनकस्य च बीजानि समांशं विजयाद्रवैः ॥ ४७ ॥
मर्दयेद्याममात्रं तु चणमात्रं वटीकृतम्।
भक्षयेद् ग्रहणीं हन्ति रसः कनकसुन्दरः ॥ ४८ ॥
अग्निमांद्यं ज्वरं तीव्रमतिसारं च नाशयेत्।
दध्यन्नं दापयेत्पथ्यं गव्याजं तक्रमेव वा ॥ ४९ ॥

शुद्ध हिंगुल, मरिचचूर्ण, शुद्ध गन्धक, पिप्पलीचूर्ण, शुद्ध सुहागा, शुद्ध वत्सनाभविष और शुद्ध धतूरे के बीजों का चूर्ण ये सब समान भाग लेकर एकत्र पीस लें और भाँग के स्वरस में इन सबको एकत्र एक प्रहर तक मर्दन कर चने के प्रमाण गोली बना कर सेवन करें तो ग्रहणी अग्निमान्द्यज्वर, तथा तीव्र अतीसार रोग नष्ट होते हैं। इस रस के सेवनकाल में दही चावल अथवा बकरी का मठा, गाय का मठा और भात का पथ्य देना चाहिये। इस रस का नाम 'कनकसुन्दररस' है।

विशेष वचन—इस रस की आधुनिक मात्रा १ एक रत्ती है। रसप्रकाशसुधाकर में इसको भाँग के स्वरस में मर्दन करने को नहीं लिखा है। तन्त्रान्तर में कहीं कहीं हिंगुल के स्थान पर पारद पाया जाता है। कहीं भाँग की अपेक्षा भृंगराजस्वरस की भावना लिखी है। इसी तरह इसके कनकप्रभा हेमसुन्दर आदि नामान्तर भी पाये जाते हैं ॥ ४७—४९ ॥

ग्रहणीकपाटरसः—

रसाभ्रगन्धाः क्रमवृद्धभागा जयारसेन त्रिदिनं विमर्द्याः
गद्याणकार्द्धं मधुना समेतं ददीत पथ्यं दधिभक्तकं च
सौवर्चलं जीरकयुग्मधान्यजयायवानीकणनागरं च।
कपित्थसारेण समं प्रगृह्य ददीत चूर्णं निशि तीव्रपित्ते ॥
गद्याणमात्रं मधुखण्डयुक्तं तक्रेण युक्तं त्वरुचिप्रशान्त्यै।
वातप्रधाने च कफप्रधाने रात्रौ कषायं कुटजस्य दद्यात् ॥
कृशान्वजाजीद्वयमाक्षिकेण कटुत्रयेणापि युतं त्वनुष्णम्।
चाङ्गेरिकाजीरकयुग्मधान्यं दुग्धेन्दुशाकाय ददीत दध्ना ॥

शुद्ध पारद १ भाग, कृष्णाभ्रकभस्म २ भाग, शुद्ध गन्धक ३ भाग लें। पहले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें अभ्रकभस्म मिला भाँग के स्वरस से तीन दिन तक खरल करें और सुखा कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन २ मासा मात्रा में लेकर उसमें मधु मिला कर सेवन कराना चाहिये। और इस रस के सेवनकाल में रोगी को दही और भात पथ्य में देना चाहिये। यदि इस रस के सेवन से तीव्र ताप हो तो सौवर्चललवण, श्वेतजीरा, कालाजीरा, धनियाँ, अरणी, यवानी, पिप्पली तथा शुण्ठी, कैथ का गूदा; इनके चूर्णको समभाग में मिला गद्याण परिमित मात्रा में अर्थात् २४ रत्ती या ४८ रत्ती मात्रा में मधु तथा खांड के साथ रात को सोते समय दें। अरुचि को नष्ट करने के लिये इस रस को तक्र के साथ देना चाहिये। वातप्रधान तथा कफप्रधान संग्रहणीरोग में अनुपान के रूप में रात्रि के समय रोगी को कुटज का कषाय देना चाहिये। कुटजकषाय में वातप्रकोप शन्ति के लिये चित्रक, जीरा सफेद, जीरा काला और त्रिकटुचूर्ण तथा मधु मिलाना चाहिये। कफप्रकोप-शमन करने के लिये चांगेरी, दोनों जीरकचूर्ण, धनियाँ इनका चूर्ण मिला कर देना चाहिये।

विशेष वचन—इस रस का मूल पाठ प्रथम श्लोक मात्र माना जाता है। सौवर्चल आदि पाठ तन्त्रान्तरीय है। और यह तन्त्रान्त-रीय पाठ भी विकृत पाठ है। इसमें भी "चांगेरिकाजीरकयुग्म-धान्यं दुग्धेन्दुशाकाय ददीत दध्ना" यह पाठ कहीं कहीं मिलता है और इस पाठ की संगति भी नहीं होती है। अतः सौवर्चल आदि पाठ की ठीक संगति और शुद्धि के लिये केवल इतना पाठ होना चाहिये "सौवीरकं जीरकयुग्मधान्ययवासवारीणि च नागरञ्च। कपित्थसारेण समं प्रगृह्य ददीत चूर्णं निशि तीव्रतापे ॥ गद्याण-मात्रं मधुखण्डयुक्तं गुडेन युक्तञ्च रुचिप्रवृद्ध्यै। वातप्रधाने च कफ-प्रधाने रात्रौ कषायं कुटजस्य दद्यात् ॥ कृशानु जातीद्वयमाक्षिकेण कटुत्रयेणापि युतं ददीत ॥" भैषज्यरत्नवली में उक्त मूल रस का निर्माण इस प्रकार किया है। "रसाभ्रगन्धान् क्रमवृद्धियुक्तान् जंघारसेन त्रिदिनं विमर्द्य। जयन्तिका भृंगकलम्बिनीरैर्दिनं यवक्षारसटङ्कणञ्च ॥ क्षिप्त्वा तु गन्धस्य च तुल्यभागं वातारि-

तैलेन युतं पुटित्वा । गुडूचिकाशाल्मलिकारसेन जयारसेनापि विमर्द्य शाणम् ॥ सार्द्धं मरीचैः मधुना समेतं ददीत पथ्यं दधिभक्तकञ्च । शिवेन प्रोक्तो जगतां हिताय महारसोऽयं ग्रहणी-कपाटः ॥" इस रस को कहीं 'सुदर्शनरस' और कहीं 'ग्रहणीहर' और कहीं 'ग्रहण्यर्गलरस' नाम से भी लिखा है। मूलोक्त रस की आधुनिक मात्रा एक रत्ती से दो रत्ती तक है ॥ ५०–५३ ॥

चण्डसंग्रहगदैककपाटरसः—

हिंगुलस्थितमहेश्वरबीजं पातयन्त्रविधिना हरणीयम् ।
गन्धटंकणमृताभ्रकतुल्यं कोकिलाक्षमथ चाऽऽयसखल्ले ॥
मर्दनीयमभिधारणयुक्ते धूमहीनदहनोपरिसंस्थे ।
यावदेष जलशोषणदक्षो जीरकार्द्रकयुतेन स वल्लः ॥५५॥
सङ्ग्रहज्वरमतिसृतिगुल्मानर्शसाश्च विनिहन्ति समूहम् ।
वासुदेवकथितो रसराजश्चण्डसङ्ग्रहगदैककपाटः ॥५६॥

ऊर्ध्वपातनयन्त्र की विधि से सिंगरफ से निकाला हुआ शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सुहागा, कृष्णाभ्रकभस्म, इन सब को समभाग में लें। और तालमखानाचूर्ण चारों द्रव्यों के बराबर लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर इन सबको एकत्र एक लोहे के खरल में डाल कर खरल को (जिसमें मर्दन करने योग्य मुसली पड़ी हो) निर्धूम अग्नि पर रख अर्थात् तप्त खरलविधान से जमीन में कोयले भर कर उस पर खरल रख कर तब तक धीरे धीरे मर्दन करें जब तक कि कज्जली पिघल कर पुनः शुष्कचूर्ण रूप में न हो जाय। पश्चात् नीचे उतार उसमें से एक वल्ल मात्रा में जीरा और अदरखरस के साथ सेवन करने से संग्रहणी, ज्वर, अतीसार, गुल्म, अर्शरोग-समुदाय नष्ट होते हैं। यह रसराज, चण्डसंग्रहगदैककपाट रस श्री वासुदेव रसाचार्य द्वारा वर्णन किया गया है।

विशेष वचन—रसावतार आदि तन्त्रान्तर में इसकी निर्माण-विधि कुछ भिन्न मिलती है। उसमें "जलशोषणदक्ष" का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु पारद आदि चार द्रव्यों की कज्जली को घृत लिप्त लोहपात्र में डाल कर पर्पटीवत् पिघलाया जाता है। जब कज्जली पिघल कर द्रव हो जाय तो उसमें तालमखाने का चूर्ण डाल कर करछी से उसको चलाते जाते हैं और तुरन्त ही पर्पटी की भाँति ताजे गोबर पर रक्खे हुये कदलीपत्र पर डाल दूसरे पत्र से दबा कर पर्पटी बनाने को लिखा है, यथा "समाकर्षितो हिंगुलस्थो रसेन्द्रस्तथा टंकणक्षारगन्धाभ्रयुक्तः । समं कोकिलाक्षस्य बीजेन युक्तो दृढं मर्दितो लोहपात्रे घृताक्ते ॥ ततो ढालयेत्पर्पटी-युक्तियुक्तः कणाक्षौद्रयुग्द्वन्द्ववल्लो हि भुक्तः" ॥ ५४–५६ ॥

लघुसिद्धाभ्रको रसः—

समांशं रसगन्धाभ्रदरदश्च विशोधितम् ।
लोहखल्ले विनिक्षिप्य गवाज्येन समन्वितम् ॥ ५७ ॥
मर्दकेनापि लौहेन मर्दयेद्दिवसद्वयम् ।
द्रोणीचुल्ल्यां न्यसेत्खल्ले साङ्गारायां प्रयत्नतः ॥ ५८ ॥
इति सिद्धो रसेन्द्रोऽयं लघुसिद्धाभ्रको मतः ।
वल्लतुल्यो रसो जीरवारिणा सहितः प्रगे ॥ ५९ ॥
पीतो हरति वेगेन ग्रहणीमतिदुर्धरम् ।
अतिसारं महाघोरं सातिसारं ज्वरं तथा ॥ ६० ॥
पाचनो दीपनो हृद्यो गात्रलाघवकारकः ।
नागार्जुनेन कथितः सद्यः प्रत्ययकारकः ॥ ६१ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म और शुद्ध हिंगुल; इन चारों द्रव्यों को समानभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला पीस लें। अब इसको एक लोहे के द्रोणी आकार खरल में घृत के साथ डाल दें। अब इस खरल को द्रोणी आकार के बने हुये चूल्हे पर रख उसके नीचे निर्धूम अंगारों की मन्द २ अग्नि जलावें और उपस्थित द्रव्य को धीरे धीरे तीन दिन तक मर्दन करते जायँ। जब कज्जली पिघल कर पुनः शुष्क हो जाय तो इसे उतार ठंडा करके पीस कर रख लें। यह 'लघुसिद्धाभ्रकरस' तय्यार हो गया है। इस रस को प्रतिदिन प्रातःकाल १ वल्ल मात्रा में जीरे के जल या कषाय के साथ सेवन करने से अत्यन्त भयंकर ग्रहणीरोग, अतीसार अथवा अतीसारयुक्त भयंकर ज्वर नष्ट हो जाता है। यह रस पाचक, दीपक तथा हृदय के लिये हितकर अथवा रुचिकर है। यह शरीर में लघुता उत्पन्न करने वाला है। इसको नागार्जुन वैद्य ने कहा है और यह तत्काल फलदायक रस है।

विशेष वचन—"दिवसद्वयम्" के स्थान पर सर्वत्र "दिवस-त्रयम्" पाठ पाया जाता है ॥ ५७–६१ ॥

सर्वरोग्यवटी—

रसं पलमितं तुल्यं शुद्धनागेन संयुतम् ।
द्रावयित्वाऽयसे पात्रे सतैले निक्षिपेत्क्षितौ ॥ ६२ ॥
ततो द्रुते विनिक्षिप्य गन्धके तद्विलोड्य च ।
पुनरायसपात्रे तत्क्षिप्त्वा प्रद्राव्य निक्षिपेत् ॥ ६३ ॥
तत्तुल्यां जारयेत्तालं पुनः संचूर्ण्य पूर्ववत् ।
तत्तुल्यां जारयेत्सम्यक्कुनटीं परिशोधिताम् ॥ ६४ ॥
तत्तुल्यं चूर्णिते तस्मिन् क्षिपेन्नागं निरुत्थकम् ।
तावदेव मृतं ताप्यं सर्वमन्यच्च तत्समम् ॥ ६५ ॥
तीक्ष्णायः खर्परं व्योम हिंगुलं च शिलाजतु ।
पृथक्कर्षांशमानेन षट्कोलं कट्फलं मिषीम् ॥ ६६ ॥
दीप्यकं च चतुर्जातं रेणुकोशीरबेल्लकम् ।
तुंबरुं भार्ङ्गिकां रास्नां कंकोलं चोरपुष्करम् ॥ ६७ ॥
रिङ्गिणीं चिरतिक्तं च बीजान्युन्मत्तकस्य च ।
पलद्वयं च लांगल्याः सर्वेषां द्वादशांशकम् ॥ ६८ ॥

वत्सनाभं सितं भूरि विनिक्षिप्य ततः परम्।
त्रिफलानां दशांघ्रीणां कषायेण ततः परम्॥ ६९॥
जयन्त्यार्द्रकवासानां मार्कवस्य रसैस्तथा।
भावयित्वा च कर्तव्या वटकाश्चणकोपमाः॥ ७०॥
एकैका वटिका सेव्या कुर्य्यात्तीव्रतरां क्षुधाम्।
रुचिश्च सर्वतो वह्निं सेव्यं स्वादु च शीतलम्॥ ७१॥
सामाश्च ग्रहणीं सदाऽङ्गतुदनं शोषोत्कटं पाण्डुता-
मार्त्तिं वातकफत्रिदोषजनितां शूलञ्च गुल्मामयम्।
हिक्काऽऽध्मानविसूचिकाश्च कसनं श्वासार्शसां विद्रधिं
सर्वारोग्यवटी क्षणाद्विजयते रोगांस्तथाऽन्यानपि॥७२॥

एक पल शुद्ध नाग को तैल के साथ एक कड़ाही में पिघलायें। पिघलने पर उसमें एक पल शुद्ध पारद मिलाकर शीघ्र ही पृथ्वी पर रखे हुये किसी दृढ़ पात्र में ढाल दें। जब यह शीतल हो जाय उसे एक लोहपात्र में डाल पिघलायें और गन्धक १ पल परिमाण उसमें डाल गन्धक के पिघलते ही पुनः उसे पूर्ववत् पृथ्वी पर रखे हुये पात्र पर ढाल कर ठंडा कर लें। इसके पश्चात् इस नाग को फिर एक कड़ाही में डाल कर पिघलायें और १ पल परिमाण शुद्ध हरताल का चूर्ण डालते हुये जारण करें। पुनः शीतल करके हरिताल की भाँति ही समभाग शुद्ध मैनसिल डाल कर जारण करें। जब उक्त द्रव्यों के साथ जारण करने से नाग का चूर्ण या भस्म हो जाय तो उसमें निश्चत्थ नागभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, खर्परभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध हिंगुल, शिलाजतु, प्रत्येक एक एक पल, षट्कोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी तथा मरिचचूर्ण) प्रत्येक एक एक तोला, कट्फल, सौंफ, अजमोदा, चतुर्जात (दालचीनी, तेजपत्र, इलायची, नागकेसर), रेणुका, खश, विडंग, तुम्बुरु (धनियाँ,) भार्ङ्गी, रास्ना, शीतलचीनी, ग्रन्थिपर्ण, पुष्करमूल, कण्टकारी, चिरायता, शुद्ध धतूरे के बीज; इन प्रत्येक द्रव्यों का चूर्ण एक एक कर्ष या तोला, कलिहारी की जड़ का चूर्ण २ पल और इन सब द्रव्यों की अपेक्षा बारहवाँ भाग शुद्ध वत्सनाभचूर्ण, रजतभस्म स्वर्णभस्म डाल कर सब को एकत्र खरल में डाल कर अच्छी तरह मर्दन करके त्रिफला, दशमूल के पृथक् पृथक् कषाय से कम से कम एक भावना देवें। फिर जयन्ती, अदरख, वासा तथा भृंगराज इनके स्वरस में क्रमशः एक एक भावना दें। अन्त में चने के प्रमाण गोली बना कर सुखा लें। इसमें से प्रतिदिन एक गोली यथोचित रोगानुपान से सेवन करने पर अत्यन्त तीव्र क्षुधा लगती है और भोजन में रुचि पैदा होती है। यह वटी विसूचिका तथा हिचकी को नष्ट करती है। इन वटियों के सेवनकाल में स्वादु तथा शीतगुण भोजन पथ्य में देना चाहिये। यह वटी आमयुक्त संग्रहणी, सर्वांगमर्द, तीव्र राजयक्ष्मा, पाण्डुरोग, वात-पित्त-कफ-प्रकोपजन्य बेचैनी, शूल, गुल्म, वाताध्मान, विलम्बिका, कास, श्वास, अर्श, विद्रधि आदि रोगों को तथा अन्य सम्पूर्ण व्याधियों को शीघ्र शान्त कर देती है।

विशेष वचन—कोई "सितं भूरि" का अर्थ केवल चूर्ण करना मात्र करते हैं। परन्तु स्वर्ण तथा रजत के योग से योग की महत्ता बढ़ जाती है क्योंकि ये दोनों द्रव्य उत्तम वातशामक तथा बल्य हैं। वात की शान्ति तथा शरीर की पुष्टि में रोगशान्ति बहुत सम्भवनीय होती है। अतः स्वर्ण तथा रजत का योग युक्तियुक्त तथा रुचिकर प्रतीत होता है। साथ ही "सितं भूरि" का चूर्ण करना अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता है। अतः हमने स्वर्ण तथा रजत अर्थ किया है। और भी ग्रहणीकपाट आदि रसों में स्वर्ण तथा रजत का योग होता है तो सर्वरोगों को दूर करने वाले योग में इनका होना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है। "रुचिश्च सर्वतो वह्निम्" के स्थान पर "विसूचीं सर्वतो हिक्काम्" पाठ तथा "हिक्काध्मानविसूचिकाम्" के स्थान पर "वाताध्मानविलम्बिकाम्" ऐसा पाठ भी है। त्रिफला आदि द्रव्यों के कषाय तथा स्वरस में एक एक भावना देने की अपेक्षा सात सात भावना देना अत्यन्त गुणदायक होगा॥

ग्रहणीगजकेशरी—

रसगन्धकयोः कृत्वा कज्जलीं तुल्यभागयोः।
द्रावयित्वायसे पात्रे रसतुल्यं विनिक्षिपेत्॥ ७३॥
चराचरभवं भस्म तत्र माक्षिकसम्भवम्।
गन्धपाषाणसहितं पात्रे लोहमये क्षिपेत्॥७४॥
तत्काष्ठेन विलोड्याथ निक्षिपेत्कदलीदले।
तत आच्छाद्य सञ्चूर्ण्य निधायाऽऽयसभाजने॥७५॥
अक्षमात्रं क्षिपेद्भस्म तत्र माक्षिकसम्भवम्।
सम्यङ्निश्चन्द्रतां नीतं व्योमभस्म पलोन्मितम्॥७६॥
विषं विषां च गन्धारीं मोचसारं सजीरकम्।
सर्वं समांशकं कृत्वा रसे चार्द्धांशतः क्षिपेत्॥७७॥
सर्वमेतन्मर्दयित्वा भावयेदतियत्नतः।
जयन्त्या च महाराष्ट्र्या गजाङ्घ्र्याऽश्वगन्धया॥७८॥
पञ्चकोलकषायैश्च कुर्याच्चूर्णं ततः परम्।
इत्थं सिद्धो रसः सोऽयं गृहणीगजकेसरी॥७९॥
नामतो नन्दिना प्रोक्तः कर्मतश्च सुधानिधिः।
बल्लेन प्रमितश्चायं रसः शुण्ठ्या घृताक्तया॥८०॥
सेवितो गृहणीं हन्ति सत्सङ्ग इव विग्रहम्।
पथ्यमत्र प्रदातव्यं स्वल्पाज्यं दधितक्रयुक्॥८१॥
हितं मितं च विशदं लघु ग्राहि रुचिप्रदम्।
पाचनो दीपनोऽत्यर्थमामघ्नो रुचिकारकः॥८२॥

तत्तदौषधयोगेन सर्वातीसारनाशनः।
बध्नन्नपि मलं शीघ्रं नाऽऽध्मानं कुरुते नृणाम् ॥८३॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक एक एक कर्ष लेकर इनकी कज्जली बना कर इसको एक लोहे की कड़ाही या करछी में थोड़ा-सा घृत लगा कर डाल दें और कड़ाही को चूल्हे में कोयलों के ऊपर रख कर कज्जली को पिघलायें। पिघलने पर इसमें कौड़ी की भस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म प्रत्येक पारद-समभाग मिला कर लकड़ी से अच्छी तरह मिला कर गोबर के ऊपर रखे हुये कदलीपत्र के ऊपर ढाल कर दूसरे पत्र से दबा कर पर्पटी बना लें। फिर एक कर्ष शुद्ध पारद में समभाग स्वर्णभस्म अथवा स्वर्णपत्र मिला कर अच्छी तरह मर्दन करें। फिर इसमें एक कर्ष शुद्ध गन्धक डाल कर अच्छी तरह कज्जली बना लें। अब इसको भी पूर्ववत् कड़ाही में घृत लगा कर कोयलों के ऊपर रख पिघलायें। और पिघल जाने पर इसमें भी पारद के आधा भाग अर्थात् आधा कर्ष कौड़ी की भस्म (गन्धक द्वारा भस्म की हुई) मिला करके पूर्ववत् लकड़ी से चला कर गोबर के ऊपर कदलीपत्र पर ढाल पर्पटी बना लें। अब दोनों पर्पटियों को एकत्र अच्छी तरह मर्दन करके उसमें स्वर्णमाक्षिकभस्म १ कर्ष, निश्चन्द्रमारित अभ्रकभस्म १ पल, शुद्ध वत्सनाभविष, अतीस, गान्धारी (हींग अथवा यवासा)' मोचरस, श्वेतजीरा; इन प्रत्येक द्रव्यों का चूर्ण परस्पर समभाग में सब मिला कर पारद से अर्धभाग में लेकर इसमें मिला दें। और अच्छी तरह एकत्र मर्दन करके फिर इसको अरणी, गजपीपल, गुञ्जा, असगन्ध तथा पञ्चकोल; इन द्रव्यों के पृथक् पृथक् कषाय में सात सात भावना देकर अन्त में सुखा कर चूर्ण कर लें। इस विधि से यह ग्रहणी गजकेशरीरस सिद्ध (तय्यार) होता है। यह रस कार्य करने में अमृत समान या सुधानिधिरस के समान है। इस रस को एक वल्ल (१ रत्ती) प्रमाण मात्रा में लेकर घृत और शुण्ठीचूर्ण के साथ मिला कर सेवन करने से ग्रहणीरोग का नाश ऐसे हो जाता है जैसे सत्संगति करने से सम्पूर्ण कलह नष्ट हो जाते हैं। इसमें भी दही या तक्रयुक्त पथ्य भोजन स्वल्प घृत मिला कर देना चाहिये और भोज्य या पथ्य द्रव्य अल्प परिमाण में तथा विशद, लघु और ग्राहीगुण तथा रुचिकारक होने चाहिये। यह पाचक, दीपक, आमनाशक तथा रुचिकारक रस है। वातादि-दोषनाशक अनुपान के साथ अतीसार में प्रयोग करने पर सब अतीसारों को नष्ट करता है। इस रस में यह विशेषता है कि यह शीघ्र पतले मल को बाँध कर लाने पर भी अहिफेनादि द्रव्यों की भांति पेट में आफारा नहीं करता है।

विशेष वचन—इस रस के निर्माण में 'सर्वं समांशकं कृत्वा' इस पाठ के अनुसार कई वैद्य स्वर्णपर्पटी का पृथक् निर्माण नहीं करते हैं। किन्तु स्वर्णमाक्षिक आदि द्रव्य डाल कर भावना देकर रख लेते हैं। परन्तु 'सर्वं समांशकं' के स्थान पर 'स्वर्णं समांशकं' ऐसा उचित पाठ होने से और ग्रहणी तथा आन्तों की इस प्रकार की व्याधियों के लिये स्वर्ण के अत्युपयोगी होने से स्वर्णपर्पटी बना कर इस रस का निर्माण लाभदायक होता है। अतः हमने टीका में स्वर्णपर्पटी बना कर इस रस को बनाने के लिये लिखा है॥

शीघ्रप्रभावो रसः—

पारदं गन्धकं व्योम तीक्ष्णं तालं मनःशिला।
सौवीरमञ्जनं शुद्धं विमलं च समांशकम् ॥८४॥
एभिः कज्जलिकां कृत्वा स्वल्पतैलेन भर्जयेत्।
ग्रन्थिकं जीरकं चित्रं दीप्यकं मुस्तकं विषम् ॥८५॥
बालाम्रं बालबिल्वं च मोचसारं समांशकम्।
विचूर्ण्य पूर्ववत्कल्कं तदर्द्धेन विनिक्षिपेत् ॥८६॥
पुनर्विमर्दयेद्यत्नादेकरूपं भवेद्यथा।
भावयेत्सप्तवाराणि पञ्चकोलकषायतः ॥८७॥
अरलुत्वग्रसेनापि दशवाराणि भावयेत्।
प्रोक्तेन क्रमयोगेन रसो निष्पद्यते ह्ययम् ॥ ८८ ॥
जग्धो विश्वघनाम्बुना स हि रसः शीघ्रप्रभावाभिधो
निष्कार्द्धप्रमितो महागृहणिकारोगेऽतिसारामये।
आध्माने गृहणीभवे रुचिहते वाते च मन्दानले
मुक्ते चापि मले पुनश्चलमलाशङ्कासु हिक्कासु च ॥८९॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध सौवीराञ्जन, स्वर्णमाक्षिकभस्म; इन सब को समान भाग में लेकर पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर इनमें अभ्रकादि द्रव्यों के चूर्ण मिला कर एक लोहपात्र में थोड़ा-सा तेल डाल इसमें उक्त द्रव्यों के चूर्ण को भून लेवें। फिर इसमें पिप्पलीमूल, जीरा, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण, अजवायन, मुस्ता, शुद्ध वत्सनाभ, अमचूर, बेल की गिरी, मोचरस; इन सब को समान भाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके पूर्वोक्त कज्जली-समुदाय में आधा भाग मात्रा में मिला दें। और १—२ प्रहर तक अच्छी तरह मर्दन कर पश्चात् इसे पञ्चकोल (पिप्पली, पप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और शुण्ठी) कषाय में सात भावना और अरलु (सोना-पाठा) कषाय में दश भावना देकर सुखा लें। इस विधि से यह 'शीघ्रप्रभाव' नामक रस सिद्ध होता है। इसको अर्ध निष्क परि-माण में शुण्ठी और नागरमोथे के कषाय अनुपान से सेवन करना चाहिये। यह अत्यन्त भयंकर संग्रहणी, अतीसार, अफारा, अरुचि, वातव्याधि, मन्दाग्नि, दस्त होने पर भी पुनः दस्त होने की आशंका बनी रहने पर तथा हिक्कारोग में लाभ करता है।

विशेष वचन—पूर्ववत् शब्द से कई वैद्य पुनः ग्रन्थिकादि द्रव्यों के चूर्ण को भी थोड़ा सा तैल में भूनना अर्थ करते हैं परन्तु

तैल में भूनने से इस रस में कोई विशेष लाभ प्रतीत नहीं होता है। कज्जली में गन्धक पिघल कर सब द्रव्यों में मिल जाय इस लिये तैल में थोड़ा सा भून लेना उचित है। आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥ ८४–८९ ॥

पोटलीरसः—

कपर्दतुल्यं रसगन्धकल्कं लोहं मृतं टङ्कणकञ्च तुल्यम्।
जयारसेनैकदिनं विमर्द्य चूर्णेन सम्पिष्य पुटेत्तु भाण्डे॥
ददीत तां पोटलिकाञ्च दोषत्रयप्रधानग्रहणीनिवृत्यै॥९१॥

कौड़ी की भस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लौहभस्म, शुद्ध सुहागा इन सबको समान भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना फिर उसमें अन्य द्रव्यों को मिला अच्छी तरह मर्दन करके जया के रस से एक दिन अच्छी तरह घोट कर गोला सा बना लें। सूखने के बाद इस गोले को चारों तरफ चूने से वेष्टन (लपेटना) कर सम्पुट में बन्द करके पुट दें अर्थात् भाण्डपुट में फूँक दें। स्वांगशीत होने पर गोले को निकाल पीस कर उपर्युक्त मात्रा में रोगी के बलादि का विचार कर यथोचित अनुपान के साथ सेवन करायें। यह पोटलीरस त्रिदोषप्रकोपजन्य संग्रहणी रोग को शान्त करने के लिये उत्तम है।

विशेष वचन—पोटली नाम होने से कज्जली आदि द्रव्यों को जयारस में घोट कर कौड़ियों में भर कर उनके मुख को चूने से बन्द करके पुट दी जा सकती है। अथवा भस्म डालनी हो तो सबको एकत्र जयारस से मर्दन कर एक शराव में चूना पोत कर उसमें उक्त द्रव्य भर कर मुख बन्द करके पुट दी जा सकती है। इस रस की आधुनिक मात्रा २ रत्ती है। भैषज्यरत्नावली में इस रस को वातप्रधान ग्रहणी में प्रयोग करने को लिखा है। और कहीं इसको 'ग्रहणीकपर्दपोटली' नाम से भी लिखा है। सुरत्नोज्ज्वला में जया का अर्थ भाँग किया है॥ ९०–९१ ॥

वह्निज्वाला—

नष्टपिष्टौ चतुर्माषौ प्रत्येकं रसगन्धकौ।
अभ्रकं माषमानञ्च मातुलुङ्गाम्लमर्दितम्॥ ९२॥
शोधितं सप्तधा चैव द्विमाषं त्र्यूषणं पृथक्।
त्रिशूली भृङ्गचाङ्गेरी सातला तीक्ष्णपर्णिका॥ ९३॥
श्वेतापराजिता कन्या मत्स्याक्षी ग्रीष्मसुन्दरा।
करिणी कर्णमोटी च रुन्दती चित्रकार्द्रकात्॥ ९४॥
धुस्तूरकाकमाचीभ्यां मुषल्याश्च पृथग्रसैः।
मर्दितं द्विपलैः कुर्याद्वटिका माषसंमिताः॥ ९५॥
ग्रहण्यां पर्णखण्डेन व्योषयुक्ता निषेविताः।
अरुचिं राजयक्ष्माणं मदाग्निं सूतिकागदान्॥
शमयेद्वटिका नाम्ना वह्निज्वालेति गीयते॥ ९६॥

शुद्ध पारद ४ मासा, शुद्ध गन्धक ४ मासा, लेकर दोनों को एकत्र खूब अच्छी तरह दृढ़ मर्दन करके नष्ट पिष्ट कर लें। फिर इसमें कृष्णाभ्रकभस्म एक मासा (जिसको बिजौरा नींबू के रस में सात भावना दी गई हो) सोंठ, मिर्च, पिप्पली प्रत्येक का चूर्ण २ मासे मिला कर त्रिशूली (शिवलिंगी अथवा दिव्यौषधि), भृंगराज, चांगेरी, सातला (थूहर का भेद), तेजबलपत्र, श्वेत अपराजिता, घीकुआर, मछेछी, ग्रीष्मसुन्दर (सूक्ष्मपत्र शाकगीमा), हस्तिशुण्डी, बब्बूलत्वक्, रुदन्ती (चणकपत्र के समान पत्र तथा क्षुपवाली औषधि), चित्रक, अदरख, धतूरा, मकोय तथा मूसली; इनके पृथक् पृथक् दो पल रस में मर्दन करें। और दो मासे की गोली बना लें। इसमें से एक २ गोली पान के साथ सेवन करने से ग्रहणीरोग तथा त्रिकटुचूर्ण के साथ सेवन करने से अरुचि, राजयक्ष्मा, मन्दाग्नि, सूतिकारोग शान्त होते हैं। इसको वह्निज्वाला वटी कहते हैं।

विशेष वचन—इस वटी की आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक पर्याप्त है। इस वटी के निर्माण में कोई त्रिकटु को भी बिजौरा नींबू के रस से सात भावना देकर लेने को कहते हैं। बिजौरा नींबू के रस से सात भावना देने से वटी की कार्यशक्ति अधिक बढ़ जाती है। अतः इस विधि में भी कोई हानि नहीं है।

वज्रधररसः—

रसगन्ध॰ताम्राभ्रं क्षारांस्त्रीन्वरुणो वृषम्।
अपामार्गस्य च क्षारं लवणं द्विद्विमाषकम्॥९७॥
चाङ्गेर्या हस्तिशुण्ड्याश्च रसैः पिष्टं पचेत् पुटे।
भक्षयित्वा ततो गुञ्जां ग्रहण्यां कांजिकं पिबेत्॥९८॥
पक्तिशूले च कासे च मन्दाग्नावार्द्रकद्रवम्।
अम्लपित्ते च धारोष्णं क्षीरं वज्रधरो ह्ययम्॥९९॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, यवक्षार, सर्जक्षार तथा टंकणक्षार, वरुण (वरना) त्वक्, वासात्वक्, अपामार्ग का क्षार, सैन्धवलवण ये सब औषधियाँ प्रत्येक दो दो मासा लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना उसमें अभ्रकादि द्रव्यों का चूर्ण डाल कर चांगेरी तथा हस्तिशुण्डी के स्वरस से एक २ दिन पृथक् पृथक् मर्दन कर टिकिया बना लें। टिकियाओं के सूखने पर इनको शरावसम्पुट में बन्द कर लघुपुट में फूंक देवें। स्वांगशीत होने पर टिकियाओं को निकाल पीस कर रख लें। इसमें से एक गुञ्जा मात्रा में काञ्जी अनुपान के साथ देने से ग्रहणी रोग नष्ट होता है। पक्तिशूल (पक्वाशय में व्रण के कारण होने वाले शूल जिसको Duo denalulcer कहते हैं) कास तथा मन्दाग्नि में अदरखरस के अनुपान से तथा अम्लपित्त में धारोष्ण दूध के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये। इसे 'वज्रधर रस' कहते हैं।

विशेष वचन—भैषज्यरत्नावली में इस रस से मिलता जुलता एक बड़वामुख रस मिलता है। उसमें वरुण तथा अडूसा इनके चूर्ण के स्थान पर क्षार लेना लिखा है। अडूसे के स्थान पर पलाश (ढाक) का क्षार लिया गया है। अग्निमान्द्य अम्लपित्त तथा पक्तिशूल में क्षारों का प्रयोग अम्ल को उदासीन करने के लिये किया जाता है। अतः वरुण तथा वासा का क्षार लेना उचित है। परन्तु क्षार तथा ताम्र आदि तीक्ष्ण द्रव्यों की उपस्थिति में इस रस की एक माषा मात्रा अत्यधिक है। अतः वज्रधर या वड़वामुख रस की आधुनिक मात्रा दो रत्ती उचित प्रतीत होती है। वड़वामुख रस का पाठ इस प्रकार है—"शुद्धं सूतं समं गन्धं मृतताम्राभ्रटंकणम्। सामुद्रञ्च यवक्षारं सर्जिसैन्धवनागरम्॥ अपामार्गस्य च क्षारं पालाशवरुणस्य च। प्रत्येकं सूततुल्यं स्यादम्लयोगेन मर्दयेत्॥ हस्तिशुण्डीद्रवैश्चाग्नौ मर्दयित्वा पुटेल्लघु। माषमात्रः प्रदातव्यो रसोऽयं वड़वामुखः॥ ग्रहणीं विविधां हन्ति संग्रहग्रहणीं ज्वरम्" ॥९७–९९॥

ग्रहणीकपाटः—

रसेन्द्रगन्धाऽतिविषाऽभयाऽभ्रं क्षारद्वयं मोचरसो वचा च।
जया च जम्बीररसेन पिष्टं पिण्डीकृतं स्याद्ग्रहणीकपाटः॥
तस्यार्द्धमाषं मधुना प्रभाते शंबूकभस्माज्यमधूनि लिह्यात्।
सक्षीरिणीजीरकमाग्निमथतीक्ष्णानि चादौ दधिभोजनं च॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, अतिविषाचूर्ण, हरीतकीचूर्ण, अभ्रकभस्म, यवक्षार, सर्जक्षार, वचाचूर्ण और भाँग का चूर्ण इन सब को समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके उसमें अतिविषा आदि का चूर्ण मिला जम्बीरी नींबू के रस में एक दिन अच्छी तरह मर्दन कर गोलियाँ बना लें। यह ग्रहणीकपाट' रस कहा जाता है। इसकी आधा माषा परिमाण वटिका को प्रातःकाल मधु में मिला कर सेवन करायें। पश्चात् अनुपान रूप में शम्बूक (घोघा) भस्म १ रत्ती मधु और घृत में मिला कर चटायें। क्षुधा लगने पर क्षीरिणी (क्षीरविदारी अथवा वंशलोचन), जीरा, सैन्धव नमक तथा तीक्ष्णवीर्य द्रव्यों अर्थात् पञ्चकोल आदि का चूर्ण भोजन के पूर्व सेवन करके पश्चात् दही भात खाना चाहिये।

विशेष वचन—तीक्ष्ण शब्द से कोई सर्षप को ग्रहण करते हैं। परन्तु उसकी अपेक्षा पञ्चकोलादि तीक्ष्णवीर्य द्रव्यों को लेना अधिक लाभदायक है। आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक॥

मुस्तादिचूर्णम्—

मुस्तावत्सकपाठाग्निव्योषप्रतिविषाविषम्।
धातकीमोचनिर्य्यासश्चूतास्थि ग्रहणीहरम्॥ १०२॥

नागरमोथा, कुटजत्वक्, पाठ, चित्रकमूलत्वक्, त्रिकटु, अतीस तथा शुद्ध वत्सनाभविष, धाय के फूल, मोचरस, आम की गुठली की मज्जा; इन सब का चूर्ण समान भाग में लेकर एकत्र पीस लें। इसमें से आवश्यकतानुसार प्रतिदिन दिन में दो बार सेवन करने से संग्रहणी रोग में आराम आता है॥ १०२॥

अथाजीर्णचिकित्सा।

अजीर्णलक्षणम्—

विरेको जठरे शूलं वमनं च मुहुर्मुहुः।
हस्तपादादिसङ्कोचः सर्वाजीर्णस्य लक्षणम्॥१०३॥

विरेचन (दस्त होना), पेट में पीड़ा, बारबार वमन होना और हाथ पैर आदि अंगों में संकोच तथा ऐंठन होना, ये सब अजीर्ण (भयंकर अजीर्ण) के लक्षण हैं॥ १०३॥

अजीर्णकण्टको रसः—

शुद्धसूतं विषं गन्धं समं सर्वंविचूर्णितम्।
मरिचं सर्वतुल्यांशं कण्टकार्य्याः फलद्रवैः॥ १०४॥
मर्दयेद् भावयेत्सर्वमेकविंशतिवारकम्।
वटीं गुञ्जात्रयीं खादेत्सर्वाजीर्णप्रशान्तये॥ १०५॥
अजीर्णकण्टकः सोऽयं रसो हन्ति विसूचिकाम्।
वारिणा तिलपर्ण्युत्थमूलं पिष्ट्वा पिबेदनु॥ १०६॥

शुद्ध पारद, शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक द्रव्य समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके फिर उसमें विष मिला खरल करें और सब के बराबर मरिचचूर्ण मिला दें। अब इसे कण्टकारी के फलरस के साथ मर्दन कर सुखा लें। इस प्रकार कण्टकारी-फलरस से इक्कीस भावना दें और अन्त में तीन तीन रत्ती की गोली बना लें। इसके सेवन से सब अजीर्ण नष्ट होते हैं। इसको 'अजीर्णकण्टकरस' कहते हैं। यह विसूचिका रोग को नष्ट करता है। इस रस की एक वटी खाकर पश्चात् तिलपर्णी (रक्तचन्दन अथवा तिलोनी शाक) की मूलत्वक् को जल से पीस छान कर पीना चाहिये।

विशेष वचन—इस रस को साधारण विसूचिका में कर्पूरोदक अथवा मुस्तोदक के साथ सेवन कराया जाता है। रसरत्नाकर में इस रस को 'अग्निकुमाररस' के नाम से लिखा है। आधुनिक मात्रा एक रत्ती पर्याप्त है। अजीर्ण में इसका अनुपान आर्द्रकरस लाभदायक होता है॥ १०४—१०६॥

विध्वंसरसः—

विमर्द्य गन्धोपलटंकणेन संभाव्य वारानथ सप्तजात्याः।
तोयैः फलानामथ सिद्धसूतो विध्वंसनामा शमनो विसूच्याः॥
अमुष्य गुंजा नव दापनीया हन्तुं विसूचीं सितया समेताः।
तक्रौदनं स्यादिह भोजनाय पथ्यं च शाकं किल वास्तुकस्य॥

शुद्ध गन्धक, शुद्ध सुहागा इन दोनों को समभाग में लें। अब इसको जायफल के रस से सात भावना देकर सुखा कर रख लें। यह

'विसूचीविध्वंस' नामक रस है। इस रस की नौ रत्ती मात्रा, लेकर उसमें मिश्री या खाँड मिला कर विसूचिका रोग की शान्ति के लिये देना चाहिये जब रोग शान्त हो जाय तब भोजन में तक्र तथा भात देना चाहिये। शाक देना हो तो बथुआ का शाक पथ्य है।

विशेष वचन—इस रस में "अथ चैव सिद्धः" और "अथ सिद्धसूतः" ये दो पाठ पाये जाते हैं। पूर्व पाठ से "गन्धोपलटंकणेन" का सम्बन्ध किसी से नहीं होता है जिससे सह (साथ) का अर्थ होना चाहिये। अतः सिद्धसूतः" ऐसा पाठ ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। साथ ही रससिन्दूर बल्य और रक्तकणार को बढ़ाने वाला तथा कृमिहर भी है अतः रससिन्दूर या शुद्ध पारद लेना चाहिये। परन्तु मात्रा ९ रत्ती अत्यधिक है। अतः भयंकर विसूचिका में इसे ९ रत्ती तक दे सकते हैं। अन्यथा इसकी आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक होनी चाहिये। कोई 'फलानां' से त्रिफला अर्थ करते हैं। यह अधिक रुचिकर नहीं प्रतीत होता है। आगे लिखे हुये "वृहद्विध्वंस" रस के पाठ को देखने से प्रकृतरस में पारद नहीं होना चाहिये। क्योंकि यदि इसमें पारद या रससिन्दूर डाला जायगा तो वृहत् से इसमें कोई भेद नहीं रहेगा इस योग में पारद नहीं होना चाहिये—केवल गन्धक और सुहागा ही लें। तभी अगले रस से भिन्न रहेगा ॥ १०७–१०८ ॥

वृहद्विध्वंसरसः—

रसगन्धटंकभसितं समांशकं परिमर्द्य जातिफलसप्तभावितम्।
सितयोपयुज्य नवरक्तिकोन्मितं मथितान्नभुग्विजयते विसूचिकाम् ॥१०९॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सुहागा सबको समान भाग लेकर पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें सुहागा मिलायें और जायफल के कषाय से सात भावना देकर सुखा लें। इसमें से नौ रत्ती मात्रा में लेकर खाँड के साथ सेवन करें। इसके सेवन से विसूचिका रोग दूर हो जाता है। रोगी को भूख लगने पर तक्र तथा ओदन (भात) पथ्य में देना चाहिये।

विशेष वचन—विसूचिका के लिये आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। इस रस को विसूचिका के अतिरिक्त अजीर्ण तथा पतले दस्तों में भी दे सकते हैं। जिस मट्ठे में से मक्खन निकाला जाय किन्तु जल नहीं डाला जाय उसे शास्त्रानुसार मथित कहा जाता है ॥ १०९ ॥

अग्निकुमाररसः—

हंसपादीरसैः सिद्धं रसगन्धकयोः पलम्।
कोलं च विषचूर्णस्य बालुकायन्त्रपाचितम् ॥ ११० ॥
शाणं विषस्यार्द्धपलं मरिचस्य विमिश्रयेत्।
दीपनोऽग्निकुमारोऽयं गृहण्यां च विशेषतः ॥ १११ ॥
स वातश्लेष्मजान् रोगान् क्षणादेवापकर्षति।
सन्निपातज्वरश्वासक्षयकासांश्च नाशयेत् ॥ ११२ ॥

शुद्ध पारद आधा पल, शुद्ध गन्धक आधा पल लेकर इन दोनों की अच्छी तरह कज्जली कर लें। अब इसमें एक कोल परिमाण शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण मिलायें। अब इसको हंसपदी के स्वरस से मर्दन कर सुखा लें। फिर एक कपड़मिट्टी की हुई बोतल में भर बालुकायन्त्र में चार प्रहर अग्नि से पकायें। स्वांगशीत होने पर बोतल में से औषधि निकाल इसमें एक शाण शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण और आधा पल मरिचचूर्ण मिला कर अच्छी तरह मर्दन करके रख लें। यह अग्निकुमाररस अग्नि को दीपन करता है। संग्रहणी रोग में विशेष रूप से अग्निदीपन करता है। इसके प्रयोग से वात तथा कफ-प्रकोपजन्य रोग शीघ्र दूर हो जाते हैं। यह सन्निपात ज्वर, श्वास, क्षय तथा कास को भी नष्ट करता है।

विशेष वचन—हंसपादीरस से भावित कज्जली द्वारा बनाये जाने वाले 'अग्निकुमाररस' की तन्त्रान्तरों में विभिन्न निर्माण-विधि देखी जाती है। कहीं इसको चार प्रहर बालुकायन्त्र में पकाना लिखा है और कहीं आठ प्रहर तथा कहीं बारह प्रहर पकाना लिखा है। परन्तु चार, आठ या बारह प्रहर पर्यन्त पकाने से यह केवल रससिन्दूर बनेगा। अतः रससिन्दूर में ही मरिच तथा विषचूर्ण मिला कर इसको बना लेना चाहिये था परन्तु ऐसा न कर इसकी पृथक् विधि लिखने का यह अभिप्राय है कि पारद गन्धक की कज्जली तथा विष को हंसपदीरस से मर्दन कर एक चौड़े मुँह पात्र में रख कर उसको शुद्ध तथा कंटकवेधी ताम्रपत्र से ढक कर सन्धिलेप करके ऊपर बालू से भर दें। जब चार प्रहर अग्नि दे चुकें तो इसे उतार, ताम्रपत्र सहित पीस कर इसमें वत्सनाभविष और मरिचचूर्ण मिला पीस कर रख लें। इस प्रकार नन्दिमत से इस रस को बनाने में गुणबहुलता होती है। तथा कज्जली रससिन्दूर के रूप में परिणत नहीं होने पाती है। मन्थानभैरव के मत से भी पारद गन्धक की २ कर्ष कज्जली में षोडशांश ताम्रभस्म डाल कर हंसपादीरस से मर्दन कर बड़ी बड़ी गोलियाँ बना बालुकायन्त्र में पका कर स्वांगशीतल होने के बाद इसमें समभाग विषचूर्ण मिला कर अदरखरस से मर्दन कर पुनः लघु अग्नि ताप से पका कर इसका प्रयोग लिखा है। इस तरह हंसपादीरस से मर्दन कर द्रव्यों के परिमाण में न्यूनाधिकता तथा निर्माणविधि में भिन्नता देखी जाती है। रसकौस्तुभ में वर्णित अग्निकुमाररस में शुक्तिभस्म अधिक लिखी है। रसरत्नकोष में शुक्ति के स्थान पर ताम्रभस्म लिखी है। और इसका प्रयोग जिह्वकसन्निपात में भी लिखा है। उक्त प्रकार की निर्माणविधियों की विभिन्नता से यह अवश्य कहना पड़ता है कि इस रस को सिन्दूरयुक्त तथा वत्सनाभविष योग से भिन्न तथा विशिष्ट शक्तियुक्त बनाने के लिये ताम्रभस्म या ताम्र-

पत्र के योग से ही बनाना गुणदायक होगा। आधुनिक मात्रा १ रत्ती। नन्दि ने अन्य ताम्रपत्रयुक्त रसों की भांति इसके प्रयोग से होने वाले दाह में शीतजलसेक, चन्दन, मुलेठी आदि द्रव्यों का लेप भी बताया है। अन्तर्दाह को शान्त करने के लिये कपित्थचूर्ण तथा मिश्रीचूर्णयुक्त दुग्ध पान लिया है। प्रकृत रस के मूल पाठ में 'सिद्धम्' के स्थान पर 'पिष्टम्' पाठ सुगम है॥ ११०–११२॥

वाडवाग्निरसः—

टङ्कणं मरिचं तुत्थं पृथक् कर्षत्रयं भवेत्।
सुन्दरं द्वादशं निष्कं त्रिशन्निष्कमयोमलम्॥ ११३॥
कान्तं पद्मरसे घृष्टं पुटपक्वं वरारसे।
मार्कवस्वरसे घृष्टं सप्तकृत्वस्त्वयोमलम्॥ ११४॥
चूर्णान्येतानि संयोज्य स्थापयेच्छुद्धभाजने।
शुद्धदेहो नरस्तस्य पानं यद्भोजनोत्तरम्॥ ११५॥
अद्यात्पथ्यं ततः स्वल्पं ततस्ताम्बूलभाग्भवेत्।
उदराग्निर्नरस्यास्य वडवाग्निसमो भवेत्॥
बहुनात्र किमुक्तेन रसायनमयं नृणाम्॥ ११६॥

शुद्ध सुहागा, मरिचचूर्ण, तुत्थभस्म, प्रत्येक तीन कर्ष सुन्दर (कान्तलोहभस्म) बारह निष्क, मण्डूरभस्म तीन निष्क लेवें। सब को एकत्र पीस कर शीशी में रख लें। यह 'वडवाग्निरस' कहाता है। इस रस में कान्तलोहभस्म को कमलपुष्पस्वरस में घोट कर गजपुट दें। इस तरह सात सात पुट कमलपुष्पस्वरस तथा त्रिफलारस में देकर योग में डालना चाहिये। इसी तरह मण्डूरभस्म को भी भाँगरे के रस में घोट कर गजपुट में फूँक दें। इस प्रकार सात पुट देकर इस रस में डालें। इस रस के सेवन से पूर्व मनुष्य को वमन विरेचन से शरीर को शुद्ध कर लेना चाहिये। तत्पश्चात् इस रस की उचित मात्रा यथोचित अनुपान के साथ भोजन के बाद सेवन करनी चाहिये। फिर इस रस के पच जाने पर पथ्य में हितकारी और थोड़ा २ लघु भोजन करना चाहिये। अरुचि की शान्ति के लिये ताम्बूल खाना चाहिये। इस रस के प्रयोग से मनुष्य की पाचक अग्नि वड़वाग्नि (समुद्र की अग्नि) के समान प्रदीप्त हो जाती है। इस रस के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। कुछ दिन लगातार सेवन करने पर यह मनुष्य के लिये रसायन का कार्य करता है।

विशेष वचन—इस रस में यदि लोहचूर्ण तथा मण्डूरचूर्ण लेना हो तो इनको उक्त द्रव्यों के स्वरस में मर्दन कर तब तक पुट देनी चाहिये जब तक कि उनकी वारितर भस्म न हो जाय। यदि वारितर भस्म को फिर सात २ पुट प्रत्येक द्रव्य के रस में दी जाय तो यह और भी उत्तम गुणदायक होगा। भोजन के बाद लिखने से यह अभिप्राय है कि रोगी को थोड़ा लघु पदार्थ खिला दिया जाय। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक॥११३-११६॥

नन्दिमते वराटीलक्षणम्—

पीतवर्णा गुरुस्निग्धा पृष्ठतो ग्रन्थिलाऽमला।
चराचरेति सा प्रोक्ता वराटी नन्दिना खलु॥११७॥

नन्दि नामक रसाचार्य ने पीतवर्ण, गुरुभार, स्निग्ध, पृष्ठभाग में छोटी छोटी ग्रन्थि या उभारयुक्त स्वच्छ वराटिका (कौड़ी) को चराचर नाम से लिखा है।

त्रिविधवराटिकालक्षणम्—

सार्द्धनिष्कमिता श्रेष्ठा मध्यमा निष्कमानिका।
पादोननिष्कमाना च कनिष्ठात्र वराटिका॥११८॥

डेढ़ निष्क परिमाण भार वाली कौड़ी श्रेष्ठ, एक निष्क भार वाली कौड़ी मध्यम, तथा ¾ निष्क भार वाली कौड़ी कनिष्ठ (हीन) मानी जाती है॥११८॥

वराटलक्षणम्—

निष्फलाश्च ततो न्यूनाः पुंवराटाश्च पित्तलाः।
दत्त्वा दत्त्वा गुणान् भूयो विकारान् कुर्वते हि ते॥

उक्त भार मान से न्यूनभार वराटिका गुण में निष्फल होती है। इनसे अधिक भार वाली कौड़ियों को वराट शब्द से कहा जाता है। इनमें पित्तप्रकोप शक्ति अधिक होती है। अतः इनको अधिक मात्रा में (स्वल्प गुण के कारण) प्रयोग करने पर लाभ के स्थान में विकार उत्पन्न हो जाते हैं॥ ११९॥

वैश्वानरपोटलीरसः—

शुद्धौ सूतबली चराचररजः कर्षांशतः कज्जलीं
कृत्वा गोपयसा विमर्द्य दिवसं रुद्ध्वा च मूषोदरे।
सिद्धं कुम्भिपुटे स्वतश्च शिशिरा पिष्टा करण्डे स्थिता
स्याद्वैश्वानरपोटलीति कथिता तीव्राग्निदीप्तिप्रदा॥
एकोनविंशतेश्चूर्णैर्मरिचानां घृतान्वितैः।
देयेयं वल्लमानेन वयोबलमवेक्ष्य ताम्॥१२१॥
गिलेद्दलविशुद्ध्यर्थं दधिभक्तमनुत्तमम्।
कवलत्रयमानेन दुर्गन्धोद्गारशान्तये॥१२२॥
मध्यन्दिने ततो भोज्यं घृततक्रोपदंशयुक्।
रात्रौ च पयसा सार्द्धं यद्वा रोगानुसारतः॥१२३॥
विदाहि द्विदलं भूरिलवणं तैलपाचितम्।
विल्वं च कारवेल्लं च वृन्ताकं कांजिकं त्यजेत्॥१२४॥
इयं हि पोटली प्रोक्ता सिंघणेन महीभृता।
मन्दाग्निप्रभवाशेषरोगसङ्घातघातिनी॥१२५॥
सिंघणस्य विनिर्दिष्टा भैरवानन्दयोगिना।
लोकनाथोक्तपोटल्या उपचारा इह स्मृताः॥
पोटल्यो दीपनाः स्निग्धाः मन्दाग्नौ नितरां हिताः॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध कौड़ी का चूर्ण; इन तीनों को पृथक् पृथक् एक एक कर्ष लेवें। पहिले गन्धक की

कज्जली बनायें। फिर उसमें कौड़ी का चूर्ण मिला कर गोदुग्ध के साथ एक दिन अच्छी तरह खरल करके गोला-सा बना कर सुखा लें। सूखने के बाद इस गोले को एक दृढ़ मूषा में बन्द करके तीन चार कपड़मिट्टी करके सुखा लें और गजपुट में रख कर फूंक दें। स्वांग-शीत होने पर निकाल पीस कर शीशी में रख लें। इसे 'वैश्वानर-पोटलीरस' कहा जाता है। यह अग्नि (जाठराग्नि) को अत्यन्त तीव्र करता है। रोगी की अवस्था तथा बलकाल का विचार करके इस रस की एक वल्ल मात्रा को १९ उन्नीस मरिचों का चूर्ण तथा घृत के साथ मिला कर सेवन करावें। इस रस को खाकर गले को साफ करने तथा दुर्गन्धित डकारों को शान्त करने के लिये तीन ग्रास परिमाण दही और भात खाना चाहिये। इसके बाद दो पहर में क्षुधा लगने पर घृत तथा तक्र के साथ भोजन करें। रात्रि में दूध के साथ भोजन करना चाहिये। अथवा रोगानुसार भोजन की व्यवस्था करनी चाहिये। इस रस के सेवनकाल में विदाही द्रव्य (जिनसे अम्ल अधिक पैदा हो, जो गले में जलन करते हों) दाल, अत्यधिक नमक, तैल की बनी हुई चीजें, वेल, करेला, बैंगन तथा काञ्जी; इन द्रव्यों का परिहार (त्याग) करना चाहिये। इस पोटली को सिंहल राजा ने वर्णन किया है और सिंहल राजा से इसका वर्णन श्रीभैरवानन्द योगी ने किया है। यह रस मन्दाग्नि-जन्य सम्पूर्ण रोगसमुदाय को नष्ट करने वाला है। इस पोटली रस के सेवनकाल में लोकनाथोक्त पोटली के समान उपचार करने चाहिये। क्योंकि प्रायः सभी पोटली रस अग्निदीपक तथा स्निग्ध-गुण होते है। मन्दाग्निरोग में ये विशेष रूप से लाभदायक होते हैं ॥ १२०–१२६ ॥

वडवाग्निमुखी गुटिका—

शुल्वायोघनभस्मवेल्लहलिनीव्योषाम्बुनिम्बच्छदैः
संयुक्तैश्च हरिद्रया समलवैः सार्द्धं सशुभ्रामृतैः।
भृंगांभोविषतिंदुकार्द्रकरसैः सम्पिष्य गुंजामिता
संशुष्का वडवामुखीति गुटिका नाम्नोदिता तारया॥
क्षिप्रं क्षुत्परिबोधिनी खलु मता सर्वामयध्वंसिनी
श्लेष्मव्याधिविधूननी कसनहृच्छ्वासापहा शूलनुत्।
क्षुद्वैषम्यहरा च गुल्मशमनी मूलार्तिमूलंकषा
शोफव्याधिहराऽत्र किं बहुगिरा सर्वामयोत्सादिनी॥

अमृतीकरण युक्त ताम्रभस्म, लोहभस्म, अभ्रकभस्म, वायविडंगचूर्ण, सोंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, नेत्रबालाचूर्ण, निम्बपत्रचूर्ण, हरिद्राचूर्ण, शुभ्र (सैन्धव लवण अथवा रजतभस्म) तथा शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण; इन सब को समभाग में लेकर एकत्र खरल में पीस लें और फिर इसकी भाँगरा, कुचला, अदरख के स्वरस से पृथक्-पृथक् एक दिन मर्दन करके एक एक रत्ती की गोली बना लें; और सुखा कर रख लें। इस वड़वाग्निमुखी गुटिका को तारा नाम की किसी विदुषी ने वर्णन किया है। इन गुटिकाओं के सेवन से तत्काल क्षुधा लगती है और सब रोग दूर होने लगते हैं। रोगोचित अनुपान के साथ प्रयोग करने पर यह वटी, कफरोग, कास, श्वास, शूल, क्षुधा की विषमता (कभी भूख लगना कभी नहीं), गुल्म, अर्श, शोथ रोगों को और कहाँ तक कहें सब रोगों को नष्ट करती है।

विशेष वचन—"सार्द्धं सशुभ्रामृतैः" के स्थान पर तन्त्रान्तर में "साऽर्धांशशुभ्रामृतैः" ऐसा पाठ देखा जाता है। जिससे शुभ्र तथा विष का भाग अन्य द्रव्य की अपेक्षा आधा होता है। परन्तु लवण तथा विष को समभाग लेने से इसकी पाचनशक्ति में वृद्धि ही होगी। अतः "सार्द्धं" ऐसा पाठ ही अच्छा प्रतीत होता है। कई वैद्य शुभ्र शब्द से रौप्यमाक्षिकभस्म लेते हैं। इसकी अपेक्षा सैन्धव में अधिक दीपक, पाचक शक्ति होने से सैन्धव लेना उचित प्रतीत होता है॥ १२७–१२८ ॥

क्रव्यादरसः—

द्विपलं गन्धकं शुद्धं द्रावयित्वा विनिक्षिपेत्।
पारदं पलमानेन मृतशुल्वायसं पुनः॥ १२९॥
तोलमानेन संक्षिप्य पंचांगुलदलं क्षिपेत्।
ततो विचूर्ण्य यत्नेन निक्षिप्यायसभाजने॥ १३०॥
चुल्ल्यां निवेश्य यत्नेन ज्वालयेन्मृदुवह्निना।
पात्रमात्रं हि जंबीररसं सम्यग्विजारयेत्॥ १३१॥
संचूर्ण्य पंचकोलोत्थैः कषायैः साम्लवेतरसैः।
भावनाः खलु कर्तव्याः पंचाशत्प्रमितास्ततः॥ १३२॥
भृष्टटङ्कणचूर्णेन तुल्येन सह मेलयेत्।
तदर्द्धं कृष्णलवणं सर्वतुल्यं मरीचकम्॥ १३३॥
सप्तधा भावयेत् पश्चाच्चणकक्षारवारिणा।
ततः संशोष्य संपेष्य कूपिकाजठरे क्षिपेत्॥ १३४॥
अत्यर्थं गुरुमांसानि गुरुभोज्यान्यनेकशः।
भुक्त्वा च कंठपर्यंतं चतुर्वल्लमितं रसम्॥ १३५॥
पद्वम्लतक्रसहितं पिबेत्तदनुपानतः।
क्षिप्रं तज्जीर्यते भुक्तं जायते दीपनं पुनः॥ १३६॥
रसः क्रव्यादनामाऽयं प्रोक्तो मन्थानभैरवैः।
सिंघणक्षौणिपालस्य भूरिमांसप्रियस्य च।
दिष्टो ग्रामं समासाद्य भैरवानन्दयोगिना॥ १३७॥
कुर्याद्दीपनमुद्धतं च पचनं दुष्टामसंशोषणं
तुन्दस्थौल्यनिबर्हणं गरहरं मूलार्तिशूलापहम्।
गुल्मप्लीहविनाशनं ग्रहणिकाविध्वंसनं स्रंसनं
वातग्रन्थिमहोदरापहरणं क्रव्यादनामा रसः॥१३८॥

दो पल प्रमाण शुद्ध गन्धक लेकर एक लोहपात्र में पिघलाएं, गन्धक के पिघलते ही उसमें एक पल शुद्ध पारद डाल अच्छी

तरह मिलाते हुये शीघ्रता से उसमें लोहभस्म १ तोला, ताम्रभस्म १ तोला मिला कर तत्काल गोबर के ऊपर रखे हुये एरण्डपत्र पर ढाल कर पर्पटी बना लें। पुनः इस पर्पटी को चूर्ण करके एक लोहपात्र में डालें और उस पात्र में जम्बीरी नींबू का छना हुआ रस भी एक पात्र अर्थात् करीब चार सेर डाल दें। अब इसे मन्द २ अग्नि पर पकावें। जब सब रस सूख जाय तब उतार कर पीस लें और पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक तथा सोंठ) कषाय की इसे पचास भावना देवें। फिर इसी तरह अम्लवेत के कषाय की भी पचास भावना देवें। सूख जाने पर इसमें समभाग भुना हुआ सुहागा और सुहागे से आधा भाग विड्-कृष्ण लवण तथा सब के बराबर भाग मरिचचूर्ण (अर्थात् दशपल के करीब मरिचचूर्ण) मिला कर सब को एकत्र पीस कर फिर चने के क्षारीय जल से सात भावना देवें। सूख जाने पर पीस करके रख लें। अत्यन्त गुरु भोजन, मांस, वसामय, पिष्टमय भोजनों को कण्ठपर्यन्त खाकर भी यदि इस रस की ४ रत्ती मात्रा को, नमक तथा अम्ल तक्र के साथ सेवन किया जाय तो तत्काल भुक्त (खाया हुआ) गुरु भोजन भी जीर्ण हो जाता है और पुनः क्षुधा लगने लगती है। इस 'क्रव्यादरस' को मन्थानभैरव ने वर्णन किया है और फिर ग्रामों में विचरते हुये भैरवानन्द योगी ने इसको अत्यन्त मांसप्रिय सिंहल राजा को बताया है। यह रस जठराग्नि को अत्यन्त दीप्त करता है। आमदोष का परिपाक तथा संशोषण करता है और स्रंसन है। एवं स्थूलता, प्लीहावृद्धि, संग्रहणी, जीर्णप्रवाहिकाजन्य कफस्राव, वातरोग की ग्रन्थि, भयंकर उदररोग; इन सब रोगों को दूर करता है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में इस रस को बृहत् क्रव्यादरस के नाम से लिखा है। भैषज्यरत्नावली, रसेन्द्रसारसंग्रह आदि ग्रन्थों में इसको पञ्चकोल तथा अम्लवेतकषाय की पचास भावना देने की अपेक्षा पचास पचास पल रस की भावना देने को लिखा है। और पारद गन्धक की कज्जली कर लोह तथा ताम्रभस्म मिला कर पर्पटी बनाने को लिखा है यही विधि अच्छी भी है। और कृष्णलवण के स्थान पर विड्लवण लेने को लिखा है। पाठ इस प्रकार है—"पलं रसस्य द्विपलं बलेः स्याच्छुल्वायसी चार्द्धपलप्रमाणे। संचूर्ण्य सर्वं द्रुतमग्नियोगादेरण्डपत्रेऽथ निवेशनीयम्॥ कृत्वाऽथ तां पर्पटिकां विदध्याल्लौहस्य पात्रे त्ववपूतमस्मिन्। जम्बीरजं पक्वरसं पलानां शतं नियोज्याग्निमथाल्पमल्पम्। जीर्णे रसे भावितमेतदेतैः सुपञ्चकोलोद्भववारिपूरैः। सवेतसाम्लैः शतमत्र योज्यं समं रजष्टंकणजं सुभृष्टम्॥ विडं तदर्द्धं मरिचं समस्तं तत्सप्तवारं चणकाम्लकेन। क्रव्यादनामा भवति प्रसिद्धो रसस्तु मन्थानकभैरवेण।"

पाठान्तरों के अनुसार इस रस का प्रयोग कास, श्वास, जलोदर, कुष्ठ, व्रण आदि में भी किया जा सकता है। किसी किसी ग्रन्थ में सौंठ, हिंगुल तथा विडनमक का चूर्ण इसका अनुपान लिखा है। इसमें सन्देह नहीं कि यह रस पुरातन अजीर्ण आमाशयदौर्बल्य, आमाशय में अम्लरस की कमी तथा अग्न्याशयरस की दुर्बलता में अत्यन्त लाभदायक है। इसकी प्रारम्भिक मात्रा २ रत्ती पर्याप्त है। यदि अधिक देना हो तो ४ रत्ती तक भी दे सकते हैं॥१२९-१३८॥

राजशेखरवटी—

भागो मृतरसस्यैको वत्सनाभांशकद्वयम्।
रसतुल्यं शिवाचूर्णं गन्धकं त्र्यूषणं तथा॥१३९॥
विचूर्ण्यातिप्रयत्नेन भावयेत्सप्तवासरम्।
तांबूलपत्रतोयेन स्वर्णधुस्तूरजद्रवैः।
पिष्टा चणमिताः कुर्याच्छायाशुष्कास्तु गोलिकाः॥
उष्णांभोयुतराजशेखरवटी मंदाग्निनिर्णाशिनी
नानाकारमहाज्वरार्तिशमनी निःशेषमूलापहा।
पाण्डुव्याधिमहोदरार्तिशमनी शूलांतकृत्पाचनी
शोफघ्नी पवनार्तिनाशनपटुः श्लेष्मामयध्वंसिनी॥

रससिन्दूर एक भाग, शुद्धवत्सनाभविषचूर्ण दो भाग, हरीतकीचूर्ण, शुद्ध गन्धक, सोंठ, मिर्च, पिप्पली, प्रत्येक एक भाग लेकर सूक्ष्मचूर्ण कर लें। फिर इन सबको एकत्र मिला कर पान के पत्तों के स्वरस और पीले फूल के धतूरे के स्वरस की पृथक् २ सात भावना देकर चने के बराबर गोलियां बना कर छाया में सुखा लें। इन गोलियों को गरम जल के अनुपान से सेवन करने पर मन्दाग्नि नष्ट हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन गोलियों के द्वारा विविधज्वरसम्बन्धी पीड़ा, वातिक अर्शपीड़ा, पाण्डुरोग, उदररोगपीड़ा, शूलपीड़ा शान्त हो जाती हैं। यह वटी पाचक, शोथनाशक, वातप्रकोपशामक तथा श्लेष्म (कफ) रोगों की नाशक है।

विशेष वचन—यह वटी अजीर्णजन्य ज्वरों में तथा अङ्गमर्दन आदि पीड़ायुक्त ज्वरों में अत्यन्त लाभ करती है। इसके देने से स्वेद आकर शरीर हल्का हो जाता है॥ १३९—१४१॥

अग्निकुमाररसः—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं त्रिक्षारं पटुपञ्चकम्।
दशकं तुल्यतुल्यांशं भर्जिता विजया नवा॥ १४२॥
दशानां तुल्यभागा च तस्यार्द्धं शिग्रुमूलकम्।
तत् सर्वं विजयाद्रावैः शिग्रुचित्रकभृङ्गजैः॥ १४३॥
द्रावैर्दिनत्रयं मर्द्यं रुद्ध्वा भाण्डे पचेल्लघु।
दीपाग्निना तु यामैकं शुष्कं यावत् समुद्धरेत्॥ १४४॥
सप्तधा चार्द्रकद्रावैर्भावयेच्चूर्णयेद्भिषक्।
दीपकोऽग्निकुमारोऽयं निष्कैकं मधुना लिहेत्॥
प्रतिकर्षं गुडं शुंठी ह्यनुपानं च दीपनम्॥ १४५॥

शुद्ध पारद, शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध गन्धक, यवक्षार, सर्जक्षार, पञ्चलवण (सैन्धव, कृष्ण, विड्नमक, सौवर्चल, साम्भरनमक), इन दस द्रव्यों को समभाग में ले। फिर इन सब के बराबर घी में भुनी हुई नई भाँग और भाँग से आधा भाग अर्थात् ५ भाग सुहाँजने की छाल लें। पहिले पारद और गन्धक की कज्जली बना लें, फिर उसमें अन्य द्रव्यों के सूक्ष्म कपड़छनचूर्ण मिला कर, भाँग के स्वरस में तीन दिन, सुहांजने के स्वरस में तीन दिन और भाँगरे के स्वरस में तीन दिन तक मर्दन कर अर्थात् उक्त स्वरसों की पृथक् पृथक् तीन तीन भावना देकर गोलासा बना लें। इस गोले को सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके भाण्डपुट में हल्की-सी पुट दे-दें। अथवा खुले हुये स्थान में छोटा-सा चूल्हा बना कर या लोहे की त्रिपादिका बना कर उस पर इस सम्पुट को रखें और नीचे एक दीपक रख कर उसकी वर्तिज्वाला से गन्धक, की गन्ध आने तक पका लें। एक प्रहर की मन्द मन्द अग्नि से पका कर, जब शुष्क हो जाय, उतार कर ठण्डा कर लें। इसके बाद इस पुटपक्व द्रव्य को पुनः अदरख के स्वरस से सात और चित्रकमूलकषाय से सात भावना देकर सुखा करके रख लें। यह 'अग्निकुमाररस' अग्निदीपन है। इसकी अर्धनिष्क मात्रा मधु के साथ चटानी चाहिये। और गुड़ तथा शुण्ठीचूर्ण प्रत्येक एक-एक निष्क मात्रा में लेकर इसका अनुपान देना चाहिये। इस अनुपान से यह रस अत्यन्त दीपन कार्य करता है अर्थात् अत्यन्त भूख लगाता है।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में 'द्विक्षारं' के स्थान पर 'त्रिक्षारं' पाठ है जिससे दस द्रव्य के स्थान पर ग्यारह हो जाता है। अतः द्विक्षारं पाठ संगत प्रतीत होता है। साथ ही विष, अजीर्ण तथा अजीर्णजन्य ज्वर आदिव्याधियों में भी लाभदायक होता है। 'आर्द्रकद्रावैर्भावयेच्चूर्णयेद् भिषक्' के स्थान पर 'आर्द्रकद्रावैश्चित्रकैर्भावयेद्भिषक्' पाठ होने पर भी गुणों में अधिकता ही हो सकती है। 'दीपाग्निना' के स्थान पर 'दीप्ताग्निना' पाठ भी देखा जाता है। परन्तु मन्द अग्नि से पाक करने पर इसमें द्रव्यों के दग्ध होने की आशङ्का नहीं रहती है। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से ३ रत्ती तक। यह रस न केवल अजीर्ण में ही प्रयुक्त होता है किन्तु अजीर्णातिसार, पुरातन अतीसार, ग्रहणीरोग में भी अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है। भोजन करने के बाद तुरन्त शौच जाने वाले अतीसार में इस रस को दीपाग्नि से पकाने या रस की औषधियों को विजया आदि के द्रव से भावित कर गीली अवस्था में ही किसी पात्र में रख कर नीचे दीपकाग्नि जलानी चाहिये। जब द्रवांश शोषित हो जाय और जब गन्धक की गन्ध आने लगे तो उतार कर फिर भावना दें ॥१४२-१४५॥

अमृतवटी—

कुष्ठागन्धविषव्योमत्रिफलापारदैः समैः।
भृङ्गाम्बुमर्दितैर्मुद्गमानाऽमृतवटी शुभा॥
अजीर्णश्लेष्मवातघ्नी दीपनी रुचिवर्धिनी॥१४६॥

कुष्ठ (पुष्करमूल), शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ, कृष्णाभ्रकभस्म, त्रिफला (हरड, बहेड़ा, आंवला) तथा शुद्ध पारद; इनको समान भाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर उसमें कुष्ठ आदि द्रव्यों के चूर्ण मिला कर भृङ्गराजस्वरस से एक दिन मर्दन करके मूंग के बराबर सुन्दर गोलियाँ बना लें। यह वटी अजीर्ण, कफ तथा वातविकारों को नष्ट करती है और दीपक है। इससे भोजन में रुचि उत्पन्न होती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचिन्तामणि में 'व्योम' के स्थान पर 'व्योष' ऐसा पाठ मिलता है। रसेन्द्रसारसंग्रहोक्त अमृतवटी इससे सर्वथा भिन्न है। उसका पाठ इस प्रकार है—"अमृतवराटकमरिचैर्द्विपञ्चनवभागयोजितैः क्रमशः। वटिका मुद्गसमाना कफत्रिदोषानलमान्द्यहारिणी" ॥१४६॥

राक्षसनामा रसः—

ताम्रं पारदगन्धकौ त्रिकटुकं तीक्ष्णञ्च सौवर्चलं
खल्ले मर्द्य दृढं विधाय सिकताकुम्भेऽष्टयामं ततः।
स्विन्नं तस्य च रक्तशाकिनिभवं क्षारं समं मेलयेत्
सर्वं भावितमातुलुङ्गजरसैर्नाम्ना रसो राक्षसः॥१४७॥

मन्दाग्नौ सततं ददीत मुनये प्रातः पुरा शङ्करः
सख्येऽस्मै च्यवनाय मन्दहुतभुग्वर्य्याय नष्टौजसे।
तेनादाय समस्तलोकगुरवे सूर्य्याय तस्मै नमो
मर्त्यानामपि चास्य दानसमये गुञ्जाष्टकं वर्जयेत्॥

ताम्रभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, सौंठ, मिरच, पिप्पली, तीक्ष्णलोहभस्म, सौंचलनमक; प्रत्येक द्रव्य समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर अच्छी तरह मर्दन करें। पश्चात् इसको एक मूषा या शराव में बन्द करके उसको सुखा लें। और एक हाँडी म आधा भाग बालुका भर कर उसमें उक्त मूषा को रख अवशिष्ट भाग को फिर बालुका से भर दें। पश्चात् हाँडी के नीचे मन्द मन्द अग्नि आठ प्रहर तक जला दें। तदनन्तर मूषा से द्रव्य को निकाल उसके बराबर उसमें लालपुनर्नवा का क्षार मिला कर, बिजौरा नीम्बू के रस से सात दिन तक भावना दें। यह 'राक्षसरस' कहा जाता है। इस रस को पहिले शंकर ने अपने मित्र च्यवनमुनि को प्रयोग कराया था। जब कि उसकी अग्नि मन्द हो गई थी और वीर्य तथा ओज भी नष्ट हो चुका था। तब च्यवनमुनि ने शंकर से यह रस लेकर सम्पूर्ण जगत् के हित के लिये प्रकाशित कर दिया। अतः ऐसे जगद्गुरु सूर्य के सदृश सब के लिये एक-सा व्यवहार करने वाले मुनि को नमस्कार है। यदि आधुनिक अजीर्ण रोगग्रस्त

मनुष्यों को यह रस सेवन कराना हो तो इसकी १ रत्ती मात्रा को बढ़ाते हुये ८ रत्ती तक ले जाना चाहिये और फिर १ रत्ती तक लाना चाहिये।

विशेष वचन—इस रस की आधुनिक मात्रा १ रत्ती की है। इस रस का पाठ रसेन्द्रसारसंग्रह में भी है, यथा "ताम्रं पारदगन्धकं त्रिकटुकं तीक्ष्णञ्च सौवर्चलम्। खल्ले मर्द्य दिनं निधाय सिकताकुम्भेषु यामं ततः। स्विन्नं तेष्वपि रक्तशाकिनिभवं क्षारं समं भावयेत्। एकीकृत्य च मातुलुङ्गजजलैर्नाम्ना रसो राक्षसः॥" इस पाठ के अनुसार एक याम पाक करने का विधान है और पुनर्नवाक्षार, ताम्र आदि हर एक द्रव्य के बराबर भाग है। सिकताकुम्भ में आठ याम पाक करने की अपेक्षा एक याम पाठ करने से गन्धक के जलने की बहुत आशंका नहीं रहती है। और जो बालुयन्त्र में पकाया जाय तो इसमें केवल पारद ही रससिन्दूर के रूप में प्राप्त होगा और नीचे तीक्ष्णलोहभस्म तथा सौंचललवण। अतः मन्द मन्द अग्नि से एक प्रहर तक बालुका में दबा कर स्वेदन के रूप में पाक करना उचित प्रतीत होता है। वीर्य तथा ओज के नष्ट हो जाने पर जब शरीर में वातादि दोषों का आधिपत्य (control) नष्ट हो जाता है तो इस रस को सेवन करा कर पुनः पोषक भोजन तथा औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। विना वातादि शक्ति को दीप्त तथा नियमित किये हुये किसी द्रव्य का प्रभाव नहीं होता है॥ १४७–१४८॥

जीवननामा रसः—

रसगन्धौ सिन्धुकणाटंकणमभयाग्निहियावलीकतकफलम्।
क्रमशोत्तरञ्च विचूर्णितया बृहतीरससंयुतभावनया॥१४९॥
आर्द्रकहिंगुपुनर्नवपूतिच्छिन्नरसैः क्रमशस्तु भावनया।
तत्र कलांशविशञ्च विमिश्रं तद्रसमानं मानवधिया॥१५०॥
सर्वमजीर्णं कफमारुतपाण्डुशोफहलीमककामलाशूलम्।
नाशयते ह्युदराग्निकरोऽयं दीपनजीवननामरसेन्द्रः॥१५१॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग, सैन्धव नमक ३ भाग, पिप्पलीचूर्ण चार भाग, भुना सुहागा पाँच भाग, हरीतकी ६ भाग, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण ७ भाग, हियावलीचूर्ण आठ भाग, निर्मलीबीजचूर्ण नौ भाग; इन नौ औषधियों को इस वृद्धि-क्रम से लेकर एकत्र खरल में डाल कर पीस लें। अब इसको क्रमशः कण्टकारीस्वरस अदरखस्वरस, हिंगुजल, पुनर्नवास्वरस, करञ्जस्वरस तथा गुडूचीस्वरस से एक २ भावना दें। अन्त में इस कण्टकारी आदि द्रव्यों के स्वरस से भावित चूर्ण में सोलहवाँ भाग शुद्ध वत्सनाभचूर्ण मिला खरल करके रख लें। इस रस की मात्रा वैद्य अपनी बुद्धि के अनुसार निश्चित करके प्रयोग कर सकता है। यह जीवननामा रस सब प्रकार के अजीर्ण कफ तथा वातप्रकोपजन्य रोग, पाण्डुरोग, हलीमक, कामला, शूल, मन्दाग्नि रोगों को नष्ट करता है। तथा जठराग्नि के लिये अत्यन्त दीपक है।

विशेष वचन—"कलांशविशञ्च" के स्थान पर "कलांशविषं च" ऐसा पाठ उचित प्रतीत होता है। जो "विशञ्च" ऐसा पाठ मानते हैं वे "विश" शब्द से रौप्यभस्म (चाँदी की भस्म) लेते हैं। रौप्यभस्म लेने पर भी कोई हानि नहीं है। क्योंकि रजतभस्म भी अम्लवर्ग में ली गई है और अजीर्ण तथा वात रोगों के लिये उत्तम मानी जाती है। "तद्रसमानं मानवधिया" के स्थान पर" "तद्रसमाषसमानवटी या" पाठ होने पर, इस रस की एक माष (माशा) परिमाण वटी बनानी चाहिये। और "या" जो वटी अजीर्ण आदि रोगोंको नष्ट करती है। ऐसा अर्थ किया जाता है। "हियावली" के स्थान "हिमावली" पाठ योग्य प्रतीत होता है क्योंकि इस नाम की औषधि राजनिघण्टु में पाई जाती है। परन्तु हियावली का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता है। कठिनाई यह है कि हिमावली क्या है इसका कोई ठीक निश्चय नहीं है। कोई इस नाम से यवतालीय शर्करा लेते हैं॥१४९–१५१॥

वडवानलरसः—

शुल्वं तालकगन्धकौ जलनिधेः फेनोऽग्निगर्भाशयः
कान्तायो लवणानि हेमपवयो नीलांजनं तुत्थकम्।
भागो द्वादशको रसस्य तु दिनं वल्ल्यंबुघृष्टं शनैः
सिद्धोऽयं वडवानलो गजपुटे रोगानशेषाञ्जयेत्॥

ताम्रभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गन्धक, समुद्रफेन, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण, अथवा शमीत्वक्चूर्ण, कान्तलोहभस्म, सैन्धवलवण, सुवर्णभस्म, कृष्णाभ्रकभस्म, शुद्ध नीलाञ्जन, शुद्ध तूतिया ये ग्यारह औषधि एक एक भाग लें। बारहवाँ भाग अर्थात् एक भाग शुद्ध पारद लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर उसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर एक दिन पर्यन्त थूहर के दूध में घोटें। पश्चात् इसको एक दृढ़ शरावसम्पुट में बन्द कर अच्छी तरह तीन चार कपड़मिट्टी करके सुखा लें और गजपुट में फूंक दें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इस प्रकार तय्यार हुआ यह वड़वानल रस रोगोचित अनुपान के साथ प्रयोग करने पर सम्पूर्ण रोगों को दूर करता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में यह रस वातरोगाधिकार में लिखा है किन्तु वात रोगों के लिये निर्माण करते हुये इसमें 'पवि' शब्द से हीरकभस्म लेना उचित है। अग्निगर्भा से यद्यपि शमी का बोध होता है, जैसे "शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।" परन्तु शमी का प्रयोग अग्निदीप्ति के लिये क्वचित् ही देखा जाता है। इसी तरह यदि इस रस में शुद्ध तूतिया के स्थान पर तुत्थभस्म डाल कर गजपुट की अपेक्षा लघुपुट दी जाय तो कोई हानि नहीं होगी। तन्त्रान्तर में इस रस का निम्न पाठ अधिक देखा जाता है—

"आर्द्रकस्य द्रवेणामुं दशवाराणि भावयेत् । दिनद्वयं चित्रकस्य द्राविणैव तु भावयेत् ॥ पादांशममृतं दत्वा चित्रद्रावैः क्षणं पचेत् । मात्रया योजयेच्चारु दशमूलशृतं पयः ॥ वातश्लेष्मप्रधाने च दद्यात् त्र्यूषणचित्रकम् । स्वेदश्च कटुतुम्बिन्याः प्रयुञ्जीतातियत्नतः ॥ दाहश्च जङ्घयोः कुर्यात् शीतवातञ्च वर्जयेत् ॥" आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥ १५२ ॥

अग्निजननी वटी—

कणनागरगन्धकपारदकं गरलं मरिचं समभागयुतम् ।
लकुचस्य रसैश्चणकप्रमिता गुटिका जनयत्यचिरादनलम् ॥

पिप्पली, सोंठ, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद, शुद्ध विष तथा कालीमिर्चचूर्ण, प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके उसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला बड़हल के स्वरस से मर्दन कर चने के समान वटिका बना लें। यह वटिका शीघ्र ही अग्नि को दीप्त करती है।

विशेष वचन—भैषज्यरत्नावली में यही वटी लिखी है किन्तु उसमें कण के स्थान पर टंकण लिया गया है, अतः वहाँ इसको टंकणादि वटी के नाम से लिखा है। साथ ही वहाँ गोलियों का प्रमाण कालीमिर्च के समान लिखा है ॥ १५३ ॥

सर्वरोगान्तिका वटी—

शुद्धसूतं विषं गन्धमजमोदं फलत्रयम् ।
सर्जिक्षारं यवक्षारं वह्निसैन्धवजीरकम् । ॥१५४॥
सौवर्चलं विडङ्गानि सामुद्रं त्र्यूषणं समम् ।
विषमुष्टिः सर्वतुल्या जम्बीराम्लेन मर्दितम् ॥१५५॥
मरिचाभां वटीं खादेद्वह्निमान्द्यप्रशान्तये ।
पथ्या शुण्ठी गुडं चानु पलार्द्धं भक्षयेत्सदा ॥
अग्निमान्द्ये वटी ख्याता सर्वरोगकुलान्तका ॥१५६॥

शुद्ध पारद, शुद्ध विष, शुद्ध गन्धक, अजवाइनचूर्ण, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, सर्जक्षार, यवक्षार, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण, सैन्धानमक, जीरे का चूर्ण, सौंचलनमक, वायविडंग का चूर्ण, समुद्रनमक, सौंठचूर्ण, मरिचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण; प्रत्येक द्रव्य समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिलायें और सब के बराबर शुद्ध कुचले का चूर्ण भी इसमें मिला दें। पश्चात् इसको जम्बीरी नींबू के रस से अच्छी तरह मर्दन करके कालीमिरच के समान गोली बना लें। इसके सेवन करने से अग्निमान्द्य रोग शान्त हो जाता है। इस वटी के सेवन करने के बाद अनुपान रूप में हरीतकीचूर्ण, सौंठचूर्ण तथा गुड़ समभाग में सब मिला कर आधा पल परिमाण सेवन करना चाहिये। सर्वरोगसमुदाय को नष्ट करने वाली यह वटी अग्निमान्द्य में विशेष रूप से प्रयुक्त होती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह आदि ग्रन्थों में यह वटी "अग्नितुण्डीरस" नाम से लिखी है। भैषज्यरत्नावली और रसराजसुन्दर में 'त्र्यूषणं' के स्थान पर 'टङ्कणम्' पाठ है। परन्तु अन्यत्र 'त्रिकटु' ही लिखा है। रसप्रकाशसुधाकर में पाये जाने वाले इसके योग में वायविडंग नहीं है। यह वटी कुचले के योग से वातनाड़ियों को बल देती है। वातप्रकोपजन्य अतीसार, अध्यशनजन्य अतीसार, जिसमें रोगी को तृषा अधिक तथा मल पतला लाल-सा वर्ण का होता है अत्यन्त हितकर है। इसके अतिरिक्त वातिक रोगों में जैसे कटि, पृष्ठ तथा आन्त्रशूल और पीड़ा में भी यह लाभ करती है। जिनको पुरातन मलबन्ध हो या अर्शोरोग हो, जिससे शौच जाने पर भी शौच की इच्छा बनी रहती है, यह लाभ करती है। क्योंकि इससे आंतों की अनुलोमक गति बढ़ जाती है जिससे मलबन्ध नहीं होने पाता है। कफप्रकोप के साथ यदि वातिक वेदना हो तो वे भी इसके प्रयोग से शान्त हो जाते हैं। परन्तु इस वटी को भोजन के बाद देना चाहिये। विष युक्त औषधियों को खाली पेट देने पर विषात्मक प्रभाव होने की आशंका रहती है। इसी तरह विष युक्त औषधियों को कुछ दिन लगातार भी सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस तरह औषधिगत विष धीरे धीरे सञ्चय होकर कालान्तर में विषात्मक लक्षणों को प्रकट करता हुआ घातक हो जाता है। अतः विष युक्त औषधियों को एक सप्ताह सेवन कर दो चार दिन के लिये बन्द कर देना चाहिये।

वैद्यचिन्तामणि में इस वटी को 'कालाग्निरुद्र' नाम से लिखा है। वासवराजीय में इसको ग्रहणीविसूचिका, परिणामशूल तथा आमवात रोग में प्रयुक्त करने को लिखा है ॥ १५४—१५६ ॥

अग्निकरम्—

मृतं ताम्रं कणातुल्यं चूर्णं क्षौद्रविमिश्रितम् ।
निष्कार्द्धं भक्षयेन्नित्यं नष्टवह्निप्रदीप्तये ॥ १५७ ॥
आर्द्रकस्वरसः क्षौद्रं पलमात्रं पिबेदनु ।
यथेष्टं घृतमांसाशी शक्तो भवति पावकः ॥ १५८ ॥

अमृतीकरणयुक्त ताम्रभस्म तथा पिप्पलीचूर्ण को मधु में मिला कर अर्धनिष्क प्रमाण मात्रा में सेवन करने से नष्ट हुई पाचकाग्नि पुनः प्रदीप्त हो जाती है। इस योग को मधु से चटाने के बाद एक पल अर्थात् चार तोला अदरख का स्वरस पीना चाहिये। इस विधि से कुछ काल इस योग का सेवन करने पर नष्ट हुई अग्नि पर्याप्त घृत तथा मांस को हज़म करने में समर्थ हो जाती है।

विशेष वचन—यद्यपि यहाँ पर ताम्र तथा पिप्पली को मिला कर अर्धनिष्क मात्रा लिखी है परन्तु यह अत्यधिक है। अतः आधुनिक मात्रा की कल्पना के लिये ताम्रभस्म ⅛ रत्ती, पिप्पलीचूर्ण २ रत्ती मिला कर मधु में मिला प्रयोग करना चाहिये ॥१५७ १५८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये उदावर्त्तातिसारग्रहणीविसूचीवह्निमान्द्यचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः।

अथ मूत्रकृच्छ्राश्मर्यादिचिकित्सनम्।

अश्मरीनिदानम्—

कटौ कुक्षिप्रदेशे च शूलं प्रथमतो भवेत्।
पश्चाद्रोधो ज्वलन्मूत्रमश्मरीरोगलक्षणम्॥ १

सर्वप्रथम कटिप्रदेश तथा कुक्षि (उदर) प्रदेश में शूल आरम्भ होकर बढ़ता जाय फिर धीरे-धीरे मूत्र रुकने लगता है और मूत्र करने में जलन होने लगती है। इन लक्षणों से युक्त रोग को अश्मरीरोग समझना चाहिये।

विशेष वचन—अश्मरी दो प्रकार की होती है। १ वृक्काश्मरी, २ पित्ताशयाश्मरी। इनमें उक्त लक्षण वृक्काश्मरी का समझना चाहिये। वृक्कों की स्थिति कटि प्रदेश में पृष्ठवंश के पास होती है। उनमें गवीनियाँ (वृक्कप्रणालियाँ) निकल कर आगे की तरह मूत्राशय को जाती हैं। जब गवीनियों में कहीं पर पथरी पैदा हो जाती है तो पहिले शूल वृक्कप्रदेश (कटि) में उत्पन्न होता है फिर गवीनी के रुख आगे पेट की तरफ आकर नीचे मूत्राशय की तरफ जाता है। क्योंकि गवीनी में पथरी के अटक जाने से मूत्र नहीं निकल सकता है तथा मूत्र में जलन होती है अर्थात् कई बार मूत्र में रक्त का मिश्रण पाया जाता है। मूत्राशय में उत्पन्न होने वाली पथरी में कटि तथा कुक्षिप्रदेश में शूल नहीं होता है। किन्तु मूत्राशय में ही शूल अधिक होता है और मूत्र रुक जाता है। इसका विस्तृत वर्णन निदानग्रन्थों में देखना चाहिये॥ १॥

पाषाणभेदीरसः—

रसं द्विगुणगन्धेन मर्दयित्वा प्रयत्नतः।
वसुः पुनर्नवा वासा श्वेता ग्राह्या प्रयत्नतः॥ २॥
तद्द्रवैर्भावयेदेनं प्रत्येकं तु दिनत्रयम्।
पक्वं मूषागतं शुष्कं स्वेदयेज्जलयन्त्रतः॥ ३॥
पाषाणभेदी नामायं नियुञ्जीतास्य वल्लयुक्।
गोपालकर्कटीदुग्धं भूम्यामलकमूलिका॥
कुलत्थक्वाथतोयेन पिष्ट्वा तदनुपाययेत्॥ ४॥

शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर दोनों को एकत्र अच्छी तरह मर्दन कर कज्जली कर लें। फिर इस कज्जली को श्वेत अर्क, पुनर्नवा, वासा तथा अपराजिता के स्वरस अथवा कषाय में पृथक् २ तीन तीन भावना दें। फिर इसको एक मूषा में बन्द करके भूधरपुट में पका कर सुखा लें। अब इस पक्व तथा शुष्क द्रव्य गोलक को भूर्जपत्र में अच्छी तरह लपेट जलयन्त्र द्वारा थोड़ी देर स्वेद देवें। इस प्रकार 'पाषाणभेदी' रस सिद्ध होता है। इसकी दो वल्ल (२ रत्ती) मात्रा प्रयोग करनी चाहिये। इस रस को सेवन कर पश्चात् अनुपान के रूप में गोपालकर्कटी (इन्द्रायण अथवा ग्वालककड़ी) का दूध और भुँईआँवलाँमूल को कुलत्थकषाय में पीस कर पिलाना चाहिये।

विशेष वचन—इस रस के निर्माण में औषधि को मूषा में रख कर पकाने के बाद जलयन्त्र द्वारा स्वेदन करने से विशेष महत्व नहीं निकलता है। अतः मर्दन करके गोला सा बना सुखा कर पहिले जलयन्त्र से स्वेदन करके पश्चात् मूषा में रख भूधरपुट द्वारा इसको पका कर शुष्क कर लेने से सुविधा रहेगी। भैषज्यरत्नावली में इस रस का पाठ कुछ भिन्न है। उसमें पारद गन्धज के अतिरिक्त एक पल शुद्ध शिलाजतु भी लिखी है। और मर्दनार्थ पुनर्नवा आदि द्रव्य प्रकृत रसवत् ही हैं। परन्तु उसमें जलयन्त्र द्वारा स्वेदन नहीं लिखा है किन्तु उसमें उक्त औषधियों के गोलक को एक पात्र में रख उस पात्र को एक दूसरे पात्र में दोलाविधान से लटका कर शुष्क स्वेदन देने को लिखा है। जिससे शिलाजतुगत द्रवत्व शुष्क हो जाय। 'गोपालकर्कटीदुग्धम्' के स्थान पर 'गोपालकर्कटीबीजम्' पाठ होने पर ककड़ी के बीज लेने पर कोई हानि नहीं हो सकती है। क्योंकि ककड़ी के बीज मूत्रल होते हैं। परन्तु गोपालकर्कटी का अर्थ इन्द्रायण करना उचित नहीं प्रतीत होता है। यह विरेचक तथा क्षोभक विरेचक द्रव्य है। भैषज्यरत्नावली में इसका अनुपान इस प्रकार लिखा है, यथा "भूधात्रीफलविशालां पिष्ट्वा दुग्धेन पातयेत्। कुलत्थक्वाथसम्पीतमनुपानं सुखावहम्"। वसु से वसुक या बक फूल लेना अधिक योग्य होगा॥ २–४॥

गोक्षुरप्रयोगः—

गोक्षुरस्य कषायश्च सघृतं पाययेन्निशि॥ ५॥

मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी रोग में रात्रि के समय प्रतिदिन गोक्षुरकषाय के साथ घृत मिला कर पीने से अश्मरी की पीड़ा नहीं होने पाती है। इसको अनुपान के रूप में भी दे सकते हैं।

पाण्डुरादियोगः—

पाण्डुरफलमूलञ्च भूम्यामलकमूलिका।
वंशस्य पेटकार्य्याश्च मूलं पिष्ट्वा जलं पिबेत्॥ ६॥

धववृक्ष की मूलत्वक्, भुँईआँवले की जड़, बाँस की जड़ तथा पेटकारी (मालकंगुनी) की जड़ को एकत्र जल से पीस छान कर अश्मरी अथवा मूत्रकृच्छ्ररोगहर रसों के अनुपान के काम में लाना चाहिये॥ ६॥

शुक्लपिण्याकादियोगः—

शुक्लपिण्याकपिच्छिलीचूर्णमुष्णेन वारिणा।
पिबन् विमुच्यते रोगान्मूत्रकृच्छ्रात् सुदारुणात्॥७॥

सफेद तिलों की खल तथा अलसी के चूर्ण को समभाग में लेकर उचित मात्रा में गरम जल से कुछ दिन सेवन करने पर भयंकर मूत्रकृच्छ्र रोग से छुटकारा मिलता है॥ ७॥

मूत्रकृच्छ्रान्तकरसः—

शतावरीरसे पिष्ट्वा तुत्थसूतार्कपिष्टिका ।
पाचिता कटुतैलेन मूत्रकृच्छ्रे प्रशस्यते ॥ ८ ॥

शुद्ध तुत्थ (तूतिया), शुद्ध पारद तथा ताम्रभस्म तीनों को समभाग में लेकर शतावरी से स्वरस में एक दिन अच्छी तरह मर्दन करें । पश्चात् इसका एक गोला सा बना कर उसे एक प्रहर तक कड़वे तेल में पकावें । पकने पर उतार प्रयोग करने से मूत्रकृच्छ्र में लाभ करता है ।

विशेष वचन—यह हमने पहिले भी बताया था कि उपदंश के अतिरिक्त गन्धक रहित पारद का प्रयोग क्वचित् ही किया जाता है । अतः यहाँ पर पारद के स्थान पर रससिन्दूर लेना चाहिये । अथवा पारद के बराबर शुद्ध गन्धक भी लेना चाहिये । रसेन्द्रसारसंग्रह में भी यह रस है उसमें 'मृतसूत' लिया गया है और इस रस की निर्माणविधि स्पष्टरूप से लिखी है, यथा "शतावरीरसैः पिष्ट्वा मृतसूतञ्च ताम्रकम् । शिखितुत्थञ्च तुल्यांशं दिनकं मर्दयेद् दृढम् । तद्गोलं सार्षपे तैले पाच्यं यामञ्च चूर्णयेत् । मूत्रकृच्छ्रान्तकश्चास्य क्षौद्रैर्गुंञ्जाचतुष्टयम् ॥ भक्षणान्नात्र सन्देहो मूत्रकृच्छ्रं निहन्त्यलम् । तुलसीतिलपिण्याकबिल्वमूलं तुषाम्बुना ॥ कर्षैकं वाऽनुपानेन सुरया वासुवर्चलैः ॥" इस रस को सरसों के तेल में शतावरीस्वरस शुष्क होने तक पकाना चाहिये । शुष्क होने पर तैल से निकाल चूर्ण कर लेवें । इस रस की आधुनिक मात्रा ½ रत्ती होनी चाहिये । रसेन्द्रचिन्तामणि में ताम्र के स्थान पर शुद्ध हरताल लिखी है । यह रस उष्णवात, मूत्रमेह, तथा मूत्रनलीक्षतजन्य मूत्रकृच्छ्र में विशेष लाभ करता है । परन्तु कटुतैल में पकाया हुआ नहीं होना चाहिये ॥ ८ ॥

द्वितीयपाषाणभेदी रसः—

रसेन सितवर्षाभ्वा रसं द्विगुणगन्धकम् ।
घृष्टं पचेच्च मूषायां द्वौ माषौ तस्य भक्षयेत् ॥९॥
पातालकर्कटीमूलं कुलत्थोदैः पिबेदनु ।
गोकंटकसदाभद्रामूलक्वाथं पिबेन्निशि ॥
अयं पाषाणभिन्नाम्ना रसः पाषाणभेदकः ॥१०॥

शुद्ध पारद १ भाग या तोला, शुद्ध गन्धक दो भाग या तोला लेकर दोनों की कज्जली कर लें । फिर इसको श्वेतपुनर्नवा के स्वरस में दिन भर अच्छी तरह घोट कर मूषा में बन्द करके कपड़-मिट्टी कर सुखा कर भूधरपुट में पका लें । स्वांगशीतल होने पर मूषा में से औषधि को निकाल पीस कर रख लें । इसमें से दो मासा मात्रा में लेकर सेवन करें । इसके बाद इन्द्रायण की जड़ के चूर्ण को कुलत्थकषाय में डाल कर पीना चाहिये और रात्रि को सोते समय गोखुरु तथा गम्भारी की जड़ का कषाय पीना चाहिये । यह 'पाषाणभेदी' रस कहा जाता है ।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में इसको पाषाणवज्रक नाम से लिखा है । और पकाने के बाद इसमें गुड़ मिला कर खाने का आदेश है । जैसे—"शुद्धसूतं द्विभागन्धं रसैः श्वेतपुनर्नवैः । मर्दयित्वा दिनं खल्ले रुद्ध्वा तद्भूधरे पचेत् ॥ दिनान्ते तत् समुद्धृत्य मर्दयेद्गुड़संयुतम् । अश्मरीं वस्तिशूलञ्च हन्ति पाषाणवज्रकः ॥ गोरक्षकर्कटीमूलक्वाथं कौलत्थकं तथा । अनुपानं प्रयोक्तव्यं बुद्ध्वा दोषबलादिकम् ॥" योगरत्नाकर में शुद्ध गन्धक तीन भाग लिखा है । मात्रा १ रत्ती ॥ ९–१० ॥

गोक्षुरादिचूर्णम्—

गोक्षुरबीजसमुत्थं चूर्णमविक्षीरसंयुक्तम् ।
रसवरमिश्रं पिबतश्चूर्णीभूत्वाऽश्मरी पतति ॥११॥

गोखुरू के बीजों के चूर्ण को रसवर (रससिन्दूर अथवा मधु) के साथ मिला कर भेड़ के दूध से पीने से अश्मरी चूर्ण होकर निकल जाती है ।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर दर्शन से रसवर का अर्थ मधु करना ही उचित प्रतीत होता है । रसरत्नाकर ने इसी योग को लिखा है, जैसे—"त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुक्तम् । अविक्षीरेण सप्ताहं पिबेदश्मरिनाशनम् ॥" भैषज्यरत्नावली में 'अविक्षीर' के स्थान पर 'अजाक्षीर' लिखा है । अजाक्षीर अपेक्षाकृत शीत होता है ॥ १२ ॥

त्रिविक्रमरसः—

मृतताम्रमजाक्षीरैः पाच्यं तुल्यं गते द्रवे ।
तत्ताम्रं शुद्धसूतं च गन्धकं च समं समम् ॥१२॥
निर्गुण्ड्युत्थद्रवैर्मर्द्यं दिनं तद्गोलमन्धयेत् ।
यामैकं वालुकायन्त्रे पाच्यं योज्यं द्विगुञ्जकम् ॥१३॥
बीजपूरस्य मूलं तु सजलं चानुपाययेत् ।
रसस्त्रिविक्रमो नाम्ना मासैकेनाश्मरीप्रणुत् ॥१४॥

पहिले एक पात्र में ताम्रभस्म के समभाग बकरी का दूध डाल कर दोनों को एकत्र पकावें । द्रव्यभाग के सूख जाने पर उसे खरल में डाल कर उसमें ताम्र के समान भाग शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक की कज्जली बना कर मिला दें । अब इसमें निर्गुण्डी का रस डाल कर दिन भर मर्दन करें और गोला-सा बना लें । इस गोले को मूषा में बन्द करके वालुकायन्त्र में एक पहर तक पकावें । स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रखें । इसमें से २ रत्ती मात्रा में सेवन करायें । अनुपान में बिजौरा की जड़ के चूर्ण को जल से पिलावें । यह 'त्रिविक्रमरस' एक मास तक सेवन करने से अश्मरी को नष्ट कर देता है ।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा आधा रत्ती ॥ १२–१४ ॥

आनन्दभैरवी वटी—

तिलापामार्गकाण्डं च कारवेल्ल्या यवस्य च ।

पलाशकाष्ठसंयुक्तं सर्वं तुल्यं दहेत्पुटे ॥१५॥
तन्निष्कैकमजामूत्रैर्वटीं चानन्दभैरवीम् ।
पाययेदश्मरीं हन्ति सप्ताहान्नात्र संशयः ॥१६॥

तिल के डण्ठल, अपामार्ग के डण्ठल, करेले की बेल, यवनाल तथा पलास (ढाक) की लकड़ी या पञ्चांग: सब को सूखी हुई अवस्था में समान भाग लें। ढाक की लकड़ियों के सहित सब को एकत्र कूट कर एक हाँडी में बन्द करके फूँक लें। स्वांगशीतल होने पर निकाल औषधि को पीस कर रख लें। फिर इसे बकरी के मूत्र से एक दिन मर्दन कर एक एक निष्क की वटी बना लें। यह 'आनन्दभैरवी वटी' कही जाती है। इसको बकरी के मूत्र के साथ सात दिन तक सेवन करने से अश्मरी नष्ट हो जाती है। इसमें संशय नहीं है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती। कई टीकाकार तिल, अपामार्ग आदि द्रव्यों को जला कर उनकी राख को क्षारनिर्माण विधि से क्षार बना कर फिर उसे बकरी के मूत्र से मर्दन कर गोली बना कर सेवन करने को कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

अश्मरीहरयोगः—

पाण्डूरं फलिकामूलं जलेनैवाऽश्मरीहरम् ॥ १७ ॥

धौवृक्ष की त्वचा का चूर्ण तथा पारस पीपल वृक्ष की मूल-त्वक् का चूर्ण समभाग में लेकर उचित मात्रा में जल से कुछ दिन तक सेवन करने पर अश्मरी नष्ट हो जाती है ॥ १७ ॥

यवक्षारप्रयोगः—

मधुना च यवक्षारं लीढं स्यादश्मरीहरम् ॥ १८ ॥

यवक्षार को प्रतिदिन मधु के साथ सेवन करने से अश्मरी नष्ट हो जाती है।

विशेष वचन—क्षार अश्मरी की प्रथमावस्था में लाभदायक होते हैं। अश्मरी का संदेह होते ही प्रतिदिन कोई क्षार सेवन करने से अश्मरी नहीं बनने पाती है। क्षारों के सेवन से मूत्र भी साफ आता है और किसी स्थान की शोथ भी स्वच्छ हो जाती हैं। अतः क्षार अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात में उत्तम माने जाते हैं। मात्रा क्षार की १ मासा समझनी चाहिये ॥ १८ ॥

लघुलोकेश्वरो रसः—

मृतसूतस्य भागैकं चत्वारः शुद्धगन्धकात् ।
पिष्ट्वा वराटकं तेन रसपादं च टंकणम् ॥ १९ ॥
क्षीरैः पिष्ट्वा मुखं रुद्ध्वा वराटांश्चान्धयेत्पुटेत् ।
स्वांगशीतं विचूर्ण्याथ लघुलोकेश्वरो रसः ॥ २० ॥
चतुर्गुञ्जारसश्चायं मरिचैकोनविंशतिः ।
जातिमूलपलैकं तु अजाक्षीरेण पेषयेत् ॥
शर्कराभावितं चानु पीत्वा कृच्छ्रहरं परम् ॥ २१ ॥

पारदभस्म या रससिन्दूर एक भाग या तोला शुद्ध गन्धक ४ भाग लेकर इन दोनों की कज्जली बना लें। अब इसको कौड़ियों में भर दें। फिर सुहागा ¼ भाग अर्थात् ३ मासे को दूध से पीस कर इस कल्क से कौड़ियों के मुख को बन्द कर के सुखा लें। फिर सब कौड़ियों को एक हाँडी में डाल उसका मुँह बन्द कर कपड़मिट्टी करके गजपुट में फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर औषधियों को निकाल कौड़ियों समेत चूर्ण कर लें। यह 'लघुलोकेश्वररस' चार रत्ती में और १९ कालीमिर्चों का चूर्ण एकत्र मिला कर मधु से सेवन करना चाहिये। इसके बाद चमेली की जड़ एक पल को बकरी के दूध के साथ एकत्र पीस कर अनुपान के रूप में पिलाना चाहिये, अथवा बकरी के दूध में शर्करा डाल कर पिलाना चाहिये। इस प्रकार इस रस को सेवन करने से मूत्रकृच्छ्ररोग नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में 'पेषयेत्' के स्थान पर 'पाचयेत्' पाठ है। अर्थात् चमेली की जड़ को १ पल प्रमाण में (आजकल १ तोला) लेकर बकरी के दूध से पकाना चाहिये। पश्चात् उस दूध में खाँड मिला कर अनुपान करें ॥ १९-२१ ॥

विदार्यादिकषायः—

विदारीं गोक्षुरं यष्टिं कसेरुं च समं पचेत् ।
तं कषायं पिबेत्क्षौद्रं रसभस्मयुतं तथा ।
मूत्रकृच्छ्रहरं ख्यातं सप्ताहात्पित्तसंभवम् ॥ २२ ॥

विदारीकन्द, गोक्षुरबीज, मुलेठी, कसेरु; इन सबको समान-भाग में लेकर एकत्र यवकुट करके इससे चतुर्गुण या अष्टगुण जल डाल कर इनका कषाय बना लें। ठंडा होने पर इस कषाय में मधु और रससिन्दूर (१ रत्ती) मिला कर सेवन करने से एक सप्ताह में पित्त से उत्पन्न मूत्रकृच्छ्र शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—रससिन्दूर ½ रत्ती को मधु के साथ चटा कर पश्चात् उक्त कषाय (शीतकषाय) पिलाया जाता है ॥ २२ ॥

क्षारप्रयोगः—

तिलापामार्गकदलीपलाशयवकाण्डकान् ।
दग्ध्वा तद्भस्म तोयेन वस्त्रपूतं च कारयेत् ॥ २३ ॥
तं पचेत्तोयशोषान्तं ततश्चूर्णं द्विगुञ्जकम् ।
दापयेदविमूत्रेण शर्कराकृच्छ्रहृद्भवेत् ॥ २४ ॥

तिल के डंठल या शाखा, अपामार्गडंठल, कदलीकाण्ड, ढाक की लकड़ी; सबको समान भाग (सूखी हुई) में लेकर एक स्वच्छ स्थान पर जला कर राख कर लें। इस राख को आठ गुने जल में घोल कर इक्कीस वार जल को कपड़े से छान लें। पश्चात् एक स्वच्छ पात्र में डाल कर अग्नि पर पकायें। जब जलीयांश सूख जाय, उतार कर, क्षार को एकत्र कर लें। इसमें से २ रत्ती

मात्रा में भेड़ के मूत्रानुपान से प्रतिदिन देवें। इससे शर्करा तथा मूत्रकृच्छ्र रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—क्षार बनाने के लिये भस्म में आठ गुना जल मिला अच्छी तरह घोल कर २४ घंटे एकान्त में रख दिया जाता है। बाद को ऊपर का नितरा हुआ स्वच्छ जल लिया जाता है। स्वच्छ कड़ाही में पका कर क्षार बना लिया जाता है। जल्दी में क्षार बनाना हो तो भस्म में जल (षड्गुण या अष्टगुण) डाल कर २१ बार कपड़े में छान कर कड़ाही में पका कर क्षार तय्यार किया जाता है॥ २३—२४॥

हरिद्राप्रयोगः—

हरिद्रागुडकर्षैकं चारनालेन वा पिबेत्॥ २५॥

हरिद्राचूर्ण आधा कर्ष, पुराना गुड़ आधा कर्ष लेवें। हरिद्राचूर्ण को गुड़ में मिला गोली सी बना कर काञ्जी के साथ प्रतिदिन पीने से भी शर्करा, मूत्रकृच्छ्र नष्ट हो जाते हैं॥ २५॥

शैवयोगः—

वंध्याकर्कोटकीकन्दं भक्ष्यं क्षौद्रसितायुतम्।
अश्मरीं हन्ति नो चित्रं कर्षमात्रं शिवोदितम्॥ २६॥

बाँझ ककोड़े के कन्द को सुखा कर चूर्ण कर लें। इसमें से एक कर्ष मात्रा से लेकर मधु तथा मिश्री के साथ प्रतिदिन सेवन करने से अवश्य अश्मरी नष्ट हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं है। यह योग शिव का कहा हुआ है।

विशेष वचन—एक कर्ष मात्रा अधिक है। अतः आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से १ मासा लेनी चाहिये॥ २६॥

प्रमेहनिदानम्—

शोषस्तापोऽङ्गकार्श्यं च बहुमूत्रत्वमेव च।
अस्वास्थ्यं सर्वगात्रेषु मूत्रमेहस्य लक्षणम्॥ २७॥

शोष (मुखशोष), हाथ पैरों के तलवों में ताप (जलन), अंगों का कृश होना, अधिक मूत्र आना, सर्व शरीर में अस्वास्थ्य अर्थात् दुर्बलता होना प्रमेह का लक्षण है।

विशेष वचन—उक्त लक्षण अधिकतर मधुमेह में पाये जाते हैं। साधारण प्रमेह में अधिक तथा गदले मूत्र का आना यह विशेष लक्षण लिखा है—"सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता।" मधुमेह में मूत्राधिक्य के साथ मूत्रशर्करा भी आने लगती है॥२७॥

वंगेश्वररसः—

रसस्य भस्मना तुल्यं वंगभस्म समाहरेत्।
मधुना लेहयेत्प्राज्ञो वातमेहप्रशान्तये॥ २८॥
मुद्गामलकयूषेण पथ्यं देयं सतक्रकम्।
तिलपिण्डीं च तक्रेण पक्त्वा दद्यान्न हिंगुकम्॥
घृतं बहु न दद्याच्च तिलतैलेन भोजयेत्॥ २९॥

रससिन्दूर और वंगभस्म को मिला कर मधु के साथ प्रतिदिन सेवन करने से वातप्रकोप युक्त प्रमेह शान्त हो जाता है। इसमें पथ्य मूँग तथा आँवले के यूष में तक्र मिला कर देना चाहिये। तिलों की पिंडी [तिल की खली लेना उत्तम है] को तक्र में पकाकर अत्यल्प मात्रा में हींग मिला कर देना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में घृत तथा हिंगु अधिक न देकर तिलतैल में संस्कृत भोजन देना चाहिये।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में इस रस की मात्रा दो उड़द के बराबर लिखी है। और इसको सब प्रमेहों में प्रयोग करने को लिखा है। यह रस विशेषतः चिरकालीन शुक्रमेह तथा पिष्टप्रमेह में लाभ करता है। शुक्रमेह में इसका अनुपान घुंघचीमूलचूर्ण को दूध में डाल कर पीना बताया गया है। तन्त्रान्तरों में इसको कहीं 'मेहारिरस', 'महानलरस' नाम से भी लिखा है॥ २८—२९॥

गुड़मार्कण्डी—

मार्कण्डीचूर्णमादाय सगुडं खादयेन्निशि॥ ३०॥

मार्कण्डी (बाँझ ककोड़ा) चूर्ण को उचित मात्रा में गुड़ में मिला कर प्रतिदिन रात्रि को सेवन से प्रमेह शान्त हो जाता है॥

ताम्रयोगः—

ताम्रेण तुर्यभागेन कुर्वीत रसपिष्टिकाम्।
गोक्षुरस्य द्रवे चैव निक्षिपेत्सप्तकद्वयम्॥ ३१॥
निम्बुमध्ये विनिक्षिप्य स्वेदयेत्कांजिकेऽहनि।
निम्बन्तरे विनिक्षिप्य वक्त्रे संधारयेन्निशि॥ ३१॥

शुद्ध ताम्र एक भाग, शुद्ध पारद ४ भाग लेकर पहिले इनको एकत्र कर पिष्टी बना लें। फिर इस पिष्टी को १४ दिन तक गोखुरु के स्वरस या कषाय में भिगो देवें। अथवा ताम्र पिष्टी को गरम करके गोखुरूकषाय में १४ बार बुझा दें। पश्चात् इसको एक नींबू के बीच में रख कर काञ्जी में एक दिन तक दोलायन्त्र में पका कर स्वेदन करें। पश्चात् निकाल पीस कर एक शीशी में रख छोड़ें। रात्रि के समय प्रतिदिन १ रत्ती की मात्रा में नींबू के भीतर रख कर मुख में रख लें और धीरे धीरे रस चूसते रहें। इससे भी प्रमेह नष्ट होता है।

विशेष वचन—वंग की भाँति ताम्र को पिघला कर उसमें पारद मिला कर मर्दन करने से ताम्र पारद पिष्टी बनती है। परन्तु ताम्र का पिघलना कठिन है। पश्चात् इसको १४ दिन तक गोखरूकषाय में रख कर स्वेदन करना चाहिये। पिष्टीका बनाने में असुविधा होने पर ताम्रभस्म तथा रससिन्दूर को गोखरुकषाय के साथ प्रयोग किया जा सकता है। ताम्र से ताम्र के पतले पत्र लेना ठीक होगा, नहीं तो भस्म और रससिन्दूर ही वरतें॥ ३१—३२॥

रक्तमेहे वंगप्रयोगः—

रक्तमेहेऽपि भस्मैव वंगस्य मधुना चरेत्॥ ३३॥

रक्तप्रमेह में भी वंग की भस्म (१ रत्ती) को मधु के साथ प्रतिदिन सेवन करना चाहिये ॥ ३३ ॥

शुक्रप्रमेहे वंगयोगः—

शुक्रमेहप्रशान्त्यर्थं हरिद्राचूर्णसंयुतम् ॥ ३४ ॥

शुक्रप्रमेह में १ रत्ती वंगभस्म को हरिद्राचूर्ण ३ माशे के साथ मधु मिला कर सेवन करने से शुक्रप्रमेह शान्त होता है ॥ ३४ ॥

मधुमेहे वंगयोगः—

मधुमेहापनुत्त्यर्थं समालार्जुनचूर्णकम् ।
वंगभस्मसमायुक्तं खादयेच्छर्करायुतम् ॥ ३५ ॥

एक रत्ती बंगभस्म को भुंईआँवला तथा अर्जुनवृक्षत्वक्चूर्ण के साथ मिला कर शर्करा के साथ सेवन करने से मधुमेह शान्त हो जाता है ।

विशेष वचन—वंगभस्म ½ रत्ती, भूम्यामलकीचूर्ण ४ रत्ती, अर्जुनचूर्ण ४ रत्ती, शर्करा २ रत्ती मिला कर सेवन करना चाहिये। आधुनिक खोज से शर्करा या कोई मीठा मधुमेह में हानिकारक होता है। अतः शर्करा की अपेक्षा मधु (उत्तम असली) मिला कर दे सकते हैं। अथवा जल के साथ ही उक्त औषधि को दे सकते हैं ॥ ३५ ॥

शाल्मलीप्रयोगः—

शाल्मलीद्रुतिमादाय पाययेन्मधुना सह ॥ ३६ ॥

सीमल के मूलस्वरस या क्वाथ को मधु में मिला कर किसी प्रमेहहर योग या रस के साथ सेवन से प्रमेह नष्ट होता है।

विशेष वचन—भैषज्यरत्नावली में इस योग को शुक्रमेह के लिये लिखा है "शाल्मल्याः स्वरसो ज्ञेयः शुक्रमेहनिषूदनः ।" इस योग को स्वतन्त्ररूप में भी सेवन किया जा सकता है ॥ ३६ ॥

रक्तप्रमेहे बोलबद्धरसस्य प्रयोगः—

बोलबद्धं रसं जग्ध्वा रक्तमेहाद्विमुच्यते ।
बीजकस्य कषायं च पिबेदनु सबोलकम् ॥ ३७ ॥

कासाधिकार में कहे हुये बोलबद्धरस को उचित मात्रा में प्रतिदिन सेवन करनेसे रक्तप्रमेह दूर हो जाता है। इस रस के सेवन करने के बाद अनुपान रूप में विजयसार के कषाय में बोल का चूर्ण डाल कर पीना चाहिये ॥ ३७ ॥

श्लेष्मातकक्वाथः—

श्लेष्मातमूलजक्वाथं सघृतं निशि पाययेत् ॥ ३८ ॥

रक्तप्रमेह में प्रमेहनाशक रसों के साथ २ प्रतिदिन सायंकाल या शयन के समय एक बार लिसोड़े के कषाय में घृत डाल कर पीना चाहिये अथवा लिसोड़े के कषाय में घृत सिद्ध कर उसका सेवन करना चाहिये ॥ ३८ ॥

कूष्माण्डस्वरसप्रयोगः—

कूष्माण्डस्य रसं वेल्लखण्डयुक्तं तु पाययेत् ॥ ३९॥

पेठे के स्वरस में वायविडंगचूर्ण तथा खांड मिला कर पिलाने से भी रक्तप्रमेह दूर हो जाता है ॥ ३९ ॥

स्त्रीणां रक्तस्रावे तौवरयोगः—

स्त्रियं वा रुधिरस्रावामामदुग्धेन पाययेत् ।
तुवरीमूलमुद्घृष्टं सम्यक् शर्करयान्वितम् ॥
पिबेत्तंडुलतोयेन रक्तस्रावाद्विमुच्यते ॥ ४० ॥

रक्तस्रावयुक्त स्त्री अर्थात् रक्तप्रदर रोग वाली स्त्री के लिये प्रतिदिन अरहर की जड़ को तण्डुल जल में घोट कर छान लें। फिर उसमें ताजा दूध तथा खांड मिला कर प्रतिदिन पिलाने से रक्तप्रदर की व्याधि शान्त हो जाती है ॥ ४० ॥

चन्द्रप्रभावटी—

बोलं जातिफलं मधूकयुगलं सारं तथा खादिरं
कर्पूरामलकीशठीबहुसुताघोण्टाम्लसारस्थिराः ।
कासीसं भवबीजदाडिमसहा सर्वं समं कल्पितं
प्रत्येकं दधिदुग्धलांगलिरसैस्तुम्बस्य मुद्गस्य च ॥४१॥
रसेन भावितं तस्य गुटिका संप्रकल्पिता ।
जयेच्चन्द्रप्रभा नाम तीव्रान्मेहादिकान् गदान् ॥४२॥

हीराबोलचूर्ण, जायफलचूर्ण, मुलेठीचूर्ण, महुआ पुष्पचूर्ण, खदिरसार (कत्था) चूर्ण, शुद्ध कपूर, आमलकीचूर्ण, कचूरचूर्ण, शतावरीचूर्ण, सुपारी का चूर्ण, अम्लवेतचूर्ण, शालपर्णीचूर्ण, शुद्धकसीसभस्म, शिवलिंगीबीजचूर्ण अथवा लिसोड़ाफलचूर्ण, अनारदानाचूर्ण, माषपर्णीचूर्ण; इन सब को समान भाग में लें। सबको एकत्र खरल में लाल कर क्रमशः दही की एक भावना, फिर दूध की एक भावना, पश्चात् कलिहारी रस की एक भावना, कड़वी तुम्बीस्वरस की एक तथा अन्त में मूंगपर्णी के रस की एक भावना देकर गोलियाँ बना लेवें। इनको 'चन्द्रप्रभावटी' कहते हैं। यह वटी प्रतिदिन सेवन करने से तीव्र प्रमेह आदि भयंकर रोगों को दूर करती हैं।

विशेष वचन—दही आदि द्रव द्रव्यों से यदि एक भावना के स्थान पर सात सात या तीन तीन भावनायें दी जांय तो रस की शक्ति बढ़ जाती है। आधुनिक मात्रा २ रत्ती। घोण्टा का अर्थ भिन्न भिन्न किया गया है; जंगली बेर या गोरख मुण्डी भी अर्थ कुछ टीकाकारों ने दिये हैं ॥ ४१-४२ ॥

प्रमेहगजसिंहः—

चाण्डालीराक्षसीपुष्परसमध्वाज्यटङ्कणम् ।
रसं समांशोपरसं समं हेम्ना विमर्दितम् ॥४३॥
समांशं पूतिलोहं वा मूषायां विपचेत्क्रमात् ।
प्रमेहगजसिंहोऽयं रसः क्षौद्रैर्द्विमाषकम् ॥४४॥
मर्दितं किंशुकरसैः कान्तनागाभ्रपारदम् ।

शुद्ध पारद अथवा रससिन्दूर, उपरस (अभ्रकभस्म) तथा स्वर्णभस्म अथवा नागभस्म तथा वङ्गभस्म, मधु तथा घृत समान भाग लें। इन सब को एकत्र पीस कर चाण्डालिनी (दिव्यौषधि) तथा राक्षसी (चोरकपुष्पी अथवा मुरामांसी) के पुष्परस से एक दिन तक अच्छी तरह मर्दन कर मूषा में बन्द कर कपड़मिट्टी करके सुखा लें और भूधरयन्त्र में एक दिन तक पकावें। फिर इसे मधु तथा घृत से घोट कर मूषा में बन्द करके पुनः पुट में फूँक दें। यह 'प्रमेहगजसिंहरस' कहा जाता है। इसको दो मासा मात्रा में मधु में मिला कर सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—इस रस के निर्माण में बड़ी कठिनाई दिखाई देती है। इस पाठ में उपरस का कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता है, ना ही पाक के लिये यन्त्र का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु यह रसरत्नाकर में 'मेहद्विरद' नाम से लिखा गया है और वहाँ इसकी विधि तथा द्रव्यों का स्पष्ट वर्णन है। अतः उसके अनुसार इसका निर्माण तथा द्रव्यों का ग्रहण करना चाहिये। वहाँ 'वा' शब्द नहीं मिलता है, यथा "पारदाभ्रकयोर्भस्म मृतं लोहाष्टकं समम्। टङ्कणञ्चैव मध्वाज्यं प्रत्येकं सूततुल्यकम् ॥ चाण्डालीराक्षसी-पुष्पैर्दिनं मर्द्यं निरुध्य च। मूषायां भूधरे पक्वं दिनैकं तच्च चूर्णयेत्। मेहद्विरदसिंहोऽयं रसः क्षौद्रैर्द्विरक्तिकम् ॥" इसके अनुसार ही इस रस में पारद के स्थान पर रससिन्दूर डालना चाहिये। रसरत्नाकर में इसका अनुपान भी लिखा है कि इसके सेवन के बाद एक निष्क परिमाण शुद्ध सुहागे को तक्र में मिला कर पिलाना चाहिये। अतः यहाँ सुहागा अनुपान में लेना चाहिये। अथवा मधु घृत के साथ द्वितीय पुट में सर्व औषधि से चतुर्थांश सुहागा भी मिला देना चाहिये। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती ॥ ४३-४४ ॥

महाविद्यागुटिका—

मर्दितं किंशुकरसैः कान्तनागाभ्रपारदम्।
कषायैः स्विन्ननाकुल्या बालुकायन्त्रपाचितम् ॥४५॥
राजावर्तशिलाधातुताप्यमण्डूरमाक्षिकैः।
तुत्थवैक्रान्तकासीसैः समैः सर्वैरिमैः समम् ॥४६॥
आधारी कृष्णमूला तु कपित्थश्रावणी हिमम्।
नारिकेलस्य मूलानां मुस्ताचन्दनसारयोः ॥४७॥
काकजम्बूप्रसूनानां रसैः सह विमर्दयेत्।
गुटिकां भक्षयेत्तस्य माषद्वितयसम्मिताम् ॥४८॥
धात्रीरसं चानुपिबेन्नाकुलीचूर्णमात्रया।
रात्रौ धात्रीरसं देयं महाविद्याप्रमेहजित् ॥४९॥

कान्तलोहभस्म, नागभस्म, कृष्णाभ्रकभस्म तथा शुद्ध पारद (रससिन्दूर); इनको समान भाग में लें। फिर इन सब को एकत्र पीस कर ढाक के पुष्पस्वरस तथा नाकुलीकषाय से पृथक् पृथक् एक दो दिन मर्दन करके गोला सा बना कर सुखा कर मूषा में बन्द कर बालुकायन्त्र में पका लें। पश्चात् इसमें राजावर्त की भस्म, शुद्ध मैनसिल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, मण्डूरभस्म, माक्षिक (मधु या रूपामाखीभस्म), शुद्ध तूतियाभस्म, वैक्रान्तभस्म, कसीसभस्म; इन सब को पृथक् पृथक् कान्तलोहभस्म के बराबर लें। और उक्त बालुकायन्त्र में पकी हुई कान्तलोहादि की भस्म में मिला कर पीस लें। पश्चात् इसको शतावरी, काली सारिवा, कैथ, गोरखमुण्डी, खश, नारियल की जड़ की छाल, मुस्ता, लालचन्दन, खैरसार, छोटी जामुन (जमुहा) के पुष्पस्वरस या कषाय से पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन कर दो दो मासे की गोलियाँ बना लें। इस रस की एक गोली प्रतिदिन सेवन करके, आमलकीस्वरस में (२ तोला) ४ रत्ती नाकुलीचूर्ण मिला कर पिलावें। रात्रि के समय गोली सेवन करने के बाद केवल आंवलों का स्वरस ही अनुपान में देना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥

प्रमेहारिरसः—

वीर्यं पुरारेर्बलिभअ्रसंज्ञं जम्बीरनीरेण विमर्द्य भस्म।
रसार्द्धभागेन ददीत शुल्वं सर्वं ततो गोपयसा विमर्द्य ॥५०॥
खर्जूरमत्स्यण्डिकहंसपादीद्राक्षेण सत्त्वेन गुडूचिकायाः।
मांसीशिवाकर्कटरुच्यदन्तीबीजैस्तदीयैः सलिलैर्विभाव्य ॥५१
ततो रसः सिद्ध्यति वल्लमस्य शुक्रप्रमेहे सति शाल्मलीनाम्
मूलाम्बुना वा कुसुमाम्बुना वा दद्यात्पयोभक्तकमत्र योज्यम्
क्षौद्रेण दुर्नाम्नि तथाश्मरीषु गवां पयोभिर्निखिलप्रमेहे ॥५३॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, कृष्णाभ्रकभस्म तीनों को समभाग में लेकर पहिले पारे गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें शेष द्रव्य मिला कर जम्बीरी नींबू के रस में एक दिन मर्दन करें। पश्चात् इसमें पारद से आधा भाग शुल्वभस्म (ताम्रभस्म) मिलायें और गोदुग्ध से एक दिन मर्दन कर सुखा लें। इसके पश्चात् इसको खजूर, राब, हँसपादी, द्राक्षा, गुडूचीसत्त्व, जटामांसी, हरीतकी या आँवला, ककड़ी या ककोड़ा, निर्मलीबीज, दन्तीमूलत्वक् या बीज के कषाय या स्वरस से पृथक् पृथक् एक दो दिन भावना देते हुये सुखा पीस कर रख लें। इस प्रकार यह 'प्रमेहारिरस' तय्यार हो जाता है। शुक्रप्रमेह होने पर इसकी दो वल्ल मात्रा, सीमल की (मूल की) छाल के स्वरस या पुष्पस्वरस के साथ प्रयोग करें। भोजन में दूध तथा चावल देने चाहिये। अर्शरोग में इसको मधु में मिला कर देना चाहिये। पथरीरोग में तथा सब प्रकार के प्रमेहों में गोदुग्ध के साथ प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—'अभ्रसंज्ञम्' के स्थान पर 'अम्लसंज्ञम्' पाठ होने पर वलि (गन्धक) का विशेषण अर्थात् आँवलासारगन्धक हो जाता है। परन्तु अभ्रकभस्म से यह रस अच्छा गुण करता है। गुडूचीसत्व की अपेक्षा गुडूचीस्वरस की भावना देनी चाहिये

इसको 'मेहध्वान्तविवस्वान् रस' भी कहते हैं। मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। "इत्थो रसो यः पक्वो घनः किञ्चिद्द्रवान्वितः। मन्दं मत्स्यन्दते तस्मात् तन्मत्स्यण्डी निगद्यते ॥ ५०–५३ ॥"

उमाशम्भुरसः–

रसाभ्रकौ तुत्थसमानभागौ जम्बीरनीरैस्त्रिदिनं विमर्द्य।
कुर्वीत मूषां कुहरे निवेश्य वह्नौ ततस्तस्य पुटानि सप्त ॥५४॥
बीजाह्वमुष्काक्षयुगैश्चतस्रः स्युर्भावना द्वे ककुभा त्रिवारम्।
यष्टीसिताकेतकजीररम्भा खर्जूरिका जातिदलैः प्रतिस्वम् ॥
एवं हि सिद्धस्य रसस्य वल्लो मधुप्रयुक्तः सहसा शिशूनाम्।
सन्तापशोषौ बलहीनतां च तृषां च वासासलिलैः प्रमेहान् ॥
निवर्तयेद्वासरसप्तकेन दुग्धौदनं स्यादिह भोजनाय।
नीरेण बब्बूलनवप्रवालान्निपेव्य तैः शर्करया समन्वितैः॥५७॥
सर्वप्रमेहान् विनिहन्ति दत्तो दिनत्रयं विंशतिवत्सरस्य।
अन्नं ससर्पिः ससितं प्रयोज्यं दिनानि सप्त त्रिगुणानि चात्र॥
वरामधुभ्यां सहितस्य यस्य पञ्चाधिका वत्सरविंशतिः स्यात्।
हैयङ्गवीनेन गवां च पथ्यं त्रिसप्तसंख्यानि दिनानि कार्यम् ॥
प्रस्विन्नगोधूमरसेन हन्ति स त्रिंशदब्दस्य दिनत्रयेण।
अन्नं ससर्पिः सगुडं हि देयं मध्विक्षुखण्डैस्त्रिदिनं विधातुम्॥
अङ्गानि सम्यग्विनिदाघसंघगतानि खानि स्फुटनं ददीत।
चिञ्चागुडाभ्यां युतमन्नमस्मिन्द्राक्षादिनीरेण विमिश्रितः सन्॥
दिनत्रयं लङ्घनजं विशोषं विनाशयेद्गोस्तनिकासिताभ्याम् ॥
पथ्यं देयमुमाशम्भौ वासुदेवेन निर्मिते।
पातुं जगन्ति कृपया मेहध्वान्तविवस्वति ॥ ६३ ॥

शुद्ध पारद (रससिन्दूर) कृष्णाभ्रकभस्म तथा शुद्ध तूतिया भस्म; इनको समान भाग में लेकर एकत्र पीस लें। फिर इसको जम्बीरी नींबू के रस में तीन दिन तक अच्छी तरह मर्दन कर मूषा में बन्द करके लघुपुट अर्थात् कुक्कुटपुट में फूँक दें। इस प्रकार जम्बीरी नींबू के रस से घोट कर सात पुट दें। पश्चात् मूषा में से द्रव्य को निकाल बिजौरा नींबू, मोरवा, बहेड़ा और आँवल अथवा ऋद्धिनामक औषधि; इन चारों औषधियों के स्वरस में पृथक् पृथक् चार भावना दें। इसके बाद अर्जुनवृक्षकषाय की दो भावना तथा मुलेठी, मिश्री (या दूर्वा), केवड़ा, जीरा, केला, खजूर तथा चमेली के पत्ते इनके स्वरस या कषाय में पृथक् पृथक् तीन तीन भावना दें और सुखा कर रख लें। यह 'उमाशम्भुरस' तय्यार हो गया। इसमें से एक वल्ल मात्रा में लेकर इसमें मधु मिला कर प्रतिदिन प्रयोग करना चाहिये। यह बालकों के सन्ताप, शोष, बलहीनता, तृषा को नष्ट करता है। वासास्वरस के साथ प्रयोग करने से यह रस सात दिन में ही सर्वप्रमेहों को नष्ट करता है। इस रस के सेवनकाल में प्रमेही को पथ्य या भोजन में दूध तथा भात देना चाहिये। बीस वर्ष की अवस्था वाले मनुष्य को बब्बूल की हरी और कोमल पत्तियों के कल्क में खाँड मिला कर इसके साथ उक्त रस का सेवन कराना चाहिये। अथवा बीस वर्ष के पुराने प्रमेह में इसको उक्त अनुपान से तीन दिन तक सेवन कराना चाहिये। पुरातन प्रमेही के लिये इस रस के सेवनकाल में २१ दिन तक अन्न में घृत तथा मिश्री मिला कर सेवन कराना चाहिये। २५ वर्ष की आयु वाले मनुष्य को यह रस त्रिफलाचूर्ण तथा मधु के साथ सेवन करना चाहिये। और गाय के मक्खन तथा मिश्री के साथ २१ दिन तक पथ्यान्न सेवन करना चाहिये। ३० वर्ष की अवस्था वाले मनुष्य को यह रस उबाले हुये गेहुओं के रस अर्थात् कषाय या यूष के साथ तीन दिन तक सेवन कराना चाहिये। इस समय रोगी को घृत, गुड, भात, मधु, खाँड तथा गन्ने का रस आदि शीतवीर्य द्रव्यों के साथ अन्न (भोजन) देना चाहिये। इसी तरह ग्रीष्मतप्त अङ्गों तथा नासिका कर्ण मुखादि स्रोतों को स्वस्थ अथवा स्वच्छ करने के लिये भी इस रस को उक्त शीतवीर्य द्रव्यों के साथ देना चाहिये। विशेषतः इमली, गुड तथा द्राक्षाजल मिश्रित अन्न देना चाहिये। यदि इस रस को इमली आदि शीतद्रव्यों के साथ तीन दिन तक दिया जाय तो यह लङ्घनजन्य खुश्की तथा दुर्बलता और गर्मी को दूर कर देता है। इसी तरह यदि इसमें द्राक्षा तथा मिश्री मिला कर रोगी को दिया जाय तो शोष नहीं होने पाता है। वासुदेव आचार्य द्वारा संसार की भलाई के लिये निर्मित इस मेहध्वान्तविवस्वान् (प्रमेहरूपी अन्धकार के लिये सूर्य के समान) रस में पथ्य का पालन तथा सेवन उक्त विधान से करना चाहिये।

विशेष वचन–तन्त्रान्तर में इस रस को खजूर, केवड़ा, बिजौरा नींबू, मुलेठी, जीरा, खाँड, गन्ने का रस तथा कदली के स्वरस या कषाय की भावना देने को लिखा है। और प्रमेह रोग में पान के पत्तों के रस में मिश्री मिला कर इस रस का सेवन करना लिखा है। युवाओं के लिये इसकी मात्रा ४ वल्ल लिखी है। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥ ५४–६३ ॥

रसेन्द्रनागरसः–

नागं कपालमध्ये क्षिप्त्वा चाग्निं विशोधयेत्क्रमशः।
चिंचाकवचक्षारं स्वल्पं स्वल्पं विकीर्य कुन्तलेन ॥६४॥
भागं पारदसीसं घृष्ट्वा घृष्ट्वा विचूर्णितं सम्यक्।
तिलमानमादिमधुना वरबटबीजेन मिश्रितं क्रमशः ॥
मेहगणार्तिविनाशं सपिटकं कुष्ठमनिलं च।
हन्त्यल्पदिनाभ्यासात्सुपथ्ययोगाद्रसेन्द्रनागोऽयम् ॥

शुद्ध नाग को एक मिट्टी के दृढ़ ठीकरे में डाल कर अग्नि पर रखें। जब वह पिघल जाय तो उसमें नाग के बराबर भाग शुद्ध पारद डाल कड़छी से चलाते जायें और क्रमशः थोड़ा थोड़ा करके इमली की छाल का क्षार डाल कर कड़छी से रगड़ते जायें, जब तक कि इसकी भस्म न हो जाय। पश्चात् ठीकरे में से भस्म को

निकाल कर पीस लें। इसमें से पहिले तिल प्रमाण मात्रा में लेकर सेवन करें, पश्चात् एक तिल बढ़ाते हुये ½ रत्ती तक बढ़ा लें। इस रस की उचित मात्रा लेकर उसमें तरवटबीजचूर्ण (आहुली-बीज चूर्ण या तुबरक [चालमोगरा] बीजचूर्ण) मिला मधु के साथ सेवन कराने से सब प्रकार के प्रमेह और उनसे होने वाली भिन्न भिन्न अनामिका, कच्छपिका आदि पिडिकायें, कुष्ट रोग तथा वातप्रकोपजन्य विकार नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—केवल उक्त विधि से भस्मीभूत नाग पूर्णतया मृत नहीं होता है। अतः उसके सेवन से नागविष के लक्षण उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। अतः या तो नाग को पारद के साथ भस्मविधान से भस्म करके फिर इसको इमली के क्षार से अग्नि पर मर्दन या घर्षण करके भस्म बना लें अथवा उक्त विधि से भस्म बना उसमें अरणी का स्वरस डाल कर मर्दन करके कुक्कुट पुट में तब तक फूँकें जब तक कि उसकी शुद्ध अपुनर्भव भस्म न हो जाय। कुष्ठरोगनाशक होने से हमने यहाँ तरवट का अर्थ चालमोगरा किया है। तन्त्रान्तर में "हन्त्यल्पदिनाभ्यासात्सुपथ्ययोगाद्रसेन्द्रनागोऽयम्" इतना पाठ नहीं मिलता है। और 'तिलमानमादिमधुना' के स्थान पर "तिलमानं जग्धि मधुना" पाठान्तर ठीक है। अथवा 'तिलयुक्खादन्मधुना' पाठान्तर उचित है। ऐसी अवस्था में इस रस की मात्रा एक रत्ती होनी चाहिये ॥६४-६५॥

मेहशत्रुरसः—

कान्ताभ्रमंडूरहरीतकीनां विचूर्णितानां क्रमशः शरांशम्।
रसेन भूतांशमथो दशांशं द्वात्रिंशदष्टोत्तरमुत्तमायाः ॥६६॥
श्लक्ष्णं मृदित्वा गुलिकां विधाय तक्रेण पीतं तलपोटकस्य।
बोजं च तेषां द्विगुणं प्रकल्प्य मेहामयान् हन्ति स मेहशत्रुः॥

कान्तलोहभस्म पाँच भाग, कृष्णाभ्रकभस्म छः भाग, मण्डूरभस्म पाँच भाग, हरीतकीचूर्ण दस भाग और त्रिफला चूर्ण चालीस भाग लेवें। सबको एकत्र सूक्ष्मचूर्ण करके मिला जल अथवा प्रमेहद्रव्यों के स्वरसकषाय के साथ मर्दन करके गोली बना लें। इसमें से एक गोली प्रतिदिन सेवन करके तलपोटक (चकवड़) के बीजचूर्ण को तक्र के साथ मिला कर पिलाना चाहिये। यह रस सब प्रकार के मेहों को नष्ट करता है। प्रमेह हर द्रव्य—आँवला, हल्दी, त्रिफला आदि।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ३ रत्ती से छः रत्ती तक॥

कासीसादिरसः—

कासीसं कृष्णनागं क्षितिधररुधिरं नीलमभ्रं सुकान्तं
हेमांगं भूमिसारं सलिलरिपुदलं मेहतिष्यारिबीजम्।
गोरेखा चारिभेदः क्षितिरुहसहितं श्वेतगुञ्जाघ्रिबीजं
कापित्थाखुग्विमिश्रं क्षितिफलसहितं रोहिणी चाक्षमिश्रम्।
सर्वं सम्पिष्य तोये करिविजयभुवा मोदकानक्षमात्रान्
कुर्यात्तक्रेण देयं क्षपयति निखिलं मूत्ररोगं त्रिरात्रात्।
सप्ताहात् कल्पनाशं तृषमतिबहुलां हन्ति पक्षाद्विधत्ते
मासात्सर्वाङ्गवृद्धिं मुनिभिरभिहितो मेहिनां गुह्ययोगः ६९

कासीसभस्म, कृष्ण (शिलाजीत या लोहभस्म), निरुत्थनाग भस्म, शुद्ध गैरिक (अथवा गोमेदमणि आदि), कृष्णाभ्रकभस्म, कान्तपाषाणभस्म, हेमांग (स्वर्णमाक्षिकभस्म चम्पकवृक्षत्वक् वा), भूमिसार (जामुनफलबीजमज्जा), सलिलरिपुदल (समुद्रशोष के पत्ते अथवा अगस्त्य वृक्ष के पत्ते और बीज), मेहारिबीज (गोखुरू अथवा चालमोगरा), तिष्यबीज (आँवला), गोरेखा (गोरोचन या गोखुरू), अरिमेद (विट्खदिर), क्षितिरुह (अर्जुनवृक्षत्वक्), सफेदगुञ्जामूल तथा बीज, कैथ का गूदा, केसर, क्षीरविदारी (भूमिकूष्माण्ड), रोहिणी (मांसरोहिणी या कटुकी), अक्ष (बहेड़ात्वक्); इन सब को पृथक् २ समान भाग में लेवें। इन सब का सूक्ष्मचूर्ण करके खरल में एकत्र करके हस्तिशुण्डी के स्वरस में मर्दन करके एक अक्षप्रमाण मोदक या गुटिका बना लें। इनमें से एक मोदक प्रतिदिन तक्र के साथ सेवन करने और भोजन में केवल तक्र का ही सेवन करने से सब प्रकार के मूत्ररोग तीन दिन में दूर हो जाते हैं। इस रस को सात दिन तक सेवन करने से मूत्ररोग सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। अथवा कल्प (मनोविकार) का नाश हो जाता है। पन्द्रह दिन सेवन करने से अत्यन्त बढ़ी हुई तृषा शान्त हो जाती है। एक मास पर्यन्त इस रस का सेवन करने से शरीर के सम्पूर्ण अंगों की वृद्धि और रक्त-मांस आदि धातुओं की पुष्टि होती है। इस 'कासीसादिरस' को मुनियों ने प्रमेह रोगियों के हित के लिये वर्णन किया है।

विशेष वचन—इस रस में औषधियों को ऐसे शब्द तथा नामों से लिया गया है कि कोई ठीक एक ही औषधि का निश्चय करना कठिन हो जाता है। ऐसी अवस्था में निघण्टु को देख कर उसमें उक्त नामों से प्राप्त होने वाली औषधियाँ, जो मूत्ररोग तथा प्रमेह के लिये उपयोगी हों, उनको यहाँ लेना अनुचित नहीं होगा। और कुछ ऐसे शब्द हैं जिनमें संयोग पूर्वरूपादि सन्धियों को हटा दिया जाय तो भिन्न ही अर्थ हो जाता है। जैसे "चाक्ष" "च अक्ष" करने पर बहेड़ा अर्थ होता है और "चाक्ष" ऐसे करने से स्फटिक संगजराहत, निर्मलीबीज, अर्थ हो जाता है। इसी तरह "भूमिसार" शब्द के भी जम्बुमज्जा, पारद, एला आदि कई अर्थ होते हैं। "क्षितिरुहम्" से कोई जंगली तमाकू लेते हैं। हेमाँग का अर्थ स्वर्णमाक्षिक, रजत, स्वर्णभस्म, हरिद्रा, दारुहरिद्रा इतने अर्थ होते हैं। "क्षितिधररुधिरम्" से गेरु, कम्पिल्ल, मोचरस आदि लिये जाते हैं। सलिलरिपुदल से—समुद्रशोष, अगस्त तथा बब्बूल के पत्र तथा बीज लिये जाते हैं। 'मेहारिबीज' से तुवरक, बकायन

आँवला, तालमखाना आदि के बीज लिये जाते हैं। 'तिष्यारिबीज' शब्द रखने पर कर्कोटकीबीजकन्द, मल्लिकामूल या उशीरबीज, करञ्जबीज या कालीसारिवा (अनन्तमूल) अर्थ लिया जा सकता है। परन्तु इनमें से, जो मूत्र तथा प्रमेहरोगहर गुण युक्त औषधियाँ हों, उन्हें ही उक्त शब्दों से लेना उचित है।

इस रस के मोदक बना कर प्रयोग करने से यहाँ पर मोदक-निर्माणार्थ आवश्यकतानुसार शर्करा की चासनी भी ले सकते हैं। 'कल्पनाशम्' के स्थान पर 'कल्कनाशम्' पाठ होने पर मलबन्ध अर्थ किया जाता है। इस रस की आधुनिक मात्रा, रसोपरसों की अधिकता में २ रत्ती से ३ रत्ती काष्ठ औषधियों की अधिकता होने पर ४ रत्ती से ६ रत्ती तक ॥ ६८–६९ ॥

भीमपराक्रमरसः—

तुल्याभ्यां रसगन्धाभ्यां कृत्वा कज्जलिकां त्र्यहम्।
द्रावयित्वाऽऽयसे पात्रे मृदुना बदराग्निना ॥ ७० ॥
निरुत्थमष्टमांशेन सीसभस्म विनिक्षिपेत्।
सम्मिश्रं कदलीपत्रे निक्षिप्य तदनन्तरम् ॥ ७१ ॥
आकृष्य परिपिष्ट्वाथ सीसभस्मप्रमाणतः।
कान्ताभ्रसत्त्वयोर्भस्म राजावर्तकभस्म च ॥ ७२ ॥
परिशुद्धं च गोमूत्रे शिलाधातुं निधाय च।
खल्ले निक्षिप्य तत्सर्वं यत्नेन परिमर्दयेत् ॥ ७३ ॥
तुल्यगुञ्जाकुलीबीजचूर्णकल्कोत्थवारिणा।
कतकांघ्रिकषायेण निम्बपत्ररसेन च ॥ ७४ ॥
ततः संशोष्य संचूर्ण्य क्षिप्त्वा लोहस्य भाजने।
त्रिफलानां कषायेण सप्तधा परिभावयेत् ॥७५॥
आकुलीबीजबर्बूरनिर्यासौ भृष्टचूर्णितौ।
समौ रससमौ कृत्वा रसेन सह मर्दयेत् ॥७६॥
इति सिद्धरसः सोऽयं भवेद्भीमपराक्रमः।
नामतः सर्वमेहघ्नो दृष्टप्रत्ययकारकः ॥७७॥
वल्लद्वयमितो ग्राह्यो जलैः पर्युषितैः सह।
पथ्यं मेहोचितं देयं वर्ज्यं सर्वं विवर्जयेत् ॥७८॥

शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक दोनों को समभाग में लेकर एकत्र तीन दिन तक खरल करके कज्जली बना लें। अब इसको एक लोहे की कढ़ाई में डालकर बेर की लकड़ियों की अथवा कोयलों की मन्द मन्द अग्नि से पिघलायें। कज्जली के पिघलने के बाद शीघ्र ही उसमें कज्जली से अष्टमांश सीसे की भस्म मिला कर गोबर के ऊपर बिछे हुये केले के पत्र के ऊपर ढाल कर पर्पटी बना लें। शीतल होने के बाद पर्पटी को अच्छी तरह पीस कर उसमें कान्तलोहभस्म, अभ्रकसत्वभस्म, लाजवर्दभस्म और गोमूत्र में शुद्ध की हुई शिलाजीत, प्रत्येक नागभस्म के बराबर मिला कर खरल में अच्छी तरह घोटें। पश्चात् इसको गुञ्जा तथा आकुलीबीज (तालमखाना) चूर्ण के जल से एक भावना दें। फिर निर्मलीमूलकषाय से, तदनन्तर निम्बपत्रस्वरस से एक २ भावना देकर सुखा कर चूर्ण कर लें। अन्त में इसको त्रिफलाकषाय की सात भावना दें। और इसमें आकुलीबीज तथा बबूल का गोंद प्रत्येक पारद के समान भाग लेकर इनको भून कर उस रस में मिला कर घोट लें। इस विधि से यह भीमपराक्रम रस तय्यार होता है। यह रस सर्व प्रमेहों के शान्त करने में प्रत्यक्ष विश्वासप्रद-फलदायक है। इसको प्रतिदिन वल्ल मात्रा में लेकर बासी जल के साथ सेवन कराना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में मेहोचित पथ्य का सेवन और मेह में हानिकारक वस्तु तथा विहारों का परिवर्जन करना चाहिये।

विशेष वचन—पर्पटी बनाते समय कढ़ाई में थोड़ा घृत डालना चाहिये ताकि गन्धक न जले। आकुलीबीज से कोई अंकोल (अंकोला) बीज का ग्रहण करते हैं यह भी प्रमेहन है। 'परिशुद्धञ्च गोमूत्रे शिलाधातुं निधाय च' के स्थान में 'परिसिद्धं सगोमूत्रं शिलाधातुं निधाय च' ऐसा पाठान्तर भी है ॥७०–७८॥

सञ्जीवनरसः—

पलमात्रं रसं शुद्धं वरनागसमन्वितम्।
निक्षिप्य पातनायन्त्रे त्रिंशद्वाराणि पातयेत् ॥७९॥
समाहरेद्रसं सम्यक्पातनायन्त्रके मृतम्।
मृते रसे क्षिपेत्तुल्यं भूपालावर्त्तभस्मकम् ॥८०॥
निरुत्थं त्रपुभस्मापि निक्षिपेदष्टमांशतः।
ततो निम्बदलद्रावैस्त्रिंशद्वारं हि भावयेत् ॥
ततः संशोष्य संचूर्ण्य क्षिपेद्वरकरण्डके ॥८१॥
संजीवनोऽयं खलु वल्लमानो
निशाकुलीचूर्णयुतः सतक्रः।
निहन्ति सर्वानपि मेहरोगा-
न्नृणां नितान्तं कुरुते क्षुधां च ॥८२॥

एक पल शुद्ध पारद तथा एक पल उत्तम शुद्ध नाग अथवा पूर्वोक्त वरनाग लें। पहिले नाग को गला कर उसमें पारद मिला कर पिष्टी बना लें। पश्चात् इस पिष्टी को ऊर्ध्वपातनयन्त्र में डाल पारद का ऊर्ध्वपातन कर लें। इस प्रकार तीन बार पृथक् पृथक् वरनाग के साथ पारद को मर्दन कर ऊर्ध्वपातित कर लें। इस प्रकार मृतपारद में समभाग लाजवर्दभस्म और पारद से अष्टमांश भाग वङ्गभस्म मिलायें। और इसको खरल में डाल कर नीम के पत्तों के स्वरस से तीस भावनायें दें। अन्त में सुखा कर चूर्ण करके रख लें। यह 'सञ्जीवनरस' कहा जाता है। इसकी एक वल्ल मात्रा लेकर इसमें हरिद्राचूर्ण तथा अकोलत्वक्चूर्ण चार चार रत्ती

मिला तक्र के अनुपान से सेवन करें। इससे मनुष्यों के सर्व प्रमेह नष्ट होते हैं और रोगी को अत्यन्त क्षुधा लगती है।

विशेष वचन—सञ्जीवनरस में मृत रस का उल्लेख होने से पारद को नाग के साथ भस्म करना चाहिये ऐसा स्पष्टार्थ निकलता है। परन्तु केवल पारद और नाग को ऊर्ध्वपातनयन्त्र में पातन करने से पारद की भस्म नहीं हो सकती है। हाँ उसमें अग्नि सहन करने की शक्ति बढ़ जाती है। अतः अन्तिम बार शीशे के साथ पारद के बराबर शुद्ध गन्धक मिला कर बालुकायन्त्र में पका कर पारद को रससिन्दूर के रूप में प्राप्त कर लेना चाहिये। यही मृतपारद से व्यवहृत होता है। नीचे जो नागभस्म होगी उसे इस रससिन्दूर के साथ घोट भावना देकर रस तय्यार करें ॥७९-८२॥

मेहमर्दनरसः—

शुद्धसीसोद्भवं भस्म निर्व्यूढं व्योम्नि सप्तधा।
ततो विचूर्ण्य तन्मध्ये कान्तभस्म समं क्षिपेत् ॥८३॥
गोमूत्रकशिलाधातुद्रवेण परिमर्दयेत्।
शोषयित्वा विचूर्ण्याथ क्षिपेन्नागकरण्डके ॥८४॥
मेहमर्दननामाऽयं दिष्टो भालुकिना खलु।
गुंजाद्वयमितो देयो निम्बामलकसंयुतः ॥८५॥
निहन्ति सकलान्मेहान् सर्वोपद्रवसंयुतान्।
तत्तद्रोगहरैर्द्रव्यैः सर्वरोगनिवर्हणः ॥
रोगानुरूपं दातव्यं पथ्यमत्र यथोचितम् ॥८६॥

शुद्ध सीसे की भस्म को समभाग अभ्रकसत्व में मिला कर पीस लें। अब इसे अभ्रकसत्वभस्म विधि में वर्णित द्रव्यों के स्वरस या कषाय के साथ घोट कर सात वार पुट दें। पश्चात् औषधि को निकाल इसमें समभाग कान्तलोहभस्म मिला कर इसको गोमूत्रगन्धि शिलाजीत के द्रव (जल) से एक भावना देकर सुखा कर एक स्वच्छ नाग के पात्र या शीशी में रख छोड़ें। इस 'मेहमर्दन रस' को श्रीभालुकि नामक आचार्य ने वर्णन किया है। इसको दो रत्ती प्रमाण मात्रा में निम्बपत्र तथा आमलकीचूर्ण के साथ सेवन करने से सर्वप्रकार के उपद्रवयुक्त प्रमेह दूर हो जाते हैं। और तत्तत् रोगनाशक अनुपान द्रव्यों के साथ प्रयोग करने से सर्व रोगों को दूर करता है। इस रस के सेवनकाल में रोग के अनुसार पथ्य देना चाहिये।

विशेष वचन—नागकरण्ड से हाथी के दांत की बनी हुई शीशी या पात्र लेना अच्छा है। क्योंकि इसमें किसी प्रकार की वायु का प्रभाव नहीं होता है। रसकौमुदी में "व्योम्नि सप्तधा" के स्थान पर "हेम्नि सप्तधा" ऐसा पाठ है ॥ ८३-८६ ॥

रामबाणरसः—

त्रपुणानिहतं तारं स्वर्णं नागहतं तथा।
मृतसूतं तयोस्तुल्यं मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥८७॥
आकुलीमूलजैः क्वाथैः शोषयित्वा मुहुर्मुहुः।
ताप्यवैक्रान्तराड्वर्त्तभस्म सर्वसमं क्षिपेत् ॥८८॥
विमर्द्य बलिना सर्वं षोढा तुषपुटैः पचेत्।
आकुलीबीजबब्बूरक्वथितैर्भावयेत्त्रिधा ॥८९॥
तं रसं परिचूर्ण्याथ स्थापयेत्कूपिकोदरे।
गुडूचीसत्त्वसंयुक्तो वल्लतुल्यो रसस्त्वयम् ॥९०॥
निहन्ति सकलं मेहं मोहं ध्यात इवेश्वरः।
बाणवद्रामचन्द्रस्य सज्जनस्येव भाषितम् ॥
न याति जातु मेहित्वं रामबाणो रसोत्तमः ॥९१॥

वङ्ग द्वारा मारित रजतभस्म एक भाग, नाग द्वारा मारित स्वर्णभस्म एक भाग, पारदभस्म (रससिंदूर) दो भाग; इन सब को तीन दिन तक एकत्र मर्दन करें। पश्चात् इसको अंकोलमूल-कषाय से सात भावना दें। तदनन्तर इसमें सब के बराबर भाग स्वर्णमाक्षिकभस्म, वैक्रान्तभस्म, राजावर्तभस्म मिलायें, और पारद से चतुर्थांश शुद्ध गन्धक मिला कर मर्दन करके एक शरावसम्पुट में बन्द कर कपड़मिट्टी करके तुषपुट में फूंक दें। इस प्रकार छः वार इसमें गन्धक मिला कर तुषपुट में फूंक दें। अन्त में अंकोला-बीज तथा बबूल के कषाय में पृथक् २ तीन भावना देकर सुखा लें और शीशी में भर कर रख लें। इसमें से एक वल्ल मात्रा में लेकर गुडूचीसत्व के साथ सेवन करें। यह रस सम्पूर्ण प्रमेहों को इस प्रकार शीघ्र नष्ट करता है जिस तरह ईश्वर का पूरा ध्यान मोह (अज्ञान) को। अथवा यह रस रामचन्द्र के बाण के समान महावीर्य, सज्जन के वचन के समान सत्य (निश्चित फलप्रद) है। इसके सेवन से मनुष्य को कभी मेहरोग नहीं रह सकता है। अतः यह सर्वोत्तम रस है। इसे 'रामबाण रस' कहते हैं।

विशेष वचन—'मेहित्व' के स्थान पर 'मोघत्वम्' पाठ अच्छा है ॥ ८७-९१ ॥

राजमृगाङ्कः—

सुवर्णं रजतं कान्तं ताम्रं त्रपु ससीसकम्।
भस्मीकृत्वा च तत्सर्वं क्रमवृद्ध्या कृतांशकम् ॥९२॥
व्योमसत्वभवं भस्म सर्वैस्तुल्यं प्रकल्पयेत्।
कज्जलीं सूतराजस्य सर्वैरेतैः समांशिकाम् ॥९३॥
प्रद्राव्य लोहभस्माथ पूर्वभस्म विनिक्षिपेत्।
काष्ठेनालोड्य तत्सर्वं सद्रवं हि समाहरेत् ॥९४॥
ततो विचूर्ण्य तत्सर्वं सप्तवारं विभावयेत्।
आकुलीबीजभूतक्वाथलेहेन यत्नतः ॥९५॥
रुद्ध्वं तन्मल्लमूषायां सर्वं संस्वेदयेच्छनैः।
इति सिद्धो रसेंद्रोऽयं चूर्णितः पटगालितः ॥९६॥
कांतपात्रस्थितै रात्रौ जलैस्त्रिफलसंयुतैः।
वल्लद्वयमितः प्रातर्दातव्यो मेहरोगिणाम् ॥९७॥

मृगचारिमुनीन्द्रेण मेहव्यूहविनाशनः ।
निर्दिष्टोऽयं रसो राजमृगांक इति कीर्तितः ॥९८॥
दीपनः पाचनो वृष्यो ग्रहणीपाण्डुनाशनः ।
तापघ्नो रुचिकृत्सर्वरोगघ्नो योगसंवृतः ॥९९॥

सुवर्ण भस्म एक भाग, रजतभस्म २ भाग, कान्तलोहभस्म ३ भाग, ताम्रभस्म चार भाग, वंगभस्म पाँच भाग, नागभस्म ६ भाग, लोहभस्म के सिवाय सबको एकत्र मर्दन करके मिला लें। अब इसमें अभ्रकसत्व की भस्म इक्कीस भाग मिला दें। अब शुद्ध पारद इक्कीस भाग, शुद्ध गन्धक इक्कीस भाग की कज्जली करके उसको एक लोहपात्र में थोड़ा घृत लगाकर उसमें कज्जली को डाल कर पिघलायें, पिघलने पर उसमें लोहभस्म मिलायें और लकड़ी की कड़छी से चलाते जायें। जब लोहभस्म अच्छी तरह कज्जली में मिल जाय तब उसमें अन्य भस्मों को मिला कर शीघ्र गोबर के ऊपर रखे हुये कदलीपत्र पर ढालकर पर्पटी बना लें। पश्चात् इस पर्पटी को पीस कर सात बार आकुलीबीज के घन कषाय की भावना दें। अन्त में इसको एक मल्लमूषा में बन्द कर कपड़मिट्टी करके अत्यन्त मृदु अग्नि से स्वेदन करें। अर्थात् इतनी अग्नि दें कि भावना का द्रवांश अच्छी तरह शोषित हो जाय। पश्चात् इसे पीस कर कपड़छन कर लें। इसमें से दो रत्ती मात्रा में लेकर सायंकाल कान्तपात्र में भिगोये हुये त्रिफलाजल से प्रातःकाल प्रमेह के रोगियों को सेवन कराना चाहिये। यह मृगचारि मुनि द्वारा वर्णित सम्पूर्ण प्रमेहों को नष्ट करने वाला 'राजमृगांक रस' कहा जाता है। यह दीपन, पाचन, वीर्यवर्धक, ग्रहणी तथा पाण्डुरोगहर, ज्वरनाशक, रुचिकारक और भिन्न २ अनुपानों से सर्वरोग नाशक रस है॥

मेहहररसः—

राजावर्तस्य रत्नस्य भस्म गन्धकसाधितम् ।
हतं च भस्मना तेन घनसत्वं च कान्तकम् ॥ १०० ॥
निहतं तेन सूतं च तत्तन्मारणकैः सह ।
सत्त्वतुल्येन सूतेन तावता गन्धकेन च ॥ १०१ ॥
कज्जल्या कृतया सार्द्धं पूर्वभस्म नियोजयेत् ।
त्रिदिनं मर्दयित्वा तु मूषायां विनिरुध्य च ॥ १०२ ॥
पंचाढकमितैः शालितुषैश्च पुटमाचरेत् ।
स्वांगशीतं समाहृत्य भावयेत्तदनन्तरम् ॥ १०३ ॥
आकुलीमूलबबूरबीजगुंजाजटोद्भवैः ।
कषायैरष्टवाराणि पटचूर्णं विधाय तत् ॥ १०४ ॥
विनिक्षिपेत्करण्डान्ते यत्नेन स्थापयेत्ततः ।
तत्तन्मेहहरैर्द्रव्यैः संयुक्तो रसराडयम् ॥ १०५ ॥
निहन्ति सकलान् रोगान् दुरात्मोपकृतीरिव ।
अयं हि सर्वरोगघ्नो भेषजेषु प्रशस्यते ॥ १०६ ॥
धार्मिकेष्विव सर्वेषु दयावानिव मानवः ।
रसोऽयं नन्दिना दिष्टः प्रकृष्टो मेहहारिषु ॥ १०७ ॥

गन्धक के योग से की हुई लाजवर्द की भस्म एक भाग (१ तोला), अभ्रकसत्वभस्म एक भाग, स्वर्णभस्म एक भाग, शुद्ध पारद (रससिन्दूर) एक भाग लें। सबको एकत्र मर्दन करके पूर्वोक्त मारकवर्ग की औषधियों के स्वरस से घोटें और शराव-सम्पुट में बन्द कर कपड़मिट्टी करके लघुपुट में फूँक दें। पुनः सबके बराबर भाग शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक की बनाई कज्जली में उक्त पुटपक्व द्रव्यों के चूर्ण को मिला कर तीन दिन तक बराबर घोटें। पश्चात् इसको मूषाओं में बन्द कर कपड़मिट्टी करके पाँच आढ़क अर्थात् करीब १६ सेर धान की भुसी के बीच में रख कर पुट दें। स्वांगशीत होने पर मूषा को निकालें। अब इस औषधि को आकुलीमूल, बब्बूलबीज, गुञ्जामूल के कषाय में पृथक् पृथक् आठ आठ भावना दें। और अन्त में चूर्ण करके छान लें तथा शीशी में सुरक्षित रख लें। भिन्न भिन्न मेहहर अनुपानों के साथ सेवन करने से यह रस सब प्रकार के प्रमेहों को इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे दुष्टात्मा मनुष्य (दुर्जन मनुष्य) सब उपकारों को। यह प्रमेहनाशक औषधियों में उसी प्रकार सब रसों से उत्तम रस माना जाता है जैसे धार्मिक मनुष्यों में दयावान् मनुष्य सब से उत्तम माना जाता है। इसको श्रीनन्दि नामक आचार्य ने प्रमेह दूर करने में उत्तम कहा है।

विशेष वचन—इस रस के प्रकृत पाठ के अनुसार गन्धक-मारित लाजवर्दभस्म से अभ्रकसत्व तथा कान्तलोह की भस्म करना और इस भस्म से फिर पारद की भस्म करना अत्यन्त कठिन है। अतः हमने तन्त्रान्तर के आदेशानुसार उक्त अर्थ तथा इसकी निर्माणविधि लिखी है। तन्त्रातर में इसका पाठ इस प्रकार है—"राजावर्तस्य रत्नस्य भस्म गन्धकसाधितम्। तुल्यञ्च भस्मना तेन घनसत्वञ्च काञ्चनम्॥ मर्दयेत्तुल्यसूतञ्च तत्तन्मारणकैर्द्रवैः॥ गर्वतुल्येन सूतेन तावता गन्धकेन च॥" इसी तरह "निहन्ति सकलान् रोगान् दुरात्मोपकृतीरिव।" के स्थान पर "निहन्ति सकलान् मेहान् दुरात्मानं विवर्जयेत्।" पाठ तथा "सर्वरोगघ्न," के स्थान पर "सर्वमेहघ्नः" पाठ और "धार्मिकेष्विव सर्वेषु दयावानिव मानवः।" के स्थान पर "देयो धर्मवतामर्थे मानवानां विशेषतः।" पाठान्तर है। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक।

उदयभास्कररसः—

पारदं भागमेकं तु गन्धकं टङ्कणं तथा ।
अभ्रकं लोहमेवं तु भागमेकं पृथक् पृथक् ॥१०८॥
शिलाधातुस्तथा भागमम्लवेतसभागकम् ।
कटफलं भागमेकं तु बङ्गेन सह मेलयेत् ॥१०९॥

रसञ्च पञ्चमूत्रेण दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ।
सर्वमेकत्र संयोज्य जम्बीररससंयुतम् ॥११०॥
मर्दयेद्दिनचत्वारि खल्वके बुद्धिमान् भिषक् ।
मूषिकालेपनं कुर्यात् मांसीगोक्षुरसंयुतम् ॥१११॥
मर्दयेच्च यथायोग्यं दिनानामेक विंशतिः ।
पुटमध्ये परिस्थाप्य कुक्कुटीमात्रके दहेत् ॥११२॥
शीतलं तं समादाय भावयेच्च यथाक्रमम् ।
कुमारीचित्रकव्योषजातीफलहियावलीम् ॥११३॥
विषमुष्टिं नखश्चाम्लवेतसं परिमर्दयेत् ।
शोषं कृत्वा यथायोग्यं दिनमेकं पृथक् पृथक् ॥११४॥
तं सिद्धं वल्लमात्रन्तु दापयेत् बुद्धिमान् भिषक् ।
प्रमेहे मधुना युक्तं प्रयोज्यं भिषजां वरैः ॥११५॥
शर्करार्द्रकसंयुक्तं रक्तपित्ते प्रयोजयेत् ।
त्रिंशद्दिनानि दातव्यः शूले च त्रिफलाजलैः ॥११६॥
मधुना चातिसारस्य श्वासकासस्य शर्करा ।
क्षीरेण चाग्निमान्द्यस्य तैलकाञ्जिकसंयुतः ॥
सिद्धनाथेन सम्प्रोक्तो नाम्ना ह्युदयभास्करः ॥११७॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, भुना हुआ सुहागा, कृष्णाभ्रकभस्म, लोहभस्म; सब पृथक् पृथक् एक भाग (१ तोला) लें। इसी तरह शुद्ध मैनसिल, अम्लवेतचूर्ण, कट्फलचूर्ण तथा वङ्गभस्म पृथक् पृथक् एक भाग लें। पहिले पारद को पञ्चमूत्र (गो, महिषी, अजा, भेड़ तथा गधी का मूत्र) में तीन दिन तक अच्छी तरह मर्दन करके काञ्जी से धो लें। पश्चात् इसमें शुद्ध गन्धक मिला कर अच्छी तरह कज्जली कर लें। अब इस कज्जली में टङ्कण आदि द्रव्यों का चूर्ण मिला कर जम्बीरी नींबू के स्वरस से खरल में चार दिन तक मर्दन करें। तत्पश्चात् जटामांसी तथा गोखुरू के कषाय में इक्कीस दिन तक मर्दन करें। पश्चात् दो मूषाओं के भीतर गोखुरू तथा जटामांसीकल्क का लेप कर उनको सुखा लें। अब उन मूषाओं में इस मर्दित द्रव्य को भर दें और कपड़मिट्टी करके सुखा लें तथा कुक्कुटपुट में रख कर फूंक दें। स्वांगशीतल होने पर मूषाओं में से द्रव्य को निकाल खरल में डाल कर घीकुमार, चित्रक, त्रिकटु, जायफल, हियावल्ली, कुचला, नख और अम्लवेत के पृथक् पृथक् कषाय या स्वरस में एक एक दिन मर्दन कर सुखा कर रख लें। इस विधि से यह 'उदयभास्कररस' तय्यार होता है। इसमें से २ रत्ती मात्रा में लेकर प्रमेह रोग में मधु में मिला कर प्रयोग करना चाहिये। रक्तपित्त में इसको शर्करा तथा आर्द्रकस्वरस में मिला कर प्रयोग करना चाहिये। शूलरोग में इसे त्रिफलाजल के साथ तीस दिन तक प्रयोग करना चाहिये। अतीसार में मधु के साथ तथा श्वासकासरोग में शर्करा के साथ देना चाहिये। अग्निमान्द्य में तैल, काञ्जी आदि अम्ल द्रव्यों के साथ देना चाहिये। इसको श्रीसिद्धनाथ ने वर्णन किया है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में "रसञ्च पञ्चमूत्रेण दिनानि त्रीणि मर्दयेत्।" के स्थान पर "रसकं पञ्चभागञ्च त्र्यहं मूत्रेण मर्दयेत्।" पाठ पाया जाता है इसके अनुसार शुद्ध खर्पर पाँच भाग लेकर सब को एकत्र करके गोमूत्र में तीन दिन तक मर्दन करना चाहिये। यदि तन्त्रान्तरपाठ के अनुसार भी इसे बनाया जाय तो यह प्रमेह के लिये अतिगुणदायक होगा। क्योंकि रसक, क्षीणता के लिये उत्तम बल्य द्रव्य है। वङ्ग के सदृश या यशद के सदृश गुण होने से यह प्रमेह के लिये भी उत्तम है। मात्रा १ रत्ती। रसकौमुदी में टङ्कण के स्थान पर तगर लिया गया है॥ १०८-११७॥

मेहकुठारः—

पिष्ट्वा कार्पासतक्रे रसधरणदशा तुल्यनागं कपित्था-
न्निर्यासं पञ्चनिष्कं निहितशतजलारातिबीजं च पश्चात् ।
पिण्डान् कृत्वाथ तेन प्रतिदिनमथ तत्पिण्डमेकं कपित्था-
न्निर्यासं पादनिष्कं मथितमधुयुतं मेहजालं रुणद्धि ॥११८॥

रससिन्दूर तीन धरण अर्थात् करीब पाँच मासा, शुद्ध नागभस्म तीन धरण, कैथ का गूदाचूर्ण पाँच निष्क, कपिकच्छु (कौंच) बीज सौ नग का चूर्ण; इन सब को एकत्र खरल में डाल कर कपास के फूलों के स्वरस तथा तक्र में अच्छी तरह मर्दन करके निष्क चतुर्थांश मात्रा की गोलियाँ बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली को निष्कचतुर्थांश कैथ के गूदे के चूर्ण मिला कर मधु तथा तक्र के अनुपान से सेवन करें। यह योग सम्पूर्ण प्रमेहों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—कोई 'जलाराति' से अगस्त्य का ग्रहण करते हैं। आधुनिक मात्रा ४ रत्ती तक॥ ११८॥

हिमांशुरसः—

रसस्य कर्षमादाय खल्ले निक्षिप्य बुद्धिमान् ।
रक्तागस्त्यप्रसूनस्य स्वरसेन विमर्दयेत् ॥ ११९ ॥
सप्तवारं तथा साधु श्वेतदूर्वारसेन च ।
निष्कद्वयं टङ्कणं च कर्षं खादिरसारतः ॥ १२० ॥
कर्पूरं रसतुल्यं च सर्वमेकत्र मर्दयेत् ।
यावच्चिक्कणतां याति युक्त्या चन्दनवारिणा ॥ १२१ ॥
हरेणुमात्रान् वटकांश्छायायां परिशोषितान् ।
प्रातः प्रातश्च सेवेत मध्याह्ने च विशेषतः ॥ १२२ ॥
निशायां च विशेषेण सेवनीयः प्रयत्नतः ।
एतद्धि मेहनुद्द्रव्यं मुखशोषहरं परम् ॥
सोमरोगहरं सर्वपिडिकानाशनं मतम् ।
हिमांशुनामतः ख्यातं तृष्णादाहनिवारकम् ॥ १२३ ॥

एक कर्ष शुद्ध पारद को खरल में डाल कर लाल वर्ण के अगस्त्य के पुष्पस्वरस से सात बार मर्दन करें और काञ्जी से धोकर साफ कर लें। पुनः इसे सात बार सफेद दूब के स्वरस में मर्दन करके, इसमें दो निष्क भुना हुआ सुहागा, १ कर्ष कत्था चूर्ण, शुद्ध कर्पूर १ कर्ष मिला कर एकत्र मर्दन करें। पश्चात् इसको चन्दन के जल (कषाय) से इतना मर्दन करें कि यह गोली बनाने योग्य चिकना हो जाय। अब इसकी छोटी मटर के बराबर या चने के बराबर गोलियाँ बना लें। और छाया में सुखा कर रख लें। इनमें से एक गोली प्रातःकाल, एक मध्याह्नकाल तथा एक गोली रात्रि को सोते समय यथोचित अनुपान के साथ सेवन करें। यह सब प्रकार के प्रमेह, मुखशोष, सोमरोग तथा सब प्रकार की प्रमेह-पिडिकाओं को नष्ट करता है। यह हिमांशुनामकरस विशेषकर तृष्णा (प्यास), दाह (जलन) को दूर करता है।

विशेष वचन—प्रकृतरस में यदि शुद्ध पारद के स्थान में रससिन्दूर लिया जाय तो और भी अच्छा रहेगा। अन्यथा इसमें पारद के बराबर शुद्ध गन्धक मिलाना चाहिये। आधुनिक मात्रा १ रत्ती ॥ ११९—१२३ ॥

वसन्तकुसुमाकररसः—

द्वौ भागौ हेमभूतेश्च गगनं चापि तत्समम्।
लोहस्य च त्रयो भागाश्चत्वारो रसभस्मनः ॥ १२४ ॥
वंगभस्म त्रिभागं स्यात्सर्वमेकत्र कारयेत्।
प्रवालं मौक्तिकं चैव रससाम्येन योजयेत् ॥ १२५ ॥
भावना गव्यदुग्धेन इक्षुवासारसेन च।
हरिद्रावारिजेनैव मोचाकन्दरसेन च ॥ १२६ ॥
शतपत्ररसेनैव मालत्याः कुसुमेन च।
उशीरद्वयनीरेण सप्त सप्त च संख्यया ॥ १२७ ॥
पश्चान्मृगमदा भाव्यं सुसिद्धो रसराड् भवेत्।
कुसुमाकरविख्यातो वसन्तपदपूर्वकः ॥ १२८ ॥
गुञ्जामात्रं ददीतास्य मधुना सर्वमेहजित्।
क्षयकासतृषाश्वासरक्तपित्तविषार्तिजित् ॥
सिताचन्दनसंयुक्तश्चाम्लपित्तादिरोगनुत् ॥ १२९ ॥

स्वर्णभस्म दो तोला, कृष्णाभ्रकभस्म दो तोला, लोहभस्म तीन तोला, रससिन्दूर चार तोला, वंगभस्म तीन तोला, प्रवालभस्म चार तोला, मुक्ताभस्म चार तोला; इन सबको एकत्र पीस कर प्रथम गौ के दूध की सात भावना दें। फिर क्रमशः ईख के रस, वाँसे के रस, हरिद्रास्वरस, केले की जड़ के रस, श्वेत कमलपत्र के रस, चमेली के पुष्पस्वरस, उशीर के क्वाथ तथा सुगन्धवाला के कषाय से पृथक् २ सात सात भावनायें दें। अन्त में कस्तूरी की सात भावना देकर सुखा कर रस को तय्यार कर लें। यह 'वसन्तकुसुमाकररस' कहा जाता है। प्रमेहमात्र को नष्ट करने के लिये इसे एक रत्ती मात्रा में मधु के साथ प्रतिदिन सेवन करना चाहिये। यह न केवल प्रमेहों को ही शान्त करता है बल्कि यह राजयक्ष्मा, कास, तृषा, श्वास, रक्तपित्त तथा शरीर में स्थित पुरातन विषों को भी दूर करता है।

विशेष वचन—वसन्तकुसुमाकररस मधुमेह की अनुपम तथा शत-प्रतिशत अनुभूत महौषधि है। दुर्बलता तथा क्षय की अवस्था में यह पुनः जीवन प्रदान करता है। मधुमेह में इसे जम्बुबीजमज्जा-चूर्ण तथा विल्वपत्ररस के साथ दिया जाता है। यह मूत्र में स्थायी रूप से शर्करा की मात्रा को कम करता है। साथ ही इसके प्रयोग में इन्सुलीन की भाँति दुर्बलता नहीं होती है। मधुमेहजन्य उपद्रवों के लिये भी सर्वोत्तम औषधि है। इसके सेवन से मूत्र में आने वाली शर्करा तथा मूत्र की मात्रा दोनों ही घटने लगती है।

इसके अतिरिक्त एक और पाठ भी वसन्तकुसुमाकर रस का मिलता है। उसमें रजतभस्म अधिक है किन्तु रससिन्दूर नहीं है। साथ ही उसमें लाक्षाजल, कदलीपुष्पस्वरस तथा केशरजल की भावना अधिक हैं। भैषज्यरत्नावली के बहुमूत्राधिकार में लिखे हुये वसन्तकुसुमाकररस में 'वैक्रान्तभस्म' अधिक है और इसको जम्बीरी नींबू के रस की भावना देने को लिखा है। रसभस्म (रससिन्दूर) युक्त वसन्तकुसुमाकररस ओजोयुक्त मधुमेह में कम व्यवहृत होता है। आजकल व्यवहृत होने वाले वसन्तकुसुमाकररस का पाठ इस प्रकार है—"द्विभागं हाटकं चन्द्र त्रयोवंगाहिकान्तकाः। चतुर्भागं शुद्धमभ्रं प्रवालं मौक्तिकं तथा ॥ भावयेद् गव्यदुग्धेन भावनेक्षुरसेन च। वासालाक्षारसोदीच्यरम्भाकन्दप्रसूनकैः ॥ शतपत्ररसेनैव मालत्याः कुङ्कुमोदकैः। पश्चान्मृगमदैर्भाव्यं सुगन्धिरससम्भवैः ॥ कुसुमाकरविख्यातो वसन्तपदपूर्वकः ॥" पूर्वोक्त विधि से अनेक भावनाओं के साथ बने हुये वसन्तकुसुमाकर की एक रत्ती मात्रा क्रियात्मक चिकित्सा में बहुत न्यून है। एक रत्ती मात्रा में स्वर्णादि हितकर द्रव्य केवल नाममात्र को पाये जाते हैं। क्योंकि इस रस को बनाने के बाद यदि तोल लिया जाय तो यह मूलद्रव्यों के तोल से दुगुना या तिगुना तोल में बढ़ जाता है। एक रत्ती मात्रा में ½ रत्ती मूल द्रव्य आते हैं। अतः तीन या चार रत्ती की मात्रा में देना चाहिये। इस मात्रा से शीघ्र लाभ होता है ॥ १२४—१२९ ॥

मेहहररसः—

पारदभस्मशिलाजतुकृष्णालोहमलत्रिफलाकुलिबीजम्।
ताप्यनिशारजकोपलकान्तव्योषरजः खपुरश्च कपित्थात् ॥
सर्वमिदं परिचूर्ण्य समांशं भावितभृंगरसं दिवसादौ।
विंशतिवारमिदं मधुलेहं विंशतिमेहहरं हरिदृष्टम् ॥ १३१ ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), शुद्ध शिलाजीत, कालाजीराचूर्ण या पीपलीचूर्ण, मण्डूरभस्म, हरीतकीचूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण,

अंकोलबीजचूर्ण, स्वर्णमाक्षिकभस्म, हरिद्राचूर्ण, रजतभस्म, कान्तपाषाणभस्म, कान्तलोहभस्म, सौंठचूर्ण, मरिचचूर्ण तथा पिप्पलीचूर्ण, शुद्ध गुग्गुल तथा कैथ का गूदाचूर्ण; इन सब को समान भाग में लेकर खरल में एकत्र करके भाँगरे के स्वरस की बीस भावना देकर सुखा लें। बीस प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करने वाला यह रस विष्णु द्वारा वर्णन किया गया है। इसको उचित मात्रा में लेकर प्रतिदिन मधु के साथ सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती। "भावितभृंगरसं दिवसादौ" के स्थान पर "भृंगरसेन विभाव्य सुवैद्यः" पाठ तथा "हरिद्दष्टम्" के स्थान पर "शतदृष्टम्" पाठ अच्छा है॥-१३१॥

मेहारिरसः—

सूतं बाहुमितं बलिं शशिमितं संमर्द्य तत्कज्जली।
कृत्वा कृष्णहिरण्यतोयसहितां सम्मर्द्य घस्रं पुनः।
कूप्यामभ्रककालिकां सुपिहितां मृत्स्नांशुकैः सप्तभिः
संवेष्ट्य त्रिदिनं विशोष्य लवणापूर्णे क्षिपेद्भाण्डके॥
दग्ध्वा यामचतुष्टये च शिशिरां भित्त्वा च तां कूपिकां
तं सूतं द्विलवं लवं च गगनं लोहं लवं मर्दयेत्।
सिद्धो वल्लमितः सिता च मधुना वत्सादनीसत्त्वतो
नोचेत्क्षौद्रकणायुतश्च तरसा सर्वप्रमेहाञ्जयेत्॥१३३॥
रोगाधीश्वरपाण्डुकामलहरिद्राभत्वपित्तोद्भवान्।
सर्वांश्च प्रदरामयान् विजयते मेहारिनामा रसः॥१३४॥

शुद्ध पारद दो भाग, शुद्ध गन्धक एक भाग लें। पहिले इन दोनों की अच्छी तरह कज्जली करलें। पश्चात् इस कज्जली को काले धतूरे के स्वरस में एक दिन अच्छी तरह मर्दन कर सुखा लें और एक काली बोतल में भर दें और बोतल पर शनैः शनैः सात कपड़मिट्टी करके तीन दिन तक अच्छी तरह सुखा लें। पश्चात् लवणयन्त्र में उक्त शीशी (बोतल) को गले पर्यन्त गाढ़ कर अभ्रकखण्ड की डाट लगा कर चार प्रहर तक मन्द, मध्य तथा तीक्ष्ण क्रम से अग्नि देवें। स्वांगशीतल होने पर शीशी को तोड़ कर शीशी के गले में लगे हुए रससिन्दूर को निकाल लें। इसमें से दो भाग द्रव्य (रससिन्दूर) लेकर उसमें एक भाग कृष्णाभ्रकभस्म, एक भाग (लव) लोहभस्म मिलाकर मर्दन करके रख छोड़ें। यह 'मेहारिरस' सिद्ध हो गया। इसमें से एक रत्ती मात्रा लेकर प्रतिदिन मिश्री मधु तथा गुडूचीसत्व के साथ, अथवा मधु और पिप्पलीचूर्ण के साथ सेवन करें। यह रस उक्त विधि से सेवन करने पर शीघ्र ही सब प्रकार के प्रमेहों को नष्ट करता है। तथा राजयक्ष्मा पाण्डु, कामला, हलीमक तथा पित्तप्रकोपजन्य रोग और सर्व प्रदरों को कष्ट करता है।

विशेष वचन—"अभ्रककालिकां" के स्थान "पारदकालिकां" पाठ अच्छा है। पारदकालिका से कज्जली अभिप्रेत है। इसी तरह "सिता च मधुना" के स्थान पर "सिता सुमधुना" पाठ अच्छा है।

मेहबद्धरसः—

भस्मसूतं मृतं कान्तं मुण्डभस्म शिलाजतु।
तार्प्यं शुद्धं शिला व्योषं त्रिफलाऽङ्कोलबीजकम्॥१३५॥
कपित्थरजनीचूर्णं समं सम्भाव्य भृङ्गिणा।
त्रिंशद्वारं विशोष्याथ मधुयुक्तं लिहेत् सदा॥१३६॥
निष्कमात्रं हरेन्मेहान्मेहबद्धो रसो महान्।
महानिम्बस्य बीजानि षण्निष्कं पेषितानि तु॥१३७॥
पलतण्डुलतोयेन घृतनिष्कद्वयेन च।
एकीकृत्य पिबेच्चानु हन्ति मेहं चिरन्तनम्॥१३८॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), कान्तलोहभस्म, मण्डूरभस्म, शुद्ध शिलाजीत, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध मैनसिल, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, तथा पिप्पलीचूर्ण, हरीतकीचूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आंवलाचूर्ण, अंकोलबीजचूर्ण, कैथ का गूदा तथा हरिद्राचूर्ण; सब को समान भाग लें। इन सब चूर्णों को एकत्र खरल में भृङ्गराजस्वरस की तीस भावना दें। सूखने के बाद इसम से प्रतिदिन १ निष्क मात्रा में लेकर उसमें मधु मिला कर सेवन करें। यह रस सम्पूर्ण प्रमेहों को नष्ट करने म उत्तम है। इस रस को मधु म मिला कर सेवन के बाद महानिम्ब (वकायन) के बीज छः निष्क को एक पल तण्डुलोदक के साथ पीस कर उसमें दो निष्क घृत मिला कर अनुपान रूप म दिया जाय तो अत्यन्त पुराने प्रमेह भी इससे नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक॥

हरिशंकरो रसः—

मृतं सूताभ्रकं तुल्यं धात्रीफलनिजद्रवैः।
सप्ताहं भावयेत्खल्ले रसोऽयं हरिशंकरः॥१३९॥
माषमेकां वटीं खादेन्नीलमेहप्रशान्तये।
पूर्वयोगानुपानं स्यादसाध्यं साधयेत्क्षणात्॥१४०॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), कृष्णाभ्रकभस्म, दोनों को समान भाग में लेकर पीस लें और आँवलों के स्वरस से सात भावना या १ सप्ताह तक भावित करें। यह हरिशंकररस १ उड़दभर मात्रा में प्रतिदिन कुछ काल तक सेवन करने पर नीलप्रमेह को शान्त करता है। यदि इस रस को सेवन करके मेहबद्धरसोक्त वकायनबीज आदि का अनुपान किया जाय तो शीघ्र ही असाध्य (कठिनसाध्य) प्रमेह भी इससे शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—मात्रा आधा रत्ती से १ रत्ती तक। 'धात्रीफलनिजद्रवैः' के स्थान पर रसेन्द्रसारसंग्रह में 'धात्रीफलनिशाद्रवैः' पाठ है परन्तु प्रकृत पाठ अधिक ग्रन्थों में होने से प्रामाणिक है। फिर भी ताजी हरिद्रा के स्वरस की भावना देने से कोई हानि नहीं

अपितु लाभ ही होगा। हरिद्रास्वरस यों भी प्रमेह में लाभ करता है। इस रस का योगरत्नाकर में निम्न प्रकार से पाठ है—"सूताभ्रमामलकजलैः सप्तवारं विभावयेत्। हरिशंकरसंज्ञः स्याद्रसः सर्वप्रमेहनुत् ॥" इसमें हल्दी की भावना नहीं है। यहाँ पर इस रस को सर्वप्रमेहों के लिये साधारण रूप से गुणकारी लिखा है॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये मूत्रकृच्छ्राश्मरीमेहसोमरोगपिटिकाचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टदशोऽध्यायः।

अथ विद्रध्यादिचिकित्सनम्।

विद्रधेर्निदानं सम्प्राप्तिश्च—

अन्नैरत्युषितोष्णशुष्कपरुषैरन्यैरसृग्दूषणै-
र्वक्रैर्वा शयनादिभिस्तनुभृतामन्तर्बहिर्वोत्थितः।
मेदस्त्वक्पलकंडरास्थिरुधिरं गाढं प्रदूष्य कृतो
वृत्तः स्यादथवाऽऽयतोऽधिकरुजः शोथस्त्वसौ विद्रधिः।

बासी, उष्णवीर्य; शुष्क तथा कठिनगुण भोजनों तथा अन्य रक्त को दूषित करने वाले भोजनों और द्रव्यों के सेवन से तथा नीचे ऊंचे स्थान में शयन, आसन आदि करने से शरीर के बाह्य या भीतरी अंगप्रदेश में मेदोधातु, त्वचा, मांस, कण्डरा, अस्थि (हड्डी) तथा रक्त में विकृति आने से शरीर के किसी प्रदेश में वृत्त (गोलाकार) अथवा आयत (लम्बा) आकार का अत्यधिक पीड़ा करने वाला जो शोथ उत्पन्न होता है, उसको विद्रधि कहते हैं॥ १॥

अथ विद्रध्यादिचिकित्सा।

सर्वेश्वरपर्पटी—

रसोपरसलोहानि कार्षिकाणि पृथक् पृथक्।
तेषु लोहानि सर्वाणि पाषाणाः कठिनास्तथा ॥२॥
घनसत्वं च तत्सर्वं भस्मीकृत्य प्रयोजयेत्।
रत्नानि वल्लतुल्यानि भस्मीकृत्य च सर्वशः ॥३॥
एभ्यश्चतुर्गुणः सूतो गन्धस्तस्माच्चतुर्गुणः।
कृत्वा कज्जलिकां ताभ्यां क्षिपेल्लोहस्य भाजने ॥४॥
प्रद्राव्य बदरांगारैर्निक्षिपेत्तदनन्तरम्।
रसोपरसलोहानां रत्नानामपि सर्वशः ॥५॥
चूर्णं भस्म च निक्षिप्य काष्ठेनाऽऽलोड्य मेलयेत्।
ततश्च षोडशांशेन मिश्रयित्वाऽरुणं विषम् ॥ ६ ॥
गोमयोपरि निक्षिप्य निक्षिपेत्कदलीदले।
पत्रेणान्येन रम्भायाः समाच्छाद्य प्रयत्नतः ॥ ७ ॥
कराभ्यां चिपटीकृत्य क्षिपेदुपरि गोमयम्।
ततः शीतं समाहृत्य चूर्णयित्वा च पर्पटीम् ॥ ८ ॥
विनिक्षिपेत्करण्डान्तः सम्पूज्य रसभेषजम्।
सर्वेश्वराभिधानेयं पर्पटी परिकीर्तिता ॥ ९ ॥
सर्वलोकहितार्थाय नन्दिनेयं प्रकीर्तिता।
रक्तियुक्तसमानेयं मरिचार्द्रसमन्विता ॥ १० ॥
विद्रधौ षट्प्रकारे स्याद् देया बध्मेसु सप्तसु।
क्षयरोगेषु सर्वेषु पाण्डुरोगे विशेषतः ॥ ११ ॥
ग्रहणीरोगभेदेषु गुल्मेष्वष्टविधेषु च।
मूलरोगेष्वशेषेषु प्लीहार्थे यकृदामये ॥ १२ ॥
प्रमेहे सोमरोगे च प्रदरे जठरार्तिषु।
विशेषेण च मन्दाग्नौ सर्वेष्वावर्तकेषु च ॥ १३ ॥
अनुक्तेष्वपि रोगेषु तत्तदौचित्ययोगतः।
रसोऽयं खलु दातव्यः शिवतुल्यपराक्रमः ॥ १४ ॥
यद्यद्द्रव्यमसात्म्यं हि जनानामुपजायते।
तत्सर्वं सात्म्यमायाति रसस्यास्य निषेवणात् ॥ १५ ॥
पीतं हालाहलं तोयं पर्वताग्रे वरोद्धतम्।
सलिलं तैलतत्तुल्यं तज्जलं स्यात्सुधोपमम् ॥
दुःसाध्यो विद्रधिर्मासाच्छान्तिमाप्नोति निश्चितम् ॥

रस (अभ्रकभस्म, वैक्रान्तभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, रूपामाखीभस्म, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध तूतियाभस्म, चपलभस्म और खर्परभस्म) प्रत्येक एक २ कर्ष, उपरस (शुद्ध गन्धक, शुद्ध गेरू, शुद्ध कासीस, फटकरी, शुद्ध हरताल, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध सुरमा, शुद्ध कंकुष्ठ) प्रत्येक एक २ कर्ष, लोह (स्वर्णभस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म, कान्तलोहभस्म, मुण्डलोहभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, नागभस्म, वंगभस्म, कांस्यभस्म, पित्तलभस्म, वर्तलोहभस्म) प्रत्येक एक २ कर्ष लें। इनमें पहिले उपरसों में जिनकी भस्म हो सकती हो उनकी भस्म कर लें। भस्म करने के बाद उनमें से एक २ कर्ष भस्म लें। अभ्रकसत्वभस्म एक कर्ष लें। और रत्न (माणिक्य, मोती, मूँगा, पन्ना, पुखराज, हीरा, नीलम, वैदूर्यमणि और गोमेदमणि की भस्म) प्रत्येक एक २ वल्ल अर्थात् तीन तीन रत्ती अथवा एक २ रत्ती लें। अब इन सब रस, उपरस, लोह तथा रत्नों की सम्मिलित भस्म की अपेक्षा चौगुना शुद्ध पारद और पारद से चौगुना शुद्ध गन्धक लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली कर लें। फिर इस कज्जली को एक लोहपात्र में थोड़ा घृत के साथ डाल कर बेर की लकड़ी के जलते कोयलों पर रखें। घृत पिघल जाने पर उक्त कज्जली को डाल दें। जब कज्जली पिघल जाय तब उसमें उपर्युक्त सम्पूर्ण भस्म तथा औषधियों का चूर्ण डाल दें। और लकड़ी की कड़छी से चलाते जायँ। सब के मिल जाने पर अन्त में सब से सोलहवाँ भाग शुद्ध लालवर्ण का वत्सनाभ-

विषचूर्ण मिला दें। पश्चात् इसको गोबर के ऊपर बिछे हुये कदली-पत्र पर ढाल कर दूसरे केले के पत्ते से ढक कर हाथों में दबा कर चपटाकार करके पत्ते के ऊपर और गोबर रख दें। इसके अनन्तर स्वांगशीतल होने पर पर्पटी को निकाल कर पीस लें और शीशी में भर कर रख लें। शीशी में भरने के पूर्व रसभेषज (रसभैरव) का पूजन कर लें। यह 'सर्वेश्वरपर्पटी रस' कहा जाता है। सम्पूर्ण संसार के हित के लिये इसको श्रीनन्दि नामक आचार्य ने वर्णन किया है। इसमें से एक रत्ती मात्रा लेकर मरिचचूर्ण तथा अदरखरस के साथ प्रतिदिन सेवन करना चाहिये। यह पर्पटी छः प्रकार की विद्रधि, वर्ध्मरोग (वध सात प्रकार के), सब प्रकार के क्षयरोग, पाण्डुरोग, विशेषतः विविध प्रकार के संग्रहणीरोग, आठ प्रकार के गुल्म, सम्पूर्ण अर्शोरोग, प्लीहा, यकृत् वृद्धि, प्रमेह, सोमरोग, प्रदर, उदरविकार, विशेषतः मन्दाग्निरोग तथा आवर्तक रोग (बार बार आक्रमण करने वाला रोग) तथा अन्य रोगों को तत्तत् रोगोचित अनुपान से प्रयोग करने पर दूर करती है। यह शिव के समान पराक्रमी (रोगों को दूर करने में) रस है। इस रस के सेवन करने में यह विशेषता है कि मनुष्य को जो वस्तु या भोजन अनुकूल नहीं पड़ता हो और रोग तथा अस्वास्थ्य पैदा करता हो वह सब वस्तु और भोजन इसके द्वारा अनुकूल हो जाता है। तथा भूल से हालाहल विष का पान किया गया हो या तैल के सदृश जल (जिसमें अनेक विकार पैदा करने की शक्ति है और जो तराई प्रदेशों में कुओं से निकलता है) पान कर लिया गया हो तो वह भी अमृत के समान गुण करता है। एवं अत्यन्त कष्टसाध्य विद्रधिरोग इसके सेवन से एक मास में अवश्य नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—इस पर्पटी की भी अन्य पर्पटी की भाँति मात्रा को बढ़ा कर फिर घटाया जा सकता है। परन्तु बढ़ाने पर मात्रा चार रत्ती से अधिक नहीं होनी चाहिये। "अरुणं विषं" से कोई रक्तवर्ण संखिया को लेते हैं। "संपूज्य" के स्थान पर "युञ्ज्याच्च" पाठ अच्छा लगता है। "सर्वेश्वराभिधानेयं" के स्थान पर तन्त्रान्तर में "विश्वाधाराभिधानेयं" पाठ होने से इसे 'विश्वाधार पर्पटी' भी कहते हैं। 'जनानामुप' के स्थान पर 'जन्मना सह' पाठ है। 'वरोद्धतम्' के स्थान पर 'पयोघृतम्' पाठ है। कहीं २ अन्त में 'भुक्तं यदि च पाषाणं जीर्यते तत्क्षणात्ततः। न तस्मिन्नियतं क्वापि विहाराहारकर्मणि॥' इतना अधिक पाठ मिलता है॥

वरुणकषायः—

वरुणावल्कलक्वाथे हिंगुकासीससैन्धवम्।
शिलाजतुसमायुक्तमसाध्यं विद्रधिं जयेत्॥१७॥

वरना की छाल के कषाय में हींग (भुनी हुई), कासीसभस्म, सैन्धानमक तथा शिलाजीत मिला कर कुछ काल तक निरन्तर पिलाने से असाध्य विद्रधि शान्त हो जाती है॥ १७॥

शोभाञ्जनादिक्वाथः—

क्वाथं शिग्रुवचाश्वत्थं हिंगुसैन्धवचूर्णितैः।
संयुक्तं पाययेच्छान्त्यै विद्रधीरोगपीडितम्॥१८॥

सुहांजना, वच, तथा पीपलवृक्षत्वक् के कषाय में हिंगु, सैन्धानमक मिला कर कुछ दिन तक पान करायें तो रोगी विद्रधिरोग की पीड़ा से मुक्त हो जाता है॥

सर्वामयहरो रसः—

हरिद्राकन्दमङ्कोलतण्डुलं गन्धकं गुडम्।
मूलानि च महाभार्याः पृथगर्द्धपलान्वितम्॥१९॥
तुत्थं च पञ्चपलिकं नारीस्तन्येन पेषितम्।
लिप्तं नालान्धमूषासु धमनात्सत्त्वमाहरेत्॥२०॥
शस्तं क्षारं रसेष्वेतत्पोटल्याः पचनादनु।
घृतेनाऽऽवर्तिते तस्मिन्निष्कद्वितयसम्मिते॥२१॥
प्रवेशितं निष्करसं महाजम्बीरनीरतः।
अम्लपिष्टं शरावान्तर्लिप्तं मृद्वस्त्रमुद्रितम्॥२२॥
अधरोत्तरदत्तानां भ्रष्टानामाढके स्थितम्।
बालुकानां तथाभूतैः खारीपरिमितैस्तुषैः॥२३॥
पक्वं शीतकृतं क्षुण्णमष्टौ निष्काणि खर्परात्।
चत्वारि सुरभिस्थूलघनवर्तुलनीरुजाम्॥२४॥
पीताभानां सगर्भत्वाद्वराटानां च षोडश।
अम्लस्य सार्द्धप्रस्थेन श्लक्ष्णपिष्टानि पात्रयोः॥२५॥
जंबीरमूलिकाकल्केनान्तर्लिप्तानि लिप्तयोः।
पचेच्छुष्ककरीषाणामर्धभारेण यत्नतः॥२६॥
कृष्णवर्णोऽनुपक्वोऽसौ सुपक्वः शंखपांडुरः।
काचशंखमये पात्रे धारणीयः सुरक्षितः॥
पटचूर्णवशात्सर्वानामयान् विनियच्छति॥२७॥

हरिद्राचूर्ण, अङ्कोलबीजचूर्ण, शुद्ध गन्धक, पुराना गुड़, महाभारी वचाचूर्ण; प्रत्येक अर्ध पल अर्थात् दो तोले लें। शुद्ध तुत्थ ५ पल लेकर सब को एकत्र खरल में स्त्रीदुग्ध से अच्छी तरह मर्दन करके अन्धमूषा के नाल या नलिका में लीप कर सुखा लें। पश्चात् इस अन्धमूषा को कोयलों पर रख कर धौंकते हुये इसका सत्वपातन कर लें। अब इस सत्व को एक पोटली में बाँधकर क्षारीयजल तथा गोमूत्र में दोलायन्त्रविधि से पाचन करें। अब इस तुत्थसत्व को दो निष्क परिमाण मात्रा में लेकर समभाग घृत में मिला कर पका लें। पश्चात् इसमें एक निष्क शुद्ध पारद मिला जम्बीरी नींबू के रस से मर्दन कर लें। पश्चात् इसको कांजी में पीस कर दो दृढ़ शरावों के भीतर पोत दें और शरावों को बन्द कर उनके ऊपर कपड़मिट्टी करके सुखा लें। अब इस शरावसम्पुट को एक ऐसी हांडी में रखें जिसमें दो सेर भुनी हुई बालुका नीचे भरी हुई हो, सम्पुट को बालु के ऊपर रख कर फिर दो सेर

बालुका से इस सम्पुट को ढक कर बन्द कर दें। अर्थात् चार सेर बालुका के बीच में उक्त सम्पुट को गाड़ कर हांडी का मुख बन्द करके सुखा लें। अब इस हांडी को एक खारी परिमाण तुषों के बीच में गाड़ कर तुषों में अग्नि लगा कर फूंक लें। स्वांगशीत होने पर शरावसम्पुट से औषधि को निकाल कर पीस लें। अब इसमें आठ निष्क शुद्ध खर्पर और चार निष्क शुद्ध गन्धक मिला पीस लें। फिर इसमें मोटी दलदार, गोल तथा अखण्डित तथा पीतवर्ण कौड़ियों का चूर्ण १६ निष्क मिला डेढ़ सेर परिमाण काञ्जी या नींबू के रस में अच्छी तरह घोटकर, ऐसे दो शरावों में रखें जिनमें पहिले भीतर की तरफ जम्बीरी नींबू की त्वचा के कल्क का लेप करके सुखा लिया गया हो। शरावसम्पुट को बन्द करके कपड़मिट्टी कर लें। अब इस सम्पुट को अर्धभारपरिमाण उपलों की अग्नि में फूंक दें। यह रस अच्छी तरह परिपक्व होने पर शंख के समान श्वेत किञ्चित्पीतवर्ण का होता है। अतः इसे शंखपाण्डुररस नाम से भी कहा जाता है। अल्पपक्व होने पर कृष्णवर्ण होता है। इसको अच्छी तरह पीस कर छान करके काँच की शीशी या शंख के पात्र में अच्छी तरह डाट लगा कर रख लेना चाहिये। यह रस सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—मात्रा आधी रत्ती से एक रत्ती तक है। "शस्तं ह्यारं रसेष्वेतत्" के स्थान पर "शस्तं ह्यररसेष्वेतत्" पाठान्तर है।

अथ वृद्धिचिकित्सा।

दार्वीप्रयोगः—

चूर्णं दारुहरिद्रायाः गवां मूत्रैस्त्रिनिष्ककम्।
चिरं चिरोत्थितां हन्ति अन्त्रवृद्धिं न संशयः ॥ २८ ॥

दारुहल्दी के चूर्ण को तीन निष्क मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ कुछ दिन तक निरन्तर सेवन करने से पुरानी अन्त्रवृद्धि में भी आश्चर्यकारी लाभ होता है।

विशेष वचन—चूर्ण की मात्रा ३ रत्ती से ६ रत्ती तक ॥

वातारिरसस्य प्रयोगोपदेशः—

रसो वातारिनामा यः सोऽत्र देयः पिबेदनु।
एरण्डतैलकर्षैकं गवां क्षीरं पलद्वयम् ॥
अण्डवृद्धिहरं ख्यातं मासमात्रान्न संशयः ॥ २९ ॥

अन्त्रवृद्धि होने पर आगे लिखा जाने वाला वातारिरस मधु के साथ खिला कर अनुपानरूप में एक कर्ष एरण्डतैल को दो पल गोदुग्ध में मिला कर पिलाना चाहिये। एक मास तक इस क्रम को जारी रखने से निःसंदेह अण्डवृद्धि दूर हो जाती है ॥ २९ ॥

वातारिरसः—

रसभागो भवेदेको द्विगुणो गंधको मतः।
त्रिभागा त्रिफला ग्राह्या चतुर्भागश्च चित्रकः ॥ ३० ॥
गुग्गुलुः पंचभागः स्यादेरण्डस्नेहमर्दितः।
क्षिप्त्वाऽत्र पूर्वकं चूर्णं पुनस्तेनैव मर्दयेत् ॥ ३१ ॥
गुटिकां कर्षमात्रां तु भक्षयेत्प्रातरेव हि।
नागरैरण्डमूलानां क्वाथं तदनु पाययेत् ॥ ३२ ॥
अभ्यङ्गैरण्डतैलेन स्वेदयेत्पृष्ठदेशकम्।
विरेके तेन संजाते स्निग्धमुष्णं च भोजयेत् ॥ ३३ ॥
वातारिसंज्ञको ह्येष रसो निर्वातसेवितः।
मासेन सुखयत्येव ब्रह्मचर्यपुरःसरः ॥
विजयागुटिकां रात्रौ स्वल्पमात्राञ्च भक्षयेत् ॥ ३४ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग, हरड़ का चूर्ण एक भाग, बहेड़ाचूर्ण एक भाग, आँवलाचूर्ण एक भाग, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण चार भाग और शुद्ध गुग्गुलु पाँच भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। पश्चात् गूगल को एरण्डतैल में अच्छी तरह कूट कर पतला-सा बना लें। अब इसमें कज्जली तथा अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर पुनः एरण्डतैल से अच्छी तरह मर्दन (कूटना) करें अन्त में एक २ तोले की गोली बना कर रख लें। इनमें से एक गोली प्रतिदिन प्रातःकाल सौंठ तथा एरण्डमूलत्वक्कषाय के साथ सेवन करें। इसके पश्चात् पृष्ठ प्रदेश पर एरण्डतैल की मालिश करके स्वेदन करें। इस क्रिया से जब दस्त हो जाय तो रोगी को स्निग्ध तथा उष्णगुणयुक्त भोजन खिलाना चाहिये। इस 'वातारिनामक रस' को प्रवात रहित स्थान में सेवन करना चाहिये। और इसके सेवनकाल में रोगी को एक मास तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में रात्रि के समय बहुत अल्पमात्रा में विजयगुटिका का भी निद्रा लाने के लिये प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—यह रस वातविकारों के लिये अत्युत्तम है। अन्त्रवृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था में और कटिशूल, त्रिकशूल तथा शरीर के किसी प्रदेश में नाड़ीशूल होने पर इसका प्रयोग अत्यन्त लाभदायक होता है। इस रस में त्रिफला की प्रत्येक औषधि तीन-तीन भाग में लेना अच्छा है। आधुनिक मात्रा १ मासे से २ मासे तक ॥ ३०—३४ ॥

तैलार्द्रकप्रयोगः—

कर्षैकं तिलतैलन्तु पलैकं चार्द्रकद्रवम्।
यः पिबेत्प्रातरुत्थाय तस्याऽन्तर्वृद्धिहृद्भवेत् ॥ ३५ ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल एक कर्ष तिलतैल को एक पल अदरख के रस में मिला कर (कुछ काल तक निरन्तर) सेवन करने से अन्त्रवृद्धि दूर हो जाती है ॥ ३५ ॥

अन्त्रवृद्धौ पानीयतैलम्—

गोमूत्रैरण्डतैलं च छागमांसरसं तथा।

त्रिफलाक्वाथतुल्यांशं तैलशेषं तु पाचयेत् ॥
तत्तैलं तु पिबेत्कर्षमन्त्रवृद्धिप्रशान्तये ॥ ३६ ॥

शुद्ध एरण्ड तैल एक भाग, गोमूत्र चार भाग, बकरे का मांसरस एक भाग, त्रिफलाकषाय एक भाग लें। सब को एकत्र मिला कर स्नेहपाकविधान से तैल पका कर रख लें। तैल को प्रतिदिन एक कर्ष मात्रा में सेवन करने से अन्त्रवृद्धि दूर हो जाती है।

विशेष वचन—तैल को दूध में मिला कर पिलाना चाहिये। यदि रोगी को मलबन्ध रहता हो तो २½ तोले तक एरण्डतैल पिलाया जा सकता है ॥ ३६ ॥

अन्त्रवृद्धौ घृतं तैलञ्च—

दध्यारनालमदिरामातुलुंगरसैः समैः।
ताम्रचूडरसैस्तुल्यं तैलं वा घृतमेव वा ॥
स्नेहशेषं पचेत्सर्वं तत्पिबेदन्त्रवृद्धिजित् ॥ ३७ ॥

दही, आरनाल (काञ्जी), मदिरा, बिजौरा नींबू का रस, मुर्गे के माँस का रस प्रत्येक एक २ भाग, तिलतैल अथवा गोघृत एक भाग लें। अब सब को एकत्र मिलाकर स्नेहावशेष रहने तक मन्द २ अग्नि से पका स्नेहसिद्ध कर लें। यह तैल अथवा घृत कुछ काल सेवन करने से अन्त्रवृद्धि रोग को दूर करता है।

विशेष वचन—तैल अथवा घृत को दूध में मिला कर सेवन करना चाहिये। मात्रा ६ मासे से १ तोला तक ॥ ३७ ॥

अन्त्रवृद्धौ मांसरसः—

अन्त्रवृद्धिहरः पाने मयूरात्तित्तिराद्रसः ॥ ३८ ॥

अन्त्रवृद्धि वाले रोगी को यदि मांस रस देना हो तो मोर और तीतर का मांसरस देना चाहिये। यह रस बल्य तथा वातहर होते हैं ॥ ३८ ॥

अन्त्रवृद्धौ द्वितीयमांसरसः—

वार्ताकं कुक्कुटं पक्त्वा तद्रसं पानभोजने।
योजयेदन्त्रवृद्ध्यार्तं शममाप्नोति नान्यथा ॥ ३९ ॥

अन्त्रवृद्धि वाले रोगी के लिये भोजन में मिला कर सेवन करने के लिये बैंगन अथवा तीतर तथा मुर्गे के मांस का रस यथाविधि संस्कृत करके प्रतिदिन देना चाहिये। इसके कुछ काल प्रयोग से अन्त्रवृद्धि शान्त हो जाती है ॥ ३९ ॥

गुल्मपूर्वरूपम्—

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि।
आटोपमाध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥

अधिक डकारों का आना, मलबन्ध रहना, तृप्ति (भोजन की इच्छा न होना), कार्य करने की शक्ति में न्यूनता आ जाना अथवा अधिक भोजन या कुछ मात्रा में अधिक भोजन करने पर बेचैनी होना, आँतों में और पेट में शब्द होना, पेट में आटोप (पेट में पीड़ा के साथ क्षोभ), अफारा, पाचनशक्ति का ह्रास, ये लक्षण होने वाले गुल्मरोग में होते हैं ॥ ४० ॥

अथ गुल्मचिकित्सा।

गन्धकादिपोटलीरसः—

गन्धकं तालकं ताप्यं शिलाह्वं पिप्पलीकृते।
कषाये भावयेत्स्नुह्याः क्षीरे मूत्रे च सप्तशः ॥ ४१ ॥
निष्कार्द्धमस्याः पोटल्याः स्यादर्द्धं साज्यमाक्षिकम्।
प्रयोज्यं सयकृत्प्लीह्नि पञ्चकोलपलाशिना ॥ ४२ ॥

शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध मैनसिल; इन चारों को समान भाग में लेकर पिप्पली के कषाय में थोहर के दूध में तथा गोमूत्र में क्रम से सात सात बार भावना दें और सुखा कर रख लें। इसमें से अर्धनिष्क परिमाण मात्रा में लेकर उसमें घृत और मधु चौथाई निष्क परिमाण मात्रा में मिला कर प्रतिदिन सेवन करें और इसके पश्चात् अनुपानरूप में पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक तथा सौंठ) कषाय का पान करें तो गुल्म तथा यकृत् प्लीहरोग शान्त हो जाते हैं ४१—४२ ॥

गन्धकादिपोटल्याः प्रयोगान्तरम्—

वर्षाभूः कारवी शौण्डी सूची वचफलासनम्।
तिलाक्षियुगमाबाणनिशाकर्कन्धुसूरिका ॥ ४३ ॥
रक्तागस्त्येन्दुरेखाब्दनीलज्योतिरयो मृतम्।
वल्कलं बहुवल्ल्यर्याः कृष्णाः काम्बोजिकाफलम् ॥ ४४ ॥
गवाक्षीरजनीकृष्णा निम्बवेल्लकठिल्लकम्।
मानिकांशं पृथक् क्षुण्णं तुल्यं भूशर्करा घृतम् ॥४५॥
त्रिफलाबीजतैलेन भावितं कर्षसम्मितम्।
प्राह्णे घृतेन मध्याह्ने गुडेन मधुना निशि ॥ ४६ ॥
पादं पादार्द्धमात्रं वा पोटल्याश्च रजो भवेत्।
हैयङ्गवीनशाल्यन्नकृष्णागोक्षीरवर्तिनः ॥ ४७ ॥
एवं वर्षत्रयं कुर्यात् स्याद्वलीपलितोज्झितः।
प्रत्यहं मण्डलं खादेत्पथ्यं त्यक्त्वा ततः परम् ॥
इष्टाहारविहारी च सहस्रायुर्भवेद्ध्रुवम् ॥ ४८ ॥

पुनर्नवा, कालाजीरा, पिप्पली, कुश की जड़, वचा; त्रिफला, विजयसार, तिलफलों की डंठल, ऋद्धि, शरपुंखभेद, हरिद्रा, जंगली बेर, राई, लाल अगथियापुष्प, बावची, नागरमोथा, रसाञ्जन अथवा नील तथा चित्रकमूल, लोहभस्म, सुहांजने की छाल कालीमिरचचूर्ण, गुञ्जाबीज, गोरक्षकर्कटी, हरिद्रा, पिप्पली, निम्बत्वक्, वायविडंग, पुनर्नवा; इन सब को पृथक् पृथक् एक एक माणिका (आधा सेर) परिमाण में लेकर चूर्ण कर लें। सब को एकत्र मिला कर उसमें सब चूर्ण के समान भाग शकर अथवा शकरकन्दी का चूर्ण और घृत मिला लें। अन्त में इसको त्रिफला-

बीजतैल से भावित करके रख लें। इसमें से एक कर्ष मात्रा में प्रातःकाल प्रतिदिन घृत के साथ मध्याह्न में गुड़ के साथ रात्रि के समय मधु के साथ सेवन करें। परन्तु इस अवलेह के साथ षोड-शांश 'गन्धकादि पोटलीरस' मिश्रण कर सेवन करना चाहिये। अर्थात् एक कर्ष प्रकृत योग और ६ रत्ती गन्धकादि पोटलीचूर्ण दोनों को मिला कर सेवन करना चाहिये। इस योग के साथ पोटलीरस सेवन करने पर मक्खन (ताज़ा), शालिधानों का भात और कृष्णवर्ण गाय का दूध का ही सेवन करना चाहिये। इस विधि से उक्त पोटली को तीन वर्ष पर्यन्त सेवन करने से रोगी बली तथा पतित रोगों से रहित हो जाता है। तीन वर्ष के बाद प्रतिवर्ष ४८ दिन तक पथ्यपूर्वक सेवन करना चाहिये। पश्चात् पथ्य छोड़ कर यथेच्छ खान पान करें। इस रस को प्रति वर्ष ४८ दिन तक सेवन करने से मनुष्य एक हजार वर्ष तक जीवित रह सकता है। अर्थात् वह रोग रहित होने से दीर्घायु होता है॥

वंगेश्वररसः—

भस्मसूतं वङ्गभस्म पलैकैकं प्रकल्पयेत्।
गन्धकं मृतताम्रं च प्रत्येकं च पलं पलम्॥४९॥
अर्कक्षीरैर्दिनं मर्द्यं सर्वं तद्गोलकीकृतम्।
रुद्ध्वा तद्भूधरे पाच्यं पुटेकेन समुद्धरेत्॥५०॥
एष वंगेश्वरो नाम प्लीहगुल्मोदरापहः।
घृतैर्गुञ्जाद्वयं लेह्यं निष्कं श्वेतपुनर्नवा।
गवां मूत्रैः पिबेच्चानु रजनीं वा गवां जलैः॥५१॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), वंगभस्म, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, प्रत्येक एक २ पल लें। पहिले रससिन्दूर और शुद्ध गन्धक की एकत्र कज्जली सी कर लें। पश्चात् इसमें वंगभस्म तथा ताम्रभस्म मिला कर आक के दूध से एक दिन अच्छी तरह मर्दन कर गोला सा बना कर सुखा लें। पश्चात् इस गोले को एक शरावसम्पुट में बन्द करके कपड़मिट्टी करके सुखा लें और भूधरयन्त्र में पका लेवें। स्वांगशीतल होने पर सम्पुट से औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन दो रत्ती मात्रा में लेकर घृत के साथ चटायें। और इसके पश्चात् एक निष्क श्वेतपुनर्नवा मूल को गोमूत्र में घोट छान कर पिलायें। अथवा गोमूत्र में हरिद्राचूर्ण डालकर पिलायें। यह वंगेश्वररस प्लीहा गुल्म तथा उदररोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—भूधरयन्त्र में उक्त रस को गन्धक की गन्ध आने तक ही पकाना चाहिये। अन्यथा अधिक पकाने से इसकी क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक॥ ४९–५१॥

देवदालीपञ्चांगचूर्णम्—

पञ्चांगदेवदाल्यास्तु चूर्णकर्षं शिवाम्बुना।
मासमात्रं पिबेद्यस्तु प्लीहा तस्य करोति किम्?॥५२॥

देवदाली (वन्दाल) का पञ्चांग (फल, फूल, मूल, पत्र, त्वचा) लेकर चूर्ण कर लें। इसमें से प्रतिदिन एक २ कर्ष मात्रा में हरीतकीकषाय के साथ एक मास तक बराबर सेवन करने से प्लीहावृद्धि दूर हो जाती है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ मासे से २ मासे तक॥

तक्रासवः—

लवणं रजनी राजी प्रत्येकं पलपञ्चकम्।
चूर्णितं निक्षिपेद्भाण्डे शततक्रपलान्विते॥५३॥
त्रिदिनं मुद्रितं रक्षेत्पश्चात्पंचपलं सदा।
पीत्वा विनाशयेत्प्लीहं त्रिसप्ताहान्न संशयः॥५४॥

सैन्धानमक, हरिद्राचूर्ण, राईचूर्ण प्रत्येक पाँच पाँच पल मात्रा में लेकर एक बड़े दृढ़ मटके में डाल दें। उसमें फिर सौ पल परिमाण तक्र डाल कर मटके का मुँह बन्द करके तीन दिन तक एकान्त में रख दें। फिर चौथे दिन इसे खोल कर कपड़े में छान लें। इसमें से प्रतिदिन पाँच पल मात्रा में तीन सप्ताह तक पीने से प्लीहावृद्धि दूर हो जाती है। इसमें संदेह नहीं है॥

एरण्डक्षारम्—

समूलपत्रमेरण्डं रुद्ध्वा भाण्डे पुटे पचेत्।
तत्कर्षं पलगोमूत्रैः पीतं प्लीहविनाशनम्॥५५॥

एरण्डमूलत्वक् तथा पत्रों को सुखा कर मोटा चूर्ण करके एक पात्र में भर कर उसका मुँह बन्द करके पुट में फूँक लें। इसमें से प्रतिदिन एक कर्ष मात्रा में एक पल गोमूत्र के साथ सेवन करने से प्लीहारोग नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ६ रत्ती तक। यदि भस्म का क्षार बनाना हो तो उसे क्षारनिर्माणविधि से तय्यार कर इसकी एक मासा मात्रा देनी चाहिये॥ ५५॥

शरपुंखादियोगः—

शरपुंखार्कयोर्मूलं चिरं दन्तैश्च चर्वितम्।
गिलितं नाशयेत्प्लीहं यवागूपानमाचरेत्॥ ५६॥

शरपोंखा की तथा आक की जड़ की छाल को मुख में रख कर धीरे धीरे चबाते हुये रस निकालने से प्लीहा दूर हो जाती है। इसको चबा कर भोजन के समय रोगी को यवागू देनी चाहिये॥

वज्रक्षारप्रयोगः—

वज्रक्षारं तु कर्षैकं भक्ष्यं प्लीहविनाशनम्॥ ५७॥

उदरचिकित्साप्रकरण में लिखे हुये वज्रक्षार को एक कर्ष मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से प्लीहारोग शान्त होता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती॥५७॥

काञ्चनीप्रयोगः—

कांचनीमूलचूर्णं तु निष्कमात्रं सदा पिबेत्।

सुरया कांजिकैर्वाऽथ हन्ति प्लीहं चिरंतनम् ॥ ५८ ॥

काञ्चनी (हरिद्रा या स्वर्णक्षीरी) मूल का चूर्ण एक निष्क मात्रा में प्रतिदिन मद्य अथवा काञ्जी के साथ सेवन करने से चिरकालीन प्लीहावृद्धि शान्त हो जाती है। काञ्चनी से स्वर्णक्षीरी लेना उत्तम होगा ॥ ५८ ॥

प्लीह्नि रक्तमोक्षणम्—

प्लीहानां पृष्ठदेशे तु रक्तस्रावं च कारयेत् ।
अर्कक्षीरं ससिन्धूत्थं क्षिपेत्तत्र रुजापहम् ॥ ५९ ॥

प्लीहारोग पीड़ित मनुष्यों के पृष्ठ प्रदेश पर स्थित शिरा का वेधन कर रक्तस्राव करके उस स्थान पर पीड़ा को शान्त करने के लिये अर्कदुग्ध में सैन्धानमक मिला कर लगाना चाहिये।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में बाहुमध्य अथवा कनिष्ठिका तथा अनामिका अंगुलियों के बीच की शिरा का वेधन करने को भी लिखा है ॥ ५९ ॥

शिखिवाडवो रसः—

मारितं सूतताम्राभ्रं गन्धकं माक्षिकं समम् ।
मर्दयित्वार्द्रकद्रावैर्यवक्षारयुतैर्दिनम् ॥ ६० ॥
त्रिगुंजं भक्षयेन्नित्यं नागवल्लीदलेन च ।
वातगुल्महरः ख्यातो रसोऽयं शिखिवाडवः ॥ ६१ ॥
विडंगं दाडिमं हिंगु सैन्धवैलासुवर्चलम् ।
मातुलुङ्गरसैः पिष्ट्वा कर्षैकं सुरया सह ॥
वातगुल्महरं देयमनुपानं सुखावहम् ॥ ६२ ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), ताम्रभस्म, कृष्णाभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक, स्वर्णमाक्षिकभस्म प्रत्येक द्रव्य समभाग लें। पहिले रस सिन्दूर तथा शुद्ध गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर यवक्षार जल तथा अदरखस्वरस से एक एक दिन पृथक् पृथक् मर्दन करके दो रत्ती की गोली बना लें। इसे पान के पत्ते में रख कर रोगी को प्रतिदिन चबवायें। यह वातिक गुल्म को शान्त करने वाला 'शिखिवाडव' रस कहा जाता है। इसके खाने के बाद वायविडंग, अनारदाना, हींग, सौंचलनमक, सैन्धानमक को एक २ कर्ष मात्रा में लेकर बिजौरा-नीबू के रस से मर्दन करके बनाये हुये चूर्ण को उचित मात्रा में लेकर मद्य के साथ सेवन करें। यह वात गुल्म के लिये सुखजनक अनुपान है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इसको 'वडवानलरस' के नाम से लिखा है। अनुपानचूर्ण की मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक। तन्त्रान्तर में इसको सब प्रकार के गुल्म तथा परिणामशूल के लिये भी लिखा है। और अनुपान में हिंग्वादिघृत कहा है, यथा "हिंगुसौवर्चलत्र्यूषसिन्धुदाडिमदीप्यकैः। प्रतिचूर्णं कर्षमात्रं प्रस्थं प्रस्थं घृतं दधि ॥ पाच्यं घृतावशेषं तं कर्षार्द्धमनुपानतः। वातगुल्मञ्च शूलञ्च आनाहञ्च विनाशयेत् ॥" रसेन्द्रसारसंग्रह में पारदभस्म के स्थान पर शुद्ध पारद कहा है। और इसको चित्रककषाय तथा पान के स्वरस से मर्दन करने को लिखा है ॥ ६०—६२ ॥

दीप्तामरो रसः—

शुद्धं सूतं समं गन्धं सूतांशं मृतताम्रकम् ।
शाकवृक्षोत्थपञ्चाङ्गद्रवैर्मर्द्य दिनत्रयम् ॥ ६३ ॥
दिनं सर्पाक्षिजैर्द्रावै रुद्ध्वा गजपुटे पचेत् ।
पञ्चधा भूधरे चाथ चूर्णं जैपालतुल्यकम् ॥ ६४ ॥
द्विगुञ्जं भक्षयेच्चाज्यैः पित्तगुल्मप्रशान्तये ।
द्राक्षाहरीतकीक्वाथमनुपानं प्रकल्पयेत् ॥
रसो दीप्तामरो नाम पित्तगुल्मं नियच्छति ॥ ६५ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक तथा ताम्रभस्म; तीनों को समान भाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें ताम्रभस्म मिलायें। पश्चात् इसको सागौन वृक्ष के पञ्चांग के कषाय में तीन दिन तक मर्दन करें। पश्चात् एक दिन नाकुलीकन्द के स्वरस से मर्दन करके गोला बना कर सुखा लें। सूखने पर इसे शरावसम्पुट में बन्द करके एक गजपुट में फूँक दें। पश्चात् गोले को निकाल इसे पुनः उक्त औषधियों के स्वरस या कषाय से मर्दन कर पाँच बार भूधरयन्त्र में पकावें। अन्त में निकाल कर पक्व औषधि के समान भाग शुद्ध जैपालबीजचूर्ण मिलाकर पीस लें। इसमें से दो रत्ती मात्रा में लेकर घृत के साथ प्रतिदिन सेवन करें। इस के खाने के पश्चात् अनुपान रूप में द्राक्षा, हरीतकी का कषाय देना चाहिये। यह रस 'दीप्तामर' नाम से कहा गया है और पित्तगुल्म को शान्त करता है।

विशेष वचन—यहाँ यद्यपि गजपुट देने को लिखा है तथापि लघुपुट देना योग्य है। क्योंकि गजपुट में गन्धक पारद का सब भाग उड़ जायगा। अतः लघुपुट या भूधरपुट देना ही पर्याप्त है। रसरत्नाकर में इस रस को 'उड्डामर' नाम से लिखा है ॥ ६३-६५॥

विद्याधरो रसः—

गन्धकं तालकं ताप्यं मृतताम्रं मनःशिलाम् ।
शुद्धं सूतं च तुल्यांशं मर्दयेद्भावयेद्दिनम् ॥ ६६ ॥
पिप्पल्यास्तु कषायेण भावयेत्स्नुग्भवेन च ।
निष्कार्द्धं भक्षयेत्क्षौद्रैर्गुल्मं प्लीहं विनाशयेत् ॥
रसो विद्याधरो नाम गोमूत्रं च पिबेदनु ॥ ६७ ॥

शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध पारद; सब को समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें, फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर पीस लें। अब इसको पिप्पली के कषाय तथा डंडाथोहर के दूध से एक २ दिन भर मर्दन करें और सुखा कर शीशी में रख लें। इस रस को आधा निष्क मात्रा में मधु के साथ रोगी को चटा कर गोमूत्र का

अनुपान दें। यह 'विद्याधर रस' है। इसका प्रतिदिन सेवन से गुल्म प्लीहा रोग नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक। इस विद्याधर रस के अतिरिक्त भैषज्यरत्नावली, रसेन्द्रसारसंग्रह में एक दूसरा भी विद्याधररस पाया जाता है, जिसका पाठ इस प्रकार है, "पारदं गन्धकं तालं ताप्यं स्वर्णं मनःशिलाम्। कृष्णाक्राथैः स्नुहीक्षीरैर्दिनैकं मर्दयेत्सुधीः॥ निष्कार्द्धं श्लैष्मिकं गुल्मं हन्ति मूलानुपानतः। रसो विद्याधरो नाम गोदुग्धञ्च पिबेदनु"। प्रकृत ग्रन्थ के योग और इस योग में भेद इतना ही है कि अन्यत्र स्वर्णभस्म है और यहाँ ताम्रभस्म। प्रकृत ग्रन्थ में इस रस को गुल्म साधारण के लिये लिखा है अन्यत्र श्लैष्मिक गुल्म के लिये विशेषरूप में लिखा है, श्लेष्मिक गुल्म के लिये यह रस अधिक उपयोगी है।६६-६७।

व्योषादिचूर्णम्—

तिलक्वाथो गुडं चाज्यं व्योषं भार्ङ्गीरजोन्वितम्।
पानं रक्तभवे गुल्मे नष्टपुष्पे तु योषितः॥ ६८॥

सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण तथा पिप्पलीचूर्ण को एकत्र मिला तिलक्वाथ तथा पुराने गुड़ तथा घृत के साथ पिलाने से रक्तगुल्म तथा आर्तवावरोध में लाभ होता है। घी के स्थान पर हींग का उपयोग सामान्यतः होता है।

देवदार्वादिचूर्णम्—

देवदारुकणा भार्ङ्गी शुंठी करञ्जवल्कलम्।
चूर्णं तिलानां क्वाथेन रक्तगुल्महरं भवेत्॥ ६९॥

देवदारु, पिप्पली, भारंगी, सौंठ तथा करञ्जत्वक् का समभाग में एकत्र चूर्ण करके उचित मात्रा में तिलों के कषाय के साथ सेवन करने से रक्तगुल्म दूर होता है॥६९॥

रक्तोदरकुठाररसः—

पारदं शिखितुत्थं च जैपालं पिप्पली समम्।
आरग्वधफलान्मज्जा वज्रीदुग्धेन भावयेत्॥ ७०॥
सूक्ष्ममात्रां वटीं खादेत्स्त्रीणां हन्याज्जलोदरम्।
चिञ्चाफलरसं चानु पथ्यं दध्योदनं हितम्॥
रक्तोदरं हरेत्सैव कठिनं रेचयेदनु॥ ७१॥

शुद्ध पारद, शुद्ध तूतिया, शुद्ध जैपालबीजचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, अमलतास की फली का गूदा प्रत्येक समभाग लें। पश्चात् सब को एकत्र कर खरल में डाल कर डंडाथोहर के दूध से एक भावना देकर बहुत छोटी २ गोली बना लें। इस रस को नियमपूर्वक सेवन कराने से स्त्रियों का जलोदर रोग नष्ट होजाता है। इसका अनुपान इमली के फल का रस है। इस रस के द्वारा विरेचन होने के पश्चात् पथ्य में दही चावल दें। यह रक्तोदर को नाश करता है तथा इसके द्वारा तीव्र रेचन होता है।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में इस योग का नाम 'उदरारिरस' है। रसेन्द्रचिन्तामणि तथा भैषज्यरत्नावली में 'शिखितुत्थं' के स्थान पर 'शुक्तितुत्थं' पाठान्तर है। जिसके अनुसार वहाँ शुक्ति की भस्म भी डालते हैं। "सूक्ष्ममात्रां" के स्थान पर "माषमात्रां" पाठान्तर ठीक है। रसरत्नाकर में "सूक्ष्ममात्रा" इत्यादि के स्थान पर "धात्रीफलरसैः खादेत् स्त्रीणां रक्तोदरं हरेत्" पाठान्तर है "रेचयेदनु" पद्य के स्थान पर "लेपनेन तु" ऐसा पाठान्तर रसरत्नाकर का है। यहाँ पर रक्तोदर से अभिप्राय रक्तगुल्म का है॥

वैश्वानररसः—

विष्णुक्रान्ता च जैपालं लाङ्गली सुरदारिका।
यवचिञ्चाम्बुसारेण तासां द्विगुणगन्धकम्॥७२॥
पक्षं विमर्दितं सूतं स्वेदयेन्मृदुनाऽग्निना।
गुल्मे गुञ्जात्रयञ्चास्य सोष्णाम्बुघृतसैन्धवम्॥७३॥
वातजे कफजे लिह्यान्मध्वार्द्रकसमन्वितम्।
ससितामाक्षिकं पैत्ते सोऽयं वैश्वानरो रसः॥७४॥

अपराजिताचूर्ण, शुद्ध जैपालचूर्ण, कलिहारीमूलचूर्ण; वन्दालचूर्ण प्रत्येक एक एक भाग लें। फिर इन सब की अपेक्षा शुद्ध गंधक द्विगुण, तथा गन्धक के बराबर भाग शुद्ध पारद लें। पहिले पारद गंधक की कज्जली करें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण को मिला कर यवचिञ्चा (क्षीरिणी या तितली) के अम्बुसार (क्वाथोदक) से पन्द्रह दिन तक अच्छी तरह मर्दन कर गोला-सा बना सुखा लें। पश्चात् इसे शरावसम्पुट में बन्द कर कपड़मिट्टी करके सुखा लें। और मृदु अग्नि अर्थात् कुक्कुटपुट में स्वेदन (पाक) कर लें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल कर पीस लें। इसको गुल्म रोग में तीन रत्ती मात्रा में घृत तथा सैन्धानमक और गरम पानी के साथ सेवन करें। वातप्रकोपजन्य तथा कफज गुल्म में मधु तथा अदरख के रस के साथ सेवन करें। पित्तगुल्म में इसको मिश्री तथा मधु के साथ सेवन करें। इसे 'वैश्वानररस' कहते हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में "यवचिञ्चाम्बुसारेण तासां द्विगुणगन्धकम्।" के स्थान पर "यवचिञ्चीजसारेण रसद्विगुणगन्धकम्।" ऐसा पाठान्तर मिलता है। इसी तरह 'सूतं' के स्थान पर 'सर्वं' पाठ मिलता है॥ ७२–७४॥

अग्निकुमाररसः—

जैपालगन्धाश्मरसत्रयाणां फलत्रयस्यापि कटुत्रयस्य।
मूत्रे गवां षोडशभागमाने भागान्नवैकत्र दिनत्रयं च॥७५॥
विमर्द्य तेषां बदरप्रमाणां बद्ध्वा वटीमुष्णजलानुपानात्।
एकत्र युक्ता सहसा निहन्ति सा रेचयित्वा मलजालमादौ॥
गुल्मं यकृत्पाण्डुविबन्धशूलं मांद्यं ज्वरं चाथ जलोदरं च।
अग्नेः कुमारः सहसा निहन्यादुद्दीपितो दीप इवान्धकारम्॥

शुद्ध जैपालबीजचूर्ण, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद, हरीतकीचूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, सौंठ का चूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण; प्रत्येक एक २ भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। पश्चात् उसमें शेष सात द्रव्यों का चूर्ण मिला कर सबकी अपेक्षा सोलह गुना गोमूत्र मिलाकर तीन दिन तक अच्छी तरह खरल करें और जंगली बेर के बराबर गोली बना लें। इनमें से एक गोली गरम जल के अनुपान से प्रतिदिन सेवन करें। इस रस की एक ही गोली गरम जल से देने पर तत्काल सम्पूर्ण सञ्चित मल को निकाल कर गुल्म, यकृत्, पाण्डु रोग, मलबन्धजन्य शूल, अग्निमान्द्य, ज्वर-तथा जलोदर को नष्ट करती है। यह 'अग्निकुमाररस' उक्त रोगों को ऐसे तत्काल नष्ट करता है जैसे प्रज्वलित दीपक तत्काल अन्धकार को नष्ट करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ६ रत्ती तक। तन्त्रान्तर में 'जैपाल' के स्थान पर 'नेपाल' पाठ मिलता है। जिसका अभिप्राय ताम्रभस्म है। परन्तु ताम्रभस्म डालने से इस रस के द्वारा पूर्ण रेचन नहीं हो सकता है। अतः हमने जैपाल ही अर्थ किया है। 'एकत्र' के स्थान में 'एकाऽत्र' ऐसा पाठ उचित है॥

सर्वांगसुन्दरः प्राणेश्वरो रसः—

शुद्धमभ्रं रसं गन्धं मेलयित्वा समांशकम्।
तालमूलीरसैर्मर्द्य कल्कं सम्पादयेच्छुभम् ॥७८॥
तत्कल्कं कूपिकामध्ये कृत्वा वक्त्रं निरुन्धयेत्।
खटिन्या मुखमाच्छाद्य मृदा खर्परसंज्ञया ॥७९॥
कूपिकां लेपयेत्सर्वां शोषयेदातपे खरे।
कूपिकां भूमिगर्तायां कृत्वा तां पुटयेत्ततः ॥८०॥
कूपिकां मर्दयेत्कृत्स्नां खटिन्या सह संयुताम्।
त्रिभिः क्षारैस्तु तच्चूर्णं पञ्चभिर्लवणैस्तथा ॥८१॥
त्र्यूषणं त्रिफला हिंगु पुरमिन्द्रयवास्तथा।
गुञ्जाङ्किनी तथा चित्रमजमोदा यमानिका ॥८२॥
एतानि समभागानि समादाय विचूर्णयेत्।
योजयेत्सह सूतेन ततः सिद्ध्यति सूतकः ॥८३॥
सिद्धसूतस्य चूर्णेन माषं सर्वरुजापहम्।
भक्षयेत्प्रातरुत्थाय रसः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥८४॥
उष्णोदकानुपानं तु पाययेच्चुलुकद्वयम्।
भक्षयेदेकवारं तु द्विवारं न कथञ्चन ॥ ८५ ॥
दिनमध्ये वारमेकं दातव्यो भिषजा रसः।
शीतोदकं सकृद्देयं तृडभावेऽप्यहर्निशम् ॥ ८६ ॥
भोजने वर्जयेत्तत्र शाकाम्लं द्विदलं तथा।
तैलाभ्यङ्गं ब्रह्मचर्यं वर्जयेच्छयनं दिवा ॥ ८७ ॥
हितं तत्सेवयेत्पथ्यमहितं च विवर्जयेत्।
अनेनैव प्रकारेण योजयेत्प्रतिवासरम् ॥ ८८ ॥
यस्त्वचेतनतां याति सन्निपाती कथञ्चन।
तस्य नातिप्रयोक्तव्यो रसो यत्नाद्भिषग्वरैः ॥ ८९ ॥
देवाग्निऋषिविप्रांश्च कुमारीयोगिनीगणान्।
पूजयित्वा यथाशक्त्या सेव्यः प्राणेश्वरो रसः ॥ ९० ॥
गुल्मं चाष्टविधं वातं शूलं च परिणामजम्।
सन्निपातज्वरं चैव प्लीहानमपकर्षति ॥ ९१ ॥
कामलां पाण्डुरोगं च मन्दाग्निं ग्रहणीं तथा।
शिववत्सेविता हन्ति रसः प्राणेश्वरस्त्वयम् ॥ ९२ ॥

शुद्ध कृष्णाभ्रकभस्म (धान्याभ्रक), शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक तीनों को समान भाग में लें। पहिले पारद गन्धककी कज्जली करके उसमें अभ्रकचूर्ण मिला, मूसली के स्वरस से मर्दन कर कल्क बना लें। अब इस कल्क को सुखा कर एक दृढ़ शीशी में भर कर उसके मुख को बन्द कर दें और शीशी पर ठीकरों की मिट्टी से तीन चार कपड़मिट्टी करके तेज धूप में सुखा लें। पश्चात् इस कूपिका (शीशी) को जमीन में एक गढ़ा खोद कर उसमें भूधरपुट की विधि से फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल शीशी के द्रव्य को निकाल लें। फिर इसमें सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, हरीतकीचूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, यवक्षार, सर्जक्षार, टङ्कण, सैन्धानमक, विडनमक, सौचलनमक, समुद्रनमक, साभरनमक, हिंगु (हींग), अगुरुचूर्ण अथवा गुग्गुलु, इन्द्रजौचूर्ण, गुञ्जाचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, अजवाइनचूर्ण, अजमोदचूर्ण; इनको परस्पर सम भाग में लेकर के सब को उक्त कूपीपक्वरस के समान भाग (सब का मिला हुआ चूर्ण रस के बराबर भाग) मिला कर अच्छी तरह पीस लें। इस प्रकार यह रस सिद्ध होता है। इसमें से एक मासा मात्रा में प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करके ऊपर से दो चुल्लू गरम जल पीवें। सब रोगों को नाश करने वाला यह 'सर्वाङ्गसुन्दररस' कहा जाता है। इसको दिन में केवल एक बार ही सेवन करना चाहिये, दुबारा नहीं। इस रस के सेवन करने के पश्चात् रोगी को तृषा न लगने पर भी दिन रात में एक वार अवश्य ही शीतल जल पिलाना चाहिये। और इसके सेवनकाल में शाक, अम्लद्रव्य, दाल, तैल की मालिश, ब्रह्मचर्य तथा दिन में सोना; इन सब बातों का परिहार करना चाहिये। संक्षेपतः जो कार्य तथा द्रव्य, भोजन, हितकर हों उन्हें सेवन करें और जो अहितकर हो उन्हें त्याग देना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन एक बार इस रस का प्रयोग करना चाहिये। यदि कोई सन्निपात रोगी कदाचित् बेहोश हो जाय तो उसे चेतना में लाने के लिये इस रस का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये यह 'प्राणेश्वररस' देवता, अग्नि, ऋषि, ब्राह्मण, कन्या, योगिनी और रुद्रगणोंकी यथाशक्ति पूजा करनेके पश्चात् सेवन करने से अधिक फलप्रद होता है। यह रस यथाविधि सेवन करने से आठ

प्रकार के गुल्म, वातप्रकोपशूल, परिणामशूल, सन्निपातज्वर, प्लीहावृद्धि, कामला, पाण्डुरोग, मन्दाग्नि तथा ग्रहणी रोगों से मुक्त करके रोगी के प्राणों की रक्षा उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार यथाविधि सेवा या पूजा करने से प्रसन्न हुये शंकर भगवान् सेवक को सांसारिक सब दुःखों से मुक्त करके अमर बना देते हैं।

विशेष वचन—इस रस को तन्त्रान्तर में प्राणेश्वर नाम से लिखा है। और वहाँ इसके निर्माण की विधि कुछ भिन्न होती हुई भी सुगम लिखी है। इसी तरह पथ्य प्रयोग में वहां स्पष्ट अर्थ मिलता है कि "इसके सेवनकाल में रोगी को ब्रह्मचर्य का सेवन करना चाहिये" ऐसा कोई रोग नहीं (शुक्ररोधजन्य उदावर्त को छोड़ कर) जिसमें ब्रह्मचर्य रखने से हानि होती हो। अतः इसका निर्माण तथा पथ्यादि विधि का तन्त्रान्तर में लिखित विधान से आचरण किया जाय तो उत्तम होगा। इसका पाठ तन्त्रान्तर में इस प्रकार है—"अभ्रसत्वं पातयित्वा भस्मीकुर्याद्विचक्षणः। त्रिफलातालमूलीजै रसैः संमर्द्य सम्पुटेत् ॥ शरावसम्पुटे क्षिप्त्वा वाराहेण ततः परम्। यावद्भस्मीभवेत् सर्वं मर्दयित्वा पुटेत्क्रमात् ॥ इत्थं भस्मीकृतं व्योम समं सूतं मृतं तथा। गन्धकं शोधितं कृत्वा प्रत्येकञ्च पलं पलम् ॥ खल्वे निक्षिप्य मुशलीनीरैः संमर्दयेद्दृढम्। दिनत्रयं प्रयत्नेन कल्कं सम्पादयेत्ततः ॥ सुनालायां काचकूप्यां तं कल्कं निक्षिपेद् बुधः। काचकूप्या मुखं रुंध्यात् खटिन्या यत्नतो भिषक् ॥ कूपिकां लेपयेत् पश्चाद् मृदा कर्पटयुक्तया। सर्वांगं शोषयेत्पश्चादातपेऽतिखरे बुधः ॥ क्षिपेद्भूधरके यन्त्रे कूपिकां तां त्रिभागिकाम्। कुक्कुटकोचपुटं दत्वा स्वांगशीतलतां गतम् ॥ निर्धूमकर्पटमृदं खटिनीरससंयुताम्। कूपिस्थं मर्दयेत्सर्वं सूक्ष्मचूर्णन्तु कारयेत् ॥ तन्मध्ये प्रक्षिपेदेतदौषधं चूर्णितं भृशम्। क्षारत्रयं पञ्चपटु त्रिकटु त्रिफला पुरम् ॥ वाह्लीकजं भद्रयवं त्रिजगद्विजयांदलम्। वैश्वानरश्चादमोदो यवानी च समांशतः ॥ पारदस्य प्रमाणेन ग्राह्यं सर्वमिदं ध्रुवम्। सूक्ष्मचूर्णं विधायैतत्सर्वं खल्वे विमर्दयेत् ॥ एवं सिध्यति सूतेन्द्रः सर्वरोगकृते पटुः। नागवल्लीदलेनैनं सूतं युञ्जीत बुद्धिमान् ॥ गुञ्जापञ्चप्रमाणेन सूतेन्द्रः सर्वरोगहा। अहर्मुखे समुत्थाय सूतेन्द्रं भक्षयेद् बुधः ॥ अनुपानं प्रयुञ्जीत कवोष्णं सलिलं सदा। चुलुकद्वयमानञ्च नाधिकं सम्प्रदापयेत् ॥ तृडभावे वारमेकं शीतं वारि पिबेद्दिने। क्षाराम्लविदलं वर्ज्यं भोजनं तैलसम्भवम् ॥ तैलाभ्यंगं शाकजातं वर्जयेच्छयनं दिवा। आचरेद् ब्रह्मचर्यञ्च हितसेवी सदा भवेत् ॥ अहितं वर्जयेद्यत्नाद्रससेवाविधौ नरः। एवं संसेव्यमानोऽयं रसो रोगान्निवर्तयेत् ॥ निश्चेतनत्वं यो याति सन्निपातात्कथञ्चन प्राणेश्वरं रसं दद्यात्तस्यापि भिषगुत्तमः ॥ पूजयित्वा देवविप्रकुमारीयोगिनी रसम्। निजशक्त्यनुसारेण रसेन्द्रं योजयेत्ततः ॥ अन्यथा नैव सिद्धिः स्याद्रसेन्द्रे सेवितेऽपि च। सन्निपातं निहन्त्येष रसो युक्त्या निषेवितः···॥" इस रस में गजांकिनी के स्थान पर भाँग के पत्ते डाले गये हैं। यदि इस रस को मूल रस के ही अनुसार बनाना हो तो धान्याभ्रक के स्थान पर अभ्रकसत्वभस्म लेनी चाहिये ॥

गुल्मनाशनो रसः—

गन्धकं रसतुल्यं च द्विभागं सैन्धवस्य च।
त्रिभागं टंकणं प्रोक्तं चतुर्भागं च तुत्थकम् ॥ ९३ ॥
पञ्चमं तु वराटं स्यात्षड्भागं शंखमेव च।
वह्निमूलकषायेण चिरविल्वरसेन च ॥ ९४ ॥
आर्द्रकस्य रसेनात्र प्रत्येकं तु पुटत्रयम्।
तत्समं मारिचं चूर्णं शाणार्द्धं भक्षयेन्नरः ॥
पंचगुल्मं क्षयं श्वासं मन्दाग्निं चाशु नाशयेत् ॥९५॥

शुद्ध गन्धक एक भाग, शुद्ध पारद एक भाग लेकर अच्छी तरह से कज्जली कर लें। फिर इसमें से दो भाग सैन्धानमक, तीन भाग भुना हुआ सुहागा, चार भाग शुद्ध तुत्थभस्म, पाँच भाग कौड़ी का चूर्ण (भस्म), छः भाग शंख का चूर्ण (भस्म) मिला कर एकत्र पीस लें। तदनन्तर इसको चित्रकमूलकषाय की भावना देकर सुखा के एक सम्पुट में बन्द करके कुक्कुटपुट में फूँक दें। इस तरह तीन बार भावना देकर उक्त पुट में फूकें। तदनन्तर इसको करञ्जस्वरस की भावना देकर उक्त विधि से तीन लघुपुट (कुक्कुटपुट) दें। अन्त में अदरख के स्वरस की तीन भावना के साथ तीन पुट दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल इसमें पुटपक्व द्रव्य के समभाग मरिच का चूर्ण मिला कर पीस लें। इसमें से आधा शाण लेकर प्रतिदिन एक बार जल से सेवन करें। यह रस पाँच प्रकार के गुल्म, क्षय, श्वास तथा मन्दाग्नि को शीघ्र ही नाश करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। पुट देने से यदि कुछ अग्नि अधिक लग जाय तो यह अल्पवीर्य हो जाता है। अतः यदि इसमें कौड़ी तथा शंखचूर्ण के स्थान पर इनकी भस्म ली जाय तो फिर चित्रक आदि के स्वरस में तीन २ भावना देकर बिना पुट दिये हुए ही सुखा कर रख लेने से यह अधिक गुणशाली हो सकेगा। तुत्थ की भस्म ही डालनी चाहिये।

अथ शूलचिकित्सा।

अग्निमुखो रसः—

मृतसूताभ्रकं ताम्रं गन्धकं चाम्लवेतसम्।
विषं पलत्रयं तुल्यं सर्वं मर्द्यं दिनावधि। ९६ ॥
विषमुष्टिर्जया वासा विजया रक्तशाकिनी।
बृहती च महाराष्ट्री धुस्तूरः पञ्चपत्रकः ॥ ९७ ॥
नागवल्ली शमी जंबू भाव्यमेभिर्द्रवैस्त्र्यहम्।
समांशं पंचलवणं दत्त्वाऽऽर्द्रकरसेन च ॥ ९८ ॥
दिनं पेष्यं ततः कुर्याद्वटिका चणमात्रकाः।
भक्षयेद्वातशूलार्तः सोऽयमग्निमुखो रसः ॥ ९९ ॥

हरीतकी प्रतिविषा हिंगु सौवर्चलं वचा ।
कलिंगेन्द्रयवास्तुल्यं पाययेदुष्णवारिणा ॥
कर्षैकमनुपानं स्याद्वातशूलहरं परम् ॥ १०० ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध गन्धक, अम्लवेत का चूर्ण, शुद्ध विष, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण प्रत्येक द्रव्य एक २ भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर खरल करें और क्रमशः कुचला, जया-अरणी या भाँग, वाँसा (अडूसा), भाँग या हरड़; लालपुनर्नवा, बड़ी कटेली, जलपिप्पली, धतूरा, कमलपत्र, पान, शमी (छोंकर, जण्ड), जामुन; इनके कषाय या रसों में पृथक्-पृथक् तीन २ दिन मर्दन करें। पश्चात् सूख जाने पर सम्पूर्ण द्रव्य के समान पाँचों नमक मिला कर अदरख के रस से दिन भर घोटें और चने के बराबर गोली बना लें। यह 'अग्निमुखरस' वातशूल पीड़ित रोगी को सेवन कराया जाता है। अनुपान के लिये हरड़, अतीस, हींग, सौंचलनमक, वच, कुटज की छाल, इन्द्रजौ; सबके चूर्ण को समान भाग में मिला कर एक कर्ष मात्रा में गरम जल से दें। यह वातिक शूल को नष्ट करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा एक रत्ती। अनुपानार्थ चूर्ण आजकल ४ रत्ती से ६ रत्ती तक लेना चाहिये। कुचलास्वरस मिलना कठिन होता है अतः इसकी भावना न देकर उसका एक भाग चूर्ण मिला देना उचित है। रसेन्द्रसारसंग्रह में भी एक अग्नि मुख रस है जो इसी से मिलता जुलता है किन्तु उसमें भावना की भिन्नता है। और पारदभस्म के स्थान पर शुद्ध पारद लिया गया है। जैसे—"रसबलिगगनार्कं वेतसाम्लं विषं स्यात् सवरमिह पृथक् स्याद् भावयेद् घस्रमेतैः। कनकभुजगवल्लीकण्टकारीजयाद्भिः कमलसलिलवासायुष्टिवज्रयम्बुपूरैः। अरुणसदृशपाकैर्मातुलुंगैश्च योज्यः, पटुगण इह तुल्यो भावयेदार्द्रकाद्भिः। दहनवदननामा वल्लमात्रो निहन्ति प्रबलसकलशूलं तद्विकारानशेषान् ॥" इसमें थोहर, बिजौरा नींबू, सुगन्धबाला, इनके स्वरस की भी भावना दी गई है ॥

क्षारप्रयोगः—

चिंचाक्षारं जलैः पीतं शूलं शान्तिमवाप्नुयात् ॥१०१॥

चिञ्चा (इमली) क्षार को जल के साथ पीने से शूल शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—क्षारों से शान्त होने वाले शूलों में अम्लपित्त-जन्य शूल मुख्यता रखता है। क्योंकि अम्लों की अधिकता में क्षार देने से अम्ल उदासीन हो जाते हैं। अतः ऐसे शूलों में क्षार देने से आराम आ जाता है। इसी वास्ते अन्यत्र लिखा है कि "अम्लः क्षारेण युक्तः मधुरत्वं भजते ॥" १०१ ॥

त्रिनेत्ररसः—

खण्डितं हारिणं शृंगं स्वर्णं शुल्वं मृतं रसम् ।
दिनैकं चार्द्रकद्रावैर्मर्द्य रुद्ध्वा पचेत्पुटे ॥ १०२ ॥
त्रिनेत्राख्यो रसः सोऽयं माषं मध्वाज्यकैर्लिहेत् ।
सैन्धवं जीरकं हिंगु मध्वाज्याभ्यां लिहेदनु ॥
पक्तिशूलहरं ख्यातं मासमात्रान्न संशयः ॥ १०३ ॥

हरिणशृंग का सूक्ष्म चूर्ण अर्थात् हरिणशृंगभस्म, स्वर्ण-भस्म, ताम्रभस्म, पारदभस्म, (रससिन्दूर); प्रत्येक द्रव्य समभाग लेकर एकत्र खरल में अदरख के रस से दिन भर मर्दन करें। शुष्क होने पर एक शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट दें। स्वांगशीतल होने पर सम्पुट से औषधि को निकाल कर पीस कर रख लें। यह 'त्रिनेत्ररस' कहा जाता है। इसे एक उड़द भर मात्रा में लेकर घी और शहत के साथ मिला कर चाटें। पीछे से अनुपान में सैन्धा-नमक, जीराचूर्ण, हींग (भुनी हुई) इन्हें समभाग में लेकर घी और शहत से चाटें। यह रस एक मास तक प्रतिदिन निरन्तर सेवन करने से परिणामशूल को नष्ट कर देता है, इसमें सन्देह नहीं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में ताम्र नहीं है। ताम्र के स्थान पर गन्धक है इसी तरह 'खण्डितं' के स्थान पर 'टंकणं' पाठ है। जैसे रसेन्द्रसार संग्रह में—"टंकणं हारिणं शृंगं स्वर्णं गन्धो मृतं रसम्। दिनैकमार्द्रकद्रावैर्मर्द्यं रुद्ध्वा पुटे पचेत् ॥ त्रिगुणाख्यो रसो नाम्ना माषैकं मधुसर्पिषा। सैन्धवं जीरकं हिंगु मध्वाज्याभ्यां लिहेदनु ॥ पक्तिशूलहरः ख्यातो याममात्रान्न संशयः ॥" 'टंकणं' के स्थान पर प्रमाद वश 'खडितं' पाठ प्रतीत होता है। क्योंकि अन्यत्र सब स्थानों में टंकण ही लिया गया है। परन्तु ताम्र रहित यह योग विशेष गुणदायक नहीं होता है। अतः शुद्ध गन्धक के साथ ताम्र-भस्म अवश्य डाली जाय तो यह रस विशेष गुणकारी होता है। रसप्रकाशसुधाकर में यह योग अर्शरोग के नाश के लिये कहा है। रस रत्नाकर में शुल्व के स्थान पर 'शुद्धं' पाठ मिलता है। जो प्रमादयुक्त प्रतीत होता है। रसेन्द्रसारसंग्रह में प्रकृत रस को 'त्रिगुणाख्यरस' के नाम से लिखा है। माष शब्द का अर्थ यहाँ पर एक उड़द भर लेकर २ रत्ती से एक माशा तक मात्रा अर्थ करना चाहिये ॥ १०२—१०३ ॥

सौभाग्ययोगः—

टंकणं मूर्च्छितं सूतं यवक्षारं समं समम् ।
चूर्णितं भक्षयेन्माषं मधुना पक्तिशूलनुत् ॥
जम्बूमांसाज्ययोर्यूषमनुपानं पिबेत्सदा ॥ १०४ ॥

भुना हुआ सुहागा, मूर्च्छित पारद (रससिन्दूर), यवक्षार; इन तीनों को समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। इसमें से एक उड़द परिमाण मात्रा में लेकर उसमें मधु मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से परिमाणशूल नष्ट हो जाता है। इसके पीछे अनुपानार्थ, जम्बू (गीदड़) के मांस तथा बकरी का मांस का यूष घृत मिला कर पीना चाहिये ॥ १०४ ॥

चिन्तामणिरसः—

सूतेन गन्धं द्विगुणं विमर्द्य कोरण्टनिम्बूत्थरसैर्दिनं तत् ।
चिञ्चोद्भवक्षाररसेन चैकं दिनं च गोलं रविसम्पुटस्थम् ॥
लिप्त्वा मृदा शुष्कमतीव कृत्वा सामुद्रयन्त्रेण पुटं ददीत ।
उद्धृत्य शीतं रसपादभागं प्रक्षिप्य गन्धं विपचेन्मनाक् च ।
विषं च दत्त्वा रसपादभागं लोहस्य पात्रे तु कृशानुतोयैः ॥
रसस्तु चिन्तामणिरेष उक्तो वातारितैलेन समाक्षिकेण ॥
वल्लेन मानं प्रददीत चाम्लं तैलं च शीतं परिवर्जयेच्च ॥
हन्ति गुल्मं सहाध्मानं तूनीं प्रतितुनीमपि ॥ १०९ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर दोनों की एकत्र कज्जली बना लें। अब इस कज्जली को पियाबांसा के कषाय या स्वरस और नींबू के रस तथा इमली के क्षारजल से पृथक् पृथक् एक दिन मर्दन करके गोला-सा बना कर सुखा लें। अब इस गोले को तांबे के दो शुद्ध सकोरों (कटोरियों) में बन्द करके कपड़मिट्टी कर सुखा लें। पश्चात् इस सम्पुट को समुद्रयन्त्र (अभाव में लवणयन्त्र) में रख कर अग्नि दें। स्वांगशीतल होने पर सम्पुट को निकाल औषधि को खरल में डालें और उसमें पारद से चतुर्थांश शुद्ध गन्धक मिला कर पीसें। पश्चात् एक लोहपात्र में उक्त द्रव्य को डाल कर उसमें चित्रककषाय या स्वरस मिला कर द्रव भाग सूखने तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को उतार पीस कर रख लें। यह 'चिन्तामणिरस' कहा जाता है। इसको एक वल्ल मात्रा में लेकर एरण्डतैल और शहद के साथ खावें और तैल, अम्ल द्रव्य तथा शीत वस्तुओं का परहेज रखें। इसके सेवन से गुल्म, आध्मान (अफरा), तूनी तथा प्रतितूनी नामक वातिक रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—कई वैद्य इस रस को चतुर्थांश शुद्ध गन्धक मिला कर लोहे के पात्र में डाल कर पर्पटी बना कर फिर उसको चित्रकमूलस्वरस या कषाय से भावित करने को कहते हैं। इस विधि से भी कोई हानि नहीं होती है। सामुद्रयन्त्र से यहाँ सामुद्र-नमक का यन्त्र लेना चाहिये ॥ १०५–१०९ ॥

शूलगजकेशरी रसः—

शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं यामैकं मर्दयेद्दृढम् ।
द्वयोस्तुल्यं शुद्धताम्रं सम्पुटे तन्निरोधयेत् ॥ ११० ॥
ऊर्ध्वाधो लवणं दत्त्वा मृद्भाण्डे धारयेद्भिषक् ।
रुद्ध्वा गजपुटे पाच्यं स्वांगशीतं समुद्धरेत् ॥ १११ ॥
संपुटं चूर्णयेत्सूक्ष्मं पर्णखण्डे द्विगुंजकम् ।
भक्षयेत्सर्वशूलार्तो हिंगु शुंठी च जीरकम् ॥ ११२ ॥
वचामरिचसंचूर्णं कर्षमुष्णजलैः पिबेत् ।
असाध्यं नाशयेच्छूलं रसोऽयं शूलकेशरी ॥ ११३ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर दोनों को एकत्र एक पहर तक अच्छी तरह मर्दन कर के कज्जली बना लें। पश्चात् इस कज्जली का जल के साथ एक गोला-सा बना लें। अब तीन भाग या तीन तोले शुद्ध तांबे की दो कटोरियाँ बना उनमें इस गोले को बन्द कर कपड़मिट्टी करके सुखा लें। अब इस सम्पुट को एक मिट्टी की हांडी में आधा नमक भर कर रख दें और हांडी के शेष भाग को लवण से भर कर मुख बन्द कर दें। पश्चात् गजपुट में रख कर फूक दें। स्वांगशीत होने पर निकाल कर ताम्र के सम्पुट के साथ ही सब को पीस लें। इसमें से दो रत्ती भर मात्रा में ले पान के पत्ते में रख कुछ दिन सेवन करें तो सब प्रकार के शूल दूर हो जाते हैं। अनुपान में हींग, सौंठ, जीरा, वच, मरिच इन सब के चूर्णों को समान भाग में मिला एक कर्ष भर, गरम पानी के साथ पीवें। इस रस के सेवन से असाध्य शूल भी नष्ट होता है। इसका नाम 'शूलगजकेशरी रस' है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक। अनुपान की मात्रा ४ रत्ती से ६ रत्ती तक। "सम्पुटं चूर्णयेत् सूक्ष्मं पर्णखण्डे द्विगुञ्जकम्" के अनुसार 'द्वयोस्तुल्यं शुद्धताम्रं सम्पुटे' यह पाठ ठीक नहीं है किन्तु समासान्त पद "द्वयोस्तुल्य-शुद्धताम्रसम्पुटे" पाठ ही ठीक है। अन्यथा सम्पुट का चूर्ण करना हानिकारक होगा। रसरत्नाकर में इसको स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "तोलकांश्चतुरः सूतादष्टौ गन्धाश्मनस्तथा। समादाय ततः कार्यं पलं ताम्रस्य सम्पुटम् ॥ एकस्मिन्नथ पात्रे द्वौ कृत्वा गन्धपारदौ। अनेन ताम्रपात्रेण पिधातव्यं दृढं ततः ॥ क्षिप्त्वा स्थाल्याञ्च लवणं पुटेद् गजपुटेन च। स्वांगशीतलतां ज्ञात्वा सम्पुटं परिचूर्णयेच्च ॥ निहन्त्यष्टविधं शूलं गुल्मप्लीहयकृद्रदम्। मन्दाग्निं ग्रहणीं पाण्डुं कामलाञ्च हलीमकम् ॥ श्लेष्मवातोत्थरोगांश्च ज्वरानपि तथाविधान्। हरीकत्यनुपानेन दातव्योऽयं भिषग्वरैः ॥ पथ्यं दोषानुसारेण शास्त्रप्रोक्तं प्रदापयेत् ॥" यहाँ पर अनुपान तथा पुट में कुछ भेद है। परन्तु ताम्रसम्पुट के विषय में स्पष्ट है। यदि ताम्रसम्पुट बनाने में असुविधा हो तो ताम्रभस्म डाल कर सम्पुट में बन्द करके लवणयन्त्र में पका लेने से भी यह कार्य हो सकता है परन्तु ताम्र का होना अत्यावश्यक है। क्योंकि ताम्रभस्म के गुणों में बताया गया है कि ताम्र यकृत्प्लीहा में सञ्चित विष को नष्ट करता है। तथा यकृत्प्लीहा को उत्तेजित करता हुआ पित्त को निकाल कर अग्नि या पित्त की विकृति से उत्पन्न होने वाले शूलों को नष्ट करता है। अतः ताम्रपुट या ताम्रभस्म का होना आवश्यक है ॥ ११०–११३ ॥

बन्ध्यादिहारः—

बन्ध्यालाङ्गलिकामूलं शङ्खं तु द्विगुणं तयोः ।

त्रयाणां भावयेच्चूर्णं त्र्यहं जम्बीरजद्रवैः ॥ ११४ ॥
रुध्याद् गजपुटे पच्यात्तत्क्षारं मरिचैर्घृतैः ।
कर्षमात्रं पिबेच्छूली तत्क्षणात्सुखमाप्नुयात् ॥ ११५ ॥

बांझककोड़ामूल, कलिहारीमूल एक एक भाग, शङ्खचूर्ण दो भाग लेकर इन तीनों को एकत्र जम्बीरी नींबू के स्वरस से तीन दिन तक भावना दें। सूखने के बाद शरावसम्पुट में बन्द करके गज पुट में फूँक दें। इस क्षार में से एक कर्ष मात्रा लेकर कालीमिर्च-चूर्ण तथा घृत के साथ रोगी को चटावें तो तत्काल शूल शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—क्षार की आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥ ११४—११५ ॥

मृतोत्थापनरसः—

अभ्रं ताम्रं तथा लोहं प्रत्येकं संस्कृतं पलम् ।
सर्वमेतत्समाहृत्य गृह्णीयात् कुशलो भिषक् । ११६ ।
आज्ये पलद्वादशके दुग्धे तत्स्वरसंख्यके ।
पक्त्वा तत्र क्षिपेच्चूर्णं सुपूतं घनतन्तुना ॥ ११७ ॥
विडङ्गत्रिफलावह्नित्रिकटूनां तथैव च ।
पिष्ट्वा पलोन्मितानेतान् यथासम्मिश्रतां नयेत् ।११८।
ततः पिष्ट्वा शुभे भाण्डे स्थापयेत्तद्विचक्षणः ।
आत्मनः शोभने चाह्नि पूजयित्वा गुरुं रविम् ॥११९॥
घृतेन मधुना मद्यैः पाययेन्माषकादिकम् ।
अष्टौ माषान् क्रमेणैव वर्द्धयेत्तत्समाहितः ॥ १२० ॥
अनुपानं च दुग्धेन नारिकेलोदकेन वा ।
जीर्णे शर्करशाल्यन्नमुद्गमांसरसादयः ॥ १२१ ॥
रसपानाऽविरुद्धानि द्रव्याण्यन्यानि योजयेत् ।
हृच्छूलं पार्श्वशूलं च आमवातं कटिग्रहम् ॥ १२२ ॥
गुल्मशूलं शिरःशूलं यकृत्प्लीहानशेषतः ।
अग्निमान्द्यं क्षयं कुष्ठं कासं श्वासं विचर्चिकाम् ॥
अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रं च योगेनानेन साधयेत् ॥ १२३ ॥

संस्कृत (शोधन मारण द्वारा संस्कारयुक्त तथा भस्म किया हुआ) पारद, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, लोहभस्म; प्रत्येक एक एक पल लेकर एकत्र पीस लें। फिर इसको १ लोहे की कड़ाही या कलई की हुई कड़ाही में बारह पल घी और बारह पल दूध के साथ पकावें। पाकशेष के समय वायविडंग, हरड़, बहेड़ा, चीता, सौंठ, मिरच, पिप्पली; प्रत्येक द्रव्य का घने (मोटे) कपड़े में से छना चूर्ण एक एक पल उसमें मिला दें। सब को भली प्रकार मर्दन करके १ स्वच्छ पात्र में रख दें। शुभ दिन सूर्य भगवान् तथा अपने गुरुदेव की पूजा करके इसका १ मासा मात्रा प्रमाण में सेवन प्रारम्भ कर ८ मासा तक क्रमशः बढ़ाते हुये घी और शहत को मिला कर खावें। ऊपर से अनुपान रूप में दूध अथवा नारियल का जल पीवें। औषधि पचने पर शर्करा के साथ शालि-चावलों का भात, मूंग का यूष या मांसरस खावें। इसके अतिरिक्त रस प्रयोग में अनुकूल पड़ने वाले अन्य द्रव्यों का भी प्रयोग कर सकते हैं। इस रस के प्रयोग से हृदय का शूल, पसलियों का शूल आमवात, कटिग्रह, गुल्मशूल, शिरःशूल, यकृतप्लीहाशूल, अग्नि-मान्द्य, क्षय, कुष्ठ, कास, श्वास, विचर्चिका, अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र रोग दूर होता है।

विशेष वचन—रसेन्द्रचिन्तामणि, रसरत्नाकर और रसेन्द्रसार-संग्रह आदि ग्रन्थों में 'अभ्रं ताम्रं रसं लोहम्' ऐसा पाठ करके इसको चतुःसमलोह संज्ञा दी है। अन्य विधान प्रकृतरसवत् ही है। योगरत्नाकर में बारह के स्थान पर सौ पल दूध लिया है। जिससे इस योग की मात्रा अधिक करनी पड़ेगी और वह अधिक हो जाने से लाभदायक नहीं होगी। चतुःसमलोह के रूप में बनाने पर इस योग में शुद्ध गन्धक भी डालना चाहिये। अन्यथा पारद, लोह, अभ्रक के साथ मिश्रित नहीं होगा। रसेन्द्रसारसंग्रह में जो चतुःसमलोह लिखा है उसमें अभ्रकभस्म ताम्रभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध लोहभस्म तथा शुद्ध गन्धक; ये पाँच द्रव्य लिखे हैं। योगरत्ना-कर में "अभ्रं ताम्रं रसं लोहं प्रत्येकं मारितं पलम् ।" ऐसा पाठ दिया है। इन सब बातों के देखने से प्रकृत रस चतुःसमलोह से भिन्न प्रतीत होता है। अतएव इसको 'मृतोत्थापन' नाम से लिखा है। 'शर्करशाल्यन्न' के स्थान पर तन्त्रान्तर में 'लोहित-शाल्यन्न' ऐसा तथा 'तत्स्वरसंख्यके' के स्थान पर 'वत्सरसंख्यके' ऐसा पाठान्तर मिलता है। आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से प्रारम्भ करके २ मासा तक होनी चाहिये ॥ ११६—१२२ ॥

क्षारताम्रम्—

रसेन ताम्रस्य दलानि लिप्त्वा गन्धेन ताम्राद्द्विगुणेन पश्चात्
वस्त्रेण बद्ध्वाऽथ समुद्रजेन क्षारत्रयेणापि च वेष्टयित्वा ॥
मृदा च संलिप्य पुटं ददीत दलानि ताम्रस्य विचूर्णयेत ।
धत्तूरचित्रार्द्र कटुत्रयैश्च विमर्दयेत्तत्त्रिगुणप्रमाणम् ।१२५।
कलाप्रमाणेन विषं च दत्त्वा वल्लं ददीतास्य च वातशूले

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर दोनों की कज्जली बना लें। फिर इस कज्जली को जल के साथ पीस कर इस कल्क का एक भाग शुद्ध कण्टकवेधी ताम्रपत्रों पर अच्छी तरह लेप कर दें। पश्चात् इन ताम्रपत्रों को एक वस्त्र में लपेट कर उस पर समुद्रलवण तथा यवक्षार, सर्जक्षार तथा टंकण की पिष्टी से वेष्टन कर फिर मिट्टी से लीप कर तेज़ पुट देनी चाहिये। पश्चात् ताम्र-पत्रों को पीस कर उसमें धतूरा, चित्रकमूल, सौंठ का चूर्ण मरिच-चूर्ण तथा पिप्पली का चूर्ण पृथक् पृथक् ताम्रचूर्ण के समान भाग डाल तीन दिन अच्छी तरह मर्दन करके अन्त में उसमें ताम्रपत्र से

सोलहवाँ भाग शुद्ध विष का चूर्ण मिला पीस कर रख लें। इसमें से एक रत्ती मात्रा में वातहर अनुपानों से वातशूल वाले रोगी को देना चाहिये।

विशेष वचन—कई वैद्य ताम्रपत्र पर कज्जली का लेप करके पहिले ताम्रपत्रों पर समुद्रनमक तथा त्रिदारकल्क से लेप कर लेते हैं। पश्चात् वस्त्र से लपेट कर कपड़मिट्टी करके पुट में रखने को कहते हैं। इससे ताम्रभस्म की अशुद्धि में कम सन्देह रहता है। स्वांगशीत होने पर ताम्रपत्र मात्र को ही लेना चाहिये। आधुनिक मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक ॥ १२४–१२६ ॥

शूलान्तको रसः—

भस्मसूतस्य खस्यापि पलमेकं पृथक् पृथक्।
ताम्रभस्मपले द्वे तु गन्धकस्य पलत्रयम् ॥ १२७ ॥
हरितालस्य कर्षांशं विमलं हेममाक्षिकम्।
पलार्द्धं हलिनीकंदं नागवंगौ पलार्द्धकौ ॥ १२८ ॥
चतुष्पलं तु त्रिवृतमेतत्सर्वं विचूर्णयेत्।
भूधात्रीस्वरसेनैव भावयेत्सप्तधा भिषक् ॥ १२९ ॥
तथा दन्तीरसैर्वल्लं दद्यादार्द्रकवारिणा।
तेन कोष्ठे विशुद्धे तु दधिभक्तं तु भोजयेत् ॥
सर्वाणि शूलानि हरेद्रसः शूलान्तको मतः ॥ १३० ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर) एक पल, कृष्णाभ्रकभस्म एक पल, ताम्रभस्म दो पल, शुद्ध गन्धक तीन पल, शुद्ध हरताल एक कर्ष, रूपामाखीभस्म आधा पल, स्वर्णमाक्षिकभस्म आधा पल, कलिहारी-कन्दचूर्ण आधा पल, नागभस्म आधा पल, वंगभस्म आधा पल, त्रिवृत (त्रिवी) का चूर्ण चार पल लें। पहिले गन्धक और रस-सिन्दूर को एकत्र मिला कर अच्छी तरह पीस लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर भुईआवले के स्वरस की सात भावना और दन्तीमूलस्वरस की सात भावना देकर एक वल्ल (२ रत्ती) की गोली बना लें। इसमें से एक गोली प्रतिदिन अदरख के रस के साथ खिलायें। इसके सेवन करने से जब रोगी का कोष्ठ शुद्ध हो जाय अर्थात् एक दस्त साफ हो जाय और क्षुधा प्रतीत हो तो उसे दही और भात खाने को देना चाहिये। यह 'शूलान्तकरस' कहा जाता है। और सब प्रकार के शूलों को नष्ट करता है॥१२७-१३०॥

द्वितीयोऽग्निमुखः—

पारदं माक्षिकं ताम्रं कृष्णाभ्रं गन्धकत्रयम्।
माणिमन्थं विषं हिंगु त्वग्निशाकन्धकांचनान् ॥१३१॥
रक्तमारीषनिर्गुंडीमहाराष्ट्र्याटरूषकम्।
जयाजयन्तीनिर्यासैस्तथा च विषतिंदुकान् ॥ १३२ ॥
मर्दितं कुक्कुटपुटे पचेदग्निमुखाह्वयः।
अष्टगुंजामितः सोऽयं प्रयोज्यः साज्यनागरः ॥
हिंगुसौवर्चलोष्णांबुयुतो वा गुल्मशूलनुत् ॥ १३३ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म एक भाग, ताम्रभस्म एक भाग, कृष्णाभ्रकभस्म एक भाग, शुद्ध गन्धक तीन भाग, सैन्धानमक, शुद्ध वत्सनाभविष, भुनी हुई हींग, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण शाकन्ध (शूरणकन्द) चूर्ण, काञ्चन (धतूरा की जड़) चूर्ण, लालचौलाईचूर्ण, निर्गुण्डीचूर्ण, जलपीपलचूर्ण, वाँसाचूर्ण (अडूसा), शुद्ध कुचलाचूर्ण; इन सबको समभाग अर्थात् एक एक तोला लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कर पीसें। तदनन्तर इसको भाँग के स्वरस तथा अरणी के स्वरस में एक एक दिन मर्दन करके गोला सा बना सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके कुक्कुट-पुट में फूँक दें। स्वांगशीत होने पर औषधि को निकाल कर पीस कर रख लें। इसमें आठ रत्ती मात्रा में लेकर घी तथा शुण्ठीचूर्ण में मिला प्रतिदिन सेवन करें। अथवा हींग, सौचलनमक मिला कर गरम पानी से खावें। यह 'अग्निमुखरस' गुल्म तथा शूल को नाश करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ६ रत्ती तक। 'गन्धकत्रयम्' शब्द से कोई टीकाकार श्वेत, रक्त तथा पीत इस प्रकार त्रिविध प्रकार का गन्धक लेने को कहते हैं। परन्तु इन गन्धकों का कहीं उपयोग न होने से यह अर्थ ठीक नहीं है। अतः 'गन्धकत्रयम्' के स्थान पर 'गन्धकं समम्' पाठ उचित प्रतीत होता है। इसी तरह 'त्वग्निशाकन्धकाञ्चनान्' के स्थान पर 'त्वङ्निशा-कन्दकाञ्चनान्' पाठ अच्छा और सार्थक प्रतीत होता है। कहीं २ इस के स्थान पर 'त्वग्निशाकाम्लकाञ्चनान्' पाठ मिलता है ॥

द्वितीयस्त्रिनेत्रो रसः—

रसताम्रगन्धकानां त्रिगुणोत्तरवर्द्धितांशानाम्।
अम्लेन मर्दितानां पुटपक्वानां निषेवितं भस्म ॥१३४॥
गुंजाप्रमाणमार्द्रकसिन्धूत्थचूर्णसंयुक्तम्।
एरण्डतैलमाक्षिकमथ वा पटुहिंगुजीरकोपेतम् ॥
शमयति शूलमशेषं तत्तद्रसभावितं बहुशः।
उपचूर्णैरनुपानैस्तैस्तैः सहितं कफानिलार्तिहरम् ॥
एतच्च हरिणशृंगमृतकाञ्चनटङ्कणोपेतम्।
सघृतमधु पक्तिशूलं शमयति शूलं त्रिनेत्ररसः ॥

शुद्ध पारद १ भाग, ताम्रभस्म ३ भाग, शुद्ध गन्धक ९ भाग लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली कर लें। फिर इसमें ताम्रभस्म मिला कर काञ्जी अथवा नींबू के स्वरस में मर्दन करके मूषापुट में बन्द करके कुक्कुटपुट में फूंक दें। स्वांगशीत होने पर निकाल पीस लें। इसमें से १ रत्ती मात्रा लेकर सैंधानमक और अदरख के साथ प्रतिदिन सेवन करें। अथवा शुद्ध एरण्डतैल और मधु में मिला कर अथवा सैन्धानमक हींग तथा जीरकचूर्ण मिला कर इस रस का सेवन करें। अथवा उक्त पुटपक्व रस को

कफ-वात-नाशक द्रव्यों के स्वरस या कषाय की सात भावना देकर रख लें। फिर इसको सैन्धानमक आदि द्रव्यों के चूर्ण के साथ अथवा अदरखरस, एरण्डतैल, मधु आदि अनुपान के साथ सेवन करें। यह रस कफ, वातप्रकोपजन्य शूलों को शान्त करता है। यदि इस रस में समभाग शृंगभस्म, स्वर्णभस्म तथा सुहागे की खील मिलाकर घी तथा शहत के साथ चटाया जाय तो यह परिणामशूल को शान्त कर देता है। इस रस को गन्धक तथा ताम्र इन तीनों के योग से बनने के कारण 'त्रिनेत्ररस' कहते हैं॥

उदयभास्कररसः—

तोलतुल्यं रसं शुद्धं गन्धकं तच्चतुर्गुणम्।
विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां ततो निम्बुकवारिणा॥१३८॥
तस्य कल्कं प्रकुर्वीत खल्ले यामचतुष्टयम्।
द्वितोलमथ ताम्रस्य तनुपत्राणि सर्वशः॥१३९॥
कल्केन तेन निम्बूकरसेनाप्लाव्य खल्लके।
स्थापयेदातपे तीव्रे पिण्डीकृत्य ततः परम्॥१४०॥
मूषामध्ये निरुध्याथ कुक्कुटाख्यैस्त्रिभिः पुटैः।
पचेच्चुल्ल्यां विनिक्षिप्य चुल्लीपरिमितोपलैः॥१४१॥
तत आकृष्य संमर्द्य करण्डे तं विनिक्षिपेत्।
रसोऽयं सर्वरोगघ्नो नृणामुदयभास्करः॥१४२॥
हन्ति शूलानि सर्वाणि तमांसीव दिवाकरः।
पर्णखण्डिकया सार्द्धं देयश्चेत्यपरे जगुः॥
पथ्यं रोगोचितं देयं रसस्यानुचितं त्यजेत्॥१४३॥

शुद्ध पारद एक तोला, शुद्ध गन्धक चार तोला लेकर इन दोनों की अच्छी तरह कज्जली बना लें। फिर इस कज्जली को नींबू के रस से (चार पहर तक) घोट कर इसका कल्क बना लें। पश्चात् दो तोला शुद्ध नैपाली ताम्र के कण्टकवेधी पत्रों पर इस कल्क का लेप कर दें, और ताम्रपत्रों को एक खरल में डाल कर नींबू का रस भर दें तथा तेज़ धूप में रख कर नींबू स्वरस को सुखा लें। जब पिण्डाकार होने योग्य रस रह जाय तब सब को घोट कर उसका गोला सा बना कर सुखा लें और मूषा में बन्द कर कपड़मिट्टी करके कुक्कुटपुट में फूंक दें। ताम्रपत्रों को निकाल कर उन पर पुनः उक्त कज्जली का लेप करके नींबू के साथ मर्दन कर सुखा करके कुक्कुटपुट में फूंक दें। इस प्रकार तीन कुक्कुट-पुट दें। कुक्कुटपुट देने में उतने जंगली उपले काम में लाने चाहिये जितने एक छोटे से चूल्हे में आ जायें अर्थात् तीन चार घरेलू उपलों की पुट देनी चाहिये। स्वांगशीत होने पर पुट को निकाल ताम्रपत्रों को पीस कर शीशी में रख लें। यह 'उदय-भास्कर रस' मनुष्यों के सब रोगों को दूर करने वाला है। यह सब प्रकार के शूलों को उसी प्रकार नष्ट करता है जिस प्रकार सूरज अन्धकार को। कई रसाचार्य इस रस को पान के पत्ते में रख कर खाने को कहते हैं। इस रस के सेवनकाल में रोगानुसार पथ्य देना चाहिये और इस रस के सेवनकाल में प्रतिकूल पड़ने वाले द्रव्य भोजन तथा विहार का परित्याग करना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक। कुक्कुटपुट के बराबर (ऊँचाई में) जमीन में गढ़ा खोद कर उसमें उपले भर पुट देना ही यहाँ पर कुक्कुट का अर्थ प्रतीत होता है। अथवा चूल्हे पर ही कुक्कुटपुट के अनुसार उपले भर कर उसके मध्य में मूषा रख कर पाक करना चाहिये। परन्तु यदि इन पुटों से ताम्र की भस्म निर्दोष न हो तो तीन पुटों के अतिरिक्त सात या पन्द्रह तक पुट देने चाहिये। या वान्ति भ्रान्ति आदि दोष शान्त होने तक कज्जली के साथ पुट देने चाहिये॥१३८-१४३॥

शूलगजकेशरी—

पलप्रमाणसूतेन बलिना द्विगुणेन च।
शुद्धत्रिपलतालेन कृत्वा कज्जलिकां त्र्यहम्॥१४४॥
पलमानेन कर्त्तव्यः शुद्धताम्रस्य सम्पुटः।
पिधानपात्रसंग्रस्ततलपात्रास्यवान् खलु॥१४५॥
कज्जलीं सम्पुटस्यान्तर्निदध्यात्तदनन्तरम्।
अधस्तादुपरिष्टाच्च सम्पुटस्य क्षिपेत्खलु॥१४६॥
आकण्ठं पटुचूर्णं तु पिधाय च निरुध्य च।
विशोष्य गजसंज्ञेन पुटेन पुटयेत्ततः॥१४७॥
पटचूर्णं विधायाथ सिन्धुमध्ये विनिक्षिपेत्।
पथ्यार्द्रकरसोपेतो वल्लमानेन सेवितः॥
रसो निःशेषशूलघ्नः स्याच्छूलगजकेशरी॥१४८॥

शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक दो पल, शुद्ध हरताल तीन पल लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना लें। पश्चात् इसमें हरताल मिला कर तीन दिन तक मर्दन करें। तदन्तर एक पल प्रमाण शुद्ध नैपाली ताम्र के दो शराव (कण्टक-वेधी पत्रों की कटोरियाँ) बनायें। अब इन शरावों में से एक कटोरी के भीतर उक्त कज्जली भर कर दूसरी कटोरी को उसमें फँसा दें। अब दोनों की सन्धिलेप करके कपड़मिट्टी कर दें। सूखने के बाद एक हाँडी में आधा भाग सैन्धानमक भर उस पर ताम्र का सम्पुट टिका कर हांडी के अवशिष्ट भाग को गले तक पुनः लवण से भर दें, और हांडी के मुख को एक शराव से ढक कर सन्धिलेप कर दें। सूखने पर इस हाँडी को गजपुट में रख कर फूँक दें। स्वांगशीत होने पर ताम्रपत्र को निकाल पीस कर छान लें। इसको एक शीशी में बन्द करके कुछ दिन तक लवण-राशि में बन्द रख दें। पश्चात् निकाल कर एक रत्ती मात्रा में लेकर हरीतकीचूर्ण तथा अदरख के रस के साथ प्रतिदिन सेवन करायें। यह 'शूलगजकेशरीरस' सम्पूर्ण शूलों को नाश करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से आधी रत्ती तक। इस रस के बनाने में भी ताम्रभस्म को देख लेना चाहिये कि उसमें वान्ति भ्रान्ति दोष तो नहीं हैं। अन्यथा उक्तभस्म को पुनः कज्जली से मर्दन कर शुद्ध भस्म होने तक गजपुट में फूकें ॥

द्वितीयक्षारताम्रम्—

पलमितमृतशुल्बं तन्मितं गन्धचूर्णं
वसुमितपलमानं तिन्तिडीक्षारचूर्णम्।
त्रयमिदमभिदिष्टं क्षारताम्राख्यमेत-
द्धरति सकलशूलं पीतमुष्णोदकेन ॥१४९॥

एक पल परिमाण ताम्रभस्म, शुद्ध गन्धक एक पल, तिंतिडी (इमली) क्षार आठ पल लेकर तीनों को एकत्र पीस कर रख लें। यह योग क्षारताम्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसे उचित मात्रा में गरम पानी के साथ सेवन करने से यह सम्पूर्ण शूलों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥ १४९ ॥

ताम्राष्टकम्—

हिंगु व्योषं मधुकरुचकं तिन्तिडीक्षारताम्रं
सर्वं चैतन्मसृणमृदितं पीतमुष्णोदकेन।
क्षिप्रं शूलं क्षपयति नृणां तीव्रपीडासमेतं
ध्वान्तं भानोरिव समुदयः साधु ताम्राष्टकं हि ॥

भुनी हुई हींग, सोंठ का चूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, मुलठीचूर्ण, सौंचललवण, इमली का क्षार तथा ताम्रभस्म; इन सबको समभाग में लेकर अच्छी तरह बारीक चूर्ण करके पीस लें। पश्चात् इस रस को उचित मात्रा में लेकर गरम पानी के साथ सेवन करें। इसके प्रयोग से अत्यन्त वेदनायुक्त शूल वैसे ही शीघ्र नष्ट हो जाता है जैसे सूर्योदय से संसार का अन्धकार दूर हो जाता है। इसे 'ताम्राष्टक योग' कहते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। इमली का क्षार बनाने में इमली के फलों के छिलके या पेड़ की सूखी छाल की राख ली जाती है।

वडवानलगुटिका—

तालं तार्क्ष्यं कनककुनटीकान्तगन्धार्कसूतै-
स्तुल्यांशैस्तैररुणमधुरं दीप्यकं सर्वतुल्यम्।
एतैः सर्वैस्त्रिकटु च समं कज्जलीकृत्य सर्वं
हिङ्ग्वम्भोभिर्मुनिमितदिनैर्भावयेत्सप्तकृत्वः ॥१५१॥
जयन्त्याः काकमाच्याश्च निर्गुण्ड्याश्चार्द्रकस्य च।
स्वरसैर्भावयेत्पिष्ट्वा सकृदेव दिने दिने ॥
कर्त्तव्या मरिचैस्तुल्याश्छायाशुष्कास्तु गोलिकाः ॥
हन्त्येषा वडवानलाख्यगुटिका संसेवितोष्णाम्बुना
सर्वं शूलगदं कृमिं च सकलं वैषम्यवृत्तिं क्षुधः।
मन्दाग्निं ग्रहणीगदं श्वयथुरुक्पाण्डुं च गुल्मार्शसी
वातश्लेष्मगदं तथोदररुजं श्वासं च कासं ज्वरम् ॥

शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध धत्तूरबीजचूर्ण, शुद्ध मैनसिल, कान्तलोहभस्म, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, शुद्ध पारद; ये सब द्रव्य एक-एक भाग, अरुण (निशोथचूर्ण), मधुर (सौंफ या गुड़) एक-एक भाग, अजवायनचूर्ण दस भाग लें। इन सब के बराबर सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर सात दिन तक हींग के जल से सात भावना दें। तदनन्तर इसको अरणीस्वरस या कषाय, मकोयस्वरस, निर्गुण्डीस्वरस तथा अदरख के स्वरस की पृथक् पृथक् एक दिन मर्दन करके एक-एक भावना दें। अन्तमें कालीमिरच के बराबर गोली बना कर छाया में सुखा कर रख लें। इसको 'वडवानलगुटिका' कहते हैं। इसमें से एक गोली प्रतिदिन गरम जल से सेवन करें। यह सब प्रकार के शूल, उदरकृमि, अग्नि की विषमता, मन्दाग्नि, संग्रहणीरोग, शोथ, पाण्डुरोग, गुल्म, अर्श, शरीर में वातकफप्रकोपजन्य रोग, उदरपीड़ा तथा श्वास, कास और ज्वर को नाश करती है।

विशेष वचन—यहाँ पर 'तरुणामधुरं' को कोई टीकाकार हरताल आदि के समभाग न लेकर, सर्वतुल्य अर्थात् आठ आठ भाग लेने को कहते हैं। निशोथ का अधिक भाग होने से इस गुटिका में रेचकशक्ति भी आ सकती है जो शूल के लिये आवश्यक है। अतः आठ-आठ भाग लेकर बनाने में कोई हानि नहीं है। परन्तु मात्रा कालीमरिच प्रमाण न देकर चणक प्रमाण देनी होगी। कोई कनक से स्वर्णभस्म लेते हैं। स्वर्णभस्मयुक्त वटिका बनाने पर यह वातनाड़ीशूल के लिये अधिक व्यवहृत करनी चाहिये। अन्यथा साधारण शूलों में धत्तूरबीज लाभदायक होते हैं ॥१५१—१५३॥

अग्निकुमारः—

रसगन्धकयोः कृत्वा कज्जलीं तुल्यभागयोः।
पादांशममृतं दत्त्वा शुक्तिभस्म कलांशकम् ॥ १५४ ॥
हंसपादीरसैः सम्यङ् मर्दयित्वा दिनत्रयम्।
स्थूलगोलं ततः कृत्वा परिशोष्य खरातपे ॥ १५६ ॥
निरुध्य वालुकायन्त्रे क्रमपुष्टेन वह्निना।
पचेदेकमहोरात्रं स्वतः शीतं विचूर्ण्य च ॥ १५५ ॥
तुल्यांशममृतं दत्त्वा मर्दयेदार्द्रकद्रवैः।
विलिप्य स्थालिकामध्ये ततोऽन्यस्थालिकोदरे ॥१५७॥
पलार्द्धममृतं क्षिप्त्वा रसस्थालीश्च तन्मुखे।
न्युब्जां दत्त्वा दृढं रुद्ध्वा चुल्ल्यामारोप्य यत्नतः ॥
यामं प्रज्वालयेदग्निं विचूर्ण्य तदनन्तरम्।
करण्डके विनिक्षिप्य स्थापयेदतियत्नतः ॥
रसो ह्यग्निकुमाराख्यो दिष्टो मन्थानभैरवैः ॥ १५९ ॥

हन्यादत्यग्निमान्द्यं ज्वररुजमखिलं वातजातं क्षयार्तिं
शोफाढ्यं पाण्डुरोगं कफजनितगदान् प्लीहगुल्मं गुदार्तिम्
सर्वांगीणं च शूलं जठरभवरुजं खञ्जतां पङ्गुलत्वं
सर्वांश्चासाध्यरोगान् हरिरिव दुरितं रक्तगुल्मं वधूनाम्।

शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक दोनों समभाग में लेकर अच्छी तरह कज्जली बना लें। फिर इसमें कज्जली से चतुर्थांश शुद्ध विष और कज्जली से षोडशांश शुक्ति (सीप) भस्म मिला कर पीस लें। पश्चात् इसको तीन दिन तक हंसपदी के स्वरस से मर्दन करके गोला-सा बना कर तेज धूप में रख कर अच्छी तरह सुखा लें। पश्चात् इस गोले को एक दृढ़ शरावसम्पुट में बन्द करके अच्छी तरह कपड़मिट्टी करें और बालुकायन्त्र में रख कर मन्द, मध्य तथा तीव्र क्रम से अग्नि देकर चौबीस घण्टे पका लें। स्वांगशीत होने पर निकाल पीस कर इसमें समभाग शुद्ध वत्सनाभचूर्ण मिला अदरख के रस से मर्दन करके कल्क-सा बना एक गहरे शराब के भीतर लेप कर दें। इसी के समान एक दूसरे शराब में आधा पल परिमाण वत्सनाभ डाल कर उसके मुख पर लेप वाले शराब को औंधामुँह टिका कर या फँसा कर अच्छी तरह सन्धिलेप कर दें। फिर इस सम्पुट को चूल्हे में रख कर एक पहर की मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर सम्पुट से औषधि को निकाल पीस करके शीशी में अच्छी तरह रख लें। इस 'अग्निकुमार' नामक रस को मन्थानभैरवरसाचार्य ने वर्णन किया है। विधिपूर्वक सेवन करने पर यह रस अत्यन्त अग्निमान्द्य, ज्वर, सम्पूर्ण वातिकरोग, क्षयरोग, शोथयुक्त पाण्डुरोग, कफप्रकोपजन्य अरुचि आदि रोग, प्लीहावृद्धि, गुल्म, अर्श, सम्पूर्ण शरीर के शूल, उदरपीड़ा, खञ्ज तथा पङ्गु (लूला) रोगों को तथा अन्य असाध्य सभी रोगों को नष्ट करता है। स्त्रियों के रक्तगुल्म तथा अन्य रोगों को यह रस उसी प्रकार शीघ्र नष्ट करता है जिस प्रकार प्रसन्न हुये विष्णु भगवान् सम्पूर्ण पापों को दूर कर देते हैं।

विशेष वचन—रस गन्धक की कज्जली को २४ घंटे बालुकायन्त्र में पकाने से पारद गन्धक दोनों उड़ जायेंगे अतः सम्पुट को बालुकायन्त्र में रख गन्धक की गन्ध आने तक ही पकाना उचित होगा। इसी तरह शुद्ध वत्सनाभ के साथ भी इसके गन्धक की गन्ध आने तक ही पकाना उचित होगा। अन्यथा वत्सनाभ जल कर कुछ गुण नहीं करेगा और पारद गन्धक भी उड़ जायेंगे। मात्रा आधी रत्ती से एक रत्ती तक ॥ १५४-१६० ॥

शम्बूकादिलौहम्—

शम्बूकं त्र्यूषणं पंच लवणानि मृतायसम्।
समांशं पेषयेन्मूत्रैः कृष्णाजस्य दिनावधि ॥
भक्षयेत्कर्षमात्रं तु परिणामाख्यशूलनुत् ॥१६१॥

शम्बूक (घोंघा) भस्म, सौंठ का चूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, पाँचों नमक तथा लोहभस्म; प्रत्येक समभाग में लेकर काली बकरी के मूत्र में एक दिन अच्छी तरह मर्दन करके सुखा कर रख लें। इसमें से एक कर्ष मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से परिणामशूल शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ६ रत्ती तक ॥

इन्द्रवारुणिकादिचूर्णम्—

इन्द्रवारुणिकामूलं कटुत्रयसमन्वितम्।
पिबेदुष्णाम्बुना हन्ति शूलमत्यन्तदुःसहम् ॥१६२॥

इन्द्रायणमूलचूर्ण, सौंठचूर्ण, मरिचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण; सब समभाग में लेकर उचित मात्रा में गरम पानी के साथ खाने से अत्यन्त भयानक शूल शान्त हो जाता है। इस योग का स्वतन्त्र रूप में या किसी शूलहर रस के साथ अनुपान के रूप में सेवन करना चाहिये ॥ १६२ ॥

भूदार्वादियोगः—

भूदारुवटमूलं च शूलजित्सोष्णवारिणा ॥१६३॥

देवदारु चूर्ण तथा बड़मूल का चूर्ण दोनों को समान भाग में लेकर उचित मात्रा में गरम जल से सेवन करने पर शूल शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—कोई भूशब्द से कालीजीरी और दारु शब्द से देवदारु अर्थ लेते हैं ॥ १६३ ॥

सद्यःशूलहरो योगः—

सद्योभवं हरेच्छूलं लवणं वारनालकैः ॥१६४॥

तत्काल उत्पन्न हुए शूल को अर्थात् नूतन और साधारण प्रकार के शूल को केवल सौंचलनमक का चूर्ण काञ्जी के साथ सेवन करने पर शान्त कर देता है।

सद्यःशूलहरयोगद्वयम्—

घृतेन सैन्धवं वाऽथ उष्णतोयैः सुवर्चलम् ॥१६५॥

सद्यःशूल को शान्त करने के लिये सैन्धानमक को घी में मिला कर सेवन करें अथवा सौंचलनमक को गरम पानी से लेवें तो शूल शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—पूर्वोक्त इन्द्रवारुणिकादि मुष्टिक योग प्रधानतया शूल के लिये लाभदायक नहीं होते हैं। यदि इनको अनुपान के रूप में प्रयुक्त किया जाय तो शूलहर रसों की शक्ति को बढ़ा देते हैं। अतः अवस्था को देख कर इनका अनुपान रूप से व्यवहार करना लाभदायक होता है। किसी २ रससमुच्चय ग्रन्थ में १६५ श्लोक के बाद नागवल्लभ रस का पाठ अधिक देखा जाता है। जो इस प्रकार है, "नागं वंगं सुताम्रं दरदमनःशिलातुल्यताप्याभ्रगन्धं। भस्मस्वर्णेन तुल्यं रसकमपि रविक्षीरघृष्टं सुगोलम्। कृत्वा पक्त्वा च

यन्त्र लवणविरचिते भावयेदार्द्रकाभिर्वारान् सतद्विवल्लं समधुमगधया योजितः सेवनीयः ॥ कार्त्स्न्ये शूलेऽग्निमान्द्ये विविधसमुचितैरौषधैः सन्निपाते हृद्रोगे गुल्ममेहे कफपवनभवे सर्ववातज्वरेऽपि । देयो युक्त्या रसेन्द्रस्त्रिभुवनविदितो भोगिलोके प्रसिद्धो नागानां वल्लभो यो गरगदगलनो रक्तपित्तप्रहन्ता ॥" इसी तरह एक दूसरे नागवल्लभ रस का भी यही अधिक पाठ मिलता है। परन्तु अन्यत्र यह पाठ विरला ही पाया जाता है ॥ १६५ ॥

क्षारवटी--

अमृतं मेघभस्माथ शंखं चिंचासुभास्करम् ।
क्रमाद्द्विगुणितं कृत्वा तत्तुल्यं च कटुत्रयम् ॥१६६॥
तुलसीभृंगराजोत्थमातुलुंगार्द्रकद्रवैः ।
भावितं बहुशश्चूर्णं रजो वा गुटिकापि वा ॥१६७॥
गुंजामात्रं तु सेवेत गुल्मशूलान् विनाशयेत् ।
मन्दाग्निं ग्रहणीमर्शो रक्तगुल्ममरोचकम् ॥
एषा क्षारवटी नाम्ना कृशदेहेषु युज्यते ॥१६८॥

शुद्ध वत्सनाभ एक भाग, स्वर्णभस्म दो भाग, शंखभस्म चार भाग, इमलीछाल की भस्म (क्षार) आठ भाग, अच्छी तरह शोधित तथा मारित ताम्रभस्म सोलह भाग लें। और सब के समान अर्थात् इकत्तीस भाग सौंठ का चूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण (सब मिलाकर) लें। इन सब को एकत्र मिला तुलसीस्वरस, भृंगराजस्वरस, बिजौरा नींबू के रस तथा अदरखरस में पृथक् २ सात २ भावना देकर चूर्ण कर लें। अथवा एक रत्ती की गोली बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक रत्ती प्रमाणमात्र में सेवन करने से गुल्म, अष्ठीला, मन्दाग्नि, संग्रहणी, अर्श, शूलरोग तथा अरुचिरोग नष्ट होते हैं। यह 'क्षारवटी' नाम से कही जाती है। इसको कृश देह मनुष्यों को भी दे सकते हैं।

विशेष वचन—कई टीकाकारों ने चिञ्चा से इमली या इमली के छाल की भस्म ही ली है। परन्तु ऐसा करने से इस रस को क्षारगुटिका के नाम से नहीं कहा जा सकता है। अतः चिञ्चा से इमली के छाल की भस्म बना कर उसका क्षार यहाँ लेना चाहिये। यद्यपि यह वटी स्वर्णभस्म के योग से बहुमूल्य हो जाती है। परन्तु वातिकरोग, शूल गुल्मादि के लिये अत्युत्तम है। चरक में एक क्षार गुटिका है जो इससे सर्वथा भिन्न है। उसमें धातुओं की भस्म बिलकुल नहीं है। और उसको ग्रहणी रोग के लिये लिखा है ॥

अथ कार्श्यचिकित्सा ।

अमृतार्णवो रसः—

रसभस्म त्रयो भागा भागैकं हेमभस्मकम् ।
सर्वांशममृतासत्वं सितामध्वाज्यमिश्रितम् ॥ १६९ ॥
दिनैकं मर्दयेत्खल्ले माषैकं भक्षयेत्सदा ।
कृशानां कुरुते पुष्टिं रसोऽयममृतार्णवः ॥
अश्वगन्धापलार्द्धं च गवां क्षीरैः पिबेदनु ॥ १७० ॥

पारद भस्म (रससिन्दूर) ३ भाग, स्वर्णभस्म १ भाग, गुडूचीसत्व ४ भाग लेकर एक खरल में एकत्र मर्दन करें। इसमें से प्रतिदिन प्रातःकाल एक मासा मात्रा में लेकर मिश्री, शहत तथा घी के साथ मिला कर सेवन करें। यह 'अमृतार्णवरस' कृशदेह मनुष्यों के शरीरको पुष्ट मोटा और बलवान् बना देता है। इस रस के खाने के बाद आधा पल अश्वगन्धाचूर्ण को दूध के साथ अनुपान रूप में खावें।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। अनुपान की मात्रा—अश्वगन्धाचूर्ण एक मासा, दूध आवश्यकतानुसार पीना चाहिये। भैषज्यरत्नावली में एक और अमृतार्णव रस है जो इससे सर्वथा भिन्न है ॥१६९-१७०॥

पूर्णचन्द्ररसः—

मृतसूताभ्रलोहं वै शिलाजतु विडङ्गकम् ।
ताप्यं क्षौद्रं घृतं तुल्यमेकीकृत्य विमर्दयेत् ॥ १७१ ॥
पूर्णचन्द्ररसो नाम्ना माषैकं भक्षयेत्सदा ।
शाल्मलीपुष्पचूर्णं च क्षौद्रैः कर्षं पिबेदनु ॥ १७२ ॥
दुर्बलो बलमाप्नोति मासैकेन यथा शशी ।
कृशानां बृंहणं देयं सर्वं पानान्नभेषजम् ॥
निद्रा चैव दिवारात्रौ छागमांसाशनं तथा ॥ १७३ ॥

रससिन्दूर, कृष्णाभ्रकभस्म, लोहभस्म, शुद्ध शिलाजीत, वायविडंग का चूर्ण, स्वर्णमाक्षिकभस्म; प्रत्येक द्रव्य समान भाग लेकर एकत्र अच्छी तरह पीस कर रख लें। अथवा घृत और मधु से गोली बना लें। इस 'पूर्णचन्द्ररस' की एक मासा (६ रत्ती) भर मात्रा घी और शहत के साथ प्रतिदिन खावें। इसके खाने के पश्चात् अनुपान रूप में एक कर्ष सेमल के फूलों का चूर्ण शहत में मिला कर खाना चाहिये। इस प्रकार इस रस के सेवन करने से एक मास में ही दुर्बल मनुष्य वैसे ही बलवान् हो जाता है जैसे प्रतिपदा का चन्द्रमा पूर्णमासी के दिन बलवान् हो जाता है। कृशदेह मनुष्यों को इस रस के साथ खाने पीने की चीजों में भी सब पोषक पदार्थों का सेवन करना चाहिये। और ऐसे मनुष्यों को पूर्ण आराम के साथ पर्याप्त निद्रा लाने या सोने का प्रयत्न करना चाहिये। भोजन में व्यञ्जनोंके साथ बकरे का मांसरस विशेष रूप में देना चाहिये।

विशेष वचन—यह रस शरीर में वातिक क्षोभ के लिए विशेष लाभदायक है। रात्रि-मेह या स्वप्नमेह में अत्यन्त लाभदायक है। जिनके पेट में आध्मान हो, निद्रा अच्छी तरह नहीं आती हो, स्वप्न बहुत होते हों और दिन में भी थोड़ी देर आँख लगने-

पर वीर्यच्युति हो जाती हो ऐसी अवस्था में यह रस लाभदायक है। यकृत् दौर्बल्य तथा उदर-कृमि के लिए भी यह लाभदायक है। आधुनिक मात्रा २ रत्ती ॥१७१-१७३॥

अथ स्थौल्यचिकित्सा ।

वाडवाग्निमुखो रसः—

शुद्धसूतं मृतं ताम्रं तालं बोलं समं समम् ।
अर्कक्षीरैर्दिनं मर्द्यं क्षौद्रै र्लेह्यं द्विगुञ्जकम् ॥ १७४ ॥
वडवाग्निमुखो नाम स्थौल्यं तुन्दं नियच्छति ।
पलं क्षौद्रं पलं तोयमनुपानं पिबेत्सदा ॥ १७५ ॥

शुद्ध पारद, ताम्रभस्म, शुद्ध हरताल तथा बोल (Myrrh) इन प्रत्येक द्रव्यों की समभाग में लें। पहिले हरताल और पारद की कज्जली बना लें। पश्चात् उसमें अन्य द्रव्य मिला कर अच्छी तरह पीस लें। तदन्तर इसको एक दिन आक के दूध से पीस कर दो रत्ती की गोली बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक गोली शहत में मिला कर चाटें। यह 'वडवाग्निमुखरस' स्थूलता तथा तुन्द (तौंद) को दूर करता है। इस रस के सेवनकाल में प्रतिदिन एक बार अथवा अनुपान के रूप में एक पल शहत मे एक पल जल मिला कर सदा पीना चाहिये।

विशेष वचन—मात्रा आधी रत्ती से १ रत्ती तक। यद्यपि यहाँ पर गन्धक नहीं लिखा है। तथापि तन्त्रान्तर-दर्शन अथवा गन्धक रहित पारद का अनुपयोग दर्शन से यहां अनुक्त शुद्ध गन्धक भी पारद के बराबर भाग लेना आवश्यक है। रसेन्द्रसारसंग्रह में गन्धक का पाठ स्पष्ट मिलता है—जैसे 'शुद्धसूतं समो गन्धस्ताम्र तालं समं समम् । अर्कक्षीरैर्दिनं मर्द्यं क्षौद्रैर्लेह्यं त्रिगुञ्जकम् ॥ वडवाग्निरसो नाम्ना स्थौल्यमाशु नियच्छति ॥" प्रकृत रस में तन्त्रान्तर से बोल का पाठ विशेष मिलता है। यह वायु का अनुलोमन करता है जिससे आमाशय तथा आन्त्र की स्वाभाविक प्रेरक गति बढ़ती है। साथ ही यह आमाशय के रस को भी उत्तेजित करता है। स्थूलता-नाश के लिये ऐसे द्रव्य अत्यन्त लाभदायक होते हैं। इसी वास्ते कई स्थूलताहर योगों में विडंग का योग पाया जाता है। यदि यह रस गन्धक के योग से बनाया जाय तो मात्रा दो रत्ती तक निश्चित की जा सकती है। गन्धक न डालने के पक्षपाती वैद्य 'मृतं' शब्द को ताम्र तथा पारद का विशेषण समझ कर रससिन्दूर का योग कर सकते हैं ॥ १७४—१७५ ॥

स्थौल्ये पूर्वकृत्यनिर्देशः—

तत्रादौ पञ्चकर्माणि लङ्घनाद्यैरुपाचरेत् ॥ १७६ ॥

स्थूलता की चिकित्सा करते हुए वैद्य को चाहिये कि यदि रोगी बलवान् हो तो उसकी पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन, नस्य) द्वारा शुद्धि कर लें। अन्यथा लङ्घन, दीपन, पाचन, व्यायाम आदि कर्म से ही मेदस्वी का मेदः कम कर लें।

मध्वार्द्रकप्रयोगः—

आर्द्रकं मधुना खादेन्मेदोऽनिलकफाञ्जयेत् ॥ १७७ ॥

मेदा, कफ तथा वातविकारयुक्त रोगियों को प्रतिदिन एक बार अदरखरस में मधु मिला कर सेवन करना चाहिये। इससे क्षुधा की वृद्धि के साथ लसीकावाहिनियाँ भी स्वच्छ रहती हैं। जिससे किसी स्थान पर कफ तथा चर्बी सञ्चित नहीं होने पाती है ॥१७७॥

अग्निकुमारो रसः—

गन्धकेन द्विकर्षेण शुद्धसूतेन तावता ।
विधाय कज्जलीं सूक्ष्मामेकवासरमर्दनात् ॥ १७८ ॥
कर्षमात्रं विषं दत्त्वा मर्दयित्वा दृढं पुनः ।
हंसपादीरसैस्तैर्वा स्तोकं स्तोकं मुहुर्मुहुः ॥ १७९ ॥
कुडवार्द्धमितैः पश्चाद्गोलं कृत्वा विशोष्य च ।
काचकूप्यां विनिक्षिप्य शुल्वे नाडीं विधाय च ॥ १८० ॥
देवीशास्त्रे पुनः प्रोक्तं विषं कर्णविचूर्णितम् ।
ऊर्ध्वाधो गोलकानां हि काचकूप्यां विनिक्षिपेत् ॥१८१॥
निक्षिपेत्कज्जलीं मध्ये यतश्चाग्रयं प्रजायते ।
ततश्च ह्यङ्गुलोत्सेधमृदा कूपीं विलिप्य ताम् ॥ १८२ ॥
विशोष्य बालुकायन्त्रे यन्त्रवर्गप्रकाशिते ।
अधोमुखीं घटीं क्षिप्त्वा क्षिपेदुपरि बालुकाम् ॥ १८३ ॥
निरुध्य भाण्डवक्त्रं च चुल्ल्यामारोप्य यत्नतः ।
वह्निं प्रज्वालयेत्सार्द्धं दिनं क्रमविवर्धितम् ॥ १८४ ॥
स्वांगशीतलमाकृष्य सह ताम्रेण मर्दयेत् ।
पलार्द्धं मरिचं सूक्ष्मं कर्षार्द्धं वत्सनाभकम् ॥ १८५ ॥
विनिक्षिप्य विमर्द्याथ क्षिपेद्रम्यकरण्डके ।
नन्दिना तु समुद्दिष्टं रसतुल्यं मरीचकम् ॥
वत्सनाभं तु कर्षांशं मिश्रयेत विचूर्ण्य तत् ॥ १८६ ॥
निर्दिष्टोऽग्निकुमारको रसवरो देव्या तथा नन्दिना
सेव्यो वैद्ययशःप्रभूतफलदश्चाऽऽनाहविध्वंसनः ।
सद्यः पाचनदीपनो रुचिकरः शीघ्रं तथाष्ठीलिकां
सामां च ग्रहणीं हरेत्कफरुजः कण्ठामयध्वंसनः ॥ १८७ ॥
बल्यो भोजनतोयभक्ष्यसुखदः श्रेष्ठो रसानां प्रभु-
र्मन्दाग्नि कफवातजं क्षयगदं निःशेषशूलामयान् ।
श्वासं कासगदं तथा गुदरुजं स्थौल्यं च पाण्डुं तथा
शोफं वातगदं तथा खलु रत्तीतुल्योऽर्द्धपर्णान्वितः ॥१८८॥
कणया सितयाज्येन दातव्योऽसौ महारसः ।
प्रत्यष्ठीलादिरोगेषु जलकूर्मगदेषु च ॥ १८९ ॥
नन्दिना तु पुनः प्रोक्तस्तत्तद्रोगहरौषधैः ।
निहन्ति सकलान् रोगान् दुष्पत्नीव मनोरथान् ॥
रसजनितविदाहे शीततोयाभिषेको
मलयजघनसारालेपनं मन्दवातः ।

तरुणदधि सिताक्तं नारिकेलीफलाम्भो
मधुरशिशिरपानं शीतमन्यच्च शस्तम् ॥१९१॥
सौभाग्यं मेघनादांघ्रिसितामधुकचन्दनम् ।
तुषोदकेन दातव्यं सर्वस्मिन् रसवैकृते ॥१९२॥
छर्यां तृष्णासु दातव्यं कपित्थं वा सितान्वितम् ।
कुमारीशीतलेपश्च सर्वांगीणः प्रशस्यते ॥१९३॥
क्षीरं मधुसितापीतं क्वाथो वाऽमृतबन्धुकः ।
उपचारा अमी सर्वे प्रशस्ता रसतापिनाम् ॥१९४॥
रसस्याग्निकुमारस्य प्रभावं वेत्ति तत्त्वतः ।
गिरिजा नन्दिकेशो वा यद्वा नारायणः प्रभुः ॥१९५॥

शुद्ध पारद २ कर्ष, शुद्ध गन्धक २ कर्ष, दोनों को एकत्र एक दिन तक अच्छी तरह मर्दन करके कज्जली बना लें। अब इस कज्जली में १ कर्ष शुद्ध विष का चूर्ण मिला कर अच्छी तरह मर्दन करें। फिर इसको अर्ध कुडव अर्थात् आठ तोला हंसपदी के स्वरस से (थोड़ा थोड़ा रस डाल कर अथवा एक साथ ही स्वरस डाल कर) मर्दन कर सुखा लें और इसको एक दृढ़ काच की शीशी में भर कर शीशी की नली (गले) में शुद्ध ताम्रपत्र भर दें। देवीशास्त्र में उक्त कज्जली को शीशी में भरने के पूर्व शीशी में १ तोला शुद्ध विष का चूर्ण डालना लिखा है। क्योंकि विषचूर्ण डालने से इस रस में गुणों की वृद्धि हो जाती है। कज्जली भरने के बाद काँच की शीशी पर दो अंगुल मोटी कपड़-मिट्टी करके सुखा लेना चाहिये। अब इस शीशी को यन्त्रप्रकरण में लिखे हुये बालुकायन्त्र में रख कर शीशी के मुख पर औंधेमुख की एक छोटी-सी मिट्टी की हाँडी ढक कर यन्त्र को बालुका से भर दें। और बालुकायन्त्र की हाँडी के मुख को भी शराव से बन्द कर सन्धिलेप करके सुखा लें। अब इस यन्त्र को सावधानी से चूल्हे पर रख कर डेढ़ दिन अर्थात् ३६ घण्टे मन्द, मध्य तथा तीव्र क्रम से अग्नि दें। स्वांगशीतल होने पर शीशी के द्रव्य को ताम्र के साथ ही एकत्र खरल में पीस लें। और इसमें आधा पल अर्थात् दो तोला मरिच का चूर्ण तथा आधा कर्ष अर्थात् छः मासा शुद्ध वत्सनाभचूर्ण मिला कर मर्दन करके एक सुन्दर शीशी में रख लें। परन्तु नन्दीश्वर नामक रसाचार्य के मत से इसमें पारद के समभाग मरिचचूर्ण और एक कर्ष परिमाण शुद्ध वत्सनाभ-विषचूर्ण मिला कर पीस लेना चाहिये। यह 'अग्निकुमाररस' श्रीदेवी पार्वती तथा नन्दी नामक रसाचार्य अथवा शिवजी ने वर्णन किया है। यह रस सब मनुष्यों को सेवन करना चाहिये। इसके द्वारा वैद्य को चिकित्सा में अत्यन्त यश तथा फल लाभ होता है। यह आनाह (कब्ज़) नाशक है। यह रस तत्काल आन्त्र तथा आमाशय से पाचक रस को उत्पन्न करके दीपन तथा पाचन करता है। यह अन्न में रुचिकारक, अष्ठीलिका (वातव्याधि) तथा आमविकारयुक्त संग्रहणी, कफप्रकोपजन्य पीड़ा या रोग, गले के रोगों को नष्ट करता है। यह शरीर में बल उत्पन्न करने वाला है। खाने-पीने के भक्ष्य-भोज्य आदि पदार्थों में रुचि उत्पन्न कर सुख प्रदान करने वाला है। और मन्दाग्नि, कफवातप्रकोपजन्य रोग, क्षयरोग, सब प्रकार के शूलरोग, श्वास, कास रोग, अर्श, स्थूलता, पाण्डु रोग, शोथ वातिक रोगों को समूल नष्ट करता है। इसको १ रत्ती भर मात्रा में लेकर आधे पान के पत्ते में रख कर खाना चाहिये। इस महारस को पिप्पलीचूर्ण, मिश्री तथा घृत के साथ प्रत्यष्ठीला आदि वातव्याधियों में तथा जलदोषजन्य रोग तथा उदररोगों में देना चाहिये। नन्दी के मत से यह रस तत्तत् रोगहर औषधियों के अनुपान के साथ प्रयोग करने पर सम्पूर्ण रोगों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे दुष्टा स्त्री अपने सज्जन पति के सब मनोरथों को। इस रस के सेवन करने पर यदि पित्तप्रकोपजन्य दाह उत्पन्न हो जाय तो रोगी के शरीर में शीतल जल का अभिषेक करके अर्थात् शीत जल से स्नान करा कर उसके शरीर में चन्दन तथा कर्पूर का गाढ़ा लेप करना चाहिये और मन्द मन्द वायु सेवन करनी चाहिये। तृषा अधिक होने पर ताज़े मीठे दही में मिश्री मिला कर पिलाना चाहिये और थोड़ा थोड़ा नारियल के फल का पानी देना चाहिये। इसके अतिरिक्त मधुर और शीत द्रव्यों के शर्बत फलरस, बरफ आदि शीतोपचार तथा आहार देना चाहिये। इस रस के सेवन से होने वाले दाह आदि सब विकारों में चौलाई की जड़, मुलेठी, रक्तचन्दनचूर्ण, मिश्री तथा सुहागे की खील को तुषोदक जौं की काञ्जी में मिलाकर पिलाना चाहिये। यदि वमन अथवा तृषा अधिक होती हो तो कैथ की गूदा मिश्री के साथ मिलाकर जल से देना चाहिये। और सम्पूर्ण शरीर में घीकुमार के शीतस्वरस का लेह करना चाहिये। अथवा इस रस के विपरीत प्रयोग करने पर उत्पन्न होने वाले विकारों में शहद और मिश्री मिलाकर दूध पिलाना चाहिये, या गुडूची तथा दुपहरिया का कषाय मिश्री मिलाकर पिलाना चाहिये। पूर्वोक्त सम्पूर्ण उपचार इस रस द्वारा सन्तप्त मनुष्यों के लिये उपयोगी हैं। इस रस के प्रभाव (कार्य करने की शक्ति या गुण) को यथार्थ रूप में पार्वती और शिव जी जानते हैं अथवा स्वयं विष्णु भगवान् इसके गुणों को तत्त्वरूप से जान सकते हैं।

विशेष वचन—पारद गन्धक की कज्जली को शीशी में भर कर मुख में ताम्रपत्र का डाट देकर उलटा मुंह करके बालुकायन्त्र में पकाने पर कुछ अड़चन होती है। जैसे उलटा कर रखने पर गन्धक पिघल कर नीचे की तरफ निकलने लगेगी। यदि डाट अत्यन्त कठिन और भरा हुआ तो सम्भवतः बाहर न निकल सके अन्यथा बाहर निकल आयेगी। यदि बाहर निकल गई तो ताम्र की भस्म नहीं हो सकती है। बाहर न निकलने पर तीव्र

अग्नि देने पर शीशी को ऊपर उठाकर अलग कर देगी, अतः हमने उपर्युक्त अर्थ किया है। अथवा अन्य ताम्र विधानों के सदृश इस कज्जली को ताम्र शरावों के भीतर पोत कर बन्द करके कपड़-मिट्टी कर बालुकायन्त्र में पकाना चाहिये। यदि ताम्रभस्म ठीक न हो तो पुनः कज्जली द्वारा पाक करना चाहिये। वसवराजीय ग्रन्थ में "शुल्वे नाडीं विधाय च" के स्थान "शुल्वं चास्मिन् प्रदापयेत्" पाठ भी है। 'यतश्चाग्र्यं प्रजायते" के स्थान पर "यथा श्वासो (मार्ग) न जायते' पाठ है। प्रकृत रसमें ताम्रपत्र एक तोले के होने चाहिये। यदि ताम्रपत्र ठीक भस्म न हुये हों और उनके सम्पुट में दी हुई कज्जली का यदि कोई उपयोगी भाग प्राप्त हो तो भी उसे पृथक् करके पुनः दूसरी कज्जली से ताम्रपत्रों की अच्छी तरह भस्म करके अन्त में पूर्वावशिष्ट कज्जली का भाग इसमें डालकर पीस लें ॥ १७८-१९५ ॥ (इति स्थौल्यचिकित्सा)

अथ अम्लपित्तचिकित्सा

अम्लपित्तनिदानम्—

अम्लोद्गारवमीहस्तपादहृत्कुक्षिदाहता।
अम्लपित्ते मुखं तिक्तं भवेच्छूलमरोचकम् ॥१९६॥

अम्लपित्त रोग में डकार खट्टी आती हैं और वमन भी खट्टे द्रव की होती है, अम्ल के कारण ही पित्तप्रकोप से हाथ, पैर, छाती और पेट में दाह गर्मी और जलन होती है। मुख का स्वाद कड़वा होता है। आमाशय प्रदेश में शूल तथा भोजन में अरुचि होती है।

विशेष वचन—आमाशय में अम्ल अधिक बनने से यह रोग होता है। इसमें कौड़ी प्रदेश में पीड़ा, जलन और क्षोभ सा होता है। इस रोग के लक्षण भोजन के एक दो घंटे बाद आरम्भ होते हैं। इस रोग की मुख्य परीक्षा यह है कि पीड़ा के समय यदि थोड़ा-सा यवक्षार या सर्जक्षार खा लिया जाय या थोड़ा सा कोई आहार ही कर लिया जाय तो पीड़ा थोड़ी देर के लिये शान्त हो जाती है। अन्यत्र भी इसका स्पष्ट लक्षण पाया जाता है। "अविपाकक्लमोत्क्लेदतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः। हृत्कण्ठदाहाऽरुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक्" ॥ १९६ ॥

अम्लपित्तोपचाराः—

अम्लपित्ते तु वमनं तदन्ते मृदुरेचनम् ।
ऊर्ध्वगं वमनैर्हन्यादधोगं रेचनैर्जयेत् ॥
तिक्तभूयिष्ठमाहारं पानं चापि प्रकल्पयेत् ॥१९७॥

अम्लपित्त रोग में पहिले वमन द्वारा आमाशय सञ्चित अम्ल को बाहर निकाल कर बाद को मृदुरेचन देना चाहिये। अथवा ऊर्ध्वग अम्लपित्त में वमन और अधोगामी अम्लपित्त में विरेचन देकर अम्ल को निकालना चाहिये। और वमन विरेचन के बाद अम्ल को कम पैदा करने वाले तथा अम्ल को उदासीन करने वाले तिक्तरस भूयिष्ठ द्रव्यों का प्रयोग खानपान में अधिक करना चाहिये ॥ १९७ ॥

वमनयोगः—

अम्लपित्ते च वमनं पटोलारिष्टवारिभिः ॥१९८॥

यदि अम्लपित्त में वमन देनी हो तो पटोलपत्र, निम्बपत्र के कषाय को पिलाना चाहिये।

विशेष वचन—कई बार केवल उक्त दो तिक्त द्रव्यों से किसी को वमन नहीं होती है। अतः मदनफलचूर्ण के साथ उक्त कषाय देना चाहिये ॥ १९८ ॥

विरेचनयोगः—

विरेचनं त्रिवृच्चूर्णं मधुधात्रीफलैर्भवेत् ॥१९९॥

अम्लपित्त में विरेचन देना हो तो त्रिवृतचूर्ण में मधु और आँवले का चूर्ण मिला देना चाहिये ॥ १९९ ॥

लीलाविलासो रसः—

शुद्धसूतं शुद्धगन्धं सूतं ताम्राभ्ररौप्यकम् ।
तुल्यांशं मर्दयेद् यामं रुद्ध्वा लघुपुटे पचेत् ॥२००॥
अक्षधात्रीहरीतक्याः क्रमवृद्ध्या विपाचयेत् ।
जलेनाष्टगुणेनैव ग्राह्यमष्टावशेषितम् ॥२०१॥
अनेन भावयेत्सर्वं पूर्वं सूतं पुनः पुनः ।
पञ्चविंशतिवारं च तावद्भिर्भृङ्गजैर्द्रवैः ॥२०२॥
शुष्कं तच्चूर्णितं खादेत्पञ्चगुञ्जं मधुप्लुतम् ।
रसो लीलाविलासोऽयमम्लपित्तं नियच्छति ॥२०३॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, रजतभस्म, प्रत्येक द्रव्य सम भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर एक प्रहर मर्दन करके शराव-सम्पुट में बन्द कर कपड़मिट्टी कर सुखा लें और लघुपुटमें फूँक दें। पश्चात् इस पूर्वोक्त सूत (योग) को, एक भाग बहेड़ा दो भाग आँवला, तीन भाग हरड़ लेकर उसमें त्रिफला से अष्टगुणा जल डाल अष्टमांशावशेष कषाय बना कर उस कषाय की पच्चीस भावना दें। इसके बाद भाँगरे के स्वरस की पच्चीस भावना देकर सुखा लें। इसमें से पांच रत्ती भर लेकर प्रतिदिन शहद में मिला कर खावें। यह 'लीलाविलासरस' अम्लपित्त रोग को दूर करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। इसे मधु के साथ चाट कर ऊपर से शतावरीस्वरस, या पेठे का रस अथवा आँवलास्वरस में मिश्री मिला कर पीना चाहिये। यह अम्लपित्त की प्रसिद्ध औषधि है। इसके द्वारा अत्यन्त बढ़े हुए अम्लपित्त में, जब कि जल भी अन्दर नहीं ठहरता हो, शीघ्र

लाभ देखा जाता है। रसेन्द्रसार संग्रह में जो लीलाविलासरस है उसमें रजत के स्थान पर लौहभस्म है और लघुपुट देने का विधान नहीं है। केवल पारदादि द्रव्यों को बहेड़े और आँवले के कषाय में तीन दिन घोटना और अन्त में भाँगरे के स्वरस में एक दिन घोटने को लिखा है। वहाँ इसकी मात्रा तीन रत्ती की लिखी है। जैसे-"रसोत्रलिर्व्योम रविश्च लौहं धात्र्यक्षनीरैस्त्रिदिनं विमर्द्य। तदल्पघृष्टं मद्रुमार्कवेण सम्मर्दयेदस्य च वल्लयुग्मम् ॥ हन्त्यम्लपित्तं मधुनावलीढं लीलाविलासो रसराज एषः। छर्दिं सशूलं हृदयस्य दाहं निवारयेदेष न संशयोऽस्ति ॥" रसेन्द्रचिन्तामणि में इस रस के अनुपान का भी वर्णन मिलता है। यथा "दुग्धं सकूष्माण्डरसं सधात्रीफलं शनैस्तत्ससितं भजेद्वा।" योगरत्नाकर में 'पूर्वसूतम्' के स्थान पर 'पक्वसूतम्' पाठान्तर मिलता है। परन्तु वहाँ पर 'रौप्यकम्' के स्थान पर रोचनं' पाठ प्रामादिक है।

कूष्माण्डखण्डम्—

कूष्माण्डोत्थरसस्य सत्पलशतं तुल्यं गवां क्षीरकं
धात्रीचूर्णपलाष्टकं लघु पचेद्यावद्भवेत्पिण्डितम्।
धात्रीतुल्यसितं पलार्द्धममृतं तल्लेहकं लेहयेत्
ख्यातं कूष्माण्डखण्डं क्षपयति नितरामम्लपित्तं न चान्यत् ॥२०४॥

अच्छी तरह पके हुये सफेद पेठे का स्वरस सौ पल, गाय का दूध सौ पल लेकर दोनों को एकत्र एक कलई किये हुये चौड़े पात्र या कड़ाही में डाल कर पकावें। और पकाते समय इसमें आँवलाचूर्ण आठ पल अर्थात् ३२ तोला डाल दें और कड़छी से चलाते हुये मन्द मन्द अग्नि से पकायें जिससे वह जलने न पाये। जब पकने को आये तब उसमें आठ पल परिमाण मिश्री का चूर्ण और आधा पल (दो तोला) गिलोयचूर्ण मिला कर अवलेह तय्यार कर लें। इसको 'कूष्माण्डखण्डावलेह' कहते हैं। यह अवलेह प्रतिदिन नियमपूर्वक सेवन करनेसे अवश्य ही अम्लपित्त को नष्ट करता है। इसके समान दूसरा कोई अवलेह अम्लपित्त-नाशक नहीं है।

विशेष वचन—मात्रा २ मासे से ४ मासे तक। इसमें कई वैद्य अमृत शब्द से विष का ग्रहण करते हैं। परन्तु अकारान्त अमृत शब्द का गुडूची के लिये अन्यत्र भी प्रयोग देखा जाता है। तथा गिलोय अम्लपित्त के लिये उत्तम भी मानी जाती है। अतः हमने गुडूची अर्थ किया है ॥ २०४ ॥

ताम्रद्रुतिरसः—

पलं नेपालशुल्वस्य पत्राणि सुतनूनि च।
कृत्वा कंटकवेध्यानि कारयेत्तदनन्तरम् ॥ २०५ ॥
कर्षैकं द्विगुणं ग्राह्यं क्रमात्सूतकगन्धयोः।
मर्दितव्यं शिलाखल्ले रसैर्दन्तशठस्य वै ॥ २०६ ॥
तत्कल्कं पङ्कवत्कृत्वा तेन पर्णानि सर्वशः।
लेपयित्वा शिलाखल्ले स्थापयेदातपे खरे ॥२०७॥
यामैकेन समुद्धृत्य द्रवीभवति नान्यथा।
वान्ति विरेचनं कृत्वा शुद्धकायो यथाविधि ॥२०८॥
पूजयित्वा सुरान् वैद्यान् विप्रान् हेमाम्बरादिभिः।
तां द्रुतिं मधुसर्पिर्भ्यां रक्तिकामाषकादिभिः ॥२०९॥
लीढ्वा तत्र पिबेत्तक्रं धान्याम्लकमथापि वा।
जीर्णे सायं समश्नीयाच्छाल्यन्नं तु पुरातनम् ॥२१०॥
सेव्यमानं निहन्त्येतदम्लपित्तं सुदारुणम्।
कासं क्षयं तथा शोषमर्शांसि ग्रहणीं तथा ॥२११॥
कामलां पाण्डुरोगं च कुष्ठान्येकादशैव च।
रक्तपित्तं सखालित्यं शूलं चैवोदराणि च ॥२१२॥
वातरोगं प्रतिश्यायं विद्रधिं विषमज्वरम्।
सन्तताभ्यासयोगेन वलीपलितनाशनम् ॥२१३॥
ताम्रवत्कुरुते देहं सर्वव्याधिविवर्जितम्।
जीवेद्वर्षशतं साग्रं द्वितीय इव भास्करः ॥ २१४ ॥

एक पल परिमाण शुद्ध (शास्त्रोक्त विधान से) नैपाली ताम्र लेकर उसके अत्यन्त पतले पतले कण्टकवेधी पत्र बना लें। पुनः एक कर्ष शुद्ध पारद और दो कर्ष शुद्ध गन्धक लेकर खरल में डाल कर उनको दन्तशठ (जम्बीरी नींबू या चाँगेरी) के रस से अच्छी तरह मर्दन करके कल्क बना लें। फिर इस कल्क का उक्त ताम्रपत्रों पर अच्छी तरह लेप कर खरल में डाल कर अत्यन्त तेज धूप में रखें। इस प्रकार एक प्रहर तक तेज धूप में रखने से ताम्र गल जाता है। और ताम्र को गलाने की कोई विधि नहीं है। ताम्र के द्रुत होकर पारद गन्धक की कज्जली और नींबू के रस में मिल जाने पर उसे शीशी में रख लें। इस द्रुति को सेवन करने के पूर्व शास्त्रानुसार रोगी को वमन तथा विरेचन देकर शुद्ध करके पश्चात् वस्त्र, भूषण, भोजनादि से देवता, वैद्य तथा ब्राह्मणों की पूजा करें। तदनन्तर उक्त ताम्रद्रुति को रोगी तथा रोग के बलानुसार एक रत्ती से एक मासा पर्यन्त मात्रा में लेकर शहत और घृत के साथ सेवन करावें। द्रुति को जीर्ण हो जाने पर सायंकाल रोगी को पुराने चावलों का भात देना चाहिये। इस प्रकार रस का निरन्तर सेवन करने से यह द्रुति भयानक अम्लपित्त, कास, क्षय, शोष, अर्श, संग्रहणी, कामला, पाण्डुरोग, ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ, रक्तपित्त, खालित्य (बालों का उड़ जाना), शूल, उदररोग, वातिकरोग, प्रतिश्याय, विद्रधि, विषमज्वर को नष्ट करती है। इस रस के निरन्तर अभ्यास (सेवन) करने से मनुष्य वली (सिलवट जो बुढ़ापे के आने से या कमजोर होने से होती है) और पलित (बालों का सफेद होना) से रहित हो जाता है और उसका शरीर ताम्रवत् रक्तवर्ण (रक्त की वृद्धि और पोषण से) तथा सर्वरोगों

से रहित हो जाता है। उसकी आयु सौ वर्ष से अधिक हो जाती है और वह दूसरे सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है।

विशेष वचन—एक पहर तेज धूप में रखने से ताम्र की द्रुति सम्भव नहीं है। अतः नींबू का रस भर कर तबतक तेज धूप में रखना चाहिये जब तक कि ताम्रपत्र गल न जायँ। जब ताम्रपत्र गल जायँ तब सबको घोट कर गोली बना कर सुखा लेना चाहिये। चिरकालतक अम्लरस में ताम्र के चूर्ण को रखने से वह गल जाता है। परन्तु ताम्रपत्र बहुत अच्छी तरह शुद्ध किये हुये होने चाहिये। अन्यथा वान्ति तथा भ्रान्ति कर देंगे। तन्त्रान्तर में एक याम का कोई वर्णन नहीं मिलता है। उसमें पंकोपम होने तक धूप में रखने को कहा गया है। और इसकी दो रत्ती की मात्रा को हर तीसरे दिन एक रत्ती बढ़ाते हुये धनिया और जीरे के कषाय या फाण्ट के साथ सेवन करने को लिखा है। और ताम्रयोगों के समान ही इसमें भी परिहार बताया गया है, जैसे 'रसगन्धकयोः कर्षं प्रत्येकं शोधयेद्भिषक्। ततः कज्जलिकां कृत्वा नैपालं ताम्रपत्रम् ॥ कण्टवेध्यं विधातव्यं सर्वमेकत्र कारयेत्। पात्रे हि मृत्तिकोद्भूते परं दद्याद्रसं शुभम् ॥ पक्वजम्बीरसम्भूतं यथा प्लावितमेव तत्। आतपे स्थापयेत्पश्चात् यावत्पंकोपमं भवेत् ॥ पाणिना मर्दयित्वा तु वटिकां कारयेत्ततः। विशोष्य भक्षयेद्रक्तिद्वयं तस्मान्महौषधात् ॥ दिनत्रयान्तरेणैव रक्तिं रक्तिं विवर्द्धयेत्। परिहारविधिस्तेन धान्यजीरानुपानतः ॥ प्रातरेव विधातव्यं हन्ति-पित्ताम्लसम्भवम्। ग्रहण्यामुद्धतं शूलमम्लपित्तञ्च दारुणम् ॥ अजीर्णं रक्तपित्तं च क्षयं कुष्ठं विशेषतः ॥" आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक ॥ २०५–२१४ ॥

अथ पित्तरोगचिकित्सा।

पित्तान्तको रसः—

मृतसूताभ्रमुण्डार्कतीक्ष्णमाक्षिकतालकम्।
गन्धकं च भवेत्तुल्यं यष्टीद्राक्षाऽमृताद्रवैः ॥२१५॥
जलमण्डपिकावासाद्रावैः क्षीरविदारिजैः।
दिनैकं मर्दयेत्खल्ले सिताक्षौद्रयुता वटी ॥२१६॥
निष्कमात्रं निहन्त्याशु पित्तं पित्तज्वरं क्षयम्।
दाहं तृष्णां भ्रमं शोषं वेगात्पित्तान्तको रसः ॥२१७॥
सिताक्षीरं पिबेच्चानु यष्टीं सितान्वितां जलैः।
पिबेद्वा पित्तशान्त्यर्थं शीततोयेन चन्दनम् ॥२१८॥

रससिन्दूर, ताम्रभस्म, मुण्डलौहभस्म, अभ्रकभस्म, तीक्ष्णलौहभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक समभाग लेकर इन्हें एकत्र पीस कर मुलेठी, द्राक्षा, गिलोय, जलमण्डपिका (शैवाल या जलकुम्भी), वासा तथा क्षीरविदारी; इनके रस से पृथक् पृथक् एक दिन खरल में मर्दन करके गोली बनाने योग्य खाँड और मधु मिला कर वटी बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक निष्क मात्रा में सेवन करने से पित्तप्रकोप, पित्तज्वर, क्षय, दाह, तृष्णा, भ्रम, शोषरोग शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। इसे 'पित्तान्तकरस' कहते हैं। मिश्री मिला हुआ दूध, मुलेठीचूर्ण, खाँड और जल अनुपान रूप में देना चाहिये। अथवा श्वेतचन्दन को शीतल जल में घिस कर पिलाना चाहिये।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में इस रस को ज्वराधिकार में लिखा है और वहाँ 'वातपित्तान्तकरस' नाम दिया है। इससे सिद्ध होता है कि यह रस पित्तप्रकोप के साथ जब वात भी प्रकुपित होता है, जिससे पित्त के लक्षण तीव्र हो जाते हैं, तब इसका प्रयोग कराया जाता है। परन्तु केवल पित्त में इसको शीत द्रव जैसे शतावरीस्वरस, आंवलास्वरस से मर्दन करके दिया जाता है। जब वातसहित पित्तप्रकोप अधिक हो तो शैवालस्वरस में मर्दन करके दिया जाता है। अतएव इस रस को रसेन्द्रसारसंग्रह में 'गगनादि-वटी' के नाम से भी लिखा है। यह विशेषतः वातपित्तप्रकोप में प्रयुक्त होती है। परन्तु गगनादिवटी से प्रकृतरस में कुछ ही भिन्नता है, यथा "मृतगगनरसार्कं मुण्डतीक्ष्णं सताप्यं सवलिसममिदं स्याद् यष्टितोयप्रपिष्टम्। तदनुसलिलजातैर्वासकैर्गोस्तनीभिः मृदितमनु विदारीवारिणा घस्रमेकम् ॥ घृतमधुसहितेयं निष्कमात्रा वटीति क्षपयति गुरुवातं पित्तरोगं क्षयञ्च। भ्रममदकफशोषान् दाहतृष्णा-समुत्थान् मलयजमिह पेयञ्चानुपानं सचन्द्रम् ॥" इसमें भेद इतना ही है कि गगनादिवटी में शुद्ध हरताल नहीं है। रसरत्नाकर में "जलमण्डपिकावासाद्रावैः" के स्थान पर "धात्रीशतावरीद्रावैः" ऐसा पाठान्तर है। मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥

दशसारवटी—

यष्टी द्राक्षा फलं धात्र्या एलाचन्दनबालकम्।
मधूकपुष्पं खर्जूरं दाडिमं पेषयेत्समम् ॥२१९॥
सर्वतुल्या सिता योज्या पलार्द्धं भक्षयेत्सदा।
दशसारमिदं ख्यातं सर्वपित्तविकारजित् ॥
मेहतृष्णाऽरतीश्चैव दाहं मूर्च्छां ज्वरं जयेत् ॥२२०॥

मुलेठी, दाख, आँवलाचूर्ण, छोटी इलायचीचूर्ण, लालचन्दन का चूर्ण, सुगन्धबालाचूर्ण, महुये के फूल, पिण्डखजूर, अनारदाना (मीठे अनार का) चूर्ण; सब को समभाग में लें। और सब के बराबर भाग खांड मिला कर सब को एकत्र खरल में घोट कर वटिका अथवा चूर्ण बना लें। इसे नित्य प्रति आधा पल (दो तोला) खावें। इसे 'दशसारवटी' कहते हैं। यह सब पित्तविकारों को दूर करती है और पित्तप्रमेह, तृष्णा, बेचैनी, दाह, मूर्च्छा तथा ज्वर को भी दूर करती है।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में यह वटी सर्ववातविकारों के लिये कही है। परन्तु इसके द्रव्यों को देखते हुये यह उचित नहीं

कि यह सर्ववातविकारों को नष्ट करती हो। रसेन्द्रसारसंग्रहोक्त पाठ में केवल एक बला नामक ऐसा द्रव्य है जो वातविकारों को दूर करता है। सम्भवतः 'सर्ववातविकारनुत्' पाठ करने में यही अभिप्राय हो कि यह पित्त के साथ प्रकुपित वात को शान्त करती है। परन्तु इसमें मुख्यतया पित्तनाशक गुण ही हैं। कहीं कहीं 'बालकं' के स्थान पर 'वालुकं' (एलवालुक) पाठ भी है। परन्तु पित्तशामक होने से 'बालकं' पाठ ही उचित है। यदि इस रस या वटी अथवा चूर्ण को पित्तशामक रसों के अनुपान रूप में सेवन किया जाय तो विशेष लाभ होगा। आधुनिक मात्रा—दो मासे से चार मासे तक॥ २१९–२२०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये विद्रधिवृद्धिगुल्मयकृत्प्लीहशूलकार्श्यस्थौल्याष्ठीलाजलकूर्मरसवैकृतानाहाम्लपित्त पित्तचिकित्सानामाष्टादशोऽध्यायः॥

एकोनविंशोऽध्यायः।

अथोदरादिचिकित्सनम्।

जलोदरलक्षणम्—

उदरं सजलं यस्य सदोषं बलिवर्जितम्।
श्वयथुः पादयोः शोफः स्याज्जलोदरलक्षणम्॥१॥

उदर में वात पित्त कफ के प्रकोप के कारण जल का सञ्चय बढ़ता जाय जिससे पेट में पड़ने वाली स्वभाविक सिलवटें (जो कि स्वस्थ मनुष्य के बैठने पर ज्ञात होती है) नष्ट हो जायं (जल के दबाव से उदरच्छदा कला के भर जाने से) और पैरों में शोथ आरम्भ हो जाय और धीरे २ सब शरीर में फैलता जाय तो यह जलोदर का लक्षण है।

विशेष वचन—संक्षेपतः जलोदर की उत्पत्ति में यकृत्, हृदय तथा वृक्क ये तीन अंगों की विकृति कारण मानी जाती है। इनमें भी विशेषतः यकृत् का उत्तरदायित्व विशेष है। जलोदर में ज्यों ज्यों जल या तरल बढ़ता जाता है त्यों त्यों रोगी को मूत्र कम आने लगता है। और रोगी को सीधा लिटा कर कुक्षि के एक पार्श्व में चुटकी से टेपन करें तो दूसरी कुक्षि पर रखे हुये हाथ को भीतर जल की तरंगें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। साथ ही हृदय अपने स्थान से कुछ ऊपर को हो जाता है। जब पेट में तरल अत्यधिक हो जाता है तो पेट में नील वर्ण शिरायें उभर आती हैं। इसका विशेष विवरण निदानग्रन्थों में देखना चाहिये। इसी से चरक में कहा है कि—"सिराजालगवाक्षितम्"॥ १॥

वातोदरलक्षणम्—

उदरं वातसम्पूर्णं सव्यथं च कृशाङ्गता।
मुहुर्मुहुः श्वसित्येव तद्वातोदरलक्षणम्॥२॥

यदि रोगी का पेट वायु से परिपूर्ण और अत्यन्त व्यथायुक्त हो, शरीर कृशता बढ़ गई हो, साथ ही दुर्बलता के कारण साधारण से परिश्रम या उठने बैठने में भी रोगी को श्वास चढ़ जाता हो उसे 'वातोदर रोग' कहते हैं॥ २॥

अथोदरपाण्डुशोफादीनां चिकित्सा।

जीमूतकादिगुटिका—

जीमूतलोहरसगन्धशिलालताम्र-
व्योषाग्निकुष्ठमुषलीविषदीप्यचूर्णम्।
निंबूकनीरलुलितं गुटिकीकृतं तत्
भुक्तं निशासु मधुना सकलोदरघ्नम्॥

कृष्णाभ्रकभस्म, लौहभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरताल, ताम्रभस्म, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, कुष्ठ (पुष्करमूल) चूर्ण, मुसलीचूर्ण, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण, अजवाइन का चूर्ण, सब को समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें, पश्चात् उसमें अन्य द्रव्य मिलायें। तदनन्तर इसको कागजी नींबू के रस में अच्छी तरह मर्दन कर गोली बना लें। इस में से एक गोली या चूर्ण योग्य मात्रा में रात्रि के समय शहत में मिला कर चाटने से सम्पूर्ण उदर की व्याधियाँ दूर होती हैं।

विशेष वचन—मात्रा २ रत्ती तक॥ ३॥

विनोदविद्याधररसः—

रसेन्द्रबलिटंकणैः सजयपालबीजैः समैः
रसः सुमृदितो भवेत्खलु विनोदविद्याधरः॥
पयोगुडयुतो हरेत्सकलरेचनीयामयान्
ज्वरं च जठरामयान् गुदगदं सशूलं नृणाम्॥४॥
सम्यग्विरेचनाभावे मुद्गक्वाथं पिबेदनु।
भेदाधिक्ये पिबेत्तक्रं बबूराणां त्वचो रसम्॥५॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सुहागा, शुद्ध जैपालबीजचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना कर उसमें अन्य द्रव्य मिला मर्दन करके रख लें। यह 'विनोदविद्याधर' रस है। इसमें से उचित मात्रा में लेकर गुड़ मिले हुए दूध के साथ सेवन करायें। इसके द्वारा वे सब रोग शान्त होते हैं जो कि विरेचन देने से। यह रस आमाजीर्ण युक्त ज्वर, उदररोग, अर्शोरोग, को नष्ट करता है। यदि इस रस के सेवन करने पर अच्छी तरह जुलाब न हो तो रोगी को मूंग का क्वाथ अनुपान के रूप में पिलाना चाहिये। यदि इसके सेवन से अधिक दस्त हो जाय तो तक्र में बबूल के छाल का स्वरस मिला कर पिलायें।

विशेष वचन—कई टीकाकार 'रसः' शब्द से नवसादर लेने को कहते हैं। परन्तु अन्यत्र 'रसः' शब्द विनोद विद्याधर का

विशेषण है। अतः नवसादर लेना योग्य नहीं है। मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥ ४-५ ॥

दन्तिबीजादिरसः [सुरेचनकरस]—

अष्टौ निस्तुषदंतिबीजमपि चेच्छुंठ्यास्त्रयो गंधकात्
द्वौ च द्वौ मरिचस्य टंकणरसं चैकैकभागं पृथक् ।
गुंजामात्रमिदं सुरेचनकरं देयं च शीतांबुना
शोफं गुल्मजलोदरं प्रशमयेत्प्लीहामयघ्नं परम् ॥६॥

शुद्ध जैपालबीजचूर्ण आठ भाग, सौंठ का चूर्ण तीन भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग, मिरचचूर्ण दो भाग, शुद्ध सुहागा एक भाग, शुद्ध पारद एक भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके उसमें अन्य द्रव्य मिला कर पीस लें। इसमें से एक रत्ती मात्रा में शीत जल के साथ सेवन करें। इससे अच्छी तरह दस्त होते हैं। यह योग शोथ, गुल्म जलोदर तथा प्लीहा वृद्धि को शान्त करने में सर्वोत्तम है।

विशेष वचन—यहाँ 'अपि चेत्' शब्द से यही अर्थ निकलता है कि यदि उक्त विधि से बनाया जाय और शीत जल से दिया जाय तो इस रस में उक्त गुण होते हैं। अथवा कोई यह अर्थ करते हैं कि यद्यपि इस योग में तीव्र रेचक जैपालबीजचूर्ण है तथापि गन्धकादि योग से और शीतल जल के अनुपान से यह क्षोभक विरेचक नहीं है ॥ ६ ॥

मृत्युञ्जयो रसः—

द्विक्षारं त्र्यूषणं पञ्चलवणं शतपुष्पिकाम् ।
समभागमिदं सर्वं पटचूर्णं समाचरेत् ॥७॥
तत्समौ रसगन्धौ च कृत्वा कज्जलिकां शुभाम् ।
सर्वमेकत्र सम्मेल्य मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥८॥
अयं मृत्युंजयो नाम्ना रसः शीघ्रफलप्रदः ।
कथितो मलयार्येण सन्निपातहरः परम् ॥९॥
सन्निपाते प्रयोक्तव्यो रक्तिकापञ्चमात्रिकः ।
चित्रकार्द्रकसिन्धूत्थकटुभिर्वा समन्वितः ॥१०॥
पीततोयं त्रिदोषार्तं निर्वाते वासयेत्ततः ।
पथ्यं दध्योदनं देयं याचमानाय नान्यथा ॥
गुणो न जायते यस्य तस्य देयो रसः पुनः ॥११॥
हन्याद्वातगदं तथा कफगदं मन्दानलत्वं ज्वरं
शूलं सर्वमहामयान् जठरजां पीडां यकृत्पाण्डुताम् ।
शोफं गुल्मरुजं तथा ग्रहणिकां प्लीहामयं विड्ग्रहं
वान्ति गुल्मकृतां सकासमभितः श्वासञ्च हिक्कामपि ॥

यवक्षार, सर्जक्षार, सौंठ का चूर्ण, मरिचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, पांचों नमक, सौंफचूर्ण; सब पृथक् पृथक् समभाग लें, और इन सब से द्विगुण शुद्ध पारद, तथा शुद्ध गन्धक लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके उसमें यवक्षार आदि द्रव्यों का चूर्ण मिला कर खरल में तीन दिन तक अच्छी तरह घोटें। यह 'मृत्युञ्जय' नाम रस कहा जाता है, और यह रस शीघ्र फलप्रद है। इसको श्रीमलय आचार्य ने वर्णन किया है। यह सन्निपात के लिए उत्तम औषधि है। सान्निपातिक उदररोगों में इसको पांच रत्ती मात्रा तक प्रयोग करना चाहिये। चित्रकमूलचूर्ण, अदरखस्वरस, सैन्धानमक, तथा कटुकीचूर्ण को इसके साथ मिला कर जल के साथ सेवन करना चाहिये। सान्निपातिक उदररोगी को उक्त रस को जल के साथ सेवन करा कर निर्वात (विशेष शीत वायु रहित) स्थान में रखना चाहिये। यदि रोगी भोजन की इच्छा प्रकट (अच्छी तरह) करे तो उसे दही और भात का पथ्य देना चाहिये। यदि इस के प्रयोग से रोगी को कोई असर न हो तो उसको चार घण्टे बाद पुनः दूसरी मात्रा देनी चाहिये। इसके प्रयोग से वातिक रोग, श्लैष्मिक रोग, मन्दाग्नि, ज्वर, शूल तथा भयंकर उदररोग, पीड़ा, यकृत् तथा प्लीहा की वृद्धि, शोथ, गुल्मपीड़ा, संग्रहणी, पाण्डुरोग, मलबन्ध, गुल्म में होने वाली वमन, कास, श्वास, हिक्का रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—इस रसका प्रभाव तभी हो सकता है जब कि रोगी को इससे पूर्व अच्छी तरह विरेचन करा करके शुद्ध कर लिया जाय। अतः इसके पूर्व निम्नविधि से रोगी को शुद्ध कर लेना चाहिये ॥ ७—१२ ॥

उदरे विरेचनविधिः—

आदौ सर्वोदराणां च देयमुक्तं विरेचनम् ।
गोमूत्रैर्वाऽथ गोक्षीरैर्योज्यमेरण्डतैलकम् ॥
कर्षमात्रं प्रयत्नेन शुद्धे देयो रसः पुनः ॥ १३ ॥

सभी उदररोगों की चिकित्सा करने के पूर्व उनको विरेचन देना आवश्यक है। इसके लिए शुद्ध एरण्डतैल में गोमूत्र मिला कर पिलाना चाहिये अथवा गोदुग्ध मिला कर एरण्डतैल मिलाना चाहिये। शुद्ध एरण्डतैल कम से कम एक कर्ष (१ तोला) देना चाहिये। इस विधि से शुद्धकोष्ठ उदररोगी को पुनः उक्त मृत्युञ्जयरस का सेवन कराना चाहिये।

विशेष वचन—एरण्डतैल कई बार डेढ़ छटांक तक भी देना पड़ता है। परन्तु पहले दो तोला देना योग्य है ॥ १३ ॥

त्रैलोक्यसुन्दरो रसः—

शुद्धसूतं तथा गन्धं मृताभ्रं सैन्धवं विषम् ।
कृष्णजीरं विडङ्गं च गुडूचीसत्त्वचित्रकम् ॥ १४ ॥
एला चैव यवक्षारं प्रत्येकं स्याद्रसार्द्धकम् ।
दिनं निर्गुण्डिकाद्रावैर्बीजपूररसैर्दिनम् ॥ १५ ॥
मर्दयेच्छोषयेत्सोऽयं रसस्त्रैलोक्यसुन्दरः ।
गुञ्जाद्वयं घृतैर्लेह्यो वातोदरकुलान्तकः ॥ १६ ॥

पलमेकं चित्रमूलं द्विर्गोमूत्रैश्चतुर्जलैः ।
पाच्यं यावद्भवेत्कल्कं घृतं कल्कं च योजयेत् ॥१७॥
वल्लैकं च यवक्षारं क्षिप्त्वा पक्त्वाऽवतारयेत् ।
तत्कर्षैकं पिबेच्चानु स्निग्धमुष्णं च भोजयेत् ॥ १८ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक एक भाग लेकर दोनों की अच्छी तरह कज्जली करें। फिर अभ्रकभस्म, सैन्धानमक, शुद्ध विष, कालाजीराचूर्ण, विडंगचूर्ण, गुडूचीसत्व, चित्रकमूलचूर्ण, छोटीइलायचीबीजचूर्ण, यवक्षार; प्रत्येक आधा आधा कर्ष लें। कज्जली के साथ इन सबको एकत्र मिला कर सिम्भालू के स्वरस से, बिजौरा नींबू के रस से पृथक्-पृथक् एक-एक दिन घोट कर सुखा लें। यह 'त्रैलोक्यसुन्दररस' कहाता है। इसमें से दो रत्ती भर मात्रा लेकर घी के साथ सेवन करें तो वातोदर शान्त होता है। इसके साथ आगे लिखा हुआ अनुपान पीना चाहिये। चित्रक-मूलत्वक् एक पल, घृत एक प्रस्थ, गोमूत्र दो प्रस्थ, जल चार प्रस्थ लें। पहिले चित्रकमूलत्वक् को जल से मर्दन कर लुगदी-सी बना लें। पश्चात् सबको एकत्र मिला कर पकायें। जब घृतमात्र अवशेष रह जाय, उतार छान कर रख लें। और इस घृत की एक मात्रा में एक वल्ल (अधिक से अधिक तीन रत्ती) यवक्षार डाल दें। और घृत में से एक कर्षभर मात्रा लेकर उसमें पूर्वोक्त रस तथा यवक्षार मिला कर सेवन कर सकते हैं और स्निग्ध तथा उष्णगुण भोजन करें।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में इस रस के निर्माण में एक भाग पारद तथा दो भाग गन्धक लिखा है। इसी तरह 'एला' के स्थान पर 'वचा' है और ताम्रभस्म अधिक लिखा है। चित्रक के कषाय की भावना नहीं है। प्रकृत रस में यवक्षार बहुत ही अल्प लिखा है। परन्तु रसेन्द्रसारसंग्रह में इसको दो पल प्रमाण लिया है और कल्क के रूप में ही डाला है, यथा "शुद्धसूतं द्विधा गन्धं ताम्राभ्रं सैन्धवं विषम्। कृष्णजीरं विडंगञ्च गुडूचीसत्वचित्रकम् ॥ उग्रगन्धा यवक्षारं प्रत्येकं कर्षमात्रकम्। निर्गुण्डिकाद्रवैरग्निबीज-पूरद्रवैर्दिनम् ॥ मर्दयेत् शोषयेत् सोऽयं रसस्त्रैलोक्यसुन्दरः। गुञ्जाद्वयं घृतैर्लेह्यं वातोदरकुलान्तकम् ॥ वह्निचूर्णं यवक्षारं प्रत्येकञ्च पल-द्वयम्। घृतप्रस्थं विपक्तव्यं गोमूत्रैश्च चतुर्गुणैः ॥ घृतावशेषं कर्तव्यं कर्षमात्रं पिबेदनु ॥"

यदि इस रस में ताम्रभस्म तथा चित्रककषाय का भी योग किया जाय तो इसमें गुणवृद्धि ही होगी। ताम्र वातिकरोगों के लिये उत्तमनाड़ीबल्य द्रव्य माना जाता है। साथ ही यह शरीर में सञ्चित विषों (जिनसे शरीर में वातिक प्रकोप होता है) को भी नष्ट करता है। रसरत्नाकर में 'वल्लैकं' के स्थान पर 'पलैकं' पाठान्तर मिलता है। यही उचित भी है। 'कल्कञ्च योजयेत्' इससे ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि पहिले चित्रकमूल को कूट कर उससे द्विगुण गोमूत्र और चतुर्गुण जल डाल कर पका लिया जाय। पश्चात् इसको घृत में मिला कर चतुर्गुण जल डाल कर घृतपाक कर लिया जाय। परन्तु अन्यत्र कहीं भी स्नेहपाक में कल्क पका कर नहीं डाला जाता है ॥ १४—१८ ॥

महावह्निरसः—

चतुः सूतस्य गंधोऽष्टौ रजनी त्रिफला शिवा ।
प्रत्येकञ्च द्विभागं स्यात्त्र्यूषजीरकदन्तिकाः ॥ १९ ॥
प्रत्येकमष्टभागं स्यादेकीकृत्य विचूर्णयेत् ।
जयन्तीस्नुक्पयोभृङ्गवह्निवातारितैलकैः ॥ २० ॥
प्रत्येकेन क्रमाद्भाव्यं सप्तवारं पृथक् पृथक् ।
महावह्निरसो नाम निष्कमुष्णजलैः पिबेत् ॥ २१ ॥
विरेचनं भवेत्तेन तक्रभक्तं ससैन्धवम् ।
दिनान्ते भोजयेत्पथ्यं वर्जयेच्छीतलं जलम् ॥
नाभ्युत्तरे जलस्रावं कुर्याद्धन्ति जलोदरम् ॥ २२ ॥

शुद्ध पारद चार भाग (चार तोला), शुद्ध गन्धक आठ भाग, लेकर दोनों की कज्जली कर लें। फिर हरिद्रा, हरड़, बहेड़ा, आंवला, हरड़, प्रत्येक का चूर्ण दो भाग, सौंठ, मिरच, पिप्पली, सफेदजीरा, तथा; दन्तीमूल; प्रत्येक का चूर्ण आठ २ भाग लें। फिर सब को एकत्र करके जयन्ती के रस, थोहर के दूध, भाँगरे के रस, चित्रक के कषाय और एरण्ड के तैल से क्रमशः पृथक् सात २ वार भावना देवें। यह 'महावह्नि' नामक रस है। इसे एक निष्कभर लेकर रोगी को गरम जल से पीना चाहिये। इसके खाने से विरेचन होगा। दिन के अन्त में विरेचन के बाद क्षुधा लगने पर सैन्धानमक युक्त छाछ और भात का पथ्य देना चाहिये। शीतल जल न देवें। यदि जलोदर में जल अधिक भर गया हो नाभि के समीप कुछ नीचे वाम प्रदेश में बींध कर (व्रीहिमुखशस्त्र से) जल स्राव कर दें। इससे भी जलोदर शान्त हो जाता है। अथवा जिस जलोदर में तरल के दबाव से नाभि बाहर को आ गई हो उसमें यह रस प्रयोग करने से जलस्राव (विरेचन द्वारा) करके जलोदर को शान्त कर देता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती। यदि इसमें त्रिवी और जमालगोटाबीज पड़े हुए हों तो १ रत्ती से २ रत्ती तक मात्रा देनी चाहिये। इस रस में शिवा (हरड़) दो बार लिखी गई है अतः उसे द्विगुण लेना चाहिये। परन्तु रसरत्नाकर तथा रसेन्द्रसार-संग्रह में 'शिवा" के स्थान पर "शिला" पाठ है। इसी तरह कुछ अन्य द्रव्यों का भी पाठान्तर से इसमें भेद पड़ता है। जैसे-"चतुःसूतस्य गन्धाष्टौ रजनी त्रिफला शिला। प्रत्येकञ्च द्विभागं स्यात् त्रिवृत् जैपालचित्रकम् ॥ प्रत्येकञ्च त्रिभागं स्याद् दन्तीत्र्यूषण-

जीरकम्। प्रत्येकमष्टभागं स्यात्, एकीकृत्य विचूर्णयेत्॥ जयन्ती स्नुकपयोभृंगवह्निवातारितैलकैः। प्रत्येकेन क्रमाद्भाव्यं सप्तवारं पृथक्-पृथक्॥" रसेन्द्रसारसंग्रह में इस रस को सर्व उदररोग विशेषतः वातिकश्लैष्मिक उदररोग के लिये श्रेष्ठ लिखा है। परन्तु जलोदर में ही यह रस श्रेष्ठ कार्य करता है। रसरत्नाकर में इसको वह्निवीर्यरस के नाम से लिखा है। परन्तु वहाँ त्रिवृत्, जमालगोटा और चित्रक इनके चूर्णों को एक २ भाग लेने को कहा है॥

गुडनागरप्रयोगः—

सर्वोदरहरं योज्यं गुडनागरयोः पलम्॥ २३॥

साधारणतः गुड़ (पुराना) आधा पल, नागर (सौंठ) चूर्ण आधा पल मिला कर कुछ काल सेवन करने से सब उदररोगों में लाभ होता है॥ २३॥

वज्रक्षारः—

सामुद्रं लवणं काचं यवक्षारं सुवर्चलम्।
टंकणं सर्जिकाक्षारं तुल्यं चूर्णं विभावयेत्॥ २४॥
अर्कक्षीरैः स्नुहीक्षीरैरातपे भावयेत्त्र्यहम्।
अर्कपत्रं लिपेत्तेन रुद्ध्वा चान्तः पुटे पचेत्॥२५॥
तत्क्षारं चूर्णयित्वाऽथ त्र्यूषणं त्रिफलारजः।
जीरकं रजनी वह्निचव्यकं स्यात्समं समम्॥२६॥
अग्निमान्द्येष्वजीर्णेषु भक्ष्यं निष्कद्वयं द्वयम्॥२७॥
वाताधिके जलैः कोष्णैर्घृतैः पित्ताधिके हितम्।
कफे गोमूत्रसंयुक्तमारनालैस्त्रिदोषजे॥२८॥
वज्रक्षारमिदं सिद्धं स्वयं प्रोक्तं पिनाकिना।
सर्वोदरेषु गुल्मेषु शोफशूलेषु योजयेत्॥२९॥

सामुद्रलवण, सैन्धानमक, काचनमक, यवक्षार, सौंचल नमक, सुहागा, सर्जक्षार; प्रत्येक द्रव्य समभाग में लें। इन सबको एकत्र कर आक के दूध और थोहर के दूध की तीन दिन धूप में भावनायें दें। पश्चात् इस भावित कल्क से स्वच्छ मदार (आक) के पत्तों पर लेप करके कुछ सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके गजपुट दे दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल कर चूर्ण कर लें। फिर यह क्षार जितना हो उससे आधा आगे लिखे दस द्रव्यों का मिलित चूर्ण लें। दस द्रव्य ये हैं—सौंठ, मिरच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, जीरा सफेद, हरिद्रा, चित्रकमूल तथा चव्य। इनके चूर्ण परस्पर समभाग होने चाहिये। अब सबको क्षार में मिला दें। यही वज्रक्षार कहाता है। इसे स्वयं शिवजी ने कहा है। यह अग्निमान्द्य, अजीर्ण रोगों में दो-दो निष्क मात्रा में सेवन करना चाहिये। वाताधिक उदररोगों में इसे गरम जल से, पित्ताधिक में घृत से, कफप्रकोप युक्त उदर में गोमूत्र से, त्रिदोष की अधिकता में काञ्जी मे प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—मात्रा चार रत्ती से छः रत्ती। रसेन्द्रचिन्तामणि में त्रिकटु आदि नौ ही द्रव्य लिखे हैं। उसमें चव्य का चूर्ण नहीं है। भैषज्यरत्नावली के पाठ में क्षार आदि को भाण्डपुट में पकाने को लिखा है और सौंठ आदि का मिलित चूर्ण क्षार के समान भाग लेने को लिखा है, जैसे—"सामुद्रं सैन्धवं काचं यवक्षारं सुवर्चलम्। टंकणं सर्जिकाक्षारं तुल्यं चूर्णं प्रकल्पयेत्॥ अर्कक्षीरैः स्नुहीक्षीरै र्भावयेदातपे त्र्यहम्। वेष्टयेदर्कपत्रेण रुद्ध्वा भाण्डपुटे पचेत्॥ तं क्षारं चूर्णयित्वाऽथ त्र्यूषणं त्रिफला तथा। यवानी जीरको वह्निः चूर्णमेषां च कारयेत्॥ सर्वचूर्णसमं क्षारं सर्वमेकत्र कारयेत्। गुल्मे शूले तथाऽजीर्णे, शोथे सर्वोदरेषु च॥ मन्दे वह्नावुदावर्ते प्लीह्नि चापि परं हितम्॥" कई वैद्य एक मिट्टी के पात्र में परिपक्व मदार का एक पत्ता रख उस पर समुद्रनमक आदि का भावित चूर्ण अल्प बिछा देते हैं, फिर उस पर दूसरा आक का पत्ता रख कर पुनः चूर्ण बिछाया जाता है। इस प्रकार कई तह करके पत्रों को चूर्ण के साथ रखा जाता है। अन्त में पात्र के मुख पर शराव रख कर सन्धिलेप कर देते हैं और पात्र को चूल्हे पर रख मन्द-मन्द अग्नि देते हैं। ठीक पाक हो जाने पर उतार कर चूर्ण कर लेते हैं और उसमें सौंठ आदि का चूर्ण मिला लेते हैं। इस विधि से वज्रक्षार बनाने पर अर्कपत्र परिपक्व और शुष्क लेने चाहिये। अन्यथा चूर्ण हांडी या पात्र में चिपक जायगा और हांडी को तोड़ने से भी अच्छी तरह पृथक् नहीं होगा। योगरत्नाकर में जो वज्रक्षार है, उसमें सौंठ आदि के चूर्ण में कुछ भिन्नता है, यथा "सौवर्चलं यवक्षारं सामुद्रं काचसैन्धवम्। टंकणं सर्जिकाक्षारं तुल्यमेकत्र चूर्णयेत्॥ अर्कदुग्धैः स्नुहीदुग्धैर्भावयेदातपे त्र्यहम्। ऊर्ध्वाधस्थैः क्रमात्तस्य तत्तुल्यैरर्कपल्लवैः॥ भाण्डे संस्थाप्य मृल्लिप्ते रुद्ध्वा गजपुटे पचेत्। स्वांगशीतन्तु सञ्चूर्ण्य चूर्णमेषान्तु मेलयेत्। त्र्यूषणं च विडंगञ्च राजिकां त्रिफलामपि। चव्यं च हिंगुसंभृष्टं तक्रेण च यथाबलम्। वज्रक्षारामिधं चूर्णमुदराणि विनाशयेत्॥"

यहाँ पर राई, वायविडंग और भुनी हींग का चूर्ण विशेष है, हरिद्रा और चित्रक नहीं। और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि आक के पत्ते समुद्रनमक से लेकर सर्जक्षार पर्यन्त के चूर्ण के समान लेने चाहिये। कोई-कोई अर्कपत्र से ताम्रपत्र लेना चाहते हैं। यह उचित नहीं है; क्योंकि यह क्षारप्रधान औषधि है। दूसरा यदि ताम्रपत्र लिये जायेंगे तो वे एक पुट में न भस्म हो सकेंगे और न उसका प्रयोग ही हो सकेगा। तीसरा ताम्र का कोई योग इतनी मात्रा में (दो निष्क) में नहीं दिया जा सकता है। यदि किसी को ताम्र ही अभीष्ट हो तो इसमें ताम्र की परिशुद्ध भस्म मिला सकते हैं। परन्तु मात्रा १ रत्ती ही पर्याप्त होगी। वज्रक्षार, प्लीहा और यकृत् की वृद्धि में अत्यन्त लाभप्रद है। यह वायु का अनुलोमक होने से गुल्म

आध्मान तथा उदर आदि रोगों में विशेष लाभदायक होता है। इसके प्रयोग से अग्नि दीप्त होती है। पित्ताशय बल पाकर पित्तनिःसरण-क्रिया को अच्छी तरह करता है जिससे पेट में वायु नहीं भरने पाती है। और पाचन क्रिया बढ़ती है। इसके अतिरिक्त यह शूल तथा परिणामशूल को भी शीघ्र नष्ट करता है।

खदिरादियोगः—

खादिरं देवदारुं च कर्षं गोमूत्रतः पिबेत्।
उदरं पांडुरोगं च हन्ति शूलं च प्लीहकम् ॥३०॥

खादिर (खैरसार-कत्था) और देवदारु प्रत्येक आधा आधा कर्ष लेकर चूर्ण कर लें। इसको प्रतिदिन गोमूत्र के साथ पीने से उदर, पाण्डुरोग तथा प्लीहाशूल नष्ट होते हैं ॥ ३० ॥

पिप्पलीयोगः—

दिनैकं पिप्पलीचूर्णं स्नुहीक्षीरेण भावयेत्।
निष्कं जलोदरं हन्ति महिषीमूत्रतः पिबेत् ॥ ३१ ॥

पिप्पलीचूर्ण को थोहर के दूध में एक दिन घोट कर भावना देकर एक-एक निष्क परिमाण की गोली बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक गोली भैंस के मूत्र से सेवन करें तो जलोदर रोग नष्ट होता है।

विशेष वचन—उक्त दोनों योगों को उक्त रोगों में प्रधानता नहीं देनी चाहिये। बल्कि ये अनुपान रूप में प्रयोग किये जाने चाहिये। मात्रा 'खदिरयोग' चार रत्ती से एक मासा। द्वितीय योग की मात्रा एक रत्ती से दो रत्ती तक ॥ ३१ ॥

वैश्वानरो रसः—

रसगन्धकताम्राणि शिलाजित्कान्तलोहकम्।
त्रिकटु चित्रकं कुष्ठं निर्गुण्डी मुसली विषम् ॥ ३२ ॥
अजमोदश्च सर्वेषां द्वौ द्वौ भागौ प्रकल्पयेत्।
चूर्णीकृत्य ततः सर्वं निम्बक्वाथेन भावयेत् ॥ ३३ ॥
एकविंशत्प्रकारेण भृङ्गराजेन सप्तधा।
मधुना गुटिकां शुष्कां रजन्यां तु प्रदापयेत्।
वैश्वानराभिधो योगो जलोदरविशोषणः ॥ ३४ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, शिलाजीत (शुद्ध), कान्तलोहभस्म, सौंठ का चूर्ण, मरिचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, कुष्ठचूर्ण, निर्गुण्डीमूल (सिम्भालू) मुसलीचूर्ण, शुद्ध वत्सनाभचूर्ण, अजमोदचूर्ण; प्रत्येक द्रव्य दो दो भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना कर उसमें अन्य द्रव्य मिला इसको नीम के कषाय की इक्कीस भावनायें दें। पश्चात् भृङ्गराजस्वरस की सात भावना देकर गोली बना लें। इसे 'वैश्वानरयोग' या रस कहते हैं। इसकी एक गोली को प्रतिदिन रात्रि के समय मधु में मिला कर खाना चाहिये। यह जलोदर (जलन्धर) रोग में पेट में सञ्चित हुये तरल को सुखाने वाला है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। रसरत्नाकर तथा रसेन्द्रसारसंग्रह में इसको 'वैश्वानरवटी' के नाम से लिखा है। इसमें थोड़ी सी भिन्नता है। जैसे—"शुद्धसूतं द्विधा गन्धं मृताकार्यः शिलाजतु। ससमानं प्रदातव्यं रसस्य द्विगुणं विषम् ॥ त्रिकटु चित्रकं वीरा निर्गुण्डी मूषलीरजः। अजमोदा विषांशेन प्रत्येकञ्च नियोजयेत् ॥ निम्बपञ्चांगकक्वाथैर्भावना चैकविंशतिः। भृङ्गराजरसैः सप्त दत्वा क्षौद्रैर्विलोडयेत् ॥ भक्षयेद्बदरास्थ्याभां वटिकां तां दिवानिशि। श्लेष्मोदरं निहन्त्याशु नाम्ना वैश्वानरी वटी ॥ देवदारुवह्निमूलकल्कं क्षीरेण पाययेत्। भोजनं मेषदुग्धेन कुलत्थानां रसेन तु ॥" इसमें यही भिन्नता है कि यहाँ गन्धक दो भाग है। किन्तु रसरत्नाकर आदि सभी ग्रन्थों में गन्धक एक ही भाग लेने को कहा है। दूसरी भिन्नता अनुपान के विषय में है कि "देवदारु चित्रकमूल इन दोनों को समभाग लेकर कल्क बना दूध के साथ पीना चाहिये और भेड़ के दूध अथवा कुल्थ के रस से भोजन करना चाहिये।" रसेन्द्रसारसंग्रह का "वीरा" यह पाठ उचित नहीं प्रतीत होता है। रसरत्नाकर में जो वैश्वानरवटी लिखी है उसमें कुष्ठ ही पढ़ा गया है। काकोली में शोषण शक्ति नहीं है किन्तु यह पोषक है। रूक्ष अथवा अत्यन्त तीक्ष्ण उष्ण द्रव्य प्रायः शोषक होते हैं। जिनमें पोषकत्व मधुरत्व और पिच्छिलता अधिक होती है उनमें शोषण शक्ति नहीं होती है। कुष्ठ उष्ण, तीक्ष्ण तथा किञ्चित् रूक्ष गुण है। अतः कुष्ठ पाठ ही अच्छा है ॥ ३० ३५ ॥

सूर्यप्रभागुटिका—

भार्ङ्गीवह्निजयायुगाभ्रकदली पाठा वचा रोचना
चव्यं पत्रकचित्रकं त्रिकटुकं क्षारद्वयं गन्धकम्।
त्रायन्तीहरबीजकेसरिविषद्वन्द्वं लवंगं कणा
कुष्ठं शल्लफलं फलत्रययुतं फेनः समुद्रादपि ॥ ३५ ॥
ब्राह्मीबीजं लताबीजं बालबिल्व विरूढकम्।
लवणानि तथा पंच जात्यादिकुसुमाष्टकम् ॥ ३६ ॥
वातारितैलेनैतेषां कल्पिता भिषजां वरैः।
एषा सूर्यप्रभा नाम गुटिकाऽग्निप्रदीपनी ॥ ३७ ॥

भारगीचूर्ण, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण, जयायुगचूर्ण (अरणी और हरीतकी या अरणी और भाँग), अभ्रकभस्म, कदली (केला) मूलचूर्ण, पाठाचूर्ण, वचाचूर्ण, गोरोचना, चव्यचूर्ण, तेजपातचूर्ण, लालचित्रकचूर्ण, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, यवक्षार, सर्जक्षार, शुद्ध गन्धक, त्रायन्तीचूर्ण (त्रामण कांगड़ा पहाड़ में अत्यधिक होती है), शुद्ध पारद, नागकेसरचूर्ण, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण, सर्पविष, लौंगचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, कुष्ठचूर्ण, पुष्करमूल, शल्लकी (सेह नामक वृक्ष न कि जन्तु)

का फलचूर्ण, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, समुद्रफेन, पलाशबीजचूर्ण, लताकस्तूरीबीजचूर्ण (यह वाकुची के समान होते हैं और इनमें कस्तूरी की-सी गन्ध आती है), कोमल बिल्व की मज्जाचूर्ण, गुडूचीचूर्ण, पाँचों नमक, चमेली, जुही, राजवल्ली, छोटी जुही, चम्पा, मौलश्री, कदम्ब, मोतिया इनके पुष्प, सबको पृथक् २ समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली करके पश्चात् उसमें भारंगी आदि द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर इसको बादामतैल अथवा शुद्ध एरण्डतैल के साथ मर्दन कर गोलियाँ बना लें। इसको 'सूर्यप्रभावटिका' कहते हैं। इसके सेवन से अग्नि दीप्त होती है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से ½ रत्ती तक। 'शल्लफलं' के स्थान पर 'शल्यफलं' पाठ मिलता है। इसी तरह 'ब्रह्मबीजं' के स्थान पर 'ब्राह्मीबीजं' पाठ मिलता है। यहाँ पर कई ब्राह्मी और बीज अर्थ करते हुए ब्राह्मी तथा पुष्करमूल लेते हैं, जो उचित प्रतीत होता है। 'विरूढक' से अंकुरित धान्य का ग्रहण होता है। परन्तु वह निःसत्व होने से वातप्रकोपक और अपोषक तथा आमाशयक्षोभक होता है, अतः ऐसे द्रव्य अग्निवर्धक न होकर और भी विकृति पैदा कर देते हैं। इसी बात को देखते हुये हमने गुडूचीचूर्ण का अर्थ किया है। क्योंकि गुडूची काटने के बाद पुनः रूढ (जम) हो जाती है। विरूढ़ अंकुरित धान्य में विटामिन ई तथा बी आजकल मानते हैं। इससे इसमें पोषण तत्त्व तो होता है।

कुसुमाष्टक के विषय में तन्त्रान्तर में इस प्रकार लिखा है। 'जाती यूथी राजवल्ली क्षुद्रयूथी त्रिधा मता। चम्पको नागचम्पश्च वकुलश्च कदम्बकः' ॥ ३५-३७ ॥

उदयमार्तण्डो रसः—

पलोन्मितस्य शुल्वस्य सूक्ष्मपत्राणि कारयेत्।
तत्समं गन्धकं दत्त्वा खल्वे सर्वं विमर्दयेत् ॥ ३८ ॥
जम्बीररससंयुक्तं दिनं घर्मे निधापयेत्।
ततः शुल्वे द्रवीभूते रसकर्षं नियोजयेत् ॥ ३९ ॥
तत्सिद्धमुदरे योज्यं शोफे चैव भगन्दरे।
नाम्ना तूदरमार्तण्डरस एष प्रकीर्तितः ॥ ४० ॥

एक पल प्रमाण शुद्ध नैपाली ताम्र को अच्छी तरह शुद्ध करके उसका रेती से रेत कर अत्यन्त सूक्ष्मचूर्ण बना लें। अब इसमें समभाग शुद्ध गन्धक मिला अच्छी तरह पीस लें। पश्चात् इसमें जम्बीरी नींबू का रस डाल कर तेज धूप में रख दें। एक दिन धूप में रखने से जब ताम्रचूर्ण नींबू के रस में गल जाय तो उसमें एक कर्ष शुद्ध पारद मिला कर मर्दन करें और आवश्यकतानुसार गोलियाँ बना लें। इस विधि से 'उदयमार्तण्ड रस' तय्यार होता है। इसको उदररोग, शोथ, तथा भगन्दर में प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—एक दिन में ताम्रचूर्ण का गलना सम्भव नहीं है। अतः तीव्र धूप में तबतक रखना चाहिये जब तक कि वह गल न जाय। कई इस रस में पारद गन्धक की कज्जली के साथ ताम्रचूर्ण को मर्दन कर पश्चात् नींबू रस डालने को कहते हैं। इस विधि में भी कोई हानि नहीं है। परन्तु ताम्रचूर्ण को जम्बीरी नींबू के रस में गन्धक के साथ गला कर फिर उसे पुट देकर भस्म करके ही कज्जली में मिला कर प्रयोग करना चाहिये। मात्रा ¼ रत्ती से आधी रत्ती तक ॥ ३८-४० ॥

पाण्डुरोगस्य लक्षणम्—

विवर्णता शरीरे स्याच्छ्वयथुः कार्श्यमेव च।
सत्त्वहानिरथाऽऽलस्यं पाण्डुरोगस्य लक्षणम् ॥ ४१ ॥

शरीर का वर्ण बदल जाना अर्थात् पीला होना हाथ पैरों में शोथ, शरीर में कृशता तथा दुर्बलता और आलस्य; ये पाण्डुरोग के साधारण लक्षण कहे जाते हैं ॥

विशेष वचन—पाण्डुरोग अधिकांश में शरीर में रक्त की कमी के कारण होता है। रक्त की न्यूनता में हृदय की दुर्बलता भी होती है। अतएव हाथ-पैरों में शोथ दुर्बलता आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ४१ ॥

हंसमण्डूरः—

मण्डूरं मर्दयेच्छ्लक्ष्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत्।
त्र्यूषणं त्रिफलां मुस्तां विडङ्गं चव्यचित्रकौ ॥ ४२ ॥
दार्वी ग्रन्थीं देवदारु तुल्यं तुल्यं विचूर्णयेत्।
घृतं मण्डूरतुल्यं च पाकान्ते मिश्रयेत्ततः ॥ ४३ ॥
भक्षयेत्कर्षमात्रं च जीर्णान्ते तक्रभोजनम्।
पाण्डुरोगं हलीमं च ऊरुस्तम्भं च कामलाम् ॥
अर्शांसि हन्ति नो चित्रं हंसमण्डूरकाह्वयम् ॥ ४४ ॥

गोमूत्र आधा सेर (४० तोला) लेकर उसमें ५ तोला शुद्ध मण्डूरभस्म डाल कर पकावें। पाक शेषकाल में उसमें सौंठ, मिरच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, नागरमोथा, वायविडङ्ग, चव्य, चित्रक, दारुहल्दी, पीपरामूल, देवदारु; इन सबका चूर्ण (मिलित) ५ तोला और घृत ५ तोला डाल कर मिला कर वटिका बना लें। इसे १ कर्ष मात्रा में प्रतिदिन सेवन करें। औषधि पचने के बाद छाछ और चावल का भोजन करना चाहिये। यह पाण्डुरोग, हलीमक, उरुस्तम्भ, कामला, अर्श को निःसन्देह दूर करता है। इसे 'हन्समण्डूर' कहते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ३ रत्ती से ४ रत्ती तक। यद्यपि यहाँ पर त्रिकटु आदि का चूर्ण 'तुल्यं तुल्यं' शब्द से पृथक्-पृथक् मण्डूर के बराबर लेना चाहिये। तथापि इस योग में मण्डूर की प्रधानता होने से सब द्रव्यों का मिलित चूर्ण मण्डूर के बराबर

लिया गया है। रसरत्नाकर में भी यही अर्थ लिया गया है—"त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकम्। दार्वी ग्रन्थि देवदारुं तुल्यं सर्वं विचूर्णयेत् ॥ चूर्णं मण्डूरतुल्यं च पाककाले विमिश्रयेत् ॥" इस पाठ से रसरत्नाकर में 'घृतं' के स्थान पर 'चूर्णं' पाठ मिलता है। रसेन्द्रसारसंग्रह में इस रस को 'त्र्यूषणादिमण्डूर' के नाम से लिखा है और उसमें 'ग्रन्थि' का उल्लेख नहीं है। परन्तु त्रिकटु आदि द्रव्यों का मिलित चूर्ण मण्डूर के समभाग लिया गया है। घृत का भी कोई उल्लेख नहीं है। जैसे—"स्विन्नमष्टगुणे मूत्रे लौहकिट्टं सुशोधितम्। पाकान्ते त्र्यूषणं वह्निवरादार्वीमुरद्वमान्॥ विडंगबीजचूर्णं च मुस्तं किट्टसमं क्षिपेत्। प्रातः कर्षं भजेदस्य जीर्णे तक्रौदनं भजेत् ॥ हलीमकं पाण्डुरोगमर्शांसि श्वयथुं तथा। उरुस्तम्भं जयेदेतत् कामलां कुम्भकामलाम् ॥" वहाँ एक और त्र्यूषणादिमण्डूर का योग है जिसमें मण्डूरभस्म मिलितचूर्ण की अपेक्षा द्विगुण ली गई है। जैसे—"त्र्यूषणं त्रिफला मुस्तं विडङ्गं चव्यचित्रकौ। दार्वीत्वङ्माक्षिको धातुर्ग्रन्थिकं देवदारु च ॥ एषां द्विपलिकान् भागान् चूर्णं कृत्वा पृथक् पृथक्। मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम् ॥ मूत्रे चाष्टगुणे पक्त्वा तस्मिंस्तु प्रक्षिपेत्ततः। उदुम्बरसमान् कृत्वा वटकांस्तान् यथाग्नि तु ॥ उपयुञ्जीत तक्रेण सात्म्यं जीर्णे च भोजनम्। मण्डूरवटका ह्येते प्राणदाः पाण्डुरोगिणाम् ॥ कुष्ठान्यरोचकं शोथमूरुस्तम्भं कफामयान्। अर्शांसि कामलां मेहान् प्लीहानं शमयन्ति च ॥" रसरत्नाकर में भी हंसमण्डूर का योग है, वहाँ दारुहल्दी नहीं है किन्तु पिप्पली के दो भाग हैं। जैसे—"मण्डूरं चूर्णयेच्छ्लक्ष्णं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत्। पञ्चकोलं देवदारु मुस्ता व्योषं फलत्रयम् ॥ विडङ्गं स्यात्प्रतिपलं पाकान्ते चूर्णितं क्षिपेत्। भक्षयेत्कर्षमात्रं च तके तक्रञ्च भोजनम् ॥ पाण्डुं शोफं हलीमं च ऊरुस्तम्भञ्च कामलाम्। आर्शांसि हन्ति नो चित्रं हंसमण्डूरको ह्ययम् ॥" मण्डूरपाक करते समय यदि थोड़ा-सा घी डाल दिया जाय तो उससे वटक बनाने में कठिनाई नहीं होती है। अधिक डालने पर वह अवलेह के रूप में होगा ॥ ४२—४४ ॥

कालविध्वंसनरसः—

शुद्धसूतं हेम तारं ताम्रं तुल्यं च मर्दयेत्।
जंबीरनीरसंयुक्तमातपे मर्दयेद्दिनम् ॥ ४५ ॥
सर्वतुल्यं पुनः सूतं क्षिप्त्वा पिष्टं प्रकल्पयेत्।
धत्तूरफलमध्ये तु दोलायन्त्रे त्र्यहं पचेत् ॥ ४६ ॥
धत्तूरोत्थद्रवैरेव यन्त्रं पूर्य पुनः पुनः।
आदाय बन्धयेद्वस्त्रे इष्टिकायन्त्रगं पचेत् ॥ ४७ ॥
जंबीरैर्गन्धकं पिष्ट्वा अधश्चोर्ध्वं च दापयेत्।
तुल्यं पुनः पुनर्देयं रुद्ध्वा लघुपुटे पचेत् ॥ ४८ ॥
षड्गुणे गन्धके जीर्णे तत्तुल्यं मृतलोहकम्।
दत्त्वा मर्द्यं दिनैकं च कंटकार्या द्रवैर्दिनम् ॥४९॥
रुद्ध्वाथ करिषाग्निस्थकपोताख्यपुटे पचेत्।
पुनर्मर्द्यं पुनः पाच्यं त्रिवारं पूर्वजैर्द्रवैः ॥५०॥
बृहत्युत्थरसैस्तद्वत्त्रिधाऽऽमर्द्य पुटेत्त्रिधा।
वह्नयर्कनक्तमालानां पृथग्द्रावैर्द्विधा द्विधा ॥५१॥
मर्द्यं रुद्ध्वा पुटेत्तद्वद्दशांशं वत्सनाभकम्।
दत्त्वा तस्मिन्विचूर्ण्याथ गुंजामात्रं प्रयोजयेत् ॥ ५२ ॥
कालविध्वंसनो नाम रसः पाण्ड्वामयापहः।
अभयाऽथ गवां मूत्रैः पिष्ट्वा चानुप्रदापयेत् ॥ ५३ ॥

शुद्ध पारद (रससिन्दूर), स्वर्णभस्म, रजतभस्म तथा ताम्रभस्म; इनको समान भाग में लेकर एकत्र खरल में जम्बीरी नींबू के रस के साथ तीन दिन तक मर्दन करें और धूप में सुखाते जायँ। पश्चात् इसमें सब द्रव्योंके बराबर पुनः शुद्ध पारद मिला कर इतना मर्दन करें कि इसकी पिष्टी बन जाय। अब इस पिष्टी को सावधानीसे धतूरेके फलों के भीतर भर कर बाहर से भोजपत्र लपेट दें और कपड़े की पोटली में बाँध लें। अब दोलायन्त्र में धतूर-पञ्चांगस्वरस या कषाय भर कर उसमें इस पोटली को लटका दें और पकायें जब धतूरस्वरस सूख जाय तो पुनः स्वरस डाल कर मन्द २ अग्निसे तीन दिनतक स्वेदन या पाक करें। चौथे दिन धतूरफलों में से औषधि के पिण्ड को निकाल चौतह कपड़े की पोटली में बाँध कर इष्टिकायन्त्र में गन्धक के साथ पकायें। इसके लिये पहले गन्धक को जम्बीरी नींबू के स्वरस से घोट कर सुखा लें। अब इस गन्धक को ईंट के गर्त (गढ़ा) में पिण्ड से आधा भाग बिछा कर उसमें पिण्ड की पोटली को रख ऊपर पुनः आधा भाग जम्बीरी नींबू से मर्दित शुद्ध गन्धक डाल कर लघुपुट दे दें। इस प्रकार तब तक बराबर इष्टिकायन्त्र में गन्धक के साथ पुट दें जब तक कि पिण्ड से छः गुनी अधिक गन्धक जीर्ण न हो जाय। पश्चात् इसमें समभाग लोहभस्म मिला एक दिन कण्टकारी (कटेली) के स्वरस या कषाय से मर्दन कर सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके जंगली उपलों के कपोतपुट में फूँक दें। इस प्रकार कण्टकारी के स्वरस में घोट कर तीन लघुपुट दें। पश्चात् बड़ी कटेली के स्वरस में मर्दन कर उक्त विधि से तीन लघुपुट दें तदनन्तर चित्रककषाय में मर्दन कर शरावसम्पुट में बन्द करके दो लघुपुट दें फिर आक के स्वरस में मर्दन कर दो लघुपुट दें। अन्त में करञ्ज के स्वरस से मर्दन कर दो लघुपुट दें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल उसमें पक्व द्रव्य की अपेक्षा दसवाँ भाग शुद्ध वत्सनाभविष का चूर्ण मिला कर अच्छी तरह पीस कर रख लें। यह 'कालविध्वंसन रस' कहा जाता है। इसको दो रत्ती भर मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से पाण्डुरोग शान्त हो जाता है। इस रस को खाने के बाद अनुपान रूप में हरड़ का चूर्ण गोमूत्र के साथ पीस कर खाना चाहिए।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। रसरत्नाकर में "षड्गुणे" के स्थान पर 'शतधा' पाठ है। इसी तरह वहाँ "दद्ध्वाथ करीषाग्निस्थकपोताख्यपुटे पचेत्।" इत्यादि के स्थान पर "कण्टकार्या बृहत्याश्च तथाग्नीनां द्रवैरपि। प्रतिद्रवैर्दिनं मर्द्यं पुटेत्पञ्चभिरुत्पलैः॥ एवं नवपुटं देयं द्रावे द्रावे त्रिधा त्रिधा। वह्न्यर्कचिरविल्वानां द्रवैर्द्वित्रिपुटे पचेत्॥ अन्धमूषागतं पश्चादादाय चूर्णयेत्पुनः। कालविध्वंसनो नाम रसः पांड्वामयापहः॥" पाठान्तर पाया जाता है। यह रस यथाविधि बनने पर अत्यन्त बल्य तथा रक्तवर्धक होता है। किसी प्रकार का पाण्डुरोग हो यहाँ तक कि घातक पाण्डुरोग हो उसमें भी यह अच्छा कार्य करता है। इसमें रञ्जक द्रव्य को बढ़ाने की विशेष शक्ति है। सहपान आमलकीस्वरस अथवा सन्तरे का रस देना चाहिये॥ ४५-५३॥

पञ्चाननो रसः—

मृतं कान्तं सुवर्णं च शुल्वताराभ्रभस्मकम्।
पृथगक्षमितं सर्वं पटचूर्णकृतं मुहुः॥ ५४॥
रसगन्धककज्जल्या तुल्यया सह मर्दितम्।
सार्द्धद्विपलमानेन ताप्यचूर्णेन मर्दयेत्॥ ५५॥
द्विपलं मूषिकामध्ये विनिक्षिप्यालचूर्णकम्।
ततस्तु कज्जलीं क्षिप्त्वा मनोह्वां तावतीं क्षिपेत्॥५६॥
ततो निरुध्य यत्नेन परिशोष्य पुटेन्निशि।
पुटेन गजसंज्ञेन स्वतः शीतं विचूर्णयेत्॥ ५७॥
चतुर्गुणेन गन्धेन निर्मितां रसकज्जलीम्।
क्षिप्त्वा पूर्वरसे लुंगवारिणा परिमर्दयेत्॥ ५८॥
पचेत्कोडपुटेनैव दशवारमतः परम्।
एवं तालककज्जल्या दशवारं पुटेत्ततः॥ ५९॥
ततश्च मृतवैक्रान्तभस्मना च कलांशतः।
ततो विचूर्ण्य यत्नेन करण्डान्तर्विनिक्षिपेत्॥ ६०॥
अयं पञ्चाननो नाम देवराजेन कीर्त्तितः।
श्रेष्ठः सर्वरसेन्द्रेषु महारससमो गुणैः॥ ६१॥
पथ्याशूरणशुण्ठीभिः सघृताभिर्निषेवितः।
सर्वान् पाण्डुगदान् हन्ति कृतघ्न इव सत्कृतिम्॥६२॥
यक्ष्माणं जठरं हलीमकरुजं वातार्त्तिविड्बन्धनं
कुष्ठञ्च ग्रहणीं ज्वरातिसरणं श्वासञ्च कासारुची।
श्लेष्मव्याधिमशेषतो गलगदान् दुर्नाम मन्दाग्नितां
मेहं गुल्मरुजञ्च किं बहुगिरा हन्याद्गदांश्चापरान्॥
सेव्यमाने रसे चास्मिन् विल्वमेकञ्च वर्जयेत्।
स्वस्थः सर्वं समश्नीयाद्गदी पथ्यं गदापहम्॥६४॥

कान्तलोहभस्म, स्वर्णभस्म, ताम्रभस्म, रजतभस्म, कृष्णाभ्रकभस्म; प्रत्येक एक एक कर्ष लें। और सबको एकत्र पीस कर कपड़छन चूर्ण कर लें। इस चूर्ण से आधा भाग शुद्ध पारद और आधा भाग शुद्ध गन्धक लेकर इन दोनों की अच्छी तरह कज्जली करके उक्त चूर्ण में मिला कर उसमें ढाई पल अर्थात् दस तोला परिमाण शुद्ध स्वर्णमाक्षिकभस्म डाल कर सबको अच्छी तरह मर्दन कर लें। तदनन्तर एक दृढ़ मूषा में दो पल परिमाण शुद्ध हरताल का चूर्ण बिछाकर उस पर उक्त कज्जली रख कर उसके ऊपर दो पल परिमाण शुद्ध मैनसिल का चूर्ण डाल कर एक दूसरी दृढ़ मूषा से बन्द करके अच्छी तरह कपड़मिट्टी कर सुखा के गजपुट में रात्रि के समय फूँक दें। प्रातःकाल स्वांगशीत होने पर सावधानी से औषधि को निकाल कर पीस लें। तदनन्तर इसमें समभाग कज्जली (जो एक भाग पारद और चार भाग शुद्ध गन्धक से बनी हो) मिला बिजोरा नींबू के रस से मर्दन कर सुखाने के बाद शरावसम्पुट में बन्द करके वराहपुट में फूँक दें। इस प्रकार समभाग कज्जली के साथ शरावसम्पुट में रख कर दस बार वराहपुट में फूँक दें। तदनन्तर इसको समभाग शुद्ध हरताल की कज्जली (जो एक भाग शुद्ध पारद और चार भाग शुद्ध हरताल के योग से बनाई गई हो) के साथ मर्दन कर वराहपुट में फूँक दें। इस प्रकार हरताल की कज्जली के साथ भी दस वराहपुट दें। अन्त में स्वांगशीतल होने के बाद निकाल कर उसमें (पुट पक्व द्रव्य से) सोलहवाँ भाग वैक्रान्त की भस्म मिला कर एक दिन अच्छी तरह घोट कर शीशी में रख लें। यह 'पञ्चानन रस' श्रीदेवराज नामक रसाचार्य ने वर्णन किया है। यह सम्पूर्ण पाण्डुरोगनाशक रसों में श्रेष्ठ तथा गुणों में महारसों के समान अद्भुत शक्तिशाली है। इसको हरड़, शुद्ध जिमीकन्द तथा शुण्ठीचूर्ण और घृत के साथ मिला कर सेवन करने से यह पाण्डुरोगों को उसी प्रकार शीघ्र नष्ट कर देता है जिस प्रकार विशेष पुण्य या सत्कर्म अथवा उपकार को कृतघ्न मनुष्य शीघ्र भूल जाता है या छोड़ देता है। एवं यह रस राजयक्ष्मा, उदररोग, हलीमकपीड़ा, वातपीड़ा, मलबन्ध, कुष्ठ, संग्रहणी, ज्वरातिसार, श्वास, कास, अरुचि, श्लेष्मप्रकोपजन्य रोग, सम्पूर्ण गले के रोग, अर्श, मन्दाग्नि, प्रमेह, गुल्मपीड़ा, कहाँ तक गिनायें सब प्रकार के अन्यान्य रोगों को उचित अनुपान के साथ सेवन करने से दूर करता है। इस रसके सेवनकाल में केवल एक बेल (विल्व) का सेवन नहीं करना चाहिये। यदि इसे स्वस्थ मनुष्य सेवन करता हो तो वह सब अनुकूल आने वाली वस्तुओं का सेवन कर सकता है। रोगी को उस रोग में हितकर पथ्यों का ही सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—मात्रा ⅛ रत्ती से ½ रत्ती तक। यद्यपि कान्तलोहादिभस्म को कज्जली में मिला कर गजपुट में फूँकने को लिखा है तथापि लघुपुट या वाराहपुट में फूँकना चाहिये। इससे गन्धक पारद का संस्कार दृढ़ होता है। इसी तरह हरताल की कज्जली में

पहिले के नौ पुटों को वाराहपुट से भी कुछ कम उपलों की अग्नि देनी चाहिये। अन्तिम पुट में वाराहपुट की अग्नि देकर पीसना चाहिये। यह रस अत्यन्त बल्य और पोषक है। इसको किसी प्रकार की दुर्बलता विशेषतः वातिक दुर्बलता में प्रयोग किया जा सकता है। शरीर में क्षयात्मक प्रक्रिया के आरम्भ में यह विशेष लाभदायक औषधि है। यकृत् तथा रक्त के रोगों में यह विशेष शक्ति उत्पन्न करता है। इसके द्वारा रक्तरञ्जक की वृद्धि तथा यकृत् की विषनाशक शक्ति की वृद्धि होती है। यह मस्तिष्क के ज्ञान-तन्तुओं और रीढ की निम्नभाग को जाने वाली वातनाड़ियों के लिये विशेष बल्य हैं॥ ५४—६४॥

आरोग्यसागरो रसः—

एकैकपलगन्धाश्मरससम्भवकज्जलीम्।
तस्या मध्ये द्विपलिकं ताप्यं तालं पलोन्मितम्॥
पलमात्रं मनोह्वां च पलमभ्रकभस्मकम्।
सुखस्पर्शस्य कर्षं च निक्षिप्य परिमर्द्य च॥६६॥
मूषामध्ये विनिक्षिप्य पिनद्धान्तर्मुखीं ततः।
पत्रेण शुद्धताम्रस्य निर्मलेन त्रिकर्षिणा॥६७॥
मूषां मृद्भिः सवस्त्राभिः परिरुध्य यथा दृढम्।
परिशोष्य गिरिण्डैश्च पुटेद्गजपुटेन हि॥६८॥
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य खोटीभूतं विचूर्णयेत्।
गन्धतालशिलाचूर्णैः सहितं खल्लचूर्णकम्॥६९॥
पुटेत्क्रोडपुटे चैव दशवारं ततः परम्।
क्षिपेद्विंशतिभागेन वैक्रान्तं भस्मतां गतम्॥७०॥
विमर्द्य गालितं कृत्वा क्षिपेद्रौप्यकरण्डके।
आरोग्यसागरो नाम रसोऽतिगुणवत्तरः॥७१॥
हन्यात्पाण्डुमरोचकं गुदगदं वातं च पित्तं कफं
गुल्माध्मानकशोफरोगमथ च श्वासं शिरोर्तिं वमिम्।
अत्यर्थानलमन्दतां गुरुमुदावर्तं विचित्रज्वरान्
रोगानप्यपरान् रतिद्वयमितः सूतौ मरीचाज्यवान्॥

शुद्ध पारद १ पल (४ तोला), शुद्ध गन्धक १ पल लेकर इसकी कज्जली बना लें। फिर इस कज्जली में २ पल स्वर्णमाक्षिक-भस्म, १ पल शुद्ध हरताल, १ पल शुद्ध मैनसिल, १ पल कृष्णा-भ्रकभस्म और १ कर्ष सुखस्पर्श (मुक्ता या स्फटिकमणि) भस्म डाल कर अच्छी तरह मर्दन करें। अब इस मर्दित द्रव्यसमूह को एक दृढ़ मूषा में भर दें और मूषा मुख में ३ कर्ष परिमाण शुद्ध ताम्रपत्र भर दें और दूसरी मूषा को औंधामुँह रख के पूर्वोक्त मूषा पर टिकाकर अच्छी तरह सन्धिलेप करके दोनों मूषाओं पर दृढ़ कपड़मिट्टी करके सुखा लें। तदनन्तर मूषा को गजपुट में रख कर फूँक लें। स्वांगशीतल होने पर मूषा में से खोट (किट्ट के रूप में) को निकाल कर, ताम्रपत्र सहित खरल में चूर्ण कर लें। फिर इस चूर्ण में शुद्ध गन्धक १ पल, शुद्ध हरताल १ पल, शुद्ध मैनसिल १ पल, मिला अच्छी तरह घोट कर शराव-सम्पुट में बन्द करके वाराहपुट में फूँक दें। इस प्रकार एक एक पल हरताल, गन्धक तथा मैनसिल डाल कर दस वराहपुट दें। अन्त में स्वांगशीतल होने पर निकाल उसमें बीसवाँ भाग वैक्रान्त-भस्म मिला घोट कर कपड़े में छान कर चान्दी की शीशी में भर लें। इसको 'आरोग्यसागररस' कहते हैं। यह अत्यन्त गुणयुक्त औषधि है। यह रस पाण्डु, अरुचि, अर्श, वातपित्त तथा कफ-प्रकोपजन्य व्याधि, गुल्म, अफरा, शोथ, श्वास, शिरःपीड़ा, वमन, अत्यन्त मन्दाग्नि, तीव्र उदावर्त, विविध प्रकार के ज्वर तथा अन्यान्य रोगों को भी दूर करता है। इसको दो रत्ती की मात्रा में लेकर मरिचचूर्ण तथा घी के साथ मिला कर सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से ½ रत्ती तक। 'सूतौ' के स्थान पर 'सूतो' पाठ ही उचित है। सुखस्पर्श के विषय में कई मत देखे जाते हैं। कोई इससे सौभाग्य (टंकण) लेता है और कोई सर्वक्षार लेता है। परन्तु हृदय की दुर्बलता तथा रक्त-पोषण के लिये मुक्ता या स्फटिकमणि लेना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है॥ ६५—७२॥

पाण्डुघनपङ्कशोषणो रसः—

ताम्रभस्म रसभस्म गंधकं वत्सनाभमथ तुल्यभागतः।
वह्नितोयपरिमर्दितं पचेद्यामपादमथ मन्दवह्निना॥ ७३॥
रक्तिकायुगलमानतो भवेच्छोफपाण्डुघनपंकशोषणः॥७४॥

ताम्रभस्म, रसभस्म (रससिन्दूर), शुद्ध गन्धक तथा शुद्ध वत्सनाभचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें। पहिले रससिन्दूर तथा गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिलाकर चित्रक-कषाय या स्वरस से मर्दन करके एक स्वच्छ पात्र में डाल कर मन्द-मन्द अग्नि द्वारा पौन घंटा पकावें। जब जलीयांश सूख जाय और गन्धक की गन्ध आने लगे तब उतार कर चूर्ण करके रख लें। इसमें से दो रत्ती परिमाण मात्रा में सेवन करने से शोथ तथा पाण्डुरोग इस प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे तीव्र सूर्य की किरणों से कीचड़ सूख जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से एक रत्ती तक। इसमें पकाने के लिये किसी पुट आदि का निर्देश न होने से हमने इसे कड़ाही में पकाने लिये लिख दिया है। परन्तु शरावसम्पुट में बन्द करके पौना घण्टा आँच देने योग्य उपलों के छोटे से पुट में भी पका सकते हैं॥ ७३—७४॥

पाण्डुहारिहरीतकी—

कोरंटो भृंगराजश्च शतावरिपुनर्नवौ।
एते सप्तपला ग्राह्याः प्रत्येकं सूक्ष्मचूर्णिताः॥ ७५॥

एतत्क्वाथे पचेत्सम्यग्घरीतक्याः शतत्रयम्।
षष्ट्याधिकं ततः शुष्कं गव्यदुग्धेन पाचयेत् ॥ ७६ ॥
शोषयित्वा शनैर्हत्वा वटिकाभिः प्रपूरयेत्।
रसस्य त्रिपलं दत्वा गंधके त्रिपलात्मके ॥ ७ ॥
पक्त्वाथ पातयेत्पत्रे चूर्णयित्वा ततः पुनः।
गुडूचीसत्वमादाय शुष्कं सत्वं पलाष्टकम् ॥ ७८ ॥
चूर्णयित्वा ततः सर्वं मधुना गुटिकाः किरेत्।
तास्तु सूत्रे समाबध्वा मधुभांडे विनिक्षिपेत् ॥
एकैकां भक्षयेन्नित्यं शुष्कपांडुविनाशिनीम् ॥ ७९ ॥

पियावांसा, भांगरा, शतावर, पुनर्नवा (साठी, इटसिट); प्रत्येक सात २ पल परिमाण में लेकर जौकुट करके आठ गुने जल में डाल कर चतुर्थांशावशेष कषाय कर लें। इस कषाय में तीन सौ साठ बड़ी २ हरड़ें डाल कर पकावें। क्वाथ शेष होने पर हरड़ों को निकाल सुखा कर पुनः गोदुग्ध में पकावें। दूध शेष होने पर हरड़ों को निकाल सावधानी से उनकी गुठली निकाल कर उनके स्थान में निम्नलिखित योग की गोलियाँ भर दें गोलियों के लिए तीन पल शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक तीन पल लेकर कज्जली करलें। फिर इसकी, रसपर्पटी के अनुसार लोहपात्र में पका कर गोबर के ऊपर रखे हुये कदलीपत्र पर, पर्पटी बना लें। इस पर्पटी को चूर्ण करके इसमें आठ पल गुडूची का सत्व तथा गोली बाँधने योग्य मधु मिला कर ३६० गोलियाँ बना लें। एक एक गोली प्रत्येक हरड़ के अन्दर रख हरीतकी के मुख को बन्द करके सब को एक सूत्र में माला की भाँति बनाकर उस माला को एक मधुपूर्ण पात्र में डाल दें। कुछ दिनों के बाद इनमें से एक एक हरीतकी प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करने से अत्यन्त पुरातन पाण्डु तथा कुम्भकामला आदि रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—यद्यपि प्रत्येक हरड़ में रसपर्पटी एक मासे के करीब होने से मात्रा में अधिक होती है तथापि हरीतकी को द्विगुण करके यह मात्रा कुछ ठीक हो जाती है। अतः या तो सात सौ बीस हरड़ लेनी चाहिये या वटिका की मात्रा ¼ मासा चौथाई कर लेनी चाहिये। कई टीकाकार यह अर्थ करते हैं कि हरीतकी पकाने के बाद अवशिष्ट कषाय रसक्रिया तथा दूध का जो मावा (खोया) रह जाता है। उसकी तीन सौ साठ गोलियाँ बना कर हरड़ों में भर देनी चाहिये। किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। ना ही इसका कोई उल्लेख या आदेश ही मिलता है। हरड़ों में त्रित्रकरसक्रिया तथा दुग्धरसक्रिया की गोली हरड़ों में भर कर अन्य टीकाकार यह कहते हैं कि रसपर्पटी तथा गुडूचीसत्व के चूर्ण में उक्त हरड़ों को मधु से सान छान कर सूत्र में बाँध दें और उनमें से प्रतिदिन एक एक हरड़ खानी चाहिये। इस विधि में भी किसी हरड़ में रसपर्पटी अधिक लगेगी और किसी में कम। फिर मधु के भाण्डे में रखने पर धीरे २ पर्पटीचूर्ण सब मधु में मिल जायगा। अतः पर्पटी की गुटिका बना कर हरड़ों में भरनी चाहिये ॥ ७५—७९ ॥

पित्तपाण्डुवरिगुटिका—

रसस्य भागाश्चत्वारो लोहस्य द्वौ प्रकीर्तितौ।
वह्निमुस्ताविडंगानां त्रिकटुत्रिफलस्य च ॥८०॥
भागास्त्वनेकशो ग्राह्याः कुटजस्य तथाऽपरः।
चूर्णयित्वा ततः सर्वं मधुना गुटिकाः किरेत् ॥
एकैकां भक्षयेत्प्रातः पित्तपाण्डुवपनुत्तये ॥८१॥

रससिन्दूर ४ भाग, लोहभस्म २ भाग, चित्रकमूलत्वक्, मोथा, विडंग, सौंठ, मिरच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आवले का चूर्ण प्रत्येक २ भाग तथा कुटजत्वक्चूर्ण दो भाग लें। पहिले रससिन्दूर तथा लोह को एकत्र अच्छी तरह मर्दन कर लें, इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर मधु के साथ घोट कर गोली बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली प्रातःकाल सेवन करने से पित्तप्रकोपजन्य पाण्डुरोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—दो रत्ती से ३ रत्ती तक वटी। अनुपान दूध या शतावरीस्वरस। 'अनेकशः' शब्द से कई चित्रकादि द्रव्यों के पृथक् पृथक् तीन तीन भाग लेते हैं। परन्तु न एक "अनेक" ऐसा अर्थ करने से दो को अनेक कह सकते हैं। अगतः दो भाग लेने में कोई हानि नहीं है ॥ ८०—८१ ॥

त्रैलोक्यसुन्दरो रसः—

रसगन्धकलोहाभ्रगुडूचीसत्वसूकरः।
त्रिफलाशिग्रुमूलानि भृंगसारेण भावयेत् ॥८२॥
त्रैलोक्यसुन्दरः सोऽयं सघृतक्षौद्रशर्करः।
मृगांकवत्पथ्यभुजः पाण्डुशोफं नियच्छति ॥८३॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लोहभस्म, गुडुचीसत्व, वाराहीकन्द चूर्ण, प्रत्येक एक एक भाग, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण तथा सुहांजने की जड़ का चूर्ण, प्रत्येक एक एक भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कर भांगरे के रस से सात भावनायें दें। अन्त में सुखा कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर घृत और शहत के साथ प्रतिदिन सेवन करें। इस रस के सेवनकाल में मृगांकरस के समान ही पथ्य का सेवन करना चाहिये। यह पाण्डुरोग तथा शोथ को दूर करता है।

विशेष वचन—मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। रसेन्द्रसारसंग्रह में भी पाण्डुरोगचिकित्सा में एक त्रैलोक्यसुन्दर रस है, यथा "मानश्चैकं ततः सूतं षडभ्रं वसुलोहकम्। गन्धकं त्रिफला व्योषचूर्णं मोचरसस्य च ॥ मुषली चामृता सत्वं प्रत्येकं पञ्चभागिकम्। भावयेत् सर्वमेकत्र त्रिफलानां कषायके ॥ भावना विंशतिर्देया दशरात्रं सुभावना। शिग्रुचित्रकमूलाभ्यामष्टधा च

पृथक् पृथक् ।। सितया च समं क्षौद्रैः शोथपाण्डुत्त्वयापहः । ज्वरातिसारसंयुक्तसर्वोपद्रवनाशनः ।।" इसके अनुसार पारद १ भाग, अभ्रकभस्म ६ भाग, लोहभस्म ८ भाग, शुद्ध गन्धक, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, मिरच, पिप्पली, मोचरस, मूषली, इन सब के चूर्ण तथा गिलोय का सत प्रत्येक द्रव्य पाँच पाँच भाग लेकर त्रिफलाकषाय की पृथक् पृथक् आठ भावनायें दी जाती हैं। इसको मिश्री तथा शहत के साथ खिलाया जाता है। और यह ज्वर तथा अतीसार युक्त पाण्डुरोग में विशेषतः प्रयुक्त होता है। इसी तरह और भी तन्त्रान्तरों में इस नाम के कई रस हैं जो भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत किये गये हैं ।। ८२-८३ ।।

त्रिनेत्ररसस्य प्रयोगविधिः—

युतः किञ्चिद्‌घृतक्षौद्रगुडतित्तिरिगुग्गुलैः ।
त्रिनेत्राख्यो रसो योज्यः शोफे तोयानुपानतः ॥८४॥

पाण्डुरोग तथा शोथ में शूलाधिकारोक्त त्रिनेत्ररस को यदि किञ्चित् घृत, शहद, पुरातन गुड़, शुद्ध जैपालबीजचूर्ण तथा गुग्गुलु के साथ मिला कर शीतल जल के अनुपान से प्रयोग किया जाय तो वह भी विशेष लाभ करता है ।। ८४ ।।

विजया गुटिका—

पलत्रयं हरीतक्याश्चित्रकस्य पलत्रयम् ।
एलात्वक्पत्रमुस्तानां भागोऽर्द्धपलिको मतः ॥८५॥
रेणुकार्द्धपलं प्रोक्तं तदर्द्धं नागकेशरम् ।
व्योषं च पिप्पलीमूलं विषं च पलमात्रकम् ॥८६॥
रसः पलो महागन्धः सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
पुरातने गुडे पक्वे तुलार्द्धे तद्विनिक्षिपेत् ॥८७॥
हिमस्पर्शं तु गृह्णीयाद् घृतेनाऽक्त्वा करं बुधः ।
बदरास्थिप्रमाणेन विजया गुटिका मता ॥
निशायां खादयेदेनां शोफपाण्डुविनाशिनीम् ॥८८॥

हरड़ का छिलकाचूर्ण (गूदा) ३ पल, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण ३ पल, छोटी इलायचीबीजचूर्ण, दालचीनीचूर्ण, तेजपातचूर्ण, नागरमोथाचूर्ण; प्रत्येक आधा पल रेणुकाचूर्ण आधा पल, नागकेशरचूर्ण एक कर्ष, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, पिपरामूलचूर्ण, शुद्ध वत्सनाभविष; प्रत्येक एक एक पल, शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक एक पल लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों के बारीक चूर्ण मिला कर पीस लें। फिर आधा तुला अर्थात् २०० तोले पुराने गुड़ की चासनी करके उसमें कज्जली मिश्रित इस द्रव्य को मिला कर किञ्चित् पकावें। उतार कर ठंडा कर लें। फिर हाथों में घी लगा कर बेर की गुठली के बराबर प्रमाण की गोली बना लें। इसको 'विजया गुटिका' कहते हैं। इसमें से एक वटी रात्रि को सोते समय प्रतिदिन सेवन करने से शोथ तथा पाण्डुरोग नष्ट होता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में एकाध द्रव्य के परिवर्तन से इस गुटिका को भिन्न भिन्न नाम से लिखा है। किसी ने चित्रक के स्थान थोहर लेकर 'कामेश्वर मोदक' नाम दिया है। किसी ने पीपरामूल के स्थान पर पुष्करमूल डाल कर 'विजयादि गुड' नाम दिया है और कहीं कहीं केवल कर्ष परिमाण शुद्ध पारद ही लिया गया है और कहीं कहीं "लोहचूर्णपलञ्चैकं तुगाक्षीर्याश्च पलं स्मृतम्।" इतना अधिक पाठ मिलता है। परन्तु यह पाठ पाण्डुरोग को लक्ष्य करते हुये अत्यन्त उपयोगी है। रक्त के लाल कणों की वृद्धि करने में लोह सर्वोत्तम शक्ति रखता है। वंशलोचन रक्त की दुर्बलता तथा द्रवता को दूर करता है। अतः विजयावटिका में लोहभस्म तथा वंशलोचनचूर्ण अवश्य होने चाहिये। तन्त्रान्तर में कुछ अधिक पाठ के साथ इसकी सेवनविधि तथा अनुपान और विशेष गुणों का वर्णन मिलता है। जैसे—"शुभेऽहनि प्रयुञ्जीत वटीमेकां यथाबलम्। घृतेन भोजयेत्तावद्यावदस्य बलं भवेत् ।। तद्बलोपचयं ज्ञात्वा पुनर्द्वे द्वे प्रयोजयेत्। अथवा गुटिकां सार्द्धां यथा न परिपीडयेत् ।। मासद्वयेन श्लेष्माणं पित्तञ्चैव त्रिभिर्हरेत्। चतुर्भिर्वायुदोषांश्च नाशयेन्नात्र संशयः ।। मासैस्तु सप्तभिर्द्वन्द्वजातान् रोगान् व्यपोहति। सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो वर्षेणैकेन जायते ।। वर्षद्वयप्रमाणेन वलीपलितवर्जितः। जीवेद्वर्षशतञ्चैव नात्र कार्या विचारणा"।।

टङ्कणादियोगः—

टङ्कणं मेघनादं च भक्षयेद् विषशान्तये ॥८९॥

यदि शरीर में विषों के कारण पाण्डुरोग हो तो चौलाईमूल का स्वरस तथा टङ्कण मिला कर सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—पाण्डुरोग के कारणों में विष का आहार के साथ अन्दर चले जाना भी एक कारण माना जाता है। विष से रक्त का नाश हो जाता है। जैसे सिक्के के कारखाने में काम करने वाले मनुष्य प्रायः जल्दी में बिना हाथ धोये हुये ही भोजन कर लेते हैं जिससे हाथों में लगा हुआ सिक्का भोजन के साथ अन्दर जाकर अनेक रोगों के साथ पाण्डुरोग भी पैदा कर देता है। कई स्थानों में 'वेगशान्तये' ऐसा पाठ है जो उचित प्रतीत नहीं होता है ।। ८९ ।।

जयपालरसः—

रसं गन्धं मृतं ताम्रं जयपालं च गुग्गुलुम् ।
समांशमाज्यसंयुक्तां गुटिकां कारयेन्मिताम् ॥
एकैकां खादयेद्वैद्यः शोफपाण्डुवपनुत्तये ॥९०॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, शुद्ध जमालगोटाचूर्ण, शुद्ध गुग्गुलु; प्रत्येक द्रव्य समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें और गूगल को घी के साथ अच्छी तरह कूट लें। पश्चात् उसमें कज्जली तथा अन्य द्रव्य मिला कर पुनः कूटें और

(१ रत्ती की) गोली बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक गोली खावें तो पाण्डु तथा शोथ दोनों ही शान्त होते हैं।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में यह रस 'पाण्डुसूदनरस' नाम से लिखा है। वहाँ इसका अनुपान शीतल जल लिखा है और पित्तप्रकोपक अम्ल द्रव्यों का परिहार लिखा है ॥ ६० ॥

देवदालीपञ्चांगप्रयोगः—

देवदाल्यास्तु पंचांगचूर्णं क्षीरैश्च वा जलैः ॥
निष्कमात्रं पिबेन्नित्यं मासात्पाण्डुगदापहम् ॥९१॥

देवदाली (बन्दाल) का पञ्चांग (पत्र, पुष्प, फल, मूल तथा त्वक्) के एक निष्कभर चूर्ण को प्रतिदिन दूध अथवा जल से एक मास तक सेवन करने से पाण्डुरोग शान्त हो जाता है।

विशेष—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ६ रत्ती तक। यह योग पाण्डु की अपेक्षा कामला में अधिक लाभदायक है! क्योंकि देवदाली पित्तविरेचक होती है। कामला में ही पित्त अवरुद्ध होकर रक्त में मिलता है, उसके अवरोध को दूर करने के लिये देवदाली उत्तम द्रव्य है ॥ ६१ ॥

कामलालक्षणम्—

दग्धमांसरुधिरास्रपित्ततः कामला भ्रमतृषाविदाहिनी ।
पीतनेत्रमलवत्युपेक्षया शोफयुग्भवति कुम्भकामला ॥

पाण्डुरोगावस्था में अथवा स्वतन्त्र रूप से भी पित्त बढ़ कर अथवा अम्लपित्त के कारण पित्त बढ़ कर जब रक्त में मिल कर उसको दग्ध दूषित करके मांस में भी विकार उत्पन्न कर देता है तो कामला रोग हो जाता है। जब पित्त रक्त में मिलता है तो रोगी को भ्रम, तृषा (प्यास) तथा शरीर में दाह (गर्मी) पैदा हो जाती है। पित्त के रक्त में मिलने से नेत्र गोलक की श्लैष्मिककला (जो बहुत सूक्ष्म तथा पारदर्शक है) में पित्त का पीतवर्ण स्पष्ट दिखाई देता है जिससे दोनों नेत्र अत्यन्त पीले दिखाई देते हैं। यदि ऐसी अवस्था में चिकित्सा नहीं की गई तो यह कुम्भकामला का रूप धारण कर लेती है और इसमें हाथ पैरों में शोथ भी हो जाता है ॥ ६२ ॥

अपामार्गादिप्रयोगः—

अपामार्गं शमीमूलं पिष्ट्वा तक्रेण पाययेत् ।
कामलां श्वयथुं पाण्डुं कर्षमात्रं नियच्छति ॥ ९३ ॥

अपामार्ग (चिरचिटा या ओंगा) की जड़ तथा शमी (जांड) की जड़ को मिलित एक कर्ष मात्रा में लेकर तक्र (छाछ) के साथ पीस कर प्रतिदिन सेवन करने से कामला, शोथ तथा पाण्डुरोग दूर होते हैं ॥ ६३ ॥

पञ्चास्यरसः—

तीक्ष्णमाक्षिककान्ताभ्रशुल्वसूतकतालकम् ।
देवदालीरसैः पिष्टं बालुकायन्त्रमूर्च्छितम् ॥ ९४ ॥
अमृतोत्पलकह्लारकन्दद्राक्षासमन्वितम् ।
पिष्टं यष्ट्यम्भसा क्षौद्रसिताभ्यां कामलाप्रणुत् ॥९५॥

तीक्ष्ण लोहभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, कान्तलोहभस्म, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म, रससिन्दूर, शुद्ध हरताल; प्रत्येक द्रव्य समभाग लें। पहिले रससिन्दूर को हरताल के साथ पीस कर उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिलायें। फिर इसको देवदाली के स्वरस या कषाय से एक दिन तक मर्दन कर सुखा लें। पश्चात् इसे शरावसम्पुट में बन्द कर अच्छी तरह कपड़मिट्टी करके सुखा लें। फिर इस सम्पुट को बालुकायन्त्र में रख कर मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर निकाल कर पक्व द्रव्य को पीस कर इसको गुडूची, उत्पल कन्द (कमल भेद), कल्हारकन्द (कमल भेद); इनके स्वरस से तथा द्राक्षास्वरस तथा मुलेठी के कषाय से पृथक् पृथक् एक-एक भावना देकर सुखा लें। इसको उचित मात्रा में घी और शहत के साथ सेवन करने से कामला (कमलवाय या ज़िरक़ान) दूर हो जाती है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से एक रत्ती तक। रसरत्नाकर में इसको तीन दिन तक बालुकायन्त्र में पकाने को लिखा है, यथा "पाचयेद्वालुकायन्त्रे त्रिदिनान्ते समुद्धरेत्।" कई वैद्य इसमें अमृता आदि द्रव्यों को मिलितावस्था में एक पल प्रमाण डाल कर केवल मुलेठी के कषाय की भावना देकर गोली बना लेते हैं। रसरत्नाकर में "कन्दद्राक्षासमन्वितम्" के स्थान पर "कन्दातिवलाक्षेत्रपलं युतम्" ऐसा पाठान्तर मिलता है।

कामला में प्रारम्भ में ही लोह के योग लाभदायक नहीं होते हैं। अतः पहिले पित्त विरेचक द्रव्य देकर पश्चात् लोह के योग देने चाहिये। क्यों कि लोह के योग प्रायः ग्राही प्रभाव करते हैं जिससे पित्त निकलने में असुविधा तथा विलम्ब होता है। तन्त्रान्तर में इस रस को 'कामलाप्रगत रस' नाम से भी लिखा है ॥ ६४–६५ ॥

त्रियोनिरसः—

ताम्रस्य तुर्यभागेन रसेनोत्प्लुत्य लेपयेत् ।
निम्बुद्रावेण संयोज्य सूर्यतापे विनिक्षिपेत् ॥ ९६ ॥
ऊर्ध्वाधो गन्धकं दत्त्वा पात्रयेदतियत्नतः ।
मत्स्याक्षीमभितो दत्त्वा मृत्स्नया सन्निरुध्य च ॥९७॥
यामद्वयं सुपक्वं च स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ।
गुंजामात्रं ददीतास्य साभयं गुडसंयुतम् ॥
त्रियोन्याख्यो रसो ह्येष शोफपाण्ड्वपनोदनः ॥ ९८॥

४ तोला शुद्ध नैपाली ताँबे के कण्टकवेधी पत्र बना लें। फिर इन पर एक तोला (पारद गन्धक समभाग) कज्जली को नींबू के रस में पीस कर इस कल्क का लेप कर दें और धूप में रख कर सुखा लें। अब इन पत्रों को एक मूषा में पहिले २ तोला गन्धक भर कर रख दें और ऊपर से भी दो तोला गन्धक डाल दें। मूषा के भीतर गन्धक के चारों तरफ मछेछी का चूर्ण डाल कर दूसरी

मूषा से बन्द करके सन्धि को वह्निमृत्स्ना से अच्छी तरह बन्द करके कपड़मिट्टी कर दें। पश्चात् गजपुट में रख कर फूँक दें। स्वांगशीत होने पर निकाल कर ताम्रपत्रों को पीस लें। इसमें से एक रत्ती भर मात्रा में लेकर हरीतकीचूर्ण तथा पुराने गुड़ के साथ सेवन करें। इसको 'त्रियोनिरस' कहते हैं। यह पाण्डु तथा शोथ दोनों को ही दूर करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से ½ रत्ती तक। एक ही गजपुट में ताम्रपत्रों की उत्तम भस्म होना सम्भव नहीं है अतः वान्तिभ्रान्ति दोष रहित होनेतक गन्धक के साथ उक्त विधि से पुट देनी चाहिये। कई वैद्य पारद को नींबू के रस में मर्दन कर कल्क बना करके ताम्रपत्रों पर लेप करके गन्धक के साथ पुटमें फूँकने को कहते हैं। परन्तु धूप में सुखाने पर पत्रों से पारद पृथक् हो जाने का डर रहता है॥ ९६-९८॥

मुस्तादिचूर्णम्—

मुस्ताऽमृताचित्रकयष्टिपिप्पलीविडंगशुण्ठीत्रिफलैर्यथोत्तरम्।
चूर्णं सहायोरजसा च संयुतं समाक्षिकं पाण्डुगदापहं परम्॥

नागरमोथाचूर्ण, गिलोयचूर्ण, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण, मुलेठीचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, विडंगचूर्ण, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आंवलाचूर्ण; इनको उत्तरोत्तर भाग वृद्धि के अनुपात से लें। अर्थात् मोथा १ भाग, गिलोय २ भाग, चित्रक ३, मुलेठी ४, पिप्पली ५, विडग ६, सोंठ ७, हरड़ ८, आंवला ९ भाग लें। और सब द्रव्यों के चूर्ण के बराबर इसमें लोहभस्म मिला कर अच्छी तरह पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर शहद के साथ सेवन करने से पाण्डुरोग दूर होता है।

विशेष वचन—मात्रा एक रत्ती से दो रत्ती तक। रसरत्नाकर में मुस्ता आदि द्रव्यों का चूर्ण समभाग में लेने को लिखा है। वहाँ 'यथोत्तरम्' के स्थान पर 'समम्' पाठ है। अतः नवायस लोह आदि के समान इसमें भी प्रत्येक द्रव्य समभाग लेने चाहिये। लोहभस्म के विषय में भी रसरत्नाकर में स्पष्ट लिखा है। 'सर्वांशं मृतलोहकम्'। कहीं कहीं इसको लोहामृत नाम से भी लिखा है॥ ९९॥

कामेश्वररसः—

पलं सूतं पलं गन्धं वज्री पथ्या त्रयं त्रयम्।
मुस्तैलापत्रकाणां च प्रति सार्द्धपलं क्षिपेत्॥१००॥
त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं विषं चैव पलं पलम्।
नागकेसरकर्षंकं रेणुकार्द्धपलं तथा॥१०१॥
पुरातनगुडेनैव तुलार्द्धेन विपाचयेत्।
मर्दयेत्कन्यकाद्रावैर्यामैकान्तं घृतेन च॥१०२॥
गुटिकां बदराभां तु कारयेद्भक्षयेन्निशि।
शोफपाण्डुहरः सोऽयं रसः कामेश्वरः स्वयम्॥१०३॥

शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक एक पल लेकर दोनों की अच्छी तरह कज्जली कर लें। फिर इसमें हरड़ का चूर्ण तीन पल, थोहर की जड़ का चूर्ण तीन पल, मोथे का चूर्ण डेढ़ पल, छोटी इलायचीबीजचूर्ण डेढ़ पल, तेजपात का चूर्ण डेढ़ पल, सौंठ का चूर्ण एक पल, मिरच का चूर्ण एक पल, पिप्पली का चूर्ण एक पल, पीपरामूलचूर्ण एक पल, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण एक पल, नागकेसर का चूर्ण एक कर्ष, रेणुकाबीजचूर्ण आधा पल डालें। सबको खरल करके इसमें आधा तुला अर्थात् २०० तोला पुराने गुड़ की चासनी मिलायें। तदनन्तर इसको कुमारीस्वरस से एक प्रहर मर्दन करके अन्त में घृत के साथ बेर की गुठली के बराबर गोलियाँ बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली सोते समय रात्रि को सेवन करें। इसके सेवन से पाण्डु तथा शोथ दोनों ही शान्त हो जाते हैं। यह 'कामेश्वररस' कहा जाता है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से ३ रत्ती तक। रसेन्द्रसारसंग्रह में कुछ पाठभेद से यह रस मिलता है, जैसे—"पलं सूतं पलं गन्धं पथ्याचित्रकयोः पलम्। मुस्तैलापत्रकाणाञ्च प्रति सार्द्धपलं क्षिपेत्॥ त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं विषञ्चापि पलं न्यसेत्। नागकेशरकं कर्षमेरण्डस्य पलं तथा॥ पुरातनगुडेनैव तुल्येनैव विमिश्रयेत्। मर्दयेत् कनकद्रावैर्भावयेच्च घृतान्वितम्॥ वटिकां बदरास्थ्याभां कारयेद् भक्षयेन्निशि। पाण्डुरोगहरः सोऽयं रसः कामेश्वरः स्वयम्॥" यहाँ वज्री (थोहर) के स्थान पर चित्रक है। हरड़ तथा चित्रकमूल का प्रमाण यहाँ एक एक पल है। रेणुका के स्थान पर एरण्ड है और इसका प्रमाण एक पल कहा है। पुराना गुड़ सब चूर्ण के समान बिना चासनी किये ही डालने को कहा है। पीछे घीकुमार के रस के स्थान पर धत्तूरे के स्वरस से मर्दन कर भावना देने को लिखा है। यहाँ इसको केवल पाण्डुरोगहर ही लिखा है॥ १००-१०३॥

पाण्डुवनानिलरसः—

ताम्रभस्म रसभस्म गन्धकं वत्सनाभमथ तुल्यभागतः।
वह्नितोयपरिमर्दितं पचेद्यामपादमथ मन्दवह्निना॥१०४॥
रक्तिकायुगलमानतो भवेच्छोफपाण्डुघ्नपङ्कशोषणः॥

ताम्रभस्म, पारदभस्म (रससिन्दूर), शुद्ध गन्धक और शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें। पहिले गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर चित्रक के कषाय से एक दिन मर्दन कर सम्पुट में बन्द करके ¾ घंटे मन्द मन्द अग्नि में पका लें। द्रवांश शोषित होने पर उतार पीस कर रख लें। इसमें से दो रत्ती भर मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से वायुप्रकोपयुक्त पाण्डुरोग दूर हो जाता है।

विशेष वचन—इस रस का वर्णन पहिले कर चुके हैं। यहाँ पर इसको आगे लिखे जाने वाले कंसादिपञ्चक के साथ प्रयोग करने के निमित्त ही दुबारा लिखा गया है ॥ १०४–१०५ ॥

कंसादिपञ्चकम्—

कंसेन पिष्टः शिलया सहितः पाचितो रसः।
हताभ्यां तीक्ष्णताम्राभ्यां युतो हन्ति हलीमकम्।१०६।

पूर्वोक्त पाण्डुघनानिलरस को समभाग कांस्यभस्म तथा शुद्ध मैनसिल के साथ मर्दन करके शरावसम्पुट में रख मन्द अग्नि से बालुकायन्त्र में पौना घण्टा पका कर पीस लें। पश्चात् उसमें समभाग तीक्ष्णलोहभस्म, ताम्रभस्म मिला कर खरल करके रख लें। इसको उचित मात्रा में प्रयोग करने से हलीमकरोग नष्ट होता है।

विशेष वचन—कोई कंसादिपञ्चक को सुधापञ्चकरस नाम से कहते हैं और इसको पृथक् रस मानते हैं। पृथक् रस मानने पर शुद्ध पारद एक भाग में शुद्ध मैनसिल एक भाग, कांसे की भस्म एक भाग मिला कर पीस करके शरावसम्पुट में बन्द कर ¾ घंटे वालुकायन्त्र में रख कर पका लें। स्वांगशीत होने पर इसमें एक भाग तीक्ष्णलोहभस्म, एक भाग ताम्रभस्म मिला कर पीस कर रख लें। इस विधि से बनाने पर इसमें पारद का भाग तथा शिला का भाग उड़ जायगा जिससे इसमें हलीमकरोग के विष को दूर करने की शक्ति कम हो जायगी। अतः शुद्ध मैनसिल, कांस्यभस्म, रससिन्दूर, तीक्ष्णलोहभस्म तथा ताम्रभस्म इन पाँचों को समभाग लेकर पीस कर रख लें तो वह अधिक लाभदायक होगा। मात्रा ½ रत्तीसे ½ रत्ती तक ॥ १०६ ॥

सिन्दूरभूषणो रसः—

शुद्धसूतं च सिन्दूरं पलैकैकं विमर्दयेत्।
वासारसेन यामैकं तेन कुर्याच्च चक्रिकाम् ॥ १०७ ॥
सुपक्वां कारयेन्मूषामुत्तानां द्वादशाङ्गुलाम्।
तन्मध्ये गन्धकं शुद्धं क्षिपेत्पलचतुष्टयम् ॥ १०८ ॥
पूर्वोक्तां चक्रिकां तत्र क्षिप्त्वाऽथ प्रपुटेल्लघु।
जीर्णे गन्धे समुद्धृत्य चक्रिकां तां विचूर्णयेत्।१०९।
चूर्णाद्दशगुणं योज्यं मृतं लोहं च मर्दयेत्।
लशुनेन दशांशेन चणमात्रा वटीः किरेत् ॥ ११० ॥
वातपाण्डुहरः सिद्धो रसः सिन्दूरभूषणः।
पिबेच्चानु ह्यपामार्गस्यैरण्डस्य च मूलिकाम् ॥
तक्रैः पिष्ट्वाऽथ कर्षैकं हन्ति पाण्डुं सकामलम्।१११।

शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध सिन्दूर एक पल लेकर दोनों को एकत्र वांसा (अडूसा) के स्वरस से एक पहर तक मर्दन करके टिकिया बना कर सुखा लें। पश्चात् बारह अंगुल ऊँची चौड़ी एक दृढ मूषा बना कर उसमें चार पल शुद्ध गन्धकचूर्ण बिछा टिकियाओं को रख दें और मूषा को बन्द करके लघुपुट में फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर टिकियाओं को निकाल कर इसमें दसगुनी लोहभस्म मिला कर खरल करें। फिर इसमें दशमांश लसुन को छिलका उतार कर डालें और अच्छी तरह घोट कर चने के बराबर गोली बना लें। इस प्रकार यह 'सिन्दूरभूषणरस' तय्यार होता है। यह वातप्रकोपयुक्त पाण्डुरोग को शान्त करता है। इस के पीछे अपामार्ग की जड़ ६ मासा तथा एरण्डमूलत्वक् ६ मासा लेकर छाछ के साथ पीस कर अनुपान के रूप में पीवें। इससे पाण्डु तथा कामला दोनों ही रोगों में लाभ होता है।

विशेष वचन—सिन्दूर, नाग (सीसा) धातु का उपधातु माना जाता है। अत; यहाँ पर यदि सिन्दूर ही लिया जाय तो उसकी निरापदभस्म केवल एक पुट में वह भी लघुपुट में होनी सम्भव नहीं। अतः कई वैद्य सिन्दूर से रससिन्दूर लेते हैं। इसको ही लघुपुट अर्थात् कुक्कुटपुट में गन्धक के साथ पकावें तो यह नहीं उड़ेगा। अतः सिन्दूर से नाग का उपधातु लेना हो तो उसकी निरुत्थ भस्म करके ही प्रयोग करनी चाहिये। अन्यथा रससिन्दूर को ही कुक्कुटपुट से पका कर प्रयोग करना चाहिये।१०७–१११।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये उदरपाण्डुशोफकामलाकुम्भकामलाहलीमकचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

—:०:—

विंशोऽध्यायः।

अथ विसर्पादिचिकित्सनम्।

कालाग्निरुद्रो रसः—

कान्तगन्धकतीक्ष्णाभ्रविषताप्यसमन्वितः।
वन्ध्याकर्कोटकीकन्दे पक्वः सूतो विसर्पजित् ॥ १ ॥

कान्तलोहभस्म, शुद्ध गन्धक, तीक्ष्णलोहभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध वत्सनाभविष, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध पारद; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर बाँझककोड़े के स्वरस से मर्दन कर बाँझककोड़े की मूल के कल्क में बन्द करके शरावसंपुट में रख लें और कपड़मिट्टी करके सुखा कर भूधरपुट में एक दिन पका लें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पीस कर रख लें। यह रस उचित मात्रा में प्रतिदिन प्रयोग करने पर वीसर्प (Erysipelas) दूर हो जाता है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। यह रस रसेन्द्रसारसंग्रह में कुछ भिन्नता के साथ मिलता है। परन्तु इसकी निर्माणविधि तथा मात्रा और अनुपान का उसमें पूर्ण वर्णन है, यथा "सूताभ्रकान्तलौहानां भस्म गन्धकमाक्षिकम्। वन्ध्यकर्कोटक-

द्रावैस्तुल्यं मर्द्यं दिनावधि। वन्यकर्कोटिकाकन्दे क्षिप्त्वा लिप्त्वा मृदा बहिः। भूधराख्ये पुटे पश्चाद्दिनैकं तद्विपाचयेत्। दशमांशं विषं योज्यं माषमात्रन्तु भक्षयेत्। रसः कालाग्निरुद्रोऽयं दशाहेन विसर्पनुत्। पिप्पलीमधुसंयुक्तमनुपानं प्रकल्पयेत्॥" इसमें भूधरपुट में पकाने के बाद पक्व द्रव्य की अपेक्षा दसवाँ भाग शुद्ध विष भी डाला गया है और पिप्पलीचूर्ण तथा शहद में मिलाकर इसको सेवन करने को लिखा है।

आजकल व्यवहृत होने वाला कालाग्निरुद्ररस इसी विधि से तय्यार किया जाता है। यदि विष को पहिले ही मिला कर पुट दिया जाय तो विष की ज्वरनाशक शक्ति क्षीण हो जायगी। अतः पश्चात् मिलाना उचित प्रतीत होता है॥ १॥

एरण्डबीजादितैलम्—

एरण्डतुम्बिनीनिम्बबाकुचीचक्रमर्दकम्।
तिक्तकोशातकीबीजमंकोलश्चश्चुबीजकम्॥२॥
गोमूत्रदधिदुग्धैस्तु भावयेत्तिलजेन च।
मूत्रेणाजाप्रसूतेन तैलं पातालयन्त्रजम्॥
विसर्पं नाशयत्याशु श्वेतकुष्ठं च तत्क्षणात्॥३॥

एरण्डबीज, कड़वीतुम्बी के बीज, निम्बबीज, बाकुचीबीज, चक्रमर्द (पनवाड़) बीज, कड़वी तोरी के बीज, अंकोल के बीज और छोटे एरण्ड के बीज; प्रत्येक समभाग लेकर चूर्ण करके फिर इसको क्रमशः गोमूत्र, दही, दूध, तिलतैल या कषाय, बकरी के मूत्र में एक एक दिन मर्दन कर बेर के बराबर गोलियाँ बनाकर सुखा लें। पश्चात् इनको एक शीशी में भरकर पातालयन्त्र में रख कर तैल निकाल लें। यह तैल वीसर्प को शीघ्र नष्ट करता है तथा श्वेतकोढ़ को तत्क्षण नष्ट करता है।

विशेष वचन—यह तैल लगाने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। पातालयन्त्र का वर्णन यन्त्राध्याय में किया जा चुका है। उसके अनुसार ही इसका तैल बनाना चाहिये। कोई गोमूत्र आदि द्रव द्रव्यों से बीजों को पृथक् पृथक् सात भावना देने को कहते हैं। अधिक भावना देने से तैल में गुणवृद्धि ही होगी॥ २–३॥

द्वितीयैरण्डबीजादितैलम्—

एरण्डतुम्बीकटुविम्बचक्रमर्दोत्थबीजानि च सोमराजी।
अंकोलबीजानि समानि कृत्वा पातालयन्त्रेण सुतैलमेषाम्॥
प्रगृह्य तेनाऽथ विमर्दयीत विसर्पकादीनि क्षतं प्रयान्ति॥

एरण्डबीज, कटुतुम्बीबीज, बिंबीबीज (कुंदरु), चक्रमर्दबीज, बावचीबीज, और अंकोलबीज; प्रत्येक समभाग लेकर पीस कर इनका पातालयन्त्र द्वारा तैल निकाल लें। इस तैल द्वारा विसर्प आदि पर मर्दन, लेपन तथा अभ्यंग करने से उक्त रोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—इस तैल के निर्माण में भावना के लिये द्रव्यों का वर्णन नहीं है। अतः इसकी अपेक्षा पूर्वोक्त तैल अधिक लाभप्रद है। अथवा पूर्वोक्त तैल के द्रव्यों की भावना देकर इसे बना लें विम्ब के स्थान पर निम्ब पाठ पाया जाता है॥ ४–५॥

गलत्कुष्ठस्य लक्षणम्—

पादयोः श्वयथुस्तोदो गलन्त्यङ्गुलयो यदि।
नासिकास्वरयोर्भङ्गो गलत्कुष्ठस्य लक्षणम्॥६॥

यदि पञ्जों, टखनों और पिंडलियों में शोथ के साथ पैर या हाथ की अंगुलियां गलने लगी हों, और रोगी की नासिका बैठ गई हो तथा स्वरभेद हो गया हो तो इस रोग को गलत्कुष्ठ (Lepr ocy) समझना चाहिये॥ ६॥

कुष्ठेषु क्रियासूत्रम्—

सर्वेषां कुष्ठिनामादौ पञ्चकर्माणि कारयेत्।
पक्षे पक्षे च वमनं मासि मासि विरेचनम्॥७॥
षष्ठे मासि शिरामोक्षो नस्यं सप्तदिनान्तरे।
इदं चिरस्थिते कार्य्यं कुष्ठे स्वल्पेऽल्पशः क्रिया॥८॥

सभी कुष्ठ रोगियों को चिकित्सा करने के पूर्व उनको पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, निरूहवस्ति, अनुवासनवस्ति तथा नस्यकर्म) कराना आवश्यक है। फिर कुष्ठहर चिकित्सा करते हुये प्रतिपक्ष (पन्द्रह दिन बाद) एक बार वमन और प्रतिमास एक बार विरेचन (जुल्लाब) देते रहने चाहिये और हर छटे महीने में एक बार शिरामोक्ष (फस्त खोल कर रक्त निकालना) तथा प्रतिसप्ताह एक दिन शिरोविरेचन नस्य भी देते रहना चाहिये। यह चिकित्सा-विधि पुरातन कुष्ठ के लिये आवश्यक है। अल्प कुष्ठ तथा नवीन कुष्ठ के लिये साधारण वमन विरेचनादि क्रिया की आवश्यकता होती है।

विशेष वचन—शरीर में से रक्तशोधक द्रव्यों के साथ वमनादि द्वारा कुष्ठ विष को निकालने पर ही कुष्ठहर रसों तथा औषधियों का प्रभाव शीघ्र हो सकता है। चरक ने भी लिखा है कि "ये लेपाः कुष्ठिनां प्रयुज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम्। सद्यः सिद्धिर्हि भवति तेषाम्"॥ ७–८॥

वातकुष्ठारिरसः—

विपचेद्गन्धकमध्ये घनपिष्टीं शुल्वपिष्टीं वा।
सङ्कोच्य कोलकोऽयं शमयति वातोत्थकुष्ठानि॥९॥

कृष्णाभ्रकभस्म को अभ्रकमारकवर्ग के द्रव से मर्दन कर पिण्ड बना लें। अथवा ताम्रभस्म को ताम्रमारकवर्ग के द्रव से मर्दन कर पिण्ड बना लें। फिर इसको द्विगुण गन्धक में डाल कर इसका संकोच (पर्पटी) कर लें। पश्चात् इस पर्पटी को पीस कर रख लें। इसको कोलकयोग कहते हैं। यह वातकुष्ठों को शान्त करता है।

विशेष वचन—कई इस रस को इस तरह बनाते हैं कि पिष्टी को लेकर एक शराव में पिष्टी से आधा भाग शुद्ध गन्धक चूर्ण बिछा उसके ऊपर पिष्टी रखते हैं और पिष्टी के ऊपर पुनः उतना ही गन्धक डाल कर बन्द करके सन्धिलेप को सुखा कर गजपुट में फूँक लेते हैं। इसमें से उचित मात्रा में सेवन कराते हैं। संकोच्य का अर्थ जला कर होता है। पकाने के बाद प्रायः सब द्रव्य उनके अवयवों के संकोच से छोटे पड़ जाते हैं या सिकुड़ जाते हैं। दूसरा संकोच्य का वातकुष्ठानि से भी सम्बन्ध किया जा सकता है। अर्थात् यह योग वातकुष्ठों को सकुचित करके शान्त कर देता है। 'कोलक' का दूसरा अर्थ कोल प्रमाण मात्रा में इस रस को मधु में मिला कर सेवन करना भी हो सकता है। जहाँ 'गोलकः' पाठ है। वहाँ यह पिष्टी का गोलक (गन्धक के बीच में रख कर पकाया हुआ) वातकुष्ठों को संकुचित करके शान्त कर देता है ऐसा अर्थ किया जाता है। परन्तु रसेन्द्रसारसंग्रहोक्त संकोचक नामक रस के देखने से स्पष्ट होता है कि यद्यपि संकोचकरसों में पारद का नामोल्लेख स्पष्ट नहीं है तथापि उसमें पारद डालना चाहिये। किन्तु इसके बनाने की विधि कुछ भिन्न है। संकोचकरसों में पारद की गन्धक के साथ कज्जली नहीं बनाई जाती है, बल्कि पिष्टी वाले द्रव्यों के साथ पारद को खूब घोट कर पारद के अच्छी तरह मिल जाने पर उसका गोला सा बना लिया जाता है। पश्चात् उसको गन्धक या स्नेहयुक्त गन्धक के साथ अतिमन्द अग्नि पर पका लिया जाता है, जब गन्धक पूर्णरूप से जीर्ण हो जाती है तो नीचे उतार कर पारद के गोले को निकाल कर पीस लेते हैं और उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कर संकोचरस तय्यार करते हैं। रसेन्द्रसारसंग्रह में सर्व कुष्ठों के लिये एक संकोचरस लिखा है, जैसे—"मृतताम्राभ्रकं तुल्यं तयोः सूतं चतुर्गुणम्। शुद्धं तन्मर्दयेत्खल्ले गोलकं कारयेत्ततः॥ त्रिभिस्तुल्यं शुद्धगन्धं लोहपात्रे क्षणं पचेत्। तन्मध्ये गोलकं पाच्यं यावज्जीर्णन्तु गन्धकम्॥ एतन्मृद्वग्निना तावत् समुद्धृत्य विचूर्णयेत्। गुग्गुलुर्निम्बपञ्चांगं त्रिफला चामृता विषम्॥ पटोलं खादिरं सारं व्याधिघातं समं समम्। चूर्णितं मधुना लेह्यं निष्कमौदुम्बरापहम्॥ रसः संकोचनामाऽयं कुष्ठे परमदुर्लभः" ॥ ९ ॥

पित्तकुष्ठारिरसः—

कामलाऽभ्रकसङ्कोची घृतगन्धकपाचितः।
व्योषाग्निवेल्लत्वङ्मुस्ता-व्याधिघातविषैः समः ॥१०॥
त्रिगुणः प्राणदो रेणुः पञ्चाशन्मृतकाञ्चनः।
बदरास्थिमितो मूत्रेणाजेन गुटिकीकृतः॥
नाशनः पित्तकुष्ठानामेकविंशतिवासरात् ॥११॥

कृष्णाभ्रक की भस्म एक भाग (१ तोला) को गन्धक तथा घृत प्रत्येक दो भाग के साथ मर्दन कर गोला बना कर गजपुट में फूँक लें या बालुकायन्त्र में पका लें। पश्चात् इसमें सौंठ, मिरच, पिप्पली, चित्रकमूलत्वक्, विडंग, दालचीनी, मोथा, अमलतास त्वक्, शुद्ध वत्सनाभविष; प्रत्येक का चूर्ण एक एक भाग, जीवक का चूर्ण तीन भाग, हरेणुकाचूर्ण तीन भाग और स्वर्णभस्म पाँच भाग मिलाकर बकरी के मूत्र से घोट कर बेर की गुठली के बराबर गोलियाँ बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली सेवन करने से इक्कीस दिन में पित्तप्रकोपजन्य कुष्ठ नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती। 'कामलाऽभ्रकसंकोची' के स्थान पर 'कालाभ्रकस्य संकोचो' पाठ उचित है। और 'पञ्चाशन्मृतकाञ्चनः' के स्थान पर 'पञ्चांशं मृतकाञ्चनम्' पाठ उचित है। पचास भाग स्वर्णभस्म के लेने पर बेर की गुठली के बराबर मात्रा अत्यन्त अधिक होगी। अतः अभ्रकभस्म की अपेक्षा पाँचवाँ भाग स्वर्णभस्म का योग्य होगा। अतः टीका करते हुये मूल में इसी अर्थ को लिखा है ॥ १०–११ ॥

श्लेष्मकुष्ठारिरसः—

कनकाभ्रकसङ्कोचस्तैलगन्धकपाचितः।
विषव्योषाब्दवेल्लत्वक् तुल्यस्त्रिगुणचित्रकः॥
गुञ्जामानोऽजमूत्रेण पिण्डितः श्लेष्मकुष्ठनुत् ॥१२॥

सुवर्णभस्म १ भाग, कृष्णाभ्रकभस्म १ भाग लेकर दोनों को एकत्र घोट कर तिलतैल तथा गन्धक दो भाग के साथ मर्दन करके गोला बना कर गजपुट में फूँक लें। स्वांगशीत होने पर उसे निकाल कर उसमें शुद्ध वत्सनाभविष, मोथा, वायविडंग, दालचीनी; प्रत्येक का चूर्ण एक एक भाग और चित्रकमूलत्वक्चूर्ण ३ भाग मिला अच्छी तरह खरल करके रख लें। इसमें से १ रत्ती मात्रा में लेकर बकरी के मूत्र के साथ प्रतिदिन सेवन करने से श्लेष्मप्रकोपजन्य कुष्ठरोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा आधी रत्ती से एक रत्ती तक। कोई कनकाभ्रक से काञ्चनवर्ण अथवा रक्तवर्ण अभ्रक का ग्रहण करते हैं ॥ १२ ॥

त्रिदोषकुष्ठारिरसः—

तीक्ष्णाभ्रहेमसङ्कोचस्तैलगन्धकपाचितः।
तालताप्यविशालाग्नि-बोलपाठाजटाविषैः ॥ १३ ॥
शृङ्गीटङ्कणयष्ट्याह्व-सिन्धुवारैः समन्वितः।
रसेन शृङ्गवेरस्य बद्धो बदरसन्निभः॥
छायाविशोषितः कुष्ठं निहन्यात् सन्निपातजम् ॥१४॥

तीक्ष्णलोहभस्म, अभ्रकभस्म, स्वर्णभस्म; प्रत्येक एक एक भाग (तोला) लें। फिर इन सब को एकत्र तिलतैल तथा गन्धक के साथ घोट कर गोला बना कर गजपुट में फूँक दें। स्वांगशीत होने पर इसमें शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, इन्द्रायणमूल का चूर्ण, चित्रकमूल का चूर्ण, बोल का चूर्ण, पाठामूल का चूर्ण, शुद्ध वत्सनाभचूर्ण काकड़ासिंगी का चूर्ण, भुना हुआ सुहागा,

मुलेठी का चूर्ण, सिम्भालूत्वक्-चूर्ण; प्रत्येक एक एक भाग मिला कर अदरख के रस के साथ घोट कर छोटे बेर के बराबर गोलियाँ बना कर छाया में सुखा लें। इसमें से १ गोली उचित अनुपान के साथ प्रतिदिन सेवन करने से सान्निपातिक कुष्ठ दूर हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥

विजयवटिका—

रेणुकापिप्पलीमूलं बाकुची विषतिन्दुकम्।
अश्वगन्धा पलाशास्थि व्योषादिनवकं वचा ॥ १५ ॥
विशाला गन्धकं कुष्ठं सविषं रसभस्म च।
गुडेन गुटिकां कुर्य्यात् समेन मधुमिश्रिताम् ॥ १६ ॥
तां भक्षयेत् सितासर्पिःक्षीरशाल्यन्नभाग्भवेत्।
जलौदनं वा भुञ्जानो ब्रह्मचर्य्यपरायणः ॥ १७ ॥
खादेत्तापे सिताधान्यसर्पिर्नागबलारजः।
वटिका विजयाख्येयं सप्तकुष्ठान्नियच्छति ॥ १८ ॥

रेणुका, पीपरामूल, बावची, शुद्ध कुचला, असगन्ध, ढाक के बीज, व्योषादि नौ द्रव्य (हरड, बहेड़ा, आँवला, सौंठ, मिरच, पिप्पली, मोथा, विडंग और चित्रक), वच इन्द्रायण की जड़, शुद्ध गन्धक, कुष्ठ (पुष्करमूल), शुद्ध वत्सनाभविष, रसभस्म (रससिन्दूर); प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण एक एक भाग लें। पहिले पारदभस्म और गन्धक को एकत्र पीस कर कज्जली सी बना लें। फिर उसमें अन्य सब द्रव्यों के चूर्ण मिला कर पीस लें। अब इसमें समभाग पुराना गुड़ तथा गोलियाँ बाँधने योग्य शहद मिला कर गोलियाँ बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली मधु के साथ सेवन करें। इस पर मिश्री, घी, दूध के साथ शालिचावलों का भात पथ्यरूप में सेवन करें। अथवा जौ का भात (दलिया), दूध, घी तथा मिश्री मिला कर सेवन करें। इस रस के सेवनकाल में रोगी को पूरा ब्रह्मचारी रहना चाहिये। यदि इस रस के सेवन से गर्मी प्रतीत हो तो नागबलामूल या पञ्चांगचूर्ण को मिश्री, धनियाचूर्ण तथा घी में मिला कर खिलानी चाहिये। यह विजयावटी सात कुष्ठों (महाकुष्ठों) को दूर करती है।

विशेष वचन—मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। तन्त्रान्तर में 'कुष्ठं सविषम्' के स्थान पर 'कुष्ठसप्तकम्' पाठ मिलता है जो उचित प्रतीत नहीं होता है; क्योंकि अन्यत्र "रसभस्म च गन्धाश्मविशाला कुष्ठकं विषम्।" ऐसा स्पष्ट पाठान्तर मिलता है। अतः कंकुष्ठ आदि सात द्रव्यों का ग्रहण यहाँ पर उचित नहीं है। 'जलौदनम्' के स्थान पर 'यवौदनम्' पाठ अच्छा प्रतीत होता है। कापाल, उदुम्बर, मण्डल, ऋष्यजिह्व, पुण्डरीक, सिध्म तथा काकण ये सात महाकुष्ठ कहे जाते हैं ॥ १५—१८ ॥

सर्वेश्वररसः—

पालिकं ताम्रगन्धाभ्रं कर्षांशं लोहपारदम्।
स्नुह्यर्कक्षीरवातारिजम्बीरोशीरवारिभिः ॥ १९ ॥
मर्दितं बालुकायन्त्रे स्वेदयेद्दिवसत्रयम्।
कर्षं कणाया निष्कञ्च विषस्यास्मिन् विनिक्षिपेत् ॥
एष सर्वेश्वरः सद्यो गुञ्जामात्रः प्रसुप्तिजित् ॥ २० ॥

ताम्रभस्म, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म; प्रत्येक एक एक पल लें। लोहभस्म तथा शुद्ध पारद एक कर्ष लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिलाकर थोहर, आक के दूध, एरण्डमूल, जम्बीरी नींबू तथा खश के कषाय अथवा स्वरस से पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन कर गोला-सा बना सुखा लें। पश्चात् इस गोले को दो मूषाओं में बन्द करके बालुकायन्त्र के बीच में रख तीन दिन तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर गोले को निकाल पीस लें और इसमें पिप्पली का चूर्ण १ कर्ष, शुद्ध वत्सनाभविष एक निष्क मिला घोट कर रख लें। यह 'सर्वेश्वररस' एक रत्ती मात्रा में सेवन करने से प्रसुप्त कुष्ठ को शीघ्र ही नष्ट कर देता है।

विशेष वचन—वृद्धयोगतरंगिणी, रसप्रकाशसुधाकर आदि ग्रन्थों में एक इसी प्रकार का सर्वेश्वररस पाया जाता है, जैसे "पलं सूतं चतुर्गन्धं शुद्धं पामं विचूर्णयेत्। मृतताम्राभ्रलोहानां दरदस्य पलं पलम् ॥ सुवर्णं रजतं चैव प्रत्येकं दशनिष्ककम्। माषैकं मृतवज्रञ्च तालं शुद्धं पलद्वयम् ॥ जम्बीरोन्मत्तवासाभिः स्नुह्यर्कविषमुष्टिभिः। मर्द्यं हयारिजैर्द्रावैः प्रत्येकेन दिनं दिनम् ॥ एवं सप्तदिनं मर्द्यं तद्गोलं वस्त्रवेष्टितम्। बालुकायन्त्रगं स्वेद्यं त्रिदिनं लघुवह्निना ॥ आदाय चूर्णयेच्छ्लक्ष्णं पलैकं योजयेद्विषम्। द्विपलं पिप्पलीचूर्णं मिश्रं सर्वेश्वरो रसः ॥ द्विगुञ्जो लिह्यते क्षौद्रैः सुप्तिमण्डलकुष्ठनुत्। आजानुस्फुटितं चापि वातरक्तमपोहति ॥ बाकुचीदेवकाष्ठं च कर्षमात्रं सुचूर्णयेत्। लिहेदेरण्डतैलाक्तमनुपानं सुखावहम् ॥" भैषज्यरत्नावली में "सुवर्णं रजतञ्चैव" इत्यादि पद्य से ही सर्वेश्वर माना है। इसकी मात्रा रत्नावली में आधी रत्ती लिखी है। इसमें 'पलं सूतं' इत्यादि प्रथम पद्य का उल्लेख नहीं है। इसी तरह तन्त्रान्तर में "मृतताम्राभ्रलोहानां हिंगुलं च पलं पलम्। जम्बीरोन्मतभार्ङ्गीभिः स्नुह्यर्कविषमुष्टिभिः ॥ मर्द्यं हयारिजैर्द्रावैः प्रत्येकञ्च दिनं दिनम ॥" इत्यादि पाठ मिलता है। सारांश यह है कि इस रस के तन्त्रान्तर में भिन्न २ पाठ मिलते हैं। परन्तु वृद्धयोगतरंगिणी, रसप्रकाशसुधाकर आदि ग्रन्थों वाला पाठ ही सब से अच्छा मिलता है। किसी ने इसमें से कुछ कम कर दिया है और किसी ने कुछ अधिक कर दिया है। परन्तु मूल पाठ वृद्धयोगतरंगिणी आदि का अच्छा है ॥ १९—२० ॥

सुप्तकुष्ठदलनो रसः—

गन्धो रसश्च कटुतैलशृतो मृतोऽर्को
व्योषाग्निवेल्लुविषमेघभयावचाभिः ।
ज्वालामुखीरसविमर्दितमाक्षिकाढ्यः
पिण्डीकृतः शमयति स्थिरसुप्तकुष्ठम् ॥२१॥

सरसों के तैल में शुद्ध किया हुआ गन्धक १ भाग (तोला), शुद्ध पारद १ भाग, ताम्रभस्म १ भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर उसमें ताम्रभस्म, सौंठ, मिरच, पिप्पली, चित्रक, विडंग, शुद्ध वत्सनाभ, मोथा, हरड़, वचा; प्रत्येक का चूर्ण पृथक् पृथक् १ भाग मिलायें और कलिहारी के स्वरस से मर्दन करके अन्त में कुछ शहत मिला कर गोलियाँ बना लें। यह रस स्थिर (पुराना) सुप्त (स्पर्शज्ञान रहित) कुष्ठों को दूर करता है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। सरसों के तैल में शुद्ध किया हुआ गन्धक, घृतशुद्ध गन्धक की अपेक्षा उष्ण होता है जिससे रक्तसञ्चार में तीव्रता होती है। चरक में बाह्य लेपादियों में कटु तैल का बहुत वर्णन किया गया है। यहाँ पर आभ्यन्तर प्रयोग में भी कटुतैल का संस्कार लिया गया है। कई वैद्य, ताम्र को कटुतैल में शुद्ध कर भस्म करने के लिये कहते हैं। परन्तु ताम्र में कटुतैल का प्रभाव नहीं के बराबर रहेगा। 'मेघाभया' के स्थान पर 'भेद्यभया' पाठ होने पर भेदी से जयपालबीजचूर्ण अथवा अम्लवेत का चूर्ण लिया जाता है॥ २१॥

प्रतापलंकेश्वरो रसः—

विपादिकाघ्नो रसगन्धटङ्कणं सताम्रकुष्ठायसपिप्पलीरजः ।
विमर्दितं काञ्चनपत्रवारिणा प्रतापलङ्केश्वरसंज्ञितो रसः ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, भुना हुआ सुहागा, ताम्रभस्म, कूठचूर्ण, लोहभस्म तथा पिप्पलीचूर्ण, प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर धतूरे के पत्तों के स्वरस से एक दिन मर्दन करके सुखा कर रख लें। इसे 'प्रतापलंकेश्वर रस' कहते हैं। यह उचित मात्रा में सेवन करने से विपादिका नामक कुष्ठरोग को नष्ट करता है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। रसरत्नाकर में इसको 'लंकेश्वर' रस नाम से लिखा है, जैसे—"भस्मसूतार्कलोहानां कुष्ठा गन्धकटङ्कणम्। कुष्ठतुल्यकतुल्यांशं मर्द्यं धत्तूरजैर्द्रवैः॥ दिनैकं तद्वटीं कुर्यात् माषमात्रञ्च भक्षयेत्। रसो लंकेश्वरो नाम्ना प्रसुप्तमण्डलप्रणुत्॥" यहाँ इसका अनुपान भी लिखा है—"गन्धकं त्रिफलाचूर्णं निर्विषीं गुग्गुलुं समम्। लिहेदेरण्डतैलेन कर्षैकमनुपानकम्" ॥ २२॥

किटिमारितैलम्—

स्नुह्याः कुडवं पयसः प्रस्थं दुग्धस्य नारिकेलस्य ।
गन्धकनिशयोः कर्षं पारदकर्षञ्च साधु संयोज्यम् ॥२३॥
खरतरकिरणातापात् पक्वं तैलं विलेपितं प्राज्ञैः ।
कुष्ठकिटिमेऽपहन्ति प्रबलञ्च समीरणं हन्यात् ॥२४॥

थोहर का दूध एक कुडव (१६ तोला), दूधिया नारियल का जल १ प्रस्थ, शुद्ध गन्धक १ कर्ष, हरिद्राचूर्ण १ कर्ष, शुद्ध पारद १ कर्ष और सरसों का तैल १ प्रस्थ लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इन सब को एक शुद्ध (चौड़े) पात्र में डाल कर अच्छी तरह मिला दें और तेज धूपमें रख दें। जब धूपमें रखते हुये द्रवांश अर्थात् जल का भाग सूख जाय और केवल तैल तथा कल्कद्रव्य मात्र रह जाय तो इसे छान लें और शरीर में मलें। यह तैल कुष्ठ किटिमकुष्ठ को दूर करता है। साथ ही वातप्रकोपजन्य कुष्ठों (जिनमें पीड़ा अधिक होती है) को भी शान्त करता है।

विशेष वचन—यद्यपि मूल में तैल का प्रमाण नहीं बताया गया है तथापि "अनिर्दिष्टप्रमाणानां स्नेहानां प्रस्थ इष्यते।" इस परिभाषा के अनुसार तैल १ प्रस्थ लिया जा सकता है। २३-२४।

सिध्मे गन्धपाषाणादिलेपः—

मर्दितो मूलकक्षारस्याऽऽर्द्रकस्य च वारिणा ।
शमयेद्गन्धपाषाणः पिष्टः सिध्मं विलेपनात् ॥ २५ ॥

सिध्म (सीप, बनरफ) कुष्ठ होने पर शुद्ध गन्धक को मूली के क्षार तथा अदरख के जल से अच्छी तरह घोट कर कल्क बना सिध्म कुष्ठ के स्थान पर लेप करने से वह दूर हो जाता है।

विशेष वचन—सिध्मकुष्ठ प्रायः छाती प्रदेश में होता है। इसमें छोटे छोटे श्वेत (किञ्चित्) मण्डल से हो जाते हैं और धीरे धीरे सारी छाती ग्रीवा तथा कानों की जड़ तक पहुँच जाता है। परन्तु इसमें न पीड़ा होती है और न किसी प्रकार का शोथ या स्राव ही होता है॥ २५॥

सिध्मे वराटिकालेपः—

वराटपिष्टं जम्बीरनीरार्द्रा वाऽऽतपे धृता ॥ २६ ॥

अथवा सिध्मकुष्ठ के लिये कौड़ियों के चूर्ण को जम्बीरी नींबू के रस में मर्दन कर एक दिन धूप में रख कर शरीर में कुछ दिन मलने से भी लाभ होता है।

दद्रुकुष्ठे मयूरक्षारादिलेपः—

मयूरमोक्षकक्षारं मेषशृङ्गीरसो रसः ।
त्रिक्षारद्विनिशाव्योष-शुल्वं लेपेन दद्रुजित् ॥ २७ ॥

अपामार्ग का क्षार, मोखा (पाडल) का क्षार, मेढ़ासिंगी का स्वरस, शुद्ध पारद, यवक्षार, सर्जक्षार, टङ्कण, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, सोंठ, मिरच तथा पिप्पली का चूर्ण और ताम्रभस्म; इन

सब को एकत्र मर्दन कर शरीर में कुछ दिन निरन्तर लेप करने से दाद अच्छा हो जाता है ॥ २७ ॥

चर्मकुष्ठे पर्पटीरसः—

चतुर्थांशेन ताम्रस्य भस्मना सक्तुकेन च ।
कृतावापो हरेत् कुष्ठं चर्माख्यं पर्पटीरसः ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त पर्पटीरस में चतुर्थांश ताम्रभस्म तथा चतुर्थांश सक्तुकविष मिला कर पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में कुछ दिन सेवन करने से चर्मकुष्ठरोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। यहाँ पर्पटीरस, को शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक २ भाग लेकर बनाना चाहिये। आवाप का अर्थ यहाँ पर मिश्रण लिया गया है ॥२८॥

चर्मकुष्ठे मेघनादाद्युद्वर्तनम्----

मेघनादमृतानीलीगदाः कृष्णतिला मधु ।
अश्वमेधामृतश्चैव तैर्युक्ता गन्धककज्जली ॥
उद्वर्तनेन षण्मासाद्गजचर्मविनाशनो ॥ २९ ॥

चौलाई की जड़, गुडूची, नील की जड़, कुष्ठ (पुष्करमूल), काले तिल, मधु, असगन्ध, वत्सनाभविष, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक एक एक भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला खरल कर लेवें। इसमें से प्रतिदिन ६ मासे तक अथवा छः महीने तक शरीर में उबटन किया जाय तो गजचर्मकुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

शतारुषि रसादिषट्कम् [कुष्ठनाशनरस]----

रसगन्धकताप्यार्कशिलाजत्वम्लवेतसम् ।
अष्टमांशगुडं साज्यमाक्षिकं स्याच्छतारुषि ॥ ३० ॥

शतारु नामक कुष्ठ के लिये शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्णमाक्षिकभस्म, ताम्रभस्म, शिलाजतु, अम्लवेत; इन सबको समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिलायें। अब इसमें सब की अपेक्षा आठवाँ भाग पुराना गुड़ मिला कर मर्दन करके गोलियाँ बना लें। इनमें से एक गोली प्रतिदिन घी और शहद के साथ सेवन करना चाहिये। इसके प्रयोग से शतारु कुष्ठ रोग में आराम आता है।

विशेष वचन--मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक ॥ ३० ॥

कुष्ठविधूननो रसः [कृष्ण माणिक्य रस]—

हेममाक्षिकगन्धाश्म-तीक्ष्णकान्ताभ्रकं समम् ।
द्विगुणं हरवीर्य्यश्च दशमांशश्च सक्तुकम् ॥३१॥
मंजिष्ठादिकषायेण वालुकायन्त्रपाचितम् ।
कृष्णवर्णकसंकाशमिदं भस्मैव कुष्ठजित् ॥३२॥

स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध गन्धक, तीक्ष्णलोहभस्म, कान्तलोहभस्म, अभ्रकभस्म; प्रत्येक समान भाग लें। अर्थात् एक एक भाग लें। और शुद्ध पारद दो भाग लें। पहिले पारद और गन्धक की कज्जली करें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिलायें और एक भाग की अपेक्षा दसवाँ भाग सक्तुकविष (अभाव में वत्सनाभ) का शुद्ध चूर्ण मिला लें। पश्चात् इसको मञ्जिष्ठादिकषाय के साथ मर्दन करके गोला-सा बना सुखा करके मूषा में रखें और बालुकायन्त्र में एक दिन मन्द मन्द अग्नि से पका लें। जब यह काले* से वर्ण का हो जाय तो इसे कुष्ठ के लिये अन्तःप्रयोग में काम लावें।

विशेष वचन—मात्रा आधी रत्ती से एक रत्ती तक। रसरत्नकौस्तुभ में इससे मिलता जुलता एक कुष्ठदलन रस है। उसमें कान्तलोहभस्म नहीं है और उसे मञ्जिष्ठादिवर्ग के कषाय के साथ सेवन करने को कहा है न कि भावना देने को, जैसे "हेमाख्यमाक्षिकयुतं बलितीक्ष्णमभ्रसाम्यं ततो द्विगुणशंकरवीर्यकञ्च। सक्तुञ्च दिग्लवमितं परिमर्दयेद्वै कुष्ठघ्नसेवनपरेण नरेण सेव्यम् ॥ मञ्जिष्ठादिकषायेण युक्तं कुष्ठनिबर्हणम्। वल्लद्वयमितं जग्ध्वा पथ्यं पूर्वोदितं चरेत्" ॥ ३१-३२ ॥

मञ्जिष्ठादिगणः—

मञ्जिष्ठाघनदारुकुष्ठखदिर-श्रेष्ठावचाबाकुची
पाठापर्पटराजवृक्षकटुका-यष्ट्याह्वमूर्वानिशा ।
त्रायन्तीकिटिमारवेल्लवृषकं निम्बामृतावत्सकं
काकोली सदुरालभा च परमं कुष्ठक्षयघ्नो गणः ॥३३॥

मजीठ, मोथा, देवदारु, कूठ, खदिरसार, हरड़, बहेड़ा, आँवला, वचा, बाकुची, पाठा, पित्तपापड़ा, अमलतासगूदा, कटुकी, मुलेठी, मूर्वा, हरिद्रा, त्रायमाणा (त्रामण), वाराहीकन्द, धत्तूर, विडंग, वांसा (अडूसा), निम्बत्वक्, गिलोय, कुड़ा की छाल, काकोली, जवासा; इन औषधियों के समूह को मञ्जिष्ठादिगण कहते हैं। यह कुष्ठरोग शान्ति के लिये श्रेष्ठगण है ॥ ३३ ॥

कंगुणीतैलम्—

आरग्वधरसो गुञ्जाबाकुचीगन्धकं त्रयैः ।
सरसैः कङ्गुणीतैलं जयेत् सिध्ममुडुम्बरम् ॥३४॥

अमलतास की जड़ का स्वरस अथवा कषाय ४ प्रस्थ, गुञ्जाबीज, बावची तथा शुद्ध गन्धक प्रत्येक सवा पाँच तोला (सब समभाग में मिला कर एक कुडव) कंगुणीतैल (मालकागनी का तैल) एक प्रस्थ लें। पहिले गुंजा आदि तीन द्रव्यों को जल से पीस कर कल्क बना लें। पश्चात् सब को एक पात्र में मिला कर तैल पकावें। जब तैल मात्र अवशेष रहे, तब उतार छान कर तैल को पृथक् कर लें। यह तैल सिध्म तथा उदुम्बर कुष्ठों के लिये लाभदायक है।

विशेष वचन—उक्त तैल कुष्ठों पर लगने के लिये व्यवहृत होता है। कई 'सरसैः' शब्द से पारद का ग्रहण करते हैं। पारद

* "कृष्णमाणिक्यसंकाशम्" पाठान्तर भी है।

डालने से कोई हानि नहीं होगी परन्तु पारद गन्धक की कज्जली कर लेनी चाहिये ॥ ३४ ॥

पामारितैलम्—

विपक्वा कटुतैलेन पामाहृद्गन्धविष्टिका ॥३५॥

परिभाषाप्रकरण में लिखी हुई गन्धक की पिष्टी को कडुवे तैल में पका कर गाढ़ा सा कल्क बना लें। इस कल्क को शरीर में मलने से पामा (खुजली) तथा त्वक्रोग नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—सिद्धयोग में पामावाले रोगी को कटु तैल के साथ गन्धक खाने को भी लिखा है। जैसे "पिबति सकटुतैलं गन्धपाषाणचूर्णं रविकिरणसुतप्तं पामलो यः पलार्द्धम्। त्रिदिनतदनुसिक्तः क्षीरभोजी च शीघ्रं भवति कनकदीप्त्या कामयुक्तो मनुष्यः ॥" 'विपक्वा' का अर्थ यदि सूर्यकिरणों से तप्त गन्धकचूर्ण से हो तो प्रकृत योग खिलाया भी जा सकता है। परन्तु व्यवहार प्रायः कड़वे तैल में गन्धक मिला कर शरीर में मलने का ही पाया जाता है ॥ ३५ ॥

तालेश्वरो रसः—

हरितालपले द्वे द्वे द्रङ्क्षणे रसगन्धयोः।
कुकुंटीपत्रसारेण पिष्टं ताम्रमयोरजः ॥३६॥
पञ्चशो मर्दितं धात्री कुकुंटीरसमाक्षिकैः।
वर्षाभूचित्रपत्राढ्यं मूषागर्भे निवेशितम् ॥३७॥
पाचितं भूधरे संस्थं पर्णखण्डेन भक्षयेत्।
हिङ्गुजम्बीरवातारि तैलैः पवनपीडितैः ॥३८॥
माधूकसारसिन्धूत्थवचाव्योषैर्हृतौजसि।
शोफे भक्ताम्बुना कुष्ठे घृतेन पयसाऽथवा ॥ ३९ ॥
धारोष्णेनाऽऽर्द्रकस्यास्तु कामलायां रसेन च।
रसस्तालेश्वराख्योऽयं सर्वकुष्ठहरः परम् ॥ ४० ॥

शुद्ध हरताल २ पल अर्थात् ८ तोला, शुद्ध पारद ६ मासा शुद्ध गन्धक ६ मासा, ताम्रभस्म ६ मासा, लोहभस्म ६ मासा लें। पहिले पारद तथा गन्धक की कज्जली करलें। फिर कुकुन्दरपत्र के स्वरस से मर्दन की हुई उक्त ताम्र तथा लोहभस्म और शुद्ध हरताल को इस कज्जली में मिला लें। अच्छी तरह पीस कर आँवलास्वरस, कुकुन्दर या बांझककोड़ास्वरस तथा शहत में पृथक्२ पाँच बार भावना देकर गोला-सा बना कर सुखा लें। फिर इस गोले को पुनर्नवा, चित्रक अथवा एरण्ड के पत्तों से अच्छी तरह लपेट कर तागे से बाँध दें। अब इसे मूषा में रख सन्धिलेप करके भूधरपुट में एक दिन मन्द २ अग्नि से पका लें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पत्रों को पृथक् करके गोले को पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर पान के पत्ते में रख कर कुष्ठ वाले रोगी को सेवन करायें। वातरोगपीड़ित मनुष्य को सेवन करना हो तो जम्बीरीनींबू के रस में हींग तथा एरण्डतैल डाल कर अनुपान देना चाहिये। ओजधातु के क्षीण होने पर इसका प्रयोग करना हो तो इस रस को महुआपुष्परस अथवा मुलेठी का सत, सैन्धानमक, वच तथा सौंठ; मिरच तथा पिप्पलीचूर्ण के साथ देना चाहिये। सर्वशरीर में शोथ होने पर इसको मांड के साथ कुष्ठ में गोघृत अथवा धारोष्ण दूध के साथ देना चाहिये। कामलारोग में अदरख के स्वरस के साथ देना चाहिये यह 'तालेश्वर रस' कहा जाता है। सब कुष्ठों को दूर करने में सर्वोत्तम औषधि है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। 'पवनपीडितैः' के स्थान 'पवनपीडिते' पाठ अधिक उपयुक्त है। 'स्तु' के स्थान पर 'पि' पाठ उत्तम है ॥ ३६—४० ॥

महातालेश्वरो रसः—

तालताप्यशिलाटङ्करसेन्द्रलवणं समम्।
तालकाद्द्विगुणं ताम्रं मृतं तद्वच्च गन्धकम् ॥ ४१ ॥
अम्लेन पञ्चशः पिष्टं जम्बीरस्य पुटे पचेत्।
मदनेन वमिं कुर्य्याद्विरेकं पथ्ययाऽपि च ॥ ४२ ॥
लोहचूर्णस्य चत्वारो भागाः सिद्धरसस्य षट्।
अष्टौ नेपालताम्रस्य गन्धकेन हतस्य च ॥ ४३ ॥
जम्बीराम्लेन तत् सर्वं मर्दितं पुटपाचितम्।
एकत्रिंशांशगरलं माषद्वितयसम्मितम् ॥ ४४ ॥
शुद्धः संशोधनं कुर्वन् मध्ये मध्ये च भक्षयेत्।
सन्निपाते मधूकेन व्योषेण पवने हितः ॥ ४५ ॥
ग्रहणीकामलापाण्डुगुल्मार्शांसि हलीमकम्।
क्षयश्च शमयत्येष महातालेश्वरो रसः ॥ ४६ ॥

शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध मैनसिल, सुहागा, शुद्ध पारद, सैन्धानमक; प्रत्येक १ भाग, ताम्रभस्म २ भाग, शुद्धगन्धक २ भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर खरल करें और जम्बीरी नींबू के रस से पाँच बार पीस कर (भावना देकर) मूषा में बन्द करके भूधरपुट में पका लें। स्वांगशीतल होने पर निकाल कर इसके ६ भाग लें, इसमें फिर लोहभस्म ४ भाग, और उत्तम ताम्रभस्म (गन्धक द्वारा की गई) ८ भाग मिला कर जम्बीरीनींबू के रस से मर्दन कर पुनः भूधरपुट में पका लें। स्वांगशीतल होने पर निकाल कर पीस लें और उसमें ३१ वाँ भाग शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण मिला लें। इसमें से दो उड़द भर लेकर रोगी को सेवन करावें। यह रस मैनफलचूर्ण के साथ देने से कै (वमन) लाता है। हरड़ के चूर्ण के साथ प्रयोग करने से विरेचन लाता है। कुष्ठ में जब देहसंशोधन कराया जा रहा हो तब संशोधन से बाद बीच बीच में इस रस का प्रयोग करना चाहिये। यह रस सन्निपात में महुए या मुलेठी के साथ और वायुप्रकोप में त्रिकटुचूर्ण के साथ देने से लाभ करता है। यह संग्रहणी कामला,

पाण्डु, गुल्म, अर्श, (बवासीर), हलीमक और क्षय को भी शान्त करता है। इसे 'महातालेश्वर रस' कहते हैं

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में जो महातालेश्वर रस कहा है उसमें ताम्रभस्म नहीं है। विष तीसवाँ भाग लिया है तथा वहाँ बनाने में कुछ भिन्नता है। जैसे "तालताप्यशिलासूतं शुद्धं टंकणसैन्धवम्। समं सञ्चूर्णयेत् भल्ले सूताद् द्विगुणगन्धकम्॥ गन्धकाद्द्विगुणलौहञ्च जम्बीराम्लेन मर्दयेत्। ततो लघुपुटे पाच्यं स्वांगशीतं समुद्धरेत्॥ त्रिंशदंशं विषञ्चात्र क्षिप्त्वा सर्वं विचूर्णयेत्। महिषाज्येन संमिश्रं निष्कार्द्धं भक्षयेत्सदा॥ मध्वाज्यैर्बाकुचीचूर्णं कर्षं लिह्यात् ततः परम्॥" रसरत्नाकर में जो महातालेश्वर रस का पाठ है उसके अनुसार यह योग इस प्रकार बनता है। जैसे शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, मैनसिल, पारद, सैन्धानमक, सुहागा; प्रत्येक १ भाग, गन्धक २ भाग, ताम्रभस्म २ भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर खूब खरल करें। फिर इसे जम्बीरी नींबू के रस से ५ दिन मर्दन करें। सूख जाने पर सम्पुट में बन्द करके भूधरपुट दे दें। इस प्रकार प्रति बार जम्बीरी नींबू के रस से मर्दन करके छः बार पुट देनी चाहिये। पश्चात् यह औषधि ६ पल, ताम्रभस्म २ पल, लोहभस्म ४ पल, लेकर इन्हें एकत्र मिला कर जम्बीररस से दिन भर मर्दन करके सूख जाने पर लघुपुट दें। पश्चात् निकाल कर पीस लें और इस औषधि का तीसवाँ भाग इसमें शुद्ध विष मिला कर घोट लें। इसे भैंस के घी के साथ मिला उचित मात्रा में दें। और पीछे से बाकुची के चूर्ण को शहद और घी से चटायें। इस रस को रसरत्नाकर में पुण्डरीक कुष्ठ (कफप्रकोपजन्य) प्रयोग करने को कहा है।

रसप्रकाशसुधाकर में भी यह योग है; उसमें भी कुछ भिन्नता पाई जाती है, जैसे—'तालमाक्षिकमनःशिलाः समाः शुद्धसूतमथ टंकणं तथा। चूर्णयेच्च रसतो द्विगन्धकं गन्धतुल्यमथ ताम्रभस्मम्॥ लोहभस्म पलतुर्यकं तथा मर्दयेच्च पलपञ्चकै रसैः। चुक्रजैश्च विनिवेश्य सम्पुटे दापयेच्च पुटमत्र कौक्कुटम्॥ मर्दयेच्च पुनरेव तद्रसैर्निक्षिपेच्च मृतलोहशुल्वकम्। वेदयुग्मपलमात्रकम् क्रमात् त्रिंशदंशविषमत्र योजयेत्॥ महिषाज्यमधुमिश्रितं सदा सेवयेच्च किल वल्लपञ्चकम्। सोमराजिफलचूर्णकर्षकं सर्पिषा मधुयुतं लिहेदनु॥ तालकेश्वररसः सदा बुधैः कथ्यते सकलकुष्ठहा खलु॥" अर्थात् शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, मैनसिल, पारद, सुहागा; प्रत्येक १ पल, गन्धक २ पल, ताम्रभस्म २ पल, लोहभस्म चौथाई पल, इन्हें यथाविधि मिला कर चुक्र (चूका या अमलवेत) के ५ पल रस से मर्दन करें। पश्चात् सूखने पर सम्पुट में बन्द करके कुक्कुटपुट में फूँक दें। स्वाँगशीतल होने पर निकाल पीस कर उसमें लोहभस्म ४ पल, ताम्रभस्म २ पल और सम्पूर्ण का तीसवाँ भाग वत्सनाभविषचूर्ण मिलाकर अमलवेत के ही रस से घोटें। इसको वहाँ भी भैंस के घी के साथ ही सेवन करने का आदेश है। अनुपान भी बाकुचीचूर्ण और मधु तथा घी है॥ ४१—४६॥

सर्वकुष्ठान्तकतैलम्—

कृष्णाभ्रकं बलिवसां नीलज्योतीरसं रसम्।
कङ्गुणीनिम्बकार्पासतैलञ्चायसि मर्दयेत्॥
तज्जयेत् सर्वकुष्ठानि बहिरन्तश्च सेवितम्॥ ४७॥

काली अभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध तुत्थ तथा शुद्ध पारद, मालकंगुनी का तैल, निबौली का तैल, कपासबीजों का तैल; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इसको एक लोहे के पात्र में डाल कर अन्य द्रव्य मिला कर अच्छी तरह घोटें। अब इसमें तैल से चतुर्गुण बाकुचीस्वरस मिला अग्नि में पकावें। तैलमात्र शेष रहने पर उतार कर रख लें। यह अन्तः तथा बाह्य प्रयोगविधि से सेवन करने से सब कुष्ठों को दूर करता है।

विशेष वचन—उक्त तैल यदि अन्तः प्रयोग के लिए बनाया जाय तो उसमें नीलज्योति के स्थान पर तुत्थ लेकर सबको तेज धूप में रख कर कल्क सा करके सेवन करना चाहिये। यदि तीनों तेल एक सेर हो तो अभ्रक आदि चार द्रव्य पृथक् २ पाँच तोला लेकर इनका कल्क तैल में मिला उसमें बावचीस्वरस डाल कर तैल सिद्ध करना चाहिये॥ ४७॥

कुष्ठविध्वंसनो लेपः—

रसटङ्कणगन्धार्कपिप्पलीकुष्ठचन्दनम्।
कुष्ठविध्वंसनो लेपो मातुलुङ्गाम्बुमर्दितः॥ ४८॥

शुद्ध पारद, सुहागा, शुद्ध गन्धक, आक का दूध, पिप्पलीचूर्ण, कूठचूर्ण, लाल चन्दनचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके पश्चात् उसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर बिजौरा नींबू के रस से अच्छी तरह घोट कर लेप बना लें। इस लेप को त्वक्रोगों में रुग्णस्थान को स्वच्छ करके लेप करने से त्वक् (कुष्ठ) रोग नष्ट होते हैं॥ ४८॥

कनकसुन्दरो रसः—

समतुलकनकोत्थव्योमसत्त्वोत्थपिष्टीं
द्विगुणरससमेतां गोलमध्ये विपाच्य।
त्रिकटुदहनवेल्लैर्वत्सनाभार्द्धभागै-
रससमनवशृङ्गीदारुयुक्तैः समस्तैः॥ ४९॥
अजसलिलविपिष्टैर्गुंजया तुल्यगोलः
कुपितकफसमुत्थं हन्ति कुष्ठं गरिष्ठम्।
तदपरमथ वातश्लेष्मजत्वग्विकारं
गुदगदमपि सर्वं वह्निमान्द्यं सुनिन्द्यम्॥ ५०॥

तुष्टेन शम्भुना दिष्टः सोऽयं कनकसुन्दरः ।
त्वग्विकारविनाशाय कुबेराय महात्मने ॥ ५१ ॥

स्वर्णपिष्टी (स्वर्णभस्म), अभ्रकसत्वपिष्टी (अभ्रकसत्वभस्म); प्रत्येक एक भाग, शुद्ध पारद दो भाग लेकर तीनों को एकत्र खरल में जम्बीरी नींबूके रस में मर्दन कर एक गोल मूषा में बन्द करके लघुपुट दें अथवा वालुकायन्त्र में पका लें। स्वांगशीत होने पर द्रव्य को निकाल उसमें सौंठ, मिरच, पिप्पली, चित्रक, विडंग का चूर्ण; प्रत्येक एक भाग, शुद्ध वत्सनाभविष आधा भाग, नूतन शृंगिक (वत्सनाभविष का भेद) विष तथा दारुहल्दी का चूर्ण; प्रत्येक दो भाग मिला कर पीस लें। पश्चात् इसको बकरी के मूत्र से मर्दन कर एक एक रत्ती की गोली बना लें। इनमें से एक एक गोली कुष्ठहर उचित अनुपान के साथ प्रतिदिन देने से यह वटी कफप्रकोपजन्य भयंकर कुष्ठ को शान्त करती है। इसके अतिरिक्त वातकफप्रकोपजन्य त्वग्-विकारों तथा अर्श, अग्निमान्द्य आदि सब रोगों को नष्ट करती है। यह 'कनकसुन्दर रस' प्रसन्न हुये शिवजी ने त्वचा के रोगों को शान्त करने के लिये कुबेर को बताया था।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में 'रससमनवशृंगी' के स्थान पर 'रससमविषमुष्टी' पाठान्तर पाया जाता है। चिकित्साक्रमवल्ली में इस रस का पाठ इस प्रकार है—"रससमकनकाख्यव्योमसत्वोत्थपिष्टिं। द्विगुणवलिसमेतां गोलमध्ये विपाच्य ॥ त्रिकटुदहनवेल्लैर्वत्सनाभार्द्धभागैः। रससमविषमुष्टीदारुयुक्तैः समस्तैः ॥ अजसलिलविपिष्टैः गुञ्जया तुल्यगोलः। कुपितकफसमुत्थं हन्ति कुष्ठं गरिष्ठम् ॥ तदपरमथ वातश्लेष्मजं त्वग्विकारम्। गुदगदमपि सर्वं हन्ति मान्द्यं सुनिन्द्यम् ॥ तुष्टेन शम्भुना दिष्टः सोऽयं कनकसुन्दरः। त्वग्विकारविनाशाय कुबेराय महात्मने ॥"

यह अधिक सरल और युक्तियुक्त पाठ है। प्रकृत पाठ में बिना गन्धक के रस का विधान है। परन्तु गन्धक के बिना पारद का उपयोग विरल ही पाया जाता है। साथ ही प्रकृत पाठ के अनुसार इस रस को बनाने में स्वर्ण तथा अभ्रकपिष्टी का पाक होने के स्थान पर दाह हो जाने की भी सम्भावना रहती है। अतः पिष्टी और पारद को किसी अम्ल से घोट कर गोला-सा बना लें और गोले से द्विगुण शुद्ध गन्धक लेकर आधा गन्धक गोल मूषा में भर कर उस पर गोला रख करके पुनः अवशिष्ट गन्धकचूर्ण डाल कर मूषामुख बन्द करके लघुपुट में केवल गन्धकमात्र जलने तक पकायें। स्वांगशीतल होने पर त्रिकटु आदि का चूर्ण मिला कर वटी बना लें। पिष्टियों के डालने से भी गोल मूषा में एक लघुपुट देने से उनकी भस्म होना सम्भव नहीं है। अतः पिष्टी के स्थान पर उनकी भस्म लेना ही उचित होगा ॥ ४९-५१ ॥

हरिबोलांकुशो रसः—

घनभवमृतसत्त्वं कान्तलोहार्कभस्म
त्रिगुणरससमेतं तुल्यगन्धेन युक्तम्।
समतुलकृतमेभिष्टंकणं ताप्यचूर्णं
हरिदलमथ बोलं खण्डसंज्ञं मनोज्ञम् ॥५२॥

अभ्रकसत्वभस्म, कान्तलोहभस्म, ताम्रभस्म; प्रत्येक एक एक भाग लें। शुद्ध पारद ३ भाग, शुद्ध गन्धक ६ भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर पीस लें। पश्चात् इसमें सुहागा, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध हरताल, हीराबोल तथा खाँड; ये परस्पर समभाग में (सब मिला कर) अभ्रकसत्वादि के समभाग मिला कर अच्छी तरह घोट कर चूर्ण कर लें। इसमें उचित मात्रा पूर्वक योग्य कुष्ठहर अनुपान के साथ देने से सब कुष्ठ रोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। तन्त्रान्तर में इस रस का गुण पाठ भी देखा जाता है, जैसे "हरति सकलकुष्ठं सन्निपातं सुघोरं श्वसनकसनसङ्गं सन्धिवातादिसंघम्। खदिरशशिकलानां क्वाथकल्कादियोगैर्मरिचयवजभार्ङ्गीक्वाथचूर्णादियोगैः ।" इस रस को त्वग्दोषहर द्रव्य, जैसे खदिरसार, बाकुची आदि औषधियों के क्वाथ या कल्क के अनुपान से प्रयोग करना चाहिये ॥

त्रिपुरान्तको रसः—

रसममृतमथापि शृंगबेरं विडङ्गं
मधुरदहनपाठासिन्धुवारश्च बन्ध्या।
त्रिफलकनकबीजं ऋद्धिवृद्धी निशे द्वे
छगलसलिलपिष्टं सर्वमेतेन जाता ॥५३॥
सुलघुबदरबीजस्थूलगोली नराणां।
हरति पवनपित्तश्लेष्मजञ्जातकुष्ठम् ॥५४॥
उक्तस्त्रिपुरया पूर्वं रसोऽयं त्रिपुरान्तकः।
सर्वदोषोत्थकुष्ठघ्नः कृपानिघ्नमनस्कया ॥५५॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), शुद्ध वत्सनाभ, सौंठचूर्ण, विडंगचूर्ण, मुलेठीचूर्ण, चित्रकचूर्ण, पाठाचूर्ण, सिम्भालूचूर्ण, बांझककोड़ाचूर्ण, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, धतूराबीजचूर्ण, ऋद्धिवृद्धिचूर्ण, हरिद्राचूर्ण, दारुहल्दीचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। फिर इसको बकरे के मूत्र में मर्दन कर छोटे बेर की गुठली के बराबर गोली बना लें। यह गोली वातपित्त तथा कफप्रकोपजन्य सब कुष्ठों को दूर करती है। सब से पूर्व दयालुप्रकृति की त्रिपुरा देवी (दुर्गा) ने इस त्रिपुरान्तक रस का वर्णन किया है। यह सर्वदोषजन्य कुष्ठों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में "रसममृतमथापि' के स्थान पर 'रससममृतशृंगं" पाठ मिलता है, जो उचित प्रतीत नहीं होता

है। यदि अमृत तथा शृंग से दो विष लिये जायँ तो विषों की मात्रा अधिक हो जायगी। अतः प्रकृत मूलपाठ ही ठीक प्रतीत होता है॥ ५३—५५॥

विश्वहितो रसः—

रसेन्द्रलिप्तताम्रस्य पत्रं गन्धकमारितम्।
तत्ताम्रं पलमात्रं हि पलमात्रं हि यावकम्॥ ५६॥
पलं चूर्णितशुद्धालं मर्दयेत्तु दिनत्रयम्।
इति सिद्धो रसः प्रोक्तो नाम्ना विश्वहितो हितः॥
वल्लाभ्यां तुलितः सेव्यो मरीचघृतसंयुतः॥ ५७॥

पारद और गन्धक के योग (कज्जली) से बनाई हुई तांबे की भस्म एक पल, यवक्षार एक पल, शुद्ध हरताल या रसमाणिक्य एक पल लें। इन सब को एकत्र खरल में तीन दिन तक घोट कर रख लें। इस प्रकार विश्वहित नामक यह रस तय्यार हो जाता है। इसमें से प्रतिदिन दो वल्ल मात्रा में घृत तथा मरिचचूर्ण के साथ सेवन करना चाहिये। यह रस सब कुष्ठों को शान्त करता है।

विशेष वचन—मात्रा आधी रत्ती से १ रत्ती तक। तन्त्रान्तर में इसको कुष्ठदावानलरस तथा विश्वेश्वररस नाम से लिखा है। 'यावकम्' के स्थान पर 'चाभ्रकम्' पाठ मिलता है। परन्तु 'यावकं' पाठ ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। जो 'पावकम्' पाठ मानते हैं वे पावक से चित्रक का ग्रहण करते हैं॥ ५६—५७॥

निर्गुण्ड्यादिप्रलेपः—

निर्गुण्डीतैलमध्वाज्यकुमारीशाल्मलीरसः।
यवो गन्धकपिष्टश्च लेपः कुष्ठक्षयापहः॥ ५८॥

निर्गुण्डीरस, कटुतैल, मधु, घृत, घीकुआर का गूदा, सेमल का स्वरस, जौ तथा गन्धक; सबको समभाग में लेकर एकत्र पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क का प्रतिदिन शरीर में लेप करने से कुष्ठ में होने वाले नासाभंग, अंगुलीक्षय, पतन आदि विकार कम हो जाते हैं॥ ५८॥

कुष्ठराक्षसः—

महानिम्बस्य सारेण मर्दितां गन्धपिष्टिकाम्।
अमृताबाकुचीकान्तात्रिफलाचूर्णसंयुताम्॥ ५९॥
भक्षयेदायसे न्यस्तां कुष्ठे पाणितलोन्मिताम्।
सा कुर्य्याल्लेपनात् कान्तिं षण्मासाद्वृद्धिमायुषः॥

समभाग पारद की कज्जली को महानिम्ब (बकायन [ड्रेक]) के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन करके उसमें गुडूची, बाकुची, प्रियंगुफल, हरड़, बहेड़ा, आँवला; इनका बारीक चूर्ण प्रत्येक पारद या गन्धक के समभाग मिला कर लोह के पात्र में रख छोड़ें। इसमें से प्रतिदिन एक कर्ष मात्रा में छः मास तक सेवन (आभ्यन्तर प्रयोग) करें और इसी का शरीर में लेप भी करें तो रोगी का शरीर कान्तिमान् तथा दीर्घजीवनयुक्त हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ६ रत्ती तक॥

व्योषादिगुटिका—

पालिकं व्योषसूताग्निगन्धकं सफलत्रयम्।
काकोडुम्बरिकाक्षीरैर्मर्दितं गुटिकीकृतम्॥
माषप्रमाणं सक्षौद्रं कुष्ठार्शःश्वासकासजित्॥ ६१॥

सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, शुद्ध पारद, चित्रकमूलचूर्ण, शुद्ध गन्धक, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर काकोदुम्बरिका (कठूमर) के दूध से अच्छी तरह मर्दन करके एक एक मासे की गोली बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली शहद में मिला कर खाने से कुष्ठ, अर्श, श्वास, कास दूर होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक॥

कुष्ठकुठारो रसः—

रसस्य कर्षः कर्षौ द्वौ गन्धकात् कज्जलं तयोः।
तिलपर्ण्येलिमुण्डीनां स्वरसैः कृतभावनम्॥ ६२॥
कर्षः कर्षो वचाधात्रीकणातीक्ष्णकृमिच्छिदाम्।
शाणं विषस्य कर्षार्द्धं जीरकस्य सितस्य च॥ ६३॥
पलार्द्धं मृतताम्रस्य तथा शुण्ठ्याश्च मर्दितम्।
भृङ्गाम्भसि घटे स्निग्धे पचेच्चणकसम्मिताः॥६४॥
वटिकाः कुष्ठविश्वाग्नित्रिफलासैन्धवान्विताः।
कुर्य्यात् कुष्ठकुठाराख्यो रसोऽयं सर्वकुष्ठजित्। ६५।

शुद्ध पारद एक कर्ष, शुद्ध गन्धक दो कर्ष लेकर इन दोनों की कज्जली कर लें। इसको रक्तचन्दन अथवा हुलहुल, भाँगरा, गोरखमुण्डी के स्वरस से पृथक् पृथक् एक एक दिन भावना देकर सुखा लें। फिर इसमें वच, आँवला, पिप्पली, तीक्ष्ण (लोह या राई), विडंग; प्रत्येक का चूर्ण एक एक कर्ष और शुद्ध वत्सनाभविष एक शाण, सफेद जीरा आधा कर्ष, ताम्रभस्म आधा पल (२ तोला), सौंठ का चूर्ण आधा पल मिला कर अच्छी तरह पीस लें। पश्चात् इसको एक चिकने (कलई किये हुये) पात्र में डाल सब द्रव्य की अपेक्षा आठगुना; भाँगरे का स्वरस मिला कर मन्द मन्द अग्नि से पकावें। जब पकते पकते चिकना गाढ़ा गोली बनने योग्य हो जाय तो उसमें पाक होने के कुछ समय पूर्व कुष्ठ, सौंठ, चित्रक, हरड़, बहेड़ा, आँवला तथा सैन्धवनमक का चूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर पक्वद्रव्य की अपेक्षा दशमांश मिला कर घोट करके चने के बराबर गोलियाँ बना लें। इसे 'कुष्ठकुठाररस' कहते हैं। यह सब प्रकार के कुष्ठों को दूर करता है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। कई इस रस को पारद गन्धक की कज्जली में वचा से लेकर ताम्रभस्म तक द्रव्य डाल

कर शुण्ठीकषाय से मर्दन करके भाँगरे के स्वरस में पकाने को कहते हैं। और कई भाँगरे के रस में पका कर गोलियाँ बना कर इनको कूठ, सौंठ, चित्रक आदि से चूर्ण के अनुपान से सेवन करने को कहते हैं। किसी विधि से सेवन और निर्माण करने पर गुणों में कोई परिवर्तन नहीं होता है॥ ६२--६५॥

गुञ्जाद्युद्वर्तनम्—

गुञ्जाचित्रकशङ्खचूर्णरजनी भल्लातकं लाङ्गली
स्नुक्क्षीरोत्तमकन्यका घनरवा धूमोद्गमः सूतकः।
गोमूत्रैडगजं विडङ्गमरिचं सक्षौद्रखारी जलं
पामादद्रुविचर्चिकाकिटिभजित् कण्डूघ्नमुद्वर्त्तनात्॥

सफेद रत्तियाँ, चित्रकमूलत्वक्, शंखचूर्ण, हरिद्राचूर्ण, शुद्ध भिलावा (दूध में पका कर शुद्ध किया हुआ), लांगली (कलिहारी), सेहुण्ड का दूध, शुद्ध मैनसिल, घीकुआर, घनरव (चौलाई), धूमोद्गम (गन्धक या घर का धुआँ), शुद्ध पारद, पंवाड़ के बीज, वायविडंग, कालीमिरच, खारी (महापारेवत, बड़ा अमरूद), जल (सुगन्धबाला); प्रत्येक का चूर्ण समभाग में लेकर एकत्र गोमूत्र में घोट कर शरीर में उबटना मलने से पामा, दाद, विचर्चिका, किटिभकुष्ठ, कण्डू (खुजली) दूर होती है।

विशेष वचन—कोई 'खारीजलं' से समुद्रलवणजल का ग्रहण करते हैं। रसेन्द्रसारसंग्रह में इसको तालेश्वर रस के नाम से लिखा है जिससे यह अर्थ निकलता है कि यह अन्तःप्रयोग (खाने) के लिये है। परन्तु यह भ्रमपूर्ण नाम है। क्योंकि इसमें ताल (हरताल) का कहीं नाम तक नहीं आता है। रसेन्द्रसारसंग्रह में इसका पाठ इस प्रकार है—"गुञ्जाशङ्खकरञ्जचूर्णरजनीभल्लातकग्निः शिखा कन्यार्सूर्यपयः पुनर्नवरजोगन्धस्तथा सूतकम्। गोमूत्रे पचितं विडङ्गमरिचैः-क्षौद्रश्च तत्तुल्यकं, हन्यादाशुविचर्चिकारुजमिदं कण्डूं तथा कैटिभम्॥ ६६॥

वज्रशेखरो रसः—

विष्णुक्रान्ता घनरसः सर्पाक्षी शंखपुष्पिका।
गोजिह्वा क्षीरिणी नीली ब्रह्मवृक्षो रुदन्तिका॥६७॥
निचुलः काकमाची च रसैरेषां विमर्दितम्।
पक्वं तुषकरीषाग्नौ रसाद्द्विगुणगन्धकम्॥६८॥
पर्पटीरसवत् पक्वं खसत्त्वेनारुणेन च।
पृथक् गन्धकतुल्येन ताप्येन च रसाङ्घ्रिणा॥६९॥
कृतावापं गता मुण्डीहस्तिकर्ण्यमृतालिकाः।
मूर्वाविदार्य्योश्च रसैर्मर्दितं घृतमिश्रितम्॥७०॥
कषाये दशमूलस्य विपक्वं लेहतां गतम्।
रसतुल्यत्रिजाताग्निव्योषयष्ट्याह्वसंयुतम्॥७१॥
स्निग्धभाण्डगतं कुष्ठी क्षयी च कृतशोधनः।
मञ्जिष्ठादिकषायस्य कृत्वा मासं निषेचनम्॥
माषप्रमाणं सेवेत रसोऽयं वज्रशेखरः॥७२॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर दोनों की कज्जली कर लें। फिर इसको विष्णुक्रान्ता (कोयल, अपराजिता), घनरस (मूर्वा या नेत्रबाला), नाकुली, शंखपुष्पी, बनगोभी, दूधी (छोटी) नील, ढाक (पलाश), रुदन्ती, जलबेत, मकोय; इनके स्वरस अथवा कषाय में पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन करके गोला-सा बना गीला ही शरावसम्पुट में बन्द कर तुष अथवा जंगली उपलों की अग्नि में पका लें (जिससे द्रवांश शुष्क हो जाय)। पश्चात् इसको निकाल पीस कर रसपर्पटी की भाँति इसकी पर्पटी बना लें। अब पर्पटी का चूर्ण करके उसमें लाल अभ्रकसत्व की भस्म दो भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म ½ चौथाई भाग मिला कर पीस लें। फिर इसको गोरखमुण्डी, हस्तिकर्णपलाश, गुडूची, आलिका (भाँगरा), मूर्वा, विदारीकन्द के स्वरस या कषाय से पृथक् २ एक एक दिन मर्दन करें। पश्चात् इसको एक पात्र में थोड़ा सा घृत डाल उसमें उक्त मर्दित द्रव्य को डाल कर अग्नि से किञ्चित् ही पकायें। पश्चात् इसमें दशमूल का कषाय डाल कर मन्द २ अग्नि से पकायें। जब पककर अवलेह सा हो जाय तो इसमें छोटी इलायचीबीज, दालचीनी, तेजपात, चित्रक, सौंठ, मिरच, पिप्पली तथा मुलेठी; प्रत्येक का चूर्ण एक एक भाग मिला कर एक स्निग्ध (चिकने) पात्र (अमृतवान या काँच की बड़ी शीशी) में रख लें। कुष्ठ के कारण क्षीणता को प्राप्त होने वाले रोगी को इस रस को सेवन करने से पहिले वमनविरेचन द्वारा शुद्ध करके इसमें से एक मासा मात्रा में लेकर प्रतिदिन एक मास तक मञ्जिष्ठादिकषाय के अनुपान के साथ सेवन करावें। इसे 'वज्रशेखर रस' कहते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ३ रत्ती से ४ रत्ती तक। यहाँ पर अरुण शब्द से लाल अभ्रक लिया गया है। परन्तु लाल अभ्रक का वर्णन बहुत ही कम मिलने तथा मिलने पर भी सत्वपातन में उपयोगी न होने से रक्ताभ्रक लेना ठीक नहीं प्रतीत होता है। अतः अरुण शब्द से वत्सनाभ का ग्रहण करना उचित है। इसका प्रयोग भी कुष्ठ में अधिक होता है॥ ६७—७२॥

कुष्ठविद्रावणतैलम्—

द्वात्रिंशत्पलबाकुचीशृतजलद्रोणाङ्घ्रिशेषे चतुर्विंशत्या दनुजस्य कान्तरसयोर्निष्कैः पृथक् पञ्चभिः।
ताम्बूलीरसमर्दितैस्तिलभवप्रस्थं शृतं चिक्कणे
पाके सत्यवताप्यं कल्कसहितं धान्ये द्विपक्षं क्षिपेत्॥
तत् क्षीरान्नाशिना पीतं लिप्तं कुष्ठकुलान्तकम्।
श्वित्रं दाहजमश्वेतं रूपमूलञ्च लुम्पति॥ ७४॥

बत्तीस पल बाकुची लेकर जौकुट करके एक द्रोण परिमाण जल में डाल कर कषाय करें। जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय,

उतार छान लें। अब शुद्ध गन्धक चौबीस निष्क, लोहभस्म पाँच निष्क, शुद्ध गन्धक पाँच निष्क लेकर पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें और उसमें लोह-भस्म मिला कर पान के पत्तों के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन करके कल्क बना लें। फिर इस कल्क को एक चिकने कलई किये हुये पात्र में डाल इसमें उक्त बाकुचीकषाय मिला दें और तिलतैल भी एक प्रस्थ उसमें मिला कर स्नेहसाधनविधि से पकावें। जब स्नेहपाक ठीक हो जाय तो उतार कर कल्क सहित ही तैल को किसी पात्र में बन्द करके एक महीने तक धानों की खत्ती में दबा दें। पश्चात् इसमें से उचित मात्रा में कुष्ठी को पिलायें और दूध भात भोजन में देवें। पिलाने के अतिरिक्त इस तैल का कल्क सहित ही शरीर में लेप भी करना चाहिये। यह तैल सम्पूर्ण कुष्ठों को शान्त करता है। इसके अतिरिक्त दोषप्रकोप-जन्य सफेद कोढ़, अग्निदाह जन्य सफेद कोढ़, अश्वेत ताम्रवर्ण श्वित्रकुष्ठ, रूपमूल (रजतवर्ण श्वित्र कुष्ठ अथवा रजतशलाका या Silver Nitrate से दग्ध करने पर उत्पन्न हुए श्वित्रकुष्ठ) को यह तैल मालिश करने से शान्त करता है।

विशेष वचन—तैल की पानीय मात्रा ३ मासे से ६ मासा तक ॥ ७३-७४ ॥

दद्रुकुष्ठविद्रावणरसः—

रसगन्धकताप्याभ्रकान्तकृष्णाभ्रभस्मकम्।
हिङ्गुलं मधुकं कुष्ठं सर्वं समविभागिकम् ॥ ७५ ॥
अम्लवेतसतोयेन त्रिदिनं परिमर्दयेत्।
विशोष्याऽऽज्यमधुभ्याञ्च मृदित्वा त्रिदिनं पुनः ।७६।
दत्त्वा जीर्णं गुडं तुल्यं कोलास्थिप्रमिता वटीः।
छायाशुष्काः प्रकुर्वीत शम्भोरग्रे च पूजयेत् ॥ ७७ ॥
इयं हि पञ्चाङ्गकृताभिधाना नागार्जुनोक्ता गुटिका च नूनम्।
सर्वाणि कुष्ठानि विचर्चिकाञ्च दद्रूणि विद्रावयति क्षणेन।

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्णमाक्षिकभस्म, कृष्णअभ्रकभस्म, कान्तलोहभस्म; शुद्ध हरताल, शुद्ध हिंगुल, मुलेठीचूर्ण, कूठचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर अमलवेत के स्वरस अथवा कषाय से तीन दिन तक मर्दन करें और सुखा लें। फिर इसे तीन दिन तक शहत और घी के साथ मर्दन करें। पश्चात् इसमें सब के बराबर पुराना गुड़ डाल कर मर्दन करके बेर की गुठली के बराबर गोली बना लें और छाया में सुखा कर रख लें। इन गोलियों को शिवजी के आगे रख कर शिव की पूजा करें। तत्पश्चात् इन का सेवन करें। नागार्जुनाचार्य द्वारा कहा हुआ यह रस पञ्चांगकृत वटी नाम से भी प्रसिद्ध है। ये गोलियाँ सब प्रकार के कुष्ठ विचर्चिका, दद्रु (दाद); इन सब रोगों को क्षण भर में निःसन्देह दूर कर देती हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक। "रसगन्धकताप्याभ्र" के स्थान पर 'रसगन्धकताप्याल' पाठ उचित है। अभ्रकभस्म को द्विगुण मात्रा में डालने से उतना लाभ नहीं होगा जितना कि हरताल के डालने से; क्योंकि हरताल कुष्ठ की महौषधि है ॥ ७५—७८ ॥

माणिक्यतिलकरसः—

रसगन्धकताप्यालकान्ततीक्ष्णाभ्रभस्मकम्।
हिङ्गुलं मधुकं कुष्ठं सर्वं समविभागिकम् ॥७९॥
शतमूलीनिजद्रावैर्मञ्जिष्ठादिकषायतः।
त्रिदिनं त्रिदिनं सम्यक् परिमर्द्य विशोष्य च ॥ ८० ॥
ततस्तु पक्वमूषायां सन्निरुध्यातियत्नतः।
प्रक्षिप्य वालुकायन्त्रे प्रपुटेत् दिवसद्वयम् ॥ ८१ ॥
माणिक्यतिलको नाम रसो नासत्यकीर्तितः।
एष कुष्ठं हरत्याशु सन्मित्रमिव हृद्व्यथाम् ॥८२॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध हरताल, कान्तलोहभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध हिंगुलु, मुलेठीचूर्ण, कूठचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक तथा हिंगुल को एकत्र कर कज्जली कर लें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर शतावर के स्वरस या कषाय से तीन दिन मर्दन करके सुखा लें। पश्चात् इसको मञ्जिष्ठादिकषाय से तीन दिन तक मर्दन करके सुखा लें। और मूषा में बन्द करके सन्धिलेप के साथ अच्छी तरह कपड़मिट्टी कर दें। पश्चात् इस मूषा को बालुकायन्त्र के बीच में रख कर दो दिन तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। यह 'माणिक्यतिलक रस' कहा जाता है। यह कभी विफल सिद्ध नहीं होता है। इसके सेवन से कुष्ठ रोग उसी तरह दूर हो जाता है जिस प्रकार सच्चे मित्र से हृदय की वेदना दूर होती है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती। 'नासत्यकीर्तितः' का अर्थ "अश्विनीकुमारों द्वारा वर्णन किया गया है" ऐसा भी होता है ॥ ७९—८२ ॥

परहितो रसः—

श्वेतः पाठा जटा श्वेता श्वेता चैव पुनर्नवा।
पिष्ट्वा जलेन तत्कल्कैः प्रकुर्य्यान्नालमूषिकाम् ॥८३॥
स्थालीमध्ये च तां क्षिप्त्वा क्षिपेत् संशोधितं रसम्।
क्षिपेदुपरि सम्पेष्य द्व्यञ्जलिप्रमितं पटु ॥८४॥
पिधानं तन्मुखे दत्त्वा सन्निरुध्यातियत्नतः।
अधस्ताज्ज्वालयेद्वह्निं पिधान्यामम्बु निक्षिपेत् ॥८५॥
यामत्रितयपर्यन्तं जातेऽथ शिशिरे ततः।
क्रोडकेशैः समाकृष्य मृतं पारदमाहरेत् ॥

न चेदेतावता भस्म पुनरेव पुटेद्रसम् ॥८६॥
तद्भस्मातिविषं विषं कृमिहरं व्योषोत्तमा गन्धजं
चूर्णं द्वादशहाटकं खलु गुडो द्वात्रिंशदंशोन्मितः ।
तत्सर्वं परिचूर्णितं प्रतिदिनं वल्लैश्चतुर्भिर्मितं
चेत्थं हन्ति समस्तरोगनिवहं नागं गरुत्मानिव ॥
विशेषात्सर्वकुष्ठघ्नो रसोऽयं परिकीर्तितः ।
ख्यातः परहितो नाम्ना भानुना भूरिभानुना ॥८८॥

सफेद आक की जड़, पाठा, जटामांसी, सफेद कोयल, सफेद-पुनर्नवामूल; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र जल के साथ पीस कर इसकी गोस्तनाकार मल्लमूषा बना लें। मूषा के सूख जाने पर इसमें शुद्ध पारद भर दें। अब इस मूषा को एक बड़ी हाँडी के भीतर बीच में रख मूषा के चारों तरफ ऊपर तक दो अञ्जलि (३२ तोला) सैन्धानमक पीस कर डाल दें और हाँडी के मुख पर एक सीधा मुँह मिट्टी का गहरा शराव रख कर हाँडी सहित अच्छी तरह सन्धिलेप करके सुखा लें। अब हाँडी को चूल्हे में रख शराव में ठंडा पानी भर दें। हाँडी के नीचे तीन पहर तक तीव्र अग्नि जलावें। स्वांगशीत होने पर सावधानी से पानी वाले शराव को उतार कर उसके नीचे लगी हुई पारद की भस्म को सूअर के बालों के ब्रुश (Brush) से पोंछ कर निकाल लें। यदि पूरी भस्म न हुई हो या पूरा पारद न उड़ा हो तो पुनः मूषा में रख कर उक्त विधि से हाँडी में बन्द करके पका लें। इस प्रकार प्राप्त की हुई पारदभस्म एक भाग, अतिविषाचूर्ण, शुद्ध वत्सनाभ, विडंगचूर्ण, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, हरड़-चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, शुद्ध गन्धकचूर्ण; प्रत्येक एक भाग स्वर्णभस्म एक भाग लेकर सबको एकत्र खरल में घोट लें। पश्चात् इसमें बत्तीस भाग पुराना गुड़ मिला कर घोट कर ४ रत्ती की गोली बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक गोली सेवन करने से सम्पूर्ण रोग इस प्रकार शीघ्र नष्ट होते हैं जैसे गरुड़ (पक्षिराज) के द्वारा सर्प तथा सर्पविष। परन्तु यह रस विशेषकर सब प्रकार के कुष्ठों को नाश करने में सर्वोत्तम है। इस 'परहित' नामक रस को अत्यन्त प्रतापशाली श्रीभानु नामक आचार्य ने वर्णन किया है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। इसमें उड़ा हुआ पारद यद्यपि भस्म के नाम से लिखा है तथापि यह रस कर्पूर के रूप में मिलता है। इसमें स्वर्ण और गन्धक मिल जाने से यह दिव्य औषधि बन जाती है। यदि कुष्ठरोग उपदंशजन्य हो तो इसमें गन्धक न मिला कर प्रयोग किया जाय तो यह आश्चर्यकारी प्रभाव दिखाता है। "श्वेतः पाठा जटा श्वेता श्वेता चैव पुनर्नवा" के स्थान पर "श्वेतां पाठां जटां श्वेतां श्वेतां चैव पुनर्नवाम्।" पाठ अधिक सरल है। कहीं कहीं 'श्वेतपाठाजटा' ऐसा समस्तपद पाठ है। 'नालमूषिकाम्' के स्थान पर 'मल्लमूषिका' पाठ अधिक अच्छा है। कोई "द्वादशहाटकं" से स्वर्णभस्म बारह तोला या भाग लेते हैं॥ ८३-८८॥

तालकेश्वरो रसः—

वीर्य्यं पुरारेरिह नागतुल्यं भागद्वयञ्चाप्यथ तालकस्य ।
शुद्धेन नागेन रसो विशुद्धो विमर्दनीयो हरितालिकञ्च ॥
मूत्रं गवां षोडशभागमानं निधाय भाण्डेऽथ पिधाय तस्मिन् ॥
दीपाग्निना तत् परिशोष्य सर्वं मूत्रं ततस्तालकशुद्धता स्यात् ॥
ततस्तु जम्बीररसेन सर्वं विमर्दनीयं त्रिदिनं त्रिवारम् ।
भाव्यं कुमार्य्याः सलिलेन भृङ्गवज्राह्वकन्देन च वारयुग्मम् ॥
कुष्ठे ददीतास्य रसस्य वल्लत्रयं रसैरार्द्रकजैर्विजेतुम् ।
शाखासु पक्वत्वमथो सुषुप्तिं स्तम्भञ्च मन्यास्वथ मण्डलानि ॥
गवां पयः शर्करया समेतं स्तम्भातिरेके सति सन्नियोज्यम् ।
औडुम्बरं हन्ति सितामधुभ्यां कृष्णाञ्च कुष्ठं त्रिफलारसेन ॥
गुडार्द्रकाभ्यां गजचर्मसिध्मविचर्चिकास्फोटविसर्पदद्रून् ।
निहन्ति पाण्डुं विविधां विपादीं सरक्तपित्तां कटुकीसिताभ्याम्
रोगेषु सर्वेष्वपि वासराणि त्रिसप्तसङ्ख्यानि रसः प्रदेयः ।
रसप्रयोगावसितौ सुषुप्त्यां क्वाथं पिबेच्छिन्नरुहासनोत्थम् ॥
मासद्वयं मुद्गघृतान्विताम्नं पथ्यं ततो डुम्बरभेषजान्ते ।
अङ्गानि पञ्चापि पलोन्मितानि दद्यादरिष्टस्य तथाऽऽढकीनम्
क्वाथेन युक्तं सघृतौदनञ्च पथ्याय कृष्णेऽप्यथ कृष्णवर्णे ।
रसावसाने सितया समेतां पादोन्मितामामलकीं प्रदद्यात् ॥
अन्नं समुद्गं सघृतं नियोज्यं मासद्वयं स्यादथवा विचिह्नम् ।
रसप्रयोगावसितौ प्रयुञ्ज्यादङ्गानि पञ्च स्वर्णनिःसृताति ॥
पादोन्मितानीह च मासयुग्मं पथ्याय दुग्धौदनमाददीत ।
स्यात्तालकेशाख्यरसप्रयोगे तक्रञ्च मांसञ्च विवर्जनीयम् ॥

शुद्ध पारद १ भाग (१ तोला), नागभस्म १ भाग, शुद्ध हरताल २ भाग लें। इस रस में प्रयोग करने के लिए पहिले हरताल को सोलह गुने गोमूत्र से शुद्ध करना चाहिये। एक हाँडी में हरताल और उससे सोलह गुना गोमूत्र डाल कर मुँह बन्द कर दें और चूल्हे पर रख कर दीप्ताग्नि से पकायें। जब गोमूत्र सूख जाय तब हरताल को निकाल लें। फिर पारद और हरताल की कज्जली करके उसमें नागभस्म मिला कर घोटें। पश्चात् इसको जम्बीर नींबू के रस से तीन बार मर्दन करें, प्रति बार तीन दिन मर्दन करना चाहिये। अन्त में सूख जाने पर घीकुआर, भाँगरा और वज्रकन्द (थोहर); इनके रसों से दो दो बार मर्दन कर सुखा लें। इसमें से तीन वल्ल मात्रा में लेकर अदरख के रस में मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से कुष्ठरोग नष्ट होता है। यह रस हाथ पैर में फैले हुए और पके हुये शून्यता से युक्त अंगों वाले कुष्ठ तथा मण्डलकुष्ठ को और मन्या नामक नाड़ी के स्तम्भ को हटाता है।

यदि स्तम्भ (जकड़ाव) अत्यधिक हो तो गौ के दूध में खाँड डाल रोगी को पथ्य में दें। औदुम्बरकुष्ठ में इस तालकेश्वररस को खाँड और शहत से, कृष्णकुष्ठ में त्रिफलास्वरस या कषाय के साथ देना चाहिये। यह रस गुड़ और अदरख के रस के साथ देने पर गज-चर्म, सिध्म, विचर्चिका, विस्फोट, विसर्प तथा दाह को हटाता है। कटुकी और खाँड के साथ पाण्डुरोग तथा अनेकविध विपादिका को दूर करता है। सब रोगों मे इसे इक्कीस दिन सेवन करना चाहिये। रसप्रयोग की समाप्ति पर शरीर के कुष्ठयुक्त स्थान पर अथवा अन्य स्थान पर सुप्तुप्ति (शून्यता) होने पर गिलोय और असन की छाल का कषाय पीने को देना चाहिये। और दो मास तक मूंग और गोघृतयुक्त अन्न (ओदन) खाने को देना चाहिये। औदुम्बरकुष्ठ में रसप्रयोग की समाप्ति पर नीम के पञ्चांग का प्रयोग (चूर्ण या कषाय अथवा कल्क के रूप में) कराना चाहिये। अथवा अरहर की जड़ का क्वाथ पीने को देना चाहिये और पथ्य में घृतयुक्त भात होना चाहिये। कृष्णवर्ण के कृष्णकुष्ठ (वातिककुष्ठ) में रसप्रयोग के अनन्तर आँवले के चूर्ण में खाँड मिला कर देना चाहिये और पथ्य में दो मास तक घृतयुक्त वही मूँग का यूष और भात देना हितकर है। अथवा जबतक कुष्ठ के लक्षण हट न जायँ तब तक सुवृक्ष (खदिरविशेष) के पञ्चांग का प्रयोग करना चाहिये। पथ्य में दो मास तक दूध भात दें। इस रस के प्रयोग के काल में तक्र तथा मांस का त्याग करना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती। रसेन्द्रचिन्तामणि तथा रसरत्नसमुच्चय में भी इससे मिलता जुलता ही एक राजतालेश्वर है। जैसे—'नागस्य भस्म शाणैकं तोलकं गन्धकस्य च। द्विनिष्कं शुद्धतालस्य सर्वमेतद्द्रवां जलैः॥ विपचेत् षोडशगुणैः पात्रे ताम्रमये शनैः। घर्मे द्विघस्रं जम्बीरकुमारीवज्रकन्दजैः॥ रसैर्भृंगस्य चाम्भोभिः युतं वल्लद्वयं भजेत्। कुष्ठे चास्थिगते चापि शाखानासाविभुग्नके॥ स्वरभंगे क्षतक्षीणे मण्डलेषु महत्स्वपि। औदुम्बरं हन्ति शिवामधुभ्यां कृच्छ्रञ्च कुष्ठं त्रिफलाजलेन॥ गुडार्द्रकाभ्यां गजचर्मसिध्मविचर्चिकास्फोटविसर्पकण्डूम्। निहन्ति पाण्डुं विविधां विपादीं सरक्तपित्तां कटुकासिताभ्याम्॥ खादेद्द्विजीरं त्वमृतायुतञ्च समुद्रयूषं सघृतञ्च दद्यात्। रोहीतकजटाक्वाथमनुपानं प्रयच्छति॥ चतुर्दशदिनस्यान्ते कुष्ठं शुष्यति यत्नतः। क्षुद्बोधो जायतेऽत्यर्थमत्यर्थं सुभगं वपुः॥ अत्यर्थं पच्यते मुक्तमत्यर्थं सुखमाप्नुयात्। अरुणौदुम्बरं कुष्ठमृष्यजिह्वां कपालिकाम्॥ पुण्डरीकं काकणञ्च दद्रुकुष्ठं सुदुस्तरम्। स्फुटरूपं सर्वकुष्ठं महाकुष्ठं सुदारुणम्॥ तथा चर्मदलं हन्यात् विसर्पं परिसर्पकम्। सिध्मं विचर्चिकां गाढां किटिभञ्च विशेषतः॥ पामाञ्चालसकञ्चैव किलासञ्च विनाशयेत्। वर्जयेत्सततं कुष्ठी मत्स्यमांसादिभोजनम्॥" इसके अनुसार नागभस्म १ शाण, शुद्ध गन्धक १ तोला, शुद्ध हरताल २ शाण भर लें। सबको एकत्र पीस इनसे सोलह गुना गोमूत्र इसमें डाल एक ताम्बे के पात्र में मन्द २ अग्नि से धीरे धीरे पकावें। गोमूत्र के सूख जानेपर नीचे उतार ठंडा करके जम्बीररस, घीकुआर, वज्रकन्द तथा भाँगरा इनके रस से क्रमशः दो दो दिन धूप में भावित करें। इसे तीन रत्ती मात्रा से जल से सेवन करें तो हड्डियोंमें पहुँचे हुए कोढ़ को तथा शाखा (हाथ पैर) तथा नासिकाभंगयुक्त कुष्ठ को, स्वरभंग, क्षतक्षीण, अधिक स्थान में फैले हुए मण्डलकुष्ठ को भी यह रस नाश करता है। प्रकृत रस में पारद मात्र लिखा हुआ है। परन्तु पारदके साथ गन्धक भी डालना चाहिये। इसी तरह प्रकृत ग्रन्थ में 'शिवा' के स्थानपर 'सिता' पाठ है। 'कृच्छ्रं' के स्थानपर 'कृष्णं' पाठ है। तन्त्रान्तरोक्त राजतालेश्वर रसमें हरताल को गोमूत्र से पृथक् शोधन नहीं किया है। और १४ दिन सेवन करने के बाद कुष्ठ के व्रण सूख जाते हैं ऐसा लिखा है। परन्तु रोहड़े की जड़ का कषाय अनुपान लिखा है ॥८९—९९॥

खगेश्वरो रसः—

पलेन प्रमितः सूतः पलेन प्रमिता वसा।
खगः पलमितः सर्वं मर्दयेदर्जुनद्रवैः ॥१००॥
गोलीकृत्य विशोष्याथ गोलं कूप्यां निरुध्य च।
ततस्तां सुदृढे भाण्डे मूषां क्षिप्त्वा निरुध्य च ॥१०१॥
पचेत्सार्द्धदिनं पश्चात्स्वाङ्गशीतं विचूर्णयेत्।
खगेश्वरो रसो वल्लप्रमितः कुटजान्वितः ॥१०२॥
श्वेतकुष्ठं निहन्त्याशु श्वासकासगदानपि।
सघृतः पित्तजं कुष्ठं मधुना मेहमेव च॥
पथ्यं दोषानुरूपेण बुद्धेन मुनिनोदितम् ॥१०३॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक (वसा) और शुद्ध कसीस या स्वर्णमाक्षिकभस्म अथवा तुत्थभस्म; प्रत्येक एक एक पल लें। पहिले पारद गन्धक की कजली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर अर्जुन के स्वरस से मर्दन कर गोला-सा बना लें और सुखा लें। पश्चात् इस गोले को एक मूषा में बन्द करके कपड़ मिट्टी कर दें। अब इस मूषा को एक दृढ़ हाँडी में आधा बालू भर कर रख दें और ऊपर बालुका डाल कर मुख बन्द करके चूल्हे पर रख कर ३६ घण्टे की मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीत होनेपर मूषा के द्रव्य को निकाल पीस लें। इस प्रकार 'खगेश्वर रस' तय्यार होता है। इसको एक वल्ल मात्रा में कुटजकषाय के साथ सेवन करने से सफ़ेद कोढ़ तथा श्वास और कास रोग नष्ट होते हैं। यह रस घृत (पञ्चतिक्त) के अनुपान से पित्तप्रकोपजन्य कुष्ठ को, मधु के अनुपान से प्रमेह को तथा विविध रोगानुकूल अनुपान से अन्य रोगों को भी नष्ट करता है। इसको बुद्ध मुनिने वर्णन किया है।

विशेष वचन—'पलेन प्रमितः' के स्थानपर 'पलद्वयमितः' और 'पलमितः' के स्थान पर 'पञ्चपलः' पाठ भी पाया जाता है ॥

कुष्ठनाशनो रसः—

सूतभस्म द्विनिष्कं स्याद्गन्धकं च चतुष्पलम् ।
सार्द्धं चतुष्पलं चित्रं चतुर्विंशत्पलं भवेत् ॥१०४॥
बाकुचीबीजचूर्णं स्याद्द्वादशघ्नं मरीचकम् ।
सर्वमेकत्र संयोज्य निष्कद्वितयसम्मितम् ॥
मधुना लेहयेत्प्रातः सर्वकुष्ठविनाशनम् ॥ १०५ ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर) दो निष्क, शुद्ध गन्धक चार पल, चित्रकमूल चूर्ण साढ़े चार पल, बावचीबीज का चूर्ण चौबीस पल, कालीमिरच का चूर्ण बारह पल लें। पहिले पारद और गन्धक को एकत्र पीस कर कज्जली कर लें, फिर उसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर अच्छी तरह घोट लें। इसमें से प्रतिदिन दो निष्क मात्रा में लेकर मधु के साथ प्रातःकाल सेवन करने से सर्व कुष्ठ रोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक ॥

आरोग्यवर्द्धिनी गुटिका—

रसगन्धकलोहाभ्रशुल्वभस्म समांशकम् ।
त्रिफला द्विगुणा प्रोक्ता त्रिगुणश्च शिलाजतु ॥१०६॥
चतुर्गुणं पुरं शुद्धं चित्रमूलं च तत्समम् ।
तिक्ता सर्वसमा ज्ञेया सर्वं सञ्चूर्ण्य यत्नतः ॥ १०७॥
निम्बवृक्षदलाम्भोभिर्मर्दयेद्द्विदिनावधि ।
ततश्च वटिका कार्या राजकोलफलोपमा ॥१०८॥
मण्डलं सेविता सैषा हन्ति कुष्ठान्यशेषतः ।
वातपित्तकफोद्भूतान् ज्वरान्नानाप्रकारजान् ॥१०९॥
देया पञ्चदिने जाते ज्वरे रोगे वटी शुभा ।
पाचनी दीपनी पथ्या हृद्या मेदोविनाशिनी ॥११०॥
मलशुद्धिकरी नित्यं दुर्धर्षक्षुत्प्रवर्तिनी ।
बहुनात्र किमुक्तेन सर्वरोगेषु शस्यते ॥ १११ ॥
आरोग्यवर्द्धिनी नाम्ना गुटिकेयं प्रकीर्तिता ।
सर्वरोगप्रशमनी श्रीनागार्जुनयोगिना ॥ ११२ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लोहभस्म, अभ्रकभस्म, ताम्रभस्म; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कजली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर पीस लें। फिर इसमें सब चूर्ण की अपेक्षा त्रिफलाचूर्ण दो गुना, शुद्ध शिलाजीत तिगुना, शुद्ध गूगल चार गुना, चित्रकमूलचूर्ण चार गुना मिला लें। अन्त में सब के बराबर अर्थात् सर्वसमुदाय के बराबर कटुकी का चूर्ण मिला लें। और नीम के पत्तों के स्वरस से दो दिन तक मर्दन करके छोटे बेर के बराबर गोलियाँ बना लें। यह वटी प्रतिदिन ४०–४५ दिन तक बराबर सेवन करने से सब कुष्ठों को नष्ट करती है। और वात पित्त कफ इन तीनों दोषों से उत्पन्न विविध प्रकार के ज्वरों को भी यह वटी नष्ट करती है। ज्वर उत्पन्न होने के पाँचवें दिन देने से यह अच्छा कार्य करती है। यह वटी दीपक, पाचक, सर्वरोगों में लाभदायक, हृदय के लिये हितकर तथा मेदोदोष को नष्ट करती है। इसके सेवन करने से आँतें स्वच्छ रहती हैं। मल साफ आता है। कुछ दिनों में ही क्षुधा अत्यन्त तीव्र हो जाती है। इसके विषय में बहुत प्रशंसा करना व्यर्थ है। यह सब रोगों में लाभदायक है। यह 'आरोग्यवर्द्धिनी वटी' के नाम से प्रसिद्ध औषधि है। सर्वरोगशामक इस वटी को श्रीनागार्जुनाचार्य ने वर्णन किया है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ३ रत्ती से ४ रत्ती तक। यह वटी बहुत ही प्रसिद्ध और लाभदायक रसायन है। यह किसी भी रोग में विशेषतः उदरसम्बन्धी रोग, जैसे यकृत्, पित्ताशयशोथशूल, आन्त्रदौर्बल्य, मलबन्ध, अग्निमान्द्य आदि में विशेष लाभ करती है। कई वैद्य इसमें पारद आदि पाँच द्रव्यों को प्रत्येक एक भाग, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) प्रत्येक दो भाग, शिलाजतु तीन भाग, गूगल और चित्रकमूलचूर्ण; प्रत्येक चार भाग, और कुटकीचूर्ण सबके बराबर भाग लेने को कहते हैं ॥ ११२ ॥

नारायणरसः—

रसभस्मसमानेन गन्धकेन समन्वितम् ।
तुल्यभागपुरोपेतं तुल्यत्रिफलयाऽन्वितम् ॥ ११३ ॥
वातारितैलसंयुक्तं सेवितश्च पलोन्मितम् ।
मासेन नाशयेत्कुष्ठं दुःसाध्यमपि देहिनाम् ॥ ११४ ॥
क्षयं भगन्दरं शूलं मूलं गुल्मं च पाण्डुताम् ।
ग्रहणीं च महाघोरां मन्दाग्निमपि दुस्तरम् ॥ ११५ ॥
एवंविधान्महारोगान् विनिहन्ति न संशयः ।
श्लेष्मरोगान् हरेत्सर्वान् रसो नारायणाभिधः ॥११६॥

पारदभस्म (रससिन्दूर) शुद्ध गन्धक; प्रत्येक एक एक भाग लेकर कज्जली कर लें। फिर इसमें दो भाग शुद्ध गूगल, हरड़, बहेड़ा, आँवलाचूर्ण परस्पर समभाग में लेकर चार भाग, मिला कर जल से मर्दन करके गोली बना लें। इसमें से प्रतिदिन उचित मात्रा में लेकर शुद्ध एरण्डतैल के साथ (एक पल ४ तोला) सेवन करने से एक महीने में ही मनुष्यों के कठिन साध्यकुष्ठ दूर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह रस क्षय, भगन्दर, शूल, गुल्म, पाण्डुरोग, भयानक संग्रहणी, अत्यन्त मन्दाग्नि आदि भयानक रोगों को नष्ट करता है, इसमें सन्देह नहीं। कफप्रकोपजन्य रोगों को नष्ट करने में यह 'नारायणरस' उत्तम माना जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। किसी किसी ग्रन्थ में "विनिहन्ति न संशयः" इसके बाद "विकृतं

च व्रणं चापि ज्वरानपि विशेषतः। षण्मासेन जरां मृत्यु पलितं वलितं हरेत् ॥" इतना अधिक पाठ मिलता है ॥ ११३-११५ ॥

मेदिनीसाररसः—

पलत्रयं मृतं लोहं मृतं शुल्वं पलत्रयम्।
भृङ्गराजाम्बुगोमूत्रत्रिफलाक्वथितैः पृथक् ॥ ११७ ॥
पुटेत्त्रिवारं यत्नेन ततस्तस्मिन् विनिक्षिपेत्।
अत्यम्लकाञ्जिकं पश्चात्पचेद्यामचतुष्टयम् ॥ ११८ ॥
ततश्च तुल्यगन्धेन पुटानां विंशतिं पचेत्।
पलमात्रं मृतं सूतं रुद्रांशममृतं तथा ॥ ११९ ॥
कटुत्रयं समं सर्वैः पिष्ट्वा सम्यग्विधारयेत्।
रसोऽयं मेदिनीसारो नन्दिना परिकीर्तितः ॥ १२० ॥
सेवितो वल्लमानेन घृतत्रिकटुकान्वितः।
हन्ति कुष्ठानि सर्वाणि श्वित्राणि विविधानि च ॥१२१॥
गुल्मं प्लीहामयं हिक्कां शूलरोगं क्षयं तथा।
उदावर्तं महावातं कफं मन्दानलं तथा ॥ १२२ ॥
गलग्रहं मदोन्मादं कर्णदन्तामयं तथा।
सर्पाधिकं विषं घोरं व्रणं लूताभगन्दरम्।
विद्रधिं चान्त्रवृद्धिं च शिरस्तोदं च नाशयेत् ॥१२३॥

लोहभस्म ३ पल, ताम्रभस्म ३ पल लेकर दोनों को एकत्र खरल में डाल कर भाँगरास्वरस, गोमूत्र तथा त्रिफलाकषाय में पृथक् पृथक् मर्दन करके लघुपुट में फूँक दें। पश्चात् इसे पीस कर इसमें अत्यन्त खट्टी काञ्जी डाल कर चार पहर तक मन्द मन्द अग्नि से कढ़ाई में पकावें। तत्पश्चात् इसमें समभाग गन्धक मिला पीस कर शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट में फूँक दें। इस प्रकार समभाग गन्धक के साथ मिला कर बीस लघुपुट दें। अन्त में स्वांगशीत होने पर औषधि को निकाल पीस कर इसमें पारदभस्म (रससिन्दूर) १ पल, शुद्ध वत्सनाभचूर्ण पल का ११ वाँ भाग, सौंठ, मिरच, पिप्पली का समभाग चूर्ण सब के बराबर भाग मिला कर अच्छी तरह पीस कर रख लें। यह 'मेदनीसार रस' कहा जाता है। इसको श्रीनन्दी आचार्य ने वर्णन किया है। इसको एक वल्ल मात्रा में लेकर त्रिकटुचूर्ण तथा घी के साथ प्रतिदिन सेवन करें। यह सब प्रकार के कुष्ठ तथा श्वित्रकुष्ठ (सफेद कोढ़), गुल्म, प्लीहारोग, हिचकी, शूल, क्षय, उदावर्त, महावात (मेदकफावृत वातव्याधि), कफप्रकोप, मन्दाग्नि, गल के रोग, उन्मादरोग या अधिक मद्यपानजन्य उन्मादरोग, कान तथा दाँतों के रोग, सर्प-बिच्छू आदि के भयंकर विष, व्रण, लूता (मकड़ी का विष), भगन्दररोग, विद्रधि, आन्त्रवृद्धि, शिरःशूल रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—'सर्पाधिकं' के स्थान पर 'सर्पादिजं' पाठ उचित है। इसी तरह 'लूताभगन्दरम्' इस समस्त पद पाठ के स्थान पर 'लूतां भगन्दरम्' पृथक् पाठ है। तन्त्रान्तर में 'विनाशयेत्' के अनन्तर "दधिमूलकमाषान्नविदाहीनि गुरूणि च। पापकर्माणि सर्वाणि कुष्ठयुक्तो विवर्जयेत् ॥" इतना अधिक पाठ मिलता है॥

जन्तुघ्नी गुटिका—

सूतगन्धौ समौ ताभ्यां मण्डूरं सप्तमांशतः।
विधाय कज्जलीमाखुकर्ण्या सम्मर्दयेद्द्र्यहम् ॥१२४॥
ततो मण्डूरमानेन क्षुद्रदीप्यं विनिक्षिपेत्।
आरुष्करकषायेण दिनमेकं विमर्दयेत् ॥१२५॥
ब्रह्मबीजं समुद्रस्य फलं जातीफलं तथा।
विषतिन्दुकबीजं च ताप्यं सर्वं समांशकम् ॥१२६॥
विडङ्गं सममेतैश्च सूक्ष्मचूर्णं प्रकल्पयेत्।
रसतुल्यं हितं चूर्णं रसेन सह मेलयेत् ॥१२७॥
वासा च निम्बत्वग्वंशो वेल्लव्योषाम्बुदं तथा।
एषां क्वाथेन सप्ताहं त्र्यहं मूर्वाढके रसे ॥१२८॥
भावयित्वा चणप्रायाः कर्तव्या वटिकाः शुभाः।
अश्वनिम्बादिजक्वाथे प्रदत्तैका वटी शुभा ॥१२९॥
पातयेज्जठराज्जन्तून् सर्वदेहगदान् हरेत्।
कुष्ठजन्तून्निहन्त्याशु द्वित्रिवारप्रयोगतः ॥१३०॥

शुद्ध पारद दो तोला, शुद्ध गन्धक दो तोला लेकर इन दोनों की कज्जली कर लें। अब इसमें कज्जली का सातवाँ भाग मण्डूर-भस्म मिला कर मूषाकानी के स्वरस से तीन दिन तक मर्दन करें। तत्पश्चात् इसमें मण्डूर के बराबर भाग अजमोदाचूर्ण मिला शुद्ध भिलावे के कषाय से एक दिन पर्यन्त मर्दन करें। फिर इसमें ढाक के बीज, समुद्रफल, जायफल, कुचलाबीज, स्वर्णमाक्षिकभस्म; प्रत्येक का चूर्ण दो दो तोला और वायविडंगचूर्ण १० तोला मिला कर, वांसास्वरस, नीम की त्वचा का रस, बाँस के अंकुरों के स्वरस से सात २ भावना दें। तथा वायविडंग, सौंठ, मिरच, पिप्पली, नागरमोथा; इन सब को समभाग में लेकर बनाये हुये कषाय से सात दिन तक भावना दें। इसके पश्चात् मूर्वा तथा आढक (अरहर) के रस में तीन भावना तीन दिन तक दें। अन्त में चने के बराबर गोलियाँ बना सुखा कर रख लें। इनमें से एक गोली प्रतिदिन बकायन की जड़ के कषाय से सेवन करें तो यह सब शरीर के रोगों को दूर करती है। उदर के सब कृमियों को नष्ट करती है। साधारण कुष्ठों (क्षुद्रकुष्ठ) के कृमियों को यह वटी दो तीन वार के प्रयोग करने से ही नष्ट कर देती है।

विशेष वचन—'मूर्वाऽऽढके' के स्थान पर 'मूर्वाद्रयोः' पाठ उचित प्रतीत होता है। कहीं कहीं 'दूर्वालकद्रवैः' ऐसा पाठ भी देखा जाता है। 'अश्वनिम्बादिजक्काथे' का कोई अश्वगन्धादिगण और निम्बादिगण ऐसा अर्थ करते हैं। परन्तु अश्वनिम्ब (घोड़ा नीम), बकायन आदि द्रव्यों के कषाय अर्थ करना अच्छा है।

कुष्ठजन्तु के नाम निदानग्रन्थों में प्रसिद्ध है। केशाद, रोमविध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सहसौरस, मातर; ये छः कुष्ठजनक कृमि कहे जाते हैं॥ १२४–१३०॥

धन्वन्तरिरसः—

सूतगन्धार्कसौभाग्यकंकुष्ठं रक्तचन्दनम्।
कणा चैतानि तुल्यानि मर्दयेल्लुङ्गवारिणा॥१३१॥
एकाहमथ संशोष्य स्थापयेदतियत्नतः।
रसो निःशेषकुष्ठघ्नो धन्वन्तरिरिति स्मृतः॥१३२॥
निर्दिष्टः शम्भुना सर्वरोगभीतिविनाशनः।
पथ्याघृतयुतो वायुं सिन्धुविश्वान्वितोऽपि वा॥१३३॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, ताम्रभस्म, भुना हुआ सुहागा, शुद्ध कंकुष्ठचूर्ण, लालचन्दनचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण; इन सब को समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर बिजौरा नींबू के रस से एक दिन पर्यन्त घोट कर सुखा लें। यह 'धन्वन्तरिरस' सब कुष्ठों को नाश करता है। सब रोगों के भय को मिटाने वाले इस रस को श्रीशिव जी ने उपदेश किया है। कुष्टरोग में यदि वायुप्रकोप अधिक हो तो उसे शान्त करने के लिये इस रस को हरड़चूर्ण और घी के साथ अथवा सैन्धानमक तथा सौंठ के चूर्ण के साथ प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक॥१३१–१३३॥

वज्रधाररसः—

वज्रसूताभ्रहेम्नां च भस्म योज्यं समं समम्।
सर्वांशं तालकं तुल्यं शिग्रुधुस्तूरजद्रवैः॥ १३४॥
मर्द्यं स्नुह्यर्कजैः क्षीरैर्दिनैकं चाथ भावयेत्।
सप्ताहं बाकुचीतैलैस्तन्माषैकं तु भक्षयेत्।
वज्रधारो रसः ख्यातः सर्वकुष्ठनिकृन्तनः॥ १३५॥

हीराभस्म, पारदभस्म (रससिन्दूर), अभ्रकभस्म, स्वर्णभस्म; प्रत्येक समभाग लें। इन सबके बराबर भाग शुद्ध हरताल लें। सबको एकत्र पीस कर सुहांजनास्वरस, धतूरस्वरस, थोहर का दूध, आक के दूध में पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन करके पश्चात् बावची के तैल में सात दिन तक मर्दन करके इस रस को तय्यार कर लें। इसमें से प्रतिदिन एक माषा पर्यन्त मात्रा में सेवन करें। यह 'वज्रधाररस' कहा जाता है और सब कुष्ठों को शान्त करता है॥

सर्वकुष्ठांशुकः—

मुषलीबाकुचीबीजं निर्गुंडीमूलतुल्यकम्।
मध्वाज्याभ्यां लिहेत्कर्षमिदं स्यात्सर्वकुष्ठत्॥ १३६॥

श्वेतमूसलीचूर्ण; बावचीबीजचूर्ण, निर्गुण्डीमूलचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र घोट कर रख लें। इसमें से एक कर्ष मात्रा में लेकर शहत और घी के साथ कुष्ठहर योग या रसों के बाद अनुपान रूप में सेवन करने पर यह योग कुष्ठहर रस अथवा कुष्ठहर योगों की कुष्ठ नाशक शक्ति को बढ़ा देता है। साधारण कुष्ठों में अर्थात् रक्त की विकृति से फोड़ा फुन्सी कण्डू आदि होने पर केवल यही योग लाभदायक है। विशेष रक्तविकृति में इस योग को दूसरे कुष्ठनाशक रसों के अनुपान रूप में देना चाहिये॥ १३६॥

द्वितीयमहातालेश्वरः—

तालं ताप्यं शिला सूतं शुद्धं सैन्धवटङ्कणम्।
समांशं चूर्णयेत्खल्ले सूताद्द्विगुणगन्धकम्॥ १३७॥
गन्धतुल्यं मृतं ताम्रं जम्बीरैर्दिनपञ्चकम्।
मर्द्यं षड्भिः पुटैः पाच्यं भूधरे सम्पुटोदरे॥ १३८॥
पुटे पुटे द्रवैमर्द्य सर्वमेतत्तु षट्पलम्।
द्विपलं मारितं ताम्रं लोहभस्म चतुष्पलम्॥ १३९॥
जम्बीराम्लेन तत्सर्वं दिनं मर्द्यं पुटेल्लघु।
त्रिंशदंशं पुटश्चास्य क्षिप्त्वा सर्वं विचूर्णयेत्॥ १४०॥
महिष्याज्येन संमिश्रं निष्कार्द्धं भक्षयेत्सदा।
मध्वाज्यैर्बाकुचीचूर्णं कर्षमात्रं लिहेदनु॥
सर्वकुष्ठं निहन्त्याशु महातालेश्वरो रसः॥ १४१॥

शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध पारद, सैन्धानमक, शुद्ध सुहागा; प्रत्येक द्रव्य एक २ तोला, और शुद्ध गन्धक दो तोला लें। ताम्रभस्म २ तोला लें। पहिले पारद गंधक की कज्जली करें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर खरल करें और जम्बीरी नींबू के रस में पाँच दिन मर्दन कर गोला-सा बना कर सुखा लें। फिर इस गोले को एक शरावसम्पुट में बन्द करके भूधरपुट में पकावें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पुनः जम्बीरी नींबू के रस में मर्दन कर भूधरपुट में पकावें। इस प्रकार छः बार भूधरपुट में पकावें। अब इसमें से छः पल औषधि लेकर उसमें ताम्रभस्म दो पल, लोहभस्म चार पल मिला कर जम्बीरी नींबू के रस से मर्दन कर लघुपुट में पकावें। फिर इसमें तीसवाँ भाग शुद्ध गूगल डाल कर एकत्र मर्दन करके चूर्ण कर लें। इसमें से आधा निष्क परिमाण मात्रा में लेकर भैंस के घी से मिला कर सेवन करें। इसके पीछे से घी और शहत मिला कर बावची-चूर्ण एक कर्ष खावें तो यह 'महातालेश्वर रस' सब कुष्ठों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती। रसरत्नाकर तथा शार्ङ्गधर में भी यह महातालेश्वर पढ़ा गया है। वहाँ पर 'त्रिशदन्तं पुटश्चास्य' के स्थान पर 'त्रिंशदंशं विषश्चास्य' ऐसा पाठ दिया हुआ है। यही पाठ उचित प्रतीत होता है। यदि प्रथमोक्त महातालेश्वर से भेद करना हो तो यहाँ पर 'त्रिंशदंशं पुरश्चास्य' पाठ करना अच्छा है। अतः यहाँ पर विष अथवा शुद्ध गुग्गुल लेना अच्छा है।

द्वितीयकुष्ठकुठारः—

सूतभस्मसमं गन्धं मृतायस्ताम्रगुग्गुलुः।

त्रिफला विषमुष्टी च चित्रकश्च शिलाजतु ॥१४२॥
इत्येवं चूर्णितं कुर्यात्प्रत्येकं निष्कषोडश ।
चतुःषष्टिकरञ्जस्य बीजचूर्णं प्रकल्पयेत् ॥१४३॥
चतुःषष्टि मृतं ताम्रं मध्वाज्याभ्यां विलोडयेत् ।
स्निग्धभाण्डगतं खादेद्द्विनिष्कं सर्वकुष्ठजित् ॥१४४॥
रसः कुष्ठकुठारोऽयं गलत्कुष्ठनिकृन्तनः ।
पथ्यं त्रिमधुरं देयं तदभावे गुडौदनम् ॥१४५॥
पातालगरुडीमूलं मधुपुष्पीं च धान्यकम् ।
सितया भक्षयेत्कर्षमतितापप्रणुत्तये ।
लिह्यान्नागबलामूलं मध्वाज्यैर्वातितापनुत् ॥१४६॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), शुद्ध गन्धक, लोहभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध गुग्गुलु, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, कुचलाचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, शुद्ध शिलाजतु; प्रत्येक द्रव्य सोलह २ निष्क, करञ्ज के बीजों का चूर्ण चौंसठ निष्क, ताम्रभस्म चौंसठ निष्क ले और इन सब द्रव्यों को एकत्र पीस लें । इसमें से उचित मात्रा में लेकर घी और शहत से मिला कर दो निष्क भर मात्रा तक सेवन करें । यह सब प्रकार के कुष्ठों को दूर करता है । यह 'कुष्ठ-कुठार रस' गलित कुष्ठ को नाश करता है । इस रस को तय्यार करने पर घी से स्निग्ध हुए २ पात्र में रखना चाहिये । इस रस के सेवनकाल में मधुरत्रय (घी, खाँड, मधु) के साथ भात अथवा गुड़ युक्त भात पथ्य में देना चाहिये । यदि इस के प्रयोग से ताप की वृद्धि हो जाय या गर्मी अधिक प्रतीत हो तो पातालगरुड़ी की जड़, मुलेठी तथा धनियाँ; इनके चूर्ण में खाँड मिला कर सेवन करावें । यदि वमन और ताप अधिक हो जाय तो नागवला (गंगेरन) की जड़ के चूर्ण को घी और मधु के साथ चटाना चाहिये ।

विशेष वचन—मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक । ताम्र के स्थान में अभ्रकभस्म डालने पर ४ रत्ती से ८ रत्ती तक मात्रा । यह रस रसेन्द्रसारसंग्रह में भी है जिस का पाठ इस प्रकार है—"भस्म सूतसमो गन्धो मृतायस्ताम्रगुग्गुलु । त्रिफला च महानिम्बश्चित्रकश्च शिलाजतु ॥ इत्येतच्चूर्णितं कुर्यात् प्रत्येकं शाणषोडशम् । चतुःषष्टिः करञ्जस्य बीजचूर्णं प्रकल्पयेत् ॥ चतुःषष्टिमृतञ्चाभ्रं मध्वाज्याभ्यां विलोडयेत् । स्निग्धभाण्डे स्थितं खादेद् द्विनिष्कं सर्वकुष्ठनुत् ॥ रसः कुष्ठकुठारोऽयं गलत्कुष्ठविनाशनः ॥" इसके अनुसार 'विषशुण्ठी' के स्थान पर 'महानिम्बः' पाठ है । परन्तु 'विषशुण्ठी' के स्थान पर प्रकृत ग्रन्थ में 'विषमुष्टी' पाठ होना अच्छा है ऐसी अवस्था में विषमुष्टि महानिम्ब का ही द्योतक हो जाता है और पाठ में भी भिन्नता रहती है । क्योंकि धन्वन्तरिनिघण्टु में "महानिम्बः स्मृतो द्रेका कार्मुको विषमुष्टिकः ।" इत्यादि पर्याय महानिम्ब के आते हैं और यह रक्त दुष्टि तथा कुष्ठ रोगों की उत्तम औषधि भी है । प्रकृत ग्रन्थ में ताम्र दो बार लिखा है । अन्यत्र सब स्थानों में 'मृतं ताम्रं' के स्थान पर 'मृतञ्चाभ्रम्' पाठ है । अतः ताम्र के स्थान पर अभ्रकभस्म लेना उचित होगा । रसप्रकाशसुधाकर में जो कुष्ठकुठार है, उसमें महानिम्ब के स्थान पर केवल निम्ब है और शुण्ठी सोहल शाण अधिक है । तन्त्रान्तर में 'मधुपुष्पी' के स्थान पर 'जीयापोता' बीज मज्जा ली गई है ॥

वज्रतैलम्—

वज्रक्षीरं रविक्षीरं धुस्तूरं चित्रकद्रवम् ।
महिषीविड्भवं द्रावं सर्वांशं तिलतैलकम् ॥१४७॥
पचेत्तैलावशेषं तु तत्तैलं प्रस्थमात्रकम् ।
गन्धकाग्निशिलातालं विडंगाऽतिविषाविषम् ॥१४८॥
तिक्तकोशावकीकुष्ठं वचा मांसी कटुत्रयम् ।
हरिद्रादारु यष्ट्याह्वं सर्ज्जीक्षारं च जीरकम् ॥१४९॥
कर्षांशं देवदारुं च चूर्णं तैले विमिश्रयेत् ।
वज्रतैलमिदं ख्यातं मर्दनात्सर्वकुष्ठनुत् ॥१५०॥

थोहर का दूध, आक का दूध धत्तूर के पञ्चांग का रस, चित्रक-कषाय और भैंस के गोबर का रस; प्रत्येक एक एक भाग और तिल का तैल पाँच भाग लें । सब को एक पात्र में डाल कर स्नेह-साधन विधि से पकावें । जब तैलमात्र शेष रह जाय तब उतार छान लें । फिर इस सिद्धतैल में से एक प्रस्थ तैल लेकर उसमें शुद्ध गन्धक, चित्रकमूलचूर्ण, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरताल, वाय-विडंगचूर्ण, अतीस का चूर्ण, कड़वी तोरी का चूर्ण, कूठ (पुष्कर-मूल), वच, जटामांसी, सौंठ, मिरच, पिप्पली, दारुहल्दी, मुलेठी, सर्जक्षार, सफेद जीरा; प्रत्येक का चूर्ण एक एक कर्ष मिला कर रख लें । इसको 'वज्रतैल' कहते हैं । यह शरीर में मालिश करने से सब कुष्ठों को नष्ट करता है ।

विशेष वचन—यह तैल कल्क रहित है । शास्त्र में ऐसे तैलों के विषय में लिखा है कि—"अकल्कोऽपि भवेत्स्नेहो यः साध्यः केवले द्रवे ।" कोई गन्धक आदि द्रव्यों को कल्क के रूप में तैल में डालने को कहते हैं । इस भाँति भी तैल बनाने में कोई हानि नहीं है । 'हरिद्रादारु' से कोई हरिद्रा और देवदारु लेने को कहते हैं । परन्तु दारुहरिद्रा की भांति देवदारु उत्तम कुष्ठहर नहीं माना जाता है । अतः दारुहरिद्रा अथवा हरिद्रा लेनी चाहिये देवदारु के भेद चीड़ (सरल) भी है, उसका तैल कुष्ठ दद्रु और कण्डू के लिये उत्तम है ।

स्वर्णक्षीरीरसः—

क्षिप्त्वा तक्रघटे पच्यात् काञ्चनीपलपञ्चकम् ।
तक्रे जीर्णे समुद्धृत्य पुनः क्षीरघटे पचेत् ॥ १५१ ॥
क्षीरे जीर्णे समुद्धृत्य जलैः प्रक्षाल्य शोषयेत् ।
तच्चूर्णितं पञ्चपलं मरिचानां पलद्वयम् ॥ १५२ ॥

पलैकं मूर्च्छितं सूतमेकीकृत्य तु भक्षयेत्।
निष्कैकं सुप्तकुष्ठार्तः स्वर्णक्षीररसो ह्ययम् ॥ १५३ ॥

हेमाह्वा (सत्यानाशी काञ्चनी) की जड़ पाँच पल लेकर एक द्रोण परिमाण छाछ में डाल कर पकावें। जब पकते २ तक्र सूख जाय तब जड़ को निकाल एक द्रोण दूध में पकावें। दूध का खोया बनने पर जड़ को निकाल जल से अच्छी तरह धोकर सुखा लें और चूर्ण कर लें। इस प्रकार बनाया हुआ सत्यानाशी की जड़ का चूर्ण पाँच पल, कालीमिरच का चूर्ण दो पल, मूर्च्छित पारद (रससिन्दूर) एक पल; सब को एकत्र घोट कर रख लें। इसमें से एक निष्क मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से सुप्तकुष्ठ (शून्यतायुक्त) दूर हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ४ रत्ती तक। मूर्च्छित पारद से पारद गन्धक की कज्जली भी ली जा सकती है। कज्जली को तन्त्रान्तर में मूर्च्छित पारद के नाम से भी लिखा है, यथा "गन्धकेन रसं प्राज्ञे सुदृढं मर्दयेद् भिषक्। कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घनचापनलम् ॥ दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छितो रसकोविदैः ॥" तन्त्रान्तर में 'स्वर्णक्षीररसो' के स्थान पर 'स्वर्णक्षीरीरसो' पाठ है ॥ १५१—१५३ ॥

महाभल्लातकतैलम्—

यत्नाद्द्विखण्डितं कुर्याद्भल्लातशतपंचकम्।
क्षिप्त्वा पच्याच्छनैर्वह्नौ तैले द्वादशपालिके ॥ १५४ ॥
यावत्तरन्ति ते पक्त्वा तत्तैलं पाचयेत्पुनः।
मधुपाके तु संप्राप्ते ह्यवतार्य तु तत्क्षणात् ॥
सर्वकुष्ठानि हन्त्याशु महाभल्लाततैलनम् ॥ १५५ ॥

अच्छी तरह परिपक्व पाँच सौ भिलावों को, दो टुकड़े करके बारह पल तैल में डाल कर मन्द मन्द अग्नि द्वारा तब तक पकावें जब तक कि भिलावे के टुकड़े तैल के ऊपर तैरने न लग जायँ। पश्चात् तैल को छान कर उस तैल को पुनः मन्द मन्द अग्नि से पकावें। जब तैल मधु (शहद) के सदृश गाढ़ा हो जाय तो उसे उतार कर ठण्डा करके रख लें। यह तैल सब कुष्ठों को दूर करता है।

विशेष वचन-परिपक्व भल्लातक की पहिचान यह है कि उनको लेकर जल में डाल दें। जो जल में डूब जायँ वे उत्तम परिपक्व और जो न डूबें उनको अपक्व तथा साररहित समझें ॥ १५१ ॥

त्रैलोक्यविजयतैलम्—

रसं गन्धं विषं तालं स्वर्णक्षीरी रुदन्तिका।
वरुणाम्लेन संचूर्ण्य प्रतिनिष्कद्वयं द्वयम् ॥ १५६ ॥
क्षिपेत्तस्मिन् विशोष्याथ क्रमान्निष्कं सदा लिहेत्।
त्रैलोक्यविजयं तैलं सर्वकुष्ठहरं ध्रुवम् ॥ १५७ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध वत्सनाभ, शुद्ध हरताल, स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी), रुदन्तिका (दिव्यौषधि); प्रत्येक दो दो निष्क परिमाण में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर वरुणाम्ल (मद्य अथवा काञ्जी) से मर्दन करें। सुखाने के बाद इसको पूर्वोक्त महाभल्लातक तैल में मिला लेवें। इसमें से प्रतिदिन एक निष्क परिमाण मात्रा में रोगी को चटावें। इसको "त्रैलोक्यविजय तैल' कहते हैं। यह सब कुष्ठों को शान्त करता है।

विशेष वचन—किसी किसी ग्रन्थ में त्रैलोक्यविजयतैल के स्थान पर त्रैलोक्यविजयरस के नाम से यह योग लिखा है और उसका पाठ इस प्रकार पाया जाता है—"रसं गन्धं विषं तालं स्वर्णक्षीरी रुदन्तिका। वरुणाम्लेन सञ्चूर्ण्य प्रतिनिष्कद्वयं द्वयम् ॥ त्रैलोक्यविजयः सर्वकुष्ठघ्नो निष्कमात्रया" ॥ १५६–१५७ ॥

महामार्तण्डतैलम्—

शाकं निम्बांकोल्लवह्निराजवृक्षाक्षस्नुग्भवम्।
गर्भशुष्कं शुभं खण्डं नारिकेलप्रियालकम् ॥ १५८ ॥
वातारिचक्रमर्दस्य बीजं बाकुचिजं तथा।
समं पातालयन्त्रेण तैलं ग्राह्यं प्रयत्नतः ॥ १५९ ॥
प्रस्थौ द्वौ तिलतैलस्य कुष्ठचूर्णं पलद्वयम्।
स्वर्णक्षीरीपलैकं च क्षिप्त्वा पक्त्वाऽवतारयेत्। १६०।
पूर्वतैले चतुष्प्रस्थे तैलीभूते विनिक्षिपेत्।
महामार्तण्डतैलोऽयं लेपात्कुष्ठं नियच्छति ॥
अतिकण्डूं कृमिं पाकं स्फोटकानि च नाशयेत्। १६१।

सागौन वृक्ष के बीज, नीम की निबोली, अंकोलबीज, वह्नि (चित्रक या भिलावाबीज), अमलतास का सूखा गूदा, बहेड़ाबीज थोहरबीज, या दूध, सूखा हुआ नारियल (खोपा), चिरोंजी, एरण्डबीज, चक्रमर्द (पनवाड़) बीज, बावचीबीज; इन सब को समभाग में अर्थात् एक २ तोला लेकर कूट करके इनका पातालयन्त्र से तैल निकाल लें। फिर तिलतैल दो प्रस्थ लेकर उसमें कूठ का चूर्ण दो पल, और स्वर्णक्षीरीमूल का चूर्ण एक पल मिला कर चार प्रस्थ जल डाल कर एकत्र करके तैल पका कर उतार लें। इस प्रकार सिद्ध दो प्रस्थ तिलतैल में उक्त पातालयन्त्र विधि से निकाला हुआ तैल चार प्रस्थ मिला कर रख लें। इसको 'महामार्तण्ड तैल' कहते हैं। इसका प्रतिदिन शरीर में लेप या मालिश करने से कुष्ठ दूर होता है। और अत्यन्त कण्डू, कुष्ठ, क्रिमि, पाकयुक्त, कुष्ठ स्फोटयुक्त कुष्ठ भी नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—एक एक तोला औषधियों का चार प्रस्थ तैल निकालना कठिन है अतः उक्त औषधियों में चार सेर (प्रस्थ) तिलतैल की भावना देकर उसका तैल निकालना चाहिये। कई वैद्य इस तैल को इस विधि से बनाने को कहते हैं कि पातालयन्त्र से दो प्रस्थ तिलतैल, कूठ, स्वर्णक्षीरीचूर्ण तथा जल मिला कर इसको

तैलावशेष करके सिद्ध कर लिया जाय। परन्तु हमारे विचार से पृथक् पृथक् मिलाना अधिक लाभदायक है ॥ १५८—१६१ ॥

काञ्चनीतैलप्रयोगः—

कुष्ठञ्च काञ्चनीतैलैर्मर्द्यालेप्यं सुघर्षितम् ॥ १६२ ॥

साधारण कुष्टों में स्वर्णक्षीरीबीज तैल में कूठ को घोट कर कुष्टयुक्त स्थान को कुछ रगड़ कर लेप लगाना चाहिये ॥ १६२ ॥

शुष्ककण्डूहरलेपः—

कुमारीसैन्धवं लेप्यं शुष्ककण्डूहरं परम् ॥ १६३ ॥

घीकुआर के स्वरस में सैन्धानमक मिला कर शरीर में लेप करने से शुष्क कण्डू दूर हो जाती है ॥ १६३ ॥

सैन्धवादिलेपः—

सैन्धवेन महामुण्डी लेपो हन्ति विपादिकाम् ॥ १६४॥

महामुण्डी (गोरखमुण्डी) स्वरस में सैन्धानमक मिला कर लेप करने से विपादिका नामक कुष्ठरोग दूर होता है ॥ १६४ ॥

शिलादिलेपः—

शिला शम्भुबीजं वरं कुष्ठगन्धं मरीचं तथा जीरकं देवधूपः।
निशा सर्पिषा मर्दितो मन्दवारे हरेत् कायकण्डूव्रणस्फोट-गण्डान् ॥ १६५ ॥

शुद्ध मैनसिल, शुद्ध पारद, वर (केसर या सैन्धानमक) कूठ, शुद्ध गन्धक, मरिचचूर्ण, जीरे का चूर्ण, राल; इन सबको समभाग में लेकर चूर्ण कर लें। और इस चूर्ण को घी में मिला कर शनिश्चर वार के दिन शरीर में मर्दन करने से शरीर की कण्डू, व्रण, स्फोट (छाले) तथा गण्ड दूर होते हैं ॥ १६५ ॥

कुष्ठान्तपर्पटी—

पलैकं शुद्धसूतस्य कर्षैकं शुद्धगन्धकम्।
गन्धतुल्यं मृतं ताम्रं सूतांशं मर्दयेद्विषम् ॥ १६६ ॥
सर्वतुल्यं पुनर्गन्धं दत्त्वा किञ्चिद्विशोषयेत्।
घृताभ्यक्ते लोहपात्रे पच्याद्यावद्द्रवीभवेत् ॥ १६७ ॥
रम्भापात्रे पटे वाथ पातयेत्पर्पटीं तदा।
माषैकं चूर्णितं खादेद्गजचर्म नियच्छति ॥
निष्कैकं वाकुचीचूर्णं लेहयेदनुपानकम् ॥ १६८ ॥

शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध गन्धक एक कर्ष, ताम्रभस्म एक कर्ष, शुद्ध वत्सनाभविष एक पल लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर मर्दन करें। अन्त में इस सम्पूर्ण चूर्ण के बराबर भाग, इसमें पुनः शुद्ध गन्धक डाल कर घोटें। पश्चात् एक लोहे की कड़छी में थोड़ा घृत डाल कर उसमें उक्त चूर्ण को डाल कर कोयलों की अग्नि में तपावें। जब गन्धक पिघल जाय तो उसे गोबर के ऊपर रखे हुये कदलीपत्र के ऊपर या कपड़े पर डाल कर ऊपर दूसरे पत्र से दबा कर पर्पटी तय्यार कर लें। शीतल होने पर निकाल पर्पटी को पीस कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन एक मासा मात्रा में सेवन करने से गजचर्म (चम्मल) रोग नष्ट होता है। इसको सेवन करके अनुपान के रूप में एक निष्क मात्रा में बावचीचूर्ण रक्तशोधक औषधियों के स्वरस के साथ सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। 'विशोषयेत्' के स्थान पर 'विघट्टयेत्' पाठ अच्छा है ॥१६६-१६८॥

काशीशबद्धो रसः—

पलं रसं हि काशीशैर्युतं पञ्चगुणैः सह।
मर्दयेद्यामपर्यन्तमर्जुनस्य त्वचो रसः ॥ १६९ ॥
शरावसम्पुटे रुद्ध्वा पुटेत्क्रोडपुटेन हि।
रसः काशीशबद्धोऽयं मधुना वल्लतुल्यकः ॥ १७० ॥
शाणबाकुचिकायुक्तः सेवितो हन्ति निश्चितम्।
त्रिभिर्मासैः किलासं हि दद्रूण्यपि विशेषतः ॥ १७१॥

शुद्ध पारद एक पल, शुद्ध कसीस पाँच पल लेकर दोनों को एकत्र खरल में अर्जुनवृक्ष की छाल के स्वरस से एक पहर तक अच्छी तरह मर्दन करें। सूखने पर इसको शरावसम्पुट में बन्द करके वाराहपुट में फूँक दें। इसको 'काशीशबद्धरस' कहते हैं। इसको एक वल्ल मात्रा में लेकर इसमें एक शाण बावची का चूर्ण और मिलाने योग्य शहद डाल कर प्रतिदिन प्रातःकाल तीन मास तक सेवन करने से किलासकुष्ठ (सफेद कोढ़) विशेषतः दद्रुकुष्ठ (दाद) नष्ट होता है।

विशेष वचन—कोई कोई 'रस' से रससिन्दूर का ग्रहण करने को कहते हैं। परन्तु पुट में देने पर दोनों का एक ही परिणाम निकलता है ॥ १६९–१७१ ॥

द्वितीयसर्वेश्वररसः—

शुद्धसूतं चतुर्गन्धं खल्ले यामं विमर्दयेत्।
मृतताम्राभ्रलोहानि हिंगुलं च पलं पलम् ॥ १ २ ॥
सुवर्णं रजतं चैव प्रत्येकं दशनिष्ककम्।
माषैकं मृतवज्रं च तालसत्त्वं पलद्वयम् ॥ १७३ ॥
जम्बीरोन्मत्तवासाभिः स्नुह्यर्कविषमुष्टिभिः।
मर्द्यं हयारिजैर्द्रावैः प्रत्येकेन दिनं दिनम् ॥ १७४ ॥
एवं सप्तदिनं मर्द्यं तद्गोलं वस्त्रवेष्टितम्।
बालुकायन्त्रगं स्वेद्यं त्रिदिनं लघुनाऽग्निना ॥ १७५ ॥
आदाय चूर्णयेत्सूक्ष्मं पलैकं योजयेद्विषम्।
द्विपलं पिप्पलीचूर्णं मिश्रं सर्वेश्वरो रसः ॥ १७६ ॥
द्विगुञ्जं भक्षयेत्क्षौद्रैः सुप्तिमण्डलकुष्ठजित्।
बाकुचीं देवदारुं च कर्षमात्रं सुचूर्णितम् ॥
लिहेदेरण्डतैलेन ह्यनुपानं सुखावहम् ॥ १७७ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक चार भाग लेकर दोनों को एकत्र एक पहर तक अच्छी तरह खरल करके कज्जली बना लें।

फिर इसमें ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, लोहभस्म, शुद्ध हिंगुल; प्रत्येक एक एक पल, सुवर्णभस्म, रजतभस्म, प्रत्येक दश निष्क, वज्र (हीरा) भस्म एक मासा, हरतालसत्व दो पल मिला कर पीसें और इसको जम्बीरी नींबू, धत्तूरा, अडूसास्वरस, थोहर का दूध, आक का दूध, कुचलाजल और कनेर; इन द्रव्यों के स्वरस या जल वा दूध से पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन करें। इस प्रकार सात दिन मर्दन कर गोला सा बना सुखा लें। अब इस गोले के ऊपर गोलक के बराबर भार परिमाण शुद्ध सूक्ष्म वस्त्र अच्छी तरह लपेट कर गेन्द-सी बना लें। इसको बालुकायन्त्र के बीच बालुका में दबा कर तीन दिन तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर दग्ध वस्त्र को अलग करके औषधि का सूक्ष्म चूर्ण कर लें और उसमें शुद्ध विष एक पल, पिप्पलीचूर्ण दो पल मिला कर पीस करके रख लें। इसे 'सर्वेश्वररस' कहते हैं। इसमें दो रत्ती मात्रा में मधु के साथ प्रतिदिन सेवन करने से सुप्तिकुष्ठ (शून्यता) तथा मण्डलकुष्ठ दूर होते हैं। बावचीचूर्ण, देवदारु, प्रत्येक छः मासा लेकर एरण्डतैल के साथ अनुपानरूप में सेवन करना चाहिये।

योगराजगुग्गुलुप्रयोगः—

गुग्गुलुर्योगराजो वा योज्यो मण्डलशान्तये ॥१७८॥

अथवा मण्डलकुष्ठों के शान्त करने के लिये योगराजगूगल का प्रयोग करना चाहिये ॥ १७८ ॥

श्वित्रकुष्ठलक्षणम्—

श्वित्रन्तु कृष्णमरुणं मरुदस्रगामि
पित्तेन रोमशतनञ्च विदाहिताञ्च।
मांसाश्रितं बहुसितं कफतः सकण्डु
मेदोगतं बलवदेव यथोत्तरं स्यात् ॥ १७९ ॥

वातदूषित रक्तयुक्त श्वित्रकुष्ठ (सफेद कोढ़), कृष्ण तथा अरुण (लाल) और किञ्चित् कृष्ण तथा रक्तवर्ण होता है। पित्तप्रकोपाधिक श्वित्र में मण्डल (धब्बे) युक्त स्थान के बाल गिर जाते हैं और उसमें जलन (गर्मी) होती है। यह प्रायः मांसधातुगत होता है। अर्थात् इसकी विकृति मांसधातु तक पहुँची हुई होती है। कफप्रकोपयुक्त सफेद कोढ़ देखने में अपेक्षाकृत अन्य श्वित्रकुष्ठों के अधिक श्वेतवर्ण होता है और इसमें किञ्चित् कण्डू भी होती है। इसकी विकृति मेदोधातु तक पहुँची हुई होती है। यह तीन प्रकार के श्वित्रकुष्ठ उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं अर्थात् वातिक श्वित्र से पैत्तिक और पैत्तिक श्वित्र से श्लैष्मिक श्वित्र कष्टसाध्य होता है।

विशेष वचन—सफेद कोढ़ के विषय में तन्त्रान्तर में भी इस बात को स्पष्ट किया गया है—"वाताद्रूक्षारुणं, पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत्। सदाहं रोमविध्वंसि, कफात् श्वेतं घनं गुरु॥ सकण्डूरं क्रमात् रक्तमांसमेदःसु चादिशेत्। वर्णेनैवेदृगुभयं कृच्छ्रं तच्चोत्तरोत्तरम्" ॥ १७९ ॥

श्वित्रारिरसः—

काशीसरसगन्धानि मर्दयेत्सुरसारसैः।
सम्पुटे पुटयेद्दत्वा चाङ्गेरीमधरोत्तरम् ॥ १८० ॥
सर्वमेतच्च संचूर्ण्य तण्डुलान्दश सप्त वा।
आरभ्य वर्धयेद्यावत्पञ्चषष्टि क्रमेण हि ॥ १८१ ॥
अनुपानाय मध्वाज्यं दध्याज्यं नवनीतकम्।
धात्र्यार्द्रकरसैश्चैव तिन्दुकं कदलीफलम् ॥
श्वित्रारिसंज्ञितो ह्येष श्वित्रकुष्ठनिषूदनः ॥१८२॥

शुद्ध हीरा कसीस, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक एक तोला लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर उसमें हीराकसीस मिला कर तुलसी के पत्तों के रस में घोटें और गोलासा बना कर सुखा लें। इस गोले को एक शराव में चांगेरीचूर्ण आधा भाग तक भर कर रख दें। और ऊपर से पुनः चांगेरी का चूर्ण भर कर शराव का मुख बन्द करके कपड़मिट्टी कर सुखा लें। अब इसको भूधरपुट या लघुपुट में फूँक दें। स्वांगशीत होने पर सम्पुट में बची हुई चांगेरीचूर्णभस्म के साथ सबको पीस लें। इसमें से सात चावल या दश चावल भर मात्रा लेकर सेवन करना प्रारम्भ करें। किन्तु प्रतिदिन एक एक चावल भर मात्रा बढ़ाते जायँ जब तक कि पचीस चावल भर मात्रा हो जाय। फिर पचीस चावल मात्रा को कुछ दिन स्थिर रखें। सहपान में घी और शहद, या दही और घी अथवा मक्खन लेना चाहिये। अर्थात् इन चीज़ों में मिला कर उक्त रस को सेवन करना चाहिये। इस रस के अनुपान रूप में तिन्दुक (तेंदू) तथा कदलीफल को आंवले और अदरख के रस के साथ खावें। इसको 'श्वित्रारिरस' कहते हैं। यह श्वित्रकुष्ठ को नष्ट करता है ॥

निम्बादिचूर्णम्—

निम्बपत्रनिशाकृष्णाबाकुचीबीजकं समम्।
चूर्णयित्वा पिबेद्दुग्धैः प्रभाते श्वित्रनाशनम् ॥१८३॥

नीम के पत्ते, हरिद्राचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण तथा बावचीचूर्ण; प्रत्येक के समभाग चूर्ण को एकत्र मिला कर उचित मात्रा में प्रतिदिन प्रातःकाल दूध के साथ सेवन करने से सफेद कोढ़ नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—मात्रा १ मासे से २ मासा तक ॥ १८३ ॥

श्वित्रकुष्ठारिरसः—

रसगन्धकतुत्थार्कबाकुचीक्वाथमर्दितम्।
सेवितं सोमतैलेन श्वित्रकुष्ठं नियच्छति ॥१८४॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, तुत्थभस्म और ताम्रभस्म; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें

अन्य द्रव्य मिला कर बावची के कषाय से एक दिन मर्दन करके सुखा लें। इसमें से उचित मात्रा में सोमतैल (बावचीतैल) के साथ कुछ दिन सेवन करने से श्वित्रकुष्ठ नष्ट होता है।

विशेष वचन—सोमराजी का तैल तीन मासे से छः मासा तक सेवन करना चाहिये। बावची (सोमराजी) श्वित्रकुष्ठ की सर्वोत्तम औषधि है। इसको पीस कर सफेद दागों पर दिन में तीन चार बार लेप भी करना चाहिये। मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक॥ १८४॥

चन्द्रप्रभा वटिका—

पिष्टो निम्बुकगोमयूरसलिलैः सार्द्धो रसो गन्धकात्
मूषायां घननादपिण्डसहितं पक्वं करीषे तिलान्।
बाकुच्याश्च फलानि गोजलकृता चन्द्रप्रभेति श्रुता
श्वित्रं तक्रभुजो निहन्ति वटिकाः क्षाराम्लतैलं त्यजेत्॥

शुद्ध गन्धक चार तोला, शुद्ध पारद छः तोला लेकर दोनों की कज्जली कर लें। फिर इसको क्रमशः नींबू के रस, गोमूत्र तथा अपामार्गस्वरस में एक २ दिन खरल करके गोला-सा बना कर सुखा लें। अब इस गोले को चौलाई की जड़ के कन्द के कल्क में रख मूषा में बन्द करके चार पाँच सेर उपलों की खुली हुई पुट में पका लें। स्वांगशीत होने पर गोले को निकाल उसमें समभाग तिल तथा बावचीबीजचूर्ण मिला कर गोमूत्र से मर्दन कर गोलियाँ बना लें। इस को 'चन्द्रप्रभा गुटिका' कहते हैं। इनके सेवन करने से श्वित्रकुष्ट नष्ट होता है। इन गोलियों के सेवनकाल में तक्र के साथ भोजन करना चाहिये। किन्तु अन्य क्षार अम्ल तथा तैलों का सेवन नहीं करना चाहिये।

विशेष वचन—मात्रा दो रत्ती से चार रत्ती तक। यह वटिका वैद्यचिन्तामणि तथा रसकामधेनु में भी है। परन्तु वहाँ प्रकृत पाठ से कुछ ही भिन्नता पाई जाती है। किसी ने इसको चन्द्रप्रभारस के नाम से भी लिखा है। प्रकृत रस में बावचीबीजचूर्ण के परिमाण का निर्देश नहीं है। किन्तु अन्यत्र इसका निर्देश स्पष्ट पाया जाता है। इसी तरह अन्यत्र पारद गन्धक के परिमाण में भिन्नता पाई जाती है—"शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं मर्द्यं निम्बुमयूरयोः। द्रवैः सगोमूत्रैर्दिनैकं बाकुचीद्रवैः॥ मुस्तपिण्डे विनिक्षिप्य तं रुद्ध्वा भूधरे पचेत्। पक्वोद्धृतन्तु तच्चूर्णं चूर्णाद्दशगुणं क्षिपेत्॥ चूर्णितं बाकुचीबीजं गोमूत्रैर्मर्दयेद्दिनम्। द्विनिष्कां वटिकां खादेच्छ्वित्रकुष्ठ-विनाशिनीम्॥ ख्याता चन्द्रप्रभा ह्येषा, कुर्यात्तक्रेण भोजनम्। काष्ठोदुम्बरिकामूलं जलैर्घृष्टं पिबेदनु॥" यहाँ पर औषधिपिण्ड को भूधरपुट में पकाने को लिखा है। इस विधि से पकाने पर ही पारद और गन्धक नहीं उड़ सकते हैं॥ १८५॥

ताम्रलिप्तकज्जलीरसः—

रसद्विगुणगन्धकं त्रिगुणताम्रलिप्तं पचेद्
गृहीतमनुकज्जलीं खदिरबाकुचीनिम्बजैः।
रसैः पुटविपाचितं समलयाकषायं पिबेत्
किलासमरुणं सितं जयति शुद्धतक्राशिनः॥ १८६॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग, शुद्ध नैपाली-ताम्र के कण्टकभेदी पत्र तीन भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसको नींबू के रस से घोट कर ताम्रपत्रों पर लेप करके पत्रों को शरावसम्पुट में बन्द करके गजपुट में फूक दें। पश्चात् निकाल फिर उन पर खदिरकषाय से मर्दन की हुई पारद गन्धक की कज्जली का लेप करके शरावसम्पुट में रख गज-पुट में फूक दें। तदनन्तर बावचीकषाय से मर्दित कज्जली का लेप करके फूकें। अन्त में नीम के कषाय या स्वरस से मर्दित कज्जली का लेप करके ताम्रपत्रों को गजपुट में फूक दें। स्वांग-शीतल होने पर पत्रों को निकाल पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में प्रतिदिन सेवन करके बावचीकषाय अनुपान के रूप में पीना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में छाछ तथा भात का पथ्य सेवन करने से सफेद तथा अरुणवर्णकिलास (सफेद कोढ़) दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक। उक्त विधि से ताम्रभस्म बना कर सेवन करने से श्वित्रकुष्ठ नष्ट होता है। यदि तीन या चार पुटों में ताम्र की उत्तम भस्म न हो सके तो उक्त द्रवों के साथ कज्जली के योग से तब तक पुट दें जब तक कि ताम्र की उत्तम भस्म न बन जाय। अन्यत्र इस रस को 'किलासजेता रस' के नाम से लिखा है। यहाँ ताम्रपत्रों का कोई निर्देश नहीं किया है। सम्भवतः यही कारण हो कि तीन चार पुटों में ताम्रपत्रों की उत्तम भस्म नहीं बन सकती है। तन्त्रान्तर में इस प्रकार पाठ पाया जाता है—"रसस्यैकभागं बलेश्च द्विभागौ त्रिभागाश्च भानोर्विमर्द्याथ भृङ्गैः। द्रवैर्बाकुचीनां रसैः पेषयित्वा पुटे पाचितश्चामलक्याः कषायैः॥ किलासारुणं मण्डलं हन्ति नित्यं निपीतो नितान्तं सुतक्राशिनाञ्च" ॥ १८६॥

उदयादित्यरसः—

शुद्धसूतं द्विधा गन्धं मर्द्यं कन्याद्रवैर्दिनम्।
तद्गोलं हण्डिकामध्ये ताम्रपात्रेण रोधयेत्॥ १८७॥
सूतकाद्द्विगुणेनैव शुद्धेनाधोमुखेन वै।
पार्श्वे भस्म निधायाऽथ पात्रेऽर्धे गोमयं जलम्॥१८८॥
किंचित्किञ्चित्प्रदातव्यं चुल्ल्यां यामद्वयं पचेत्।
चण्डाग्निनोद्धृत्य ततः स्वांगशीतं विचूर्णयेत्॥१८९॥
काकोदुम्बरिकाबह्विस्त्रिफलाराजवृक्षकम्।
विडंगं बाकुचीबीजं क्वाथयेत्तेन भावयेत्॥ १९०॥
दिनैकमुदयादित्यो रसो भक्ष्यो द्विगुंजकः।
खदिरस्य कषायेण बाकुचीबीजचूर्णकम्॥ १९१॥

तुल्यं मृद्वग्निना पिण्डं जातं यावत्पचेल्लघु।
त्रिनिष्कं तद्रविक्षीरैः क्वाथैर्वा त्रैफलैरनु॥ १९२॥
त्रिदिनान्ते भवेत्स्फोटः सप्ताहे वा न संशयः।
नीलीं गुंजां च काशीशं धुस्तूरं हंसपादिकाम्।१९३।
सूर्यावर्तां चाम्लपर्णीतुल्यं पिष्ट्वा प्रलेपयेत्।
स्फोटस्थाने प्रशान्त्यर्थं सप्तरात्रं पुनः पुनः॥
श्वेतकुष्ठं निहन्त्याशु साध्यासाध्यं न संशयः॥१९४॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर इन दोनों की कज्जली को घीकुआर के रस से एक दिन मर्दन कर गोला-सा बना लें। इस गोले को एक हांडी में रख कर इस (गोले) के ऊपर दो भाग शुद्ध नैपालीताम्रपत्र की कटोरी को औंधामुख रख दें। कटोरी के चारों तरफ सन्धि को चूना और गुड़ के कल्क से लेप कर दें और चारों तरफ हांडी के आधे भाग तक ढाक आदि की राख दबा कर भर दें। अब हांडी को चूल्हे पर चढ़ा कर तेज़ अग्नि से पकावें। जब राख अत्यन्त गरम हो जाय तो कटोरी के ऊपर राख में थोड़ा थोड़ा गोमूत्र डालते जाँय। परन्तु गोमूत्र इतना नहीं डालना चाहिये जिससे राख गीली हो जाय। इस प्रकार छः घण्टे तक अत्यन्त तीव्र अग्नि से पकावें। पश्चात् स्वांगशीतल होने पर सावधानी से राख को पृथक् करके ताम्र की कटोरी सहित कज्जली को एकत्र पीस लें। और इसको काकोदुम्बरिका (कठूमर), चित्रक, त्रिफला, अमलतास, वायविडंग, बावचीबीज; प्रत्येक के पृथक् पृथक् कषाय या स्वरस से एक एक दिन भावना देकर सुखा लें। यह 'उदयादित्यरस' कहा जाता है। इसको दो रत्ती मात्रा में प्रतिदिन सेवन करके ऊपर से बावचीचूर्ण तीन निष्क को खदिरकषाय में मन्द मन्द अग्नि से पका कर गोला-सा बना इसको शुद्ध आक के दूध अथवा त्रिफलाकषाय के साथ अनुपान के रूप में खावें। इस प्रकार सेवम करने से तीसरे दिन अथवा सातवें दिन श्वित्र के दागों पर स्फोट (छाले) पैदा होंगे। इन स्फोटों पर नील, गुञ्जा (रत्ती), कसीस, धत्तूरा, हंसपादी, सूर्यावर्त (हुलहुल), चाँगेरी; सब को समभाग में जल से पीस कर लेप कर दें। इस प्रकार सात दिन तक स्फोटयुक्त स्थान पर नील आदि का लेप करने से वह स्थान स्वाभाविक वर्ण या कुछ कृष्णवर्ण हो जाता है। यह रस साध्य तथा असाध्य श्वित्रकुष्ठ को शीघ्र ही शान्त कर देता है। इसमें सन्देह नहीं है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से ½ रत्ती तक। इस रस में भी ताम्रपत्र छः घण्टे की तीव्र अग्नि से उत्तम रूप से भस्म नहीं हो सकता है। अतः प्रथम वार उक्त विधि से छः घण्टे पका कर बाद को पुनः पुनः कज्जली के साथ भस्म होने तक पुट देनी चाहिये। अन्त में पूर्वावशिष्ट कज्जली तथा ताम्रपत्रभस्म को एकत्र करके पीस लें। कहीं कहीं 'पात्रार्द्धे गोमयं जलं' के स्थान पर 'पात्रोद्र्ध्वे गोमये जलं' पाठ मिलने से कोई टीकाकार यह अर्थ कहते हैं कि "ताम्रपात्र के ऊपर गोबर का थाँवला (आलवाल) बना कर उसमें थोड़ा थोड़ा करके जल डालना चाहिये।" परन्तु इससे प्रकृत पाठ ही उचित है। क्योंकि गोमूत्र से ताम्र की शुद्धि भी होती है और भस्म भी। तन्त्रान्तर में अनुपान के विषय में कुछ पाठभेद पाया जाता है, जैसे—"तुल्यं मृद्वग्निना पिण्डं जातं यावत् पचेल्लघु। त्रिनिष्कं तद्रविक्षीरैः क्वाथैर्वा त्रैफलैरनु॥" के स्थान पर "अनुपानन्तु कर्तव्यं बाकुचीफलचूर्णकम्। खदिरस्य कषायेण समेन परिपाचितम्॥ त्रिशाणं तद्रवां क्षीरैः क्वाथैर्वा त्रैफलैः पिबेत्॥" यह पाठ है। आक के दूध के स्थान पर गोदुग्ध देना अच्छा है। क्योंकि ताम्र के योग परिणाम में अत्यन्त तापवृद्धि करते हैं। यदि इनको गोदुग्ध अथवा त्रिफलाकषाय (जो पित्तविरेचक हैं) के साथ दिया जाय तो तापवृद्धि नहीं होगी। प्रकृत रस में भस्म के ऊपर थोड़ा थोड़ा गोमूत्र डालने से ताम्र की शुद्धि होती रहती है और कज्जली भी नहीं उड़ने पाती है॥ १८७—१९५॥

अल्पश्वित्रे शिलादिलेपः—

अल्प श्वेतं निघृष्यादौ रक्तमण्डलपल्लवैः।
शिलाऽपामार्गभस्मापि लिप्त्वा श्वित्रं विनाशयेत्॥

छोटे छोटे दाग वाले श्वित्रकुष्ठ को पहिले रक्तमण्डल (लाल लजावती अथवा कनेर) के पत्रों से घिस या रगड़ कर उस पर मैनसिल और अपामार्ग की भस्म समभाग में जल से पीस कर इसका लेप करना चाहिये॥ १९५॥

अंकोलादिलेपद्वयम्—

लेपो वाङ्कोलतैलेन काञ्चन्या काञ्जिकेन वा।
गुञ्जाफलाग्निमूलञ्च लेपितं श्वेतकुष्ठजित्॥ १९६॥

स्वर्णक्षीरी (सत्यानाशी) के बीजों को अंकोलबीजतैल में पीस कर लेप करने से अथवा रत्ती तथा चित्रकमूल को काञ्जी में पीस कर लेप करने से श्वेत कुष्ठ के चिह्न मिट जाते हैं॥ १९६॥

श्वित्रान्तकरसः—

सूते पले भूधरयन्त्रमध्ये सञ्जारयेद्गन्धपलं ततश्च।
सूतेन गन्धस्य पलत्रयं च दत्त्वाथ निंबूत्थरसैर्विमर्द्य॥
स्वराशिकाबाकुचिकाग्निभृंगकोरंटनीरैः परिमर्दयेत।
दिनैकमेकं कटुतुंबिनीजलैर्मर्द्य ततः काचसुकूपिकान्तः॥
निक्षिप्य भाण्डे सिकतोदरान्तर्यामद्वयं स्वेदय तं ततश्च।
ददीत वल्लद्वयमस्य कृष्णपर्णेन सार्द्धं त्वथवा तदर्द्धम्॥
पलाशमूलं त्वनुपाययीत तक्रेण सार्द्धं च ददीत पथ्यम्।
उष्णे क्षिपेत्तैलविमर्दितं च स्फोटा यदि स्युः सहसा च गात्रे

एक पल शुद्ध पारद में एक पल शुद्ध गन्धक मिला गन्धकजारण विधि से भूधरयन्त्र द्वारा गन्धक का जारण कर लें। फिर

इस समभाग गन्धक जारित पारद में शुद्ध गन्धक तीन पल मिला कर नींबू के रस से एक दिन मर्दन करें। फिर इसको स्वराशिका (कठूमर, सतपर्ण अथवा मालकागनी), बावची, चित्रक, भाँगरा, कोरण्ट (पियावांसा) तथा कड़वी तुम्बी के स्वरस में क्रमशः पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन करके सुखा लें। फिर इस कज्जली को एक कपड़मिट्टी की हुई काँच की कूपी में भर कर डाट लगा दें और वालुकायन्त्र में दबा कर छः घण्टे तक मन्द मन्द अग्नि से स्वेदन (पाक) करें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन दो वल्ल मात्रा में लेकर अथवा एक वल्ल मात्रा में लेकर पान के पत्ते में रख कर खावें। इसके ऊपर ढाक की जड़ को जल में घिस कर अनुपान रूप में पिलावें। खाने के लिये रोगी को तक्र के साथ पथ्य (भात) देवें। यदि इसके सेवन से शरीर में गरमी तथा स्फोट उत्पन्न हो जायँ तो इसी रस को तैल में मिला कर रोगी के शरीर में मर्दन करके कुछ देर धूप में बैठाना चाहिये।

विशेष वचन—रसामृत ग्रन्थ में इसको 'श्वेतारिरस' के नाम से लिखा है परन्तु उसके पाठ में निर्माणविधि अपूर्ण है, जैसे—"रसस्य पलके गन्धमिष्टिकायां सुजारयेत्। अन्यत्पलद्वयं दत्त्वा निम्बुनीरेण मर्दयेत्॥ स्वेदयेद्वालुकायन्त्रे रुद्ध्वा यामद्वयं बुधः। वल्लचतुष्टयं चास्य कृष्णपर्णेन दापयेत्॥ काकोदुम्बरिकामूलं घृष्ट्वा तदनुपाययेत्। सतक्रं च ददीतान्नं तैलमार्कातपं त्यजेत्"॥–२००॥

श्वित्रारियोगः—

पलत्रयं गन्धकभृंगकृष्णतिलोत्थतैलं कटुतुम्बिनी च।
भल्लाततैलं कटुनिम्बबीजं सर्वं समानं परिभावयेत॥२०१॥
त्रिःसप्तकं भृंगरसैस्तु तोयं श्वेतारियोगः समुपैति सिद्धिम्।
पलार्द्धमानेन ददीत चामुं सिताघृताक्तं दिनजन्मकाले॥
विवर्जयेत् शूरणमाषमांसवृन्ताकमुद्गानि कषायकादि॥

शुद्ध गन्धक, भृंगराजचूर्ण, काले तिलों का तैल, कड़वी तुम्बी के बीज, शुद्ध भिलावों का तैल, कटुनिम्ब (कड़वा नीम [पहाड़ी नीम]) बीजमज्जा; इन सबको परस्पर समान भाग तीन २ पल परिमाण में लेकर सबको एकत्र पीस कर भाँगरे के स्वरस से इक्कीस भावनायें देवें। अन्त में सुखा कर रख लें। इस प्रकार यह 'श्वित्रारियोग' तय्यार होता है। इसको प्रतिदिन प्रातःकाल अर्धपल प्रमाण मात्रा में लेकर मिश्री, घी और शहद के साथ मिला कर चटावें। इस रस के सेवनकाल में रोगी को जिमीकन्द का शाक, उड़द की दाल, माँस, बैंगन, मूंग तथा कषाय आदि पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से ८ रत्ती तक। यह रस श्वित्रान्तकरस के अभाव में सेवन किया जा सकता है। तन्त्रान्तर में इस योग का पाठ प्रकृत पाठ से अधिक सरल मिलता है। उसमें 'पलत्रयं' के स्थान पर 'फलत्रयं' पाठ मिलता है। त्रिफला रक्तविकृति या त्वचा के रोगों के लिये उत्तम लाभदायक होती है। अतः पलत्रयं के स्थान पर 'फलत्रयं' पाठ करके इसको बनाना चाहिये। पाठ इस प्रकार है—"गन्धकं त्रिफलां भृंगं भल्लातकफलानि च। कटुतुम्ब्यस्य बीजानि भृंगराजद्रवेण वै॥ भावयेच्छोषयेच्चैतत्तद्द्यात्सप्तकत्रयम्। श्वित्रारि नाम योगोऽयं भिषग्भिः प्रतिपादितः॥ टंकमात्रममुं दद्याच्छर्कराघृतमिश्रितम्। भोजयेद्वै प्रयत्नेन रजन्याश्च विशेषतः॥ सूरणक्षीरवार्ताकं मत्स्यमांसं विशेषतः। वर्जयेदम्लशाकानि श्वित्रनाशविचक्षणः॥" प्रकृत रस के 'तु तोयं' के स्थान पर 'कृतोऽयं' पाठ ही उपयुक्त है॥ २०१–२०३॥

कृष्णीकरणयोगः—

कुमार्गजन्तीनुरपक्षसागरैर्वरुत्रिशाभास्करलोकभासया।
कल्कीकृतं यन्मधुना च संयुतं करोति तारं भ्रमरप्रभं च तत्॥

कु (कालीमिट्टी), मार्ग (अपामार्ग), जन्ती (जयन्तीअरणी), नुर (तृणविशेष), पक्ष (स्वर्णमाक्षिकभस्म), सागर (समुद्रलवण), वरु (वरना), त्रिशा (देशान्तर प्रसिद्ध द्रव्य), भास्कर (अर्कमूल), लोक (कन्द गुडूची), भासा (घीकुमार का सत्व); इनको समभाग में लेकर जल के साथ पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क को मधु के साथ मिला कर तार (सफेद कुष्ठ के दाग) पर लगाने से वह स्थान भ्रमर के सदृश कृष्ण वर्ण का हो जाता है।

विशेष वचन—दूसरी पुस्तकों में इस कृष्णीकरण योग का पाठ नहीं पाया जाता है॥ २०४॥

गन्धकादिक्षारः—

गन्धकाश्वत्थरुचकश्वेतसूरणटंकणाः।
तिलपुष्पं च तत्क्षारः सप्तधा गोजलाप्लुतः॥२०५॥
तत्कर्षं मधुना श्वित्री तैलाद्यामं खरातपे।
विकृते पतिता ह्येवं स्फोटाः स्युस्तान् वरोदकैः॥
सिञ्चेत्तुर्यदिनाल्लिप्ते निशातण्डुलतालकैः।
गोतक्रकोद्रवान्नाशी सप्ताहाच्छ्वित्रजित्खलु॥२०७॥

शुद्ध गन्धक, अश्वत्थ (पीपलवृक्ष की त्वचा), सफेद रत्ती, शूरण (जंगली जिमीकन्द) तथा तिलपुष्प और तिल के पञ्चांग का क्षार, सौंचललवण, सुहागा; इन सब को समभाग में लेकर चूर्ण करके गोमूत्र में सात भावना देकर सुखा लें। इसमें से प्रतिदिन एक कर्ष परिमाण मात्रा में मधु के साथ खावें और शरीर पर तैल की मालिश करके एक प्रहर तक तेज़ धूप में बैठें। इस क्रिया या उपचार द्वारा विकृत अंग अर्थात् श्वित्र स्थान पर छाले पड़ जायँ तो उनको त्रिफलाकषाय से प्रक्षालन करना चाहिये। स्फोट निकलने के चार दिन पश्चात् स्फोट के स्थान पर हरिद्रा और हरिताल को चावलों के जल से पीस कर लेप कर दें और

रोगी को खाने के लिये गाय का तक्र तथा कोदों का भात ही देवें। इस प्रकार सात दिन इस क्षार का प्रयोग करने से सफेद कोढ़ शान्त हो जाता है ॥ २०५-२०७ ॥

उदुम्बरादिचूर्णम्—

उदुम्बरस्य मूलानि चित्रमूलञ्च निम्बजम् ।
अवल्गुजस्य बीजानि चूर्णयित्वा विचक्षणः ॥२०८॥
उष्णेन वारिणाऽक्षांशं सेवितं क्षीरभोजिना ।
कृमिजालं श्वेतकुष्ठं सहसा तद्विनिर्हरेत् ॥२०९॥

गूलर की जड़ की छाल, चित्रकमूल, नीम की जड़ की छाल, बावची के बीज; इन सब को समभाग लेकर एकत्र घोट कर सूक्ष्म चूर्ण कर लें। इसमें से प्रतिदिन एक अक्ष (कर्ष) परिमाण मात्रा में गरम जल के साथ सेवन करने और भोजन में केवल दूध व भात का ही सेवन करने से कुष्ठ के क्रिमिसमूह तथा श्वेत कुष्ठ सहसा नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ३ मासे से ४ मासे तक ॥

अंकोलादितैलम्—

अंकोलनिम्बनिर्गुंडीपत्रकाष्ठाद्यथोचितम् ।
पातालयन्त्रविधिना तैलं श्वित्रनिवर्हणम् ॥ ११० ॥

अंकोलपत्र तथा बीज, निर्गुण्डीबीज तथा पत्र, काष्ठ (दारुहरिद्रा); इन सब को समभाग में लेकर पातालयन्त्र की विधि से इनका तैल निकाल लें। इस तैल के शरीर में मलने से श्वेतकुष्ठ दूर हो जाता है।

विशेष वचन—मूल में यद्यपि पत्ते और काष्ठ का ही वर्णन है परन्तु बीजों में अधिक तैल होने से इन्हीं के बीज लेने पर कोई हानि नहीं है। यदि बादाम के छिलके आदि की भाँति तीव्रकाष्ठ-तैल की आवश्यकता हो तो केवल पत्र तथा शुष्क काष्ठ का ही तैल निकाल सकते हैं। ऐसी दशा में काष्ठ से दारुहरिद्रा का ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ २१० ॥

कुष्ठारितैलम्—

नारिकेलं हरिद्रे द्वे बाकुची वचया सह ।
अक्षभृंगकभल्लातं शाककाष्ठं च कांचनम् ॥ २११ ॥
एतानि समभागानि तैलं पातालयन्त्रतः ।
संगृह्य लेपयेत्तेन कुष्ठाष्टादशनाशनम् ॥ २१२ ॥

सूखे नारियल का छिलका, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, बावची, वच, बहेड़ाबीजमज्जा, भाँगरा, भिलावाबीज, सागौन की छाल, धत्तूरे के बीज; इनको समभाग में लेकर पातालयन्त्र द्वारा तैल निकाल लें। इस तैल के शरीर में लगाने से अठारह प्रकार का कुष्ठ नष्ट हो जाता है ॥ २११-२१२ ॥

उदरक्रिमिरोगलक्षणम्—

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः श्वसनं भ्रमः ।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च सञ्जातक्रिमिलक्षणम् ॥ २१३ ॥

उदर में क्रिमियों के उत्पन्न हो जाने पर उनके द्वारा रक्त के विषैले पड़ने से रोगी को अनियमित ज्वर, शरीर में वर्णपरिवर्तन अर्थात् पाण्डु, आन्त्र में तीव्र शूल, हृदय में पीड़ा, श्वासकष्ट और चक्कर आने लगते हैं। रोगी को कभी कभी अतीसार के वेग होने लगते हैं और शनैः शनैः भोजन में अरुचि हो जाती है।

विशेष वचन—क्रिमिरोग के विषय में माधवनिदान, चरक आदि पुस्तकों में विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वहाँ देख कर इनके भेदों तथा कार्यों का ठीक ठीक निश्चय करना चाहिये। कहीं कहीं 'श्वसनं' के स्थान पर 'छर्दनं' या 'सदनं' पाठ भी पाया जाता है ॥

अथ क्रिमिचिकित्सा ।

क्रिमिशूलहरो रसः—

अजमोदा फलास्थीनि क्षीरिणीरसगन्धकम् ।
आखुपर्णीरसं खादेत्सताम्रं क्रिमिशूलनुत् ॥ २१४ ॥

अजमोदा, त्रिफला की मींगी, दुधी, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक तथा ताम्रभस्म; सबको समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कर मूषाकानी के स्वरस से सात भावना देकर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर मूषाकानी के स्वरस के साथ सेवन करने से उदरक्रिमि तथा क्रिमिजन्य उपद्रव नष्ट हो जाते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। अजमोदा के स्थान पर यदि खुरासानी अजवायन ली जाय और क्षीरिणी से थोहर का शुद्ध दूध लिया जाय तो यह योग विशेष लाभदायक हो जाता है। 'फलास्थीनि' का कोई फल (इन्द्रयव), अस्थि (हाडजोड़) अर्थ करते हैं ॥ २१४ ॥

अग्नितुण्डरसः—

रसगन्धाजमोदानां कृमिघ्नब्रह्मबीजयोः ।
एकद्वित्रिचतुःपञ्चभागान् सविषतिन्दुकान् ॥ २१५ ॥
संचूर्ण्य मधुना सर्वं गुटिकां क्रिमिनाशिनीम् ।
खादयित्वानुतोयं च मुस्तानां कृमिशान्तये ॥ २१६ ॥
उदराध्मानतुत्यर्थं रसो ह्येष निगद्यते ।
अग्नितुण्डेति विख्यातः सर्वोदरगदापहः ॥ २१७ ॥

शुद्ध पारद एक तोला, शुद्ध गन्धक दो तोला, अजवायनचूर्ण तीन तोला, वायविडंगचूर्ण चार तोला, ढाक के बीजचूर्ण पाँच तोला, शुद्ध कुचलाचूर्ण छः तोला लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर मधु के साथ मर्दन करके गोली बना कर रख लें। क्रिमियों को नष्ट करने के लिये इसमें से प्रतिदिन एक गोली खाकर पश्चात् नागरमोथे का कषाय या फाण्ट अनुपान के रूप में पीना चाहिये। यह रस क्रिमियों के कारण पेट में उत्पन्न होने वाले आध्मान को दूर करने

के लिये अच्छा माना जाता है। यह 'अग्नितुण्डरस' के नाम से प्रसिद्ध है और सब उदररोगों को दूर करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक है। आजकल इस रस को निम्बपत्रस्वरस या श्योनाकपत्रस्वरस के साथ दिया जाता है। मुस्ता की अपेक्षा कड़वी वस्तु का अनुपान अच्छा रहता है। परन्तु ऐसे रसों को देने से पूर्व रोगी को एक दो विरेचन देकर आन्त्रों को शुद्ध कर लेना अच्छा होता है। तन्त्रान्तर में इसको थोड़े से भेद से कृमिनाशिनी गुटिका के नाम से लिखा है। जैसे—"रसगन्धाजमोदानां कृमिघ्नब्रह्मबीजयोः। एकद्वित्रिचतुःपञ्च तिन्दोर्बीजस्य षट् क्रमात् ॥ सञ्चूर्ण्य मधुना सर्वं गुटिकां कृमिघातिनाम्। खादेत्पिपासुस्तोयञ्च मुस्तानां कृमिशान्तये ॥ आखुपर्णीकषायञ्च पिबेच्चानु सशर्करम् ॥" यद्यपि मूल पाठ में कुचलाचूर्ण का कोई परिमाण नहीं दिया है तथापि रसेन्द्रचिन्तामणि के पाठानुसार तिन्दुक षट्भाग लिया जाता है। "रसगन्धाजमोदानां क्रिमिघ्नब्रह्मबीजयोः। एकद्वित्रिचतुःपञ्च तिन्दोः बीजस्य षट् क्रमात् ॥" रसेन्द्रसारसंग्रह तथा रसरत्नाकर ग्रन्थों में इस रस को द्रव्यों के अनुपात में कुछ परिवर्तन के साथ कृमिमुद्गर और कीटमर्दरस संज्ञा दी है। रसेन्द्रसारसंग्रह के कृमिमुद्गर रस में शुद्ध कुचला पाँच तोला और ढाक के बीज छः तोला है। कीटमर्दरस में भी यही अनुपान लिया गया है ॥ २१५–२१७ ॥

क्रिमिज्वरे आखुपर्णीप्रयोगः—

आखुपर्णीकषायं च शर्करां पिब सर्वथा।
कृमिज्वरोपशान्त्यर्थं खण्डामलकमत्ति वा ॥ २१८ ॥

यदि उदरक्रिमियों के कारण ज्वरोपद्रव हो तो मूषाकानी के कषाय में शर्करा मिला कर पीना चाहिये। अथवा अम्लपित्ताधिकार में वर्णित खण्डामलक अवलेह का सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—यदि इस अनुपान को अग्नितुण्डरस में दिया जाय तो वह विशेष लाभदायक होगा। 'पिब' शब्द को देखते हुये अत्ति के स्थान पर 'अद्धि' पाठ उचित प्रतीत होता है ॥२१८॥

पर्पटीप्रयोगः—

स जग्ध्वैवं पर्पटीं च स्नुहीरसं पिबेदनु।
स्नुहीरसं विना कश्चिच्छेत्तुं जन्तून्न शक्नुयात् ॥

क्रिमिरोगयुक्त मनुष्य को क्रिमिनाशक कोई पर्पटी अथवा रक्तपित्ताधिकारोक्त पर्पटी का सेवन करके स्नुही (थोहर) के स्वरस का अनुपान करना चाहिये। स्नुहीरस के अतिरिक्त और कोई औषधि क्रिमि को नष्ट नहीं कर सकती है ॥ २१९ ॥

क्रिमिशूलसंहारो रसः—

रसस्य निष्कमादाय गन्धकं तत्समं कुरु।
ताम्रं देहि तदर्द्धं च पञ्चाङ्गं शाकवारिणा ॥ २२० ॥
मर्दयेदेकदिनं रात्रौ क्षिपेत्तत्रैव यत्नतः।
क्षीरिणीक्वाथमादाय तथा कुरु दिनान्तरे ॥ २२१ ॥
दत्त्वा लघुपुटं पञ्च जयपालान् विमर्दयेत्।
देहि गुञ्जाद्वयं चास्य साज्यं शूलच्छिदे तथा ॥ २२२ ॥

शुद्ध पारद एक निष्क, शुद्ध गन्धक एक निष्क, ताम्रभस्म आधा निष्क; तीनों को एकत्र मिला कर मर्दन करके कज्जली कर लें। पश्चात् इसे सागौन के पञ्चांग के कषाय में एक दिन पर्यन्त खरल करें। और रात्रि को सागौन के कषाय में ही पड़े रहने दें। दूसरे दिन थोहर के दूध में एक रात्रि भिगो कर मर्दन करके एक अतिलघुपुट में फूक दें। स्वांगशीत होने पर औषधि को निकाल कर इसमें पाँच निष्क शुद्ध जमालगोटे का चूर्ण मिला घोट कर रख लें। इसमें से दो रत्ती मात्रा में लेकर घी में मिला कर देने से क्रिमिरोगजन्य आन्त्रशूल नष्ट होता है ॥ २२०—२२२ ॥

अजमोदादिवटिका—

अजमोदा पलाशास्थि क्षीरिणी रसगन्धकम्।
आखुपर्णीरसं खादेत्सताम्रं क्रिमिशूलवान् ॥ २२३ ॥

अजवायनचूर्ण, ढाक के बीजचूर्ण, क्षीरिणीमूलचूर्ण, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक और ताम्र; समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर घोट कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर मूषाकानी के कषाय के अनुपान से सेवन करने से क्रिमिजन्य शूल नष्ट हो जाती है।

विशेष वचन—'पलाशास्थि' के स्थान पर 'फलास्थीनि' पाठ होने पर इसका 'कृमिशूलहर रस' से कोई भेद नहीं रहता है। अतः यह पृथक् पाठ दिया गया है। अन्य कोई पुस्तकों में 'पलाशास्थि' वाला पाठ ही देखा जाता है और इसी पाठ के अनुसार रस तैय्यार करके प्रयोग करना अधिक लाभदायक होता है ॥

सूतभस्मप्रयोगः—

मधुमिश्रनिम्बपल्लवसत्त्वयुतो यदा सूतः।
क्रिमिसंघातान्नाशयति त्रिभिरहोभिरसौ ॥ २२४ ॥

पारदभस्म को निम्बपत्रस्वरस तथा मधु में मिला कर सेवन करने से यह योग तीन दिन में ही सम्पूर्ण उदरक्रिमियों को नष्ट कर देता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इसके स्थान पर "मधुमिश्रं निम्बवेल्लपलाशेन्द्रयवादपि। क्रिमिदोषान्नाशयति त्रिभिरेव दिनैस्तथा ॥" पाठ मिलता है। यदि इसी के अनुसार भी चिकित्सा की जाय तो यह योग भी अधिक लाभप्रद होगा। पारद की भस्म वाला योग सम्भवतः उदरक्रिमियों को शीघ्र नष्ट कर सके। पारद, बाह्यलेपादि योग से बाह्य क्रिमियों को शीघ्र नष्ट करता है ॥ २२४ ॥

क्रिमिहरो रसः—

शुद्धसूतं चेन्द्रयवमजमोदा मनःशिला।

पलाशबीजं तुल्यांशं देवदाल्या द्रवैर्दिनम् ॥२२५॥
मर्दयेद्भक्षयेन्नित्यमाखुकर्णीकषायकम् ।
सितायुतं पिबेच्चानु क्रिमिपातो भवत्यलम् ॥२२६॥

शुद्ध पारद, इन्द्रजौचूर्ण, अजवाइनचूर्ण, शुद्ध मैनसिल, ढाक के बीजचूर्ण; सब को समभाग में लेवें। पहिले शुद्ध पारद तथा मैनसिल की कज्जली बना उसमें अन्य द्रव्य मिला कर वन्दालडोडे के स्वरस से एक दिन पर्यन्त मर्दन करके सुखा कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन उचित मात्रा में लेकर सेवन करके मूषाकानी के कषाय में मिश्री मिला कर अनुपान करना चाहिये। इस विधि से कुछ दिन निरन्तर इस रस का सेवन करने पर अवश्य ही क्रिमि मर कर निकल जाते हैं।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में शुद्ध गन्धक भी लिया गया है। यही विधि अन्तःप्रयोग में सर्वत्र ग्रहण करनी चाहिये क्योंकि बिना गन्धक के पारद का अन्तःप्रयोग हानिकारक होता है। यदि गन्धक लेना अभीष्ट न हो तो पारद के स्थान पर रससिन्दूर ले लेना चाहिये। रसेन्द्रसारसंग्रह में मूषाकानी कषाय के अनुपान के स्थान पर शालपर्णीकषाय का अनुपान लिखा है। रसरत्नाकर तथा भैषज्यरत्नावली में मुद्गपर्णीकषाय का अनुपान लिखा है। शालपर्णी की अपेक्षा कृमिनाशक होने से मूंगपर्णी का अनुपान अधिक उपयोगी है। भैषज्यरत्नावली में इस रस को कीटारिरस के नाम से लिखा है ॥ २२५–२२६ ॥

कीटमर्दो रसः—

शुद्धसूतं शुद्धगन्धमजमोदो विडङ्गकम् ।
विषमुष्टीब्रह्मबीजं क्रमादुक्तगुणं भवेत् ॥२२७॥
चूर्णयेन्मधुना लेह्यं निष्कैकं क्रिमिजिद्भवेत् ।
कीटमर्दो रसो नाम मुस्तातोयं पिबेदनु ॥२२८॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर कज्जली कर लें। फिर इसमें अजवाइन का चूर्ण तीन भाग, विडंग का चूर्ण चार भाग, शुद्ध कुचलाचूर्ण पाँच भाग, ढाक के बीजों का चूर्ण छः भाग; मिला कर रख लें। इसमें से एक निष्कभर लेकर मधु के साथ प्रतिदिन खिलायें। यह रस क्रिमियों को नाश करता है। इसे 'कीटमर्दरस' कहते हैं। इसे खाकर मोथे का कषाय अनुपान के रूप में पीना चाहिये।

विशेष वचन—यहाँ पर 'उक्तगुणं' पाठ रुचिकारक प्रतीत नहीं होता है। इनसे यदि क्रिमिहररस के गुणों को लिया जाय तो पारद आदि द्रव्यों के अनुपान का कोई ज्ञान नहीं होता है। अतः तन्त्रान्तर दर्शन से यहाँ पर 'क्रमोत्तरगुणं' पाठ सब से अधिक ग्राह्य और रुचिकर होगा। भैषज्यरत्नावली में 'ब्रह्मबीज' के स्थान पर 'ब्रह्मदण्डी' पाठ पाया जाता है। इसके होने से ही अग्नितुण्ड-रस तथा इस रस में भिन्नता भी हो जाती है। परन्तु ब्रह्मदण्डी ब्रह्मबीज के समान कृमिघ्न नहीं है। आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक ॥ २२७–२२८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये विसर्पकुष्ठश्वित्रक्रिमिचिकित्सा नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥

एकविंशोऽध्यायः ।

वातव्याध्यादिचिकित्सनम् ।

महारोगाः—

वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः ।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः प्रकीर्तिताः ॥१॥

वातव्याधि (पक्षाघात, अपतानक आदि), पथरी, कुष्ठ (गलितकुष्ठ, श्वेतकुष्ठ), मेह (मधुमेह), उदररोग, भगन्दर, अर्श (बवासीर) और संग्रहणी; ये आठ रोग महारोग के नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्थात् चिकित्सा में ये बड़े ही कठिन साध्य रोग हैं ॥

शीतवातलक्षणम्—

तत्रानेकेऽनिलगदाः शीतवातादयः स्मृताः ।
हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चस्फुरितानि च ॥
शिरोऽक्षिवेदनाऽऽलस्यं शीतवातस्य लक्षणम् ॥२॥

वातव्याधि में शीतवात, कम्पवात आदि अनेक रोग वातप्रकोप के कारण उत्पन्न होते हैं। जिनमें शीतवात का लक्षण इस प्रकार है "शरीर के अवयवों को शीत बोध होना, उनमें रोमाञ्च (कनकनाहट) तथा स्फुरण होना (फड़कना), शिर और नेत्रों में वेदना (पीड़ा) तथा शरीर में आलस्य (कार्य करने में असमर्थता)" ये शीतवात के चिह्न हैं।

विशेष वचन—'स्फुरितानि' के स्थान पर 'ज्वरितानि' पाठ भी देखा जाता है ॥ २ ॥

वातारिरसः—

रसभागो भवेदेको गन्धको द्विगुणो मतः ।
त्रिभागा त्रिफला ग्राह्या चतुर्भागश्च चित्रकः ॥ ३ ॥
गुग्गुलुः पंचभागः स्यादेरण्डस्नेहमर्दितः ।
क्षिप्त्वात्र पूर्वकं चूर्णं पुनस्तेनैव मर्दयेत् ॥ ४ ॥
गुटिकां कर्षमात्रां तु भक्षयेत्प्रातरेव हि ।
नागरैरण्डमूलानां क्वाथं तदनु पाययेत् ॥ ५ ॥
अभ्यज्यैरण्डतैलेन स्वेदयेत्पृष्ठदेशकम् ।
विरेके तेन संजाते स्निग्धमुष्णं च भोजयेत् ॥ ६ ॥
वातारिसंज्ञको ह्येष रसो निर्वातसेवितः ।
मासेन सुखयत्येव ब्रह्मचर्यपुरःसरम् ॥ ७ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण तीन भाग, चित्रकमूलचूर्ण चार भाग लें।

पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें, बाद को अन्य सब द्रव्यों का चूर्ण उसमें मिला कर पीस लें। फिर शुद्ध गुग्गुल पाँच भाग लेकर उसे एरण्डतैल के साथ खूब कूटें। फिर उसमें पारद आदि द्रव्यों का चूर्ण मिला कर मर्दन करें। पुनः एरण्डतैल के साथ सब को मर्दन करें (कूटें)। अन्त में इसकी एक कर्ष की गोली बना कर प्रातःकाल प्रतिदिन रोगी को खिलावें। ऊपर से सौंठ और एरण्ड की जड़ का कषाय पिलावें। रोगी की पीठ पर एरण्डतैल की मालिश करके स्वेदन करें। जब विरेचन हो जाय तब रोगी को स्निग्ध तथा गरम भोजन करावें। इसे 'वातारिरस' कहते हैं। इस रस के प्रयोगकाल में रोगी को वातरहित स्थान में रहना चाहिये। ब्रह्मचर्यपूर्वक एक मास तक इस रस का सेवन करने से वातव्याधि में इसके द्वारा आराम आ जाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा एक मासा। इस रस को इसी ग्रन्थ में वातव्याधि के अतिरिक्त आमवात तथा आन्त्रवृद्धिरोग में भी प्रयोग करने को लिखा है। कई वैद्य इस रस में त्रिफला पृथक् पृथक् तीन भाग लेने को कहते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं है। रसरत्नाकर में स्पष्ट लिखा है कि "पञ्चेतिसंख्या करणात् त्रिफला एकभागकः।" यहाँ पर मान की प्रधानता है। अतः त्रिफला के मिलित भाग तीन लेने चाहियें ॥ ३-७ ॥

विजयागुटिकाप्रयोगः—

विजयागुटिकां रात्रौ स्वल्पमात्रां तु भक्षयेत् ॥ ८ ॥

वातरोगों में दुर्बलता बढ़ जाने पर वातारिरस के साथ रात्रि के समय थोड़ी सी मात्रा में पाण्डुरोगाधिकार में लिखी हुई विजया वटिका का का प्रयोग करना चाहिये ॥ ८ ॥

शीतारिरसः—

रसेन गन्धं द्विगुणं प्रगृह्य पुनर्नवावह्निरसैर्विमर्द्य ।
पक्वार्कपत्रोत्थरसेन पश्चाद्विपाचयेदष्टगुणेन यत्नात् ॥९॥
रसार्द्धभागेन विषं च दत्त्वा विपाचयेद्वह्निजलैः क्षणं तत् ।
शीतारिसंज्ञो हि रसोऽयमस्य वल्लं तदर्द्धं यदि वाऽऽर्द्रकेण॥
मरीचचूर्णेन घृतप्लुतेन सेवेत मासं सघृतं च पथ्यम्॥११॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर दोनों की कज्जली कर लें। फिर इस कज्जली को पुनर्नवा तथा चित्रकमूल-स्वरस में अलग अलग एक दिन घोटें। तदनन्तर इसको आठगुने पके हुये अर्क (आक) पत्रों के स्वरस में डाल कर द्रवभाग शोषण होने तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। तदनन्तर इसमें पारद से आधा भाग शुद्ध वत्सनाभविष का चूर्ण मिला चित्रकमूलस्वरस से घोट कर पुनः द्रवांश शोषणार्थ थोड़ी देर किसी पात्र में रख अग्नि में तपायें। द्रव भाग के सूख जाने पर रस तय्यार हो जाता है। इसे 'शीतारिरस' कहते हैं। इसको एक अथवा आधा वल्ल मात्रा में लेकर कालीमिरचचूर्ण के साथ घृत और अदरख का स्वरस मिला कर एक मास पर्यन्त निरन्तर सेवन करना चाहिये। इसके प्रयोगकाल में रोगी को घृतयुक्त पथ्य का सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—रसेन्द्रसार० में इसके सेवनकाल से मांसरस तथा घृत पथ्य लिखा है। प्रकृत रस में यद्यपि चित्रकमूलस्वरस का मान नहीं दिया है तथापि आक के पत्तों के रस से सदृश ही आठगुना लेने से कोई हानि नहीं होगी। चित्रकमूलस्वरस में पक जाने पर जब वटिका बनाने योग्य हो जाय तो उतार कर गोलियाँ भी बना सकते हैं। रसप्रकाशसुधाकर में भी यह शीतारिरस दिया है। वहाँ पुनर्नवा तथा चित्रक के कषाय से भावना देने को नहीं लिखा है। किन्तु केवल पकाने का ही आदेश है। चित्रक-कषाय से भी एक बार ही पकाना लिखा है, दो बार नहीं। रसेन्द्र-सारसंग्रह में 'तदर्द्धं यदि वार्द्रकेण' के स्थान पर 'सार्द्रं मरिचार्द्रकेण' पाठ है। इसकी अपेक्षा प्रकृत पाठ ही अच्छा है। आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥ ९-११ ॥

स्पर्शवातस्य लक्षणम्—

अंगेषु तोदनं प्रायो दाहं स्पर्शं न विन्दति ।
मण्डलानि च दृश्यन्ते स्पर्शवातस्य लक्षणम् ॥१२॥

सम्पूर्ण अंगों में तोदनवत् पीड़ा, कभी कभी दाह, त्वचा में स्पर्श शक्ति का अभाव तथा शरीर में मण्डलों की उत्पत्ति होना स्पर्शवात के लक्षण हैं। स्पर्शवात से एलर्जी-असहिष्णुता की अवस्था का भी बोध होता है। ये योग इसमें भी लाभ करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वेश्वरो रसः—

कर्षमात्रं रसस्य स्याल्लोहहिंगुलयोरपि ।
भास्वद्गगनयोश्चापि गन्धकस्य पलं मतम् ॥१३॥
व्योषगन्धकताम्राणां प्रत्येकं तु पलं पलम् ।
निम्बुद्रावेण संमर्द्य भावयेत्सप्तधा पृथक् ॥१४॥
हेमार्कस्नुक्पयोवासाहयारिविषमुष्टिभिः ।
पिण्डितं वालुकायन्त्रे स्वेदयेद्दिवसद्वयम् ॥१५॥
कर्षमात्रं तु पिप्पल्या निष्कमात्रं विषस्य च ।
संचूर्ण्य दापयेदत्र रसे सर्वेश्वराभिधे ।
गुंजामात्रं ददीतास्य स्पर्शवातापनुत्तये ॥१६॥

शुद्ध पारद एक कर्ष, लोहभस्म एक कर्ष, शुद्ध हिंगुल एक कर्ष, ताम्रभस्म दो पल, कृष्णाभ्रकभस्म एक पल, शुद्ध गन्धक दो पल, सौंठ का चूर्ण, मिरचचूर्ण, तथा पिप्पलीचूर्ण प्रत्येक एक एक पल लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर निम्बूस्वरस, धतूरास्वरस, थोहर का दूध, वासा (अडूसा) स्वरस, कनेरस्वरस तथा कुचलास्वरस की पृथक् पृथक् सात भावना देकर गोला-सा बना कर सुखा लें। अब इस

गोले को एक दृढ़ मूषा में बन्द करके बालुकायन्त्र में रख कर अत्यन्त मन्द मन्द अग्नि द्वारा स्वेदन करें। स्वांगशीत होने पर गोले को निकाल पीस कर उसमें एक कर्ष पिप्पलीचूर्ण और एक निष्क शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण मिला कर पीस लें। यह 'सर्वेश्वर रस' कहा जाता है। स्पर्शवात को नष्ट करने के लिये इसकी एक रत्ती मात्रा देनी चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। यह सर्वेश्वर रस तन्त्रान्तर में वातरक्ताधिकार में पाया जाता है और इसके द्रव्यों में भी भिन्नता है। इसका वर्णन पहिले कर चुके हैं। यहाँ पर ताम्र तथा गन्धक का दो बार पाठ होने से उनको द्विगुण लिया गया है ॥ १३-१६ ॥

अर्केश्वरो रसः—

रसेन गन्धं द्विगुणं प्रमर्द्य ताम्रस्य चक्रेण सुतापितेन।
आच्छाद्य भूत्या तु ततः प्रयत्नाच्चक्रीविलग्नं तु रसं प्रगृह्य ॥
विचूर्ण्य तद्द्वादशधाऽर्कदुग्धैः पुटेत वह्निस्त्रिफलाजलैश्च।
संभावितोऽर्केश्वर एष सूतो गुंजाद्वयं चास्य फलत्रयेण ॥
ददीत मासत्रितयेन सुप्तवाताद्विमुक्तो हि भवेद्धिताशी ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग लेकर दोनों की कज्जली कर लें। फिर इस कज्जली को तीन भाग शुद्ध ताम्र के कण्टकवेधी पत्रों के चक्र (सम्पुट या कटोरी) में बन्द करके इसको एक दूसरे सम्पुट में बन्द करके पुट में फूक दें। स्वांगशीत होने पर ताम्रपत्र सहित कज्जली (यदि शेष हो तो) को निकाल पीस कर उसे अर्कदुग्ध के साथ घोट कर बारह लघुपुट दें। फिर उसे चित्रकमूलस्वरस से बारह लघुपुट दें। अन्त में त्रिफलाकषाय की बारह लघुपुट दें। यह 'अर्केश्वररस' कहा जाता है। इसकी दो रत्ती मात्रा त्रिफलाकषाय के साथ देनी चाहिये। तीन मास तक पथ्य भोजन करता हुआ इसका सेवन करने से सुप्तवात रोग से मुक्त हो जाता है।

विशेष वचन—यद्यपि मूल पाठ के शब्दार्थ के अनुसार पारद गन्धक की कज्जली को ताम्रपत्र से आच्छादन कर तपाना चाहिये। जब पारद ताम्रपत्र में चिपक जाय उसे निकाल कर आक, चित्रक, त्रिफला-कषाय की पुट देनी चाहिये। यह अर्थ होता है। परन्तु न इस विधि से पारद ताम्रपत्र में चिपकता है और न चिपक जाने पर भी उसे आक आदि की बारह पुट देने पर वह टिक ही सकता है। साथ ही ताम्र के अतिरिक्त केवल पारद को ही पुट देकर रस सिद्ध करने पर इसको अर्क (ताम्र) ईश्वर रस के माम से कहना भी कुछ अधिक रुचिकर नहीं होता है। अतः तन्त्रान्तर के पाठानुसार हमने उक्त अर्थ किया है। उसमें भी यदि ताम्रपत्र की अच्छी तरह भस्म न हो तो पुनः कज्जली से एक बार पकाना चाहिये। तन्त्रान्तर में इस प्रकार पाठ मिलता है—"पलानी-शस्य चत्वारि बलेर्द्वादश तावती। ताम्रस्य चक्रिका देया रसस्योर्द्ध्वं शरावकम् ॥ दत्वा निरुध्य तद्भाण्डं पूरयेद्बसना दृढम् अग्निं प्रज्वालयेद् यामत्रयं शीतं त्रिचूर्णयेत् ॥ पुटेद् द्वादशधा सूर्यदुग्धेनालोडितं पुनः। वरापावकभृंगाणां द्रवैस्त्रिस्त्रिश्च भावयेत् ॥ अयमर्केश्वरो नाम्ना रक्तमण्डलकुष्ठजित्। गुञ्जाद्वयं ददीतास्य लवणादि विवर्जयेत् ॥" इसमें गन्धक पारद से तीन गुना लिया गया है। और भृंगराज के स्वरस से तीन पुट अधिक दी गई है।

स्पर्शवातघ्नरसः—

तारं रसेनाष्टगुणं जयांशं विमर्द्य यत्नाद्गुलिकां गुडेन।
निबद्ध्य तां सेवय मासयुग्मं दिनोदये स्पर्शविकारशान्त्यै

रजतभस्म आठ भाग, शुद्ध भाँग आठ भाग, रससिन्दूर एक भाग; सबको एकत्र पीस कर गुड़ (पुराना) मिला कर गोला बना लें। इसमें से प्रतिदिन प्रातःकाल एक गोली दो मास पर्यन्त सेवन करें। इससे स्पर्शवात रोग नष्ट होता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा, चूर्ण से द्विगुण गुड़ मिलाने पर १ मासा, सम गुड़ मिलाने पर ½ मासा। रसेन्द्रसारसंग्रह तथा रसेन्द्रचिन्तामणि में इस योग का नाम तालकेश्वररस है। पाठ इस प्रकार है—"एकभागो रसस्य स्यात् शुद्धतालैकभागिकः। अष्टौ स्युर्विजयायाश्च गुडिकां गुडतश्चरेत् ॥ एकैकां भक्षयेत्प्रातश्छायायामुपवेशयेत्। तालकेश्वरनामायं रोगश्चास्पर्शनाशनः ॥२०॥

स्पर्शवाते राजवृक्षप्रयोगः—

मूलं पिबेद्राजतरोः शरीरं मासद्वयं तेन विलेपयेत ॥२१॥

स्पर्शवातरोग में रोगी को दो मास तक अमलतास की जड़ की छाल का कषाय पिलावें और उसी के कल्क का स्पर्शशून्य स्थान पर लेप भी करें। तो स्पर्शवात रोग नष्ट होता है ॥ २१ ॥

चक्रमर्दादिप्रयोगः—

यद्वा सुचूर्णीकृतचक्रमर्दबीजं सुगोमूत्रपरिप्लुतं च।
अर्कस्नुहीक्षीरनिशाद्वयेन युक्तं भजेन्मण्डलनाशनाय ॥

अथवा स्पर्शवातरोग को नाश करने के लिए चक्रमर्द के बीजों का चूर्ण गोमूत्र में मिला कर दो मास तक पिलाना चाहिये। और मण्डलों को मिटाने के लिये चक्रमर्दबीज, हरिद्रा तथा दारुहरिद्रा-चूर्ण को थोहर तथा आक के दूध में मिला कर इसका लेप करना चाहिये। यह एक ही योग है और वह भी वाह्य प्रयोग के लिये चक्रमर्दके बीजों को गोमूत्र में आप्लावित-भिगो कर पीस लें। फिर इसमें आक का दूध, स्नुही, का दूध, हल्दी, दारुहल्दी मिलाकर चकत्तों पर (शीत पित्त या उदर्द के मण्डलों पर) लगाना चाहिये ॥२२॥

स्पर्शवातान्तकृद्वटिका—

अष्टौ भागा रसस्य स्तुर्विषतिन्दोर्दशैव तु।
गन्धकस्य दश द्वौ च कटुत्रिफलयोस्त्रयः ॥ २३ ॥

वह्निचित्रकमुस्तानां वचाश्वगन्धयोरपि ।
रेणुकाविषकुष्ठानां पिप्पलीमूलनागयोः ॥ २४ ॥
एकैकस्तु भवेद्भाग इत्याद्यायास्तथैव च ।
चतुर्विंशद्गुडस्यात्र वटिका चणकाकृतिः ॥
क्रमेणैवानुसेवेत स्पर्शवाताऽपनुत्तये ॥ २५ ॥

शुद्ध पारद आठ भाग (तोला), शुद्ध कुचलाचूर्ण दस भाग, शुद्ध गन्धक बारह भाग, चित्रकटुचूर्ण तीन भाग, त्रिफलाचूर्ण प्रत्येक तीन भाग, शुद्ध भल्लातकचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, मुस्ताचूर्ण, वचाचूर्ण, असगन्धचूर्ण, रेणुकाचूर्ण, वत्सनाभचूर्ण, कुष्ठचूर्ण, पिप्पलीमूलचूर्ण नागकेशरचूर्ण; प्रत्येक एक एक भाग, इन्द्रायण की जड़ का चूर्ण एक भाग, पुराना गुड़ चौबीस भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर पीस कर चने के बराबर गोलियाँ बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक एक वटी का सेवन करने से स्पर्शवात नष्ट हो जाता है।

विशेष वचन—इसको किसी ने 'रसादिवटी' और किसी ने 'वातारिरस' तथा किसी ने 'वातगजांकुशरस' नाम से भी लिखा है। 'इत्याद्यायास्तथैव च' के स्थान पर 'इन्द्रायणमूलतस्तथा' पाठ अच्छा है। कहीं कहीं 'एकः कल्प्योऽयसस्तथा' पाठ भी पाया जाता है ॥ २३—२५॥

स्पर्शवातारितैलम्—

त्रिगन्धकं तुत्थकमश्वगन्धाहयारिनागाशितिवायसीनाम् ।
मूलानि संचूर्ण्य सुभाण्डके च तैलं क्षिपेत्तेन चतुर्गुणेन ॥
पक्वार्कपत्रोत्थरसेन पश्चाद्विपाचयेदष्टगुणेन यत्नात् ।
तत्स्पर्शवाताय भवेद्धि तैलं विलेपयेत्तेन च तत्प्रदेशम् ॥

दालचीनी, तेजपत्र, इलायची, तूतिया, असगन्ध, कनेर, नाग (नागकेसर अथवा नाकुली), अशिति (भोजपत्र), वायसी (काकमाची या कौआठोडी) की मूल; प्रत्येक समभाग लेकर बारीकचूर्ण करके कल्क बना लें। इससे चौगुना कड़वा तैल और तैल से आठगुना पके हुये आक के पत्तों का रस लें। इन सबको एक बड़े पात्र में डाल कर तैलसाधन विधि से तैल बना लें। यह तैल स्पर्शवात को नष्ट करने के लिये उत्तम है। इसको शरीर में जहाँ स्पर्शवातजन्य पीड़ा हो वहाँ अच्छी तरह मालिश करना चाहिये।

विशेष वचन—'त्रिगन्धं' का अर्थ कहीं कहीं हरताल, गन्धक तथा मैनसिल भी लिया जाता है। कुष्ठहर होने से यही अर्थ ठीक है ॥ २६—२७ ॥

स्पर्शवाते त्रिगन्धप्रयोगः—

हियावलीक्वाथविपाचितं च स्पर्शप्रणाशाय ददेत्त्रिगन्धम् ॥

त्रिगन्ध (हरताल, मैनसिल, तथा गन्धक अथवा दालचीनी, इलायची, तेजपत्र) को समभाग में लेकर हियावली के कषाय में सात बार भावना देकर सुखा कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन १ माशा भर मात्रा में गरम जल से सेवन करने पर स्पर्शवात नष्ट हो जाता है।

हियावलीप्रयोगः—

हियावलीकन्दविलेपनाच्च अस्पर्शदेशः क्षरमेति यत्नात् ।
यवानिकासिद्धघृतेन वापि स्पर्शप्रणाशाय विलेपयेत् ॥२९॥

हियावली के कन्द को पीस कर स्पर्शवातयुक्त स्थान पर लेप करने से स्पर्शवात (शून्यता) नष्ट हो जाता है। इस प्रयोग के अनन्तर [अथवा स्वतन्त्र रूप में] स्पर्शवातयुक्त स्थान पर अजवायन के कल्क से सिद्ध घृत का लेप करना चाहिये ॥ २९ ॥

अर्कदुग्धप्रयोगः—

अर्कोत्थदुग्धेन विलेपनाच्च स्फोटीभवेत्तस्य ततः प्रदेशः ।
घृतेन चोक्तेन विलेपनाद्वा स्पर्शो लयं याति च तत्क्षणेन ॥

स्पर्शवातयुक्त प्रदेश पर आक का दूध का लेप करने से कुछ दिनों में उस स्थान पर छाले पड़ जाते हैं। तब उस छाले वाले प्रदेश पर पूर्वोक्त अजवाइनसिद्ध घृत का लेप करने से उस स्थान की शून्यता शीघ्र ही शान्त हो जाती है ॥ ३० ॥

हल्यादिलेपः—

यद्वा हलीसूरणकं हिताश्च स्पर्शान्तकः स्यात्खलु लेपनेन ॥

अथवा स्पर्शवातयुक्त प्रदेश पर कलिहारी, जिमीकन्द, सिता (शर्करा या बावची) का समभाग लेप करने से वह नष्ट हो जाता है ॥ ३१ ॥

रसेन्द्रलेपः—

आदौ शिरामोक्षणतो रसेन्द्रविलेपनं चापि नियोजयन्ति ॥

कोई कोई वैद्य लोग, स्पर्शवात के लिये पहिले उस स्थान का शिरामोक्षण करके रक्त निकालने के पश्चात् पारद का लेप तथा पारदभस्म का सेवन भी कराते हैं ॥ ३२ ॥

गन्धाश्मगर्भरसः—

गन्धं रसेनाष्टगुणं विमर्द्य कृशानुतोयेन विपाचयेत् ।
मृद्वग्निना लोहमयेऽथ पात्रे विषेण पश्चादपि सिद्धिमेति ॥
गन्धाश्मगर्भो हि रसोऽस्य सर्वास्पर्शप्रणुत्त्यै भज वल्लयुग्मम् ।
सक्षीरमन्नं सघृतं च भोज्यं वर्ज्यं च सर्वं परिवर्जनीयम् ॥

शुद्ध पारद एक भाग (तोला), शुद्ध गन्धक आठ भाग, दोनों की कज्जली करके एक लोहे की कड़ाही में डाल चित्रकमूलकषाय के साथ मन्द मन्द अग्नि से पकावें। जब कषाय शुष्क हो जाय तो उसे उतार निकाल कर पीस लें और उसमें पारद के समभाग शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण मिला खरल करके रख लें। यह 'गन्धाश्मगर्भरस' तय्यार हो गया। स्पर्शवात रोगों को शान्त

करने के लिए इसकी दो वल्ल मात्रा प्रतिदिन सेवन करनी चाहिये। इस योग के सेवन काल में दूध भात और घृत का सेवन करना चाहिये और अन्य सब पदार्थ छोड़ देने चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती ॥ ३३—३४ ॥

द्वितीयगन्धाश्मगर्भरसः—

गन्धकं चूर्णितं कृत्वा सूक्ष्मवस्त्रेण बध्य च।
भाण्डे गोदुग्धकं दत्त्वा प्रावृतं खर्परेण च ॥ ३५ ॥
अग्निं प्रज्वालयेदूर्ध्वं पश्चाच्छीतं समुद्धरेत्।
गन्धकाष्टकभागेन रसं दत्वाऽथ पाचयेत् ॥ ३६ ॥
मृद्वग्निना शीतमुभावुत्तार्योत्तार्य यत्नतः।
यावद्गन्धकरूपस्य पूर्वस्य ह्यन्यथा भवेत् ॥ ३७ ॥
सप्तगुञ्जं ददीतास्य यावत्स्यादेकविंशतिः।
प्रत्यहं तु हरीतक्या गुञ्जा देयैकविंशतिः ॥ ३८ ॥
सक्षीरं सघृतं चान्नं भोजयीत सशर्करम्।
निर्वाते चावतिष्ठेत कम्पस्पर्शापनुत्तये ॥
गन्धाश्मगर्भसंज्ञोऽयं योगिभिः परिकीर्तितः ॥ ३९ ॥

गन्धकशोधन विधान के अनुसार एक हाँडी या पतीली में दूध भर कर उसके मुँह पर एक दृढ़ स्वच्छ कपड़ा बाँध दें। अब इस वस्त्र में गन्धक का चूर्ण बिछा दें और गन्धक के ऊपर एक शराव औंधा करके रख दें। शराव और पात्र के किनारों पर सन्धिलेप कर दें। पश्चात् शराव के ऊपर कोयलों की अग्नि जलायें। जब सब गन्धक पिघल कर दूध में आ जाय और पात्र ठण्डा हो जाय तो गन्धक को निकाल कर गरम जल से अच्छी तरह धोकर सुखा लें। यह गन्धक की शुद्धि है। इसमें से आठ तोला गन्धक लेकर उसमें एक तोला शुद्ध पारद मिला कर कज्जली कर लें। इस कज्जली को एक लोहपात्र में थोड़ा घी लगा कर डालें और मन्द मन्द अग्नि से पकायें। जब कज्जली पिघल जाय तो उसे उतार कर ठण्डा कर लें। पुनः जमने पर अग्निपर रख के पिघलायें और पुनः उतार कर ठण्डा कर लें। इस प्रकार तब तक करते जायँ जब तक कि गन्धक का अपना स्वरूप (पीलापन) बिलकुल न बदल जाय। पश्चात् पीस कर रख लें। इसमें से प्रथम दिन सात रत्ती प्रमाण में सेवन करें। दूसरे दिन से प्रतिदिन एक एक रत्ती मात्रा बढ़ाते जायँ। इस प्रकार जब पन्द्रह दिन में इक्कीस रत्ती मात्रा तक पहुँच जावें तो इसका सेवन छोड़ दें। परन्तु प्रतिदिन इस रस के साथ इक्कीस रत्ती हरीतकीचूर्ण भी मिला कर देना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में रोगी को दूध, घी और शर्करा मिला कर भोजन (अन्न-भात) देना चाहिये। और रोगी को निर्वात स्थान में रहना चाहिये। इसके सेवन से स्पर्श तथा कम्पवात नष्ट होते हैं। इसको योगियों ने 'गन्धाश्मगर्भ रस' के नाम से लिखा है।

विशेष वचन—यह रस तन्त्रान्तर में 'द्विगुणाख्यरस' तथा 'त्रिगुणाख्यरस' के नाम से मिलता है। तीन द्रव्यों (पारद, गन्धक और हरड़) के योग के कारण इसको त्रिगुणाख्य लिखा गया है। रसेन्द्रसारसंग्रह में इसको द्विगुणाख्यरस लिखा है। जिसका पाठ और विधि प्रकृत पाठ से कुछ भिन्न है। जैसे—"गन्धकाद् द्विगुणं सूतं शुद्धं मृद्वग्निना क्षणम्। पक्त्वाऽवतार्य सञ्चूर्ण्य चैतत् तुल्याभयान्वितम् ॥ सप्तगुञ्जमितं खादेद् वर्द्धयेच्च दिने दिने। गुञ्जैकैकक्रमेणैव यावद् स्यादेकविंशतिः ॥ क्षीराज्य-शर्कराभिश्च शाल्यन्नं पथ्यमाचरेत्। कम्पवातप्रशान्त्यर्थं निर्वाते निवसेत्सदा ॥ द्विगुणाख्यो रसो नाम त्रिपक्षात् कम्पवातजित् ॥" इसके अनुसार द्विगुण गन्धक की कज्जली को लोहपात्र में मन्द २ अग्नि पर पिघला कर पहिले पर्पटी बना ली जाती है। पश्चात् इसमें समभाग हरीतकीचूर्ण मिला पीस कर रख लिया जाता है। परन्तु प्रकृतरस में हरीतकीचूर्ण प्रथम दिन त्रिगुण मात्रा में लिया जाता है। और पन्द्रह दिन तक इक्कीस ही रत्ती मात्रा में रहता है ॥

अस्पर्शारिरसः—

पलाशबीजोत्थरसेन सूतं गन्धेन युक्तं त्रिदिनं विमर्द्य।
श्लक्ष्णीकृते तद्विषमुष्टिबीजं संयोजनीयं च कलाप्रमाणम् ॥
मासत्रयं निष्कमितं प्रयत्नात्स्पर्शप्रणुत्यै खलु सेवयेत्तत् ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक एक भाग लेकर दोनों की कज्जली करें। इस कज्जली को तीन दिन तक ढाक के बीजों के रस में अच्छी तरह मर्दन करें। तत्पश्चात् इसमें सोलहवाँ भाग शुद्धकुचलाबीजचूर्ण मिला कर अच्छी तरह घोट सुखा कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन एक निष्क मात्रा में लेकर तीन मास तक सेवन करना चाहिये। इससे स्पर्शवातरोग नष्ट होता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥

रक्तवातस्य लक्षणम्—

पादयोश्च भवेत्तापः श्वयथुश्च प्रजायते।
रक्तच्छायाशरीरे च रक्तवातस्य लक्षणम् ॥ ४२ ॥

पैरोंमें ताप (गर्मी दाह) तथा शोथ का होना, सर्वशरीर में रक्तच्छाया (लालमण्डलों की उत्पत्ति) का होना रक्तवात का लक्षण है ॥ ४२ ॥

अथ रक्तवातचिकित्सा।

हरीतक्यादिचूर्णम्—

त्रियोनिरसगुंजैकां प्रथमं दापयेद्भिषक्।
हरीतक्यामलक्यौ च गुडूचीं कटुकां तथा ॥
पंचांगानि च निम्बस्य चूर्णयित्वा च पाययेत् ॥ ४३ ॥

रक्तवात की शान्ति के लिये पहिले एक रत्ती त्रियोनिरस (कामलाधिकारोक्त) देकर पश्चात् हरड़, आँवला, गुडूची, कुटकी

तथा नींबू के पञ्चांग (त्वचा, पत्र, पुष्प, बीज मज्जा तथा मूल) का समभाग चूर्ण उचित मात्रा में जल से सेवन कराना चाहिये ॥

कोकिलाक्षादिकषायः—

कोकिलाक्षस्य मूलानि गुडूचीं नागरं तथा।
क्वाथयित्वा रजन्यां तु पाययेदतिशीतलम् ॥ ४४ ॥

तालमखाने की जड़, गुडूची, सौंठ; इनको समभाग में लेकर सायंकाल कषाय बना कर रख लें। प्रातःकाल इसे छान कर रक्त वातरोगी को पिलाना चाहिये ॥ ४४ ॥

संशोधनोपदेशः—

अग्रे शिराविमोक्षार्थं यवचिंचाविरेचनम्।
वान्तिमंकोलबीजेन देवदालीजलेन वा ॥ ४५ ॥

रक्तवात की चिकित्सा करने से पूर्व रोगी का शिरामोक्षण करना चाहिये। इसके लिये पहिले रोगी को यवचिञ्चा (यवतिक्ता हिरणखुरी) कषाय से विरेचन और अंकोलबीजकल्क से अथवा बन्दाल डोडे के कषाय से वमन करानी चाहिये। पश्चात् शिरामोक्षण करके चिकित्सा आरम्भ करनी चाहिये ॥ ४५ ॥

रक्तवातेऽपथ्यम्—

शूरणं माषवृन्ताकं राजिकादि विवर्जयेत् ॥ ४६ ॥

रक्तवातरोग में जिमीकन्द, उड़द की दाल, बैंगन तथा राई, मिरच, मसाले आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिये ॥

आमवातलक्षणम्—

कट्यां व्यथा भवेन्नित्यं सन्धिषु श्वयथुर्भवेत्।
उत्थानेऽप्यसमर्थत्वमामवातस्य लक्षणम् ॥४७॥

सदा कटिप्रदेश में व्यथा होना, शरीर की सन्धियों में विशेषतः हाथ पैरों की मोटी मोटी सन्धियों में सूजन होना, उठने-बैठने में असामर्थ्य होना आमवात का लक्षण है ॥ ४७ ॥

अथ आमवातचिकित्सा।

वातारिरसप्रयोगः—

एरण्डतैलसंयुक्तं वातारिरसमेव च।
आमवातप्रशान्त्यर्थं दद्यीतोष्णेन वारिणा ॥४८॥

आमवातरोग को शान्त करने के लिये पूर्वोक्त वातारिरस को एरण्डतैल में मिला कर गरम जल के साथ प्रयोग करना चाहिये ॥

अनिलारियोगः—

आमानिलस्यास्य रसोऽनिलारिश्चैरण्डतैलेन सकौशिकेन।
कटुत्रयेणापि सगन्धकेन वल्लैकमानं परिषेवयेत ॥४९॥

आमवातरोग से पीड़ित मनुष्य को, अनिलारिरस (वातारिरस अथवा रसेन्द्रसारसंग्रहोक्त वातारिरस) को एरण्डतैल, शुद्ध गुग्गुलु तथा त्रिकटुचूर्ण और शुद्ध गन्धकचूर्ण के साथ मिला कर सेवन करना चाहिये। अनिलारिरस की मात्रा एक वल्ल परिमाण, गुग्गुलु एक मासा, त्रिकटुचूर्ण छः रत्ती होना चाहिये ॥ ४९ ॥

आमवाते एरण्डतैलप्रशंसा—

आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः।
एक एवाग्रणीर्हन्ता एरण्डस्नेहकेसरी ॥५०॥

शरीर रूपी वन में विचरने वाले (चलने फिरने वाले) आमवात रूपी गजेन्द्र (हाथी) को नष्ट करने के लिये केवल एक एरण्डतैल रूपी सिंह ही सर्वश्रेष्ठ औषधि है ॥ ५० ॥

अपस्मारलक्षणम्—

मूर्च्छा शरीरस्य भवेदकस्माद्गात्रेषु कम्पश्च मुखे च फेनः।
एवं त्वपस्मारगदं विदित्वा नियोजयेत्पर्पटिकाख्यसूतम् ॥

मनुष्य को अकस्मात् मूर्च्छा, शरीर में कम्प, मुख से झाग आना देख कर अपस्माररोग (मृगी) का निश्चय करके रोगी को रक्तपित्ताधिकारोक्त पर्पटी रस का प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—अपस्मार आकस्मिक वेग रूप से होने वाली व्याधि है। इसमें रोगी सहसा गिर पड़ता है, हाथ पैर काँपने लगते हैं, मुख से झाग निकलता है, श्वास बड़ी तेजी से निकलता है, नेत्र विकृत हो जाते हैं। कुछ देर बाद रोगी को स्वयं चेतना हो जाती है ॥ ५१ ॥

पर्पटीरसस्य प्रयोगविधिः—

पर्पटीरसगुंजे द्वे ब्राह्मीरससमन्विते।
खादयेद्रोगिणं वैद्योऽपस्मारानिलशान्तये ॥५२॥

अपस्मार रोग में वातप्रकोप को शान्त करने के लिये वैद्य को चाहिये कि वह रोगी को दो रत्ती पर्पटी रस को ब्राह्मीस्वरस के साथ प्रतिदिन सेवन करावे ॥ ५२ ॥

ब्राह्म्यादिनस्यम्—

ब्राह्मी शुंठी वचा कुष्ठं नीलोत्पलससैन्धवम्।
पिप्पलीमपि संचूर्ण्य ब्राह्मीद्रावेण भावयेत् ॥५३॥
सप्तधा नवनीतेन पचेत्क्षिप्त्वा घृतं शुचौ।
वराहकर्णरक्तेन कर्कोट्या नस्यमाचरेत् ॥५४॥

ब्राह्मी, सौंठ, वच, कूठ, नीलोफर, सैन्धानमक तथा पिप्पली; इन सबका चूर्ण समभाग में लेकर ब्राह्मीस्वरस तथा मक्खन से सात भावना देकर कल्क बना लें। इस कल्क से चौगुना गाय का घी, और घी से दुगुना वाराह (सूअर) के कान का रक्त, तथा द्विगुण कर्कोटी (ककोड़ा) का स्वरस लेकर सबको एकत्र एक स्वच्छ पात्र में डाल कर घृत तय्यार कर लें। इस घृत का नस्य देने से भी अपस्मार रोग नष्ट होता है ॥ ५३—५४ ॥

गवाक्ष्यादिनस्यम्—

शुष्कां गवाक्षीमादाय घृष्टं कांस्यं च कम्बलम्।
गोघृतेनाऽऽयसं पिष्टाऽप्यागते नस्यमाचरेत् ॥५५॥

सूखी हुई इन्द्रायण की जड़ को कांसे के पात्र में जल से घिस कर उसमें घी मिला नस्य देने से, अथवा इन्द्रायण की जड़ को

लोहे के पात्र में ऊन के साथ घिस कर गोघृत मिला कर नस्य देने से होता हुआ अपस्मार का दौरा रुक जाता है ॥ ५५ ॥

अपस्मारनस्यम्—

श्वेतापराजिताबीजं विजयाबीजमेव च ।
नरमूत्रेण संपिष्य नस्यं दद्याद्भिषग्वरः ॥५६॥

सफेद अपराजिता के बीज तथा भाँग के बीजों को पुरुष के मूत्र में घिस कर नस्य देने से अपस्मार रोग नष्ट हो जाता है ॥५६॥

शुनोऽस्थिनस्यम्—

उन्मत्तकशुनोस्थीनि घृष्ट्वा तेनैव वा कुरु ॥ ५७ ॥

पागल कुत्ते की अस्थि (हड्डी) को पुरुष के मूत्र में घिस कर नस्य देने से भी अपस्मार का वेग रुक जाता है ॥ ५७ ॥

अपस्मारहरयोगः—

श्वेतापराजितामूलं कर्णे बद्ध्वा सदा बुधः ।
निर्गुण्डीमूलकं जग्ध्वा ह्यपस्माराद्विमुच्यते ॥ ५८ ॥

सफेद अपराजिता की जड़ को सदा कान में बाँधने और निर्गुण्डी की जड़ के चूर्ण का प्रतिदिन सेवन करने से अपस्मार रोग शान्त हो जाता है ॥ ५८ ॥

उन्मादवातलक्षणम्—

बहु कृत्वा प्रलापैश्च विस्मृतिः कार्यवस्तुषु ।
हन्ति धावति सर्वत्रोन्मादवातस्य लक्षणम् ॥ ५९ ॥

किसी कार्य तथा वस्तु का विशेष और शुद्ध ज्ञान न होना, अनेक प्रकार की बकवास करना तथा व्यर्थ ही कभी इधर और कभी उधर दौड़ना और किसी को मारना उन्माद वात का लक्षण है ।

विशेष वचन—उन्माद रोग में नाड़ीमण्डल इतना क्षुब्ध हो जाता है कि उसमें रोगी के मस्तिष्क में जो विचार उठते हैं उनको आधीन करने की शक्ति रोगी में नहीं रहती है । अतः वह मनुष्य असम्बद्ध भाषण (प्रलाप) करने लगता है । कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी चुप रहता है, कभी दौड़ने, कभी मारने या गाली देने लगता है ॥ ५९ ॥

उन्मादचिकित्सा ।

उन्मादे पर्पटीरसप्रयोगः—

पर्पटीरसगुंजाष्टौ धत्तूराद्बीजपंचकम् ।
गोघृतेन च संयोज्य खादेदुन्मादशांतये ॥ ६० ॥

रक्तपित्ताधिकारोक्त रसपर्पटी आठ रत्ती, शुद्ध धतूरबीज पाँच संख्या दोनों को एकत्र पीस कर गाय के घी या मक्खन में मिला कर सेवन कराने से उन्माद रोग शान्त होता है ।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रह में इस योग को 'उन्मादपर्पटी' नाम से लिखा है, यथा "कृष्णधत्तूरजैर्बीजैः पञ्चभिः पर्पटीरसः । संप्रयोज्यः प्रशमयेदुन्मादं भूतसम्भवम् ॥" पर्पटीरस से पित्तपापड़े का स्वरस लेना उचित नहीं है ॥ ६० ॥

उन्मादे उपचारविशेषाः—

सघृतं माषमण्डं वा पाययेद्घृतदुग्धकम् ।
निम्बतैलं समुद्धृत्य स्वभ्यज्यापादमस्तकम् ॥ ६१ ॥
गुर्वन्नं प्रायशो दद्याच्छुष्कशाकं च वर्जयेत् ।
बद्ध्वापि रक्षयेत्तावद्यावच्छान्तिं स गच्छति ॥ ६२ ॥

उन्माद में वातप्रकोप को शान्त करने के लिये रोगी को उड़द के मण्ड अर्थात् उड़द के कषाय में घृत मिला कर भोजन के रूप में देना चाहिये । अथवा घी और दूध का विशेष सेवन कराना चाहिये । गुरु अन्न (पोषक अन्न) का प्रयोग इस रोग में प्रायः करना चाहिये । परन्तु शुष्क शाक तथा शुष्क मांस का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यदि रोगी इधर उधर भागता हो और किसी को मारता हो तो उसे तब तक बाँध कर एकान्त स्थान में रखना चाहिये जब तक कि वह शान्त न हो जाय निम्बबीजमज्जा का तैल निकाल कर रोगी के सर्व शरीर में मालिश करना चाहिये ।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में उन्माद रोगी के लिये निम्नलिखित पथ्य का उपदेश मिलता है—"गोधूममुद्गाऽरुणशालयश्च धारोष्णदुग्धं शतधौतसर्पिः । घृतं नवीनं च पुरातनं च कूर्मामिषं धन्वरसाः रसालम् ॥ पुराणकूष्माण्डफलं पटोलं ब्राह्मीदलं वास्तुकतण्डुलीयम् । खराश्वमूत्रं गगनाम्बुपथ्या सुवर्णचूर्णानि च नारिकेलम् ॥ द्राक्षा कपित्थं पनसं च वैद्यै र्विधेयमुन्मादगदेषु पथ्यम् ॥" अन्य उपचारों के विषय में भी तन्त्रान्तर में ताडन बन्धन आदि का वर्णन मिलता है, यथा "तर्जनं त्रासनं दानं सान्त्वनं हर्षणं भयम् । विस्मयो विस्मृतेर्हेतो नयन्ति प्रकृतिंमनः ॥"

माहेश्वरो धूपः—

माहेश्वराख्यधूपश्च दापयेत्सततं निशि ।
श्रीवेष्टं दारु वाह्लीकं मुस्ता कटुकरोहिणी ॥ ६३ ॥
सर्षपा निम्बपत्राणि मदनस्य फलं वचा ।
बृहत्यौ सर्पनिर्मोकः कार्पासास्थि यवस्तुषाः ॥ ६४ ॥
गोशृङ्गं खररोमाणि बर्हिपिच्छं बिडालविट् ।
छागरोमघृतं चेति वस्तमूत्रेण भावयेत् ॥
एष माहेश्वरो धूपः सर्वग्रहनिवारणः ॥ ६५ ॥

उन्मादरोगी को प्रतिदिन सायंकाल रात्रि में निम्नलिखित माहेश्वरधूप देना चाहिये । गन्धाविरोजा, देवदारु, हींग, नागरमोथा, कुटकी, पीले सरसों, नीम के पत्ते, मैनफल, वच, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, साँप की काँचली, बिनौला, तुष सहित जौ, गाय का सींग, गधे के बाल, मोर का पंख, बिल्ली की विष्ठा, बकरे के बाल का चूर्ण; प्रत्येक समभाग लेकर बकरे के मूत्र में सात वार भावना दे सुखा कर रख लें । इसे 'महेश्वराधूप' कहते हैं । इसकी धूप

उन्मादरोगी को देने से उन्माद तथा सब प्रकार के ग्रहों (गन्धर्व, पितर, यक्ष, पिशाच आदि) को दूर करता है।

विशेष वचन-रोगी को एक कमरे में रख कर उसमें इस धूप को जलाना चाहिये ॥ ६३-६५ ॥

अथैकाङ्गवातलक्षणम्-

एकस्मिन्देहदेशे च तोदः कार्श्यं चलात्मता।
हिमस्पर्शश्च दृश्येतैकांगवातस्य लक्षणम् ॥ ६६ ॥

शरीर के किसी एक प्रदेश या अङ्ग में तोद (सुई चुभने की सी वेदना तथा कृशता (मोटा न होना, सूखते जाना), बिना इच्छा के किसी अङ्ग का अधिक क्रिया करना अर्थात् हिलना, काँपना तथा उस प्रदेश या अङ्ग में स्पर्श करने से शीतस्पर्श अनुभव होना ये 'एकांगवात' के लक्षण है ॥ ६६ ॥

एकांगवाते पर्पटीरसप्रयोगविधिः—

पर्पटीरसगुञ्जाष्टौ पूर्वप्रोक्तं च गुग्गुलुम्।
कर्षार्द्धं खादयेत्साज्यमेकाङ्गानिलशान्तये ॥ ६७ ॥
एरण्डवह्निशुंठीनां गुडूच्याश्च कषायकम्।
अनुपानाय दातव्यं चणकक्वाथमेव वा ॥ ६८ ॥

एकांगवातरोग में वात के प्रकोप को शान्त करने के लिये आठ रत्ती रसपर्पटी में आगे लिखे जाने वाले शतावर्यादि, गुग्गुलु, योगराजगुग्गुल आदि किसी गुग्गुलु में से आधा कर्ष परिमाण गूगल मिला घृत के साथ चाटना चाहिये। इसके अनन्तर एरण्डमूलत्वक्, चित्रक, सौंठ तथा गिलोय का कषाय अनुपान रूप में देना चाहिये। अथवा चने का कषाय अनुपान रूप में पिलाना चाहिये।

विशेष वचन-रसपर्पटी की आधुनिक मात्रा १ रत्ती। गुग्गुलु की मात्रा १ मासा ॥ ६७—६८ ॥

सर्जतैलम्—

नलिकायन्त्रयोगेन सर्जतैलं समुद्धरेत्।
तदभ्यङ्गप्रयोगेण वातो दुष्टः प्रशाम्यति ॥ ६९ ॥

नवम अध्यायोक्त नलिकायन्त्र द्वारा सर्ज (राल) का तैल निकाल कर शरीर में उसकी मालिश करने से दुष्टवायु शान्त हो जाता है ॥ ६६ ॥

शतावर्यादिगुग्गुलुः-

शतावरी गुडूची च सारणी गोक्षुरः कणा।
शताह्वा दीप्यका रास्ना ह्यश्वगन्धा च संज्ञका ॥७०॥
कचोरो नागरश्चैते चूर्णनीयाः समांशकाः।
एतैः सर्वैः समो ग्राह्यो गुग्गुलुर्महिषाक्षकः ॥ ७१ ॥
खण्डयित्वा घृतेनाऽऽर्द्रं पूर्वचूर्णं विनिक्षिपेत्।
सम्मर्द्य सर्पिषा गाढं कर्षार्द्धगुलिकां किरेत् ॥ ७२ ॥

शतावरचूर्ण, गुडूचीचूर्ण, गन्धप्रसारिणीचूर्ण, गोखुरूचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, सौंफचूर्ण, अजवाइनचूर्ण, रास्नाचूर्ण, असगन्धचूर्ण, पीलाचन्दनचूर्ण, कचूरचूर्ण, सौंठचूर्ण; इन सबको समभाग में लेकर खरल में घोट लें। इन सबके बराबर शुद्ध गूगल को लेकर घी के साथ खूब कूटें। जब वह गीला और कोमल हो जाय उसमें पूर्वोक्त चूर्ण मिला कर और कुछ घी डाल कर खूब कूटें। जब वह बिलकुल कोमल और गोली बाँधने योग्य हो जाय तो आधे २ कर्ष की गोलियाँ बना लें। यह गूगल एकांगवात आदि वातव्याधियों के लिये विशेष हितकरी है। इनमें से प्रतिदिन एक गोली का सेवन कराना चाहिये। संज्ञका—शब्द से कई टीकाकारों ने पद्माख लिया है।

विशेष वचन-आधुनिक मात्रा १ मासे २ मासा तक। यदि इस गुग्गुलु को अकेला ही सेवन करना हो तो पूर्वोक्त एरण्डमूलत्वक्, चित्रक आदि द्रव्यों का कषाय अनुपान के रूप में देना चाहिये ॥ ७०—७२ ॥

योगराजगुग्गुलुः—

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः।
पाठाविडङ्गेन्द्रयवहिङ्गुभार्ङ्गीवचान्वितैः ॥ ७३ ॥
सर्षपातिविषाजाजीरेणुकाकृष्णजीरकैः।
गजकृष्णाजमोदाभ्यां कटुकामूर्वमिश्रितैः ॥ ७४ ॥
समभागान्वितैः सर्वैस्त्रिफला द्विगुणा भवेत्।
त्रिफलासहितैरेतैः समभागस्तु गुग्गुलुः ॥ ७५ ॥
एतच्चूर्णीकृतं सर्वं मधुना च परिप्लुतम्।
योगराजमिमं विद्वान् भक्षयेत् प्रातरुत्थितः ॥ ७६ ॥
अर्शांसि वातगुल्मञ्च पाण्डुरोगमरोचकम्।
नाभिशूलमुदावर्त्तं प्रमेहं वातशोणितम् ॥ ७७ ॥
कुष्ठं क्षयमपस्मारं हृद्रोगं ग्रहणीगदम्।
महान्तमग्निसादञ्च श्वासकासभगन्दरम् ॥७८॥
रेतोदोषाश्च ये पुंसां योनिदोषांश्च योषिताम्।
निहन्यादाशु तान् सर्वान् दुर्वारान्न च संशयः ॥७९॥
एष निष्परिहारोऽस्ति पानभोजनमैथुने।
सतताभ्यासयोगेन वलीपलितनाशनः ॥८०॥
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतत्रयम्।
क्षीराज्यरसभुक्तानां दोषधातुमलोचितम्।
बुभुक्षितो मात्रयाऽन्नमद्याद्गुग्गुलुसेवकः ॥८१॥

पीपलचूर्ण, पीपरामूलचूर्ण, चव्यचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, सौंठचूर्ण, पाठाचूर्ण, वायविडंगचूर्ण, इन्द्रजौचूर्ण, हींग (भुनी हुई), भारंगीचूर्ण, वचचूर्ण, सरसोंचूर्ण, अतीसचूर्ण, कलौंजीचूर्ण, रेणुकाचूर्ण, कालाजीराचूर्ण, गजपीपलचूर्ण, अजवाइनचूर्ण, कुटकीचूर्ण और मूर्वाचूर्ण; इन सब औषधियों को समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। अब इसमें सब चूर्ण की अपेक्षा दुगुना त्रिफलाचूर्ण मिलायें। अब इसमें सब के बराबर प्रमाण शुद्ध गूगल मिला

कर थोड़ा सा घृत डाल कर खूब कूटें। जब सब मिल जाय तब शहत डाल कर खूब मर्दन करें या कूटें। इस योग को विद्वान् वैद्य लोग 'योगराजगुग्गुल' कहते हैं। इसको प्रतिदिन प्रातःकाल उचित मात्रा में सेवन करने से सम्पूर्ण अर्शरोग, वातिकगुल्म, पाण्डुरोग, अरुचि, नाभिशूल, उदावर्त, प्रमेह, वातरक्त, कुष्ठ, राजयक्ष्मा, अपस्मार, हृदयरोग, ग्रहणीरोग, अत्यन्त प्रबल मन्दाग्नि, श्वास, कास, भगन्दर, पुरुषों के वीर्यसम्बन्धी सम्पूर्ण दोष, स्त्रियों के योनिसम्बन्धी सम्पूर्ण विकार शीघ्र नष्ट होते हैं। इसके अतिरिक्त यह गूगल सब दुःसाध्य वातिकरोगों को निःसन्देह नष्ट करता है। इसके सेवनकाल में मनुष्य को खान-पान तथा मैथुन आदि क्रिया में परहेज करने की विशेष आवश्यकता नहीं होती है। इसको निरन्तर सेवन करने से मनुष्य वली (त्वचा पर बुढ़ापे की सी खिलवट) तथा पलित (बेसमय बालों का सफेद होना) रोग से मुक्त रहता है। इस तरह सम्पूर्ण व्याधियों से मुक्त रह कर तीन सौ वर्ष तक जीवित रहता है। इस योग को सेवन करने वाले मनुष्य को अपने दोष (वातादि), धातु (रसरक्तादि) तथा मल (मूत्रपुरीषादि) के अनुकूल पदार्थों का तथा दूध, घी, मांसरस, भात आदि का यथोचित मात्रा में क्षुधा लगने पर सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से १ मासा तक। तन्त्रान्तर में इसको 'पिप्पल्यादि गुग्गुलु' नाम से लिखा है। यह गूगल उक्त रोगों में तत्तत् रोगहर अनुपान से देना चाहिये। यह योग वातिक प्रमेहों और दुर्बलता के लिये अत्युत्तम सिद्ध हुआ है। इसके साथ शरीर में तैल की मालिश भी करनी चाहिये। किसी पुस्तक में "प्रमेहं योगराजोऽयं दृष्टं दृष्टया जयेदिति।" इतना पाठ अधिक मिलता है॥

द्वितीययोगराजगुग्गुलुः—

चित्रकं पिप्पलीमूलं यवानी कारवी तथा।
विडङ्गान्यजमोदश्च जीरकं सुरदारु च ॥८२॥
चव्यैला सैन्धवं कुष्ठं रास्नागोक्षुरधान्यकम्।
त्रिफलामुस्तकव्योषत्वगुशीरं यवाग्रजम् ॥८३॥
तालीशपत्रं पत्रञ्च सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्।
एतानि समभागानि तावन्मात्रञ्च गुग्गुलुम् ॥८४॥
सम्मर्द्य सर्पिषा गाढं स्निग्धे भाण्डे विनिक्षिपेत्।
भक्षयेत् कर्षमात्रञ्च वातरोगान् विनाशयेत् ॥८५॥
ततो मात्रां प्रयुञ्जीत यथेष्टाहारसेवनात्।
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः ॥८६॥
आमवाताढ्यवातादीन् क्रिमिदुष्टव्रणानि च।
प्लीहगुल्मोदरानाह दुर्नामानि विनाशयेत् ॥
अग्निञ्च कुरुते दीप्तं तेजोवृद्धिबलं तथा ॥८७॥

चित्रकचूर्ण, पिप्पलीमूलचूर्ण, अजवाइनचूर्ण, कालाजीराचूर्ण, वायविडंगचूर्ण, अजमोदाचूर्ण, सफेदजीराचूर्ण, देवदारुचूर्ण, चव्यचूर्ण, छोटीइलायचीचूर्ण, सैन्धानमक, कुष्ठचूर्ण, रास्नाचूर्ण, गोखुरुचूर्ण, धनियाचूर्ण, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आंवलाचूर्ण, नागरमोथाचूर्ण, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, दालचीनीचूर्ण, खसचूर्ण, यवक्षार, तालीसपत्रचूर्ण, तेजपत्रचूर्ण; इन सबको समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। अब इस चूर्ण के बराबर भाग शुद्ध गूगल लेकर घी के साथ कूट कर कोमल कर लें, और इसमें उक्त चूर्ण को मिला कर कुछ घी डाल कर अच्छी तरह इमामदस्ते में कूटें। कूटने से गुग्गुलु के कोमल पड़ने पर उसकी गोलियाँ बना कर उनको एक स्निग्ध पात्र में सुरक्षित रखें। इसमें से प्रतिदिन एक कर्ष मात्रा में सेवन करें तो इससे वातरोग नष्ट होते हैं। यथेष्ट आहार-विहार वाले रोगी को इसे उचित मात्रा में सेवन करना चाहिये। इसे 'योगराजगुग्गुलु' कहते हैं। यह अमृत के समान गुणकारी है। इसके सेवन से आमवात, उरुस्तम्भ, क्रिमि, दुष्टव्रण, प्लीहा, गुल्म, उदररोग, आनाह (कब्ज), अर्शरोग नष्ट होते हैं। यह योगराजगुग्गुलु अग्नि को दीप्त करता है तथा शरीर में तेज और बल को बढ़ाता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ४ रत्ती से २ मासा तक। तन्त्रान्तर में "ततो मात्रां प्रयुञ्जीत यथेष्टाहारसेवनात्।" के स्थान पर "अतो मात्रां प्रयुञ्जीत यथेष्टाहारवानपि।" पाठ मिलता है। यही पाठ योग्य है। मुख्यतः इसी का व्यवहार होता है ॥८२-८७॥

वडवानलरसः—

शुल्वं तालकगन्धकौ जलनिधेः फेनोऽग्निगर्भाशयः
कान्तायो लवणानि हेमवचयोर्नीलाञ्जनं तुत्थकम्।
भागो द्वादशको रसस्य तदिदं वज्राम्बुघृष्टं शनैः
सिद्धोऽयं वडवानलो गजपुटे रोगानशेषान् जयेत् ॥
आर्द्रकस्य द्रवेणामुं दशवाराणि भावयेत्।
दिनद्वयं चित्रकस्य द्रावेणैव तु भावयेत् ॥ ८९ ॥
पादांशममृतं दत्त्वा चित्रद्रावैः क्षणं पचेत्।
मात्रया योजयेच्चातु दशमूलशृतं पयः ॥ ९० ॥
वातश्लेष्मप्रधाने च दद्यात्त्र्यूषणचित्रकम्।
स्वेदश्च कटुतुम्बिन्या प्रयुञ्जीतातियत्नतः ॥
दाहश्च जयया हन्याच्छीतवातञ्च वर्जयेत् ॥ ९१ ॥

ताम्रभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गन्धक, समुद्रफेन, अग्निगर्भाशय (शमी अथवा सूर्यकान्तमणि), लोहभस्म, पाँचों नमक, सुवर्णभस्म, वचचूर्ण, काले सुरमे की भस्म, तुत्थतूतिया; प्रत्येक एक एक भाग, शुद्ध पारद एक भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर थोहर के दूध से धीरे २

अच्छी तरह मर्दन करके टिकिया बना कर सुखा लें। इन टिकियों को एक दृढ़ शरावसम्पुट में बन्द करके गजपुट में फूक दें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल कर पीस लें। फिर इसे अदरख के स्वरस की दस भावना देकर सुखा लें और अन्त में फिर दो दिन तक चित्रक के स्वरस की भावना देकर फिर इसमें सर्व औषधि की अपेक्षा चतुर्थांश शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण मिला चित्रक के स्वरस से घोट कर एक कड़ाही में डाल द्रव्यांश सुखाने के निमित्त किञ्चित् काल के लिये अग्नि में पका लें और पीस कर रख लें। इसको उचित मात्रा में प्रयोग करके अनुपान में दशमूल सिद्ध दूध पिलाना चाहिये। यदि एकांगवात या आमवात आदि वातरोगों में वात के साथ श्लेष्मा की भी प्रधानता हो तो इस (दशमूल) में त्रिकटु तथा चित्रकमूलचूर्ण मिला कर सेवन करना चाहिये। और साथ कटुतुम्बी के द्रव अथवा चूर्ण की पोटली से उस अंग को स्वेद भी देना चाहिये जिस (अंग) में वातरोग है। यदि किसी अंग में अत्यन्त दाह हो तो उसके लिये इसमें थोड़ी भाँग का लेप करना चाहिये। इस रस के सेवनकाल मे शीतवायु का परहेज करना चाहिये।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। 'दाहश्च जयया हन्यात्', के स्थान पर 'दाहे च व्यजनं कुर्यात्' ऐसा पाठ भी पाया जाता है॥ ॥८८—९१॥

मार्तण्डेश्वररसः—

समताप्ययुतं शुल्वं पलविंशतिमानकम्।
प्रध्मातं हि चतुर्वारं खण्डयित्वा ततश्चरेत्॥ ९२॥
तत्तुल्यमाक्षिकोपेतं पुटेद्विंशतिवारकम्।
गन्धकेन पुटेत्तावद्यावत् पलमितं भवेत्॥ ९३॥
क्षिपेत् पलमितं तत्र गन्धकेन हतं रसम्।
शाणमात्रं मृतं वज्रं सर्वमेकत्र मर्दयेत्॥ ९४॥
इति सिद्धो रसेन्द्रोऽयं मार्त्तण्डेश्वरनामवान्।
कीर्त्तितो लोकनाथेन लोकानां हितकाम्यया॥ ९५॥
मरीचघृतसंयुक्तः सेवितो मण्डलार्द्धतः।
वाताद्यष्टमहारोगान् श्वासकासयुतं क्षयम्॥ ९६॥
हलीमकञ्च पाण्डुञ्च ज्वरानपि सुदुस्तरान्।
इत्यादिकगदान् सर्वान् विनाशयति निश्चितम्॥ ९७॥
करोति दीपनं तीव्रं दीप्तानलशतोपमम्।
सन्निपातं जयत्याशु व्योषार्द्रकसमन्वितः॥
सर्वसौख्यकरो नृणां स्त्रीणां बन्ध्यत्वनाशनः॥ ९८॥

दश पल शुद्ध ताम्रपत्रों पर, दश पल स्वर्णमाक्षिक को नींबू के रस के साथ पीस कर उस कल्क का लेप करके सुखा लें। लेप के सूखने पर इन पत्रों को अग्नि में तपा तपा कर गोमूत्र में बुझा दें। पुनः उन पत्रों पर स्वर्णमाक्षिक का लेप करके गोमूत्र या निर्गुण्डी के स्वरस में बुझा दें। इस प्रकार चार बार लेप करके उक्त द्रवों में बुझा दें। पश्चात् उक्त ताम्रपत्रों को समभाग स्वर्णमाक्षिकचूर्ण के साथ शरावसम्पुट में रख कर बीस गजपुट देदें। अन्त में समभाग गन्धक के साथ पीस कर तब तक गजपुट देते रहें जब तक ताम्रभस्म एक पल प्रमाण न रह जाय। अब उक्त पल प्रमाण ताम्रभस्म में गन्धक द्वारा मारित पारद अर्थात् रससिन्दूर एक पल और हीरे की भस्म एक शाण मिला कर सब को एकत्र अच्छी तरह घोट लें। इस प्रकार यह 'मार्तण्डेश्वर रस' तय्यार होता है। इसको लोकनाथ नामक रसाचार्य ने जनता की भलाई के निमित्त प्रकाशित किया है। यह योग (रस) उचित मात्रा में घृत और मरिचचूर्ण के साथ आधा मण्डल अर्थात् २४ दिन तक सेवन करने से वातव्याधि आदि पूर्वोक्त आठ महारोगों तथा श्वास-कासयुक्त क्षयरोग, हलीमक, पाण्डु तथा भयंकर ज्वरादि सर्व रोगों को निःसन्देह नष्ट करता है। इसके सेवन से पाचकाग्नि अत्यन्त प्रबल हो जाती है। त्रिकटुचूर्ण तथा अदरख के रस के साथ इस रस का प्रयोग करने पर यह भयंकर कफ तथा वातिक सन्निपातज्वर को नष्ट करता है। स्वस्थ मनुष्य इसके सेवन से सर्वसुखयुक्त होता है। बन्ध्यादोषयुक्त स्त्री इसके सेवन से बन्ध्यत्व दोष से मुक्त हो जाती है।

विशेष वचन—मात्रा ⅛ रत्ती से ½ रत्ती तक। 'यावत्पलमितं भवेत्' के स्थान पर "गृह्णीयात् तत्पलं ततः" ऐसा पाठान्तर अच्छा है क्योंकि बीस पुट देने से ताम्रभस्म दसवाँ भाग शेष नहीं रहती है किन्तु कुछ ही कम होती है। अतः ऐसा अर्थ करना ही अच्छा प्रतीत होता है कि "उक्तविधि से शोधित तथा मारित ताम्र की एक पल भस्म लेनी चाहिये" यही भाव 'गृह्णीयात् तत्पलं ततः" का है॥ ९२–९८॥

चतुःसुधारसः—

समभागे शुभे हेम्नि निर्गूढं ताप्यमुत्तमम्।
शतधा शतधा रौप्ये शुल्वे च शतवारकम्॥ ९९॥
इत्थं सिद्धमिदं बीजं पृथगक्षप्रमाणतः।
समावर्त्य तदेकत्र रसे पञ्चपलात्मके॥ १००॥
वक्ष्यमाणप्रकारेण जारयेदतियत्नतः।
तप्ते खल्ले रसं दत्त्वा बीजं निष्कमितं तथा॥ १०१॥
मर्दयेदतियत्नेन भवेद्यावद्दिनत्रयम्।
पूर्वोक्तकच्छपे यन्त्रे वक्ष्यमाणविडान्विते॥ १०२॥
वक्ष्यमाणप्रकारेण बीजमेवमशेषतः।
बलिकाशीशकव्योमकांक्षीसौवर्चलैः समैः॥ १०३॥
चक्राङ्गीरससम्भिन्नैः शतधा विडमिष्यते।
एवं जारितसूतेन पलमात्रेण तावता॥ १०४॥
गन्धकेनापि कर्त्तव्या सुस्निग्धा वरकज्जली।

लोहपात्रे घृतोपेतां द्रावयेत्तां तु कज्जलीम् ॥ १०५ ॥
तुल्यसत्त्वाभ्रभसितं क्षिप्त्वा सम्मिश्रय्य सर्वशः ।
रम्भापत्रे विनिक्षिप्य कुर्य्यात् पर्पटिकां शुभाम्॥१०६॥
विचूर्ण्य पर्पटीं सम्यक् वैक्रान्तं त्रिंशदंशतः ।
निक्षिप्य हिङ्गुतोयेन शतधा परिभावितम् ॥ १०७ ॥
निरुध्य मल्लमूषायां स्वेदयेदतियत्नतः ।
पुनः सञ्चूर्ण्य यत्नेन करण्डे विनिवेशयेत् ॥ १०८ ॥
हन्यात्सर्वमरुद्गदान् क्षयगदं पाण्डुञ्च नष्टाग्नितां ।
निर्वीर्यत्वमरोचकं त्वजरणं शूलं च गुल्मादिकम् ।
अष्टौ चैव महागदानतितरां व्याधिं सशोषं क्षणाद् ।
भुक्तो मुद्गमितश्चतुःसुधरसः स्वस्थोचितो भूभुजाम् ॥
मूलकं वर्जयेदस्मिन् रसे नान्यत्तु किञ्चन ।
त्रिवारमेकवारेण बुभुक्षां जनयेद् ध्रुवम् ॥ ११० ॥

उत्तम और शुद्ध स्वर्ण में समभाग स्वर्णमाक्षिकचूर्ण मिला घोट कर मूषा में बन्द करके लघुपुट में फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पुनः स्वर्ण के बराबर भाग स्वर्णमाक्षिकचूर्ण मिला लघुपुट में फूँक दें। इस प्रकार सौ वार स्वर्णमाक्षिक के साथ सौ पुट देकर स्वर्ण का बीज तय्यार कर लें। पुनः इसी तरह स्वर्णमाक्षिक के साथ सौ पुट देकर चाँदी तथा ताम्र का भी पृथक् २ बीज तय्यार कर लें। अब उक्त प्रकार से सिद्ध किये हुये तीनों बीजों में से प्रत्येक एक एक अक्ष (कर्ष) प्रमाण लेकर तीनों को एकत्र पीस कर रख लें। फिर एक तप्त खल्व म पाँच पल परिशुद्ध पारद और एक निष्क स्वर्णादियों का मिश्रित बीज डाल कर तीन दिन तक बड़ी सावधानी के साथ मर्दन करें। फिर इसमें आगे लिखा जाने वाला विडयोग डाल कर तब तक मर्दन करें जब तक कि इसमें पारद अच्छी तरह मिल न जाय। पश्चात् इस विड तथा बीज युक्त पारद को यन्त्राध्याय में वर्णित कच्छपयन्त्र में डाल कर जारण करें। पुनः कच्छपयन्त्र से निकाल फिर एक निष्क उक्त बीज, और समभाग विड डाल कर कच्छपयन्त्र में जारण करें। इस प्रकार बारह बार एक एक निष्क बीज और समभाग विड डाल कर कच्छपयन्त्र में,बीज और विड का जारण कर लें। तदनन्तर केवल विड के साथ पारद को सौ बार जारण करें। अब गन्धक, कासीस, अभ्रक, फिटकरी, सौंचल नमक; इनको समभाग में लेकर चक्रांगी (सुदर्शना अथवा हुलहुल) के स्वरस से मर्दन कर बिड तय्यार कर लें। यही विड यहाँ अभिप्रेत है। इस प्रकार बीज और विडयोग से जारणसंस्कारयुक्त पारद एक पल, शुद्ध गन्धक पल लेकर दोनों की उत्तम और अत्यन्त स्निग्ध कजली तय्यार कर लें। इस कजली को एक लोहे के पात्र (बड़े लोहे की चम्मच) में थोड़ा सा घृत चुपड़ कर डाल दें। और कोयलों को अग्नि पर रख पिंघलावें। जब कजली पिघल जाय तो इसमें कज्जली के बराबर अभ्रकसत्व की भस्म मिला कर पर्पटीनिर्माण विधान के अनुसार गोबर के ऊपर रखे हुये केले के पत्ते के ऊपर ढाल कर उत्तम पर्पटी तय्यार कर लें। शीतल हो जाने पर पर्पटी को पीस कर उसमें पर्पटी का तीसवाँ भाग वैक्रान्त की भस्म भी मिला दें। अब इसको हींग के जल की सौ भावना देकर गोला सा बना मल्लमूषा में बन्द करके भूधरयन्त्र में स्वेदन (पाक) करें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पीस कर शीशी में रख छोड़ें। इसमें से एक मूँग के बराबर भाग मात्रा में सेवन करने से यह रस सब प्रकार के वातरोग, राजयक्ष्मा, पाण्डुरोग मन्दाग्नि, वीर्याल्पता, अरुचि, अजीर्णशूल, गुल्म, आठों महारोग, धातुशोष आदि भयंकर व्याधियों को तत्काल नष्ट करता है। यह स्वस्थ मनुष्यों के लिये भी हितकर है। इस प्रकार के बहुमूल्य तथा परिश्रमसाध्य रसों का सेवन राजा लोग अधिक कर सकते हैं। इसको 'चतुःसुधारस' कहते हैं। इस रस के सेवनकाल में केवल मूली नहीं खानी चाहिये। यह रस एक मात्रा में सेवन से अथवा एक बार सेवन करने से दिन में तीन बार तीव्र क्षुधा उत्पन्न करता है।

विशेष वचन—यद्यपि बीज और विड के योग के कारण इस रस का निर्माण अत्यन्त कठिन है परन्तु इस विधि से सिद्ध किया हुआ यह रस अमृत के सदृश कार्य कर सकता है। संक्षेपतः इसको बनाने के लिये स्वर्ण रजत तथा ताम्रभस्म, पारद गन्धक की कज्जली तथा अभ्रकसत्व की भस्म को उचित अनुपान मे लेकर हिंगुजल से भावना देकर मल्लमूषा में पुट देकर बनाया जा सकता है। परन्तु इसमें उक्त दिव्य गुण नहीं मिलेंगे।

ऐसे रसों के निर्माण के लिये अभी आयुर्वैदिक रसायन विज्ञान की पर्याप्त उन्नति करने की आवश्यकता है। यदि आयुर्वेद संसार में पारद के संस्कारों के साथ धातुओं की ग्रासविधि भी सिद्ध और क्रियात्मक रूप में आ जाय तो कभी भी इसके समान उत्तम कोई चिकित्सापद्धति नहीं हो सकती है। अतः इसके लिये प्रत्येक वैद्य तथा बड़ी बड़ी संस्थाओं का कर्तव्य है कि वे इस विषय को सब से पहिले हल करें ॥ ९९–११० ॥

सर्ववातारिरसः—

गन्धकाद्द्विगुणं तालं तालकाद्द्विगुणा शिला ।
शिलाया द्विगुणं ताप्यं ताप्याच्च द्विगुणं रसम् ॥१११॥
खल्वयेत्सर्वमेकत्र यावत्स्याद्दिनसप्तकम् ।
सर्वस्याष्टमभागेन दत्त्वा रसामृतं शुभम् ॥ ११२ ॥
विषतिन्दुकजैर्द्रावैः पिष्ट्वा गोलकमाचरेत् ।
विशोष्य बालुकायन्त्रे अन्ध्रयेद्दिवसद्वयम् ॥ ११३ ॥
स्वांगशीतलमुद्धृत्य तुल्यहिंग्वष्टकान्वितम् ।
भावयेद्बीजपूरस्य सप्तवारं रसेन हि ॥ ११४ ॥

सप्तवारं रसैः शुण्ठ्या चित्रमूलस्य वारिणा ।
इति सिद्धो रसेन्द्रोऽयं सर्ववातारिसंज्ञकः ॥ ११५ ॥
घृतेन सहितो लीढो वल्लद्वयमितो नृभिः ।
निहन्त्यशीतिवातार्तीर्गुल्मानष्टविधानपि ॥ ११६ ॥
चतुर्विधं च मन्दाग्निं शूलानुदरजान् क्रिमीन् ।
आध्मानं च तथा हिक्कां मूढवातं च विड्ग्रहम् ॥११७॥

शुद्ध गन्धक एक भाग (तोला), शुद्ध हरताल दो भाग, शुद्ध मैनसिल चार भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म आठ भाग, शुद्ध पारद सोलह भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर सात दिन तक अच्छी तरह खरल करें। फिर इन सम्पूर्ण द्रव्यों की अपेक्षा आठवाँ भाग शुद्ध रक्तवर्ण वत्सनाभविष मिला कर इसको कुचले के स्वरस से मर्दन कर गोला सा बना कर सुखा लें। इस गोले को मूषा में बन्द करके बालुकायन्त्र में दो दिन तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर गोले को निकाल पीस कर इसमें समभाग हिंग्वष्टकचूर्ण मिलायें और बिजौरा नींबू के रस की सात भावना दें। फिर शुण्ठीस्वरस या कषाय की सात और चित्रकमूलकषाय की सात भावना देकर सुखा कर रख लें। इस प्रकार यह 'सर्ववातारिरस' तय्यार हो जाता है। इसको प्रतिदिन दो वल्ल (रत्ती) भर लेकर घी के साथ मिला सेवन करने से अस्सी प्रकार के वातरोग, आठ प्रकार के गुल्म, चार प्रकार की मन्दाग्नि, शूल, उदरक्रिमि, आध्मान, हिक्की, मूढवात तथा मलबद्धता नष्ट होती है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। हिंग्वष्टकचूर्ण में त्रिकटु (सौंठ, मिरच तथा पिप्पली), अजमोदा, सैन्धानमक, सफेदजीरा, कालाजीरा तथा भुनी हुई हींग, सब समभाग में लिये जाते हैं। इसको मन्दाग्नि के लिये भोजन के प्रथम ग्रास में घृत के साथ खिलाया जाता है। इसको मन्दाग्नि के अतिरिक्त वातरोगहर भी लिखा है। जैसे—"त्रिकटुकमजमोदा सैन्धवं जीरके द्वे समधरणघृतानामष्टमो हिंगुभागः। प्रथमकवलभुक्तं सर्पिषा चूर्णमेतज्जनयति जठराग्निं वातरोगाँश्च हन्यात्" ॥१११-११७॥

वातविध्वंसनो रसः—

मृतमभ्रकसत्त्वं च कांस्यं शुल्वं हि माक्षिकम् ।
गन्धकं तालकं सर्वं भागोत्तरविवर्धितम् ॥ ११८ ॥
तत्सर्वं कज्जलीकृत्य वातारिस्नेहसंयुतम् ।
मर्दयेत्सप्तदिवसं गोलीकृत्य तु यत्नतः ॥ ११९ ॥
निम्बुद्रवेण सम्पिष्टं तालकल्केन लेपयेत् ।
अर्द्धाङ्गुलदलश्चैव परिशोष्य प्रयन्नतः ॥ १२० ॥
प्रपचेद्वालुकायन्त्रे यामानां द्वादशावधि ।
पटचूर्णं विधायैतद्भावयेत्तदनन्तरम् ॥ १२१ ॥
पञ्चकोलकचित्राङ्घ्रिवरुणादिकषायतः ।
दशमूलकषायेण शृङ्गवेररसेन च ॥ १२२ ॥
रक्तामृतं कलांशेन दत्त्वा निष्पिष्य यत्नतः ।
स्थूलकोलास्थितुलितां छायाशुष्कां वटीं किरेत् ॥
तत्तद्रोगहरैर्द्रव्यैर्नृणां देया सदा हिता ।
हन्यादशीतिधा भिन्नान् वातजातान् महागदान् ॥
गुल्मानष्टविधांश्चापि शूलानष्टविधानपि ।
जठरस्य रुजः सर्वास्तथा च मलनिग्रहम् ॥ १२५ ॥
आध्मानकमथाऽऽनाहं विसूचीं मन्दवह्निताम् ।
आमदोषानशेषांश्च दाहं छर्दिंश्च दुर्द्धराम् ॥ १२६ ॥
ग्रहणीं श्वासकासौ च क्रिमिरोगमशेषतः ।
हन्यात् सर्वाङ्गसदनं मन्यास्तम्भञ्च वाजिनाम् ॥१२७॥
ज्वरे चैवातिसारे च मूलरोगे त्रिदोषजे ।
पथ्यं रोगानुरूपेण दापनीयं भिषग्वरैः ॥ १२८ ॥
श्रीमता नन्दिना प्रोक्तो वातविध्वंसनो रसः ।
क्षुधार्थिभिः सदा सेव्यः सर्वाहारपरैर्नरैः ॥ १२९ ॥

अभ्रकसत्वभस्म (अभाव में कृष्णाभ्रकभस्म) एक भाग (तोला), कांस्यभस्म दो भाग, ताम्रभस्म तीन भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म चार भाग, शुद्ध गन्धक पाँच भाग, शुद्ध हरताल छः भाग, शुद्ध पारद सात भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर एरण्डतैल से सात दिन तक घोट कर गोला बना लें। इस गोले के ऊपर नींबू के रस से पीसे हुये शुद्ध हरताल के कल्क का आधा अंगुल मोटा लेप करें। इसे धूप में सुखा लें। जब गोला सूख जाय तब उसे एक दृढ़ मूषा में बन्द कर कपड़मिट्टी करके बालुकायन्त्र में बारह प्रहर तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को बाहर निकाल पीस कर वस्त्र से छान लें। तदनन्तर इसको पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सौंठ) के क्वाथ, चित्रकमूलक्वाथ, वरुणादिगण की औषधियों के क्वाथ, दशमूल के कषाय तथा अदरख के रस से पृथक् पृथक् सात सात भावना दें और इसमे एक भाग की अपेक्षा सोलहवाँ भाग पृथक् पृथक् शुद्ध हिंगुल और शुद्ध वत्सनाभविष मिला कर अच्छी तरह घोट कर मोटे बेर की गुठली के बराबर गोली बना कर छाया में सुखा लें। इसे भिन्न भिन्न रोगों में उन उन रोगों के नाशक अनुपान से देना हितकर है। इसके प्रयोग से ८० प्रकार के वातज महारोग, आठ प्रकार का गुल्म, आठ प्रकार का शूल, उदर के सब रोग, कब्ज, आध्मान, आनाह, विसूचिका, मन्दाग्नि, सब आमदोष, दाह और भयकर वमन, ग्रहणी, श्वास, कास, सब कृमिरोग, सम्पूर्ण देह की शिथिलता, घोड़ों का मन्यास्तम्भ, ज्वर, अतीसार, त्रिदोषज अर्श, वा भगन्दर नष्ट होते हैं। चिकित्सक को चाहिये

कि रोग के अनुसार विचारपूर्वक अनुपान तथा पथ्य की कल्पना करके इस रस को देवें। यह नन्दिनामक रसाचार्य का कहा हुआ 'वातविध्वंसनरस' है। सब कुछ (बिना सोचे विचारे) खाने वाले मनुष्यों को चाहिये कि यदि उन्हें क्षुधा न लगती हो तो उसे जगाने के लिये इस रस का कुछ दिन सेवन करें।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। रसेन्द्रसारसंग्रह में 'मृतं' स्थान पर 'सूतं' 'तालकल्केन' के स्थान पर 'तिलकल्केन'; 'वाजिनां' के स्थान पर 'तथैव च' पाठ मिलता है। परन्तु यह पाठ अन्य तन्त्रों को देखते हुये उचित प्रतीत नहीं होता है। साथ ही रसेन्द्रसारसंग्रह में 'पटचूर्णं विधाय' इत्यादि श्लोक से लेकर 'शूलानष्टविधानपि' श्लोक पर्यन्त पाठ नहीं पाया जाता है। 'वाजिना' के स्थान पर 'तथैव च' पाठ ही उचित है ॥-१२९॥

वृकोदरीगुटिका—

सूतगन्धकतीक्ष्णाभ्रैः सताप्यैः समभागिकैः।
रसांशमपरं सर्वं षट्कोलं जीरकद्वयम् ॥ १३० ॥
सौवर्चलं ससिन्धूत्थं विडङ्गञ्च हरीतकी।
अम्लवेतसकं सर्वं वीजपूराम्बुमर्दितम् ॥
गुटिकास्तेन कल्केन कार्य्याः कोलास्थिमात्रकाः ॥१३१॥
योगिन्या बहुघातिनामयुतया त्रैलोक्यविख्यातया
निर्दिष्टा हि वृकोदरीति गुटिका सोष्णाम्बुना सेविता।
निःशेषानिलदोषरोगजरुजः श्लेष्मामरोगोद्भवं
मन्दाग्निं ग्रहणीं चतुर्विधमहाजीर्णञ्च तूर्णं जयेत् ॥१३२॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, तीक्ष्णलोहभस्म, अभ्रकभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। पश्चात् उसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर पीसें। फिर इसमें षट्कोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, तथा कालीमिरच) सफेद जीरा, कालाजीरा, सौंचलनमक, सैन्धानमक, वायविडंग, हरड़, अम्लवेत का चूर्ण पृथक् पृथक् पारद के समभाग मिला कर जम्बीरी नींबू के स्वरस से घोट कर बेर की गुठली के बराबर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को त्रिलोकी में विख्यात बहुघाती (अनेकरोगनाशक) नामक योगिनी ने निर्दिष्ट किया है। यह वृकोदरी वटी प्रतिदिन गरम जल के साथ सेवन करने से सब प्रकार के वातदोषप्रकोपजन्य रोगों की पीड़ाओं और कफ तथा आमदोष विकारों, मन्दाग्नि, संग्रहणी तथा चार प्रकार के अजीर्ण को शीघ्र नष्ट करती है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। इस रस में "सर्वं" पद से कोई यह षट्कोल से लेकर अम्लवेत पर्यन्त सब द्रव्यों के चूर्ण को मिला कर पारद के समभाग लेने को कहते हैं। इस तरह लेने से गुटिका की कोलास्थिप्रमाण मात्रा अत्यधिक हो जायगी। अतः सब द्रव्यों को पृथक् पृथक् पारद के समभाग लेना ही उचित होगा ॥ १३०-१३२ ॥

प्रभावती वटी—

हेमाभ्रालकतीक्ष्णताप्यकमलामेषां समं ससकं
सूतश्च द्विगुणं विशोधनबधूस्नुग्वह्निशोभाञ्जनात्।
पाठाशूरणसिन्दुवारविजयैरेरण्डद्रवैर्मर्दितं
तैलं काङ्गुणिगन्धकं कटु भवेत् कल्कं वटीं कल्पयेत् ॥
प्रभावतीति कथिताऽऽर्द्रकद्रावैर्निषेविता।
ततश्चानु पिबेत्तोयं दशमूलप्रसाधितम् ॥१३४॥
सपिप्पलीकं पिबतो जलं जयेत्।
मरुद्विकारानुदराण्यपस्मृतिम् ॥१३५॥

सुवर्णभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध हरताल; या तालभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, ताम्रभस्म, प्रत्येक एक भाग लें। शुद्ध पारद दो भाग लें। पहिले पारद तथा हरताल की कजली बना लें पश्चात् इसमें अन्य द्रव्य मिला कर विशोधन (दन्ती), वधू (सारिवा), चित्रक, सुहांजना, पाढा, जिमीकन्द, सिम्भालू, भांग और एरण्ड की जड़ के स्वरस या कषाय से पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन कर सुखा लें। फिर इसको मालकांगनीतैल, गन्धकतैल तथा कड़वातैल में अलग अलग खरल करके गोलियाँ बना लें। इसको 'प्रभावती वटिका' कहते हैं। इनमें से प्रतिदिन एक वटी अदरख के रस के साथ खाकर ऊपर से पिप्पलीचूर्ण का प्रक्षेपयुक्त दशमूलकषाय का अनुपान करें। इस प्रकार इस वटी के सेवन से वायु के विकार, उदररोग तथा अपस्मार रोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा २ रत्ती से ३ रत्ती तक। "तैलं काङ्गुणि गन्धकं कटु भवेत् कल्कं वटीं कल्पयेत्।" के स्थान पर "तैलैः काङ्गुणिजैस्तगन्धकयुतात्कल्काद्वटीं कल्पयेत्।" पाठ भी अच्छा प्रतीत होता है। कहीं कहीं 'कटु भवेत्' के स्थान पर 'पटुभवे' पाठ मिलता है। परन्तु यह पाठ ठीक नहीं है। अन्य पुस्तकों में गुण पाठ के अन्त में "गुल्मानुदावर्तचयं चलाचलं शूलं विसूचीप्रभवं धनुश्चलम्।" इतना अधिक पाठ मिलता है॥

पर्पटीरसप्रयोगे विध्यन्तरम्—

अष्टगुञ्जमितं खादेदेकाङ्गे पर्पटीरसम्।
अर्द्धकर्षं घृतेनानु योगराजञ्च गुग्गुलुम् ॥१३६॥

एकांगवातरोग में आठ गुञ्जा मात्रा में पर्पटीरस का सेवन करके अनुपानस्वरूप आधा कर्ष परिमाण में योगराजगुग्गुलु का सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—यह पर्पटीरसप्रयोग पूर्वोक्त पर्पटीप्रयोग से योगराजगुग्गुलु अनुपान के कारण भिन्न है। आधा कर्ष गुग्गुलु की मात्रा अधिक है। अतः एक मासा तक मात्रा निश्चित करनी चाहिये ॥ १३६ ॥

विजयभैरवतैलम्—

धान्याम्लपिष्टसुरभित्रयसूतलिप्त
तैलाक्तदीप्तपटवर्त्तिमुखात्प्रवृत्तम् ।
कंपोत्तरान् जयति पानविलेपनाभ्यां
वातामयान् विजयभैरवनाम तैलम् ॥१३७॥

सुरभित्रय (गन्धक, मैनसिल, हरताल) और पारद चारों को समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। पश्चात् इसमें हरताल और मैनसिल मिला, कज्जली के साथ खूब घोट कर कल्क बना लें और एक स्वच्छ कपड़े पर लेप करके उसकी बत्ती बना लें। इस बत्ती को काञ्जी का जलीयांश शोषण होने तक धूप में सुखा लें। पश्चात् इसे सरसों के तैलयुक्त दीपक में रख कर जलावें। इसके मुख से जो तैल टपके उसे नीचे रखे हुये पात्र में सञ्चय कर लें। इसे 'विजयभैरव तैल' कहते हैं। यह तैल पिलाने और शरीर में मालिश करने से कम्प आदि सम्पूर्ण वातविकारों को शान्त करता है ॥ १३७ ॥

द्वितीयविजयभैरवतैलं सूततैलं वा—

रसतालशिलागन्धं दिनं सञ्चूर्ण्य काञ्जिकैः ।
लिप्त्वा वस्त्रैः कृतां वर्त्तिं तैलाक्तां ज्वालयेत् पुनः ॥
तद्भूतं सङ्ग्रहे तैलमधःपात्रे धृते सति ।
तत्तैललेपितं पत्रं नागवल्ल्याश्च भक्षयेत् ॥ १३९ ॥
बाहुकम्पं शिरःकम्पमेकाङ्गं जानुकम्पनम् ।
नाशयेत् भक्षणाल्लेपात् तैलं विजयभैरवम् ॥ १४० ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरताल; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें हरताल, मैनसिल का सूक्ष्म चूर्ण मिलायें। अब इसको काञ्जी से अच्छी तरह पेषण कर कल्क बना लें। इस कल्क से एक पतले कपड़े को लिप्त कर बत्ती बना लें और उसे सुखा लें। पश्चात् इस बत्ती को तिलतैल में डुबोकर किसी चिमटे या सदंशयन्त्र से पकड़ कर सिरे पर आग लगावें और बत्ती के नीचे एक स्वच्छ पात्र रखें जिससे तैल उसमें गिरता जाय। इस तैल को पान के पत्ते पर लगा कर रोगी को चबाने को देना चाहिये। इसे 'विजयभैरव तैल' कहते हैं। यह तैल खाने और शरीर में मालिश करने से बाहुकम्प, शिरःकम्प, जानुकम्प, एकांगवात को नष्ट करता है।

विशेष वचन—भक्षणार्थ मात्रा दो बिन्दु देने चाहिये। भैषज्यरत्नावली में इसको 'सूततैल' नाम भी दिया गया है। रसरत्नाकर में 'वस्त्रैः' के स्थान पर 'वस्त्रे' तथा 'तद्भूतं संग्रहे' के स्थान पर 'तद्द्रुतं ग्राहयेत्' तथा 'तत्तैललेपितं पत्रे' के स्थान पर 'तत्तैलैर्लेपयेद्गात्रं' पाठान्तर मिलता है ॥ १३८—१४० ॥

स्वच्छन्दभैरवो रसः—

तीक्ष्णाऽयस्कान्तगोदन्तमाक्षिकैर्मर्दितो रसः ।
समांशगन्धकः पक्वो हण्डिकायन्त्रमध्यगः ॥ १४१ ॥
व्योषाग्निमन्थसुरसाकन्दशृंग्यमयाविषैः ।
समैः समं त्र्यहं मुण्डीनिर्गुण्डीरसपिण्डितः ॥१४२ ॥
सेवितः शमयेद्वातान्नाम्ना स्वच्छन्दभैरवः ।
विशेषाद्वातरक्तं च द्विवल्लं चार्द्रकैर्ददेत् ॥ १४३ ॥

तीक्ष्णलोहभस्म, कान्तलोहभस्म, गोदन्तभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर अच्छी तरह पीस लें। फिर इसको एक शरावसम्पुट में बन्द करके हंडिकायन्त्र में बन्द करके तीन घण्टे तक पाक करें। स्वांगशीतल होने पर निकाल पीस लें और इसमें त्रिकटुचूर्ण, अरणी की जड़चूर्ण, तुलसीचूर्ण, जिमीकन्दचूर्ण, काकड़ासिंगीचूर्ण, हरड़चूर्ण, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण; प्रत्येक पारद के समभाग मिला कर मुण्डी (गोरखमुण्डी), निर्गुण्डी (सिम्भालू) के पृथक् पृथक् स्वरस में तीन तीन दिन तक घोट कर गोलियाँ बना लें। इसे 'स्वच्छन्दभैरव रस' कहते हैं। इसको दो रत्ती भर मात्रा में अदरख के रस के साथ सेवन करने से यह सम्पूर्ण वातरोगों को विशेषतः वातरक्तरोग को शान्त करता है ॥ १४१—१४३ ॥

सूततैलम्—

रसगंधशिलातालं सर्वं कुर्यात्समांशकम् ।
चूर्णयित्वा ततः श्लक्ष्णमारनालेन मर्दयेत् ॥ १४४ ॥
लेपयित्वा तु कल्केन सूक्ष्मवस्त्रं ततः परम् ।
तैलाक्तां कारयेद्वर्तिमूर्ध्वभागे प्रदीपयेत् ॥ १४५ ॥
वर्त्त्यधःस्थापिते पात्रे तैलं पतति शोभनम् ।
लेपयेत्तेन गात्राणि भक्षयेदातुरस्तथा ॥ १४६ ॥
नाशयेत्सूततैलं तद्वातरोगाननेकधा ।
बाहुकम्पं शिरःकम्पं जंघाकम्पं ततः परम् ॥ १४७ ॥
एकाङ्गं च तथा वातं हन्ति रोगाननेकधा ।
रोगशान्त्यै सदा देयं तैलं विजयभैरवम् ॥ १४८ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध हरताल; प्रत्येक के बारीक चूर्ण को समभाग में मिला कर काञ्जी से अच्छी तरह पेषण करें। अब इस कल्क से एक पतले कपड़े को लिप्त कर बत्ती बनायें और उसको सुखा लें। इस बत्ती को तिलतैल में डुबो कर चिमटे से पकड़ कर आगे की तरफ से जलावें और बत्ती के नीचे एक स्वच्छ पात्र रख दें जिससे तैल उसमें गिरता जाय। इस तैल को रोगी के शरीर में मालिश करनी चाहिये तथा अन्तःप्रयोग भी करना चाहिये। इसे 'सूततैल' कहते हैं। यह अनेक प्रकार के वातरोगों को नष्ट करता है। विशेषतः बाहुकम्प, शिरःकम्प; जङ्घाकम्प, एकाङ्गवात नष्ट करता है। रोगशान्ति के लिये सदा इस विजयभैरव तैल या सूततैल को प्रयोग में लाना चाहिये।

विशेष वचन—पूर्वोक्त विजयभैरव तैल में और इसमें केवल यही भेद प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त तैल को पान के पत्ते में लगा कर खाने को लिखा है। परन्तु इसको पान के पत्ते के बिना भी दूध आदि के साथ खाने को लिखा है। मात्रा इसकी दो बिन्दु है।

द्वितीयवडवानलरसः—

सूतहाटकवज्रार्ककान्तभस्म समाक्षिकम्।
तालं नीलाञ्जनं तुत्थमब्धिफेनं समांशकम्॥ १४९॥
पञ्चानां लवणानान्तु भागैकैकं विमर्दयेत्।
वज्रक्षीरैर्दिनैकन्तु रुद्ध्वा तं भूधरे पचेत्॥ १५०॥
माषैकञ्चाऽऽर्द्रकद्रावैर्लेहयेत् वडवानलम्।
पिप्पलीमूलजं क्वाथं सपिप्पल्यनुपाययेत्॥
धनुर्वातं दण्डवातं शृङ्खलावातकम्पनुत्॥ १५१॥

रससिन्दूर, स्वर्णभस्म, हीरे की भस्म, ताम्रभस्म, कान्तलोहभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध कालासुरमा, तुत्थभस्म, समुद्रफेन तथा पांचों नमक; प्रत्येक समभाग लेकर थोहर के दूध से एक दिन पर्यन्त अच्छी तरह मर्दन करके गोला सा बना कर सुखा लें। इस गोले को एक शरावसम्पुट में बन्द करके भूधरयन्त्र में पुट दें। स्वांगशीत होने पर उतार गोले को निकाल कर पीस लें। इसमें एक उड़द भर मात्रा में लेकर अदरख के रस से खावें तो वातप्रकोप नष्ट होता है। इसके अनुपान में पिप्पलीमूल के कषाय में पिप्पली का चूर्ण मिला कर पीना चाहिये। यह रस धनुर्वात, दण्डवात, शृंखलावात तथा कम्पवात को नष्ट करता है।

विशेष वचन—यहां पर पांचों नमकों को मिला कर पारद के समभाग लेना चाहिये। अतएव इसकी इतनी अल्प मात्रा हो सकती है। यदि 'माष' का अर्थ एक मासा लिया जाय तो लवणों को पृथक् पृथक् एक भाग लेना अच्छा होगा। रसप्रकाशसुधाकर तथा रसेन्द्रसारसंग्रह में इसको वातनाशकरस के नाम से लिखा है, परन्तु रसप्रकाशसुधाकर में नमकों के स्थान पर लहसन डालने को कहा है जैसे—"सूतं स्वर्णं ताम्रकं वज्रमेव अब्धेः फेनं शुद्धसौवीरकं हि। कृत्वा सम्यक् सर्वमेवं समांशं भागं चैकं कारयेद्वै रसोनं वज्रीद्वीरैर्मर्दितं तद्दिनैकम्॥ रुद्ध्वा सम्यक् भूधरे तं विपाच्य माषं चैकं भक्षयेदार्द्रकेण। लिह्याद्देवं पिप्पलीमाक्षिकेण कृष्णामूलक्काथ अत्रानुपेयः॥ सर्वान् वातान् वातजान् वै विकारान् हन्यात्सत्यं भाषितं भैरवेण"॥ १४९—१५१॥

द्वितीयस्वच्छन्दभैरवः—

शुद्धं सूतं मृतं लोहं ताप्यगन्धकतालकम्।
पथ्याग्निमन्थनिर्गुण्डी त्र्यूषणं टङ्कणं विषम्॥१५२॥
तुल्यांशं मर्दयेत् खल्ले दिनं निर्गुण्डिकारसैः।
मुण्डीद्रावैर्दिनैकं तं द्विगुञ्जं वटकीकृतम्॥
भक्षयेत् सर्ववातार्त्तो नाम्ना स्वच्छन्दभैरवः॥ १५३॥

शुद्ध पारद, लोहभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, हरड़चूर्ण, अरणीचूर्ण, निर्गुण्डीचूर्ण, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, भुना हुआ सुहागा, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिलायें। पश्चात् इसे एक दिन निर्गुण्डी के स्वरस में मर्दन करें। फिर एक दिन मुण्डी (गोरखमुण्डी) के स्वरस में मर्दन करें। गोली बाँधने योग्य होने पर दो रत्ती की गोली बना लें। इस 'स्वच्छन्दभैरव रस' को सर्ववातरोग पीड़ित मनुष्य को सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में 'मुण्डीद्रावैः' के स्थान पर 'शुण्ठीद्रावैः' पाठ मिलता है॥ १५२–१५३॥

षडङ्गगुग्गुलुः—

रास्नामृतादेवदारुशुण्ठीवातारितुल्यकम्।
गुग्गुलुं सर्वतुल्यांशं कुट्टयेत् घृतवासितम्॥
कर्षांशं भक्षयेच्चानु ख्यातः षडाङ्गगुग्गुलुः॥ १५४॥

रास्नाचूर्ण, गुडूचीचूर्ण, देवदारुचूर्ण, सौंठचूर्ण, एरण्डमूलत्वक्चूर्ण; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र पीस लें। फिर इसमें सब के बराबर शुद्ध गूगल मिला कर घी के साथ अच्छी तरह कूटें। इसको 'षडंगगुग्गुलु' कहते हैं। इसमें से प्रतिदिन वातरोगपीड़ित मनुष्य को एक कर्ष मात्रा में सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ मासे से २ मासे तक। रसरत्नाकर में वर्णित षडङ्गगूगल में रास्ना नहीं ली गई है। और एरण्डजड़ की छाल के स्थान पर एरण्डतैल लिया गया है। यथा "अमृतादेवकाष्ठञ्च शुण्ठी वातारितैलकम्। गुग्गुलुं सर्वतुल्यांशं कुट्टयेच्च सदादृढम्॥ कर्षांशं भक्षयेच्चापि ख्यातं षडंगगुग्गुलुम्" परन्तु इस पाठ से इसमें छः द्रव्य न होने से षडंगता नहीं आ सकती है। अतः प्रकृत पाठ ही योग्य है॥ १५४॥

षडङ्गयोगः—

धूमसारं वरां यष्टीं टङ्कणं पत्रकं विषम्।
तुल्यं गुञ्जाद्वयं खादेदामवातप्रशान्तये॥१५५॥

घर का धुंआचूर्ण, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आंवलाचूर्ण, मुलेठीचूर्ण, शुद्ध टंकण, तेजपत्रचूर्ण तथा शुद्ध विष (वत्सनाभ); इनको प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। इसमें से दो रत्ती भर मात्रा आमवातरोग शान्ति के लिये प्रतिदिन रोगी को सेवन करानी चाहिये।

विशेष वचन—घर के धुएँ में आंतों की सड़न को मिटाने की विशेष शक्ति होती है। अतः आन्त्रविकारयुक्त आमवातरोग में इस योग को अनुपान रूप में देना चाहिये। यहाँ पर वरा (त्रिफला) को योग का एक ही अंग माना गया है॥ १५५॥

त्रिफलाद्यं यमकम्—

एरण्डतैलं त्रिफलां गोमूत्रं चित्रकं विषम् ।
सर्पिषा सहितं पक्त्वा सर्वाङ्गं तेन मर्दयेत् ॥
त्वग्वातघ्नं महाश्रेष्ठं—॥१५६॥

त्रिफलाचूर्ण, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण, वत्सनाभविषचूर्ण; इन तीनों को परस्पर समभाग में लेकर एक कुड़व कल्क बना लें। इसमें एरण्डतैल आधा प्रस्थ, घृत आधा प्रस्थ और गोमूत्र चार प्रस्थ मिला कर यमक (तैल और घृत) सिद्ध कर लें। इस यमक के द्वारा वातरोगी के सर्वांग में मालिश करनी चाहिये। यह यमक त्वचागतवायु को नष्ट करने में सर्वोत्तम माना जाता है।

विशेष वचन—यदि इसको 'सर्पिषा' इस वाक्य से घृतप्रधान योग माना जाय तो एरण्डतैल भी कल्क रूप में डाला जायगा और घी की मात्रा एक प्रस्थ हो जायगी ॥ १५६ ॥

त्वग्वाते आनन्दभैरवप्रयोगः—

—देयश्चाऽऽनन्दभैरवम् ।
लशुनं सैन्धवं तैलमनुपानं प्रकल्पयेत् ॥१५७॥

अथवा त्वग्गतवातरोग में सोलहवें अध्याय में वर्णित 'आनन्द-भैरव रस' को खिला कर लहसुन, सैंधानमक तथा एरण्डतैल का अनुपान देना चाहिये।

विशेष वचन—कोई आनन्दभैरव के प्रयोग को त्रिफलादि यमक के साथ ही सेवन करने को कहते हैं कि यमक द्वारा शरीर में मालिश करनी चाहिये और आनन्दभैरव रस का अनुपान सहित सेवन करना चाहिये। रसरत्नाकर में तैलादि की मात्रा एक कर्ष की लिखी है, यथा—"लशुनं सैन्धवं तैलं कर्षमात्रं सुखावहम्" ॥

निर्गुण्डीप्रयोगः—

निर्गुण्डीमूलचूर्णन्तु कर्षं तैलेन लेहयेत् ।
सन्धिवातः कटीवातः कम्पवातश्च शाम्यति ॥१५८॥

निर्गुण्डीमूल का चूर्ण एक कर्ष, एरण्डतैल के साथ मिला कर प्रतिदिन रोगी को खिलाने से सन्धिवात, कटी (कमर) वात कम्पवातरोग नष्ट होते हैं ॥१५८॥

रक्तैरण्डप्रयोगः—

रक्तस्यैरण्डमूलस्य कर्षं घृष्ट्वा जलैः पिबेत् ।
सर्ववातहरं श्रेष्ठं भग्नवाते विशेषतः ॥१५९॥

एक कर्ष परिमाण लाल एरण्ड की जड़ की छाल को जल के साथ घोट कर पीने से सर्व वातविकार नष्ट होते हैं। विशेषतः इसके प्रयोग से भग्न के कारण कुपित हुआ वात नष्ट होता है ॥

इन्द्रवारुणीप्रयोगः—

इन्द्रवारुणिकामूलं मागधीगुडसंयुतम् ।
भक्षयेत् कर्षमात्रन्तु सन्धिवातहरं भवेत् ॥१६०॥

इन्द्रायण की जड़ का चूर्ण तीन मासा, पिप्पलीचूर्ण तीन मासा, पुराना गुड़ छः मासा सबको मिला कर एक कर्ष मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से सन्धिवात दूर होता है ॥ १६० ॥

सर्वाङ्गवातारिरसः—

मृतं सूतं मृतं तीक्ष्णं मर्दयेत् कटुकीद्रवैः ।
चणमात्रां वटीं खादेत् सर्वाङ्गैकाङ्गवातनुत् ॥१६१॥

रससिन्दूर, तीक्ष्णलोहभस्म, दोनों को समभाग में लेकर कुटकीस्वरस के साथ मर्दन करके चने के बराबर गोली बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली वातहर अनुपान के साथ सेवन करने से सर्वांगवात तथा एकांगवात रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। रसरत्नाकर में इस रस को 'सर्वांगकम्पारि रस' के नाम से लिखा है। परन्तु वहाँ पर ताम्रभस्म ली गई है। और कुटकीरस की भावनायें इक्कीस लिखी हैं, यथा "मृतं सूतं मृतं ताम्रं मर्दयेत्कटुकद्रवैः। एकविंशतिवारञ्च शोष्यं पेष्यं पुनः पुनः। चणमात्रा वटी भक्ष्या रसः सर्वांगकम्पजित्" ॥ १६१ ॥

त्र्यम्बकेश्वरो रसः—

सूतकस्य पलं पञ्च पलैकं ताम्रचूर्णकम् ।
जम्बीराणां द्रवैः पिष्टं सूततुल्यञ्च गन्धकम् ॥१६२॥
नागवल्लीदलैः पिष्टं ताम्रपिष्टं प्रकल्पयेत् ।
रुद्ध्वा लघुपुटैः पच्याद् भूधरे यामपञ्चकम् ॥१६३॥
आदाय चूर्णयेत्तुल्यैस्त्र्यूषणैः सममिश्रितैः ।
अर्द्धाङ्गकम्पवातार्त्तो भक्षयेच्च द्विगुञ्जकम् ॥ १६४ ॥

शुद्ध पारद पाँच पल, शुद्ध ताम्र का चूर्ण एक पल लेकर दोनों को एकत्र जम्बीरी नींबू के रस के साथ घोट कर पिष्टी बना लें। पश्चात् इसमें पारद के बराबर भाग शुद्ध गन्धक मिला कर अच्छी प्रकार से मर्दन कर कज्जलाकृति कर लें। और पान के रस से पीस कर गोला सा बना सुखा करके शरावसम्पुट में बन्द कर लें। अब इसे भूधरपुट में लघुपुट द्वारा पाँच प्रहर तक पका लें। स्वांगशीतल होने पर गोले को निकाल उसमें समभाग त्रिकटुचूर्ण मिला कर पीस लें। इसकी त्रिकटुचूर्णमिश्रित मात्रा दो रत्ती भर लेकर प्रतिदिन सेवन करने से अर्धांगवात, कम्पवात पीड़ित रोगी को आराम आता है।

विशेष वचन—इस रस को तन्त्रान्तरों में पिण्डीरस; अर्धाङ्ग-वातारिरस, तथा कम्पवातारिरस नाम से कहा है। इसी तरह इसके पाठों में भी वहाँ कुछ भिन्नता पाई जाती है। रसेन्द्रसारसंग्रह में यह रस पिण्डीरस नाम से लिखा है। उसके अनुसार पारद गंधक की कज्जली को पान के पत्तों के रस से घोट कर ताम्र के कण्टक-वेधी पत्रों पर लेप करके गजपुट में फूक कर यह रस बनाया जाता

है। और इस योग को दाह, सन्ताप, मूर्च्छा आदि पित्तप्रकोपयुक्त वातरोग के लिये प्रयुक्त करना बताया गया है।

रसेन्द्रचिन्तामणि में यह योग 'पिष्टीरस' के नाम से दिया गया है। भेद केवल यह ही है कि त्र्यम्बकेश्वररस में गन्धक पारद के समान है, वहाँ दुगुना है यथा "बाणभागं शुद्धसूतं द्विगुणगन्धमिश्रितम्। नागवल्लीद्रवैः पिष्टं ततस्तेन प्रलेपयेत्॥ ताम्रपत्रीं प्रलिप्यैतां रुद्ध्वा गजपुटे पचेत्। द्विगुञ्जं त्र्यूषणेनार्धवपुर्वातं सकम्पनम्॥ निहन्ति दाहसन्तापमूर्च्छापित्तसमन्वितम्॥" त्रिकटुचूर्णमिश्रित रस की मात्रा १ रत्ती। रसरत्नाकर में "सूतकस्य पलं पञ्च पलैकं ताम्रचूर्णकम्।" के स्थान पर "सूतस्य च पलान् पञ्च पलैकं मृतताम्रकम्।" पाठ है। इसके अनुसार ताम्रभस्म लेने पर योग में लिये जाने वाले ताम्र के कच्चा रहने की आशंका ही नहीं रहती है। अन्यथा एक ही पुट में ताम्र का चूर्ण पूर्ण रूप से भस्म नहीं होता है॥ १६२—१६४॥

गगनगर्भा वटी—

सूताभ्रं तीक्ष्णताम्रञ्च मृतं तालकगन्धकम्।
भार्ङ्गीशुण्ठीवचाधान्यकम्पिल्लञ्चाभयाविषम्॥ १६५॥
मर्द्यं पर्पटकद्रावैर्निष्कैकां भक्षयेद्वटीम्।
वातश्लेष्महरा ह्याशु वटी गगनगर्भिता॥ १६६॥

शुद्ध पारद, अभ्रकभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, ताम्रभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गन्धक, भारङ्गीचूर्ण, शुण्ठीचूर्ण, वचाचूर्ण, धान्यकचूर्ण, कंबीलाचूर्ण, हरड़चूर्ण, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करके उसमें अन्य द्रव्य मिला कर पित्तपापड़े के कषाय या स्वरस से घोट कर एक निष्क की गोली बना लें। इस वटी का कुछ काल सेवन करने से वातरोग तथा श्लेष्मरोग शीघ्र नष्ट होते हैं। इसका नाम 'गगनगर्भा वटी' है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती समझनी चाहिये। इस रस को रसरत्नाकर तथा रसेन्द्रसारसंग्रह में 'वातगजांकुश रस' नाम से लिखा है। और वहाँ 'वचा' के स्थान पर 'बला', 'कम्पिल्लं' के स्थान पर 'कट्फलम्', 'पर्पटकद्रावैः' के स्थान पर 'चपलाद्रावैः' पाठान्तर मिलता है॥ १६५—१६६॥

वातगजाङ्कुशो रसः—

मृतं सूतं मृतं लोहं गन्धकं तालमाक्षिकम्।
पथ्याभृङ्गीविषं व्योषमग्निमन्थञ्च टङ्कणम्॥ १६७॥
तुल्यं खल्ले दिनं मर्द्यं मुण्डीनिर्गुण्डिजैर्द्रवैः।
द्विगुञ्जां वटिकां खादेत् सर्ववातप्रशान्तये॥
साध्यासाध्यं निहन्त्याशु रसो वातगजांकुशः॥ १६८॥

रससिन्दूर, लोहभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध हरताल, स्वर्णमाक्षिकभस्म, हरड़चूर्ण, भारंगीचूर्ण, शुद्ध विषचूर्ण, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, अरणी की छाल का चूर्ण, शुद्ध सुहागा; प्रत्येक द्रव्य समभाग में लेकर सबको एकत्र मिला मुण्डी के रस और सिंभालू के रस से पृथक् एक एक दिन खरल करके दो रत्ती भर की गोली बना लें। इस रस के सेवन करने से साध्याऽसाध्य सब प्रकार के वातरोग शान्त होते हैं। इसको 'वातगजांकुश रस' कहते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। रसेन्द्रसारसंग्रह में 'भृंगी' के स्थान पर 'शृंगी' पाठान्तर है। और वहाँ इसके सेवन करने के बाद मंजीठ के कषाय में पिप्पली का चूर्ण डाल कर अनुपान पीने को लिखा है। साथ ही वहाँ निम्नलिखित गुणपाठ अधिक है, यथा "सप्ताहाद् गृध्रसीं हन्ति दारुणं सान्निपातिकम्। क्रोष्टुशीर्षकवातञ्चाप्यवबाहुकसंज्ञकम्॥ उरुस्तम्भं हनुस्तम्भं मन्यास्तभं विनाशयेत्। पक्षाघातादि रोगेषु कथितः परमोत्तमः॥" प्रकृत ग्रन्थ में यही योग स्वच्छन्दभैरव के नाम से आया है। योगरत्नाकर में भी यह योग स्वच्छन्दभैरव रस के नाम से आता है। वहाँ अनुपान के रूप में निम्न कषाय बताया जाता है, जैसे "रास्नामृता देवदारु शुण्ठी वातारिजं शृतम्। सगुग्गुलुं पिबेत्कोष्णमनुपानं सुखावहम्"॥ १६७—१६८॥

वातरक्तलक्षणम्—

सन्धिष्वनिलरक्ताभ्यां शोफोऽन्तर्बहिराश्रयः।
छर्दिज्वराऽरुचिकरो भवेद्वातास्रसंज्ञकः॥१६९॥

वात और रक्त की विकृति के कारण सन्धियों के भीतर और बाहर शोथ होना, कभी कभी वमन, रोगी को तीव्रावस्था में ज्वर और अरुचि होना वातरक्त का लक्षण है।

विशेष वचन—यह रोग प्रायः समवर्तन क्रिया के ठीक न होने से तथा पोषक द्रव्य तथा protin के अधिक उपयोग से होता है। यह पैर के अँगूठे की प्रथम सन्धि पर पहिले आक्रमण करता है और धीरे धीरे अन्य सन्धियों में प्रविष्ट होता जाता है और प्रथम सन्धि को विकृत और टेढ़ी कर देता है। कई बार इसमें सन्धि की हड्डी गल भी जाती है॥ १६९॥

वातरक्तचिकित्सा—

त्रिनेत्राख्यं रसं खादेद्वातशोणितपीडितः।
वातास्रजिच्छूलगजकेशर्युदयभास्करः॥१७०॥
पूर्वोक्ता पर्पटी योज्या सर्वेष्वावरणेषु च।
सर्वरोगहिता चैव नाम्ना सर्वेश्वरी शुभा॥१७१॥

वातरक्तरोगपीड़ित मनुष्य को वातरक्तनाशक त्रिनेत्राख्य रस, शूलगजकेशरीरस, उदयभास्कररस का सेवन करना चाहिये और सब प्रकार के वातरक्तरोगों में विद्रधिरोग चिकित्साधिकार में वर्णित सर्वेश्वरपर्पटी रस का सेवन करना चाहिये॥ १७०—१७१॥

अथ पित्तरोगचिकित्सा।

चन्द्रावलेहः—

एलायाश्च तुला ग्राह्या जलद्रोणे विपाचयेत्।
अष्टभागावशिष्टन्तु शर्करार्द्धतुलां क्षिपेत् ॥१७२॥
शतावर्य्या विदार्य्याश्च गोक्षीरस्याऽढकं पृथक्।
लेहवत् साधिते तस्मिन् द्राक्षामधुकपिप्पलीः ॥१७३॥
त्रिजातकञ्च खर्जूरं चन्दनद्वयसारिवा।
मुस्तापद्मकह्रीबेरधात्री चोत्पलचोरकम् ॥१७४॥
एतेषां पलमादाय क्षिपेत् क्षीर्य्याश्चतुष्पलम्।
क्षौद्रप्रस्थेन संयुक्तं लेहयेत् प्रातरुत्थितः ॥१७५॥
पित्तोन्मादविकारेषु शिरोभ्रमणमूर्च्छिते।
हस्तपादाङ्गदाहे च पित्तरक्तोत्तरावृतौ ॥
छर्दिकासक्षये पाण्डौ चन्द्रवच्चन्द्रभाषितम् ॥१७६॥

एक तुला परिमाण छोटी इलायची को जौकुट करके एक द्रोण परिमाण जल में डाल कर आठवाँ भाग अवशेष कषाय बना कर छान लें। फिर इसमें आधा तुला (२०० तोला) खाण्ड, शतावरीस्वरस एक आढक, विदारीकन्दस्वरस एक आढक और गाय का दूध एक आढक परिमाण डाल कर मन्द मन्द अग्नि से पकावें। जब यह पकते पकते अवलेह के समान गाढ़ा बन जाय तब नीचे उतार उसमें निम्नलिखित औषधियों का कपड़छान किया हुआ चूर्ण मिला दें। दाख, मुलेठीचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, दालचीनी-चूर्ण, तेजपत्रचूर्ण, छोटी इलायचीबीजचूर्ण, खजूर, श्वेतचन्दनचूर्ण, लालचन्दनचूर्ण, सारिवाचूर्ण, मुस्ताचूर्ण, पद्माकचूर्ण, सुगन्धबाला-चूर्ण, आँवलाचूर्ण, नीलकमलचूर्ण, चोरक का चूर्ण; प्रत्येक एक २ पल, वंशलोचनचूर्ण चार पल, उत्तम मधु एक प्रस्थ मिला कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन प्रातःकाल उचित मात्रा में सेवन करने से पित्तप्रकोपजन्य उन्माद, शिर में चक्कर, मूर्छा, हाथ-पैर तथा शरीर की दाह (जलन), पित्त तथा रक्त की विकृतिजन्य रोग, वमन, कास, क्षय तथा पाण्डुरोग नष्ट होते हैं। इसके सेवन करने से मनुष्य चन्द्रमा के समान कान्ति वाला होता है। इस अवलेह को चन्द्रदेव ने वर्णन किया है।

विशेष वचन—मात्रा २ मासे से ३ मासे तक। चोरक-चोरक नाम का सुगन्धित द्रव्य भूटानी बेचते हैं। यह अवलेह ऊँचे रक्त दबाव [High Blood Presser] में बहुत लाभदायक है, प्रायः व्यवहार में आता है ॥ १७२--१७६ ॥

ऐलेयसर्पिः—

ऐलेयकस्य स्वरसे घृतं क्षीरं समं पचेत्।
चन्दनं मधुकं द्राक्षा मधुकञ्च सिता तुगा ॥१७७॥
ऐलेयकमिदं सर्पिः सर्वपित्तविकारजित्।
वातपित्तविकारघ्नं शिरोभ्रमणकम्पनुत् ॥१७८॥

चन्दन, मुलेठी, द्राक्षा, महुआफूल, मिश्री या खाण्ड, वंश-लोचन, इनको समभाग में लेकर घृत की अपेक्षा चतुर्थांश कल्क बना लें। इसमें कल्क से चतुर्गुण गोघृत और गोदुग्ध मिलायें और घृत से चतुर्गुण इलायची का स्वरस अथवा कषाय मिला कर घृत-सिद्ध कर लें। इसे 'ऐलेयकसर्पि' कहते हैं। यह घृत सब पित्त-विकारों को शान्त करता है। इसके अतिरिक्त यह घृत वातयुक्त पित्त, विकार शिर में चक्कर तथा कम्प रोग को भी दूर करता है।

विशेष वचन–मात्रा ३ मासे से ६ मासे तक। ऐलेयक का अर्थ इलायची वैद्यक शब्द सिन्धु या दूसरे ग्रन्थों में मेरे देखने में नहीं आया। एलावालुक प्रसिद्ध अर्थ है, वासाखण्ड कूष्माण्ड भी ऐलेयक से एलवालुक ही लेते हैं। कुछ लोग घृत कुमारी का रस (मुसब्बर) भी लेते हैं ॥१७७–१७८॥

ऐलेयकप्रयोगः—

ऐलेयकस्य स्वरसे सक्षीरां शर्करां पिबेत्।
क्वाथं वा शर्करायुक्तं शिरोभ्रमणकम्पनुत् ॥ १७९ ॥

इलायची के स्वरस में समभाग दूध और मिश्री मिला कर पिलाने से अथवा इलायची के कषाय या फाण्ट में केवल शर्करा मिला कर पिलाने से शिर में चक्कर तथा कम्परोग शान्त होता है ॥ १७९ ॥

ऐलेयकतैलम्—

ऐलेयकस्य स्वरसमाढकन्तु भिषग्वरः।
कुमार्याः स्वरसं शुद्धं चतुष्प्रस्थं तु कारयेत् ॥ १८० ॥
आमलक्याः शतावर्या रसं प्रस्थद्वयं पृथक्।
तैलाढकसमायुक्तं क्षीरद्रोणविमिश्रितम् ॥ १८१ ॥
चोचं मलयजं वारि सरलं कुमुदोत्पलम्।
द्वे मेदे मधुकं द्राक्षा तुगाक्षीरी मधूलिका ॥ १८२ ॥
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ।
मृगनाभ्यजगन्धा च शशाङ्कश्च पृथक् पृथक् ॥ १८३॥
एतेषां चार्द्धपलकं श्लक्ष्णं चूर्णं विनिक्षिपेत्।
एतत्सर्वं समालोड्य मन्दं मन्दाग्निना पचेत् ॥१८४॥
सुमुहूर्ते सुनक्षत्रे नववस्त्रेण पीडयेत्।
शिरोनेत्रविकारेषु नस्यवत् कर्णयोजितम् ॥१८५॥
अभ्यंगोद्वर्तनालेपैः शिरोभ्रमणकम्पनुत्।
अङ्गदाहं शिरोदाहं नेत्रदाहं च दारुणम् ॥ १८६ ॥
विसर्पकविकारांश्च मूर्ध्नि जातान् बहून् व्रणान्।
आस्यशोषं भ्रमं चैवं नाशयेन्नात्र संशयः ॥
ऐलेयकमिदं तैलं प्रशस्तं पित्तरोगिणाम् ॥ १८७ ॥

इलायची का स्वरस अथवा कषाय एक आढ़क, घीकुमारी-स्वरस चार प्रस्थ, आवलों का स्वरस दो प्रस्थ, शतावरी स्वरस दो प्रस्थ, तिलतैल एक आढ़क, गोदुग्ध एक द्रोण को

एकत्र मिला कर उसमें दालचीनी, लाल चन्दन, सुगन्धबाला, देवदारु, कुमुद (सफ़ेद कमल), उत्पल (लाल कमल) मेदा, महामेदा, मुलेठी, दाख, वंशलोचन, मयूलिका (केवड़ी मोथा या मूर्वा), काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, कस्तूरी, अजगन्धा (वनतुलसी ववई), कपूर; इन औषधियों का पृथक् पृथक् आधा आधा पल सूक्ष्म चूर्ण मिला दें। और मन्द मन्द अग्नि से तैल को सिद्ध करें। तैलमात्र अवशेष रहने पर इसे स्वच्छ और नवीन वस्त्र से छान कर रख लें। इस तैल को शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्त युक्त दिन से व्यवहार में लावें। शिरोरोग तथा नेत्रविकारों में इस तैल को नस्य तथा कानों में डाल कर प्रयोग करना चाहिये। इसका मालिश, उबटन तथा प्रलेप आदि विधियों से प्रयोग करने पर शिर में चक्कर आना, कम्प, शरीर की दाह, शिरोदाह, नेत्रदाह, विसर्परोग, विसर्परोगोपद्रव, शिर में पित्त-प्रकोप से होने वाले अनेक प्रकार के व्रण, मुखशोष, भ्रम ये सब रोग निःसन्देह दूर हो जाते हैं। यह तैल पित्तप्रकोप युक्त रोगियों के लिये अत्यन्त हितकर है।

विशेष वचन—सुगन्धित और उड़नशील द्रव्यों को तैल अथवा घृत में पकते समय न डाल कर सिद्ध होने के बाद डालना उचित होता है। अतः यहाँ पर कपूर तथा कस्तूरी को तैल छान लेने पर spirit में घोल कर मिलाना चाहिये। इससे तैल में सुगन्ध भी पर्याप्त हो जाती है और गुण भी पर्याप्त होते हैं।

अमृतप्राशः—

ऐलेयकं समूलं हि मुद्गपर्णी तथैव च।
शतावरी विदारी च वाराहीकन्दमेव च ॥ १८८ ॥
मधुकं च मधूकं च तुगाक्षीरी च गोस्तनी।
एतानि द्विपलांशानि चूर्णीकृत्य पृथक् पृथक् ॥ १८९ ॥
सरलं चन्दनं चोचमुत्पलं कुमुदं जलम्।
काकोली क्षीरकाकोली द्वे मेदे जीवकर्षभौ ॥ १९० ॥
एतेषां चार्द्धपलिकं प्रत्येकं शर्करायुतम्।
ऐलेयकं विदारी च वाराही मुद्गपर्णिका ॥ १९१ ॥
एतेषां स्वरसैः शुद्धैः शातावर्याश्च भावितम्।
एतत्सर्वं समाहृत्य छायाशुष्कं तु सप्तधा ॥ १९२ ॥
इक्ष्वामलकयोः क्षौद्रैर्भावितं सप्तधा पुनः।
पयसा तु पिबेत्प्रातर्यथाग्निबलवान्नरः ॥ १९३ ॥
अङ्गदाहं शिरोदाहं रक्तपित्तं सुदारुणम्।
शिरोऽक्षिकम्पभ्रमणमित्यादिकगदाञ्जयेत् ॥ १९४ ॥

इलायची का पञ्चांग, मूगपर्णी, शतावर, विदारीकन्द, वाराही-कन्द, मुलेठी, महुआपुष्प, वंशलोचन, द्राक्षा; प्रत्येक द्रव्य पृथक् पृथक् दो दो पल, सरल (चीड़ या देवदारु), चन्दन, दालचीनी, कमल, श्वेतकमल, सुगन्धबाला, काकोली, क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, जीवक, ऋषभक और खाण्ड; प्रत्येक द्रव्य आधा आधा पल लेकर सूक्ष्म चूर्ण कर लें। इस सब को एकत्र मिला कर खरल में डाल कर इलायची, विदारीकन्द, वाराहीकन्द, मूगपर्णी तथा शतावरी के स्वच्छ स्वरस में पृथक् पृथक् सात सात वार भावना देकर छाया में सुखा लें। अन्त में इसको गन्ने के रस आँवलों के रस तथा मधु में सात सात भावना देकर सुखा लें। इसमें से प्रतिदिन प्रातःकाल मनुष्य को अपनी पाचकाग्नि तथा बल के अनुसार मात्रा में लेकर दूध से साथ सेवन करना चाहिये। यह चूर्ण शरीर के दाह, शिर की दाह, भयंकर रक्तपित्त, शिरःकम्प, नेत्रकम्प, भ्रम आदि सम्पूर्ण वात तथा पित्तविकारों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—मात्रा ३ रत्ती से ६ रत्ती तक। मेदा, महामेदा, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि तथा वृद्धि; इन आठ अष्टवर्ग की औषधियों के अभाव में प्रायः शतावर, विदारीकन्द, असगन्ध तथा वाराहीकन्द क्रमशः ये चार द्रव्य दो दो के अभाव में डालने की प्रथा है ॥ १८८—१९४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये शीतवात—स्पर्शवात—रक्तवातामवातापस्मारोन्मादैकाङ्ग-वात-सन्धिवातभग्नकम्पवातरक्तशिरोभ्रमणचिकित्सा-नामैकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

—:०:—

द्वाविंशोऽध्याय

अथ बन्ध्यादिचिकित्सनम्।

बन्ध्याभेदाः—

भेदा बन्ध्याऽबलानां हि नवधा परिकीर्तिताः।
तत्राऽऽदिबन्ध्या प्रथमा पापकर्मविनिर्मिता ॥ १ ॥
रक्तेन च पृथग्दोषैः समस्तैः पञ्चधा भवेत्।
भूतदेवाभिचारैश्च तिस्रो बन्ध्याः प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥

बन्ध्या (बाँझ) स्त्रियों के भेद कहे गये हैं। १. आदिबन्ध्या, जो पूर्व सञ्चित पापकर्मों के कारण होती है। २. रक्तबन्ध्या, जो आर्तव के खराब होने के कारण होती है। ३. वातबन्ध्या, गर्भाशय में वातिक विकृति के कारण होती है। ४. पित्तबन्ध्या, गर्भाशय आदि जननेन्द्रियों में पित्तप्रकोप के कारण क्षोभ रहने से होती है। ५. श्लेष्मबन्ध्या, गर्भाशय आदि अङ्गों में श्लेष्मप्रकोप के कारण शोथ आदि होने से होती है। ६. सान्निपातिक बन्ध्यायोनि, इसमें शरीर तथा जननेन्द्रियों में तीनों दोषों का प्रकोप होता है। ७. भूतदोषबन्ध्या, भूतों के कारण गर्भधारण शक्ति के नष्ट हो जाने पर। ८. देवबन्ध्या, देवताओं के वरदान से गर्भधारण न कर सकने वाली। ९. अभिचारबन्ध्या, मन्त्र, जादू, टोना आदि के कारण अथवा अथर्ववेदविदित विपरीत मन्त्र प्रयोग के कारण होने वाली बन्ध्या। इस प्रकार बन्ध्याओं के नौ भेद बताये जाते हैं।

विशेष वचन—वन्ध्यारोग का विषय निदान से विशेष सम्बन्ध रखता है। अतः विशेष विज्ञान के लिये स्त्रीरोगसम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये। संक्षेप से वन्ध्यारोग दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। १—सहजवन्ध्यात्व, २—आगन्तुवन्ध्यात्व। सहजवन्ध्यात्व में स्वभावतः या जन्म से ही उत्पादक अंगों का विकृत या अधूरा होना या बिलकुल ही न होना आदि सम्मिलित है। आगन्तुक वन्ध्यात्व में जन्म के बाद शारीरिक या स्थानिक विकृति कारण होती हैं। इसमें दीर्घ रोग, योनि के रोग, अतिमैथुन, दुर्बलता, चिन्ता, शोक, गर्भाशय में मांसवृद्धि, मांसार्बुद, गर्भाशय का स्थानभ्रंश, अपवर्तन, डिम्ब तथा डिम्बप्रणाली के रोग, गर्भाशय, मुख का संकोच, अर्बुद आदि कारण सम्मिलित हैं। कई स्त्रियों में जननेन्द्रियां स्वस्थ होती हैं परन्तु स्त्रियों के व्यायामशील न होने से चर्बी का भाग बहुत बढ़ जाता है जिससे गर्भाशय मुख पर भी चर्बी के बढ़ जाने से मार्ग संकुचित होने पर गर्भस्थिति नहीं होती है। कई स्त्रियाँ चिरकाल तक गर्भाशयमुख पर शुक्रकीटहर द्रव्यों को रखती हैं या कृमिहर द्रवों से योनि अथवा गर्भाशय को धोती रहती है। इससे भी गर्भाशय में गर्भधारण शक्ति नष्ट हो जाती है ॥ १—२ ॥

पुरुषस्य वन्ध्यत्वदोषः—

पुमानपि भवेद्वन्ध्यो दोषैरेतैश्च शुक्रतः ॥ ३ ॥

स्त्रियों की भाँति पुरुष में भी, शुक्र में वातादि दोष प्रकोप के कारण दुर्बलता से वन्ध्यत्व होता है।

विशेष वचन—स्त्री को बाँझपन की चिकित्सा करने पर भी यदि लाभ प्रतीत न हो तो उसके पति का भी परीक्षण करना चाहिये। कई बार स्त्री में कोई दोष नहीं होता किन्तु पुरुष में ही शुक्रसम्बन्धी दुर्बलता या कोई विशेष रोग होने से सन्तान पैदा नहीं होती है। पुरुष के वन्ध्यत्व के विषय में पूर्ण परीक्षण करने के लिये चरक आदि का क्लैब्यनिदान अच्छी तरह अवलोकन करना चाहिये ॥ ३ ॥

वन्ध्यालक्षणम्—

गर्भस्रावी स्मृता पूर्वं मृतवत्सा द्वितीयका।
तृतीया स्त्रीप्रसूतिः स्यात्काकवन्ध्या सकृत्प्रसूः ॥४॥
इत्यादि।

उक्त नौ प्रकार के वन्ध्या दोषों में चार वन्ध्यादोष मुख्य होते हैं। १. गर्भस्रावी वन्ध्यादोष, इसमें गर्भस्थिति होत है परन्तु गर्भ अपने समय से पूर्व ही गिर जाता है। २. मृतवत्सा वन्ध्यादोष, इसमें बालक पैदा होता है परन्तु वह पैदा होते ही या दो चार दिन बाद मर जाता है। अथवा पूरे महीने में पैदा होने पर भी मरा हुआ पैदा होता है। ३. स्त्रीप्रसूतिवन्ध्यादोष, इसमें स्त्री के शरीर या जननेन्द्रियों में कुछ ऐसे तत्वों की कमी और विकृति आ जाती है जिससे गर्भ में पुरुषत्व के द्योतक तत्त्व सदा दुर्बल रहते हैं परिणामस्वरूप सदा कन्या ही उत्पन्न होती है। ४. काकवन्ध्या इसमें एक सन्तान उत्पन्न होने के बाद ऋतु पर सम्भोग करते हुये और स्वास्थ्य के अच्छे रहते भी दुबारा सन्तान पैदा नहीं होती है ॥ ४ ॥

जयसुन्दररसः—

सुवर्णं रजतं ताम्रं ताप्यसत्त्वं च वैक्रतम्।
एकैकं निष्कमानेन संशुद्धं परिमारितम् ॥५॥
एतच्चतुर्गुणं सूतं सूताद्द्विगुणगन्धकम्।
मर्दयेल्लक्ष्मणातोयैर्बन्धुजीवरसैरपि ॥६॥
काचकूप्यां ततः क्षिप्त्वा ताम्रपात्रं मुखे न्यसेत्।
विलिम्पेदभितः कूपीमङ्गुलोत्सेधया मृदा ॥७॥
विशोष्य च पुटं दद्याद्भूमौ निक्षिप्य कूपिकाम्।
गजाख्यपुटपर्याप्तैः शाणकर्षमितोत्पलैः ॥८॥
स्वांगशीतं विचूर्ण्याथ भावयेल्लक्ष्मणाद्रवैः।
सप्तवारं विशोष्याऽथ करण्डान्तर्विनिक्षिपेत् ॥९॥
अश्वगन्धारजोयुक्तस्ताम्रगोक्षीरसंयुतः।
सेवितो गुञ्जया तुल्यः सितया च रसोत्तमः ॥१०॥
मासत्रयप्रयोगेण वन्ध्या भवति पुत्रिणी।
पुत्रिण्यै स्नानशुद्धायै रजःकौशिकचक्षुषी ॥११॥
गव्याज्येन च संसाध्य तत्तदानीं हि भोजयेत्।
ऋतावृताविदं देयं यावन्मासत्रयं भवेत् ॥१२॥
रसेन्द्रः कथितः सोऽयं चम्पकारण्यवासिभिः।
पूर्णामृताख्ययोगीन्द्रैर्नामतो जयसुन्दरः ॥१३॥
सेवितेऽस्मिन् रसे स्त्रीणां न भवेत्सूतिकागदः।
भवेत्पुत्रश्च दीर्घायुः पण्डितो भाग्यमण्डितः ॥१४॥

सुवर्णभस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, वैक्रान्तभस्म; प्रत्येक एक एक निष्क परिमाण लें। शुद्ध पारद बीस निष्क, शुद्ध गन्धक चालीस निष्क लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर इसमें सुवर्णभस्म आदि द्रव्य मिलायें, और इसको लक्ष्मणा नामक बूटी के मूलस्वरस से एक दिन मर्दन करें। फिर बन्धुजीव (दोपहरिया) के पुष्पस्वरस से एक दिन मर्दन करके सुखा लें। फिर इसको एक अंगुल मोटी कपड़मिट्टी की हुई काँच की शीशी (बोतल) में भर कर शीशी के मुख में शुद्ध ताम्रपत्र का अच्छी तरह डाट लगा दें। अब इस शीशी को गजपुट के गर्त के बीच में शीशी आने योग्य एक दूसरा गढ़ा खोद रख दें, और शीशी के ऊपर चार अंगुल मोटी तह बालू की बिछा दें। अब इस बालू के ऊपर गजपुट के गर्त में छोटे कण्डों (उपले) के टुकड़े, जो कि एक शाण भार से एक तोला भर भार के हों, भर कर गजपुट देवें। स्वांगशीत होने पर औषधि को निकाल

पीस कर लक्ष्मणामूलस्वरस की सात भावना देकर सुखा के पीस कर शीशी में रख लें। इस रस को प्रतिदिन एक रत्ती प्रमाण लेकर असगन्धचूर्ण, रक्तवर्ण गाय के दूध और मिश्री के साथ सेवन करायें। इस विधि से तीन मास तक इस रस के प्रयोग से बन्ध्या स्त्री गर्भ धारण कर लेती है। पुत्र की कामना से जो स्त्री इस रस का सेवन करना चाहती हो उसे ऋतुस्नान के पश्चात् इस रस का सेवन करना चाहिये। और ऋतुस्नान के बाद पुत्रिणी स्त्री को विशेष प्रकार के उल्लू के नेत्रों को गाय के घी में तल कर भोजन करना चाहिये। और पुनः क्षुधा लगने पर एक बार लघु तथा पोषक आहार का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार पथ्य सहित इस रस को प्रत्येक ऋतुस्नान से आरम्भ कर तीन मास तक (गर्भ धारण होने पर भी) सेवन करना चाहिये। इस 'जयसुन्दर' नामक श्रेष्ठ रस को चम्पकारण्य-निवासी श्रीपूर्णामृत योगी ने वर्णन किया है। इस रस के सेवन करने से स्त्रियों को सूतिका रोग नहीं होने पाता है और उनके दीर्घायु विद्वान् तथा भाग्यवान् पुत्र की उत्पत्ति होती है।

विशेष वचन—कई वैद्य 'रजःकौशिकचक्षुषी' का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि "रज (पित्तपापड़ा या कर्पूर), कौशिक (शुद्ध गूगल), चक्षुः (मेढा सिंगी) इनको भोजन संस्कार में प्रयुक्त करना चाहिये।" लक्ष्मण का लक्षण इस प्रकार लिखा है'—पुत्रकाकाररक्ताल्पविन्दुभिर्लाञ्छिता सदा। लक्ष्मणा पुत्रजननी बस्तगन्धाकृतिर्भवेत्'' ॥ ५—१४॥

रत्नभागोत्तररसः—

वज्रं मरकतं पद्मरागं पुष्पं च नीलकम्।
वैदूर्यं चाथ गोमेदं मौक्तिकं विद्रुमं तथा ॥ १५ ॥
पञ्चगुञ्जामितं सर्वं रत्नं भागोत्तरं परम्।
तत्तत्प्रोक्तविधानेन भस्मीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ १६ ॥
सर्वस्मादष्टगुणितं भस्म वैक्रांतसम्भवम्।
तत्तुल्यं ताप्यजं भस्म तद्वद्विमलभस्म च ॥ १७ ॥
सर्वतस्त्रिगुणां तुल्यां रसगन्धककज्जलीम्।
सर्वमेकत्र संमर्द्य छागीदुग्धेन तद्द्व्यहम् ॥ १८ ॥
विधाय पर्पटीं यत्नात्परिचूर्ण्य प्रयत्नतः।
बन्ध्याकर्कोटलीपर्णक्वाथेन परिमर्दयेत् ॥ १९ ॥
काननोत्पलविंशत्या पुटेत्षोडशवारकम्।
एवं रसो विनिष्पन्नो रत्नभागोत्तराभिधः ॥ २० ॥
महाबन्ध्यादिबन्ध्यानां सर्वासां सन्ततिप्रदः।
देवीशास्त्रे विनिर्दिष्टः पुंसां बन्ध्यत्वरोगनुत् ॥ २१ ॥
सोऽयं पाचनदीपनो रुचिकरो वृष्यस्तथा गर्भिणी-
सर्वव्याधिविनाशनो रतिकरः पाण्डुप्रचण्डार्तिनुत्।
धन्यो बुद्धिकरश्च पुत्रजननः सौभाग्यकृद्योषितां
निर्दोषः स्मरमन्दिरामयहरो योगादशेषार्तिनुत् ॥ २२ ॥

हीराभस्म १ भाग, मरकतमणिभस्म २ भाग, माणिक्य-मणिभस्म ३ भाग, पुष्पराज (पुखराज) भस्म ४ भाग, नीलममणिभस्म ५ भाग, वैदूर्यमणिभस्म ६ भाग, गोमेदमणिभस्म ७ भाग, मुक्ताभस्म ८ भाग, प्रवालभस्म ९ भाग लें। अथवा हीराभस्म ५ रत्ती, मरकतमणिभस्म ६ रत्ती इस क्रम से एक एक रत्ती बढ़ा कर मूगाभस्म ११ रत्ती लें। फिर इन सब हीरा आदि की भस्म की अपेक्षा वैक्रान्तभस्म आठगुनी, स्वर्णमाक्षिकभस्म आठगुनी, रौप्यमाक्षिकभस्म आठगुनी लें। अब इन रौप्यमाक्षिकभस्म पर्यन्त सब भस्मों की अपेक्षा तिगुनी, शुद्ध पारद गन्धक की कज्जली लेकर सब को एकत्र खरल में डाल कर बकरी के दूध में दो दिन तक मर्दन करें। फिर इसको एक लोहे की कढ़ाही में थोड़ा सा घृत चुपड़ कर डाल करके पर्पटीविधान से गोबर के ऊपर रखे हुये कदलीपत्र के ऊपर ढाल कर पर्पटी बना लें। इस पर्पटी को पुनः सूक्ष्म चूर्ण करके बाँझककोड़े के पत्तों के क्वाथ से मर्दन करके सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके बीस अरने उपलों की अग्नि में पुट दें। इस प्रकार बाँझककोड़े के पत्तों के स्वरस से मर्दन कर शराव-सम्पुट में बन्द करके बीस अरने उपलों की सोलह पुट दें। स्वांग-शीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रख लें। यह 'रत्नभागोत्तर रस' कहा जाता है। इस रस के सेवन करने से महाबन्ध्या (आदिबन्ध्या) आदि सब प्रकार की बन्ध्याओं का बाँझपन दूर होकर उसमें सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति आ जाती है। देवी-शास्त्र में कहा है कि इस रस के प्रयोग से न केवल स्त्रियों का ही बन्ध्यत्व दोष मिटता है, अपितु पुरुषों का भी शुक्रदोषजन्य बन्ध्यत्व नष्ट हो जाता है। यह रस अत्यन्त पाचक, अग्निदीपक, रुचिकारक, वीर्यवर्द्धक है। गर्भिणी स्त्रियों की सम्पूर्ण व्याधियों का नाशक और रतिशक्तिवर्द्धक है। पाण्डुरोग को मिटाता है। यह बुद्धिवर्धक, पुत्रोत्पादक, स्त्रियों का सौभाग्यवर्धक तथा धन्य है। भिन्न भिन्न अनुपानों के साथ प्रयोग करने पर यह रस सम्पूर्ण रोगों तथा काम-वासना के विकारों को या जननेन्द्रिय के विकारों को दूर करता है। यह रस किसी अवस्था में सेवन करने पर कोई विकार उत्पन्न नहीं करता है। अतः स्वस्थ मनुष्य भी इसका सेवन कर सकता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक ॥ २२ ॥

चक्रिकाबन्धरसः—

गन्धकः पलमात्रश्च पृथगन्यौ शिलाऽऽलकौ।
त्रिदिनं मर्दयित्वाऽथ विदध्यात्कज्जलीं शुभाम् ॥ २३ ॥
विषाणाकारमूषायां कज्जलीं निक्षिपेत्ततः।
द्विपलस्य च ताम्रस्य तन्मुखे चक्रिकां न्यसेत् ॥ २४ ॥
सन्निरुध्यातिलेन सन्धिबन्धे विशोषिते।
ततः करिपुटार्द्धेन पाकं सम्यक् प्रकल्पयेत् ॥ २५ ॥
स्वतःशीतं समुद्धृत्य चक्रिकां परिचूर्णयेत्।
स्थगयेत्कूपिकामध्ये वस्त्रेण परिगालितम् ॥ २६ ॥
रसोऽयं चक्रिकाबन्धस्तत्तद्रोगहरौषधैः।
दातव्यः शूलरोगेषु मूले गुल्मे भगन्दरे ॥ २७ ॥

ग्रहण्यामग्निमान्द्ये च विद्रधौ जठरामये ।
नागोदरे तथैवोपविष्टके जलकूर्मके ॥ २८ ॥
स्कन्देनामन्दकृपया त्रिलोकत्राणहेतवे ।
चक्रिकाबन्धनामाऽयं प्रसूतस्त्रीगदापहः ॥ २९ ॥

शुद्ध गन्धक एक पल, शुद्ध मैनसिल एक कर्ष, शुद्ध हरताल एक कर्ष लें। पहिले गन्धक और हरताल को एकत्र मिला कर पीस लें। फिर इसमें मैनसिल का चूर्ण मिला कर कज्जली कर लें। फिर इसको सींग के आकार वाली एक मूषा में भर मूषा के मुख पर दो पल परिमाण शुद्ध ताम्र के कण्टकवेधी पत्रों का अच्छी तरह डाट लगा दें और सन्धि स्थान पर चूना और गुड़ से अच्छी तरह सन्धिबन्धन करके सुखा लें। फिर इस मूषा को अर्ध-गजपुट में रख कर अच्छी तरह पाक कर लें। स्वांगशीतल होने पर ताँबे के पत्रों (चक्रिका) सहित औषधि को निकाल कर पीस लें। कपड़छन करके इस औषधि को शीशो में रख लें। यह चक्रिका बन्ध रस को तत्तत् रोगनाशक अनुपानों के साथ भिन्न भिन्न रोगों में प्रयोग करना चाहिये। इसके सेवन से शूलरोग, अर्श, गुल्म, भगन्दर, संग्रहणी, मन्दाग्नि, विद्रधि, उदररोग, नागोदर, उपविष्टोदर, जलोदर, कमठोदर रोग में विशेष लाभ होता है। श्रीस्वामी कार्तिकेय ने त्रिलोकी की रक्षा के निमित्त अत्यन्त कृपापूर्ण हृदय से इस रस का वर्णन किया है। इसके नियमपूर्वक सेवन करने से प्रसूता स्त्री के सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से ½ रत्ती तक। इस रस र ताम्रपत्रों की चक्रिका एक पुट देने से अच्छी तरह भस्म नहीं हो सकती है। अतः दो तीन गजपुट देकर इसकी अच्छी तरह भस्म कर लेनी चाहिये।

नागोदर—गर्भावस्था में गर्भिणी के वातप्रकोपक आहार-विहारों के सेवन से गर्भ की पुष्टि नहीं होने पाती है जिससे वह यथासमय उत्पन्न न होकर डेढ़ साल तक भी गर्भ में रहता है। अथवा कदाचित् स्वतःक्षीण हो जाता है। गर्भ की इस अवस्था को नागोदर कहते हैं। सुश्रुत में इसके विषय में लिखा है कि—"शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयन्नुदरं तत्कदाचित् यदृच्छयोपशान्तं नैगमेयापहृतमिति भाषन्ते। तमेव कदाचित्प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः॥" चरक में भी इसी तरह वर्णन आता है—"उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति परिशुष्कत्वात्, स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्, अतिमात्रस्पन्दनश्च भवति तं नागोदर इत्याचक्षते।" उपविष्टक के विषय में भी चरक में लिखा है कि "गर्भावस्था में गर्भिणी के तेज मिर्च मसाले वाले भोजनों के सेवन से यदि मासिक स्राव हो जाय या थोड़ा २ रक्त प्रत्येक मास में निकलता रहे तो गर्भ बढ़ने नहीं पाता है और यथासमय उत्पन्न न होकर देर में अर्थात् बारह मास के बाद उत्पन्न होता है इसे उपविष्टक कहते हैं"—"यस्या पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद् गर्भिण्या महति जातसारे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिस्रावः, तस्या गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति निःस्रुतत्वात्, सकालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम् तमुपविष्टक इत्याचक्षते केचित्" ॥ २३-२६ ॥

वर्द्धमानरसः—

पलार्द्धप्रमिते स्वर्णे ताम्रं दत्वाऽक्षमात्रया ।
निर्वापयेच्छतं वारं निक्षिप्य शुकपिच्छकम् ॥ ३० ॥
ततश्च सारणायन्त्रे सूत्रस्थानसमीरिते ।
सारणातैलसंयुक्तं जीर्णषड्गुणगन्धकम् ॥ ३१ ॥
रसं हि द्विपलं दत्त्वा सारणाविधियोगतः ।
सारयित्वा ततः पश्चात्पिष्टं सूतं प्रयत्नतः ॥ ३२ ॥
सूत्रप्रोक्ते घ्रिकायन्त्रे स्वेदावेष्टनवाससाम् ।
मातुलुंगरसैः पिष्टं चतुर्निष्कमितं दनुम् ॥ ३३ ॥
ऊर्ध्वं च विनिधायाऽथ जारयित्वा चतुर्गुणम् ।
तमादाय रसं सम्यग्विचूर्ण्य परिगाल्य च ॥ ३४ ॥
षष्ठांशेन मृतं वज्रं समं वैक्रान्तकं स्मृतम् ।
निक्षिप्य लिंगिकापत्ररसैरापूर्य वासरम् ॥ ३५ ॥
पुटेद् द्वादशवाराणि मध्वा द्वादशकोपलैः ।
बन्धुजीवरसेनाऽथ लक्ष्मणास्वरसेन च ॥ ३६ ॥
पुनः संचूर्ण्य संपूज्य योगिनीपितृदेवताः ।
पुत्रिण्याः पूर्णिमायाश्च पूजिताया विधानतः ॥ ३७ ॥
इति कृत्वाऽऽप्नुयाद्गर्भं षण्मासाऽभ्यन्तरे खलु ।
आदिवन्ध्यादिका बन्ध्या याश्चान्या दुष्टयोनयः ॥३८॥
प्राप्नुयुर्जीवपुत्रं हि भाग्यसौभाग्यसंयुतम् ।
पुंसामपि च बन्ध्यत्वं ह्यल्परेतस्त्वमेव च ॥
बीजदोषा विचित्राश्च विनश्यन्ति न संशयः ॥३९॥
ब्रह्मज्योतिर्मुनिवरमतो वर्द्धमानो रसोऽयं
बन्ध्यारोगं हरति सकलं योनिदोषानशेषान् ।
सूतीरोगानपि बहुविधान्दुःखसाध्यान्समस्तान्
रोगानन्यानपि खलु तथा रोगहृद्योगयुक्तः ॥४०॥

दो तोले स्वर्ण को गला कर उसमें एक तोला पिघला हुआ ताँबा मिला लें। अब इसको अग्नि में तपा कर साधारण धातु-शोधक द्रव्यों (तिलतैल, तक्र, काञ्जी, कुलत्थकषाय, गोमूत्र) में बुझा दें। इस प्रकार उक्त शोधक द्रवों में सौ वार बुझा लें। अब इसमें ताम्र के समभाग अर्थात् एक तोला शुद्ध गन्धक मिला कर अच्छी तरह मर्दन करें और सारणायन्त्र में भर दें। अब इसके ऊपर षड्गुण गन्धकजीर्ण, पारद दो पल को सारणार्थ निर्मित तैल के साथ रख कर यन्त्र का मुख बन्द करके सारणायन्त्र की विधि के अनुसार ताम्र तथा स्वर्ण का पारद में जारण कर लें।

अब इस ताम्र तथा स्वर्णजारित पारद को अथवा स्वर्णताम्रयुक्त पारद को पीस कर इष्टिकायन्त्र में भर कर यन्त्र के मुख पर कपड़ा बाँध दें। अब इस कपड़े पर बिजौरा नींबू के रस में पीसा हुआ शुद्ध गन्धक चार निष्क प्रमाण डाल दें और शराव के द्वारा इष्टिकायन्त्र की पालिका को बन्द करके सन्धिलेप कर दें और कपोत-पुट की अग्नि दें। इस प्रकार पारद से चतुर्गुण गन्धक को बिजौरा नींबू के रस में घोट कर इष्टिकायन्त्र द्वारा जारण करें। अब इस गन्धकजारित पारद तथा स्वर्णताम्र को निकाल पीस कर कपड़छन चूर्ण करके इसमें पारद से छटा भाग वज्रभस्म और समानभाग वैक्रान्तभस्म मिला कर अच्छी तरह घोट कर इसमें शिवलिंगी के पत्तों का रस डाल कर एक दिन पर्यन्त भिगो रखें। पश्चात् घोट सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके मध्यमाकार बारह उपलों की पुट में पका लें। इस प्रकार शिवलिंगी के पत्ररस के साथ मर्दन कर बारह मध्यमाकार उपलों की बारह पुट दें। स्वांगशीतल होने पर औषध को निकाल पीस कर दोपहरिया के पुष्पस्वरस तथा लक्ष्मणा के मूलस्वरस के साथ पृथक् पृथक् एक एक दिन मर्दन कर सुखा के रख लें। इस रस के सेवन करने के पूर्व यथाविधि योगिनी, पितृगण, देवता, पुत्रवती स्त्री तथा पूर्णिमा तिथि का पूजन कर आशीष ग्रहण करना चाहिये। पश्चात् इस रस का ६ मास तक निरन्तर सेवन करना चाहिये। इसके सेवन से आदिवन्ध्या मृतवन्ध्या आदि दोषयुक्त स्त्रियाँ तथा अन्य सभी प्रकार की दूषित योनि वाली स्त्रियाँ गर्भवती होती हैं और वे दीर्घजीवी, भाग्यवान् प्रतापी पुत्र को उत्पन्न करती हैं। स्त्रियों की भाँति इस रस के सेवन से पुरुषों के भी बन्ध्यत्वदोष, वीर्य की अल्पता तथा विविध प्रकार के वीर्यदोष (ग्रन्थिशुक्र, दुर्गन्धितशुक्र, द्रवशुक्र आदि) भी दूर होते हैं। इसमें सन्देह नहीं है। यह 'वर्द्धमान रस' ब्रह्मज्योति नामक मुनीश्वर का अनुभवसिद्ध है। यह भिन्न भिन्न कष्टसाध्य रोगों को भी उनके अनुपान के साथ सेवन करने से नष्ट करता है। इसके सेवन से सम्पूर्ण रोग विशेषतः सब बन्ध्यारोग, योनिरोग, अनेकविध प्रसूतरोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—मात्रा ¼ रत्ती। 'मध्वा द्वादशकोत्पलैः' के स्थान पर 'मध्व्यद्द्वादशकोत्पलैः' पाठ ही उचित प्रतीत होता है। क्योंकि मधु शब्द के तृतीया के एक वचन में 'मधुना' बनता है। कई वैद्य बन्धुजीवपुष्पस्वरस तथा लक्ष्मणामूलस्वरस की पृथक् पृथक् बारह पुट देने को कहते हैं। परन्तु लक्ष्मणा के स्वरस की बारह भावना देकर सुखा लेने से अधिक लाभ होगा। किसी किसी पुस्तक में 'रोगहृद्योगयुक्तः' के बाद "समजीर्णाभ्रसूतेन भस्मैतत् साधयेत् खलु। अन्यथा न यथाप्रोक्तं फलं दत्ते दुरब्रवीत्॥ पाण्डुवर्तिग्रहणीप्रमेहगुदजातीसारयक्ष्मापहं सद्यो दीपनपाचनो रुचिकरो निःशेषगुल्मापहः। कासश्वासवलासपीनसमरुत्पित्तार्तिमात्यन्तिकं वृष्यं पुष्टिकरं समस्तगदहृद्योगेन संयोजितम्॥" इतना पाठ अधिक मिलता है॥ ३०-४०॥

द्रुतिसाररसः—

युक्तं हि व्योमजद्रुत्यां तुल्यांशं स्वर्णयुग्रसम्।
पिष्टीकृतं चिरं पिष्ट्वा मल्लसंपुटके क्षिपेत्॥४१॥
निष्कमात्रं बलिं दत्त्वा शतवारं पुटेत्ततः।
सम्यङ्निष्पिष्य संगाल्य करण्डान्तर्विनिक्षिपेत्॥४२॥
इत्युक्तो द्रुतिसारनामकरसो बन्ध्यामयध्वंसनः
पुत्रीयः खलु सूतिकामयहरो वृष्यश्चिरायुष्करः।
सम्यक्सिद्धबलिद्रुतिप्रकलितो गुंजामितः सेवितः
कुर्यात्तीव्रतरां क्षुधं त्वथ महारोगादिरोगाञ्जयेत्॥४३॥
मतः सर्वामयध्वंसी रसोऽयं हरिसूचितः।
जीवत्पुत्रप्रदः स्त्रीणां यौवनस्थैर्यदायकः॥४४॥
भूतप्रेतपिशाचानां भयेभ्योऽभयदायकः।
जडानां दोहदार्तानां मन्दबुद्धिमतामपि॥४५॥
मंडूकीरससंयुक्तो दातव्यो वचया सह।
जन्मबन्ध्याः काकबन्ध्या मृतवत्साश्च याः स्त्रियः।
तासां पुत्रोदयार्थाय शम्भुना सूचितः पुरा॥४६॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध स्वर्णपत्र एक भाग, दोनों को एकत्र खरल में मर्दन करें। जब स्वर्ण पारद में विलीन हो जाय तो इसमें एक भाग अभ्रक की द्रुति मिला कर चिरकाल तक रगड़ते हुए पिष्टी बना लें। अब इस पिष्टी को एक दृढ़ शराव में आधा निष्क शुद्ध गन्धक रखें, उस पर पिष्टी को रखें और फिर ऊपर से आधा निष्क शुद्ध गन्धक रख दें। अथवा पिष्टी में एक निष्क शुद्ध गन्धक मिला पीस कर शरावसम्पुट में बन्द करके कपोतपुट में फूक दें। इस प्रकार प्रतिवार एक निष्क शुद्ध गन्धक मिला कर सौ पुट दें। अन्त में औषधि को निकाल कर बारीक पीस कर कपड़छन करके शीशी में रख लें। इसे 'द्रुतिसाररस' कहते हैं। इसके नियमपूर्वक प्रयोग करने से बन्ध्या स्त्रियों के सम्पूर्ण रोग नष्ट होकर पुत्र उत्पन्न होते हैं। यह सूतिका रोगों को नष्ट करता और शरीर में बल पैदा करता है। यह रस आयु की वृद्धि करने वाला है। इस रस को यथाविधि निर्मित गन्धक की द्रुति के साथ प्रतिदिन १ रत्ती मात्रा में सेवन करने से क्षुधा की अत्यन्त वृद्धि होती है। और पूर्वोक्त आठ महारोग शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। श्रीहरी नामक रसाचार्य द्वारा वर्णित यह रस सब रोगों को दूर करता है। इसके सेवन करने से मृतवत्सा स्त्रियों के जीवित सन्तान पैदा होती है। यदि स्त्री स्वस्थावस्था में इसे सेवन करे तो उसका यौवन स्थिर रहता है। इसके द्वारा भूत प्रेत-पिशाचों का भय नहीं रहता है। जडबुद्धि मनुष्यों को तथा गर्भ धारण करने की अभिलाषा से उत्सुक स्त्रियों को इसे वचाचूर्ण तथा ब्राह्मीस्वरस में मिला

कर सेवन करना चाहिये। जन्म से बाँझ, काकवन्ध्या तथा मृतवन्ध्या तथा स्त्रियों के जीवित और स्वस्थ पुत्र उत्पन्न करने के निमित्त सब से पूर्व इस रस को शम्भु जी ने वर्णन किया है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से ¼ रत्ती तक। अभ्रकद्रुति का प्रकार पहिले वर्णन किया जा चुका है। उसके अनुसार द्रुति बनानी चाहिये। संक्षेपतः "स्वरसेन वज्रवल्याः पिष्टं सौवर्चलान्वितं गगनम्। पक्वञ्च शरावपुटे बहुवारं भवति रसरूपम्॥" इस विधि से भी अभ्रकद्रुति की जा सकती है॥ ४१—४६॥

अथ बन्ध्यागर्भसम्प्राप्तिः।

सर्पाक्षीप्रयोगः—

समूलपत्रां सर्पाक्षीं रविवारे समुद्धरेत्।
एकवर्णगवां क्षीरैः कन्याहस्तेन पेषयेत्॥ ४७॥
ऋतुकाले पिबेद्वन्ध्या पलार्द्धं तद्दिने दिने।
क्षीरशाल्यन्नमुद्गं च ह्यल्पाहारं प्रकल्पयेत्॥ ४८॥
उद्वेगं त्वथ शोकं च दिवा निद्रां च वर्जयेत्।
न कर्म कारयेत्किंचिद्वर्जयेच्छीतमातपम्॥
एवं सप्तदिनं कुर्याद्वन्ध्या भवति गर्भिणी॥ ४९॥

रविवार के दिन मूल पत्र आदि सहित सर्पाक्षी (नाकुली पञ्चांग) को उखाड़ कर स्वच्छ जल से धोलें। फिर इसे एक वर्ण की गाय के दूध के साथ कन्या के हाथों से पिसवावें! ऋतुस्नान करने बाद बन्ध्यास्त्री को उक्त प्रकार से उखाड़ी और गो-दुग्ध में पिसी हुई सर्पाक्षी को आधा पल प्रमाण में प्रतिदिन पीना चाहिये। इस योग के सेवन करने पर क्षुधा लगने पर दूध, शालि चावलों का भात, मूंग का यूष, आदि लघु और पोषक अन्नाहार, अल्प मात्रा में करना चाहिये। इस योग के सेवनकाल में स्त्री को उद्वेग (खिन्नता, उदासी), शोक, दिन में शयन तथा कठिन परिश्रम के कार्य से परहेज करना चाहिये। साथ ही अधिक शीत तथा अधिक धूप से भी परहेज करना चाहिये। इस प्रकार सर्पाक्षी के पञ्चांग को दूध के साथ सात दिन पीने और पथ्यपूर्वक रहने से पति-सहवास करने पर बन्ध्या (सन्तान पैदा न होने वाली स्त्री) गर्भिणी हो जाती है॥ ४७—४९॥

देवदालीप्रयोगः—

देवदालीयमूलं तु ग्राहयेत्पुष्यभास्करे।
निष्कत्रयं गवां क्षीरैः पूर्ववत्क्रमयोगतः।
बन्ध्या प्रलभते गर्भं दिनं पथ्यं यथा पुरा॥ ५०॥

पुष्य नक्षत्र के दिन (रविवार) देवदाली की जड़ को लाकर स्वच्छ करके तीन निष्क मात्रा में गोदुग्ध के साथ सर्पाक्षी प्रयोगानुसार सात दिन तक सेवन करने और पथ्यपूर्वक रहने से पति-सहवास करने पर बन्ध्या, गर्भिणी हो जाती है॥ ५०॥

शरपुंखाप्रयोगः—

शीततोयेन संपिष्टं शरपुंखीयमूलकम्।
कर्षं पीत्वा लभेद्गर्भं पूर्ववत्क्रमयोगतः॥ ५१॥
नोचेदपरमासे तु कारयेत्पूर्ववत्फलम्।
पतिसंगे लभेद्गर्भं नात्र कार्या विचारणा॥ ५२॥

सरपोंके की जड़ को प्रतिदिन एक तोला परिमाण में लेकर जल के साथ पीस कर कल्क बना ऋतुस्नान के बाद सात दिन तक सेवन करें और पूर्वोक्त पथ्य पदार्थों का सेवन करें तो बन्ध्या स्त्री गर्भवती हो जाती है। यदि कदाचित् पहिले मास में गर्भ न रहे (पतिसंयोग करने पर) तो दूसरे ऋतुस्नान के बाद फिर उक्त विधि से सात दिन तक शरपुंखामूल का सेवन करें और पति के साथ संगम करें तो अवश्य गर्भ रहता है, इसमें सन्देह नहीं है॥

रुद्राक्षादिप्रयोगः—

एकमेव तु रुद्राक्षं सर्पाक्षी कर्षमात्रकम्।
पूर्ववच्च गवां क्षीरैर्ऋतुकाले प्रदापयेत्॥ ५३॥
महागणेशमन्त्रेण रक्षां तस्यास्तु कारयेत्।
एवं दिनत्रयं कृत्वा बन्ध्या भवति पुत्रिणी॥ ५४॥

शरपुङ्खामूल विधि के अनुसार ही एक रुद्राक्ष तथा सर्पाक्षी का पञ्चांग एक कर्ष को लेकर एक वर्ण वाली गाय के दूध से कन्या के हाथों से घिसवा कर ऋतुस्नान के बाद तीन दिन तक सेवन करना चाहिये, साथ ही महागणेश मन्त्र से बन्ध्या स्त्री की रक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार तीन दिन प्रयोग करने से बन्ध्या गर्भधारण कर लेती है।

विशेष वचन—"ओं नमो महाविनायकाय अमृतं रक्ष रक्ष मम फलसिद्धिं देहि रुद्रवचनेन स्वाहा।" यह महागणेशमन्त्र है। औषधि को पिला कर अग्नि में गूगल आदि की धूप जला कर उक्त महागणेशमन्त्र से औषधिपान की हुई स्त्री को ११ बार झाड़ना चाहिये। ऐसा तान्त्रिक उपदेश है॥ ५३—५४॥

श्वेतकण्टकारीप्रयोगः—

सुश्वेतकण्टकार्याश्च मूलं तद्वच्च गर्भकृत्॥ ५५॥

अथवा सफेद फूल की कण्टकारी की जड़ एक तोला को, एक वर्ण गाय के दूध में कन्या के हाथों से पिसवाकर ऋतुस्नान के बाद तीन दिन तक पान करते हुए पतिसंगम करायें और पूर्वोक्त पथ्य पदार्थों का सेवन कराने से भी स्त्री गर्भधारण के योग्य हो हो जाती है॥ ५५॥

विष्णुक्रान्ताप्रयोगः—

पूर्वपुत्रवती तासां कर्म तद्वच्च कथ्यते।
पेषयेन्महिषीक्षीरैर्विष्णुक्रान्तां समूलकाम्॥ ५६॥
महिषीनवनीतेन ऋतुकाले तु भक्षयेत्।

एवं दिनं दिनं कुर्यात्पथ्यं युक्त्या च पूर्ववत् ॥
गर्भं प्रलभते नारी काकबन्ध्या सुशोभनम् ॥ ५७ ॥

अब, एक बार पुत्र (सन्तान) होकर फिर गर्भधारण न करने वाली स्त्रियों के लिये पुनः गर्भधारण करने के निमित्त भी बन्ध्या स्त्रियों की भाँति उपाय बताये जाते हैं। विष्णुक्रान्ता (सफेद कोयल) के पञ्चाङ्ग को १ कर्ष मात्रा में लेकर भैंस के दूध में पीस कर भैंस के मक्खन के साथ, ऋतुस्नान के पश्चात् से न करावें और पूर्वोक्त पथ्य पदार्थों का भोजन करावें। इस प्रकार ऋतुस्नान के बाद तीन दिन तक इस योग का सेवन करते हुये पतिसंगम करके काकबन्ध्या स्त्री गर्भवती होकर उत्तम सन्तान को प्राप्त करती है ॥ ६६—५७ ॥

अश्वगन्धाप्रयोगः—

अश्वगन्धीयमूलं तु ग्राहयेत्पुष्यभास्करे ।
पेषयेन्महिषोक्षीरैः पलार्द्धं पाययेत्सदा ॥
सप्ताहाल्लभते गर्भं काकबन्ध्या चिरायुषम् ॥ ५८ ॥

रविवार के दिन पुष्य नक्षत्र में असगन्ध की जड़ को लाकर स्वच्छ करके दो तोला मात्रा में लेकर भैंस के दूध में पीस कर प्रतिदिन ऋतुमती स्त्री को पान करावें। इस प्रकार सात दिन सेवन कराने और पथ्यपूर्वक रहने से काकबन्ध्या स्त्री गर्भधारण करके दीर्घायु सन्तान उत्पन्न करती है ॥ ५८ ॥

मृतवत्सालक्षणम्—

गर्भः संजातमात्रस्तु पक्षान्मासाच्च वत्सरात् ।
म्रियते द्वित्रिवर्षैर्वा यस्याः सा मृतवत्सका ॥
तत्र योगं प्रकुर्वीत यथा शंकरभाषितम् ॥ ५९ ॥

जिस स्त्री के बालक जन्मते ही मर जाते हों, अथवा उत्पन्न होकर १५ दिन में या एक महीने में मर जाते हों, अथवा एक वर्ष, दो वर्ष अथवा तीन वर्ष के होकर मर जाते हों उसे मृतवत्सा स्त्री कहते हैं। ऐसी स्त्रियों के लिये श्रीशंकर भगवान् की कही हुई दैव व्यपाश्रय चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ५९ ॥

श्रीशंकरोक्तदैवव्ययाश्रयचिकित्सा—

मार्गशीर्षेऽथ वा ज्येष्ठे पूर्णायां लेपिते गृहे ।
नूतनं कलशं पूर्णं गन्धतोयेन कारयेत् ॥ ६० ॥
शाखाफलसमायुक्तं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
सुवर्णमुद्रिकायुक्तं षट्कोणे मण्डले स्थितम् ॥ ६१ ॥
तन्मध्ये पूजयेद्देवीमेकान्तानामविश्रुताम् ।
गन्धपुष्पाक्षतैर्धूपदीपैर्नैवेद्यसंयुतैः ॥ ६२ ॥
अर्चयेद् भक्तिभावेन मद्यैर्मांसैः समत्स्यकैः ।
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥६३॥
वाराही च तथा चैन्द्री षट्पत्रेषु च मातृकाः ।
पूजयेन्मन्त्रलिंगेन ओङ्कारैर्नामसंयुतैः ॥६४॥
दधिभक्तेन पिण्डानि सप्तसंख्यानि कारयेत् ।
षट्संख्या षट्सु पत्रेषु आहृत्य कल्पयेत्पृथक् ॥६५॥
उल्लेख्य सप्तकं पिण्डं शुचिस्थाने बहिः क्षिपेत् ।
तैर्भुक्तैर्गृहमागच्छेच्चैकाग्रे योगमाचरेत् ॥६६॥
कन्यका योगिनी रामा भोजयेत्सुकुटुम्बकम् ।
दक्षिणां दापयेत्तासां देवताग्रे निवेद्य च ॥६७॥
विसर्ज्य देवतां चाऽथ नद्यां तत्कलशोदकम् ।
शकुनं वीक्षयेद्धीमाञ्शुभेन शुभमादिशेत् ॥६८॥
विपरीते पुनः कुर्याद्योगं तद्वत्सुसिद्धिदम् ।
प्रतिवर्षमिदं कुर्याद्दीर्घजीवी सुतो भवेत् ॥६९॥
"ॐ ह्रां ह्रीं एकान्तदेवतायै नमः"
अनेन मन्त्रेण पूजा जपश्च कार्यः ।

अगहन या जेष्ठ के महीने में पूर्णिमासी के दिन घर को लीप पोत कर शुद्ध कर लें। फिर उसमें एक स्थान पर तांबा, सोना अथवा चाँदी के एक नवीन कलश में सुगन्धयुक्त जल भर रखें। कलश में नवरत्न तथा सुवर्ण की मुद्रा तथा आम की शाखा डाल कर उसके ऊपर एक नारियल रखें। अब इसे उत्तर दिशा में षट्कोण मण्डल बना कर उस पर स्थापित कर दें। इसमें एकान्त नाम वाली देवी का स्थापन कर गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य, मद्य, मांस, मत्स्य आदि पदार्थों के द्वारा भक्ति-भावना सहित, "ओम् एकान्तदेव्यै नमः" इस नाममन्त्र से षोडशोपचार पूर्वक पूजन करें। षट्कोण के प्रत्येक कोण में क्रमशः ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही और इन्द्राणी इन छः मातृकाओं की, उनके नाम के पूर्व ओंकार का उच्चारण करते हुये, पूजा करें। तदनन्तर दही और भात मिला कर सात पिण्ड बनायें। इनमें से छः पिण्डों को छहों मातृकाओं के आगे रख दें। सातवें पिण्ड के ऊपर कुशा आदि से रेखा खींच उसको घर के बाहर चौराहे के किसी पवित्र स्थान में रख दें। जब कौआ, कुत्ता आदि उस पिण्ड को खा जाँय, तब घर आकर षट्कोण मण्डल के आगे आसन बिछा कर बैठ जाँय, और देवी का ध्यान करें। अथवा एकान्तदेवी का ओंकार पूर्वक नाम लेकर नमअन्त मन्त्र का १००८ बार जप करें अर्थात् "ओं एकान्तदेव्यै नमः" ऐसा मन्त्र का जप करें। इसके पश्चात् कन्या, योगिनी और सौभाग्यवती स्त्रियों को कुटुम्ब सहित भोजन करावें और पहिले दक्षिणा देवता को द्रव्य निवेदन करके उनको यथाशक्ति दक्षिणा भी दें। तत्पश्चात् देवी-देवताओं का विसर्जन करके अवशिष्ट सामग्री तथा कलशजल को नदी में डाल दें और शुभ शकुनों को देखें। यदि शकुन शुभ दिखाई दें तो कार्य सिद्ध समझना चाहिये। अन्यथा पुनः पूर्ववत् योगानुष्ठान करना चाहिये। इस योग को प्रतिवर्ष एक बार करने से दीर्घायु पुत्र उत्पन्न होता है। पूजा या

जप "ओं ह्रॉं ह्रीं एकान्तदेवतायै नमः" इस मन्त्र से करना चाहिये ॥

बन्ध्याकर्कोटकीप्रयोगः—

प्राङ्मुखः कृत्तिकाऋक्षे बन्ध्याकर्कोटकीं हरेत् ।
तत्कन्दं पेषयेत्तोये कर्षमात्रं पिबेत्सदा ॥
ऋतुकाले तु सप्ताहं दीर्घजीवी सुतो भवेत् ॥७०॥

कृतिका नक्षत्र के दिन पूर्व दिशा की तरफ मुँह करके बाँझ-ककोड़े की जड़ को खोद लावें । इसमें से एक कर्ष परिमाण मात्रा में लेकर जल के साथ पीस कर ऋतुस्नान के पश्चात् सात दिन तक पीने से पतिसंगम करने पर दीर्घायु पुत्र की उत्पत्ति होती है ॥

प्रथममासे पद्मकादिकल्कः—

अकस्मात्प्रथमे मासि गर्भे भवति वेदना ।
गोक्षीरैः पेषयेत्तुल्यं पद्मकोशीरचन्दनम् ॥
पलमात्रं पिबेन्नारी त्र्यहाद्गर्भः स्थिरो भवेत् ॥७१॥

यदि गर्भधारण होने पर प्रथम मास में ही किसी कारणवश अकस्मात् गर्भ में पीड़ा उत्पन्न हो जाय अर्थात् गर्भपात होने का भय उपस्थित हो जाय तो गर्भस्राव या पात को रोकने के लिये पद्माक, खस तथा चन्दन इन तीनों को एक पल मात्रा (सब मिला कर) में लेकर गाय के दूध के साथ घोट पीस छान कर प्रतिदिन पीड़ा शान्त होने तक पिलायें या तीन दिन तक पिलायें । इससे गर्भ स्थिर हो जाता है ।

विशेष वचन—खश, चन्दन तथा पद्माक; प्रत्येक के दो मासा चूर्ण को गोदुग्ध में घोट छान कर दिन में तीन बार पिलाना चाहिये । साथ ही गर्भिणी को उठना-बैठना बन्द करके पूर्ण आराम के साथ लेटे रहना चाहिये ॥ ७१ ॥

द्वितीयमासेनीलोत्पलादिकल्कः—

नीलोत्पलं मृणालं च खण्डी कर्कटशृङ्गिका ।
गोक्षीरैर्द्वितीये मासि पीत्वा शाम्यति वेदना ॥ ७२ ॥

दूसरे महीने में यदि गर्भपात की आशंका हो जाय या गर्भ में पीड़ा होने लगे तो नीलोत्पल (नीलोफर), मृणाल (कमल की डण्डी), खांड और काकड़ासिंगी को समभाग में उचित मात्रा में लेकर गाय के दूध के साथ दिन में दो तीन बार तीन चार दिन तक पिलाने से गर्भपातभय मिट जाता है और पीड़ा शान्त हो जाती है ॥ ७२ ॥

तृतीयमासे श्रीखण्डादिकल्कः—

श्रीखण्डं तगरं कुष्ठं मृणालं पद्मकेसरम् ।
पिबेच्छीतोदकैः पिष्टं तृतीये वेदना न हि ॥ ७३ ॥

तीसरे महीने में यदि गर्भपात की आशंका हो तो श्वेतचन्दन, तगर, कुष्ठ, मृणाल, कमलके र को उचित मात्रा में लेकर शीतल जल के साथ घोट छान कर पिलाने से पीड़ा तथा गर्भपातभय मिट जाता है ॥ ७२ ॥

नीलोत्पलादिकल्कः—

नीलोत्पलमृणालानि गोक्षीरैश्च कसेरुकम् ॥ ७४ ॥

तीसरे महीने में गर्भपात की आशंका होने पर नीलोत्पल, मृणाल तथा कसेरु के चूर्ण को गाय के दूध के साथ सेवन करना चाहिये ।

विशेष वचन—उक्त कल्क के प्रयोग से गर्भपात भी नहीं होने पाता है तथा गर्भ पुष्ट भी हो जाता है । एतदर्थ यदि किसी गर्भिणी के बालक पुष्ट न होते हों अथवा उनके शरीर में खटिक (Calsiam) का भाग न्यून रहता हो तो उनको बिना गर्भपात आशंका के भी उक्त कल्कों का सेवन कराना चाहिये । चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों में इसी लिये नौ दस मास तक इस प्रकार के कल्कों को देने का विधान है । आवश्यकता होने पर वहां देख कर प्रत्येक मासानुसार कल्कादि का प्रयोग करना चाहिये ॥ ७४ ॥

गर्भिणीज्वरे पाठादिकषायः—

पाठामुस्तावयःस्याम्बुसारिवापद्मकैः शृतम् ।
शीतं तोयं निहन्त्याशु गर्भिणीज्वरवेदनाम् ॥ ७५ ॥

गर्भिणी के ज्वर तथा वेदना को शान्त करने के लिये पाढ़, नागरमोथा, गुडूची, नेत्रबाला, अनन्तमूल तथा पद्माक को सम-भाग में लेकर एक तोले का शीत कषाय बना कर पिलाना चाहिये ।

विशेष वचन—गर्भिणी को किसी प्रकार का कोई रोग हो जाने पर सहसा तीव्रगुणवीर्य औषधि या गरम औषधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिये । यदि कोई विशेष प्रकार का विष शरीर में सञ्चित हो जाय तो उसका सम्यक् निश्चय कर प्रतिविषप्रयोग करने से कोई हानि होती है ॥ ७५ ॥

गर्भिणीज्वरे छिन्नादिकषायः—

छिन्ना श्रीपर्णिकाक्वाथः सिताक्षौद्रयुतो हरेत् ।
गर्भिणीनां ज्वरं घोरं लंकेशमिव राघवः ॥ ७६ ॥

गुडूची, तथा गम्भारी का कषाय खांड और शहत मिला कर पिलाने से यह कषाय गर्भिणी के भयंकर ज्वर को इस तरह नाश कर देता है जैसे रामचन्द्र जी ने रावण को नष्ट किया है ॥ ७६ ॥

गर्भिणीज्वरे पयस्यादिकषायः—

पयस्यासारिवायष्टीबलालोध्रमधूद्भवः ।
दुग्धेन मिश्रितः क्वाथो हरेद्गर्भवतीज्वरम् ॥ ७७ ॥
दुर्जयः सर्वरोगेषु गर्भिणीनां ज्वरः खलु ।
तापो जूर्तिषु गर्भस्य विक्रियां कुरुतेतराम् ॥ ७८ ॥

क्षीरकाकोली, सारिवा, मुलेठी, खरैंटी, लोध तथा महुआ; इन सबको समभाग में लेकर कषाय बनायें । इस कषाय को दूध में मिला कर पिलाने से भी गर्भिणी का ज्वर शान्त हो जाता है । गर्भिणी के सब रोगों में ज्वर कष्टसाध्य रोग है । ज्वरों में होने

वाला ताप यदि चिरकाल तक रहे तो उससे गर्भ में अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७७-७८ ॥

गर्भिण्यतिसारे वृक्षकत्वगादिकषायः—

वृक्षकत्वग्घनो देवदारुदारुविभावरी ।
गर्भिण्या अतिसारघ्नः क्वाथ एषां भवेद् ध्रुवम् ।७९।

कुड़े की छाल, नागरमोथा, देवदारु तथा दारुहल्दी का कषाय बना कर पिलाने से गर्भिणी स्त्री का अतीसार रोग शान्त हो जाता है ।

श्रीपर्ण्यादिबलादिकषायः—

श्रीपर्णीयष्टिगोप्यब्ददार्वीक्वाथोऽतिसारनुत् ।
बलादुरालभापाठाशुण्ठीमुस्ताकषायवत् ॥ ८० ॥

गाम्भारी, मुलेठी, अनन्तमूल, नागरमोथा तथा दारुहल्दी का कषाय पान कराने से गर्भिणी का अतीसार दूर हो जाता है । इसी तरह खरेंटी, जवासा, पाढ़, सौंठ तथा नागरमोथे का कषाय भी गर्भिणी के अतीसार को नष्ट करता है ॥ ८० ॥

उदावर्तादौ पुनर्नवादिक्वाथः—

जातः पुनर्नवार्द्राभ्यां क्वाथः क्षीरयुतो निशि ।
पीतो हरेदुदावर्तं गुल्मार्शः शोफवेदनाम् ॥ ८१ ॥

पुनर्नवा तथा अदरख के कषाय में दूध मिला कर रात्रि के समय पिलाने से गर्भिणी की उदावर्त, गुल्म, अर्श, शोथ सम्बन्धी वेदना शान्त हो जाती है ॥ ८१ ॥

अन्यक्वाथः—

घृतक्षीरगुडान्याऽऽर्द्र क्वाथसिद्धेन चूर्णिताम् ।
कणां संयोज्य सेवेत शोफपित्तापनुत्तये ॥ ८२ ॥

हरीतकी (अन्या) तथा अदरख के कषाय में पराना गुड़, घृत तथा दूध मिला कर पिप्पली और निर्गुण्डीत्वक्चूर्ण के साथ पिलाने से गर्भिणी के शोथ तथा पित्तप्रकोप में शान्ति होती है ।

विशेष वचन—कोई अदरख के कषाय में दूध घी तथा गुड़ मिला कर पिप्पली तथा निर्गुण्डीचूर्ण के साथ पीने को कहते हैं । परन्तु हरीतकी उदावर्त में विशेषतः मलबन्धजन्य उदावर्त में अधिक लाभदायक होती है । चरक में गर्भिणी के उदावर्त के लिये वस्ति का प्रयोग उत्तम बताया गया है । साधारणतः गर्भिणी के लिये हरीतकी का सेवन निघण्टु में निषिद्ध किया है ॥ ८२ ॥

शोथे पुनर्नवादिलेपः—

पुनर्नवावचाकल्कधान्यैर्लेपोऽतिशोफनुत् ॥ ८३ ॥

गर्भावस्था में गर्भिणी के हाथ-पैरों के अत्यन्त शोथ होने पर पुनर्नवा वचा, तथा धनिया; इन तीनों को जल से पीस कर कल्क का लेप करने से लाभ होता है ॥ ८३ ॥

वर्षाभूक्वाथः—

गुडाज्यसहितं क्वाथं वर्षाभूमूलसाधितम् ।
उदावर्ते च शोफे च गर्भिणीं पाययेद्भिषक् ॥ ८४ ॥

गर्भिणी के उदावर्त तथा शोथ रोग में पुनर्नवामूलकषाय में पुराना गुड़ तथा घृत मिला कर पिलाने से उक्त रोगों में आराम आता है ॥ ८४ ॥

गर्भिणीपित्तरोगे यष्ट्यादियवागूः—

पित्तार्तिं हन्ति यष्टीका-द्राक्षामलकसाधिता ।
पीता दुग्धयवागूश्च गर्भिणीनामसंशयम् ॥ ८५ ॥

मुलेठी, दाख तथा आँवला; इनके द्वारा दूध में सिद्ध की हुई यवागू अथवा इन औषधियों के कषाय में दूध मिला कर पिलाने से गर्भिणी के पित्तप्रकोप जन्य रोग नष्ट होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८४ ॥

श्वासकासे तिक्तादिकषायः—

तिक्ताहरीतकीभार्ङ्गीवचाशुण्ठीकषायकम् ।
सगुडं पाययेद्वैद्यः श्वासकासापनुत्तये ॥ ८६ ॥

कुटकी, हरड़, भारंगी, वचा, सौंठ के कषाय में पुराना गुड़ मिला कर पिलाने से गर्भिणी के श्वास तथा कास रोग नष्ट होते हैं ॥ ८६ ॥

मरिचप्रयोगः—

मरीचचूर्णं सक्षौद्रं सिताज्यं कासनाशनम् ॥ ८७ ॥

कालीमिरच के चूर्ण १ रत्ती को शहत और खाँड तथा घी के साथ मिला कर चटाने से गर्भिणी की खाँसी में आराम आता है ॥ ८७ ॥

वान्तौ लाजादिकषायः—

लाजैलाकोलमज्जाम्बु निपीतं वान्तिनाशनम् ॥ ८८ ॥

धान की खील; छोटी इलायचीबीजचूर्ण, बेर की गुठली की मज्जा को पीस कर जल में घोल कर या कषाय बना कर पिलाने से गर्भिणी की वमन शान्त होती है ॥ ८८ ॥

हिक्कायां बालविल्वादिः—

बालविल्वोद्भवः क्वाथो हिक्कां हन्ति समाक्षिकः॥८९॥

कच्चे बेल की गिरी के कषाय में शहत मिला कर पिलाने से गर्भिणी की हिचकी बन्द हो जाती है ॥ ८९ ॥

अग्निमान्द्येऽजमोजादिचूर्णम्—

अजमोदाश्वगन्धा च द्वे कणे जीरकं तथा ।
लीढा मधुगुडोपेता निहन्युर्मन्दवह्निताम् ॥ ९० ॥

अजमोदाचूर्ण, असगन्धचूर्ण पिप्पलीचूर्ण, गजपिप्पलीचूर्ण तथा सफेद जीरे के चूर्ण को एकत्र मिला कर उचित मात्रा में लेकर शहत और पुराने गुड़ में मिला कर चटाने से गर्भिणी का अग्निमान्द्य रोग नष्ट होता है ॥ ९० ॥

वातरोगे बालादिक्षीरं यवागूश्च

बालविल्वविदारीभिः पृश्निपर्ण्या च साधितम् ।

क्षीरं क्षीरयवाग्वापि पिबेद्वातकृतामये ॥ ९१ ॥

नेत्रवाला, बेल की गिरी, विदारीकन्द तथा पृश्निपर्णी द्वारा दूध पका कर पिलाने अथवा इस दूध द्वारा यवागू बना कर पिलाने से गर्भिणी के वात रोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—'विदारीभिः' के स्थान पर 'विदारीभ्याम्' तथा 'क्षीरयवाग्वाऽपि' के स्थान पर 'क्षीरयवागूं वा' पाठ उचित और सरल है। परन्तु वातिक रोगों में जब वातनाड़ियों में अधिक क्षोभ हुआ होता है तो सुगन्धबाला के योग विशेष लाभदायक देखे गये हैं ॥ ९१ ॥

मूत्ररोगे श्वदंष्ट्रादिक्वाथः—

श्वदंष्ट्राबलयोः क्वाथो मूत्ररोगे प्रशस्यते ॥९२॥

गर्भिणी के मूत्रविकारों में जब मूत्र में कठिनता, अल्पता या मूत्र में चर्बी का भाग आता हो तो गोखरू तथा खरेटी का कषाय पान कराने से उसमें लाभ होता है ॥ ९२ ॥

गर्भिण्या मासानुमासिकयोगाः—

सुरदारु वयःस्था च शाकबीजं च यष्टिका।
बला कृष्णतिलास्ताम्रवल्ली चाश्मन्तकस्तथा ॥९३॥
नीलोत्पलं वयस्या च गुडूची सारिवा तथा।
मधुयष्टी च पद्मं च रास्ना सारिवया सह ॥९४॥
काश्मर्यो बृहती क्षीरी शृङ्गवल्लीत्वचो घृतम्।
मधुपर्णी बला शिग्रु श्वदंष्ट्रा पृश्निपर्णिका ॥९५॥
सितामधुकशृंगाटद्राक्षाबिसकसेरुकाः।
सप्तश्लोकार्द्धनिर्दिष्टान् योगान् सप्त पयोऽन्वितान् ॥
पिबेत्क्रमेण मासेषु गर्भस्रावादिवारणान् ॥९६॥

१. देवदारु, क्षीरकाकोली, सागौन के बीज तथा मुलेठी। २. खरैटी, काले तिल, मजीठ, लिसोड़ाबीज। ३. नीलकमल, क्षीरकाकोली, गुडूची, सारिवा। ४. मुलेठी, कमल, रास्ना तथा सारिवा। ५. गाम्भारी, बड़ी कटैली की जड़, विदारीकन्द, क्षीरी वृक्षों की त्वचा के कषाय में घृत मिला कर। ६. गाम्भारी, खरैटी, सुहांजना, गोखुरू तथा पृश्निपर्णी। ७. मिश्री, मुलेठी, सिंगाड़ा, द्राक्षा, भिस तथा कसेरु। ये आधे आधे श्लोक में लिखे हुये सात योगों को क्रमशः एक से लेकर सात मास तक दूध के साथ मिला कर सेवन कराने से अथवा इनसे दुग्ध सिद्ध करके पिलाने से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ तथा सप्तम मास में होने वाले गर्भस्राव तथा पात रोग दूर हो जाते हैं। साथ ही गर्भ का भी पोषण होता है।

विशेष वचन—प्रकृत गर्भस्राव तथा पातहर योगों में तथा चरक, सुश्रुतादि ग्रंथों में वर्णित योगों में कुछ भिन्नता देखी जाती है। काले तिलों का प्रयोग प्रायः गर्भाशय के मुख को खोलने और मासिक स्राव को अच्छी तरह लाने के लिये किया जाता है। परन्तु यहाँ गर्भस्राव को रोकने के निमित्त किया गया है। 'वयःस्था' के स्थान पर सुश्रुत में 'पयस्या' पाठ है। इसी तरह 'नीलोत्पलं वयस्या च गुडूची सारिवा तथा।' के स्थान पर सुश्रुत में 'वृक्षादनी पयस्या च लता चोत्पलसारिवा।' पाठान्तर है। 'पद्मं' के स्थान पर 'पद्मा' तथा 'सारिवया सह' के स्थान पर 'अनन्तासारिवा' सुश्रुत में पाठ है। "काश्मर्यो बृहती क्षीरी शृङ्गवल्लीत्वचो घृतम्।" के स्थान पर "बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्।" पाठ सुश्रुत का है। 'घृतं' के स्थान पर 'बिसम्' और 'मधुपर्णी' के स्थान 'मधुयष्टिका' पाठान्तर है।

उक्त सात योगों की औषधियों के कल्क को दूध में मिला कर प्रयोग करना चाहिये। या इन योगों से दूध सिद्ध कर उसमें मिश्री मिला कर ठण्डा करके पिलाना चाहिये ॥ ९३–९६ ॥

उशीरादिक्षीरम्—

उशीरयष्टीसंसिद्धं गर्भिणीवातहृत्पयः ॥९७॥

खस और मुलेठी से सिद्ध दूध को पिलाने से गर्भिणी का वातप्रकोप शान्त होता है ॥ ९७ ॥

वातहरा यवागूः—

द्राक्षायष्टिकसिद्धा च यवागूश्च तथाफला ॥९८॥

द्राक्षा तथा मुलेठी में सिद्ध दुग्ध की यवागू के प्रयोग से भी गर्भिणी का वातप्रकोप शान्त होता है ॥ ९८ ॥

बलादिकषायः—

बला वासा पृथक्पर्णी निर्यूहश्चापि पित्तनुत् ॥९९॥

गर्भिणी के पित्तप्रकोप में खरेटी, वासा (अडूसा) तथा पृश्निपर्णी का कषाय पिलाने से पित्तप्रकोप में आराम आता है॥

कामलादौ बलादिक्वाथः—

स पुनश्छिन्नया युक्तो गर्भिणीकामलापहः।
कासं श्वासं तथा रक्तपित्तं चाशु विनाशयेत् ॥१००॥

पूर्वोक्त बलादिकषाय की औषधियों में यदि गुडूची और मिला कर कषाय बना कर पिलाया जाय तो यह गर्भिणी का कामला (जिरकान), कास, श्वास तथा रक्तपित्त रोग को दूर करता है।

सर्वरोगे बलाप्रयोगः—

अघृतः सघृतो वापि सदुग्धो वाप्यदुग्धवान्।
एक एव बलाक्वाथो गर्भिणीसर्वरोगनुत् ॥१०१॥

केवल एक खिरैटी के कषाय में घी, दूध मिला कर अथवा बिना घी या बिना दूध मिलाये सेवन कराने से गर्भिणी के सब रोग दूर हो जाते हैं ॥ १०१ ॥

मूढगर्भस्य लक्षणम्—

विलोमवायुना गर्भो जीवन् यदि न निःसरेत्।
स गर्भसंग इत्युक्तो मूढगर्भो— ॥ १०२ ॥

निम्न अंग में गतिप्रसाधक वायु की विकृति से यदि जीवित

गर्भ बाहर न आ सके तो इस गर्भ की रुकावट को गर्भसंग या मूढ़ गर्भ कहते हैं ॥ १०२ ॥

अन्तर्मृतापत्याया लक्षणम्—

—मृते शिशौ ।
स्तब्धाध्मानं शिशिरजठरं सास्यशोषं समूर्च्छं
गर्भास्पन्दः श्वसनकमहापूतिगन्धो भ्रमार्तिः ।
कृच्छ्रोच्छ्वासोऽसितरुचिवपुः स्तब्धनेत्रे व्यथोग्रा
विण्मूत्रार्तिर्भवति हि मृताऽपत्यगर्भाङ्गनायाः ॥१०३॥

गर्भस्थ बालक के गर्भाशय के भीतर ही मर जाने पर गर्भिणी के शरीर में जड़ता और पेट में आध्मान, पेट तथा उदर प्रदेश को स्पर्श करने पर शीतता, मुखशोष, मूर्च्छा, गर्भस्थ बालक की गति-क्रिया का अभाव, श्वास की वृद्धि, मुख से दुर्गन्धि, शिर में चक्कर, श्वास लेने में कठिनाई, नाखून-ओष्ठ तथा शरीर में कालिमा, नेत्रों में स्तब्धता, शरीर तथा पेडू प्रदेश में तीव्र पीड़ा, मल-मूत्र की रुकावट हो जाती है। इन लक्षणों से गर्भ में बालक की मृत्यु का निश्चय किया जाता है ॥ १०३ ॥

मूढगर्भाया असाध्यलक्षणम्—

अकालश्वाससंयुक्ता बद्धभ्रष्टभगान्विता ।
शीतांगी पूतिकोद्गारा मूढगर्भा न जीवति ॥ १०४ ॥

बालक के गर्भ में मर जाने पर गर्भवती के हृदय में घबराहट के साथ श्वास की वृद्धि हो जाती है। गर्भाशय का मुख बन्द हो जाता है। अर्थात् बालक उत्पन्न होते समय जो स्वभावतः गर्भाशय का मुख क्रमशः खुलने लगता है वह गति-क्रिया बन्द हो जाती है। योनिपथ विकृत हो जाता है। गर्भिणी का सम्पूर्ण शरीर शीत हो जाता है। डकार लेने पर दुर्गन्धित वायु निकलती है। इन लक्षणों से युक्त मूढ़गर्भा स्त्री का बचना कठिन ही होता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में भी मूढ़गर्भा के असाध्य लक्षणों में लिखा है कि—"अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा। नीलोद्गतशिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा" ॥ १०४ ॥

मूढगर्भाचिकित्सा—

बीजं करञ्जसंजातं कपित्थतुलसीजटा ।
दुग्धे पिष्ट्वा विलिप्याऽथ नाभिपत्करलेपतः ॥१०५॥
सुरया वाहिनिर्मोकैः सम्यग्योनिप्रधूपनात् ।
सुखं सूते बधूर्मूर्ध्नि स्नुक्पयःक्षेपणादपि ॥ १०६ ॥

करञ्जबीजचूर्ण, कैथ की जड़ की छाल का चूर्ण, तुलसी की जड़ का चूर्ण, इन तीनों को समभाग में लेकर दूध में पीस कर गर्भसंग या साधारण मूढ़ गर्भ वाली स्त्री के नाभि प्रदेश तथा पैरों के तलवों पर लेप करने से गर्भिणी स्त्री का बालक सुखपूर्वक उत्पन्न होता है। अथवा उक्त करञ्जबीजादियों को सुरा (शराब) में पीस कर लेप करने से भी गर्भ सुखपूर्वक उत्पन्न हो जाता है। अथवा काले साँप की कांचली को जलते हुए कोयलों में डाल कर उसकी योनि में धूप देने से अथवा गर्भिणी के शिर तथा हाथ-पैरों के तलवों में थोहर के दूध का गाढ़ा लेप करने से भी स्त्री को सुखपूर्वक प्रसव होता है ॥ १०५—१०६ ॥

हलिनीप्रयोगः—

हलिनीमूलिकानाभिगुह्यबस्तिप्रलेपिता ।
विशल्यां कुरुते नारीं श्वेतपुष्पा च सा क्षणात् ॥१०७॥

कलिहारी की जड़ को जल के साथ पीस कर गर्भसंगवाली स्त्री के नाभि, गर्भाशय प्रदेश तथा वस्ति प्रदेश के ऊपर लेप करने से गर्भिणी स्त्री गर्भरूपी शल्य (दुःखदायी पदार्थ) से रहित हो जाती है। अर्थात् उसका गर्भ बाहर निकल आता है। अथवा श्वेतापराजितामूल को जल में पीस कर पूर्ववत् लेप करने से भी गर्भिणी का प्रसव सुखपूर्वक शीघ्र हो जाता है ॥ १०७ ॥

यष्ट्यादिकल्कः—

यष्टीलुङ्गजटा पिष्टा पीता सूतिकरी ध्रुवम् ॥ १०८ ॥

मुलेठी तथा बिजौरा नींबू की जड़ की छाल को जल के साथ पीस कर पीने से अवश्य प्रसव हो जाता है।

विशेष वचन—चक्रदत्त में यष्ट्यादिकल्क को मधु तथा घृत के साथ सेवन करने को लिखा है, यथा "मातुलुङ्गस्य मूलानि मधुकं मधुसंयुतम्। घृतेन सह पातव्यं सुखं नारी प्रसूयते" ॥१०८॥

लाङ्गल्यादिलेपः—

लाङ्गलीमधुसिन्धूत्थैर्योनिलेपात्स्रवेद्वधूः ॥ १०९ ॥

कलिहारी की जड़ तथा सैन्धानमक को शहद के साथ पीस कर योनि में लेप करने से भी सुखपूर्वक प्रसव हो जाता है ॥१०९॥

मातुलुङ्गीरम्भाप्रयोगौ—

मातुलुंग्याश्च मूलं हि रंभाया वा कटिस्थिते ॥ ११० ॥

बिजौरा नींबू की जड़ अथवा केले की जड़ को गर्भिणी की कमर में बाँधने से भी सुखपूर्वक प्रसव होता है ॥ ११० ॥

सिद्धार्थादिवस्तिः—

सिद्धार्थमागधीकुष्ठगोलोमीमिषिकल्कितः ।
निरूहः स्नेहपट्वयुग् जरायुं पातयेत्तराम् ॥ १११ ॥

सफेद या पीले सरसों, पिप्पली, कुष्ठ, गोलोमी (सफेद दूब या वचा) और सौंफ के कल्क में कुछ घृत और सैन्धानमक मिला निरूहवस्ति देने से यदि प्रसव होने के बाद जरायु (जेर या Plasents) नहीं निकलती हो तो वह निकल आती है।

विशेष वचन—सरसों आदि द्रव्यों को समभाग में पीस कर जल में घोल कर उसमें तैल, घृत तथा सैन्धानमक उचित मात्रा में मिला छान कर वस्ति देनी चाहिये ॥ १११ ॥

सिद्धार्थकानुवासनम्—

सिद्धं सिद्धार्थकं तैलं पायौ वा स्मरमन्दिरे ।

अनुवासनतः शीघ्रमपरां पातयेद्ध्रुवम् ॥ ११२ ॥

सरसों, पिप्पली, कुष्ठ, गोलोमी (वचा), सौंफ, सैन्धानमक का मिश्रित कल्क एक भाग, सरसों का तैल चार भाग, जल सोलह भाग मिला इनसे तैल सिद्ध कर लें। इसकी गुदा अथवा योनि में अनुवासन वस्ति देने से अपरा (आँवलनाल) अवश्य गिर जाती है ॥ ११२ ॥

अथ सूतिकाचिकित्सा।

कोरण्टादिकषायः—

कोरण्टकं कुलत्थं च सर्वैरेभिः शृतं जलम्।
युक्तं शर्करया पीतं सूतिशूलज्वरापहम् ॥ ११३ ॥

पीला वाँसा और कुलत्थ इन दोनों के कषाय में खाण्ड मिला कर पिलाने से सूतिका स्त्री का गर्भाशयशूल तथा ज्वर मिट जाता है।

विशेष वचन—बालक पैदा होने के बाद गर्भाशय में विकृत रक्त के रुक जाने से गर्भाशय में शूल होने लगता है इसी से प्रसूता को ज्वर होने लगता है। इस अवस्था में सूतिका को दशमूलकषाय में यवक्षार मिला कर पिलाना चाहिये, अथवा पिप्पल्यादिगण का कषाय पिलाना चाहिये ॥ ११३ ॥

पञ्चमूलक्काथः—

लोहखण्डयुतं पञ्चमूलिकासाधितं जलम्।
नाशयेत्सूतिकारोगान् सवातान् विविधान् खलु ॥ ११४ ॥

महत्पञ्चमूल (गाम्भारी, अरणी, बेल, अरलू तथा पाटला) के कषाय में गरम (लाल किया हुआ) लोह के खण्ड को बुझा कर उस कषाय को पिलाने से सूतिका के वातिक रोग तथा अन्य सब रोग दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—शुद्ध लोह के टुकड़े को अग्नि में तपा कर लाल करके वृहत्पञ्चमूलकषाय में बुझा कर उस कषाय को पिलाना चाहिये। रसरत्नाकर में पञ्चमूल के अतिरिक्त मूँग के यूष में भी लोहखण्ड बुझा कर पिलाने को लिखा है, जैसे—'ध्मापयित्वाऽनले लौहं मुद्गयूषे निषेचयेत्। पञ्चमूलस्य वा क्काथे पिप्पलीसलिलेऽथवा। पीतं यूषादि तच्छीघ्रं सर्वसूतिरुजापहम्' ॥ ११४ ॥

भूनिम्बादितैलम्—

भूनिम्बनिम्बभद्राश्वगन्धसप्तच्छदत्वचा।
तैलं पचेत्तदभ्यंगात्सूतिकासर्वरोगनुत् ॥ ११५ ॥

चिरायता, नीम, नागरमोथा, असगन्ध तथा सप्तपर्ण (सतोना) की त्वचा का कल्क एक कुडव लेकर उसमें एक प्रस्थ तिलतैल तथा चार प्रस्थ जल डाल कर सबको एकत्र मिला तैल पका लें। इस तैल की शरीर में मालिश करने से सूतिका के सब रोग दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—किसी पुस्तक में उक्त तैल के बाद "तैलं लाक्षादिकं नाम सर्वामयविनाशनम्। चन्दनं सारिवा लोध्रं मृद्वीका शर्करान्वितम् ॥ क्काथं कृत्वा प्रदातव्यं गर्भिण्यां ज्वरशान्तये। ह्रीबेरारलुचन्दनवला धान्यार्कवत्सादनी, मुस्तोशीरयवासपर्पटवृषा क्काथं पिबेद्गर्भिणी ॥ नानावर्णरुजातिसारकगदे रक्तस्रुतौ वा ज्वरे, योगोऽयं मुनिभिः पुरा निगदितः सूत्यामयेषूत्तमः ॥" इतना पाठ अधिक देखा जाता है ॥ ११५ ॥

सौभाग्यशुण्ठी—

अञ्जलिद्वितये तोये कंसमात्रपयोन्विते।
तुलार्द्धशर्करां दत्वा गुडपाके कृते क्षिपेत् ॥ ११६ ॥
एलारिङ्गणिकावेल्लव्योषजीरकदीप्यकान्।
भृंगं लवंगं बोलं च प्रत्येकं च पलं पलम् ॥ ११७ ॥
मिषिः पंचपला धान्यं पलत्रयमितं तथा।
शुण्ठीमष्टपलां सम्यग्विचूर्ण्य परिमिश्रयेत् ॥ ११८ ॥
एषा सौभाग्यशुण्ठीति शम्भुदेवेन कीर्तिता।
सेविता हन्ति सूताया ज्वरं रोगमनेकधा ॥ ११९ ॥
प्लीहानं मलबन्धं च पाण्डुगुल्मारुचीस्तथा।
कासश्वासक्रिमीनग्निमांद्यादिकगदांस्तथा ॥
कायाग्निजननं ह्येतत्सूतिकामृतमुच्यते ॥ १२० ॥

एक शुद्ध पात्र में जल दो अञ्जलि अर्थात् ३२ तोला, दूध एक आढक (४ प्रस्थ) डाल कर उसमें आधी तुला (२०० तोला) खाँड मिला कर इसकी चासनी करें। जब गुड़पाकलक्षण दिखाई दें अर्थात् दो या ढाई तार की चासनी हो जाय तो उसमें निम्न-लिखित द्रव्यों का चूर्ण मिला दें। इलायचीबीजचूर्ण, रिङ्गिणिका चूर्ण (केवड़ीमोथा), वायविडंगचूर्ण, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, जीराचूर्ण, अजवाइनचूर्ण, दालचीनीचूर्ण, लौंगचूर्ण, बोल का चूर्ण; प्रत्येक एक एक पल, सौंफ का चूर्ण ५ पल, धनिया-चूर्ण ३ पल, सौंठ का चूर्ण ८ पल; इन चूर्णों को मिला कर 'सौभाग्यशुण्ठी' तैयार कर लें। इस सौभाग्यशुण्ठी को श्रीशम्भुदेव ने वर्णन किया है। इस पाक को नियमपूर्वक सेवन करने से सूतिका-ज्वर तथा उसके अनेक रोग दूर होते हैं। इसके अतिरिक्त यह औषधि प्रसूता के प्लीहावृद्धि, मलबद्धता, पाण्डुरोग, गुल्म, अरुचि, कास-श्वास, क्रिमि, अग्निमान्द्य रोगों के लिये अत्युत्तम है। अतएव इसे सूतिकामृत (सूतिका के लिये अमृत समान गुणकारी) कहा जाता है।

विशेष वचन—मात्रा ३ माशे से ६ माशे तक। तन्त्रान्तरों में पाये जाने वाले सौभाग्यशुण्ठी के योगों से यह अधिकांश में सर्वथा भिन्न योग है। प्रायः सभी सौभाग्यशुण्ठी के योगों में घृत पाया जाता है परन्तु यहाँ घृत का वर्णन नहीं मिलता है। योग-रत्नाकर में सौभाग्यशुण्ठी का योग इस प्रकार लिखा है—"आज्यस्याञ्जलियुग्ममत्र पयसः प्रस्थद्वयं खण्डतः पञ्चाशत्पलमत्र

चूर्णितमथ प्रक्षिप्यते नागरम् । प्रस्थार्धे गुडवद्विपाच्य विधिना मुष्टित्रयं धान्यकात् ॥ मिष्याः पञ्चपलं पलं क्रिमिरिपोः साजाजि-जीरादपि । व्योषाम्भोददलोरगेन्द्रसुमनः सद्राविडीनां पलं पक्वं नागरखण्डसंज्ञकमिदं सौभाग्यदं योषिताम् ॥" भैषज्यरत्नावली में जो धातुभस्म-रहित सौभाग्यशुण्ठी का योग है वह इस प्रकार मिलता है—"४ प्रस्थ दूध में २ प्रस्थ सौंठ का चूर्ण डाल कर एक दृढ़ मृत्पात्र में मृदु अग्नि द्वारा पकावें। जब मावे की तरह गाढ़ा हो जाय तब ८ पल घी में उसे भून लें। पश्चात् २॥ प्रस्थ विशुद्ध खाण्ड से तय्यार की हुई चासनी डाल कर पकावें। यथावत् पाक होने पर त्रिकटु, त्रिफला, जीरा, चतुर्जात (छोटी इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, नागकेशर), मोथा, जावित्री, जायफल, धनिया, लौंग, सोया, नलिका, मदनफल, अजवाइन, अजमोद, धाय के फूल, शतावर, मूसली, लोध, गजपिप्पली, चिरौंजी, गिलोय, कर्पूर, सफेद चन्दन; प्रत्येक के दो तोले चूर्ण का प्रक्षेप देकर नीचे उतार लें।"

इन दोनों ग्रन्थों के योगों को देख कर वैद्य लोग प्रकृतयोग में 'तोयं' शब्द से घृत लेते हैं। उनका ऐसा विचार तन्त्रान्तर में घृत का प्रयोग देखने से तथा मेदनीसारकोष में तोय शब्द को घृतवाचक पाने से होता है। "तोयदो मुस्तके मेघे पुमानाज्ये नपुंसकम्।" यद्यपि तोय शब्द स्पष्ट रूप से घृतवाचक नहीं है तथापि "नामैक-देशग्रहणेनापि नामसमुदायग्रहणम्।" इस न्याय से तोय से तोयद (घृत) लेते हैं। परन्तु चासनी में घृत का पहिले ही डालना व्यवहार में विलावस्था में ही पाया जाता है। अतः इस योग को एक स्वतन्त्र आचार्य द्वारा निर्मित हुआ समझ कर बिना घृत का ही बनाना उचित है। तोय का अर्थ घी करना क्लिष्ट कल्पना है॥

पर्पटीरसः—

मंजारीमितवज्रहेमरजतैर्व्योमार्ककान्तैर्मृतै-
र्भागैस्तूत्तरवर्धितैः समरसैर्गन्धैर्द्विभागोन्मितैः।
जातः पर्पटिकारसो घृतकणायुक्तो हरेत्सर्वशः
सूतीनां हि महागदान् गदचयं नानानुपानान्वितः॥

हीरे की भस्म १ कर्ष, स्वर्णभस्म २ कर्ष, चाँदी की भस्म ३ कर्ष, अभ्रकभस्म ४ कर्ष, ताम्रभस्म ५ कर्ष, कान्तलोहभस्म ६ कर्ष, शुद्ध पारद २१ कर्ष, शुद्ध गन्धक ४२ कर्ष लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर अच्छी तरह मर्दन कर लें। फिर रसपर्पटी की भाँति एक लोह-पात्र में डाल कर गरम करके गन्धक के पिघलने पर गोबर के ऊपर बिछे हुये कदलीपत्र पर डाल कर पर्पटी तय्यार कर लें। इसे पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर इसमें पिप्पलीचूर्ण मिला कर सेवन करने से सूतिका के सब भयंकर रोग नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह रस तत्तत् रोगहर अनुपानों के साथ प्रयोग करने पर सब रोगों को भी नष्ट करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से २ रत्ती तक। यहाँ मञ्जारी शब्द किसी एक कल्पित भाग का द्योतक प्रतीत होता है। संस्कृत-टीकाकारों ने मञ्जारी का अर्थ 'सार्द्धपादद्वयम्' किया है। उसके अनुसार यहाँ पर अर्थ नहीं किया गया है। क्योंकि मञ्जारी से वैद्यक शब्दकोष में कोई वस्तुमात्रा या वस्तु नहीं ली गई है। 'हेमजरसैः' के स्थान पर 'हेमरजतैः' पाठ ही उचित प्रतीत होता है। 'हेमजरसैः' पाठ के पक्षपाती हेमज से स्वर्णमाक्षिक तथा रस से रसौंत का ग्रहण करते हैं ॥१२१॥

स्वर्णादिप्रयोगः—

स्वर्णतारघनभानुतीक्ष्णकं तेषु चैकमतिमात्रमारितम्।
सूतिकासकलरोगनाशनं रोगहारि विहितानुपानतः॥

अच्छी तरह मारित (भस्म किया हुआ) स्वर्णभस्म, रजत भस्म, अभ्रकभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर योग्य अनुपान, अथवा तत्तत् रोगहर अनुपान के साथ प्रयोग करने से सूतिका के सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं। अथवा अच्छी तरह मारित केवल स्वर्णभस्म अथवा रजतभस्म या अभ्रकभस्म अथवा तीक्ष्ण-लोहभस्मको ही तत्तत् रोगहर अनुपान से प्रयोग करने पर सूतिका के सब रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ १२२ ॥

अथ योनिव्यापच्चिकित्सा।

योनिशूले निर्गुण्डीप्रयोगः—

निर्गुण्डीपत्रनिर्यासो गुडो जीर्णः सुरान्वितः।
सेवितस्तक्रभक्ताभ्यां योनिशूलविनाशनः॥ १२३ ॥

निर्गुण्डी (सिम्भालू) के पत्तों के स्वरस में पुराना गुड़ मिला कर मधु के साथ पिलाने से स्त्रियों का योनिशूल नष्ट हो जाता है। इस योग के सेवन करने के बाद क्षुधा लगने पर भात और तक्र (छाछ) मिला कर सेवन करना चाहिये ॥ १२३ ॥

प्रस्रंसिन्यां कारलीकन्दप्रयोगः—

निर्गताऽपि विशेद्योनिः कारलीकन्दलेपिता ॥ १२४ ॥

बाहर निकली हुई योनि में करेले की जड़ का लेप करने से वह भीतर अपने स्थान पर स्थित हो जाती है ॥ १२४ ॥

विशेष वचन—'सुषवीमूललेपाच्च प्रविष्टान्तर्बहिर्भवेत्।' इस सिद्ध योगवचनके अनुसार प्रकृत योग को अन्तःप्रविष्ट योनि के लिये प्रयुक्त कर सकते हैं। योनिशब्द से यहाँ सम्भवतः गर्भाशय लिया गया है। क्योंकि योनि का बहिर्निःसरण बहुत कम पाया जाता है ॥ १२४ ॥

शिथिलयोनौ इन्द्रगोपप्रयोगः—

इन्द्रगोपाग्निलेपेन श्लथयोनिर्दृढा भवेत् ॥ १२५ ॥

योनि की शिथिलता अधिक होने पर योनि के भीतर वीर-

बहूटी कीड़ों को जल में पीस कर लेप करने से वह संकुचित और दृढ़ हो जाती है ।

विशेष वचन—यद्यपि मूल पाठ में 'अग्नि' शब्द का भी निर्देश है। परन्तु चित्रक सदृश दाहक औषधि का प्रयोग योनि सदृश कोमल अंग में करना हानिकारक है। अतः यहाँ पर 'इन्द्रगोपाज्यलेपेन' ऐसा पाठ युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वीरबहूटी कीड़ेमें संकोचक शक्ति विशेष होती है। अतः इसे नपुन्सक पुरुषों के लिए उत्तेजक लेप अथवा तिला के रूप में अधिकतर प्रयोग किया जाता है। इन्द्रगोप के सदृश ही लोध्र आदि द्रव्य भी संकोचक हैं। अतः चक्रदत्त में इस प्रयोजन के लिए 'लोध्रतुम्बीफलालेपो योनिदार्ढ्यं करोति च।' ऐसा वर्णन किया है ॥१२५॥

विवृतयोनौ लेपः—

माकन्दमूलकर्पूरमधुभिश्च जरत्स्त्रियः।
कुरुते संवृतां योनिं कन्यकाया इव ध्रुवम् ॥ १२६ ॥

अत्यन्त खुली हुई (चौड़ी) योनि के लिये आम की जड़की छाल को जल में घिस कर उसमें कपूर और शहद मिला कर लेप किया जाता है। इस लेप के लगाने से वृद्धा स्त्री की अत्यन्त चौड़ी योनि भी कन्या की योनि के समान संकुचित हो जाती है।

विशेष वचन—चक्रदत्त में इस कार्य के लिए कस्तूरी, जायफल, शहद और कपूर का लेप उत्तम माना गया है भैषज्यरत्नावली में 'मदनफलमधुककर्पूरप्रपूरितं कामिनीजनस्य। चिरगलितयौवनस्य च वराङ्गमतिगाढ़सुकुमारम् ॥' इस वचन से माकन्द शब्द से मैनफल लिया है ॥ १२६ ॥

श्रीपर्णीतैलम्—

श्रीपर्णीरसकल्काभ्यां तैलं सिद्धं तिलोद्भवम्।
तत्तैलं तुलिकेनैव स्तनयोः परिदापयेत् ॥ १२७ ॥
पतितावुच्छ्रितौ स्त्रीणां भवेयातां पयोधरौ।
गलकुम्भसमाकारावुन्नतौ परिमण्डलौ ॥१२८॥

गम्भारी की छाल का कल्क एक भाग, गम्भारीत्वक्क्वाथ सोलह भाग, तिलतैल ४ भाग लेकर तीनों को एकत्र मिला स्नेहसाधन विधि से तैल पका लें। पश्चात् इस सिद्ध तैल में रुई का एक फाया भिगो कर स्तनों पर रखें। इसके कुछ दिन प्रयोग करने से शिथिल (ढीले पड़े हुए) स्तन पुनः हाथी के कपालों के सदृश कठिन उभरे हुए और गोल आकार में हो जाते हैं ॥१२७-१२८॥

अथ बालचिकित्सा।

बालस्य गर्भक्लेशनिवारणम्—

गर्भनिर्गतबालस्य कणास्वर्णं प्रदापयेत् ॥ १२९ ॥

गर्भ से बाहर आये हुये बालक को स्वर्णभस्म और पिप्पलीचूर्ण मधु में मिला कर चटाने से बालक का गर्भक्लेश (दुःख) दूर हो जाता है।

विशेष वचन—गर्भ से बाहर निकलते हुये अंगों में दबाव पड़ने के कारण बालक को कई बार दुर्बलता अनुभव होती है। इसको दूर करने के निमित्त हृदय के लिये बल्य स्वर्णभस्म, फुफ्फुसों तथा कण्ठ को शुद्ध करने के लिये पिप्पलीचूर्ण, मिला कर देना लाभदायक होता है। इससे न केवल गर्भक्लेश ही दूर होता है अपितु बालक को शीत लगने का डर भी दूर हो जाता है। तन्त्रान्तर में स्वर्ण के योग को आयुःवर्धक तथा कान्तिजनक समझ कर देने का विधान है, यथा "कुष्ठं वचाभया ब्राह्मी कनकं क्षौद्रसर्पिषा। वर्णायुःकान्तिजननं लेहं बालस्य दापयेत् ॥"

सद्योजातबालस्य संज्ञाजननोपायः—

पाषाणद्वितयं युंज्यात्कांस्यभाजनमुच्चकैः।
तेन त्रस्तः ससंज्ञः स्याद्योनिनिर्गमपीडितः ॥ १३० ॥

यदि बालक उत्पन्न होकर संज्ञाहीन हो जाय तो उसे सचेत करने के लिये वहाँ पर दो पत्थरों को आपस में टकरा कर शब्द करना चाहिये, अथवा काँसे की थाली को बजाना चाहिये। इन तीव्र शब्दों के सुनने से बालक सचेत हो जाता है।

विशेष वचन—चरक में भी सद्योजात बालक के संज्ञासंजननार्थ निम्नलिखित कर्मों का उपदेश दिया गया है, यथा "जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति। तद्यथा—अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले ॥ शीतोदकेनोष्णोदकेन वा मुखेन परिषेकः तथा संक्लेशविहतान् प्राणान् पुनर्लभेत। कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभिनिष्पुनीयुः यद्यचेष्टः स्याद् यावत्प्राणानां प्रत्यागमनम् ॥" कई बार इस प्रकार की बालक की मूर्च्छितावस्था में कृत्रिम श्वासक्रिया कराने से अत्यन्त लाभ होता है। इसके साथ थोड़ी सी मद्य (Brandy) पिलाने से भी लाभ होता है। कृत्रिम श्वास क्रिया के लिये चिकित्सक को चाहिये कि वह बालक को अपने दोनों हाथों पर सीधा (चित) लिटाये, एक हाथ चूतड़ के नीचे और एक हाथ कन्धों के नीचे रखे। दोनों हाथों से बालक को छाती की तरफ इकठा करने से प्रश्वास तथा प्रसारित करने से श्वास की क्रिया होती है, बालक सचेत हो जाता है ॥ १३० ॥

सद्योजातस्य ज्वरादिनिवारणोपायः—

सुखोष्णैः काञ्जिकैर्बालं सम्प्रोक्ष्य द्वित्रिवारतः।
देयः शिरसि बालस्य घृतपिण्डो ज्वरापहः ॥
शिरोगतविकारघ्नो मुख्यो रक्षाकरस्तथा ॥ १३१ ॥

सद्योजात बालक को यदि ज्वर हो जाय तो उस ज्वर को दूर करने के लिये सुखोष्ण काञ्जी से बालक के शरीर में स्पञ्ज करना चाहिये। तदनन्तर शिरोगत विकार को दूर करने में श्रेष्ठ औषधियों से सिद्ध किये हुये घृत को शिर में मलना चाहिये। यह औषधियों से बना हुआ होना चाहिये जिससे बालक की बाह्यविषकृमिजन्य बाधायें दूर हो सकें।

विशेष वचन—आयुर्वेद में प्राणियों की उत्पत्ति ज्वरयुक्त बताई गई है। "प्राणिनः सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते।' यह ज्वर, उत्पत्ति की अवस्था में अचैतन्यता, मोह मूर्च्छा के रूप में लिया जाता है। इस अचैतन्यता को दूर करना ही यहाँ पर 'ज्वरापह' चिकित्सा है। अथवा ज्वर शब्द रोगसामान्यवाचक होने से 'ज्वरापह' शब्द से गर्भरुजापह अर्थ किया जा सकता है। शिरोगत विकार को दूर करने के लिये घृत लगाने से पूर्व शिर के चपटापन टेढ़ापन लम्बापन को ठीक करना आवश्यक है। इसी तरह तालुपात आदि विकारों को भी पहले देख कर पुनः तद्विकारनाशक घृत की मालिश, पट्टी आदि उपचार करने चाहिये।

चरक ने इस विषय को निम्नविधि से स्पष्ट किया है—"ततः प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य स्नानोदकग्रहणाभ्यामुपपादयेत्। अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या प्रथमं प्रमार्जितास्यस्यास्य च शिरस्तालुकार्पासपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिच्छादयेत्। ततोऽस्यानन्तरं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा कार्यं प्रच्छर्दनम्" ॥ १३१ ॥

पित्तज्वरे रोहिणीक्षीरम्—

भक्षणं रोहिणीकल्के सिद्धं पानानुलेपतः।
ज्वरं पित्तोत्तरं हन्ति मुस्ताक्वाथ इव ध्रुवम् ॥१३२॥

बालक को यदि पित्तप्रकोपजन्य ज्वर हो जाय तो उसे (यदि वह बालक के स्तन्य तथा अन्नपायी हो) कुटकी के कल्क से क्षीरपाक परिभाषा के अनुसार दूध सिद्ध करके देना चाहिये और कुटकीकल्क से सिद्ध जल को पीने के लिये भी देना चाहिये और उसी के कल्क का शरीर में भी लेप करना चाहिये। अथवा यदि बालक अन्नाशी (अन्न खाने वाला) हो तो उसे भक्षण (भोजन) भी कुटकीकल्क से सिद्ध यवागू, पेया, विलेपी के रूप में देना चाहिये। बालक के पित्तज्वर में कुटकी की भांति नागरमोथे का कषाय भी हितकर है।

विशेष वचन—दुग्धसिद्ध करने के लिये द्रव्य से आठ गुना अधिक दूध और दूध से चार गुना अधिक जल लेकर तीनों को एकत्र पकायें। जब दूध मात्र शेष रह जाय उसे उतार छान कर पिलायें। यथा—"द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ १३२ ॥

पित्तज्वरेऽश्वत्थक्षीरम्—

अश्वत्थपल्लवैश्चाम्भः क्षीरं पक्वं निषेवितम्।
पित्तजातं ज्वरं तीव्रं बालानां हन्ति निश्चितम् ॥१३३॥

पीपलवृक्ष के पत्तों के कषाय अथवा क्षीरपाकविधि से पकाया हुआ पीपल के पत्तों का दूध पिलाने से बालकों का पित्तप्रकोपजन्य ज्वर निश्चित दूर हो जाता है॥ १३३ ॥

गन्धोत्पलजटादिकल्कः—

गन्धोत्पलजटा पिष्टा कटुकी नाशयेज्ज्वरम् ॥१३४॥

गन्धोत्पल (सफेद कमल) की जड़ को कुटकी के साथ पीस कर इस कल्क को दूध के साथ पिलाने से बालकों का ज्वर नष्ट होता है।

विशेष वचन—यह कल्क भी पित्तज्वर को दूर करता है। कोई इस योग में जटा से जटामांसी भी लेते हैं और कहीं "गन्धोत्पलजटापिष्टा" के स्थान पर "गन्धोत्पलजलैः पिष्टा" पाठ मिलता है॥ १३४॥

सहदेव्यादिचूर्णम्—

सहदेवीकणाभृङ्गक्षौद्रं लीढं हरेच्छिशोः।
वमिकासज्वरव्याधीन् क्षौद्रेणातिविषा तथा ॥१३५॥

सहदेवी (बला), पिप्पली और भाँगरा अथवा दालचीनी; इन औषधियों के समभाग चूर्ण को शहत में मिला कर अथवा केवल अतीस के चूर्ण को ही शहत में मिला कर चटाने से बालकों की वमन, खांसी, ज्वर आदि व्याधियाँ दूर होती हैं॥ १३५ ॥

न्यग्रोधादिक्वाथः—

न्यग्रोधजम्ब्वाम्रशिरीषकाणां
क्वाथो रसो वा नवपल्लवानाम्।
पित्तातिसारज्वरवान्तिमूर्च्छा
तृष्णां निहन्यान्मधुना शिशूनाम् ॥१३६॥

बड़, जामुन, आम और शिरीष; इनके कोमल पत्तों का स्वरस अथवा कषाय में थोड़ा शहत मिला कर थोड़ा थोड़ा करके बालक को चटाने या पिलाने से बालकों का पित्तातिसार, ज्वर, वमन, मूर्च्छा, तृषा (प्यास) आदि सब विकार नष्ट होते हैं॥

रक्तातिसारहरचूर्णम्—

मध्वम्बुशृङ्गीपाठाब्दं रक्तातीसारहृच्छिशोः ॥१३७॥

सुगन्धबाला, काकड़ासिंगी, पाठा तथा नागरमोथा; इन सब औषधियों का कषाय अथवा चूर्ण को शहत में मिला कर पिलाने या चटाने से बालकों के खून के दस्त बन्द हो जाते हैं॥ १३७ ॥

बोलप्रयोगः—

क्षीरं सबोलं कण्ठोरःशिरःकफहरं शिशोः ॥१३८॥

बोल के चूर्ण (१ रत्ती) को दूध में मिला कर पिलाने से बालक के कंठ, छाती तथा शिर में संचित हुआ कफ शीघ्र दूर हो जाता है॥ १३८ ॥

मधुकादिकल्कः—

मधुकं मरिचं पिष्टं गोजलैः परिसेवितम्।
विनाशयति वेगेन बालानां मूत्रविड्ग्रहम् ॥१३९॥

मुलेठी और कालीमिरच के चूर्ण को गोमूत्र में पीस कर

पिलाने से बालकों के मल तथा मूत्र का अवरोध शीघ्र नष्ट होता है ।। १३९ ।।

यष्ट्यादिघृतम्—

यष्टीलोध्रकणागन्धबालाशाल्मलिसारिवा ।
सुगन्धा माक्षिकं चेति सिद्धं सर्पिर्निषेवितम् ।।
शुष्यद्गात्रस्य बालस्य बृंहणं बलकारि तत् ।।१४०।।

मुलेठी, लोध, पिप्पली, प्रियंगु, नेत्रबाला, सेमल की छाल, सारिवा, असवरग (स्पृक्का); इन सब औषधियों को समभाग में लेकर कल्क कर लें । इस कल्क से चतुर्गुण गोघृत और गोघृत से चतुर्गुण जल लें । इन तीनों द्रव्यों को एकत्र एक पात्र में मिला पका कर घी तय्यार कर लें । इसमें से प्रतिदिन एक मासा मात्रा में शहत मिला कर बालक को सेवन करावें । इस घृत के सेवन से शोष (सूखा) रोगपीड़ित बालक का शरीर पुष्ट और मोटा हो जाता है और शरीर में बल की वृद्धि भी होती है ।

विशेष वचन—'बाला' के स्थान में पोषक होने के कारण 'बला' पाठ अच्छा है । इसी तरह सुगन्धा से कसेरु का ग्रहण लाभदायक होगा ।। १४० ।।

शंखनाभ्यादिवर्त्तिः—

शंखनाभिकणापथ्यारसाञ्जनविनिर्मिता ।
वर्त्तिर्निहन्ति मधुना बालनेत्राखिलामयान् ।। १४१ ।।

शंख की नाभि, पिप्पली, हरड़ और रसौंत; इन सब को समभाग में लेकर सूक्ष्म चूर्ण करके जल के साथ पीस कर बत्ती बना लें । इस बत्ती को शहत के साथ घिस कर आँखों में लगाने से बालकों के सब नेत्रविकार दूर होते हैं ।

विशेष वचन—कहीं कहीं 'पथ्या'के स्थान में 'मनःशिला' पाठ मिलता है । मैनसिल भी लेखन होने से नेत्रों के कुकरों में लाभदायक है ।। १४१ ।।

अश्वगन्धाघृतम्—

क्षीरेऽश्वगन्धया ताम्रसूतान्तैः सह साधितम् ।
घृतं पुष्टिकरं वर्ण्यं बलकृत्सुखकारि च ।। १४२ ।।

असगन्ध, ताम्रभस्म तथा पारदभस्म (रससिन्दूर) तीनों को समभाग में लेकर कल्क बना लें । इस कल्क से चतुर्गुण गाय का घी लें और घी से चौगुना गाय का दूध लें । अब इन तीनों को एक पात्र में एकत्र मिला मन्द मन्द अग्नि में घृत पका लें । यह घृत उचित मात्रा में दूध के साथ या मिश्री मिला कर दूध के साथ सेवन कराने से बालक पुष्ट होता है और उसका वर्ण सुन्दर हो जाता है अर्थात् रक्ताल्पता के चिह्न मिट जाते हैं । शरीर में बल बढ़ता है और बालक की बेचैनी भी मिट जाती है ।

विशेष वचन—इस घृत में ताम्रभस्म तथा पारद का योग उचित प्रतीत नहीं होता है । और न इनके डालने से कोई लाभ ही होगा । कोई भी घृत धातुभस्मों के कल्क से सिद्ध नहीं किया जाता है । यदि सिद्ध भी किया जाय तो धातुभस्मों में घृत तथा जल में अविलेय होने से कोई लाभ नहीं होता है । भस्म तो कल्क में मिला कर नीचे जम जाती है । अतः यहाँ पर 'ताम्रसूतान्तैः सह' के स्थान पर 'सार्द्धं बलाश्वाथैश्च' पाठ उचित है । बला के गुण भी अश्वगन्धा से मिलते जुलते होते हैं । साथ ही बला वातिक दुर्बलता में अत्युत्तम औषधि है । कोई 'ताम्रसूतान्तैः सह साधितम्' के स्थान पर 'ताम्रचूडाण्डैः परिसाधितम्' पाठ करने को कहते हैं । मुर्गी के अण्डों की जर्दी भी अत्यन्त बल्य मानी जाती है । यदि उक्त पाठ के स्थान पर "क्षीरेऽश्वगन्धया शुद्धताम्रपात्रे च साधितम् ।" पाठ किया जाय तो कोई हानि नहीं होगी ।। १४२ ।।

तालुकण्टकलक्षणम्—

श्लेष्मा हृत्तालुमांसस्थः करोति कुपितः शिशोः ।
तालुकण्टकमेतेन तालुस्थाने च निम्नता ।। १४३ ।।
तृष्णा तालुविपाकश्च स्तन्यद्वेषश्च विड्ग्रहः ।
भ्रमास्यशोषकण्डूतिर्ग्रीवामूर्द्धगता वमिः ।।
अक्षिरोगादिकं चापि— ।। १४४ ।।

आहार की विषमता के कारण बालक के हृदय तथा तालुमांसप्रदेश में रहने वाला श्लेष्मा प्रकुपित होने से तालुकण्टक रोग उत्पन्न होता है । जिसमें तालुप्रदेश (ऊपरी तालु प्रदेश ब्रह्मरन्ध्र) में गढ़ा हो जाता है । बालक को प्यास अधिक लगती है । कई बार भीतरी तालुप्रदेश पक भी जाता है जिससे बालक स्तनपान नहीं कर सकता है । साथ ही इससे बालक को मलबन्ध हो जाता है । मुख सूखता रहता है । कभी कभी चक्कर अथवा बेहोशी सी हो जाती है । गले और नासिका में कण्डू होती है । बालक भोजन न खा सकने और गले या तालु में विकार होने के कारण दुर्बलता से अपनी ग्रीवा को सीधा स्थिर रखने में असमर्थ रहता है । अथवा ग्रीवा और शिर में कण्डू होती है । बालक को कभी गले में अवरोध के कारण वमन हो जाती है । इसके अतिरिक्त श्लेष्मप्रकोपजन्य ऊर्ध्वांग के रोग जैसे आँखों का दुखना, कानों से पीप पड़ना, मुख से लार बहना आदि रोग भी बालक को आ घेरते हैं ।

विशेष वचन—'श्लेष्माहृत्' के स्थान पर 'श्लेष्मा तु' ऐसा पाठान्तर तन्त्रान्तर में पाया जाता है । वाग्भट में तो स्पष्ट निर्देश है कि—"तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम् ।" 'विड्ग्रहः' के स्थान पर वाग्भट में 'शकृद्द्रवम्' पाठ पाया जाता है । यही पाठ अन्य तन्त्रों में पाया जाता है । विड्ग्रह से तन्त्रकार का अभिप्राय रोगोत्पत्ति के पूर्व मलबद्धता को दर्शाना है । अथवा मलबन्ध होकर बीच बीच में द्रवरूप दस्तों को दर्शाना है । 'ग्रीवामूर्द्धगता' के स्थान पर रुग्विनिश्चय ग्रन्थ में 'ग्रीवादुर्वहता' पाठ

मिलता है। परन्तु वाग्भटोक्त 'ग्रीवादुर्द्धरता वमिः' पाठ सरल और उत्तम है ।। १४३–१४४ ।।

तालुकण्टकचिकित्सा–

—तत्र चोन्नीय तालुजम् ।
प्रतिसार्य यवक्षारक्षौद्राभ्यामतियत्नतः ॥ १४५ ॥
यद्वा विश्वाकणासिन्धुगोमयोत्थरसैस्तथा ।
पथ्याकुष्ठवचाकल्कं स्तन्येन मधुना सह ।
पीतं निहन्ति वेगेन बालानां तालुकंटकम् ॥१४६॥

तालुकण्टक रोग की उपस्थिति में गिरे हुये या नीचे को झुके हुये तालु प्रदेश को ऊपर उठावें और यवक्षार तथा शहत को मिला कर तालु के गढ़े में धीरे धीरे घर्षण करें। अथवा सौंठ, पिप्पली, सैन्धानमक को गोबर के स्वरस में मिला इसके द्वारा तालु के गढ़े में धीरे धीरे घर्षण कर तालु को ऊपर उठावें और हरड़, कुष्ठ तथा वचा को जल के साथ पीस कर कल्क बना लें। इसमें शहत मिला कर माता के दूध के साथ बालक को पिलायें। इस क्रिया से कुछ दिनों में बालकों का तालुकण्टक रोग शीघ्र ही ठीक हो जाता है।

विशेष वचन—आजकल पाये जाने वाले सूखा रोग में प्रायः तालुकण्टक के लक्षण मिलते हैं। सूखा रोग प्रायः कफ के प्रकोप से होता है। शरीर में जब कफ की रचनात्मकक्रिया शिथिल पड़ जाती है तो यह रोग धीरे धीरे अपना घर कर लेता है। ऐसी दशा में बालक को दीपक-पाचक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। शरीर में रक्तसञ्चार को बढ़ाने के निमित्त अगुर्वादितैल आदि उष्ण तैलों की मालिश भी करनी चाहिये ।। १४५–१४६ ।।

गुदकीटस्य निदानलक्षणे—

प्रस्वेदान्मललेपाद्वा रक्तश्लेष्मभवो गुदे ।
गुदकीटो भवेद्रोगस्तीव्रव्रणसमन्वितः ॥१४७॥

गुदा प्रदेश में पसीने के जमने या गुदा को साफ न करने से वहाँ पर श्लेष्मप्रकोप से रक्त दूषित हो जाता है जिससे गुदप्रदेश में बालकों के विस्तृत आकार का एक व्रण हो जाता है। इसको 'गुदकीटरोग' कहते हैं।

विशेष वचन—'गुदकीटः' के स्थान पर 'गुदकिट्टः' पाठान्तर मिलता है। सुश्रुत में इस व्याधि को 'अहिपूतन' नाम से लिखा है। यथा—"शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् । स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डूरक्तकफोद्भवा ।। कण्डूयनात् ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते। एकीभूतं व्रणं घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ।।" वाग्भट में इस रोग को अनेक नामों से लिखा है—"केचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽपि पूतनम् । पृष्ठारुगुंदकुन्दश्च केचिच्च तमनामिकम्" ।। १४७ ।।

गुदकीटचिकित्सा—

श्रुतशीताम्बुशैलेयलुकचूर्णं मधूत्कटम् ।
तेनापानव्रणं सम्यग्लेपयेद्भिषगुत्तमः ॥१४८॥
त्रिफलाबदरीपत्रक्वाथेन परिषेचयेत् ।
रागकण्डूमतो रक्तं जलूकाभिः समन्वितम् ॥
पित्तव्रणचिकित्सा च सकलात्र प्रशस्यते ॥१४९॥

उबाले हुए पानी में छारछरीला तथा चौलाई का चूर्ण मिला कर शहत डाल कर गाढ़ा-सा लेप सा बना लें। इस लेप को गुदकीटव्रण को धोकर उस पर प्रतिदिन लगाना चाहिये। गुदकीट-व्रण को धोने के लिये हरड़, बहेड़ा, आंवला तथा बेर के पत्तों के कषाय का प्रयोग करना चाहिये। यदि व्रण के चारों तरफ पित्त-प्रकोप से लालिमा और कण्डू अधिक हो तो व्रण के चारों तरफ शुद्ध जोक लगा कर अशुद्ध रक्त को निकाल दें। इस गुदव्रण के लिये संक्षिप्त चिकित्सा सिद्धान्त यह है कि इसमें सब प्रकार से पित्तप्रकोपयुक्त व्रण की चिकित्सा करनी चाहिए।

विशेष वचन—'लुक' के स्थान पर कहीं २ 'कणा' पाठ पाया जाता है। परन्तु यह तीव्र या क्षोभक होने से अधिक उपयोगी नहीं है। 'मधूत्कटम्' के स्थान पर 'मधूत्थकम्' पाठ होने पर मोम अर्थ किया जाता है। योगरत्नाकर में 'बदरीपत्र' के स्थान पर 'खादिर' पाठ है। वाग्भट में सब के स्थान पर निम्न पाठान्तर पाया जाता है। 'श्रुतशीतञ्च शीताम्बुयुक्तमन्तरपानकम् । सक्षौद्र-तार्क्ष्यशैलेन व्रणं तेन च लेपयेत् ।। त्रिफलाबदरीप्लक्षत्वक्क्वाथ-परिषेचितम् । रागकण्डूत्कटे कुर्याद्रक्तस्रावं जलौकसा ।। सर्वञ्च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकिट्टके" ।। १४८–१४९ ।।

गुदपाकचिकित्सा—

गुदपाके तु कर्त्तव्या पित्तव्रणहरा क्रिया ।
पानप्रलेपयोः शस्तं विशेषेण रसाञ्जनम् ॥१५०॥
अजादुग्धेन सम्मिश्रय जीरकाञ्जनचूर्णकैः ।
जातीपत्ररसोपेतैः पूर्वप्रोक्तरसैरपि ॥१५१॥

बालकों के गुदपाक में पित्तव्रणनाशक उपचार करना चाहिये। यदि गुदपाक हो तो पित्त को शमन करने के लिये पान और व्रण पर लेप करने में रसौंत विशेष उपयोगी है। जीरा और रसौंत के चूर्ण को चमेली के पत्तों के स्वरस में घोट कर बकरी के दूध में मिला कर कपड़े में छान कर रस निचोड़ लेवें। इस स्वरस को पिलाने से बालक का गुदापाक और गुदकीट रोग दूर हो जाता है ।।

मुखपाकचिकित्सा—

मुखपाके मुखं लिंपेद्बोधित्वग्घृतसारघैः ।
जातीपत्राऽभयायष्टीमधुदार्व्या च लेपयेत् ॥१५२॥

बालकों के मुँह में छाले पड़ जाने पर पीपल वृक्ष की भीतरी छाल के चूर्ण को घी और शहत मिला कर मुख के भीतर थोड़ा

थोड़ा करके कई बार लेप करें। अथवा चमेली के पत्ते, हरड़, मुलेठी और दारुहल्दी या रसौत के समभाग चूर्ण को शहद में मिला कर लगाने से बालकों का मुखपाक दूर होता है ॥ १५२ ॥

नाभिपाकचिकित्सा—

नाभिपाके प्रलेप्तव्यं सिक्तं तैलेन भूरिशः।
रजनीयष्टिकालोध्रप्रियङ्गूणां च कल्कतः ॥
चूर्णैर्नैषां सतैलेन नाभिपाकं शमं नयेत् ।१५३॥

बालकों की नाभि पक जाने से उसे कृमिहर द्रवों से धोकर निम्नलिखित औषधियों से सिद्ध तैल अथवा औषधियों का चूर्ण तैल में मिला कर लगाना चाहिये। हरिद्रा, मुलेठी, लोध और फूलप्रियंगु; इन औषधियों का कल्क एक भाग, तिलतैल चार भाग, जल सोलह भाग मिला कर तैल सिद्ध कर लें। यदि तैल बना हुआ न हो तो इन्हीं हरिद्रा आदि औषधियों का चूर्ण बना उसमें तैल मिला कर लेप करें। इस क्रिया से बालक का नाभिपाक शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—चक्रदत्त में हरिद्रा आदि द्रव्यों के केवल चूर्ण को नाभिव्रण पर छिड़कने के लिये भी कहा है—"नाभिपाके निशालोध्रप्रियंगुमधुकैः शृतम्। तैलमभ्यञ्जने शस्तमेभिर्वाऽप्यव-चूर्णनम्" ॥ १५३ ॥

कुण्डलचिकित्सा—

अपुष्पाश्वत्थपञ्चांगक्वाथेनापि च कल्कतः।
सिद्धं तैलं प्रलेपेन कुण्डलव्याधिनाशनम् ॥१५४॥

पुष्परहित पीपलवृक्ष के पञ्चांग अर्थात् फल, मूल, त्वचा, पत्र का कषाय और कल्क से तिलतैल सिद्ध कर लें। इस तेल के लेप (मालिश) करने से बालकों की कुण्डलव्याधि शान्त होती है।

विशेष वचन—कुण्डलव्याधि से यहाँ पर नाभि के चारों तरफ कुण्डलाकार में उत्पन्न हुये शोथ का ग्रहण करना चाहिये ॥

बालपञ्चामृतम्—

हिंगुशुंठीकणापथ्यामिषीपञ्चामृतं मतम्।
सर्वबालामयान् हन्ति पाचनं दीपनं परम् ॥१५५॥

हींग, सौंठ, पिप्पली, हरीतकी तथा सौंफ इन पाँचों को समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण करके मिला कर रख लें। इस योग को बालकों के लिये अमृत समान गुणकारी होने से 'बाल पञ्चामृत' कहते हैं। इसके सेवन से बालकों के सब रोग दूर होते हैं। विशेषतः यह योग दीपक तथा पाचक है।

विशेष वचन—इस चूर्ण को मधु के साथ मिला कर चटाना चाहिये। अथवा माता के दूध में घोल कर पिलाना चाहिये ॥

तिक्ताद्यं घृतम्—

तिक्ताग्निव्योषमाद्रूरपथ्यारुचकहिंगुलम्।
तुल्यदुग्धं घृतं पक्वं गुल्मानाहविलम्बिकाः ॥
कासं श्वासं गुदभ्रंशं विनिहन्ति न संशयः ॥१५६॥

कुटकी, चित्रकमूलत्वक्, सौंठ, कालीमिरच, पिप्पली, बेल की गिरी, हरड़, सौंचलनमक और हींग; प्रत्येक समभाग में लेकर जल के साथ पीस कल्क बना लें। इस कल्क से चौगुना गाय का घी और उतना ही गाय का दूध मिला कर सबको एकत्र पका लें। जब घृतमात्र शेष रह जाय उसे उतार छान कर रख लें। यह घृत पान अथवा लेप द्वारा प्रयोग करने पर बालकों के गुल्म, आनाह, विलम्बिका (अजीर्णजन्य तीव्र घातक उदरशूल), कास, श्वास और गुदभ्रंश (काच निकलना) इन सब व्याधियों को निश्चय दूर करता है।

विशेष वचन—घृत पकाते समय सम्यक्पाकार्थ घृत से चार गुना अधिक जल भी डाल देना चाहिये। अन्यथा केवल दूध से औषधियों का संस्कार घृत में कम होगा ॥ १५६ ॥

राजीकुष्ठादिलेपः—

राजीकुष्ठनिशागेहधूमवत्सकतक्रतः।
लेपो विचर्चिकां सिध्म हन्ति पामां च वेगतः ॥१५७॥

राई, कुष्ठ, हल्दी, घर का धुआँ, कुटज की छाल; इन सबको समभाग में लेकर तक्र के साथ पीस कर लेप करने से, बालकों के विचर्चिका, सिध्म तथा पामा रोग शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ १५७ ॥

ग्रहघ्नी गुटिका—

राजीकरंजपुन्नाटशिरीषार्कनिशाद्वयम्।
प्रियङ्गुत्रिफलादारुहिङ्गुव्योषकुचन्दनम् ॥१५८॥
मञ्जिष्ठाजमूत्रं च गुटिका ग्रहनाशिनी।
पाननस्याञ्जनालेपस्नानोद्वर्तनधूपनात् ॥१५९॥

राईचूर्ण, करञ्जबीजमज्जाचूर्ण, चक्रमर्दबीजचूर्ण, शिरीषबीजचूर्ण, हरिद्राचूर्ण तथा दारुहरिद्राचूर्ण, फूलप्रियंगुचूर्ण, हरड़चूर्ण, बहेड़ाचूर्ण, आँवलाचूर्ण, देवदारुचूर्ण, हींग, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, कुचन्दन (पतंग) चूर्ण, मजीठचूर्ण, वचाचूर्ण; सबको समभाग में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। अब इसको बकरी के मूत्र में घोट कर गोलियाँ बना लें। यह गोली पान, नस्य, आँखों में अञ्जन, लेप, स्नान, उद्वर्तन (उबटना) तथा धूप के रूप में प्रयोग करने से बालकों की ग्रहबाधा को दूर करती है ॥

माहेश्वरधूमः—

श्रीवेष्टदारुबाह्लीकमुस्ताकटुकरोहिणी।
सर्षपा निम्बपत्राणि मदनस्य फलं वचा ॥ १६० ॥
बृहत्यौ सर्पनिर्मोककार्पासास्थियवास्तुषाः।
गोशृङ्गं खररोमाणि बर्हिपिच्छं विडालविट् ॥ १६१ ॥
छागरोम घृतं चेति बस्तमूत्रेण भावितम्।
एष माहेश्वरो धूपः सर्वग्रहनिवारणः ॥ १६२ ॥

गन्धबिरोजा, देवदारु, हींग, मुस्ता, कुटकी, सरसों या राई, नीम के पत्ते, मैनफल, वचा, बड़ी कटैली, छोटी कटैली, साँप की काँचली, बिनौला, जौ, या धान की भूसी, गाय का सींग, गधे के बाल, मोर का पंख, बिल्ली की बिष्ठा, बकरे के बाल, घी; इन सबको समभाग में लेकर कपड़छन चूर्ण करके या मोटा चूर्ण करके बकरे के मूत्र में सात भावना देकर सुखा लें। बालग्रहपीड़ित बालकों को इसकी धूनी दी जाती है। इसे 'माहेश्वरधूम' कहते हैं। इसके धूम से सब ग्रहविकार शान्त हो जाते हैं ॥१६०—१६२॥

छिन्नादितैलम्—

छिन्नाफणिज्झहंसांघ्रिभानुपत्ररसैः सह ।
सस्तन्यं साधितं तैलं लिप्तं सर्वग्रहार्तिजित् ॥ १६३ ॥

गिलोय, फणिज्झ (तुलसीभेद मरुआ), हंसपदी भानुपत्र (मदार के पत्ते), इनके स्वरस को पृथक् पृथक् तैल के समभाग लें, और तैल के बराबर भाग ही उसमें दूध मिला कर तैल सिद्ध कर लें। इस तैल की शरीर में मालिश करने से बालकों की सब ग्रहपीड़ायें शान्त होती हैं।

विशेष वचन—यदि तैल एक सेर हो तो गिलोय आदि प्रत्येक द्रव्य का स्वरस तथा एक एक सेर होना चाहिये। सम्यक्पाकार्थ इसमें एक सेर जल भी डालना चाहिये। 'भानुपत्ररसैः' के स्थान पर 'भानुपत्रीरसैः' पाठ होने से ईश्वरमूल नामक वृक्ष के पत्तों का रस लिया जाता है ॥ १६३ ॥

स्फूर्जकादितैलम्—

स्फूर्जकं हपुषापुष्पं हंसपादीं कुरण्टकम् ।
करंजार्कदलस्फूर्जश्वेतपुष्पं च कल्कितम् ॥
तेन संसाधितं तैलं तेनाऽभ्यङ्गं चरेच्छिशोः ॥१६४॥

तेंदू वृक्ष की जड़ की छाल, हाऊबेर के फूल, हंसपादी, पियाबांसा, करञ्जपत्र, आक के पत्ते, तेंदू के पत्ते, तुलसी के पत्ते अथवा सफेद कनेर की जड़; इनको समभाग में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क से चौगुना तिलतैल या सरसों का तैल और तैल से चौगुना जल लेकर तीनों को एकत्र करके तैल सिद्ध कर लें। इस तैल की मालिश करने से भी बालक की सब ग्रहपीड़ायें शान्त होती हैं ॥ १६४ ॥

निम्बादिघृतं क्षीरञ्च—

निम्बाश्वत्थपलाशानां बिल्वकिंशुकयोर्दलैः ।
सिद्धं सर्पिस्तथा तैलं पानाद्बालग्रहाञ्जयेत् ॥१६५॥

नीम के पत्ते, पीपलवृक्ष के पत्ते, ढाक के पत्ते, बेल के पत्ते, सेमल के पत्ते; सब को समभाग में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क से चौगुना घी और घी से चौगुना जल डालकर घी तय्यार कर लें। अथवा उक्त पत्तों के कल्क से गाय का दूध पका लें। इस घृत अथवा दूध के पीने से बालकों के ग्रहरोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—कई टीकाकार पलाश के दो बार प्रयोग को देख कर प्रकृत योग को दो भागों में विभक्त करते हैं। १. नीम, पीपल तथा ढाक के पत्तों के कल्क से घी बनाने को कहते हैं। २. बेल तथा ढाक के पत्तों के कल्क से दूध पका कर देने को कहते हैं ॥ १६५ ॥

शैलेयादिधूपः—

शैलेयगुग्गुलुरसैः सपुरप्रचण्ड-
द्रव्यापहृत्सरसकुन्दुरुभिः सकुष्ठैः ।
सध्यामकैः सुरभिगन्धरसैश्च धूपः
सौभाग्यबुद्धिजयकृद्विजयो विवादे ॥
देवासुरोरगपिशाचपितृ गृहेषु
गन्धर्वयक्षपिशिताशिषु च ग्रहेषु ।
जीर्णज्वरेषु विहितश्च विषातुरेषु
धूपोऽयमाजिविजयार्तिषु पार्थिवानाम् ॥

छारछरीला, गुग्गुलु, शिलारस, अगरु, सफेदकनेर, लाख, चोरकपुष्पी, तगर, मस्तगी, कुष्ठ, गन्धतृण, राल, बोल; सब औषधियों को समभाग में लेकर कूट करके रख लें। इसे 'शैलेयादिधूप' कहते हैं। यह वादविवाद में विजय दिलाने वाला, भाग्योदय, बुद्धिप्रद तथा जय दिलाने वाला धूप है। उन्माद आदि रोगों में देव, असुर, सर्प, पिशाच, पितृ ग्रहों तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस आदि ग्रहों के विकारों में इसको देने से ग्रहबाधा दूर हो जाती है। इसके अतिरिक्त इस धूप को जीर्णज्वर तथा विषरोग-पीड़ित मनुष्यों को भी सुंघाने से लाभ होता है और इससे राजाओं को रण में विजय प्राप्त होती है ॥ १६६—१६७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये बन्ध्या-गर्भिणी-सूतिका-बालरोग-चिकित्सा नाम द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः ।

अथोन्मादादिचिकित्सनम् ।

उन्मादस्य निदानसम्प्राप्ती—

आधिव्याधिकृशस्य दुर्बलतनोराहारतो वा भयात्
पूज्यातिक्रमणाद्विषादुपविषाद्वैवादसामर्थ्यतः ।
वैषम्यादपि कर्मणां हृदि मला बुद्धेर्विधायोल्वणं
कालुष्यं हतसौख्यदुःखमथनादुन्मादमातन्वते ॥१॥

किसी प्रकार की मानसिक पीड़ा तथा शारीरिक ज्वरादि व्याधि के कारण शरीर में कृशता होने तथा शरीर में दुर्बलता होने पर विरुद्धगुण दूषित तथा अशुद्ध सड़ा गला बासी भोजन करने से, अथवा निरन्तर या सहसा भय उपस्थित होने पर मानसिक

आघात हो जाने पर, अथवा देवता गुरु वृद्ध पितरों के अपमान करने पर, या तीव्र विष (संखिया आदि) तथा उपविष (भाँग धतूरा आदि) के सेवन करने पर, या कभी कभी प्रारब्ध कर्मों के दुर्विपाक से, अथवा अपनी सामर्थ्य से अधिक कार्य या साहस करने से, अथवा कर्मों के वैषम्य अर्थात् पञ्चकर्मों के विपरीत प्रयोग से या विपरीत चेष्टाओं से हृदय में वातादि दोषों का प्रकोप हो जाता है। जिससे वे बुद्धि में विशेष कलुषता (विकृति) या परिवर्तन पैदा करते हुये, स्वार्थ-परार्थ-ज्ञान रहित अथवा सुख दुःख ज्ञान रहित अवस्थायुक्त उन्माद रोग को पैदा कर देते हैं।

विशेष वचन—उन्माद रोग प्रायः वातिक शक्ति के विकृत होने से उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति में शोक, क्षोभ, भय, अल्पाहार तथा विषैला आहार, शुक्र का नाश विशेष कारण माने जाते हैं। पढ़ने-लिखने के कार्यों में ही अधिक व्यग्र रहना और भोजन व्यायाम आदि स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना करना भी इसका कारण माना जाता है। कई वार यह किसी रोग में प्रलापोपद्रव रूप में स्थायी होता देखा गया है। दुर्बल माता तथा मानसिकरोगग्रस्त और मद्यपायी माता-पिता भी इसकी प्रवृत्ति का कारण होते हैं। धतूरा भाँग गाँजा आदि विषों के सेवन से कई उन्माद रोग के शिकार हो जाते हैं। अधिक हस्तमैथुन करने वाले भी वातिक दुर्बलता के कारण उन्मादी हो जाते हैं।

उपविषात्—"लांगली विषमुष्टिश्च करवीरो जयास्तथा। नीलकः कनकोऽर्कश्च वर्गो ह्युपविषात्मकः ॥" इनको अथवा "अर्कसेहुण्डधत्तूरलांगलीकरवीरकाः। गुञ्जाहिफेनावित्येताः सप्तोपविषजातयः ॥" उपविष माना जाता है। भयात्—भय तथा हर्ष के कारण सहसा मानसिक क्षेत्र में उत्तेजना होने के कारण मनुष्य अपनी विचारधाराओं को नियमित करने में असमर्थ हो जाता है तो उन्माद रोग हो जाता है। सुश्रुत में इन सब कारणों को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार बताया है—"विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्। उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः" ॥ १ ॥

उन्मादलक्षणम्—

सञ्जल्पको धावति हन्ति चैत-
दुन्मादवातस्य च लक्ष्म बोध्यम् ॥२॥

उन्माद वाले रोगी का यह चिह्न है कि वह व्यर्थ बकवास करता रहता है तथा इधर उधर दौड़ता या फिरता रहता है। कभी अपने को और कभी दूसरों को मारने लगता है।

विशेष वचन—यह उन्माद का भयंकर रूप है। साधारण उन्माद अवस्था में वह कुछ क्षण के लिये उत्तेजित होकर कुछ कहता है परन्तु क्षण भर में शान्त हो जाता है। सुश्रुत में उन्माद का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"धीविभ्रमः सत्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च। अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिंगम् ॥" अतः उन्माद उस अवस्था का नाम है जिसमें मनुष्य को निज हानि-लाभ का देश-काल और स्थिति आदि का ज्ञान न रहे और शारीरिक तथा मानसिक क्रियाएँ असंगत हो जायँ ॥ २ ॥

अर्कमूर्तिरसस्य प्रयोगविधिः—

अत्रार्कमूर्त्याख्यरसस्य वल्लं धत्तूरबीजेन समं प्रदद्यात्।
मरीचचूर्णेन घृतेन वापि पथ्यं च गुर्वन्नमिह प्रशस्तम् ॥
शुष्कं च शाकं परिवर्जयीत रूक्षं कषायं बहु शीतलं च।
निम्बस्य तैलेन विमर्दयेत कलेवरं क्षपयति तेन रोगः ॥

उन्माद रोग में तन्त्रान्तरोक्त अर्कमूर्तिरस दो रत्ती मात्रा में लेकर उसमें धत्तूरबीजचूर्ण मिला कर प्रतिदिन सेवन कराना चाहिये। अथवा उक्त रस में समभाग मरिचचूर्ण मिला घृत के साथ सेवन कराना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में रोगी को पोषक, गुरुपाकी अन्न पथ्य के रूप में देने चाहिये। परन्तु सुखाये हुए शाक, रूक्षगुण तथा कषायरस भोजन तथा अत्यधिक शीतल भोजनों का सेवन नहीं कराना चाहिये। साथ ही इस योग के सेवनकाल में रोगी के शरीर में प्रतिदिन निम्बबीजमज्जा के तैल का दिन में दो वार अभ्यंग भी करना चाहिये। इससे उन्मादरोग की शान्ति हो जाती है।

विशेष वचन—अर्कमूर्तिरस की आधुनिक मात्रा १ रत्ती, धत्तूरबीजचूर्ण ½ रत्ती। अर्कमूर्तिरस तन्त्रान्तर में सन्निपातज्वर में दिया जाता है। इसका पाठ इस प्रकार पाया जाता है—"लौहाष्टकं मारितमर्कभागं सूतं द्विभागं द्विगुणञ्च गन्धम्। विमर्दयेत् वह्निरसेन तापे दिनत्रयञ्चात्र विषं कलांशम् ॥ विक्षिप्य पित्तैः परिभावितोऽयं रसोऽर्कमूर्तिर्भवति त्रिदोषे" ॥ ३-४ ॥

निर्गुण्डिकादितैलम्—

निर्गुण्डिकोन्मत्तकतुम्बिनीनां रसैस्तु तैलं परिपाचयीत।
कलेवरं तेन विलेपयेत मासार्द्धतः शान्तिमुपैति रोगः ॥५॥

सिम्भालू, धत्तूरा तथा कड़वी तुम्बी के स्वरस में स्नेहसाधन विधि से तैल पका कर इसको शरीर में प्रतिदिम मालिश करने पर पन्द्रह दिन में उन्माद रोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—यह कल्करहित तैल है। परन्तु तैल की शक्ति को बढ़ाने के लिये यहाँ सिम्भालू, धत्तूर तथा तुम्बी के रस को पृथक् तैल से चौगुना लेना अच्छा है। अतः एक सेर तैल में उक्त प्रत्येक द्रव्य का स्वरस चार चार सेर डाल कर तैल पकाना चाहिये ॥ ५ ॥

माहेश्वरो धूपः—

कार्पासास्थिमयूरपिच्छबृहतीनिर्माल्यपिण्डीतक-
त्वङ्मांसीवृषदंशविट्तुषवचाकेशाहिनिर्मोककैः ।
नागेन्द्रद्विजशृङ्गहिंगुमरिचैस्तुल्यैस्तु धूपः कृतः
स्कन्दोन्मादपिशाचराक्षससुरावेशग्रहघ्नः परम् ॥६॥

बिनौले, मोर के पंख, बड़ी कटैली, शिवनिर्माल्य, मैनफल, दालचीनी, जटामांसी, बिल्ली की विष्ठा, भूसी (धान या जौ की), बच, भूतकेशी, साँप की काँचली, हाथी के दाँत का चूर्ण, गाय के सींग का चूर्ण, हींग, कालीमिरच; प्रत्येक द्रव्य को समभाग में लेकर जौकुट करके धूप (हवनसामग्री) तय्यार कर लें । इस धूप की धूनी देने से स्कन्दग्रह, उन्मादरोग, पिशाच, राक्षस, असुर और देवताओं का आवेश तथा सम्पूर्ण ग्रहों की बाधा शीघ्र नष्ट होती है । यह धूप ग्रहबाधा को दूर करने में परमोपयोगी है ॥६॥

अपस्मारस्य सम्प्राप्तिलक्षणे—

क्रुद्धैर्धातुभिराहते च मनसि प्राणी तमः संविशन्
दन्तान् खादति फेनमुद्गिरति दोःपादौ क्षिपन्मूढधीः ।
पश्यन् रूपमसल्लिक्षितौ निपतति प्रायः करोति क्रिया
बीभत्साः स्वयमेव शाम्यति गते वेगे त्वपस्माररुक् ॥

विविध प्रकार के मिथ्याहार-विहार के कारण वात, पित्त तथा कफ, तीनों दोष कुपित होकर जब मन को आघातित करते हैं अर्थात् दोषों के प्रकोप से जब मानसिक गति क्षेत्र में विकार आता है तो प्राणी के सामने सहसा अंधेरा आ जाता है जिससे वह वहीं गिर पड़ता है और उसके दाँत मिच जाते हैं, मुख से झाग निकलने लगता है । वह अपने हाथ पैरों को जमीन में मारने लगता है और उसे कोई होश नहीं रहता है । जमीन में गिरने से पूर्व रोगी विविध प्रकार के कल्पित रूपों को देखता है । गिरने पर रोगी अनेक भयानक क्रिया करता हुआ दिखाई देता है । अर्थात् उसकी आखें चढ़ जाती हैं, भौंहे ऊपर को तन जाती हैं, पुतली फिर जाती है । श्वास तीव्र हो जाता है । हाथ-पैर ऐंठने लगते हैं । जब दोषों का प्रकोप शान्त हो जाता है तो रोग का वेग (दौरा) स्वयं ही शान्त हो जाता है । इस प्रकार की व्याधि को अपस्मार कहते हैं ॥ ७ ॥

अथ अपस्मार चिकित्सा ।

अपस्मारनाशनो रसः—

रसगन्धशिलातुत्थकान्तहेमाब्धिफेनकम् ।
रजनीतेजनीबीजं कर्षमात्रं पृथक् पृथक् ॥ ८ ॥
निम्बुद्रवाद्र्ं तेतान्तर्लिप्तां ताम्रपलोन्मिताम् ।
पात्रीं न्युब्जां सुभाण्डान्तां रुद्ध्वा खर्परिकां धृताम् ॥
भस्मनाऽऽपूर्य भाण्डान्तर्धृत्वाऽधो द्विनिशं पचेत् ।
स्वांगशीतं विचूर्ण्याथ रसोऽपस्मारनाशनः ॥ १० ॥
वल्लमस्योदये दद्याद्वचाव्योषविडंगयुक् ।
अनुदेयमजामूत्रं ततोऽर्धप्रहरे गते ॥ ११ ॥
सार्षपे षोडशपले तैले तल्लेपितां पचेत् ।
नस्यं तैलेन तेनास्य दद्यात्सव्योषकेण तु ॥ १२ ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, शुद्ध तूतियाभस्म, कान्तलोहभस्म, सुवर्णभस्म, समुद्रफेन, हरिद्राचूर्ण, मालकांगनी के बीज का चूर्ण; प्रत्येक द्रव्य एक एक कर्ष लें । पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें । फिर इसमें अन्य द्रव्यों के चूर्ण मिला कागजी नींबू के रस से घोट कर गाढ़ा-सा कल्क बना लें । इस कल्क को एक पल शुद्ध नैपाली ताँबे की पतली कटोरी के भीतर लेप करके सुखा लें । अब एक हाँडी के भीतर इस कल्कलिप्त कटोरी को औंधामुख करके रख दें और इसके ऊपर एक और मिट्टी के शकोरे को औंधामुख करके ढक दें । शकोरे की सन्धि को गुड़ चूने से लेप करके शराव के ऊपर हाँडी में दबा कर राख भर दें और हाँडी के मुख पर एक शराव का ढक्कन देकर सन्धिलेप कर दें । हाँडी को चूल्हे पर चढ़ा कर दो दिन और दो रात तक मन्द मन्द अग्नि से पकावें । स्वांगशीतल ताम्रपात्री सहित औषधि को पीस कर रख लें । इसे 'अपस्मारनाशन रस' कहते हैं । इसको प्रतिदिन प्रातःकाल एक वल्ल मात्रा में लेकर बच, त्रिकटु और वायविडंग के चूर्ण के साथ मिला कर प्रतिदिन सेवन करावें । औषधि सेवन करने के आधा प्रहर (१½ घण्टे) के बाद रोगी को बकरी का मूत्र अनुपान के रूप में पिलावें । इसके साथ ही वचा, त्रिकटु तथा वायविडंग का कल्क चार पल, सरसों का तैल सोलह पल, जल चौंसठ पल; सब को एकत्र मिला कर तैल सिद्ध कर लें । इस तैल में त्रिकटुचूर्ण मिला कर रोगी को नस्य भी देना चाहिये ।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा रस की ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक । इस रस में यदि एक बार पाक करने से ताम्र की शुद्ध भस्म न हो तो दुबारा या तिबारा उसी विधि से पुनः पाक करना चाहिये । इस रस को सेवन कर अजामूत्र का अनुपान उसी समय पिलाना चाहिये । फिर १½ घण्टे बाद उक्त तैल की नस्य लेनी चाहिये । 'तल्लेपितां' के स्थान पर कहीं कहीं 'धुस्तूरकम्' पाठ मिलता है । परन्तु इससे भी उत्तम 'तत्कल्कितं पचेत्' पाठ है । लेपितां शब्द का किसी के साथ सम्बन्ध न होने से यह पाठ रुचिकर नहीं है ॥ ८—१२ ॥

धत्तूरपञ्चांगघृतम्—

कृष्णधुस्तूरपञ्चांगं कृष्णगोनवनीतकम् ।
षड्गुणं नवनीतात्तु माषक्वाथं चतुर्गुणम् ॥ १३ ॥

लिप्त्वा पचेद् घृतं तत्तु पथ्यं शाकोदनादिषु।
शाकेषु काकमाची स्याद् भोजने कृष्णगोपयः ॥१४॥

काले धतूरे के पञ्चांग (पत्र, पुष्प, फल, मूल, काण्ड) को लेकर जल के साथ पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क से छः गुना अधिक काली गाय का मक्खन और मक्खन से चौगुना उड़दों का कषाय लेकर तीनों को एकत्र पात्र में पका लें। घृतमात्र शेष रहने पर उसे उतार छान कर रख लें। इस घृत को अपस्मार रोगी के शाक, दाल, भात आदि भोज्य पदार्थों में डाल कर प्रयोग करना चाहिये। अपस्मार रोगी के लिये शाकों में मकोय का शाक और भोजन में काली गाय का दूध सर्वोत्तम पथ्य है ॥१३-१४॥

चूर्णाञ्जनम्—

शतधा मरिचं चूर्णं कूष्माण्डीपुष्पभावितम्।
कुर्यात्तेनैव चूर्णेन रात्रावञ्जनमाचरेत् ॥ १५ ॥
एवं नित्यं कृते याति तृतीयदिवसे ध्रुवम्।
अपस्मारस्तथा मासं सेव्यमेतन्महौषधम् ॥ १६ ॥

कालीमिर्चों के चूर्ण को पेठे के फूलों के रस में सौ बार भावना देकर अंजन तय्यार कर लें। इस अंजन को प्रतिदिन रात्रि के समय नेत्रों में लगाना चाहिये। इस प्रकार तीन दिन तक इस अंजन के लगाने से अपस्मार वेग ढीला पड़ जाता है। इस औषधि को एक मास तक अन्तःप्रयोग के रूप में सेवन करने तथा आँखों में अंजन करने से अपस्मार रोग शान्त हो जाता है।

मसीप्रयोगः—

उद्बद्धमानवगलव्यतिषक्तमग्नौ
रज्जुं विदह्य निपुणेन कृता मसी या।
सा शीतलेन सलिलेन समं निपीता
पुंसामपस्मृतिविनाशकरी प्रसिद्धा ॥ १७ ॥

फाँसी खाकर मरे हुये मनुष्य के गले में बँधी हुई रस्सी को खोल उसको अच्छी तरह जला कर उसकी राख या कोयला कर लें। इस मसी को जल के साथ घोल कर कुछ दिन पीने से अपस्मार रोग नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥

तिलजदीपाञ्जनम्—

कृष्णं श्वानं स्थितमनशनं स्थापयित्वा विरेकं
पश्चाद्दध्नाऽसिततिलयुतं भोजनं भोजयित्वा।
तद्ग्रीवोत्थासिततिलजदीपाञ्जनं लोचनस्थं
चापस्मारं हरति विधृतं नैम्बसारे शरावे ॥ १८ ॥

एक काले वर्ण के कुत्ते को पहिले दिन कुछ न देकर लंघन करावें। फिर दूसरे दिन उसे काले तिल और दही मिला कर भर पेट भोजन करावें। और एक घण्टे बाद वामक औषधि देकर बमन के द्वारा भुक्त तिलों को निकाल लें। फिर इन तिलों को कोल्हू में पीस कर तैल निकलवा लें। अब इस तैल में बत्ती भिगो कर उसकी ज्वाला से काजल एकत्र कर लें। अर्थात् नीचे उक्त तिल तैल का दीपक जला कर उसकी शिखा पर एक नीम की लकड़ी का कटोरा औंधामुख रख दें। इस कटोरे में काजल इकट्ठा हो जायगा। इस काजल को प्रतिदिन आँखों में लगाने से अपस्मार रोग दूर हो जाता है।

विशेष वचन—विरेक शब्द से यहाँ पर वमन लिया गया है। ऐसी अवस्था में विरेक शब्द की व्युत्पत्ति 'विरिच्यते दोषोऽनेनेति' इस प्रकार की जाती है। 'स्थापयित्वा' के स्थान पर 'कारयित्वा' पाठान्तर मिलता है ॥ १८ ॥

चण्डभैरवो रसः—

हेम्ना शुद्धेन संपिष्टं दशमांशरसं विषम्।
स्रोतोजं मर्दितं तोयैः शूलिनीदेवदालिजैः ॥
गन्धकस्य पचेत्तैले वटिकोन्मादनाशिनी ॥ १९ ॥

स्वर्णभस्म एक भाग, शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण १⁄१० भाग, रसौंतचूर्ण १⁄१० भाग, रससिन्दूर एक भाग की अपेक्षा दसवाँ भाग लें। अब सबको एकत्र खरल में डाल कर शूलिनी (पान के पत्ते) तथा वन्दाल के स्वरस में पृथक् २ सात भावना देकर गन्धकैतल में मिला मन्द अग्नि में पका लें। गोली बनाकर प्रयोग करें। यह वटी उन्माद रोग को नष्ट करती है।

विशेष वचन–मात्रा १⁄४ रत्तीसे १⁄२ रत्ती। रसरत्नाकरोक्त चण्ड-भैरव रस में विष को स्वर्णभस्म के चौथाई भाग लिया गया है। स्रोतोञ्जन के स्थान पर शोभाञ्जन (सुहाँजना), 'शूलिनी' के स्थान पर 'त्रिशूली' का ग्रहण किया गया है। "हेमपादं मृतं सूतं निष्खल्लले, विमर्दयेत्। 'शोभाञ्जनं विषं तुल्यं मर्द्यञ्च त्रिशूलीद्रवैः। देवदाल्या द्रवैश्चाह्नि तद्गोलं पाचयेद्दिनम्। गन्धकोत्थेन तैलेन तत उद्धृत्य चूर्णयेत्॥ मासैकं भक्षयेन्नित्यं पिबेद् ब्राह्मीघृतं ह्यनु। सर्वभूग्रहं हन्ति रसोऽयं चण्डभैरवः" ॥ भैषज्यरत्नावली के अपस्मार-प्रकरण में लिखा हुआ चण्डभैरव रस इस प्रकार मिलता है—रससिन्दूर, ताम्रभस्म, लोहभस्म, शुद्ध हरताल, शुद्ध गन्धक, शुद्ध मैनसिल, रसौंत; इन्हें समभाग में लेकर गोमूत्र से मर्दन करें। पुनः इसे दुगुनी शुद्ध गन्धक से मिश्रित कर लोह के पात्र में कुछ देर पाक करें। मात्रा १ रत्ती। अनुपान हींग १ रत्ती, काला नमक १ रत्ती, कुठ २ रत्ती; इस चूर्ण को गोमूत्र तथा घृत के साथ मिला कर खिलावें ॥ १९ ॥

नवांगवटिका—

त्रिलोहपिष्टस्रोतोजसृष्टित्रययुतं रसम्।
भक्षयेत् पूर्ववत् सिद्धमपस्मारप्रणुत्तये ॥ २० ॥

स्वर्णभस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म, स्रोतोञ्जनचूर्ण (रसौंत), सृष्टिचूर्ण (ऋद्धि), त्रयचूर्ण (बावची), रस (रससिन्दूर);

प्रत्येक समभाग में लेकर शूलिनी और देवदालीस्वरस में पृथक् पृथक् सात भावना देकर गन्धकतैल में डाल कर कुछ देर पका लें। पश्चात् इसकी गुटिका बना लें। यह गुटिका अपस्मार को शान्त करने में गुण रखती है।

विशेष वचन—"मर्दयेत् पूर्ववत् सिद्धं अपस्मारप्रणुत्तये।' के स्थान पर 'गन्धतैलसुसिद्धं तदपस्मारहरं परम्।' ऐसा पाठ है। कई वैद्य पिष्ट शब्द से सीसे की भस्म लेने को कहते हैं॥ २०॥

सूतकप्रत्ययः—

तथैव पर्पटीसूतं ब्राह्मीरसविमिश्रितम्।
सूतकः प्रत्ययाख्योऽसौ उन्मादापस्मृती हरेत्॥ २१॥

पूर्वोक्त पर्पटी रस तथा पारदभस्म को समभाग में लेकर उचित मात्रा में ब्राह्मीस्वरस के साथ मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से उन्माद और अपस्मार दोनों रोग दूर होते हैं। इसे 'सूतकप्रत्यय' रस कहते हैं।

विशेष वचन-तन्त्रान्तर में इससे मिलता जुलता सूतभस्म प्रयोग है-यथा "शंखपुष्पी वचा ब्राह्मी कुष्ठकैलारसैः सह। सूतभस्म-प्रयोगोऽयं रक्तिकाद्वयमानतः॥ सर्वापस्मारनाशाय महादेवेन भाषितः"॥ २१॥

पर्पटीरसप्रयोगविधिः—

पर्पटीरसगुञ्जाष्टौ नाकुलीबीजपंचकम्।
गोघृतेन तु संयोज्य खादेदुन्मादशान्तये॥
सघृतं माषमण्डं च पाययेद्घृतदुग्धकम्॥ २२॥

पर्पटीरस आठ रत्ती तथा नाकुली के बीज संख्या में पाँच; इन्हें एकत्र पीस कर गौ के घी (पुराने) के साथ मिला कर उन्माद रोग की शान्ति के लिये देना चाहिये। इस रस के प्रयोग-काल में रोगी को घृत से छौंका हुआ उड़दों का यूष देना चाहिये और दूध तथा घी मिला कर पिलाना चाहिये।

विशेष वचन-'नाकुलीबीजपञ्चकम्' के स्थान पर 'धत्तूराद्बीज-पञ्चकम्' पाठ ही योग्य है। तन्त्रान्तर में इस योग को 'उन्मादपर्पटी' रस के नाम से लिखा है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि "कृष्णधत्तूरजैः बीजैः पञ्चभिः पर्पटीरसः। संप्रयोज्यः प्रशमयेदुन्मादं भूतसम्भवम्॥ अर्थात् शुद्ध काले धत्तूरे के पाँच बीज, रसपर्पटी के साथ मिला कर खाने से भूतोन्माद रोग दूर होता है॥ २२॥

अपस्मारे पर्पटीरसप्रयोगः—

पर्पटीरसगुंजाष्टौ ब्राह्मीरससमन्वितम्।
खादयेद्रोगिणं वैद्यो ह्यपस्मारप्रणुत्तये॥२३॥

रसपर्पटी आठ रत्ती को ब्राह्मीरस के साथ घोट कर अपस्मार रोगी को कुछ दिन खिलाने से अपस्मार रोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—रसपर्पटी की ८ रत्ती की मात्रा अत्यधिक होती है। अतः १ रत्ती से २ रत्ती तक इसकी मात्रा देनी चाहिये। यहाँ पर तन्त्रान्तरोक्त यह "पर्पटीरसगुञ्जे द्वे ब्राह्मीरस-समन्विते।" पाठान्तर ही उचित है॥ २३॥

सर्वेश्वरो रसः—

रसं नारंगमूलं च दन्ती पाठा पृथक् पृथक्।
पलमेकं फेनफलमर्कमूलं तथैव च॥२४॥
पलं शशविषाणं च त्रिफला च पलत्रयम्।
एतेषां क्वाथसंयुक्तं दिनानि त्रीणि मर्दयेत्॥२५॥
अम्लवेतससंयुक्तमर्कक्षीररसमन्वितम्।
पंचपंचदिने तद्वदमरीरससंयुतम्॥२६॥
त्रिरुक्तदिवसं तद्वन्मर्दयेत्सिद्धमौषधम्।
पिष्टं चित्रकनिष्क्वाथे वल्लत्रयनिषेवितम्॥
उन्मादापस्मृती हन्यादेष सर्वेश्वरो रसः॥२७॥

रस (पारदभस्म या रससिन्दूर), नारंगी की जड़ की छाल का चूर्ण, जमाल गोटे की जड़ की छाल का चूर्ण, पाढ़चूर्ण, पोस्तबीजचूर्ण, (पोस्त का डोडा) आक की जड़ की छाल का चूर्ण, मृगशृंगभस्म; प्रत्येक एक एक पल, त्रिफलाचूर्ण, तीन पल लें। रससिन्दूर और मृगशृंगभस्म को छोड़ कर अन्य औषधियों का कषाय बना कर इससे रससिन्दूर तथा शृंगभस्म को तीन दिन तक मर्दन करें। फिर इसको अम्लवेत के कषाय में तीन दिन मर्दन करें। फिर तीन दिन तक आक के दूध के साथ मर्दन करें। फिर पाँचवें दिन अमरी (नीले फूल की सिम्भालू, नीलदूर्वा या तुलसी) के स्वरस से मर्दन करें। अर्थात् प्रथम तीन दिन नारंगी की जड़ आदि के कषाय में मर्दन कर चौथे दिन सुखा लें। फिर पाँचवें दिन अमरीस्वरस के साथ मर्दन करें। इसमें तीन दिन मर्दन करके चौथे दिन सुखा पाँचवें दिन अम्लवेत के कषाय से मर्दन करें। फिर तीन दिन मर्दन कर चौथे दिन सुखा कर पाँच दिन अर्कक्षीर से तीन दिन मर्दन करें। फिर तीन दिन के बाद तीन दिन चित्रक के कषाय में मर्दन करें। इस प्रकार इक्कीस दिन उक्त द्रव्यों के कषाय या स्वरस के साथ मर्दन कर सुखा लेने पर यह रस सिद्ध हो जाता है। इसमें से प्रतिदिन तीन वल्ल मात्रा में सेवन करने से उन्माद तथा अपस्मार रोग शान्त हो जाते हैं। इसे 'सर्वेश्वररस' कहते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। 'फेनफलम्' के स्थान पर 'फेनपलम्' पाठ होने पर अफीम एक पल लेनी चाहिये। 'शशविषाणम्' के स्थान पर 'मृगविषाणं' पाठान्तर है। 'चित्रकनिष्क्वाथे' के स्थान पर 'त्रिकटुकक्वाथैः' पाठान्तर भी मिलता है। प्रकृत रस में कोई वैद्य पारद आदि दस द्रव्यों के चूर्ण को नारंगी की जड़ आदि द्रव्यों के कषाय से भावना देने को कहते हैं।

नेत्ररोगाणां संख्या—

कृष्णे पंच नवैव सन्धिषु दश त्रीण्येव शुक्लेऽखिले
जाताः षोडशवर्त्मजाः खलु चतुर्विंशो दृशोर्विंशतिः।
सप्तातंकयुताश्चतुर्नवतिरित्यक्ष्णोरशेषामयान्
यो वेत्ति व्यपहर्तुमेष विदुषामग्रे समर्थो भवेत् ॥२८॥

नेत्र के कृष्णमण्डल में ५ रोग होते हैं। नेत्र की सन्धियों में ६ रोग, नेत्र के सम्पूर्ण श्वेतमण्डल में १३ रोग, नेत्र के पलकों के १६, दृष्टि के २४ और सर्वनेत्र भाग में २७। इस प्रकार सब मिला कर नेत्रों के ९४ रोग होते हैं। इन सम्पूर्ण नेत्ररोगों को जो वैद्य अच्छी तरह जानता है। वही उक्त रोगों को नाश करने में समर्थ होता है और उसी की नेत्रचिकित्सकों में सर्वप्रथम गणना होती है।

विशेष वचन—सुश्रुत में नेत्ररोगों की संख्या ७६ मानी गई है—"तैस्त्रिभिस्त्रिंशदुक्तास्ते कर्णेनाभ्यधिकास्त्रयः। रक्तजाः षोडश प्रोक्ताः सर्वजाः पञ्चविंशतिः॥ बाह्यौ पुनर्द्वौ च तथा रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः। नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः॥ शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः। सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु॥ द्वौ च बाह्याश्रयावन्यावनिमित्तनिमित्तजौ। षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाणां संक्षेपेण प्रकीर्तिता॥"

प्रकृत ग्रन्थोक्त तथा सुश्रुतोक्त रोगगणना में यद्यपि मतभेद दिखाई देता है परन्तु वह विशेष चिन्तनीय नहीं है। रोगों के विषय में इस प्रकार चरक, सुश्रुत आदि में मतभेद देखा जाता ही है। सुश्रुत ने संक्षेपतः प्रधान प्रधान रोगों की संख्या लिखी है किन्तु प्रकृत ग्रन्थ में कुछ अविशेष रोगों के साथ प्रधान रोगों को लिया गया है। इस तरह यहाँ मतभेद दिखाई देता है ॥२८॥

नेत्ररोगचिकित्सा—

शिलया निहतं नागं रसराजप्रपेषितम्।
द्विगुणं तुत्थमीषञ्च कर्पूरं द्रोणपुष्पजैः॥
रसैर्विमर्दयेद्वर्त्तिरेषाऽभिष्यंदनाशिनी ॥२९॥

मैनसिल द्वारा भस्म की हुई नागभस्म एक भाग, शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध तूतिया दो भाग, कर्पूर (चौथाई भाग) लेकर सब को एकत्र मिला कर खरल में द्रोणपुष्पी के पुष्पों के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन करके बत्ती बना लें। इन बत्तियों को छाया में सुखा कर रख लें। यह बत्ती जल के साथ घिस कर नेत्रों में लगाने से नेत्राभिष्यन्द (आँखों का दुखना) रोग को दूर करती है ॥ २९ ॥

वाताभिष्यन्दे इन्द्वादिवर्त्तिः—

कार्पासरसपिष्टेन्दुमधुशुल्वरसाञ्जनम्।
वाताभिष्यन्दजे ताम्रे तिलपर्ण्यम्बुमर्दितम् ॥३०॥

कर्पूर, ताम्रभस्म, शुद्ध रसौत तथा शुद्ध मधु; इनको समभाग में लेकर ताम्रपात्र में या खरल में डाल कर कपास की जड़ की छाल के स्वरस तथा लालचन्दन के कषाय के साथ मर्दन करके वर्त्ति बना लें। इस वर्त्ति को पानी में घिस कर नेत्रों में लगाने से वाताभिष्यन्द दूर होता है।

विशेष वचन—कोई पिष्ट शब्द से सीसा लेते हैं। तब कार्पास आदि सब को समभाग में लेकर ताम्रपात्र में तिलपर्णीकषाय में मर्दन कर वर्त्ती बना लें ॥ ३० ॥

श्लेष्माभिष्यन्दे शुल्वादिवर्त्तिः—

शुल्वजीमूतलोहं च सीसं च समभागिकम्।
द्विगुणं नाञ्जनं जातीतिलपर्णीमयूरजैः॥
पिष्टं निर्घृष्टदध्न्यर्के श्लेष्माभिष्यन्दनाशनम् ॥३१॥

ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म, लोहभस्म, नागभस्म; प्रत्येक एक एक भाग, शुद्ध काला सुरमा दो भाग लें। सब को एकत्र खरल में मिला कर चमेलीपत्ररस, चन्दनकषाय, अपामार्गमूलस्वरस के साथ पृथक् पृथक् मर्दन करके बत्ती बना लें। इस बत्ती को ताम्र के पात्र में दही के साथ घिस कर नेत्रों में लगाने से कफप्रकोपजन्य नेत्राभिष्यन्द रोग दूर होता है।

विशेष वचन—'निघृष्टदध्न्यर्के' के स्थान पर 'निघृष्टं दध्नार्के' पाठान्तर है ॥ ३१ ॥

त्रिदोषाभिष्यन्दे रसेन्द्रादिवर्त्तिः—

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ ताभ्यां द्विगुणमञ्जनम्।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तं दशमांशं च सर्जकम् ॥३२॥
बलानागबलाजाजीरसैस्ताम्रे दिनत्रयम्।
मर्दितं स्यादभिष्यन्दे सन्निपातात्मके हितम् ॥३३॥

शुद्ध पारद एक भाग, सीसाभस्म एक भाग, शुद्ध काला सुरमा दो भाग, कर्पूर चौथाई भाग, राल दसवाँ भाग (एक भाग की अपेक्षा); लेकर सब को एकत्र तांबे के खरल में बला, नागबला, सफेद जीरा के कषाय या स्वरस में पृथक् पृथक् तीन दिन तक मर्दन करके बत्ती बना कर छाया में सुखा लें। इस बत्ती को जल में घिस कर नेत्रों में लगाने से सान्निपातिक अभिष्यन्द रोग दूर होता है ॥ ३२–३३ ॥

पित्ताभिष्यन्दे तीक्ष्णादिवर्त्तिः—

चूर्णं तीक्ष्णस्य ताम्रस्य रसेन्द्रसमचारितम्।
रसाञ्जनं च द्विगुणं वर्षाभूरसमर्दितम्॥
शर्करामाक्षिकोपेतं पित्ताभिष्यन्दसूदनम् ॥३४॥

तीक्ष्णलोहभस्म, ताम्रभस्म एक एक भाग, शुद्ध पारद दो भाग, शुद्ध रसौत दो भाग लेकर सब को एकत्र खरल में मिला कर पुनर्नवास्वरस के साथ मर्दन करके वर्त्ति को खाँड और मधु के साथ घिस कर आँखों में लगाने से पित्ताभिष्यन्द रोग दूर होता है ॥ ३४ ॥

पित्ताभिष्यन्दे नागादिवर्त्तिः—

नागपारदधात्रीन्दुरत्नाज्यकणसैन्धवम् ।
रसाञ्जनं कणाक्षौद्रं ताम्बूलीपत्रवारिणा ॥
ताम्रेण मर्दितं कांस्ये पित्ताभिष्यन्दमन्थनुत् ॥३५॥

सीसाभस्म, शुद्ध पारद, आमलकीचूर्ण, कपूर, मुक्ता, घृत, पिप्पली, सैंधानमक, शुद्ध रसोंत तथा मधु; सब को समभाग में लेकर कांसे के पात्र में डाल कर पान के पत्तों का रस डाल कर ताम्बे की मुसली से अच्छी तरह मर्दन करके वर्त्ति बना लें। इसको आँखों में लगाने से भी पित्तनेत्राभिष्यन्द रोग तथा पित्ताधिमन्थ रोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—जहाँ सीसा और पारद हो वहाँ नागभस्म लेकर शुद्ध सीसक को पिघला कर उसमें पारद को डाल कर कोमल पिष्टी बना कर भी बत्ती बना ली जाती है। यहाँ कणा दो बार आने से उसको द्विगुण मात्रा में ले लेना चाहिये ॥३५॥

ताम्रादिवर्त्तिः—

ताम्राऽहितताररसपीतकरोहिणीन्दु-
शौण्डीरसाञ्जननदीजपुराणकांस्यैः ।
वर्त्तिः कृता सकलसंमितहंसपादी-
मूलैर्निहन्ति नयनामयजालमाशु ॥३६॥

ताम्रभस्म, नागभस्म, रजतभस्म, शुद्ध पारद, पीली लोध्र, कटुकी, कपूर, पिप्पली, शुद्ध रसौंत, क्षुद्रशंख, कांसे की भस्म; सब को समभाग में लेकर खरल में मिला कर हंसपादीमूलस्वरस के साथ घोंट कर वर्त्ति बना लें। इस वर्त्ति को जल में घिस कर आँखों में लगाने से सम्पूर्ण नेत्ररोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में इस वर्त्ति को 'तारकादिवटिका' के नाम से लिखा है। परन्तु वहाँ 'पीतकरोहिणी' तथा 'शौण्डी' यह पाठ नहीं मिलता है। हाँ, खर्पर अधिक लिखा है, जैसे "तारं ताम्रं रसं सीसं कर्पूरं खर्परं तथा। रसाञ्जनं कांस्यशंखं हंसपाद्यद्रवैर्दिनम्। वर्तिं कृत्वाऽञ्जनाद्धन्ति समस्तं नेत्रजामयम्" ॥

पारदादिवर्त्तिः—

पारदनागरसाञ्जनसमानदृढशिम्बिमूलकं सरजम् ।
सप्तदिनं चिंचादलरसपिष्टं ताम्रपात्रपर्युषितम् ॥३७॥
वर्त्तिरनातपशुष्काऽधिमन्थतिमिरार्मपिल्लशुक्रघ्नी ॥

शुद्ध पारद, शुद्ध नाग, रसौंत, लोहभस्म, सेम की जड़ की छाल; शुद्ध गन्धक; प्रत्येक समभाग लें। पहिले सीसे को गला कर उसमें पारद मिला कर खरल में घोंट कर पिष्टी बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर इमली के पत्तों के रस से घोंट कर ताम्रपत्र में सात दिन तक रख दें। तदनन्तर इसकी बत्ती बना कर छाया में सुखा लें। यह बत्ती घिस कर आँखों में लगाने से तिमिर, अर्म, पिल्ल तथा शुक्र (फूला) को दूर करती है।

विशेष वचन—ताम्रपात्र में सात दिन तक रखने की अपेक्षा ताम्र के खरल ही में सात दिन तक मर्दन करके बत्ती बना लेने से अच्छा रहता है। रजः शब्द से यहाँ पर पित्तपापड़ा भी लिया जा सकता है। 'दृढशिम्बिमूलकम्' के स्थान पर 'कृतसिन्धुफेनकम्' पाठान्तर मिलता है। समुद्रफेन के लेखन होने के कारण 'कृतसिन्धुफेनकम्' पाठ उचित प्रतीत होता है ॥ ३७–३८ ॥

एकत्रिंशाङ्गवर्त्तिः—

पारदनागरसाञ्जनविद्रुमकासीसलोध्रताम्राणि ।
वृत्तत्रिकटुकगैरिकसिन्धूद्भवतुत्थफेनवराः ॥ ३९ ॥
मौक्तिकगन्धिन्याभागिरिकर्णीपुत्रजीवकनकशिफाः ॥
चिंचापड्विधमौर्वलवणं पिचुमर्दपत्ररसः ।
पिष्ट्वा ताम्रे लिप्ता वर्त्तिः स्यादधिमन्थपिल्लघ्नी॥४१॥

शुद्ध पारद, नागभस्म अथवा शुद्ध सीसा, शुद्ध रसौंत, प्रवालभस्म, शुद्ध कसीस, लोध्रचूर्ण, ताम्रभस्म, सतपर्णत्वक्, सौंठ, मिरच, पिप्पली, गेरू, सैन्धानमक, शुद्ध तूतिया, समुद्रफेन, त्रिफला, मुक्ताभस्म, मुरामांसी (कपूरकचरी), बबूल की छाल, सफेद कोयल (अपराजिता), जियापोता, धत्तूरे की जड़, इमली की छाल, रेह (पाँशु) नमक के साथ पाँचों नमक; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद सीसक की पिष्टी बना कर उसमें अन्य द्रव्य मिला ताम्र के पात्र में नीम के पत्तों के रस के साथ घोंट कर वर्त्ति बना लें। यह वर्त्ति घिस कर आँखों में लगाने से, अधिमन्थ और पिल्ल रोग को दूर करता है।

विशेष वचन—'लिप्ता' के स्थान पर 'पात्रे' पाठान्तर मिलता है। यह उचित प्रतीत होता है ॥ ३९–४१ ॥

षडङ्गवर्तिः—

कर्पूराञ्जनसीसपारदकणातीक्ष्णानि पिष्ट्वा सकृत्
नन्द्यावर्त्तरसैर्विशोष्य मधुना पिष्ट्वा पुनर्भाजने ।
शार्ङ्गे स्फाटिक एव वा विनिहितं शुक्रार्मकाचापहं
तैमिर्यं च निराकरोति सहसा नेत्रेऽञ्जनं सर्वदा॥४२॥

शुद्ध कपूर, शुद्ध काला सुरमा, शुद्ध सीसा या भस्म, शुद्ध पारद, पिप्पलीचूर्ण, तीक्ष्णलोहभस्म अथवा खपरिया प्रत्येक समभाग में लेकर पिण्डतगर या नीम के कषाय में एक दिन मर्दन करके पुनः मधु के साथ पीस कर सींग अथवा स्फटिक मणि या काँच के पात्र में रख लें। इसका प्रतिदिन आँखों में अंजन करने से शुक्र (फूला), अर्म, काच (मोतियाबिन्द), तिमिर रोग शीघ्र दूर हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

गरुडाञ्जनम्—

कतकसैन्धवतुत्थरसाञ्जनं त्रिकटुकस्फटिकाब्दवराटकम् ।
त्रिकटुताम्रमयोहिमरोहिणी जलधिफेनवचानुकरोटिका ॥
उरगपारदटंकणमञ्जनं त्रिफलया मधुकेन च संयुतम् ।

करञ्जवल्करसेन सुपेषितं गरुडदृष्टिसमां कुरुते दृशम् ॥

निर्मलीबीज, सैन्धानमक, शुद्ध तूतिया, शुद्ध रसौंत, सौंठ, मिरच, पिप्पली, स्फटिकमणिचूर्ण, नागरमोथा, कौड़ीभस्म, त्रिकटुचूर्ण, ताम्रभस्म, लोहभस्म, कपूर, कुटकी, समुद्रफेन, वचा, मनुष्य की खोपड़ी की हड्डी की भस्म, नागभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध सुहागा, त्रिफलाचूर्ण, मुलेठीचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर करञ्ज की छाल के स्वरस या कषाय से अच्छी तरह मर्दन करके अंजन बना लें। इस अंजन के कुछ दिन लगातार आँखों में लगाने से गरुड़ के समान सूक्ष्म तथा दीर्घ दृष्टि हो जाती है।

विशेष वचन—यहाँ त्रिकटु दो बार होने से द्विगुण लिया जाता है। 'त्रिकटु' के स्थानपर 'त्रिफला' पाठ होने पर आगे लिखे हुए 'त्रिफला' शब्द से मधुर त्रिफला का ग्रहण करते हैं। द्राक्षा गम्भारी तथा खजूर फलों को मधुर त्रिफला कहा जाता है —'द्राक्षाकाश्मर्यखर्जूरीफलानि मिलितानि तु। मधुरत्रिफला ज्ञेया मधुरादिफलत्रयम्' ॥ ४३-४४ ॥

नयनामृताञ्जनम्—

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ ताभ्यां द्विगुणमंजनम्।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम् ॥ ४५ ॥

शुद्ध पारद, नागभस्म, प्रत्येक एक भाग, शुद्ध काला सुरमा दो भाग और थोड़ा सा कपूर लेकर इन सब को एकत्र घोट करके अञ्जन तय्यार कर लें। इसको आँखों में लगाने से तिमिर रोग नष्ट होता है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में कपूर को पारद भाग की अपेक्षा चौथाई भाग लिया गया है। यथा—'रसेन्द्रभुजुजौ तुल्यौ तयोर्द्विगुणमञ्जनम्। सूततुर्यांशकर्पूरमञ्जनं नयनामृतम्' ॥४५॥

तिमिरहराञ्जनम्—

गन्धकाद्द्विगुणः सूतः सौवीरं चाष्टमांशतः।
कपित्थरससंपिष्टमञ्जनं तिमिरप्रणुत् ॥ ४६ ॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग, सौवीराञ्जन आठवाँ भाग लें, पहिले पारद गन्धक की कज्जली तय्यार करें। फिर इसमें सौवीराञ्जन मिला कैथ के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन कर अञ्जन तय्यार कर लें। इसको आँखों में लगाने से तिमिर रोग दूर होता है ॥ ४६ ॥

द्वादशाङ्गवर्त्तिः—

नेपालतुत्थटंकणतार्क्ष्यवरात्रिकटुफेनजलजं च।
जम्बीरनीरपिष्टं काचार्मस्रावतिमिरशुक्लपिल्लघ्नम् ॥

नैपाली ताम्रभस्म, शुद्ध तूतिया, सुहागा, शुद्ध रसौंत, त्रिफला, त्रिकटुचूर्ण, समुद्रफेन, शंखनाभिचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर जम्बीरी नींबू के रस में घोट कर वर्त्ति बना लें। इसको जल के साथ घिस कर आँखों में लगाने से काच, अर्म, नेत्रस्राव, तिमिर, फूला तथा पिल्ल रोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—'नैपाल' के स्थान पर 'जैपाल' पाठ मिलता है। जैपाल नेत्रों के लिए अत्यन्त क्षोभक होने से यह पाठ उचित नहीं है ॥ ४७ ॥

पटलहरेन्द्ररसः—

रुद्रः कपर्दटंकणं लाक्षाजम्बीरयोर्द्रवैः।
मासं धान्ये क्षिप्तः सूतः पटलादिरोगहरः ॥ ४८ ॥

पारदभस्म, कौड़ी की भस्म, शुद्ध सुहागा; प्रत्येक समभाग में लेकर लाक्षाजल तथा जम्बीरी नींबू के रस में घोट कर पिण्ड बना लें। इस पिण्ड को एक ढकन वाली शीशी में बन्द करके एक मास तक धान्यों की खत्ती में गाढ़ दें। तदनन्तर पीस कर आँखों में लगावें तो इससे पटल आदि भागों में होने वाले नेत्ररोग दूर होते हैं ॥४८॥

स्वर्णादिवर्त्तिः—

स्वर्णं वराटिका सूतः सारः पूतिकपत्रजः।
नवनीतेन संयुक्ता वर्त्तिः पुष्पं चिरंतनम् ॥४९॥

स्वर्णभस्म; कौड़ी की भस्म, पारदभस्म, पूतिकरञ्ज के पत्तों का स्वरस; सब को समभाग में लेकर मक्खन के साथ घोट कर बत्ती बना लें। इस बत्ती के आँख में लगाने से पुराना फूला भी दूर हो जाता है ॥ ४९ ॥

विषाञ्जनम्—

विषं धात्रीफलरसैर्दिनैकं परिभावितम्।
अञ्जनं शंखसहितं प्रगाढतिमिरप्रणुत् ॥ ५० ॥

शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण तथा शंखभस्म या चूर्ण समभाग में लेकर आँवलों के रस के साथ एक दिन तक अच्छी तरह घोट कर अञ्जन तय्यार कर लें। यह अञ्जन नेत्रों में लगाने से अत्यन्त बढ़े हुए तिमिररोग को दूर करता है ॥ ५० ॥

पुष्पहराञ्जनम्—

शम्बूकं वा वराटं वा दग्धं सूक्ष्मं विचूर्णयेत्।
अञ्जनं नवनीतेन हन्ति पुष्पं चिरन्तनम् ॥ ५१ ॥

शम्बूक (घोंघा) अथवा कौड़ी को जला कर अर्थात् भस्म करके इसमें मक्खन मिला आँखों में अञ्जन करने से पुराना फूला दूर हो जाता है ॥ ५१ ॥

शिग्रुमूलाद्याश्च्योतनम्—

शिग्रुमूलं वचां क्षौद्रैर्घृष्ट्वा नेत्रं प्रपूरयेत् ॥५२॥

सुहांजन की जड़ की छाल के रस के साथ बचा और शहत को ताम्रपात्र में घिस कर आंखों में डालने से नेत्र का शूल मिट जाता है ॥ ५२ ॥

शूलघ्नमाश्च्योतनम्—

निष्पिष्याऽऽर्द्रां निशां वाथ सद्यः शूले सुखावहः॥५३॥

कची हल्दी के स्वच्छ स्वरस को नेत्रों में डालने से तत्काल नेत्रों की शूल मिट जाती है॥ ५३॥

पौनर्नवाञ्जनम्—

श्वेतं पुनर्नवामूलं जलेनांज्यं च शूलनुत्॥ ५४॥

श्वेतपुनर्नवा के मूल के स्वच्छ स्वरस को नेत्रों में अञ्जन की भाँति लगाने से नेत्रशूल मिट जाता है॥ ५४॥

स्रावहराञ्जनम्—

श्वेतं पुनर्नवामूलं घृतघृष्टं समञ्जयेत्।
जलस्रावं निहंत्याशु, तन्मूलं च निशायुतम्॥५५॥

श्वेतपुनर्नवा की मूल को घी में घिस कर आँखों में अञ्जन करने से नेत्रों से होनेवाला जलस्राव दूर हो जाता है॥ ५५॥

वक्ररोमहराञ्जनम्—

अञ्जयेद्वक्ररोमाणि न भवन्ति कदाचन॥ ५६॥

श्वेतपुनर्नवा की जड़ तथा हरिद्रा को एकत्र अच्छी तरह मर्दन कर अञ्जन तय्यार कर लें। इसको प्रतिदिन आँखों में लगाने से नेत्रपलकों पर उगने वाले बाल बड़े नहीं होने पाते हैं। अर्थात् यह अञ्जन परवाल रोग होने से बचाता है॥ ५६॥

नृकपालाञ्जनम्—

निघृष्यं नृकपालं तु नारीस्तन्येन चाञ्जयेत्।
शूलं सतिमिरं हन्ति पुष्पं सर्पाक्षिदुग्धतः॥ ५७॥

मनुष्य की कपाल की हड्डी को स्त्री के दूध में घिस कर आँखों में लगाने से नेत्रशूल तथा तिमिर रोग दूर होते हैं। सर्पाक्षी के दुग्ध के साथ नरकपालास्थि को घिस कर नेत्रों में लगाने से पुष्प (फूला) दूर हो जाता है॥ ५७॥

शिग्रुबीजतैलाश्च्योतनम्—

चिञ्चादलस्वरसपेषितशिग्रुबीजं
कांस्ये निघृष्य परिशोष्य खरातपेन।
तैलं ततः श्रुतमिदं शशिपादयुक्तं
युञ्ज्याद् व्रणार्मतिमिरे तिलमात्रमाक्ष्ण॥

सुहांजने के बीजों के चूर्ण को काँसे के पात्र में इमली के पत्तों के स्वरस के साथ खूब खरल करके तीक्ष्ण धूप में सुखाने रख दें और पात्र को कुछ टेढ़ा कर दें। जब उसमें से निकल कर बहने लगे अर्थात् पात्र में एक तरफ तैल एकत्र हो जाय तो उसे निकाल कर शीशी में रख छोड़ें। और इसमें तैल से चौथाई भाग कपूर भी डाल दें। इस तैल को एक तिल-प्रमाण नेत्रों में लगाने से नेत्रव्रण तथा तिमिर रोग दूर होते हैं॥ ५८॥

पटलहराञ्जनम्—

कारवेल्लद्रवैः सार्धं सम्यग्भर्ज्या कपर्दिका।
सूतकं टंकणं लाक्षा तुल्यं जंबीरजद्रवैः॥ ५९॥
मर्दयेत्ताम्रपात्रे तु तस्मिन् रुद्ध्वा विनिक्षिपेत्।
धान्यराशौ स्थितं मासमञ्जनं पटलं हरेत्॥ ६०॥

शुद्ध कौड़ियों के चूर्ण को एक ताँबे की कढ़ाई में डाल कर करेले के पञ्चांग के रस के साथ उत्तम प्रकार से अग्नि में भूनें। फिर उसमें शुद्ध पारद, सुहागा, लाख; प्रत्येक कौड़ियों के चूर्ण के बराबर भाग मिला जम्बीरी नींबू के रस में खरल करके गोला सा बना लें। फिर इस गोले को ताम्र के सम्पुट में बन्द करके धानों की खत्ती में एक महीने तक गाढ़ दें। एक मास बाद निकाल अच्छी तरह पीस कर अञ्जन तय्यार कर लें। यह अञ्जन नेत्रपटलों के रोगों को दूर करता है।

विशेष वचन—इस अञ्जन को जम्बीरी नींबू के रस के साथ ताम्र के ही खरल में घोटा जाय तो उत्तम होगा॥ ५९—६०॥

तिमिरनाशनाञ्जनम्—

भृंगराजरसैर्घृष्टं पलैकं रक्तचन्दनम्।
ताम्रपात्रे स्थितं भाव्यं तद्रसेन पुनः पुनः॥ ६१॥
शतधा भावयेद्यत्नात्पेष्यं पुनः पुनः।
मधुनाप्यंजनं हन्ति षड्विधं तिमिरामयम्॥ ६२॥

लालचन्दन के एक पल कपड़छन चूर्ण को ताम्र के खरल में डाल कर उसमें भाँगरे का स्वरस मिला कर घोटते हुये भावना दें। जब पहिले का भृंगराजस्वरस सूख जाय तब उसमें पुनः भाँगरे का स्वरस डाल कर मर्दन करके सुखा लें। इस प्रकार मर्दन करते हुए सौ बार भाँगरे के रस की भावना देकर सुखा कर रख लें। इस अञ्जन को शहत में मिला कर नेत्रों में लगाने से छः प्रकार के तिमिर रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, रक्तज; सान्निपातिक तथा परिम्लायी यह छः प्रकार के तिमिर रोग माने गये हैं॥६२॥

काचान्ध्यहराञ्जनम्—

बीजपूररसैर्घृष्टं विषतुत्थसितायुतम्।
अञ्जनं कारयेद्रात्रौ काचमांध्यं च नाशयेत्॥ ६३॥

शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध तूतिया और खाँड इन सबको समभाग में लेकर बिजौरे के रस के साथ घोट कर अंजन बना लें। इसको रात्रि में सोने से पहिले आँखों में लगाने से काच तथा आन्ध्यरोग दूर होते हैं॥ ६३॥

शम्बूकादिवर्तिः—

शम्बूकं पारदं नागं कांस्यचूर्णं रसाञ्जनम्।
समं सर्वमिदं चिंचादलद्रावेण मर्दयेत्॥ ६४॥
ताम्रपात्रगतां वर्त्तिं छायाशुष्कां तु कारयेत्।
शुक्रार्मतिमिरं पिल्लं हन्ति सा मधुनाऽञ्जिता॥६५॥

शम्बूक (घोंघा) का चूर्ण, शुद्ध पारद, शुद्ध नागभस्म, कांसे की भस्म, शुद्ध रसौंत; प्रत्येक समभाग में लेकर ताम्र के खरल में डाल कर इमली के पत्तों के स्वरस के साथ अच्छी तरह मर्दन कर वर्त्ति बना लें। इनको छाया में सुखा कर रख लें। इस वर्त्ति को शहद में घिस कर नेत्रों में लगाने से शुक्र, अर्म, पिल्ल आदि नेत्ररोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—नेत्रों के शुक्र अर्म आदि रोगों का परिचय सुश्रुतसंहिता के उत्तरतन्त्र में देखना चाहिये ॥ ६४—६५ ॥

अभिष्यन्दहरो योगः—

असकृच्छीततोयेन सिञ्चेन्नेत्राभिष्यन्दजित् ॥ ६६ ॥

बार बार शीतल जल से नेत्रों को सिञ्चन करने से नेत्राभिष्यन्द रोग दूर होता है। स्वस्थावस्था में इस क्रिया के अनुष्ठान से दृष्टि शक्ति स्थिर रहती है ॥ ६६ ॥

रात्र्यन्धहराञ्जनम्—

अजस्य कृष्णमांसांतः पिप्पलीमरिचं क्षिपेत्।
सीवयित्वा घृतैः पच्याद्घटिकाते समुद्धरेत् ॥
मध्वाज्यस्तन्यसंपिष्टं रात्र्यन्धस्याञ्जनं हितम् ॥ ६७ ॥

बकरे के काले मांस में पिप्पली तथा मरिचचूर्ण भर कर चारों तरफ से मांस को सी दें। फिर इस पिण्ड को एक कढ़ाई में घी डाल कर उसमें पिण्ड को रख एक घड़ी तक अच्छी तरह पका लें। जब यह पिण्ड शुष्क हो जाय उसे निकाल कर ठण्डा करके पिप्पली तथा मरिचचूर्ण को निकाल लें। इसको मधु, घृत तथा स्त्री के दुग्ध में मिला कर अञ्जन करने से रात को न दीखना (रतौंधी) रोग दूर होता है।

विशेष वचन—काले मांस से यहाँ अभिप्राय बकरे के यकृत् अथवा प्लीहा के मांस से है। इन्हीं अङ्गों का मांस काला होता है। तन्त्रान्तर में यकृत् मांस का स्पष्ट निर्देश भी है। यथा— "कणाछागयकृन्मध्ये पक्त्वा तद्रससेविता। अचिराद्धन्ति नक्तान्ध्यं तद्वत् सक्षौद्रभूषणम् ॥" तन्त्रान्तर में 'अजस्य कृष्णमांसान्तः' के स्थान पर 'कृष्णस्याजस्य मांसान्तः' पाठ मिलता है ॥ ६७ ॥

रात्र्यन्धे व्योषाञ्जनम्—

अजापित्तगतं व्योषं धूमस्थाने विशोष्य च।
चिरबिल्वरसैर्घृष्टं रात्र्यन्धस्याञ्जनम् हितम् ॥ ६८ ॥

बकरी के पित्त में त्रिकटुचूर्ण मिला कर धूपयुक्त स्थान में रख कर सुखा लें। पश्चात् इसको करञ्जपत्रस्वरस से पीस कर अञ्जन तय्यार कर लें। इसको नेत्रों में लगाने से रात्र्यन्ध रोग दूर होता है।

विशेष वचन—धूपयुक्त स्थान में रख कर वर्त्ति बना लें। इस वर्त्ति को करञ्जपत्रस्वरस के साथ घिस कर नेत्रों में लगाना चाहिये। 'अजापित्तकृतं' के स्थान पर 'अजापित्तगतं' ऐसा पाठ उचित है ॥ ६८ ॥

मरिचाञ्जनम्—

मरिचं मत्कुणे रक्ते रात्र्यन्धहरभञ्जनम् ॥ ६९ ॥

खटमलों के रक्त में कालीमिरच के चूर्ण को सात भावना देकर सुखा लें। इसका नेत्रों में अंजन करने से रतौंधी दूर हो जाती है ॥ ६९ ॥

पञ्चांगगुटिका—

ताम्राग्रयलवणशंखैस्तुल्या मगधोद्भवाऽथ वै धात्री।
जलपिष्टा गुटिकेयं सायंसमयान्ध्यमपहरति ॥ ७० ॥

ताम्रभस्म, सैन्धानमक, शङ्खचूर्ण; प्रत्येक एक एक भाग, पिप्पलीचूर्ण तीन भाग, आमलकीचूर्ण तीन भाग लें। सबको एकत्र खरल में जल के साथ घोट कर गोली अथवा वर्त्ति बना लें और छाया में सुखा लें। इस वर्त्ति को जल में घिसकर आँखों में अञ्जन करने से रात्र्यन्धरोग दूर होता है।

विशेष वचन—'अग्रय' के स्थान पर 'आल' और अथ वै धात्री के स्थान पर 'मनोह्वा च' पाठ भी मिलता है ॥ ७० ॥

नवनेत्रदात्री वर्त्तिः—

द्विरष्टौ ताम्ररजसो मधुकस्य चतुर्दश।
कुष्ठस्य द्वादशांशाः स्युर्वचायास्तु दशैव हि ॥ ७१ ॥
रजतस्य तु चत्वारो द्वौ भागौ कनकस्य च।
सैन्धवस्याष्टमो भागः पिप्पल्याश्च षडेव तु ॥ ७२ ॥
अजाक्षीरेण संपेष्य ताम्रपात्रे निधापयेत्।
अभिष्यन्दमधीमन्थं व्रणशुक्रं कुकूणकम् ॥
तिमिरं पटलं काचं कण्डुं हन्ति विशेषतः ॥७३॥

ताम्बे की भस्म १६ भाग, मुलेठी का चूर्ण १४ भाग, कुष्ठ का चूर्ण १२ भाग, वचाचूर्ण १० भाग, चांदी की भस्म ४ भाग, स्वर्णभस्म २ भाग, सैन्धानमकचूर्ण ८ भाग, पिप्पलीचूर्ण ६ भाग लें। सबको एकत्र ताम्बे के खरल में बकरी के दूध से घोट कर वर्त्तियां बना लें। और छाया में सुखा कर रख लें। इन वर्त्तियों को जल से घिस कर नेत्रों में लगाने से, नेत्राभिष्यन्द, अधिमन्थ, व्रणयुक्त शुक्र (फूला), कुकूणक, तिमिर, पटलगत रोग, काच, नेत्रकण्डू रोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—'द्विरष्टौ' के स्थान पर कहीं 'द्वौ भागौ' पाठ मिलता है ॥७१—७३॥

द्विरुत्तरादिवर्त्तिः—

कणलवणवचायुग्यष्टिताम्रैः क्रमेण
द्विगुणधरणवृद्धैश्छागदुग्धेन पिष्टैः।
निखिलनयनरोगान् हन्ति वर्तिर्विशिष्टा
रज इव निशि सर्पिः क्षौद्रयुक्तं वरायाः ॥७४॥

पिप्पलीचूर्ण एक भाग, सैन्धानमक दो भाग, वचाचूर्ण चार भाग, मुलेठीचूर्ण आठ भाग, जलमुलेठीचूर्ण सोलह भाग, ताम्रभस्म बत्तीस भाग लेकर सबको एकत्र खरल में बकरी के दूध के साथ घोट कर वर्ति बना लें। इन वर्तियों को जल में घिस कर नेत्रों में लगाने से सम्पूर्ण नेत्ररोग उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार त्रिफलाचूर्ण को रात्रि के समय घी और शहत के साथ मिला कर खाने से सब नेत्ररोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—यहाँ पर त्रिफलाचूर्ण का प्रयोग केवल उपमामात्र नहीं है। इस तरह यदि इस वर्ति को नेत्रों में घिस कर अञ्जन लगाया जाय और त्रिफलाचूर्ण को घी और शहत के साथ सेवन किया जाय तो विशेष लाभ होगा। त्रिफलाचूर्ण के विषय में सिद्धयोग में लिखा है कि 'यस्त्रैफलं चूर्णमपथ्यवर्जी सायं समश्नाति हविर्मधुभ्याम्। स मुच्यते नेत्रगतैर्विकारैर्भृत्यैर्यथा क्षीणधनो मनुष्यः' ॥७४॥

ताम्रवर्तिः—

आर्द्रालकुचभृङ्गाणां रसपिष्टेन कस्यचित्।
गन्धकेन समांशेन प्रागवत्ताम्रं च मारितम् ॥७५॥

अदरख का स्वरस या बड़हर (खटल) का स्वरस अथवा भाँगरे का स्वरस को समभाग गन्धक तथा ताम्रभस्म के साथ घोट कर बनाई हुई वर्ति भी घी और शहत के साथ मिला कर नेत्रों में लगाने से नेत्रों के सब रोगों को दूर करती है॥

ताम्रद्रुतिः—

ताम्राभ्रकं च तुत्थं च दशनिष्कं पृथक् पृथक्।
कन्दुकस्थमिदं त्रिंशत्कर्षचूर्णितगन्धकम् ॥७६॥
दत्त्वाल्पशोऽग्निनाल्पेन रुद्ध्वा धूमं विसर्जयेत्।
प्रस्थाम्बुमर्दितस्यास्य प्रसादं निसृतं युतम् ॥७७॥
तुत्थनीरशिलाजाभ्यां कर्षांशाभ्यां विशोषयेत्
ताम्रद्रुतिरियं साज्यमानुषीक्षीरमाक्षिकात् ॥ ७८ ॥
काचार्मपिल्लाभिष्यन्दव्रणशुक्रप्रणाशिनी।
तत्किट्टं दद्रुकिटिमं लेपात्पामादिकं जयेत् ॥७९॥

शुद्ध ताम्रचूर्ण, अभ्रकभस्म, शुद्ध तूतिया, पृथक्-पृथक् दस निष्क परिमाण में लेकर तीनों को एकत्र खरल कर लें। फिर इस चूर्ण को एक गोल आकार की लोहे की कढ़ाई में डाल कर भट्टी के आकार के चूल्हे में रख कर पकावें। जब यह चूर्ण पर्याप्त गरम हो जाय तो इसके ऊपर थोड़ा सा अर्थात् एक कर्ष परिमाण शुद्ध गन्धकचूर्ण डाल दें और कढ़ाई को किसी दूसरे पात्र से ढक दें। जब गन्धक पिघल जाय और उसका धुँआ कढ़ाई में भरा रहे तो उस धुँए को किञ्चित् ढकन को उठा कर निकाल दें और पुनः थोड़ा-सा गन्धकचूर्ण डाल दें। इस प्रकार तब तक बार-बार करना चाहिये जब तक कि उसमें तीस कर्ष गन्धकचूर्ण जारित न हो जाय। अन्त में कढ़ाई को नीचे उतार कर भस्म को एकत्र कर उसमें एक प्रस्थ शुद्ध जल डाल कर अच्छी तरह मर्दन कर कुछ समय के लिए एकान्त स्थान में रख छोड़ें। जब जल बिलकुल स्वच्छ होकर ऊपर दीखने लगे (जैसे कि क्षार बनाते हुए शुद्ध जल को नितारा जाता है) उस जल को पृथक् कर लें। और इसमें एक कर्ष तूतियाजल और एक कर्ष शिलाजतु जल मिला कर सुखा कर रख लें। यह ताम्रद्रुति घृत, स्त्री का दुग्ध तथा शहत के साथ नेत्रों में लगाने से काच, अर्म, पिल्ल, नेत्राभिष्यन्द, व्रणशुक्र को दूर करती है। ऊपरी स्वच्छजल लेने के बाद बचे हुए किट्ट भाग को, दद्रु, किटिमकुष्ठ, पामा आदि त्वक्-रोगों पर लेप किया जाय तो उक्त रोग दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—यहाँ पर ताम्र से ताम्रभस्म नहीं लेनी चाहिये। क्योंकि भस्म की द्रुति नहीं होती है। साथ ही भस्म लेने पर उसमें ताम्र का लेखन गुण बहुत कम होने पर वह नेत्रों के लेख्य रोगों के लिये परम लाभदायक भी नहीं होता है॥ ७६-७९॥

द्वितीयताम्रद्रुतिः—

शुल्वं गन्धकमभ्रकं च रसकं दिक्संख्यनिष्कं पृथक्
सर्वं रुद्रजटारसेन बहुशो भृंगस्य सारेण वा।
प्रायः श्लक्ष्णतरं सुमर्दितमिदं सम्यक्पुटं कारयेत्
स्थाल्यां तत्पुनरेव शीतलमिदं विन्यस्य तस्यान्तरे॥
निष्कं निष्कमनन्तरं परिपचेज्जीर्णे यथा गन्धकं
स्यादेवं शतनिष्कमात्रमसकृत्तद्भस्म शीतं ततः।
प्रस्थेनोन्मितवारिणा विलुलितं कल्कं विना गालितं
संगृह्याम्बु तदन्तरे शिखिनिभं तुत्थं सुचूर्णीकृतम्॥
कर्षांशासितमञ्जनं विनिहितं कांस्ये परं शोषयेत्-
तां ताम्रद्रुतिमामनन्ति निखिलान्नेत्रामयान्नाशयेत्॥

शुद्ध ताम्रचूर्ण, शुद्ध गन्धक, अभ्रकभस्म, शुद्ध खपरिया; प्रत्येक दस दस निष्क मात्रा में लेकर सब को एकत्र खरल में डाल कर रुद्रजटा अथवा भृंगराजस्वरस में सात वार मर्दन करके एक शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट दे दें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल उसको एक कढ़ाई में डाल कर चूल्हे में (प्रथम ताम्रद्रुतिप्रकरण में वर्णित) रख गरम कर और उसमें एक निष्क शुद्ध गन्धक डाल कर पूर्ववत् किसी पात्र से ढक दें। जब पात्र में धुआँ भर जाय तो पात्र को थोड़ा सा उठा कर धुआँ निकाल दें और पुनः एक निष्क शुद्ध गन्धकचूर्ण डाल कर ढक दें। इस प्रकार सौ निष्क परिमाण शुद्ध गन्धक को जीर्ण करना चाहिये। अन्त में शीतल भस्म को लेकर उसमें एक प्रस्थ शुद्ध जल डाल कर अच्छी तरह घोल कर एकांत स्थान में रख दें। जब ऊपर स्वच्छ जल आ जाय तो उसे नितार कर पृथक् कर लें। अब इस स्वच्छ जल में एक कर्ष शुद्ध तूतिया

तथा एक कर्ष शुद्ध काला सुरमा मिला कांसे के बर्तन में रख कर सुखा लें। यह भी 'ताम्रद्रुति' अञ्जन कहा जाता है। इसके लगाने से सम्पूर्ण नेत्ररोग दूर होते हैं॥ ८०–८२॥

गन्धकद्रुतिः—

आर्द्रकस्य रसे पिष्टं गन्धकेन विमिश्रितम्।
तुत्थं तु निष्कदशकं तन्मानं चाभ्रकं क्षिपेत्॥८३॥
दशनिष्केण तन्मानं ताम्रं च शकलीकृतम्।
भर्जयेत्खर्परे क्षिप्त्वा दहेत्तदनु चूर्णयेत्॥८४॥
तन्मिश्रं कन्दुकस्थेन चूर्णमेतेन भर्जयेत्।
गन्धकं चूर्णितं कृत्वा कर्षं तु विधिना शनैः॥८५॥
भर्जितं तज्जलप्रस्थे नीलं चापि शिलाजतु।
कर्षप्रमाणं निक्षिप्य मर्दयेद्भावयेत्पुनः॥८६॥
प्रसादं स्रावयेत्पश्चादातपे परिशोषयेत्।
गन्धकद्रुतिरित्येषा सर्वनेत्रामयापहा॥८७॥
विशेषाद् व्रणकुष्ठं च पिल्लं काचं कुकूणकम्।
जयेत्तस्य घृतक्षौद्रैः सर्वं तत्परिकल्पयेत्॥८८॥
व्रणान् कृच्छ्रान् सुसूक्ष्माग्रानपि शीघ्रं निवर्तयेत्।
तत्किट्टं दद्रुकिटिमपामादींल्लेपनाज्जयेत्॥८९॥

शुद्ध तूतिया दश निष्क, अभ्रकभस्म दश निष्क को एकत्र अदरख के स्वरस में घोट कर फिर उसमें अदरख के स्वरस में मर्दन किया हुआ शुद्ध गन्धक और शुद्ध ताम्रचूर्ण मिला कर एक कढ़ाई में डाल कर पकावें जब यह अच्छी तरह पक जाय। इसमें एक कर्ष शुद्ध गन्धक का चूर्ण मिला कर पूर्ववत् धुआँ निकाल कर जारण करें। स्वांगशीतल होने पर नीचे उतार भस्म को एकत्रित करके उसमें एक प्रस्थ शुद्ध जल और एक कर्ष शिलाजीत मिला कर मर्दन कर एकान्त स्थान पर रख दें। जब ऊपर स्वच्छ जल आ जाय उसे नितार कर ले लें और धूप में रख कर सुखा लें। यह गन्धक द्रुति कही जाती और सब नेत्ररोगों के लिये लाभदायक है। विशेषतः यह द्रुति घृत तथा मधु के साथ नेत्रों में लगाने से व्रण में होने वाली कुष्ठरोगजविकृति, पिल्ल, काच, कुकूणक, रोगों को दूर करती है। द्रुति बनाते समय जो जल के नीचे किट्ट भाग रह जाता है उसका शरीर में लेप करने से दद्रु, किटिम कुष्ठ, पामा आदि रोग दूर हो जाते हैं। उक्तद्रुति को अन्तः प्रयोग के रूप में सेवन करने से कष्टसाध्य तथा अत्यन्त सूक्ष्म मुख वाले व्रण भी शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। कुष्ठ रोग में भी इसका अन्तःप्रयोग लाभदायक होता है।

विशेष वचन—'नीलञ्चापि शिलाजतु' से कोई नीलवर्ण शिलाजतु अर्थात् ताम्रधातुयुक्त शिलाजतु का ग्रहण करते हैं। यह शिलाजतु भी शिखिकण्ठाभवर्ण होती है अतः इसको नीलशिलाजतु कहते हैं। चरक में भी लिखा है—"ताम्राद् बर्हिणकण्ठाभं तीक्ष्णोष्णं पच्यते कटु" ॥ ८३—८९॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये उन्माद-वातापस्मार-नेत्ररोगाणामुपचारो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः॥

चतुर्विंशोऽध्यायः।

अथ कर्णरोगादिचिकित्सनम्।

कर्णरोगाणां नामानि—

शूला दोषचयाभिभूतिजनिताः पञ्च प्रतीनाहरुक्
कण्डूविद्रधिपालिशोषपरिपोटोत्पातलेह्यर्बुदाः।
शोफार्शःक्रिमिकूचिकर्णकविदार्युन्मन्थसत्तन्त्रिका-
नादः पिप्पलिदुःखवृद्धिबधिरास्ते पूतिकर्णेन च॥१॥

कान में वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा रक्त के प्रकोप से होने वाले पाँच शूल (कर्णशूल), कर्णप्रतीनाहरोग, कर्णकण्डू, कर्णविद्रधि, कर्णपालि शोष, परिपोट, उत्पात, लेही, कर्णार्बुद, कर्णशोथ, कर्णार्श, कर्णक्रिमि, कर्णकूचिका, कर्णविदारिका, उन्मन्थ, तन्त्रिका, कर्णनाद, कर्णपिप्पली, दुःखवृद्धि (दुर्वेध जनित शोथ), बधिरता (बहरापन) और पूतिकर्ण (कर्ण में पाक से दुर्गन्धि); ये रोग मुख्यतः होते हैं।

विशेष वचन—कान में होने वाले रोगों के ज्ञान के लिए सुश्रुत तथा माधवनिदान आदि ग्रन्थों का अध्ययन आवश्यक है। वाग्भट में भी इन रोगों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

पालिशोषः—कान की पालियों में स्थित शिराओं में वायुप्रकोप से कर्णपालिका शोष (पोषण न होना) होता है। "शिरास्थः कुरुते वायुः पालिशोषं तदाह्वयम्।"

परिपोट उत्पात तथा लेही रोग भी कर्णपाली में होते हैं। निदान में इनका लक्षण इस प्रकार मिलता है। "सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसातिप्रवर्द्धिते। कर्णशोथो भवेत्पाल्यां सरुजः परिपोटवान्॥ कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात्परिपोटकः॥" अर्थात् सहसा भारी आभरणों के पहिनने के लिये कर्णपाली को बढ़ाने से उसमें ग्रन्थि आकार का फूला हुआ सा शोथ हो जाता है जिसे परिपोट कहते हैं। कर्णपाली में भारी आभरणों के पहिनने या कान को एंठने आदि से दाह पाक युक्त रक्तवर्ण अथवा श्याववर्ण शोथ को उत्पात कहते हैं। "गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्धर्षणादति। शोथः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुजान्वितः॥ रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः॥" कान की पाली में शोषपाक होकर उसमें यदि क्रिमि पड़ जायँ और सम्पूर्ण पाली और शष्कुली को गला दें तो उसे परिलेही या लेही रोग कहते हैं। "कफासृक्क्रिमि-

सम्भूतः स विसर्पन्नितः ततः। लिहेत्सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥''

तन्त्रिका रोग के विषय में वाग्भट ने लिखा है कि यदि कर्णपाली वातप्रकोप से कृश और दृढ़ ताँत के समान हो जाय तो उसे तन्त्रिका रोग कहते हैं। ''कृशा दृढ़ा च तन्त्रीवत् पाली वाते न तन्त्रिका।'' । ''शोफार्शः कृमिकूर्चिकर्ण'' इत्यादि श्लोकार्ध के स्थान पर वाग्भट मत या पाठ के विरुद्ध होने से 'शोफार्शः क्रिमिपूतिकर्णकविदार्य्योस्रावनिस्तन्द्रिका। नादः पिप्पलिदुःखवृद्धिबधिरास्ते कर्णपाकेन च ॥'' ऐसा पाठ अच्छा प्रतीत नहीं होता है ॥ १ ॥

कर्णशूले लवणार्द्रकप्रयोगः—

कर्णशूलहरः क्षेप्यो लवणार्द्रकयो रसः ॥ २ ॥

कान में पीड़ा होने पर यदि उसमें अदरख के रस में लवण मिला कर गुनगुना करके डाला जाय तो कान का शूल मिट जाता है ॥ २ ॥

कृमिकर्णारितैलम्—

अब्धिफेनो वचा शुण्ठी सैन्धवं च समं समम्।
समतैलार्द्रकद्रावैः पक्वे तस्मिन् पलद्वये ॥ ३ ॥
पूर्वोक्तचूर्णं कर्षांशं क्षिप्त्वोत्तार्य सुशीतलम्।
तत्तैलं प्रक्षिपेत्कर्णे ध्रुवं गोमक्षिका व्रजेत् ॥ ४ ॥

समुद्रफेन, वच, सौंठ, सैन्धानमक; प्रत्येक समभाग में लेकर इसका कल्क बना लें। इस कल्क से चतुर्गुण तैल और तैल के बराबर भाग अदरख का स्वरस लेकर सब को एकत्र मिला तैल पका लें। शीतल होने पर उतार छान कर उसमें समुद्रफेन आदि चार द्रव्यों का पृथक् पृथक् एक एक कर्ष सूक्ष्म चूर्ण मिला कर रख लें। इस तैल को कान में डालने से कान में पीप पड़ जाने से जो क्रिमि पैदा हो जाते हैं वे मर कर बाहर निकल जाते हैं और कर्णपाक अच्छा होने लगता है ॥३—४॥

तिलपर्णीप्रयोगः—

तिलपर्णीद्रवं तैलं कोष्णं कर्णे प्रपूरयेत् ॥ ५ ॥

तिलपर्णी (वनतिल या लाल चन्दन) का स्वरस तथा तैल को एकत्र मिला गरम करके कान में डालने से कान की पीड़ा दूर हो जाती है ॥ ५ ॥

कर्णशूलेऽर्कपत्रप्रयोगः—

अर्कपत्रद्रवं तैलं पूरयेत्कर्णशूलनुत् ॥ ६ ॥

आक के पत्तों पर तैल लगा उनको अग्नि में गरम करके स्वरस निकाल लें। इसको कान में डालने से कर्णशूल मिट जाता है ॥ ६ ॥

रसोनप्रयोगः—

रसोनस्य रसं कोष्णं पूरयेत्कर्णशूलनुत् ॥ ७ ॥

लहसुन के स्वरस को कुछ गरम करके कान में डालने से भी कान का शूल मिट जाता है।

विशेष वचन—केवल लहसुन के स्वरस को (कन्दस्वरस को) कान में डालने से कान के भीतर छाला पड़ जाता है क्योंकि इसका स्वरस क्षोभक है। अतः लहसुन के स्वरस में द्विगुण या चतुर्गुण तैल मिला कर डालना चाहिये ॥ ७ ॥

मेघनादप्रयोगः—

मेघनादद्रवैः पूर्णे कर्णे पूयः प्रशाम्यति ॥ ८ ॥

चौलाई के स्वरस को कान में डालने से कान से पीप का निकलना बन्द हो जाता है।

विशेष वचन—पीप को बन्द करने से पूर्व कान को कानधोने की पिचकारी से धो लेना चाहिये। कान साफ होने पर उक्त स्वरस डाल कर फिर दूसरे दिन पिचकारी से धोकर स्वरस डालना चाहिये ॥ ८ ॥

बाधिर्ये मुषल्यादिचूर्णम्—

मुषलीबाकुचीचूर्णं खादेद्बाधिर्यशान्तये ॥ ९ ॥

बहरेपन को मिटाने के लिये कुछ दिन लगातार मूसली और बावची चूर्ण (समभाग) तीन मासा मात्रा में सेवन करना चाहिये ॥ ९ ॥

कर्णमूलस्फोटे कतकादिलेपः—

कतकं शिग्रुलवणमारनालेन पेषयेत्।
कर्णमूलस्थितं स्फोटं सोष्णलेपाद्विनाशयेत् ॥ १० ॥

निर्मली के बीज, सुहांजने के बीज, सैन्धानमक समभाग में लेकर काँजी से पीस कर गुनगुना करके कर्णमूलप्रदेश में लेप करने से उक्त प्रदेश का स्फोट तथा शोथ मिट जाती है ॥ १० ॥

पुत्रजीवलेपः—

पुत्रजीवफलस्यैव मज्जा जलनिपेषिता।
लेपात्कर्णे गले कक्षे स्फोटं हन्त्युरुमूलकम् ॥ ११ ॥

जियापोते के बीजों की मज्जा (मींगी) को जल के साथ पीस कर गरम २ लेप करने से कान, गला, कोख तथा उरु प्रदेश में उत्पन्न गम्भीरमूल स्फोट (शोथ) शान्त होते हैं ॥ ११ ॥

तगरादिपूरणम्—

तगरब्रह्मवृक्षस्य दन्तैर्मूलानि चर्वयेत्।
रसेन श्रवणं तस्य पूरयेदतियत्नतः ॥
गोमक्षिका विनिर्याति पूरणस्य विधानतः ॥ १२ ॥

तगर (पिण्डतगर) और ढाक की जड़ को मुख में रख कर खूब चबायें। जब मुख रस अथवा लार से भर जाय तो उसे छान कर कान में भर दें। इसके भरने से कान में चिपकी हुई कुत्ते गाय आदि की मक्खी बाहर निकल आती है।

विशेष वचन—कर्णपूरण करने से पूर्व कर्णप्रदेश को कुछ सेक देना चाहिये। पश्चात् रोगी को एक पार्श्व लिटा कर कान में स्वरस पूरण करना चाहिये। पूरण करने पर भरे हुये द्रव्य को दस या पन्द्रह मिनट तक बाहर नहीं निकालें। भावप्रकाश में कर्णपूरण-विधि इस प्रकार वर्णन की गई है। "स्वेदयेत्कर्णदेशं तु किञ्चिन्नुः पार्श्वशायिनः। मूत्रैः स्नेहैः रसैः कोष्णैस्तस्य श्रोत्रं प्रपूरयेत्॥ कर्णञ्च पूरितं रक्षेत् शतं पञ्चशतानि च। सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरोगदे" ॥ १२ ॥

पालीवर्द्धने मुषलीप्रयोगः–

मुषलीकन्दचूर्णं हि महिषीनवनीततः।
लोलयेद्रोधयेद्भाण्डे धान्यराशौ निधापयेत्॥
सप्ताहादुद्धृतं लेपः कर्णपालीं विवर्धयेत्॥ १३॥

मूसली के चूर्ण को भैंस के मक्खन में मिला कर एक ढक्कनदार शीशी में भर कर सात दिन तक धान्यराशि में गाढ़ देना चाहिये। सात दिन के बाद शीशी को निकाल इसका कुछ दिन तक निरन्तर कर्णपाली में लेप करने से वह बढ़ जाती है॥

विशेष वचन—चक्रदत्त में नवीन मूसली लेने को लिखा है। यथा—"माहिषनवनीतयुतं सप्ताहं धान्यराशिपरिवासि यत्। नवमुषलीकन्दचूर्णमृद्धिकरं कर्णपालीनाम्॥" आजकल इस योग को बनाने में मूसलीचूर्ण एक भाग मक्खन आधा भाग मिला कर लेप बनाने की कल्पना की जाती है॥ १३॥

चर्मचेटस्य प्रयोगः–

चर्मचेटस्य रक्तेन लेपात्कर्णो विवर्द्धते॥ १४॥

कर्णपाली पर चिमगादड़ के रक्त का लेप कर उसे धीरे धीरे मर्दन करने से भी कर्णपाली बढ़ती है।

विशेष वचन—कान के उस प्रदेश को, जिसमें कर्णमूली या वाली आदि आभूषण पहिने जाते हैं, कर्णपाली कहते हैं॥१४॥

वराहवसालेपः—

वराहोत्थेन तैलेन लेपात्कर्णो विवर्द्धते॥ १५॥

यदि कर्णपाली को बढ़ाना हो तो कुछ काल तक उस पर प्रतिदिन दो बार सूअर की चर्बी का लेप करने से भी कर्णपाली की वृद्धि होती है॥ १५॥

वज्रादिवटिका—

वज्रवैक्रान्तविमलतुत्थनागविषान्वितैः।
तुल्यपारदगन्धाश्ममाक्षिकैः कज्जलीकृता॥ १६॥
रसोनार्द्रकशिगुणामरण्या मूलकस्य च।
पृथग्रसैः कदल्याश्च सप्तधा परिभावयेत्॥
एवं सुपिष्ट्वा वल्लेन सेविता कर्णरोगनुत्॥ १७॥

हीराभस्म, वैक्रान्तभस्म, विमलमाक्षिकभस्म, तुत्थभस्म, नागभस्म, शुद्ध वत्सनाभविष, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, स्वर्णमाक्षिकभस्म; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद और गन्धक की कज्जली बना लें। फिर उसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर अदरखस्वरस, सुहांजनास्वरस, इन्द्रायणमूलस्वरस; प्रत्येक के स्वरस में पृथक् पृथक् सात सात वार भावना देकर गोली बनाने योग्य हो जाने पर एक वल्ल की गोली बना लें। इन गोलियों को प्रतिदिन सेवन करने से सब कर्णरोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक। प्रकृत पाठ में 'सेविता' शब्द होने से गुटिका बनाने के लिये लिखा है। तन्त्रान्तर में 'सेविता' के स्थान पर 'सेवितः' ऐसा पाठ मिलता है। रसरत्नाकर में 'अरुण्याः' के स्थान पर 'वारुण्याः' पाठ मिलता है। सुश्रुत में इसके स्थान पर 'सुरङ्ग्याः' पाठ मिलता है॥१६–१७॥

कुष्ठाद्यं तैलम्–

कुष्ठशुण्ठीवचाहिंगुशताह्वाशिग्रुसैन्धवैः।
बस्तमूत्रैः शृतं तैलं सर्वकर्णामयापहम्॥ १८॥

कूठ, सौंठ, वचा, हींग, सौंफ, सुहांजने के बीज, तथा सैन्धानमक प्रत्येक समभाग में लेकर इनका कल्क बना लें। इस कल्क से चौगुना तैल और तैल से चौगुना बकरे का मूत्र लेकर तीनों को एकत्र मिला कर तैल सिद्ध कर लें। इस तैल के कान में डालने और मालिश करने से कान की सब व्याधियाँ दूर होती हैं।

विशेष वचन—वृन्द में 'शिग्रु' के स्थान पर 'दारु' पाठ मिलता है॥ १८॥

नासारोगाणां नामानि—

षट् पीनसाश्च मलसंचयरक्तदुष्टैः
पूयासृदीप्तिपिटिकार्बुदपूतिनासाः।
आस्रावनाहपरिशोषभृशक्षवार्शः-
पाकस्त्वपीनसयुतैश्च गदा नसि स्युः॥ १९॥

नासिका में छः प्रतिश्याय अर्थात् १–वातिक, २–पैत्तिक, ३–श्लैष्मिक, ४–सान्निपातिक, ५–रक्तज, ६–दुष्ट प्रतिश्याय; पूयरक्त, नासादीप्ति, नासापिडिका, नासार्बुद, पूतिनासिका, नासास्राव, नासानाह, नासापरिशोष, भ्रंशथु। (अधिक छींक आना), नासार्श, नासापाक, अपीनस; ये रोग होते हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में दुष्ट प्रतिश्याय को वातादिप्रकोपजन्य पाँच प्रतिश्यायों के अन्दर ही मान लिया है या उनकी अवस्था-विशेष को ही दुष्ट प्रतिश्याय माना जाता है। परन्तु यहाँ पर इसको पृथक् लक्षण निर्देश होने से अथवा चिकित्सा-विशेष होने से पाँचों से अतिरिक्त लिखा गया है। अथवा स्मृतिद्वैधवत् मतभिन्नता से यहाँ पर छः प्रकार के प्रतिश्याय लिखे गये हैं॥

पूयासलक्षणम्—

पूयासृमतिदुर्गन्धि नासायामतितापकृत्॥ २०॥

नासिका में से रक्तमिश्रित पीप के निकलने से नासिका में

अत्यन्त दुर्गन्धि आना और नासिका में अत्यन्त गर्मी (दाह) प्रतीत होना पूयास्र का लक्षण है।

विशेष वचन—किसी ग्रन्थ में 'तापकृत्' के स्थान पर 'तापनुत्' पाठ देकर इस वचन को जीरकादि नस्य के साथ सम्बन्धित किया जाता है। अर्थात् आगे लिखा हुआ जीरकादि नस्य नासिका से रक्तमिश्रित पूयस्राव तथा दुर्गन्धि और दाह को मिटाता है॥

जीरकादिनस्यम्—

कृतं नस्येन हन्यात्तच्छ्वेतजीरं सितायुतम्॥ २१॥

सफेद जीरे के चूर्ण में मिश्री मिला कर नस्य देने से अथवा जीरे के कषाय या फाण्ट में मिश्री मिला कर नस्य से पूयास्र रोग नष्ट होता है॥ २१॥

पीनसहरनस्यम्—

घृताक्तं कुंकुमं घृष्टं नस्यं पीनसजिद्भवेत्॥ २२॥

केशर को घी में पीस कर कुछ गरम करके नस्य देने से पीनस रोग दूर हो जाता है॥ २२॥

कामलाहराञ्जनम्—

जलेन पेषयेद्धिंगुमञ्जनात्कामलां जयेत्॥ २३॥

हींग को जल में पीस कर आँखों में अञ्जन करने से पीनस रोग के कारण उत्पन्न कामलारोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—यद्यपि नासारोग-चिकित्सा में कामला की चिकित्सा का वर्णन असंगत प्रतीत होता है। तथापि यदि स्थायी नासारोग के कारण नेत्रस्थरक्तदुष्टि से कामला रोग हो जाय तो उसके लिये यह योग लाभदायक होता है। परन्तु नासारोग के कारण कामलारोग विरल ही देखा जाता है। सम्भवतः यह अञ्जन पीनस रोग के अतिरिक्त कामला में प्रभाव रखता है, इस बात को दिखाने के लिये 'कामला' लिख दिया हो॥ २३॥

द्वितीयकामलाहराञ्जनम्—

तद्वत्तण्डुलतोयेन ह्याकुलीमूलमञ्जयेत्।
कामलां हन्ति नो चित्रं नासारोगप्रसङ्गतः॥२४॥

आकुली के मूल को चावलों के जल में घिस कर आँखों में अञ्जन करने से नासारोग के कारण उपद्रवरूप में उत्पन्न कामला तथा श्वित्र कुष्ठ दूर होता है।

विशेष वचन—'आकुली' के स्थान पर 'अंकोल' पाठ भी मिलता है॥ २४॥

मणिपर्पटीरसः—

वज्रं मरकतं पुष्पमिन्द्रनीलं सुचूर्णितम्।
रसहिंगुलगन्धं च कज्जलीं कारयेद्भिषक्॥२५॥
द्रावयेत्तां लोहपात्रे पर्पट्याकारतां नयेत्।
निर्गुण्डीतुलसीशिग्रुधुस्तूररविवह्निजैः॥२६॥
रसैर्व्योषवरारम्भासुरसैश्चापि भावयेत्।
आर्द्रकस्य रसेनापि सप्तधा परिभावयेत्॥२७॥
एवं सिद्धो रसो नाम्ना विख्याता मणिपर्पटी।
सेविता गुञ्जया तुल्या निहन्यान्नासिकागदान्॥
पथ्योपचारादिवशात्सर्वव्याधीन् विशेषतः॥२८॥

हीराभस्म, मरकत (पन्ना) मणिभस्म, पुखराजभस्म, नीलममणिभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध हिंगुल, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद और गन्धक की कज्जली कर लें। फिर उसमें अन्य द्रव्यों को मिला कर घोटने के पश्चात् एक लोहे की चम्मच में थोड़ा सा घी डाल उसमें औषधि डाल दें और (कोयलों की) अग्नि में गरम करें। जब गन्धक पिघल जाय तो उसे गोबर के ऊपर रखे हुये कदलीपत्र पर ढाल कर पर्पटी तय्यार कर लें। शीतल होने पर पर्पटी को खरल में पीस कर इसको, सिम्भालू, तुलसी, सुहांजना, धत्तूरा, आक, चित्रक; इन प्रत्येक के स्वरस की तथा त्रिकटु के कषाय, त्रिफलाकषाय, केले की जड़ का स्वरस, तुलसीस्वरस तथा अदरख के स्वरस की पृथक् सात सात भावना देकर सुखा के रख लें। इस प्रकार यह 'मणिपर्पटीरस' तय्यार हो जाता है। इसको एक रत्ती मात्रा में उचित अनुपान के साथ प्रयोग करने पर यह सम्पूर्ण नासिकारोगों को दूर करता है। विशेष पथ्य तथा उपचार के साथ सेवन करने पर यह रस सब रोगों को भी दूर करता है।

विशेष वचन—तुलसी दो बार लिखने से इसकी चौदह भावना देनी चाहिये अथवा काली वनतुलसी की सात भावना अन्य तुलसी के स्वरस की देनी चाहिये। 'हिंगुल' के स्थान पर 'द्विगुण' पाठान्तर मिलता है॥ २५-२८॥

मुखरोगाणां संख्यानिर्देशः—

एको गण्डभवो गदः षडुदिता जिह्वोद्भवास्तालुजा-
श्चाष्टावष्ट च मस्तजाश्च दशनोद्भूता दशौष्ठोद्भवाः।
सन्त्येकादश च त्रयोदश गदा दन्तस्य मूलोद्भवाः
कण्ठेऽष्टादश चोदिता वदनजाः पञ्चाधिका सप्ततिः॥२९॥

मुखरोगों में एक कपोल में होने वाला व्रण, जिह्वा के छः रोग, तालु के आठ रोग, मस्तक के आठ रोग, दांतों के दस रोग, ओष्ठों (होठ) के ग्यारह रोग, दांतों की जड़ों अर्थात् मसूड़ों के तेरह रोग, कण्ठ प्रदेश के अठारह रोग। इस प्रकार सब मिला कर मुख में पचहत्तर रोग होते हैं।

विशेष वचन—प्रकृत मुख रोग गणना में मस्तक रोगों की गणना असंगत प्रतीत होती है। अतः मस्तक का अवयवविशेष मुख लेकर 'अष्ट च मस्तजाः' के स्थान पर 'अष्ट समस्तजाः' पाठ कर लेना युक्तिसंगत होगा। मुखरोगों की संख्या के विषय में भिन्न भिन्न मत दिखाई देते हैं। भोज के मत में ६५ मुख रोग होते हैं। भावमिश्र ने ६७ मुख रोग लिखे हैं। वाग्भट के मतानुसार प्रकृत ग्रन्थ में ७५ मुख रोग लिखे हैं। इन संख्याओं

की भिन्नता में संगति करने के लिये स्मृतिद्विविधता को सामने रखना चाहिये ॥ २९ ॥

गलकीलके आमलकप्रयोगः—

चूर्णं त्वामलकस्यैव गवां क्षीरेण पाययेत्।
गलकीलकनुत्यर्थं— ॥३०॥

आमलों के चूर्ण को गौ के दूध के साथ सेवन कराने से गलकीलक रोग शान्त होता है।

विशेष वचन—गलकीलक शब्द से यहाँ पर गले में अंकुराकार में उत्पन्न होने वाले रोगों का ग्रहण किया गया है। इसमें गले के अर्श, रोगिणी (खुनाक) आदि रोगों का अन्तर्भाव होता है ॥ ३० ॥

विषतिन्दुकादिवटी—

—विषतिन्दुं सनागरम्।
हरीतक्या च संयुक्तं मुखे धार्य संततम् ॥ ३१ ॥

कुचलाचूर्ण, सौंठचूर्ण, हरीतकीचूर्ण तीनों को समभाग में लेकर जल के साथ घोट कर गोली बना लें। इन गोलियों को निरन्तर मुख में रख कर चूसने से गलकीलक रोग (रोहिणी आदि) दूर होते हैं ॥ ३१ ॥

सैन्धवप्रयोगः—

बहुशो भानुदुग्धेन सैन्धवेन प्रलेपनम् ॥ ३२ ॥

सैन्धानमक को आक के दूध की सात भावना देकर सुखा लें। इसको अर्कदुग्ध में या जल में पीस कर गले के भीतर लेप करने से गलकीलक रोग दूर होता है ॥ ३२ ॥

भल्लातकप्रयोगः—

भल्लातकरसं दत्त्वा चूर्णं चोपरि बन्धयेत् ॥ ३३ ॥

भिलावे (वृद्ध) के स्वरस में शुद्ध भिलावों के चूर्ण को घोट कर गले के बाहर लेप कर के बाँध देना चाहिये। इससे भी गलकीलक रोग दूर होता है।

विशेष वचन—अशुद्ध भिलावों के रस या तैलस्पर्श से प्रायः शोथ हो जाता है। अतः भिलावे का लेप लगाने के पूर्व उस स्थान पर नारियल का तेल लगा लेना चाहिये। कोई भिलावों के स्वरस में चूने को मिला कर लेप करने को कहते हैं। इस विधि से भी छाले पड़ जाने का डर है ॥ ३३ ॥

दन्तदार्ढ्ये जयाप्रयोगः—

यः प्रातरुत्तेजयति द्विजान् जया-
काष्ठेनवज्रद्विज एव जायते।
तेनैव तैलोपहितेन मार्जना-
जिह्वाजहात्युद्धतपूतिगन्धिताम् ॥ ३४ ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल अरणी की दातुन से दाँतों को साफ करता है उसके दाँत वज्र के समान दृढ़ हो जाते हैं और यदि अरणी के चूर्ण को तैल में मिला कर जीभ को साफ किया जाय तो जीभ की दुर्गन्धि मिट जाती है।

विशेष वचन—कहीं कहीं प्रकृत पद्य के स्थान पर "यः प्रातः द्विजधावनञ्च कुरुते काष्ठेन वज्रद्विजः। निम्बेन शाखोटककाण्डकेन स्यादन्तकाष्ठं द्विजशोधनाय ॥" ऐसा पाठभेद पाया जाता है ॥३४॥

मुखपाके पर्पटीरसप्रयोगः—

मुखपाकापनुत्यर्थं मधुना पर्पटीरसम्।
खादयेत्कृतगण्डूषो वटिकां चानुधारयेत् ॥ ३५ ॥

मुखपाक (मुँह में छाले पड़ना या पकना) को दूर करने के लिये रोगी को कृमिहर द्रवों का गण्डूष (कुल्ला) करा कर पूर्वोक्त पर्पटीरस को शहत में मिला कर चटाना चाहिये। तदनन्तर हर समय खदिरादि गुटिका आदि गुटिकाओं को मुख में रख कर चूसना चाहिये।

विशेष वचन—मधु का गण्डूष भी किया जा सकता है। मधु लेखन होने से मुख के छालों को साफ कर देता है जिससे व्रणों का विष बाहर निकल जाता है। साथ ही मधु में रोपक शक्ति भी है। तन्त्रान्तर में मधुगण्डूष के विषय में लिखा है—"वैशद्यं जनयत्यास्ते सन्दधाति मुखव्रणात्। दाहतृष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम् ॥" यदि मधु के गण्डूष कराये जायँ तो गण्डूष के बाद पर्पटीरस का प्रयोग करना चाहिये। पित्तप्रकोपयुक्त अत्यन्त लाल वर्ण के छालों पर त्रिफलाकषाय अथवा पञ्चक्षीरी वृक्षों के कषाय द्वारा गण्डूष कराना हितकर होता है ॥ ३५ ॥

मुखशोथे महाराष्ट्रीगुटिका—

महाराष्ट्रिकचूर्णं च चतुष्कृत्वा विभावयेत्।
निम्बार्द्रकरसाभ्यां च गुटिका मुखशोषनुत् ॥३६॥

जलपिप्पली के चूर्ण को नीम के पत्तों के स्वरस तथा अदरख के रस की पृथक् पृथक् चार भावना देकर गोली बना लें। इन गोलियों को मुख में रखने से मुखशोष दूर होता है ॥ ३६ ॥

मुखवैवर्ण्ये पुनर्नवाद्युद्वर्तनम्—

श्वेतं पुनर्नवामूलं सर्पाक्षीमूलसंयुतम्।
उद्वर्तनं हरेत्स्त्रीणां मुखच्छायां सुदुःसहाम् ॥ ३७ ॥

सफेद पुनर्नवा की जड़ तथा नाकुलीमूल दोनों समभाग लेकर जल के साथ पीस कर गाढ़ी लुगदी सी बना लें। इसका मुख में प्रतिदिन दिन में दो बार उबटना करने से स्त्रियों के मुख की झांई (काले से चिह्न) दूर होती है ॥ ३७ ॥

रजन्यादिलेपः—

महिषीक्षीरसंपिष्टं रजनीरक्तचन्दनम्।
कृतलेपं निहन्त्याशु श्यामिकां गण्डयोः स्थिताम् ॥३८॥

हल्दी तथा लालचन्दन दोनों को समभाग में लेकर एकत्र भैंस के दूध में घोट कर लेप तय्यार कर लें। इसको मुख के बाह्य

भाग में लेप करने से गालों और कपोलों में पड़े हुए दाग मिट जाते हैं '

विशेष वचन—मुख पर काले चिह्नों का होना त्वचा में वातिक शक्ति की न्यूनता को दर्शाता है। अतः इस शक्ति को दीप्त करने के लिए मुख पर त्वच्य द्रव्यों को मलना आवश्यक होता है। लाल चन्दन तथा हरिद्रा त्वच्य द्रव्य हैं। क्योंकि इनके मलने से त्वचा में रक्तसञ्चार बढ़ता है और त्वचा का दुर्बल भाग पुष्ट होकर वैवर्ण्य रहित हो जाता है ॥ ३८ ॥

वंगभस्मप्रयोगः—

मुखच्छायाहरं वंगभस्म स्यान्महिषीजलैः ॥ ३९ ॥

वंग की भस्म को भैंस के मूत्र अथवा दूध में घोट कर मुख पर लेप करने से मुख की झाँई और वैवर्ण्य रोग दूर होता है ॥

मातुलुंगादिलेपः—

गोमयस्य रसं सर्पिर्मातुलुंगं मनःशिला।
मुखवर्णकरं श्रेष्ठं तिलकानां च नाशनम् ॥ ४० ॥

गोबर का रस, घृत, बिजौरा नींबू का रस तथा मैनशिल को लेकर पीस कर लेप बना लें। इस लेप को मुँह पर मलने से त्वचा का वर्ण निखर आता है और उसमें जो छोटे छोटे तिल होते हैं उनकी वृद्धि भी बन्द हो जाती है।

विशेष वचन—वृन्द ने इस योग को मुँह की पिडिकाओं के लिये भी उपयोगी बताया है ॥ ४० ॥

मुखवैवर्ण्ये हरिद्रादिलेपः—

उभे हरिद्रे मंजिष्ठां घृतं गौराश्च सर्षपाः।
पेष्या गैरिकसंयुक्ता ह्यजाक्षीरेण पाचिताः ॥
एतेनैव भवेद्वक्त्रमुदयादित्यसन्निभम् ॥ ४१ ॥

हरिद्राचूर्ण, दारुहरिद्राचूर्ण, मजीठचूर्ण, गोघृत, सफेद या पीली सरसों, गेरू; इन सबको समभाग में बकरी के दूध के साथ अच्छी तरह मर्दन करें। इस कल्क का मुख पर लेप करने से मुख का वर्ण प्रातःकालीन सूर्योदय के समान कान्तिमान् हो जाता है।

विशेष वचन—मूल में 'पाचिताः' शब्द होने से सबको एकत्र पीस कर बकरी के दूध में मिला थोड़ा सा गरम कर लेना चाहिये। परन्तु तन्त्रान्तर में पचन से लेप का निष्पादन अर्थ किया है, यथा "रक्तोघ्नशर्वरीद्वयमञ्जिष्ठागैरिकाज्यवस्तपयःसिद्धेन लिप्तमाननमुद्दिद्धिधुबिम्बवद् विभाति।" कहीं कहीं 'पेष्याः', 'पाचिताः' और 'उदयादित्य' के स्थान पर क्रमशः 'लेप्याः', 'पेषिताः' और 'उद्यदादित्य' ऐसा पाठान्तर मिलता है ॥ ४१ ॥

कुष्ठादिवटी—

गोमूत्रैः क्वाथयेत्कुष्ठं बालकं सहरीतकम्।
पिष्ट्वा सर्वं वटीं कुर्यान्मुखदौर्गन्ध्यनाशिनीम् ॥४२॥

कूठचूर्ण, सुगन्धबालाचूर्ण तथा हरीतकीचूर्ण; समभाग में लेकर एकत्र गोमूत्र में मिला कर पका लें। जब वह गोली बनने योग्य हो जाय तो उतार कर गोली बना लें। इन गोलियों को मुख में रखने से मुख की दुर्गन्ध दूर हो जाती है ॥ ४२ ॥

गृहधूमक्काथः—

गृहधूमारनालेन क्वाथं समधुसैन्धवम् ॥ ४३ ॥

घर में धुंएँ को आरनाल (काञ्जी) में पका कर क्काथ बना लें। इसमें शहद और सैन्धानमक मिला कर कुल्ला करने से मुख की दुगन्ध दूर हो जाती है।

विशेष वचन—घर का धुंआ सारमय पदार्थ होने से जल में (गरम) शीघ्र घुल जाता है। अतः इसका क्काथ बनाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। सम्भवतः क्काथ से अभिप्राय यह है कि धुंएँ के चूर्ण को आरनाल में डाल कर तब तक पकावें जब तक वह गाढ़ा न हो जाय। इस द्रव्य का गण्डूष के अतिरिक्त मुख के भीतर लेप भी कर सकते हैं ॥ ४३ ॥

पथ्यादिवटिका—

गोमयैः क्वाथिता पथ्यामिषी कृष्णान्विता कणा।
वदनस्य दुरामोदं निहन्ति परिशीलता ॥ ४४ ॥

गोबरस्वरस में हरीतकीचूर्ण, सौंफचूर्ण, कालाजीराचूर्ण या बावचीचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण को समभाग में लेकर एकत्र पका लें। जब यह गोली बनने योग्य हो जाय तो नीचे उतार कर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को मुख में रखने से मुख की दुर्गन्ध दूर होती है ॥ ४४ ॥

मुखवैरस्ये लाजादिचूर्णम्-

लाजा जातीफलं पूगं तुल्यं भक्ष्यं पिबेदनु।
शीततोयं पलार्द्धं च आस्यवैरस्यशान्तये ॥ ४५ ॥

खील, जायफल तथा सुपारी; इनको समभाग में लेकर एकत्र सूक्ष्मचूर्ण कर लें। इस चूर्ण को प्रतिदिन तीन माशा में सेवन करके पीछे से अनुपान के रूप में आधा पल परिमाण शीतल जल पीना चाहिये। इस योग को कुछ दिन सेवन करने से मुख की विरसता दूर होती है ॥ ४५ ॥

उपजिह्वायां निर्गुण्ड्यादियोगः—

निर्गुण्डीमुत्पलं कन्दं चर्वयेदुपजिह्विके ॥ ४६ ॥

निर्गुण्डी त्वचा तथा नीलकमल की कन्द को मुख में रख कर चबाने से उपजिह्वा रोग की शन्ति होती है।

विशेष वचन—जिह्वामूल अथवा जिह्वाग्र के नीचे शोथ होने को संक्षेपतः उपजिह्वा रोग कहा जाता है ॥ ४६ ॥

कृमिदन्तेऽभयागुटिका—

ताम्रपात्रे क्षणं पाच्यमभयाचूर्णकं मधु।
करेण गुटिका कार्या दन्तैर्धार्या कृमीन् हरेत् ॥४७॥

हरीतकीचूर्ण को समभाग मधु और थोड़ा-सा जल के साथ

शुद्ध तांबे के पात्र में थोड़ी देर पका कर गोली बना लें। इन गोलियों को कीड़ा लगे हुए दांतों के बीच में रखने से दांत का कीड़ा मर जाता है॥ ४७॥

काशीशादिगुटिका—

काशीशं हिंगु सौराष्ट्री देवदारु समं जलैः।
गुटिकां धारयेद्दन्तैः कृमिशूलहरं परम्॥४८॥

शुद्ध कसीस, हींग, फटकरी, देवदारुचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर जल के साथ पीस गोली बना लें। इन गोलियों को कीड़ा लगे हुए दांतों के नीचे रखने से दन्तकृमिजन्य शूल शान्त होता है।॥ ४८॥

विशालाधूमः—

विशालायाः फलं चूर्ण्य तप्तलोहोपरि क्षिपेत्।
तद्धूमाद् भृष्टदन्तानां कीटपातो भवत्यलम्॥४९॥

इन्द्रायण के फल का चूर्ण करके उसको एक अत्यन्त गरम लोहफलक अथवा तवे के ऊपर डालें। उससे जो धुंआँ निकलेगा उसे मुख में कीड़ा लगे हुए दांत पर ले जाय तो लार के साथ कीड़े बाहर निकल आते हैं।

विशेष वचन—यदि उक्त विशालाधूम को धूमपान विधि से लिया जाय तो बड़ी सरलता रहेगी। उसकी विधि यह है कि एक मिट्टी के छोटे पात्र में जलते हुए कोयले रख कर उसमें इन्द्रायण-फलचूर्ण डाल दें। चूर्ण के जलने से जब धुंआँ निकले उसे किसी नली के द्वारा मुख में तम्बाकू के धुंएँ की भाँति खींचें। धूम की उत्तेजना से मुख से लार अधिक निकलने लगेगी उसके साथ ही छोटे छोटे कुछ पीत-रक्तवर्ण कृमि निकलेंगे। विशालाफलचूर्णकी भांति बड़ी कटेली के बीजों का धुंआँ लेने से भी कृमि शीघ्र ही लार द्वारा बाहर निकल आते हैं। कृमिदन्त का लक्षण सुश्रुत में इस प्रकार लिखा है—'कृष्णश्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः। अनिमित्तरुजो वाताद् विज्ञेयः कृमिदन्तकः" ॥४९॥

जातीपत्रादिचर्वणम्—

जातीकोरण्टपत्रं च चर्वयेत्प्रातरुत्थितः।
स्थिराः स्युश्चलिता दन्तास्तत्काष्ठैर्दन्तधावनात्॥५०॥

चमेली तथा पियाबांसा के पत्तों की प्रतिदिन प्रातःकाल १५ या २० मिनट तक चबाने से अथवा चमेली या बांसा की दातुन करने से हिलते हुए दांत स्थिर (मजबूत) हो जाते हैं।

विशेष वचन—दांतों के हिलने में दांतों की रचना या दांतों में कोई विकार नहीं होता है किन्तु मसूड़ों में विकार होता है। अतः ऐसी अवस्था में दन्तमांस को संकुचित करनेवाले द्रव्यों का प्रयोग करना लाभदायक रहता है॥५०॥

मूलकबीजप्रयोगः—

मूलबीजं मुखे धार्यं दन्तदार्ढ्यकरं परम्॥५१॥

दांतों के हिलने पर मूली के बीजों को मुख में रखकर चबाने से या मञ्जन करने से दांत दृढ़ हो जाते हैं॥५१॥

आरनालगण्डूषः—

किञ्चिल्लवणसंयुक्तमारनालं विपाचयेत्।
तेन गण्डूषमात्रेण मुखवैरस्यनाशनम्॥५२॥

काञ्जी में थोड़ा सा नमक मिला कर पका लें। इसके गरम पानी से कुरला करने से मुख का खराब स्वाद दूर होता है॥५२॥

चूर्णदग्धे तैलकाञ्जिकगण्डूषौ—

ताम्बूलचूर्णदग्धस्य गण्डूषस्तिलतैलतः।
काञ्जिकैर्लवणाक्तैर्वा गण्डूषः सुखदायकः॥५३॥

पान में अधिक चूना लगने से मुख में छाले पड़ जाने पर थोड़ी देर तक तिलतैल के गण्डूष (कुरला) कराने से अथवा काञ्जी में नमक मिला उसके गण्डूष कराने से चूने के अधिक होने से होने वाले मुख के छाले दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—आजकल पान के चूने से मुख में छाले पड़ जाने पर केवल कत्थे को मुख में रखा जाता है। अथवा गरी के तैल के गण्डूष कराये जाते हैं या कच्चा गोला चबवाया जाता है॥

सहस्रश्लोकधारियोगः—

अश्वगन्धाऽजमोदा च वचा कुष्ठं कटुत्रयम्।
शतपुष्पा ब्रह्मबीजं सैन्धवं च समं समम्॥५४॥
एतदर्धं वचार्द्धं च चूर्णितं मधुसर्पिषा।
भक्षयेत्कर्षमात्रं तु जीर्णान्ते क्षीरभोजनः॥
सहस्रग्रन्थधारी स्यान्मूको वा वाक्पतिर्भवेत्।
महासरस्वतीचूर्णं बुद्धिजाड्ये परं हितम्॥५५॥

असगन्धचूर्ण, अजमोदाचूर्ण, वचाचूर्ण, कूठचूर्ण, सौंठचूर्ण, मिरचचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, सौंफचूर्ण, ढाक के बीजचूर्ण, सैन्धानमक; इनमें वचा के छोड़ कर अन्य सब द्रव्यों को पृथक् पृथक् समभाग लें। सब द्रव्यों के मिलितचूर्ण से वचाचूर्ण आधा भाग लें। सबको एकत्र मिला पीस कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन एक कर्ष प्रमाण में लेकर घी और शहत के साथ प्रातःकाल सेवन करावें। चूर्ण के हज़म होने पर क्षुधा लगने पर दूध और भात का भोजन करें। इस चूर्ण के कुछ दिन सेवन करने से मनुष्य को एक हज़ार श्लोक याद रखने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। अथवा मूक मनुष्य भी इस चूर्ण के कुछ दिन सेवन करने से अच्छा वक्ता हो जाता है। यह महासरस्वतीचूर्ण बुद्धि की जड़ता में परम हितकारी है।

विशेष वचन—अन्तःप्रयोग में प्रायः वचा शुद्ध तथा घुड़वच के नाम से लेनी चाहिये। वचा की मात्रा ½ रत्ती से प्रारम्भ कर धीरे धीरे बढ़ानी चाहिये। सहसा ३–४ रत्ती प्रयोग करने से जी

मिचला कर वमन हो जाती है। यह योग बुद्धिवर्धक तथा स्पष्टोच्चारण करने में अवश्य फल दिखाता है॥ ५४-५५॥

कण्ठशालूकादौ पारदादिलेपः—

पारदं विमलं ताप्यं त्रिकटु ताम्रसैन्धवम्।
तुल्यं गवां जलैः पिष्टं सुखोष्णं लेपयेन्मुहुः।
त्र्यहेण कण्ठशालूकं गलग्रन्थिं च नाशयेत् ॥५६॥

शुद्ध पारद अथवा रससिन्दूर, रौप्यमाक्षिकभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, ताम्रभस्म, सैन्धानमक; प्रत्येक समभाग में लेकर गोमूत्र में मिला गरम करके गले के भीतर दिन में तीन-चार बार लेप करने से तीन दिन में कण्ठशालूक तथा गलग्रन्थि रोग दूर हो जाते हैं॥ ५६॥

गलकीले सैन्धवप्रयोगः—

लेपयेद्भानुदुग्धेन सैन्धवं गलकीलनुत् ॥५७॥

आक के दूध में सैन्धानमक को पीस कर लेप करने से गले के भीतर उत्पन्न हुए अंकुर (रोहिणी आदि के) नष्ट हो जाते हैं॥ ५७॥

ताप्यादिवटी—

ताप्याभ्रतुत्थकुनटीराजावर्तशिलाजतु।
गुग्गुलुर्हरवीर्यं च मुखरोगनिवर्हणम् ॥५८॥

स्वर्णमाक्षिकभस्म, अभ्रकभस्म, तुत्थभस्म, शुद्ध मैनसिल, लाजवर्दभस्म, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध गुग्गुलु और शुद्ध पारद (रससिन्दूर); प्रत्येक समभाग में लें। स्वर्णमाक्षिक आदि भस्मों को एकत्र पीस कर उसमें गूगल तथा शिलाजतु मिला कर वटी बना लें। इस वटी को मुख में रख कर चूसने से सब मुखरोग शान्त हो जाते हैं॥ ५८॥

गलरोगे मण्डूरलेपः—

महिषीमूत्रसंपिष्टं लोहकिट्टं क्षणं पचेत्।
तेन लेपो निहन्त्याशु गलरोगं सुदुःसहम् ॥५९॥

शुद्ध मण्डूरचूर्ण अथवा भस्म को भैंस के मूत्र में पीस कर कुछ गरम करके गले के भीतर लेप करने से भयंकर गलरोग भी शीघ्र शान्त होते हैं॥ ५९॥

काञ्चन्यादिलेपः—

जलेन पेशयेत्तुल्यं काञ्चनीचित्रकं विषम्।
सप्ताहं लेपयेत्तेन ह्यपच्या गण्डमालिकाः॥
स्फुटन्ति नात्र संदेहः स्फोटे लेपमिमं कुरु ॥६०॥
निजद्रावेण संपिष्टं मुण्डीमूलप्रलेपनात्।
गण्डमालाः क्षयं यान्ति तद्भवं च पिबेज्जलम् ॥६१॥

हरिद्रा, चित्रक की छाल, शुद्ध वत्सनाभविष तीनों के चूर्ण को समभाग में लेकर जल के साथ घोट कर सात दिन तक अपची तथा गण्डमाला के ऊपर लेप करने से गण्डमाला या अपची की ग्रन्थियाँ पक कर फट जाती हैं। जब ग्रन्थियाँ पक कर फूट जायें तो उनको कृमिहर द्रवों से धोकर स्वच्छ कर लें, फिर उन पर मुण्डी की मूल को मुण्डी के ही स्वरस से पीस कर लेप कर दें और मुण्डीमूलस्वरस रोगी को पिलावें। इस प्रयोग से गण्डमाला क्षीण हो जाती है।

विशेष वचन—मुण्डी से यहाँ पर कोई कड़वी तुम्बी की जड़ का ग्रहण करते हैं। 'अपच्या' के स्थान पर 'अपच्यो' पाठ अच्छा है। काञ्चनी से कई टीकाकार कचनार की छाल या मूल लेते हैं॥ ६०-६१॥

ब्रह्मदण्डीप्रलेपः—

ब्रह्मदण्डीयमूलं तु पिष्टं तण्डुलवारिणा।
स्फुटितां हन्ति लेपेन गण्डमालां न संशयः॥ ६२॥

कण्ठमाला पर पूर्वोक्त काञ्चन्यादि लेप करके उसके फूटने पर ब्रह्मदण्डी की जड़ को चावलों के पानी से पीस कर लेप करने से निःसन्देह कण्ठमाला शान्त होती है।

विशेष वचन—ब्रह्मदण्डी से यहाँ पर कोई भारंगी की जड़ का ग्रहण करते हैं॥ ६२॥

गण्डमालायां प्रलेपः—

गन्धकं सूतकं तुल्यमर्कक्षीरेण सैन्धवम्।
पिष्ट्वा च काञ्चनीमूलं लेपोऽयं गण्डमालिकाम् ॥६३॥
अदृश्यां स्फोटयत्याशु मुण्डीद्रावेण पेषितम्।
तन्मूलं लेपयेत्तत्र त्रिःसप्ताहं प्रशान्तये॥ ६४॥

शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद, सैन्धानमक, हरिद्राचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला आक के दूध से घोट कर लेप तय्यार कर लें। कण्ठमाला की गाँठों पर इस लेप को लगाने से कण्ठमाला की अदृश्य (छिपी हुई) गाठें भी फूट जाती है। गाठों के फूटने पर मुण्डी की जड़ को मुण्डी के स्वरस से पीस कर तीन सप्ताह तक लेप करने से कण्ठमाला रोग शान्त हो जाता है ॥६४॥

जैपालप्रयोगः—

पिष्ट्वा जैपालपत्राणि स्वरसेन ततो वटी।
छायाशुष्का तया लेपाद् गण्डमालां विनाशयेत् ॥६५॥

जमालगोटे के पत्तों को उनके स्वरस से ही मर्दन करके छाया में सुखा कर गोली बना लें। इन गोलियों को जल में घिस कर लेप करने से कण्ठमाला दब जाती है॥ ६५॥

हेमतारादिगुटिका—

हेमतारयुतं सूतं तालकं क्षीरमर्दितम्।
क्षौद्रे तिलानां तैलेन प्रस्विन्नं दन्तदार्ढ्यकृत् ॥६६॥

स्वर्णभस्म, रजतभस्म, शुद्ध पारद (रससिन्दूर), शुद्ध हरताल; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद को हरताल के साथ

घोट कर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर गोदुग्ध से मर्दन करके गोलियाँ बना लें। इन गीली गोलियों को एक कपड़े की पोटली में बाँध कर दोलायन्त्र की विधि से तिलतैल में स्वेदन कर लें। गोलियों के दृढ़ हो जाने पर निकाल कर शीतल कर लें। इन गोलियों को फिर शहत में डाल दें। तदनन्तर इनको मुख में रखने से दाँत दृढ़ हो जाते हैं।

विशेष वचन—पारद के स्थान पर रससिन्दूर लेना चाहिये। यदि पारद लिया जाय तो स्वर्ण तथा रजत के पत्र लेने चाहिये। तन्त्रान्तर में "हेमतारयुतं सूतं तालकं क्षीरमर्दितम्।" के स्थान पर "हेमतारयुतः सूतस्तिलार्कक्षीरमर्दितः।" उचित प्रतीत होता है॥

धातुबद्धरसगुटिका—

दन्तदार्ढ्यप्रसिद्ध्यर्थं गुटिकां देहि सर्वदा।
रसस्य धातुबद्धस्य चालनं घर्षणं तथा॥ ६७॥
रूप्यादिचूर्णमादाय पिष्टिं साधय यत्नतः।
निंबुमध्ये विनिक्षिप्य दिनानां पञ्च धारय॥ ६८॥
तालचूर्णं समादाय भानुदुग्धेन भावयेत्।
तन्मध्ये गुलिकां क्षिप्त्वा पचस्व तिलतैलके॥ ६९॥
दोलायन्त्रे निबध्यैनां यत्नेन दिवसत्रयम्।
मलापकर्षणं कृत्वा मधुभाण्डे निधापयेत्॥
खे धारय दन्तानां दार्ढ्याय गुटिकामिमाम्॥७०॥

दाँतों की दृढ़ता को स्थिर रखने के लिये निम्नलिखित विधि से बनाई हुई पारद युक्त धातुओं की गुटि को मुख में रखना चाहिये। अथवा आवश्यकता पड़ने पर गुटिका को घिस कर दाँतों पर मञ्जन भी करना चाहिये। स्वर्ण अथवा रजत को गला कर उसमें समभाग शुद्ध पारद मिला कर पिष्टी बना लें। फिर इस पिष्टी की छोटी छोटी गोली बना कर इनको पाँच दिन तक एक या दो तीन कागजी निंबुओं के बीच में रख दें। छठे दिन इनको निकाल लें। पश्चात् शुद्ध हरताल के चूर्ण को आक के दुग्ध में घोट कर इसका कल्क बना उसके बीच में उक्त गोलियों को रख कर गोला सा बना लें। अब इस गोले को कपड़े की पोटली मे बाँध कर दोलायन्त्र-विधि से तिलतैल में बहुत मन्द मन्द अग्नि से तीन दिन तक स्वेदन करें। तदनन्तर शीतल करके गोले से वटिकाओं को निकाल कर उनके बाहर लगे हुये हरताल तथा अर्कदुग्ध आदि को पृथक् करके गोलियों को शहत में डाल कर रख दें। आवश्यकता होने पर इनमें से एक गोली निकाल मुख में रखें। इनके मुख में रखने से दाँत दृढ़ हो जाते हैं।

विशेष वचन—आदि शब्द से कासीस, तुत्थ आदि का ग्रहण किया जा सकता है। ये धातु या उपधातु ग्राही तथा विषनाशक होने से दन्तमांसों की विकृति में विशेष लाभदायक होते हैं। कोई यहाँ पर पिष्टीप्रकरण में लिखे हुये तारपिष्टी, स्वर्णपिष्टी का ग्रहण करते हैं॥ ६७–७०॥

शिरोरोगाणां नामानि—

शिरस्तोदाश्चतुर्द्धोक्ता दोषैः सर्वास्रजन्तुभिः।
कम्पश्चार्द्धावभेदश्च सूर्यावर्तोऽपि शङ्खकः॥ ७१॥

शिरःपीड़ा दोषप्रकोप के अनुसार चार प्रकार की होती। १–वातिक, २–पैत्तिक, ३–श्लैष्मिक, ४–सान्निपातिक। इसके अतिरिक्त रक्तविकृति तथा सिर में क्रिमियों के कारण भी शिरःपीड़ा होती है। कुछ पीड़ा ऐसी हैं जो सिर के विशेष प्रदेश में विशेष लक्षणों से युक्त होती है। उनमें शिरःपीड़ा के साथ कम्प, अर्धावभेदक (आधा शीशी), सूर्यावर्त (सूर्य के साथ घटने बढ़ने वाली शिरःपीड़ा) तथा शंखक (कनपटी प्रदेश में उठने वाली पीड़ा), जिससे नेत्रों की शक्ति शीघ्र क्षीण हो जाती है, रोग प्रसिद्ध हैं।

विशेष वचन—यद्यपि सुश्रुत के "शिरो रुजति मर्त्यानां वातपित्तकफैस्त्रिभिः। सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा॥ सूर्यावर्तानन्तवातार्द्धावभेदकशंखकैः॥" इस कथन के अनुसार ग्यारह शिरोरोग होते हैं। तथापि प्रकृत ग्रन्थ में क्षय-शिरोरोग को वातिक-शिरोरोग में गिन कर दश ही रोग गिने हैं। 'शिरस्तोदाश्चतुर्द्धोक्ताः' के स्थान पर 'शिरस्तोदाश्च षट् प्रोक्ता' पाठ योग्य प्रतीत होता है॥ ७१॥

अथ शिरोरोगचिकित्सा।

अर्द्धावभेदे गिरिकर्णीप्रयोगः—

गिरिकर्णीफलं मूलं सजलं नस्यमाचरेत्।
मूलं वा बन्धयेत्कर्णे निहन्त्यर्द्धशिरोव्यथाम्॥ ७२॥

गिरिकर्णी (सफेद कोयल) के फल तथा मूल को जल के साथ पीस कर उसका रस निचोड़ लेवें। इस रसका नस्य देने से अथवा कोयल की जड़ को कान में बाँधने से आधाशीशी की पीड़ा दूर होती है।

विशेष वचन—"गिरिकर्णीफलं मूलं सजलं" के स्थान पर "गिरिकर्णीफलरसं मूलञ्च" ऐसा पाठान्तर मिलता है। इसी तरह 'सजलं' के स्थान पर कहीं कहीं 'सदलं' पाठ मिलता है॥ ७२॥

गुडादिनस्यम्—

गुडं करञ्जबीजं च नस्यमुष्णजलैर्हितम्॥ ७३॥

गुड़ और करञ्जबीजों को एकत्र पीस कर गुनगुने जल में घोल कर उसका नस्य लेने से भी आधाशीशी की पीड़ा शान्त होती है॥ ७३॥

मरिचप्रलेपः—

मरिचं भृङ्गजैर्द्रावैर्लेपोऽयं हन्ति तां रुजम्॥ ७४॥

कालीमिरच के चूर्ण को भाँगरे के स्वरस में घोट कर शिर में लेप करने से भी आधाशीशी की पीड़ा शान्त होती है।

विशेष वचन—भैषज्यरत्नावली में उक्त गुञ्जादिनस्य तथा मरिचप्रलेप इन दो योगों के स्थान पर एक ही योग माना गया है। जैसे "गुञ्जाकरञ्जबीजञ्च तयोः कल्को जले कृतः। मरिचैर्भृंगराजैश्च शीघ्रं हन्ति शिरोव्यथाम्" ॥ ७४ ॥

चन्द्रकान्तो रसः—

मृतसूताभ्रकं तीक्ष्णं कान्तं ताम्रं मृतं समम्।
स्नुहीक्षीरैर्दिनं मर्द्यं पिण्डं तन्माषमात्रकम्॥
सप्ताहात्सूर्यवर्तादीन् शिरोरोगान् विनाशयेत् ॥७५॥

मृतसूत (रससिन्दूर), अभ्रकभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, कान्तलोहभस्म, ताम्रभस्म; प्रत्येक द्रव्य समभाग लेकर एकत्र करके थोहर के दूध से मर्दन कर पिण्ड सा बना कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन उड़द के बराबर मात्रा में सेवन कराने से सात दिन में सूर्यावर्त आदि शिरोरोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—यह रस रसेन्द्रसारसंग्रह में भी पाया जाता है परन्तु वहाँ इसके द्रव्यों में गन्धक भी लिखा है। साथ ही इसकी सेवनविधि भी कुछ भिन्न है। उसका पाठ इस प्रकार है—"मृतसूताभ्रकं तीक्ष्णं ताम्रं गन्धं समं समम्। स्नुहीक्षीरैर्दिनं मर्द्यं ततस्तु माषमात्रकम्॥ मधुना मर्दितं सेव्यं लौहपात्रे दिने दिने। सूर्यावर्तादिकान् तूर्णं शिरोरोगान् विनाशयेत् ॥" रसरत्नाकर में इस योग का नाम 'सूर्योदयरस' है। वहाँ भी 'कान्तं' के स्थान पर 'गन्धं' पाठ मिलता है। मात्रा १ रत्ती तक दी जाती है ॥ ७५ ॥

शिरःशूले कुंकुमादिनस्यम्—

कुंकुमं मधुयष्टी च सिताघृतगुणोत्तरम्।
सप्ताहेन कृते नस्ये दाहं हन्ति शिरोरुजाम् ॥ ७६ ॥

केसर एक भाग, मुलेठीचूर्ण दो भाग, मिश्री तीन भाग, गोघृत चार भाग लेकर सब को एकत्र पीस कर इसका नस्य लेने से एक सप्ताह में शिर की दाह तथा पीड़ा शान्त होती है।

विशेष वचन—यह योग वात तथा रक्तप्रकोपयुक्त शिरोरोग में या केवल पित्तप्रकोपयुक्त शिरोरोग में लाभदायक है ॥ ७६ ॥

मरिचनस्यम्—

शिग्रुपत्ररसैर्मर्द्यं मरिचं चार्द्धमूलनुत् ॥ ७७ ॥

सुहांजने के पत्तों के स्वरस में कालीमिरच के चूर्ण को सात भावना देकर सुखा कर रख लें। इसकी नस्य देने से भी आधाशीशी की पीड़ा शान्त होती है।

कुंकुमप्रयोगः—

कुंकुमं घृतसंयुक्तं नस्याद्धन्ति शिरोरुजम् ॥ ७८ ॥

केवल केसर को गोघृत में पीस कर नस्य लेने से भी शिर की पीड़ा शान्त होती है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में इस योग में शर्करा का भी मिश्रण करने को लिखा है ॥ ७८ ॥

यूकालिक्षायां पारदप्रयोगः—

पारदं मर्दयेन्निष्कं कृष्णधुस्तूरजैर्द्रवैः।
नागवल्लीदलैर्वाऽथ वस्त्रखण्डं प्रलेपयेत् ॥ ७९ ॥
तद्वस्त्रं मस्तके वेष्टय धार्यं यामत्रयं बुधैः।
यूकाः पतन्ति निःशेषाः सलिक्षा नात्र संशयः ॥८०॥

एक निष्क पारदको काले धत्तूरे के पत्तों के रस में अथवा पान के पत्तों के स्वरस में घोट कर कल्क बना उस कल्क को एक स्वच्छ वस्त्र पर लेप कर शिर में लपेट दें और तीन प्रहर तक अर्थात् नौ घण्टे तक बांधे रखें। इस क्रिया से शिर की सम्पूर्ण जूं तथा लीखें मर कर गिर जाती हैं।

विशेष वचन—इस योग को शिर में लगाने के पूर्व यदि बालों को कुछ छोटा किया जा सके तो औषधि का शीघ्र प्रभाव होगा ॥ ७९—८० ॥

दारुणहरतैलम्—

कण्टकारीफलरसैस्तैलं तुल्यं विपाचयेत्।
जयापुष्पद्रवैर्वाऽथ तल्लेपो दारुणप्रणुत् ॥ ८१ ॥

तिलतैल में समभाग कण्टकारी के फलों का रस मिला कर अथवा अरनी के पुष्पों का स्वरस मिला कर तैल सिद्ध कर लें। इस तैल को प्रतिदिन सिर में मालिश करने से दारुणक रोग शान्त होता है।

विशेष वचन—दारुणक रोग शिर में खुश्की का बढ़ना है। इसे हिन्दीभाषा में कोई फ्यास सिकरी भी कहते हैं। जब यह रोग बढ़ने लगता है तो सिर में कण्डू भी होने लगती है। यह रोग प्रायः उन्हीं लोगों के सिर में होता है जो कभी सिर में तैल नहीं मलते या उसे स्वच्छ नहीं रखते हैं। 'जया' के स्थान पर 'जपा' पाठ भी मिलता है ॥ ८१ ॥

केशपाते हरिद्रादिलेपः—

द्विनिशा नवनीतेन लेपाद्वा खण्डकेशनुत् ॥ ८२ ॥

हरिद्रा और दारुहरिद्रा के समभाग चूर्ण को मक्खन में मिला कर सिर धो कर प्रतिदिन कुछ दिन तक सिर में लेप करने से बालों का गिरना बन्द होता है।

विशेष वचन—बालों की जड़ों में होनेवाली स्नेहग्रन्थियों में रक्त की दुर्बलता या विकृति से पोषण कम होता है तो बाल गिरने लगते हैं। रक्त की विकृति तथा उष्मा को कम करने के लिए प्रकृत योग में उत्तम द्रव्य है ॥ ८२ ॥

केशपाते जातीप्रयोगः—

जातीपुष्पदलं मूलं कृष्णगोमूत्रपेषितम्।
लेपोऽयं सप्तरात्रेण दृढकेशकरः परम् ॥ ८३ ॥

चमेली के फूल, पत्ते और जड़ को काली गाय के मूत्र में

पीस कर सात दिन तक सिर में लेप करने से बालों की जड़ें मजबूत हो जाती हैं और उनका गिरना बन्द हो जाता है।

विशेष वचन—'दलं' के स्थान पर 'फलं' पाठान्तर है ॥८३॥

शृंगाटकादितैलम्—

शृङ्गाटत्रिफलाभृङ्गीनीलोत्पलमयोरजः।
सूक्ष्मचूर्णं समं कृत्वा पचेत्तैले चतुर्गुणे ॥
तल्लेपेन दृढाः केशाः कुटिलाः सरला अपि ॥८४॥

सिंघाड़े का चूर्ण, हरड़, बहेड़ा, आँवला, भाँगरा, नीलकमल लोहचूर्ण; समभाग में लेकर जल के साथ पीस कर इसका कल्क कर लें। कल्क से चतुर्गुण तिलतैल और तैल से चौगुना जल लेकर सबको एक पात्र में डाल कर तैल पका लें। इस तैल की प्रतिदिन सिर में मालिश करने से सिर के बाल अत्यन्त मजबूत, घूँघर वाले, सीधे और उत्तम कृष्णवर्ण के हो जाते हैं ॥ ८४ ॥

इन्द्रलुप्ते भल्लातकादिलेपः—

कीटभक्षितकेशांतःस्थानं स्वर्णेन घर्षयेत्।
यावत् सुतप्ततां याति ततो लेपमिमं शृणु ॥ ८५ ॥
भल्लातकं च बृहती गुञ्जामूलं फलं तथा।
मधुना सह लेपेन चाम्पारोगचयप्रणुत् ॥ ८६ ॥

बालों की जड़ें, रक्त में पाये जाने वाले क्रिमियों द्वारा विष के कारण, यदि दुर्बल पड़ कर बाल उगाने में असमर्थ हो जायँ अर्थात् किसी स्थान पर (सिर में) के बाल उड़ जायँ तो पहिले उस स्थान पर स्वर्णधातु अथवा धत्तूरबीजों का घर्षण करो जब वह स्थान तप्त हो जाय अर्थात् रक्त के अधिक सञ्चार से गरम हो जाय तो उस पर निम्नलिखित औषधियों का लेप कर दें। शुद्ध भिलावाचूर्ण, कटेली के फल का चूर्ण, रत्ती की जड़ और रत्ती, इनको समभाग में लेकर शहत के साथ लेप करने से चाम्पा रोग नष्ट हो जाता है अर्थात् बाल उगने लगते हैं।

विशेष वचन—इन्द्रलुप्त रोग को ही प्रकृत ग्रन्थ में चाम्पा रोग के नाम से लिखा है। वाग्भट ने इस रोग को 'चाचा' नाम से लिखा है—"तदिन्द्रलुप्तं रूढ्याख्यं प्राहुश्चाचेति चापरे।" अतः 'चाम्पा' के स्थान 'चाचा' पाठ कल्पना ठीक रहेगी। इस रोग की उत्पत्ति के विषय में यह लिखा है कि यह केशाद नामक रक्तजन्य कृमियों के कारण होता है—"रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम्। प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः। रुणद्धि रोमकूपांश्च ततोऽन्येषामसम्भवः। तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते।"

चक्रदत्त में भल्लातक आदि औषधियों से चार योगों का वर्णन मिलता है—"भल्लातकबृहतीफलगुञ्जामूलफलेभ्य एकेन। मधुसहितेन विलिप्तं सुरपतिलुप्तं शमं याति॥" तन्त्रान्तर में भल्लातक तथा बृहतीफल के स्थान पर फलरस लिया गया है—"सक्षौद्रक्षुद्रावार्ताकुस्वरसेन रसेन वा। धुस्तूरस्य च पत्राणां भल्लातकरसेन वा" ॥

गुञ्जाप्रयोगः—

गुंजामूलं फलं चूर्णं कण्टकार्याः फलद्रवैः।
तेन लेपेन हन्त्याशु चाचारोगं सुदुःसहम् ॥८७॥

गुञ्जा (रत्ती) मूल तथा गुञ्जा फलों के चूर्ण को कटेली के फलों के स्वरस के साथ घोट कर लेप बना लें। इस लेप को सिर में लगाने से कष्टसाध्य चाचा रोग (बालों का उड़ना) दूर होता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर दर्शन से इस पद्य में 'वा' शब्द लुप्त है। जिससे यह अर्थ निकलता है कि गुञ्जामूल अथवा गुञ्जाफल के चूर्ण को कटेलीफलस्वरस से मर्दन कर लेप करना चाहिये। इस लेप के करने के पूर्व भी बाल उड़े हुये स्थान पर धत्तूरफल द्वारा घर्षण करके उत्तप्तता कर लेनी चाहिये ॥ ८७ ॥

अभ्रादिवटिका—

अभ्रजीर्णरसस्तीक्ष्णं स्नुहीक्षीरं सुरायसम्।
गुल्वं च सूर्यावर्तादीञ्छिरोरोगान्निवर्तयेत् ॥८८॥

अभ्रकजीर्ण पारद, तीक्ष्णलोहभस्म, थोहर का दूध, कान्तलोह तथा ताम्रभस्म; प्रत्येक समभाग लें। सबको एकत्र खरल में जल के साथ पीस कर गोली बना लें। इसमें से प्रतिदिन उचित अनुपान के साथ सेवन करने से सूर्यावर्त आदि शिरोरोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—'अभ्रजीर्णरसः' के स्थान पर 'अभ्रं जीर्णरसः' पाठ सरल और अच्छा प्रतीत होता है। ऐसी अवस्था में जीर्ण रस से पारद की भस्म (अभाव में रससिन्दूर) का ग्रहण करना चाहिये। यदि सुरा, आयसम्, पृथक् पद किया जाय तो इस वटिका का अनुपान सुरा हो सकता है या इन द्रव्यों को सुरा के साथ घोट कर वटिका बना लेनी चाहिये। ऐसा अर्थ हो सकता है ॥ ८८ ॥

कटुतैलनस्यम्—

कटुतैलकृतं नस्यं पलितारुषिकापहम् ॥८९॥

सरसों के तैल की नस्य लेने अर्थात् कड़वे तैल की दो चार बूँद नाक में टपकाने से पलित (अकाल में ही बालों का पकना) तथा अरुंषिका (सिर में खुजली के साथ बहुत छोटी छोटी फुन्सियों का होना) रोग बढ़ने नहीं पाते हैं ॥ ८९ ॥

स्नुह्यादितैलम्—

स्नुह्यर्कक्षीरभृङ्गाम्बुगोमूत्रहलिनीविषैः।
गुञ्जाविशालामरिचैः कटुतैलं विपाचितम् ॥
खलतिं शमयत्यम्लपिष्टमष्टगुणं विषात् ॥ ९० ॥

थोहर का दूध, आक का दूध, कलिहारीविष, गुञ्जाफल (रत्ती) इन्द्रायण की जड़, कालीमिरच; प्रत्येक समभाग में लेकर इनका एकत्र कल्क बना लें। इस कल्क से चतुर्गुण सरसों का तैल लें। भृंगराजस्वरस तथा गोमूत्र; प्रत्येक तैल से द्विगुण लें। सब को एकत्र मिला तैल पका लें। अथवा वत्सनाभविष के कल्क से आठगुना कड़वा तैल लेकर उसमें तैल से चतुर्गुण काञ्जी डाल कर तैल पका लें। इस तैल को शिर में लगाने से बालों का गिरना बन्द होता है।

विशेष वचन—चक्रदत्त में इस तैल में गोमूत्र के साथ बकरी का मूत्र डालने को भी कहा है। यथा—"स्नुहीपयः पयोऽर्कस्य मार्कवो लांगली विषम्। मूत्रमाजं सगोमूत्रं रक्तिकासेन्द्रवारुणी॥ सिद्धार्थं तीक्ष्णतैलञ्च गर्भे दत्त्वा विपाचितम्। वह्निना मृदुना पक्वं तैलं खालित्यनाशनम्॥" कोई कोई टीकाकार विष शब्द से वत्सनाभ और लांगली से कलिहारीविष लेते हैं॥ ९० ॥

व्रणस्य भेदनिर्देशः—

दोषैर्द्वन्द्वैः समस्तैश्च सास्रैस्तैरसृजाऽपि च।
व्रणभेदा इति प्रोक्ता वैद्यशास्त्रविशारदैः॥ ९१ ॥

शरीर में व्रण पृथग्दोषों से अर्थात् वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक इस प्रकार तीन, द्वन्द्वदोषों से अर्थात् वातपित्त, वातकफ, कफपित्त-प्रकोप से तीन, सम्पूर्ण दोषों अर्थात् सन्निपात से एक होता है। इस प्रकार सात दोषज व्रण होते हैं। ये व्रण विना रक्तविकृति के नहीं होते हैं। अतः उक्त सात व्रणों के साथ रक्त का सम्बन्ध करके ये चौदह प्रकार के हो जाते हैं और एक व्रण रक्त की विकृति से ही विशेष होता है। इस तरह सब मिला कर पन्द्रह प्रकार के व्रणभेद माने गये हैं।

विशेष वचन—माधवनिदान में उक्त पद्य के भाव को आधे श्लोक में लिखा है—"रक्तो रक्तस्रुती रक्तात् द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः"॥ ९१ ॥

अथ व्रणचिकित्सा।

व्रणशोधने ताम्रप्रयोगः—

शुल्वचूर्णं रसे जीर्णे मदयन्तीपुनर्नवे।
मेषशृङ्गीरसश्चैतद् व्रणशोधनरोपणम्॥ ९२ ॥

जीर्ण शुल्वचूर्ण अर्थात् ताम्रभस्म को मदयन्ती (नवमल्लिका), पुनर्नवा तथा मेढासिंगी के स्वरस में अच्छी तरह घोट कर अथवा पृथक् पृथक् सात भावना देकर सुखा ले। इसमें से उचित मात्रा में लेकर रक्तशोधक द्रव्यों के अनुपान के साथ प्रयोग करने से व्रण शुद्ध होकर भरने लगते हैं।

विशेष वचन—कोई टीकाकार पारद में ताम्रचूर्ण को जीर्ण कर पुनर्नवा आदि के स्वरस से मर्दन कर प्रयोग में लाने का अर्थ करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। रसरत्नाकर के पाठ दर्शन से यह भ्रम दूर हो जाता है। जैसे—"ताम्रभस्मद्रवैर्मर्द्यं मधुपर्णी-पुनर्नवैः। मेषशृङ्ग्यादिनैकेन व्रणशोधनरोपणम्"॥ ९२ ॥

पटोलादिपूरणम्—

पटोलनिम्बपत्रं च मधुयष्टीनिशातिलाः।
त्रिवृद्दन्तीरसैः पिष्ट्वा पूरयेद् व्रणरोपणम्॥ ९३ ॥

पटोलपत्र, निम्बपत्र, मुलेठी, हल्दी, काले तिल, निशोथ; प्रत्येक समभाग में लेकर दन्तीत्वक्स्वरस से मर्दन करके व्रणों पर लगाने से व्रण शीघ्र भर जाते हैं।

विशेष वचन—चक्रदत्त में इस योग में तिल के स्थान पर दारुहल्दी ली है और सैन्धानमक अधिक मिला कर प्रयोग करने को लिखा है। यथा—"पटोलीतिलयष्ट्याह्वत्रिवृद्दन्तीनिशाद्वयम्। निम्बपत्राणि चालेपः सपटुर्व्रणशोधनः॥" चक्रदत्त में इस योग को व्रणशोधक ही लिखा है॥ ९३ ॥

निम्बपत्रादिपूरणम्—

निम्बपत्रं तिलं पिष्ट्वा पूरयेन्मधुसर्पिषा॥ ९४ ॥

नीम के पत्ते, काले तिल, दोनों को समभाग में लेकर एकत्र पीस कर शहद और घी में मिला व्रणों पर लेप करना चाहिये।

विशेष वचन—सिद्ध योग के कथनानुसार यह योग व्रणों को भरने के लिये प्रयोग में लाना चाहिये॥ ९४ ॥

जात्याद्यं घृतम्—

जातीपत्रं पटोलं च निम्बोशीरकरञ्जकम्।
मञ्जिष्ठा मधुयष्टी च तुत्थपत्रकसारिवाः॥ ९५ ॥
प्रत्येकं चूर्णतःकर्षं गव्याज्यं द्वादशं पलम्।
घृताच्चतुर्गुणं तोयं पाच्यमाज्यावशेषितम्॥ ९६ ॥
तेनाभ्यङ्गो मर्मजातान् व्रणान्नाडीव्रणानपि।
स्रवन्ति सूक्ष्मरन्ध्राणि पूरयेन्नात्र संशयः॥ ९७ ॥

चमेली के पत्ते, पटोलपत्र, निम्बपत्र, खश, करञ्जपत्र, मजीठ मुलेठी, शुद्ध तूतिया, तेजपत्र, सारिवा (अनन्तमूल); प्रत्येक का चूर्ण एक एक कर्ष लेकर जल के साथ घोट कर कल्क कर लें। इसमें बारह पल गाय की घी और घी से चौगुना जल डाल कर स्नेहसाधनविधि से घृत पका लें। घृतमात्र शेष रहने पर उतार छान लें। यह घृत शरीर में (व्रणस्थान पर) मालिश करने से मर्मस्थानों में उत्पन्न हुये व्रणों, नाडीव्रणों (नासूर) और प्रत्येक समय रिसते हुये सूक्ष्ममुख व्रणों को शीघ्र भर देता है। इसमें सन्देह नहीं।

विशेष वचन—भैषज्यरत्नावली में यह घृत औषधियों में कुछ परिवर्तन के साथ लिखा है और गुणपाठ भी कुछ अधिक है। यथा—"जातीनिम्बपटोलपत्रकटुका दार्वी निशा शारिवा मञ्जिष्ठाऽभयसिक्थतुत्थमधुकैर्नक्ताह्वबीजैः समैः॥ सर्पिः सिद्धमनेन सूक्ष्म-

वदना मर्माश्रिताः स्राविणो गम्भीराः सरुजो व्रणाः सगतिका शुद्ध्यन्ति रोहन्ति च" ॥ ९५-९७ ॥

अपामार्गप्रयोगः—

अपामार्गस्य पत्रोत्थरसेनाऽऽपूरयेद् व्रणम् ।
किं वा तद्बीजचूर्णेन व्रणं दुष्टं प्ररोहयेत् ॥ ९८ ॥

अपामार्ग (चिरचिरा) के पत्तों के स्वरस को व्रणों में भरने से अथवा अपामार्ग के बीजों के चूर्ण को व्रणों में भरने से या बुरकने (Dusting) से दुष्टव्रण (खराब हुए व्रण) भर जाते हैं ॥ ९८ ॥

गुडटङ्कणवर्तिः—

पुरातनगुडैस्तुल्यं टङ्कणं सूक्ष्मचूर्णितम् ।
तद्वर्त्या पूरयेद् गूढं व्रणं शीघ्रतरं महत् ॥ ९९ ॥

पुराना गुड़ तथा शुद्ध सुहागा दोनों को समभाग में लेकर एकत्र अच्छी तरह घोट कर बत्ती बना लें। इस बत्ती को बहुत पुराने और गहरे व्रणों में भरने से वे शीघ्र ही सूख कर भर जाते हैं ॥ ९९ ॥

व्रणलेखने पारदादिलेपः—

पारदस्य त्रयो भागाः कमलस्यैकविंशतिः ।
जम्बीराम्लेन तत्पिष्टं मणिमन्थस्य सप्ततिः ॥ १०० ॥
नवभिर्गन्धकस्यांशैर्भृङ्गसारेण मर्दयेत् ।
सप्ताहमातपे तीव्रे धारितं शस्त्रवल्लिखेत् ॥ १०१ ॥

शुद्ध पारद तीन भाग, कमल (ताम्र) इक्कीस भाग लेकर दोनों को एकत्र खरल में जम्बीरी नींबूस्वरस से तब तक मर्दन करें जब तक ताम्रचूर्ण घुल कर उस (पारद) में न मिल जाय। फिर इसमें सत्तर भाग सैन्धानमक, शुद्ध गन्धक नौ भाग मिला कर भाँगरे के स्वरस से मर्दन कर तीव्र धूप में रख दें। जब भाँगरे का स्वरस सूख जाय तब इसे एक शीशी में रख लें। इस प्रकार तय्यार किया हुआ यह लेप व्रण के ऊपर लगाने पर शस्त्र-क्रिया के समान व्रणों का लेखन (खुरचना) करता है।

विशेष वचन—कमल शब्द से यद्यपि नीलकमल, श्वेतकमल आदि कमल-पुष्पों का ग्रहण होता है तथापि यहाँ पर लेखन धर्मविशेष होने से कमल शब्द से ताम्र का ग्रहण किया गया है। कमल शीतगुण होने से लेखन कार्य नहीं करता है। भगन्दराधिकार में लिखे हुए रसरत्नाकरोक्त पाठ के अनुसार भी यहाँ कमल से ताम्र का ग्रहण होना चाहिये। जैसे "ताम्रचूर्णं समभागं सूतमेकं विमर्दयेत्। सैन्धवं सप्तभागञ्च गन्धकं नवभागिकम् ॥ भृंगीद्रावैः सजम्बीरैः सप्ताहं परिमर्दितम्। तैललिप्तं स्फुटत्याशु यद्यपक्वं भगन्दरम् ॥" मेदनीकोष में भी ताम्रार्थक कमल शब्द मिलता है। यथा, "कमलं सलिले ताम्रे जलजे क्लोम्नि भेषजे" ॥ १००-१०१ ॥

भग्नस्य भेदनिर्देशः—

भग्नो द्विधा निजागन्तुबाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥ १०२ ॥

भग्न (हाथ पाँव आदि अंगों का टूटना) निज (व्रणरहित) तथा आगन्तु (व्रणसहित) भेद से दो प्रकार का शारीरिक दोष प्रकोपजन्य तथा मर्दनादि-कारणजन्य भेद से दो प्रकार का होता है। इसी तरह बाह्य भग्न (दाँत आदि स्थानों पर) और आभ्यन्तर भग्न (सन्धि आदि का भग्न) भेद से दो प्रकार का होता है।

विशेष वचन—भग्न के अनेकविध प्रकारों को देखने के लिये सुश्रुत का अवलोकन करना चाहिये। यद्यपि भग्न आदि अनेक रोग ऐसे हैं जिनकी चिकित्सा औषधि के अन्तःप्रयोग रूप में न होकर विशेष रूप में बाहरी उपचार लेप, सेक, बन्धन आदि से ही की जाती है। परन्तु फिर भी उनमें शारीरिक शक्ति को स्थिर रखने के लिए तथा शरीर को भग्न आदि जन्य विष से सुरक्षित रखने के लिये अन्तःप्रयोग में भी औषधिका व्यवहार होता है ॥

अथ भग्नचिकित्सा।

भग्ने पर्पटीरसप्रयोगः—

भग्नेष्वैरण्डतैलेन प्रयुञ्ज्यात्पर्पटीरसम् ॥ १०३ ॥

प्रायः सभी प्रकार के भग्नों में पूर्वोक्त पर्पटीरस का एरण्डतैल के साथ प्रयोग करना चाहिये ॥ १०३ ॥

वज्री-कान्तपाषाणलेपौ—

वज्रीं पिष्ट्वा बालकस्य प्रणुत्यै मेषीदुग्धं कान्तपाषाणतुल्यैः
युक्तं लेपादस्थिभङ्गं निहन्ति बाह्याभ्यन्तः संस्थितं तत्क्षणेन

वज्री (हाड़जोड़) को सुगन्धबाला के साथ घोट कर भग्न को दूर करने के निमित्त भग्नस्थान पर इसका लेप करना चाहिये। अथवा कान्तपाषाण (चुम्बकपत्थर) और भेड़ का दूध समभाग में एकत्र पीस कर लेप करने से बाह्य तथा आभ्यन्तरीय द्विविध प्रकार भग्न शीघ्र ही ठीक होता है।

विशेष वचन—'बालकस्य' के स्थान पर 'बालकेन' तथा 'तुल्यैः' के स्थान पर 'तुल्यम्' पाठ अधिक संगत और सरल है ॥

भगन्दरलक्षणम्—

गुदस्य पार्श्वे पिटिकाऽर्त्तिकारी ।
शोफादियुक्तः स भगन्दरः स्यात् ॥ १०५ ॥

गुदा के पार्श्व भाग (समीप) में पहिले एक अत्यन्त पीड़ा तथा बेचैनी करने वाली पिड़िका निकलती है। यदि वह चिकित्सा न करने से पक कर फूट जाय और वह नासूर का रूप धारण कर ले तथा उसमें शोथ, पाक आदि लक्षण उत्पन्न हो जायँ तो उसे भगन्दर कहते हैं।

विशेष वचन—यह भगन्दर रोग प्रायः उपदंश सुजाक रोग पीड़ित व्यक्तियों को अधिक होता है। कई बार अर्शरोगपीड़ित मनुष्य भी इसके शिकार बनते हैं। यह १—आभ्यन्तरमुख, २—बाह्य-

मुख, ३--उभयमुख तीन प्रकार का होता है। इसकी परीक्षा करने के लिये शल्यसम्बन्धी पुस्तकों का अवलोकन करना चाहिये॥

भगन्दरस्य निरुक्तिः—

वृषणासनयोर्मध्ये प्रदेशो भग उच्यते।
तमेव दारयत्यस्माद्भगन्दर इति स्मृतः॥ १०६॥

वृषण (अण्ड) और आसन (गुदा) के मध्यस्थ-प्रदेश को 'भग' शब्द से कहा जाता है। प्रायः इसी प्रदेश में पिड़िका पक कर फूटती है और इस प्रदेश को गला कर चौड़े आकार के व्रण को प्रकट करती है। अतः इस रोग को भगन्दर कहते हैं।

विशेष वचन—'वृषणासनयोः' के स्थान में 'वृषणापानयोः' पाठान्तर भी मिलता है। आसन शब्द से भी राजनिघण्टु में गुदा का ग्रहण लिखा है। जैसे, "गुदामुष्कयोर्मध्ये यो भागः स भगः स्मृतः।" सुश्रुत ने भग शब्द को वस्ति तथा गुदा का उपलक्षण माना है—"गुदभगवस्तिप्रदेशदारणाद्भगन्दरः।" भोज ने भी इसी प्रकार लिखा है—"भगं परिसमन्ताच्च गुदं वस्तिं तथैव च। भगवद्दारयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो भगन्दरः"॥ १०६॥

अथ भगन्दरचिकित्सा।

भगन्दरे उपचारविशेषः—

आदौ सर्वप्रयत्नेन पाकं रक्षेद्भगन्दरे।
स्राव्यं रक्तं व्रणे जाते जलूकां वा प्रयोजयेत्॥१०७॥

भगन्दर में जब पिडिका उत्पन्न हो तभी उसको अच्छी तरह परीक्षा करके पाक होने से बचाना चाहिये। गुदा में व्रण अथवा पाकाभिमुखी पिडिका के उत्पन्न होते ही उस स्थान में सञ्चित रक्त को पछना देकर (प्रच्छानकर्म) निकालना चाहिये। अथवा अन्य किसी विधि से रक्त निकाल देना चाहिये। अथवा शोथयुक्त पिडिका पर जोक लगा कर रक्तनिर्हरण कर देना चाहिये।

विशेष वचन—भगन्दर की पिडिका में से रक्त निकालने के साथ साथ रोगी को लङ्घन और शोधन भी कराना चाहिये। इन उपचारों से पित्त की पचनात्मक क्रिया शिथिल पड़ जाती है जिससे पाक नहीं होने पाता है। सिद्धयोग में लिखा है कि—"गुदस्य श्वयथुं दृष्ट्वा विशोष्य शोधयेत्ततः। रक्तावसेचनं कुर्याद् यथापाकं न गच्छति"॥ १०७॥

लांगल्यादिप्रलेपः—

लाङ्गलीकृष्णधत्तूरविषमुष्टिं प्रलेपयेत्॥ १०८॥

कलिहारी की जड़, काले धत्तूरे की जड़ तथा कुचलाबीज; तीनों को समभाग में लेकर जल के साथ पीस कर लेप करने से भगन्दर पिडिका बैठ जाती है॥ १०८॥

कालाग्निरसः—

रसगन्धकसिन्धूत्थतुत्थनागाः सजीरकाः।
तिक्तकोशातकीसारैः पिष्ट्वा घ्नन्ति भगन्दरम्॥१०९॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, सैन्धानमक, शुद्ध तूतिया, नागभस्म और सफेद जीरा; प्रत्येक समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर कड़वी तुम्बी के रस से अच्छी तरह मर्दन करके रस तय्यार कर लें। इसे 'कालाग्निरस' कहते हैं। यह रस भगन्दर रोग को दूर करता है।

विशेष वचन—यद्यपि प्रकृत ग्रन्थ में इस योग को कालाग्निरस के नाम से नहीं लिखा है। तथा रसरत्नाकर के पाठानुसार इसे यहाँ पर कालाग्निरस लिखा गया है। रसरत्नाकर में इस रस का लेपन तथा भक्षण दोनों ही विधान बताये हैं, यथा "शुद्धसूतं समं गन्धं मृतनागं सतुत्थकम्। जीरकं सैन्धवं तुल्यं तिक्तकोषातकीद्रवैः॥ पिष्टं तल्लेपनाद्धन्ति भक्षणाच्च भगन्दरम्। रसः कालाग्निनामाऽयं द्विगुञ्जं मृत्युजिद्भवेत्॥" आधुनिक मात्रा १ रत्ती॥ १०९॥

चक्रिकाबन्धप्रयोगः—

गुल्मोक्तचक्रिकाबद्धो भगन्दरहरः परम्॥ ११०॥

गुल्मरोगाधिकारोक्त चक्रिकाबद्धरस भी भगन्दर रोग के लिये उत्तम फलप्रद माना जाता है॥ ११०॥

रविताण्डवरसः—

शुद्धसूतं द्विधा गन्धं कुमारीरसमर्दितम्।
त्र्यहान्ते गोलकं कृत्वा हण्डिकान्ते निरोधयेत्॥१११॥
शुद्धेन ताम्रपात्रेण तयोस्तुल्येन यत्नतः।
तद्भाण्डं भस्मनाऽऽपूर्य चुल्ल्यां तीव्राग्निना पचेत्॥११२॥
द्वियामान्ते तदुद्धृत्य चूर्णयेत्स्वाङ्गशीतलम्।
जम्बीरस्य द्रवैः पिष्ट्वा रुद्ध्वा सप्तपुटैः पचेत्॥११३॥
गुञ्जैकं मधुराहारं दिवा स्वापं च मैथुनम्।
वर्जयेच्छीतलाहारं रसेऽस्मिन् रविताण्डवे॥११४॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक दो भाग, दोनों की कज्जली करके इसको घीकुमार के रस से तीन दिन तक घोटें। फिर इसका गोला-सा बना लें। पुनः कज्जली के समभाग शुद्ध नैपाली तांबे के पत्रों को लेकर उन पर इस गोले का (कल्क का) लेप कर दें। अथवा शुद्ध ताम्रचूर्ण को इस गोले के साथ पीस कर पुनः गोला सा बना लें। अब इस गोले या ताम्रपत्रों को एक हांडी के अन्दर रख कर उस पर एक शराव औंधामुँह रख सन्धि-बन्धन कर दें और ऊपर से हांडी को राख से भर दें। अब इस हांडी को चूल्हे पर रख नीचे तीव्र आग देवें। दो पहर तक अग्नि देने के बाद उतार लें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल चूर्ण कर जम्बीरीनींबू के रस से खरल कर सम्पुट में बन्द कर एक पुट दें। इसी प्रकार जम्बीरीनींबू के रस से खरल कर सात बार पुट देनी चाहिये। फिर इसे चूर्ण कर शीशी में रख लें। इस रस को प्रतिदिन एक रत्ती मात्रा में सेवन कराना चाहिये। इस

रस को सेवन करने के बाद क्षुधा लगने पर घृत, दुग्ध, मिश्री, भात आदि मधुर पदार्थों का भोजन करना चाहिये और इस रस के सेवनकाल में दिन में सोना तथा मैथुन करना छोड़ दें तथा शीतल आहार भी न करें। इसे 'रविताण्डव' रस कहते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से ½ रत्ती तक। रसेन्द्रसार संग्रह में "हण्डिकान्ते निरोधयेत्। शुद्धेन ताम्रपत्रेण तयोस्तुल्येन यत्नतः॥" के स्थान पर "ततस्तेन प्रलेपयेत्। तयोः समं ताम्रपत्रं हण्डिकान्तर्निरोधयेत्॥" पाठ लिखा है। परन्तु वह शुद्ध पाठ नहीं है। प्रकृत ग्रन्थ के अनुसार निर्माण करने पर यदि कज्जली का गोला बना कर हांडी में रख कर उसके ऊपर एक औंधामुँह शुद्ध ताम्र का पात्र रख दें और सन्धिलेप करके भस्म भर दें तो और भी सुविधा रहेगी। परन्तु ताम्र रहित औषधि न गुणकारी होगी और न जम्बीरीरस के साथ मर्दन कर पुट देने पर उसमें कुछ बचेगा ही। अतः ताम्र सहित ही औषधि को निकाल कर पीसना चाहिये और पुट देना चाहिये। यदि तीन घण्टे पाक करने पर भी ताम्रपत्र पीसने योग्य न बनें तो पुनः कज्जली के साथ हांडी में रख कर पकाना चाहिये। इस क्रिया से ताम्र की उत्तम भस्म बनेगी जो भगन्दर के लिये अत्यन्तगुणकारी होगी। रसेन्द्रसारसंग्रह में 'गुञ्जैकं' के पश्चात् 'मधुनाज्येन लिह्याद्धन्ति भगन्दरम्। मुषलीलवणश्चानु क्षारनालयुतं पिबेत्। भुञ्जीत" इतना अधिक पाठ मिलता है। रसरत्नाकर तथा भैषज्यरत्नावली में इसका अनुपान लहसुन लिखा है। इस योग का नाम कहीं कहीं 'वारिताण्डव' लिखा है। भैषज्यरत्नावली में 'चित्रविभाण्डक' नाम से यह योग दिया गया है॥ १११-११४॥

स्फोटने चतुरङ्गलेपः—

ताम्रचूर्णं सप्तभागं भागमेकं तु पारदम्।
सैन्धवं सप्तभागं च गन्धकं नवभागिकम्॥११५॥
भृङ्गीद्रावैः सजम्बीरैः सप्ताहं धर्ममर्दितम्।
तेन लिप्तं स्फुटत्याशु यदि पक्वं भगन्दरम्॥
न शस्त्रैश्छेदयेत्प्राज्ञः स्फोटयेल्लेपनादिभिः॥११६॥

शुद्ध ताम्रचूर्ण सात भाग, शुद्ध पारद एक भाग, सैन्धानमक सात भाग, शुद्ध गन्धक नौ भाग लेकर पहिले पारद गन्धक की कज्जली कर लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला भांगरे के स्वरस से तीन दिन तक मर्दन कर सात दिन तक तीव्र धूप में रख दें। इस क्रिया से यह उत्तम लेप बन जायगा। यदि इस लेप को पके हुये भगन्दर पर लगाया जाय तो शीघ्र ही भगन्दर का फोड़ा फूट जाता है। बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि पके हुये भगन्दर में शस्त्रद्वारा कदापि छेदन न करें। किन्तु उक्त प्रकार के तीव्र लेपन आदि विधि से ही उसको पकाना या फोड़ना चाहिये।

विशेष वचन—भगन्दर क्योंकि मर्मस्थान का व्रण है। उसको शस्त्रद्वारा दारण करने से रोगी को असह्य वेदना होती है और कई वार शस्त्रविष का शरीर में सञ्चार होने से रोगी की मृत्यु भी हो जाती है। अतः यथासम्भव ऐसी अवस्थाओं में लेपन करके व्रणों का दारण करना ही श्रेष्ठ है॥ ११५-११६॥

हरिद्रादिलेपः—

हरिद्रानिम्बसिन्धूत्थं पिष्ट्वा लिप्त्वा स्फुटत्यलम्॥

हरिद्रा, नीम के पत्ते और सैन्धानमक तीनों को समभाग में लेकर जल के साथ एकत्र पीस कर भगन्दर पर लेप करने से वह शीघ्र और आसानी से फूट जाता है॥ ११७॥

शोषणे नरास्थितैलप्रयोगः—

नरास्थितैललेपेन स्फुटितं शुष्यति व्रणम्॥११८॥

मनुष्य की हड्डी के चूर्ण को तैल के साथ इतना घोटना चाहिये जिससे उसका मरहम सा बन जाय। इस लेप के लगाने से फूटा हुआ भगन्दर का व्रण शीघ्र ही सूख कर भरने लगता है।

विशेष वचन—'शुष्यति' के स्थान पर 'शुद्ध्यति' पाठान्तर है। कोई कोई टीकाकार मनुष्य की हड्डियों से निकाले हुये तैल का लेप करना चाहिये ऐसा अर्थ करते हैं। योगरत्नाकर में भी इसी प्रकार वर्णन है—"लेपो भगन्दरं हन्यात् नरास्थ्नां तैलमेव च"॥ ११८॥

शोधनरोपणे ताम्रप्रयोगः—

ताम्रभस्म दिनं मर्द्यं मदयन्तीपुनर्नवे।
मेषशृङ्गीद्रवैस्तेन व्रणशोधनरोपणम्॥ ११९॥

ताम्रभस्म को मदयन्ती (नवमल्लिका) के रस में एक दिन तक मर्दन करके सुखा लें। फिर इसे मेढ़ासिंगी के रस से घोट कर यदि भगन्दर के अशुद्ध व्रण में लेप किया जाय तो वह शुद्ध होकर भरने लगता है॥ ११९॥

मार्जारास्थिप्रलेपः—

त्रिफलाक्वाथसंयुक्तमार्जारास्थिप्रलेपनात्॥ १२०॥

बिल्ली की हड्डी को त्रिफलाकषाय में घिस कर उसको भगन्दरव्रण पर गाढ़ा लेप करने से भगन्दर का व्रण शुद्ध होकर भरने लगता है।

विशेष वचन—यह लेप न केवल भगन्दर के लिये ही उत्तम है बल्कि दुष्ट व्रणों के लिये भी यह लाभदायक होता है। अतएव वृन्द ने प्रकृत पद्य के उत्तरार्ध में 'भगन्दरं निहन्त्याशु दुष्टव्रणहरं परम्' इतना अधिक पाठ पढ़ा है॥ १२०॥

क्षालने त्रिफलाकषायः—

क्षालयेत्त्रिफलाक्वाथैर्हन्याद् दुष्टभगन्दरम्॥ १२१॥

दुष्ट व्रण अथवा विकृत भगन्दर के व्रण को त्रिफलाकषाय से प्रतिदिन क्षालन करने से वह शुद्ध होता है। अतः प्रतिदिन उक्त कषाय से भगन्दर को धोना चाहिये।

विशेष वचन—भैषज्यरत्नावली में मार्जारास्थिलेप तथा त्रिफला-कषाय दोनों योगों को एक काल में ही प्रयुक्त करने को लिखा है। "भगन्दरं प्रत्यहन्तु सुधौतं त्रिफलाम्बुना। त्रिफलारसपिष्टेन मार्जारास्थ्ना च लेपयेत्॥" अतः इन दोनों को एक काल में प्रयोग करना उत्तम है॥ १२१॥

भूतलाप्रयोगः—

भूतलोत्थं पिबेच्चूर्णं खररक्तेन संयुतम्॥ १२२॥

शुद्ध केंचुओं के चूर्ण को गधे के रक्त में घोट कर बटी बना लें। इसमें से प्रतिदिन एक वटी जल के साथ सेवन करने से भगन्दर रोग शान्त होता है।

विशेष वचन—'भूलतोत्थं' के स्थान पर 'भूतलोत्थं' पाठ होने पर भी केंचुओं का ग्रहण होता है। तन्त्रान्तर-दर्शन से यह योग लेप के रूप में व्यवहृत होता है, यथा "खरास्रपक्वभूनागचूर्णलेपो भगन्दरम्।" भैषज्यरत्नावली तथा रसरत्नाकर में 'भूरोह' पाठ मिलता है, यथा "खरास्रपक्वभूरोहचूर्णलेपो भगन्दरम्।" भूरोह शब्द भी भूनाग वाचक है॥ १२२॥

कुक्कुरास्थिलेपः—

श्वानास्थिलेपनं कार्यं शीघ्रं हन्याद्भगन्दरम्॥१२३॥

कुत्ते की हड्डी को जल के साथ घिस कर लेप करने से भी भगन्दर का व्रण शीघ्र अच्छा होता है।

विशेष वचन—यहाँ पर कुत्ते की हड्डी को त्रिफलाकषाय से घिस कर लेप करना चाहिये। "शुनोऽस्थि वा विडालास्थि त्रिफलारसभावितम्" योगरत्नाकर में कुत्ते की हड्डी तथा भूलताचूर्ण को एकत्र मिला कर लेप करने को लिखा है। यथा "शुनोऽस्थिभूलतातक्रैः पेषिता खररक्तयुक्।" 'श्वानास्थि' के स्थान पर 'शुनोऽस्थि' पाठ शुद्ध है॥ १२३॥

ग्रन्थेर्लक्षणं व्युत्पत्तिः—

मेदोमांसासृगाः कुर्युर्वृत्तं ग्रन्थितमुन्नतम्।
दोषाः शोफादिकं तत्र ग्रन्थनाद् ग्रन्थिमाह तम्॥१२४॥

शरीर में वात, पित्त, कफ ये तीन दोष कुपित होकर मेदा, मांस या रक्त में मिल कर शरीर के किसी भाग में स्वाभाविक से कुछ उभरा हुआ, गाँठ के आकार का शोथ पैदा कर देते हैं। इसी को ग्रन्थि कहा जाता है। बँधी हुई गाँठ के समान कठिन होने से इस रोग को ग्रन्थि के नाम से कहा जाता है॥१२४॥

अरिमेदादिभस्मलेपः—

अरिमेदपलाशानां ग्रन्थिभस्म विमर्दयेत्।
भस्मना तेन दत्तः सन्मेदोग्रन्थिविनाशनः॥ १२५॥

दुर्गन्धित खदिर तथा ढाक की गाँठयुक्त लकड़ी के क्षार का प्रतिदिन मेदोदोष से उत्पन्न होने वाली ग्रन्थि पर लेप करने से वह शान्त हो जाती है।

विशेष वचन—'सन्' के स्थान पर 'स्यात्' पाठ सुगम है॥

गुडूच्यादिः—

गुडूचीसूरणं निष्कत्रयमुष्णाम्बुमर्दितम्।
मेदोवृद्धिरसात्तेन हन्ति रोगं च पूर्वजम्॥ १२६॥

गुडूची तीन निष्क, जिमीकन्द तीन निष्क अथवा दोनों समभाग में तीन निष्क लेकर गरम पानी के साथ घिस कर लेप करने से मेदोवृद्धि के कारण उत्पन्न होने वाली पुरानी ग्रन्थि शान्त होती है।

विशेष वचन—'मेदोवृद्धिरसात्तेन' के स्थान पर 'मेदोवृद्धिमशेषेण' पाठ सुगम है॥ १२६॥

उदयभास्करप्रयोगः—

गण्डमालां जयत्याशु गुल्मोक्तोदयभास्करः॥ १२७॥

गुल्मरोगाधिकार में वर्णित उदयभास्कररस का भी कुछ दिन प्रयोग करने से कण्ठमाला रोग शान्त होता है।

विशेष वचन—गुल्मचिकित्सा में उदयभास्कररस के न होने से यहाँ पर शूलोक्तोदयभास्करः" पाठ होना अधिक अच्छा है॥

पुत्रजीवप्रयोगः-

पुत्रजीवस्य मज्जां तु जलैः पिष्ट्वा प्रलेपनात्।
कालस्फोटं विषस्फोटं सद्यो हन्यात्सवेदनम्॥
ग्रन्थ्यादिनिखिलान् रोगान् सर्वरोगाश्रयान् हरेत्॥

जियापोता के बीज की मज्जा को जल के साथ पीस कर लेप करने से तन्त्रान्तरोक्त कृष्णवर्ण स्फोट (फोड़ा), विषस्फोट (जो कि अत्यन्त वेदना सहित हो) शीघ्र ही नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त इस लेप से ग्रन्थि, अर्बुद आदि सर्वदेहाश्रित रोग की गाँठें या शोथ भी शान्त होते हैं॥ १२८॥

सन्धिग्रन्थौ रक्तस्रावविधिः—

सन्धिग्रन्थिस्तापयुक्तो यदि स्या-
त्क्षीरं रात्रावोदनं सन्निदध्यात्।
पादाङ्गुष्ठस्याग्रदेशेषु रक्त-
स्रावं कुर्यात्तेन शीघ्रं सुखी स्यात्॥ १२९॥

यदि सन्धिप्रदेशस्थ ग्रन्थि में अत्यन्त ताप (गर्मी) हो तो रोगी को रात्रि के समय दूध और भात भोजन देना चाहिये और पैर के अँगूठे के अग्रप्रदेश में जहाँ पर सन्धि, ताप शोथयुक्त हो रही हो वहाँ रक्तमोक्षण करना चाहिये। रक्त के निकलते ही ताप आदि के शान्त होने से रोगी को शीघ्र आराम आता है॥१२९॥

पुत्रजीवप्रयोगः—

कक्षग्रन्थिं गलग्रन्थिं कटिग्रन्थिं च नाशयेत्।
अन्यं च स्फोटकं तीव्रं पुत्रजीवो विनाशयेत्॥१३०॥

केवल जियापोते की मज्जा को जल से घिस कर लेप करने से

कक्षग्रन्थि, कटिप्रदेश तथा गलप्रदेश की ग्रन्थि बैठ जाती है। इसके अतिरिक्त इस लेप से अन्यान्य स्फोटक भी शान्त हो जाते हैं॥ १३० ॥

गुञ्जापत्रादिचूर्णम्—

गुञ्जापत्रं शिलां यष्टिं गवां क्षीरेण पाययेत्।
कालस्फोटं निहन्त्याशु मज्जा वा पुत्रजीवजा। १३१।

गुञ्जा (रत्ती) के पत्ते, मैनसिल, मुलेठी; इन तीनों को समभाग में लेकर गौ के दूध के साथ पिलाने से अथवा केवल पुत्रजीवकबीजमज्जा को दूध के साथ पिलाने से कालस्फोट शीघ्र शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—'कालस्फोटम्' के स्थान पर 'तलस्फोटम्' पाठ भी मिलता है॥ १३१ ॥

विष्णुक्रान्तादिप्रलेपः—

विष्णुकान्ता च पेटारी काञ्जिकेन तु पेषिता।
कालस्फोटं हरेल्लेपाद् दुष्टग्रन्थिषु का कथा॥१३२॥

विष्णुक्रान्ता (कोयल) तथा पेटारी (पाढल) की जड़ को काँजी में पीस कर लेप करने से कालरूप (मृत्युकारक) फोड़ा भी शान्त हो जाता है। फिर अन्य दुष्ट ग्रन्थियों की तो बात ही क्या रह जाती है॥ १३२ ॥

पुनर्नवादिलेपः—

पुनर्नवाऽर्काभयशिग्रुमुष्टिकरञ्जसिन्धूत्थमहौषधं च।
गोमूत्रपिष्टं च सुखोष्णलेपाद् ग्रन्थ्यर्बुदं हन्त्यपचीं च सद्यः॥

पुनर्नवा, आक की जड़, खश, सुहांजने की छाल, कुचला, करञ्ज की जड़, सैन्धानमक, सौंठ; इन सब को समभाग में लेकर गोमूत्र में पीस लें। इस लेप को कुछ गुनगुना करके ग्रन्थि पर लगाने से ग्रन्थि, अर्बुद और अपची; ये सब शीघ्र ही शान्त हो जाते हैं॥ १३२ ॥

अर्बुदशोणितार्बुदयोः लक्षणम्—

मेदोऽत्र दोषमांसोत्थग्रन्थिरूपं ततो महत्।
अर्बुदं दुष्टरुधिरं स्रवेत्तच्छोणितार्बुदम्॥ १३४ ॥

शरीर के किसी प्रदेश में मेदा, धातु तथा रक्त और मांस में वातादि दोषों के द्वारा विकृति होने पर उस स्थान के मांसादि का समीकरण, पचन आदि क्रिया के ठीक न होने से वहाँ पर एक बृहत् या अल्पाकार की गाँठ-सी उत्पन्न हो जाती है। उसे 'अर्बुद' कहते हैं। यदि उस ग्रन्थि में रक्त की विशेष दुष्टि हो तो उसमें से रक्तस्राव होने लगता है जिसे रक्तार्बुद कहते हैं।

विशेष वचन—'अत्र' के स्थान पर 'अस्र' पाठ ही योग्य है। सुश्रुत आदि शल्यप्रधान ग्रन्थों में रक्त का भी अर्बुदों में ग्रहण किया है, यथा "गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्च्छिता मांसमस्रक् प्रदूष्य। वृत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृद्ध्यपाकम्। कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति॥" इस तरह रक्त का ग्रहण किया गया है॥ १३४॥

अर्बुदादौ पुटपक्वरसः—

तण्डुलीयकवर्षाभूनागकन्यावरारसे।
गोमूत्रे च रसः पिष्टः पुटपक्वोऽर्बुदादिजित्॥१३५॥

शुद्ध पारद को चौलाई की जड़, पुनर्नवामूल, पान के पत्तों के रस, त्रिफलाकषाय तथा घीकुमार के गूदे तथा गोमूत्र में एक एक दिन पृथक् पृथक् मर्दन कर गोला सा बना लें। फिर इसे शरावसम्पुट में बन्द करके अत्यन्त लघुपुट में फूँक दें। बाद को पीस कर रख लें। इसको उचित मात्रा में प्रतिदिन सेवन करने से अर्बुद आदि सब रोग शान्त हो जाते हैं॥ १३५॥

अर्बुदे यवक्षारादिलेपः—

लिप्तं यवक्षारविडङ्गबीजं गन्धोपलस्याप्यशनैः कृतैर्यत्।
रक्तेन मिश्रैः सरसस्य सद्यस्तदर्बुदं शाम्यति नान्यथैव॥

यवक्षार तथा वायविडंग के बीजों को जल के साथ पीस कर अर्बुद पर लेप करना चाहिये और शुद्ध गन्धक को उचित मात्रा में सेवन करना चाहिये। अथवा शिरस के बीजों को सरठ के रक्त में पीस कर अर्बुद के ऊपर लेप करना चाहिये। इस क्रिया को कुछ दिन तक दुहराने से अर्बुद अवश्य शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—'नशनैः' के स्थान पर 'प्यशनैः' पाठ ठीक है। इसी तरह 'सरसस्य' के स्थान पर 'सरटस्य' पाठ तन्त्रान्तरीय पाठावलोकन से योग्य प्रतीत होता है। योगरत्नाकर में उक्त योग को एक ही माना है और वह भी लेप के विषय में ही लिखा है—"लिप्तं यवक्षारविडंगबीजं गन्धोपलैः स्यान्मसृणीकृतैर्यत्। रक्तेन मिश्रैः सरटस्य सद्यस्तदर्बुदं शाम्यति नान्यथैतत्॥" चक्रदत्त में इस योग में सौंठ का भी मिश्रण लिखा हुआ है, यथा "सरटरुधिरार्द्रगन्धकयवजविडंगनागरैर्वाथ" ॥ १३६ ॥

गण्डमालाऽपचीलक्षणम्—

मेदोत्था गलकक्षवंक्षणतले मन्यादृशोः कुर्वते
वार्ताकीफलकोपमान् सकठिनान् गण्डान् सकण्डून् मलाः।
पच्यन्तेऽल्परुजः स्रवन्ति नितरां रुह्यन्ति नश्यन्त्यलं
दूर्वेव क्षयवृद्धिभागिनि नृणां सा गण्डमालाऽपची॥१३७॥

वातादिदोष प्रकुपित होकर मेदो धातु में विकृति पैदा करते हुये गला कक्षा (बगल), वंक्षण (अण्डकोष और टाँग की सन्धि जहाँ पर वध उठा करती है), मन्या (ग्रीवा के पार्श्वभाग) तथा नेत्रों में कटेरी के फल के समान कठिन ग्रन्थियों को उत्पन्न करते हैं। इसमें कदाचित् कण्डू होती है। इन ग्रन्थियों को कण्ठमाला कहा जाता है। जब कण्ठमाला में दोष अधिक बढ़ जाते हैं

बढ़ जाते हैं या विष की तीव्रता होती है तो वे ग्रन्थियाँ पक जाती हैं और उनमें से स्राव होने लगता है और कुछ कुछ पीड़ा भी होती है। और जब इनमें ऐसा क्रम हो जाता है कि कोई ग्रन्थि पकती है, कोई उभरती है और कोई सूखने लगती है तो उसे 'अपची' कहते हैं। इन ग्रन्थियों की शरीर में दूब की सी स्थिति होती है। अर्थात् दूब की भांति ये कभी मुरझाई या सूखी हुई होती हैं और कभी अधिक वेग से उठती और पकती हैं।

विशेष वचन—सुश्रुत ने कण्ठमाला तथा अपची का सम्बन्ध मेदा तथा कफ से बताया है। और इन दोनों को पृथक् भेद करते हुये लिखा है—"कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवंक्षणेषु। मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः॥ ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये। कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥" प्रकृतग्रन्थ में वाग्भट का मत अनुसरण किया गया है। आजकल कण्ठमाला तथा अपची में राजयक्ष्मा का विष माना जाता है॥

सुरवारुण्यादियोगः—

सुरवारुण्या मूलं गोमूत्रयुतं महेन्द्रकन्या च।
अपकरोति गण्डमालां पित्तं श्लक्ष्णं च परिघृष्टम्॥

इन्द्रायण की जड़ तथा श्वेतापराजितामूल को गोमूत्र में पीस कर कुछ दिन पान करने से तथा गोपित्त को जल में घिस कर कण्ठमाला की ग्रन्थियों पर लेप करने से कण्ठमाला शान्त होती है।

विशेष वचन—महेन्द्रकन्या को महाकालाख्यलता कहते हैं। परन्तु तन्त्रान्तरदर्शन से इस योग की साम्यता करने पर अपराजिता लेनी चाहिये। यथा "ऐन्द्रया वा गिरिकर्ण्या वा मूलं गोमूत्रयोगतः। गण्डमालां हरेत्पीतं चिरकालोत्थितामपि॥" 'पित्त' के स्थान पर अर्थसंगति ठीक करने के लिये 'पीतं' पाठ उचित है॥

अर्कक्षीरादिलेपः—

अर्कक्षीरजपा (या) पुष्पतैललाक्षारसैः समैः।
गण्डमाला शमं याति प्रलिप्ता सप्तभिर्दिनैः॥ १३९॥

आक का दूध, गुड़हल के फूल या अरणी के पुष्प, तिलतैल और लाक्षा; सब को समभाग में लेकर जल से पीस कर लेप करने से सात दिन में गण्डमाला शान्त हो जाती है॥१३९॥

अपच्यां गिरिकर्णिकाप्रयोगः—

पुष्ये गृहीतं गिरिकर्णिकाया मूलं सिताया गलके निबद्धम्।
गव्येन लीढं यदि वा घृतेन निहन्ति घोरामपचीं तदेव॥

पुष्यनक्षत्र के दिन श्वेतपराजिता की मूल को उखाड़ कर रोगी के गले में बाँधने अथवा अपराजितामूलचूर्ण को गोघृत में मिला कर कुछ दिन सेवन कराने से भयंकर अपचीरोग शान्त होता है।

विशेष वचन—अपराजितामूल का सेवन और गले में बन्धन दोनों क्रिया एक साथ करनी चाहिये॥ १४०॥

छुछुन्दरीतैलम्—

छुछुन्दरीसाधिततैललिप्ता त्रिभिर्दिनैर्नश्यति गण्डमाला॥

छुछुन्दर (एक प्रकार का चूहा जिसका मुख अन्य चूहों की अपेक्षा लम्बा होता है और इस चूहे में विशेष दुर्गन्ध होती है) के मांसकल्क से साधित तैल का प्रतिदिन कण्ठमाला पर लेप या मालिश करने से तीन दिन में ही कण्ठमाला में आराम आने लगता है।

विशेष वचन—छुछुन्दरमांसकल्क से चतुर्गुण तैल और तैल से चतुर्गुण जल लेकर सब को एकत्र मिला कर पका करके तैल बना लें॥ १४१॥

सहदेवीप्रयोगः—

मूलिका सहदेव्युत्था रवौ ग्राह्याऽथ धारिता।
गण्डमालाहरा कर्णे महादेवेन भाषिता॥ १४२॥

सहदेई की जड़ को रविवार के दिन उखाड़ कर कुछ काल निरन्तर कान में बाँधने से कण्ठमाला बैठ जाती है। यह योग महादेव का कहा हुआ है॥ १४२॥

गुञ्जादिलेपः—

गुञ्जाटङ्कणशिग्रुमूलरजनीशम्पाकभल्लातकैः
स्नुह्यर्काग्निकरञ्जसैन्धववचाकुष्ठाऽभयालाङ्गली।
वर्षाभूशरभूशिरीषलवणव्योषाश्वमारा विषं
गोमूत्रैः शमयेद्विलिप्तमपचीग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदम्॥१४३॥

गुञ्जा (रत्ती, चौंटली), सुहागा, सुहाँजने की जड़ की छाल, हरिद्रा, अमलतास की छाल, भिलावाफल, थोहर का दूध, आक का दूध, चित्रकमूल, करञ्जमूलत्वक्, सैन्धानमक, वच, कूठ, हरड़, कलिहारी की जड़, पुनर्नवा, शरपोंखा या सरकण्डे की जड़, शिरसबीज, समुद्रलवण, सौंठ, मिरच, पिप्पली, कनेर (सफेद) की छाल, वत्सनाभविष; प्रत्येक समभाग में लेकर चूर्ण कर लें। फिर इसको गोमूत्र में पीस कर लेप बना लें। इस लेप के लगाने से अपची, ग्रन्थि, अर्बुद तथा श्लीपद (पीलपाँव) रोग शान्त होते हैं॥ १४३॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये कर्णरोगनासारोग-मुखरोग-गलरोग-मुखपाक-मुखच्छाया-जिह्वा दन्तकण्ठरोग-गण्डमाला-शिरोरोग-यूका-दारुण-केशरोग-व्रणरोग-भग्नरोग-भगन्दरापची-ग्रन्थ्यर्बुद कालस्फो टादिचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथ क्षुद्ररोगादिचिकित्सनम् ।

क्षुद्ररोगाणां नामानि—

व्यङ्गः कच्छपनीलिकाकुनखविद्धोत्कोठकोठालसैः
कक्षारुद्धगुदप्रसुप्तिविवृताविस्फोटवल्मीककक् ।
विस्फः स्यात् कदराजगल्लिजतुमण्यन्धालजीराजिकाः
क्षुद्रा लाञ्छनशर्करेति च यवप्रख्याग्निरोहिण्यपि ॥ १ ॥
जालाश्मगर्दभविदारिमसूरिकाभिः
सत्पद्मकण्टकरुजा सह गर्दभी च ।
स्याच्छर्करार्बुदमषाननदूषिकैश्च
गण्डाह्वया पनसिका त्विरिवेल्लिकेति ॥ २ ॥

व्यंग, कच्छप, नीलिका, कुनख, विद्ध उत्कोठ, कोठ, अलस, कक्षाग्रन्थि, रुद्धगुद, प्रसुप्ति, विवृत, विस्फोट, बल्मीकरोग, विस्फ (चिप्प), कदर, अजगल्ली, जतुमणि, अन्धालजी, राजिका, क्षुद्रा (पिडिका), लाञ्छन, शर्करा, यवप्रख्या, अग्निरोहिणी (प्लेग की गिल्टी), जालगर्दभ, पाषाणगर्दभ, विदारिका, मसूरिका, पद्मकण्टक, गर्दभी, शर्करार्बुद, मषक (मस्से), आननदूषिका (मुँहासे जो जवानी में चेहरे पर फुंसियाँ पैदा होती हैं), गण्डाह्वया (गन्धनामा) या गन्धमाला, पनसिका, इरिवेल्लिका; ये सब क्षुद्र रोग कहे जाते हैं ।

विशेष वचन—उक्त रोगों का विवरण तथा लक्षणों के परिचय के निमित्त माधवनिदान, सुश्रुत तथा वाग्भट आदि ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये । इसमें कई रोग सामान्य और कई भयानक हैं । परन्तु अधिक संख्या में साधारण होने से सब रोगों को क्षुद्र संख्या दी गयी है ॥ १—२ ॥

पर्पटीप्रयोगविधिः—

सर्पिषा निम्बचूर्णेन प्रयुक्ता पर्पटी हरेत् ।
मसूरिकाः क्षुद्ररोगानन्यानपि च दुस्तरान् ॥ ३ ॥

पर्पटीरस को निम्बपत्रचूर्ण तथा गाय के घी के साथ सेवन कराने से मसूरिका क्षुद्ररोग तथा अन्यान्य भयंकर रोग शान्त होते हैं ॥ ३ ॥

व्यंगे शशरुधिरादिप्रयोगः—

तत्कालशस्त्रप्रहतः शशो
यस्तस्यासृजा नश्यति लिप्यमानम् ।
व्यङ्गं मुखं जातिफलस्य बाह्य-
त्वचाऽथवा सन्ततमेव लिप्तम् ॥४॥

व्यंग (मुख पर झांई काले दागों का होना) रोग में तत्काल शस्त्र (बन्दूक) से मारे हुए खरगोश के रक्त से लेप करने पर व्यंग नष्ट होता है । अथवा जायफल के बाहरी त्वचा का जल में पीस कर लेप करने से (कुछ दिन निरन्तर) मुँह की झांई अच्छी हो जाती है ॥ ४ ॥

इंगुदीमज्जाप्रयोगः—

इङ्गुदीफलसमुद्भवमज्जा पेषिताऽतिशिशिरेण जलेन ।
एकविंशतिदिनप्रविलिप्ता व्यङ्गमाननभवं परिमार्ष्टि ॥५॥

हिंगोट के फलों की मज्जा को अत्यन्त शीतल जल के साथ पीस कर इक्कीस दिन तक मुख पर लेप करे तो मुँह की झांईं आदि रोग दूर होकर मुख सुन्दरवर्ण हो जाता है ॥ ५ ॥

कुनखे स्नुहीक्षीरादिलेपः—

उद्धृत्य कुनखं क्षीरं स्नुक्पर्ण्योः टङ्कणं समम् ।
सम्यङ्निरुद्धदाहश्च मूले कृत्वा नखी भवेत् ॥ ६ ॥

कुनखरोग में खराब हुए (सड़े गले तथा काले) नाखून को शस्त्र द्वारा निकाल कर वहाँ के स्थान तथा नख की जड़ को अग्नि से दग्ध करके नखमूल में स्नुहीक्षीर, सतपर्णक्षीर. और सुहागा तीनों को समभाग में एकत्र पीस कर लेप कर दें । इस प्रकार इस लेप के द्वारा नखमूलगत विष नष्ट होने से वहाँ पर सुन्दर नाखून निकल आता है ॥ ६ ॥

अभयाप्रयोगः—

व्रणपूतिपूयजुष्टं नखविवरं मङ्क्षु रोपयत्यभया ।
नानाविधैः किमेतैरास्फोतारविकुरण्टकक्षीरैः ॥७॥

नाखूनमूल में यदि व्रण होकर उसमें से दुर्गन्धित पीप निकलती हो तो हरड़चूर्ण को जल में पीस कर उसका कल्क वहां बाँधना चाहिये और अन्तः प्रयोग में भी हरीतकीचूर्ण का सेवन करना चाहिये । केवल हरीतकी का प्रयोग इस अवस्था में सर्वश्रेष्ठ है । अथवा वहाँ पर श्वेतापराजिता, अर्कदुग्ध, पियावांसास्वरस मिला कर लेप करना चाहिये ॥ ७ ॥

कुष्ठादिलेपः—

सकुष्ठं जीरकं तोयैः पिष्ट्वा लेपेन नाशयेत् ॥ ८ ॥

कुष्ठ और जीरे को समभाग में लेकर जल से पीस कर कुछ दिन लेप करने से भी कुनख व्याधि अच्छी होती है ॥ ८ ॥

पुत्रजीवप्रयोगः—

पुत्रजीवस्य वा मज्जां तोयैः पिष्ट्वा प्रलेपयेत् ॥ ९ ॥

अथवा कुनखरोग में जियापोता के बीजों की मज्जा को जल में पीस कर लेप करना चाहिये ॥ ९ ॥

कक्षाग्रन्थौ शिग्रुप्रयोगः—

शिग्रुमूलं निशातोयैः कक्षाग्रन्थिहरं लिपेत् ॥ १० ॥

कक्षा (बगल) में ग्रन्थि उत्पन्न होने पर सुहांजने की जड़ की छाल को हरिद्रा के स्वरस से पीस कर लेप करने से वह बैठ जाती है ॥ १० ॥

विषादिलेपः—

विषं पुनर्नवामूलं जललेपेन तं जयेत् ॥ ११ ॥

मीठा तेलियाविष और पुनर्नवामूल को जल से पीस कर कुछ दिन लेप करने से भी कक्षा की ग्रन्थि शान्त होती है ॥ ११ ॥

स्तनविद्रधौ क्रियाक्रमः—

सर्वेषां स्तनरोगाणां रक्तमोक्षः प्रशस्यते ।
पूयपक्वः स्तनो यः स्याल्लेपस्तस्यावपाटने ॥१२॥

सब प्रकार के स्तनरोगों (शोथ, पाक आदि) में रक्तमोक्षण करना सर्वोत्तम उपाय है । जिस स्तन के व्रण या विद्रधि में पूय भरा हुआ हो उसे शस्त्र द्वारा न चीर कर औषधियों के लेप से फोड़ना चाहिये ।

विशेष वचन—स्तनों में शोथ या विद्रधि होने पर विद्रधि की चिकित्सा करनी चाहिये । परन्तु शस्त्रक्रिया नहीं करनी चाहिये । यथा—'शोथं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग् विदध्याद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम् । आमे विदह्यति तथैव गते च पाकं तस्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत' ॥ १२ ॥

एकवीरप्रयोगः—

एकवीरस्य मूलन्तु अजामूत्रेण लेपयेत् ।
तत्क्षणात् स्फुटते पक्वं शस्त्रैर्वा स्फोटयेद्भिषक् ॥

एकवीर वृक्ष की जड़ की छाल अथवा बाँझ ककोड़े की जड़ को बकरी के मूत्र में पीस कर स्तनविद्रधि में लेप करने से पकी हुई सब प्रकार की विद्रधि तत्काल फूट जाती हैं । यदि इस उपचार से कदाचित् न फूटे तो सावधानी से शस्त्रक्रिया द्वारा उसे फोड़ कर पीप निकाल देना चाहिये ॥ १३ ॥

यष्ट्यादिचूर्णम्—

यष्टीनिम्बहरिद्रा च निर्गुण्डीधातकीसमम् ।
चूर्णं स्तनव्रणे देयं रोपणं कुरुते हितम् ॥ १४ ॥

मुलेठी, नीम के पत्ते, हरिद्रा, निर्गुण्डी, धाय के फूल; सबको समभाग में लेकर बारीक चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को, पहिले स्तनव्रण को धोकर उस पर, छिड़क देना चाहिये और रोगिणी को जल के साथ इस चूर्ण का सेवन भी कराना चाहिये । कुछ काल सेवन करने से स्तनव्रण भरने लगता है ॥ १४ ॥

स्तनविद्रधिरोपणे दारुवर्तिः—

मध्वाज्यैर्देवदारुञ्च पिष्ट्वा वर्त्तिं प्रलेपयेत् ।
पूयपक्वे स्तने क्षिप्त्वा रोपणं कुरुते क्षणात् ॥ १५ ॥

देवदारु के सूक्ष्मचूर्ण को वर्ति बनाने योग्य घी और शहद के साथ पीस कर वर्त्ति बना लें । इसको पीप आनेवाले स्तनव्रण या विद्रधि पर रखें तो व्रण शुद्ध होकर भरने लगता है ॥ १५ ॥

लिंगरोगे बोलप्रयोगः—

लिङ्गव्याधौ लोहितं स्रावयित्वा
पश्चाद्बोलं भक्षयेत्तस्य तुष्ट्यै ॥ १६ ॥

उपदंश आदि रोगों के विषों के कारण लिंगेन्द्रिय में शोथ व्रणपाक उपस्थित होने पर सर्वप्रथम मूत्रेन्द्रिय में रक्तस्राव करना चाहिये । रक्तस्राव से जब शोथ कम हो जाय तो रोग की शान्ति के लिये रोगी को बोलचूर्ण या बोल के योगों का सेवन कराना चाहिये ।

विशेष वचन—लिंगगत शोथपाक होने पर शुद्धजलौका द्वारा ही रक्त निकालने में सुविधा रहती है ॥ १६ ॥

लिंगपाके उडुम्बरादिक्षालनम्—

उडुम्बरवटाश्वत्थसाम्रजम्बूत्वचः शृतम् ।
जलैः क्वाथश्च तेनैव क्षालयेल्लिङ्गपाकनुत् ॥ १७ ॥

गूलर, बड़, पीपल, आम, जामुन की छाल को समभाग में लेकर चौगुने जल में कषाय बना लें । इस क्वाथ से प्रतिदिन आवश्यकतानुसार दो या तीन बार लिंग को धोवें तो लिंगपाक दूर होता है ॥ १७ ॥

जीरकप्रयोगः—

कुमारीरससम्पिष्टं जीरकं लेपयेद्भिषक् ।
तेन दाहश्च पाकश्च शममाप्नोति निश्चितम् ॥ १८ ॥

सफेद जीरे को कुमारी के गूदे में पीस कर लिंगपाक पर लेप करने से लिंग की पाक तथा दाह शान्त होती है ॥ १८ ॥

महाशंखप्रयोगः—

महाशङ्खं जलैर्घृष्ट्वा तेन लिङ्गं प्रलेपयेत् ॥ १९ ॥

महाशंख (बड़े शंख) को जल से घिस कर इसको लिंग पर लेप करने से लिंग पाक दूर होता है ।

विशेष वचन—महाशंख से कोई मनुष्य को शिर की हड्डी का भी ग्रहण करते हैं ॥ १९ ॥

घोण्टादिलेपः—

घोण्टा पूगश्च वा तोयैः सारं वा खदिरोत्थितम् ।
जलैः पिष्टं प्रलेपोऽयं लिङ्गरोगहरः पृथक् ॥ २० ॥

घोण्टा (Zizyphus jujuba) या बेर अथवा सुपारी को जल में पीस कर लिंग पर लेप करने से अथवा कत्थे को जल में घिस कर लेप करने से लिंगरोग (पाक) दूर होता है ।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में 'घोण्टापूगश्च वा तोयैः' के स्थान में 'कुष्ठपूगं वचातोयैः' पाठान्तर है ॥ २० ॥

गन्धकप्रयोगः—

सुगन्धकघृतैर्लेपः पक्वलिङ्गे सुखावहः ॥ २१ ॥

लिंग में पाक होने पर शुद्ध गन्धक को घी में मिला कर मरहम बना लें । पहिले लिंग को कृमिहर द्रवों से धोकर साफ करके लेप करने से लिंग पाक शान्त होता है ।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में 'सुगन्धक' के स्थान पर 'सगन्धक' पाठ है ॥ २१ ॥

निम्बादिचूर्णम्—

निम्बखादिरमञ्जिष्ठा चूर्णञ्च पतनं जयेत् ॥ २२ ॥

यदि लिंग में घोर पाक होने के कारण (जैसा कि उपदंश आदि रोगों में हो जाया करता है) लिंग में से मांस कट कट कर गिरने लगे तो निम्बपत्र, खैरसार तथा मञ्जिष्ठा (मजीठ) का चूर्ण रोगी को उचित मात्रा में सेवन कराना चाहिये और इसी चूर्ण को लिंग पर छिड़कना भी चाहिये।

विशेष वचन—चूर्ण छिड़कने के पूर्व लिंग को क्रिमिहर द्रवों से धोना आवश्यक है ॥ २२ ॥

लिंगव्रणरोपणे सैन्धवप्रयोगः—

यवचिञ्चारसैर्घृष्टं सैन्धवं रोपयेद् व्रणम् ।
ग्रन्थिः कट्याञ्च जघने शममाप्नोति नान्यथा ॥२३॥

यवचिञ्चा (क्षीरिणी दुधी) के स्वरस में सैन्धानमक पीस कर लेप करने से लिंगव्रण भरने लगता है। इसके अतिरिक्त इस लेप के प्रयोग से कमर तथा जाँघ या चूतड़ों में निकली हुई ग्रन्थियाँ भी बैठ जाती हैं।

विशेष वचन—'यवचिञ्चारसैर्घृष्टम्' के स्थान पर 'वरीरसैश्च संघृष्टम्' पाठान्तर मिलता है ॥ २३ ॥

शिग्रुप्रयोगः—

शिग्रुमूलं त्वचस्तोयैः पिष्ट्वा लेपेन तं जयेत् ॥ २४ ॥

यदि उपदंश आदि रोगों के कारण वंक्षण, कमर आदि स्थानों पर ग्रन्थि उत्पन्न हो गई हो तो सुहांजने की जड़ की छाल को दालचीनी के कषाय जल से पीस कर लेप करने से वह शान्त हो जाती है ॥ २४ ॥

कुष्ठादिलेपः—

कुष्ठजीरकयोर्लेपस्तोयैर्ग्रन्थिप्रशांतये ॥ २५ ॥

कुठ, जीरा (काली जीरी) दोनों को समभाग में लेकर जल के साथ पीस कर इसका लेप करने से उक्त स्थानों में उत्पन्न हुई ग्रन्थियाँ बैठ जाती हैं ॥ २५ ॥

गुह्यादिगतपिडिकायामश्वत्थादिलेपः—

अश्वत्थस्य त्वचो भस्म चूर्णेन सह मिश्रितम् ।
नवनीतं द्वयोस्तुल्यं मर्द्यं तेन विलेपनात् ॥
आसने गुदपार्श्वे च कट्याञ्च पिटिकां जयेत् ॥ २६ ॥

पीपल के छाल की राख तथा शुद्ध चूना दोनों को समभाग में लेकर इन दोनों को समभाग मक्खन में मिला कर अच्छी तरह मर्दन करके मरहम बना लें। इस लेप या मरहम के कुछ दिन लगाने से गुदा या गुदा के समीप अथवा कटि प्रदेश में उत्पन्न पिडिका शान्त हो जाती है ॥ २६ ॥

वाकुचीचित्रकप्रयोगौ—

गोमूत्रैः क्षालयेत्ताञ्च लेपो वाकुचिबीजकैः ।
कृत्वा कण्डूं निहन्त्याशु चित्रकं वा गवां जलैः ॥२७॥

लिंग आदि प्रदेशों में उत्पन्न पिडिका को पहिले शुद्ध तथा ताजे गोमूत्र से अच्छी तरह प्रक्षालन करें। फिर उस पर बावची के बीजों को जल से पीस कर लेप कर दें। अथवा चित्रक की जड़ की छाल को गोमूत्र में पीस कर लेप कर दें। इस लेप से ग्रन्थिस्थान की कण्डू तथा ग्रन्थिशोथ दूर होते हैं।

विशेष वचन—'कृत्वा' के स्थान पर 'पिष्ट्वा' पाठान्तर मिलता है ॥ २७ ॥

सर्पाक्षीप्रयोगः—

नरमूत्रेण सर्पाक्षीं पिष्ट्वा लेपेन तां जयेत् ॥ २८ ॥

सर्पाक्षी (नाकुली) को मनुष्य के मूत्र में पीस कर कुछ दिन लेप करने से गुह्यस्थान में उत्पन्न हुई पिडिका की कण्डू शान्त हो जाती है ॥ २८ ॥

लिंगरोगे लवंगादिधूमः—

लवङ्गजानां लवकं कर्पूरं चणसम्मितम् ।
दरदं तोलमानञ्च सर्वं खल्ले विचूर्णयेत् ॥ २९ ॥
ब्रह्मवृक्षं कोकिलाक्षैः सर्वं यत्नेन मर्दयेत् ।
यावत् कज्जलसङ्काशं श्यामताञ्च तथैव च ॥ ३० ॥
चतुर्दशसमा कार्य्या पुडिका बन्धयेद्भिषक् ।
रविवारे समादेया ह्यङ्गारे छगणोद्भवे ॥ ३१ ॥
तां निक्षिप्याथ सङ्गोप्य नासिकां विवृतां नयेत् ।
मुखमाच्छाद्य श्वासेन यातायातेन ग्राहयेत् ॥ ३२ ॥
वीटिकापूर्णवदनो द्विवारं कारयेत् सदा ।
एवं सप्तदिनं कृत्वा पश्चात् स्नानादिकं चरेत् ॥३३॥
पथ्यं निर्लवणं देयं जलं शीतं निषेवयेत् ।
अनेन योगराजेन लिंगव्याधिः प्रशाम्यति ॥ ३४ ॥

लौंग का चूर्ण १ लवक (चौथाई भाग) एक तोले भर हिंगुल का चौथा भाग अर्थात् तीन मासा, कर्पूर (रसकर्पूर या भीमसेनी कपूर) एक चने के बराबर, शुद्ध हिंगुल एक तोला लेकर तीनों को खरल में डाल कर चूर्ण कर लें। फिर इसमें ढाक के बीजों का चूर्ण एक तोला, तालमखानाचूर्ण एक तोला मिला कर अच्छी तरह मर्दन करें (जब तक कि औषधि घोटते हुये काजल के समान कृष्णवर्ण न हो जाय) तदनन्तर इसकी चौदह पुड़िया बना लें। फिर रविवार के दिन निर्धूम उपलों की आग के अंगारों पर एक पुड़िया डाल कर उसके ऊपर एक छेद वाला औंधा सिकोरा ढक देवें और उसके छिद्र पर नली लगा कर उसके द्वारा धूमपान करें। अथवा शरीर में कपड़ा ओढ़ कर जिससे मुख-नेत्र

अच्छी तरह बन्द हो जायँ। उपलों की अग्नि पर पुड़िया डाल कर नासिका के श्वासोच्छ्वास द्वारा धूम को अन्दर पहुँचावें। परन्तु धूम लेने के पूर्व रोगी को मुख में पान का बीड़ा रखना चाहिये। इस प्रकार दिन में दो बार उक्त धूम का पान करें और सात दिन तक प्रतिदिन करते जायँ। सात दिन के बाद रोगी को स्नान आदि करावें। इस धूम के सेवनकाल में रोगी को लवणरहित पथ्य देना चाहिये और शीतल जल का सेवन कराना चाहिये। इस योग के नियमपूर्वक सेवन करने से उपदंश रोग शान्त हो जाता है।

विशेष वचन—इस धूम को चिलम में भर कर भी पी सकते हैं। धूम पीने के बाद रोगी को पाँच सात सेर शीतल जल के कुल्ले कराने चाहिये ताकि मुखपाक न हो सके। मुख में पान का बीड़ा रखने का भी यही अभिप्राय है कि कत्था तथा चूने के योग से पारद की तीव्रता कम हो जाय।

प्रकृत योग में घोटते घोटते सब द्रव्यों को कज्जली के समान कृष्णवर्ण करने को लिखा है। परन्तु हिंगुल के योग से यह कृष्णवर्ण नहीं होता है। हाँ, यदि इसमें गन्धक हो तो यह कृष्णवर्ण हो सकता है। अतः यह पाठ विचारणीय है। कहीं कहीं 'लवकं' के स्थान पर 'नवकं' पाठ है जिसका अर्थ यह होता है लौंग गिन कर नौ लेने चाहिये। तन्त्रान्तर में इस प्रकार के कई धूमपान मिलते हैं। जिनमें धूम द्वारा पारद को रक्त में प्रविष्ट किया जाता है। पारद उपदंश की व्याधिविपरीत औषधि है और इस (उपदंश) के कीटाणुओं को नष्ट करने में अनुपम शक्ति रखता है। उपदंश रोग में केवल पारद लिखने पर उसमें अनुक्त गन्धक का योग नहीं करना चाहिये। इसे उस नियम का अपवाद समझना चाहिये। कई वैद्य कर्पूर से भीमसेनी कपूर लेने को कहते हैं॥

कण्ड्वादौ काञ्चनीप्रयोगः—

लेपयेत् काञ्चनीमूलं नरमूत्रेण पेषितम्।
कण्डूपामा शमं याति सर्वाङ्गीणा न संशयः॥ ३५॥

गीली हल्दी के कन्द को मनुष्य के मूत्र के साथ घोट कर कल्क बना लें। इस कल्क को सब शरीर में उबटन करने से निःसन्देह सर्वशरीरगत कण्डू तथा पामा शान्त होती है॥३५॥

शाखोटककषायः—

शाखोटस्य त्वचस्तोयैः पक्त्वा क्वाथं समाहरेत्।
पिबेद्गोमूत्रसंतुल्यं पामार्त्तः सुखमाप्नुयात्॥ ३६॥

शाखोट (सहोड़ा) की त्वचा को जल में डाल कर क्वाथ तय्यार कर लें। फिर इसमें समभाग ताजा गोमूत्र मिला कर उचित मात्रा में पामा रोगी को पान करावें। इससे पामा शान्त हो जाती है।

विशेष वचन—शाखोट कषाय २॥ तोला और गोमूत्र २॥ तोला एक मात्रा होनी चाहिये॥ ३६॥

पादकण्डूहरप्रयोगः—

पादकण्डूहरं कुर्य्यान्नवनीतेन मृक्षणम्।
हयारिपत्रधूपेन स्वेदनं तदनन्तरम्॥ ३७॥

पैरों में कण्डू विशेष होने पर पहिले पैरों पर मक्खन की मालिश करनी चाहिये। तदनन्तर पैरों को कनेर के पत्तों की धूप से स्वेदन करना चाहिये। इससे पैरों की कण्डू शान्त हो जाती है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में इस योग को श्लीपदरोगाधिकार में वर्णन किया है। परन्तु वहाँ 'मृक्षणम्' के स्थान पर 'माक्षिकम्' लिखा है॥ ३७॥

पाददाहे तिलादिचूर्णम्—

पाददाहहरक्वाथे तिलाद्द्विगुणवाकुची।
चूर्णिता मधुसर्पिर्भ्यां द्विकर्षं तत्प्रशांतये॥ ३८॥

पाददाहहर द्रव्यों के क्वाथ में तिलों से द्विगुणा बावची का चूर्ण मिला कर मधु तथा घृत का प्रक्षेप करके पान करना चाहिये।

विशेष वचन—पाददाहहर क्वाथ से यहाँ पर भावप्रकाश के कथनानुसार मसूर की दाल का कषाय अभिप्रेत है। यथा—"मसूरविदलैः पिष्टैः शृतशीतेन वारिणा। चरणौ लेपयेत् सम्यक् पाददाहप्रशान्तये॥" ऐसी अवस्था में तिलचूर्ण एक भाग और बाकुचीचूर्ण दो भाग लेकर दोनों को एकत्र कर इसको पाददाहहर कषाय अर्थात् मसूर के कषाय की भावना देकर सुखा लें। इसमें से दो कर्ष मात्रा में लेकर उसमें शहद और घी में मिला कर सेवन कराना चाहिये। परन्तु योगरत्नाकर के श्लीपदाधिकार में वर्णित "पाददाहहरं खादेत्तिलाद्द्विगुणवाकुचेः। चूर्णन्तु मधुसर्पिर्भ्यां कर्षमार्तिप्रशान्तये॥" यह पाठ अधिक सरल और योग्य प्रतीत होता है॥ ३८॥

पादकण्डूहरं योगान्तरम्—

पादकण्डूविनोदार्थं नवनीतेन मृक्षणम्॥३९॥

पैरों की कण्डू को दूर करने के लिये उन पर सदा मक्खन की मालिश करनी चाहिये॥ ३९॥

पादस्फुटने पथ्यामर्दनम्—

पथ्या घृतेन सच्चूर्ण्य मर्दनं करपादयोः।
स्फुटितत्वनिवृत्त्यर्थे— ॥४०॥

हरड़ के चूर्ण को घी के साथ मर्दन करके इसको हाथ-पैरों में मलने से हाथ पैरों का फटना बन्द होता है॥ ४०॥

कदरे यवचिञ्चादिकषायः—

—यवचिञ्चार्द्रपक्वया।
शिलादिना कृते भेदे षड्गुणञ्च द्रवं क्षिपेत्॥४१॥

पैरों में कंकड़ पत्थर आदि द्वारा कहीं कहीं गाँठ पड़ जायँ (जैसे कि नंगे पैर चलने वालों के पैरों में हो जाया करती हैं)

तो यवचिञ्चा आधा भाग और हरीतकी एक भाग लेकर उसका कषाय बना लें। इस कषाय की पैरों में मालिश अथवा परिषेक करना चाहिये। इस यवचिञ्चादिकषाय में अन्य कषायों की भाँति चतुर्गुण जल न डाल कर षड्गुण जल डालना चाहिये।

विशेष वचन—यवचिञ्चा से कोई खिरनी लेते हैं॥ ४१॥

विपादिकायां गुडादिलेपः—

गुडगुग्गुलुसिन्दूरमुशीरं गैरिकं मधु।
मदनं घृतसंयुक्तं पादस्फोटं प्रलेपयेत्॥
सप्ताहात् स्फुटितौ पादौ स्यातां पङ्कजसन्निभौ॥४२॥

गुड़, गूगल, सिन्दूर, खशचूर्ण, गेरुचूर्ण, मधु, मैनफलचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र खरल में घृत के साथ मर्दन करके मरहम (लेप) तय्यार कर लें। इस लेप को सात दिन तक निरन्तर पैरों में लगाने से पैरों का फटना बन्द होकर पैरों के तलवे कमल के समान सुन्दर कोमल और चिकने हो जाते हैं।

विशेष वचन—चक्रदत्त में सिन्दूर और उशीर के स्थान पर सर्जरस और सैन्धानमक लिखा है। यथा—"सर्जरससिन्धुसम्भवगुडमधुमहिषाक्षगैरिकं सघृतम्। सिक्थकमेतत् पक्वं पादस्फुटनापहं सिद्धम्॥" चक्रदत्त के अनुसार प्रकृत पद्य में मदन से मोम का ग्रहण करना चाहिये॥ ४२॥

विपादिकायां मदनादिप्रलेपः—

मदनं सिक्थकं तुल्यं सामुद्रं लवणं तथा।
महिषीनवनीतेन सुतप्ता लेपनाद्भवेत्॥
सप्ताहात् स्फुटितौ पादौ जायेते कमलोपमौ॥४३॥

मैनफल, मोम, सामुद्रनमक; तीनों को समभाग में लें। पहिले मोम और भैंस के मक्खन को गरम करें जब ये पिघल जाय तो उसमें समुद्रलवण तथा मैनफल का चूर्ण मिला कर मरहम तय्यार कर लें। इस मरहम को कुछ गरम करके पैरों में लेप करने या मलने से फटे हुये पैर कमल के समान सुन्दर हो जाते हैं अर्थात् पैरों की बिवाई मिट जाती है॥ ४३॥

कण्डवादौ रसादिप्रलेपः—

रसं गन्धं समं मर्द्य द्वाभ्यां तुल्यञ्च काञ्चनम्।
दिनैकं चित्रकद्रावैः पिष्ट्वा लेपं प्रकारयेत्॥
कण्डूगण्डं खुडं हन्ति गुल्फयोरन्तरुत्थितम्॥४४॥

शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक एक भाग, शुद्ध हरताल दो भाग लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें। फिर उसमें हरताल मिला कर चित्रकमूलकषाय से एक दिन पर्यन्त मर्दन करके लेप तय्यार कर लें। इस लेप के लगाने से पैरों से गुल्फ (टखना) प्रदेश तक उत्पन्न हुई कण्डू या ग्रन्थि अथवा वातरक्तरोग की विकृति शान्त होती है॥ ४४॥

स्वरभंगे धात्रीफलरसम्—

धात्रीफलरसक्षीरैः पानं स्यात् स्वरभङ्गनुत्॥४५॥

स्वरभंग (गले का बैठना) होने पर आँवलों के स्वरस में दूध मिला कर पिलाने से स्वरभंग रोग में आराम आता है॥४५॥

देवदार्वादिचूर्णम्—

देवदारुकणाव्योषशताह्वापत्रकं शिला।
वचासैन्धवशिग्रूत्थमूलं पेष्यं समं समम्॥४६॥
कर्षैकं मधुसर्पिर्भ्यां मासमात्रं सदा लिहेत्।
मासैकं कर्णकर्षञ्च किन्नरैः सह गीयते॥४७॥

देवदारु, पिप्पली, त्रिकटु (सौंठ, मिरच, पिप्पली), सौंफ, तेजपत्र, शुद्ध मैनसिल, वचा, सैन्धानमक, सुहांजन की मूलत्वक्; प्रत्येक समभाग में लेकर चूर्ण कर लें। इसमें से प्रतिदिन एक मास तक घी तथा शहत के साथ एक एक मासा मात्रा में सेवन करें फिर दूसरे एक मास में प्रतिदिन दो कर्ष मात्रा में सेवन करने से रोगी के गले के रोग नष्ट हो जाते हैं और उसका स्वर गन्धर्व के स्वर के समान सुरीला हो जाता है॥ ४७-४८॥

गलदाहे सैन्धवादिचूर्णम्—

सैन्धवेन्द्रयवं रात्रौ मरिचञ्चोष्णवारिणा।
पाययेत् कर्षमात्रन्तु गलदाहप्रशान्तये॥४८॥

गले की दाह (जलन) को शान्त करने के लिये प्रतिदिन रात्रि को सोते समय सैन्धानमक तथा इन्द्रजौ का समभागमिलित चूर्ण एक कर्ष गरम जल से पीना चाहिये॥ ४८॥

करञ्जमज्जा-पथ्याप्रयोगौ—

करञ्जबीजमज्जां तु द्विनिष्कां चोष्णवारिणा।
गलदाहहरं खादेत्पथ्या वा क्षौद्रसंयुता॥४९॥

करञ्जबीजमज्जा दो निष्क मात्रा में गरम जल के साथ कुछ दिन निरन्तर सेवन करने से गले की दाह दूर होती है। अथवा हरीतकीचूर्ण को शहत में मिला कर सेवन करने से भी गलदाह मिट जाती है॥ ४९॥

स्तनवर्धने बलादिप्रलेपः—

बलानागबलाकुष्ठत्वचां चूर्णं च लेपयेत्।
महिषीनवनीतेन स्यातां पीनौ स्थिरौ स्तनौ॥५०॥

बला, नागबला तथा कूठ; प्रत्येक समभाग में लेकर चूर्ण कर लें। इसको भैंस के मक्खन में मिला कर स्त्री के स्तनों पर मलने या लेप करने से स्तन आकार में बड़े और कठिन हो जाते हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में 'त्वचां' के स्थान पर 'वचां' पाठ मिलता है। यथा—"महिषीभवनवनीतं व्याधिवलोग्रा तथा नागबला। पिष्ट्वा मर्दनयोगात् पीनौ कठिनौ स्तनौ कुरुते"॥५०॥

स्तनवर्धने स्नेहनस्यम्—

श्यामानिशाबलाराजीलवणं क्वाथयेत्समम् ।
तोयैरष्टगुणैरेव पादशेषं समाहरेत् ॥५१॥
तिलतैलं क्वाथपादं तैलार्द्धं माहिषं घृतम् ।
स्नेहशेषं पचेत्तेन नस्येन मासमात्रके ॥
बालादिवृद्धनारीणां यौवनं कुरुतेऽद्भुतम् ॥५२॥

सारिवा, हरिद्रा, बला, सरसों तथा सैन्धानमक; सबको सम-भाग में लेकर अठगुने जल में डाल कर चतुर्थांश कषाय तय्यार कर लें। अब इसमें क्वाथ से आधा भाग तिलतैल और तिलतैल से आधा भाग भैंस का घी मिला कर पकावें। जब पकते पकते स्नेह-मात्र (घी-तैल) शेष रह जाय तो उसे उतार कर छान लें। इस स्नेह को एक महीने तक प्रतिदिन नस्यद्वारा व्यवहार करने से बाला स्त्री को शीघ्र यौवन प्राप्त होता है और वृद्धा स्त्री की वृद्धता दूर होकर पुनः उसको नवयौवन प्राप्त होता है।

विशेष वचन—चक्र० ने इसी स्नेह से मिलता-जुलता एक स्नेह स्तनवृद्धि के लिये लिखा है, यथा "गोमहिषीघृतसहितं तैलं श्यामाकृताञ्जलित्रिचाभिः। सकटुकानिशाभिः सिद्धं नस्यं स्तनोत्थापनं परम्" ॥ ५१–५२ ॥

स्तनविद्रधौ कुरुबकतैलम्—

कुरुवत्वक्कषायेण तत्कल्केन च साधितम् ।
तैलं तु वनितानां च कुचकुम्भव्रणापहम् ॥५३॥

पियावांसा की छाल के कषाय और कल्क द्वारा साधित तैल की मालिश (स्तनों पर) से कुचों पर होने वाला व्रण (कुचव्रण-विद्रधि) शान्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

शुल्वप्रयोगः—

शुल्वचूर्णं रसे जीर्णे मदयन्ती पुनर्नवा ।
मेषशृंगीरसश्चैता व्रणशोषणरोपणम् ॥५४॥

शुद्ध पारद में शुद्ध ताम्रचूर्ण को खरल या जीर्ण करके उसे मदयन्ती (नवमल्लिका या मेंहदी), पुनर्नवा तथा मेढ़ासिंगी के स्वरस में पृथक् मर्दन करके लेप बना लें। इस लेप को स्तनों पर लगाने से स्तनव्रण सूख जाता है और भर जाता है।

विशेष वचन—ताम्र के पारद में जीर्ण न होने पर ताम्रभस्म और रससिन्दूर को उक्त द्रव्यों के साथ मर्दन कर लेप बना कर भी काम निकाला जा सकता है। परन्तु मूलविधि से बनाया हुआ लेप सर्वोत्तम है ॥ ५४ ॥

स्नायुके कुम्भीप्रयोगः—

कुभीपुष्पाणि चादाय गिलयेद्रविवासरे ।
यावत्संख्यानि पुष्पाणि तावद्वर्षाणि स्नायुकः ॥
न निर्याति न संदेहः सिद्धयोग उदाहृतः ॥५५॥

रविवार के दिन कुम्भी (भोजपत्र वृक्ष अथवा पाढ़ल वृक्ष) के फूलों को लाकर मनुष्य को खिलाये इनमें से जितनी संख्या में फूल मनुष्य खायेगा उसके उतने ही वर्ष तक उसके शरीर में स्नायुक रोग नहीं होयेगा। इसमें सन्देह नहीं है। यह स्नायुक रोग के लिये सिद्ध योग है।

विशेष वचन—स्नायुक रोग को मारवाड़ देश में नाहरुआ कहा जाता है। इसमें प्रायः घुटनों से नीचे किसी स्थान पर एक व्रण पैदा होता है। इस व्रण के भीतर देखने से स्नायु (कण्डारा ताँत) की भाँति एक कीड़ा सा दिखाई देता है। इसको पकड़ कर यदि खींच लिया जाय तो यह शान्त हो जाता है। यदि खींचते हुये यह टूट जाय तो यह प्रकुपित होकर भयंकर रूप धारण करता है। इसके लिये भिलावा उत्तम औषधि मानी जाती है। माधवनिदान में इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है—"शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत्। भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्म-स्नायुं विशोष्य च ॥ कुर्यात्तन्तुनिभं जीवं वृत्तं श्वेतद्युतिं बहिः। शनैः शनैः क्षताद्याति छेदात्कोपमुपैति च ॥ तत्पाताच्छोथशान्तिः स्यात्पुनः स्थानान्तरे भवेत्। सस्नायुकेति विख्यातः क्रियोक्ताऽत्र विसर्पवत्"। कुछ ग्रन्थों में कुभी के स्थान पर कुम्भी पाठ है, वहाँ पर तथा यहाँ पर भी जल कुम्भी का लेना ठीक होगा ॥५५॥

भस्मकलक्षणम्—

येन भस्मीभवन्त्याशु भक्षितान्यखिलान्यपि ।
वस्तूनि स क्षुधारूपो व्याधिर्भस्मक उच्यते ॥५६॥

जिस रोग में किसी प्रकार का भोजन या अत्यन्त गुरु और कठिन द्रव्य का सेवन करने पर भी वह आसानी से जीर्ण हो जाता है और हर समय रोगी को भूख ही लगती रहती है उसे भस्मक रोग कहते हैं। अर्थात् इस रोग में पित्त तथा अग्न्याशय क्षुब्ध हो जाता है। इतना भोजन करने पर भी रोगी क्षीण होता जाता है ॥ ५६ ॥

श्लीपदस्य सम्प्राप्तिलक्षणे—

कफोत्तरा रक्तचलाश्रिता मलाः
पादेष्वधःकायमुपाश्रिताः शनैः ।
कुर्वन्ति शोफं घनमाह श्लीपदं
तत्कर्णनासादिषु पादवद्भवेत् ॥५७॥

कफप्रधान दोष श्लीपदकारक विष द्वारा कुपित होकर रक्त द्वारा शाखाओं (हाथ-पैर) में जाकर धीरे धीरे निम्न शरीर तथा पैरों में सञ्चित होकर कठिन आकार का शोथ पैदा कर देते हैं। इसको श्लीपद (पीलपाँव) रोग कहते हैं। श्लीपद का शोथ पैरों के अतिरिक्त कभी कभी कान, नासिका तथा अण्डकोषों में भी हो जाया करता है।

विशेष वचन—आधुनिक खोज ने श्लीपद के विभिन्न प्रकार कृमि निश्चित किये हैं। ये कृमि रक्त में रहते हैं। जब तक ये रक्त तथा लसीकावाहिनियों में भ्रमण करते रहते हैं तब तक कोई विशेष कष्ट नहीं होता है। परन्तु जब ये किसी लसीकावाहिनी में रुक जाते हैं तो श्लीपद के लक्षण पैदा होने लगते हैं। इनमें कुछ ऐसे विषैले कृमि हैं जिनसे माधवनिदानोक्त जरादि लक्षण प्रकट होते हैं। माधवनिदान में श्लीपद का संक्षिप्त लक्षण इस प्रकार है—"यः सज्वरो वंक्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण। तच्छ्लीपदं स्यात् कर-कर्ण-नेत्र-शिश्नौष्ठ नासास्वपि केचिदाहुः॥"

'रक्तचलाश्रिताः' के स्थान पर 'रक्तपलाश्रितः' पाठ योग्य है। वाग्भट में श्लीपद में मांस को दूष्य लिखा है, यथा "प्रस्थिता वंक्षणोर्वादिमधःकायं कफोल्वणाः। दोषा मांसासृगाः पादौ कालेनाश्रित्य कुर्वते॥ शनैः शनैर्घनं शोफं श्लीपदं तत् प्रचक्षते"॥ ५७॥

श्लीपदे चक्रेश्वरो रसः—

ताम्रभस्मसमं सूतं शुद्धं मर्द्यं दिनत्रयम्।
नागवल्लीमेघनादपाठापौनर्नवद्रवैः॥ ५८॥
गोमूत्रे मर्दयेद्गाढं चक्रयन्त्रे दिनं पचेत्।
मासैकं भक्षयेत्क्षौद्रैः श्लीपदी च पिबेदनु॥ ५९॥
खादिरं शल्लकीकाष्ठं क्षौद्रं चाशनकाष्ठकम्।
गवां मूत्रैः समं पिष्ट्वा पिबेच्छ्लीपदनाशनम्॥६०॥

शुद्ध ताम्रचूर्ण, शुद्ध पारद प्रत्येक एक एक भाग में लेकर खरल में एकत्र करके पान के पत्तों के रस, चौलाई का स्वरस, पाठास्वरस, पुनर्नवास्वरस तथा गोमूत्र में क्रमशः पृथक् पृथक् तीन दिन तक मर्दन करके गोला सा बना कर सम्पुट में बन्द करके चक्रयन्त्र में रख कर एक दिन पर्यन्त पाक करें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस रख लें। यह 'चक्रेश्वररस' कहा जाता है। इसमें से एक उड़द के बराबर मात्रा में लेकर शहद के साथ श्लीपद के रोगी को प्रतिदिन चटावें। इस रस को चाटने के बाद खादिरसार, असनसार, शालसार तथा मधु को समभाग में लेकर गोमूत्र के साथ पीस कर रोगी को अनुपानरूप में पिलावें। इस योग के सेवन करने से श्लीपदरोग शान्त होता है।

विशेष वचन—'मासैकम्' के स्थान पर 'माषैकम्' पाठान्तर होने से हमने एक उड़द भर मात्रा निर्धारित की है। इस रस का सेवनकाल एक महीना समझना चाहिये। परन्तु चक्रयन्त्र में जिसका लक्षण नीचे लिखा जाता है केवल एक दिन पर्यन्त पाक करने से ताम्र की भस्म होना कठिन है। अतः ताम्रचूर्ण से ताम्र की भस्म लेनी चाहिये। अन्यथा अशुद्ध ताम्र के दोष उपस्थित हो जायेंगे। चक्रयन्त्र का लक्षण आत्रेयसंहिता में इस प्रकार लिखा है—"गर्तबाह्ये भवेद्गर्तो मध्यगर्ते रसं कुरु। चक्रयन्त्रमिदं सिद्धं बाह्ये गर्ते बृहत्पुटम्॥"

रसरत्नाकर में "खादिरम् इत्यादि" पद्य के स्थान पर "खादिरं पद्मकाष्ठञ्च मधुनाश्चाष्टमासकम्।" पाठान्तर है। भैषज्यरत्नावली में "निम्बं खदिरसारञ्च मधुना चाष्टमाषकम्।" ऐसा पाठ है॥

गुडूच्यादिलेपः—

गुडूचीकटुकाशुण्ठीदेवदारुविडङ्गकम्।
पिष्ट्वा गोमूत्रसंयुक्तो लेपः श्लीपदनाशनः॥ ६१॥

गिलोय, कटुकी, सौंठ, देवदारु, वायविडङ्ग; प्रत्येक समभाग में लेकर गोमूत्र के साथ पीस कर श्लीपदशोथ पर लेप करने से कुछ काल में वह बैठ जाती है।

विशेष वचन—सुश्रुत में गुडूच्यादिलेप के योग में चित्रक की छाल अधिक ली गई है॥ ६१॥

वल्मीके बहुभावितपित्तलप्रयोगः—

ब्राह्मीपलाशयोः क्वाथे रीतिपत्रं विनिक्षिपेत्।
दिनद्वयं ततस्तानि पुनस्तेनैव घर्षयेत्॥ ६२॥
लघुभाण्डे समादाय चूर्णं कूष्माण्डवारिणा।
महत्त्रिवारं कुर्वीत पुटं करभवारिणा॥ ६३॥
मर्दयित्वा पुटं दद्यादजामूत्रेण भावयेत्।
ततोऽप्येकं पुटं दत्वा तिस्रस्त्रिकटुभावनाः॥ ६४॥
अमर्यजाविडङ्गाऽग्निगोजलैरथ भावितः।
प्रतिमेषः सुसंसिद्धो रसो वल्मीकभद्रसैः॥ ६५॥
वल्लत्रयमितो देयो वल्मीके तस्य मृत्स्नया।
वल्मीकं संविलिप्यैतत्कृमिसङ्घप्रशान्तये॥ ६६॥
रसैरुत्तरवारुण्याः सभ्रमं हन्ति मारुतम्।
वासानीरानुपानेन जयेत्कफसमीरणम्॥ ६७॥

ब्राह्मी तथा ढाक के कषाय में पीतल के कण्टकवेधी पत्रों को गरम करके सात बार बुझा कर निकाल कर दो दिन तक उक्त क्वाथ में ही पड़े रहने दें। दो दिन के बाद उन पत्रों को उस कषाय में अच्छी तरह घोट कर शरावसम्पुट में बन्द करके गजपुट में फूँक दें। पुनः शीतल होने पर निकाल करके पेठे के स्वरस से घोट कर गजपुट में फूकें। तदनन्तर उसको हाथी या ऊँट के मूत्र में पीस कर गजपुट में फूकें। इसके बाद बकरी के मूत्र में एक गजपुट दें। तदनन्तर सौंठ मिर्च, पिप्पली, तुलसी, बकरी का मूत्र, विडंग, चित्रक के स्वरस अथवा कषाय की पृथक् पृथक् एक एक भावना देकर अन्त में गोमूत्र की एक भावना देकर सुखा लें। इस प्रकार यह प्रतिमेषरस तय्यार होता है। इसको तीन वल्ल मात्रा में लेकर बाँबी की मिट्टी के जल के साथ प्रतिदिन सेवन कराने और वल्मीक पिडिका पर बाँबी की मिट्टी का ही लेप करने से वल्मीकरोगकारक कृमियों का नाश होकर पिडिका बैठ जाती है।

यदि इस रस को इन्द्रायण के स्वरस के साथ सेवन कराया जाय तो भ्रमयुक्त वायु की शान्ति होती है और यदि वासास्वरस के साथ सेवन कराया जाय तो यह रस कफ और वात के प्रकोप को शान्त करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती। 'प्रतिमेषः' के स्थान पर 'प्रातरेषः' पाठ करना सरल और युक्तिसंगत है ॥

स्थौल्ये विडंगादिचूर्णम्—

विडंगं नागरं क्षारं काललोहरजो मधु।
यवामलकचूर्णं च योगोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥६८॥

वायविडंग, सौंठ, यवक्षार, लोहभस्म, जौ का चूर्ण (आटा), आँवला चूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। इनमें से उचित मात्रा में लेकर शहद के साथ चाटने से मुटापे के कारण शरीर में उत्पन्न हुये दोष शान्त होते हैं।

विशेष वचन—यहाँ पर कई टीकाकार वायविडंग आदि सब द्रव्यों के मिलित समभाग लोहभस्म लेने को कहते हैं ॥ ६८ ॥

त्रिफलादिकषायः—

वरासनाग्नयः पत्रनिशाक्वाथं मधुप्लुतम्।
द्विरदस्थूलदेहोऽपि पिबेन्मासात्कृशो भवेत् ॥ ६९ ॥

त्रिफला, विजयसार, चित्रक, तेजपत्र, हरिद्रा के कषाय को प्रतिदिन शहद में मिला कर एक मास तक सेवन करने से हाथी के समान बढ़ी हुई स्थूलता से युक्त मनुष्य भी अत्यन्त कृश हो जाता है ॥ ६९ ॥

विपरीतरतिजव्याधिलक्षणम्—

विपरीते रते प्राप्ते लिंगे दाहः प्रजायते।
कार्श्यं च सर्वगात्रेषु, तत्प्रतीकार उच्यते ॥ ७० ॥

दूषित योनि अथवा अत्यन्त संकुचितयोनि स्त्री के साथ संभोग करने अथवा मैथुन में विपरीत आसन आदि का अवलम्बन करने से लिंगेन्द्रिय में दाह होने लगती है और सब शरीर में कृशता आ जाती है। अब आगे उसका प्रतिकार बताते हैं।

विशेष वचन—उष्णवात रोग के लक्षण न मिलने पर यदि लिंग में क्षत हो तो उस क्षत को अल्पछिद्रयोनि-मैथुन-जन्य उपदंश समझा जाता है ॥ ७० ॥

रतिजव्याधिप्रतीकारः—

प्रत्यग्रस्तन्निबद्ध्यैव लिंगे चूषणमाचरेत्।
क्षणे त्वेतस्य संजाते क्षालयेच्छीतलाम्बुना ॥७१॥
कोलनिर्य्यासमादाय पाययेत्तं सशर्करम्।
शाल्मलीदूर्वयोर्मूलीरसपायसमाशयेत् ॥७२॥

इस बाधा के लिये सर्वप्रथम प्रतीकार यह है कि रोगप्रादुर्भाव या ज्ञान होते ही लिंगेन्द्रिय को अग्रभाग में बन्धन से बाँध कर उसके मुख पर कपिंगग्लास या सिंगी आदि द्वारा चूषण (चूसना) करना चाहिये। जिससे दाहयुक्त स्थान में से सञ्चित रक्त निकल जाय। तदनन्तर दाहयुक्त स्थान को शीतल और शुद्ध जल से अच्छी तरह प्रक्षालन करना चाहिये और रोगी को बेर के कषाय में शर्करा मिला कर पिलाना चाहिये और सेमल का स्वरस तथा शतावरीस्वरस और क्षीर (दूध) इन्हें यथाविधि मिला कर इसमें उचित मात्रा में चावल पका कर यह खीर रोगी को खिलानी चाहिये।

विशेष वचन—खीर बनाते समय स्वरस में उचित मात्रा में चावल तथा दूध भी डालना चाहिये ॥ ७१–७२ ॥

उपदंशादिप्रतीकारः—

पुरुषव्याधिनुत्त्यर्थे रक्तस्रावो हि पृष्ठके।
भक्षणं बोलबद्धस्य मत्स्याक्षीमूललेपनम् ॥७३॥
जानुरुग्ग्रंथिनुत्त्यर्थे यवचिंचाः प्रलेपयेत्।
सामुद्रकाञ्जिकाभ्यां हि लेपं विप्रेहि सत्वरम् ॥७४॥

उपदंशरोग को दूर करने के लिये सर्वप्रथम लिङ्गेन्द्रिय के पृष्ठभाग के मध्यभाग की शिरा का रक्तमोक्षण करना चाहिये। और रक्तपित्ताधिकार में वर्णित बोलबद्धरस का मधु के साथ सेवन कराना चाहिये। मछेछी घास को जल से घिस कर लिङ्ग पर लेप करके पट्टबन्धन कर देना चाहिये। यदि उपदंश के कारण घुटनों में शोथपीड़ा या ग्रन्थि हो तो उसकी शान्ति के लिये यवचिञ्चा को जल में पीस कर जानु पर लेप करना चाहिये। अथवा समुद्र-लवण को कांजी में पीस कर इसका गुनगुना लेप घुटनों पर करना चाहिये।

विशेष वचन—पृष्ठक शब्द से यहाँ पर तन्त्रान्तरदर्शनानुसार लिङ्गपृष्ठ अर्थ किया गया है—"स्निग्धस्विन्नशरीरस्य ध्वजमध्ये शिराव्यधः।" इसी तरह समुद्र शब्द से कई चिकित्सक चोपचीनी का भी ग्रहण करते हैं ॥ ७३–७४ ॥

रक्तविकृतौ बोलबद्धस्य सेवनम्—

सर्वरक्तविकारेषु बोलबद्धस्य सेवनम् ॥ ७५ ॥

सब प्रकार के रक्तविकारों में बोलबद्धरस का उचित मात्रा में प्रतिदिन सेवन करना अत्यन्त उपयोगी है।

विशेष वचन—यहाँ पर रक्तविकारों से उपदंश तथा फिरंग रोगों में होने वाले रक्तविकारों का विशेषरूप से ग्रहण समझना चाहिये ॥ ७५ ॥

अस्थिभग्ने लाक्षादिप्रलेपः—

मेषीक्षीरं द्रवं चूर्णं कटुतुम्बे विनिक्षिपेत्।
प्रलेपनेन सात्म्यादस्थिभंगः प्रशाम्यति ॥७६॥

द्रव (लाख) तथा चूने को भेड़ के दूध में पीस कर तीन दिन तक कड़वी तुम्बी में भर कर रख दें। पश्चात् इसको निकाल

कर पीस कर इसका निरन्तर कुछ काल तक भग्नस्थान पर लेप करने से टूटी हुई हड्डी ठीक हो जाती है ।। ७६ ।।

स्नायुके अस्पर्शारिप्रयोगोपदेशः—

स्नायुकस्यापनुत्त्यर्थमस्पर्शारिप्रलेपनम् ॥७७॥

स्नायुक (नाहरुआ) रोग को नष्ट करने के लिये वातव्याधि-अधिकारोक्त अस्पर्शवातारि तैल अथवा रस का सेवन करना चाहिये ।

विशेष वचन—'प्रलेपनम्' के स्थान पर 'प्रवेशनम्' पाठान्तर मिलता है । अत एव कोई अस्पर्शारि से जवासे या धमासे का ग्रहण करते हैं ।। ७७ ।।

योनिव्यापन्निदानम्—

दैवेनातिरते स्त्रीणां विषमोत्कट‹आ›सनात् ।
जायन्ते व्यापदो योनौ दुष्टबीजार्त्तवात्ततः ॥७८॥

प्रारब्धकर्मवश अथवा अत्यधिक मैथुनक्रिया तथा मैथुनक्रिया में विपरीत आसनादियों के अवलम्बन करने से स्त्रियों की योनि में अनेकविध व्यापत् (रोग) हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त कई बार योनिदोष माता पिताओं के दूषित रजवीर्य के कारण भी सन्तान में हो जाते हैं । और कई बार मासिकधर्म की खराबी से भी स्त्रियों में योनिरोग उत्पन्न होते हैं ।

विशेष वचन—चरक में योनिरोगों का कारण इस प्रकार लिखा है । "विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे । मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ।। जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्" ।। ७८ ।।

योनिव्यापत्सु पिष्टीयोगः—

पिष्टी तारार्कयोरेका तैले गन्धस्य पाचिता ।
सेविता मधुसर्पिर्भ्यां गुह्यरोगान्नियच्छति ॥७९॥

रजत अथवा ताम्र की पारद आदि द्रव्यों के साथ बनाई हुई पिष्टी (अष्टमाध्यायोक्त विधि से बनाई हुई) को गन्धक के तैल में पका कर अर्थात् भून कर योग्य मात्रा में लेकर शहद और घृत के साथ प्रतिदिन सेवन करने से गुह्यरोग दूर होते हैं ।। ७९ ।।

योनिशूले निम्बादिः—

निम्बुद्रावैः सुसंपिष्टं निम्बैरण्डस्य बीजकम् ।
योनिशूलहरं क्षिप्त्वा गोलकं योनिमध्यगम् ॥८०॥

निंबोलियों की तथा एरण्डबीजों की मज्जा को समभाग में एकत्रित करके नींबू के स्वरस से पीस कर गोलियाँ बना लें । इन बड़ी बड़ी गोलियों को योनि के भीतर रखने से योनि का शूल शान्त होता है ।। ८० ।।

सोमराज्यादिप्रलेपः—

सोमराजी देवदारु निम्बदारुनिशाऽसनम् ।
तक्रपिष्टं प्रलेपोऽयं योन्यामयहरो भवेत् ॥८१॥

बावची, देवदारु, नीम के पत्ते, दारुहल्दी, विजयसार; सबको समभाग में लेकर एकत्र तक्र (मठे) के साथ मर्दन करके लेप तय्यार कर लें । आवश्यकतानुसार इस लेप को योनि के भीतर लगाने से योनिरोग दूर होते हैं ।। ८१ ।।

योनिकृमिशूले रसोनादिलेपः—

रसोनं गृहधूमं तु विशाला सविडङ्गकम् ।
कण्टकारीफलं तोयैः पिष्ट्वा योनौ प्रलेपयेत् ।।
कृमिशूलहरं ख्यातं सप्ताहान्नात्र संशयः ॥८२॥

लहसुन, घर का धुँआँ, गोरखककड़ी, वायविडंग तथा कटेली के फल; इन सबको समभाग में लेकर जल के साथ पीस कर योनि में लेप करने से योनि में कृमियों के कारण होने वाला शूल, सात दिन में शान्त हो जाता है । इसमें सन्देह नहीं है ।। ८२ ।।

फलघृतम्—

मञ्जिष्ठा तगरं कुष्ठं त्रिफला शर्करा वचा ।
मेदा यष्टी हरिद्रे द्वे दीप्यकं कटुरोहिणी ॥८३॥
पयस्या हिङ्गु काकोली वाजिगन्धा शतावरी ।
प्रत्येकं चूर्णयेत्कर्षं द्वात्रिंशत्पलकं घृतम् ॥८४॥
घृताच्चतुर्गुणं क्षीरं घृतशेषं विपाचयेत् ।
योनिशूले शुक्रदोषे गर्भिणीनां च पाययेत् ॥८५॥

मंजीठ, तगर, कूठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, शर्करा (खाँड) वचा, मेदा (अभाव में शतावर), मुलेठी, हरिद्रा, दारुहल्दी, अजवाइन, कुटकी, क्षीरकाकोली (अभाव में असगन्ध), हींग, काकोली (अभाव में असगन्ध), असगन्ध, शतावर; प्रत्येक द्रव्य एक एक कर्ष भर लेकर जल के साथ पीस कर इसका कल्क बना लें । अब इसमें बत्तीस पल नवीन गौ का घृत और घी से चौगना गौ का दूध मिला कर स्नेहसाधन विधि से घृत पका लें । जब घृतमात्र शेष रह जाय इसे उतार कर छान लें । इस घृत को स्त्रियों के योनिशूल, पुरुषों के वीर्यविकारों में तथा गर्भिणी स्त्रियों की गर्भपोषण के निमित्त उचित मात्रा में सेवन करना चाहिये ।

विशेष वचन—मात्रा ६ मासा, मिश्री मिला हुआ दूध अनुपान । तन्त्रान्तरोक्त फलकल्याणघृत की भाँति इस घी में भी लक्ष्मणामूल डालनी चाहिये । इससे इस घृत की कार्यशक्ति बढ़ जाती है । इस घृत के कुछ दिन निरन्तर-प्रयोग से यदि स्त्री बन्ध्या न हो तो उसके गर्भाशय में गर्भधारण की शक्ति उत्पन्न हो जाती है घृत के सम्यक्पाकार्थ घृतसे चतुर्गुण जल भी डालना चाहिये ।।

रजोनाशे त्रियोनिरसप्रयोगविधिः—

त्रियोनिरसगुञ्जैकं त्रिनिष्कमभयागुडम् ।
पुष्परोधहरं खादेत्पलैकं तिलजीवनम् ॥
ततः शीतोदकं क्षिप्त्वा पुष्पं स्रवति तत्क्षणात् ॥८६॥

पूर्वोक्त त्रियोनिरस की एक गुञ्जा मात्रा को १½ निष्क पुराने

गुड़ तथा १½ निष्क हरीतकीचूर्ण में मिला कर मासिक धर्म न होने वाली स्त्री को सेवन करावें। ऊपर से शीतल जल के साथ एक पल कृष्ण तिलों को (चबाकर) खायें तो शीघ्र कुछ दिनों में रुका हुआ मासिकधर्म प्रवृत्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

पुष्परोधहरयोगत्रयम्—

लाङ्गलीकन्दचूर्णं वा मूलं वाऽप्यपमार्गजम् ।
इन्द्रवारुणीमूलं वा योनिस्थं पुष्परोधनुत् ॥ ८७ ॥

कलिहारी की मूल के चूर्ण की पोटली को स्त्री की योनि में रखने से अथवा अपामार्ग की मूल के चूर्ण की पोटली को या इन्द्रायणमूलचूर्ण की पोटली को योनि में रखने से रुका हुआ मासिक धर्म पुनः प्रवृत्त होता है ॥८७॥

पुष्परोधरक्तगुल्महरयोगद्वयम्—

तिलमूलकषायं तु ब्रह्मदण्डीयमूलकम् ।
यष्टीत्रिकटुकं चूर्णं क्वाथयुक्तं च पाययेत् ॥
पुष्परोधे रक्तगुल्मे स्त्रीणां सद्यः प्रशस्यते ॥ ८८ ॥

तिलमूल के कषाय में भारङ्गीमूलत्वकचूर्ण को मिला कर पिलाने से रजोरोग नष्ट हो जाता है। अथवा तिलों के कषाय में मुलेठी तथा त्रिकटुचूर्ण मिला कर पिलाने से स्त्रियों के रजोरोध तथा रक्तगुल्म में तत्काल लाभ होता है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में इन योगों को कुछ परिवर्तन के साथ लिखा हुआ है, यथा 'तिलमूलञ्च शिग्रुञ्च ब्रह्मदण्डीयमूलकम् । मधुयष्टी त्रिकटुकैर्युतं चूर्णमुपासयेत्' ॥८८॥

पुष्परोधे चणकप्रयोगः—

चणकानां रसं चैवं शृतं क्षीरं घृतेन वा ।
शर्करामधुसंयुक्तं रक्तदोषहरं पिबेत् ॥ ८९ ॥

गीले चनों के स्वरस (अभाव में सूखे चनों के कषाय) में समभाग पक्वदुग्ध मिला कर उसमें मीठा करने के योग्य खाँड, शहद मिला कर कुछ काल निरन्तर पिलाने से आर्तवरोध दूर हो जाता है ॥ ८९ ॥

गुडव्योषादिचूर्णम्—

तिलक्वाथो गुडं व्योषं तिलभार्ङ्गीयुतं पिबेत् ।
क्वाथं रक्तभवे गुल्मे नष्टपुष्पेऽथ पाययेत् ॥ ९० ॥

पुराना गुड़, सौंठ, मिर्च, पिप्पली, तिल, भारङ्गी; इन सब का चूर्ण प्रत्येक एक एक भाग लेकर एकत्र पीस करके रख लें। इसको उचित मात्रा में तिलों के कषाय के साथ कुछ दिन तक सेवन कराने से रक्तगुल्म तथा रजोरोध में लाभ होता है।

विशेष वचन—'तिलभार्ङ्गीयुतम्' के स्थान पर सिद्धयोग नामक ग्रन्थ में 'हिंगुभार्ङ्गीयुतं' तथा वाग्भट में 'घृतभार्ङ्गीयुतं' पाठान्तर मिलता है ॥९०॥

गर्भाऽजनने धुस्तूरप्रयोगः—

ग्राह्यं कृष्णाचतुर्दश्यां धुस्तूरस्य तु मूलकम् ।
कट्यां बद्ध्वा रमेत्स्वेच्छं न गर्भः संभवेत्क्वचित् ॥
मुक्ते न लभते गर्भं पुरा नागार्जुनोदितम् ।
तन्मूलचूर्णं योनिस्थं न गर्भः संभवेत्क्वचित् ॥ ९२ ॥

कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन पवित्रता के साथ काले धतूरे की जड़ को लेकर उसको ऋतुस्नान की हुई स्त्री की कमर में बाँध दें। इसके बाँधने से स्त्री के पति के साथ रमण (मैथुन) करने पर किसी तरह भी गर्भ रहने की सम्भावना नहीं रहती है। यदि इस मूल को कमर से खोल कर अलग करके मैथुन किया जाय तो गर्भस्थिति हो जाती है। ऐसा नागार्जुन मुनि ने कहा है। अथवा काले धत्तूरे की मूल के चूर्ण की पोटली को योनि में रखने से भी गर्भस्थिति होने की सम्भावना नहीं रहती है ॥ ९१—९२ ॥

सैन्धवप्रयोगः—

ऋतौ जाते क्षिपेद्योनौ तिलतैलाक्तसैन्धवम् ।
द्रवते तत्क्षणादेव तच्छुक्रं पुष्पितामपि ॥ ९३ ॥

मासिकधर्म होने के बाद पतिसंभोग करने पर यदि सेन्धानमक की डली को या चूर्ण को तिलतैल में मिला कर योनि में रखा जाय तो गर्भाशय में प्रविष्ट हुए रज और वीर्य भी तत्काल बाहर निकल आते हैं। अर्थात् गर्भस्थिति नहीं होती है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में इस योग को दुश्चरित्र स्त्रियों के लिए लिखा है, यथा—'तैलाविलं सैन्धवखण्डमादौ निधाय रण्डा निजयोनिमध्ये। नरेण सार्द्धं रतिमातनोति या सा न गर्भं लभते कदाचित्' ॥९३॥

गर्भस्रावे चूर्णप्रयोगः—

देवालये तु यच्चूर्णं कर्षकं तोयपेषितम् ।
पिबेद्गर्भवती नारी गर्भः स्रवति तत्क्षणात् ॥ ९४ ॥

यदि गर्भवती स्त्री को पुराने मन्दिरों की दीवारों पर पुती हुई कली के चूर्ण की एक कर्ष मात्रा को जल में घोल कर पिलाया जाय तो उसका तत्काल गर्भस्राव हो जाता है ॥९४॥

एरण्डप्रयोगः—

काण्डमेरण्डपत्रस्य योनावष्टाङ्गुलं क्षिपेत् ।
चतुर्मासोद्भवो गर्भः स्रवत्येव हि तत्क्षणात् ॥ ९५ ॥

एरण्डपत्र की डण्ठल को आठ अंगुल प्रमाण अन्दर योनि में प्रवेश किया जाय तो चार महीने का गर्भ भी तत्काल गिर जाता है।

विशेष वचन—इस प्रकार की प्रकृति के कार्य पर बाधा डालने वाली कुचेष्टायें अत्यन्त भयंकर होती हैं। साथ ही यह राजकीय नियम के भी विरुद्ध है ॥ ९५ ॥

चित्रकप्रयोगः—

निर्गुण्डीद्रवसंपिष्टं चित्रमूलं मधुप्लुतम्।
कर्षं भुक्त्वा पतत्याशु गर्भो रण्डाकलोद्भवः॥ ९६॥

एक कर्ष चित्रकमूल के चूर्ण को निर्गुण्डी के स्वरस में पीस उसमें शहद मिला कर खिलाने से विधवा स्त्री का रहा हुआ गर्भ शीघ्र ही गिर जाता है॥ ९६॥

अतिरक्तस्रावे शरपुंखाप्रयोगः—

मूलं तु शरपुङ्खायास्तण्डुलाम्बुप्रपेषितम्।
पाययेत्कर्षमात्रं तदतिरक्तप्रशान्तये॥ ९७॥

शरपोंके की जड़ एक कर्ष को चावलों के जल के साथ पीस कर पिलाने से स्त्रियों का अधिक मात्रा में होने वाला रक्तस्राव बन्द होता है॥ ९७॥

अर्कमूर्तिरसप्रयोगविधिः—

स्त्रीणां रक्ते पूयके वा प्रवृत्ते सैसं चूर्णं पेटकारीभवश्च।
दद्यात्प्रातर्मल्लखण्डेन सार्द्धं दत्त्वा सूतं त्वर्कमूर्तिं घृतेन।

स्त्रियों के अधिक रक्तस्राव होने पर अर्थात् रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर तथा पूयप्रदर होने पर पहिले प्रातः रससिन्दूर तथा अर्कमूर्तिरस की एक मात्रा घृत में मिला कर पिलावें। पश्चात् नागभस्म तथा पेटकारिचूर्ण को गुड़ तथा खाँड के साथ खिलावें।

विशेष वचन—मल्लखण्ड से यहाँ पर कूजे की मिश्री का ग्रहण करना अच्छा होगा। पेटकारी के अभाव में अरणी की जड़ का चूर्ण लेना चाहिये॥ ९८॥

योनिशूलहरयोगद्वयम्—

योनौ शूले निम्बवातारिपिष्टैः कुर्याद्वा नागकर्णोत्थमूलैः॥

स्त्री की योनि में अत्यन्त शूल होने पर निबोली की मज्जा तथा एरण्डबीजमज्जा दोनों को शुद्ध जल से पीस कर योनि के भीतर लेप करना चाहिये। अथवा लाल एरण्ड की जड़ को जल से पीस कर योनि में लेप करना चाहिये॥ ९९॥

रजोदोषे व्योषादितैलम्—

तैलं क्वाथं व्योषयष्टिप्रयुक्तं दद्यात्स्त्रीणां रक्तदोषापनुत्त्यै॥

त्रिकटु तथा मुलेठी के कषाय तथा कल्क से तिलतैल सिद्ध करके उसका प्रतिदिन एक फाया योनि में रखने से स्त्रियों की मासिकधर्म की खराबी ठीक हो जाती है॥ १००॥

पुष्यानुगचूर्णम्—

पाठा जम्ब्वाम्रयोरस्थि शिलोद्भेदं रसाञ्जनम्।
अम्बष्ठां शाल्मलीं पिष्ट्वा समङ्गां वत्सकत्वचम्॥ १०१॥
वाह्लीकबिल्वातिविषालोध्रतोयदगैरिकम्।
शुण्ठीमधुकमार्द्वीकं रक्तचन्दनकट्फलम्॥ १०२॥
कट्वङ्गवत्सकानन्ताधातकीमधुकाञ्जनम्।
पुष्ये गृहीत्वा सञ्चूर्ण्य सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना॥ १०३॥
पिबेदर्शःस्वतीसारे रक्तं यश्चोपवेश्यते।
दोषागन्तुकृता ये च बालानां तांश्च नाशयेत्॥ १०४॥
योनिदोषं रजोदोषं श्यावं श्वेतारुणविषम्।
चूर्णं पुष्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम्॥ १०५॥

पाठा, जामुन के बीज की गिरी, आम के बीज की गिरी, पाषाणभेद, शुद्ध रसौत, अम्बष्ठा (अभाव में पाठा), मोचरस, समंगा (मजीठ अथवा लज्जालु), कुड़े की छाल, वाह्लीक (नागकेशर), बेल का गूदा, अतीस, लोध की छाल, नागरमोथा, शुद्ध गेरू, सौंठ, मुलेठी, मुनक्का, लालचन्दन, कायफल, अरलू की छाल, इन्द्रजौ, अनन्तमूल, धाय के फूल, महुआफूल, शुद्ध सौवीराञ्जन; इन सब को पुष्यनक्षत्र के दिन एकत्रित कर प्रत्येक द्रव्य का चूर्ण समपरिमाण में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर इसमें मधु मिला कर चावलों के पानी के साथ स्त्री को सेवन करावें। इसके सेवन करने से रक्तार्श (खूनी बवासीर), रक्तातिसार तथा वातादिदोषजन्य और आगन्तु कारणों से उत्पन्न बालकों के रक्तातिसार तथा रक्तप्रवाहिका आदि रोग शान्त होते हैं। यह चूर्ण स्त्रियों के योनिदोष, रजोदोष, योनि द्वारा श्याव, श्वेत, अरुण, रक्त अथवा द्रवरूप स्राव होना आदि रोगों को नष्ट करता है। यह पुष्यानुगचूर्ण आत्रेय द्वारा वर्णन किया गया है।

विशेष वचन—मात्रा एक मासा से दो मासा तक। 'वत्सकत्वचम्' के स्थान पर सिद्धयोगादि ग्रन्थों में 'पद्मकेशरम्' पाठ है। 'मधूकं' तथा 'कट्फलम्' के स्थान पर चक्रपाणि ने 'त्रिफलामरिच' पाठ किया है। चरक में 'मधूकं' के स्थान पर 'मरिचम्' दिया है। 'मार्द्वीकम्' के स्थान पर 'माचीकम्' ऐसा पाठ होने पर माचीक शब्द से देवदारु लेने को कहा जाता है। 'अञ्जनम्' के स्थान पर 'अर्जुनम्' पाठ उचित है। 'अम्बष्ठा' शब्द से कई आचार्यों के मत से दक्षिण देश में प्रसिद्ध अम्बाष्ठा का ग्रहण किया है और कई 'अम्बष्ठा' शब्द से 'लक्ष्मणा' का ग्रहण करते हैं और कोई 'अम्बष्ठा' से 'पाठा' को ही द्विगुणभाग में लेने को कहते हैं। इस योग के निर्माण में चरक के पाठ का ही अनुसरण करना उत्तम है॥ १०१-१०५॥

त्रिविधविषनिर्देशः—

यत्कन्दमूलादिषु जायते ततो विषाद्विषं स्थावरमुग्रवीर्य्यम्।
सर्पादिकं जङ्गममुच्यते तद्द्रव्यैरनेकैः कृतकं च यत्तत्॥

विष, स्थावर, जंगम तथा कृत्रिम भेद से तीन प्रकार का होता है। इनमें से जो कन्द, मूल, पत्र निर्यास आदि उद्भिज के रूप में तथा संखिया, हरताल आदि धातु रूप में विष होता है वह अत्यन्त उग्रवीर्य होता है और उसे स्थावर विष कहते हैं। सर्प, बिच्छु आदि प्राणियों के विष को जंगम विष कहते हैं

और जो विष अनेकविध भिन्नप्रकृति तथा गुणयुक्त द्रव्यों के योग से बनाया जाता है उसे कृत्रिम कहते हैं ॥ १०६ ॥

अथ विषचिकित्सा ।

मेघनादप्रयोगः—

घननादजटा हन्ति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥ १०७ ॥

चौलाई की जड़ को जल के साथ पीस कर पिलाने से स्थावर तथा जंगम दोनों प्रकार के विषोपद्रव शान्त होते हैं ।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में इस योग को चावलों के पानी के साथ सेवन करने को लिखा है, यथा "तण्डुलीयकमूलन्तु पीतं तण्डुलवारिणा । तक्रकेणापि संदष्टं निर्विषं कुरुते नरम्" ॥

सूतशतावरीयोगः—

ज्येष्ठाम्बुसूतराजेन पीताऽभीरुशिफा तथा ॥ १०८ ॥

शतावर की जड़ और पारे की भस्म (रससिन्दूर) को चावलों के पानी के साथ पिलाने से स्थावर तथा जंगम दोनों प्रकार के विष नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८ ॥

सूतरोमराजीयोगः—

सुरभिशकृद्रसभावितशशिराजीचूर्णसंयुतः सूतः ।
स्थावरजङ्गमकृत्रिमविषजिद्गुञ्जामितोऽभ्यस्तः ॥१०९॥

बावची के चूर्ण को गोबर के स्वरस से सात भावना देकर सुखा लें । इसमें से एक रत्ती भर मात्रा में लेकर इसमें पारदभस्म (अभाव में रससिन्दूर) ½ रत्ती मिला कर जल अथवा किसी विषहर अनुपान के साथ सेवन करने से स्थावर, जगम तथा कृत्रिम सब विषों का प्रभाव नष्ट होता है ।

विशेष वचन—पारदभस्म की मात्रा ½ रत्ती पर्याप्त है ॥

अभ्रकादिप्रलेपः—

अभ्रकं तालकं तार्क्ष्यं शिलाजित् कुनटी रसः ।
देवदालीरसो व्योषं लेपनाद्विषनाशनम् ॥ ११० ॥

अभ्रक, हरताल, सोनामाखी, शिलाजीत, मैनसिल, तथा पारद सबको समभाग में लेकर बन्दाल के स्वरस में घोट कर लेप तय्यार कर लें । इसका शरीर पर लेप करने से सब प्रकार के विषप्रभाव नष्ट हो जाते हैं ॥ ११० ॥

लूताविषे सूतभस्मप्रयोगः—

रसेन चक्रमर्दस्य पुटितः पुटपाचितः ।
एरण्डस्नेहसंयुक्तः सूतो लूताविकारजित् ॥ १११ ॥

शुद्ध पारद को चक्रमर्द (पनवार) के स्वरस के साथ घोट कर गोला सा बना कर लघुपुट में पका लें । इस प्रकार दो तीन बार लघुपुट में फूँक कर भस्म बना लें । इस भस्म को एरण्डतैल में मिला कर लूतादंश विष पर लेप करें । और इसे रोगी को अत्यल्प मात्रा में सेवन भी करावें । इससे मकड़ी का विषप्रभाव शान्त होता है ॥ १११ ॥

महासर्पविषे नागदमनीप्रयोगः—

जलेन नागदमनीमूलं नस्ये प्रयोजितम् ।
महासर्पस्य विषमं विषं नश्यति तत्क्षणात् ॥ ११२ ॥

नागदौन की जड़ को जल में पीस कर उसकी नस्य लेने से महाभयंकर सर्प का विषम (तीव्र) विष भी तत्काल शान्त हो जाता है ॥ ११२ ॥

शिरीषप्रयोगः—

जलपिष्टं शिरीषस्य पञ्चाङ्गं यः पिबेन्नरः ।
स नागराजदष्टोऽपि मानुषो निर्विषो भवेत् ॥११३॥

सिरस के पञ्चांग को जल में पीस कर पान करने से शेषनाग द्वारा डसा हुआ भी मनुष्य विष के विकार से मुक्त हो जाता है ॥

अश्वगन्धा-बन्ध्याप्रयोगौ—

अश्वगन्धाभवं कन्दं बन्ध्याया वाऽथ यः पिबेत् ।
तस्य देहान्तरं याति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥ ११४ ॥

असगन्ध की जड़ अथवा बाँझककोड़े की जड़ को जल में पीस कर पीने से स्थावर तथा जंगम सभी विष शरीर से बाहर निकल जाते हैं ॥ ११४ ॥

वृश्चिके विषव्योषादितैलम्—

व्योषैरण्डस्रावपक्वं तु तैलं लेपायोक्तं वृश्चिकानां सदैव ॥

त्रिकटु तथा एरण्डनिर्यास (एरण्ड का निर्यास न होने से बीज की गिरी) के कल्क से तिलतैल चतुर्गुण लें और तैल से जल चतुर्गुण डाल कर तैल पका लें । इस तैल की मालिश करने से (काटे हुये स्थान पर) बिच्छू का विष शान्त होता है ॥

तार्क्ष्यसूतः—

सूतं गन्धं टङ्कणं हेमयुक्तं घर्षेद्यामं मेघनादीरसेन ।
गोलं कृत्वा कान्तपाषाणमूषामध्ये क्षिप्त्वा भूधरे तं पुटेत ॥
पश्चाद्धर्षेन्मेघनादीरसेन सूतः सिद्धस्त्वेषताक्ष्यों विषारिः

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शुद्ध सुहागा और स्वर्णभस्म सबको समभाग में लें । पहिले पारद गन्धक की कज्जली करें । फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर चौलाई की मूल के स्वरस से एक दिन॥ मर्दन कर गोला-सा बना लें । इस गोले को सुखा कर कान्तपाषाण (चुम्बक पत्थर) की मूषा में बन्द कर ऊपर से अच्छी तरह कपड़मिट्टी करके भूधरयन्त्र में रख कर पुट दें । स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल चौलाई की जड़ के स्वरस में घोट कर सुखा कर रख लें । इस प्रकार यह तार्क्ष्य (सर्प) विष के लिये पारद का योग सिद्ध होता है । यह सब प्रकार के विषों के प्रभाव को नष्ट करता है ।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती, अनुपान चौलाई का मूल-स्वरस ॥ ११६ ॥

विषहररसः—

तार्क्ष्यं बन्ध्यां भक्षयेद्भक्तिमात्रं

सूतं तस्माद्यान्ति नाशं विषाणि ॥ ११७ ॥

तार्क्ष्य (स्वर्णमाक्षिकभस्म), बाँझककोड़े की जड़ का चूर्ण तथा पारदभस्म प्रत्येक एक-एक रत्ती परिमाण में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से एक रत्ती मात्रा में उचित अनुपान के साथ सेवन करने से सब प्रकार के विषों का प्रभाव नष्ट होता है।

विशेष वचन—कोई यहाँ पर तार्क्ष्य से पूर्वोक्त तार्क्ष्यसूत का ग्रहण करते हुये बाँझककोड़े की मूल के स्वरस को अनुपान के रूप में लेते हैं ॥११७॥

मृतसञ्जीवनम्—

ससिन्दुवारतगरं सूतं सञ्जीवनं विषम् ॥ ११८ ॥

सिम्भालु की छालचूर्ण, तगरचूर्ण तथा शुद्ध विषचूर्ण; तीनों को समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। इसमें से उचित मात्रा में अन्तःप्रयोग तथा बाह्य प्रयोग करने से सब प्रभाव दूर हो जाते हैं और रोगी का जीवन बच जाता है।

विशेष वचन—यहाँ पर कोई आचार्य मृतसञ्जीवन से उस नाम के रस का ग्रहण करते हैं। अर्थात् मृतसञ्जीवन नामक रस के साथ सिन्दुवार तथा तगर और विषचूर्ण मिला कर सेवन करने से सब विषविकार दूर होते हैं। ऐसा अर्थ करते हैं ॥११८॥

आखुविषशिरीषप्रयोगः—

शिरीषकुसुमं पत्रं विषमाखुविषापहम् ॥ ११९ ॥

शिरस के फूल तथा पत्ते और शुद्ध विष को समभाग में एकत्र पीस कर कुछ दिन सेवन करने से चूहे का विष शान्त होता है ॥११९॥

सर्वविषे देवदार्वादिप्रयोगः—

देवदारु नतं मांसी लवली वाकुची विषम् ।

कुष्ठं च पानलेपाभ्यां समस्तविषनाशनम् ॥ १२० ॥

देवदारुचूर्ण, तगरचूर्ण, जटामांसीचूर्ण, लवली (हरफारेवड़ी) चूर्ण, बावचीचूर्ण, शुद्ध विष तथा कूठचूर्ण; इन सब को समभाग में लेकर एकत्र पीस कर उचित मात्रा में पान तथा शरीर में लेप करने से सम्पूर्ण विषों के विकार शान्त होते हैं ॥१२०॥

सर्वविषे टङ्कणप्रयोगः—

सर्पादिविषनाशाय टङ्कणस्य रसोऽम्भसा ।

पानाभ्यञ्जननस्याद्यैरतिगुह्योपदर्शिना ॥ १२१ ॥

सुहागे के चूर्ण को पानी में पीस कर पान, लेप, स्नान, नस्य आदि द्वारा प्रयोग करने से सर्प आदि सबप्रकार जन्तुओं का विष शान्त हो जाता है। यह योग गुह्यस्थान के उपदंश को धोने आदि कार्य के लिये भी उत्तम है ॥ १२१ ॥

वृश्चिकविषे मनोह्वादिगुटिका—

मनोह्वा सैन्धवं हिङ्गु मालतीपल्लवानि च ।

गोशकृद्रसपिष्टानि गुलिका वृश्चिकापहा ॥ १२२ ॥

मैनसिल, सैन्धानमक, हींग, चमेली के पत्ते; इन सबको समभाग में लेकर गोबर के स्वरस में पीस गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को पानी से घिस कर बिच्छू के काटे हुए स्थान पर लेप करने से बिच्छू के विष में आराम आता है।

विशेष वचन—'मालतीपल्लवानि च' के स्थान पर 'जातीफलं सनागरम्' पाठान्तर मिलता है ॥ १२२ ॥

पलाशबीजगुटिका—

अर्कपयसा दिवा ब्राह्मतरोर्भावितैर्मुहुर्बीजैः ।

गुडिका कृता प्रयत्नाद् वृश्चिकविषमाशु नाशयति ॥

ढाक के बीजों को आक के दूध में एक दिन पर्यन्त और सात भावना देकर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को जल के साथ घिस कर दंश स्थान पर लेप करने से बिच्छू का विष उतर जाता है।

विशेष वचन—कहीं स्नुही का दूध भी गोलियाँ बनाने में लिखा हुआ पाया जाता है। इसको मिलाने में कोई हानि नहीं है अपितु गुणों में वृद्धि ही होगी ॥१२३॥

गरविषे कनकादिवटी—

कनकसारसुतीक्ष्णनिदिग्धिकाहपुषासिद्ध कलांशनिषेवणात्

जयति साधु युवा धनकाङ्क्षया गणिकया परिदत्तगरौषधम्

स्वर्णभस्म, सारलोहभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म; कटेलीचूर्ण, हाऊबेरचूर्ण, पारदभस्म (रससिन्दूर), शुद्ध मैनसिल; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस कर जल के साथ गोली बना कर रख लें। इनमें से एक गोली प्रतिदिन विषहर अनुपान के साथ सेवन करने से धनप्राप्ति की इच्छा से वेश्या द्वारा युवक को आहारादि के रूप में दिया हुआ गरविष नष्ट होता है और युवक का जीवन सुरक्षित हो जाता है।

विशेष वचन—मात्रा १ रत्ती। कोई 'कनकसार' से धतूरे के रस का और 'सिद्ध' से सरसों का ग्रहण करते हैं। परन्तु स्वर्ण गरविष के लिये सर्वोत्तम औषधि है। अतः स्वर्णभस्म लेना उचित प्रतीत होता है ॥ १२४ ॥

सविषान्ने वृक्षाम्लादियोगः—

पुराणवृक्षाम्लयुतं कटुत्रयं नरेण भुक्तं त्वशनावसाने ।

असारवृत्ताबलयाऽर्थकाङ्क्षया सहान्नदत्तं विषमाशु

नाशयेत् ॥ १२५ ॥

धन के लोभ से दुश्चरित्र स्त्री द्वारा भोजन के साथ दिए हुए विष के प्रभाव को मिटाने के लिये प्रतिदिन भोजन करने के बाद

त्रिकटुचूर्ण तथा पुराने विषांविल चूर्ण को समभाग में मिला कर सेवन करना चाहिये। इससे गरविष शीघ्र शान्त होता है ॥१२५॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये क्षुद्ररोगगुह्यरोग-स्थावर-जङ्गमविष-प्रतीकारो नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

षड्विंशोऽध्यायः ।

अथ जरारोगचिकित्सनम् ।

रसायनगुणाः—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥
वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ॥ १ ॥

रसायन सेवन करने से मनुष्य को दीर्घ आयु, स्मृतिशक्ति, धारणाशक्ति, तरुणावस्था, शरीर में प्रभा, वर्णोज्ज्वलता, सुन्दर और मधुर स्वर, उदारभाव, शरीर तथा इन्द्रियों में उत्तम बल, वाक्सिद्धि (कथन का सत्य होना), वृषता (मैथुनसामर्थ्य, पुंस्त्वशक्ति) और कान्ति; ये सब गुण प्राप्त होते हैं।

विशेष वचन—रसायन वह उपचार या औषधि है जिसके सेवन से शरीर की जरा (वार्द्धक्य) तथा व्याधि का नाश होता है। अर्थात् रसायन सेवन से वृद्धावस्था उत्पन्न नहीं होती है। इसी लिये देवताओं को अजर कहते हैं। चरक ने रसायम का दूसरा लक्षण भी लिखा है, यथा "लाभो यायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्।" अर्थात् शरीर में उत्तम रसरक्तादि धातुओं की प्राप्ति के उपाय को रसायन कहते हैं॥ १ ॥

जराया निदानम्—

पन्थाः शीतं कदन्नानि वयोवृद्धाश्च योषितः ।
मनसः प्रातिकूल्यं च जरायाः पञ्च हेतवः ॥ २ ॥

अत्यधिक मार्ग चलना अर्थात् प्रतिदिन तीस चालीस मील चलना जिससे शरीर को आराम न मिले, अत्यधिक शीत पदार्थों का निरन्तर सेवन करना, अपोषक तथा खराब सड़ा-गला बासी भोजन करना, वृद्धा स्त्री के साथ मैथुन करना, सदा प्रतिकूल स्थितियों में रहना अर्थात् कभी भी सुख न होना; ये पाँच बुढ़ापे के कारण हैं॥ २ ॥

वार्द्धक्यहररसायनम्—

हलिनीरससंपिष्टौ तुल्यांशौ रसगन्धकौ ।
हस्तिपर्णीलवलिकामत्स्याक्षीकल्कवेष्टितौ ॥
त्रिःपक्वौ मूकमूषायां सव्योषौ वार्द्धकापहौ ॥ ३ ॥

शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक दोनों को समभाग में लेकर कज्जली कर लें। फिर इसको कलिहारीकन्दस्वरस से मर्दन कर गोला-सा बना कर सुखा लें। अब इस गोले को हस्तिपर्णी, हरफारेवड़ी, मछेछी के कल्क के अन्दर बन्द करके सम्पुट में रख अर्थात् अन्धमूषा में रख कर भूधरपुट में पकावें। इस प्रकार तीन बार कलिहारीस्वरस से मर्दन कर हस्तिपर्णी आदि के कल्क में बन्द कर अन्धमूषा में रख कर भूधरपुट देने से यह रसायन तय्यार हो जाता है। स्वांगशीतल होने पर इसे निकाल पीस कर उसमें समभाग त्रिकटुचूर्ण मिला कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर मधु के साथ कुछ दिन सेवन करने से अकाल वृद्धावस्था दूर हो जाती है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती। लवलिका से कोई लौंग का ग्रहण करते हैं॥ ३ ॥

उदयादित्यरसः—

आवर्त्तिते रसपलं क्षिप्त्वा द्विपलगन्धकम् ।
आर्द्रकद्रवमुष्टीनां विंशत्या मर्दितं पचेत् ॥ ४ ॥
मृदुगूढताम्रमूषायां तं गुञ्जाप्रमितं रसम् ।
ससर्पिर्नागरं भुक्त्वा तप्ताम्बुप्रसृतं पिबेत् ॥
रसोऽयमुदयादित्यः स्याज्जरारजनीहरः ॥ ५ ॥

दो पल शुद्ध गन्धक को पिघला कर उसमें एक पल शुद्ध पारद मिला खरल में डाल कर बीस पल अदरख के स्वरस के साथ अच्छी तरह मर्दन करके गोला-सा बना लें। अब इसको कपड़मिट्टी की हुई एक तांबे की मूषा में बन्द कर के लघुपुट में फूँक दें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इसमें से एक रत्ती मात्रा लेकर एक रत्ती सोंठचूर्ण मिला घृत के साथ सेवन करें। इसके अनन्तर अनुपान रूप में एक प्रसृत (आठ तोला) गरम जल पीवें। यह 'उदयादित्यरस' बुढ़ापारूपी रात्रि के अन्धकार को दूर करने में प्रातःकालीन सूर्य के समान कार्य करता है॥ ४-५ ॥

सर्वरोगहररसायनम्—

मूषां तिन्दुकविस्तारामायामे षोडशाङ्गुलाम् ।
भाण्डवाह्यस्थपादांशां वालुकाभिः प्रपूरयेत् ॥ ६ ॥
तस्यां निवेश्य द्विगुणगन्धगर्भगतं रसम् ।
याममात्रं पचेच्चुल्ल्यां क्षिपद्गन्धस्य तद्रमे ॥ ७ ॥
वायसोनागिनीमत्तमेघनादरसं क्रमात् ।
स रसः सर्वरोगघ्नो वलीपलितजिद्भवेत् ॥ ८ ॥

तेंदू के फूल के समान चौड़ी और सोलह अंगुल लम्बी मिट्टी अथवा लोहे की एक मूषा बनायें। अर्थात् बोतल के आकार की एक दृढ़ मूषा बना कर उसमें एक भाग शुद्ध पारद और दो भाग शुद्ध गन्धक की कज्जली भर दें। अब इसको बालुकायन्त्र की हांडी में इस प्रकार रखें जिससे मूषा का ऊपरी चौथाई भाग हांडी के मुख से बाहर निकला रहे। हांडी में मूषा के चारों तरफ मुख

तक बालु भर दें। अब इस हांडी या यन्त्र को चूल्हे पर रख कर एक प्रहर तक अग्नि देकर पकावें। जब गन्धक उड़ जाय उसमें क्रमशः थोड़ा थोड़ा करके कौआठोडी या मकोय का रस, पान के पत्तों का रस, धत्तूरे के पत्तों का रस, चौलाई का रस डाल कर औषधि को शुष्क कर लें और उतार पीस कर रख लें। यह रस सब प्रकार के रोगों को नष्ट करता है। तथा वली (अकाल में शरीर में झुर्रियों का पड़ना) और पलित (अकाल में बालों का सफेद होना) रोग को नष्ट करता है।

विशेष वचन—मात्रा ½ रत्ती। 'पादांशां' के स्थान पर 'पादांशं' और 'द्विगुणगर्भवतं रसं' के स्थान पर 'द्विगुणं गन्धकं पालिकं रसम्' ऐसा कहीं पाठ है। 'याममात्रं' के स्थान पर 'यामत्रयं' पाठान्तर है॥ ६–८॥

मासिकरसायनम्—

रसगन्धकमध्वाज्यशिलाजत्वम्लवेतसम्॥
द्विमाषप्रमितं वेगान्मासमात्राज्जरां जयेत्॥ ९॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, शिलाजीत तथा अम्लवेतचूर्ण; इन सब को समभाग में लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली बना लें। फिर उसमें शिलाजीत और अम्लवेतचूर्ण मिला पीस कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन दो मासा मात्रा में लेकर शहत तथा घृत के साथ एक मास तक सेवन करने से अकाल बुढ़ापा शान्त होता है।

विशेष वचन--आधुनिक मात्रा दो उड़द के बराबर॥ ९॥

षाण्मासिकरसायनम्—

विष्णुक्रान्ताऽरुणागस्तिक्षीरिणीतण्डुलीयकैः।
रसगन्धकयोः पिष्टी स्त्रीस्तन्येन च मर्दिता॥ १०॥
यवास्तिला घृतक्षौद्रमेषामुद्वर्तनं जयेत्।
कार्श्यं जरां च षण्मासाद्विधत्ते वृद्धिमायुषः॥ ११॥

शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक दोनों को समभाग में लेकर अच्छी तरह कज्जली कर लें। फिर इस कज्जली को क्रमशः अपराजिता (कोयल), अतीस, अगथियापुष्प, क्षीरिणी तथा चौलाई की जड़ के स्वरस में अलग २ एक भावना दें। अन्त में एक भावना स्त्री के दूध की देकर सुखा कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन उचित मात्रा में सेवन करें और इसके सेवन के साथ साथ जौ का आटा, तिल, घी और शहत; इन सब को एकत्र मिला कर शरीर में उबटना भी करें। इस विधि से उक्त रस को छः मास तक सेवन करने से शरीर की कृशता बुढ़ापा दूर होकर आयु की वृद्धि होती है॥ १०–११॥

पाक्षिकरसायनम्—

शिलाजतुक्षौद्रविडङ्गसर्पिर्लोहाऽभयापारदताप्यभक्षः।
आपूर्य्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशांकः॥

शिलाजीत, मधु, वायविडङ्गचूर्ण, घृत, लोहभस्म, हरीतकीचूर्ण, पारदभस्म (रससिन्दूर), स्वर्णमाक्षिकभस्म; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस कर उचित मात्रा में पन्द्रह दिन सेवन करने से दुर्बलशरीर तथा दुर्बलधातु पुरुष क्रमशः ऐसे बढ़ने लगता है जैसे शुक्लपक्ष की द्वितीया का चन्द्रमा।

विशेष वचन—उक्त योग में घी और मधु को सहपान के रूप में प्रयोग करना चाहिये और लोहभस्म यदि शिलाजतु आदि द्रव्यों के मिलित चूर्ण के समभाग डाला जाय तो उत्तम होगा॥

हेमादिरसायनम्--

हेमधात्रीफलं क्षौद्रं गायत्रीरसभावितम्।
लिहन्ननुपिबेत्क्षीरं दृष्टारिष्टोऽपि जीवति॥ १३॥

स्वर्णभस्म, आँवलों का चूर्ण दोनों को समभाग में लेकर खैर के कषाय की सात भावना देकर सुखा कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में शहत के साथ सेवन करने से और औषधि सेवन के बाद जब क्षुधा लगे भोजन के स्थान पर केवल दूधमात्र पीने से धातुक्षय के कारण मरणासन्न अर्थात् अत्यन्त दुर्बल तथा कृश मनुष्य भी पुनः जीवन प्राप्त करता है॥ १३॥

पिप्पल्यादिरसायनम्—

मधुमागधिकाविडङ्गसारत्रिफलाहेम घृतं सितां च खादन्।
जरयाऽनवलीढदेहकान्तिः समधातुश्च समाः शतञ्च जीवेत्

पिप्पलीचूर्ण, विडङ्गचूर्ण, लोहचूर्ण, त्रिफलाचूर्ण, स्वर्णभस्म; सब को समभाग में लेकर एकत्र खरल कर लें। इसमें से प्रतिदिन उचित मात्रा (२ रत्ती) में लेकर मिश्री, घी और शहत के साथ सेवन करने से मनुष्य जरा के प्रभाव से मुक्त होकर शारीरिक सब धातुओं के यथोचित पोषण के साथ नीरोग होकर सौ वर्ष तक जीवित रह सकता है॥ १४॥

अष्टमासिकरसायनम्-

ज्योतिष्मतीनाम लता पीताफलोज्ज्वला।
आषाढे पूर्वपक्षे स्याद् गृहीत्वा बीजमुत्तमम्॥१५॥
आहरेत्तिलवत्तैलं मुष्टिना चाऽपि तत्पचेत्।
क्षौरतुल्यं चतुर्भागशमाक्षिकं तैलशेषितम्॥ १६॥
ततस्तत्कोलकर्पूरत्वग्जातीफलमिश्रितम्।
स्निग्धभाण्डगतं धान्येष्वनुगुप्तं निधापयेत्॥ १७॥
पिबेत्सूर्योदये तैलात्पलं याति विसंज्ञताम्।
ततः संज्ञां शनैर्लब्ध्वा ततः क्रन्दति रोदिति॥ १८॥
एवं मासे श्रुतिधरः परस्मिन् सूर्यसन्निभः।
तृतीये पूज्यते देवैश्चतुर्थे नैव दृश्यते॥ १९॥
खेचरः पञ्चमे षष्ठे सिद्धैर्मिलति सप्तमे।
विष्णोः समदिनं जीवेज्जीवन्मुक्तोऽष्टमे भवेत्॥ २०॥

पीतवर्ण बेल के पत्ते तथा पीत फल वाली ज्योतिष्मती (माल-

कांगनी) नाम की लता के आषाढ़ शुक्लपक्ष में बीजों को सञ्चय करके उनका तिलतैल की भाँति तैल निकाल लें। इस तैल (एक प्रस्थ) में तैल से चतुर्थांश स्वर्णमाक्षिक और तैल के बराबर गोदुग्ध और चतुर्गुण जल मिला कर तैल पका लें। तैलमात्र शेष रहने पर उसे उतार छान लें। इस तैल को एक चिकने पात्र या अमृतवान में डाल उसमें कपूर, दालचीनीचूर्ण, जायफलचूर्ण, प्रत्येक; छः छः मासा मिला कर पात्र का मुँह बन्द करके धान्य-राशि में इक्कीस दिन तक रख दें। तत्पश्चात् तैल को छान कर रख लें। इसमें से एक पल मात्रा में प्रातः सूर्योदय के समय सेवन करें। सेवन करने के कुछ देर बाद रोगी बेहोश हो जाता है और धीरे-धीरे होश में आता चिल्लाता या रोता है। पुनः अच्छी तरह होश में आ जाता है। इस तरह इस तैल की एक पल मात्रा एक मासा तक सेवन से मनुष्य श्रुतिधर (सुनी हुई बात कभी नहीं भूलने वाला) हो जाता है। द्वितीय मास में वह सूर्य के समान दीप्ततेज या कान्ति वाला होता है। तीसरे मास में देवताओं का भी पूज्य हो जाता है। चौथे मास में वह अन्य मनुष्य से अदृश्य (न दीख सकने वाला) होता है। पाँचवें महीने में आकाश में इसको सेवन करते हुये उड़ने की शक्ति हो जाती है। छटे मास में इसको बराबर सेवन करते हुये वह सिद्ध पुरुषों के साथ मिल जाता है। सातवें मास तक सेवन करने से विष्णु के आयु के बराबर दीर्घायु होता है। आठवें मास में जन्म-मरण से मुक्त होकर अजर-अमर हो जाता है।

विशेष वचन—इस तैल में कोलादि मिलित द्रव्यों का चूर्ण चतुर्थांश डालना चाहिये। कोई कोल शब्द से बेर के पत्तों का चूर्ण लेते हैं। इस तैल के गुणों में अधिक अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। हाँ, इससे शरीर में कान्ति के साथ वातविकारों की शान्ति अवश्यम्भावी है॥ १५-२० ॥

त्रिवार्षिकरसायनम्—

भूमावरत्निमात्रायां ताम्रं तैलेन पूरयेत्।
षण्मासं तापयेदूर्ध्वं मृदुना तुषवह्निना॥
पीत्वा माषादिनिष्कान्तं तत्त्रिवर्षान्महाकविः॥२१॥

भूमि में एक अरत्नि (मुट्ठी बन्द कर कनीनिका अंगुलि को खड़ी एक हाथ) मात्र गढ़ा खोद कर उसमें पूर्वोक्त ज्योतिष्मती तैल से भरा हुआ ताम्रपत्र रख कर (जिसका मुख बन्द हो) ऊपर से मिट्टी से भर दें। अब इस पात्र के ऊपर मिट्टी में छः महीने तक भुसी की अत्यन्त मन्द मन्द अग्नि जलावें। तदनन्तर अग्नि जलाना बन्द कर स्वांगशीतल होने पर तैल को गढ़े से निकाल लें। अब इस तैल में से एक मासे से लेकर चार मासे तक प्रति-दिन तीन वर्ष तक सेवन किया जाय तो इस तैल के प्रभाव से मनुष्य महाकवि हो जाता है॥ २१॥

त्रिपुरुषायुष्करं रसायनम्—

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं चतुष्प्रस्थं पयः पचेत्।
द्विप्रस्थशेषं तत्पीत्वा मासं त्रिपुरुषायुषः॥ २२॥

एक प्रस्थ तिलतैल, एक प्रस्थ गोघृत और चार प्रस्थ गोदुग्ध लेकर तीनों को एकत्र पाक करें। जब स्नेहमात्र शेष रह जाय उसे उतार कर छान लें। इसको एक मास तक सेवन करने से मनुष्य की आयु तिगुनी होती है। अर्थात् इसके सेवन से तीन सौ वर्ष और पन्द्रह दिन की आयु होती है॥ २२॥

सहस्रवर्षायुष्करं रसायनम्—

तैलं पिबेद्घृतक्षौद्रक्षीरान्यतममिश्रितम्।
कुर्याच्च तैलमध्वाज्यैर्नस्यं क्षीरघृताशिनः॥
भुक्त्वा शतायुः षण्मासात्सहस्रायुस्त्रिवर्षतः॥२३॥

घी, शहत और दूध इन तीनों में से किसी एक के साथ ज्योतिष्मती तैल मिला कर उचित मात्रा में पान करें। और तैल घी तथा शहत तीनों को मिला कर प्रतिदिन नस्य लें और दूध तथा घृत मिश्रित भोजन करें। इस प्रकार छः मास तक प्रयोग करने से मनुष्य की सौ वर्ष की और तीन वर्ष तक प्रयोग करने से एक हजार वर्ष की आयु होती है॥ २३॥

विशेष वचन—'भुक्त्वा' शब्द देने से यह प्रतीत होता है कि भोजनोत्तर तैल का पान और नस्य लिया जाय। परन्तु भोजनोत्तर तैलपान करने से भुक्त द्रव्य का विपाक अच्छी तरह नहीं हो सकेगा। अतः भोजन के बाद नस्य लेना चाहिये। 'क्षीरघृताशिनः' के स्थान पर 'क्षीरघृताशनः' पाठ होना योग्य है॥ २३॥

त्रिफलारसायनम्—

मधुकेन तुगाक्षीरी पिप्पली क्षौद्रसर्पिषा।
विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च॥ २४॥
संवत्सरप्रयोगेण स्मृतिमेधाबलप्रदा।
भवत्यायुःप्रदा पुंसां जरारोगनिबर्हिणी॥ २५॥

त्रिफलाचूर्ण को समभाग मुलेठीचूर्ण अथवा वंशलोचनचूर्ण या पिप्पलीचूर्ण या घृत, मधु, विडङ्गचूर्ण और पिप्पलीचूर्ण अथवा सैन्धानमक के साथ निरन्तर एक वर्ष तक सेवन किया जाय तो मनुष्य की स्मरणशक्ति, धारणाशक्ति और बल की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस रसायन से मनुष्य दीर्घायु होता है तथा बुढ़ापे की विकृति से बचा रहता है।

विशेष वचन—वाग्भटोक्त त्रिफलारसायन के साथ सादृश्य करते हुये यहाँ पर त्रिफला के छः योग लिखे गये हैं। वाग्भट में वचा तथा स्वर्ण के साथ भी त्रिफला का सेवन लिखा है। यथा—"मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या लवणेन च। पृथग्लोहैः सुवर्णेन

वचया मधुसर्पिषा ॥ सितया वा समायुक्ता समायुक्ता रसायनम् । त्रिफला सर्वरोगघ्नी मेधायुःस्मृतिबुद्धिदा' ॥ २४-२५ ॥

द्वितीयत्रिफलारसायनम्—

खदिरासनभृङ्गसातलाकृमिशत्रूदकभाविता मुहुः ।
गुडमाक्षिकसर्पिरन्विता त्रिफला हन्ति जरां च वत्सरात् ॥

त्रिफलाचूर्ण को खैरसार, विजैसार, भाँगरा, सातला और वायविडङ्ग के स्वरस या कषाय में पृथक् पृथक् सात बार भावना देकर सुखा लिया जाय । इसको उचित मात्रा में गुड़, शहत और घृत में मिला कर एक वर्ष तक निरन्तर सेवन करने से वृद्धावस्था दूर होती है ॥ २६ ॥

तृतीयत्रिफलारसायनम्—

त्रिफलामसनोदकेन पिष्ट्वा रजनीपर्युषितामयःकपाले ।
मधुरां मधुना लिहन् हिनस्ति स्थविमानं जरसं गदांश्च सर्वान् ॥ २७ ॥

त्रिफलाचूर्ण को विजयसार के काढ़े में पीस कर एक लोहे के पात्र में रख रात्रि भर पड़ा रहने दें । प्रातःकाल उसमें मधु मिला मीठा करके कुछ काल सेवन करने से शरीर की शिथिलता तथा बुढ़ापा और सब रोग नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥

षडङ्गरसायनम्—

कान्ताभ्रकशिलाधातुविषसूतकमाक्षिकम् ।
शीलितं मधुसर्पिर्भ्यां व्याधिवार्धकमृत्युजित् ॥२८॥

कान्तलोहभस्म, अभ्रकभस्म, शिलाजीत, शुद्ध वत्सनाभविष, रससिन्दूर, स्वर्णमाक्षिकभस्म; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र पीस कर रख लें । इसको उचित मात्रा में मधु और घृत के साथ कुछ काल निरन्तर सेवन करने से सम्पूर्ण रोग, वृद्धावस्था तथा अकाल मृत्यु दूर होती है ॥ २८ ॥

वार्षिकरसायनम्—

गन्धं लोहं भस्म मध्वाज्ययुक्तं सेव्यं वर्षं वारिणा त्रैफलेन ।
शुभ्रे केशे कालिमा दीर्घदृष्टिः पुष्टिर्वीर्यं जायते दीर्घमायुः ॥

शुद्ध गन्धक और लोहभस्म दोनों को समभाग में लेकर शहत और घी के साथ चटायें । फिर इसके चाटने के बाद त्रिफलाकषाय का पान करें । इस प्रकार प्रतिदिन एक वर्ष तक इस योग के सेवन करने से मनुष्य के श्वेत बाल काले हो जाते हैं । दृष्टि तीव्र हो जाती है और शरीर की पुष्टि, वीर्य की वृद्धि तथा आयु की वृद्धि हो जाती है ॥ २९ ॥

कुष्ठादिहररसायनम्—

नीलज्योतिः कान्तचूर्णं रुदन्ती धात्रीपत्रैर्वारिणा त्रैफलेन ।
मध्वाज्याभ्यां वत्सरार्द्धं प्रयोगात्कुष्ठं शुभ्रं रोमजातं निहन्ति ॥
देहे दार्ढ्यं दिव्यदृष्टिः सुपुष्टिर्वीर्यं शौर्यं जायते दीर्घमायुः ॥

नीलज्योति (शुद्ध तुत्थभस्म), कान्तलोहभस्म को समभाग में लेकर रुदन्तीस्वरस, आँवले के पत्तों के स्वरस तथा त्रिफलाकषाय से पृथक् पृथक् सात भावना देकर सुखा लें । इसको उचित मात्रा में घी और शहत के साथ छः महीने तक निरन्तर सेवन करने से गलितकुष्ठ तथा श्वेतबालयुक्त सफेद कुष्ठरोग भी नष्ट होता है । और इसके सेवन करने से शरीर में दृढ़ता, नेत्रों में दिव्य दृष्टि, शरीर में पोषण, शूरता, पराक्रमशक्ति का उदय होकर मनुष्य की दीर्घायु होती है ।

विशेष वचन—'रोमजातं' के स्थान पर 'रोगजातं' पाठ भी मिलता है ॥३०-३१॥

ज्योतिष्मतीतैलरसायनम्—

ज्योतिष्मत्यास्तैलमाज्यं सगन्धं
गुञ्जावृद्ध्या सेवयेन्माषमात्रम् ।
यावच्च स्याद्यस्तु स प्राप्य मूर्तिं
मेधायुक्तो दिव्यदृष्टिर्नियक्ष्मा ॥३२॥

मालकागुनी का तैल एक रत्ती, घृत एक रत्ती, शहत एक रत्ती; तीनों को मिला प्रथम दिन सेवन करे । फिर दूसरे दिन प्रत्येक दो दो रत्ती सेवन करें । इस तरह एक एक रत्ती बढ़ाते हुये एक मासा मात्रा तक बढ़ा कर सेवन करें । इस प्रकार छः मासा अथवा एक वर्ष तक सेवन करें । इससे मनुष्य सुन्दररूप और विशेष धारणायुक्त, दिव्यदृष्टि तथा नीरोग हो जाता है ।

विशेष वचन—'मूर्तिः' के स्थान पर 'मूर्तिं' पाठकल्पना भी अच्छी है ॥ ३२ ॥

सर्वरोगान्तकरसायनम्—

कान्ताभ्रत्रिफलाविडङ्गरजनीताप्याब्ददेवद्रुम-
व्योषैलाग्निपुनर्नवाङ्घ्रिगिरिजाङ्कोलैः समं गुग्गुलुम् ।
पिष्ट्वा भृङ्गजलेन सूक्ष्मगुलिकां खादेद्यथासात्म्यतो
मेदःश्लेष्मसमीरणोल्वणगदेष्वन्येषु वा पूरुषः ॥३३॥

कान्तलोहभस्म, त्रिफलाचूर्ण, विडंगचूर्ण, हरिद्राचूर्ण, स्वर्णमाक्षिकभस्म, नागरमोथाचूर्ण, देवदारुचूर्ण, त्रिकटुचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, पुनर्नवामूलचूर्ण, शुद्ध शिलाजीत, गेरु, अंकोलमूलत्वक्चूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र मिला लें । फिर इसमें सब चूर्ण के बराबर शुद्ध गुग्गुलु मिला खरल में डाल कर भाँगरे के स्वरस से खूब मर्दन कर छोटी छोटी गोलियाँ बना लें । इन गोलियों को उचित मात्रा में सेवन करें तो मेदा (चर्बी) की वृद्धि, कफवायुप्रधान रोग तथा अन्यान्य कारणों से उत्पन्न होने वाले रोग शान्त होते हैं ॥ ३३ ॥

कान्तरसायनम्—

कान्तं तुल्याभ्रसत्त्वं चरणपरिमितं हेम तत्तुल्यमर्कं
वैक्रान्तं ताप्यरूप्यं कृमिहरकटुकैस्तुल्यभागैः समेतम् ।
लीढं देवद्रुतैलैर्विरचयति नृणां देहसिद्धिं समृद्धां

पथ्यं कल्पोक्तमुक्तं हरति च सकलान् रोगपुञ्जाञ्जवेन ॥
तदेतत्सर्वरोगघ्नं रम्यं कान्तरसायनम् ।
सेव्यं वृष्यं सुपुत्रीयं मङ्गल्यं दीपनं परम् ॥३५॥

कान्तलोहभस्म एक भाग, अभ्रकसत्वभस्म एक भाग, स्वर्णभस्म चौथाई भाग, ताम्रभस्म चौथाई भाग, वैक्रान्तभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, रजतभस्म; प्रत्येक चौथाई भाग, विडंगचूर्ण और त्रिकटुचूर्ण; प्रत्येक एक एक भाग लेकर सब को एकत्र पीस कर शीशी में रख लें। इसमें से यथोचित मात्रा में देवदारुतैल के साथ सेवन करने से यह रस मनुष्यों के शरीर को अत्यन्त दृढ़; कान्तिमान् और वृद्धावस्था से मुक्त कर देता है। एवं सब प्रकार के शरीरस्थ रोगसमुदाय को शीघ्र दूर करता है। अतः इस सर्वरोगनाशक मांगल्य, बलवर्धक, पुत्रोत्पत्ति करने वाले सुन्दर रसायन को अवश्य सेवन करना चाहिये। इस रस के सेवनकाल में लोहकल्प में वर्णित भोजन का सेवन करना चाहिये। इसके सेवन से अग्नि भी दीप्त होती है ॥३४-३५॥

चतुर्थत्रिफलारसायनम्—

रात्रौ कान्तशरावके त्रिफला सिक्ता जलैः स्वादुभिः
प्रातर्मुष्टिमिताः खलु प्रतिदिनं षण्मासमासेविताः ।
हन्युः पित्तकफामयान् बहुविधं कुष्ठं प्रमेहांस्तथा
पाण्डुं यक्ष्मगदं च कामलगदं पथ्यं च चक्रं तथा ॥

रात्रि के समय एक मुष्टि (अन्तर्नख मुष्टि) त्रिफला के मोटे चूर्ण को एक कान्तलोहे के सकोरे में स्वादिष्ट जल अर्थात् स्वच्छ जल के साथ भिगो दें। प्रातःकाल त्रिफला को साधारणतया मसल छान कर शौचादि से निवृत्त होकर पीना चाहिये। इस प्रकार प्रतिदिन छः महीने तक त्रिफलाजल सेवन करने से पित्तकफजन्य रोग, अनेक प्रकार के कुष्ठ, प्रमेह, पाण्डुरोग, राजयक्ष्मा और कामलारोग; ये सब व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। इस रसायन के सेवनकाल में तक्र का पथ्य देना चाहिये।

विशेष वचन—मुष्टि शब्द से एक पल (४ तोला) लिया जाता है। इतनी मात्रा में त्रिफला विरेचक होती है अतः यदि मुष्टि प्रमाण लेना हो तो अन्तर्नख मुष्टि (करीब २ तोला) त्रिफला लेनी चाहिये। कोई 'त्रिफला' के स्थान पर 'चणकाः' पाठ पढ़ते हैं। यद्यपि चने भी आजकल की विटामिन (Vitamin) थ्योरी के हिसाब से बहुत लाभदायक होते हैं। परन्तु भिन्न (दले हुए) चणक उत्तगुण नहीं पाये जाते हैं और पाण्डु तथा कामला के लिये चने त्रिफला के समान गुणशाली भी नहीं होते हैं ॥ ३६ ॥

द्वितीयकान्तरसायनम्—

त्रिफलामस्तुसंयुक्तं कान्तं सर्वरसायनम् ॥३७॥

त्रिफलाकषाय तथा मस्तु (दही के पानी) साथ कान्तलोह की भस्म का कुछ दिन सेवन से शरीर के सब रोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—'मस्तु' के स्थान पर 'मधु' पाठान्तर मिलता है। मधु होने पर त्रिफलाचूर्ण और कान्तलोहभस्म को मधु में मिला कर सेवन करना चाहिये ॥ ३७ ॥

तृतीयकान्तरसायनम्—

एतत्स्यादपुनर्भवं हि भसितं कान्तस्य दिव्यामृतं
सम्यक्सिद्धरसायनं त्रिकटुकैर्वेल्लाज्यमध्वन्वितम् ।
हन्यान्निष्कमितं जरामरणजव्याधींश्च सत्पुत्रदं
प्रोक्तं श्रीगिरिशेन कालयवनोद्भूत्यै पुरा तत्पितुः ॥

कान्तलोहभस्म (पुनरुत्थान रहित), सोंठ, मिर्च, पिप्पली तथा वायविडंगचूर्ण; प्रत्येक समभाग में एकत्र मिला कर पीस के रख लें। इसमें से एक निष्क परिमाण मात्रा में लेकर घी और शहत के साथ मिला कर प्रति दिन सेवन करें। इसे कान्तरसायन कहते हैं। यह अमृत के समान गुणकारक औषधि है। इसके सेवन से जरा (बुढ़ापा), मरण (मृत्यु) तथा व्याधि शान्त हो जाती है और यह पुत्रोत्पादक भी है। पहिले जमाने में इस सिद्ध रसायन को कालयवन के पिता के लिये पुत्रोत्पत्ति के निमित्त बताया गया था ॥ ३८ ॥

कान्ताभ्रकरसायनम्—

सिद्धमभ्रं समं कान्तं मर्दयेदार्द्रवारिणा ।
कलांशं हेमचूर्णस्य बीजपूररसे पुनः ॥३९॥
मर्दयेत्खल्लमध्यस्थं यावत्सप्तदिनावधि ।
आटरूषरसेनैव तथा मुण्डीरसेन च ॥४०॥
तालमूलीरसेनैव दशमूलीरसेन वा ।
तत्तद्रोगहरैः क्वाथैर्भावयेत्सुधा भिषक् ॥४१॥
त्रिफलाव्योषचूर्णं च मध्वाज्याभ्यां प्रयोजयेत् ।
पञ्चकर्मविशुद्धेन सेव्यमेतद्रसायनम् ॥ ४२ ॥
पाण्डुशोफोदरानाहग्रहणीशोषकासजित् ।
सन्ततं सततं चैव पुराणं विषमं ज्वरम् ॥४३॥
निहन्यात्सर्वकुष्ठानि प्रमेहान् विंशतिं जयेत् ।
कान्ताभ्रकमिदं श्रेष्ठं रसायनमनुत्तमम् ॥४४॥

विधिपूर्वक बनाई हुई अभ्रकभस्म एक भाग, कान्तलोहभस्म एक भाग, दोनों को एकत्र खरल में अदरख के रस में मर्दन करें। फिर इसमें एक भागापेक्षया सोलवाँ भाग स्वर्णभस्म मिला कर बिजौरा नीबू के रस में सात दिन तक मर्दन करें। इसके पश्चात् इस औषधि को क्रमशः वासास्वरस, मुण्डीस्वरस, मुसलीस्वरस, दशमूलकषाय की सात सात भावना दें। इसके अतिरिक्त जिन जिन रोगों के नाश के लिए यह रसायन तयार करनी हो उन रोगों को नाश करने वाली औषधियों के कषायों की भी सात

भावना देकर सुखा कर रख लें। सेवन करते समय त्रिफलाचूर्ण तथा त्रिकटुचूर्ण मिला मधु और घृत के साथ इस रसायन को खाना चाहिये। इस रसायन को सेवन करने के पूर्व मनुष्य को अपना शरीर पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन तथा नस्य) द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिये। यह कान्ताभ्रक रसायन, पाण्डु, शोथ, उदर, अनाह (कब्ज), संग्रहणी, शोष, कास, सन्ततज्वर, सततज्वर, पुराणज्वर, विषमज्वर, सब प्रकार के कुष्ठ-रोग, बीस प्रकार के प्रमेह रोगों को नष्ट करता है ॥ ३९–४४ ॥

पाठादिघृतम्—

पालाशोलूखले तन्मलवियुजि विमर्दोद्धृतैराढकांशै-
र्मिश्रं ब्राह्मीरसैस्तैर्विधिवदिह पचेत्प्रस्थमात्रं गवाज्यम्।
पाठाधात्रीहरिद्रात्रिवृदुपरचितेनापि कल्केन सिद्धं
यो वा कीटारिकृष्णासलवणजटिलाभिर्विलीढः सदा स्यात्॥
सौकर्यः ससरात्रान्मतिमतिविशदां पक्षतो मासमात्रा-
च्चातुर्यं सत्कवित्वं वरसकलकलाऽभिज्ञतां प्राप्नुयात्सः॥४६॥

ब्राह्मी के नवीन ताजे गीले पत्तों को पहिले स्वच्छ जल से साफ कर लें। फिर इनको ढाक की लकड़ी की बनाई हुई स्वच्छ ओखली में डाल कर खूब कूटें। पश्चात् इसे कपड़े में रख निचोड़ कर एक आढ़क (चार सेर) स्वरस निकाल लें। अब इस स्वरस में एक प्रस्थ गौ का घी डाल दें और पाठा, आँवला, हरिद्रा, निशोथ; प्रत्येक एक एक पल का कल्क मिला कर विधिपूर्वक घृत पकावें। जब घृतमात्र शेष रहे, उतार छान कर रख लें। इनमें से छः मासा घृत लेकर उसमें वायविडङ्ग, पिप्पली, सैन्धानमक तथा जटामांसी का मिलितचूर्ण ३ मासा मिला कर प्रतिदिन सेवन करें। इस घृत के सात दिन सेवन करने से मनुष्य में कर्म करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। पन्द्रह दिन सेवन करने से स्वच्छ और विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त होती है। यदि एक मास तक इस घृत को सेवन किया जाय तो मनुष्य में चतुरता कविता-निर्माण शक्ति तथा कलाओं में निपुणता प्राप्त होती है।

विशेष वचन—घृत से चतुर्थांश विडंगादि द्रव्यों का चूर्ण मिला कर घृत सेवन करना व्यवहारसिद्ध है। 'सौकर्यः' के स्थान पर 'सौकर्यम्' पाठ अच्छा है॥

ताप्यादिवटकः—

ताप्याभ्रकत्रिकटुतुत्थशिलाजकान्त-
मङ्कोल्ललोहमलटङ्कणसैन्धवं च।
भृङ्गीरसेन वटकांश्च मसूरमात्रान्
खादेद्रसायनवरं सकलामयघ्नम्॥४७॥

स्वर्णमाक्षिकभस्म, अभ्रकभस्म, त्रिकटुचूर्ण, तुत्थभस्म, शुद्ध शिलाजतु, कान्तलोहभस्म, अंकोलबीजचूर्ण, मण्डूरभस्म, शुद्ध सुहागा, सैन्धानमक; प्रत्येक समभाग में लेकर खरल में एकत्र करके भाँगरे के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन कर मसूर के बराबर गोलियाँ बना लें। इस श्रेष्ठ रसायन के निरन्तर सेवन करने से सम्पूर्ण रोग-समूह नष्ट होते हैं॥ ४७॥

कमलाविलासो रसः—

लोहाभ्रौ बलिसूतहाटकपविस्तुल्यं कुमारीरसे
पक्वैरण्डदलैर्निबध्य सुदृढं सद्धान्यराशौ त्र्यहम्।
क्षिप्त्वोद्धृत्य विचूर्णितं मधुवरायुक्तं यथासात्म्यतः
कृष्णात्रेयविनिर्मितं गदजराविध्वंसि सौख्यप्रदम्॥४८॥
आज्ञासिद्धमिदं रसायनवरं सर्वप्रमेहप्रणुत्
कासं पञ्चविधं तथैव तनुगं पाण्डुञ्च हिक्कां व्रणम्।
श्लेष्माणं पवनं हलीमकगदं हन्याच्च मन्दानलं
कण्डूकुष्ठविसर्पविद्रधिमुखापस्मारकाद्याञ्जयेत्॥४९॥
गोप्याद्गोप्यतरः सुखेन सुलभः सर्वत्र सिद्धो रसो
नाम्नाऽयं कमलाविलास इति सद्वैद्यस्य कीर्तिप्रदः॥

लोहभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद, स्वर्णभस्म; प्रत्येक समभाग लें। पहिले पारद गन्धक की कजली करें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर घीकुमार के स्वरस में मर्दन कर अग्नि पर कुछ गरम कर लें अथवा तीव्र धूप में रख कर गरम कर लें। पश्चात् इसको एरण्ड के पत्तों में लपेट तागे से अच्छी तरह बाँध कर तीन दिन तक धान्यराशि में गाड़ दें। चौथे दिन निकाल कर पत्तों को पृथक् करके औषधि को पीस कर रख लें। इस रसायन को अपनी प्रकृति, अग्नि तथा बल के अनुसार उचित मात्रा में लेकर त्रिफलाचूर्ण और शहत मिला कर सेवन करना चाहिये। श्री आत्रेयमुनि द्वारा विनिर्मित यह रसायन सब रोगों को तथा वृद्धावस्था को नष्ट करता है और शरीर में सब तरह सुखप्रदान करता है। इस श्रेष्ठ रसायन के सेवन से सब प्रकार के प्रमेह, पाँच प्रकार की खाँसी, पाण्डुरोग, हिचकी, व्रण, शरीर में कफ तथा वात का प्रकोप, हलीमक, मन्दाग्नि, कण्डू, कुष्ठ, विसर्प, विद्रधि, मुखरोग, अपस्मार आदि रोग समूल नष्ट होते हैं। यह रसायन अत्यन्त गोपनीय वस्तु है। यह आसानी से बनने वाला सब रोगों में सिद्धफल रस है। इसे 'कमलाविलासरस' कहते हैं। यह उत्तम अर्थात् समझदार वैद्य को अत्यन्त कीर्ति देने वाला है॥४८-५०॥

लक्ष्मीविलासो रसः—

वेदेन्दुनेत्राक्षरसाङ्कभागाः भूसूतगन्धोषणतिन्दुटङ्काः।
भृङ्गार्द्रगुञ्जाजवनीनवाभिर्भाव्यं त्रिशः स्वेद्यमदोऽर्कपत्रे॥
लक्ष्मीविलासः स विशाललक्ष्मीं तनौ तनोति क्षयिणः प्रयोगैः॥

भू (शुद्ध सौराष्ट्रमृत्तिका) चार भाग, शुद्ध पारद एक भाग, शुद्ध गन्धक तीन भाग, कालीमिरचचूर्ण छः भाग कुचलाचूर्ण छः भाग, टंकण (सुहागा) छः भाग लें। पहिले पारद

गन्धक की कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर भाँगरा, अदरख,- चौंटली की जड़, अजवाइन और पुनर्नवामूलस्वरस की क्रमशः तीन-तीन भावना देकर गोला-सा बना कर सुखा लें। फिर इस गोले को आक के पके हुये पत्तों में लपेट कर बाहर से गीली मिट्टी का लेप करके और कण्डों की अग्नि में रख कर किञ्चित् पाक कर लें। स्वांगशीतल होने पर लेप तथा पत्तों को पृथक् करके औषधि को पीस कर रख लें। वह 'लक्ष्मीविलासरस' विधिपूर्वक सेवन करने से क्षयरोगी के शरीर में सब रोगों को दूर करके उत्तम कान्ति पैदा करता है।

विशेष वचन—'भू' से कोई अभ्रक और कोई लोह का ग्रहण करते हैं। परन्तु भू का वास्तविक अर्थ मृत्तिका होने से यहाँ पर सौराष्ट्र मिट्टी लिखा है। रसायनगुणों को देखते हुए अभ्रक या लोहभस्म इस कार्य के लिए उत्तम है। औषधि के गोले को उसका द्रवांश शोषित होने तक उपलों की अग्नि में पकाना चाहिये।

नारिकेलपाकः—

वाराहीमुषलीकन्दकनकाऽहिस्वरस्तथा।
वानरीफलसंयुक्तं चूर्णयित्वा पृथक् पृथक् ॥५३॥
कार्पासमज्जदुग्धेन उत्कलय्य यथाक्रमम्।
भावनासप्तकं दत्त्वा सूर्यतापे विशोषयेत् ॥५४॥
नारिकेलं च संभृत्य द्वारं रुद्ध्वा यथाविधि।
गोदुग्धेन तु तत्क्वाथ्यषोडशद्वयमात्रतः ॥५५॥
दर्व्या संवर्तितं भाण्डे यथा दाढर्यं न याति च।
शीतं चूर्णीकृतं पक्वमाज्येन प्रपचेन्नरः ॥५६॥
जातीफलं लवङ्गं च एलाचूर्णं विनिक्षिपेत्।
निष्पन्नं शाणमात्रं तु गृहीत्वा प्रतिवेत्पयः ॥५७॥
वातरोगाः प्रमेहाश्च बलक्षयमथोल्वणाः।
सप्तरात्रप्रयोगेण प्रशमं यान्ति सर्वतः ॥५८॥
वृद्धोऽपि तरुणत्वं स प्रहर्षति सदा नरः।
सौश्रुताख्यं नारिकेलं गुरुणा परिकीर्तितम् ॥५९॥

वाराहीकन्दचूर्ण, मुसलीचूर्ण, धत्तूरबीजचूर्ण, नागभस्म, सुवर्णभस्म तथा कौंच के बीजों का चूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर इन सबको पृथक् पृथक बिनौलों के दूध में भिगो कर सुखा लें। फिर सबको एकत्र करके बिनौलों के दूध की सात भावना दें। और धूप में रख कर सुखा लें। अब इस भावित चूर्ण को एक नारियल (गोला या खोपा) के भीतर भर कर उसके मुख को अच्छी तरह बन्द करके, गोले के भीतर भरी हुई चीजों से ३२ गुना गौ के दूध के साथ कड़ाही में डाल कर पकावें। गोले को करछी से चलाते जायँ जिससे वह एक तरफ ही पक कर फट न जाय। जब सब दूध खोआ बन जाय और नारियल पक कर लाल सा रंग का हो जाय तो नारियल को निकाल कर ठण्डा कर लें। ठण्डा होने के बाद नारियल को औषधि सहित पीस कर कल्क कर लें। अब इस औषधि सहित नारियल के कल्क को घी में भून कर उसमें जायफल, लौंग और इलायची का चूर्ण मिला कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन एक शाण मात्रा में लेकर दूध के साथ सेवन करें। इस रस के सात दिन तक सेवन करने से सम्पूर्ण वातरोग, प्रमेह, दुर्बलता तथा क्षयरोग शान्त हो जाते हैं। इसके सेवन से वृद्ध मनुष्य भी तरुण पुरुष के समान बलवान् हो जाता है, और उसे तरुण पुरुष की भांति मैथुन शक्ति तथा पुत्रोत्पादन शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह सौश्रुत नारिकेल रसायन परम्परागत गुरुओं के द्वारा वर्णन की गई है।

विशेष वचन—कोई 'अहिखरः' पाठ करके खशखाश ग्रहण करते हैं। कोई खर से दुरालभा लेते हैं। परन्तु रसायन गुण को देखते हुए 'स्वरम्' पाठ ही ठीक है, यहाँ पर बिनौलों के दूध से अभिप्राय, बिनौलों को दूध में कूट कर छाने हुए दूध से है ॥५९॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्न-समुच्चये रसायनविधिर्नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः।

अथ वाजीकरणम्।

वाजीकरणस्य गुणाः—

वाजीकरणमन्विच्छेत्सततं विषयी पुमान्।
पुष्टिस्तुष्टिरपत्यं च गुणवत्तत्र संस्थितम् ॥ १ ॥

विषयी मनुष्य को वाजीकरण द्रव्यों का निरन्तर सेवन करना चाहिये। क्योंकि शरीर की पुष्टि, मन की प्रसन्नता तथा उत्तम-गुणयुक्त सन्तान की उत्पत्ति; ये सब गुण वाजीकरण के सेवन से प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

वाजीकरणस्य निरुक्तिः—

वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गनाः।
तद्वाजीकरणं विद्धि देहस्योजस्करं परम् ॥ २ ॥

जिस औषधि के सेवन करने से मनुष्य घोड़े के समान अत्यन्त बलवान् होकर बिना किसी संकोच और विघ्नबाधा के निरन्तर स्त्रियों के साथ रमण कर सकता है उसे 'वाजीकरण' औषधि कहते हैं। वाजीकरण औषधि देह में ओजधातु की वृद्धि करने में श्रेष्ठ है।

विशेष वचन—अन्यत्र वाजीकरण शब्द की निरुक्ति इस प्रकार लिखी है कि "वाजः शुक्रं तदस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियतेऽनेनेति वाजीकरणम्।" हारीतसंहिता में वाज शब्द से

मैथुन का ग्रहण किया है—"वाजो नाम प्रकाशत्वात्तच्च मैथुनसंज्ञितम्। वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचक्षते॥" चरक ने वाजीकरण का लक्षण इस प्रकार किया है—"येन नारीसु सामर्थ्यं वाजिवल्लभते नरः। व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत्॥" अर्थात् वीर्यरहित पुरुष जिस औषधि तथा आहार एवं विहार द्वारा वीर्यवान् किया जाता है उसे 'वाजीकरण' कहते हैं। अथवा जिस औषधि के द्वारा पुरुष रमण क्रिया में वाजी (अश्व) के समान सामर्थ्य प्राप्त करता है अथवा जिसके द्वारा शरीर में वीर्यवृद्धि होती है उसे 'वाजीकरण' कहते हैं॥ २॥

शुक्रक्षयस्य निदानम्—

शुक्रं तु चिन्ताव्यायामव्याधिभिर्देहकर्षणात्।
क्षयं गच्छत्यनशनात्स्त्रीणां चातिनिषेवणात्॥ ३॥

अत्यधिक चिन्ता, अत्यधिक परिश्रम, चिरकालीन रोग द्वारा शरीर के दुर्बल तथा कृश होने पर, उचित और पोषक आहार के न मिलने तथा अत्यधिक स्त्रीप्रसंग करने से वीर्य का नाश होता है॥ ३॥

वाजीकरणयोगोपदेशे प्रतिज्ञा—

तस्मात्प्रयोगान् वक्ष्यामि दुर्बलानां बलप्रदान्।
सुखोपयोगाद्बालानां भूयश्च बलवर्द्धनात्॥ ४॥

एतदर्थ दुर्बल मनुष्यों को बलप्रदान करने वाले वाजीकरण प्रयोगों का यहाँ वर्णन किया जायगा जिससे शरीर में वीर्य की कमी दूर हो जाय। ऐसी वाजीकरण योगों का वर्णन किया जायगा जिनको बालक भी सुखपूर्वक सेवन कर सके और युवाओं को सेवन कराने से वे उन्हें पर्याप्त बल देने वाले हों।

विशेष वचन—यहाँ पर "सुखोपयोगाद्बालानां भूयश्च बलवर्द्धनात्।" पाठ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि बालकों को शुक्रवर्धक योगों का सेवन अनावश्यक होता है। हाँ, बलवर्धक पदार्थों का सेवन कराया जाता है। चरक में इस स्थान पर इस प्रकार पाठ दिया है—"सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्द्धनात्।" अर्थात् जिनसे रमणशक्ति की वृद्धि होती है और जिनको बलवान् मनुष्य भी सेवन करें तो उन्हें भी विशेष बलवान् कर दें। ऐसा अर्थ होता है॥ ४॥

वाजीकरणप्रयोगे पूर्वकृत्यम्—

शुद्धकायो यथाशक्ति वृष्ययोगान् प्रयोजयेत्॥ ५॥

वाजीकरण औषधि सेवन करने वाले मनुष्य को पहिले शरीर को वमन, विरेचन आदि पञ्चकर्म द्वारा शुद्ध करके पश्चात् वाजीकरण औषधियों का सेवन कराना चाहिये।

विशेष वचन—शुद्ध शरीर करके वाजीकरण औषधि का सेवन करने पर उसका वास्तविक शीघ्र प्रभाव होता है। चरक ने लिखा है—"अशुद्ध शरीर में रसायन तथा वाजीकरण औषधियों का प्रभाव उसी तरह फीका होता है जिस तरह मैले कपड़े पर रंग फीका होता है"॥ ५॥

मधुकप्रयोगः—

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम्।
पयोऽनुपानं यो लिह्यान्नित्यवेगः सदा भवेत्॥ ६॥

एक कर्ष मुलेठी के चूर्ण को घी और शहत के साथ चाट कर पश्चात् दूध का अनुपान करने से मनुष्य में प्रतिदिन रमण करने की शक्ति हो जाती है।

विशेष वचन—'सदा' के स्थान पर चरक का 'स ना' पाठ अच्छा है। अन्यथा नित्य तथा सदा शब्दों में पुनरुक्ति दोष आ जाता है॥ ६॥

शृंगीप्रयोगः—

कुलीरशृंग्या यः कल्कमालोड्य पयसा पिबेत्।
सिताघृतपयोऽन्नाशी स नारीषु वृषायते॥ ७॥

काकड़ासिंगी के कल्क को दूध में मिला कर पीने और घी मिश्री मिला कर भोजन करने से पुरुष में स्त्रियों के साथ रमणशक्ति बढ़ जाती है॥ ७॥

स्वयंगुप्तादिचूर्णम्—

स्वयंगुप्तेक्षुरकयोर्बीजचूर्णं सशर्करम्।
धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा रासभायते॥ ८॥

कौंच के बीज की मज्जा, तालमखाना प्रत्येक एक एक भाग, शर्कराचूर्ण दो भाग मिला कर प्रतिदिन प्रातःकाल धारोष्ण गौ के दूध के साथ उचित मात्रा में सेवन करने से पुरुष में गर्दभ (गधा) के समान रमणशक्ति आ जाती है॥ ८॥

तिलप्रयोगः—

बस्ताण्डसिद्धे पयसि भावितानसकृत्तिलान्।
यः खादेत्ससितान् गच्छेत्स स्त्रीशतमपूर्ववत्॥ ९॥

क्षीरपाक विधि से बकरे के अण्डों द्वारा सिद्ध दूध से तिलों को सात भावना देकर (पीस कर) सुखा लें। फिर उसमें समभाग मिश्री मिला कर उचित मात्रा में दूध के साथ प्रतिदिन सेवन करने से मनुष्य में अनेक स्त्रियों के साथ बिना किसी दुर्बलता के रमण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

विशेष वचन—यद्यपि अन्यत्र दूध में मांस पकाने का विरोध देखा जाता है तथापि इसको यहाँ पर अपवाद समझना चाहिये॥

सिन्दूररसः—

गन्धकेन समं सूतं श्वेताङ्कोल्लजटारसैः।
त्रिदिनं मर्दितं तेन रसेन गुटिकीकृतम्॥ १०॥
रक्तचित्रकवाराहीपत्रनिर्यासपेषिते।
सद्योहृताजमांसस्य पिण्डे न्यस्तं विपाचितम्॥ ११॥
तप्ततैले मज्जयीत यावत्सिन्दूरसन्निभम्।

भक्षयेन्मधुसर्पिर्भ्यां गोक्षीरं च पिबेदनु ॥१२॥
स्त्रियः सेवेत तत्त्यागे यतः स्फुटति लोचनम् ।
न कामति रसश्चास्मिन् क्रान्ते स खलु मन्मथः ॥१३॥

शुद्ध पारद तथा शुद्ध गन्धक दोनों को समभाग में लेकर इनकी कज्जली कर लें। फिर इस कज्जली को सफेद फूल के अंकोलमूल के स्वरस से तीन दिन तक मर्दन करके गोला सा बना लें। फिर तत्काल मारे हुये बकरे के मांस को लालचित्रक, वाराहीकन्द, तेजपत्रकषाय से पीस कर इसका पिण्ड बना लें। अब इस मांसपिण्ड के भीतर उक्त कज्जली के गोले को बन्द कर कड़ाही में डाल कर उसमें पिण्ड के डूबने तक तिलतैल डाल कर चूल्हे पर रख कर पकावें जब तक कि यह पिण्ड पक कर सिन्दूर के समान रक्तवर्ण न हो जाय। शीतल होने पर तेल में से पिण्ड को निकाल पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में शहत और घी के साथ खाकर पश्चात् गौ का दूध पीना चाहिये और कामोत्तेजना होने पर स्त्री के साथ प्रसंग (भोग) करना चाहिये। यदि स्त्रीभोग न किया जाय तो इसकी गर्मी से नेत्रों के खराब होने का डर रहता है। वाजीकरण औषधियों में विशेषतः उत्तेजक औषधियों में इस रस के समान दूसरी कोई औषधि नहीं है। इसके सेवन से मनुष्य कामदेव के समान दिव्य शरीर तथा रूप आदि से सम्पन्न हो जाता है।

विशेष वचन—यहाँ पर कोई 'श्वेता' से 'अपराजिता' का पृथक् ग्रहण करते हैं ॥ १०–१३ ॥

कामकलाख्यो रसः—

मुषलीकदलीकन्दवाजिगन्धाकसेरुकैः ।
मर्दितं हेमसूताभ्रं मूषास्थं पुटपाचितम् ॥१४॥
शाल्मलीचूर्णसंयुक्तं वासराण्येकविंशतिः ।
भक्षयित्वा चतुर्माषं गव्यं क्षीरं पिबेदनु ॥१५॥
सर्वाङ्गोद्वर्तनं कुर्यात्सयवैः शाल्मलीरसैः ।
अन्वहं मधुराहारः सहस्रं रमते स्त्रियः ॥१६॥

स्वर्णभस्म, पारदभस्म (रससिन्दूर) और अभ्रकभस्म तीनों को समभाग में लेकर खरल में एकत्र करके मुसली, कदलीकन्द, असगन्ध और कसेरु; इन प्रत्येक द्रव्यों के स्वरस के साथ क्रमशः तीन २ बार खरल करके मूषा के अन्दर बन्द करके लघुपुट में पका लें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस करके उसमें समभाग सीमल के गोंद का चूर्ण मिला कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन प्रातःकाल चार मासा मात्रा में गौ के दूध के साथ सेवन करें। इस तरह इक्कीस दिन तक इस योग का सेवन करें। और साथ ही सीमल के स्वरस में जौ के आटे को पीस कर उसका सब शरीर में उबटना करके स्नान करें। क्षुधा लगने पर मधुर रस और पोषक भोजन खावें तो इससे एक हजार स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है ?

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से ३ रत्ती तक। रसरत्नाकर में इस रस को कुछ पाठ–परिवर्तन के साथ पढ़ा गया है, यथा "मृतसूताभ्रकं स्वर्णं वाजिगन्धामृतारसैः। मुषलीकदलीकन्दद्रवैस्तं मर्दयेद्दिनम् ॥ रुद्ध्वा लघ्वाग्निना पच्यात् मद्य पूर्वोक्तद्रवैः। पुटं देयं पुनर्मद्यं मेवमष्टपुटैः पचेत् ॥ शाल्मलीजातनिर्यासैश्चतुर्माषञ्च भक्षयेत्। गोक्षीरैमकंटीबीजैः पलार्द्धं पाययेदनु ॥ रसः कामकलाख्योऽयं रमते स्त्रीसहस्रधा। सर्वाङ्गोद्वर्तनं कुर्यात् सयवैः शाल्मलीरसैः ॥" परन्तु एक हजार स्त्रियों के साथ एक दिन में रमण करने की शक्ति असम्भव समझी जाती है ॥ १४–१६ ॥

कामदेवो रसः

हेमपादयुतः सूतो मर्दितः शाल्मलीरसैः ।
कदलीकन्दनिर्यासे क्षीरेक्षुरसगोघृते ॥१७॥
माक्षिके चास्तकृत्स्विन्नः शाल्मलीक्षीरगोक्षुरैः ।
शर्करामलकद्राक्षामुषलीमाषमाक्षिकैः ॥१८॥
युक्तो रम्भाफलं दत्त्वा कामदेव इति स्मृतः ।
सेवनादूर्ध्वलिंगः स्याद्द्रावयेद्वनिताशतम् ॥१९॥

पारदभस्म (रससिन्दूर) एक भाग, स्वर्णभस्म चौथाई भाग लेकर दोनों को एकत्र खरल में सीमल के स्वरस से एक दिन अच्छी तरह मर्दन करके गोला सा बना कर सुखा लें। अब इस गोले को एक भोजपत्र में अच्छी तरह लपेट कर तागे से बांध दें और कपड़े से लपेट कर पोटली बना लें। इस पोटली को दोलायन्त्र द्वारा सात दिन तक केले के कन्दस्वरस में मन्द मन्द अग्नि द्वारा स्वेदन करें। इसी तरह गोदुग्ध, गन्ने का रस और घी तीनों को मिला कर इनमें सात दिन तक स्वेदन करें। फिर मधु में सात दिन स्वेदन करें। इसी तरह सीमल के स्वरस, गोदुग्ध तथा गोखरूकषाय से पृथक् पृथक् सात दिन तक स्वेदन करें। अन्त में सावधानी से पोटली को खोल कर औषधि को निकाल कर उसमें शर्करा, आमलाचूर्ण, द्राक्षा, मुसलीचूर्ण, उड़दचूर्ण तथा मधु मिला कर (ये सब द्रव्य पारदभस्म के समभाग होने चाहिये) कच्चे केले के रस के साथ मर्दन कर उचित मात्रा की गोलियाँ बना लें। इसे 'कामदेव रस' कहते हैं। इस रस के सेवन से ऊर्ध्वलिंग (ऊपर को खड़ा हुआ है लिंग जिसका) पुरुष सैकड़ों स्त्रियों को द्रवित कर सकता है। अर्थात् सौ स्त्रियों के साथ भोग करने पर भी लिंगोत्थान शान्त नहीं होता है।

विशेष वचन—इस रस की यदि गोलियाँ बनानी अभीष्ट न हों तो रस की मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती लेकर उसमें शर्करा आदि द्रव्य मिला कर प्रतिदिन चाटना चाहिये ॥ १७–१९ ॥

मदनसुन्दरो रसः—

गन्धकेन रसः पिष्टः कह्लाररसमर्दितः।
विपक्वो वालुकायन्त्रे वृष्यो मदनसुन्दरः ॥२०॥

शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद दोनों को समभाग में लेकर इनकी कज्जली कर लें। फिर इसको लाल कमल के रस से मर्दन करके सम्पुट में रख बालुकायन्त्र में एक प्रहर तक पकावें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इसे उचित मात्रा में खावें तो इससे पुरुष के शरीर में अत्यन्त बल की प्राप्ति होती है जिससे वह अनेक स्त्रियों के साथ रमण कर सकता है।

विशेष वचन—बालुकायन्त्र में रख कर पकाने से यह रस-सिन्दूर के रूप में प्राप्त होगा। रसेन्द्रसारसंग्रह में बालुकायन्त्र में पकाने के बाद इसको लाल अगस्त्य के फूलों के रस और श्वेत कमल के रस से एक एक दिन भावना देने को लिखा है, यथा "शुद्धसूतं समं गन्धं त्र्यहं कल्हारजैर्द्रवैः। मर्दितं बालुकायन्त्रे यामं सम्पुटके पचेत् ॥ रक्तागस्त्यद्रवैर्भाव्यं दिनमेकं सिताम्बुजैः। यथेष्टं भक्षयेच्चानुकामयेत् कामिनीशतम् ॥" रसेन्द्रसार में इस रस को अनङ्गसुन्दर नाम से लिखा है भैषज्यरत्नावली में इसे कामिनीमदभञ्जन नाम से लिखा है ॥ २० ॥

पूर्णचन्द्ररसः—

कामदेव इह सोऽचटारसो रक्तपुष्पमुनिसारभावितः।
पूर्णचन्द्र इति विश्रुतो रसः प्राणिनां चरमधातुपूरकः॥२१॥
रहस्यं कुसुमास्त्रस्य शृङ्गारस्याऽधिदैवतम्।
कार्मणं सुदृशामूचे रसत्रयमिदं हरः ॥२२॥

पूर्वोक्त कामदेवरस को चौटली की जड़ के स्वरस तथा लाल अगस्त्य के फूलों के स्वरस में भावना देकर सुखा लिया जाय तो उसे 'पूर्णचन्द्ररस' कहते हैं। यह रस मनुष्यों के क्षीण हुये शुक्र को पूर्ण करनेवाला है। यह रस कामदेव का रहस्य (Secrit) और शृंगार रस का अधिष्ठातृ देवता है। यह सुन्दर नेत्रवाली स्त्रियों को मन्त्र-तन्त्र आदि की भाँति वश करने वाला है। इन तीनों रसों (कामदेव, मदनसुन्दर तथा पूर्णचन्द्र) को महादेव जी ने वर्णन किया है ॥ २१-२२ ॥

मदनमुन्मद्रसः—

मासार्द्धमात्रं हरजं विमर्द्य रसेन मोचस्य रसेन तेन।
त्रिःसप्तसंख्यानि दिनानि गन्धं तत्सम्मितं गोघृतमध्यपक्वम्
विभाव्य तेनैव विशोष्य युञ्ज्यात्काचस्थयोर्नागलतादलेन।
तयोर्विमर्द्याथ निषेव्य दुग्धं पिबेन्निशायां कदलीफलं तत्॥
मदनं मदयन्मदमुज्ज्वलयन्प्रमदानिवहानतिविह्वलयन्।
सुरतैः सुखदैर्गतविच्यवनैर्भवसारजुषामयमेव सुहृत् ॥२५॥

शुद्ध पारद को पन्द्रह दिन तक मोचरस (सीमल के गोंद) के द्रव में घोट कर रख लें। इसी तरह पारद के बराबर भाग शुद्ध गन्धक लेकर उसे भी इक्कीस दिन तक मोचरस के द्रव में मर्दन करें। अब इन दोनों को एकत्र मर्दन कर पिण्ड सा बना पोटली में बाँध कर गौ के घी में पका लें जब तक कि कज्जली का जलीयांश शोषण न हो जाय। पश्चात् औषधिपिण्ड को निकाल कर पीस लें। अब इस कज्जली को उसी घृत के साथ (जिसमें पिण्ड पकाया गया था) अच्छी तरह मर्दन करके सुखा लें और काँच की शीशी में रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर रात्रि के समय पान के पत्ते में रख कर सेवन करें और इसके बाद पक्व कदलीफल-मिश्रित दूध का अनुपान करें। यह रस कामदेव को उत्तेजित करता है और मनुष्य को अत्यन्त और अशान्त कामी बनाता है। जिससे अनेक स्त्रियाँ भी इस पुरुष के साथ रमण करने से तंग आ जाती हैं। वीर्य का स्खलन न चाहने वाले तथा सुखजनक स्त्रीसंभोग द्वारा सांसारिक आनन्द को प्राप्त करने की इच्छा वाले मनुष्यों के लिये यही एक परम मित्रवत् है।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में इस रस को पूर्णेन्दुरस नाम से लिखा है। परन्तु कुछ भिन्नता के साथ लिखा है—"शाल्मलीोत्थद्रवैर्मर्द्यं पलैकं शुद्धसूतकम्। पृथक्खल्ले त्रिसप्ताहं तद्द्रवैर्मर्द्यं गन्धकम् ॥ एकीकृत्य घृतैः सार्द्धं मर्द्दयेत्तच्च गोलकम्। यामद्वयं पचेदाज्ये वस्त्रे बद्ध्वा तु पाचयेत् ॥ दिनैकं शाल्मलीद्रावैः पिण्डं यामद्वयं पचेत्। मर्दयित्वा पुनः पिण्डं नागवल्ल्या च वेष्टयेत् ॥ निक्षिप्य काचकूप्यां च द्रवं दत्त्वा च शाल्मलम्। पलैकपरिमाणन्तु पचेद्यामद्वयं ततः ॥ बालुकायन्त्रमध्ये तु द्रवे जीर्णे समुद्धरेत्। द्विगुञ्जं भक्षयेत्प्रातः नागवल्लीदलान्तरे ॥ मुषलीं ससितां क्षीरैः पलैकं पाययेदनु। रसः पूर्णेन्दुनामाऽयं सम्यक् वीर्यकरो भवेत् ॥ कामिनीनां सहस्रैकं नरः कामयते ध्रुवम् ॥" आजकल इस रस को रसरत्नाकरोक्त पाठ के अनुसार बना कर प्रयोग करने की प्रथा अधिक प्रचलित है ॥ २३-२५ ॥

कुसुमायुधो रसः—

सूतस्य द्विपलं चतुष्पलमितो गन्धो मृतं काञ्चनं
पादन्यूनपलं सुवर्णविमलाताप्यं रसेनोन्मितम्।
लोहं कान्तमलस्तथाऽसितघनं कर्षोन्मितावेकशो
हन्तव्यं दरदेन लोहमखिलं चूर्णं ततो मर्दितम् ॥२६॥
मूषायां विगतावृतौ सिकतया यन्त्रे कृते स्थापयेद्
ब्राह्मीवारि दिनं निधेहि तदनु प्रत्येकमेकात्यहम्।
वासाकुञ्जरशुण्ठिकात्रिकटुकं मेषी च निर्गुण्डिका
तालीकुञ्जरशुण्डिकाहुतवहस्तोयानि दत्त्वा पचेत् ॥
ततस्तं निखिलाम्भोभिर्विमर्द्य पुटयेल्लघु।
निर्यासैः शाल्मलैर्ग्राह्यो वल्लत्रयमितो रसः ॥

वलीपलितनाशार्थं त्रिमासं मधुराशनः ॥२८॥
सुरतेषु सुलोचनाशतैर्गतवीर्यच्यवनैर्मनो यदि ।
तदमुं रसमाश्रयाऽऽश्रयं कुसुमास्त्रस्य चिराय धन्विनः॥२९॥
यदि सन्ति सहस्रशः स्त्रियश्चतुराश्लेषमनोहराः प्रसन्नाः ।
सुकवेरिव गुम्फना गिरां सुरसोऽनेन युवा रसेन भूयात्॥

शुद्ध पारद दो पल, शुद्ध गन्धक चार पल लेकर दोनों की अच्छी तरह कज्जली कर लें। फिर इसमें तीन कर्ष स्वर्णभस्म मिला लें। पश्चात् सोनागेरू, विमलामाखी, सोनामाखी की भस्म दो दो पल, लोहभस्म, मण्डूरभस्म, कृष्णाभ्रकभस्म; प्रत्येक एक एक कर्ष लेकर इसमें मिला कर पीस लें। लोहभस्म तथा माक्षिकभस्म आदि लोह समासों को हिंगुल द्वारा मारित करके इस योग में डालना चाहिये। सबको एकत्र खरल में पीस कर एक खुले मुख की मूषा में भर दें और मूषा को बालुकायन्त्र में रख कर मूषा में ब्राह्मी का स्वरस डालते जायँ और नीचे अग्नि जलायें। जब रस सूख जाय फिर इसमें ब्राह्मीरस डाल दें। इस प्रकार २४ घंटे तक ब्राह्मीस्वरस से पकावें। फिर वासापत्र, सौंठ, त्रिकटु, मेढ़ासिंगी, निर्गुण्डी, मुसली, हस्तिशुण्डी और चित्रक इनके स्वरस या कषाय को पृथक् पृथक् क्रमशः मूषा में तीन दिन तक डाल कर पकावें। स्वांगशीतल होने पर रस को निकाल कर उपर्युक्त वासा आदि आठ औषधियों के स्वरस या कषाय में पृथक् पृथक् एक भावना देकर अन्त में एक मूषा में बन्द करके एक लघुपुट (वाराहपुट) में फूक दें। स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पीस कर रख लें। इस रस को प्रतिदिन सीमल के गोंद के चूर्ण के साथ तीन वल्ल परिमाण मात्रा में मिला कर सेवन करना चाहिये। और भूख लगने पर मधुर द्रव्यों का भोजन करना चाहिये। इस प्रकार तीन मास तक इस रस के सेवन करने से वली तथा पलित रोग दूर होते हैं। सुन्दर नेत्रोंवाली सैकड़ों स्त्रियों के साथ मैथुन करने में भी चिरकाल तक वीर्यपात न होने की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को कामदेव के घर रूप इस रस का सेवन करना चाहिये। सुन्दर और प्रसन्न मुख वाली तथा आलिंगन क्रिया में चतुर अतएव मन को मोहित करने वाली हजारों स्त्रियों के साथ रमण करने वाले मनुष्य की मैथुन शक्ति इस रस के सेवन से उसी प्रकार अक्षुण्ण (अक्षीण) बनी रहती है जिस प्रकार एक महाकवि की वाणी-रचना क्षणभर के लिये भी क्षीण नहीं होती है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ½ रत्ती से १ रत्ती तक ॥

सूतेन्द्ररसः—

मुक्ताफलं प्रवालं च सुवर्णं रौप्यमेव च ।
रसं गन्धश्च तत्सर्वं तोलैकैकं प्रकल्पयेत् ॥३१॥
रक्तोत्पलैः पत्ररसैर्मर्दयेत्तत्तलीकृते ।
मर्दयेत्तत्पुनर्दत्वा गन्धं माषचतुष्टयम् ॥ ३२ ॥
तन्मध्ये गन्धकं दत्त्वा मर्दयेत्तदनन्तरम् ।
भीक्ष्या काचघटीमध्ये सन्निरुध्य प्रयत्नतः ॥ ३३ ॥
बालुकायन्त्रमध्यस्थां कृत्वा काचघटीं ततः ।
पाकस्तत्र तथा कार्यो भवेद्यामत्रयं यथा ॥ ३४ ॥
काचपात्रं समाकर्षेत्सिद्धं सूतं ततः परम् ।
भक्षयेद्रक्तिकाः पञ्च रोगैराक्रान्तपुद्गलः ॥ ३५ ॥
भोजनं पूर्वरोगोक्तं यत्नतः कारयेद्भिषक् ।
दुर्बलं वपुरत्यर्थं बलयुक्तं करोत्यसौ ॥ ३६ ॥
शुक्रवृद्धिं करोत्येष ध्वजभङ्गं च नाशयेत् ।
मासेनैकेन सूतेन्द्रो रोगनाशाय कल्पते ॥ ३७ ॥
शालयो मुद्गयुक्ताश्च गोधूमा भोजने हिताः ।
घृतं गव्यं तथा क्षीरं स्निग्धं पथ्यं प्रयोजयेत् ॥
पारावतस्य मांसं च तित्तिरेर्लावकस्य च ॥ ३८ ॥

मुक्ताभस्म, प्रवालभस्म, स्वर्णभस्म, रजतभस्म, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक एक एक तोला लें। पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर इसमें अन्य द्रव्य मिला कर पीस लें और लाल कमलों के पत्तों के स्वरस में एक दिन अच्छी तरह मर्दन करके अत्यन्त सूक्ष्म लेप सा कल्क द्रव बना लें। अब इसमें चार मासे शुद्ध गन्धकचूर्ण डाल कर पुनः लाल कमल के पत्ररस से मर्दन कर सुखा लें और एक कपड़मिट्टी की हुई काँच की बोतल में भर बोतल को बालुकायन्त्र में अच्छी तरह टिका दें और शीशी के मुख को डाट लगा कर बन्द कर दें। अब इस यन्त्र को चूल्हे पर रख कर तीन प्रहर की तीव्र अग्नि दें। तदनन्तर स्वांगशीतल होने पर शीशी से रस को निकाल पीस कर रख लें। इस प्रकार सूतेन्द्ररस तय्यार हो जाता है। रोगाक्रान्त शरीर वाले मनुष्य को इस रस की पाँच रत्ती मात्रा तक सेवन करावें। और क्षुधा लगने पर कुसुमायुध रस की भाँति मधुर द्रव्यों का भोजन करायें। यह 'सूतेन्द्र रस' अत्यन्त दुर्बल शरीर मनुष्य को बलवान् बनाता है। इससे शुक्रवृद्धि होती है और नपुंसकता नष्ट होती है। यह रस एक मास तक सेवन करने से सब रोगों को नष्ट करता है। इसके सेवनकाल में शालि चावल, मूँग की दाल, गेहूँ का भोजन करना चाहिये। इसके साथ घी (गाय का) दूध तथा स्निग्ध पदार्थ जैसे कबूतर का मांसरस, बटेर या लवा का मांसरस पथ्य में देना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ रत्ती से २ रत्ती तक। योगरत्नाकर में इसको 'अभिनवकामदेवरस' नाम से लिखा है। परन्तु वहाँ इसके पाठ में कुछ भिन्नता है, यथा—"मुक्ताफलं प्रवालं च सुवर्णं रौप्यमेव च। तोलकैकं समादाय पृथगन्धक-

सूतयोः ॥ रक्तोत्पलदलाम्भोभिर्मर्दयेद्दिवसत्रयम् । मर्दयित्वा पुनर्देयं गन्धं माषचतुष्टयम् ॥ तस्यैव पत्रतोयेन पुनर्दत्त्वा च गन्धकम् । शंखिन्याश्चापि तोयेन रुद्ध्वा काचघटे दृढे ॥ ततस्तु वालुकायन्त्रे पचेद् यामत्रयं ततः । काचकूप्याः समाकृष्य सिद्धसूतमतः परम् ॥ खादेतु रक्तिकाः पञ्च रोगैराक्रान्तमानवः । भोजनं पूर्ववद्देयं यत्नतः सततं भिषक् ॥ दुर्बलं वपुरत्यर्थं मल्लवज्जायते नृणाम् । मासेनैकेन सूतेन्द्रः पित्तजान्नाशयेद्गदान्" ॥ वाजीकरणार्थ प्रयुक्त होने वाले योगों में कुछ अतिशयोक्ति प्रतीत होती है, अतः उनके द्रव्यों का ठीक विचार कर इनका प्रयोग करना चाहिये । अत्यन्त क्षीण शरीर में अमृत भी देर से कार्य कर सकता है ॥

कार्श्यहरयोगः—

शुद्धं सूतं वाजिगन्धां च यष्टीं
पक्त्वा दुग्धं तच्च कार्श्यं ददीत ॥ ३९ ॥

शुद्ध पारद अर्थात् रससिन्दूर असगन्ध तथा मुलेठीचूर्ण को दूध में पका कर उसका खोया बना कर सेवन करने से शरीर की कृशता दूर होती है ॥ ३९ ॥

कार्श्यहरं योगत्रयम्—

एवं चाप्यं वापयित्वा च दद्या-
द्यद्वा यष्टिं मागधीं वाजिगन्धाम् ।
मध्वाज्याभ्यां शाल्मलीसत्त्वयुक्तां
शम्बूकैर्वा भर्जितैर्वाप्यमिश्रैः ॥४०॥

पूर्वोक्त विधि के अनुसार कुष्ठचूर्ण को दूध में मिला पकाकर देने से अथवा पिप्पली, मुलेठी और असगन्ध के चूर्ण को दूध में पका कर देने से अथवा पिप्पली आदि के चूर्ण को मधु, घृत और सीमल के मूलस्वरस के साथ मिला कर देने से, अथवा पिप्पली आदि के चूर्ण को घी में भून कर कुष्टचूर्ण मिला शंबूक के मांस रस के साथ देने से शरीर की कृशता दूर हो जाती है ॥४०॥

मदनकामदेवो रसः-

गोलं गन्धकसूतयोस्त्रिकटुकक्वाथेन बद्ध्वाऽथ भू-
कूष्माण्डान्तरवस्थितं विपिहितं तेनैव लिप्त्वोपरि ।
माषैर्द्व्यङ्गुलमाज्यपक्वमथ तत्कूष्माण्डमध्याद्धरेत्
तच्चूर्णे लवसम्मिते सुरकृताचूर्णस्य मुष्टिद्वयम् ॥
जया शतावरी कृष्णा कपिकच्छूफलं तिलाः ।
प्रत्येकं पलसम्माना यवाः पञ्चपलोन्मिताः ॥ ४२ ॥
तावन्मोचफलं द्वे च यष्टी मुष्टिद्वयं शुभा ।
निक्षिप्य सप्त सप्ताऽत्र भावनाः क्रमशश्चरेत् ॥ ४३ ॥
महाबलाबलानागबलाभिर्द्राक्षयाऽपि च ।
कृष्णाधात्रीक्षुभिश्चापि दन्तपात्रे निवेश्य च ॥४४॥
मत्स्यण्डिकायुतं वल्लद्वयमानं भजेन्निशि ।
अनुपानमिह प्रोक्तं धारोष्णं सुरभेः पयः ॥ ४५ ॥
दोषमार्तवजं हत्वा कुर्याद्वीर्यप्रवर्धनम् ।
ध्वजोत्साहं तथा स्त्रीषु वाजीकरणमुत्तमम् ॥ ४६ ॥
अलं मलयवायुना कुमुदबान्धवेनाप्यलं
मधुव्रतसुगायिनः कलितपञ्चमाः के पिकाः ? ।
अतो भज विशङ्कितं रतिसरोजिनीभास्करं
मनोजपरिदैवतं मदनकामदेवं रसम् ॥ ४७ ॥

शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक दोनों को समभाग में लेकर इन दोनों की कज्जली बना लें । फिर इसको त्रिकटु के कषाय में घोट कर गोला सा बना लें । इस गोले को विदारीकन्द के भीतर रख कर बाहर से विदारीकन्द के कल्क का ही पतला सा लेप करके उसके ऊपर उड़दों की पिष्टी का दो अंगुल मोटा लेप कर दें । फिर एक कड़ाही में घी भर कर उसे चूल्हे पर चढ़ा दें । और घी में कल्क लिप्त गोले को छोड़ दें और मन्द २ अग्नि से पकावें । जब गोला पक कर लाल हो जाय, उसे नीचे उतार लें । ठंडा होने पर विदारीकन्द में से गोले को निकाल कर पीस लें । इसमें से एक पल प्रमाण चूर्ण या रस लेकर उसमें गुडूचीचूर्ण या सत्व दो पल, भाँगचूर्ण, शतावरीचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, कौंच के बीजमज्जाचूर्ण, तिलों का चूर्ण; प्रत्येक एक एक पल, जौ का चूर्ण पाँच पल, केले के पके हुए फलों का चूर्ण पाँच पल, मुलेठी का चूर्ण दो पल, वंशलोचनचूर्ण दो पल मिला कर पीस लें । तदनन्तर इस चूर्ण को महाबला, बला, नागबला, द्राक्षा, पिप्पली, आँवलों के कषाय या स्वरस में पृथक् २ सात भावना और गन्ने के रस की सात भावना देकर सुखा के हाथी के दाँत की शीशी या पात्र में सुरक्षित करके रख लें । इसमें से प्रतिदिन रात्रि के समय दो वल्ल परिमाण मात्रा में लेकर मत्स्यण्डिका (राब) में मिला कर खिलावें और पीछे से गौ का धारोष्ण दूध पिलावें । यह रस स्त्रियों के सम्पूर्ण आर्तवसम्बन्धी खराबियों को दूर करके गर्भधारण की योग्य आर्तव को उत्पन्न करता है । इससे वीर्य की वृद्धि होती है । पुरुषों में इसके सेवन से स्त्रियों के साथ सम्भोग करने में पर्याप्त ध्वजोत्थान होता है । यह उत्तम वाजीकरण रस है । कामदेव को जाग्रत करने की इच्छा वाले मनुष्य को अन्य कामोत्तेजक उपचार जैसे कमलों के सुखमयस्पर्श मलयाचल की सुगन्धित और मन्द वायु, चन्द्रमा की निर्मल चाँदनी, भौरों की मधुर गुञ्जान, कोकिलाओं के पञ्चम स्वर वाले मधुर गायन का श्रवण आदि की कोई आवश्यकता नहीं रहती है । अतः निःशंक होकर रतिरूपी कमलिनी को प्रकाशित करने वाले सूर्यरूपी इस कामदेव के अधिष्ठातृदेव 'मदनकामदेव रस' को सेवन करना चाहिये ।

विशेष वचन—'लवसम्मिते' के स्थान पर 'पलसम्मिते' पाठ उचित है ॥

कामधेनुरसः—

हेमाभ्रसत्त्वकान्ताऽर्काः प्रत्येकं पलमात्रकाः ।
एकत्र द्राविताः सर्वे कर्षभूनागसत्त्वकाः ॥ ४८ ॥
पलविंशतिसूतेन तैश्च पिष्टिं प्रकल्पयेत् ।
शतधा पातयेत्सूतं पिष्टिं कृत्वा पुनश्च तैः ॥ ४९ ॥
शिष्टं द्विपलिकं सूतं संन्यासाद्भस्मतां नयेत् ।
भस्मीभूते रसे तस्मिञ्छिष्टे चैकपले ततः ॥ ५० ॥
वज्रं निष्कमितं चाभ्रसत्वं षट्पलिकं क्षिपेत् ।
द्विपलं गन्धकं शुद्धं द्विदिनं मर्दयेत्ततः ॥ ५१ ॥
तत्सर्वं लोहजे पात्रे क्षिप्त्वा च मृदुवह्निना ।
शाल्मलीमूलजं क्वाथं चत्वारिंशत्पलोन्मितम् ॥५२॥
जारयेद्रसराजस्य दत्त्वा दत्त्वाऽल्पमल्पकम् ।
स्वांगशीतं रसं हृत्वा सुगाढं परिमर्दयेत् ॥ ५३ ॥
नालीपातेन तत्क्वाथं रजोदग्धं प्रदापयेत् ।
ततः करण्डके क्षिप्त्वा यत्नेन स्थापयेत्खलु ॥ ५४ ॥
गुञ्जामात्रः स च घृतयुतः सेवितो हन्ति रोगां-
स्तत्तद्दोषप्रभवकुटिलान् दुःखसाध्यान् समस्तान् ।
दद्याद्दीप्तिं जठरशिखिनं स्त्रीशतं सेवयेत्तु
स्थैर्यं कुर्यादपि च वपुषो नामतः कामधेनुः ॥ ५५ ॥

शुद्ध स्वर्ण, अभ्रकसत्व, शुद्ध कान्तलोहभस्म, शुद्ध ताम्रचूर्ण-भस्म; प्रत्येक एक २ पल लें । भूनाग (केंचुवे) का सत्व एक कर्ष लें । इन सब को एकत्र एक मूषा में रख कर तीव्र अग्नि में तपा कर द्रावक औषधियों के चूर्ण के निक्षेप से द्रुति कर लें । द्रुति होते ही नीचे उतारते समय इसमें शुद्ध पारद बीस पल मिला कर खरल में मर्दन करके पिष्टी सी बना लें । इस पिष्टी को ऊर्ध्वपातन अथवा तिर्यक्-पातन किसी यन्त्र में रख कर पारद का पातन (पृथक्करण) कर लें । इस प्रकार उक्त द्रव्यों की पिष्टी के साथ पारद को मिला कर सौ बार पातन करें । जब पारद पातन करते हुए दो पल मात्र शेष रह जाय तब उसे पारदमारक औषधियों के साथ मर्दन कर पुट में बन्द कर अग्नि से पकाते हुये अर्थात् संन्यासविधि से भस्म कर लें । अब भस्म होने पर केवल एक पल मात्र बची हुई इस पारदभस्म में हीरे की भस्म एक निष्क, अभ्रकसत्वभस्म छः पल शुद्ध गन्धक दो पल मिला कर खरल में दो दिन तक अच्छी तरह मर्दन करें । अब इसको एक लौह की कड़ाही में डालकर उसके नीचे मन्द मन्द अग्नि जलावें और कड़ाही में औषधि के ऊपर सीमल की जड़ का कषाय या स्वरस थोड़ा २ करके डालते जांय । इस प्रकार चालीस पल सीमल का कषाय डाल कर पारद का जारण करें स्वांगशीतल होने पर (जब कि सीमल का रस बिलकुल खुश्क हो जाय) कड़ाही को नीचे उतार औषधि को निकाल कर अच्छी तरह पीस लें । कड़ाही में सीमल का कषाय डालने की यह विधि है कि किसी नली के द्वारा थोड़ा २ करके इस तरह कषाय डालें जिससे न तो औषधि गीली होते हुये कषाय डाला जाय और ना ही औषधि दग्ध होने पर कषाय डाला जाय । किन्तु सम्यक् पक्व होते ही पुनः पुनः थोड़ा २ कषाय डालना चाहिये । तदन्तर इस रस को पीस कर एक शीशे में भर कर सुरक्षित कर लें । इस रस में से एक रत्ती मात्रा में लेकर घी के साथ सेवन करने से पृथक् २ दोष जन्य वा सन्निपातजन्य सम्पूर्ण दुःसाध्य रोग नष्ट होते हैं । इसके सेवन से जठराग्नि अत्यन्त दीप्त होती है । इसके सेवन से मनुष्य में सौ स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति प्राप्त होती है । अर्थात् अत्यन्त वीर्य वृद्धि के साथ शरीर दृढ़ और स्थिर होता है । यह कामधेनु रस नाम से प्रसिद्ध है ॥४८-५५ ॥

महाभ्रसत्वम्—

कृष्णाभ्रकस्य धान्याभ्रं कृत्वा भृङ्गाम्बुनि क्षिपेत् ।
तस्मिंश्च तुत्थकं देयं सूक्ष्मं ताप्यभवं रजः ॥ ५६ ॥
टङ्कणं चाग्निना भृष्टं तावदेव विनिक्षिपेत् ।
छागास्थिसंभवं चूर्णं चतुर्थांशेन निक्षिपेत् ॥ ५७ ॥
रसभस्माष्टमांशं च गुडगुंजापुरस्तथा ।
पञ्चाजेन विनिष्पिष्य गोलोकस्य विशोष्य च ॥ ५८॥
ततो नूतनभाण्डस्य जलघृष्टेन पाण्डुना ।
विलिप्य वरिकाः सर्वा हरेत्सर्वं पुरोक्तवत् ॥
महाभ्रसत्वमेतत्स्यादेकमप्यखिलार्तिनुत् ॥ ५९ ॥

कालेवज्राभ्रक का धान्याभ्रक बनाकर उसको अच्छी तरह डूबने योग्य भाँगरे के स्वरस में डाल दें । फिर इसी में अभ्रकके समभाग ही शुद्ध तुत्थ, स्वर्णमाक्षिकभस्म और भुना हुआ सुहागा, अभ्रक समभाग डाल दें । बकरे की हड्डी का चूर्ण भी इसमें अभ्रक की अपेक्षा चतुर्थांश डालें । इसी तरह पारदभस्म (रससिन्दूर), पुराना गुड़ गुञ्जा (चौंटली) गूगल; प्रत्येक अभ्रक की अपेक्षा अष्टमांश उसमें डाल दें । जब भाँगरे का रस शोषित हो जाय तो उसमें मर्दन करने योग्य बकरी का पञ्चांग (मूत्र, मलरस, दही, दूध, घी) डाल कर अच्छी तरह घोट कर गोली बना कर सुखा लें । अब इन बड़ी बड़ी गोलियों को एक नूतन मिट्टी के पात्र को जल में घिस कर उस मिट्टी के पीले कल्क से लेप करके सुखा लें और सत्वपातन कोष्ठी में रख कर सत्वनिष्कासन विधि से अभ्रक का सत्व निकाल लें । इसको महाभ्रकसत्व कहते हैं । केवल एक यही अभ्रकसत्व उचित अनुपान से सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है ॥

उमापतिरसः—

त्रिफलाक्वथितैः सार्द्धं पुटितं च शतावधि ।
इत्थं महाभ्रसत्त्वं तन्मृतं शाणचतुष्टयम् ॥ ६० ॥

एकशाणमितं सम्यग्रसराजस्य भस्म च ।
एकशाणमितं गन्धं त्रिफला च त्रिशाणिका ॥ ६१ ॥
कान्तपात्रे क्षिपेदेतत्सर्वं घृतसितायुतम् ।
मर्दयेदतियत्नेन यावत्स्यात्प्रहराष्टकम् ॥
तत्कल्कं निक्षिपेत्कान्तलोहजातकरण्डके ॥ ६२ ॥
संसिद्धोऽयमुमापतिर्वररसो गुञ्जामितः सेवितो
मासेनैव महामयान् प्रशमयेत्पथ्यादियुक्तिं विना ।
नित्यं क्षीरघृताशनेन च पुनः संसेवितो नाशये-
दब्देनैव जरां वलीपलितकैर्दद्याच्छताब्दं वयः ॥६३॥
उमापती रसः सोऽयमुमापतिरिवापरः ॥ ६४ ॥

उक्त प्रकार से प्राप्त महाभ्रकसत्व को त्रिफलाकषाय में घोट कर टिकिया बना सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट दें। इस प्रकार सौ पुट देने से महाभ्रकसत्व की भस्म हो जाती है। इस भस्म में से चार शाण भस्म लेकर उसमें पारद की भस्म एक शाण, शुद्ध गन्धक एक शाण, त्रिफलाचूर्ण तीन शाण मिला कर कान्तलोह के पात्र या खरल में डाल घी और मिश्री के साथ आठ पहर तक अच्छी तरह घोटें। तदनन्तर इस कल्क रूप रस को एक शुद्ध कान्तलोह के पात्र में रख लें। इस प्रकार यह रसोत्तम 'उमापति रस' तय्यार होता है। इसमें से एक रत्ती मात्रा में उचित अनुपान के साथ एक मास तक सेवन करने से विना किसी विशेष पथ्य परहेज के अनेक भयंकर रोग शान्त हो जाते हैं। यदि इसको एक वर्ष तक प्रतिदिन दूध, घी तथा मधुर भोजनों के साथ सेवन किया जाय तो इससे अकाल वृद्धावस्था तथा वली (झुर्रियाँ), पलित (बालों का पकना) रोग नष्ट होकर सौ वर्ष की सुखायुः प्राप्त होती है। यह 'उमापतिरस' सेवन करने पर मनुष्यके लिए द्वितीय महादेव के समान फलदायक है॥ ६०-६४ ॥

महाकनकसुन्दरो रसः—

कान्तकाञ्चनगन्धाश्मजारितं मारितं रसम् ।
चतुर्निष्कमितं चाथ स्वर्णं निष्कमितं मतम् ॥ ६५ ॥
निक्षिप्य कान्तपात्रे तु पञ्चाशन्निष्कसंमितम् ।
जारयेद्गन्धकं शुद्धगन्धेन वडवाग्निना ॥ ६६ ॥
निष्कतुल्यमिदं चूर्णं श्लक्ष्णीकृत्य प्रयत्नतः ।
निक्षिपेन्मधुसम्पूर्णे घृतसुस्निग्धभाण्डके ॥ ६७ ॥
अमुनैव प्रकारेण पथ्यानां षष्टिसंयुतम् ।
त्रिशतं साधयेद्यत्नाच्छास्त्रदृष्टविधानतः ॥ ६८ ॥
त्रिधा विभज्य तत्रैकां समादाय हरीतकीम् ।
एकपादं दिनाभ्यां च द्वितीयं दिवसैस्त्रिभिः ॥ ६९ ॥
तृतीयं च ततः पादं चतुर्भिर्दिवसैर्भजेत् ।
एकैकां च ततः पथ्यां भजेदावत्सरं नरः ॥ ७० ॥
जीवेद्वर्षशतं साग्रं वलीपलितवर्जितः ।
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो नित्यं स्त्रीशतसेवकः ॥ ७१ ॥
बलवान् वीर्यवांश्चैव पूर्णसर्वेन्द्रियोदयः ।
जायते नात्र सन्देह आज्ञेयं पारमेश्वरी ॥ ७२ ॥
हन्यादक्षिगदांश्च कुष्ठमखिलं मासान्तमासेवितः
पाण्डुं च ग्रहणीं प्रमेहगुदजान् गुल्मांश्च शूलामयान् ।
स्थूलत्वं च तथा महाग्निसदनं रोगांस्तथैवापरान्
कुर्याद्दीपनपाचनं खलु नृणां भाव्यामयारोधनम् ॥
अयं रसायनो दिव्यो महाकनकसुन्दरः ॥ ७४ ॥

कान्तलोह, स्वर्ण तथा गन्धक जारित तथा भस्मीभूत पारद चार निष्क, स्वर्णभस्म एक निष्क लेकर दोनों को एकत्र पीस कर एक कान्तलोह पात्र या मूषा में पचास निष्क शुद्ध गन्धक डाल उसमें स्वर्णपारद को रख उसका मुख अच्छी तरह बन्द कर दें। पश्चात् इस मूषा को चूल्हे पर चढ़ा कर शुद्ध गन्धक (बेर) की लकड़ियों की तीव्र अग्नि से पका कर गन्धक जारण कर लें। इस प्रकार जारण किये हुए इस रस को एक निष्क परिमाण में लेकर बारीक पीस कर घी से चिकने किये हुए एक मधुपूर्ण पात्र में डाल दें। अब इसमें तीन सौ साठ हरड़ों को पहिले जल की वाष्प से स्विन्न करके डाल दें। अथवा हरीतकी गुड़विधान से तीन सौ साठ हरड़ों को बना कर इसमें डाल दें। जब हरड़ें अच्छी तरह उक्त औषधि को अपने में शोधित या व्याप्त कर लें तब इस रस का सेवन करना चाहिये। सेवन करने का विधान इस प्रकार है कि पहिले हरड़ों में से एक हरड़ को लेकर उसके तीन विभाग कर लें। इसमें से एक हिस्से को प्रथम दो दिन सेवन करें। फिर दूसरे हिस्से को तीन भागों में विभक्त कर तीसरे चौथे और पांचवें दिन सेवन करें। तदनन्तर तीसरे हिस्से के चार भाग कर छटे, सातवें, आठवें और नवें दिन सेवन करें। इस प्रकार एक हरीतकी के तीन हिस्सों को नौ दिनमें सेवन करने के बाद दसवें दिन से प्रतिदिन प्रातःकाल एक एक हरीतकी का सेवन करें। एक वर्ष तक उक्त प्रकार से एक एक हरड़ रोज खाने पर मनुष्य की सौ वर्ष की उत्तम आयु होती है। वह वली तथा पलित रोगोंसे मुक्त होता है। उसके शरीर में कोई रोग नहीं होता है। और वह नित्य सौ स्त्रियों के साथ भोग करनेकी शक्ति रखता है। उसके शरीर में पूर्ण बल और पूर्ण वीर्य होता है। इन्द्रियों में पूर्ण शक्ति होती है। यह पार्वती का वरदान है। यदि इसको एक मास तक सेवन किया जाय तो नेत्ररोग; सम्पूर्ण कुष्ठ, पाण्डु, संग्रहणी, प्रमेह, अर्श, गुल्म, शूल, शरीर की स्थूलता, अत्यन्त अग्निमान्द्य तथा अन्य सब रोग नष्ट होते हैं। यह अत्यन्त दीपन तथा पाचन योग है। स्वस्थ मनुष्य को सेवन कराने पर उसे भावी रोगों के होने की आशंका नहीं रहती है। यह महाकनकसुन्दर रस अत्यन्त दिव्य रसायन है।

विशेष वचन—'शुद्धगन्धेन' के स्थान 'शुद्धमन्धेन' पाठ उचित प्रतीत होता है। 'मतं' के स्थान पर 'मृतं' कहीं पाठ है ॥

अमृतार्णवो रसः—

कृत्वा कण्टकवेध्यानि पलस्वर्णदलान्यथ ।
अष्टांशरससलिप्तानि निक्षिपेदुपले त्र्यहम् ॥ ७५ ॥
हिंगुहिंगुलगन्धाश्मतार्प्यनीलाञ्जनैः समैः ।
कृतं चूर्णमधश्चोर्ध्वे पत्राणां विनिधाय च ॥ ७६ ॥
शतावरं पुटेत्सम्यङ् निरुत्थं भस्म जायते ।
तद्भस्मद्विगुणं सूतं तस्माद्द्विगुणहिंगुलः ॥ ७७ ॥
तस्माच्च द्विगुणं तार्प्यं सर्वमेकत्र मर्दयेत् ।
रसेन मातुलुङ्गस्य निरन्तरदिनद्वयम् ॥ ७८ ॥
तुषैः पुटत्रयं दद्याद्गोकरीषैः पुटत्रयम् ।
पुटानि दश विंशत्या छगणानां प्रकल्पयेत् ॥ ७९ ॥
त्रिंशद्भिश्छगणैर्दद्यात्पुटानामथ विंशतिम् ।
तस्मिन् वैक्रान्तजं भस्म निक्षिपेत्पादमात्रया ॥८०॥
सर्वमेकत्र संचूर्ण्य भृङ्गराजनिजद्रवैः ।
भावयेत्सप्तवाराणि सिद्ध्यत्येवमयं रसः ॥
श्रीमता नन्दिना प्रोक्तो रसोऽयममृतार्णवः ॥ ८१ ॥
गुञ्जाबीजमितः सिताघृतकणासंयोजितः सेवितः
कुर्याद् वृष्यमनेकशो वरवधूसन्तोषसम्पोषणः ।
यक्ष्मव्याधिविधूननो गरगरः पर्याप्तदीप्तानलो
मूलव्याधिनिवारणः किमपरं सर्वामयध्वंसनः ॥८२॥
रम्भापक्वफलं घृतं दधि पयः क्षैरेयकं मण्डका
बालं तालफलं सिता च पललं सन्तानिका मोदकाः ।
खर्जूरं वरपानकं च वटकाः पुण्ड्रेक्षवः सारसं
गुर्वन्नं पनसं तथा शिखरिणी पथ्यं रसेऽस्मिन्मतम् ॥

एक पल शुद्ध सोने के कण्टकवेधी पत्र बना कर उनको स्वर्णसे अष्टमांश पारद को खरल में डाल कर उसमें तीन दिन तक रखे रहें। जब पारद सोने के सब पत्रों में अच्छी तरह चिपट जाय तब हींग, हिंगुल, गन्धक, स्वर्णमाक्षिकभस्म, काला सुरमा; प्रत्येक एक पल ले चूर्ण करके इसका आधा भाग एक शराव में रख उस पर उक्त स्वर्णपत्रों को टिका कर बाकी आधा भाग हिंगु आदि द्रव्यों का चूर्ण उनके ऊपर बिछाकर शकोरे को बन्द करके लघुपुट दें। इस प्रकार हिंगु आदि के योग से सौ पुट देकर सोने की उत्तम भस्म बना लें। अब इस भस्म से द्विगुण शुद्ध पारद और पारद से द्विगुण शुद्ध हिंगुल और हिंगुल से द्विगुण स्वर्णमाक्षिक भस्म लेकर सब को एकत्र मिला कर पीस लें और जम्बीरी नींबू के रस से तीन दिन घोट कर मूषा में बन्द करके तुषों की अग्नि से तीन लघुपुट दें। फिर तीन पुट गोबर की भुसी से दें। फिर बीस बीस जंगली उपलों की दस पुट, तीस तीस उपलों की बीस पुट दें। प्रत्येक पुट के अन्त में औषधि को बिजौरा नींबू के रस में घोटना चाहिये। अन्त में उसमें औषधि से चौथाई भाग वैक्रान्तभस्म मिला कर पीस कर भाँगरे के स्वरस की सात भावना देकर सुखा लें। इस प्रकार यह 'अमृतार्णवरस' सिद्ध होता है। इसको श्रीमान् नन्दिनामक रसाचार्य ने वर्णन किया है। इस रस को एक रत्ती मात्रा में लेकर मिश्री, घी तथा पिप्पलीचूर्ण के साथ सेवन करने से शरीर में वीर्य की पर्याप्त वृद्धि होती है जिससे पुरुष अनेक सुन्दर युवतियों को रमण के द्वारा सन्तुष्ट कर सकता है। यह रस यक्ष्माविकार को समूल नष्ट करता है। गरविष को शान्त करता है। जठराग्निदीपक है, अर्शोरोग को नष्ट करता है। इस रस के विषय में अधिक कहना व्यर्थ है क्योंकि यह रस उचितानुपान से सब रोगों को नष्ट करता है। इस रस के सेवनकाल में पका हुआ केला, घी, दही, दूध, दूध के बने हुए पदार्थ खीर, खोया आदि, सीमियाँ, फीणियाँ, कच्चे ताड़के फल, मिश्री, मांसरस, मलाई, लड्डू, खजूर, उत्तम पन्ने, शर्बत आदि, पौंडा गन्ने का रस, सारसमांस, गुरु पोषक अन्न, कटहल तथा शिखरण आदि पदार्थ पथ्य हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ¼ रत्ती से ½ रत्ती तक है। मण्डक का लक्षण तन्त्रान्तर में इस प्रकार लिखा है—"वारिणा कोमलां कृत्वा समितां (मैदा) साधु मर्दयेत्। हस्तचालनिभा तस्या लोप्त्री (लोई) सम्यक् प्रसारयेत्॥ अधोमुखघटस्यैतां विस्तृतां प्रक्षिपेद्बहिः। मृदुना वह्निना साध्यः सिद्धो मण्डक उच्यते॥ दुग्धेन साज्यखण्डेन मण्डकं भक्षयेन्नरः। अथवा सिद्धमांसेन सतक्रवटकेन वा" ॥ ७५—८३ ॥

मदनसञ्जीवनो रसः—

त्रिपलं पारदं शुद्धं गन्धकं च चतुष्पलम् ।
मृतमभ्रकसत्त्वं च स्वर्णं कान्तं च कार्षिकम् ॥८४॥
द्विपलं हेम विमलं भूनागायाः पलत्रयम् ।
एभिः सर्वैश्च संपेष्य प्रकुर्यान्नष्टपिष्टिकाम् ॥ ८५ ॥
बालुकायन्त्रविन्यस्तलोहपात्रे क्षिपेत्ततः ।
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं कारयेत्तदनन्तरम् ॥ ८६ ॥
मण्डूकब्राह्मिकायाश्च मुषल्याश्चित्रकस्य च ।
हस्तिशुण्ड्यास्तथा कृष्णनिर्गुण्ड्या गोक्षुरस्य च॥८७॥
रसं कुडवमानेन क्षिपेत्खल्ले मुहुर्मुहुः ।
तत आकृष्य संपिष्य मधुना सह यत्नतः ॥ ८८ ॥
मल्लमूषोदरे क्षिप्त्वा विनिरुध्य विशोष्य च ।
दशभिश्छगणैर्देयं पुटं सम्पूज्य भैरवम् ॥
करण्डे क्षेपयेत्सिद्धं समभ्यर्चितकन्यकः ॥ ८९ ॥
रसः ख्यातो नाम्ना भुवि मदनसंजीवन इति
द्विवल्लाभ्यां तुल्यो घृतमधुसितादुग्धसहितः ।

निपीतः सप्ताहं प्रचुरमधुराहारसहितो
नरं कुर्यान्नारीशतसुरतसुप्रीतहृदयम् ॥ ९० ॥
हन्यादुन्मादमुग्रं क्षयगदमरुचिं कामलामम्लपित्तं
सर्वान् पित्तोत्थरोगान् रुधिरभवगदान् रक्तपित्तज्वरांश्च
रक्तार्शः पित्तगुल्मं सततमतिमहाऽऽनाहमन्तर्विदाहं
पाण्डुं मेहांश्च मोहं प्रदरगदमपि स्त्रीजनस्योग्रमाशु ॥

शुद्ध पारद तीन पल, शुद्ध गन्धक चार पल, अभ्रकसत्वभस्म एक कर्ष, स्वर्णभस्म एक कर्ष, कान्तलोहभस्म एक कर्ष, स्वर्णमाक्षिकभस्म दो पल, भूनागसत्वभस्म तीन पल लेकर पहिले पारद गन्धक की कज्जली बना लें। फिर उसमें अन्य द्रव्य मिला कर अच्छी तरह मर्दन करके सबको नष्ट-पिष्ट कर लें। फिर इसको एक लोहपात्र या खरल में रख कर इस खरल को बालुकायन्त्र में रख दें। बालुकायन्त्र के नीचे अग्नि जलावें और खरल में क्रमशः ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी, मुसली, चित्रक, हस्तिशुण्डी, कालीनिर्गुण्डी गोखुरू, का स्वरस प्रत्येक एक एक कुडव (१६ तोला) थोड़ा थोड़ा करके डालते जायँ और करछी से औषधि को चलाते जायँ। जब सब रस खुश्क हो जाय तब खरल को नीचे उतार कर ठंडा कर लें। खरल में से औषधि को निकाल कर मधु के साथ अच्छी तरह पीस लें और मल्लमूषा के अन्दर बन्द करके कपड़-मिट्टी करके सुखा लें। तदनन्तर इस औषधि युक्त मूषा को दस अरणे उपलों के पुट में फूँट दें। पुट देने के पूर्व भैरव (रसाचार्य) की पूजा करनी चाहिये स्वांगशीतल होने पर मूषा में से औषधि को निकाल पीस कर शीशी में रख लें। यह रस पृथ्वी पर मदन सञ्जीवन नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम कुवाँरी कन्याओं का पूजन करके इस रस को दो रत्ती मात्रा में लेकर घी मधु और मिश्री मिला कर सेवन करना चाहिए। ऊपर से दूध का पान करना चाहिये। इस प्रकार सात दिन तक इस रस का सेवन किया जाय और विशेषरूप से मधुर पदार्थों का भोजन किया जाय तो इस रस का सेवी मनुष्य सैकड़ों स्त्रियों के साथ रमण करने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हृदय वाला हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस रस के सेवन से भयंकर उन्माद, क्षय, अरुचि, कामला, अम्लपित्त, सब प्रकार के पित्तप्रकोपजन्य रोग, रक्तविकार, रक्तपित्तज्वर, रक्तार्श, पित्तगुल्म, गुरु दुःपाच्य द्रव्यों के सेवन से होने वाले पुराने कब्ज, आभ्यन्तरिक दाह, पाण्डु, प्रमेह, मोह (मूर्च्छा) तथा स्त्रियों का अत्यन्त भयंकर प्रदर आदि रोग भी शीघ्र मिट जाते हैं।

विशेष वचन—भूनाग शब्द से सर्वत्र केंचुओंका ग्रहण होता है। अतः यहाँ पर शुद्ध भूनाग (केंचुवा) का सत्व लेना उचित है। 'भूनागायाः' यह स्त्रीलिंग पाठ भी उचित नहीं है। अतः इसके स्थान पर 'भूनागस्य' पाठ होना उचित है। कोई 'भूनागायः' पाठ करने का निर्देश करते हैं परन्तु लोह और स्वर्णमाक्षिक पहिले ही इस रस में पर्याप्त लिये गये हैं ॥८४-९१॥

मदनमोदकः—

त्रैलोक्यविजयापत्रं घृतेनाभर्जितं कियत् ।
त्रिकटुत्रिफलामुस्ताकुष्ठसैन्धवधान्यकम् ॥ ९२ ॥
शटीतालीशपत्रं च कट्फलं नागकेशरम् ।
अजमोदा यमानी च यष्टीमधुकमेव च ॥ ९३ ॥
मेथी जीरकयुग्मं च सबीजं भर्जितं तथा ।
यावन्त्येतानि चूर्णानि तावदेव तदौषधम् ॥ ९४ ॥
तावत्येव सिता ग्राह्या यावत्याऽऽयाति बन्धनम् ।
घृतेन मधुना युक्तं मोदकं परिकल्पयेत् ॥ ९५ ॥
त्रिसुगन्धिसमायुक्तं कर्पूरेणापि वासयेत् ।
स्थापयेद् घृतभाण्डे च श्रीमन्मदनमोदकम् ॥ ९६ ॥
भक्षयेत्प्रातरुत्थाय वातश्लेष्मविनाशनम् ।
कासघ्नं सर्वशूलघ्नं वलीपलितनाशनम् ॥ ९७ ॥
आमवातविकारघ्नं संग्रहग्रहणीहरम् ।
सदा निषेवयेद्धीमान् रुच्यमग्निविवर्द्धनम् ॥ ९८ ॥
एतत्कामविवृद्ध्यर्थं नारदेन प्रकीर्तितम् ।
तेन स्त्रीणां सहस्राणि रेमे स यदुनन्दनः ॥ ९९ ॥

त्रिकटु (सौंठ, मिरच, पिप्पली), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), नागरमोथा, कूठ, सैन्धानमक, धनियाँ, कचूर, तालीशपत्र, कायफल, नागकेशर, अजमोदा, अजवाइन, मुलेठी, मेथी, सफेदजीरा, कालजीरा, (भुना हुआ); प्रत्येक का कपड़छन चूर्ण एक एक भाग या एक एक तोला, घी में भुनी हुई भाँग के पत्तों और बीजों का चूर्ण मिलित सर्वचूर्णों के बराबर भाग लेकर सब को एकत्र मिला लें। अब त्रिकटु तथा भाँग आदि सब चूर्ण से द्विगुण भाग (जितने में इसके लड्डू बन सकें) खाँड लेकर उसकी चासनी बना कर उसमें उक्त सब चूर्ण मिला कर सुगन्धित करने के लिये इसमें थोड़ा-सा दालचीनी, तेजपत्र, छोटी इलायची तथा कपूर का चूर्ण मिला कर लड्डू बाँधने योग्य घी और शहद डाल कर मोदक बना लें और इन्हें घी के चिकने पात्र में रख दें। इसको 'मदनमोदक' कहते हैं। इनमें अग्निबलानुसार एक या दो मोदक प्रातःकाल शौच-स्नानादि से निवृत्त होकर खाने चाहिये। यह मोदक वात-कफ के विकार, खाँसी, सर्वशूल, वली-पलितरोग, आमवात, संग्रहग्रहणी इन सब रोगों को नष्ट करता है। इसको सदा थोड़ी थोड़ी मात्रा में सेवन करने से भोजन में रुचि तथा पाचन शक्ति में वृद्धि होती है। इस मोदक को नारद ने ब्रह्मा के मुख से सुन कर संसार के स्वामी वासुदेव को

बताया था जिससे श्रीकृष्ण को लाखों स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति प्राप्त हुई थी ?

विशेष वचन—मात्रा दो मासा से तीन मासा तक। 'घृते-नाभर्जितम्' के स्थान पर 'सबीजं घृतभर्जितम्', 'मुस्ता' के स्थान पर 'शृंगी', 'सबीजं भर्जितं तथा' के स्थान पर 'गृहीत्वा स्वल्प-भर्जितम्', 'कर्पूरेणापि वासयेत्' के स्थान पर 'कर्पूरेणाधिवास-येत्' सर्वतन्त्रसम्मत पाठ है।

मोदक बनाने में यदि घी और शहत से ही काम चल जाय तो विना चासनी के भी मोदक बनाये जा सकते हैं। अन्यथा चासनी बनाकर मोदक बनाने में सुविधा रहती है यही व्यवहार भी है ॥ ९२-९९ ॥

मदनाशने कर्पूरादिप्रलेपः—

शशिसूतकटङ्कणमागधिकं घृतशूरणमाक्षिकहेमरसम्।
मुनिपत्ररसप्लुतलेपवरं युवतीमदपातनवश्यकरम् ॥१००॥

कर्पूर, शुद्ध पारद, सुहागा, पिप्पली, घृत, जिमीकन्द, शहत, धत्तूर के पत्तों का रस; प्रत्येक समभाग में लेकर अगस्त्यपत्रस्वरस के साथ खरल में अच्छी तरह घोट कर लेप बना लें। इसको लिंगेन्द्रिय पर लेप करके स्त्रीप्रसंग करने से युवती स्त्री का मद दूर होकर वह पुरुष के वश में हो जाती है।

विशेष वचन—यहाँ पर कोई हेम से नागकेशर और रस से रसौंत का ग्रहण करते हैं। परन्तु नागकेशर तथा रसौंत का स्त्रीद्रावणार्थ क्वचित् ही प्रयोग होता है। धत्तूर इस कार्य के लिए उत्तम होता है। यह स्राव को बन्द कर देता है साथ ही इन्द्रिय में स्तब्धता भी अधिक करता है ॥ १०० ॥

द्रावणे सूतप्रयोगः—

योषागर्भरजः सूतं मधुना सह लेपयेत्।
अवश्यं द्रावयेन्नारीं शुष्ककाष्ठोपमामपि ॥ १०१ ॥

ऋतुकाल में निकलने वाला स्त्रीरक्त अर्थात् आर्तव तथा पारद दोनों को समभाग में लेकर शहत के साथ पीस कर लिंगेन्द्रिय पर लेप करके स्त्रीसंभोग करने पर यह लेप सूखे काठ के समान कामोत्तेजना रहित स्त्री को भी अवश्य स्खलित करता है।

विशेष वचन—योषा के स्थान पर घोषा पाठकल्पना सुगम है। तन्त्रान्तर दर्शन से भी घोषा पाठ उचित प्रतीत होता है। अन्यत्र घोषा ही पाया जाता है, यथा "एकं माक्षिकमिश्रं लेपात् कोषातकीभवं चूर्णम्। योन्यां वराङ्गपाते कुरुते रेतःस्नुतिस्तस्याः" ॥

पुष्पधन्वा रसः—

रम्भाकन्दे हेमताराकंपिष्टी पक्वा यन्त्रे भूधरे तां पचेत।
गन्धं दत्त्वा षड्गुणार्द्धं क्रमेण पश्चात्कान्तं तेन तुल्यं क्रमेण
दत्त्वा खल्ले शाल्मलीयष्टितोयैः पक्षैकं तन्मर्दयेन्नागवल्याः।
नीरैर्यामं पुष्पधन्वा रसः स्याद् वल्लं दद्यादस्य पूर्वोक्तयुक्त्या
पुष्टिं वीर्यं दीपनं सोऽत्र दद्याद्धन्याद्रोगान् रोगयोग्यानुपानैः

स्वर्णभस्म, रजतभस्म, ताम्रभस्म; प्रत्येक एक भाग लेकर खरल में डाल कर केले की जड़ के स्वरस में अच्छी तरह मर्दन कर उसकी पिष्टी या गोला सा बना कर शरावसम्पुट में बन्द करके भूधरयन्त्र में पका लें। स्वांगशीतल होने पर सम्पुट में से औषधि को निकाल कर उसमें त्रिगुण शुद्ध गन्धक मिला कर अच्छी तरह मर्दन करें। अर्थात् जब गन्धक अच्छी तरह मिल जाय पुनः उसमें एक भाग शुद्ध गन्धक मिला कर मर्दन करें। इसके अच्छी तरह मिल जाने पर फिर एक भाग शुद्ध गन्धक मिला कर मर्दन करें। पश्चात् इसमें गन्धक समभाग अर्थात् तीन भाग कान्तलोहभस्म मिला कर पीस लें। अब इस रस को सीमल की छाल और मुलेठी के कषाय की पन्द्रह दिन तक भावना देकर अन्त में एक प्रहर तक पान के पत्तों के स्वरस की भावना देकर सुखा के रख लें। इसे 'पुष्पधन्वा रस' कहते हैं। इस रस को पूर्वोक्त विधि से एक रत्ती प्रमाण मात्रा में लेकर मधु, घृत तथा मिश्री में मिला कर प्रति दिन सेवन कराना चाहिये। यह रस सेवन करने पर शरीर की पुष्टि, वीर्य की वृद्धि तथा अग्नि दीप्ति करता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न रोगों को भी नष्ट करता है।

विशेष वचन—'पक्वा' शब्द का अर्थ यदि परिणति के अतिरिक्त 'पाक' किया जाय तो स्वर्ण आदि तीन द्रव्यों को कदलीकन्दस्वरस से मर्दन कर गोला सा बना केले की जड़ के अन्दर रख बन्द करके एक लघुपुट या कन्द अधिक होने पर गजपुट देनी होगी। पश्चात् उसे कदलीकन्दस्वरस से मर्दन कर भूधरयन्त्र में पकाना चाहिये। इस रस को घी और मधु असमभाग के साथ चटा कर मिश्री मिला हुआ दूध अनुपान के रूप में देना चाहिये ॥

द्रावणे सिन्दूरप्रयोगः—

सिन्दूरमधुनो लेपं लिङ्गस्य कुरुते यदि।
अत्यर्थं रमते नारीं द्रावयेद्वशमानयेत् ॥ १०५ ॥

सिन्दूर को द्विगुण मधु में घोट कर उसका लिंग पर लेप करके पुरुष सम्भोग करने से शीघ्र वीर्यपात न होने के कारण देर तक रमण कर सकता है जिससे स्त्री उस पुरुष के वशमें हो जाती है ॥ १०५ ॥

रसेन्द्रचूडामणिः—

सूतहेमभुजगाभ्रवङ्गकाः कान्ततीक्ष्णविमलाः समाक्षिकाः।
भागवृद्धिमिलिता विमर्दिता धूर्तपत्रविजयासलिलेन ॥
सप्तसप्त चपलाऽमृतवल्ली सारिवासुररताञ्जलतोयैः।
वारिवाहमृतयष्टिकावरीवानरीभुजगदष्ट्यदकेन ॥ १०७ ॥

अर्द्धभागमहिफेनकं न्यसेन्मर्दयेत्सुरसपुष्परसेन।
चन्दनार्ककरहाटपिप्पलीश्रावणीकृतरसैः पृथगेव ॥ १०८॥
कुङ्कुमेन च ततो विभावयेन्नाभिजद्रवयुतं विभावयेत्।
सिद्धिमेति रसराडयं शुभः कामिनोमदविधूननदक्षः ॥
शर्करामधुयुतो द्विमाषकः स्तम्भकृन्निधुवने वनितानाम् ॥
संसेव्य सूतं न च रात्रिभोज्यं कुर्वीत पेयं पय एव चैकम्।
तृतीययामे रससेवनं तु कृत्वा निशायाः प्रहरे व्यतीते ॥
सेवेत कान्तां कमनीयगात्रां घनस्तनीमुज्ज्वलचारुवस्त्राम्।
रत्युत्सुकां कातरलोलनेत्रां विलोलहारावलिमादधानाम् ॥
किं कामे तनुकामिनां मलयजेनावश्यजेनाशु किम् ?
किं चन्द्रेण परोपतापजनिना ? पुंस्कोकिलेनापि किम् ? ॥
सहस्रशः सन्ति यदा तरुण्यो मदालसाः पीनपयोधरा दृढाः
तदा रसेन्द्रः परिषेवणीयो विकारकारी भवतीह नान्यथा ॥

पारदभस्म (रससिन्दूर) एक भाग, स्वर्णभस्म दो भाग, नागभस्म तीन भाग, अभ्रकभस्म चार भाग, वङ्गभस्म पाँच भाग, कान्तलोह भस्म छः भाग, ताप्य (तुत्थभस्म) सात भाग, विमलभस्म (रजतभस्म या रौप्यमाक्षिक भस्म) आठ भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म नौ भाग; लेकर खरल में एकत्र पीस कर, धत्तूरपत्रस्वरस तथा भाँग के पत्तों के स्वरस की सात सात भावना दें। इसी तरह फिर इसे पिप्पली, गुडूची, सारिवा, सुररता (ज्योतिष्मती), छुईमुई, मुस्ता, वाराहीकन्द, मुलेठी, शतावर, कौंच के बीज, नाकुली (सर्पाक्षी); इनके पृथक् पृथक् स्वरस अथवा कषाय की सात सात भावना दें। फिर इसमें एकभागापेक्षया आधा भाग शुद्ध अफीम मिला कर चन्दन, आक, मरुआ, पिप्पली, गोरखमुण्डी के स्वरस अथवा कषाय की पृथक् पृथक् सात सात भावना दें। तदनन्तर केसर के जल की सात भावना दें और अन्त में कस्तूरीजल की सात भावना देकर यह रसराज तय्यार किया जाता है। यह रस कामिनियों के मद को चूर करने में बहुत ही उत्तम है। इसको प्रतिदिन दो मासा मात्रा में लेकर खाँड और शहत के साथ मिला कर सेवन करने से स्त्री के साथ भोग करने में वीर्य का पात नहीं होता है। इस रस को खाकर रात्रि को भोजन नहीं करना चाहिये। केवल दुग्धपान ही करना चाहिये। दिनके तीसरे पहर अर्थात चार या पाँच बजे इस रस की एक मात्रा खाकर फिर जब रात्रि का एक प्रहर बीत जाय अर्थात् औषधि सेवन करने के छः घण्टे बाद, सुन्दरशरीर, कठिनस्तनवाली, स्वच्छ वस्त्र पहिने हुए, रतिक्रीड़ा को उत्सुक, लज्जा के कारण चञ्चल नेत्र, शरीर में चञ्चल हारों को पहिने हुई स्त्री के साथ सम्भोग करे। इस औषधि के सेवन करने पर अल्पवीर्य मनुष्य को यथेच्छ कामशक्ति को उत्तेजित करने वाली मलयाचल की सुगन्धित वायु की तथा शीघ्रकामोत्तेजन करने वाले कर्पूर, कस्तूरी, अम्बर आदि द्रव्यों के सेवन की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। विरहावस्था में अत्यन्त दुख देने वाली (कामोत्तेजना के कारण) चन्द्रमा की किरणों तथा कोयलों के मधुर स्वरयुक्त गायन श्रवणों की भी आवश्यकता नहीं रहती है। सारांश यह है कि कामोत्तेजक अन्य सब उपाय या द्रव्य इस रस के सामने अकिञ्चित्कर हैं। जिस पुरुष को मदोन्मत्त, स्थूल तथा कठिनस्तनवाली हजारों स्त्रियों के साथ भोग करना हो उसे यह 'रसेन्द्रचूडामणिरस' का सेवन करना चाहिये। अन्यथा सम्भोग किये बिना इस रस का सेवन शरीर में विकारों को उत्पन्न करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा दो उड़द भर। यहाँ पर कोई ताप्य तथा माक्षिक से स्वर्णमाक्षिक का ग्रहण करते हुए सोनामाखीभस्म द्विगुण लेने को कहते हैं। विमल शब्दसे रूपामाखीभस्म का ग्रहण करते हैं। परन्तु रजत नाड़ीशैथिल्य को दूर करने में अत्युतम द्रव्य है। अतः विमल शब्द से यहाँ पर टीका में रजतभस्म अर्थ किया गया है। "सारिवासुररताञ्जलतोयैः" यहाँ पर कहीं कहीं "भार्ङ्गिकासुरलताञ्जलितोयैः" पाठ मिलता है ॥१०६–११४॥

कामेश्वरो मोदकः—

सम्यङ्मारितमभ्रकं कटुफलं कुष्ठाश्वगन्धा वचा
मेथी मोचरसो विदारिमुषलीगोक्षूरकेक्षूरकम्।
रम्भाकन्दशतावरी ह्यजमुदा माषास्तिला धान्यकं
यष्टीनागबलाकचूरमदनं जातीफलं सैन्धवम् ॥ ११५ ॥
भार्ङ्गी कर्कटशृङ्गिका त्रिकटुकं द्वे जीरके चित्रकं
चातुर्जातपुनर्नवागजकणाद्राक्षाशटी कट्फलम्।
शाल्मल्यंघ्रिफलत्रिकं कपिभवं बीजं समं चूर्णयेत्
चूर्णार्द्धा विजया सिता द्विगुणिता मध्वाज्यमिश्रं तु तत् ॥
कर्षार्द्धां गुलिकां विलेह्यमथवा कृत्वा च तत्सेवयेत्
पेया क्षीरसिताऽनुवीर्यकरणे स्तम्भेऽप्ययं कामिनाम्।
रामावश्यकरः सुखातिसुखदः प्रौढाङ्गनाद्रावकः
क्षीणे पुष्टिकरः क्षयक्षयकरो नानामयध्वंसकः ॥ ११७ ॥
नित्यानन्दकरो विशेषकविताबाचाविलासोद्भवं
धत्ते सर्वगुणं महास्थिरवयो ध्यानावधानेऽप्यलम्।
अभ्यासेन निहन्ति मृत्युपलितं कामेश्वरो वत्सरात्
सर्वेषां हितकारको निगदितः श्रीनित्यनाथेन सः ॥११८॥

अच्छी तरह शास्त्रोक्त विधि से भस्म किया हुआ निश्चन्द्र अभ्रकभस्म, शीतलचीनी, कूठ, असगन्ध, वचा, मेथी, मोचरस, विदारीकन्द, मुसली, गोखुरु, तालमखाना, केले की जड़ या फल, शतावरी, अजमोदा, उड़द, तिल, धनिया, मुलेठी, नागबला, कचूर, मैनफल, जायफल, सैन्धानमक, भारंगी, काकड़ासिंगी, त्रिकटु, सफेदजीरा, कालाजीरा, चित्रकमूल, चतुर्जात (दानचीनी,

तेजपात, इलायची छोटी, नागकेशर), पुनर्नवामूल, गजपीपल, द्राक्षा, कचूर, कायफल, सीमल की मुसली, त्रिफला, कौंच के बीज का चूर्ण; प्रत्येक समभाग लें । इस मिलित चूर्ण से आधा भाग भाँग का चूर्ण, सब चूर्ण से द्विगुण भाग खाँड लेकर सबको एकत्र मर्दन करें । फिर इसमें गोली या लड्डू बनाने योग्य घी और शहद डाल कर छः छः मासे की गोलियाँ बना लें अथवा चूर्ण ही रहने दें । इसको मधु और घी के साथ चाट लें । इस मोदक को खाने के बाद मिश्री मिला हुआ दूध पीना चाहिये । इससे कामी पुरुषों को पर्याप्त स्तम्भन होता है । यह मोदक कामिनी स्त्री को वश में करने वाला, अत्यन्त आनन्ददायक, प्रौढास्त्री को शीघ्र स्खलित करने वाला, शरीर की क्षीणावस्था में पुष्टिकारक, क्षयरोगनाशक, अनेकरोगनाशक, प्रतिक्षण आनन्दोत्पादक है । इसके सेवन करने के बाद यदि कविता बनाई जाय अथवा व्याख्यान दिया जाय तो उसमें अत्यन्त विशेषता होती है । इसके सेवन से दीर्घायु प्राप्त होती है और किसी दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी विषय पर विचार करने पर मन खूब लगता है और उसमें अच्छी बातें फुरने लगती हैं । यदि इस मोदक का एक वर्ष निरन्तर सेवन किया जाय तो अकालमृत्यु, पलित रोग नष्ट होते हैं । श्रीनित्यनाथ नामक रसाचार्य ने सब लोगों के कल्याण के निमित्त इस रस का वर्णन किया है ।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा १ मासा है । इसको भी चासनी से बना सकते हैं । 'वचा' के स्थान पर 'अमृता' पाठान्तर है । भैषज्यरत्नावली में "सम्यङ्मारितमित्यादि" प्रथम पाद के स्थान पर "चूर्णांशं गगनं घनार्द्धविमलं गन्धश्च कुष्ठामृता' और तृतीय चतुर्थं पाद "रम्भाकन्दशतावरीत्यादि" पाठ के स्थान पर "भीरुश्चैव कशेरुकं यवनिका तालांकुरं धान्यकम् । यष्टी नागवला तिला मधुरिका जातीफलं सैन्धवम् ॥" ऐसा पाठ है । परन्तु रसरत्नाकर के साथ पाठविरोध होने से यह पाठ ठीक नहीं है । यदि इसको पृथक् ही मोदक माना जाय तो कोई हानि नहीं है । कट्फलं' के स्थान पर 'वालकम्' पाठान्तर भी है । "कर्षार्द्धां गुलिकां विलेह्यमथवा कृत्वा च तत् सेवयेत् ।" के स्थान पर "कर्षार्द्धां गुलिकां विधाय विधिना राजा सदा सेवयेत् ।" ऐसा पाठ अथवा "माषैका गुडिका त्रिमायप्रमिता सेव्या सतां सर्वदा ।" पाठ अच्छा और सुगम है ॥ ११५—११८ ॥

स्तम्भने कृकवाकुप्रयोगः—

कृकवाकूग्रपिच्छं तु मुद्रिकाकारकं कृतम् ।
ऊर्णनाभेः सुजालेन वेष्टयित्वाऽथ धारयेत् ॥
वामहस्तकनिष्ठायां नरो वीर्यं न मुञ्चति ॥ ११९ ॥

कुकवाकु (मुर्गा) की पूँछ के ऊपर को उठ कर नीचे की तरफ झुके हुये पंख को लेकर अंगूठी बना लें । अब इसको मकड़ी के जाले से चारों तरफ लपेट कर बांये हाथ की सब से छोटी अँगुली में पहिन कर स्त्रीसम्भोग करने से पुरुष का बहुत देर तक वीर्यपात नहीं होता है ॥ ११९ ॥

कर्पूरादिप्रलेपः—

कर्पूरं टङ्कणं सूतं मुनिपुष्परसं मधु ।
मर्दयित्वा लिपेत्तेन लेपो यावत्तु तिष्ठति ॥ १२० ॥

कर्पूरादिलेपः—

कपूर, सुहागा, शुद्ध पारद, मधु को समभाग में लेकर अगस्त्य के पुष्पों के स्वरस के साथ मर्दन कर (लिंग पर) लेप करने से जब तक लेप लगा रहेगा तब तक पुरुष का वीर्यपात नहीं होगा ॥

पुण्डरीकप्रयोगः—

लिङ्गन्तु पुण्डरीकस्य चूर्णीकृत्य प्रयोजयेत् ।
मधुना तिलकं कृत्वा रेतस्तम्भकरो ह्यलम् ॥ १२१ ॥

पुण्डरीक (सफेद कमल) के लिंग (केसर) को शहत के साथ अच्छी तरह पीस कर उसका माथे पर तिलक लगा कर मैथुन करने पर पर्याप्त समय तक वीर्यपात नहीं होता है ।

विशेष वचन—किसी औषधि के प्रयोग को जब तक पूरी विधि के साथ न किया जाय तब तक यह कहना "कि यह व्यर्थ की कपोल कल्पना है" ठीक नहीं । अतः ऐसी अवस्थाओं में पूर्ण परीक्षा ही सत्यता की द्योतक होती है ॥ १२१ ॥

पूर्णचन्द्रो रसः—

सूतं गन्धं चाश्वगन्धागुडूचीयष्टीतोयैर्वासरैकं विघृष्य ।
क्षुद्रं शङ्खं मौक्तिकं लौहकिट्टं भस्मीभूतं सूततुल्यं हि दद्यात्
भूकूष्माण्डैर्वासरैकं विघृष्य गोलं कृत्वा भूधरे तं पुटेत ।
चूर्णं कृत्वा नागवल्लीरसेन दद्यादेकं मर्दयित्वा च निष्कम्
मध्वाज्याभ्यां पूर्णचन्द्रं रसेन्द्रं पुष्टिवीर्यं दीपनं चैव कुर्यात् ।
योज्यश्चायं पित्तरोगे ग्रहण्यामर्शोरोगे सेवयेत् बोलयुक्तम् ॥
स्त्रीणां तापे शाल्मलीनीरयुक्तं मात्रामानं देशकालं विचिन्त्य

शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक समभाग अर्थात् एक एक तोला लेकर दोनों की कज्जली कर लें । फिर इसको असगन्ध, गुडूची तथा मुलेठी के कषाय के साथ एक दिन तक अच्छी तरह मर्दन करें । अब इसमें शम्बूकभस्म, मुक्तापिष्टी या भस्म, मण्डूर-भस्म; प्रत्येक पारद के समभाग मिला कर विदारीकन्द के स्वरस में एक दिन तक खरल करके गोला सा बना कर उसे भूधरयन्त्र में पका लें । स्वांगशीतल होने पर औषधि को निकाल पान के स्वरस के साथ एक दिन अच्छी तरह मर्दन कर सुखा के शीशी में रख लें । इसमें से एक निष्क मात्रा में लेकर घी और शहत असमभाग के साथ मिला कर प्रातःकाल एक बार दें । इसे 'पूर्ण-

चन्द्ररस' कहते हैं। यह रस सेवन करने पर शरीर की पुष्टि, वीर्य की वृद्धि तथा अग्नि की वृद्धि करता है। इसको पित्तरोगों, संग्रहणी, अर्शोरोग में देना हो तो बोलचूर्ण के साथ मिला कर सेवन कराना चाहिये। स्त्रियों के ताप (रोग-प्रदरयोनिव्यापत्ति आदि) में तथा दाह आदि में इसको सीमल के स्वरस के साथ देशकाल का विचार करते हुए यथोचित मात्रा में सेवन कराना चाहिये।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा एक रत्ती से दो रत्ती तक। 'एकं मर्दयित्वा च निष्कं' के स्थान पर 'एवं मर्दयित्वा दिनैकम्' पाठ अधिक अच्छा है। क्योंकि एक निष्क मात्रा अत्यधिक है। इसी तरह 'पूर्णचन्द्रं रसेन्द्रं' के स्थान पर 'पूर्णचन्द्रो रसेन्द्रः' ऐसी पाठकल्पना उचित है। 'भूकूष्माण्डैः' के स्थान पर 'कूष्माण्डैर्वा' कहीं २ मिलता है परन्तु विदारीकन्द रसायन तथा वाजीकरण द्रव्यों म कूष्माण्ड की अपेक्षा कहीं अधिक गुणकारक है॥

कामदीपनोरसः—

शुद्धं गन्धं वाजिगन्धाश्च यष्टिं माकन्दमिक्षुरकमात्मगुप्ताम्
मध्वाज्याभ्यां शाल्मलीसत्त्वयुक्तां शम्बूकैर्वा भुज्यते वाऽऽज्यमिश्रैः ॥१२६॥

शुद्ध गन्धक, असगन्ध, मुलेठी, पक्वआम्ररस, तालमखाना, कौंच के बीजों का चूर्ण, सीमल की मुसली का चूर्ण प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर असमभाग घृत और मधु के साथ मिला कर सेवन करें। अथवा घृतभर्जित शम्बूकमासरस के साथ सेवन करें।

विशेष वचन—अन्य पुस्तकों में इस पद्य के स्थान पर "एवं चाप्यं वापयित्वा च दद्याद्वा यष्टिमागधीं वाजिगन्धाम्। मध्वाज्याभ्यां शाल्मलीसत्वयुक्तां शम्बूकैर्वा भर्जितैर्वाप्यमिश्रैः॥" पाठान्तर देते हुये इन तीन योगों को कृशताहर माना है॥ १२६॥

मदनजीवनोलेपः—

कर्पूररससंयुक्तं सौभाग्यरससंयुतम्।
लेपाय क्रियते नित्यं नाम्ना मदनजीवनः॥ १२७॥

कपूर तथा पारद को एकत्र पीस कर लेप करने से अथवा सुहागा तथा पारद को एकत्र पीस कर लिंगेन्द्रिय पर लेप करने से कामोत्तेजना जाग्रत होती है और वीर्यस्तम्भन होता है।

विशेष वचन—'सौभाग्यरससंयुतम्' के स्थान पर 'सौभाग्यं रससंयुतम्' पाठ कल्पना ठीक है। किसी २ पुस्तक में ,कर्पूरं रससंयुक्तं सौभाग्यं रससंयुतम्।' पाठ भी मिलता है॥ १२७॥

महाकल्कः (दिव्यामृतरसः)—

धान्याभ्रकं विनिक्षिप्य मुशलीरसमर्दितम्।
स्थाल्यां क्षिप्त्वा निरुध्याऽथ पिधान्या मध्यरन्ध्रया॥
स्थाल्यधो ज्वालयेद्वह्निं यामपर्यन्तमुद्धतम्।
ततः क्षिपेत्पिधान्यां हि व्योम्नस्त्वष्टगुणं पयः॥१२९॥
जीर्णे पयसि पिष्ट्वा तत्तालमूलीरसैः पुनः।
इत्थं हि साधयेद्व्योम त्रिवारमतियत्नतः॥ १३०॥
अजादुग्धैः पुटेत्पश्चाद्वाराणि खलु विंशतिः।
कम्पिल्लकरसेनापि विष्णुक्रान्तारसेन च॥ १३१॥
कदलीकन्दतोयेन तालमूलीरसेन च।
शतवारं पुटेदेवं भवेद्व्योम रसायनम्॥ १३२॥
तद्व्योमभसितं ताप्यभस्म ताम्रस्य भस्म च।
शुल्वभस्म च तत्सर्वं समांशं परिकल्पयेत्॥ १३३॥
भावयेत्सप्तधा निम्बरसैर्लोध्ररसेन च।
केतक्या मार्कवस्यापि कदल्यास्त्रिफलस्य च॥ १३४॥
कोरकस्यापि सारेण तावद्वाराणि यत्नतः।
इति निष्पन्नकल्केऽस्मिंस्तत्समां त्रिफलां क्षिपेत्॥१३५॥
भस्मसूतं सिता व्योषं चित्रकं च पृथक् पृथक्।
मधुना गुटिकाः कार्याः शणेन प्रतिमाः खलु॥ १३६॥
महाकल्क इति ख्यातो दस्राभ्यां परिकीर्तितः।
एकां गोलीं समारभ्य तथैकैकां विवर्द्धयेत्॥ १३७॥
चतुर्गोलकपर्यन्तं मण्डले मण्डले खलु।
सेवितो द्वादशाब्दं तु जरामृत्युविवर्जितः॥ १३८॥
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो दृढदीपनपाचनः।
भीमतुल्यबलः श्रीमान् पुत्रसन्ततिसंयुतः॥ १३९॥
सर्वारोग्यमयो भीमसमानभुजविक्रमः।
सर्वायाससहिष्णुश्च शीतातपसहस्तथा॥ १४०॥
अमन्दसम्पदोपेतः प्रौढस्त्रीरतिरञ्जनः।
दृढसर्वेन्द्रियो भूत्वा जीवेद्वर्षशतत्रयम्॥ १४१॥
श्वासं कासं क्षयं पाण्डुं तथैवाष्टौ महागदान्।
मण्डलार्द्धेन शमयेज्ज्वरादीनां तु का कथा?॥१४२॥
सर्वगोरससंयुक्तं पथ्यं कार्यं रसायने।
रोगोचितमथान्यच्च ददीत खलु रोगिणे॥ १४३॥
संसारसुखमिच्छद्भिः सुखं जीवितुमिच्छुभिः।
नित्यं रसो निषेव्योऽयं दिव्यामृतसमो मतः॥ १४४॥

विशुद्ध धान्याभ्रकचूर्ण को खरल में पड़े हुये मुसलीस्वरस में डाल कर उसके साथ अच्छी तरह मर्दन कर एक हाँडी में भर दें। अब इस हाँडी के मुख पर ऐसा एक ढक्कन रखें जो बीच में छिद्र वाला तथा गहरा भी हो। इस हाँडी को चूल्हे पर रख कर एक पहर की तीव्र अग्नि से पकावें। तदनन्तर इस हाँडी में ढक्कन के छिद्र द्वारा अभ्रक के समभाग गौ का दूध डाल कर पुनः अग्नि से पकावें। इस प्रकार अभ्रक से आठ गुना दूध पका कर फिर आठ गुना मुसलीस्वरस डाल कर पकायें। इस प्रकार तीन

बार अठगुने दूध तथा मुसलीस्वरस में पकावें। तदनन्तर अभ्रक को निकाल कर बकरी के दूध में घोट कर टिकिया बना सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके गजपुट मे फूक दें। इस प्रकार बकरी के दूध की बीस पुट दें। तदनन्तर इसको कमीलास्वरस, अपराजितास्वरस, कदलीकन्दस्वरस तथा मुसलीस्वरस की पृथक् २ बीस २ पुट दें। इस प्रकार सौ पुट दी हुई अभ्रक की भस्म रसायन हो जाती है। अब उक्त प्रकार से बनाई हुई अभ्रकभस्म स्वर्णमाक्षिकभस्म; प्रत्येक एक एक भाग, ताम्रभस्म दो भाग लेकर खरल में डाल कर निम्बपत्रस्वरस या पञ्चाङ्ग की सात भावना दें। तदनन्तर लोध्रस्वरस, केतकी (केवड़ा) पुष्पस्वरस, भाँगरास्वरस, कदलीकन्दस्वरस, त्रिफलास्वरस या कषाय, काकोलीस्वरस या मृणालस्वरस; प्रत्येक की सात २ भावना देकर इसका कल्क-सा बना लें। अब इस कल्क में त्रिफलाचूर्ण, पारदभस्म (रससिन्दूर), मिश्री, त्रिकटुचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण; प्रत्येक कल्क के समभाग मिला कर अच्छी तरह घोट कर शहत के साथ एक एक शाण (चार माशा) की गोलियाँ बना लें। यह अश्विनीकुमारों द्वारा वर्णित 'महाकल्क' के नाम से प्रसिद्ध योग है। इस महाकल्क की प्रथम मण्डल (अर्थात् ४८ दिन) में प्रतिदिन एक एक गोली सेवन करें। द्वितीय मण्डल में प्रतिदिन दो दो गोली, तृतीय मण्डल के अठचालीस दिनों में प्रतिदिन तीन तीन गोली सेवन करें। फिर चतुर्थ मण्डल में प्रतिदिन चार चार गोली सेवन करें। इस प्रकार बारह वर्ष तक प्रतिदिन चार चार गोली सेवन करने से मनुष्य जरा तथा मृत्यु से मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण व्याधियों से मुक्त होकर दृढ़शरीर तथा दीप्ताग्नि हो जाता है। इस कल्क का सेवन करने वाला मनुष्य भीम के समान बलवान्, श्रीमान् तथा पुत्रपौत्रादि सन्ततियुक्त होता है। उसके शरीर में सर्व प्रकार से आरोग्यता होती है, और भुजाओं में भीम के समान पराक्रम होता है। वह मनुष्य सब प्रकार के कठिन श्रम को सहन कर सकता है तथा शीत, उष्ण के दुःखों से विचलित नहीं होता है। वह पूर्ण कामयुक्त होकर स्त्री के साथ सम्भोग करने में सर्वथा समर्थ होता है। सर्व इन्द्रियों में पूर्ण बल के साथ तीन सौ वर्ष तक जीवित रहता है। यह कल्क २४ दिन के सेवन से ही श्वास, कास, पाण्डु तथा आठ महारोगों को शान्त कर देता है तो साधारण ज्वरादि रोगों का तो कहना ही क्या है ? इस रसायन के सेवन करने पर सम्पूर्ण पथ्य-पदार्थ गोरस (गोदुग्ध, घृत, दही, मक्खन, तक्र) युक्त सेवन करने चाहिये। यदि कोई रोगी मनुष्य इसका सेवन करता हो तो उसे अपने रोग के अनुकूल पड़ने वाले अन्य पथ्यपदार्थों का भी सेवन कराया जा सकता है। सांसारिक सुख की इच्छा करने वाले तथा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखने वाले मनुष्यों को इस अमृत सदृश गुणयुक्त रसायन का प्रतिदिन सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—'ताम्रस्य भस्म च' के स्थान पर अन्य पुस्तकों में 'तारस्य भस्म च' पाठ मिलता है। यही पाठ उचित प्रतीत होता है। 'सर्वगोरससंयुक्तं' के स्थान पर 'सर्वं गोरससंयुक्तं' पाठ-कल्पना अच्छी है। वातव्याधि आदि रोगों को महारोग के नाम से लिखा जैसे है—"वातव्याध्यश्मरीकुष्ठमेहोदरभगन्दराः। अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः ॥" किन्तु नारदीयस्मृति में उन्माद, त्वग्दोष, राजयक्ष्मा, श्वास, मधुमेह, भगन्दर, उदर तथा अश्मरी इन रोगों को महारोग के नाम से लिखा है ॥१४४॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये वाजीकरणनिरूपणं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः।

अथ लोहकल्पः।

रसस्य प्राधान्यकीर्तनम्—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रसङ्गतः।
क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधेभ्योऽधिको रसः ॥ १ ॥

सब औषधियों से पारद या रसतन्त्रोक्त औषधियाँ ही अधिक गुणदायक हैं। क्योंकि इनका थोड़ी मात्रा में ही उपयोग होता है। इनको सेवन करने में रोगी को अरुचि भी नहीं होती है जैसे कि अन्य क्वाथ, फाण्ट, चूर्ण, अवलेह आदि के सेवन करने में होती है। इसके साथ ही ये औषधियाँ शीघ्र आरोग्यता प्रदान करती हैं।

विशेष वचन—रस शब्द से यहाँ पर पारद तथा मृत धातुओं का ग्रहण किया गया है। आगे लिखा है कि "मृतानि लोहानि रसीभवन्ति"। धातुओं की अपेक्षा पारद में उक्त गुणों से कहीं अधिक गुण लिखे हैं। पारद धातुओंकी अपेक्षा योगसाधन, बहुकार्यकर तथा मुक्तिप्रद होने से सर्वोत्तम माना जाता है। रसेन्द्र-चिन्तामणि में लिखा है कि—"अचिराज्जायते देवि ! शरीरमजरामरम्। मनसश्च समाधानं रसयोगादवाप्यते ॥ सत्वञ्च लभते देवि ! विज्ञानं ज्ञानपूर्वकम्। सत्यं मन्त्राश्च सिध्यन्ति योऽश्नाति मूलसूतकम् ॥ यावन्न शक्तिपातस्तु यावन्न पाशकृन्तनम्। तावत्तस्य कुतः शुद्धिर्जायते भस्मसूतके ॥ यावन्न हरबीजन्तु भक्षयेत् पारदं रसम्। तावत्तस्य कुतो मुक्तिः कुतः पिण्डस्य धारणम् ॥ स्वदेहे खेचरत्वञ्च शिवत्वं येन लभ्यते ॥"

क्षिप्रमारोग्यदायित्वात्—अन्य औषधियाँ क्रमशः आमाशय, पक्वाशय आदि अङ्गों में जाकर उनके रसों द्वारा परिपक्व होकर शरीर

का अङ्ग बनाती हैं किन्तु पारद शीघ्र ही आमाशय झिल्ली या त्वचा द्वारा शोषित होकर रक्त में मिल कर शरीर का अङ्ग बन जाता है। अतः पारद या उसके योगों के प्रयोग से शीघ्र आराम आ जाता है। यह बात हमें शीतांगसन्निपात, हृदयकार्यावरोध तथा उपदंश आदि रोगों में प्रतिदिन देखने को मिलती है। इन अवस्थाओं में मकरध्वज आदि पारदीय योगों के देने से हृदय तुरन्त अपनी स्थिति में आ जाता है और तापमान बढ़ने लगता है। इसी तरह उपदंश रोग में पारद को बालास्वरस के साथ हथेलियों में मर्दन करने पर शीघ्र ही पारद शोषित होकर उपदंश-कृमियों को नष्ट कर उपदंश में आराम करता है। इससे स्पष्ट होता है कि पारद अन्य औषधियों की अपेक्षा अधिक गुणदायी तथा शीघ्र आरोग्यदायक है ॥ १ ॥

रसभेदाः—

लोहं मृतं कन्दविषं सूतं चेति निगद्यते ॥ २ ॥

रसशास्त्र में मृतलोह अर्थात् भस्म की हुई स्वर्ण आदि आठ धातुयें, कन्दविष (कर्कटसक्तुक आदि विष) तथा पारद और पारदीय योग रस शब्द ग्रहण किये जाते हैं।

विशेष वचन—कन्दविष यहाँ पर उपलक्षण है। इससे संखिया हरताल आदि धातुविष भी लिये जाते हैं। क्योंकि इनके उपयोग से कुष्ठ के सदृश महाभयंकर व्याधियाँ दूर होती है। अत एव युक्तिपूर्वक विषों के प्रयोग से शरीर में रसायनगुणों की प्राप्ति होती है। नानार्थध्वनिमञ्जरी आदिग्रन्थों में विषमात्र को रस शब्द से लिखा है, यथा "शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागद्रवे रसः"।

पानीयकषायविधिः—

कार्यः पानकषायोऽस्मिन् षोडशांशावशेषितः ॥ ३ ॥

लोहकल्प अथवा रसों के सेवन करने में पीने के लिए जो कषाय बनाया जाय वह षोडशांश अवशेष रख कर बनाना चाहिये न कि अन्य कषायों की भाँति चतुर्थांश अष्टमांश शेष कषाय।

विशेष वचन—षोडशांशावशेष कषाय से यहाँ पर शोषण कार्य करने वाले कषाय का ग्रहण किया गया है। तन्त्रान्तर में पाचन, शोधन, क्लेदन, संशमन, दीपन, तर्पण और शोषण भेद से सात प्रकार के कषायों का वर्णन है। उनमें यहाँ पर दूषित रस तथा दोषों का शोषण करके शरीर में नवयौवन कान्ति आदि गुणों को उत्पन्न करने के कारण विशोषिकषाय का ग्रहण करना चाहिये। तन्त्रान्तर में क्वाथों के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं— "पाचनः पच्यते दोषान् दीपनैर्दीप्यतेऽनलः। शोधनो मलशोधी-स्यात् शमनः शमयेद्दरान् ॥ तर्पणस्तर्प्यते धातून् क्लेदी ह्लक्लेद-कारकः। विशोषी शोषमादत्ते तस्मात् क्वाथान् परीक्षयेत् ॥ पाचनोऽर्धावशेषः स्यात् शोधनो द्वादशांशकः। क्लेदनश्चतुरंशस्तु शमनोऽष्टावशेषितः ॥ दीपनीयः षडंशस्तु तर्पणः पञ्चमांशकः। विशोषी षोडशांशश्च क्वाथभेदाः प्रकीर्तिताः" ॥ ३ ॥

स्वर्णशोधनम्—

अथ पञ्चमृदा लिप्तं हेम्नः पत्रं पुटानले।
विपचेत्—

स्वर्ण के कण्टकवेधी पत्रों पर पाँचों मृत्तिकाओं का लेप करके सुखा लें। पश्चात् उन्हें अग्नि में खूब गरम करें या लघुपुट में रख कर फूँक दें तो स्वर्ण शुद्ध हो जाता है।

विशेष वचन—वल्मीकमृत्तिका, घर का धुँआँ, गेरू, ईंट का चूर्ण तथा सैन्धानमक; इनको पञ्चमृत्तिका कहते हैं। इनको जम्बीरी नींबू के रस के साथ घोट कर या काञ्जी से पीस कर स्वर्णपत्र को लीपें और फिर बीस उपलों की (यदि स्वर्णपत्र एक पल प्रमाण हो) पुट देनी चाहिये। एक तोला स्वर्णपत्र के लिए पाँच या सात उपलों की पुट पर्याप्त है, मृतिकाओं का लेप स्वर्ण-पत्र पर तीन दिन किया रहना चाहिये। उसके बाद पुट देनी चाहिये ॥

रौप्यशोधनम्—

—नागमावाप्य रूप्यं चोद्धर्वाग्निना धमेत् ॥ ४ ॥

चाँदी को पिघला कर उसमें समभाग सीसाचूर्ण डाल दें और तीव्राग्नि से तपायें जब तक कि सीसे की भस्म न हो जाय। सीसे की भस्म होने पर चाँदी शुद्ध हो जाती है।

विशेष वचन—चाँदी में सीसा निम्न प्रकार से मिलाया जाता है। एक कड़ाही लेकर उसमें उपलोंकी राख और चूना (Lime) को जल से गीला करके उसके अन्दर के कुछ मध्य भाग को छोड़ कर पलिका बना लें। अब मध्य भाग में चांदी और सीसा समभाग डाल दें। अब कड़ाही को जलते हुए अङ्गारों पर रख धौंकनी से धौंकें। दोनों पिघल जायेंगे। सीसा पिघल कर चाँदी में अल्पांश में मिले हुए ताम्र को अपने में मिला लेगा। ऊपर से थोड़ा थोड़ा सुहागाचूर्ण छोड़ते जायँ और हिलाते जायँ तथा धौंकते जायँ। इस प्रकार सीसा और तांबाभस्म होकर पृथक् हो जायेंगे और केवल मात्र शुद्ध चाँदी पिघली हुई रह जायगी सुहागाचूर्ण तब तक डालना चाहिये जब तक सम्पूर्ण नागभस्म न हो जाय ॥

ताम्रशोधनम्—

स्नुह्यर्कक्षीरलवणक्षाराम्लकृतलेपनम्।
तप्तताम्रस्य निर्गुण्ड्या रसे सिञ्चेत्पुनः पुनः ॥ ५ ॥

थोहर का दूध, आक का दूध, सैन्धानमक, यवक्षार तथा जम्बीरी नीम्बू का रस; सब को समभाग में एकत्र घोट कर इस कल्क का ताम्रपत्रों पर लेप करके सुखा लें। तदनन्तर इनको खूब तपा २ कर सिम्भालू के स्वरस में बुझा दें। इस प्रकार दस बार

लेप करके दस बार निर्गुण्डीस्वरस में बुझाने से ताम्र की शुद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—क्षार से यहाँ यवक्षार, सर्जक्षार तथा टङ्कण तीनों का ग्रहण हो सकता है। रसपद्धति में कहा है—"त्रिक्षारैः पटुभिः स्नुगर्कपयसा क्षीरेण पिष्टैर्यथालाभं चाम्लगणद्रवेण दशधा ध्मात्वा विलिप्यानले। शेफाली सलिलेऽम्लवर्गसलिले निर्वापिता स्वल्पशः।' रसेन्द्रचिन्तामणि में भी यही लिखा है—"स्नुह्यर्कक्षीरलवणकाञ्जिकैस्ताम्रपत्रकम्। लिप्त्वा प्रताप्य निर्गुण्डीरसे सिञ्चेत्पुनः पुनः॥ वारान् द्वादश तत् शुद्ध्येत् लेपात्तापाच्च शोषणात्" ॥ ५॥

नागवंगयोः शोधनम्—

वङ्गनागं रसे तस्मिंस्तन्मूलेनावचूर्णकम् ॥ ६॥

नाग (सीसा) अथवा वंग के पत्रों पर निर्गुण्डीमूलत्वक्कल्क का लेप करके सुखा लें। अच्छी तरह सूखनेके बाद पत्रों को तेज अंगारोंमें द्रुत करके निर्गुण्डीमूलकषाय में बुझा दें। इस प्रकार सात वार करने से नाग अथवा वंग की शुद्धि हो जाती है।

विशेष वचन—नाग और वंग के पत्रों को देर तक अग्नि में रखने से पिघलने लगते है। अतः पिघलने के पूर्व ही इनको निर्गुण्डीकषाय में बुझाना चाहिये। अथवा निर्गुण्डीकषाय में निर्गुण्डीचूर्ण डाल कर उसमें सीसे अथवा रांगे को पिघला कर बुझाना चाहिये ॥ ६॥

कान्तलौहस्य लक्षणम्—

यत्पात्राध्युषिते तोये तैलबिन्दुर्न सर्पति।
तारेणावर्तते यत्तत्कान्तलोहं तु तत्स्मृतम् ॥ ७॥

जिस लोहे के पात्र में एक दिन या दो दिन तक जल भर कर रखने के बाद उस जल में यदि किसी सींक अथवा रूई के फाये से तेल की बूँद डाली जाय और वह बूँद जल में न फैले। अथवा जिस लोहे को चाँदी के साथ पिघलाने पर वह चाँदी के साथ मिल जाय तो उसे कान्तलोह कहा जाता है।

विशेष वचन—इसके विषय में पहिले लोहप्रकरण में पर्याप्त कहा जा चुका है॥ ७॥

कान्तलोहस्य शोधनम्—

अयसामुत्तमं सिञ्चेत्तप्तं तप्तं वरारसे ॥ ८॥

कान्तलोह को अग्नि में गरम करके त्रिफलाकषाय में सात वार बुझाने से वह शुद्ध हो जाता है॥ ८॥

धातूनां सामान्यमारणम्—

एवं शुद्धानि लोहानि पिष्टान्यम्लेन केनचित्।
मृतसूतस्य पादेन प्रलिप्तानि पुटानले॥
पचेत्तुल्यस्य वा ताप्यगन्धाश्महरतेजसः ॥ ९॥

उक्त विधि से शुद्ध किये हुये लोह अर्थात् स्वर्णादि धातुओं के पत्रों पर पारदभस्म अथवा रससिन्दूर को लोह (धातु) से चतुर्थांश लेकर किसी अम्ल द्रव के साथ घोट कर लेप करके लघुपुट या गजपुट में फूँकने से सामान्यतः उनकी भस्म हो जाती है। अथवा लोह के समभाग स्वर्णमाक्षिक गन्धक तथा पारद को नींबू आदि रस के साथ घोट कर धातु के ऊपर लेप करके शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट या गजपुट में फूँकने से धातुओं की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—पारद आदि का लेप करके सम्पुट में रख तब तक पुट देनी चाहिये जब तक धातु की अच्छी तरह भस्म न हो जाय॥ ९॥

स्वर्णमारणम्—

अथवा मृतनागेन स्नुहीक्षीरेण काञ्चनम् ॥ १०॥

अथवा स्वर्ण को पृथक् भस्म करने के लिये, नागभस्म को स्नुही (थोहर) के दूध के साथ घोट कर उसका स्वर्णपत्रों पर लेप करके सुखा कर शरावसम्पुट में बन्द करके लघुपुट देकर भी स्वर्ण की भस्म की जाती है।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में इस स्वर्णभस्मीकरण विधि को कुछ भिन्न रूप में लिखा है। उसके अनुसार शुद्ध स्वर्णपत्र पर अष्टमांश भूनागचूर्ण को किसी अम्ल द्रव के साथ मर्दन कर लेप करके सुखा लें। पश्चात् स्वर्णपत्र के समभाग नागभस्म लें। उसे सम्पुट में स्वर्णपत्रों के नीचे ऊपर रख कर बन्द करके गजपुट देने को लिखा है। परन्तु गजपुट स्वर्ण की अधिक मात्रा होने पर ही अच्छा रहता है—"मृतं नागं स्नुहीक्षीरैरथवाऽम्लेन केनचित्। पिष्ट्वा लेप्यं स्वर्णपत्रं रुद्ध्वा गजपुटे पचेत्॥ आदाय पेषयेदम्लैर्भूनागञ्चाष्टमांशकम्। रुद्ध्वा गजपुटे पच्यात् पूर्वनागयुतं युतम्॥ एवं पुनः पुनः पच्यादष्टधा म्रियते ध्रुवम्" ॥ १०॥

रौप्यमारणम्—

रूप्यं स्नुक्क्षीरताम्राभ्याम्—

रौप्य (चाँदी) की भस्म करने के लिये ताम्रभस्म का थोहर के दूध के साथ घोट कर उसका चाँदी के पत्रों पर लेप करके लघुपुट दी जाती है। इस प्रकार चाँदी की भस्म होने तक उक्त विधि को दुहराया जाता है।

ताम्रमारणम्—

—ताम्रं मूषाम्लगन्धकैः ॥ ११॥

ताम्र की भस्म करने के लिये ताम्रचूर्ण से अर्धांश गन्धक लेकर उसे गोमूत्र और काञ्जी के साथ पीस कर उसका ताम्रपत्र पर लेप करके गजपुट में फूँकना चाहिये। इस प्रकार अच्छी तरह भस्म होने तक इसी विधि को दुहराया जाता है॥ ११॥

वंगमारणम्—

हरितालपलाशाभ्यां वङ्गम्—

हरताल को ढाक के स्वरस के साथ घोट कर उसका वंगपत्रों पर लेप करके पुट देने से वंग की भस्म होती है।

विशेष वचन—योगरत्नाकर में इस क्रिया को तीन बार करने से वंगभस्म होने को लिखा है—"पलाशद्रवयुक्तेन वंगपत्राणि लेपयेत्। तालेन पुटितं भस्म त्रिवारं जायते ध्रुवम्॥" रसरत्नाकर में स्वर्णमाक्षिक के साथ हरताल का लेप करने को लिखा है। "माक्षिकं हरितालञ्च पलाशस्वरसेन च। कृतकल्केन संलिप्य वंगपत्राणि मारयेत्"।

सीसकमारणम्—

—नागं मनोह्वया ॥ १२ ॥

सीसाभस्म करने के लिये सीसकपत्रों के समभाग मैनसिल को लेकर उसे जल से पीस कर नागपत्रों पर लेप करके लघुपुट में फूँक दिया जाता है। इस प्रकार मैनसिल के साथ सीसे को तब तक पुट दी जाती है जब तक कि उसकी ठीक भस्म नहीं हो जाती है।

विशेष वचन—कोई कोई वासापत्रस्वरस के साथ मैनसिल पीस कर लेप करके पुट देने को कहते हैं। इस विधि से कोई हानि नहीं होती है ॥ १२ ॥

वंगस्य मारणान्तरम्—

पारिभद्रस्य च रसेनाऽथवा भर्जयेत्त्रपु ॥ १३ ॥

वंग को एक कड़ाही में डाल कर अग्नि में रख पिघलायें, पिघलने पर उसमें थोड़ा थोड़ा अथवा एक वार ही समभाग पारिभद्र का स्वरस डाल कर पकावें। जब रस सूख जाय तब उसे तीव्र अग्नि देकर लोहे की करछी से चलाते हुये पकाते जायँ जब तक कि उसकी भस्म न हो जाय ॥ १३ ॥

सीसकस्य मारणान्तरम्—

चिञ्चाक्षभिक्षुवीरद्रुबोधिवृक्षैरहिं पुनः।
अहिमाराहिदमनीवासावज्रलतार्जुनैः ॥ १४ ॥

सीसे को एक कड़ाही में डाल चूल्हे पर रख पिघलावें। पिघलने पर उसमें समभाग, इमली की छाल का चूर्ण थोड़ा २ करके डाले और लोहे की करछी से चलाते जायँ। तदनन्तर इसमें समभाग बहेड़ाचूर्ण, गोरखमुण्डीचूर्ण, भिलावाचूर्ण, पीपल वृक्ष की छाल का चूर्ण, विटखदिरत्वक्चूर्ण, नागदौन का चूर्ण, वासापत्रचूर्ण, हाड़जोड़ का चूर्ण, अर्जुन (कौहा) त्वक्चूर्ण क्रमशः समभाग में थोड़ा २ करके डालते जायँ और चलाते जायँ तो सीसे की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—चलाने के लिये तन्त्रान्तर में पलाश का डण्डा लिखा है। 'अहिमाराहि' के स्थान पर रसरत्नाकर में 'बालापामार्ग' पाठान्तर मिलता है। उक्त चूर्णों के साथ सीसे की भस्म हो जाने पर उसमें जल डाल कर उसमें से क्षारीय अंश निकाल कर पुनः मैनसिल की एक या दो पुट देनी चाहिये ॥ १४ ॥

लौहमारणम्—

स्त्रीस्तन्ये हिंगुलेनायः पचेल्लिप्त्वा पुटेऽनले ॥ १५ ॥

स्त्री के दूध में हिंगुल को घोट कर उसका लौहपत्रों पर लेप करके सुखा लें। अब इन पत्रों को सम्पुट में बन्द करके गजपुट में फूँकने से लोह की भस्म हो जाती है। इस प्रकार ठीक भस्म होने तक बराबर पुट देनी चाहिये।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में हिंगुल और लोह की मात्रा तथा मर्दनार्थ द्रवों का भी वर्णन किया है, यथा—"हिंगुलस्य पलान् पञ्च नारीस्तन्येन पेषयेत्। तेन लोहस्य पत्राणि लेपयेत् पलपञ्चकम्॥ रुद्ध्वा गजपुटे पच्यात् कषायैस्त्रैफलैः पुनः। जम्बीरैरारनालैर्वा विंशत्यंशेन हिंगुलम्॥ पिष्ट्वा रुद्ध्वा पुटेल्लौहं तथैव पाचयेत्पुनः। चत्वारिंशत्पुटैरेवं कान्तं तीक्ष्णं च मुण्डकम्॥ म्रियते नात्र सन्देहः दत्त्वा दत्त्वा च हिंगुलम्॥" हिंगुल के साथ लोह को तब तक पुट दी जाती है जब तक कि लोह की पूर्ण भस्म न हो जाय ॥ १५ ॥

असम्यङ्मारितलोहस्य लक्षणम्—

सर्वमेव मृतं लोहं सोत्थानं यदि सेवनात्।
शूकवर्णाभकण्ठत्वक्स्फोटाऽरुचिविबन्धकृत् ॥ १६ ॥

यदि भस्म की हुई धातुओं की भस्म सेवन करने से गले के भीतर झिल्ली में कृष्णवर्णता, त्वचा में स्फोट और भोजन में अरुचि तथा मलबन्ध कर दें तो समझना चाहिये कि यह निरुत्थ (फिर न जीने वाली) भस्म नहीं है।

विशेष वचन—धातुओं की भस्म जब भस्मीकरण विधान से बिलकुल सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु अवयव में विभक्त हो जाती है तो वह शीघ्र ही आशय की झिल्ली द्वारा शोषित होकर रक्त में मिल जाती है। अन्यथा स्थानिक स्थिति पाकर वहाँ की रसक्रिया तथा गति में बाधा पहुँचाती हुई अरुचि विबन्ध का कारण बनती है। इसका जो अविश्लेषित अंश रक्त में चला जाता है वह कहीं सञ्चित होकर रक्तविकार तथा स्फोट उत्पन्न करता है ॥ १६ ॥

निरुत्थलोहस्य लक्षणम्—

पक्वं यावन्निरुत्थानं सेव्यं वारितरं हि तत् ॥ १७ ॥

सम्यक् रूप से भस्म की हुई धातु जब पूर्णरूप से जल

तैरने लगे तो उसे निरुत्थभस्म समझना चाहिये। इसके सेवन करने से कोई हानि या विकार उत्पन्न नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

निरुत्थलौहस्य परीक्षा—

कान्ते पुनः कलाभागताप्ये सक्षौद्रसर्पिषि।
क्षिप्तमावर्तितं तारं स्वप्रमाणं भवेद्यदि ॥
जानीयात्तन्निरुत्थानम्— ॥ १८ ॥

कान्तलौह की भस्म में सोलहवाँ भाग स्वर्णमाक्षिकभस्म मिला लोहभस्म के बराबर या आधा भाग रजत डाल कर मधु और घृत के साथ मूषा में तपावें। रजत के पिघल जाने पर मूषा को नीचे उतार कर ठंडा करके देखें। यदि चाँदी जितनी मात्रा में डाली गयी थी उतनी ही पूरी निकले तो समझना चाहिये कि कान्तलौह की भस्म निरुत्थ है। अन्यथा वह उत्थान युक्त समझनी चाहिये।

विशेष वचन—रसरत्नाकर में लौहपरीक्षा में स्वर्णमाक्षिक नहीं ली गई है, यथा 'मध्वाज्यमृतलौहञ्च सरूप्यं सम्पुटे पचेत्। रुद्ध्वाऽऽध्माप्य तु संग्राह्यं रूप्यञ्च पूर्वमानकम्॥ तदा लौहं मृतं विद्यादमृतं मारयेत् पुनः' ॥ १८ ॥

अनिरुत्थलौहस्य पुनर्मारणम्—

—सोत्थानञ्च मुहुर्मुहुः।
त्रिफलाक्वाथसंपृक्तं विपचेत्पुटपावके ॥ १९ ॥

जीवित होने वाली लौहभस्म को पुनः त्रिफलाकषाय के साथ घोट कर टिकिया बना सम्पुट में बन्द करके तब तक पुट देनी चाहिये जब तक कि वह निरुत्थरूप में भस्म न हो जाय ॥ १९ ॥

प्रथमद्वितीयलोहकल्पौ—

हेम्नो रूप्यस्य वा भस्म वरीभृंगाम्बुभावितम्।
गुञ्जाप्रमाणं त्रिफलासितामध्वाज्यमिश्रितम् ॥
बृंहणं वृष्यमायुष्यं कामलापाण्डुकुष्ठजित् ॥ २० ॥

स्वर्ण अथवा रजत की भस्म को शतावरी और भृंगराज के स्वरस की पृथक् सात भावना देकर सुखा कर रख लें। इसमें प्रतिदिन एक रत्ती प्रमाण मात्रा में प्रतिदिन त्रिफलाचूर्ण, मिश्री, मधु तथा घृत के साथ मिला कर सेवन करना चाहिये। यह कल्क बृंहण (शरीर को पुष्ट करने वाला), वृष्य (पुंस्त्व शक्ति को बढ़ाने वाला), दीर्घजीवनप्रदायक, कामला-पाण्डु तथा कुष्ठ रोगों को नष्ट करता है।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्तीसे $\frac{1}{2}$ रत्ती तक। कल्पों के अनुसार धातुभस्मों को रुग्णावस्था तथा स्वस्थावस्था में सेवन किया जा सकता है। परन्तु रुग्णावस्था में वैद्य की अनुमति लेना अधिक अच्छा है ॥ २० ॥

तृतीयलोहकल्पः—

गन्धकेन समांशेन प्राग्वत्ताम्रं च मारितम्।
धान्याभ्रकं च तुत्थं च दशनिष्कं पृथक्पृथक् ॥ २१ ॥
भावितं मातुलुंगाम्लेनाऽऽर्द्रकस्य रसेन च।
ताम्रं सोष्णोदकं गुल्मप्लीहशूलामवातजित् ॥ २२ ॥

समभाग गन्धक द्वारा ताम्रभस्मीकरण विधि से ताम्रभस्म बना कर अर्थात् गन्धक और ताम्रपत्र समभाग लेकर पहिले गन्धक को गोमूत्र तथा बिजौरा नींबू के स्वरस के साथ घोट कर इसका ताम्रपत्रों पर लेप करके सुखाने के बाद सम्पुट में बन्द करके गज पुट में फूंक देना, उसमें (दस निष्क में) धान्याभ्रकभस्म, तुत्थभस्म प्रत्येक दस दस निष्क प्रमाण लेकर बिजौरा नींबू तथा अदरख के स्वरस में पृथक् पृथक् सात भावना देकर सुखा लें। इसमें से उचित प्रमाण में अथवा एक रत्ती प्रमाण में गरम जल से सेवन करने से गुल्म, प्लीहा, शूल तथा आमवात रोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—यहाँ पर ताम्र धातु की प्रधानता को लेकर अभ्रक आदि के होते हुये भी 'ताम्रं सोष्णोदकं' लिखा है। कोई ताम्रभस्म, अभ्रकभस्म तथा तुत्थभस्म का एक योग मानते हैं। 'भावितम्' इत्यादि से द्वितीय योग मानते हैं। द्वितीय योग के गुण गुल्म आदि नाशक हैं। प्रथम योग के गुण प्राग्वत् अर्थात् बृंहण, वृष्य आदि माने जाते हैं ॥ २१-२२ ॥

ताम्रद्रुतिसंज्ञकचतुर्थो लोहकल्पः—

आर्द्रालकुचभृङ्गाणां रसपिष्टेन कस्यचित्।
गन्धकेन समांशेन प्राग्वत्ताम्रं च मारितम् ॥ २३ ॥
कञ्चुकस्थमिह त्रिंशत्कर्षं चूर्णितगन्धकम्।
दत्त्वाऽल्पशोऽग्निनाऽल्पेन दत्त्वा धूमं विसर्जयेत् ॥
प्रस्थाम्बुमर्दितस्यास्य प्रसादान्निःसृतं युतम्।
तुत्थनीलशिलाजाभ्यां कर्षांशाभ्यां विशोषयेत् ॥२५॥
ताम्रद्रुतिरियं साज्यमानुषीक्षीरमाक्षिका।
काचार्मपिल्लाभिष्यन्दव्रणशुक्रगतिप्रणुत् ॥
तत्किट्टं दद्रुकिटिमपामादींल्लेपनाज्जयेत् ॥ २६ ॥

शुद्ध ताम्रपत्र तथा गन्धक दोनों समभाग लें। पहिले गन्धक को अदरख, लकुच तथा भाँगरा इन तीनों में से किसी एक स्वरस में घोट कर ताम्रपत्रों पर लेप करके सुखा कर सम्पुटमें बन्द करके ताम्रभस्मीकरण विधि से ताम्र की भस्म कर लें। फिर इस भस्म हुये (न कि पूर्णरूप से भस्म हुये) ताम्र की तीस कर्ष मात्रा लेकर एक गहरी कड़ाही में डाल कर उसमें एक या दो कर्ष गन्धकचूर्ण डाल कर चूल्हे पर चढ़ा मन्द मन्द अग्नि दें और कड़ाही को एक पात्र से अच्छी तरह बन्द कर दें। जब गन्धक जल कर कड़ाही धुँएँ से भर जाय तो ढक्कन को उठा कर धुँवाँ बाहर

निकाल दें और फिर गन्धक डाल कर बन्द करके पकावें। इस प्रकार तीस कर्ष गन्धकचूर्ण का जारण करके कढ़ाईको नीचे उतार उसमें एक प्रस्थ स्वच्छ जल डाल कर अच्छी तरह मर्दन करके एकान्त स्थान में रख दें। जब स्वच्छ जल ऊपर आ जाय तो उसे नितार कर रख लें और उस जल में शुद्ध तुत्थ, मैनसिल का चूर्ण एक एक कर्ष मिला कर घोट कर धूप में रख के सुखा लें। इस प्रकार यह 'ताम्रद्रुति' तय्यार होती है। इसमें शुद्ध घृत, स्त्री का दूध और मधु मिला कर घोट कर गीला काजल सा बना लें। इसको आंखों में लगाने से काच, अर्म, पिल्ल, अभिष्यन्द (आँख दुखना), नेत्रव्रण, शुक्र तथा नेत्रनाड़ीव्रण रोग दूर होते हैं। जल नितारने के बाद बचा हुआ किट्ट, दाद, किटिम कुष्ठ, पामा आदि रोगों पर लेप करने से उनको शान्त करता है।

विशेष वचन—इसका वर्णन पहिले आ चुका है और इस पर वक्तव्य भी वहीं लिखा गया है॥ २३-२६॥

पञ्चमलोहकल्पः—

मारितं त्रपुसीसं वा हारिणं शृङ्गमाकुली।
कार्पासवासितं तक्रं माहिषं च प्रमेहजित्॥ २७॥

वंगभस्म, शीशकभस्म, शृंगभस्म, अंकोलबीजचूर्ण; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर कपास फूलों से वासित भैंस के तक्र के साथ सेवन करावें। इसके सेवन से सब प्रकार के प्रमेह शान्त होते हैं।

विशेष वचन—रसरत्नाकर के पाठानुसार यहाँ पर आकुली से अंकोलबीज का ग्रहण किया गया है। कहीं कहीं प्रमेहनाशनार्थ आकुलीमुकुट अर्थात् आम्र की कली या पुष्प का ग्रहण किया गया है। योगरत्नाकर में प्रमेहचिकित्सा में इसको स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "आकुलीमुकुलं धात्री हरिद्रा मधुना लिहेत्। विंशतिश्च प्रमेहाणां हन्ति सद्यो न संशयः॥" इस लोहकल्प को रसरत्नाकर में 'मृगमालारस' के नाम से लिखा है, यथा "मारितं त्रपुषं सीसं सुदग्धं मृगशृङ्गकम्। कार्पासबीजमज्जा च तुल्यमङ्कोलबीजकम्॥ पेषयेन्महिषीतक्रैर्दिनैकं बटकीकृतम्। माषद्वयं सदा खादेत् मृगमाला-प्रमेहजित्॥ अक्षपाठाभयादार्वीकषायमनुपाययेत्॥" इसमें कपास-पुष्पवासित तक्र का अनुपान न देकर तक्र के साथ पीस कर गोली बनाना बताया गया है और बहेड़ा, पाठा, हरड़ तथा दारुहल्दी का कषाय अनुपान बताया है॥ २७॥

षष्ठलोहकल्पः—

नवनवतिस्त्रिफलाया मृतस्य नागस्य शततमो भागः।
दार्व्याकुलीफलत्रयकनकजलप्रस्थपेषितं निखिलम्॥२८॥
शतगुलिकाप्रमितं तत्पीतं तक्रेण मेहहरम्।
पिबतः कषायमभयादार्व्यक्षसमांशपाठायाः॥२९॥

हरीतकीचूर्ण ३३ भाग, बहेड़ाचूर्ण ३३ भाग, आँवलाचूर्ण ३३ भाग, सीसे की भस्म एक भाग लेकर सबको एकत्र करके खरल में दारुहल्दी, अंकोलबीज, त्रिफला तथा धतूरा इन सब के मिलित एक प्रस्थ कषाय में घोट कर सौ गोलियाँ (देश काल आयु आदि का विचार कर) बना लें और छाया में सुखा लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली तक्र के साथ सेवन करें। अनुपान के रूप में हरीतकी, दारुहल्दी, बहेड़ा तथा पाठा का कषाय सेवन करें तो प्रमेह रोग दूर हो जाता है।

विशेष वचन—कषाय बनाने में हरीतकी आदि एक एक भाग और पाठा तीन भाग लेनी चाहिये॥ २८-२९॥

सप्तमलोहकल्पः—

कृष्णलोहेन योक्तव्यो बालेनोपचितो हि सः।
कुमारयूनमध्ये तु वरमध्यावरे क्रमात्॥
एकद्वित्रिगुणात्कालादुपयुक्तं गुणावहम्॥ ३०॥

यदि उक्त षष्ठलोहकल्प को मृदुपाक युक्त कृष्णलोहभस्म के साथ मिला कर प्रयोग किया जाय तो यह और भी गुणावह होता है। इसके सेवन करने में अवस्था के अनुसार एक दिन, दो दिन और तीन दिन का आँतरा (Interval) देना पड़ता है। अर्थात् एक दिन छोड़ कर सेवन करने में यह श्रेष्ठ गुणदायक, दो दिन छोड़ कर मध्यगुणदायक और तीन दिन छोड़ कर सेवन करने पर यह हीनगुणदायक होता है। और इसका प्रयोग कुमारावस्था में श्रेष्ठ युवावस्था में मध्यम तथा मध्यमावस्था में अवर (अश्रेष्ठ) होता है। अतः इसको एक दिन छोड़ कर ही सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—यहाँ पर यदि चिकित्सक उचित समझें तो "बाले बाल्यावस्थायां स षष्ठो लोहकल्पः कृष्णलोहेन उपचितो युक्तः न योक्तव्यः न प्रयोजनीयः।" ऐसा अर्थ करके इसको स्पष्ट कर सकते हैं। इस अर्थ से बालक को मृदुपाकयुक्त लोह देना चाहिये ऐसा पाठ करना पड़ेगा। साथ ही कुमारयून इत्यादि सम्पूर्ण पद्य को "कुमारयूनोर्मध्ये तु वरो मध्योऽवरः। क्रमात् एकद्वित्रिगुणात् कालादुपयुक्तो गुणावहः॥" इस तरह पढ़ा जाय तो और भी सुगम तथा सरल हो जाता है॥ ३०॥

शूलेऽष्टमलोहकल्पः—

एरण्डवह्निशम्बूकवर्षाभूव्योषसैन्धवम्।
अन्तर्धूमं विदह्यायश्चूर्णं सोष्णाम्बु शूलजित्॥३१॥

एरण्डमूलत्वक्, चित्रकमूलत्वक्, शम्बूकचूर्ण, पुनर्नवामूलचूर्ण, त्रिकटुचूर्ण और सैन्धानमक तथा लोहभस्म; सब समभाग में लेकर सबको एक हाँडी में बन्द करके अन्तर्धूम पुटपाक कर लें। स्वांग-

शीतल होने पर निकाल पीस कर उचित मात्रा में गरम जल के साथ देने से शूलरोग शान्त होता है।

विशेष वचन—वंगसेन आदि कतिपय पुस्तकों में बिना लोह के ही यह योग लिखा है। परन्तु वह इससे भिन्न समझना चाहिये। लोहकल्पप्रकरण में लोह बिना योग किसी तरह युक्तिसंगत नहीं होता है, और कहीं कहीं 'अन्तर्धूमविदग्धायश्चूर्णम्' ऐसा पाठ भी मिलता है जो सर्वथा अशुद्ध प्रतीत होता है॥

जीर्णज्वरादौ नवमलोहकल्पः—

त्रिफलामृतनिर्गुण्डीमेघनादपुनर्नवा।
कासमर्दालिधुस्तूरवज्रिणीनां रसैरिदम्॥ ३२॥
भावितं गुडमध्वाज्यैर्जलतक्रानुपायिनः।
स्वल्पक्षीररसांशस्य हन्याज्जीर्णज्वरं क्षयम्॥
कुष्ठास्थिस्रावपाण्डवर्शःपक्तिशूलप्लिहामयान्॥ ३३॥

यदि इस अष्टमलोहकल्प को त्रिफला, गुडूची, निर्गुण्डी, चौलाई, पुनर्नवा, कसौंदी, भृंगराज, धत्तूरा और थोहर के स्वरस अथवा कषाय से पृथक् पृथक् सात सात भावना देकर गुड मधु तथा घृत में मिला प्रतिदिन सेवन किया जाय और सजल तक्र का अनुपान कराया जाय तो यह कल्प अथवा रसायन जीर्णज्वर, क्षय, कुष्ठ, अस्थिस्राव (नाड़ीव्रण), पाण्डु, अर्श, पक्तिशूल (परिणामशूल) और प्लीहारोगों को दूर करता है। इसके सेवनकाल में दुग्ध और मांसरसके साथ भोजन करना चाहिये।

विशेष वचन—थोड़ा सा दूध अथवा माँसरस भी इसका अनुपान किया जा सकता है॥ ३२—३३॥

क्षयादौ दशमलोहकल्पः—

बाकुचीनिम्बपञ्चाङ्गं वेल्लचित्रककवत्सकम्।
पथ्यानागरशम्पाकगुडूचीकटुकीफलम्॥ ३४॥
खदिरासनसारेण भावितं लोहभस्म च।
कर्षमात्रं समध्वाज्यं क्षयकुष्ठनिषूदनम्॥ ३५॥

बावची, निम्बपञ्चाङ्ग, वायविडंग, चित्रक, कुटजत्वक्, हरीतकी, सौंठ, अमलतास, गुडूची, कटुकी, मैनसिल तथा लोहभस्म; प्रत्येक समभाग लेकर चूर्ण कर लें। इसमें एक भाग खदिर तथा विजैसार के कषाय में पृथक्२ सात भावना देकर खरल कर लें। अब इस चूर्ण में से एक कर्ष मात्रा में लेकर मधु तथा घृत के साथ मिला प्रतिदिन सेवन कराने से क्षय, कुष्ठ रोग दूर होते हैं॥

विविधरोगे एकादशलोहकल्पः—

गुडस्य कुडवे पक्वं लोहभस्म पलोन्मितम्।
कोलप्रमाणं रोगेषु तैस्तैर्योगैः प्रयोजयेत्॥ ३६॥

एक कुडव गुड के पाक (चासनी) में एक पल लोहभस्म मिला कर कुछ पका कर अवलेह सा कर लेवें। इसमें से प्रतिदिन एक कोल (करीब ५ मासा) मात्रा में भिन्न २ रोगहर अनुपानों के साथ प्रतिदिन प्रयोग करने पर यह योग भिन्न भिन्न रोगों में लाभ करता है॥ ३६॥

यक्ष्मादौ द्वादशलोहकल्पः—

व्योषादिनवकस्यांशस्तथांशो लौहभस्मनः।
अंशोऽश्मजतुनः खण्डस्याष्टौ सर्वं समाक्षिकम्॥
कान्तपात्रगतं यक्ष्मज्वरापस्मारघस्मरम्॥ ३७॥

व्योषादिनवक (सौंठ, मिरच, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आँवला, चित्रक, वायविडंग, नागरमोथा) चूर्ण का मिलित एक भाग, लोहभस्म एक भाग, शुद्ध शिलाजीत एक भाग, खाण्ड आठ भाग, सब को एक काँसे के पात्र में शहत मिला कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर प्रतिदिन सेवन करने से राजयक्ष्मा ज्वर, अपस्मार रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—यहाँ पर व्योषादि नवक से कोई चक्रदत्त के यक्ष्माधिकार में लिखे हुये विन्ध्यवासियोगोक्त "व्योषं शतावरी, त्रीणि फलानि द्वे बले तथा।" इन नौ औषधियों का ग्रहण करते हैं। ये औषधियाँ त्रिकत्रय की अपेक्षा अधिक बल्य हैं॥ ३७॥

जरादौ त्रयोदशचतुर्दशलोहकल्पौ—

निम्बसारत्रिमधुरत्रिफलालोहगन्धकम्।
चूर्णमर्जुनपत्र्या वा सभृंगत्रिफलायसम्॥
सेवितं मधुसर्पिर्भ्यां जरावैरूप्यनाशनम्॥ ३८॥

निम्बसार (नीम का स्वरस अथवा गोंद), त्रिमधुर (घी गुड़ तथा शहद) लोहभस्म, त्रिफलाचूर्ण और शुद्ध गन्धक को समभाग में लेकर एकत्र चूर्ण कर लें। इसमें से उचित मात्रा में घी और शहत के साथ प्रतिदिन सेवन करने से अथवा अर्जुन वृक्ष के कोमल पत्तों का चूर्ण, भृंगराजचूर्ण, त्रिफलाचूर्ण तथा लोहभस्म समभाग में लेकर चूर्ण करके उचित मात्रा में सेवन करने से (शहत और मधु के साथ) बुढ़ापे से होने वाले विकार शान्त होते हैं॥ ३८॥

अम्लपित्तादौ पञ्चदशलोहकल्पः—

मधुकं मृतलोहं च धात्री च त्रिगुणोत्तरम्।
रसेन भावितं छिन्नरुहायाः साज्यमाक्षिकम्॥ ३९॥
सेवितं भोजनस्यादौ वातपित्तामयाञ्जयेत्।
मध्ये विष्टम्भमन्तेऽम्लपित्तं शूलं च पक्तिजम्॥ ४०॥

मुलेठीचूर्ण एक भाग, लोहभस्म तीन भाग, आँवलाचूर्ण नौ भाग लेकर सब को एकत्र खरल में गुडूचीस्वरस से भावित कर (सात बार) सुखा लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर घी और शहत के साथ भोजन के पूर्व प्रतिदिन सेवन करें तो वायु तथा पित्त के रोग शान्त होते हैं। यदि इस योग को भोजन के

मध्य में सेवन किया जाय तो कब्ज दूर होता है। और यदि भोजन के अन्त में इसे सेवन किया जाय तो अम्लपित्त तथा परिणामशूल शान्त होता है।

विशेष वचन—सिद्ध योग में इस योग को 'धात्रीलोह' के नाम से लिखा है। परन्तु मधुकादि के भागों में भिन्नता पाई जाती है, यथा "धात्रीचूर्णस्याष्टौ पलानि चत्वारि लौहचूर्णस्य। यष्टीमधुकरजश्च दद्याद् द्विपलं पटे घृष्टम्। अमृताक्वाथेनैतच्चूर्णं भाव्यञ्च सप्ताहम्" ॥ ३९–४० ॥

ग्रहण्यादौ षोडशलोहकल्पः—

भल्लातकसहस्राभ्यां त्रिफलामुस्तचित्रकैः।
हस्तिपिप्पल्यपामार्गसहदेवीकुठेरकैः ॥ ४१ ॥
कणमूलाऽमृताचव्यैर्द्रोणेऽपां कुडवोन्मितैः।
पक्वे पादस्थे लोहस्थे तुलार्द्धं तीक्ष्णलोहतः ॥ ४२ ॥
मणिकां च घृतात्पक्त्वा विडङ्गं चित्रकत्वचम्।
त्रिफला पञ्चलवणं त्र्यूषणं च पृथक् पलम् ॥ ४३ ॥
पलानि सूरणस्याष्टौ वाराह्या वृद्धदारकात्।
चतुष्पलं पुष्परसस्यार्द्धप्रस्थं च निक्षिपेत् ॥ ४४ ॥
प्रातर्भोजनकाले वा लीढमेतद्रसायनम्।
निहन्ति च ग्रहण्यर्शःशूलगुल्मकृमिक्षयान् ॥ ४५ ॥

परिपक्व भिलावे दो हजार (नग), त्रिफला, नागरमोथा, चित्रक, हस्तिपिप्पली, अपामार्ग, सहदेवी, तुलसी, पिप्पलीमूल, गुडूची तथा चव्य; प्रत्येक एक एक कुडव परिमाण लेकर जौकुट करके एक द्रोण जल में डाल कर कषाय बनावें। जब चतुर्थांश कषाय अवशेष रहे तब उसे उतार कर छान लें। अब इस कषाय को एक लोहपात्र या कड़ाही में डाल कर इसमें आधी तुला अर्थात् पचास पल तीक्ष्णलौह की भस्म और गो का घृत एक माणिका डाल कर पकावें। इनके उत्तम प्रकार से पक जाने पर उसमें विडंगचूर्ण, चित्रकमूलचूर्ण, त्रिफलाचूर्ण, पाँचों नमक, त्रिकटुचूर्ण; प्रत्येक एक एक पल, जिमीकन्दचूर्ण आठ पल, वाराहीकन्द का चूर्ण आठ पल, वधायरे की मूल का चूर्ण चार पल मिला दें और नीचे उतार लें। जब अच्छी तरह ठंडा हो जाय तो इसमें आधा प्रस्थ शुद्ध मधु मिला दें। इसमें से प्रतिदिन उचित मात्रा में प्रातःकाल अथवा भोजन के समय सेवन करने से संग्रहणी, अर्श, शूल, गुल्म, कृमिरोग तथा क्षय रोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—इस योग को चक्रदत्त अथवा सिद्धयोग में भल्लातक लौह संज्ञा दी गई है। 'सहदेवी' के स्थान पर सिद्धयोग में 'दण्डोत्पला' पाठ मिलता है। इसी तरह 'वाराह्याः' के स्थान पर 'तालमूल्याः' पाठ मिलता है। अन्यत्र पञ्चलवणों के स्थान पर लवणचतुष्टय लिया गया है ॥ ४१–४५ ॥

क्षयादौ खण्डखाद्याख्यसप्तदशलोहकल्पः—

वासाभार्ङ्ग्यमृताऽभीरुवचाखदिरपुष्करैः।
मुषलीभिक्षुकोरण्टैः सूर्पे चापां च मुष्टिकैः ॥ ४६ ॥
पक्वेऽष्टशिष्टे ताम्रस्थे प्रस्थांशे खण्डसर्पिषी।
ताप्येन रुक्मलोहस्य हतस्याप्यञ्जलित्रयम् ॥ ४७ ॥
पक्वेऽस्मिँल्लेहतां याते कुस्तुम्बुरु शिलाजतु।
शृङ्गीविडङ्गत्रिफलाजातीफलकटुत्रिकम् ॥ ४८ ॥
चातुर्जातं च शुक्त्यंशं प्रस्थार्द्धं च मधु क्षिपेत्।
खण्डखाद्यमिदं लीढं कर्षमात्रं रसायनम् ॥ ४९ ॥
क्षीरानुपस्य क्षपयेत्क्षयकासारुचिक्लमान्।
शीतपित्ताम्लपित्तास्रवातपित्तास्रकामलाः ॥
कुष्ठमेहप्लिहानाहकार्श्यं शूलं च पक्तिजम् ॥ ५० ॥

वासा, भारंगी, गिलोय, शतावरी, वचा, खदिरकाष्ठ, पुष्करमूल, मुसली, मुण्डी, पियावांसा; प्रत्येक एक एक पल प्रमाण में लेकर जौकुट करके एक सूर्प(दो द्रोण) जल म डालकर पकावें। जब जल अष्टमांश शेष रह जाय तो इसे उतार कर छान लें। तदनन्तर इस कषाय को एक शुद्ध ताम्रपत्र (कलई किए हुए) में डाल उसमें एक प्रस्थ खांड और एक प्रस्थ गौ का घृत तथा स्वर्ण माक्षिक द्वारा भस्म किया हुआ कान्त लोह तीन अञ्जलि अर्थात् ४८ तोला मिला कर मन्द मन्द अग्नि से पकावें। जब लोह पकता हुआ अवलेह (चटनी) सा बनने लगे तब इसमें धनियां, शुद्ध शिलाजीत, काकड़ासिंगी, वायविडंग; त्रिफला, जायफल, त्रिकटु, चतुर्जातक (दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेसर) का चूर्ण; प्रत्येक एक शुक्ति (२ तोला) मिला कर नीचे उतार लें। अच्छी तरह शीतल हो जाने पर इसमें आधा प्रस्थ शुद्ध मधु मिला कर एक स्निग्धपात्र में रख लें। इसे 'खण्डखाद्य अवलेह' कहते हैं। इस रसायन को एक कर्ष मात्रा में सेवन करना चाहिए। इस रसायन को दूध के साथ सेवन करने वाले मनुष्य के क्षय, कास, अरुचि, क्लम, शीतपित्त, अम्लपित्त, वातपित्त, रक्तविकृति, कामला, कुष्ठ, प्रमेह, प्लीहा, आनाह (कब्ज), कृशता, परिणाम शूल रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—आधुनिक मात्रा ३ मासा सिद्धयोग तथा भैषज्यरत्नावली आदि ग्रन्थों में इस योग को 'खण्डकाद्यलोह' के नाम से लिखा है। अन्यत्र क्वाथ के लिये एक द्रोण जल लिया गया है। एक द्रोण जल डालने में भी कोई हानि नहीं है। 'कोरण्टैः' के स्थान पर अन्यत्र 'त्रिफलायाः त्वचस्तथा' पाठ मिलता है। इसी तरह वासा आदि क्वाथ द्रव्यों का मान भी अन्यत्र पृथक् पृथक् पाँच पल लिया गया है। लोह के योगों में योग की मात्रा से चौसठगुना दूध का अनुपान करना चाहिये, "अनुपानं चतुःषष्टिगुणं प्राहुः सदा बुधाः।" भैषज्यरत्नावली में इस योग का

गुणपाठ अधिक है। वहाँ इस योग को रक्तपित्त के लिए उत्तम माना गया है ॥ ४६-५० ॥

अष्टादशलौहकल्पार्थं लौहमारणप्रकारः—

अथोष्णवारिपिष्टेन कान्तलोहं ससिन्धुना।
कफे कुठारच्छिन्नेन पित्ते वाते गलाऽम्बुना ॥ ५१ ॥
उभयेन वयः स्तम्भे ताप्येन गलरुक्षु च।
कण्ड्वां मनोह्वया स्रोतोविबन्धे मरिचांघ्रिणा ॥ ५२ ॥
क्षिप्तं पक्वेष्टकायन्त्रे द्रावितं जलसन्निभम्।
निषिक्तं त्रिफलाक्वाथे पर्पटीभूतमायसे ॥ ५३ ॥
संचूर्ण्य तेन क्वाथेन पिष्ट्वा स्थाल्यां विपाचितम्।
षोडशांगुलगर्तान्तः संपुटे चापरीक्षणात् ॥ ५४ ॥
आर्द्रकाभीरुमुषलीविदारीभृंगहस्तिजैः।
रसैस्तथा मुहुस्ताम्रं धान्याभ्रं कांजिके प्लुतम् ॥५५॥
तेन पिष्टं घृतं क्षौद्रे मत्स्याक्षीमेघनादयोः।
जयन्त्यास्तीक्ष्णवाङ्‌क्यांमुषलीमाणिमन्थयोः ॥ ५६ ॥
वज्रिणीसातलावास्यावर्षाभूणां रसेन च।
क्षीरेण च पृथक्कुर्यात्पेषणादिक्रियात्रयम् ॥
कज्जलाभं द्वयं चैतद्यथा क्वाथं विभावयेत् ॥ ५७ ॥

कफप्रकोपजन्य रोगों की शान्ति के लिए यदि लोहभस्म बनानी हो तो कान्तलौह के पत्रों पर निर्गुण्डीमूलत्वचा को गरम जल से पीस कर लेप करके पित्तरोगों की शान्ति के लिये तुलसी या गुडूचीमूल को गरम जल से पीस कर उसका पत्रों पर लेप करके, वातरोगों की शान्ति के लिये कड़वी तुम्बी के कषाय से निर्गुण्डीमूल को पीस कर लेप करके, आयु को स्थिर रखने के लिये लोहभस्म बनाने पर तुलसी तथा कड़वी तुम्बी को पीस कर लेप करके, गले के रोगों को दूर करने के लिये स्वर्णमाक्षिक का लेप करके, कण्डू (खुजली) की शान्ति के लिये मैनसिल का लेप करके, और कब्ज को दूर करने के लिये लोहभस्म बनाने के निमित्त मरिचमूल का लेप करके सुखा कर पत्रों (लोहपत्र) को पकी हुई ईंट के यन्त्र अथवा वज्रमूषा में रख कर तीव्र अग्नि में तपावें। जब लोहपत्र पिघल कर द्रव हो जायँ तो उसे त्रिफला क्वाथ में डाल कर बुझावें। शीतल होने पर जब लोह पर्पटी आकार का बन जाय तब उसे निकाल कर चूर्ण करके (त्रिफलाकषाय के साथ) कड़ाही में डाल कर पकावें अर्थात् स्थालीपाक करें। तदनन्तर इसे निकाल कर अदरख के स्वरस में घोट कर शरावसम्पुट में बन्द करके सोलह अंगुल लम्बे चौड़े गहरे गढ़े में रख कर पुट दें। फिर निकाल शतावरी, मुसली, विदारीकन्द, भृङ्गराज, हस्तिकर्णपलाश के स्वरस में पृथक् पृथक् मर्दन कर सोलह अंगुल गहरे चौड़े पुट में तब तक पुट देकर फूँकें जब तक कि लोह की उत्तम परीक्षित अर्थात् वारितर भस्म न हो जाय। इसी तरह ताम्र तथा धान्याभ्रक को काँजी में पीस कर मूषा में रख पिघला कर काँजी में बुझावें। पुनः ताम्र या अभ्रक को निकाल कर काँजी के साथ ही स्थालीपाक करें। तदनन्तर इनको पृथक् पृथक् घृत, मधु, मछेछी, चौलाई, अरणी, राई, चाँगेरी, मुसली, लवणजल, स्नुहीदुग्ध, सातलास्वरस, खरेंटी, पुनर्नवास्वरस तथा दूध के साथ पीस कर तब तक पुटपाक करें जब तक कि इनकी उत्तम परीक्षित भस्म न बन जाय। अब इन दोनों को एकत्र मिला कर तत्तत् रोगहर क्वाथों की सात सात भावना देकर रख लें। अर्थात् जिस रोग के लिये इन भस्मों का प्रयोग करना हो उसको शान्त करने वाले द्रव्यों के कषाय की सात भावना देनी चाहिये।

विशेष वचन—इस प्रकार सिद्ध की हुई लोह, अभ्रक तथा ताम्र की भस्म आगे लिखे हुये अष्टादश लोहकल्प में प्रयुक्त करनी चाहिये। 'आयसे' के स्थान पर कहीं 'आयसम्' पाठ है। जब लोह को सैन्धवजल से घोट कर पुट देते हैं तो अन्त में लवण निकालने के लिये भस्म को जल में पीस कर डाल देते हैं जिससे लवण जल में घुल जाता है। तब जल को अच्छी तरह नितार लिया जाता है जिससे लवण का अंश नहीं रहता है ॥५१-५७॥

दन्त्यादिगणः—

दन्तीत्रिवृच्चित्रकहस्तिकर्णव्योषाष्टवर्गत्रिफलाविडङ्गम्।
पलाशबीजाम्बुदजीरकैला व्याघ्री च दन्त्यादिरिह प्रदिष्टः

दन्ती, निशोथ, चित्रक, हस्तिकर्णपलाश, त्रिकटु अष्टवर्ग (मेदा, महामेदा, जीवक, ऋषभक, काकोली, क्षीरकाकोली, ऋद्धि वृद्धि), त्रिफला, वायविडङ्ग, ढाक के बीज, नागरमोथा, जीरा, इलायची; कटैली; इन सब औषधियों के समुदाय को 'दन्त्यादिगण' कहा जाता है ॥ ५८ ॥

अष्टादशलोहकल्पः—

पलानि पञ्च कान्तस्य सर्वत्राभ्रकचूर्णयोः।
सार्द्धे द्वे सप्त सार्द्धानि वाते पित्ते पुनः क्रमात् ॥५९॥
पञ्च पादेन युक्तानि पञ्च पञ्च कफे पुनः।
तत्र कान्ताभ्रके क्षिप्त्वा त्रिफलाक्वाथमाढकम् ॥६०॥
प्रस्थितानि गुणस्याष्टौ क्वाथस्य पयसस्तथा।
पलानि षोडशाज्यस्य सिञ्चेत्पाकवशात्पुनः ॥६१॥
वाताद्यपेक्षया पङ्कोत्कारिकावालुकानिभे।
अफेने वर्णगन्धाढ्ये कदुष्णे पीतसर्पिषि ॥६२॥
दन्त्यादिचूर्णमावाप्य स्थापितेनेतरेण वा।
घृतेन पेषितं भाण्डे घृतस्निग्धे निधापयेत् ॥६३॥
कुर्यात्तत्कल्पनापाको श्लेष्मणीव रसायने।
स्वस्थः शरन्निदाघाभ्यामन्यथा कृतशोधनः ॥६४॥
घृतमाक्षिकमात्रा वा लौहे लौहेन मर्दितः।
रसायनं द्वौ दिवसौ द्वे द्वे गुञ्जे ततः परम् ॥६५॥

द्वन्द्ववृद्ध्या दिने द्वे द्वे परं विंशतिवासरान् ।
प्रातर्विंशतिगुञ्जानां भागौ द्वौ भागमेव च ॥६६॥
प्राग्भक्तमर्द्धमर्द्धं वा भक्षयेदुक्तकालयोः ।
एवं मात्राविभागेन व्याधिच्चीणेऽपि सर्वदा ॥६७॥
लोहादष्टगुणं चीरं धारोष्णं शृतमेव वा ।
वयःस्तम्भेऽनुपातव्यं व्याधौ क्वाथो यथोदितः ॥६८॥
आस्वाद्य चानु मुस्तानां निर्यासं दन्तपीडितम् ।
मूलानि भक्षयेत्तासामास्यवैरस्यनुत्तये ॥६९॥
क्रूरकोष्ठस्तु दीप्ताग्निरनुलोमयितुं मलान् ।
तप्तं क्षीरं पिबेद्भूयस्ताम्बूलं भक्षयेन्मुहुः ॥७०॥
स्नानमर्दनविष्टम्भिविदाह्यम्लमजाङ्गलम् ।
सप्तसप्ताहमथवा त्रिसप्ताहं परित्यजेत् ॥७१॥
शालिमुद्गरसं सर्पिर्वेत्राग्रं बृहतीद्वयम् ।
दीर्घे पटोलवार्ताके तालकं मूलकन्दकम् ॥७२॥
शतावर्याः सजीवन्तीशृङ्गाटसुनिषण्णकम् ।
तण्डुलीयकधान्याकं सराजवृक्षवास्तुकम् ॥७३॥
जाङ्गलं शफराः कृष्णमीना रोहितमद्गुरौ ।
द्राक्षादाडिमखर्जूररम्भाकोलं च शस्यते ॥७४॥
जीर्णौषधस्तु दीप्तेऽग्नौ प्रातः पित्ताद् बुभुक्षितः ।
अर्द्धमात्रं पिबेत्क्षीरं सार्द्धमात्रं कृशो नरः ॥७५॥
दिवसाः सप्त सप्तस्मिन्दिने द्वित्रिगुणाः क्रमात् ।
जघन्यमध्यप्रवरः सेवाकालो विधीयते ॥७६॥
पूर्णक्रियेयं द्विगुणा सोत्तरा नात्र यन्त्रणा ।
यथाकालं मलोत्सर्गः शरीरोदरलाघवम् ॥७७॥
हृदयोद्गारशुद्धिश्च जीर्णलोहस्यजायते ।
लोहाप्रवृत्तौ सामत्वं लोहकिट्टप्रशान्तये ॥७८॥
उष्णाम्बु सयवक्षारं त्रिदिनात्त्रिदिनात्पिबेत् ।
रसेनाऽगस्त्यपत्राणां विडङ्गं चान्तरान्तरा ॥७९॥
क्वाथमश्वत्थपत्राणां प्रसङ्गे छर्दिशूलयोः ।
सामान्यसिद्धिमावाप्य भावनापुटपाचनैः ॥८०॥
यथायोगयुतं पक्वं त्रिफलाक्वाथसर्पिषा ।
साधितं भक्षयेत्कान्तमेकं वा केवलाभ्रकम् ॥८१॥
इह नानुपिबेत्क्षीरं न कुर्यात्तेन भोजनम् ।
मुद्गयूषं पिबेत्तोयं कोष्णं च नियतो भवेत् ॥८२॥
एतल्लोहरसायनाख्यममृतं पक्वं यथोक्तं क्रमाद्
भुञ्जानः प्रतिवत्सरं नववपुः सार्द्धं तु वर्णेन्द्रियैः ।
दीर्घायुर्नवयौवनोन्नतकुचप्रौढाङ्गनावल्लभो
माद्यद्दन्तिबलो जराविरहितः पुत्रावृतः स्यान्नरः ॥

वात, पित्त अथवा कफप्रकोपजन्य किसी रोग की शान्ति के लिये यह लोहकल्प या रसायन निर्माण करना हो तो उन सब कार्यों के लिये उक्त प्रकार से भस्म की हुई कान्तलोहभस्म पाँच पल लें। किन्तु अभ्रकभस्म तथा ताम्रचूर्ण (भस्म) को वातादि शान्ति के लिये निम्न अनुपात से लें। वातशान्ति के लिये अभ्रकभस्म ढाई पल, ताम्रभस्म साढ़े सात पल; पित्तशान्ति के लिये अभ्रकभस्म पाँच पल, ताम्रभस्म सवा पाँच पल लें। कफ की शान्ति के लिये अभ्रकभस्म पाँच पल और ताम्रभस्म पाँच पल लें। वातादिरोग शान्ति के लिये उक्त क्रम से लौह आदि भस्म लेकर एक स्वच्छ लोहे की कढ़ाही में डाल कर उसमें एक आढ़क त्रिफलाकषाय, शुद्ध (ताज़ा) गौ का दूध आठ प्रस्थ, गौ का घृत सोलह पल डाल कर शनैः शनैः मन्द अग्नि से पकावें। जब अच्छी तरह पाक हो जाय अर्थात् उसमें झाग न रहे साथ ही सुन्दरवर्ण तथा गन्ध उत्पन्न हो जाय और उसमें सब घी मिल जाय तो इसे नीचे उतार लें। पाक करते समय वातादि दोषों की अपेक्षा रखते हुये पाक में कुछ भिन्नता करनी पड़ती है। अर्थात् वातहर लोहकल्प बनाने में पाक पंक (कीचड़) वत् गीला रखना होता है। पित्तहर कल्प बनाने में पाक उत्कारिका (लप्सी, हलवा) के समान करना पड़ता है। कफप्रकोपशान्ति के लिये पाक को बालुकानिभ अर्थात् खुश्क कोमल रखना पड़ता है। पाक को नीचे उतारने के बाद उसमें लोह, अभ्रक तथा ताम्रभस्म के बराबर भाग पूर्वोक्त दन्त्यादिगण का चूर्ण मिला दें और अच्छी तरह करछी से चलावें। तदनन्तर (चूर्ण डालने के बाद खुश्क होने पर) इस पाक को कोमल करने के लिये इसमें कुछ शुद्ध घृत मिला कर मसल या घोट कर एक स्निग्ध पात्र में रख लें। बालुनिभ पाक करने पर प्रायः घी अलग हो जाता है उस घृत को चूर्ण मिलाने के पूर्व अलग कर लिया जाय और चूर्ण मिलाने के बाद फिर उसमें मिला दें और भी आवश्यकता पड़े तो दूसरा घृत इसमें मिला दें। यदि इस लोहकल्प को रसायनार्थ अर्थात् स्वस्थ पुरुष के सेवन के निमित्त बनाना हो तो भी इसकी पाककल्पना श्लेष्मरोगहर पाक के समान अर्थात् बालुकासन्निभ (भुरभुरा) होनी चाहिये। इस रसायन को स्वस्थ मनुष्य शरत् और ग्रीष्म ऋतु को छोड़ कर अन्य सब ऋतुओं में सेवन कर सकता है। इस रसायन को सेवन करने से पहिले वमन विरेचन आदि द्वारा शरीर को शुद्ध करना आवश्यक है। इसमें से प्रथम दिन दो रत्ती मात्रा लेकर उसको लोह खरल में डाल असमभाग मधु घृत के साथ लोहे की मुसली से घोट कर चाट लें। दूसरे दिन भी इसी तरह सेवन करें। फिर तीसरे दिन चार रत्ती, चौथे दिन चार रत्ती, पाँचवे दिन छः रत्ती, छटे दिन छः रत्ती, सातवें और आठवें दिन आठ आठ रत्ती, नवें और दसवें दिन दस दस रत्ती, ग्यारहवें और बारहवें दिन १२-१२ रत्ती, तेरहवें और चौदहवें दिन चौदह चौदह रत्ती, पन्द्रहवें और सोलहवें दिन

१६–१६ रत्ती, सत्रहवें और अठारहवें दिन १८–१८ रत्ती; और उन्नीसवें और बीसवें दिन बीस बीस रत्ती परिमाण मात्रा में लेकर उपयुक्त विधि से घृत और मधु के साथ लोह के पात्र में लोह की मुसली से घोट कर सेवन करें। बीस दिन के बाद इस की २० रत्ती की मात्रा स्थिर हो जाती है। जब बीस रत्ती की मात्रा खानी होती है तब इसे एक साथ एक ही समय में नहीं खाना चाहिये। किन्तु बीस रत्ती के तीन भाग कर उसमें से दो भागों को अर्थात् बारह रत्ती और चार जौ परिमाण मात्रा प्रातःकाल, शेष भाग भोजन से पूर्व सेवन करना चाहिये अथवा दस रत्ती प्रातःकाल और दस रत्ती भोजन के पूर्व खाना चाहिये। उक्त विधि से इस रसायन को सेवन करना चाहिये। इसी तरह अन्यत्र भी मात्राविभाग करके रोगग्रस्त मनुष्य भी इसको सदा सेवन कर सकता है। इस औषधि की उक्त मात्रा सेवन करने के बाद लोह से अठगुना शृत शीत दुग्ध अथवा धारोष्ण दुग्ध का अनुपान करना चाहिये। लोह का रसायन गुण के लिये सेवन करने पर दूध का अनुपान विशेष रूप से हितकर होता है। किसी विशेष रोग की शान्ति के लिये तद्व्याधिशामक औषधियों का क्काथ अनुपान के रूप में देना चाहिये। इस योग को सेवन करने के बाद मुख की विरसता को दूर करने के लिये नागरमोथे की जड़ को मुख में रख चबा कर रस चूसें और हर समय मुस्ता को मुख में रखें। क्रूरकोष्ठी और दीप्ताग्नि मनुष्य के मलबन्ध को दूर करने के लिये उसे गरम गरम दूध पिला कर पान चबवाना चाहिये और इस रसायन के सेवनकाल में स्नान (अधिक स्नान), शरीर मर्दन, कब्ज़ करने वाले भोजन या द्रव्य, विदाही (छाती में जलन करने वाला) द्रव्य, अम्लद्रव्य, ग्राम्य तथा आनूपदेशज पशुओं का मांस; इन सब को उनचास (४६) अथवा इक्कीस (२१) दिन तक सेवन नहीं करना चाहिये। पथ्य में शालि चावलों का भात मूँग का यूष, गोघृत, बेत की कोंपलों का शाक, दोनों कण्टकारी, लम्बा परवल तथा लम्बा बैंगन, कच्चे ताड़ के फल, मूली, शतावर, जीवन्ती, सिंगाड़ा, चौपतिया, चौलाई, धनियाँ, राई का शाक, बथुआ, जांगल पशु-पक्षियों का मांस, शफरी मछली, काली मछली, रोहित तथा मद्गुर नामक मछली, द्राक्षा, अनार, खर्जूर कदली-फल, बड़ा बेर; इन पदार्थों का सेवन करना चाहिये। औषधि के जीर्ण होने पर मनुष्य को क्षुधा प्रतीत हो तो प्रातःकाल अनुपान रूप में पिये हुये दूध से आधी मात्रा में पुनः दूध पी लेना चाहिये और यदि कृश मनुष्य को औषधि जीर्ण होने पर क्षुधा लगे तो प्रातः काल पिये हुये क्काथ की अपेक्षा आधा दूध पीना चाहिये। इस औषधि को केवल सात दिन सेवन करना कनिष्ठ सेवाकाल कहा जाता है। चौदह दिन सेवन करना मध्यम और इक्कीस दिन सेवन करना उत्तम सेवाकाल कहा जाता है। अर्थात् इसको कम से कम से इक्कीस दिन तक सेवन करना चाहिये। जितने दिन तक इस औषधि को सेवन किया जाय उससे दुगुने दिन तक रसायन नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये परन्तु पथ्य परहेज में विशेष नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं होती है। इस लोह रसायन के जीर्ण (हजम) होने पर यथा समय मलमूत्र उतरते हैं। शरीर, उदर में लघुता प्रतीत होती है, हृदय (मन) तथा डकार शुद्ध होते हैं। किन्तु लोह के जीर्ण न होने पर आम-दोष अर्थात् कच्चा मल उतरता है, शरीर और उदर में भारीपन प्रतीत होता है। साथ ही भोजन में इच्छा अच्छी तरह नहीं होती है। अतः लोहाजीर्णजन्यमल की शान्ति के लिये प्रति तीसरे दिन गरम जल में यवक्षार मिलाकर पिलाना चाहिये और बीच २ में विडंगचूर्ण को अगस्त्यपत्रस्वरस के साथ सेवन कराना चाहिये। यदि लोहाजीर्ण के कारण वमन और उदरशूल उत्पन्न हो जाय तो पीपलवृक्ष के पत्तों का कषाय थोड़ा २ करके पिलाना चाहिये। अथवा केवल अभ्रक या कान्तलोह का साधारण शोधन मारण करके अर्थात् वातपित्त-कफहर औषधियों के कषाय की भावना और पुटपाक कर सिद्ध कर लें। फिर इसको त्रिफला-क्काथसिद्ध घृत में पका कर तय्यार कर लें। इसका सेवन करें। यह भी रसायन में उत्तम योग है। परन्तु उक्त प्रकार से सिद्ध अभ्रक अथवा कान्तलोह के सेवन करने के पश्चात् दुग्धानुपान न करें और न दूध के साथ भोजन ही करें। किन्तु मुद्गयूष का अनुपान करें और हाथ पैरों को धोने या शौचादि क्रिया के लिये गरम जल का व्यवहार करें। इसके साथ ही इस रसायन के सेवन काल में मनुष्य को नियत (संयतेन्द्रिय) रहना चाहिये। इस लोहरसायन नामक अमृत को विधिपूर्वक बना कर जो मनुष्य एक वर्ष तक सेवन करता है अथवा प्रतिवर्ष बीस दिन तक सेवन करता है वह सुन्दरवर्ण और इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न, नवयौवनयुक्त शरीर को प्राप्त करके दीर्घायु होता है और नवयौवन से उन्नत स्तनोंवाली प्रौढ़ा स्त्रियों का परमप्रिय होता है। उसके शरीर में मदोन्मत्त हाथी के समान बल आ जाता है। बुढ़ापे से रहित होकर पुत्र पौत्रादि से युक्त होता है।

विशेष वचन–"घृतमाक्षिकमात्रा वा लौहे लौहेन मर्दितः।" के स्थान पर "घृतमाक्षिकमात्राभ्यां लौहे लौहेन मर्दितम्।" ऐसा पाठ अधिक संगत है। चक्रदत्त में भी इसी प्रकार का अभिप्राय पाया जाता है, यथा–"सममसृणमलपात्रे लौहे लौहेन मर्दयेच्च पुनः। दत्त्वा मध्वनुरूपं तदनु घृतं भोजयेदधिकम्॥ बन्धं गृह्णाति यथा मध्वपृथक्त्वेन पङ्कमविशेषत्॥" 'पित्तात्', के स्थान पर 'पीतात्' पाठ संगत है। इस

योग में पूर्व क्रिया से अभिप्राय, प्रथम दिन से लेकर बीस दिन सेवन करने की विधि तथा पथ्य से है। उत्तरक्रिया से इस रसायन के सेवनकाल में पालनीय नियमों का ग्रहण है। अन्यत्र इस रसायन के विषय में पालनीय नियमों को इस प्रकार लिखा गया है, यथा—"नात्युपविष्टो नाप्यतिभाषी नातिस्थितस्तिष्ठेत्, अत्यन्त वातशीतातपयाननासवेगरोधादीन् ॥ जह्याच्च दिवानिद्रामहितञ्चाकालभुक्तञ्च। वातकृतः पित्तकृतः सर्वान् कट्वम्लतिक्तकषायान् ॥ तत्तल्लक्षणविनाशहेतून् मैथुनकोपश्रमान् दूरे इत्यादि॥" पूर्वक्रिया अथवा मुख्यक्रिया से उत्तरक्रिया द्विगुणकाल तक करने के विषय में पातञ्जल में लिखा है, "मुख्यक्रियायाः स्याद्द्विगुणा चोत्तरक्रिया।" लोह सेवन करने पर बद्धकोष्ठ होने पर चक्र ने अनेक उपाय बताये हैं, यथा—"तत्तदुग्धानुपानं प्रायः सारयति बद्धकोष्ठस्य अनुपीतमम्बु यद्वा कोमलशस्यनारिकेलस्य ॥ यस्य च न तथा सरति सयवक्षारं जलं पिबेत्कोष्णम्। कोष्णं त्रिफलाक्वाथं सनाथं क्षारं ततोऽप्यधिकम्" ॥'सामान्यसिद्धि' के स्थान पर 'सामान्यसिद्धं' पाठ भी मिलता है। यह पाठ अधिकसरल और सुगम है ॥ ८३॥

सर्वरोग एकोनविंशलोहकल्पः—

अङ्कोल्ललोहमणिटङ्कणमाक्षिमन्थ
ताप्यार्द्रकत्रिकटुतुत्थशिलाजतूनाम्।
भृङ्गोदकेन वटिकां च मसूरमात्रां
खादेज्जयाय जरसः सकलामयानाम् ॥ ८४ ॥

अंकोलबीज, लोहभस्म, मुक्तभस्म, शुद्ध सुहागा, सैन्धानमक, स्वर्णमाक्षिकभस्म, अदरख (सौंठ), त्रिकटु,शुद्ध तुत्थभस्म, शुद्ध शिलाजीत; सब को समभाग लेकर एकत्र खरल में भाँगरे के स्वरस से मर्दन कर मसूर के दाने के समान गोलियाँ बना छाया में सुखा लें। इनमें से प्रतिदिन एक या दो गोली उचित अनुपान के साथ अकालवृद्धावस्था को रोकने और सम्पूर्ण रोगों को शान्त करने के लिये सेवन करना चाहिये ॥ ८४ ॥

कुष्ठे विंशलोहकल्पः—

अङ्कोलवेल्लाभ्रककान्तताप्यशिलाजतुव्योषफलत्रयाणाम्।
चूर्णं मुषल्याः समभागमेतत्कुष्ठानि लीढं मधुना धुनोति ॥

अंकोल के बीज, वायविडङ्ग, अभ्रकभस्म, कान्तलोहभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, शुद्ध शिलाजतु, त्रिकटुचूर्ण, त्रिफलाचूर्ण और मुसलीचूर्ण; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर शहत के साथ कुछ दिन सेवन करने से सब कुष्ठ अर्थात् त्वचा के रोग दूर होते हैं ॥ ८५ ॥

मेदःप्रभृतिसु एकविंशलोहकल्पः—

कान्ताभ्रत्रिफलाविडङ्गरजनीताप्याब्ददेवद्रुम
व्योषैलाग्निपुनर्नवांघ्रिगिरिजाङ्कोलैः समं गुग्गुलुम्।
पिष्ट्वा भृङ्गजलेन सूक्ष्मगुटिकां खादेद्यथासात्म्यतो
मेदःश्लेष्मसमीरणोत्थगदेष्वन्येषु वा पूरुषः ॥८३॥

कान्तलोहभस्म, अभ्रकभस्म, त्रिफलाचूर्ण, विडङ्गचूर्ण, हरिद्राचूर्ण, स्वर्णमाक्षिकभस्म, मुस्ताचूर्ण, देवदारुचूर्ण, त्रिकटु, इलायची, चित्रकमूल, पुनर्नवामूलचूर्ण, शिलाजीत, अंकोलबीजचूर्ण; प्रत्येक समभाग लें और सब चूर्ण के बराबर भाग शुद्ध गुग्गुलु लेकर एकत्र खरल में भाँगरे के स्वरस से मर्दन कर छोटी छोटी गोलियाँ बना लें। इनमें से जितनी मात्रा जिसके लिये अनुकूल पड़े उतनी मात्रा में सेवन करने से मेद (चर्बी), कफ, वात के भयङ्कर रोगों तथा अन्य रोगों में आराम आता है ॥ ८६ ॥

कुष्ठे द्वाविंशलोहकल्पः—

व्योषं कृष्णतिलासनस्य कुसुमं मण्डूरसैरेयकं
दोषाशेलुसितात्रिवृत् कृमिहरं भृङ्गाणि भल्लातकम्।
श्रेष्ठावाकुचिकान्तलोहजरसस्तत्कान्तपात्रे स्थितं
खादेत्कुष्ठहरं रसायनवरं मध्वाज्यसंयोजितम् ॥८७॥

त्रिकटुचूर्ण, काले तिल, विजैसार के पुष्प, मण्डूरभस्म, पियावांसा, हरिद्रा, लिसोड़ा, दालचीनी या मिश्री, निशोथ, विडंग, भाँगरा, शुद्ध भिलावा, त्रिफला, बावचीचूर्ण, कान्तलोह भस्म; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र पीस कर (कान्तलोह के पात्र में) रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर शहत और घी के साथ मिला कर सेवन करें। यह कुष्ठको शान्त करने में सर्वोत्तम रसायन है।

विशेष वचन—'कान्तलोहजरसः', के स्थान पर 'कान्तलोहरजः' पाठान्तर अच्छा है। जहाँ 'कान्तलोहरजः' पाठ है वहाँ पारदभस्म का ग्रहण करना चाहिये ॥ ८७ ॥

सर्वरोगे त्रयोविंशलोहकल्पः—

मण्डूरत्रिफलासितेतरतिलाजातीघिडङ्गाकुली
वाकुच्यभ्रककान्तगन्धकनिशामाधूकसारं रजः।
पिष्ट्वा भृङ्गरसेन तस्य वटकान् खादेत्पयः पाचितान्
सर्वव्याधिहरान् रसायनवरान् मृत्योश्च मृत्युप्रदान् ॥

मण्डूरभस्म, त्रिफलाचूर्ण, काले तिल, जायफल, वायविडग, अंकोलबीजचूर्ण, बावचीचूर्ण, अभ्रकभस्म, कान्तलोहभस्म, शुद्ध गन्धक, हरिद्राचूर्ण, महुए का फूल, पित्तपापड़ा, सबको समभाग में लेकर एकत्र खरल में डाल कर भाँगरे के स्वरस से घोट कर मोदकाकार बना लें। अर्थात् गोली बना लें। इनको प्रतिदिन दूध में पका कर सेवन करना चाहिये। यह सर्वरोगनाशक तथा मृत्युहारक सर्वोत्तम रसायन है ॥ ८८ ॥

नेत्ररोगे कान्तनागाख्यश्चतुर्विंशो लोहकल्पः—

बद्ध्वा न्यस्तमहत्त्रयं कमलिनीपत्रे सधात्रीरसे
धौतं भृङ्गरसेन चुम्बकरजोयुक्तं द्विभागोत्तरम्।
स्थाल्यां षड्गुणरक्तमारिषरसे यद्वारुदर्व्या धृतौ

सञ्चाल्याम्भसि कल्कशेषितमिदं शीते क्षणाद्गालयेत् ॥
तस्मादादाय मूषायां स्वल्पायां द्रावयेद्घनम्।
कान्तनागोऽयमुदकेनाञ्जनं नयनामृतम् ॥९०॥

शुद्ध चुम्बकलोहचूर्ण एक भाग, शुद्ध शीशकचूर्ण दो भाग लेकर दोनों को एकत्र खरल करके एक सूक्ष्म कपड़े में बाँध कर पोटली बना लें। अब इस पोटली को एक पात्र में डाल कर उसमें समभाग कमलिनीपत्रस्वरस और आमलकीस्वरस डाल दें। जिससे पोटली उसमें अच्छी तरह डूब जाय। इस तरह तीन दिन तक पोटली को उक्त स्वरस में रखे रहें। तीन दिन के बाद निकाल भाँगरे के रस से अच्छी तरह धोकर सुखा लें। अब एक कड़ाही में उक्त चूर्ण को डाल कर उसमें चूर्ण से छः गुना अधिक लाल चौलाई का स्वरस डाल कर पकावें और लकड़ी की करछी से उसे चलाते जाँय। जब पक कर चूर्णमात्र शेष रहे उसे उतार कर शीतल जल से धोकर शीघ्र ही एक छोटी सी मूषा में भर कर अच्छी तरह पकावें। जब यह गल जाय तो इसकी सलाई बना लें। इन सलाईयों को जल में भिगो कर नेत्रोंमें अञ्जन करें। इसे 'कान्तनाग' कहते हैं। यह नेत्रों के लिये अमृत के समान गुण-कारी है।

विशेष वचन—इस योगमें 'अदृश्यम्' के स्थान पर 'अहित्र-यम्' पाठ ही योग्य है। अन्यथा इसको कान्तनाग नाम नहीं दे सकते हैं। इसी तरह 'धृतौ' के स्थान पर 'धृतम्' पाठ योग्य है ॥ ८९—९० ॥

रसायने पञ्चविंशो लोहकल्पः—

कान्तपात्रे शृतं क्षीरं रसायनमनुत्तमम् ॥ ९१ ॥

कान्तलोह की बनी हुई कड़ाही में दुग्ध को गरम करके शीतल कर पीने से वह उत्तम रसायन के समान गुणकारक होता है ॥ ९१ ॥

मृत्युहारिरसायनषड्विंशो लोहकल्पः—

अयस्पत्रं तिलोत्सेधं प्रतप्तं चतुरङ्गुलम्।
एकविंशतिपर्यायं धात्र्या निर्वापयेद्रसे ॥ ९२ ॥
ततः शतपलं स्थाल्यां क्षिप्त्वा धात्रीरसोत्तमम्।
कृत्वा ततः सुपिहितं भस्मराशौ विनिक्षिपेत् ॥ ९३ ॥
मासि मासि समुद्धृत्य लोहदण्डेन घट्टयेत्।
तस्मिन् विशुष्यति प्राग्वद्रसं धात्र्याः प्रदापयेत् ॥९४॥
द्रवीभवति तत्सर्वं वत्सरात्पत्रमायसम्।
ततः समं ततोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रमुखेन तु ॥ ९५ ॥
आयसेन स्रुवेणायस्पात्रे कल्कीकृतं ततः।
शृतं पृथक्समांशेन सेवेत मधुसर्पिषा ॥ ९६ ॥
जीर्णे साज्यं रसक्षीरयूषान्यतममिश्रितम्।
षष्टिकौदनमश्नीयादुपयुज्येत वत्सरम् ॥ ९७ ॥
वर्षमन्यच्च शिष्टाशो यन्त्रितात्मा कुटीं वसेत्।
अगम्यो रुग्जरामृत्युशस्त्राग्निविषवारिभिः ॥
जीवेद्वर्षसहस्रं वै सर्वभावेष्वतीन्द्रियः ॥ ९८ ॥

तिलके समान मोटा चार अंगुल चौड़ा लम्बा एक शुद्ध लोहा (कान्तलोह) पत्र लेकर अग्नि में गरम करके इक्कीस वार आँवलों के स्वरस में बुझावें। तदनन्तर एक दृढ़पात्र में सौ पल उत्तम आँवलों का स्वरस डाल उसमें लोहपत्र को छोड़ कर पात्र का मुँह बन्द करके भस्म के ढेर में पात्र को गाड़ दें। प्रतिमास इस ढेर से पात्र को निकाल कर मुख खोल कर उसे लोह की मुसली से अच्छी तरह रगड़ दें और मुख बन्द करके पुनः भस्मराशि में रख दें। जब आँवलों का स्वरस सूख जाय तो पुनः थोड़ा और डाल दें। इस प्रकार प्रतिमास लोह की मुसली से मर्दन कर पुनः बन्द करके भस्मराशि में एक वर्ष तक बन्द रखनेसे उक्त लोहपत्र सब अच्छी तरह से स्वरस में घुल जाता है। अब इसे निकाल कर एक शीशी में रख लें। सेवन करते समय इसमें से अंगूठे के अग्रपर्व (पोरवा) के बराबर चौड़ा लम्बा मुख वाले लोहे के स्रुवा (हवन करने में जि से घृत अग्नि में डाला जाता है) से एक स्रुवा भर मात्रा में निकाल कर अग्नि में गरम करके गाढ़ा कल्क सा कर लें। अब इसमें समभाग शहद और घृत मिला कर सेवन करें। इस औषधि के जीर्ण होने पर जब क्षुधा लगे तो घी, माँसरस, अथवा दूध या मुद्गयूष के साथ साठी चावलों का भात भोजन करें। इस प्रकार एक वर्ष तक इस योग का सेवन करें। और दूसरे वर्ष केवल पथ्य भोजन के साथ रसायन के नियमों का पूर्ण रूप से पालन करते हुए रसायनसेवनार्थ बनाई हुई कुटी (गृह-विशेष) में ही निवास करें। औषधि का सेवन न करें। अर्थात् इस औषधि को सेवन करते हुये एक वर्ष और बिना सेवन करते हुए एक वर्ष कुटीप्रवेश करें। इस योग को सेवन करने वाले मनुष्य को पीड़ा (रोग), जरा, मृत्यु, शस्त्रभय, अग्नि, विष तथा जल के उत्पातोंसे किसी प्रकार डरने की आवश्यकता नहीं है। और इसको सब भावों (गुप्त, अदृश्य, दूर, समीप स्थित) का पूर्ण ज्ञान होता है। और हजार वर्ष की आयु होती है।

विशेष वचन—कुटीप्रावेशिक रसायन के निमित्त चरकमें निम्न प्रकार से कुटीनिर्माण करनेको लिखा है—'नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम्। निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे ॥ दिशि पूर्वोत्तरस्यान्तु सुभूमौ कारयेत्कुटीम्। विस्तारोत्सेधसम्पन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम् ॥ घनभित्तिमृतुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम्। शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम् ॥ इष्टोपकरणोपेतां सजवैद्योपधद्विजाम्" ॥ ९२-९८ ॥

सप्तविंशादिलोहकल्पत्रयम्—

ताम्ररौप्यसुवर्णानामयमेव पृथग्विधिः।
द्विगुणं तद्गुणोत्कर्षाज्जानीयादुत्तरोत्तरम् ॥ ९९ ॥

छब्बीसवें लोहकल्प की भाँति ताम्र, रजत तथा सुवर्ण का भी कल्प सेवन किया जाता है और लोहपत्र की भाँति इनमें किसी एक का पत्र बना कर उसमें आँवलों का स्वरस डाल कर भस्मराशि में एक वर्ष भर रख कर रसायन तय्यार किया जाता है। परन्तु इन रसायनों में लोहरसायन अधिक शक्तिशाली है। इसमें भी ताम्ररसायन से रजतरसायन और रजतरसायन से स्वर्णरसायन द्विगुण शक्ति वाला होता है ॥ ९९ ॥

अरिष्टलक्षणे त्रिंशलोहकल्पः—

हेमधात्रीरसं क्षौद्रं गायत्रीरसभावितम्।
लिहन्ननुपिबन् क्षीरं दृष्टरिष्टोऽपि जीवति ॥ १०० ॥

स्वर्णभस्म, आँवलों का स्वरस, मधु को खदिरकषाय या स्वरस की भावना देकर अवलेह बना लें। इसको उचित मात्रा में सेवन करने से अरिष्ट (नियतमृत्यु-सूचक लक्षण) युक्त मनुष्य भी जीवित रहता है।

विशेष वचन—स्वर्णभस्म को खदिरकषाय की सात भावना देकर सुखा कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर उसे आँवलों का रस तथा मधु के साथ मिला कर चाटें ॥ १०० ॥

जरादौ एकत्रिंशलोहकल्पः—

मधुमागधिकाविडङ्गसारत्रिफलाहेमघृतं सितां च खादन्।
जरयाऽनवलीढदेहकान्तिः समधातुश्च समाः शतं च जीवेत्॥

पिप्पलीचूर्ण, विडंगचूर्ण, लोहभस्म, त्रिफलाचूर्ण तथा स्वर्ण-भस्म; इनको समभाग में मिला कर उचित मात्रा में मधु, घृत तथा मिश्री के साथ मिला कर सेवन करने से, बुढ़ापे के कारण क्षीणशरीर तथा क्षीणकान्ति मनुष्य, हृष्ट-पुष्ट तथा समधातु होकर सौ वर्ष की पूरी आयु का भोग करता है ॥ १०१ ॥

द्वात्रिंशादिलोहकल्पचतुष्टयम्—

आयुष्कामः शङ्खपुष्प्या समेतं
मेधाकामः काञ्चनं सोग्रगन्धम्।
लक्ष्मीकामः पद्मकिञ्जल्कयुक्तं
खादेत्कामं कामकामो विदार्या ॥ १०२ ॥

दीर्घायु की इच्छा रखने वाले मनुष्य को स्वर्णभस्म को शंखपुष्पीस्वरस के साथ सेवन करना चाहिये। बुद्धि और धारणशक्ति की वृद्धि चाहने वाले मनुष्य को स्वर्णभस्म वचा के चूर्ण के साथ सेवन करना चाहिये। सुन्दरता चाहने वाले को स्वर्णभस्म कमल के केशर के साथ सेवन करना चाहिये और जो मनुष्य रमणशक्ति की विशेषता चाहता हो वह स्वर्णभस्म को विदारी-कन्दचूर्ण के साथ प्रतिदिन सेवन करें ॥ १०२ ॥

रसायने षट्त्रिंशलोहकल्पः—

सपद्मबीजामलकाभयाक्षं सर्पिर्मधुभ्यां कनकं लिहन्तः।
दीर्घायुषो मन्दजरोतापाः सरीसृपाणां च भवन्त्यगम्याः ॥

पद्मबीज (कमगट्टा), आँवलाचूर्ण, हरीतकीचूर्ण, बहेड़ा-चूर्ण, स्वर्णभस्म; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से प्रतिदिन दो रत्ती मात्रा में घृत तथा मधु के साथ सेवन करने से मनुष्य दीर्घायु होकर बुढ़ापा तथा रोगरहित रहता है। उसको सर्पादि जन्तुओं का विष भी कोई हानि नहीं पहुँचाता है ॥

मृतलोहानां रसत्वकथनम्—

मृतानि लोहानि रसीभवन्ति
निघ्नन्ति रोगान् परिशीलितानि।
किं चोपचारस्य समग्रयोगात्
पुष्यन्ति धातूनतिदीर्घमायुः ॥

विधिपूर्वक भस्म की हुई सब धातुएँ सेवन करने पर पारदवत् गुणदायक होती हैं अर्थात् इनमें रसायन गुणधर्म पूर्वरूप से होता है। यदि इनके सेवन में सम्पूर्ण उपचार रहन सहन भोजनादि ठीक ठीक रूप से किया जाय तो ये सब धातुओं (रस रक्त आदि) को पुष्ट करते हुये दीर्घायु प्रदान करती हैं। इनका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये जिससे धातुओं में क्षीणता नहीं आती है ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये मृतलोहकल्पनिरूपणं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः।

अथ विषकल्पः।

विषोत्पत्तौ पौराणिकी कथा—

ईश्वर उवाच—

शृणु देव ! प्रवक्ष्यामि यत्रोत्पन्नं महाविषम्।
भेदांस्तस्य वरारोहे ! यत्र तत्र सविस्तरम् ॥१॥
देवदैत्योरगाः सिद्धा गन्धर्वा यक्षराक्षसाः।
पिशाचाः किन्नराश्चैव मिलित्वा च वरानने ! ॥२॥
एकतो बलिराजश्च ब्रह्माद्याश्च तथैकतः।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नागराजेन वेष्टितम् ॥३॥
क्षीराब्धिमन्थनं तत्र प्रारब्धं सुरसुन्दरि !।
निर्गतास्तत्र रत्नौघाः कामधेन्वादयः प्रिये ! ॥४॥
अमला कमलोत्पन्ना पश्चादुच्चैःश्रवास्ततः।
ऐरावतो महाकायो निर्गतं देवि ! चामृतम् ॥ ५ ॥
अतीव मन्थनाद्देवि ! मन्दराघातवेगतः।
अहिराजश्रमाद्देवि ! विषज्वाला विनिर्गता ॥ ६ ॥
ततोऽतिघोरा सा ज्वाला निमग्ना क्षीरसागरे।
तया तत्रैव चोत्पन्नं कालकूटं महाविषम् ॥ ७ ॥

प्रलयानलसंकाशः क्रुद्धः काल इवोत्कटः।
तं दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे दानवाश्च महाबलाः ॥ ८ ॥
विषण्णवदनाः सद्यः प्राप्ताश्चैव मदन्तिकम्।
ततस्तैः प्रार्थ्यमानोऽहमपिबं विषमुत्तमम् ॥ ९ ॥

महादेव जी कहते हैं कि—हे देवी, वरारोहे! यह विष कहाँ पर किस प्रकार उत्पन्न हुआ और इसके कितने भेद हैं, इन सब बातों को मैं विस्तारपूर्वक कहता हूँ सुनो! हे वरानने! एक समय सब देवता, दैत्य, किन्नर, सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच लोग मिल कर समुद्रमन्थन करने लगे। इस मन्थन में उन्होंने मन्दराचल पर्वत को मन्थान (रई) बनाया। उसके चारों तरफ नागराज (शेषनाग) को लपेट कर खींचने के लिये रस्सी का काम लिया। इसमें एक तरफ ब्रह्मा आदि सब देवता लगे और दूसरी तरफ सब दैत्यों के साथ बलिराज। जब समुद्रमन्थन होने लगा तो उसमें से पहिले बड़े बड़े रत्नों के ढेर, कामधेनु, सुन्दर स्वरूपयुक्त लक्ष्मी निकली। इसके बाद उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, फिर महाशरीर ऐरावत नामक हाथी निकला। हे देवि! इसके बाद समुद्र में से अमृत निकला क्योंकि अमृत निकालने के लिये समुद्र को अत्यधिक मथन करना पड़ा जिससे अत्यन्त जोर से पकड़ने के कारण नागराज को अत्यन्त श्रम उठाना पड़ा। इस परिश्रम से नागराज के शरीर या मुख से विष की ज्वाला निकलने लगी जो धीरे धीरे क्षीरसमुद्र में गिर गई। जो क्षीरसमुद्र में गिर कर वहां के द्रव्य, वाष्प आदि से मिल कर कालकूट नामक महाभयंकर विष में परिणत हो गई। जब यह विष एक पृथक् रूप धारण करके सामने आया तो ऐसा मालूम देता था कि प्रलय करने वाली महाभयंकर अग्नि है अथवा कुपित हुआ यमराज ही सामने आ गया है। इस महाभयंकर द्रव्य को देख कर सब देवता तथा महावीर दैत्य लोग चिन्तातुरमुख होकर तत्काल मेरे पास दौड़े आये। जब उन्होंने यह कहा कि "भगवन्! इस महाभयंकर द्रव्य को सुरक्षित रखने में कोई समर्थ नहीं और सुरक्षित हुये बिना यह संसार को नष्ट कर देगा" तो मैंने उनकी प्रार्थना पर विचार करते हुये, यही उत्तम समझा कि मैं इस विष को पान कर जाऊँ और संसार को इस दुःख से छुड़ा दूँ। अतः मैंने इस विष को पी लिया।

विशेष वचन—विष के विषय में उपर्युक्त कथा को देख कर निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता है कि यह बात सत्य होगी? परन्तु आलंकारिक भाषा में कोई न कोई रहस्य अवश्य होता है। जैसे कि हमने पारद और गन्धक की उत्पत्ति के विषय में देखा है। आजकल यह तो प्रत्यक्ष है कि जल के जोर से निरन्तर टकराने पर बिजली जैसा कितना शक्तिशाली द्रव्य निकलता है। इसी जल का पृथक्करण करके देखें तो उसमें अनेक भयानक और सौम्य गैसें भी बनती हैं या प्राप्त होती हैं। समुद्र के रत्न आदियों के विषय में कुछ कहना ही नहीं है। अनेकों प्रकार के मुक्ता आदि रत्न उससे निकाले जाते हैं। आजकल कुछ इस प्रकार का अन्वेषण किया जा रहा है जिसमें जल को पूर्णरूप से विशुद्ध करने पर उसके एक तोला परिमाण मात्रा में कुछ ऐसी शक्ति पाई गई है जो छटांकों स्वर्ण तथा सेरों खट के योगों के सेवन में नहीं पाई जाती है। इसी तरह यदि जल में पाये जाने वाले विकृत पदार्थों को एकत्र किया जाय तो उसमें विषकथा में वर्णित महाभयंकरता प्राप्त हो सकती है। कम से कम इस कथा से जल के विश्लेषीकरण प्रथा का अनुमान तो अवश्य होता है। आजकल के समुद्रसम्बन्धी अन्वेषणों को सामने रख कर इस कथा पर विचार करते हुये इसकी सत्यासत्यता का निश्चय करना उचित होगा ॥ १—९ ॥

स्थावरविषाणां जातिभेदः—

ततोऽवशिष्टमभवन्मूलरूपेण तद्विषम्।
पत्ररूपेण कुत्रापि मृत्तिकारूपतः क्वचित् ॥ १० ॥
कुत्रचित्तोयरूपेण धातुरूपेण कुत्रचित्।
कन्दरूपेण कुत्रापि त्रयोदशविधं विषम् ॥ ११ ॥

पान करने पर किञ्चित् रूप में शेष बचे हुये विष से मूलविष, पत्रविष, मृत्तिकाविष, जलविष, धातुविष तथा कन्दविष उत्पन्न हो गया। इस प्रकार तेरह प्रकार का कन्दविष उत्पन्न हो गया ॥

कन्दविषाणां नामानि—

तेषु श्रेष्ठं कन्दविषं त्रयोदशविधं स्मृतम्।
कर्कटं कालकूटं च वत्सनाभं हलाहलम् ॥ १२ ॥
बालुकं कर्दमं चैव सक्तुकं मूलकं तथा।
सर्षपं शृङ्गिकं देवि! मुस्तकं च महाविषम् ॥
हारिद्रकमिति प्रोक्तं त्रयोदशविधं विषम् ॥ १३ ॥

उक्त प्रकार की विष जातियों में कन्दजाति का विष श्रेष्ठ और तेरह प्रकार का माना जाता है। १—कर्कट, २—कालकूट, ३—वत्सनाभ, ४—हलाहल, ५—बालुक, ६—कर्दम, ७—सक्तुक, ८—मूलक, ९-सर्षप, १०—शृङ्गिक, ११-मुस्तक, १२—महाविष, १३—हारिद्रक ॥

कर्कटादिकन्दविषाणां लक्षणम्—

कर्कटं कपिवर्णं स्यात्काकचंचुनिभं पुनः।
कालकूटं ततो ज्ञेयं वत्सनाभं तु पाण्डुरम् ॥ १४ ॥
भङ्गुराकन्दवद्देवि! नीलवर्णं हलाहलम्।
बालुकं बालुकाभं च कर्दमं कर्दमोपमम् ॥ १५ ॥
सक्तुकं श्वेतवर्णं स्याच्छुक्लकन्दं तु मूलकम्।
सर्षपं पीतवर्णं स्याच्छृङ्गिकं कृष्णपिङ्गलम् ॥ १६ ॥
मुस्ताभं मुस्तकं प्रोक्तं रक्तवर्णं महाविषम्।

हारिद्रकं पीतवर्णं विषभेदा प्रकीर्तिताः ॥ १७ ॥

उक्त तेरह प्रकार के कन्दविषों में कर्कटविष कपिशवर्ण का होता है। कालकूटविष कौए की चोंच के समान कठोर और कृष्णवर्ण होता है। वत्सनाभ पाण्डुरवर्ण होता है। हलाहलविष, अतीस के कन्द के समान आकार में और वर्ण में नील होता है। बालुकविष के कन्द में भीतर बालुका की भांति कणमय द्रव्य भरा रहता है। कर्दमविष, कर्दम (कीचड़) के समान चिपचिपा कन्द वाला होता है। सक्तुकविष श्वेतवर्ण होता है। मूलकविष का कन्द श्वेतवर्ण होता है। सर्षपविष कन्द पीतवर्ण होता है। शृङ्गिकविष का कन्द कृष्ण तथा पिंगल वर्ण का होता है। मुस्तकविष कन्द मुस्ता के समान आकार में होता है। महाविष कन्द का वर्ण रक्त होता है। हारिद्रविष कन्द हल्दी के समान गाँठ वाला और पीत होता है। ये कन्दविषों के संक्षिप्त लक्षण हैं।

विशेष वचन—इनमें से अधिकांश विष आजकल अनभ्यास के कारण अप्राप्य हैं। अतः इन पर कुछ विशेष नहीं लिखा गया है। यदि इनका कुछ विस्तार देखना हो तो सुश्रुत में विषकल्प देखना चाहिये ॥ १४—१७ ॥

श्वेतादिवर्णभेदे विषाणां जातिभेदाः—

चतुर्धा वर्णभेदेन विषं ज्ञेयं मनीषिभिः।
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः श्वेतरक्ताश्च पीतकाः।
कृष्णवर्णः क्रमाज्ज्ञेयो वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १८ ॥

विद्वान् लोगों को वर्णभेद से विष के चार भेद करने चाहिये। ब्राह्मण आदि वर्णभेद से भी उनके चार भेद हो जाते हैं। इनमें श्वेतवर्ण विष ब्राह्मण जाति का माना जाता है। रक्तवर्ण विष क्षत्रिय जाति का माना जाता है। पीतवर्ण विष वैश्यजाति का माना जाता है। कृष्णवर्ण विष शूद्रजाति का माना जाता है।

वर्णभेदेन विषाणां क्रियाभेदः—

मारणे कृष्णवर्णं स्याद्रक्तं तु रसकर्मणि।
पीतवर्णं क्षुद्रकार्ये श्वेतवर्णं रसायने ॥ १९ ॥

किसी जीवको मारने के निमित्त कृष्णवर्ण विष का प्रयोग किया जाता है। रक्तवर्ण विष पारदके कार्यों (साधन) में प्रयुक्त होता है। अथवा पारद या शरीर की पुष्टि के निमित्त प्रयुक्त किया जाता है। पीतवर्ण विष हरताल आदि क्षुद्रकार्य (कुष्ठ वात रक्त आदि) में प्रयुक्त होता है। श्वेतवर्ण विष प्रायः रसायन कार्य में प्रयुक्त होता है।

विशेष वचन—विषों के वर्णभेद से प्रयोग करने में भावप्रकाश में भी यही लिखा है कि 'रसायने विषं विप्रं क्षत्रियं देहपुष्टये। वैश्यं कुष्ठविनाशाय शूद्रं दद्याद् वधाय च' ॥ १९ ॥

विषामृतयोस्तुल्ययोनित्वनिर्देशः—

क्षीरोदसागरे देवि ! मथ्यमाने वरानने।
उत्पन्नममृतं देवि तथोत्पन्नं महाविषम् ॥ २० ॥

हे देवि ! क्षीर समुद्र के मथन करने में जैसे अमृत उत्पन्न हुआ उसी प्रकार विष भी उत्पन्न हुआ है। अतः इन दोनोंकी उत्पत्ति स्थान समुद्र ही है। अथवा अमृत (पोषकवस्तु) जिस प्रकार अविधिपूर्वक अत्यधिक मात्रा में सेवन करने से विष (मारक) बन जाता है। उसी प्रकार विधिपूर्वक और अत्यल्प मात्रा में सेवन करने से विष अमृत बन जाता है, अमृत का कार्य करता है ॥ २० ॥

विषस्य मात्रानिर्देशः—

आरोटं भक्षयेद्देवि ! विषं सर्षपमात्रकम्।
प्रथमे दिवसे पश्चाद्द्वितीयादौ द्विसर्षपम् ॥ २१ ॥
पंचमे दिवसे देवि ! भक्षयेत्सर्षपत्रयम्।
षट्सप्ताष्टदिनेऽप्येवं नवमे वेदसंख्यया ॥
भक्षयेद्राजिकावृद्ध्या यावद् गुंजामितं भवेत् ॥ २२ ॥

यदि शुद्ध और केवल विष का सेवन करना हो तो पहिले दिन उसकी एक सर्षप मात्रा में सेवन करना चाहिये। उसके अनुकूल पड़ने पर दूसरे दिन दो सरसों के बराबर मात्रा में सेवन करना चाहिये। इसी तरह तीसरे चौथे दिन भी दो सर्षप मात्रा लेनी चाहिये। हे देवि ! पांचवें दिन तीन सरसों भर मात्रा लेनी चाहिये। छटे, सातवें और आठवें दिन भी तीन सरसों भर मात्रा का सेवन करना चाहिये। नवें दिन वेद (चार) सरसों के बराबर मात्रा में सेवन करना चाहिये। दसवें दिन से लेकर प्रतिदिन एक सरसों मात्रा बढ़ा कर एक रत्ती तक मात्रा बढ़ानी चाहिये।

विशेष वचन—परिभाषा के अनुसार छः धूलिकणों (सूक्ष्म) का एक सरसों होता है, छः सरसों का एक यव होता है, छः यव की एक गुञ्जा होती है। इस प्रकार एक रत्ती या गुञ्जा मात्रा एकतालीस दिन में पूरी हो सकती है। इसके बाद छः मास, एक वर्ष या दो वर्ष तक विष की एक गुञ्जा मात्रा ही स्थिर रखनी चाहिये। परन्तु विष या विषयुक्त औषधि का प्रयोग निरन्तर नहीं करना चाहिये। २१ दिन के बाद एक सप्ताह के लि स्थगित करना चाहिये ॥ २१-२२ ॥

प्रयोगकालभेदेन विषस्य क्रियाविशेषः—

मासत्रयप्रयोगेण कुष्ठान्यष्ट हरेद्विषम्।
पुण्डरीकं सविस्फोटं श्वेतमौदुम्बरं तथा ॥ २३ ॥
छिन्नभिन्नं कपालाख्यं क्लिष्टाङ्गं शवगन्धि च।
कुष्ठानि गदितान्यष्ट हन्याद्देवि ! महाविषम् ॥२४॥
षण्मासस्य प्रयोगेण कामरूपो भवेन्नरः।

संवत्सरप्रयोगेण सर्वरोगान् व्यपोहति ॥
द्विवत्सरप्रयोगेण दिव्यदेहो भवेन्नरः ॥ २५ ॥

उक्त प्रकारसे मात्रापूर्वक शुद्ध विष का एक मास तक सेवन करनेसे निम्नलिखित आठ प्रकार के कुष्ठ दूर होते हैं। हे देवि! १. पुण्डरीक, २. विस्फोट, ३. श्वेतकुष्ठ, ४. औदुम्बरकुष्ठ, ५. छिन्नभिन्नकुष्ठ, ६. कपालकुष्ठ, ७. क्लिन्नकुष्ठ, ८. शवगन्धिकुष्ठ; इस प्रकार ये आठ कुष्ठ कहे जाते हैं जिनको यह महाविष नष्ट करता है। छः मास तक विष का निरन्तर विधिपूर्वक सेवन किया जाय तो मनुष्य के सब त्वचा के रोग दूर होकर उसका शरीर कामदेव के समान सुन्दरकान्तियुक्त हो जाता है। यदि एक वर्ष तक प्रयोग किया जाय तो शारीरिक सब रोग नष्ट हो जाते हैं। दो वर्ष तक विष का प्रयोग करने पर मनुष्य का शरीर दिव्यस्वरूप हो जाता है।

विशेष वचन—छिन्नभिन्न, शवगन्धि आदि कुष्ठोंका वर्णन चरक, सुश्रुत में न पाये जाने पर इनकी असत्यता स्वीकार नहीं करनी चाहिये। क्योंकि चरक तथा सुश्रुत में भी कुष्ठों के नामों में मतभेद है। चरकोक्त मण्डल चर्म, अलसक, शतारु आदि कुष्ठ सुश्रुतमें नहीं मिलते और सुश्रुतोक्त अरुण, रकसा आदि कुष्ठ चरकमें नहीं पाये जाते हैं। अतः कुष्ठों के अनेकविध होने के कारण तथा ग्रन्थकर्ताओं के भी अनेक होने के कारण उक्त छिन्नभिन्न, शवगन्धि आदि कुष्ठ शास्त्रसम्मत हो सकते हैं। चरक ने स्पष्ट लिख दिया है कि कुष्ठ सात प्रकार के, अठारह प्रकार के तथा असंख्यभेदयुक्त होते हैं, 'कुष्ठं सप्तविधमष्टादशविधमसंख्येयं वा' ॥

मात्राऽमात्राभेदेन विषामृतयोर्गुणागुणौ—

मात्रया भक्षितं देवि ! विषमप्यमृतायते ।
मात्राधिकं वरारोहे ! ह्यमृतं हि विषं भवेत् ॥ २६ ॥

मात्रापूर्वक सेवन करने पर विष भी अमृत का कार्य करता है और मात्रा से अधिक तथा अविधिपूर्वक सेवन किया हुआ अमृत भी विषवत् मारक हो जाता है ॥ २६ ॥

विषामृतयोः सहसाप्रयोगे दोषः—

अमृतं सहसा युक्तं शीलितं विषमेव वा ।
सात्म्याऽसात्म्यं विकाराय मृत्यवे च वरानने ! ॥२७॥

सात्म्य (अनुकूल, लाभदायक) अमृत भी सहसा सेवन करने पर विकार तथा मृत्यु का कारण बन सकता है। इसी तरह असात्म्य (प्रतिकूल) विष भी शनैः शनैः विधिपूर्वक सेवन करने पर प्रकृति के अनुकूल हो जाता है और विकार तथा मृत्यु को दूर करने में समर्थ होता है ॥ २७ ॥

सहसा विषसेवनेऽष्टौ विषवेगाः—

वेगाश्चाष्ट प्रजायन्ते सहसा विषशीलिनः ।
प्रथमे त्वग्विकारः स्याद्द्वितीये वेपथुर्भवेत् ॥२८॥

दाहो वेगे तृतीये स्याच्चतुर्थे विकृतो भवेत् ।
फेनोद्गतिः पञ्चमे स्यात्स्कन्धयोर्भङ्गता ततः ॥ २९ ॥
जाड्यता सप्तमे वेगे चाष्टमे मरणं ध्रुवम् ।
एवं ज्ञात्वा वरारोहे प्रतीकारं समाचरेत् ॥ ३० ॥

सहसा और अधिक मात्रा में अशुद्ध विष के सेवन करने पर शरीर में आठ वेग उत्पन्न होते हैं। प्रथम वेग में त्वचा में विकार अर्थात् शरीर, नेत्र और ओष्ठ आदि का वर्ण बदल जाता है। द्वितीय वेग में शरीर में वातिक क्षोभ बढ़ जाने से कम्प आरम्भ हो जाता है। तृतीय वेग में सर्वशरीर में दाह होने लगता है। चौथे वेग में शरीर की सम्पूर्ण रचना में विकृति आ जाती है। पाँचवें वेग में मुख से झाग निकलने लगती है। छठे वेग में स्कन्धों में क्षीणता हो जाती है जिससे मनुष्य बैठ नहीं सकता है। सातवें वेग में सर्वशरीर में जड़ता (अकड़ाहट) आ जाती है। आठवें वेग में मृत्यु हो जाती है। हे वरारोहे! उक्त वेगों का अच्छी तरह निरूपण करके उनका तत्काल समुचित रूप से प्रतीकार करना चाहिये।

विशेष वचन—उक्त वेगों के लक्षण प्रायः स्थावर विष के सेवन करने पर मिलते हैं। अतः रोगी या रोगी के घर वालों से स्थावर या जंगम विष के विषय में पूछ कर पूर्ण निश्चय करके प्रतीकार करना चाहिये ॥ २८–३० ॥

विषसेवने संशोधनविधिः—

पित्तान्तं वमनं कुर्यादामान्तं रेचनं चरेत् ॥ ३१ ॥

स्थावर विष के अधिक मात्रा में खाये जाने पर यदि वह विष आमाशय में हो तो रोगी को वमन कराना चाहिये। यह वमन भी तब तक कराना चाहिये जब तक आमाशयगत भोजन के साथ विष निकल कर उसमें अन्त में पित्त निकलने लगे। पक्वाशय में पहुँचने पर रोगी को विरेचन देना चाहिये। विरेचन भी तब तक होने चाहिये जब तक कि उनमें आम निकलने लगे।

विशेष वचन—विष की वमन और विरेचन मुख्य चिकित्सा है। इस क्रिया से विष का बहुत सा भाग बाहर निकल आता है। "आमान्तश्च विरेचनम्" के स्थान पर अनेक पुस्तकों में "कफान्तश्च विरेचनम्" ऐसा पाठ मिलता है ॥ ३१ ॥

विषघ्नो गणः—

जातिनीलीश्वरीसिन्धुकाकमाच्यद्रिकर्णिका ।
त्रिफला करवीरं च कुष्ठं मधुकजीरकम् ॥
क्षीरिवृक्षत्वगेलेति विषघ्नोऽयं गणः स्मृतः ॥ ३२ ॥

चमेली के पत्ते, शरपुंखा या नील, ईश्वरमूल, सैन्धानमक, मकोय, अपराजित, त्रिफला, कनेर की छाल, कूठ, मुलेठी, जीरा,

बड़, पीपल, गूलर, पाकर और पारिस, पीपलवृक्षों की छाल, इलायची; इन सब औषधियों को मिला कर 'विषघ्नगण' के नाम से कहा जाता है। विषनाशार्थ इनका क्वाथ, अवलेह, लेप, सिंचन आदि किया जाता है ॥ ३२ ॥

गव्यघृतस्य विषघ्नोक्तिः—

विषघ्नं गोघृतं देवि ! मांगल्यं जीवनं स्मृतम् ॥३३॥

हे देवि ! गौ का घी विषनाशक होता है। इसके अतिरिक्त यह मांगल्य (मंगलमय कार्यों में हवन आदि में प्रयुक्त होता है) जीवनप्रद माना जाता है।

विशेष वचन—गोघृत में ओजस्यशक्ति अधिक होती है जो कि विष के खाने से नष्ट हो जाती है। घृत शीत होने से विष के उष्णप्रभाव को नष्ट करता है ॥ ३३ ॥

विषस्य प्रयोगविधिः—

अश्वगन्धां सगोजिह्वां त्रिशूलीं त्रिफलामपि।
प्रथमं भक्षयित्वा च सेवयेद्गरलं ततः ॥ ३४ ॥
ब्रह्मचर्यं वरारोहे ! विषकाले समाचरेत्।
पथ्यं स्वस्थमनाः भुक्त्वा तदा सिद्धिर्न संशयः ॥३५॥

विष सेवन करने के पूर्व कुछ काल तक असगन्ध, गोजिह्वा, पारदभस्म या पारदीय योग रससिन्दूर आदि, त्रिफला का सेवन करना चाहिये। तदनन्तर विधिपूर्वक विषरसायन सेवन करना चाहिये। परन्तु विषरसायन सेवनकाल में पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना अत्यावश्यक है। इसके साथ ही मनुष्य को विष में पथ्य पदार्थों का सेवन तथा काम क्रोध शोक आदि से मुक्त होकर प्रसन्नचित रहना चाहिये। बिना ब्रह्मचर्य, पथ्य तथा प्रसन्नता के विषरसायन की सिद्धि नहीं होती है ॥ ३४–३५ ॥

विषसेविनः पथ्यापथ्य विधिः—

गव्ये क्षीरघृते पेये शाल्यन्नमिदमेव च।
शीतलं च पिबेत्तोयं पित्तलानि च वर्जयेत् ॥ ३६ ॥
जाङ्गलानि च मांसानि छागलोहं च मद्गुरान्।
शर्करां माक्षिकं क्षीरं सेवनीयं प्रयत्नतः ॥
सेव्यं देवि ! सदा पथ्यमपथ्यं दूरतस्त्यजेत् ॥३७॥

विषसेवनकाल में गौ का घृत तथा दूध का सेवन, शालि चावलों का भात, शीतल जल का पान तथा स्नान पथ्य है। परन्तु पित्तप्रकोपक उष्ण तीक्ष्ण द्रव्य जैसे मिर्च मसाले वाले भोजन उष्ण भोजन अचार आदि नहीं खाने चाहिये। यदि मांस खाना अभीष्ट हो तो जाँगल पशुपक्षियों का मांस बकरे का रक्त (ताजा), मूँग, शर्करा, मधु, क्षीर (दूध); इनका अधिक सेवन करना चाहिये। हे देवि ! विष कल्प में पथ्यसेवन में अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिये ताकि अपथ्य का नाममात्र को भी संसर्ग (सेवन) न होने पावे ॥ ३६–३७ ॥

प्रयोज्यविषाणि—

उद्धृतं फलपाकेन नवं स्निग्धं घनं गुरु।
अव्यापन्नं विषहरैरवाताऽऽतपशोषितम् ॥३७॥
रक्तसर्षपतैलेन लिप्ते वाससि धारितम्।
सक्तुकं मुस्तकं शृङ्गी बालुकं सर्षपाह्वयम् ॥३९॥
वत्सनाभं च कर्मण्यं कालकूटादिकं ततः।
न जात्वन्यत्प्रयोक्तव्यं— ॥४०॥

पूर्वोक्त कन्दविषों (सक्तुक, मुस्तक, शृंगिक, बालुक, सर्षपक, वत्सनाभ, कालकूटादि) में किसी भी विष का सेवन करना हो तो उसे तब लेना चाहिये। जब कि वह पूर्ण रूप से पक जाय अर्थात् जिसमें रस, गुण, वीर्य, विपाक उचित मात्रा में प्राप्त हो चुके हों। और वह नवीन स्निग्ध, घनावयव तथा गुरुभार हो। जिस पर विषहर द्रव्यों का कोई सम्पर्क न हुआ हो तथा जो विकृत वायु तीव्र सूर्यकिरणों से दग्ध न हो। इससे भिन्न प्रकार के विषों को अर्थात् कच्चे, सूखे, अकाल उद्धृत, हल्के कन्द विषों का कल्प कदापि न करें।

विशेष वचन—उक्त विषों से वातातप का विकृत सम्पर्क होने या विषहर द्रव्यों के साथ उगने और पुराने पड़ने से उनमें दूषीविषता आ जाती है। जैसे—"जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा। स्वभावतो वा गुणविप्रहीणं विषं हि दूषीविषतामुपैति" ॥ ३८–४० ॥

तीक्ष्णविषातियुक्तविषयोश्चिकित्सा—

—विषे तीक्ष्णे च चारिते।
अतिमात्रे च कर्मण्ये पेयम् घृतमनन्तम् ॥४१॥
सभार्ङ्गीदधिधूमोत्थसारिवातण्डुलीयकम्।
आगारधूममञ्जिष्ठायष्ट्याह्वैर्वा समन्वितम् ॥४२॥
लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां चूर्णितामर्जुनत्वचम्।
टङ्कणं मेघनादेन मधुना वाऽऽपि पल्लवान् ॥४३॥

यदि किसी तीक्ष्ण विष का प्रयोग किया जाय जो कि अधिक उपयोगी हो या किसी विष की अधिक मात्रा सेवन की जाय तो उसकी तीक्ष्णता कम करने के लिये घृत पान करना चाहिये। अथवा भारंगी, दही, घर का धुँआँ, सारिवा, चौलाई की जड़ का चूर्ण घृत में मिला कर सेवन कराना चाहिये। अथवा घर का धुँआँ, मजीठ और मुलेठी का चूर्ण घृत के साथ चटाना चाहिये। अथवा अर्जुन की छाल के चूर्ण को शहत और घी के साथ मिला कर चटाना चाहिये। अथवा शुद्ध सुहागाचूर्ण चौलाई की जड़ के स्वरस के साथ या तेजबल या चमेली के पत्तों को मधु में घोट कर चटाना चाहिये ॥ ४१–४३ ॥

रसायनार्थे विषप्रयोगविधिः—

विषं युञ्जीत नित्यं वै रसायनगुणैषिणः।

घृतोपस्कृतदेहस्य विशुद्धस्य हिताशिनः ॥४४॥

पथ्य भोजन करने वाले विशुद्धशरीर मनुष्य को, जो कि पर्याप्त घृत का सेवन करता हो, रसायन गुणों की प्राप्ति के लिये प्रतिदिन अत्यल्प मात्रा में विष का सेवन करा सकते हैं ॥४४॥

विषप्रयोगार्हपुरुषकालयोर्निर्देशः—

सात्त्विकस्योदिते भानौ योज्यं शीतवसन्तयोः ।
ग्रीष्मे चात्ययिके व्याधौ— ॥४५॥

विषकल्प सेवन करने के लिये सात्विक (सत्वगुणाधिक या कफपित्त) पुरुष के लिये शीत तथा वसन्त काल उचित है। सात्विक पुरुष को अत्यन्त भयानक रोग होने पर जो कि बिना विष प्रयोग के शान्त नहीं हो सकता हो तो उसे ग्रीष्मकाल में विष का सेवन करा सकते हैं ॥ ४५ ॥

विषप्रयोगानर्हकालादिनिर्देशः—

—न वर्षासु न दुर्दिने ।
न क्रोधिनि न पित्तार्ते न क्लीबे राजवेश्मनि ॥४६॥
क्षुत्तृष्णाश्रमघर्माध्वव्याध्यन्तरनिपीडिते ।
गर्भिण्यां बालवृद्धेषु न रूक्षेषु न मर्मसु ॥४७॥

क्रोधी स्वभाव, पित्तप्रकोपयुक्त मनुष्य को विष का सेवन नहीं कराना चाहिये। नपुंसक मनुष्य भी विषसेवन के योग्य नहीं है। राजघर में किसी को विषकल्प या विषयुक्त औषधि नहीं देनी चाहिये। इसी प्रकार क्षुधा, तृषा, श्रम, गर्मी से पीड़ित तथा अत्यधिक मार्ग श्रम से पीड़ित मनुष्य को तथा व्याधि (रोग) के पश्चात् दुर्बलता में, गर्भिणी स्त्री, बालक या वृद्धपुरुष या अत्यन्त रूक्षशरीर मनुष्य को विष का प्रयोग (सेवन) नहीं कराना चाहिये। इसी तरह मर्म स्थान में उत्पन्न हुये रोगों में जैसे हृदयरोग, मस्तिष्क के रोगों में विषप्रयोग अच्छा नहीं रहता है। वर्षाऋतु तथा दुर्दिन में विष का प्रयोग नहीं कराना चाहिये।

विषे निषिद्धद्रव्याणि—

अभ्यस्तेऽपि विषे यत्नाद्वर्ज्यवस्तु निवर्तयेत् ।
कट्वम्ललवणं तैलं दिवास्वप्नानलातपान् ॥ ४८ ॥

विष के चिरकाल तक सेवन करने पर अच्छी तरह सात्म्य हो जाने पर भी विषप्रयोग में वर्ज्य वस्तुओं पर परहेज अवश्य ही करना चाहिये। विषप्रयोग में संक्षेपतः कटु (चटपरा), अम्ल (खट्टा), लवण पदार्थ, तैल, दिन में सोना, अग्नि के पास बैठ कर काम करना और तेज धूप में चिरकाल तक घूमना निषिद्ध है ॥

अवस्थाविशेषे विषस्यापकारत्वनिर्देशः—

दृग्विभ्रमं कर्णरुजमन्यांश्चानिलजान् गदान् ।
विषं रूक्षाशिनः कुर्यान्मृत्युमेव त्वजीर्णिनः ॥ ४९ ॥

रूक्षशरीर (वातप्रकोपयुक्त दुर्बलशरीर) मनुष्य यदि विष का सेवन करता है तो उसकी दृष्टि में विकार, कानों में पीड़ा और अन्यान्य वातप्रकोपजन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अजीर्ण वाले को विष का प्रयोग कराने पर उसकी मृत्यु होने की सम्भावना रहती है ॥ ४९ ॥

विषशोधनम्—

अथ गोमूत्रसंयुक्तमातपे शोषयेत्त्र्यहम् ।
विषं बृंहणमेतद्धि विषस्यादौ प्रशस्यते ॥ ५० ॥

विष के छोटे छोटे खण्ड करके ताजे गोमूत्र में डाल कर धूप में रख देना चाहिये। दूसरे दिन फिर उसमें ताजा मूत्र डाल कर धूप में रख दें। तीसरे दिन भी ताजा गोमूत्र डाल कर धूप में सुखावें। चौथे दिन मूत्र को पृथक् करके विष को धूप में सुखा कर चूर्ण कर लें। इस प्रकार शोधन करने से विष में कार्य करने की शक्ति बढ़ जाती है और विकार करने की शक्ति घट जाती है। अतः विषसेवन के पूर्व उसका गोमूत्र में शोधन करना आवश्यक है ॥ ५० ॥

नवज्वरे प्रथमविषकल्पः—

तत्पिबेन्मस्तुना वातज्वरे क्षीरेण पित्तजे ।
शकृन्मूत्रेण कफजे सर्वजे त्रिफलाम्भसा ॥ ५१ ॥

वातप्रकोपजन्य नवीन ज्वर में विष को दही के जल के साथ, पित्तप्रकोपजन्य नूतनज्वर में दूध के साथ, कफप्रकोपजन्य ज्वर में गोबरस्वरस तथा गोमूत्र में मिला कर सान्निपातिकज्वर में त्रिफला-कषाय या फाण्ट के साथ प्रयोग करना चाहिये ॥ ५१ ॥

जीर्णज्वरे द्वितीयविषकल्पः—

रोध्रचन्दनषड्ग्रन्थाशर्कराघृतमाक्षिकैः ।
क्षीरेण च विषं युक्तं जीर्णज्वरहरं परम् ॥ ५२ ॥

जीर्णज्वर में लोध, चन्दन तथा वचाचूर्ण को विषचूर्ण में मिला कर शर्करा, घृत तथा शहत के साथ चाटना चाहिये और अनुपान में दूध देना चाहिये ॥ ५२ ॥

जीर्णज्वरादि तृतीयविषकल्पः—

निकुम्भकुम्भत्रिफलासर्पिर्मधुविषैः कृतः ।
निहन्ति मोदको जीर्णज्वरमेहत्वगामयान् ॥ ५३ ॥

छोटी दन्ती की छाल, बड़ी दन्ती की छाल, त्रिफलाचूर्ण और विष को घी और शहत में मिला कर गोलियाँ बना कर रख लें। इन गोलियों को प्रतिदिन उचित मात्रा में सेवन करने से जीर्णज्वर, प्रमेह तथा त्वचारोग (कण्डू, पामा आदि) नष्ट होते हैं ॥ ५३ ॥

विषमज्वरे चतुर्थविषकल्पः—

शिखिकर्णिरसोपेतं विषमज्वरविद्वेषम् ॥ ५४ ॥

चित्रकमूल तथा अमलतासमूलत्वक् के स्वरस में विष को मिला कर सेवन करने से विषमज्वर दूर होता है।

विशेष वचन—शिखिकर्णी से कलिहारीपत्रस्वरस भी लिया जा सकता है। कोई इससे अग्निकर्णी वृक्ष का ग्रहण करते हैं॥

रक्तपित्ते पञ्चमविषकल्पः—

विषं यष्ट्याह्वयं रास्ना सेव्यमुत्पलकन्दकम्।
तण्डुलोदकपीतानि रक्तपित्तस्य भेषजम्॥ ५५॥

विषचूर्ण, मुलेठी, रास्ना, खस, नीलकमलकन्दचूर्ण को एकत्र मिला कर चावलों के जल या धोवन से सेवन करने पर रक्तपित्त रोग दूर होता है॥ ५५॥

श्वासकासे षष्ठविषकल्पः—

रास्नाविडङ्गत्रिफलादेवदारुकटुत्रयम्।
पद्मकं क्षौद्रममृता विषं च श्वासकासजित्॥ ५६॥

रास्ना, वायविडंग, त्रिफला, देवदारु, त्रिकटु, पद्माक तथा गिलोय मिश्रित चूर्ण में उचित मात्रा में विषचूर्ण मिला कर मधु के साथ चाटने से श्वास कास शान्त होते हैं॥ ५६॥

श्वासहिक्कयोः सप्तमविषकल्पः—

सिता रसविषक्षीरप्रवालमधुकान्विता।
श्वासहिक्कापहा लीढा— ॥ ५७॥

पारदभस्म (रससिन्दूर), विष, प्रवालभस्म, मुलेटीचूर्ण को समभाग में लेकर उचित मात्रा में मिश्री मिले हुये दूध के साथ सेवन करने से हिचकी और श्वासरोग दूर होते हैं॥ ५७॥

छर्द्यामष्टमविषकल्पः—

—छर्दिघ्नास्तु विषान्विताः।
क्षौद्रोशीरमधुक्षाररजनीकुटजत्वचः॥ ५८॥

विष, खस, यवक्षार, हरिद्रा तथा कुटजचूर्ण को एकत्र मिला कर शहद के साथ चाटने से वमन बन्द हो जाती है॥ ५८॥

क्षये नवमविषकल्पः—

च्यवनप्राशनोपेतं विषं क्षपयति क्षयम्॥ ५९॥

च्यवनप्राशावलेह में उचित मात्रा में विष मिला कर सेवन करने से राजयक्ष्मा रोग शान्त होता है॥ ५९॥

विषविद्रावणघृताख्यो दशमविषकल्पः—

विजया पिप्पलीमूलं पिप्पलीद्वयचित्रकैः।
पुष्कराह्वा सटी द्राक्षा यमानीक्षारदीप्यकैः॥ ६०॥
सितायष्टिद्विबृहतीसैन्धवैः पालिकैः पचेत्।
सविषार्द्धपलैः प्रस्थं घृतात्तज्जीर्णभुक् पिबेत्॥ ६१॥
दुर्नाममेहगुल्मार्मतिमिरक्रिमिपाण्डुकान्।
गलग्रहग्रहोन्मादकुष्ठानि च नियच्छति॥
विषविद्रावणं नाम घृतं विषरुजं हरेत्॥ ६२॥

विजया (भाँग के पत्ते), पिपरामूल, पिप्पली, गजपिप्पली, चित्रकमूल, पुष्करमूल, कचूर, द्राक्षा, अजवाइन, यवक्षार, जीरा सफेद, मिश्री, मुलेठी, दोनों कटेली, सैन्धानमक; प्रत्येक एक एक पल, अतीस आधा पल लेकर जल के साथ पीस कर कल्क कर लें। इसमें एक प्रस्थ गोघृत मिला कर चार प्रस्थ जल डाल कर पकावें। जब घृतमात्र शेष रहे तब उसे उतार कर छान लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करने से अर्श, प्रमेह, गुल्म, अर्म (नेत्ररोग), तिमिर (रतौंधी), उदरकृमि, पाण्डु, गलग्रह (उद्वर्त), ग्रहोन्माद (पिशाच, यक्ष, राक्षस आदि जन्य उन्माद), कुष्ठरोग शान्त होते हैं। यह विष विद्रावण (सञ्चित विष को बाहर निकालने वाला) नामक घृत कहा जाता है। यह विषसम्बन्धी नूतन या पुरातन सब पीड़ाओं को दूर करता है।

विशेष वचन—मात्रा ६ मासा। इस घृत में विजया आदि द्रव्य कल्क रूप में एक एक पल लिये गये हैं। जो साधारण परिभाषा के अनुसार अत्यधिक हैं। अतः यह साधारण कल्क परिभाषा का अपवाद समझना चाहिये। इससे यही अच्छा होगा कि इन औषधियों के कषाय में इस घृत को सिद्ध कर लिया जाय और गण न होते हुये भी इन्हीं का चतुर्थांश कल्क डाला जाय। 'पिप्पलीद्वय' के स्थान पर कहीं कहीं 'रजनीद्वय' पाठान्तर मिलता है। हरिद्रा भी विष के लिये उत्तम द्रव्य है इस घृत को प्रातःकाल भोजन के अच्छी तरह जीर्ण होने पर सेवन करना चाहिये॥६२॥

ग्रहण्यामेकादशविषकल्पः—

मुस्तावत्सकपाठाग्निव्योषप्रतिविषाविषम्।
धातकीमोचनिर्यासः चूतास्थि ग्रहणीहरम्॥ ६३॥

मुस्ता, वत्सक (कुडा), पाठा, चित्रक, त्रिकटु, अतीस, शुद्ध विष, धाय के फूल, मोचरस तथा आम की गुठली की मज्जा; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र चूर्ण कर लें। इसमें से प्रतिदिन उचित मात्रा में सेवन करने से ग्रहणीरोग दूर होता है॥ ६३॥

मूत्रकृच्छ्रे द्वादशविषकल्पः—

कृच्छ्रघ्नं विषपथ्याग्निदन्तीद्राक्षानिशावृषाः॥ ६४॥

शुद्ध विषचूर्ण, हरीतकी, चित्रक, दन्तीत्वक्, द्राक्षा, हरिद्रा तथा वासात्वक्चूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में मूत्रल द्रव्यों के कषाय के साथ सेवन करने से मूत्रकृच्छ्ररोग दूर होता है॥ ६४॥

उदावर्ताश्मर्योस्त्रयोदशविषकल्पः—

शिलाजतु विषं त्र्यूषमुदावर्ताश्मरीहरम्॥ ६५॥

शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध विष, त्रिकटु; प्रत्येक का समभाग चूर्ण को एकत्र पीस कर रख लें। इसको उचित मात्रा में सेवन करने पर उदावर्त तथा पथरीरोग दूर होते हैं॥ ६५॥

अश्मर्यां चतुर्दशविषकल्पः—

गोमूत्रक्षारसिन्धूत्थविषपाषाणभेदकम् ।
वज्रवद्दारयत्येतदेकतः पीतमश्मरीम् ॥ ६६ ॥

यवक्षार, सैन्धानमक, शुद्ध विष (वत्सनाभ), पाषाणभेद; प्रत्येक समभाग में एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर गोमूत्र के साथ सेवन करने से यह चूर्ण अश्मरी को तोड़ने में वज्र के समान कार्य करता है ॥ ६६ ॥

गुल्मे पञ्चदशविषकल्पः—

त्रिफलास्वर्जिकाक्षारैर्विषं गुल्मप्रभेदनम् ॥ ६७ ॥

त्रिफलाचूर्ण, सज्जीखार तथा शुद्ध वत्सनाभ; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसको उचित मात्रा में सेवन करने से गुल्मरोग शान्त होता है ॥ ६७ ॥

शूले षोडशविषकल्पः—

पिप्पली पिप्पलीमूलं विषं शूलहरं तथा ॥ ६८ ॥

पिप्पली, पिप्पलीमूलचूर्ण तथा शुद्ध विष; प्रत्येक समभाग में लेकर उचित मात्रा में सेवन करने से शूलरोग शान्त होता है ॥

गुल्मप्लीह्नि सप्तदशाष्टादशविषकल्पौ—

विषं द्रवन्ती मधुकं द्राक्षारास्नाशठीकणा ।
विषं वेल्लमिषिक्षीरं गुल्मप्लीहनिवर्हणम् ॥ ६९ ॥

शुद्ध विष, दन्ती, मुलेठी, द्राक्षा, रास्ना, कचूर, पिप्पलीचूर्ण को एकत्र पीस कर उचित मात्रा में सेवन करने से अथवा शुद्ध विष, वायविडंग, सौंफ तथा यवक्षार; प्रत्येक समभाग में पीस कर जल से सेवन करने पर गुल्म तथा प्लीहारोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—'विषं वेल्लमिषिक्षीरम्' के स्थान पर 'विषा-वेल्लमिषिक्षारम्' पाठान्तर मिलता है। दो योग होने पर 'विषं' पाठ ठीक प्रतीत होता है। परन्तु 'क्षीरं' के स्थान पर गुल्म तथा प्लीहा में लाभदायक होने से 'क्षारम्' पाठ ही उचित प्रतीत होता है ॥

प्लीह्नि एकोनविंशविषकल्पः—

प्लीहोदरघ्नं पयसा शताह्वाकृमिजिद्विषम् ॥ ७० ॥

सौंफ, वायविडंग तथा शुद्ध वत्सनाभ को समभाग में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में दूध के साथ कुछ दिन सेवन करने से प्लीहोदर शान्त होता है ॥ ७० ॥

कुष्ठे विंशविषकल्पः—

वायसीमूलनिष्क्वाथपीतं कुष्ठहरं विषम् ॥ ७१ ॥

कौआठोडी की जड़ का कषाय अनुपान से शुद्ध वत्सनाभविष चूर्ण को उचित मात्रा में सेवन करने पर कुछ दिन में कुष्ठ, (त्वचा रोग) में आराम आता है ॥

कुष्ठे एकविंशविषकल्पः—

पयस्याराजवृक्षत्वक्त्रायन्तीवाकुचीबलात् ।
प्लीहघ्नीभकणाभ्यां च विषं क्वाथेन कुष्ठजित् ॥७२॥

क्षीरकाकोली, अमलतास की छाल, त्रायमाणा, बावची, खिरैंटी, शरपुंखा, पिप्पली के कषाय के साथ कुछ काल तक विष का सेवन करने से कुष्ठ रोग शान्त होता है ॥ ७२ ॥

कुष्ठे द्वाविंशविषकल्पः—

अवल्गुजैडगजयोर्बीजं क्षारद्वयं विषम् ।
लेपः ससैन्धवः पिष्टो वारिणा कुष्ठनाशनः ॥ ७३ ॥

बावची, चक्रमर्द (पनवाड़) के बीज, यवक्षार, सज्जीखार, शुद्ध विष और सैन्धानमक प्रत्येक समभाग में लेकर जल के साथ पीस कर लेप करने से कुष्ठ (त्वचारोग) रोग शान्त होता है ॥

विचर्चिकादौ त्रयोविंशचतुर्विंशविषकल्पौ—

चित्रकार्कजटाहस्तिपिप्पलीवाकुचीविषैः ।
सचन्द्रकैरण्डगजकरंजफलसैन्धवैः ॥ ७४ ॥
सव्योषस्वर्जिकाक्षारयवक्षारनिशाद्वयैः ।
अगारधूमसहितैर्बस्तमूत्रेण कल्पितैः ॥ ७५ ॥
भल्लातकाग्निशम्पाकविषैर्वा मूत्रपेषितैः
लेपो विचर्चिकादद्रूरसिकाकिटिमापहः ॥ ७६ ॥

चित्रकमूल, आक की जड़, गजपीपल, बावची, विष, कौंच के बीज, चक्रमर्द, करञ्जफल, सैन्धानमक, त्रिकटु, सज्जीखार, यवक्षार, हल्दी, दारुहल्दी, घर का धुँआँ; प्रत्येक समभाग में लेकर बकरे के मूत्र में पीस कर लेप करने से अथवा शुद्ध भल्लातक, चित्रक, अमलतास की छाल, शुद्ध विष प्रत्येक समभाग में लेकर गोमूत्र में पीस कर लेप करने से विचर्चिका, दाद, रसिका तथा किटिभ कुष्ठ शान्त होते हैं।

विशेष वचन—'रसिका' के स्थान पर सुश्रुतोक्त 'रकसा' पाठ अच्छा है।

विचर्चिकादौ पञ्चविंशविषकल्पः—

शम्पाकपत्रत्वङ्मूलं विषं तक्रं च तद्गुणम् ७७ ॥

अमलतास के पत्ते तथा मूल, त्वक् और विष को तक्र के साथ पीस कर लेप करने से भी विचर्चिका आदि उक्त रोग दूर होते हैं ॥ ७७ ॥

कुष्ठे षड्विंशविषकल्पः—

कुष्ठतुम्बुरुबीजानि वाजिगन्धाम्लवेतसम् ।
हरिद्रा वायसी रास्ना हरितालं मनःशिला ॥ ७८ ॥
पटोलनिम्बपत्राणि कणागन्धकसैन्धवम् ।
विषं दारु शिरीषास्थि तक्रं लेपेन कुष्ठजित् ॥ ७९ ॥

कूठ, धनिया, असगन्ध, अमलवेत, हरिद्रा, कौआठोडी, रास्ना, हरताल, मैनसिल, पटोलपत्र, निम्बपत्र, पिप्पली, गन्धक, सैन्धानमक, विष, देवदारु, सिरस के बीज; प्रत्येक समभाग में लेकर तक्र के साथ पीस कर लेप करने से कुष्ठ रोग शान्त होता है ॥

कुष्ठे विषतैलाख्यसप्तविंशविषकल्पः—

करञ्जकरवीरार्कमालतीरक्तचन्दनैः ।
आस्फोताकुष्ठमञ्जिष्ठासप्तच्छदनिशानतैः ॥ ८० ॥
सिन्धुवारवचाक्ष्वेडैर्गवां मूत्रे चतुर्गुणे ।
सिद्धं कुष्ठहरं तैलं दुष्टव्रणविशोधनम् ॥ ८१ ॥

करञ्जबीजमज्जा, कनेर की छाल, आक की जड़, चमेली के पत्ते, लालचन्दन; अपराजिता, कूठ, मञ्जिष्ठा, सप्तपर्णत्वक्, हल्दी, तगर, निर्गुण्डी, वचा तथा विष; प्रत्येक समभाग में लेकर तैल से चतुर्थांश कल्क कर लें। इस कल्क से चौगुना तैल और तैल से चौगुना बकरे का मूत्र लेकर सब को एक पात्र में डाल कर तैल सिद्ध कर लें। इस तैल की मालिश से कुष्ठ दूर होता है और दुष्टव्रण (खराब हुए फोड़े) शुद्ध होकर भरने लगते हैं।

विशेष वचन—कुष्ठरोगों के लिये प्रयुक्त होने वाला तैल प्रायः सरसों का होता है। चरक में भी इसका निर्देश मिलता है, यथा—'तैलानि सर्षपाणां करञ्जकोषातकीगुदादीनाञ्च। कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं यच्चापि खदिरस्य ॥' सिद्धयोग में 'निशानतैः' के स्थान पर 'निशाद्वयम्' पाठ दिया है और वहाँ करञ्जादिकल्कार्थ द्रव्य प्रत्येक आधा आधा पल, विष एक पल, तैल एक प्रस्थ लेकर तैल सिद्ध किया गया है ॥८०-८० ॥

कुष्ठे अष्टाविंशविषकल्पः—

कुष्ठाश्वमारभृङ्गार्कमूलस्नुक्क्षीरसैन्धवैः ।
तैलं सिद्धं विषावापमभ्यङ्गात् कुष्ठजित् परम् ॥८२॥

कूठ, कनेर की छाल, भाँगरा, आक की जड़ की छाल, थोहर का दूध, सैन्धानमक और विष; प्रत्येक समभाग में लेकर जल से पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क से चतुर्गुण सरसों का तैल और तैल से चौगुना जल लेकर सब को एकत्र करके तैल पका लें। इस तैल की शरीर में मालिश करने से कुष्ठ शान्त होता है।

विशेष वचन—'विषावापं' से कोई कुष्ठ आदि द्रव्यों के कल्क से तैल बना कर उसमें मालिश करते समय विषचूर्ण मिला कर मालिश करने को कहते हैं ॥ ८२ ॥

कुष्ठे एकोनत्रिंशविषकल्पः—

भद्रश्रीदारुमरिचद्विहरिद्रात्रिवृद्घनैः ।
गोमूत्रपिष्टैः पलिकैर्विषस्यार्द्धपलेन च ॥ ८३ ॥
ब्राह्मीरसार्कजक्षीरगोशकृद्रससंयुतम् ।
प्रस्थं सर्षपतैलस्य सिद्धमाशु व्यपोहति ॥
पानाद्यैः शोलितं कुष्ठदुष्टनाडीव्रणापचीः ॥ ८४ ॥

चन्दन, देवदारु, कालीमिरच, हल्दी, दारुहल्दी, निशोथ, मुस्ता; प्रत्येक एक एक पल, विष आधा पल लेकर गोमूत्र में पीस कर कल्क कर लें। एक प्रस्थ सरसों का तैल और ब्राह्मीस्वरस, आक का दूध तथा गोबर का स्वरस परस्पर समभाग लेकर चार प्रस्थ लें। अब इन सब को एकत्र मिला कर तैल पका लें। तय्यार होने पर यह तैल शरीर में मालिश करने या पान करने से शीघ्र ही कुष्ठ को तथा दुष्टव्रण, अपचीरोग को नष्ट करता है ॥

श्वित्रादौ त्रिंशविषकल्पः—

विषं भल्लातकीद्वीपिगुञ्जानिम्बफलैर्जयेत् ।
लेपोऽम्लपिष्टैःश्वित्राणि पुण्डरीकं च दारुणम् ॥८५॥

शुद्ध विष, शुद्ध भिलावा, चित्रकमूलछाल, गुंजाबीज, नीम के फलबीज; प्रत्येक समभाग में लेकर कांजी के साथ पीस कर लेप करने से भयंकर सफेद कोढ़ तथा पुण्डरीक कुष्ठ दूर होते हैं ॥

श्वित्रे एकत्रिंशविषकल्पः—

ककुभारुष्करद्वीपिस्पृक्कापत्रैलवालुकम् ।
पिष्टं खादिरतोयेन त्रिरात्रमुषितं पिबेत् ॥
श्वित्रीविषेण संघृष्टं— ॥ ८६ ॥

अर्जुन की छाल, शुद्ध भिलावा, चित्रकमूलत्वक्, असवरग, तेजपत्र और एलुवा; प्रत्येक समभाग में लेकर खदिर जल के साथ पीस कर तीन रात्रि तक बासी रखे रहें। तदनन्तर चौथे दिन इसमें उचित मात्रा में शुद्ध विष मिला कर शरीर पर लेपकरने से 'श्वित्रकुष्ठ' दूर होता है ॥ ८६ ॥

श्वित्रे क्रियान्तरम्—

—तत्तत्स्फोटान् किलासजान् ।
कण्टकेन विभिद्याशु लेपैर्लिम्पेच्च कौष्ठिकैः ॥ ८७ ॥

सफेद कोढ़ में उक्त योग को सेवन करने पर शरीर में जहाँ जहाँ स्फोट (छाले) उत्पन्न हों उनको एक स्वच्छ कांटे से फोड़ कर जल निकाल दें और उनके ऊपर कुष्ठनाशक द्रव्यों का लेप कर दें।

विशेष वचन—कौष्ठिक शब्द से यहाँ पर कुष्ठनाशक खदिर, खरंज, बावची, करवीर आदि द्रव्यों का ग्रहण किया जाता है। चरक में भी इसी क्रिया का वर्णन है, यथा—'श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान् भिन्द्यात्' ॥ ८७ ॥

श्वित्रे द्वात्रिंशविषकल्पः—

अथवा करवीरार्कमूलवाकुचिकाविषैः ।
बस्ताम्बुपिष्टैः सद्वीपिद्विपपिप्पल्यरुष्करैः ॥ ८८ ॥

अथवा स्फोटों पर कनेरमूल, आक की जड़, बावची, विष, चित्रक, पिप्पली, गजपीपल तथा शुद्ध भिलावा, इन सबको समभाग में लेकर बकरे के मूत्र में पीस कर शरीर में लेप करने से श्वित्रकुष्ठ अच्छा होता है ॥ ८८ ॥

श्वित्रारितैलाख्यः त्रयस्त्रिंशविषकल्पः—

लाक्षासुराह्वमञ्जिष्ठाकुष्ठपद्मकसारिवाः।
गुञ्जा मही कुरवको लाङ्गली वज्रकन्दकः ॥ ८९ ॥
वाराहीकन्दकास्फोता सप्ताह्वा गिरिकर्णिका।
अर्काश्वमारयोर्मूलं नागपुष्पं नतं निशे ॥ ९० ॥
दन्ती विषं हस्तिविषं पिप्पल्यो मरिचानिच
तैस्तैलं कटुतैलं वा चित्रस्याभ्यञ्जनं पचेत् ॥
सवर्णकरणं श्रेष्ठमास्तिकस्य वचो यथा ॥ ९१ ॥

लाक्षा, देवदारु, मजीठ, कुष्ठ, पद्माक, सारिवा, गुञ्जाबीज, गाम्भारीत्वक्, पियावांसा, कलिहारी, वज्रकन्द, वाराहीकन्द, अपराजिता, सप्तपर्ण, श्वेत अपराजिता, अर्कमूल, कनेरकी जड़, नागकेसर, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, दन्तीमूलत्वक् विष, हाथी की विष्ठा, पिप्पली, कालीमिरच; प्रत्येक समभाग में लेकर जल से पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क से चौगुना कड़वा तैल और तैल से चौगुना जल लेकर सबको एकत्र मिलाकर तैल तय्यार कर लें। इस तैल का चित्र (श्वित्रकुष्ठ) पर मालिश करने से श्वित्र स्थान का वर्ण अन्य शुद्ध शरीर के वर्ण के समान हो जाता है। यह तैल श्वित्रकुष्ठ के लिए आस्तिकवचन समान सत्य अर्थात् व्यर्थ न जाने वाला होता है। ॥ ८९—९१ ॥

वाते चतुस्त्रिंशविषकल्पः—

एरण्डतैलं त्रिफला गोमूत्रं चित्रकं विषम्।
सर्पिषा सहितं पीतं वातार्त्तत्वमपोहति ॥ ९२ ॥

शुद्ध एरण्डतैल, त्रिफलाचूर्ण, गोमूत्र, चित्रकमूलचूर्ण, शुद्ध विष; सब को समभाग में लेकर घी में मिला कर पीने से वातिक पीड़ा शान्त होती है।

विशेष वचन—कोई यहां पर त्रिफला, चित्रकमूल तथा विष के कल्क से गोमूत्र के साथ एरण्डतैल सिद्ध करके उसमें घी मिला कर सेवन करने को कहते हैं ॥ ९२ ॥

अग्निदाहे पञ्चत्रिंशविषकल्पः—

कोरकं क्षीरनिष्क्वाथे लाङ्गलीविषसर्षपैः।
गन्धकाङ्कोलमरिचैः सस्नुक्क्षीरैर्विपाचितम् ॥
जयेज्ज्योतिष्मतीतैलमनलत्वग्गदानपि ॥ ९३ ॥

कोरक (शीतलचीनी अथवा काकोली) कलिहारी, विष, सरसों, गन्धक, अंकोलबीज, कालीमिरच, थोहर का दूध; प्रत्येक समभाग में लेकर कल्क बना लें। इस कल्क से चतुर्गुण मालकागुनी का तैल और तैल से चौगुना क्षीरि वृक्षों का निःक्वाथ (बड़, पीपल, गूलर, पाकर तथा पारिस पीपल या वेंत) एकत्र मिला तैल पका लें। इस तैल के शरीर में लगाने से अग्निदाहजन्य त्वचा की खराबियां दूर होती हैं। अथवा अग्नि, वीसर्प आदि रोग दूर होते हैं ॥ ९३ ॥

बन्ध्यायां षट्त्रिंशविषकल्पः—

स्वरसं बीजपूरस्य वचाब्राह्मीरसं घृतम्।
बन्ध्या पिबन्ती सविषं सुपुत्रैः परिवार्यते ॥ ९४ ॥

शुद्ध विष को बिजौरा नींबू के रस, ब्राह्मीस्वरस और घृत में मिला कर पीने से बन्ध्या (बाँझ) स्त्री भी अनेक पुत्रों वाली हो जाती है।

विशेष वचन—यह अतिशयोक्ति है। इस प्रकार की अनेक स्थानों पर अतिशयोक्तियां मिलती हैं। इनका अर्थ यथार्थ में योगों को अनुभव में लाकर किया जाना चाहिये। हाँ, यह योग बन्ध्यायोनिरोग में कुछ काल सेवन कराने से लाभदायक हो सकता है ॥ ९४ ॥

मूढगर्भे सप्तत्रिंशविषकल्पः—

वीरालाङ्गलिकादन्तीविषपाषणभेदकैः।
प्रयोज्यो मूढगर्भाणां प्रलेपो गर्भमोचनः ॥ ९५ ॥

वीरा (पृश्निपर्णी), कलिहारी, दन्ती (जमालगोटाबीज), विष, पाषाणभेद; सबको समभाग में लेकर मूढगर्भा स्त्री के उदर तथा वस्ति प्रदेश पर लेप करने से मूढगर्भ बाहर निकल आता है ॥

बुद्धिवर्धने अष्टत्रिंशविषकल्पः—

देवदारुविषं सर्पिर्गोमूत्रं कण्टकारिका।
वचा वाक्स्खलनं हन्ति बुद्धेश्च परिवर्द्धनम् ॥ ९६ ॥

देवदारु, शुद्ध विष, कंटकारी और वचाचूर्ण को गोमूत्र तथा घी में मिला कर प्रतिदिन सेवन करने से तुतला कर या हकला कर बोलना तथा मन्द बुद्धि दोष दूर होकर बुद्धि में तीव्रता आती है।

विशेष वचन—कोई यहाँ पर देवदारु, विष, कण्टकारी तथा वचा का कल्क डाल कर गोघृत को चतुर्गुण गोमूत्र में मिला कर घी पका कर सेवन करने को कहते हैं ॥ ९६ ॥

तिमिरे एकोनचत्वारिंशविषकल्पः—

विषं सर्पिः सिता क्षौद्रं तिमिरापहमञ्जनम् ॥ ९७ ॥

शुद्ध विष, गोघृत, मिश्री तथा शहत सबको समभाग में लेकर एकत्र पीस कर नेत्रों में अञ्जन करने से तिमिर रोग दूर होता है ॥

तिमिरे चत्वारिंशविषकल्पः—

विषं चैकमजाक्षीरकल्कितं घृतधूपितम् ॥ ९८ ॥

बकरी के दूध से शुद्ध विष को पीस कर रख लें। अब जलते हुये कोयलों पर थोड़ा सा घृत डाल कर उस धुँएँ से दुग्धपेषित विषकल्क धूपित कर लें। तदनन्तर इसका नेत्रों में अञ्जन करें तो तिमिररोग शान्त होता है ॥ ९८ ॥

तिमिरे एकचत्वारिंशविषकल्पः—

विषं धात्रीफलरसैरसकृत्परिभावितम्।
अञ्जनं शङ्खसहितं प्रगाढं तिमिरं जयेत् ॥ ९९ ॥

शुद्ध विष तथा शंखनाभि दोनों को समभाग में लेकर एकत्र पीस कर आवलों के स्वरस की सात भावना देकर सुखा लें। इस चूर्ण या कल्क का नेत्रों में अञ्जन करने से अत्यन्त प्रगाढ़ तिमिर-रोग दूर होता है ॥ ९९ ॥

काचे द्विचत्वारिंशविषकल्पः—

विषमिन्द्रायुधं स्तन्यैर्घृष्टं काचजिदञ्जनम् ॥ १०० ॥

शुद्ध विष तथा हीरे को स्त्रीदुग्ध के साथ अच्छी तरह पाँच सात दिन तक मर्दन करके अञ्जन तय्यार कर लें। इसको नेत्रों में लगाने से काच (मोतियाविन्द) रोग दूर होता है ॥ १०० ॥

काचे त्रिचत्वारिंशविषकल्पः—

बीजपूररसैर्घृष्टं विषं तद्वत्सितान्वितम् ॥ १०१ ॥

शुद्ध विष तथा मिश्री को बिजौरा नींबू के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन कर नेत्रों में लगाने से काच रोग दूर होता है ॥१०१॥

काचे चतुश्चत्वारिंशविषकल्पः—

विषं मागधिका द्वे च निशि काचघ्नमञ्जनम् ॥१०२॥

विष, पिप्पली, हरिद्रा, दारुहरिद्रा; सब समभाग में लेकर एकत्र अच्छी तरह पीस कर अञ्जन तय्यार कर लें। इसको नेत्रों में लगाने से काचरोग दूर होता है ॥ १०२ ॥

शुक्लार्मे पञ्चचत्वारिंशविषकल्पः—

शुक्लार्मजिद्विषं कृष्णायुक्तं गोमूत्रभावितम् ॥ १०३ ॥

विष तथा पिप्पलीचूर्ण को समभाग में लेकर एकत्र गोमूत्र से सात भावना देकर अञ्जन तय्यार कर लें। इसको नेत्रों में लगाने से शुक्ल (फूला) तथा अर्मरोग दूर होते हैं ॥ १०३ ॥

शुक्लादौ षट्चत्वारिंशविषकल्पः—

समुद्रफेनस्फुटिकाकुरुविन्दरसाञ्जनम् ।
कूर्मपृष्ठं च तुल्यानि तेभ्योऽर्धांशमनःशिला ॥ १०४॥
अर्द्धमानानि मरिचसैन्धवायोरजांसि च ।
अथो यथोत्तरं दद्यादयसा च समं विषम् ॥ १०५ ॥
रसक्रियेयं मधुना शुक्लापिल्लर्मकाचनुत् ।
अभीक्ष्णं शीततोयेन सिञ्चेन्नेत्रं विषाञ्जिते ॥ १०६ ॥

समुद्रफेन, फटकरी, कुरुविन्द (मुस्ता या पद्मरागमणि), शुद्ध रसौंत, कछुए की पीठ की हड्डी; प्रत्येक एक एक भाग (तोला), शुद्ध मैनसिल ढाई भाग, मरिचचूर्ण सवा भाग या सवा तोला, सैन्धानमक साढ़े सात मासा, लोहभस्म सवा तीन मासा, शुद्ध विष लोहभस्म के बराबर (सवा तीन मासा) लेकर एकत्र सूक्ष्म चूर्ण करके इसमें प्रभूत मात्रा में मधु मिला कर रसक्रिया बना लें। इस रसक्रिया को नेत्रों में लगाने से शुक्ल (फूला), पिल्ल, अर्म और काच (मोतिया) रोग दूर होते हैं। विषयोगयुक्त अञ्जन को नेत्रों में अञ्जन करने पर शीतल जल से नेत्रों को बार बार धोना चाहिये।

विशेष वचन—रसक्रिया के विषय में तत्त्वचन्द्रिका में शिवदास ने लिखा है कि—"एतत्सर्वं चूर्णं प्रचुरतरमधुना समालोड्य वंशनलिकायां स्थाप्यमेतद्रसक्रियाविधानं वदन्ति"। स्फुटिका के स्थान पर स्फटिका पाठ है, यह ठीक भी है; स्फटिक से बिलौरी पत्थर लेना चाहिये। क्योंकि कुरुविन्द है जो बहुत कठोर होता है॥१०६॥

सूर्यप्रभावर्त्याख्यः सप्तचत्वारिंशविषकल्पः—

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठा तिन्तिडीफलसक्तुकैः ।
अभयालोध्रकतकनिशाशङ्खकणोषणैः ॥ १०७ ॥
मनःशिलाकरञ्जाक्षबीजोग्राफेनसैन्धवैः ।
अजाक्षीरैः समविषैर्वर्तयो विहिता हिताः ॥
शुक्लार्ममांसपिल्लेषु ग्रन्थिगण्डार्बुदेषु च ॥ १०८ ॥

लाल चन्दन, मजीठ, इमली के बीज अथवा सत्तु, हरड़, लोध, निर्मलीबीज, हरिद्रा, शंख, पिप्पली, मरिच, मैनसिल, करञ्जबीजमज्जा, बहेड़ाबीजमज्जा, वचा, समुद्रफेन, सैन्धानमक तथा शुद्ध वत्सनाभविषचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र बकरी के दूध से अच्छी तरह मर्दन करके बत्तियाँ बना लें। इन वर्तियों को जल या बकरी के दूध में घिस कर आँखों में अञ्जन करने से शुक्ल; अर्म, मांस, पिल्ल, नेत्रग्रन्थि, नेत्रगण्ड तथा नेत्रार्बुद रोगों में आराम आता है ॥ १०७–१०८ ॥

पिल्ले अष्टचत्वारिंशविषकल्पः—

रसोनकन्दमरिचविषसर्षपसैन्धवैः ।
पिल्लेक्षणहितं कार्यं सुरसारसपेषितैः ॥
पूरयेत्सर्पिषा चानु सर्पिरेव च पाययेत् ॥ १०९ ॥

लहसुन, कालीमिरच, विष, सरसों, सैन्धानमक; प्रत्येक समभाग में लेकर तुलसी के स्वरस में पीस कर अञ्जन तय्यार कर लें। इसको नेत्रों में लगाने से पिल्लरोग में आराम आता है। इस अञ्जन को लगाने के बाद इसकी तीक्ष्णता को कम करने के लिये नेत्रों में गोघृत डालना चाहिये और रोगी को गोघृत पिलाना भी चाहिये।

विशेष वचन—नेत्रों में घृत पूरण करने के लिये नेत्र के चारों तरफ दो अंगुल ऊँची उड़द की पिट्ठी से एक बाड़ सी बनाई जाती है जिससे नेत्रों में डाला हुआ द्रव्य बाहर न निकल सकें। इसमें घी डाल कर नेत्रों को खोल कर इधर उधर चलाया जाता है। आजकल इस कार्य के लिये नेत्रप्रक्षालक यन्त्र Eye-washer प्रचलित हो चुका है, इसके द्वारा आसानी से कार्य हो सकता है ॥ १०९ ॥

नक्तान्ध्ये एकोनपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

मधूकसारमधुकविषक्षीरजलैर्घृतम् ।
पक्वं सन्तर्पणं श्रेष्ठं नक्तान्ध्ये त्वचिरोत्थिते ॥११०॥

मधूकपुष्प, मुलेठी, विष तीनों को समभाग में लेकर कल्क बना लें। इससे चौगुना गोघृत और घृत से दुगुना गोदुग्ध तथा द्विगुण जल लें। सबको एकत्र मिला कर घृत पका लें। घृतमात्र शेष रहने पर छान लें। यह घृत नूतन नक्तान्ध्य रोग में नेत्रों के सन्तर्पण के लिये उत्तम है।

विशेष वचन—तर्पण क्रिया वाग्भट में इस प्रकार लिखी है—"निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मूर्द्धकाययोः। काले साधारणे प्रातः सायञ्चोत्तानशायिनः॥ यवमाषमयीं पालीं नेत्रकोशाद्बहिः समाम्। द्व्यङ्गुलोच्चां दृढां कृत्वा यथास्वं सिद्धमावपेत्॥ सर्पिर्निमीलिते नेत्रे तप्ताम्बुप्रविलायितम्। मात्रां विगणयेत्तत्र वर्त्मसन्धिसितासिते॥ दृष्टौ च क्रमशो व्याधौ शतं त्रीणि च पञ्च च। शतानि सप्त चाष्टौ च दश मन्थे दशानिले॥ पित्ते षट् स्वस्थवृत्ते च बलासे पञ्च धारयेत्। कृत्वाऽपाङ्गे ततो द्वारं स्नेहं पात्रे तु गालयेत। पिबेच्च धूमं नेक्षेत व्योमं रूपञ्च भास्वरम्। इत्थं प्रतिदिनं वायौ पित्ते त्वेकान्तरं कफे॥ स्वस्थे च द्व्यन्तरं दद्यादातृप्तेरिति योजयेत्"॥ ११०॥

नक्तान्ध्ये पञ्चाशत्तमविषकल्पः—

अञ्जनं नरपित्तेन रोचनामधुशृङ्गिभिः॥ १११॥

गोलोचन, मधु, काकड़ासिंगी को समभाग में लेकर मनुष्य के पित्त में घोट कर नेत्रों में अञ्जन करने से नक्तान्ध्यरोग दूर होता है॥ १११॥

कर्णशूले एकपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

स्वर्जिकाक्षारसिन्धूत्थं शुक्लशुक्लं वरं विषम्।
कर्णयोः पूरणं तीव्रकर्णशूलनिवर्हणम्॥ ११२॥

सज्जीखार, सैन्धानमक, शुक्ल शुक्ल (सफेद एरण्डमूल या श्वेत लोध्र), केसर, विष; ये सब समभाग लेकर जल के साथ पीस छान कर उस जल को कान में डालने से तीव्र कर्णशूल शान्त होता है॥ ११२॥

शिरःशूले द्विपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

नस्यं शिरोरुक्शमनं प्रत्यक्पुष्पीसिताविषम्॥११३॥

अपामार्गबीज, विष तथा मिश्री को समभाग में पीस कर नस्य लेने से शिरःपीड़ा शान्त होती है॥ ११३॥

त्रिपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

अथवा घृतयष्ट्याह्वशर्कराविषसंयुता॥ ११४॥

अथवा तगर, मुलेठी, शर्करा तथा विष समभाग में एकत्र पीस कर नस्य लेने से शिरःशूल शान्त हो जाता है॥ ११४॥

पूतिनस्ये चतुःपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

शुण्ठी पथ्या विषं पाठा त्रायन्ती पूतिनासजित्॥११५॥

सौंठ, हरड़, विष, पाठा, त्रायमाणा; सब को समभाग में लेकर एकत्र पीस नस्य लेने से नासिका से आने वाली दुर्गन्धि दूर होती है॥ ११५॥

मुखरोगे पञ्चपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

प्रपौण्डरीकमञ्जिष्ठाविषतिन्दुसमुद्भवैः।
निहन्ति साधितं तैलं गण्डूषेण मुखामयान्॥ ११६॥

श्वेत कमलपुष्प, मञ्जिष्ठा, विष, कुचलाबीज; प्रत्येक समभाग में लेकर जल से पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क से चतुर्गुण तिलतैल और तिलतैल से चौगुना जल लें और सब को एकत्र मिला कर तैल सिद्ध कर लें। इस तैल के गण्डूष (कुरला) करने से मुखरोग दूर होते हैं॥ ११६॥

मुखरोगे षट्पञ्चाशत्तमविषकल्पः—

एलाखदिरकङ्कोलजातीकर्पूरचन्दनैः।
बोलाब्दबालैर्द्विगुणविषैः साराम्बुपेषितैः॥
समूत्रा वटिकाः क्लृप्ता धृता घ्नन्ति मुखामयान्॥११७॥

इलायची, खदिरसार, कंकोलमिर्च, जावित्री या चमेली के पत्ते, कपूर, चन्दन, बोल, मुस्ता, नेत्रवाला; प्रत्येक का एक एक भाग चूर्ण कर लें। इसमें दो भाग शुद्ध वत्सनाभविष मिला कर खरल में खदिरकषाय तथा गोमूत्र से घोट कर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को मुख में रखने से मुखरोग (मुखपाक) दूर होता है॥ ११७॥

पलितादौ सप्तपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

कटुतैलविषं नस्यं पलितारुंषिकापहम्॥ ११९॥

कड़वे तैल में विष को पीस कर इसका प्रतिदिन नस्य लेने से पलित (बालों का पकना) रोग हटता है और सिर में होने वाली छोटी छोटी फुन्सियाँ भी मिट जाती है॥ ११८॥

खलतौ अष्टपञ्चाशत्तमविषकल्पः—

स्नुह्यर्कक्षीरभृङ्गाम्बुगोमूत्रहलिनीविषैः।
गुञ्जाविशालामरिचैः कटुतैलं विपाचितम्॥
खलतिं शमयति— ॥ ११९॥

थोहर का दूध, आक का दूध, कलिहारीकन्द तथा विष (वत्सनाभ), गुञ्जा, इन्द्रायणमूल, मरिच; प्रत्येक समभाग लेकर जल से पीस कर कल्क कर लें। इस कल्क से चौगुना कड़वा तैल और तैल से चौगुना भाँगरारस तथा गोमूत्र लें। अब इन सब को एकत्र मिला कर तैल पका लें। इस तैल की मालिश से सिर के बालों का उड़ना बन्द होता है॥ ११९॥

दिग्धाहते एकोनषष्टितमविषकल्पः—

—अम्लपिष्टमष्टगुणं विषात्।
सिन्धूत्थकार्पासफलं पिण्डितं सह सर्पिषा॥
क्षीरेणाजेन वा लेपाद्विषदिग्धायुधप्रणुत्॥१२०॥

विष एक भाग, सैन्धानमक चार भाग, बिनौले की गिरी चार भाग लेकर तीनों को कांजी में पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क को गोघृत तथा बकरी के दूध में मिला कर लेप करने से, विष में बुझाये हुये बाणद्वारा विंधन के कारण उत्पन्न हुये व्रण अच्छे होते हैं।

विशेष वचन—कोई 'अष्टगुणविषात्' से विष आठ भाग, सैन्धानमक तथा कार्पासबीज; प्रत्येक एक भाग लेने को कहते हैं॥

दुष्टव्रणे षष्टितमविषकल्पः—

विषं रसाञ्जनं भार्ङ्गी वृश्चिकाली महासहा।
सवेदने सपाके च व्रणे दुष्टे प्रलेपनम्॥ १२१॥

विष, रसौत, भारंगी, पुनर्नवा, माषपर्णी; सबको समभाग में लेकर जल से पीस कर लेप तय्यार कर लें। इसके लगाने से वेदना तथा पाकयुक्त दुष्टव्रण अच्छे होते हैं॥ १२१॥

अपच्याम् एकषष्टितमविषकल्पः

कृतमालार्कपूतीकवत्सकातिविषाविषम्।
सिद्धं यदिङ्गुदक्वाथैः सर्पिस्तदपचीहरम्॥१२२॥

अमलतास की छाल, आक की जड़, करञ्जबीजमज्जा, कुड़े की छाल, अतीस तथा विष; सब समभाग लेकर जल से पीस कर कल्क बना लें। इस कल्क से चतुर्गुण गोघृत और गोघृत से चौगुना इंगुद (हिंगोट) का कषाय लेकर इन सबको एकत्र मिला कर घृत सिद्ध कर लें। इस घृत का प्रतिदिन सेवन करने से अपची-रोग दूर होता है॥ १२२॥

अपच्या द्विषष्टितमविषकल्पः—

काकादनीमागधिकानलिकातुण्डकाफलैः।
जीमूतबीजकर्कोटविशालाकृतवेधनैः॥ १२३॥
पाठान्वितैः पलार्द्धांशैर्विषकर्षयुतैः पचेत्।
प्रस्थं करञ्जतैलस्य निर्गुण्डीस्वरसाढके॥
तज्जयेदपचीं घोरां नावनाभ्यङ्गपानतः॥ १२४॥

काकादनी (गुञ्जा), पिप्पली, नालिका (नरसल), कपास-बीज, कड़वी तुम्बी या तोरी के बीज, ककोड़ाबीज, इन्द्रायणमूल, पीतपुष्पा, कड़वी तुम्बी, पाठा; प्रत्येक आधा आधा पल, विष एक कर्ष लेकर सबको एकत्र जल से पीस कर कल्क बना लें। इसमें एक प्रस्थ करञ्जबीजतैल और निर्गुण्डी का स्वरस एक आढ़क (चार प्रस्थ) मिला कर तैल सिद्ध कर लें। इस तैल की नस्य तथा अभ्यंग (अपची पर) करने तथा पान करने से अपची रोग दूर होता है॥ १२३-१२४॥

अपच्यादौ त्रिषष्टितमविषकल्पः—

गुञ्जाटङ्कणशिग्रुमूलरजनीशम्पाकभल्लातकाः
स्नुह्यर्काग्निकरञ्जसैन्धववचाकुष्ठाभयालाङ्गलीः।
वर्षाभूशठभूशिरीषवरणव्योषाश्वमारा विषं
गोमूत्रं शमयेद्विलिप्तमपचीग्रन्थ्यर्बुदश्लीपदाम्॥१२५॥

गुञ्जा, सुहागा, सुहांजने की जड़, हल्दी, अमलतासमूल की छाल, भिलावा, थोहर का दूध, आक का दूध, चित्रकमूल, करञ्ज-बीज, सैन्धानमक, वचा, कूठ, अभया (हरड़), कलिहारीमूलकन्द, पुनर्नवा, धतूरा, गाम्भारी की छाल, सिरस के बीज, वरण, त्रिकटु, कनेर, वत्सनाभ विष; सबको समभाग में लेकर गोमूत्र के साथ पीस कर लेप करने से अपची, ग्रन्थि, अर्बुद तथा श्लीपद रोग शान्त होते हैं॥ १२५॥

विषे मन्त्रादिक्रियावैफल्ये प्रतीकारः—

विषे प्रतिविषं युज्यान्मन्त्रतन्त्रैरसिद्ध्यति।
अतीते पञ्चमे वेगे सप्तमस्यानतिक्रमे॥ १२६॥

मन्त्र तन्त्र तथा औषधोपचार से विष का वेग कम न होने पर उसकी प्रतिविष चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् स्थावर विषोपद्रव में जंगम विष और जंगम विषोपद्रव में स्थावर विष का प्रयोग करना चाहिये। यह प्रतिविषक्रिया पञ्चम वेग के बाद सप्तम वेग तक ही सफल हो सकती है। यदि सप्तम वेग समाप्त हो जाय तो इससे कोई लाभ नहीं होता है॥ १२६॥

सर्पदष्टे चतुःषष्टितमविषकल्पः—

युञ्ज्यान्मूलविषं सर्पदष्टानां पानलेपयोः॥ १२७॥

सर्पदष्ट मनुष्य के लिये पान तथा लेप के लिये मूल विष (क्लीतक अश्वमा आदि) का प्रयोग करना चाहिये॥ १२७॥

सर्पविषे मूलविषस्य मात्रा—

चतुर्भिः षड्भिरष्टाभिर्हीनमध्योत्तमा यवैः।
मात्रां विषस्य मूलस्य प्रयुञ्जीत च सर्वदा॥ १२८॥

यदि मूलविष (उक्त कन्द विष) का सर्पदष्ट मनुष्य के लिये प्रयोग करना हो तो हीन मात्रा में चार यव, मध्यम मात्रा में छः यव और उत्तम मात्रा में आठ यव तक विष दे सकते हैं। सदा यही मात्रा मूल विष की निर्धारित करनी चाहिये॥ १२८॥

कीटविषे मूलविषस्य मात्रा—

दष्टस्य द्वौ यवौ कीटैः—

विषैले कीड़ों के द्वारा दुष्ट मनुष्य को यदि मूलविष देना हो तो दो यव मात्रा पर्याप्त मानी जाती है।

वृश्चिकविषे मूलविषस्य मात्रा—

—तिलमात्रं तु वृश्चिकैः॥१२९॥

बिच्छू के काटने पर यदि मूलविष का आभ्यन्तर प्रयोग करना हो तो एक तिल मात्रा निर्धारित करनी चाहिये॥ १२९॥

लूताविषे पञ्चषष्टितमविषकल्पः—

नैव त्वग्गतस्थे पाने तु लूतादष्टस्य नेष्यते।
वत्सया लेपयेद्दंशं तस्य ज्ञात्वा सुनिश्चितम्॥१३०॥

जब तक लूता का (मकड़ी का) विष रक्त में स्थिर न हो जाय तब तक मूल विष का आभ्यन्तर प्रयोग नहीं करना चाहिये। किन्तु लूता के दंश का निश्चय करके अर्थात् ठीक दंश स्थान पर वत्सा (मूलविष भेद) द्वारा लेप करना चाहिये ॥ १३० ॥

जंगमविषे षट्षष्टितमविषकल्पः—

क्षीरक्षौद्रघृतैर्युक्तं पीतं हन्ति विषं विषम् ॥१३१॥

जंगम (सर्प बिच्छू आदिके) विष को दूर करने के लिए स्थावर या मूलविष को दूध और घी में मिला कर अथवा दूध घी का अनुपान देकर सेवन करना चाहिये ॥ १३१ ॥

जंगमविषे सप्तषष्टितमविषकल्पः—

ससिन्दुवारतगरं मृतसञ्जीवनं विषम् ॥ १३२ ॥

निर्गुण्डी, तगर तथा मूलविष; इन तीनों को समभाग में एकत्र पीस कर उचित मात्रा में प्रयोग करने से यह योग विषपीड़ित (जंगमविषपीड़ित) मनुष्य के लिए सञ्जीवन का कार्य करता है ॥ १३ ॥

आखुविषे अष्टषष्टितमविषकल्पः—

शिरीषकुसुमं पत्रं विषमाखुविषापहम् ॥ १३३ ॥

यदि विषैले चूहे ने काट लिया हो तो सिरस के फूल तथा पत्र और शुद्ध विष इन तीनों को समभाग में पीस कर उचित मात्रा में प्रयोग किया जाय तो चूहे का विष उतर जाता है ॥

सर्वविषे एकोनसप्ततितमविषकल्पः—

देवदारुनतं मांसी द्रामिली बाकुची विषम् ।
कुष्ठं च पानलेपाभ्यां समस्तविषनाशनम् ॥१३४॥

देवदारु, तगर, जटामांसी, निर्विषी, बावची, शुद्ध विष, कूठ को समभाग में लेकर एकत्र पीस कर पान और लेप करने से सम्पूर्ण जंगम विषों में आराम आता है ॥ १३४ ॥

संज्ञाजनने सप्ततितमविषकल्पः—

मनःशिलाऽञ्जनाऽऽलैलासिन्दुवारामराह्वयम्
सरक्तं कुङ्कुमविषं ध्मातं निःसंज्ञबोधनम् ॥१३५॥

मैनसिल, अञ्जन (काला सुरमा), हरताल, इलायचीबीज, निर्गुण्डी, देवदारु; रक्त (लाल चन्दन), केसर तथा विष; सब को समभाग में एकत्र पीस कर चूर्ण करके रख लें। इसमें से जंगमविष से बेहोश हुए मनुष्य को सुंघाया जाय या नस्य दिया जाय तो वह होश में आ जाता है ॥ १३५ ॥

विषजदाहे एकसप्ततितमविषकल्पः—

दाहे विषोद्भवे लेपः सक्तुक्षीरघृतैर्युतः ॥ १३६ ॥

यदि विष खाये जाने पर या विषैले जीव के काटने पर शरीर में दाह उत्पन्न हो जाय तो सत्तुओं में दूध तथा घी मिला कर सब शरीर में लेप करने से वह शान्त होता है।

विशेष वचन—यद्यपि उक्त लेप में विष का वर्णन नहीं आया है परन्तु विषकल्प होने के कारण सत्तुओं में विष मिला कर दूध घी के साथ लेप करना चाहिये ॥ १३६ ॥

दुःसाध्यरोगे द्वासप्ततितमविषकल्पः—

अन्येष्वपि च रोगेषु शेषोपायपरिक्षये।
प्रत्यहं विषकन्दस्य त्रियवं यवमेव वा ॥
शुद्धस्य राजिकावृद्ध्या वर्षं भुक्त्वा जयेद्गदान् ॥१३७॥

विषरोगों के अतिरिक्त और भी दुःसाध्यरोग जिनकी चिकित्सा अच्छी तरह करने पर भी कोई लाभ न हुआ हो तो विष के प्रयोग से उनमें आराम आता है। यदि ऐसे रोगों में विष का प्रयोग किया जाय तो प्रतिदिन एक यव से तीन यव तक प्रयोग करना चाहिये। परन्तु विषप्रयोग कराने के पूर्व रोगी को वमन विरेचन द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिये। यह मात्रा पूर्ण मात्रा है। इसी को वर्ष दिन तक प्रयोग करना चाहिये। इससे सब विषरोग शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—एक यव और तीन यव मात्रा बताने से यह अर्थ निकलता है कि एक यव हीन मात्रा, दो यव मध्यम मात्रा और तीन यव उत्तम मात्रा निश्चय करनी चाहिये। इसके साथ ही विष का प्रयोग एक राजिका (सरसों) से आरम्भ कर प्रतिदिन एक एक सरसों बढ़ा कर एक यव दो यव या तीन यव तक ले जानी चाहिये। फिर यही मात्रा स्थिर करनी चाहिये ॥१३७॥

रसायने त्रिसप्ततितमविषकल्पः—

वचागन्धकसिन्धूत्थत्रायमाणाम्लवेतसम् ।
व्योषाग्निवेल्लपाठाम्लकर्णीकरिकणाविषम् ॥ १३८ ॥
चाङ्गेरीनागदमनीवायसीत्रिफलारसैः ।
भावितं मधुसर्पिर्भ्यां भक्षितं स्याद्रसायनम् ॥ १३९ ॥

वचा, गन्धक, सैन्धानमक, त्रायमाणा, अम्लवेत, त्रिकटु, चित्रक, वायविडंग, पाठा, मुस्ता, अमलतास, गजपीपल, शुद्ध विष; प्रत्येक समभाग में लेकर चूर्ण कर लें। फिर इसको चांगेरी, नागदौन, कौआठोडी तथा त्रिफला के पृथक् पृथक् कषाय से एक एक भावना देकर सुखा लें। यह एक उत्तम रसायन है। इसको असमभाग मधु और घृत के साथ मिला कर सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—'अम्ल' के स्थान पर 'अब्द' पाठ ही संगत है। 'कर्णी' के स्थान 'किण्व' पाठ होने पर सुराबीज अर्थ किया जाता है। 'कर्णीकरिकणाविषम्' के स्थान पर 'कण्टकारिकणाविषम्' पाठान्तर भी मिलता है ॥ १३८-१३९ ॥

रसायने चतुःसप्ततितमविषकल्पः—

विषशुल्वरसव्योषगन्धकानां पलं पलम् ।
पलद्वयं हरीतक्याश्चित्रकस्य पलत्रयम् ॥ १४० ॥

कौन्ती मुस्ता चतुर्जातं कर्षांशं च विचूर्णितम् ।
त्रिगुणश्च गुडः कार्या वटिका माषसम्मिता ॥
भक्षयेत्तां जराग्रस्तो महारोगैश्च पीड़ितः ॥ १४१ ॥

शुद्ध विष, ताम्रभस्म, शुद्ध पारद, त्रिकटुचूर्ण, शुद्ध गन्धक; प्रत्येक एक एक पल, हरीतकीचूर्ण दो पल, चित्रकमूलचूर्ण तीन पल, रेणुका, मुस्ता, चतुर्जात (दालचीनी, इलायची, तेजपात और नागकेसर); प्रत्येक का चूर्ण एक एक कर्ष लें। पहिले पारद गन्धक की अच्छी तरह कज्जली कर लें। फिर उसमें अन्य द्रव्यों का चूर्ण मिला कर घोटें। अन्त में सब चूर्ण की अपेक्षा तिगुना गुड़ मिला कर घोट कर एक एक मासा की गोलियाँ बना लें। इन गोलियों में से प्रतिदिन एक एक गोली जरा से ग्रसित तथा भयंकर रोगों से पीड़ित रोगी को सेवन करानी चाहिये ॥१४१॥

जयागुटिकाख्यः पञ्चचत्वारिंशत्तमादि-चतुर्दशाधिकशततमान्तविषकल्पः—

हरिद्रा निम्बपत्राणि पिप्पल्यो मरिचानि च ।
मुस्ता विडङ्गं मूत्रेण पिष्टमाजेन पिण्डितम् ॥१४२ ॥
नावनाञ्जनपानेषु गोमूत्रासृग्रसाञ्जनैः ।
जयेत्प्रयुक्तं विषमज्वरान् सघृतसाधितम् (७५) ॥१४३॥
सर्वजं समधुव्योषं (७६) गवां मूत्रेण सूतकम् (७७)
चन्दनस्य कषायेण (७८) रक्तपित्तं वृषस्य वा (७९)॥१४४॥
क्षयं क्षीराश्वगन्धाभ्यां(८०)कासं श्वासं समाक्षिकम्(८१)
तक्रेण ग्रहणीरोगं(८२)कृच्छ्रं तण्डुलवारिणा (८३)॥१४५॥
प्रमेहं मधुना (८४) गुल्मं शूलं च गुडवारिणा (८५) ।
पाण्डुशोफं गवां क्षीरेणाम्भसा त्रैफलेन वा(८६।८७)॥१४६॥
गवां मूत्रेण कुष्ठानि (८८) क्षौद्रेणोदुम्बराह्वयम् (९०) ।
तक्रेण युक्तं चालेपाद्दद्रुपामाविचर्चिकाः (९०) ॥१४७॥
पीतमुष्णाम्भसा वायुं (९१) तुलस्यालेपनाद् ग्रहान् (९२) ।
समूत्रं विस्मृतिं नस्येन (९३) अञ्जनेन दृगामयान् (९४)
स्यन्दाधिमन्थौ सस्तन्यम् (९५)अर्मकोपं सशोणितम्(९६)।
सकासमर्दं काचादीन् (९७) सभृङ्गीदं निशान्धताम् (९८)
रम्भाकन्दाम्भसा पुष्पं (९९) पिल्लं ताम्रमधूत्कटम्(१००)।
सतूलमार्तिं दन्तानां गण्डूषेण (१०१) विलेपनात् ॥१५०॥
सगोमूत्रं शिरःशूलं (१०२) सक्षौद्राम्लं क्षतव्रणान् (१०३)।
भगन्दरापचीग्रन्थीन् सक्षौद्रं (१०४) सगुडं व्रणान्(१०५)
नारिकेराम्भसा लिङ्गविकारान् (१०६) सेवनात् पुनः ।
प्रदरं भृङ्गसारेण (१०७)नागपुष्पस्य सर्पिषा(१०८)॥१५२॥
रम्भाकन्दाम्बुसर्पिर्भ्यां पीतं लिप्तमहेर्विषम् (१०९) ।
गोतकनरमूत्राभ्यामथाऽऽखोः (११०) वृश्चिकस्य तु॥१५३॥
सार्कक्षीरं विलेपेन (१११) लूतानान्तु जलौदनम् (११२) ।
शतपत्ररसाज्याभ्यां विषं सर्वं च सर्वथा (११३) ॥१५४॥
भस्मसूतं गुडक्षौद्रघृतैः सह निषेवितम् (११४) ।
जरां जयेदतो नाम्ना गुडिकेयं जयोदिता ॥ १५५ ॥

हरिद्राचूर्ण, निम्बपत्रचूर्ण, पिप्पलीचूर्ण, मरिचचूर्ण, मुस्ताचूर्ण, वायविडंगचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर पीस करके बकरी के मूत्र में घोट कर गोलियाँ बना लें। इन गोलियों को गोमूत्र, केसर या रसौत के साथ नस्य, अञ्जन और पान के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसमें घृत मिला कर सेवन करने से विषज्वर दूर होते हैं। त्रिकटुचूर्ण तथा मधु के साथ सेवन करने से यह वटी सर्वज्वरों को शान्त करती है। गोमूत्र के साथ सेवन करने पर सूतिकारोग दूर होता है। चन्दन के कषाय अथवा अडूसे के कषाय के साथ सेवन करने से रक्तपित्त दूर होता है। क्षयरोग में इसको असगन्ध से सिद्ध दूध के साथ देना चाहिये। कास तथा श्वास में मधु के साथ प्रयोग करना चाहिये। संग्रहणी रोग में तक्रानुपान से प्रयोग करना चाहिये। मूत्रकृच्छ्र में चावलों के जल के साथ देना चाहिये। प्रमेह में मधु के साथ देना चाहिये। गुल्मरोग तथा शूल में गुड़ के पक्व जल के साथ देना चाहिये। पाण्डु तथा शोथ में इसको गौ के दूध अथवा त्रिफलाकषाय के साथ देना चाहिये। कुष्ठरोग में गोमूत्र के साथ देना चाहिये। उदुम्बरकुष्ठ में मधु के साथ देना चाहिये। दाद, खुजली तथा विचर्चिका आदि त्वक्रोगों में इसको तक्र में घोट कर शरीर पर लेप करना चाहिये। वायुप्रकोप में गरम जल के साथ देना चाहिये। बालग्रहों में तुलसीपत्र के साथ पीस कर शरीर पर लेप करना चाहिये। अपस्मार में जब बेहोशी हो तब इसे गोमूत्र में घिस कर नस्य के रूप में दिया जाता है। जल के साथ घिस कर आँखों में अञ्जन करने से नेत्ररोग दूर होते हैं। नेत्राभिष्यन्द तथा नेत्राधिमन्थ रोग में इनको स्त्रीदुग्ध के साथ घिस कर नेत्रों के बाहर लेप के रूप में लगाना चाहिये। अर्मकोप में इसको केसर के जल के साथ घिस कर लेप करना चाहिये। कास आदि रोगों में इसको कसौंदी के स्वरस में मिला कर चटाना चाहिये। रतौंधी में इसको भाँगरे के स्वरस के साथ सेवन कराना चाहिये। नेत्र में फूला होने पर इसको केले की जड़ के रस में घिस कर नेत्रों के अन्दर डालना चाहिये। पिल्लरोग में इसको ताम्रपात्र में मधु के साथ घोट कर अञ्जन करना चाहिये। लाल कपास की जड़ अथवा नील की जड़ के कषाय में इसको घोल कर गण्डूष करने से दाँतों की पीड़ा दूर होती है। शिरःशूल में इसको गोमूत्र में घिस कर लेप करने से आराम आता है। क्षतजन्य व्रणों पर इसको शहद और अम्ल कांजी के साथ घिस कर लेप किया जाता है। भगन्दर, अपची तथा ग्रन्थियों में इसको मधु के साथ चटाना चाहिये। शारीरिक व्रणों की उपस्थिति में इस वटी को गुड़ के साथ मिला कर

खिलाना चाहिये। उपदंश शूकदोष आदि विकारों में इसको नारियल के जल के साथ सेवन कराना चाहिये। भाँगरे के स्वरस में मिला कर सेवन करने से प्रदर रोग में आराम आता है। नागकेसर के कल्क से साधित घृत के साथ इस वटी को देने से भी प्रदररोग में (रक्तप्रदर) आराम आता है। सर्प के विष में इसको केले की जड़ के स्वरस तथा घृत में मिला कर पिलाने तथा दंश स्थान पर चीरा देकर लेप करने से आराम आता है। चूहे के विष में इसको गाय के तक्र तथा पुरुष के मूत्र के साथ मिला कर पान और लेपन किया जाता है। बिच्छू के विष में आक के दूध में घोट कर दंशस्थान पर लेप करने से आराम आता है। लूता (मकड़ी) विष में इसको माँड के साथ दंशस्थान पर लेप किया जाता है। सब प्रकार के विषों को कमलपत्रस्वरस तथा घृत में मिला पान लेपन नावन आदि सब विधियों से प्रयुक्त करने पर आराम आता है। जरा (बुढ़ापा) को दूर करने के लिये इसको पारदभस्म (रससिन्दूर), गुड़, शहत तथा घृत के साथ मिला कर सेवन करना चाहिये। यह वटिका सब रोगों में जय (लाभ) प्राप्त करती है। अतः इसे 'जयागुटिका' के नाम से लिखा गया है।

विशेष वचन—जयागुटिका में विष का उल्लेख न होते हुये भी विषप्रकरण के होने से विष डालना चाहिये। विष की मात्रा अन्य द्रव्यों के समान एक ही भाग होनी चाहिये। रसेन्द्रसार-संग्रहोक्त जया गुटिका इससे मिलती-जुलती है। यहाँ केवल शुण्ठी की कमी है किन्तु रसेन्द्रसार में शुण्ठी का एक भाग है, यथा—"विषं त्रिकटुकं मुस्तं हरिद्रानिम्बपत्रकम्। विडंगमष्टमं चूर्णं छागमूत्रैः समं समम्॥ चणकाभा वटी कार्या स्याज्जया योगवाहिका॥" रसेन्द्रसारसंग्रहोक्त जया गुटिका में 'स्याज्जया योगवाहिका' पाठ से कोई वहाँ जयामूलचूर्ण आठ भाग ग्रहण करते हैं। 'सघृतसाधितम्' के स्थान पर कहीं 'सघृतमानिलम्' पाठ मिलता है। 'सूतकं' के स्थान पर 'शीतकं' पाठ होने पर शीतज्वर का बोध होता है। 'सतूलं' के स्थान पर 'समूलं' पाठ होने पर यह 'जयेत्' क्रिया का विशेषण हो जाता है। रसेन्द्रसार में भगन्दर रोग में इस वटी का अनुपान शुण्ठीजल लिखा है। 'जलौदनम्' के स्थान पर कहीं 'विषं जयेत्' पाठ मिलता है। जया वटी गुणों में मृत्युञ्जय रस से बहुत कुछ सादृश्य रखती है। इसको सब प्रकार के नूतन ज्वरों में दुर्जलज्वर में जब आम परिपक्व न हो दाह तृषा अग्निमान्द्य आदि के साथ तापपरिमाण अधिक हो तो इसका दिन में दो तीन बार प्रयोग कर सकते हैं। परन्तु यह श्लैष्मिक लक्षण (तन्द्रा, कास, श्वास, शीत, हिक्का आदि) युक्त ज्वरों में विशेष लाभप्रद नहीं है। यह पित्तज्वर में जब ज्वर के साथ अतीसार हो तो आनन्दभैरवरस या भृष्टजीरकचूर्ण के साथ देने से लाभ करती है। मध्यज्वर और जीर्णज्वर एवं विषमज्वर में भी इसे मृत्युञ्जयरसोक्त अनुपानों के साथ दिया जा सकता है।

इसे ज्वरयुक्त रक्तपित्त में जब ज्वर का तापमान १०० से १०१ तक हो और रोगी सबल हो तो इसको रक्तपित्तहर अनुपान से देना चाहिये। नूतन पाण्डु रोग में यदि हृदयदुर्बलता के कारण शोथ हो अथवा पाण्डु की ज्वर या बिना ज्वर की अवस्था में इसका प्रयोग करा सकते हैं। विशेष अनुपानों के लिये रसेन्द्रसार-संग्रह आदि पुस्तकें भी देख सकते हैं॥ १४२–१५५॥

जयन्तीवटिकाख्यः पञ्चदशाधिकशततमविषकल्पः—

वचाश्वगन्धा मरिचोपकुल्यातालीशमुस्तापिचुमर्दपाठाः।
विषञ्च तेषां वटिका जयन्त्यः फले प्रयोगे च जयासमानाः॥

वचा, असगन्ध, मरिच, पिप्पली, तालीसपत्रचूर्ण, मुस्ताचूर्ण, निम्बपत्रचूर्ण, पाठाचूर्ण, शुद्ध विष; प्रत्येक समभाग में लेकर बकरी के मूत्र में घोट कर चने के समान गोलियाँ बना लें। इनको 'जयन्ती वटिका' कहते हैं। इसका प्रयोग तथा फल जया गुटिका के समान ही हैं। अर्थात् इसको भिन्न भिन्न रोगों में जयावटी के अनुपान के साथ प्रयोग करना चाहिये। अथवा तत्तत् रोगहर अनुपानों के साथ प्रयोग करना चाहिये।

विशेष वचन—रसेन्द्रसारसंग्रहोक्त जयन्ती वटिका के द्रव्यों से इसमें मुस्ता अधिक है। वहाँ इसका पाठ इस प्रकार है, यथा—"विषं पाठाश्वगन्धा च वचा तालीसपत्रकम्। मरिचं पिप्पली निम्बमजामूत्रेण तुल्यकम्॥ वटिका पूर्ववत् कार्या जयन्ती योगवाहिका" ॥ १५६॥

जयावटिकाख्यः षोडशाधिकशततमविषकल्पः—

वासामृताखदिरनिम्बविडङ्गपथ्या-
क्वाथे विषत्रिकटुचित्रकलोहतिक्ताः।
आवाप्य माषतुलिता वटिका प्रणीता
क्षौद्रान्विता क्षपयति क्षयकुष्ठजातम्॥ १५७॥

वासामूलत्वक्, खदिरसार, निम्ब, वायविडंग तथा हरड़, विष, सौंठ, मिरच, पिप्पली, चित्रकमूलत्वक्, लोहभस्म, कटुकीचूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर अच्छी तरह एकत्र जल से मर्दन करके एक एक मासे की गोली बना लें। इनमें से प्रतिदिन एक गोली शहत मे मिला कर सेवन करने से क्षय रोग तथा कुष्ठ रोग शान्त होते हैं॥ १५७॥

रसायने सप्तदशाधिकशततमविषकल्पः—

कान्ताभ्रकशिलाधातुविषसूतकमाक्षिकम्।
शीलितं मधुसर्पिभ्यां व्याधिवार्द्धकमृत्युजित्॥१५८॥

कान्तलोहभस्म, अभ्रकभस्म, शुद्ध शिलाजीत, शुद्ध विष, शुद्ध सूतक (पारद) स्वर्णमाक्षिक; प्रत्येक समभाग में लेकर

एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर प्रतिदिन शहत और घी के साथ सेवन करने से सर्वरोग, बुढ़ापा तथा अकालमृत्यु दूर होती है।

विशेष वचन—यहाँ सूतक से पारद लेने पर गन्धक भी पारद के समान भाग लेनी चाहिये। अन्यथा रससिन्दूर से ही काम चल सकता है॥ १५८॥

वाजीकरणे अष्टादशाधिकशततमविषकल्पः—

नष्टशुक्रः पयोद्राक्षाकपिकच्छुमहाविषम्।
शीलयेन्मधुसर्पिर्भ्यां सखर्जूरं सयष्टिकम्॥ १५९॥

द्राक्षा (किसमिस), कौंच के बीज की मज्जा, शुद्ध विष, खजूर, मुलेठीचूर्ण; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र पीस कर जल से गोलियाँ बना ले। इनमें से प्रतिदिन एक गोली शहत और घी के साथ चाट कर पीछे से दूध का अनुपान करें। इस योग के कुछ काल सेवन करने से क्षीणशुक्र पुरुष पुनः हृष्ट-पुष्ट और पूर्णवीर्य हो जाता है॥ १५६॥

विषसेवनस्य फलम्—

शत्रुप्रयुक्ताद्विषतो गराद्वा लूताभुजङ्गाखुविषाज्जरायाः।
अकालमृत्युग्रहपाप्मनोऽपि विषाशिनो नास्ति भयं नरस्य

निरन्तर युक्तिपूर्वक शुद्ध शरीर होकर विष का सेवन करने वाले मनुष्य को शत्रुओं द्वारा दिये हुये विष, गरविष, लूताविष, सर्पविष, मूषकविष के उपद्रव से डरने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह विषसेवी मनुष्य को अकाल जरा, अकालमृत्यु और पापग्रहों की पीड़ा से भी भय करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् विषसेवन से उक्त सब दोष दूर हो जाते हैं॥ १६०॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये विषकल्पो नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः॥२६॥

त्रिंशोऽध्यायः।

अथ रसकल्पः

अथ मृतसूताध्यायः।

रसजारणम्—

पीतासवाम्लखात्सत्त्वं कान्तं वा तीक्ष्णमेव वा।
चतुःषष्टितमांशेन प्रमितं क्षिप्तमल्पशः॥१॥
तप्तखल्लेऽम्लयोगेन श्लक्ष्णवत्तां विमर्दनात्।
भूर्जे क्षाराम्ललवणस्नुह्यर्कक्षीरलेपिते॥ २॥
बद्धं वस्त्रावृते स्विन्नमम्ले समरसे रसम्।
धौतमुष्णारनालेन शुष्कमङ्गुलिमर्दितम्॥ ३॥
पचेत्कच्छपयन्त्रस्थमष्टमांशविडान्वितम्।
स्वप्रमाणो रसस्तिष्ठेज्जीर्णे ग्रासे त्वजोर्यति॥ ४॥
पातयेदासवाम्लेन मर्दयेत्स्वेदयेच्च तम्।
जारणे जारणे वह्निं ग्रासं च परिवर्द्धयेत्॥
द्विगुणं योजयेदेवं सत्वमभ्रकसम्भवम्॥ ५॥

कृष्णाभ्रक को शुद्ध करके या धानाभ्रक करके आसवाम्ल (अम्लीभूत सन्धान विशेष अथवा अम्ल काँजी) की सात अथवा इक्कीस भावना देकर छोटी छोटी गोलियाँ-सी बना अभ्रकसत्व पातनविधान से सत्व पातन कर लें। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ अभ्रकसत्व ६४ वाँ भाग, कान्तलोहभस्म ६४ वाँ भाग या तीक्ष्ण-लोहभस्म ६४ वाँ भाग शुद्ध पारद १ भाग लें। पारद को तप्त खरल में डाल कर उसमें थोड़ा थोड़ा करके अभ्रकसत्व या लोह-भस्म डालें और काँजी या किसी अम्लद्रव के साथ मर्दन करते जायँ। मर्दन करते हुये जब पारद तथा अभ्रकादि द्रव्य नष्ट-पिष्ट हो जाँय या इसका बिलकुल चिकना गाढ़ा-सा कल्क बन जाय, उसे एक भोजपत्र में (जिस पर यवक्षार, सज्जीक्षार, टंकण, सैन्धानमक थोहर तथा आक के दूध को एकत्र पीस कर लेप किया गया हो) रख कर पोटली-सी बना लें। अब इस भोजपत्रयुक्त पोटली को कपड़े में बाँध कर पुनः पोटली बना लें। इस पोटली को समभाग जलयुक्त काँजी के साथ दोलायन्त्र में एक दिन मन्द मन्द अग्नि देकर स्वेदन करें। तदनन्तर पोटली को निकाल खोल कर भूर्ज-पत्रस्थ द्रव्य को निकाल गरम काँजी से धोकर पारद को पृथक् कर लें। अथवा पोटली को ही बाहर से गरम काँजी से धोकर भीतर के द्रव्य को निकाल सुखा कर अंगुलियों या हथेलियों से पीस कर सूक्ष्म चूर्ण-सा कर लें। अब कच्छपयन्त्र के मध्यस्थ पात्र में पारद की अपेक्षा आठवाँ भाग आगे लिखे हुए वडवानल नामक विड को पारद या औषधि के नीचे ऊपर रख कर बन्द करके कच्छपयन्त्र में पकावें। कच्छपयन्त्र में पकाने पर यदि पारद तौल में पूरा निकले तो उसे ठीक अभ्रकसत्वजीर्ण समझना चाहिये। यदि दिया हुआ चौसठवाँ भाग अभ्रक आदि का ग्रास जीर्ण न हुआ हो अर्थात् स्वप्रमाण से कम निकले तो उसे पुनः आसवाम्ल के साथ मर्दन कर दोलायन्त्र में स्वेदन करें। और पुनः उसको ऊर्ध्वपातन या तिर्यक्पातन यन्त्र से पातन कर लें। पुनः उस पारद में जारण द्रव्य को पूर्वापेक्षया द्विगुण डाल कर तप्त खरल में मर्दन कर भूर्ज्यपत्रपोटली में बाँध काँजी में स्वेदन करके धोकर कच्छपयन्त्र में विड के साथ पकावें। परन्तु अब की बार अग्नि द्विगुण काल तक देनी चाहिये। क्योंकि ग्रास का मान द्विगुण हो गया है। इस प्रकार पारद में अभ्रकसत्व का जारण करना चाहिये।

विशेष वचन—पारद में अभ्रक आदि का ग्रासजीर्ण करने का विधान पहिले बताया गया है कि प्रथम बार चौसठवाँ भाग,

द्वितीय बार बत्तीसवाँ भाग, तृतीय बार सोलहवाँ भाग, चौथी बार आठवाँ भाग, पाँचवी बार चौथा भाग, छटी बार आधा भाग अभ्रक आदि द्रव्यों का ग्रास देकर जारण करना चाहिये। इसी क्रम से यहाँ पर भी अभ्रकसत्व का जारण करना चाहिये। यही 'द्विगुणं योजयेत्' का अर्थ है। तप्तखल्व, कच्छपयन्त्र का वर्णं पहिले यन्त्राध्याय में आ चुका है। रसकामधेनु में अंगुलिमर्दन के स्थान पर हस्तमर्दन लिखा है ॥ १-५ ॥

जारणे निषिद्धद्रव्याणि—

पूतिलोहं विषं मूत्रं रसकं गन्धकत्रयम्।
न युञ्ज्याज्जारणे सूतस्तज्जीर्णैः स्फोटकुष्ठकृत् ॥६॥

पारद के जारण कर्म में पूतीलोह (नाग और वंग), विष (वत्सनाभ संखिया आदि), गोमूत्र, खपरिया, गन्धकत्रय (मैनसिल, हरताल तथा श्वेत रक्त गन्धक) का प्रयोग नहीं करना चाहिये। इन द्रव्यों के द्वारा जारण किया हुआ पारद रसायनकल्प में कल्पसेवी मनुष्य के शरीर में स्फोट तथा कुष्ठ रोग उत्पन्न कर देता है।

विशेष वचन--'जीर्णैः' के स्थान पर 'जीर्णः' पाठ योग्य है ॥

वडवानलो विडः—

गुञ्जा-सैन्धवयोश्चूर्णं देवदालीदलद्रवैः।
टङ्कणं किंशुकरसैर्जम्बीराम्लेन चूलिकाम् ॥ ७ ॥
मूलकक्षारगोमूत्रप्रसादेन च गन्धकम्।
स्वाजकाभूखगव्योम शिग्रुमूलरसेन च ॥ ८ ॥
शतशो भावयेत्सर्वं विडोऽयं वडवानलः।
एवमग्निसहो--- ॥ ९ ॥

गुञ्जा तथा सैन्धानमक समभाग चूर्ण को बन्दाल के पत्र रस की सौ भावना दें। सुहागे को ढाक के स्वरस की सौ भावना दें। नौसादर को जम्बीरी नीबू के रस की सौ भावना दें। गन्धक को मूली के क्षारोदक तथा गोमूत्र की सौ भावना दें। सज्जीखार, केंचुआ तथा अभ्रकचूर्ण को सुहांजने की मूल के रस की सौ भावना देकर सुखा कर रख लें। अब इन सब द्रव्यों को एकत्र कर पीस कर रख लें। इसे 'वडवानल विड' कहते हैं। इस विड के साथ उक्त विधि से जारित किया हुआ पारद पीस कर गोला बना के मूषा में बन्द कर तपाने से वह अग्नि सहन करने योग्य हो जाता है। अर्थात् देर तक तीव्र अग्नि में रखने पर भी यह उड़ता नहीं है।

विशेष वचन—'मूलकक्षारगोमूत्रप्रसादेन' से मूली के क्षार को गोमूत्र में घोट कर प्राप्त किया हुआ जल लिया जाता है। अथवा मूली की राख को गोमूत्र में घोलकर क्षारीय जल प्राप्त किया जाता है। रसेन्द्रचिन्तामणि में इसके स्थान पर "मूलकार्द्रकवह्नीनां क्षारं गोमूत्रगालितम्। वस्त्रपूतं द्रवं ग्राह्यं गन्धकं तेन भावयेत् ॥" ऐसा पाठ मिलता है। 'व्योम' के स्थान पर कहीं 'व्योष' पाठ मिलता है। कई टीकाकार 'भू' से सौराष्ट्र मृत्तिका 'खग' से स्वर्णमाक्षिक का ग्रहण कहते हैं ॥

मतान्तरे रसजारणम्—

--लोहसंयुक्तः केवलोऽथ वा।
नियामकौषधसिताऽङ्कोलमूलरसादिभिः ॥ १० ॥
वैक्रान्तप्रमुखैर्वापि रसेन्द्रः सह मर्दितः।
यन्त्रस्थः क्रमवृद्धेन वह्निनोर्ध्वेन पाचितः ॥
मृतोऽधराग्निना तप्तोऽप्यक्षीणो नोर्ध्वमाश्रयेत् ॥११॥

केवल शुद्ध पारद अथवा स्वर्णरजत कान्तलोह आदि मिश्रित पारद या वैक्रान्त, हीरा, सूर्यकान्तमणि आदि मणियुक्त पारद को नियामक औषधियों तथा श्वेत अंकोलमूल के स्वरस, क्वाथ, कल्क आदि के साथ अच्छी तरह मर्दन कर भूधरयन्त्र, कच्छपयन्त्र आदि में रख कर बन्द करके (यन्त्र के) ऊपर अग्नि रख मृदु, मध्य तथा तीव्र रूप से अग्नि देकर पकाने से पारद मृत हो जाता है। यन्त्र में रख कर ऊपर की तरफ से तीव्र अग्नि से परिपक्व पारद को यदि नीचे की तरफ से वालुकायन्त्र आदि विधान से भी तीव्र अग्नि दी जाय तो वह न ऊपर उड़ता है और ना ही नष्ट होता है॥

द्विविधं रसमारणम्—

अथाऽपामार्गतैलेन तथा पुष्करतण्डुलैः।
अथवा मलपूक्षीरभावितः श्वेतहिंगुना ॥
मर्दितः पुटपाकेन भस्मतां प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

उक्त विधि से पकाने के बाद पारद को अपामार्गबीजतैल तथा कमलबीज (कमलगट्टा) कषाय से अच्छी तरह मर्दन कर सम्पुट में बन्द करके सात कपड़मिट्टी करके पुट में फूँकने से पारद की भस्म हो जाती है। अथवा कठूमर के दूध की सात भावना देकर श्वेतवर्णहिंगुजल की सात भावना देकर सम्पुट में बन्द करके सात कपड़ौटी कर पुट में फूकने से भी पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन--यदि पारद को १०-११ श्लोकोक्त विधि से परिपक्व न किया जाय किन्तु केवल इस विधि से सम्पुट में बन्द करके पुट दिया जायगा तो इसकी भस्म होना सम्भव नहीं है। ग्रन्थान्तर में इस प्रकार की अनेक विधियाँ लिखी हुई हैं, यथा—"काष्ठोदुम्बरिका दुग्धे रसं किञ्चिद्विमर्दयेत्। तद्दुग्धपिष्टहिङ्गोश्च मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् ॥ क्षिप्त्वा तत्सम्पुटे सूतं तत्र मुद्रां प्रकल्पयेत्। धृत्वा तद्गोलकं प्राज्ञो मृण्मूषासम्पुटेऽधिके ॥ पचेद्वह्निपुटे नैव सूतको याति भस्मताम् ॥" इसी तरह अपामार्ग के बीजों की दो दृढ़ मूषा बना कर उनमें कठूमर के दूध से मर्दन किये हुये पारद को बन्द करके पुट देने से भी पारद की भस्म होने को लिखा है। परन्तु इस विधि में कुछ गुप्त रहस्य होने से पारद की भस्म अब तक जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं बनी है। यों तो गन्धकाम्ल में पारद को डाल कर उसकी भस्म बनाई जाती है परन्तु इसमें

शास्त्रोक्त पारदभस्म के कोई गुण नहीं पाये जाते हैं। अतः इस तरफ वैद्यों को बहुत कुछ करना बाकी है। रसतरङ्गिणी में भी कई अनुभूत पारदभस्म विधियाँ लिखी हुई हैं परन्तु उनसे पारद की काली भस्म होती है। उसमें भी कठूमर के दूध का ही बहुत सा भाग होता है। परन्तु जो भी हो, पारदभस्म करने पर उसको लघुपुट में ही फूकना चाहिये अन्यथा पारद सब उड़ जाती है॥

रसमारणे प्रकारान्तरम्–

गोमूत्रद्रोणपुष्पाभ्यां पाकाद्वा कान्तभाजने॥ १३॥

शुद्ध पारद को गोमूत्र तथा द्रोणपुष्पीरस के साथ मर्दन करके गोला-सा बना उसको कान्तलोह के सम्पुटों में बन्द करके लघुपुट देने से पारद की भस्म हो जाती है।

विशेष वचन—आयुर्वेदप्रकाश में पारद का इस प्रकार भस्म-विधान है—द्रोणपुष्पी के फूल, वायविडंग, विट्खदिर का समभाग चूर्ण एकत्र करके रख लें। अब पारद को द्रोणपुष्पीस्वरस से मर्दन करके गोला-सा बना लें। एक सम्पुट में उक्त द्रोणपुष्पी आदि द्रव्यों का आधा चूर्ण बिछा कर उस पर गोले को रख अवशिष्ट चूर्ण ऊपर से डाल कर सम्पुट को बन्द करके गजपुट में फूकने को लिखा है। इस विधि से भी शुद्ध पारदभस्म नहीं होती है॥ १३॥

प्रकारान्तरम्–

कङ्गुणीकृष्णधुस्तूरतैलाभ्यां वा विमर्दितः॥ १४॥

ककुनीतैल तथा धत्तूर के बीजों का तैल लेकर उसके साथ पारद को अच्छी तरह मर्दन करके कान्तलोह के सम्पुट में बन्द कर लघुपुट देने से भी पारद की भस्म हो जाती है॥ १४॥

प्रकारान्तरम्–

मृणालतन्तुवर्त्तिस्थः पीतगन्धर्वतैलयुक्।
ज्वलितो याममात्रं वा मृतवैक्रान्तसंयुतः॥ १५॥

पीत एरण्डबीजतैल के साथ शुद्ध पारद तथा वैक्रान्तचूर्ण को समभाग में लेकर मर्दन करके कल्क सा तय्यार कर लें। इस कल्क को कमल की डंडी के भीतर से निकलने वाले तन्तु पर जौ के बराबर मोटा लेप करके सुखा लें। अब इस बत्ती को एक पहर तक दीपक में रख कर जलायें। इसमें से जो तैल नीचे गिरेगा वह पारद की कृष्णभस्म होगी॥ १५॥

प्रकारान्तरम्–

बन्ध्याऽमृताकन्दगतः पचनाद्भूधरेऽथवा॥ १६॥

बाँझककोड़ा तथा गुडूची के कन्द के बीच में पारद को (मारकवर्ग की औषधियों के साथ खरल कर) बन्द करके सम्पुट में बन्द कर दें। अब सम्पुट को भूधरयन्त्र मे रख कर पकावें तो पारद की भस्म हो जाती है॥ १६॥

प्रकारान्तरम्–

चपलोपलनिर्गुण्डीरसाभ्यां रसकेन वा॥ १७॥

चपलोपल (चपलधातु) एक भाग, शुद्ध पारद एक भाग; दोनों को एकत्र निर्गुण्डीस्वरस के साथ मर्दन कर सम्पुट में बन्द करके भूधरयन्त्र में पकाने से अथवा केवल खपरिये के साथ पारद को घोट कर मूषा में बन्द करके भूधरयन्त्र में पकाने से पारद की भस्म हो जाती है॥ १७॥

प्रकारान्तरम्–

वाराहीरसयुक्तेन चक्रमर्दरसेन वा॥ १८॥

वाराहीकन्द के स्वरस में अथवा चक्रमर्द के स्वरस में पारद को अच्छी तरह मर्दन करके मूषा में बन्द करके भूधरयन्त्र में पकाने से पारद की भस्म हो जाती है॥ १८॥

प्रकारान्तरम्–

गन्धपाषाणयुक्तेन बद्धं वा वाससा रसम्।
पचेद्गन्धकतैलेन यावदाखोटबन्धनम्॥ १९॥
गन्धाश्मपिष्टं द्विगुणगन्धं वा कान्तसम्पुटे।
गन्धकाद्वा तृतीयांशं कांतपर्पटमिश्रितम्॥
मूलिकामर्दितं लोहपर्पटान्तर्गतं धमेत्॥ २०॥

एक स्वच्छ वस्त्र पर शुद्ध गन्धक का घृतयुक्त कल्क पोत कर सुखा लें। अब इस वस्त्र में गन्धक के बराबर भाग शुद्ध पारद रख कर बाँध दें। तदनन्तर इस वस्त्रपोटली को गन्धक के तैल में डाल कर दोलायन्त्र विधि से (मन्द मन्द अग्नि से) तब तक पकावें जब तक पारद आखोटबन्धन का रूप धारण न कर लें। अब इस आखोट को वस्त्र से निकाल इसमें समभाग गन्धक अथवा पारद से द्विगुण गन्धकचूर्ण मिला घोट कर कान्तलोह के सम्पुट में बन्द करके अथवा पारद से तिगुना गन्धक और कान्तलोहचूर्ण मिला, पूर्वोक्त मूलिनी औषधियों के स्वरस से मर्दन करके अत्यन्त बारीक और चौड़े लोह के पत्रों में रख कर पोटली-सी बना इसको कान्तलोह के सम्पुट में बन्द करके सन्धि-लेप कर तेज कोयलों की अग्नि में तपावें। इससे पारद की भस्म हो जाती है॥ १९–२०॥

प्रकारान्तरम्–

यद्वा गन्धकपादेन मर्दितं मूलिकारसैः।
लोहसम्पुटमध्यस्थमङ्गारैर्ध्मातमुत्खनेत्॥
रोगोक्तयोगयुक्तोऽयं तत्तद्रोगहरो भवेत्॥ २१॥

अथवा पारद में चौथाई भाग शुद्ध गन्धक मिला कर मूलिका औषधियों के स्वरस के साथ अच्छी तरह मर्दन कर लोह के सूक्ष्म-पत्र में रख गोला सा बनावें। इस गोले को कान्तलोह या लोह-सम्पुट में बन्द करके भट्टी में जलते हुये कोयलों की अग्नि में तपा कर इसकी भस्म बना लें। इस भस्म को तत्तत् रोगों में

लिखे हुये योगों (मृत्युञ्जय, प्लीहशार्दूल, यकृदरिलोह, मृगांकवसन्तमालती रस आदि) में मिला कर प्रयोग करने से यह सब रोगों को शान्त करती है ।। २१ ।।

ज्वरे प्रथमरसकल्पः—

समुस्तपर्पटक्वाथो भस्मसूतो हरेज्ज्वरम् ॥२२॥

पारद की भस्म (रससिन्दूर) को मुस्ता और पित्तपापड़े के कषाय के साथ सेवन करने से ज्वर शान्त होता है ।

विशेष वचन—यह योग विशेषतः पित्तज्वर के लिये लाभदायक है । जब रोगी को वमन, अतीसार के साथ मध्यवेग पित्तज्वर हो इसके देने से वमन तथा अतीसार में शान्ति आती है और बेचैनी मिट जाती है ।। २२ ।।

त्रिदोषजज्वरे द्वितीयरसकल्पः—

दशमूलकषायेण पिप्पल्या च समस्तजम् ॥ २३ ॥

पारदभस्म को उचित मात्रा में लेकर दशमूलकषाय में पिप्पली चूर्ण मिला कर इसके अनुपान से सेवन करने पर सम्पूर्ण दोषज अर्थात् सान्निपातिक ज्वर दूर होता है ।

विशेष वचन—दशमूल द्रव्य २ तोला लेकर १६ तोला पानी में पका कर जब चार तोला रह जाय उसे छान कर दो रत्ती पिप्पलीचूर्ण मिला कर देना चाहिये ।। २३ ।।

रक्तपित्ते तृतीयचतुर्थरसकल्पौ—

माक्षिकाऽभयया वासापिप्पल्या वास्रपित्तनुत् ॥२४॥

पारदभस्म (रससिन्दूर) को हरड़चूर्ण तथा वासामूलत्वक्चूर्ण के साथ शहत मिला कर सेवन करने से अथवा पिप्पलीचूर्ण मिला कर शहत के साथ चाटने से रक्तपित्त रोग दूर होता है ।।

विशेष वचन—रक्तपित्त में पिप्पली मरिच आदि तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग कम करना चाहिये । क्योंकि ये द्रव्य (रक्त के) उत्तेजक होने से रक्तस्राव बन्द करने में सहायक नहीं होते हैं । यदि कफप्रकोप साथ में हो तो विचारपूर्वक ऐसे द्रव्यों का प्रयोग भी किया जा सकता है ।। २४ ।।

कासे पञ्चमरसकल्पः—

कण्टकारीकषायेण पिप्पल्या च सकासजित् ॥ २५ ॥

पारदभस्म को छोटी कण्टकारी के कषाय में पिप्पलीचूर्ण मिला कर इसके साथ सेवन करने से कास रोग दूर होता है ।।

क्षये षष्ठसप्तमरसकल्पौ—

अजायाः क्षीरसिद्धेन कणायुक्तेन सर्पिषा ।
त्रिफलागन्धकव्योषगुडैर्वा क्षपयेत्क्षयम् ॥ २६ ॥

पिप्पली के चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण बकरी के दूध से सिद्ध किये हुये घृत के साथ पारदभस्म को कुछ काल सेवन करने से अथवा त्रिफलाचूर्ण, शुद्ध गन्धकचूर्ण, त्रिकटुचूर्ण तथा गुड के साथ मिला कर पारदभस्म को कुछ काल सेवन करने से क्षय रोग दूर होता है ।। २६ ।।

क्षयादौ अष्टमरसकल्पः—

अथ लोहमयीं मूषामायामे द्वादशांगुलाम् ।
मर्दितं हेमवाराहीगृहकन्यारसै रसम् ॥ २७ ॥
रसोनपिण्डे दधतीं लोहमय्या सुरन्ध्रया ।
निर्गुण्डीपत्रनिर्यासपीतपादसुगन्धया ॥ २८ ॥
गर्भमूषिकया युक्तां सचक्रां सपिधानकाम् ।
लम्बितां जलपात्रस्थखर्परद्वारि पाचयेत् ॥ २९ ॥
ऊर्ध्वं वनोत्पलैश्चित्रैरङ्गारैः खादिरैरधः ।
एवमष्टगुणे जीर्णे गन्धके क्षयकुष्ठजित्" ३० ॥

लोहे की बारह अंगुल लम्बी चौड़ी एक मूषा बनावें । इसमें धतूरा, वाराहीकन्द तथा घीकुमार के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन किये हुये पारद को लहसुन कल्क के पिण्ड में बन्द करके रख दें । अब इस मूषा के मुख में दो अंगुल नीचे तक प्रवेश करने योग्य एक दूसरी लोहमूषा रख दें । इस छोटी मूषा के तलप्रदेश में एक बहुत सूक्ष्म छिद्र करना चाहिये और मुख में ढकन को फिट करने के लिये चक्र (रेखाएँ सी जैसे किसी कील में पेंच को फिट करने के लिये होती हैं) होने चाहिये । बड़ी मूषा में छोटी मूषा को तलप्रदेश की तरफ से अच्छी तरह फिट कर दें । अब इस छोटी मूषा में पारद से चतुर्थांश शुद्ध गन्धक को निर्गुण्डीपत्रस्वरस में अच्छी तरह घोट कर सुखा कर भर दें और मुख में ढकन घुमा कर फिट कर दें । अब एक मिट्टी का चौड़े मुख का घड़ा या हाँडी लें । इसमें आधे भाग तक जल भर दें । इसके मुख पर एक छेद वाला लोहे का ऐसा ढकन रखें जिसमें से बड़ी लोहमूषा, हाँडी के भीतर के जल में अच्छी तरह डूबी रह सके । साथ ही ढकन हाँडी के मुख से द्विगुण चौड़ा और किनारों की तरफ से कुछ ऊपर को उठा हुआ हो । इस हाँडी को चूल्हे पर रख कर नीचे खदिरकाष्ठ की अग्नि दें । ऊपर के ढकन में जंगली उपले रख कर आग जलायें । इस प्रकार बत्तीस बार करके पारद से अठगुना गन्धक जीर्ण कर लेने पर यह योग पारदभस्म के समान कार्य करने वाला हो जाता है । इसके प्रयोग से क्षय तथा कुष्ठ रोग शान्त हो जाते हैं ।। २७-३० ।।

हिक्कायां नवमरसकल्पः—

हिक्कां निहन्ति रुचकबीजपूराम्लमाक्षिकैः ॥३१॥

पारदभस्म को सौंचल नमक, बीजौरा नींबू का रस तथा शहत के साथ मिला कर सेवन करने से हिचकी बन्द हो जाती है ।।

छर्दिदाहयोः दशमैकादशरसकल्पौ—

छर्दिदाहौ मधुसितालाजामुद्गसिताम्बुभिः ॥ ३२ ॥

अत्यधिक वमन तथा दाह में पारदभस्म को मूंग के जल

में (क्वाथ) मिश्री, मधु तथा खील का चूर्ण मिला कर देने से लाभ होता है ॥ ३२ ॥

विशेष वचन—यहाँ मूंग के जल से भुने हुये मूंगों का कषाय लेना चाहिये। चक्रदत्त में भी यही योग है—"कषायो भृष्टमुद्गस्य सलाजमधुशर्करः । छर्द्यतीसारतृड्दाहज्वरघ्नः संप्रकाशितः ॥" अतः मूंग के कषाय में मधु मिश्री तथा खील मिला कर देने से अथवा केवल मिश्री के जल से पारदभस्म देने से छर्दि तथा दाह रोग दूर होते हैं।

अर्शःसु द्वादशरसकल्पः—

अर्शांसि तैलसिन्धूत्थपुटपाचितशूरणैः ॥ ३३ ॥

अर्शरोग में जिमीकन्द को पुटपाक में पका कर फिर तिलतैल में भून कर थोड़ा नमक मिला पारदभस्म के साथ सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—जिमीकन्द के ऊपर एक अंगुल मोटा मिट्टी का लेप कर पुटपाक विधान से उपलों की निर्धूम अग्निराशि में पका कर शीतल कर लें। ठंडा होने के बाद लेप उतार कर भीतर के पके हुये कन्द को सिल या खरल में पीस कर तैल में भून लें। अब इसमें थोड़ा सा नमक मिला कर सेवन करना चाहिये। चक्रदत्त में भी इसी तरह लिखा है, यथा—"मृल्लिप्तं शौरणं कन्दं पक्त्वाऽग्नौ पुटपाकवत्। अद्यात् सतैललवणं दुर्नामविनिवृत्तये" ॥ ३३ ॥

अतीसारे त्रयोदशादिरसकल्पत्रयम्—

त्वक्पल्लवैः कषायाणां शृतेनोदश्विदम्भसा ।
क्षीरिण्या वाप्यतीसारं—

अतीसार में पारदभस्म को कषायवृक्षों (क्षीरिवृक्ष, बड़, पीपल, गूलर, पाकर और पारिस पीपल) की त्वचा तथा पत्तों के कषाय के अनुपान से अथवा दही और जल के साथ अथवा दुधी के कल्क के साथ सेवन करना चाहिये।

विशेष वचन—राजनिघण्टु में दही में समभाग जल डाल कर बनाये हुये तक्र को उदश्वित् नाम से लिखा है। "दध्यम्भसी यदि समे तदुदश्विदाहुः।" छोटे पत्तों की दुधी अतीसार विशेषतः रक्तातिसार के लिये उत्तम औषधि है। इससे आँतों के व्रणों में फटी हुई छोटी छोटी धमनियों का मुख संकुचित हो जाता है जिससे रक्त निकलना बन्द हो जाता है ॥

विसूच्यां षोडशरसकल्पः—

—विसूचीं कणहिंगुना ॥ ३४ ॥

विसूचिका रोग में पारदभस्म को पिप्पली तथा हिंगुचूर्ण के साथ मिला कर देने से आराम आता है ॥ ३४ ॥

अजीर्णे सप्तदशरसकल्पः—

अजीर्णं काञ्जिकैरण्डक्वाथपथ्यावलेहतः ॥ ३५ ॥

अजीर्ण में पारदभस्म को एरण्डमूलकषाय में काँजी तथा हरीतकीचूर्ण मिला कर इसके अनुपान से सेवन करने से आराम आता है ॥ ३५ ॥

प्रवाहिकायामष्टादशैकोनविंशरसकल्पौ—

कषायपल्लवैः पक्वं बालबिल्वं सनागरम् ।
सगुडं सरसं हन्ति बिम्बिसीं दारुणामपि ॥
बिल्वकर्कटिकागर्भं मसूरक्वथिताम्बु वा ॥ ३६ ॥

कच्चे बेल के गूदे को कषायरस वृक्षों (पञ्च पल्लव अथवा जामुन, दाड़िम आदि वृक्ष) के पत्तों से लपेट कर तागे से बाँध दें। इस पर एक अंगुल मोटा मिट्टी का लेप करके पुटपाक विधि से पका लें। शीतल होने पर निकाल इसमें समभाग सौंठ का चूर्ण तथा गुड़ मिला कर पारदभस्म के साथ सेवन करने से भयंकर प्रवाहिका रोग शान्त होता है। अथवा मसूर के कषाय या यूष में बेलगिरि का चूर्ण तथा ककड़ी के मध्यभाग का चूर्ण मिला इस अनुपान से पारदभस्म सेवन करने पर प्रवाहिका रोग शान्त होता है।

विशेष वचन—यहाँ पर कषाय पल्लव से चक्रसंग्रह के अनुसार जामुन, दाड़िम, सिंगाड़ा, पाठा, चौलाई के पत्तों का ग्रहण करना चाहिये। यदि बिल्वकर्कटिका, एक शब्द मान कर बेल की गिरि ही ली जाय तो कोई हानि नहीं है। ककड़ी के छिलके या मध्यभाग का प्रयोग विरल ही देखने में आता है ॥ ३६ ॥

मूत्रकृच्छ्रे विंशरसकल्पः—

कृच्छ्रं मृतसरः क्षीरक्षीरिणीक्षुरमाक्षिकैः ॥ ३७ ॥

मूत्रकृच्छ्ररोग में पारदभस्म को दुधी और तालमखाने के कल्क में मधु मिला इसके साथ खिलाना चाहिये और दूध का अनुपान करना चाहिये।

विशेष वचन—'क्षीरक्षीरिणीक्षुरमाक्षिकैः' के स्थान पर कहीं 'क्षीरगोक्षुरक्षीरमाक्षिकैः' पाठ मिलता है ॥ ३७ ॥

मेहेषु एकविंशरसकल्पः—

पारदभस्मशिलाजतुकृष्णालोहमलत्रिफलाकुलिबीजम् ।
ताप्यनिशारजकोपलकान्तव्योषरजः खपुरश्च कपित्थात् ॥३८॥
सर्वमिदं परिचूर्ण्य समांशं भावितभृङ्गरसं दिवसादौ ।
विंशतिवारमिदं मधुलीढं विंशतिमेहहरं हरिदृष्टम् ॥३९॥

पारदभस्म, शुद्ध शिलाजीत, पिप्पलीचूर्ण, मण्डूरभस्म, त्रिफलाचूर्ण, अंकोलबीजचूर्ण, स्वर्णमाक्षिक, हरिद्राचूर्ण, रजक (कंपिल्लचूर्ण), शुद्ध मैनसिलचूर्ण, कान्तलोहभस्म, त्रिकटुचूर्ण, खपुर (सुपारी या साल की राल), कैथ का गूदा; सबको समभाग में लेकर एकत्र पीस लें। और सबको भृंगराज के स्वरस की बीस भावना देकर सुखा के रख लें। इसमें से प्रतिदिन प्रातःकाल उचित

मात्रा में शहत के साथ खाने से बीस प्रकार के प्रमेह दूर होते हैं। इस कल्प को हरि नामक रसाचार्य ने वर्णन किया है।

विशेष वचन—सत्रहवें अध्याय में यह कल्प आ चुका है। वहाँ इसका नाम 'मेहहर' लिखा है ॥ ३८-३९ ॥

प्लीहादौ द्वाविंशत्रयोविंशरसकल्पौ—

न्यग्रोधाद्यसनाद्यैर्वा क्वाथयुक्तो मृतो रसः।
पश्चाल्लशुनगोमूत्रैः प्लीहगुल्मनिबर्हणः ॥४०॥

न्यग्रोधादिगण असनादिगण की औषधियों के कषाय में लहसुन तथा गोमूत्र मिला कर पारदभस्म सेवन करने से अथवा असनादिगण की औषधियों के कषाय में लहसुन तथा गोमूत्र मिला कर पारदभस्म सेवन से प्लीह गुल्म रोग दूर होते हैं।

विशेष वचन—वाग्भट में न्यग्रोधादिगण इस प्रकार लिखा है—'न्यग्रोधपिप्पलसदाफलरोध्रयुग्मं जम्बूद्वयार्जुनकपीतनसोमवल्काः। प्लक्षाम्रवंजुलपियालपलाशनन्दीकोलीकदम्बविरला मधुकं मधूकम् ॥ न्यग्रोधादिगणः......' असनादिगण का पाठ इस प्रकार है, यथा—"असनतिनिशभूर्जश्वेतवाहप्रकीर्या खदिरकदरमण्डीशिंशपामेषशृंग्यः। त्रिहिमतलपलाशा जोंगकः शाकशालौ क्रमुकधवकुलिंगच्छागकर्णाश्वकर्णौ ॥ असनादिर्विजयते......।" 'पश्चाल्लशुन गोमूत्रैः' के स्थान पर 'पथ्यालशुनगोमूत्रैः' पाठान्तर मिलता है। यह पाठ अधिक सरल और उचित है क्योंकि हरीतकी गुल्म तथा प्लीहा दोनों रोगों में लाभदायक है ॥ ४० ॥

पक्तिशूले चतुर्विंशरसकल्पः—

कलाययूषशम्बूकक्षाराभ्यां पक्तिशूलनुत् ॥ ४१ ॥

मटर के कषाय में शम्बूकभस्म तथा यवक्षार मिला कर पारदभस्म सेवन करने से पक्तिशूल (परिणामशूल) में आराम आता है ॥ ४१ ॥

आमशूले पञ्चविंशरसकल्प;—

सत्र्यूषणतिलक्वाथेनाऽऽमशूलस्य नाशनः ॥ ४२ ॥

तिल के कषाय में त्रिकटुचूर्ण मिला कर उसके साथ पारदभस्म सेवन करने से आमजन्य शूल नष्ट होता है ॥ ४२ ॥

उदरे षड्विंशरसकल्पः—

नवनीतसुधाक्षारभावितोऽभययोदरे ॥४३॥

उदररोग में पारदभस्म को थोहर के क्षार जल से भावित हरीतकीचूर्ण में मिला कर मक्खन के साथ चाटने से आराम आता है ॥ ४३ ॥

कामलायां सप्तविंशरसकल्पः—

स हितः सहितो यष्टीवारिणा कामलामये ॥ ४४ ॥

कामला रोग में मुलेठीकषाय के साथ पारदभस्म सेवन करने से आराम आता है ॥ ४४ ॥

पाण्ड्वादौ अष्टाविंशरसकल्पः—

फलत्रिकादिक्वाथेन पाण्डुशोफे सकामले ॥ ४५ ॥

फलत्रिकादि द्रव्यों के कषाय के साथ पारदभस्म सेवन करने से पाण्डु शोथ तथा कामला रोग में आराम आता है।

विशेष वचन—फलत्रिकादिकषाय निम्न द्रव्यों का बनाना चाहिये। त्रिफला, गुडूची, वासा, कटुकी, चिरायता, नीम की छाल के कषाय में मधु मिला कर पारदभस्म का सेवन करना चाहिये ॥

शोथे एकोनविंशरसकल्पः—

शोफे सविश्वभूनिम्बक्वाथगोमूत्रसंयुतः।
निम्बामलककङ्कुष्ठैः प्रशस्तः स मृतो रसः ॥ ४६ ॥

सोंठ, चिरायता के कषाय में गोमूत्र मिला कर, निम्बपत्र, आँवला तथा कंकुष्ठकल्क के साथ पारदभस्म सेवन करके उक्त कषाय अनुपान करने से शोथ दूर होता है ॥ ४६ ॥

कुष्ठे त्रिंशैकत्रिंशरसकल्पौ—

रसोनराजिकावह्निनीलिमार्कवपल्लवैः।
तुल्यं भल्लातकं क्षिप्त्वा क्षीरे तैलं विपाचितम् ॥४७॥
भूशिरीषसुपर्णाख्योः पञ्चाङ्गं माक्षिकं घृतम्।
रसं च लीढ्वा कुष्ठार्तो लिम्पेत्त्रिकटुना तनुम् ॥
रसगन्धकपिष्ट्या वा कटुतैलाभियुक्तया ॥ ४८ ॥

लहसुन, राई, चित्रकमूल, नील के पत्ते, भाँगरे के पत्ते, प्रत्येक समभाग इन सबके बराबर शुद्ध भिलावा लेकर सबको एकत्र जल से मर्दन करके कल्क बना लें। इस कल्क से चौगुना तैल और तैल से चौगुना गोदुग्ध लेकर तीनों को एकत्र मिला तैल सिद्ध कर लें। इस तैल में त्रिकटुचूर्ण मिला कर कुष्ठ रोगी के शरीर पर मालिश करावें। साथ ही सिरस और नागकेसर के पञ्चांग के कल्क में पारदभस्म मिला घी और शहत के साथ रोगी को सेवन करावें। अथवा कड़वे तैल में पारद गन्धक की समभाग कज्जली मिला कर कुष्ठी के शरीर पर मालिश करावें और सिरस आदि के साथ पारद की भस्म सेवन करावें। इस क्रिया से कुष्ठ रोग दूर होता है ॥४७-४८॥

कुष्ठे द्वात्रिंशत्रयस्त्रिंशरसकल्पौ—

कर्पूरवल्लीसहनिम्बतैलपातालमूलीरसभावितेन।
रसेन लिह्यात्सकलं हठं वा विचूर्णितं पुष्परसं स कुष्ठी ॥

कुष्ठरोगी को पारदभस्म को कर्पूरवृक्ष का मूल के रस के साथ में निम्बतैल, पातालमूली (पातालगडुडी या पान) के स्वरस से सात भावना देकर उसमें रोहिषतृणचूर्ण और मधु मिला कर सेवन करना चाहिये। अथवा उक्त भावित पारदभस्म में हठ (जलकुम्भी काई)का चूर्ण तथा मधु मिला कर सेवन करना चाहिये ॥४९॥

कुष्ठे चतुस्त्रिंशरसकल्पः—

फेनिलफलाहिदर्वीकन्दरसं खादतोऽनुदिनम्।
फेनिलमूलोद्वर्तनमाचरतोऽपि च कुतः कुष्ठम् ॥५०॥

प्रतिदिन रीठे के फलों की गिरी, थोहर की जड़, गोजिह्वा

की जड़ के साथ पारदभस्म मिला कर सेवन करने और प्रतिदिन रीठे की मूल की छाल का शरीर में उबटना करने से कुष्ठ रोग नहीं होने पाता है।

विशेष वचन—पारद की भस्म को रीठे के फल आदि के कल्क में रख कर सेवन करके शरीर में रीठे का उबटना करना चाहिये। अहि का अर्थ थोहर की जड़ तथा दर्वीकन्द से गोजिह्वा ये दोनों मेरे देखने में नहीं आये॥ ५० ॥

किलासे पञ्चत्रिंशरसकल्पः—

चित्रकवानरिवायसीतुण्डीवाकुचिका द्विगुणाः परिपीताः। मूत्रयुता मृतसूतसमेतास्तक्रभुजः शमयन्ति किलासम्॥५१॥

चित्रकमूल, कौंच के बीज, कौआठोडी, बावचीचूर्ण, को पारदभस्म से द्विगुण मात्रा में लेकर सब को एकत्र करके गोमूत्र के साथ सेवन करने और क्षुधा लगने पर तक्र के साथ भोजन करने से किलास (श्वेतकोढ़) रोग दूर होता है॥ ५१ ॥

श्वित्रे षट्त्रिंशरसकल्पः—

द्रुतगगनमरीची वाकुचीतालपत्र्यौ
सलिलरिपुनकुल्यौ कृष्णशुण्ठ्यौ सभृङ्गम्।
मरिचमसितसोमश्चित्रकाङ्कोलबीजं
वरतिलशशिलेखे त्वक् च शाखोटकस्य॥ ५२ ॥
फलत्रयं च तत्सर्वं मृतसूतसमन्वितम्।
क्षीरान्नवर्तनो जग्ध्वा श्वित्रमाशु निवर्तयेत्॥५३॥

द्रुतगगन (अभ्रकसत्व या अभ्रकद्रुति), श्वेतपुष्प मरुआ या सूर्यकान्त मणि की भस्म, बावची, मूसली, सलिलरिपु (शुद्ध भिलावा), नाकुली, पिप्पली, सौंठ, भृंगराज, कालीमिर्च, धौ की छाल, शुद्ध कर्पूर, चित्रकमूलत्वक्, अङ्कोलबीज, काले तिल, गुडूची, सहोड़े की छाल और त्रिफला; सब का चूर्ण प्रत्येक एक भाग, पारदभस्म एक भाग; इन सब को मिला कर प्रतिदिन उचित अनुपान के साथ सेवन करके क्षुधा लगने पर केवल दूध के साथ भोजन करने पर सफेद कोढ़ शीघ्र ही शान्त होता है॥

क्रिमौ सप्तत्रिंशरसकल्पः—

सनिम्बपल्लवक्षौद्रः क्रमीन् हन्ति मृतो रसः॥५४॥

नीम के पत्तों के कल्क में पारदभस्म और मधु मिला कर सेवन करने से उदरक्रिमि नष्ट होते हैं॥ ५५ ॥

वातरोगे अष्टत्रिंशरसकल्पः—

पीतो लशुनसिद्धेन तैलेनानिलजान् गदान्॥५५॥

पारद की भस्म को लहसुन के कल्क से सिद्ध तैल के साथ सेवन करने से सम्पूर्ण वातविकार शान्त होते हैं।

विशेष वचन—यदि तैल में लहसुन को भून लिया जाय तो भी इस तैल से शीघ्रता में कार्य चल सकता है॥५५॥

गृध्रस्यामेकोनचत्वारिंशरसकल्पः—

विश्वैरण्डशृतक्षीरसहितो गृध्रसीं जयेत्॥५६॥

पारदभस्म को सौंठ तथा एरण्डमूलत्वक् से पकाये हुये दूध के साथ सेवन करने से गृध्रसी (रींगणवाय) रोग में आराम आता है॥ ५६ ॥

वातरक्ते चत्वारिंशरसकल्पः—

गुडाभयागुडूच्यम्बुयुक्तः पवनशोणितम्॥५७॥

गुडूची के कषाय में गुड़ और हरड़ का चूर्ण डाल कर इसके साथ पारदभस्म सेवन करने से वातरक्त रोग दूर होता है॥५७॥

स्थौल्ये एकचत्वारिंशरसकल्पः—

त्रिकटुत्रिफलावेल्लैः समांशो गुग्गुलुर्जयेत्।
वातारितैलसंयुक्तः स्थौल्यं भस्मरसान्वितः॥ ५८ ॥

त्रिफलाचूर्ण, त्रिकटुचूर्ण, वायविडंगचूर्ण; प्रत्येक समभाग लेकर इसमें सब के बराबर शुद्ध गूगल डाल कर एरण्डतैल के साथ अच्छी तरह कूट कर पतला सा अथवा गुग्गुल तय्यार कर लें। इसमें उचित मात्रा में पारद की भस्म मिला कर दूध अथवा अन्य स्थूलताहर अनुपान के साथ सेवन करने से स्थौल्य (चर्बी का बढ़ना) रोग दूर होता है॥ ५८ ॥

स्थौल्ये द्वाचत्वारिंशरसकल्पः—

मधूदकाभ्यां युक्तो वा—

अथवा मधु और जल के साथ उक्त गूगल और पारदभस्म सेवन करने से भी स्थौल्यदोष दूर होता है।

कार्श्ये त्रिचत्वारिंशरसकल्पः—

—कार्श्यन्तु शर्करान्वितः॥ ५९ ॥

कृशता (पतलापन) को दूर करने के लिये पारदभस्म में उक्त गुग्गुलु तथा शर्करा मिला कर सेवन करना चाहिये॥ ५६ ॥

अपस्मारादौ चतुश्चत्वारिंशरसकल्पः—

हिंगुसौवर्चलव्योषमूत्रसिद्धेन सर्पिषा।
रसो हन्यादपस्मारमुन्मादं च— ॥ ६० ॥

हींग, सौंचलनमक, त्रिकटु का कल्क कर लें। इस चतुर्थांश कल्क में कल्क से चतुर्गुण गोघृत और गोघृत से चतुर्गुण गोमूत्र डाल कर घृत सिद्ध कर लें। इस घृत के साथ पारदभस्म मिला कर सेवन करने से उन्माद और अपस्मार रोग नष्ट होते हैं॥

अपस्मारादौ पञ्चचत्वारिंशरसकल्पः—

—तथाञ्जनात्।
मधूककुनटीतार्क्ष्यपारावतमलैर्युतः॥ ६१ ॥

मधूक (महुआ या मुलेठी), मैनसिल, शुद्ध रसौत, कबूतर की विष्टा तथा पारदभस्म; प्रत्येक समभाग में लेकर खरल में बारीक पीस कर नेत्रों में अञ्जन करने से अपस्मार तथा उन्मादरोग शान्त होते हैं।

विशेष वचन—चक्रदत्त में इस अञ्जन में मधूक नहीं लिया गया है, यथा—"मनोह्वा तार्क्ष्यजञ्चैव शकृत् पारावतस्य च। अञ्जनं हन्त्यपस्मारमुन्मादञ्च विनाशयेत्" ॥ ६१ ॥

पद्मशाते षट्चत्वारिंशरसकल्पः—

धान्याम्लपिष्टाष्टमपिप्पलीकान् कार्पासबीजान् करमर्दनेन।
आदाय तैलं मृतसूतयुक्तमक्ष्णि प्रयुञ्जीत विशीर्णरोम्णि ॥

बिनौले की गिरी सात भाग, पिप्पली एक भाग; दोनों को काञ्जी में घोट कर धूप में रख दें, सूखने पर इसको हाथों से मसल मसल कर तैल निकाल लें। इस तैल में पारद की भस्म को घोट कर आँखों की पलकों में लगाने से नेत्र के पलकों से बालों का गिरना बन्द हो जाता है।

विशेष वचन—'करमर्दनेन' के स्थान पर 'करमर्दकेन' पाठ होने पर करञ्जफलबीजमज्जा का ग्रहण करना चाहिये। हाथों से तैल निकालना कठिन है अतः कोल्हू में डाल कर तैल निकालना अच्छा रहेगा ॥ ६२ ॥

नेत्ररोगे सप्तचत्वारिंशरसकल्पः—

बर्बूरनिम्बकिसलाऽऽजपुरीषधूमैः
कासेक्षुराश्मवनितास्तनजेन घृष्टम्।
भल्लातधूपितरसाञ्जनमञ्जयित्वा
साभ्यञ्जनस्नपनमक्ष्णि रुजं निहन्ति ॥ ६३ ॥

बबूर और नीम के कोमल पत्ते, बकरी की मींगनी (विष्टा), घर का धुँआँ, कास की जड़, तालमखाना, मैनसिल और भिलावों के धूम्र द्वारा धूपित की हुई शुद्ध रसौंत; इन सब को समभाग में लेकर एकत्र खरल में स्त्रीदुग्ध से मर्दन कर अञ्जन तय्यार कर लें। इसमें पारदभस्म मिला कर नेत्रों में अञ्जन करके शरीर में तैल की मालिश करके स्नान करें तो नेत्ररोग दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—कोई रसाञ्जन से पारदभस्म का अञ्जन करते हुये इस पद्य का यह अर्थ करते हैं कि बबूर और निम्बू के कोमल पत्र तथा बकरी की मींगनी के धुएँ से तथा भिलावों के धुएँ से पारदभस्म को धूपित कर इसमें कास आदि का चूर्ण मिला स्त्री-दुग्ध के साथ मर्दन करके नेत्रों में आँजना चाहिये। कोई अश्म शब्द से स्वर्णमाक्षिक का ग्रहण करते हैं। यदि ऐसा किया जाय तो भी कुछ हानि नहीं है—पारदभस्म, स्वर्णमाक्षिकभस्म, मैनसिल, को बबूल और नीम के पत्तों के रस से, बकरी की मींगनी के कषाय से, कास तथा तालमखाने के कषाय से अथवा स्त्रीदुग्ध के साथ पीस कर इसको भिलावों का धुँआँ दिया जाय। पश्चात् इसे नेत्रों में अञ्जन करके शरीर में तैल मालिश कर स्नान करना चाहिये। वनिता शब्द से हल्दी लेना ठीक है—अश्म से स्वर्णमाक्षिक ॥ ६३ ॥

तिमिरे अष्टचत्वारिंशरसकल्पः—

महाभेरीमूलं तुरगपृथुकाम्भोधिकुवलं
रसो जम्बीराम्ले जयति तिमिरं काचमपि च ॥ ६४ ॥

महाभरीमूल (वचा-कुलञ्जन), असगन्ध, हिंगुपर्णी, समुद्र-फेन, कमलपुष्प, पारदभस्म को समभाग में लेकर एकत्र जम्बीरी नीबू के रस में मर्दन करके नेत्रों में लगाने से तिमिर तथा काच रोग दूर होते हैं ॥ ६४ ॥

जाड्ये एकोनपञ्चाशत्तमरसकल्पः—

उपात्तं जीमूताद्रविजधरपर्णाम्बुमृदितात्
रसस्तैलं लेपादिह विविधजाड्यं च गुदजान् ॥६५॥

कड़वी तुम्बी के बीजों को रविज (आक के अंकुर) और धरपर्ण (पर्वतीय निम्ब) के स्वरस से मर्दन करके सुखा कर तिलपीडन-यन्त्र से तैल निकाल लें। इस तैल में पारदभस्म को मिला कर शरीर में लगाने से अनेक प्रकार की स्थानिकस्पर्शशून्यता तथा अर्शांकुर रोग नष्ट होते हैं।

विशेष वचन—यहाँ पर कोई रविज से आक का दूध, धर से कपास की जड़, पर्ण से पान का ग्रहण करने को कहते हैं। 'पर्णाम्बु' के स्थान पर 'पर्ण्यम्बु' पाठ होने पर रविज से जल 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' उसका धर धारण करने वाला मेघ अर्थात् नागरमोथा और पर्णी से सप्तपर्ण का अर्थ किया जाता है ॥६५॥

केशकृष्णीकरणे महानीलतैलाख्यपञ्चाशत्तमरसकल्पः—

वटप्ररोहं पिण्डीतमूलत्वक्कृष्णसैर्यकैः।
केतकीस्तननिर्यासशकलीत्रिफलार्जुनैः ॥ ६६ ॥
पृथग्दशपलैः सार्द्धं चतुर्द्रोणेष्वपां पचेत्।
अष्टभागावशिष्टेऽस्मिन् भृङ्गस्वरसपेषिते ॥६७॥
त्रिफलानील्ययश्चूर्णैः पृथग्द्विपलिकैर्युतम्।
तैलाढकं समक्षीरं पक्त्वा मृतरसान्वितम् ॥ ६८ ॥
महानीलं सुभाण्डस्थं मण्डलं धान्यमध्यगम्।
अभ्यङ्गविधियोगेन केशानां रञ्जनं परम् ॥ ६९ ॥

बड़ के अंकुर, मैनफल के जड़ की छाल, नीला वाँसा, केवड़े के वृक्ष के स्तनाकार अंश (जैसे वृक्षों में गाँठें होती हैं उसी प्रकार की केवड़े की वृक्ष की गाँठ का भाग—इसमें अपेक्षाकृत अन्य वृक्षभागों के तैल अधिक होता है) का निर्यास त्वचा या गोंद, आँवले के पत्ते, त्रिफला, अर्जुन वृक्ष की छाल; प्रत्येक दस पल प्रमाण में लेकर जौकुट करके चार द्रोण जल में डाल कर पकावें। जब जल पक कर आठवाँ भाग रह जाय उसे उतार कर छान लें। फिर इसमें समभाग भाँगरे का स्वरस मिलायें। अब उस स्वरस और कषाय में त्रिफला, नील तथा लोहचूर्ण प्रत्येक दो दो पल (आठ तोला) लेकर जल से पीस कर कल्क करके मिला दें। इसी कल्क में दो पल प्रमाण पारदभस्म भी मिला

दें। इसके बाद इसमें एक आढ़क तिलतैल और एक आढ़क (चार सेर के करीब) गौ का दूध मिला कर पकावें। जब तैल-मात्र शेष रहे उतार कर छान लें। इसे 'महानील तैल' कहते हैं। इसको एक पात्र में बन्द करके अठतालीस दिन तक धानों की राशि में गाढ़ देवें। तदनन्तर निकाल कर सिर के बालों में प्रतिदिन मालिश करें। इस तैल की मालिश से सिर के बाल काले हो जाते हैं।

विशेष वचन—इस तैल में 'भृंगस्वरसपेषिते' के स्थान पर इसके विशेष्य पद के न होने से कषाय को विशेषण करते हुये 'भृंगस्वरसपोषिते' पाठ कल्पना करना उत्तम है। अतः हमने टीका में यही अर्थ किया है। यह तैल बालों को अत्यन्त नील (काला) कर देता है, अतः इसे 'महानील' नाम से कहते हैं। भैषज्यरत्नावली आदि अन्य ग्रन्थों में इसका पाठ इस प्रकार पाया जाता है—"आदित्यवल्यामूलानि कृष्णशैरीयकस्य च। सुरसस्य च पत्राणि फलं कृष्णशणस्य च॥ मार्कवं काकमाची च मधुकं देवदारु च। पृथग्दशपलांशानि पिप्पल्यस्त्रिफलाञ्जनम्॥ प्रपौण्डरीकं मञ्जिष्ठा लोध्रं कृष्णागुरूत्पलम्। आम्रास्थिकर्दमः कृष्णो मृणालीरक्तचन्दनम्॥ नीलीभल्लातकास्थीनि काशीसं मदयन्तिका। सोमराज्यशनः शस्त्रं कृष्णो पिण्डीतचित्रकौ॥ पुष्पाण्यर्जुनकाश्मर्योश्चाम्रजम्बूफलानि च। पृथक् पञ्चपलैर्भागैः सुपिष्टैराढकं पचेत्॥ वैभीतकस्य तैलस्य धात्रीरसचतुर्गुणम्। कुर्यादादित्यपाकं वा यावच्छुष्को भवेद्रसः॥ लौहपात्रे ततः पूतं सशुद्धमुपयोजयेत्। पाने नस्यक्रियायाञ्च शिरोभ्यंगे तथैव च॥ एतच्चक्षुष्यमायुष्यं शिरसः सर्वरोगनुत्। महानीलमिति ख्यातं पलितघ्नमनुत्तमम्॥"

तन्त्रान्तरोक्त इस तैल में कल्क क्वाथ की औषधियों में भेद के अतिरिक्त विशेष भेद तैल में है। इसमें बहेड़े की मज्जा का तैल लिया गया है और क्वाथ के साथ आँवले का चतुर्गुण स्वरस डाला गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि यदि इसे केवल धूप में रख कर तय्यार किया जाय तो यह अग्निपक्व तैल की अपेक्षा अधिक गुणदायक होता है। सूर्यकिरणों द्वारा तैल में कुछ ऐसे रासायनिक परिवर्तन होते हैं जिससे त्वचा की पोषण शक्ति बल पा जाती है और उसके तैलग्रन्थियों की दुर्बलता दूर हो जाती है जिससे बालों का पकना बन्द हो जाता है। अर्थात् धूप में रख कर तैल बनाने पर तैल में विटामिन डी० ए० के गुण प्राप्त हो जाते हैं जिससे शरीर का पोषण अच्छा होकर बाल काले हो जाते हैं॥ ६६—६९॥

व्रणे एकपञ्चाशत्तमरसकल्पः—

त्रिफलापटोलमूलव्योषगुडूचीविडङ्गबीजानि।
समगुग्गुलानि मारितरसमिलितानि व्रणघ्नानि॥७०॥

त्रिफलाचूर्ण, पटोलमूलचूर्ण, त्रिकटुचूर्ण, गुडूचीचूर्ण, वायविडंगबीजचूर्ण, पारदभस्म; प्रत्येक एक एक भाग, शुद्ध गुग्गुलु; सबके बराबर भाग लेकर एकत्र घोट कर उचित प्रमाण वटिका बना लें। इनको प्रतिदिन उचित अनुपान या व्रणनाशक अनुपान के साथ सेवन करने और व्रणों पर छिड़कने से व्रणों में आराम आता है॥ ७०॥

ग्रन्थौ द्विपञ्चाशत्तमरसकल्पः—

ग्रन्थीन् विलेपयेत्तेषां लेपात्—

पूर्वोक्त त्रिफला तथा पारदभस्म युक्त गुग्गुलु को यदि ग्रन्थियों पर लेप किया जाय तो वे शान्त हो जाती हैं।

मसूरिकायां त्रिपञ्चाशत्तमरसकल्पः—

—मूलरसान्वितम्।
नारिकेरोदकं तद्वत्पीतं हन्ति मसूरिकाः॥ ७१॥

नारिकेल के जल तथा गन्ने के रस में पारदभस्म मिला कर पिलाने से 'मसूरिका रोग' में शान्ति होती है।

विशेष वचन—'विलेपयेत्' के स्थान पर 'विलोपयेत्' पाठकल्पना करना अच्छा है। मूलरस से यहाँ पर इक्षुमूलरस अर्थ किया गया है। यह रक्तविकार तथा पित्तविकारों के लिये उत्तम माना गया है॥ ७१॥

सिध्मादौ चतुःपञ्चाशत्तमरसकल्पः—

मञ्जिष्ठाशबरोद्भवं तुवरिका लाक्षा हरिद्राद्वयं
नेपाली हरितालकुङ्कुमगदा गोरोचनागैरिकम्।
पत्रं पाण्डु वटस्य चन्दनयुगं कालेयकं पारदं
पत्तङ्गं कनकत्वचं कमलजं बीजं तथा केसरम्॥७२॥
सिक्थं तुत्थं लोहकिट्टं वसाज्यमाजं क्षीरं क्षीरवृक्षाम्बु चाग्नौ।
सिद्धं सिध्मव्यङ्गनील्यादिनाशे वक्त्रच्छायामैन्दवीमाशु धत्ते॥

मञ्जिष्ठा, सफेद लोध, फटकरी, लाख, हल्दी, दारुहल्दी, मैनसिल, हरताल, केसर, कूठ, गोरोचन, गेरू, बड़ के पके हुए पीले पत्र, लाल चन्दन, सफेद चन्दन, काला अगर, शुद्ध पारद, पतंग, धतूर की जड़ की छाल, कमल के बीज, नागकेसर, मोम, शुद्ध तूतिया, मण्डूर; प्रत्येक द्रव्य समभाग में लेकर इनका कल्क कर लें। इससे चतुर्गुण वसा (चर्बी) तथा घृत लें। गौ का दूध तथा क्षीरवृक्षों का कषाय; प्रत्येक को वसा तथा घृत से चतुर्गुण लें। सब को एकत्र करके मन्द मन्द अग्नि से पका कर स्नेह तय्यार कर लें। इस स्नेह की शरीर पर मालिश करने से सिध्म (सीप), व्यंग (मुख की झांई), नीलिका आदि रोग दूर होकर मुख चन्द्रमा के समान स्वच्छ तथा कान्तिमान् होता है।

विशेष वचन—ऐसे तैल या स्नेहों में पारदभस्म डाल कर पाक करने से कोई विशेष लाभ नहीं होता है। अतः स्नेह सिद्ध होने पर पारद गन्धक की कजली डाल कर मालिश की जाय तो त्वचा

के रोगों में लाभ होता है। वाग्भट में 'सिक्थम्' से लेकर 'धत्ते' पर्यन्त पाठ के स्थान में "सिक्थं तुत्थं पद्मकाह्वं वसाज्यं मज्जाक्षीरं क्षीरिवृक्षाम्बु चाग्नौ। सिद्धं सिद्धं व्यंगनील्यादिनाशे वक्त्रच्छाया-मैंदत्रीमाशु धत्ते॥" पाठान्तर मिलता है॥ ७२—७३॥

अस्थिस्रावे पञ्चपञ्चाशत्तमरसकल्पः—

कार्पासपल्लवानन्तारसतैलयुतो हितः।
अस्थिस्रावे मृतरसो— ॥७४॥

कपास के पत्ते और अनन्तमूलस्वरस तथा तैल के साथ पारदभस्म को घोट कर लेप तय्यार कर लें। इस लेप के लगाने से अस्थिस्राव (नासूर) में लाभ होता है॥ ७४॥

विषे षट्पञ्चाशत्तमादिरसकल्पषट्कम्—

—विषे स्थावरजङ्गमे।
तण्डुलीयकमूलेन वीरामूलेन वा युतः॥
तण्डुलोदकसम्मिश्रः पावनावनलेपने॥ ७५॥

स्थावरविष तथा जंगमविषों के योग होने पर अर्थात् स्थावरविष के खाये जाने और जंगम प्राणियों द्वारा काटे जाने पर चौलाईमूलकल्प के साथ अथवा क्षीरकाकोलीकल्क के साथ पारदभस्म को मिला कर चावलों के जल के साथ सेवन करने से अर्थात् पिलाने या नस्य देने अथवा दंश स्थान पर लेप करने से दोनों प्रकार के विषों का प्रभाव दूर होता है॥ ७५॥

विषे द्विषष्टितमरसकल्पः—

सुरभिशकृद्रसभावितकर्पूररसमन्वितो मृतः सूतः।
स्थावरजङ्गमकृत्रिमविषजिद्गुञ्जामितो दध्ना॥ ७६॥

गौ के गोबर के स्वरस में कर्पूर को सात भावना देकर उसमें पारद की भस्म मिला कर एक रत्ती मात्रा में दही के साथ सेवन करने से स्थावरविष, जंगमविष तथा कृत्रिमविष दूर होते हैं॥७६॥

सर्पविषे त्रिषष्टितमरसकल्पः—

यक्षाक्षफेनिलरसोनकटुत्रयोग्रा-
राजीवराङ्घ्रिबकुलं लकुचाम्बुपिष्टम्।
छायाविशोषितमिदं नरवारिघृष्टं
सर्पापहं सरसमञ्जनतस्त्रिवारान्॥७७॥

बड़ की जटा, बहेड़ा, फेनिल (रीठा), लहसुन, त्रिकटु, वचा, राई, त्रिफला अथवा श्वेत अपराजितामूल, मौलश्री की छाल तथा पारदभस्म; प्रत्येक समभाग लेकर एकत्र खरल में बड़हर के स्वरस के साथ घोट कर बत्तियाँ बना लें। इनको छाया में सुखा कर रख लें। प्रयोग के समय इन बत्तियों को मनुष्य के मूत्र में घिस कर नेत्रों में लगावें। इस अञ्जन के नेत्रों में तीन बार लगाने से सर्पविष उतर जाता है॥ ७७॥

सर्पविषे चतुःषष्टितमरसकल्पः—

पिशाचः पञ्चवर्णस्य बीजं मूलं पुनर्नवात्।
देवदाल्याः फलं मूलं मूलं च विषपर्णतः॥
पेषितं नरमूत्रेण सर्वथाऽहिविषापहम्॥ ७८॥

पिशाच (सहोड़ा) की त्वचा, पञ्चवर्ण (धतूरा) के बीज, पुनर्नवामूल, बिन्दाल डोडा के फल तथा मूल, कड़वी तुम्बी की जड़ तथा पारदभस्म; प्रत्येक समभाग में लेकर मनुष्य के मूत्र में घोट कर नेत्रों में अञ्जन करने से सर्प का विष सम्पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है॥ ७८॥

उन्दुरुविषे पञ्चषष्टितमरसकल्पः—

कपित्थपञ्चकं नीरं रसंचाखुविषापहम्॥७९॥

कपित्थ (कैथ) का पञ्चांग (पत्र, पुष्प, फल का गूदा, मूल की छाल, तथा त्वक्) नेत्रबाला तथा पारदभस्म प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र पीस कर रख लें। इसमें से उचित मात्रा में अन्तः-प्रयोग करने पर चूहे का विष शान्त हो जाता है॥ ७९॥

वृश्चिकविषे षट्षष्टितमादिरसकल्पचतुष्टयम्—

कांस्ये ताम्बूल्या नागरं पिष्टमद्भिः
पत्रं शैरीषं पिप्पलीछागदुग्धैः।
पत्रं कार्पासात्सर्पिषा वाऽपि लेपात्
सूतेनोपेतं वृश्चिकानां विषघ्नम्॥८०॥

काँसे के पात्र में सौंठ को पारद के साथ पान के पत्तों के रस से घोट कर लेप करने से अथवा सिरस के पत्तों को पारद के साथ काँसे के पात्र में बकरी के दूध द्वारा घोट कर लेप करने से अथवा पिप्पली को पारद के साथ काँसे के पात्र में बकरी के दूध के साथ घोट कर लेप करने से या कपास के पत्तों को काँसे के पात्र में घी के द्वारा पारद मिला कर लेप करने से सब प्रकार के बिच्छुओं का विष उतर जाता है॥ ८०॥

विषदिग्धव्रणे सप्ततितमादिरसकल्पद्वयम्—

भावितं चणकाम्लेन वस्त्रमम्लेन मर्दयेत्।
तेन वाकुचिचक्राह्वकार्पासागस्तिपल्लवान्॥८१॥
एकस्य लकुचस्याम्ले स्वरसेन रसेन यः।
प्रक्षालितः प्रयात्येव विषदिग्धव्रणः शमम्॥८२॥

एक स्वच्छ वस्त्रखण्ड को चने के खार से अच्छी तरह भावित कर लें। जब वस्त्र गाढ़ा मोटा सा हो जाय तो उसमें बावची, चक्रमर्द, कपास तथा अगस्ति के पत्रों को बाँध कर काञ्जी के साथ धीरे २ मर्दन करें। अब इस वस्त्र से निकले हुये रस में पारदभस्म मिला कर विषैले वाणों द्वारा होने वाले व्रणों को धोया जाय तो वे अच्छे हो जाते हैं। अथवा केवल लकुच (बड़हर) के स्वरस को काञ्जी में मिला कर इसमें पारदभस्म मर्दन कर इस कल्क या द्रव से उक्त विषदिग्ध व्रणों को धोने से वे अच्छे हो जाते हैं।

विशेष वचन—"भावितं चणकाम्लेन वस्त्रमम्लेन मर्दयेत्।"

के स्थान पर कहीं "भावितश्चणकाम्लेन रसः खल्ले विमर्दयेत् ।" पाठ भी मिलता है ।। ८१-८२ ।।

रसायने द्विसप्ततितमरसकल्पः—

रसायनोक्तविधिना शुद्धो लब्धबलः पुनः ।
प्रातः प्रातः कणापथ्याविश्वसैन्धवचित्रकम् ॥८३॥
पीत्वा संरक्षणायाग्नेरीषदुष्णेन वारिणा ।
भृङ्गामलकनिर्यासे भावितं व्योमकान्तयोः ॥८४॥
भस्माऽयःसम्पुटे धान्ये स्थापितं मधुसर्पिषा ।
खादेन्निशि कणा पथ्या मासमेकं तथा पुनः ॥ ८५ ॥

मनुष्य को पहिले रसायनकर्मोक्त विधान से पञ्चकर्म (वमन, विरेचन, निरूहण, अनुवासन तथा नस्यकर्म) द्वारा शुद्ध करें । जब उसके शरीर में क्रमपूर्वक पथ्य भोजन सेवन करने से बल आ जाय अर्थात् वह पुनः स्वस्थ हो जाय तो उसे निम्न रसायन सेवन कराना चाहिये । प्रातःकाल प्रतिदिन उसे पिप्पली, हरड़चूर्ण, सैन्धानमकचूर्ण, चित्रकमूलत्वक्चूर्ण; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र करके उचित मात्रा में गरम जल से सेवन करावें । जब इस योग से मनुष्य की अग्नि दीप्त हो जाय तो उसे निम्न योग सेवन करायें । योग इस प्रकार बनाया जाता है । अभ्रकभस्म तथा कान्तलोहभस्म और पारदभस्म तीनों को समभाग में लेकर भाँगरा, आँवलों के पृथक् २ स्वरस में सात सात भावना देकर उसे एक लोह के स्वच्छ पात्र में बन्द करके एक मास तक धानों की राशि में बन्द कर दें । एक मास के बाद निकाल कर उसमें से उचित मात्रा में लेकर शहत और घी के साथ चटावें और पुनः इस रस के सेवनकाल में ही रात्रि के समय प्रतिदिन पिप्पली और हरीतकी के समभाग चूर्ण को गरम जल के साथ सेवन करावें ।

विशेष वचन—उक्त योग में अभ्रक और लोहभस्म के साथ पारदभस्म न भी डाली जाय तो भी यह रस कल्प के नाम से कहा जा सकता है । क्योंकि 'मृतानि लोहानि रसीभवन्ति' इस वाक्य से अभ्रक तथा लोहभस्म खुद रसस्वरूप है । पारदभस्म डालने पर यह योग और भी उत्तम गुणप्रद हो जायगा । 'पुनः' के स्थान पर 'पुमान्' कहीं ऐसा पाठ है ॥ ८३–८५ ॥

रसायने त्रिसप्ततितमरसकल्पः—

पातनाभस्म वा युक्तमथ सूतस्य भस्मना ।
जीर्णाऽल्पहेम्नः षण्मासाच्छतावर्या रसेन च ॥८६॥

पारद की शोधनपूर्वक (ऊर्ध्व, अधः, तिर्यक्पातन पूर्वक) बनाई हुई भस्म को छः मास तक शतावरी के स्वरस से सेवन करने पर शरीर में अकाल जरा उत्पन्न नहीं होने पाती है । अथवा अल्प मात्रा में स्वर्ण को जीर्ण किये हुये पारद की भस्म के साथ छः मास तक शतावरीस्वरस सेवन करने पर अकाल जरा का उदय नहीं होने पाता है ।

विशेष वचन—'जीर्णाल्पहेम्नः' से अभिप्राय ग्रासविधि द्वारा पूर्ण मान में स्वर्ण को जीर्ण न कर सकने वाले पारद से है । अर्थात् चौसठवाँ या बत्तीसवाँ भाग स्वर्णजीर्ण पारद की भस्म को शतावरीस्वरस के साथ सेवन करना चाहिये । 'जीर्णाल्पहेम्नः' के स्थान में 'जीर्णाभ्रहेम्नः' तथा 'जीर्णाल्पहेम' ये दो पाठान्तर मिलते हैं । इसी तरह 'पातनाभस्म वा' के स्थान पर कहीं कहीं 'पातनाभस्मना' और कहीं 'सुनागभस्मना' पाठ मिलता है । कोई इस पद्य का पूर्वोक्त रसायन पद्यों से सम्बन्ध मानते हैं । अभ्रक तथा कान्तलोह की भस्म के साथ पातना आदि कर्म द्वारा शुद्ध पारद की भस्म मिला कर धानों की राशि में बन्द करके उक्त योग को सेवन करने के लिये कहते हैं । परन्तु इन दोनों योगों के गुणों का वर्णन मूल में नहीं दिया गया है ॥ ८६ ॥

रसायने चतुःसप्ततितमरसकल्पः—

त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां खादिरासनभावितम् ।
मृतहेमरसोपेतां भक्षयेद्भक्षयेज्जराम् ॥ ८७ ॥

खदिरकाष्ठ तथा असन (विजैसार) के कषाय में त्रिफलाचूर्ण को सात बार भावना देकर सुखा लें । अब इसमें स्वर्णभस्म और पारदभस्म मिला कर शहत और घी के साथ छः मास तक निरन्तर सेवन करने से जरा नष्ट हो जाती है ॥

रसायने पञ्चसप्ततितमरसकल्पः—

गन्धकेन हतं सूतं कान्तं धात्रीरसेन च ।
त्रिफलासहितं खादेज्जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥ ८८ ॥

गन्धकयोग से भस्म किए हुए पारद और आँवलों के स्वरस के साथ मर्दन कर भस्म किए हुए कान्तलोह को त्रिफलाचूर्ण में मिला आँवलों के स्वरस के साथ निरन्तर सेवन करने से मनुष्य जब तक आकाश में चन्द्रमा और तारे हैं तब तक अर्थात् अनन्त वर्षों तक जीवित रह सकता है ।

विशेष वचन—ऐसे स्थानों की अतिशयोक्ति को हमने पहिले ही बता दिया है । इनमें अन्य रसायनों की अपेक्षा सरलता और गुणविशेषता होती है न कि ऐसे योग जीवन-मरण धर्म को ही बन्द कर सकते हैं ।

कल्प शब्द से किसी द्रव्य का नियमपूर्वक सेवन करना या पारदविष आदि प्रधान द्रव्यों का किसी साधारण द्रव्य के साथ योग करके सेवन करना अर्थ होता है । अतः उक्त कल्पों को पारदसेवनविधि के नाम से भी कहा जा सकता है और कहीं यह सहपान के नाम से भी लिये जा सकते हैं । संक्षेपतः इसको उपयोग विधि कहते हैं ॥ ८८ ॥

रसायने षट्सप्ततितमरसकल्पः—

चित्रकं त्रिफला भृङ्गो हरिद्राञ्जनपत्रिका ।
रसस्त्रिमधुरश्चापि जरावैरूप्यनाशनः ॥८९॥

चित्रकमूलछाल, त्रिफला, भृङ्गराज, हरिद्रा, शुद्ध रसौत, जावित्री और पारदभस्म; सब को समभाग में एकत्र पीस कर योग तय्यार कर लें। इसको उचित मात्रा में लेकर प्रतिदिन त्रिमधुर (मधु, घृत और शर्करा) के साथ सेवन करने से बुढ़ापे के कारण आने वाली विरूपता नष्ट होकर मनुष्य सुन्दर रूपवान् हो जाता है ॥ ८९ ॥

रसायने सप्तसप्ततितमाऽशीतितमान्तरसकल्पः—

रसौषधीनां रसभावितानां सितायुतैः क्षीरमधूदकाज्यैः ॥

रसौषधियों (स्वर्णादि धातुभस्म, कन्दविष तथा पारदभस्म) को विदारीकन्द, आँवला, असगन्ध आदि औषधियों के स्वरस से पृथक पृथक् इक्कीस भावना देकर सुखा लें। इसमें से उचित मात्रा में लेकर मिश्री, मधुजल या घृत अथवा दूध के साथ प्रयोग करने से जरा प्रभाव नष्ट होता है।

विशेष वचन—चार योग करने के निमित्त, सितादूध, सितामधु, सिताजल तथा सिता और घृत ये चार अनुपानों की कल्पना करनी चाहिये। रसप्रकाशसुधाकर में जो जलोत्पला, चिञ्चिका, जलापामार्ग, मांसी, जलकुम्भी, मेघनाद, ईश्वरी, अपराजिता आदि अठसठ औषधियों का वर्णन आता है। ये पारद के मारण तथा नियमन कार्य में प्रयुक्त होती हैं ॥ ९० ॥

रसायने एकाशीतितमरसकल्पः—

जरां रसो हन्ति च कान्तपात्रे क्षीरं शृतं काञ्चनपादपिष्ट्या

कान्तलोह की शुद्ध कड़ाही में दूध से चतुर्थांश शुद्ध स्वर्ण की चक्रिका डाल कर उसमें स्वर्ण से चतुर्गुण दूध डालकर उबालें। इस दूध के साथ प्रतिदिन पारद की भस्म सेवन करने से अकाल जरारोग नष्ट होता है ॥ ९१ ॥

रसायने वज्रपञ्जररसाख्यो द्व्यशीतितमरसकल्पः—

क्षेत्रीकरणमित्युक्तं वज्रभस्मसमं रसम्।
हंसपादीरसैर्घृष्टं विपचेत्तत्पुटानले ॥ ९२ ॥
तुल्यमन्यं रसं तेन पूर्ववन्मर्दितं पचेत्।
यावच्छक्यं चतुर्थांशमानेन रसभस्मना ॥९३॥
अम्लपिष्टेन सौवर्णं पत्रमालिप्य मारयेत्।
राजिकार्द्धार्द्धमारभ्य यावन्माषं विवर्द्धितः ॥९४॥
चित्रकार्द्रकसिन्धूत्थतीक्ष्णासौवर्चलैः सह।
सेवितः पलपर्य्यन्तं रसोऽयं वज्रपञ्जरः ॥
शरण्यः परिभूतानां व्याधिवार्द्धकमृत्युभिः ॥९५॥

यह आगे लिखा जाने वाला वज्रपञ्जरस, क्षेत्रीकरण कहा जाता है। अर्थात् इसके सेवन किये बिना शरीर में पारदभस्म सेवनजन्य गुणों का यथार्थरूप में उदय नहीं होता है। वज्रपञ्जररस इस प्रकार बनाया जाता और प्रयोग किया जाता है। हीरे की भस्म और शुद्ध पारद दोनों को समभाग में लेकर एकत्र खरल में हंसपादी के स्वरस के साथ एक दिन तक अच्छी तरह मर्दन करें। जब इसका गोला-सा बन जाय तो इसे एक दृढ़ मूषा में बन्द कर अच्छी तरह कपड़मिट्टी करके सुखा लें तथा लघुपुट में फूँक दें। स्वांगशीत होने पर औषधि को निकाल खरल में डाल उसमें पुनः समभाग शुद्ध पारद डाल कर हंसपादी के स्वरस से मर्दन कर गोला बना सम्पुट में बन्द करके लघुपुट में फूँक दें। इस प्रकार जितने अधिक पुट दे सकें, देने चाहिये। जब पारद की भस्म बन जाय तब चार भाग शुद्ध स्वर्णपत्र और एक भाग यह पारदभस्म लें। पहिले पारदभस्म को कांजी या नीबू के रस से मर्दन कर कल्क सा बना लें। इस कल्क का स्वर्णपत्र पर लेप करके सुखा कर सम्पुट में बन्द करके पुट में फूँक दें। इस प्रकार जब स्वर्ण की उत्तम भस्म हो जाय तो इसमें से चौथाई सरसों के बराबर मात्रा में लेकर चित्रक, अदरख, सैन्धानमक, तीक्ष्णलौहभस्म तथा सौंचलनमक के चूर्ण के साथ मिला कर सेवन करें। इस तरह प्रतिदिन चौथाई सरसों मात्रा बढ़ाते हुये चित्रकादि द्रव्यों के चूर्ण के साथ एक उड़द भर मात्रा होने तक सेवन करते जायँ। इसके अनन्तर एक उड़द मात्रा स्थिर करके प्रतिदिन सेवन करें जब तक एक पल स्वर्णभस्म सेवन की जाय। इसको 'वज्रपञ्जररस' कहते हैं। यह रस सब रोगों से घिरे हुये मनुष्यों का अथवा वृद्धावस्था रोग तथा अकालमृत्यु से घिरे हुये मनुष्यों का परम संरक्षक है।

विशेष वचन—वज्रपञ्जररस का क्षेत्रीकरणमित्यादि पाठ किसी पुस्तक से नहीं मिलता है। और क्षेत्रीकरण का यहाँ पर कोई अर्थ नहीं निकलता है। कोई "क्षेत्रीकरणमित्युक्तम्" इतने पद्यांश को "जरां रसो हन्ति च कान्तपात्रे" इत्यादि पद्योक्त कल्प के साथ सम्बन्धित करते हैं और अर्थ करते हैं कि "इकयासीवें रसकल्प के कुछ दिन सेवन करने से शरीर क्षेत्रीकरणशक्तियुक्त हो जाता है। तदनन्तर शरीर पारदभस्म की शक्ति को अच्छी तरह सहन कर सकता है जिससे उसमें पारदभस्म के सम्पूर्ण गुण प्राप्त होते हैं। अथवा कोई यह अर्थ करते हैं कि जो क्षेत्रीकरण विधान रसायनसेवन करने के पूर्व बताया गया है उसका अनुष्ठान करके इस रस के सेवन करने से व्याधि, वार्धक्य तथा अकालमृत्यु का भय नहीं रहता है। रसेन्द्रचिन्तामणि में क्षेत्रीकरण इस प्रकार बताया गया है—"स्निग्धं स्विन्नं विरिक्तं यन्नीरुजं सिद्धभेषजैः। एतत्क्षेत्रं समासेन रसबीजार्पणक्षमम् ॥ स्निग्धं प्रातस्त्रिदिनं घृतसैन्धवपानेन, विरिक्तमिच्छाभेदिना वान्तं वचादिरसेन, पलाशबीजं विडङ्गं गुड़मोदकभक्षणात् कीटपातनम्, नीरूजं संवत्सरमयनं वा परिशीलितैः, शृङ्गाराभ्रलक्ष्मीविलासाद्यभ्रसत्वप्रधानप्रयोगैः, इति शुद्धो जातबलः शाल्योदनजाङ्गलादिमुद्गरसैः, क्षेत्रीकृतनिजदेहः रसायनं मतिमान्। अकृते क्षेत्रीकरणे रसायनं यो नरः प्रयुञ्जीत,

तस्य क्रामति न रसः सर्वाङ्गदोषकृद् भवति । घनसत्वपादजीर्णोऽर्द्ध-कान्तजीर्णश्च तीक्ष्णसमजीर्णः, क्षेत्रीकरणाय रसः प्रयुज्यते भूयः आरोग्याय ॥" परन्तु रसायनखण्ड तथा रसायनसंग्रह में लिखा हुआ वज्रपञ्जररस का पाठ मूलोक्त पाठ से भिन्न है इसमें पारद स्वर्ण तथा वज्रभस्म को एकत्र करके हंसपादी रस तथा अर्कदुग्ध में मर्दन कर गजपुट में फूँक कर वज्र और स्वर्ण की भस्म को सेवन करने के लिये लिखा है। इसमें एक पल परिमाण स्वर्णभस्म सेवन करने को नहीं लिखा है। अतः कई वैद्य रसरत्नसमुच्चयोक्त वज्रपञ्जररस को ठीक नहीं समझते हैं। रसायनखण्डीय तथा रसायनसंग्रहीय वज्रपञ्जररस का विस्तृत पाठ इस प्रकार है, यथा—"वज्रपारदयोर्भस्म समभागं प्रकल्पयेत्। सूतपादं मृतं स्वर्णं सर्वं मर्द्यं दिनावधि॥ हंसपाद्या द्रवैरेवं तद्गोलं चान्धितं पुटेत् । अर्कक्षीरैः पुनर्मर्द्यं तद्वद्गजपुटे पचेत् । भक्षयेत्सर्षपैः वृद्धं यावन्माषं विवर्धयेत् । शरण्यः साधकानान्तु रसोऽयं वज्रपञ्जरः ॥ चित्रकार्द्रकसिन्धूत्थं मृतं तीक्ष्णं सुवर्चलम् । समं सर्वं सदा चानु भक्ष्यं स्यात्क्रामणे हितम् । मासषट्कप्रयोगेण जीवेदाचन्द्रतारकम् । वलीपलितनिर्मुक्तो दिव्यकायो महाबलः" ॥ ९२–९५ ॥

रसायने पञ्चामृताख्यः अशीतितमरसकल्पः—

हेममाक्षिककांताभ्रवज्रभस्म प्रवेशयेत् ।
रसे सहेम्नि सप्ताहं मूलिकारसमर्दिताम् ॥९६॥
तां पिष्टिं यन्त्रयोगेन पचेत् पञ्चामृताह्वयः ।
रसोऽयं मधुसर्पिर्भ्यां युक्तः पूर्वाधिको गुणैः ॥ ९७ ॥

शुद्ध पारद को समभाग स्वर्णपत्रों के साथ घोटें। जब स्वर्ण पारद में विलीन हो जाय तब उसमें स्वर्णमाक्षिकभस्म, कान्तलौहभस्म, अभ्रकभस्म तथा हरीतकीभस्म; प्रत्येक पारद समभाग मिला कर सर्पाक्षी आदि मूलिका औषधियों के स्वरस से अच्छी तरह मर्दन करके पिष्टी (कल्क) बना लें। इसको सुखा कर एक दृढ़ मूषा में बन्द करके बालुकायन्त्र में रख कर पका लें। स्वांगशीतल होने पर निकाल लें। इसे 'पञ्चामृत रस' कहते हैं। इस रस को उचित मात्रा में लेकर शहद और घृत के साथ प्रतिदिन सेवन करने से शरीर में वज्रपञ्जर रस से भी अधिक गुण (लाभ) होते हैं।

विशेष वचन—इस रस के बनाने में यदि एक बार यन्त्र में पकाने पर स्वर्ण की उत्तम भस्म न बने तो दो तीन बार यन्त्र में रख कर पारद मिला कर पकाना चाहिये। यदि स्वर्ण के स्थान पर स्वर्णभस्म और रस के स्थान पर रस सिन्दूर लिया जाय तो इसमें स्वर्णभस्म के कच्ची रहने का कोई भय नहीं रहता है। तन्त्रान्तर में अन्यान्य पञ्चामृतरसों का वर्णन है परन्तु वे सब इससे भिन्न हैं अतः उसका यहाँ पर कोई वर्णन नहीं किया जाता है ॥ ९७ ॥

रसप्रयोगे उपचारविधिः—

घनसारचतुर्जातकक्कोलं कटुकीफलम् ।
फलं ताम्बूलवल्लीनां रसस्याऽऽक्रमणं परम् ॥९८॥
भुञ्जीत शालिगोधूमयवषष्टिकजाङ्गलम् ।
मुद्गयूषं गवां क्षीरं मस्तु स्नायात् सुखाम्भसा ॥
रूपयौवनसम्पन्नामनुरूपां प्रियां भजेत् ॥ ९९ ॥

पारदभस्म सेवनकाल में पारदीय प्रभाव को सर्वशरीर में व्याप्त करने के लिये अर्थात् पारद को सर्वशरीर में आक्रमण करने के लिये शुद्ध कर्पूर, चतुर्जातचूर्ण, शीतलचीनी, कुटकी तथा सुपारी; इन द्रव्यों का सेवन करना लाभदायक है और भोजनों में शालिचावल, गेहूँ, जौ, साठी के चावल, जाँगलदेशीय पशु पक्षियों का मांस, मूंग का यूष, गौ का दूध, दही का जल सेवन करना चाहिये। स्नान के लिये गुनगुने जल का व्यवहार करना चाहिये। साथ ही यदि कामोत्तेजना को सहन न कर सकें तो सुन्दर रूप और यौवन वाली, प्रिय स्त्री के साथ सम्भोग करना चाहिये।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में खदिरसार, शर्बत, घी, मक्खन आदि का भी रसोपचार में विधान दिया है। कहीं कहीं ऋतुओं के अनुसार भी उपचारविधि दी गई है, यथा—प्रातःकाले हितं पथ्यं सस्नेहं मारुतापहम्। हेमन्ते सर्पिषा युक्तमातपे शीतलं च यत् ॥ पानानि च विचित्राणि शीतानि मधुराणि च। शर्करादाडिमं द्राक्षा, नारंगं चेक्षुमुत्तमम् ॥ षष्टिकान्नं पिबेत्तोयं सुशीतं शर्करायुतम्। पायसं मधुसर्पींषि भुञ्जीत शालिषष्टिकम् ॥ स्वल्पाशी मधुराहारो जितात्मा च विमत्सरः। चन्दनोद्वर्तनं कार्यमुष्णकाले च साधकैः ॥ वर्षाकाले प्रकर्तव्यं सुगन्धतैलमर्दनम्। नृत्यं वाद्यं तथा गीतं दिनं कौतूहलैर्नयेत् ॥ इत्थं क्रामति सूतेन्द्रो महासिद्धिप्रदो भवेत् ॥" मूल पाठ में 'कटुकीफल' के स्थान पर 'कटुकं फलम्' पाठ होने पर कटुकं से त्रिकटु, फल से त्रिफला या जायफल लेना चाहिये। 'फलं ताम्बूलवल्लीनाम्' के स्थान पर 'फलं ताम्बूलवल्ली च' पाठ अच्छा है। रससेवनकाल में बिना दले हुये साबुत मूंगों का यूष देना चाहिये। दली हुई दाल का यूष निषिद्ध है ॥९९॥

रससेवने अपथ्यानि—

अभ्यङ्गः कटुतैलेन काञ्जीतैलं सुरां दधि ।
कालिङ्गकारवेल्लाम्ललशुनासुरिमूलकम् ॥१००॥
द्विदलं बिल्ववार्त्ताकं छत्राकं काकमाचिकाम् ।
सङ्गमं मर्दनं रात्रौ जागरं स्वपनं दिवा ॥ १०१ ॥
अत्यम्लतिक्तलवणं स्वादूष्णं शिशिरौषधम् ।
शोकवातातपक्रोधचिन्ताश्च परिवर्जयेत् ॥
साहसं रसलोहानां मारकञ्च विशेषतः ॥१०२॥

विधिपूर्वक पारदभस्म के सेवनकाल में शरीर में कड़वे तैल

की मालिश, कॉंजी, तैल, सुरा (शराब), दही (खट्टा), तरबूज, करेला, अम्ल द्रव्य, लहसुन, राई, मूली, दली हुई दाल, पका हुआ बेल, बैंगन, छत्राक (बर्सात में गन्दी जगहों पर उगने वाले छाते के आकार के शाक), मकोय का शाक, स्त्रीसंगम, शरीर मर्दन, रात में जागना, दिन में सोना, अत्यन्त खट्टे, कड़वे और नमकीन द्रव्य या औषधि, मधुर तथा उष्णगुणद्रव्य, अत्यन्त शीतलगुण औषधि, शोक करना, तेज हवा या शीत या अत्यन्त उष्ण वायु में रहना, तेज धूप में घूमना या कार्य करना, क्रोध, चिन्ता का निषेध है। इसके अतिरिक्त अपनी शक्ति से अधिक कार्य (दौड़ना, भार उठाना, कुश्ती लड़ना आदि) भी निषिद्ध हैं। ऐसे द्रव्य या भोजन जो पारद के भस्म करने या धातुओं के भस्म करने में प्रयुक्त होते हैं उनका विशेष रूप से निषेध है।

विशेष वचन—घन, वचा, चित्रक, गोक्षुर, कटुतुम्बी, दन्ती, जाति, सर्पाक्षी आदि अनेक पारदमारकगण की औषधियों का वर्णन पहिले आ चुका है। इसी तरह लोहमारकवर्ग भी पहिले लिखा जा चुका है। उनको देख कर रस सेवनकाल में परहेज करना चाहिये ॥ १००—१०२ ॥

निषिद्धद्रव्यव्यवहारे दोषः—

सेवया परिहार्याणां रसस्याजरणं भवेत्।
शूलो नाभितले जाड्यं निद्रालस्यं ज्वरस्तमः ॥
अङ्गभङ्गोऽरुचिर्दाहः— ॥१०३॥

जिन द्रव्यों और उपचारों को पारद के सेवनकाल में निषेध किया गया है उनके उपयोग करने पर अच्छी तरह जीर्ण नहीं होने पाता है। परिणाम यह होता है कि पारदसेवी मनुष्य के नाभि-प्रदेश में शूल होने लगती है, शरीर में जकड़ाहट, निद्राधिक्य, आलस्य, ज्वर, शिर में या आँखों के सामने चक्कर या अन्धेरा आने लगता है। इसके अतिरिक्त शरीर में टूटन (दर्द), भोजन में अरुचि तथा दाह होने लगता है।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में रसाजीर्ण के लक्षण निम्न प्रकार लिखे हैं—"रसराजे त्वजीर्णे तु प्रत्ययोऽयं भवेत्प्रिये। मूर्च्छाशोफौ भ्रमः कम्पश्छर्दिर्मोहो ज्वरस्तथा ॥ हिक्कावेपथुशूलानि निद्रालस्यमरोचकः। लिंगस्तम्भो ह्यतीसारः कासश्वासविजृम्भिकाः ॥ कर्णाक्षचक्षुः कुक्षौ च वृषणोदरमूर्धनि। मन्ददाहो विबन्धश्च जातः सर्वांगसंक्षयः। अन्यांश्चैव महाव्याधीन् रसाजीर्णे तु लक्षयेत्" ॥

निषिद्धद्रव्यव्यवहारजदोषे प्रतीकारः—

—पिबेत्तत्र दिनत्रयम्।
सौवर्चलं सगोमूत्रं कर्कोटीमूलवारिणा ॥
मातुलुङ्गस्य वाऽम्लेन माणिमन्थं सनागरम् ॥१०४॥

यदि अपथ्य द्रव्यों के सेवन से या दुरुपचार से पारद का अजीर्ण हो जाय या कोई विकार उत्पन्न हो जाय तो सौंचलनमक में, गोमूत्र तथा ककोड़े की जड़ का स्वरस मिला कर पिलाना चाहिये। अथवा सैन्धानमक तथा सौंठ के चूर्ण को बिजौरा नींबू के रस के साथ देना चाहिये। इन दोनों में से किसी योग को तीन दिन तक सेवन करने से रसाजीर्ण के दोष शान्त हो जाते हैं।

विशेष वचन—तन्त्रान्तर में प्रत्येक विकार को लेते हुये निम्न उपायों को बताया है—"रसाजीर्णे महाव्याधीन् लक्षयेद्भिषगुत्तमः। अभ्यंगमनिलक्षोभे तैलैर्नारायणादिभिः ॥ अरतौ शीततोयेन मस्तके परिषेचनम्। तृष्णायां नारिकेलाम्बु मुद्गयूषं सशर्करम् ॥ उद्गारे सति दध्यन्नं कृष्णाजीरं ससैन्धवम्। कार्पिकं स्वर्जिकाक्षारं कारवेल्लीरसप्लुतम् ॥ गोमूत्रसैन्धवयुतं तस्य संस्रावणं परम्" ॥

नागवंगयुक्तरससेवने प्रतीकारः—

नागवङ्गयुतः सूतः प्रमादाद्भक्षितो यदि।
सैन्धवं कारवेल्लस्य कन्दं मूत्रैः पिबेद्गवाम् ॥ १०५ ॥
कर्कोटीगरुडीपथ्याशरपुङ्खैर्विपाचितैः।
अष्टभागावशिष्टं वा गोमूत्रं सैन्धवान्वितम् ॥१०६॥
यत् क्षेत्रीकरणं पूर्वं वेधकञ्च रसं ततः।
सेवेत तस्य सिद्धिः स्यादन्यथा मरणं ध्रुवम् ॥१०७॥

गलती से पारद को बिना शुद्ध किये ही जिसमें सीसा तथा वंग धातुओं का मिश्रण हो, सेवन करने पर यदि नाग तथा वंग-दोषविकार उत्पन्न हो जायँ तो करेले की जड़ को गोमूत्र से पीस कर उसमें सैन्धानमक मिला गोमूत्र के साथ पीने से नागवंगदोष-जन्य विकार शान्त होते हैं। अथवा ककोड़े की जड़, पातालगरुड़ी (गुडूची), हरड़ तथा शरपोंखा को समभाग में लेकर आठगुने गोमूत्र में डाल कर अष्टमांश शेष कषाय करके उसमें सैन्धानमक मिला कर पिलाने से पारदीय नागवंगदोषजन्य विकारों की शान्ति होती है। पारदसेवन में जो क्षेत्रीकरण विधान बताया गया है उसके अनुसार शरीर को शुद्ध करके सम्यक् शोधित (आठ संस्कार युक्त) पारद के सेवन करने से अथवा वेधसंस्कार युक्त पारद के सेवन करने से ही मनुष्य को पूर्ण सिद्धि हो सकती है अन्यथा बिना क्षेत्रीकरण किये हुए पारदभस्म सेवन करने से कोई लाभ नहीं है। किन्तु अशुद्ध पारद सेवन से अनेक विकार उत्पन्न होकर मृत्यु होती है।

विशेष वचन—क्षेत्रीकरण प्रक्रिया तथा पारद के वेधसंस्कार का वर्णन पूर्ण किया जा चुका है। अतः उनको दुहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'विपाचितैः' के स्थान पर कहीं 'विपाचितम्' पाठ मिलता है। रसकामधेनु में नागदोषयुक्त पारदीय विकारों की शान्ति के लिये करेला और पाठा की मूल, और वंगदोषयुक्त पारदीय विकारों की शान्ति के लिये केवल शरपुंखा (शरपोंखा) मूल कल्प का सेवन लिखा है ॥ १०५—१०७ ॥

रसायने मृतसञ्जीवनाख्यः चतुरशीतितमकल्पः—

कान्ताभ्रताप्यसत्त्वानां वज्रहेम्नो रसस्य च ।
सप्ताहमम्लपिष्टानां गोलके लेपितेऽन्वहम् ॥ १०८ ॥
गोजिह्वावायसीपथ्यानिर्गुण्डीमधुसैन्धवम् ।
स्विन्ने भूधरयन्त्रस्थे पश्चात् कठिनतां गते ॥ १०९ ॥
यवचिञ्चापलाशाक्षराजिकार्पासतण्डुलैः ।
आवर्त्तितान्तर्लिप्तायां मूषायां खदिराग्निना ॥११०॥
टङ्कणं श्वेतकाचञ्च दत्त्वा दत्त्वा विशोषिते ।
मूषायां विडयोगेन समांशं हेम जारयेत् ॥१११॥
संवत्सरं मुखधृता मृतसञ्जीवनी मता ।
गुटिको शुक्रस्तम्भं कुरुते हरते च जरामरणम् ॥११२॥

कान्तलोहभस्म, अभ्रकसत्व, स्वर्णमाक्षिकसत्व, हीरे की भस्म, स्वर्णभस्म, शुद्ध पारद; प्रत्येक समभाग में लेकर एकत्र खरल में सात दिन तक काञ्जी या जम्बीरी नींबू के रस में मर्दन करके गोला-सा बना लें। अब इस गोले के चारों तरफ गोजिह्वा कौआ,-ठोडी, हरड़, निर्गुण्डी तथा सैन्धानमक को मधु के साथ घोट कर इसका एक या आधा अंगुल मोटा लेप करके भूधरयन्त्र में रख कर स्वेदन करें। पुनः निकाल कर पहिले के लेप को पृथक् करके उस पर दूसरा लेप गोजिह्वा आदि द्रव्यों का कर दें। इस प्रकार सात बार लेप करके भूधरयन्त्र में स्वेदन करने से पन्द्रह दिन (एक दिन लेप करना दूसरे दिन भूधरयन्त्र में स्वेदन करने से पन्द्रह दिन हो जाते हैं) के बाद जब गोला पर्याप्त कठिन हो जाय तब एक दृढ़ मूषा लें। इसके भीतरी भाग में इमली, ढाक, बहेड़ा, राई, बिनौला तथा चौलाई के बीजों के कल्प का लेप करके सुखा लें। अब इस मूषा में उक्त स्विन्न गोले को रख खैर के कोयलों की अग्नि से इसे खूब तपावें। धमन करते समय मूषा में सुहागा तथा सोरे का सूक्ष्म चूर्ण थोड़ा करके डालते जायँ। जब यह गोला बिलकुल गल कर द्रव रूप में हो जाय तो इसमें विड के साथ थोड़ा थोड़ा स्वर्ण डाल कर तपावें। जब तक कि पारद के समभाग स्वर्ण इसमें जीर्ण न हो जाय। समभाग स्वर्ण के जीर्ण होने पर पारद की गोली सी बन जायगी। तब मूषा को उतार कर उसे पृथक् कर लें। यह सञ्जीवनी गुटिका कहलाती है। इसको एक वर्ष तक मुख में रखने से शुक्रस्तम्भन (रुकावट) शक्ति बढ़ जाती है और जरा मरणदोष दूर हो जाते हैं।

विशेष वचन—मूल पाठ के अनुसार इस गुटिका के बनाने में कठिनाई प्रतीत होती है। क्योंकि मूल में किसी बात को स्पष्ट नहीं किया गया है। अन्य तन्त्रों के आधार पर ही इसका ठीक निर्माण किया जा सकता है। अन्य तन्त्रों में गोले के बाहर लेप करने को नहीं लिखा है किन्तु गोजिह्वा आदि द्रव्यों के कल्क से मूषा के भीतर लेप करने को कहा गया है और मूषा में रखकर टंकण तथा श्वेतकाचचूर्ण डाल कर जब यह गोला द्रुत हो जाय तो इसमें विड के साथ स्वर्णजारण करने को स्पष्ट लिखा है। रसायनसंग्रह में 'ताप्य' के स्थान पर 'ताल' पाठ भी मिलता है। तन्त्रान्तरोक्त पाठ इस प्रकार है—"शुद्धसूतं वज्रभस्म सत्वमभ्रकताप्ययोः। कान्तलोहसमं हेम जम्बीरैर्मर्दयेद् दृढम् ॥ सप्ताहं सर्वतुल्यांशगोलं कृत्वा समुद्धरेत्। गोजिह्वावायसीवन्ध्यानिर्गुण्डीमधुसैन्धवैः॥ लेपयेद्वज्रमूषान्ते गोलकं तत्र निक्षिपेत्। तत्कल्कच्छादितं कृत्वा पक्षैकं भूधरे पचेत्॥ यामं यामं समुद्धृत्य लिप्त्वा मूषां पुनः पुनः॥ रुद्ध्वाथ पूर्ववत्पाच्यमेनं पक्षात्समुद्धरेत् ॥ यवचिञ्चीपलाशाख्यराजीकार्पासतण्डुलैः। एतैः प्रलेपयेन्मूषां गुटिकां तत्र निक्षिपेत्॥ टंकणं श्वेतकाचञ्च दत्वा याम्मे दृढम्२। खदिराङ्गारयोगेन द्रुतोऽयं जायते रसः॥ मूषायां विडयोगेन समं हेम च जारयेत्। ततस्त्रियामकैर्मर्द्यं सगोमूत्रं दिनैकतः॥ अन्धमूषागतो ध्मातो बद्धो भवति वज्रवत्। मृतसञ्जीवनी नाम गुटिका वक्त्रमध्यगा॥ वर्षमात्राज्जरां मृत्युं हन्ति सत्यं शिवोदितम्। शुक्रस्तम्भं च कुरुते ब्रह्मायुर्जीयते नरः॥" मूल में 'गुटिका शुक्रस्तम्भं कुरुते हरते च जरामरणम्।" के स्थान पर शुद्धच्छन्दयुक्त निम्न पाठ कल्पना अच्छी रहेगी "स्तम्भाति गुटिका शुक्रं हरते मरणं जराम्" ॥ १०८–११२ ॥

वाजीकरणे मदनवर्धनाख्यपञ्चाशीतितमरसकल्पः—

समचीर्णजीर्णहेममाक्षिकयोगेन मारितो वृष्यः ।
घृतमधुशतावरीरसदुग्धयुतो मदनवर्द्धनः सूतः ॥११३॥

पारद में समभाग स्वर्णमाक्षिक को जीर्ण करके पश्चात् उस पारद को भस्म कर लें। इस भस्म को उचित मात्रा में लेकर शहद और घृत के साथ चाट कर ऊपर शतावरीशृत दुग्ध पान करने से कामोत्तेजना शक्ति बढ़ जाती है ॥ ११३ ॥

वाजीकरणे षडशीतितमरसकल्पः—

लोहितागस्त्यसारेण कृष्णरम्भाफलद्रुतम् ।
रसञ्च धनसारञ्च पीत्वा स्त्रीषु वृषायते ॥११४॥

काली छाल वाली केले की फली को लाल अगस्तिपुष्पस्वरस में मिला कर उसमें शुद्ध भीमसेनी कपूर तथा पारदभस्म मिला कर सेवन करने से पुरुष में स्त्री सम्भोग करने की शक्ति बढ़ जाती है।

विशेष वचन—केले की फली के पके हुये गूदे में कर्पूर तथा पारदभस्म मिला कर खायें और ऊपर से अगस्तिपुष्पस्वरस का अनुपान करें। ११४ ॥

रसायने सन्दिग्धान् प्रति उक्तिः—

युगस्वभावादिदिवौषधीनां
क्रियासु शक्तिः परिकल्पतेऽल्पा ।
आयुर्बलादिष्वपि सा तथेति
तस्मान्निषेव्यानि रसायनानि ॥ ११५ ॥

न चौषधीनामपि सर्वथैव
प्रभावहानिः परिकल्पनीया।
फलं प्रयात्यूर्ध्वमधस्त्रिवृच्च
प्रत्यक्षतः कस्य न सिद्धमेतत्? ॥ ११६ ॥

यदि युग (जमाना) के स्वभाव से औषधियों में विशेषतः रसायन औषधियों के कार्य करने की शक्ति कम हो गई है ऐसी कल्पना की जाय तो उसके साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि युग का प्रभाव जैसे औषधियों की शक्ति को न्यून करने में दिखाई देता है, वैसे ही मनुष्यों की आयु, बल, शरीरगठन, सहनशक्ति आदि के क्षीण करने में या अल्प करने में भी हो सकता है। अतः अल्पबल, अल्पाग्नि, अल्पायु पुरुषों के लिये, अल्पशक्ति वाली औषधियाँ ही उपयोगी हो सकती हैं। अल्पशक्ति मनुष्य में विशेष शक्ति वाली औषधियों का प्रयोग करने से लाभ के स्थान में हानि होने की सम्भावना रहती है। प्राचीन काल में यदि औषधियों में विशेष शक्ति होती थी तो मनुष्यों के शरीर भी बलवान् और विशेष शक्तिसम्पन्न होते थे। परन्तु यह कभी भी नहीं माना जा सकता है कि औषधियों के अन्दर कुछ भी प्रभाव नहीं रहा है। इसका उत्तर आज भी मैनफल तथा त्रिवृत् आदि औषधियें प्रत्यक्षरूप में दे रही हैं। अर्थात् प्राचीन काल में लिखे हुये गुणवाले मैनफलों को आज खाने से क्या वमन नहीं होताहै ? और क्या आजकल निशोथ के सेवन करने से विरेचन नहीं होते है ? अर्थात् मैनफल से आज भी वमन होती है पहिले भी होती थी। त्रिवृत् आज भी रेचक है पहिले भी थी। अतः रसायनों का सेवन करना चाहिये॥ ११५-११६ ॥

औषधानां गुणदोषवत्वे प्रयोक्तुर्ज्ञत्वाज्ञत्वयोर्हेतुता—

अदेशकालोपहितानि सात्म्या
न्यत्युष्णतीक्ष्णानि यथौषधानि।
नाशं नयन्ते सहसैव देहं
सम्यक् प्रवृत्तानि यथैव वृद्धिम् ॥ ११७ ॥
जित्वा तस्मादिन्द्रियादिप्रदुष्टान्
कालोपेतःश्रद्धानो यथावत्।
आयुष्प्रज्ञातेजसां यद्विवृद्ध्यै
वीर्य्योपेतं शीलयेदौषधं तत् ॥ ११८ ॥

देशकाल का विचार किये बिना किसी सात्म्य (अनुकूल) औषधि का सेवन अथवा सहसा अत्यन्त तीक्ष्ण उष्ण औषधियों का सेवन जैसे शरीर को एकदम खराब कर देता है। उसी प्रकार देश, काल, प्रकृति आदि का विचार करके विधिपूर्वक सेवन की हुई औषधि उत्तम प्रकार से शरीर की वृद्धि और पुष्टि करती है। अर्थात् किसी औषधि के गुण दोष में उसका प्रयोजक वैद्य या रोगी उत्तरदायी है। अतः इन्द्रिय आदि दोष अर्थात् काम क्रोध मद लोभ आदि मानसिक दोषों को दूर करके उचित समय पर काल प्रकृति बल, दोष, रोग आदि का विचार करके पूर्ण श्रद्धा के साथ शास्त्रोक्त विधान से, आयु, बुद्धि तथा तेज को बढ़ाने वाली शक्तिसम्पन्न औषधियों का सेवन अवश्य करना चाहिये। औषधियों में अवश्य शक्ति है और उनके सेवन से अवश्य ही रोगों में शान्ति होती है।

विशेष वचन—'यथैव' के स्थान पर 'तथैव' पाठकल्पना अच्छी है॥११७ ११८॥

आचाररसायनम्—

शास्त्रानुसारिणी चर्य्या चित्तज्ञाः पार्श्ववर्त्तिनः।
बुद्धिरस्खलिताऽर्थेषु परिपूर्णं रसायनम् ॥ ११९ ॥
दानं शीलं दया सत्यं ब्रह्मचर्य्यं कृतज्ञता।
रसायनानि मैत्री च पुण्यायुर्वृद्धिकृद्गणः ॥ १२० ॥

प्रतिदिन शास्त्र के अनुसार आहार विहार का आचरण करना, ऐसे मनुष्यों और मित्रों में रहना जो शुद्धात्मा होने से दूसरों की चित्तवृत्ति को अच्छी तरह समझ सकते हों या ऐसे मित्रों में रहना जो अपने स्वभाव के अनुकूल हों, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन विषयों पर अनासक्ति होना अर्थात् इन्द्रियों को सदा वश में रखना, यह सब परिपूर्ण रसायन कहा जाता है। अर्थात् शास्त्रानुसार उक्त आचरण आदि के करने पर बिना किसी रसायन योग के सेवन किये ही मनुष्य को रसायन सेवन का फल मिलता है। सत्पात्र को दान देना, सम्पूर्ण मनुष्यों के लिये प्रिय तथा शान्त स्वभाव होना, सदा सन्मार्ग में चलना या सत्य का अनुष्ठान करना, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना या ब्रह्म की उपासना करना, दूसरे के उपकार को मानना, विविध प्रकार के स्वर्ण, वज्र तथा पारदीय रसायनों का सेवन करना, सब प्राणिमात्र के साथ मित्रता अर्थात् प्रेम करना; ये सब बात पुण्य तथा आयु को बढ़ाने वाली होती हैं।

विशेष-वचन—चरक में आचाररसायन या नित्यरसायन का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—"सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्य-मैथुनात्। अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ॥ शाज्यशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्। देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥ आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्। समजागरणस्वप्ननित्यं क्षीरघृताशिनम् ॥ देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम्। शस्ता-चारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम् ॥ उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम्। धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम्" ॥ १२० ॥

आयुर्वेदोपदेशस्यावश्यपालनीयतोक्तिः—

एतदागमसिद्धत्वात् प्रत्यक्षफलदर्शनात्।
मन्त्रवत् सम्प्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथञ्चन ॥ १२१ ॥

आयुर्वेदोक्त उपदेशों अथवा रसायन औषधियों के आगम (शास्त्र) सिद्ध होने से अर्थात् इनका अन्य वेदादि शास्त्रों द्वारा

वर्णन होने से तथा इनको सेवन करने से प्रत्यक्ष फल प्राप्त होने से इनको मन्त्र के समान विशेषशक्तिसम्पन्न समझते हुये पूर्ण विश्वास के साथ प्रयोग में लाना चाहिये। रसायन तथा अन्य औषधियों के विषय में मीमांसा (तर्कवितर्क) नहीं करना चाहिये।

विशेष वचन—रसायन या दिव्य औषधियों में जो कार्य करने की शक्ति होती है, उसको किसी पृथक्करण विधान से या किसी युक्तिसे निश्चित नहीं किया जा सकता है। ऐसी बहुत सी औषधियाँ हैं जो आपस में एक जैसे या एक ही तत्त्वों को रखती है। परन्तु उनके गुणों में बहुत ही भिन्नता पाई जाती है। अतः औषधियों की शक्ति के विषय में तर्कबुद्धि या संशयबुद्धि से काम लेना बुद्धिमत्ता नहीं है। हाँ, विशेष विज्ञान के लिये उनमें तर्कवितर्क करना निषिद्ध नहीं है। तन्त्रान्तर में इसी के विषय में एक श्लोक मिलता है, यथा—"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः"॥

कुवैद्यानां वर्जनीयतोक्तिः—

लोभयन्त्यातुरं मूर्खा विचित्रैः कर्मकौशलैः।
तेभ्यो रक्षेत् सदाऽऽत्मानमात्मा यस्मात् सुदुर्लभः॥
ते घुणाक्षरवत् कश्चिदुत्थाप्य नियतायुषम्।
घ्नन्ति वैद्याभिमानेन शतान्यनियतायुषाम्॥ १२३॥
अज्ञातशास्त्रसद्भावान् शास्त्रमात्रपरायणान्।
तान् वर्जयेद्भिषक्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव।१२४।

मूर्ख (शास्त्र तथा अनुभव ज्ञान से वञ्चित) वैद्य लोग अपनी अनेक प्रकार की चतुराइयों से रोगियों को अपने पंजे में फँसा लेते हैं। ऐसे प्रपञ्चियों से समझदार मनुष्य को सदा बचना चाहिये क्योंकि ऐसे वैद्यों द्वारा चिकित्सा कराने से जीवन का नाश हो जाता है। वह जीवन मनुष्य को फिर मनुष्य के रूप में नहीं मिल सकता है। मूर्ख वैद्यों द्वारा कदाचित् घुणाक्षरन्यायानुसार कोई नियतायुः (दीर्घायु) रोगी अच्छा हो जाता है तो वे लोग अपने को वैद्य समझते हुये अनेक अनियत आयु मनुष्यों का संहार करने में कुछ भी संशय नहीं करते हैं। आयुर्वेदशास्त्र के मर्म को न जानने वाले केवल स्वयं कुछ पुस्तकों को देख कर चिकित्सा करने वाले वैद्यों को यमराज के बन्धन के समान मृत्यु कारक समझ कर उनकी चिकित्सा से अपने को दूर ही रखना चाहिये।

विशेष वचन—मूर्ख वैद्यों के विषय में चरक ने भी पर्याप्त लिखा है। यथा "श्रुतदृष्टक्रियाकालमात्राज्ञानबहिष्कृताः। वर्जनीया हि ते मृत्योश्चरन्त्यनुचरा भुवि॥ वृत्तिहेतोर्भिषङ्मानपूर्णान् मूर्खविशारदान्। वर्जयेदातुरो विद्वान् सर्पास्ते पीतमारुताः॥" वरमात्मा हतोऽज्ञेन न चिकित्सा प्रवर्तिता। पाणिचाराद्यथाऽचक्षुरज्ञानाद्भीतभीतवत्॥ नौर्मारुतवशेनाज्ञो भिषक् चरति कर्मसु। यदृच्छया समापन्नमुत्तार्य नियतायुषम्॥ भिषङ्मानी निहन्त्याशु शतान्यनितायुषाम्" ॥१२३—१२४॥

शास्त्रज्ञवैद्यस्य साफल्योक्तिः—

प्रदीपभूतं शास्त्रं हि दर्शनं विपुला मतिः।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सन्नापराध्यति।१२५।

जो वैद्य पूर्ण रूप से क्रियात्मक सहित शास्त्राभ्यासरूपी दीपक और पूर्ण ऊहापोह के साथ विचार करने वाले शुद्ध तथा विपुल बुद्धिरूपी चक्षु से रोग-निश्चयपूर्वक चिकित्सारूप दर्शनीय विषय का अन्वेषण करता है। उसे चिकित्सा में अवश्य सफलता मिलती है। चिकित्सा करने में केवल शास्त्र या केवल बुद्धि से काम नहीं चलता किन्तु दोनों का पूर्णरूप में एक साथ योग होने पर चिकित्सा फलवती होती है। जैसे दीपक होते हुये नेत्र न होने से या नेत्र होते हुये प्रकाशक दीपक के न होने से किसी चीज को देखना कठिन हो जाता है उसी प्रकार शास्त्र और मति इसमें से किसी एक के ही होने पर चिकित्सा पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सकती है।

विशेष वचन—चरक में भी वैद्य की चिकित्सा में सफलता को दिलाने वाले अनेक कारणों का वर्णन किया है, यथा—"तस्माच्छास्त्रेऽर्थविज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने। भिषक्चतुष्टये युक्तः प्राणाभिसर उच्यते॥ हेतौ लिंगे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे। ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः॥ शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये। पात्रापेक्षीण्यतः प्रज्ञां चिकित्सार्थं विशोधयेत्॥ विद्या वितर्को विज्ञानं स्मृतिस्तत्परता क्रिया॥ यस्यैते षड्गुणास्तस्य न साध्यमतिवर्तते। विद्यामतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः॥ वैद्यशब्दाभिनिष्पत्तावलमेकैकमप्यदः। यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयःशुभाः॥ स वैद्यशब्दं सद्भूतमर्हन् प्राणिसुखप्रदः। शास्त्रं ज्योतिः प्रकाशार्थं दर्शनबुद्धिरात्मनः। ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सान्नापराध्यति" ॥ १२५॥

चिकित्सायाः त्रिवर्गसाधकत्वोक्तिः—

क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचित् यशः।
क्वचिदभ्यासयोगश्च चिकित्सा नास्ति निष्फला॥१२६॥

ज्ञानपूर्वक चिकित्सा करते हुये वैद्य को कहीं से धन की प्राप्ति होती है और कहीं चिकित्सा करने पर मित्रता हो जाती है। कहीं धर्म की प्राप्ति होती है अर्थात् कहीं मनुष्य का कर्तव्य निभाया जाता है। कहीं चिकित्सा से वैद्य की कीर्ति बढ़ती है और कहीं कुछ न मिलने पर भी वैद्य के अनुभव की वृद्धि होती है। अतः शुद्ध मन से किसी की चिकित्सा करना निष्फल नहीं होता है॥

कुवैद्यस्य दोषान्तरम्—

ये क्रियां विक्रियां कुर्वन्त्युपेक्षन्ते स्खलन्ति वा।
खादन्ति ते परप्राणान् निजानि सुकृतानि च॥१२७॥

जो वैद्य शास्त्रानुसार चिकित्साक्रम को छोड़ कर अक्रम और शास्त्रविपरीत चिकित्सा करते हैं अथवा उपेक्षा के साथ चिकित्सा करते हैं या चिकित्सा में प्रमाद करते हैं वे दूसरों के प्राणों का नाश करते हैं और अपने यश तथा पुण्यों को भी नष्ट करते हैं ॥

यावच्छ्वासं चिकित्सायाः कर्तव्योक्तिः—

यावदुच्छ्वसिति प्राणी यावद्भेषजमत्ति च ।
तावच्चिकित्सा कर्त्तव्या दैवस्य कुटिला गतिः ॥१२८॥

जब तक रोगी श्वास लेता रहे या जब तक वह औषधि खा सके तब तक बराबर उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि दैव की विचित्र गति होती है।

विशेष वचन—दैव की विचित्रगति के सम्बन्ध में प्रतिदिन अनेक घटनायें देखी जाती हैं। ऐसे रोगी भी देखे गये हैं जो तीन तीन चार चार घण्टे तक मृतसदृश रहे हैं परन्तु फिर जीवित होकर श्वास लेने लगे हैं। अतः अन्त समय तक पूर्ण उद्योग के साथ औषधि या उपचार रूप चिकित्सा अवश्य करनी चाहिये ॥

वैद्यातुरयोरन्योऽन्यकर्तव्यनिर्देशः—

अनाथान् रोगिणो वैद्यः पुत्रवत् समुपाचरेत् ।
प्राणाचार्य्यश्च पितृवत् सम्पूज्यः शक्तिभक्तितः ॥१२९॥

वैद्य को दीन, अनाथ रोगियों की अपने पुत्र के समान प्रेमपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये और रोगी को भी अपने प्राणाचार्य वैद्य की पिता के समान यथाशक्ति भक्तिपूर्वक पूजा (मान) करनी चाहिये।

विशेष वचन—वैद्य सदैव भीषण रोग के कारण शरीर को छोड़ कर निकलने वाले प्राणों की औषधि तथा उपचारों द्वारा रक्षा करता है। अतः उसे प्राणाचार्य कहते हैं। चरक में भी इसी तरह बताया है, यथा—"शीलवान् मतिमान् युक्तः त्रिजातिः शास्त्रपारगः। प्राणिभिर्गुरुवत् पूज्यःप्राणाचार्यः स हि स्मृतः"॥

वैद्यानां सुलभजीवनत्वनिर्देशः—

न प्राणिरहितो देशो न च प्राणी निरामयः ।
तस्मात् सर्वत्र भिषजां कल्पिता एव वृत्तयः ॥१३०॥

ऐसा कोई देश नहीं जो मनुष्यों से खाली हो और ऐसे कहीं मनुष्य नहीं होते जिनको कभी कोई रोग न होता हो। अतः वैद्य की वृत्ति (आजीविका) सर्वत्र सहज में चल जाती है। अर्थात् सद्वैद्य को अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता नहीं करनी चाहिये ॥

परावृत्तवर्णनद्वारा वैद्यस्य सर्वपूज्यत्वनिर्देशः—

यज्ञस्य च शिरश्छिन्नमश्विभ्यां सन्धितं पुरा ।
पातिता दशनाः पूष्णो भगस्य च विलोचने ॥ १३१॥
राजयक्ष्मार्दितश्चन्द्रस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ।
भार्गवश्च्यावनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः ॥
वीर्य्यवर्णबलोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥ १३२ ॥
एभिश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तौ ।
बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥ १३३ ॥
सौत्रामण्यां भगवानश्विभ्यां सह मोदते ।
अश्विभ्यां सहितः सोमं प्रायः पिबति वासवः ॥१३४॥
अश्विभ्यां कल्पितो भागो यज्ञेषु च महर्षिभिः ।
अश्विनावग्निरिन्द्रश्च देवेषु सुतरां स्तुताः ॥१३५॥
वैद्यावित्यश्विनौ देवौ पूज्येते विबुधैरपि ।
अजरैरमरैर्नित्यं सुखितैरेवमादृतैः ॥ १३६ ॥
व्याधिमृत्युजराग्रस्तैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः ।
किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नाऽतिशक्तितः ?

बहुत पुराने समय में जब दक्षप्रजापति का शिर कट गया था तो उसे अश्विनीकुमारों (सर्वप्रथम वैद्य) ने जोड़ा था। अश्विनीकुमारों ने ही पूषादेवता के टूटे हुये दाँतों को पुनः ठीक किया। भगदेवता की फूटी हुई आँखों को भी अश्विनीकुमारों ने ठीक किया था। जब चन्द्रमा को राजयक्ष्मा ने घेर लिया था तो उसकी चिकित्सा भी उन्होंने की थी। भृगुऋषि के पुत्र च्यवनऋषि जो अत्यन्त वृद्ध होते हुये भी काम के वशीभूत हो स्त्रीसम्भोग करने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित थे, उनको भी इन्होंने अपनी चिकित्सा द्वारा सुन्दररूप, पूर्णबल तथा वीर्यसम्पन्न बना कर पुनः युवा बना दिया था। इस प्रकार अनेक आश्चर्यजनक चिकित्सा कार्य से ये दोनों (अश्विनीकुमार) वैद्य, इन्द्रादि देवता तथा ऋषि महर्षि लोगों के अत्यन्त माननीय पद पर पहुँच गये थे। सौत्रामणि नामक यज्ञ में भगवान् (ऐश्वर्यवान्) इन्द्र अश्विनीकुमारों के साथ आनन्द का उपभोग करते हैं। उन्हीं के साथ अमृतपान करते हैं। ऋषि महर्षि लोग अन्य देवताओं की भाँति यज्ञों में अश्विनीकुमारों को भाग देते थे और वेदों में भी अग्नि, इन्द्र आदि देवता की भाँति अश्विनीकुमारों की भी स्तुति का गायन किया गया है। जब देवता लोग अजर-अमर तथा सब तरह सुखी होने पर भी प्रतिदिन अश्विनीकुमारों को देववैद्य जान कर आदरपूर्वक पूजते हैं तब अनेकविध रोग, मृत्यु तथा वृद्धावस्था से ग्रसित, दुःख सागर में डूबे हुये सुखार्थी मनुष्यों को क्यों न वैद्यों की यथाशक्ति पूजा करनी चाहिये। अर्थात् निःस्वार्थी देवता लोग भी जब वैद्यों की पूजा करते हैं तो स्वार्थी तथा सदा एक न एक दुःख से दुखी मनुष्यों को वैद्यों की पूजा करना आवश्यक है।

विशेष वचन—पौराणिक इतिहास को देखने से यह बात मालूम होती है कि एक बार दक्षप्रजापति ने अभिमान में आकर एक यज्ञ आरम्भ किया और उसमें सब देवताओं को बुलाया उनको अपना भाग भी दिया। परन्तु शिवजी को न बुलाया गया और न उनका भाग ही रखा गया, यहाँ तक कि अभिमानवश होकर दक्षप्रजापति ने यज्ञ को बिना शैव्य आहुतियों के ही पूर्ण करना चाहा। जब यह खबर शिवजी को मालूम हुई तो उन्हें अत्यन्त क्षोभ और क्रोध हुआ। जो क्रोध वीरभद्र के नाम से एक मूर्तिमान् होकर दक्ष के यज्ञ को नष्ट कर दक्षप्रजापति के शिर को काटने में भी कारण बना।

'प्रायः' के स्थान पर 'प्रातः' चरकसम्मत पाठ है "प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते।" चरक में यह भी बताया गया है कि वेदवाक्यों में जितनी स्तुति इन्द्र, अग्नि तथा अश्विनीकुमारों की की गई है उतनी अन्य देवताओं की नहीं की गई है। "इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः। स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः॥" 'आत्मशक्तितः' के स्थान पर 'अतिशक्तितः चरक का पाठ है ॥१३१-१३७॥

उपसंहारः—

रसरत्नसमुच्चयो मयेत्थं
रचितः साधु नितान्तमाद्रियन्ताम्।
सुधियो यदि विद्यतेऽत्र दोषः
क्वचिदर्हन्ति ममाप्यलं विसोढुम्॥ १३८॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्भटाचार्य्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये रसकल्पो नाम त्रिंशोऽध्यायः॥ ३०॥

इस प्रकार मैंने (ग्रन्थकर्ता ने) यह रसरत्नसमुच्चय नामक ग्रन्थ लिखा है अर्थात् इसमें जो भी बातें लिखी हैं वे बड़े परिश्रम के साथ लिखी गई हैं। अतः इसका आदर होना चाहिये। इसे अपनाना चाहिये। यदि विद्वान् लोगों को इसमें कहीं कोई किसी प्रकार का दोष नजर आये तो उसे क्षमा करके सुधार कर ठीक कर लेने की कृपा करेंगे॥१३८॥

इति श्रीमद्दयानन्दायुर्वेदमहाविद्यालय-प्रोफेसरेणातुरालयाध्यक्षेण **श्रीधर्मानन्दशर्मणा**, आयुर्वेदाचार्य शास्त्रि-वैद्यभूषणादि-पदवीधारिणा जयपुर, आयुर्वेद-विद्यापीठादितः प्राप्त-स्वर्णपदकेन कृता रसरत्नसमुच्चयस्य तत्त्वार्थ-बोधिन्याख्या हिन्दीव्याख्या समाप्ता।

*** समाप्तश्चायं ग्रन्थः ***

रसरत्नसमुच्चयस्य

अकाराद्यनुक्रमेण विषयसूचिका

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अ	
अकृत्रिमकृत्रिमलोहानि	१५४
अग्निकरम्	२८५
अग्निकुमारः	२८२
अग्निकुमारः	३१४
अग्निकुमाररसः	२७६
अग्निकुमारो रसः	२७२
,, ,,	३१७
अग्निजननी वटी	२८५
अग्निजारः	५६
अग्निजारगुणाः	,,
अग्निजारशुद्धिः	,,
अग्निजारस्य स्वरूपलक्षणम्	,,
अग्नितुण्डरसः	३५६
अग्निदाहे पञ्चत्रिंशविषक०	४८१
अग्निबन्धलक्षणम्	१७४
अग्निमान्द्ये अजमोदादिचू०	३८७
अग्निमुखो द्वितीयः	३१२
अग्निमुखो रसः	३०८
अग्निरसः	२४२
अङ्कोलतैलादिलेपद्वयम्	३५७
अङ्कोल्लबीजतैलपातनम्	१०७
अङ्कोल्लबीजतैलपातने मता०	,,
,, ,,	,,
,, ,,	,,
अङ्कोलादितैलम्	३५६
अङ्गारकोष्ठी	१५०
अजमोदादिवटिका	३६०
अजीर्णकण्टको रसः	२७८
अजीर्णचिकित्सा	,,
अजीर्णे सप्तदशरसकल्पः	४६२
अञ्जनानि	५२
अञ्जनानां भेदनिर्देशः	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अञ्जनेन रसबन्धोपायः	५३
अतिरक्तस्रावे शरपुङ्खाप्रयोगः	४३६
अतीसारचिकित्सा	२६८
अतीसारनिदानम्	,,
अतीसारे त्रयोदशादिरस०	४६२
अदीप्तितस्य रसविद्यासा०	११४
अर्द्धावभेदे गिरिकर्णीप्रयोगः	४१६
अधःपातनप्रकारः	१३६
अधःपातनविधिः	१६५
अधःपातने प्रकारान्तरम्	१६६
,, प्रकारान्तराणि	,,
अनिरुत्थलौहस्य पुनर्मा०	४६३
अनिलारियोगः	३६६
अनुक्तपुटमाने कर्त्तव्यनिर्देशः	१५४
अन्तर्मृतापत्याया लक्षणम्	३८६
अन्त्रवृद्धौ घृतं तैलं च	३०३
,, द्वितीयमांसरसः	,,
,, पानीयतैलम्	३०२
,, मांसरसः	३०३
अन्यविधदलम्	१२१
अन्यविधो जलूकां वक्तुं०	१७६
अपथ्यां गिरिकर्णिकाप्र०	४२५
अपथ्यादौ त्रिषष्टितमवि०	४८४
अपथ्यामेकषष्टितमविष०	,,
अपथ्यां द्विषष्टितमविष०	,,
अपस्मारचिकित्सा	३६६
,,	३६६
अपस्मारनस्यम्	३६७
अपस्मारनाशनो रसः	३६६
अपस्मारलक्षणम्	३६६
अपस्मारसम्प्राप्तिलक्षणे	३६६
अपस्मारहरयोगः	३६७
अपस्मारादौ चतुश्चत्वा-	

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रिंशरसकल्पः	४६४
,, पञ्चचत्वारिंशरसकल्पः	,,
अपस्मारे पर्पटीरसप्रयोगः	४१०
अपामार्गादियोगः	३३३
अपामार्गप्रयोगः	४२०
अपुनर्भवलोहलक्षणम्	१२२
अप्रशस्तकांस्यलक्षणम्	१०४
अप्रशस्तगोमेदलक्षणम्	६८
अप्रशस्तताक्ष्र्यम्	६४
अप्रशस्तपुष्परागलक्षणम्	६५
अभयाप्रयोगः	४२६
अभिषेकः	१२६
अभिष्यन्दहरो प्रयोगः	४०६
अभ्रकगुणाः	१४
अभ्रकसत्त्वपातनम्	१८
अभ्रकसत्त्वपातने प्रकारान्त०	,,
अभ्रकादिप्रलेपः	४३७
अभ्रप्रयोगः	२०
अभ्रभेदाः	१५
अभ्रमारणम्	१७
,,	१६
अभ्रमारणे प्रकारान्तरम्	,,
,, मतान्तरम्	१८
अभ्रशोधनमारणे	१७
अभ्रसत्त्वस्य शोधनमारणे	२०
अभ्रादिवटिका	४१८
अमारितस्वर्णस्य दोषाः	७७
अमृतप्राशः	३७६
अमृतवटी	२८३
अमृतार्णवो रसः	३१६
,, ,,	४५३
अम्लपञ्चकम्	१५६
अम्लपित्तचिकित्सा	३१६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अम्लपित्तनिदानम्	३१६
अम्लपित्तादौ पञ्चदशलो०	४६५
अम्लपित्तोपचाराः	३१६
अयः	८५
अम्लवर्गः	१५५
अरिमेदादिभस्मलेपः	४२३
अरिष्टलक्षणे त्रिंशलोह०	४७२
अर्कक्षीरादिलेपः	४२५
अर्कदुग्धप्रयोगः	३६४
अर्कमूर्त्तिरसप्रयोगविधिः	४३६
अर्कमूर्त्तिरसस्य प्रयोगवि०	३६८
अर्कादियोगः	२४१
,,	२४३
अर्केश्वरो रसः	२६५
अर्केश्वरो रसः	३६३
अर्बुदशोणितार्बुदयोर्लक्षणम्	४२४
अर्बुदादौ पुटपक्वरसः	,,
अर्बुदे यवक्षारादिलेपः	,,
अर्शःकुठाररसः	२६०
,,	२६५
अर्शःकुठारलेपः	२६७
अर्शःसु द्वादशरसकल्पः	४९२
अर्शसां चिकित्सनम्	२५९
अर्शसां स्वरूपलक्षणम्	,,
अर्शोघ्नवटकः	२६२
अर्शोघ्नशौचः	२६७
अर्शोघ्नहररसः	२६२
अर्शोघ्नी वर्त्तिः	२६७
अर्शोहरयोगः	२६७
अल्पश्वित्रे शिलादिलेपः	३५७
अवस्थाविशेषे विषस्याप०	४७७
अशुद्धतालकदोषाः	४९
अशुद्ध पारद के लक्षण	१८८
अशुद्धरजतदोषाः	७९
अशुद्धलोहस्य दोषाः	८६
अशुद्धलोहस्य ग्रन्थान्तरो०	९७
अशुद्धशुद्धशिलयोदोषगुणाः	५१
अशुभरीतिकालक्षणम्	१०३
अशुभवैदूर्य्यलक्षणम्	६६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
अशोधिताजारितताम्रदोषाः	८२
अशोधितामारितस्वर्णदोषाः	७६
अश्वगन्धाघृतम्	३६४
अश्वगन्धाप्रयोगः	३८५
अश्वगन्धा-बन्ध्याप्रयोगौ	४३७
अश्मरीनिदानम्	२८६
अश्मरीमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा	,,
अश्मरीहरयोगः	२८८
अश्मर्य्यां चतुर्दशविष०	४७९
अष्टदशलोहकल्पार्थं लौह०	४६७
अष्टफलकीय गन्धक	२१४
अष्टमासिकं रसायनम्	४४०
अष्टलोहपूजाक्रमः	११३
अष्टलोहानां द्रावणम्	९६
अष्टादशलोहकल्पः	४६७
अष्टादशसंस्काराणां नामा०	१५९
असम्यङ्मारितलोहस्य०	४६२
अस्थिभग्ने लाक्षादिप्रलेपः	४३३
अस्थिस्रावे पञ्चपञ्चाश०	४६७
अस्पर्शारिरसः	३६५
आ	
आखुविषे अष्टषष्टितम०	४८५
आखुविषे शिरीषप्रयोगः	४३८
आचाररसायनम्	५०३
आनन्दभैरवी वटी	२८७
आनन्दभैरवो रसः	२६६
आभासबन्धः	१७०
आमवातचिकित्सा	३६६
आमवातलक्षणम्	३६६
आमवाते एरण्डतैलप्रशंसा	,,
आमशूले पञ्चविंशरसक०	४९३
आयुर्वेदोपदेशस्यावश्यपाल-नीयतोक्तिः	५०३
आरनालगण्डूषः	४१४
आरोग्यवर्द्धनी गुटिका	३४९
आरोग्यसागरो रसः	३३०
आरोटबन्धः	१६६
आवापः	१२६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
इ	
इङ्गुदीमज्जाप्रयोगः	४२६
इन्द्रलुप्ते भल्लातादिलेपः	४१८
इन्द्रवारुणिकादिचूर्णम्	३१५
इन्द्रवारुणीप्रयोगः	३७६
इष्टिकायन्त्रम्	१४२
उ	
उडुम्बरादिचूर्णम्	३५९
उत्तमकान्तलौहस्यलक्षणम्	९५
उत्तममध्यमराजावर्त्तलक्ष०	७१
उत्तमरजतलक्षणम्	७८
उत्तरणम्	१२३
उत्थानलक्षणम्	१२८
उत्थापनसंस्कारः	१६५
उत्थापनालक्षणम्	१२५
उदयभास्करः	३१३
उदयभास्करप्रयोगः	४२३
उदयभास्कररसः	२९६
उदयमार्त्तण्डो रसः	३२७
उदयादित्य रसः	४३९
उदयादित्यरसः	३५६
उदरक्रिमिरोगलक्षणम्	३५९
उदरपाण्डुशोफानां चिकि०	३२२
उदरादिचिकित्सनम्	,,
उदरे विरेचनविधिः	३२३
उदरे षड्विंशरसकल्पः	४९३
उदावर्त्तनिदानम्	२९८
उदावर्त्तहरं घृतम्	,,
उदावर्त्तादिचिकित्सनम्	,,
उदावर्त्तादौ अन्यक्वाथः	३८७
,, पुनर्नवादिक्वाथः	,,
उदावर्त्ताश्मर्य्योः त्रयोदश-विषकल्पः	४७८
उद्घाटनलक्षणम्	१३४
उन्मत्तरसः	२३२
उन्मादचिकित्सा	३६७
,,	३६८
उन्मादलक्षणम्	,,

विषयाः पृष्ठाङ्काः
उन्मादवातलक्षणम् ३६७
उन्मादवातादिचिकित्सनम् ३६७
उन्मादस्य निदानसम्प्राप्ती ,,
उन्मादे उपचारविशेषः ३६७
उन्मादे पर्पटीरसप्रयोगः ,,
उन्दुरुविषे पञ्चषष्टितमर० ४६७
उपकरणानांपूजाविधिः ११३
उपजिह्वायां निर्गुण्ड्यादि० ४१३
उपदंशादिप्रतिकारः ४३३
उपरसाः ३८
,, ११३
,, साधारणरसाश्च ३८
उपविषवर्गः १५६
उपलपर्य्यायाः १५४
उपलस्य पर्य्यायाः ११७
उपसंहारः १६३
,, ५०६
उमापतिरसः ४५१
उमाप्रसादनो रसः २२६
उमाशम्भुरसः २६२
उशीरादिक्षीरम् ३८८

ऊ

ऊनमलक्षणम् १२२
ऊर्द्ध्वश्वासारिः २४३
ऊर्द्ध्वाधःपातनयो सङ्ख्या० १६५

ऋ

ऋषिकथित पारदोत्पत्ति मत १८३

ए

एककोलीसकलक्षणम् १२४
एकत्रिंशाङ्गवर्त्तिः ४०३
एकवीरप्रयोगः ४२७
एकादिमुखभेदेन कान्तस्या-
धममध्यमत्वादिनिर्देशः ८८
एरण्डक्षारम् ३०४
एरण्डप्रयोगः ४३५
एरण्डबीजादितैलम् ३३६
एकांगवातलक्षणम् ३६८
एकांगवातचिकित्सा ,,
एकांगवाते पर्पटीरसप्रयोग० ,,

विषयाः पृष्ठाङ्काः

ऐ

ऐलेयकतैलम् ३७८
ऐलेयकप्रयोगः ,,
ऐलेयसर्पिः ,,

औ

औषधानां गुणदोषवत्त्वे प्रयो-
क्तुर्ज्ञत्वाज्ञत्वयोर्हेतुता ५०३

क

ककारादिनिषेधस्यापवादः १८१
कक्षाग्रन्थौ शिग्रुप्रयोगः ४२६
कंकुष्ठम् ५४
कंकुष्ठगुणाः ,,
कंकुष्ठद्वयलक्षणम् ,,
कंकुष्ठविषचिकित्सा ५५
कंकुष्ठशोधनम् ५४
कंकुष्ठस्य अविधिप्रयोगे दोषः ५५
,, विरेचने मात्रानिर्देशः ,,
,, सत्त्वरूपता ,,
कंकुष्ठस्योत्पत्तिस्थानं भेदश्च ५४
कंकुष्ठस्योत्पत्तौ मतान्तरद्वयं लक्षणञ्च ,,
कंकुष्ठे प्रशस्ताप्रशस्तता च ,,
कंगुणीतैलम् ३४०
कच्छपयन्त्रम् १३८
कज्जलप्रयोगः २४६
कज्जली १२०
कज्जलीबन्धलक्षणम् १७१
कटुतैलनस्यम् ४१८
कडारमुण्डलक्षणम् ८६
कण्ठशालूकादौ पारदादि० ४१५
कण्डवादौ काञ्चनीप्रयोगः ४२६
कण्डवादौ रसादिप्रलेपः ४३०
कदरे यवचिञ्चादिकषायः ४२६
कनकसुन्दरो रसः २४६
,, ,, २६४
,, ,, २७३
,, ,, ३४२
कन्दुकयन्त्रम् १४४
कन्दुकयन्त्रस्य प्रकारान्तरम् ,,
कन्दविषाणां नामानि ४७३

विषयाः पृष्ठाङ्काः
कपोतपुटम् १५३
कफज्वरलक्षणम् २१६
कमलाविलासो रसः ४४४
कम्पिल्लः ५५
कम्पिल्लस्य गुणाः ,,
,, स्वरूपलक्षणमुत्पत्तिश्चा० ,,
करञ्जबीजादिप्रलेपः अहिनिर्मो-
कस्नुहीक्षीरप्रयोगौ च ३८६
करंजमज्जा-पथ्याप्रयोगौ ४३०
कर्कटादिकन्दविषाणां ल० ४७३
कर्णमूलस्फोटे कतकादि० ४०६
कर्णरोगादिचिकित्सनम् ४०८
कर्णरोगाणां नामानि ,,
कर्णशूले एकपञ्चाशत्तमवि० ४८३
कर्णशूलेऽर्कपत्रप्रयोगः ४०६
कर्णशूले लवणार्द्रप्रयोगः ,,
कर्पूरशिलाजतुनो लक्षणादि० ३२
कर्पूरशिलाजतुशोधनम् ,,
कर्पूरादिप्रलेपः ४५७
कल्कबन्धलक्षणम् १७१
कंसादिपञ्चकम् ३३५
कस्मै किमर्थं रसविद्या दा० ११५
काकतुण्डीगुणाः १०३
काकतुण्डीलक्षणम् १०२
काचान्ध्यहराञ्जनम् ४०५
काचे चतुश्चत्वारिंशविष० ४८२
काचे त्रिचत्वारिंशविषकल्पः ,,
काचे द्विचत्वारिंशविषकल्पः ,,
काञ्चनीतैलप्रयोगः ३५४
काञ्चन्यादिलेपः ४१५
कान्तरसः २३६
कान्त-रसायनम् ४४२
कान्तलौहगुणाः ८८
कान्तलौहलक्षणम् ,,
कान्तलौहस्य पञ्चविधत्वम् ८७
,, रामराजीप्रोक्तशो० ६४
,, रससिन्धूक्तगुणाः ६२
,, लक्षणम् ४६१
,, विशेषमारणम् ६५
,, शोधनम् ४६१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कान्तस्य ग्राह्यवर्ज्यत्वनिर्दे०	८८
„ वर्णभेदेन कार्य्यनि०	८७
कान्ताभ्रक-रसायनम्	४४३
कामकलाख्यो रसः	४४७
कामदीपनो रसः	४५८
कामदेवो रसः	४४७
कामधेनु रसः	४५१
कामलादौ बालदिक्काथः	३८६
कामलायां सप्तविंशरसक०	४६३
कामलालक्षणम्	३३३
कामलाहराञ्जनम्	४११
कामेश्वररसः	३३४
कामेश्वरो मोदकः	४५६
कार्श्यचिकित्सा	३१६
कार्श्यहरयोगः	४५०
कार्श्यहरयोगत्रयम्	„
कार्श्ये त्रिचत्वारिंशरसक०	४६४
काललोहतीक्ष्णलक्षणम्	८७
कालविध्वंसनरसः	३२८
कालाग्निरसः	४२१
कालाग्निरुद्रो रसः	३५५
कालिनीलक्षणम्	११२
कालिन्यभावे तदनुकल्पवि०	„
काशीशबद्धो रसः	३५४
काशीशादिगुटिका	४१४
कासघ्नधूमद्वयम्	२४३
कासचिकित्सा	२४०
कासश्वासहिक्कास्वरभेदचिकित्सा	२४६
कासस्य निदानादिकम्	२४०
कासहरो रसः	२४१
कासीसम्	४३
कासीसप्रयोगविधिः	४६
कासीसशोधनम्	४५
कासीसशोधनान्तरम्	४६
कासीससत्त्वपातनविधिः	४५
कासीसस्य भेदौ	४४
कासीसादिरसः	२६३
कासे पञ्चमरसकल्पः	४६१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
कांस्यम्	१०४
कांस्यगुणाः	„
कांस्यमारणम्	१०५
कांस्यशोधनम्	१०४
कांस्यस्य उत्पत्तिनिर्देशः	„
किटिमारितैलम्	३३६
किट्टसत्त्वशोधनम्	१८
किट्टसत्त्वानां मृदूकरणम्	१६
किट्टात् सत्त्वग्रहणम्	१८
किलासे पञ्चत्रिंशरसक०	४६४
कीटमर्दो रसः	३६१
कीटविषे मूलविषस्य मात्रा	४८५
कुक्कुटपुटम्	१५३
कुक्कुराश्विलेपः	४२३
कुंकुमप्रयोगः	४१७
कुण्टमुण्डलक्षणम्	८५
कुण्डलचिकित्सा	३६६
कुनखे स्नुहीक्षीरादिप्रलेपः	४२६
कुन्तवेधलक्षणम्	१३३
कुमारबन्धलक्षणम्	१७३
कुवैद्यस्य दोषान्तरम्	५०४
कुवैद्यानां वर्जनीयतोक्तिः	५०४
कुष्ठकुठारो रसः	३४४
कुष्ठनाशनोरसः	३४६
कुष्ठराक्षसः	३४४
कुष्ठरोगे गन्धकप्रयोगविधिः	४३
कुष्ठविद्रावणतैलम्	३४५
कुष्ठविधूननोरसः	३४०
कुष्ठविध्वंसनो लेपः	३४२
कुष्ठादिलेपः	४२६
„	४२८
कुष्ठादिवटी	४१३
कुष्ठादिहर-रसायनम्	४४२
कुष्ठाद्यं तैलम्	४१०
कुष्ठान्तपर्पटी	३५४
कुष्ठारितैलम्	३५६
विषकल्पः	४८०
कुष्ठे एकविंशविषकल्पः	४७६
„ एकोन „	४८०

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
„ चतुस्त्रिंशरसकल्पः	४६३
„ त्रिंशैकत्रिंशरसकल्पौ	„
„ द्वात्रिंश-त्रयस्त्रिंशरस०	„
„ द्वाविंशलोहकल्पः	४७०
„ द्वाविंशविषकल्पः	४७६
„ विंशलोहकल्प	४७०
„ विंशविषकल्पः	४७६
„ षड्त्रिंशविषकल्पः	„
कुष्ठेषु क्रियासूत्रम्	३३६
कुसुमायुधो रसः	४४८
कूपिकापर्यायाः	११७
कूष्माण्डखण्डम्	३२०
कूष्माण्डस्वरसप्रयोगः	२६०
कृष्णवर्गः	१५७
कृष्णामिश्रश्वेतगुंजाबीजतै०	१०८
कृष्णीकरणयोगः	३५७
कृत्रिमरौप्यम्	७७
कृष्ट्याः कार्य्यम्	१२०
केशकृष्णीकरणे महानीलतलाख्य-पञ्चाशत्तमरसकल्पः	४६५
केशपाते व्यङ्गजातीप्रलेपः	४३५
केशपाते हरिद्रादिलेपः	४१७
केषां पारदः सिध्यति	११४
कोकिलाक्षादिकषायः	३६५
कोरण्टकादिकषायः	३६०
कोष्ठिकाप्रस्तावः	१५०
कोष्ठीयन्त्रम्	१४१
क्रव्यादरसः	२८१
क्रिमिकर्णारितैलम्	४०६
क्रिमिचिकित्सा	३५६
क्रिमिज्वरे आखुपर्णीप्रयोगः	३६०
क्रिमिदन्ते अभयागुडिका	४१३
क्रिमिशूलसंहारो रसः	३६०
क्रिमिहरो रसः	३६०
क्रिमिशूलहरो रसः	३५६
क्रिमौ सप्तत्रिंशरसकल्पः	४६४
क्रियाहीनबन्धः	१७०
क्षयकासघ्नो योगः	२४३
क्षयादौ अष्टमरसकल्पः	४६१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
क्षयादौ खण्डखाद्याख्यसत दशलोहकल्पः	४६६
क्षयादौ दशमलोहकल्पः	४६५
क्षये नवमविषकल्पः	४७८
क्षये षष्ठसप्तमरसकल्पौ	४९१
क्षारताम्रम्	३११
क्षारत्रयम्	१५४
क्षारपञ्चकम्	१५४
क्षारप्रयोगः	२८८
क्षारप्रयोगः	३०९
क्षारबन्धः	१७०
क्षारवटी	३१६
क्षाराम्ल-विषस्नेहानां कार्य्यम्	१५८
क्षालने त्रिफलाक्वाथः	४२२
क्षीरादिलेपः	२६७
क्षुद्ररोगाणां नामानि	४२६
क्षुद्ररोगादिचिकित्सनम्	४२६
क्षेप-वेधलक्षणम्	१३३
काञ्चनीप्रयोगः	३०४
ख	
खगेश्वरो रसः	३४८
खदिरादियोगः	३२६
खनिजरौप्यम्	७७
खनिजस्वर्णस्योत्पत्तिलक्षण०	७४
खनिज हिंगुल की उत्पत्ति	२१०
खरतीक्ष्णगुणाः	८७
खरतीक्ष्णलक्षणम्	८६
खर्परशोधनम्	३७
खर्परशोधने मतान्तरम्	३७
,, ,,	३७
खलतौ अष्टपञ्चाशत्तमवि०	४८३
खल्लयन्त्रम्	१४४
खल्लयन्त्रस्य द्वैविध्यनिर्देशः	१४४
खर्परप्रयोगविधिः	३८
खर्परसत्त्वपातनम्	३७
खर्परसत्त्वपातने मतान्तरम्	३७
,, ,,	३७
खर्परसत्त्वमारणम्	३८
खर्परस्य ताम्रादिरञ्जनम्	३७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
खुरकवङ्गशोधनम्	९८
खुरकवङ्गस्य लक्षणम्	९७
खोटबन्धलक्षणम्	१७०
ग	
गगनगर्भा वटी	३७७
गजपुटम्	१५२
गण्डमालाऽपचीलक्षणम्	४२४
गण्डमालायां पञ्चाङ्गप्रलेपः	४१५
गन्धकः	३८
गन्धक उपलब्धि	२१०
गन्धक और गन्धकीय खनिज प्राप्ति के स्थान	२१५
गन्धक की अनेकरूपता	२१४
गन्धक का रोगशामक उप०	२१७
,, ,, शरीरावयवों पर प्रभाव	२१६
गन्धकगुणाः	४०
गन्धकद्रुतिः	४०८
गन्धकतैलविधिः	४२
गन्धकतैलान्तरम्	४३
गन्धकपिष्ट्यादियोगः	२५८
गन्धकप्रयोगः	४२७
गन्धकप्रयोगविधिः	४२
गन्धकप्रयोगान्यविधिः	४२
गन्धकप्रलेपयोगः	४३
गन्धकयुक्त खनिजों से गन्धक की निकृष्टि	२१२
गन्धकलेपयोगान्तरम्	४३
गन्धक विवरण	**२१०**
गन्धकसेवने अपथ्यम्	४३
गन्धकस्य भेदाः	४०
,, भेदे मतान्तरम	४०
गन्धकोत्पत्ति सिद्धान्त	२१०
गन्धकादिक्षारः	३५८
गन्धकादिपोटलीरसः	३०३
गन्धकादिपोटल्याः प्रयोगा०	३०३
गन्धकोत्पत्तिः	३८
गन्धपाषाणयोगः	२४८
गन्धाभ्रयोः स्वरूपम्	१४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
गन्धाश्मगर्भरसः	३६४
गन्धोत्पलजटादिकल्कः	३९३
गरविषे कनकादिवटी	४३८
गरुडाञ्जनम्	४०३
गर्भद्रुतिलक्षणम्	१३१
गर्भयन्त्रम्	१३६
गर्भस्रावणे चूर्णप्रयोगः	४३५
गर्भाजनने धुस्तूरप्रयोगः	४३५
गर्भिणीज्वरे छिन्नादिकषायः	३८६
,, पयस्यादिकषायः	३८६
गर्भिणीज्वरे पाठादिकषायः	३८६
गर्भिणीपित्तरोगे यष्ट्यादि यवागूः	३८७
गर्भिण्यतिसारे वृक्षकत्वगादि कषायः	३८७
गर्भिण्या मासानुमासिकयो०	३८८
गलकीलके आमलकप्रयोगः	४१२
गलकीले सैन्धवप्रलेपः	४१५
गलत्कुष्ठलक्षणम्	३३६
गलदाहे सैन्धवादिचूर्णम्	४३०
गलरोगे मण्डूरलेपः	४१५
गवाक्ष्यादिनस्यम्	३६६
गव्यघृतस्य विषघ्नत्वोक्तिः	४७६
गारकोष्ठी	१५१
गारमूषा	१४७
गिरिसिन्दूरम्	५६
गिरिसिन्दूरस्य गुणाः	५६
गुञ्जादिलेपः	४२५
गुञ्जाद्युद्वर्त्तनम्	३४५
गुञ्जापत्रादिचूर्णम्	४२४
गुञ्जाप्रयोगः	४१८
गुडटङ्कणवर्त्तिः	४२०
गुडनागरप्रयोगः	३२५
गुडमार्कण्डी	२८६
गुडव्योषादिचूर्णम्	४३५
गुडादिनस्यम्	४१६
गुडूच्यादिः	४२३
गुडूच्यादिलेपः	३९५
गुदकीटचिकित्सा	,,
गुदकीटस्य निदानलक्षणे	,,
गुदपाकचिकित्सा	४३२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
गुरुसन्तोषस्य सिद्धिप्रदत्व०	११०
गुरोर्महत्वम्	११५
गुल्मचिकित्सा	३०३
गुल्मनाशनो रसः	३०८
गुल्मपूर्वरूपम्	३०३
गुल्मप्लीह्नि सप्तदशाष्टादशविषकल्पौ	४७६
गुल्मे पञ्चदशविषकल्पः	४७६
गुह्यादिगतपिडिकायामश्वत्थादिप्रलेपः	४२८
गृध्रस्यामेकोनचत्वारिंशरस०	४६४
गृहधूमक्काथः	४१३
गैरिकम्	४३
,,	१५७
गैरिकगुणाः	४४
गैरिकयोर्लक्षणम्	४३
गैरिकसत्त्वपातने मतान्तरम्	४४
गैरिकस्य भेदौ	४६
गैरिकशोधनम्	४४
गैरिकस्य शोधन सत्त्वपात०	७२
,, सत्त्वरूपता	४४
गोक्षुरप्रयोगः	२८६
गोक्षुरादिचूर्णम्	२८७
गोदन्ती से गन्धक प्राप्ति	२१२
गोमेदः	६८
गोमेदगुणाः	,,
गोमेदस्य निरुक्तिः	,,
गोलमूषा	१४६
गोवरपुटम्	१५३
गोवरस्वरूपम्	,,
गोस्तनी	१४६
गौरीपाषाणः	५५
गौरीपाषाणस्य गुणाः	५६
गौरीपाषाणस्य पर्य्यायभेदाः	,,
,, शोधनम्	,,
,, सत्त्वग्रहणम्	,,
ग्रन्थकर्तृणां नामानि	१
ग्रन्थस्याभिधेयम्	२
ग्रन्थान्तरोक्तताम्रप्रयोगः	८३
ग्रन्थैर्लक्षणं व्युत्पत्तिश्च	४२३
ग्रन्थौ द्विपञ्चाशत्तमरसक०	४६६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
ग्रस्तयन्त्रम्	४३१
ग्रहणीकपाटः	२७८
ग्रहणीकपाटरसः	२७३
ग्रहणीगजकेशरी	२७५
ग्रहघ्नी गुटिका	३६६
ग्रहणीचिकित्सा	२७२
ग्रहणीलक्षणम्	२७२
ग्रहणीवज्रकपाटरसः	,,
ग्रहण्यादौ षोडशलोहक*	४६६
ग्रहण्यामेकादशविषकल्पः	४७८
ग्रासमानम्	१२६
घ	
घटयन्त्रम्	१४२
घोण्टादिलेपः	३२७
घोणाकुष्ठलक्षणम्	१२४
च	
चक्रमर्दादिप्रयोगः	३६३
चक्रिकाबद्धरसप्रयोगः	४२१
चक्रिकाबन्धरसः	३८१
चण्डभैरवो रसः	४७०
चण्डसंग्रहगदैककपाटरसः	२७४
चतुर्थं त्रिफला रसायनम्	४४३
चतुःसुधारसः	३७०
चन्द्रकलारसः	२३६
चन्द्रकान्तो रसः	४१७
चन्द्रप्रभा वटिका	३५६
,, वटी	२६०
चन्द्रसूर्यरसः	२२६
चन्द्रार्कम्	१२२
चन्द्रावलेहः	३७८
चन्द्रोदयरसः	२३६
चपलः	३४
चपलगुणाः	३५
चपलस्य कार्य्यम्	२८२
,, महारसत्वम्	३५
,, भेदादिर्निरुक्तिश्च	३४
चपलस्य शोधनम्	३५
,, सत्त्वपातनम्	,,
चर्मचेटस्य प्रयोगः	४१०

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
चर्मकुष्ठे पर्पटीरसः	३४०
,, मेढ्रनादाद्युद्वर्तनम्	,,
चषकस्य पर्यायाः	११७
चातुर्थिकगजांकुशरसः	२३१
चातुर्थिकहरो रसः	,,
चालनीस्वरूपम्	११६
चारणालक्षणम्	१३१
चिकित्सनीयरोगाणां नामा०	२१८
चिकित्सायाः त्रिवर्गसाधकत्वोक्तिः	५०४
चित्रकप्रयोगः	४३६
चिन्तामणिरसः	३१०
चुम्बुक-कर्षकयोर्लक्षणम्	८८
चुल्लका	२२६
चूर्णदग्धे तैलकांजिकगंडूषौ	४१४
चूर्णाञ्जनम्	४००
छ	
छर्दिर्दाहयो दशमैकादशरसकल्पौ	४६१
छर्द्यामष्टमविषकल्पः	४७८
छागलपञ्चकम्	१५५
छिन्नादितैलम्	३६७
छुछुन्दरीतैलम्	४०४
ज	
जङ्गमविषे षट्षष्टितमविष०	४८५
,, सप्तषष्टितमविषक०	,,
जन्तुघ्नी गुटिका	३५०
जयन्तीयोगः	२५३
जयन्तीवटिकाख्यः पञ्चदशाधिकशततमविषकल्पः	४८७
जयपालरसः	३३२
जयसुन्दररसः	३८०
जयागुडिकाख्यः पञ्चसप्ततितमादिचतुर्दशाधिकशततमान्तविषकल्पः	४८५
जयावटिकाख्यः षोडशाधिकशततमविषकल्पः	४८७
जरादौ एकविंशलोहक०	४७१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
जरादौ त्रयोदशचतुर्दश-लोहकल्पौ	४६५
जराया निदानम्	४३६
जरारोगचिकित्सनम्	४३६
जलनीलस्य गुणाः	६८
जलनीलस्य विशेषलक्षणम्	,,
जलबन्धलक्षणम्	१७४
जलमञ्जरीरसः	२३६
जलूकाबन्धप्रकारान्तरम्	१७६
,, ,,	१७७
,, ,,	,,
जलूकाबन्धलक्षणम्	१७५
जलूकाबन्धान्तरम्	१७६
जलूकायास्त्रिविधप्रमाणनि०	१७५
जलूकायाः संस्कारविशेषः	,,
जलोदरलक्षणम्	३२२
जाड्ये एकोनपञ्चाशत्तम-रसकल्पः	४६५
जातीपत्रादिचूर्णम्	४१४
जात्याद्यं घृतम्	४१६
जारणाभेद-जारणालक्षणम्	१३१
जारणायन्त्रम्	१३७
जारणायन्त्रस्य प्रकारान्तरम्	१३७
जारणायां पुनर्द्वैविध्यनिर्दे०	१३०
,, पुनस्त्रैविध्यनिर्देशः	१३०
जारणायास्त्रैविध्यनिर्देशः	१२६
जारणे निषिद्धद्रव्याणि	४८६
जीमूतकादिगुटिका	३२२
जीरकप्रयोगः	४२७
जीरकादिनस्यम्	४११
जीर्णज्वरादौ तृतीयविष०	४७७
,, नवमलोह०	४६५
जीर्णज्वरे द्वितीयविष०	४७७
जीर्णज्वरारिः	२३७
जीवनामा	६४०
जैपालतैलपातनम्	१०८
जैपालप्रलेपः	४१५
ज्योतिष्मतीतैल-रसायनम्	४४२
ज्वरगजहरिरसः	२२१
ज्वरचिकित्सनम्	२१८
ज्वरांकुशो रसः	१२७
ज्वरे प्रथमरसकल्पः	४६१
ट	
टङ्कणादियोगः	३३२
ड	
डमरुयन्त्रम्	१४२
डेकीयन्त्रम्	१३६
ढ	
ढालनलक्षणम्	१२५
त	
तक्रासवः	३०४
तगरादिपूरणम्	४०६
तप्तखल्लार्थं खल्लनिर्देशः	१४५
तप्तखल्लविधिः	१४५
तरुणबन्धलक्षणम्	१७३
ताडनम्	१२३
तादृशबद्धरसस्य कार्य्यम्	१२५
ताप्यादिवटकः	४४४
ताप्यादिवटी	४१५
ताम्रम्	८१
ताम्रद्रुतिः	४०७
ताम्रद्रुतिरसः	३२०
ताम्रद्रुतिसंज्ञकचतुर्थो लो०	४६३
ताम्रमारणम्	८३
,,	४६१
ताम्रमारणान्तरम्	८३
ताम्रयोगः	२८६
ताम्रलिप्तकज्जलीरसः	३५६
ताम्रवर्त्तिः	४०७
ताम्रशोधनम्	४६०
ताम्रशोधनम्	८२
ताम्रशोधने मतान्तरम्	८२
,, ,,	८२
,, ,,	८३
ताम्रस्य गुणाः	८१
ताम्रस्य द्वैविध्यम्	८१
ताम्रादिवर्त्तिः	४०३
ताम्राष्टकम्	३१४
ताररक्ती	१२१
तार्क्ष्यम्	६४
तार्क्ष्यगुणाः	६४
तार्क्ष्यसूतः	४३७
तालकः	४७
तालकस्य भेदौ	४७
तालकसत्त्वपातनम्	४६
तालकसत्त्वपातने मतान्त०	५०
,, ,,	५०
,, ,,	५०
तालकस्य मतान्तरशोधनम्	४६
,, मतान्तरे शोधनं	४६
मारणञ्च	४६
तालकेश्वरो रसः	३४७
तालुकण्टकचिकित्सा	३६५
तालुकण्टकलक्षणम्	३६४
तालेश्वरो रसः	३४१
तिक्ताद्यं घृतम्	३६६
तिमिरनाशनाञ्जनम्	४०५
तिमिरहराञ्जनम्	४०४
तिमिरे अष्टचत्वारिंशरस०	४६५
,, एकचत्वारिंशविषक०	४८१
,, एकोनचत्वारिंशविषक०	४८१
,, चत्वारिंशविषकल्पः	४८१
तिर्य्यक्पातनम्	१६६
तिर्य्यक्पातनयन्त्रम्	१४१
तिलजदीपाञ्जनम्	४००
तिलपर्णीप्रयोगः	४०६
तिलप्रयोगः	४०६
तीक्ष्णमुखो रसः	२६०
,, ,,	२६५
तीक्ष्णलौहद्रावणम्	६४
तीक्ष्णलौहस्य मारणम्	६१
,, विशेषमारणम्	६३
,, मारणे मतान्तरम्	६३
,, षड्विधत्वम्	८६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
तीक्ष्णविषातियुक्तविषयोश्चिकित्सा	४७६
तुत्थखर्परमारणम्	३३
तुत्थप्रयोगविधिः	३४
तुत्थसत्त्वपातनम्	३३
तुत्थसत्त्वपातने मतान्तरम्	३४
" "	३४
तुवरी	४६
तुवर्याः परिचयः	४६
" भेदः	४६
तुवरीशोधनम्	४७
तुवरीसत्त्वपातनम्	४७
तुवरीसत्त्वपातने मतान्तरम्	४७
तुवरीसामान्यगुणाः	४६
तृतीय कान्त-रसायनम्	४४३
तृतीय-त्रिफला-रसायनम्	४४२
तृतीयमासे श्रीखण्डादिक०	३८६
तृतीयलोहकल्पः	४६३
तैलपातनविधिः	१०७
तैलार्द्रकप्रयोगः	३०२
तोयमृल्लक्षणम्	१४३
त्याज्यताम्रम्	८१
त्याज्यरजतलक्षणम्	७८
त्रिदोषकुष्ठारिरसः	३६७
त्रिदोषज्वरे द्वितीयरसक०	४६१
त्रिदोषाभिष्यन्दे रसेन्द्रादि०	४०२
त्रिनेत्ररसः	३०६
त्रिनेत्ररसस्य प्रयोगविधिः	३३२
त्रिपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
त्रिपुरान्तको रसः	३४३
त्रिपुरुषायुष्करं रसायनम्	४४१
त्रिफलादि पत्रादिकषायौ	४३३
त्रिफलाद्यं यमकम्	३७६
त्रिफला-रसायनम्	४४१
त्रियोनिरसः	३३३
त्रिवार्षिक रसायनम्	४४१
त्रिविक्रमरसः	६८७
त्रिविधवराटिकालक्षणम्	२८०
त्रिविधविषनिर्देशः	४३७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
त्रैलोक्यडम्बररसः	२२०
त्रैलोक्यतिलकः	२६६
त्रैलोक्यविजयतैलम्	३५३
त्रैलोक्यसुन्दरः	३३१
त्रैलोक्यसुन्दररसः	२२०
त्रैलोक्यसुन्दरो रसः	३२३
त्र्यम्बकेश्वरो रसः	३७६
त्वग्वाते आनन्दभैरवप्रयोगः	"
द	
दद्रुकुष्ठविद्रावणरसः	३४६
दद्रुकुष्ठे मयूरक्षारादिलेपः	३३९
दन्तदार्ढ्ये जयाप्रयोगः	४१२
दन्तिबीजादिरसः	३२८
दन्त्यादिगणः	४६७
दर्दुररसः	१२१
दशसारवटी	३२१
दारुणहरतैलम्	४१७
दार्वीप्रयोगः	३०२
दिग्धाहते एकोनषष्टितम०	४८३
दीपनम्	१६७
दीपनलक्षणम्	१२६
दीपिकायन्त्रम्	१३६
दीपिकारसः	२२२
दीप्तामरो रसः	३०५
दुग्धवर्गः	१५६
दुर्नामहरलेपः	२६७
दुष्टनवग्रहप्रसादकरत्नानि	६२
दुष्टव्रणे षष्टितमविषकल्पः	४८४
दुःसाध्यरोगे द्वासप्तति०	४८५
देवतापूजनविधिः	११२
देवदार्वादिचूर्णम्	३०६
देवदार्वादिचूर्णम्	४३०
देवदालीपञ्चाङ्गचूर्णम्	३०४
देवदालीपञ्चाङ्गप्रयोगः	३३२
देवदालीप्रयोगः	३८४
देवदाल्यादिलेपः	२६७
देवीपूजायां मन्त्रम्	१११
देवीशास्त्रोक्तककारादिगणः	१८१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
देश और रंगादि भेद से हिंगुल के अनेक नाम	२०७
दोलायन्त्रम्	१३५
द्वन्द्वसन्निपातज्वराणामाति-देशिकलक्षणम्	२२०
३. द्रवित अणुसामूहिक	२१४
द्राक्षादिकषायः	२४०
द्रावकलक्षणम्	८८
द्रावणादिकर्मसाधने काष्ठ०	१२४
द्रावणीयो गणः	१५८
द्रावणे सिन्दूरप्रयोगः	४५५
द्रावणे सूतप्रयोगः	"
द्रुतिबन्धलक्षणम्	१७२
द्रुतिसाररसः	३८३
द्रुतिस्वरूपम्	१३१
द्रुतीनां दीर्घकालरक्षणे०	७२
द्रुते पञ्चविधत्वनिर्देशः	१३१
द्वन्द्वानम्	१२६
द्वात्रिंशादिलोहकल्पचतु०	४७२
द्वादशाङ्गवर्त्तिः	४०४
द्वितीय कान्त रसायनम्	४४३
द्वितीयकामलाहराञ्जनम्	४११
द्वितीयकुष्ठकुठारः	३५१
द्वितीयक्षारताम्रम्	३१४
द्वितीयगन्धाश्मगर्भरसः	३६५
द्वितीयताम्रद्रुतिः	४०७
द्वितीयत्रिनेत्रो रसः	३१२
द्वितीय-त्रिफला-रसायनम्	४४२
द्वितीयदर्दुररसः	२६६
द्वितीयपाषाणभेदी रसः	२८७
द्वितीयप्रकारजलूकाबन्धः	१७६
द्वितीयमहातालेश्वर	३५१
द्वितीयमासे नीलोत्पलादि०	३८६
द्वितीयमृतसञ्जीवनरसः	२३४
द्वितीयमृत्युञ्जयरसः	२३१
द्वितीययोगराजगुग्गुलुः	३६६
द्वितीयवडवानलः	३७५
द्वितीयविजयभैरवतैलं सूततैलं वा	३७४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
द्वितीयसर्वेश्वरः	३५४
द्वितीयस्वच्छन्दभैरवः	३७५
द्वितीयराजावर्त्तरसः	२५६
द्वितीयलोकनाथरसः	२५४
द्वितीयः शीतभञ्जीरसः	२२३
द्वितीयैरण्डबीजादितैलम्	३३६
द्विरुत्तरकणादिवर्त्तिः	४०६
द्विविधिलक्षणयोः सामान्यल०	१४४
द्विविधं रसमारणम्	४८६
ध	
धातुबद्धरसगुटिका	४१६
धातुवादे नियोज्यपुरुषलक्ष०	११८
धातूनां सामान्यमारणम्	४६१
धान्याभ्रमारणम्	१७
धान्याभ्रलक्षणम्	,,
धान्याभ्रलक्षणम्	१२३
धन्वन्तरिभागः	११६
धन्वन्तरिरसः	३५१
धुस्तूरपञ्चाङ्गघृतम्	३६६
धूपयन्त्रम्	१४४
धूप-वेधलक्षणम्	१३३
धौतम्	१२५
ध्यानम्	१११
न	
नक्तान्ध्ये एकोनपञ्चाश०	४८२
,, पञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
नन्दिमते वराटीलक्षणम्	२८०
२. (क) नम्य गन्धक	२१४
नयनामृताञ्जनम्	४०४
नवग्रहरत्नानि	६२
नवज्वरमुरारिः	२३७
नवज्वरारिः	२३५
नवज्वरे प्रथमविषकल्पः	४७७
नवाङ्गवटिका	४००
नवनीतादियोगः	२४०
नवनेत्रदात्री वटी	४०६
नवसारः	५६
नवसारगुणाः	५७
नवसारस्योत्पत्ति पर्य्याय०	५७
नवसारस्योत्पत्तौ मतान्तरम्	५७
नागवङ्गकांस्यताम्राणां सामान्यशोधनम्	६८
नागवङ्गयुक्तरससेवने०	५०१
नागवङ्गयोः शोधनम्	४६०
नागसम्भूतचपलः	१२५
नागसुन्दररसः	२७१
(नागादिवर्त्तिः)	४०२
नाभिपाकचिकित्सा	३६६
नाभियन्त्रम्	१४३
नारायणरसः	३४६
नारिकेलपाकः	४४५
नालिकायन्त्रम्	१४०
(नासारोगचिकित्सा)	४११
नासारोगाणां नामानि	४१०
नास्तिकादीनां वैफल्यनिर्देशः	१०६
निकृष्टप्रबालम्	६४
निकृष्टमाणिक्यलक्षणम्	६३
निकृष्टमौक्तिकलक्षणम्	६४
निधिसाधने नियोज्यपुरुष०	११८
निम्बपत्रादिपूरणम्	४१६
निम्बादिघृतं क्षीरञ्च	३६७
निम्बादिचूर्णम्	३५५
निम्बादिचूर्णम्	४२८
नियामनम्	१६७
नियामनलक्षणम्	१२८
नियामने प्रकारान्तरम्	१६७
निरुत्थलोहम्	१२२
निरुत्थलोहस्य परीक्षा	४६३
निरुत्थलोहस्य लक्षणम्	४६२
निर्गुण्डिकादितैलम्	३६८
निर्गुण्डीप्रयोगः	३७६
निर्गुण्ड्यादिप्रलेपः	३४४
निर्जीवबन्धलक्षणम्	१७२
निर्बीजबन्धलक्षणम्	१७२
निर्मुखजारणालक्षणम्	१३०
निर्वापः	१२७
निर्वापणस्य मात्रानिर्देशः	१२२
निर्वाहणम्	१२२
निश्चन्द्र-सचन्द्राभ्रयोर्गुण०	१६
निषिद्धद्रव्यव्यवहारजदोषे प्रतीकारः	५०१
निषिद्धद्रव्यव्यवहारे दोषः	५०१
नीलम्	६८
नीलकण्ठरसः	२४५
नीलगन्धिमाणिक्यस्य ल०	६२
नीलयोर्लक्षणम्	६८
नीलस्य द्वैविध्यम्	६८
नीलाञ्जनगुणाः	५३
नीलाञ्जनशोधनम्	५३
नीलाञ्जनसत्त्वपातनम्	५३
नीलोत्पलादिकल्कः	३८६
नृकपालाञ्जनम्	४०५
नेत्ररोगचिकित्सा	४०२
नेत्ररोगाणां सङ्ख्या	४०२
नेत्ररोगे कान्तनागाख्यचतुर्विंशोलोहकल्पः	४७०
नेत्ररोगे सप्तचत्वारिंशरस०	४६५
नैपालताम्रस्य लक्षणम्	८२
न्यग्रोधादिक्वाथः	३६३
प	
पक्तिशूले चतुर्विंशरसकल्पः	४६३
पक्वमूषा	१४६
पद्मशाते षट्चत्वारिंशरसकल्पः	४६४
पञ्चमलोहकल्पः	४६४
पञ्चमाहिषम्	१५५
पञ्चमूलक्वाथः	३६०
पञ्चमृत्तिका	१५६
पञ्चवक्त्ररसः	२३२
पञ्चविधकान्तस्य भेदान्तरनिर्देशः	८७
पञ्चाङ्गगुडिका	४०६
पञ्चाननरसः	३२६
पञ्चामृतपर्पटीरसः	२५७
पञ्चामृतरसः	२५२
पञ्चास्यरसः	३३३
पटलहराञ्जनम्	४०५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पटलहरेन्द्ररसः	४०४
पटोलकादियोगः	२४०
पटोलादिपूरणम्	४१९
पटोलादियोगः	२३९
पतङ्गीरागः	१२६
पत्रतालकलक्षणम्	४८
पथ्यादिवटिका	४१३
पद्महस्तवैद्यलक्षणम्	११८
परहितो रसः	३४६
परिचारकलक्षणम्	११८
परिभाषा	११९
परिभाषाज्ञानस्य फलम्	१३४
परिभाषायाः प्रयोजनम्	११९
पर्पटीप्रयोगः	३६०
पर्पटीप्रयोगविधिः	४२६
पर्पटीरसः	२४७
,,	३९१
पर्पटीरसप्रयोगविधिः	४०१
पर्पटीरसप्रयोगे विघ्नन्त०	३७३
पर्पटीरसस्य प्रयोगविधिः	३६६
पलाशबीजगुडिका	४३८
पलितादौ सप्तपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
पाक्षिक रसायनम्	४४०
पाठादिघृतम्	४४४
पाण्डुघनपंकशोषणो रसः	३३०
पाण्डुघनानिलरसः	३३४
पाण्डुरादियोगः	२८६
पाण्डुरोगचिकित्सा	३२७
पाण्डुरोगस्य लक्षणम्	३२७
पाण्डुहारिहरीतकी	३३०
पाण्ड्वादौ अष्टात्रिंशरसक०	४९३
पातनपिष्टी	१२०
पातनलक्षणम्	१२८
पातनसंस्कारः	१६५
पातनायन्त्रम्	१३५
पातालकोष्ठी	१५०
पादकण्डूहरयोगः	४२९
पादकण्डूहरयोगान्तरम्	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पाददाहे तिलादिचूर्णम्	,,
पादस्फुटने पथ्यामर्दनम्	,,
पानीयकषायविधिः	४६०
पामारितैलम्	३४१
पारद और उसके यौगिकों का औषधविज्ञान	१९६
पारद का आभ्यन्तरिक प्रयोग	१९७
पारद का आभ्यन्तरिक शरीर पर प्रभाव	१९४
पारद का आयात निर्यात	१९१
पारद का बाह्य प्रयोग	१९६
पारद का बाह्य शरीर पर प्रभाव	१९४
पारद का शरीरावयवों पर प्रभाव,	,,
पारद की सर्वप्रथम प्राप्ति	१८४
पारद के उक्त खनिजों की परीक्षा	१८७
पारद के कञ्चुक	१९०
पारद के दोष	,,
पारद के भेद	१८८
पारद के मिश्रक	१९१
पारद के ब्योरेवार विवरण का कारण	२०६
पारद के संस्कार	१९१
पारद को शरीर में प्रविष्ट करने की विधियाँ	१९७
पारदधूम्रीकरण	,,
पारदप्राप्ति के कुछ गौणखनिज	१८७
पारद में सावधानी	१९८
पारदलेपन	१९७
पारदस्नान	१९८
पारदस्य गतयः	१३
पारदस्य विशेषतो महत्ता	४
पारदादिवर्त्तिः	४०३
पारदीय खनिज प्राप्ति के स्थान	१९९

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पारदीय विशेष विवेचन	४१४
पारदे सर्वौषधानामन्तर्भावः	६
पालिकायन्त्रम्	१४२
पालीवर्द्धने मुषलीप्रयोगः	४१०
पाषाणभेदी रसः	२८६
पिञ्जरी	१२२
पिण्डतालकलक्षणम्	४८
पित्तकुष्ठारिरसः	३३७
पित्तज्वरे अश्वत्थक्षीरम्	३९३
,, रोहिणीक्षीरम्	,,
पित्तज्वरलक्षणम्	२१९
पित्तपाण्डुवैरिगुटिका	३३१
पित्तरोगचिकित्सा	३२१
पित्तरोगचिकित्सा	३७७
पित्तलम्	१०२
पित्तलस्य द्वैविध्यम्	,,
पित्तलप्रयोगः	१०४
पित्तान्तको रसः	३२१
पित्ताभिष्यंदे तीक्ष्णादिवर्त्तिः	४०२
,, नागादिवर्त्तिः	,,
पित्तार्शोलक्षणम्	२६०
पिनाकादीनां लक्षणानि	१५
पिप्पलीप्रयोगः	३२६
पिप्पल्यादि-रसायनम्	४४०
पिल्ले अष्टचत्वारिंशविषक०	४८२
पिष्टिकाबन्धः	१७०
पीत अस्फुटकीय गन्धक	२१४
पीतवर्गः	१५७
पीनसहरनस्यम्	४११
पुटानि	१५१
पुटस्य प्रयोजननिर्देशः	,,
,, फलम्	१५२
पुटयन्त्रम्	२४०
पुण्डरीकप्रयोगः	४५७
पुत्रजीवप्रयोगः	४२३
,, (द्वितीयः)	,,
,, (तृतीयः)	४२६
पुत्रजीवलेपः	४०९
पुनर्नवादिलेपः	४२४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
पुरावृत्तवर्णनद्वारा वैद्यस्य सर्वपूज्यत्वनिर्देशः	५०५
पुरुषस्य बन्धत्वदोषाः	३८०
पुं वज्रस्य लक्षणम्	६५
पुष्पकासीसगुणाः	४५
पुष्पधन्वा रसः	४५५
पुष्परागः	६५
पुष्परागगुणाः	,,
पुष्परोध रक्तगुल्महरयोगद्व०	४३५
पुष्परोधहरयोगत्रयम्	,,
पुष्परोधे चणकप्रयोगः	,,
पुष्पहराञ्जनम्	४०४
पुष्पाञ्जनगुणाः	५३
पुष्यानुगं चूर्णम्	४३६
पूजने प्रकारनिर्देशः	१११
पूजाविधिनिर्देशः	१११
पूतिनस्ये चतुःपञ्चाशत्तम विषकल्पः	४८३
पूयास्रलक्षणम्	४१०
पूर्णचन्द्ररसः	३१६
,,	४४८
पूर्णचन्द्रोरसः	४५७
पोटबन्धलक्षणम्	१७१
पोटलीरसः	२७७
पौनर्नवाञ्जनम्	४०५
प्रकारान्तरदीपनम्	१६८
प्रक्षेपकालनिर्देशः	१२७
प्रतापलङ्केश्वरः	२३३
प्रतापलङ्केश्वरो रसः	३३६
प्रथमद्वितीयलोहकल्पः	४६३
प्रथममासे पद्मकादिकरकः	३८६
प्रवालम्	६४
प्रवालगुणाः	,,
प्रभावती वटी	३७३
प्रमेहगजसिंहः	२९०
प्रमेहचिकित्सा	२८९
प्रमेहनिदानम्	२८९
प्रमेहारिरसः	२९१
प्रयोगकालभेदेन विषस्य क्रियाविशेषः	४७४
प्रयोज्यविषाणि	४७६
प्रवाहिकायामष्टादशैकोनविंशरसकल्पौ	४९२
प्रशस्तकांस्यलक्षणम्	१०४
प्रशस्तगोमेदलक्षणम्	६८
प्रशस्तताक्ष्यलक्षणम्	६४
प्रशस्तपद्मरागस्य लक्षणम्	६३
प्रशस्तपुष्परागलक्षणम्	६५
प्रशस्तप्रवाललक्षणम्	६४
प्रशस्तमौक्तिकफललक्षणम्	६३
प्रशस्तसस्यकलक्षणम्	३३
प्रशस्ताभ्रलक्षणम्	१६
प्रशस्तेन्द्रकनीललक्षणम्	६८
प्रस्तुताध्यायस्य कर्तव्यनि०	१३४
प्रसंसिन्यां कारलीकन्दप्र०	३९१
प्राकृतस्वर्णस्योत्पत्तिः	७४
प्राकृतादित्रयाणां लक्षणगुणाः	७४
प्राणनाथरसः	२५३
प्राणेश्वररसः	२३३
प्लीहादौ द्वाविंशत्रयोविंशरसकल्पौ	४९३
प्लीह्नि एकोनविंशविषक०	४७९
,, रक्तमोक्षणम्	३०५
फ	
फटकीगुणलक्षणे	४६
फलघृतम्	४३४
फुल्लिकागुणलक्षणे	४६
ब	
बन्धनलक्षणम्	१२८
बन्ध्याकर्कोटकीप्रयोगः	३८६
वन्ध्यागर्भसम्प्राप्तिः	३८४
बन्ध्यादिचिकित्सनम्	३७९
बन्ध्यायां भेदाः	३७९
बन्ध्यायां षट्त्रिंशविषक०	४८१
बन्ध्यारिद्वारः	३१०
बन्ध्यालक्षणम्	३८०
बलादिकषायः	३८८
बलिवसाख्यगन्धकोत्पत्तिः	४१
बलिसाधने नियोज्यपुरुषल०	११८
बहिःशीतलम्	१२७
बाकुचीबीज-घोषाबीजानां तैलपातनम्	१०८
बाकुचीचित्रकप्रयोगौ	४२८
बाकुचीबीजतैलपातने प्रकारान्तरम्	१०८
बालकबन्धलक्षणम्	१७३
बालचिकित्सा	३९२
बालपञ्चामृतम्	३९६
बालस्य गर्भक्लेशनिवारणो०	३९२
बालुकापुटम्	१५३
बालुकायन्त्रम्	१३९
बालुकासीसगुणाः	४५
बाह्यद्रुतिलक्षणम्	१३१
बीजलक्षणम्	१२३
बुद्धिवर्द्धने अष्टात्रिंशविष०	४८१
बीजनिर्देश	१३०
बीजावर्त्तः	१२७
बृहद्विध्वंसरसः	२७९
बोलप्रयोगः	३९३
बोलबद्ध रसः	२४२
ब्रह्मदण्डीप्रलेपः	४१५
ब्राह्म्यादिनस्यम्	३९६
भ	
भगन्दरचिकित्सा	४२१
भगन्दरलक्षणम्	४२०
भगन्दरस्य निरुक्तिः	४२०
भगन्दरे उपचारविशेषः	४२१
भग्नचिकित्सा	४२०
भग्नस्य भेदनिर्देशः	४२०
भग्ने पर्पटीरसप्रयोगः	४२०
भञ्जनी	१२६
भल्लातकप्रयोगः	४१२
भस्मकलक्षणम्	४३१
भस्मीभूतरत्नादीनामेव सूतयोगे प्रयोज्यतानिर्देशः	१०६
भागोत्तरगुड़िका	२४४
भाण्डपुटम्	१५३
भालुकितन्त्रोक्तप्रयोगविधिः	३४
भालुकितन्त्रोक्तप्रयोगान्तरम्	३४
भीमपराक्रमरसः	२९४
भूतांकुशरसः	२४२
भूदार्वादियोगः	३१५
भूधरपुटम्	१५४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
भूधरयन्त्रम्	१४०
भूनागः	१०६
भूनागसत्त्वपातनम्	१०६
भूनागसत्त्वपातने मतान्तरम्	१०६
भूनागसत्त्वप्रयोगविधिः	१०६
भूनिम्बादितैलम्	३६०
भूमिजादीनां कार्य्यम्	१६३
भूलताप्रयोगः	४२३
भृङ्गराजयोगः	२४२
भेषजाहरणे नियोज्यपुरुषलक्षणम्	११८
भ्रामकलक्षणम्	८८
भ्रामकादीनां कार्य्यनिर्देशः	८८
भ्रामकादीनामधममध्यमत्वादिनिर्देशः	८७
म	
मङ्गलम्	१
मञ्जिष्ठादिगणः	३४०
मणयः	६२
मणिपर्पटी	४११
मणीनां नामानि	६२
मणीनां सामान्यकार्य्यम्	६२
मण्डूकमूषा	१४६
मण्डूरः	६६
मण्डूरशोधनम्	६६
मण्डूरशोधने मतान्तरम्	६६
मण्डूरस्य मण्डूरलौहानामुत्तरोत्तरगुणाधिक्यम्	६७
मतान्तरीयबन्धः	१६६
मतान्तरे तीक्ष्णलौहद्रावणम्	६४
मतान्तरे पिष्टी	१२०
„ रसजारणम्	४८६
„ सर्वलौहानां मार०	६३
मदनकामदेवो रसः	४५०
मदनजीवनो रसः	४५८
मदनमुन्मद्रसः	४४८
मदनमोदकः	४५४
मदनवलयम्	१७७
मदनवलये प्रकारान्तरम्	„
मदनसञ्जीवनो रसः	४५३
मदनसुन्दरो रसः	४४८
मदनाशने कर्पूरादिप्रलेपः	४५५
मधुकप्रयोगः	४४६
मधुकादिकल्कः	३६३
मधुमेहे वंगप्रयोगः	२६०
मधुरत्रयम्	१५५
मध्वार्द्रकप्रयोगः	३१७
मनःशिला	५०
मनःशिलानां त्रिविधानां ल०	५१
„ गुणाः	५१
मनःशिलाया भेदाः	५०
मनःशिलाशोधनम्	५१
मनःशिलासत्त्वपातनम्	„
मनःशिलासत्त्वपातने मता०	„
मन्थानभैरवः	२४८
मरिचप्रयोगः	३८७
मरिचप्रयोगः	४१७
मरिचप्रलेपः	४१६
मरिचाञ्जनम्	४०६
मर्दनलक्षणम्	१२७
मर्दनविधिः	१६४
मर्दनादीनां कार्यम्	१६६
मर्दनार्थं वर्तुलखल्वनिर्देशः	१४१
मल्लमूषा	१४६
मसूरिकायां त्रिपञ्चाशत्तम रसकल्पः	४६६
मसीप्रयोगः	४००
महाकनकसुन्दरो रसः	४५२
महाकल्कः (दिव्यामृतरसः)	४५८
महातालेश्वरो रसः	३४१
महादेवस्थितिवर्णनम्	२
महापटम्	१५२
महाबन्धलक्षणम्	१७४
महाभल्लातकतैलम्	३५३
महाभ्रसत्त्वम्	४५१
महामार्त्तण्डतैलम्	३५३
महारसाः	१४
„	११३
महारोगाः	३६१
महावह्निरसः	३२४
महासर्पविषे नागदमनीप्र०	४३७
महोदयप्रत्ययसारः	२६३
महाज्वरांकुशः	२२४
महामूषा	१४६
महाविद्या गुटिका	२६१
महावीररसः	६५६
महाशंखप्रयोगः	४२७
माक्षिकम्	२४
माक्षिकस्य गुणाः	„
माक्षिकसत्त्वद्रावणम्	२७
माक्षिकसत्त्वस्य प्रयोगविशेषः	२६
माक्षिकस्य गुणान्तरम्	२४
माक्षिकस्य द्वैविध्यम्	„
माक्षिकस्य मारणम्	२५
माक्षिकस्य मारणे मतान्तरम्	२६
माक्षिकस्य शोधनम्	२५
माक्षिकस्य सत्त्वपातनम्	२६
माक्षिकस्य सत्त्वपातने मता०	„
माणिक्यम्	६३
माणिक्यगुणाः	„
माणिक्यतिलकरसः	३४६
माणिक्यस्य द्वैविध्यम्	६३
मातुलुङ्गादिप्रलेपः	४१३
मातुलुङ्गादियोगः	२५१
मातुलुंगीरम्भाप्रयोगौ	३८८
मात्राऽमात्राभेदेन विषामृतयोर्गुणागुणौ	४७५
मानपरिभाषा	१५८
मानपरिभाषायां मतान्तरम्	„
मारणार्थं लौहस्य परिमाणम्	६०
मार्जाराक्षिप्रलेपः	४२२
मार्त्तण्डेश्वररसः	३७०
मासिक-रसायनम्	४४०
माहेश्वरधूपः	३६६
माहेश्वरो धूपः	३६७
„ „	३६६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मिश्रकवज्रस्य लक्षणम्	६७
मिश्रकवज्रशोधनम्	६८
मुक्ताद्रावणे विशेषक्रमः	७०
मुखपाकचिकित्सा	३६५
मुखपाके पर्पटीरसप्रयोगः	४१२
मुखरोगाणां सङ्ख्यानिर्देशः	४११
मुखरोगे पञ्चपञ्चाशत्तमविषकल्पः	४८३
मुखरोगे षट्पञ्चाशत्तमविषकल्पः	,,
मुखलक्षणम्	१३०
मुखवैरस्ये लाजादिचूर्णम्	४१३
मुखवैवर्ण्ये पुनर्नवाद्युद्वर्त्तनम्	४१२
,, हरिद्रादिलेपः	४१३
मुखशोषे महाराष्ट्री गुटिका	४१२
मुख्य मुख्य खनिज	१८५
मुण्डभेदाः	८५
मुण्डगुणाः	८६
मुषलमूषा	१५०
मुस्तादिचूर्णम्	२७८
,,	३३४
मूढगर्भचिकित्सा	३८६
मूढगर्भस्य लक्षणम्	३८८
मूढगर्भाया असाध्यलक्षणम्	,,
मूढगर्भे सप्तत्रिंशविषक०	४८१
मूत्रकृच्छ्रान्तकरसः	२८७
मूत्रकृच्छ्रे द्वादशविषक०	४७८
मूत्रकृच्छ्रे विंशरसकल्पः	४६२
मूत्ररोगे श्वदंष्ट्रादिकाथः	३८७
मूत्रवर्गः	१५५
मूर्च्छनलक्षणम्	१२७
मूर्च्छनसंस्कारः	१६४
मूर्च्छितादिपारदगुणाः	५
मूर्तिबन्धलक्षणम्	१७३
मूलकबीजप्रयोगः	४१४
मूलकुठारः	२६२
मूषादिवस्तुसंग्रहः	११६
मूषानिरुक्तिः	१४६
मूषाऽऽप्यायनम्	१४८
मूषाप्रशंसा	१४६
मूषाया उपकरणान्तराणि	१४७
मूषाया उपादानम्	१४६
मूषायाः पर्यायाः	,,
मूषोपयोगिद्रव्याणि	,,
मूषोपयोगिमृत्तिका	,,
मृगाङ्कपोटलीरसः	२५१
,,	२५२
मृतजीवनरसः	२२३
मृतलोहानां रसत्वकथन०	४७२
मृतवत्सालक्षणम्	३८९
मृतवैक्रान्तप्रयोगान्तरम्	२४
मृतवैक्रान्तस्य प्रयोगविधिर्गुणाश्च	२३
मृतसञ्जीवनम्	४३८
मृतसञ्जीवनरसः	२३४
मृतसूतगुणाः	१६१
मृतसूताध्यायः	४८८
मृतोत्थापनरसः	७०१
मृत्युञ्जयरसः	२२४
मृत्युञ्जयो रसः	३२३
मृत्युहारिरसाख्यषड्विंशलोहकल्पः	४७१
मृदुमुण्डलक्षणम्	८५
मृद्दारशृंगकम्	६१
मृद्दारशृङ्गगुणाः	६१
मृद्दारशृङ्गस्य परिचयः	६१
मेघनादप्रयोगः	४०६
,,	४३७
मेघनादरसः	२२१
मेदःप्रभृतिषु एकविंशलोहकल्पाः	४७०
मेदिनीसाररसः	३५०
मेहकुठारः	२६७
मेहबद्धरसः	२६६
मेहमर्दनरसः	२६५
मेहशत्रुरसः	२६३
मेहहररसः	२६६
,,	२६८
मेहारिरसः	२६६
मेहेषु एकविंशरसकल्पः	४६२
मौक्तिकम्	६३
मौक्तिकगुणाः	६३
मौक्तिकगुणान्तरम्	६४
म्लेच्छताम्रस्य लक्षणम्	८१
य	
यक्ष्मणि औषधविशेषसेवनोपदेशः	२५२
यक्ष्मादौ द्वादशलोहकल्पः	४६५
यन्त्रशब्दस्य निरुक्तिः	१३५
यन्त्राणि	१३४
यवक्षारप्रयोगः	२८८
यष्ट्यादिकल्कः	३८६
यष्ट्यादिघृतम्	३६४
यष्ट्यादिचूर्णम्	४२७
यावच्छ्वासं चिकित्सायाः कर्त्तव्यत्वोक्तिः	५०४
यूकलिक्षायां पारदप्रयोगः	४१७
योगद्वयम्	२४०
योगमूषा	१४७
योगराजगुग्गुलुः	३६४
योगराजगुग्गुलुप्रयोगः	३५५
योनिक्रिमिशूले रसोनादि०	४३३
योनिविद्रावणम्	१७७
योनिव्यापच्चिकित्सा	३६१
योनिव्यापत्सु पिप्पलीयोगः	४३४
योनिव्यापच्छिदानम्	,,
योनिशूलहरयोगद्वयम्	४३६
योनिशूले निम्बादिः	४३४
,, निर्गुण्डीप्रयोगः	३६१
र	
रक्तपित्तस्य निदानसम्प्राप्ती	२३८
रक्तपित्तादिचिकित्सनम्	२३८
रक्तपित्तांकुशो रसः	२३८
रक्तपित्ते तृतीय चतुर्थरसकल्पौ	४६१
रक्तपित्ते पञ्चमविषकल्पः	४७८
रक्तप्रमेहे बोलबद्धरसस्य प्र०	२६०
रक्तमेहे वङ्गप्रयोगः	२८६
रक्तवर्गः	१५६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रक्तकर्मादीनां प्रयोजननि०	१५७
रक्तवातचिकित्सा	३६५
रक्तवातस्य लक्षणम्	३६५
रक्तवातेऽपथ्यम्	३६५
रक्तवान्तिहरो योगः	२५२
रक्तविकृतौ बोलबद्धस्य से०	४३३
रक्तातीसारहरचूर्णम्	३६३
रक्तैरण्डप्रयोगः	३७६
रक्तोदरकुठारः	३०६
रजतम्	७७
रजतस्य त्रैविध्यनिर्देशः	७७
रजन्यादिप्रलेपः	७७
रजन्यादियोगः	२५१
रजोदोषे व्योषादितैलम्	४२६
रजोनाशे त्रियोनिरसप्रयो०	४३६
रञ्जनलक्षणम्	१३२
रतिजव्याधिप्रतीकारः	४३३
रत्न[illegible]करसः	२४१
रत्नधारणगुणाः	७२
रत्नधारणस्य सिद्धिप्रदत्वो०	६२
रत्नप्रयोगः	६६
रत्नभागोत्तररसः	३८१
रत्नमारणनिषेधः	६६
रत्नानां द्रावणम्	६६
रत्नानां मारणम्	६६
रत्नानां साधारणशोधनम्	६६
रत्नानि	६२
रविताण्डवरसः	४२१
रसकः	३५
रसकर्पूरनिर्माण की अर्वाचीन विधि	१८६
रसकर्मणि कान्तस्य विशेषोपयोगिता	८८
रसकर्मणि तैलयोनिफलानि	१५५
,, नियोज्याः वैद्याः	११७
रसकर्मयोग्यवैद्यलक्षणम्	११७
रसकल्पः	४८८
रसकस्य प्रयोगविषयः गुणा०	३६
,, भेदलक्षणे	३५
रसजारणम्	४८८
रसत्यागे उपचारविधिः	१८२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रसदोषाणां द्वादशत्वकथ०	१६३
रसपङ्कः	१२०
रसपाककालेऽघोरमन्त्रजपः	११७
रसप्रयोगे उपचारविधिः	५००
रसपिष्टी	१२०
रसबन्धनं वक्तुं प्रतिज्ञा	१६६
रसबन्धाः	१६६
रसभस्मसेवनविधिः	१८०
रसभावनादौ मूलिन्यः	१६०
रसभेदाः	४६०
रसमारणे प्रकारान्तरम्	४६०
,, प्रकारान्तराणि	४६०
रसरत्नाकरोक्तामृतीकरणम्	८३
रसराजस्य संस्कारकथने प्रतिज्ञा	१५६
रसलिङ्गप्रस्तुतप्रकारनिर्दे०	११०
रसलिङ्गार्चनादौ फलनिर्देशः	११०
रसविद्यादाने दीक्षाविधिः	१११
रसविद्याया अवश्यगोप्य०	११५
रसविद्याया गुरोर्लक्षणम्	१०६
रसविद्यायां लब्धव्यसाफ०	११८
रसव्यापदि प्रतीकारः	१८२
रसशक्तयः	११३
रसशाला	११५
रसशालानिर्माणस्य स्थान०	११५
रसशालायाः कुत्र किं कर्म कर्त्तव्यं तन्निर्देशः	११५
रसशालायां सङ्ग्राह्याणि उपकरणानि	११६
रसशास्त्रप्रकटने हेतुनिर्दे०	१०८
रसशोधनादिकथनम्	१५८
रससंस्कारकारणम्	१२
रससाधनाङ्गानामर्चनायाः कर्त्तव्यतानिर्देशः	११७
रससाधनोपयोगिगृहनिर्माणप्रकारः	११०
रससाधनोपयोगिदेशनिर्देशः	११०
रससिद्धसाधकस्य कर्त्त०	११८
रससिद्धानां नामानि	११४
रससिद्धेः फलम्	११६

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रससेवने अपथ्यानि	१८०
,, ,,	५००
रससेवने उपचारविधिः	१८२
रससेवने पथ्यविधिः	१८०
रसस्य जीवन्मुक्तिकारणता	७
रसस्य प्राधान्यकीर्त्तनम्	४५६
रसस्य यौगिकदोषद्वयं तयोः कार्य्यञ्च	१६१
रसस्य स्थानान्तरगतिवर्णनम्	१४
रसस्यौपाधिकदोषाः	१६१
रसाञ्जनगुणाः	५२
रसाञ्जनस्य विशेषशोधनम्	५३
रसानां निरुक्तिः	१२
रसानां भेदाः	११
रसायनगुणाः	४३६
रसायनानि	२२०
रसायनार्थं विषप्रयोग०	४७६
रसायने एकाशीतितमरसकल्पः	४६६
रसायने चतुःसप्ततितमरसकल्पः	४६८
रसायने चतुःसप्ततितमविषकल्पः	४८५
रसायने त्रिसप्ततितमरसकल्पः	४६८
रसायने त्रिसप्ततितमविषकल्पः	४८५
रसायने द्विसप्ततितमरसकल्पः	४६८
रसायने नियोज्यपुरुष ल०	११८
रसायने पञ्चविंशो लोह०	४७१
रसायने पञ्चसप्ततितमरसकल्पः	४६८
रसायने पञ्चामृतरसाख्यत्र्यशीतितमरसकल्पः	५००
रसायने मृतसञ्जीवन्याख्यः चतुरशीतितमरसक०	५०२
रसायने वज्रपञ्जररसाख्यः द्व्यशीतितमरसकल्पः	४६०
रसायने षट्त्रिंशलोहकल्पः	४७२
,, षट्सप्ततितमरसक०	४६८
,, सन्दिग्धान् प्रति उक्तिः	५०२
रसायने सप्तदशाधिकशत०	५०२
रसायने सप्तसप्ततितमाद्यशीतितमान्तरसकल्पः	४६६
रसे नैसर्गिकदोषास्तेषां का०	१६१
रसेन्द्रचूडामणिः	४५५

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रसेन्द्रनागरसः	२६२
रसेन्द्रयोगः	२३८
रसेन्द्रलेपः	३६४
रसेन्द्रवेधजस्वर्णस्योत्पत्ति०	७५
रसोत्कर्षवर्णनम्	३
रसोत्पत्तिवर्णनम्	६
रसोत्पत्तिविषयक नवीनमत	१८४
रसोनप्रयोगः	४०६
रसोपरसलोहानां सूतसाधकत्वनिर्देशः	१०५
रसोपरसानां सामान्यतः शोधनं सत्त्वपातनञ्च	५४
राक्षसनामा रसः	२८३
राक्षसवक्त्ररसलक्षणम्	१३०
राजमृगाङ्कः	२६५
राजमृगाङ्करसः	२५०
राजयक्ष्मणो लक्षणम्	२४६
राजयक्ष्मादिचिकित्सनम्	,,
राजशेखरवटी	२८२
राजावर्त्तः	७१
राजावर्त्तगुणाः	७१
राजावर्त्तमारणम्	७१
राजावर्त्तरसः	२५६
राजवर्त्तशोधनम्	७१
राजवर्त्तसत्त्वपातनम्	७१
राजवर्त्तादीनां सामान्यशोध०	७१
राजीकुष्ठादिलेपः	३६६
रात्र्यन्धहराञ्जनम्	४०६
रात्र्यन्धे व्योषाञ्जनम्	,,
रामबाणरसः	२६५
रास्नादिक्षीरम्	२४६
रीतिकागुणाः	१०३
रीतिकाद्रावणम्	,,
रीतिकामारणम्	,,
रीतिकामारणे मतान्तरम्	,,
रीतिकालक्षणम्	१०२
रीतिकाशोधनम	१०३
रुद्रभागः	११६
रुद्राक्षादिप्रयोगः	३८४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
रूप्यमूषा	१४८
रेखापूर्णाख्यमृतलोहलक्षण०	१२२
रोधनम्	१६६
रोधनलक्षणम्	१२८
रोमकलक्षणम्	८८
रौप्यगुणाः	७८
रौप्यगुणान्तरम्	,,
रौप्यप्रयोगविधिः	८०
रौप्यमारणम्	४६१
,,	८०
रौप्यमारणे मतान्तरम्	,,
रौप्यशोधनम्	४६०
रौप्यस्य निरुत्थभस्मीकर०	८०
रौप्यस्य निरुत्थभस्मीकरणे मतान्तरम्	,,
रौप्यस्य विशेषशोधनम्	७६
रौप्यस्य विशेषशोधनने मता०	८०
ल	
लक्ष्मीविलासो रसः	४४४
लघुलोकेश्वरो रसः	२८८
लघुसिद्धाभ्रको रसः	२७४
लवणयन्त्रम्	१४०
लवणयन्त्रस्य प्रकारान्तरम्	,,
लाङ्गल्यादिप्रलेपः	४२१
लाङ्गल्यादिलेपः	३८६
लावकपुटम्	१५४
लिङ्गपाके उदुम्बरादिक्षालन०	४२७
लिङ्गरोगे बोलप्रयोगः	,,
,, लवङ्गादिधूमः	४२८
लिङ्गव्रणरोपणे सैन्धवप्रयो०	,,
लीलाविलासो रसः	३१६
लूताविषे पञ्चप्रथितमविष०	४८४
,, सूतभस्मप्रयोगः	४३७
लेप-वेधलक्षणम्	१३३
लोकनाथगुटिका	२२८
लोकनाथरसः	२५३
,,	२७१

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
लोकेश्वररसः	२५३
,,	२७०
लोहकल्पः	४५६
लोहकाठिन्यनाशने योगः	१५७
लोहद्रावणे मतान्तरम्	६६
लोहभेदाः	८५
लोहमारकद्रव्येषु उत्तमादिनिर्देशः	७६
लोहानि	७२
लोहानां जातिनिरूपणम्	७२
लोहानां मतान्तरे मारणम्	६१
लोहानां मतान्तरे शोधनमार०	६१
लौहत्रयाणामुत्तरोत्तरगुणाधिक्यम्	६०
लौहप्रयोगः	६४
लौहमण्डूरयोः तुल्यगुणत्व०	६६
लौहतारणम्	४६३
लोहमारणे यन्त्रम्	६०
लौहस्य शोधनमारणयोरावश्यकता	,,
लौहानां गिरिजदोषशोध०	,,
,, गिरिजदोषशोधने मता०	६१
,, ,, ,,	,,
लौहानां रामराजीप्रोक्तगुणाः	६५
लौहाष्टकम्	३६१
व	
वक्रारोमहराञ्जनम्	४०५
वङ्कनालम्	१५१
वङ्गम्	६७
वङ्गगुणाः	,,
वङ्गप्रयोगः	६८
वङ्गमारणम्	४६२
,,	६८
वङ्गमारणे मतान्तराणि	६६
वङ्गभस्मप्रयोगः	४१३
वङ्गसम्भूतचपलः	१२५
वङ्गस्य द्वैविध्यम्	६७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
वज्रस्य मारणान्तरम्	४६२
वज्रेश्वरः	३०४
वज्रेश्वरो रसः	२८६
वचादिमोदकः	२६०
वज्रम्	६५
वज्रक्षारः	३२५
वज्रक्षारप्रयोगः	३०४
वज्रगुणाः	६६
वज्रतैलम्	३५२
वज्रद्रावणीमूषा	१४७
वज्रद्रावणे विशेषक्रमः	७०
वज्रद्रावणोपयोगिमूषान्त०	१४८
वज्रधररसः	२७७
वज्रधाररसः	३५१
वज्रप्रयोगविधिः	६८
वज्रप्रयोगान्तरम्	,,
वज्रमारणम्	६६
वज्रमारणान्तरम्	६७
वज्रमारणे मतान्तराणि	,,
वज्रमूषा	१४७
वज्ररसः	२५५
वज्रशेखरो रसः	३४५
वज्रशोधनम्	६६
वज्राणां जातिभेदेनाधिकारिभेदनिर्देशः	६६
वज्राणां वर्णादिभेदेनाधिकारिभेदनिर्देशः	,,
वज्रादिवटिका	४१०
वज्रीकान्तपाषाणलेपौ	४२०
वडवाग्निमुखो रसः	३१७
वडवानलगुटिका	३१४
वडवानलरसः	२८४
वडवानलरसः	३६६
वडवानलो विडः	४८६
वडवामुखी गुटिका	२८१
वमनयोगः	३१६
वरनागलक्षणम्	१२४
वरमूषा	१४४

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
वरलोहकम्	१२१
वराटलक्षणम्	२८०
वराटस्य लक्षणगुणौ	५८
,, शोधनम्	५६
वराटिका	५८
वराटिकागुणाः	५८
वराटिकाया उत्तमादिभेदेन त्रैविध्यम्	५८
वराटिकालक्षणम्	५८
वराहवसाप्रयोगः	४१०
वरुणकषायः	३०१
वर्जनीयवैद्यलक्षणम्	११८
वर्णभेदेन विषाणां क्रिया०	४७४
वर्णमूषा	१४८
वर्णाकृतिभेदेन गुणभेदः	३५
वर्त्तलोहम्	१०५
वर्त्तलोहगुणाः	१०५
वर्त्तलोहमारणम्	१०५
वर्त्तलोहशोधनम्	१०५
वर्त्तलोहस्वरूपम्	१०५
वर्द्धमानरसः	३८२
वर्षाभूक्वाथः	३८७
वलभीयन्त्रम्	१४१
वल्मीके बहुभावितपित्तल०	४३२
वसन्तकुसुमाकररसः	२६७
वसावर्गः	१५५
वह्निजस्वर्णोत्पत्तिः	७४
वह्निज्वाला	२७७
वह्निमृत्स्ना	१४३
वाजिरतीक्ष्णलक्षणम्	८६
वाजीकरणम्	४४५
वाजीकरणयोगे पूर्वकृत्यम्	४४४
वाजीकरणयोगोपदेशे प्र०	४४६
वाजीकरणस्य गुणाः	४४५
,, निरुक्तिः	,,
वाजीकरणे अष्टदशाधिकशततमविषकल्पः	४८८
वाजीकरणे मदनवर्द्धनाख्यः पञ्चाशीतितमरसकल्पः	५०२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
वाजीकरणे षडशीतितमर०	५०२
वाडवाग्निरसः	२८०
वातकुष्ठारिरसः	३३६
वातगजांकुशो रसः	३७७
वातज्वरलक्षणम्	२१६
वातरक्तचिकित्सा	३७७
वातरक्तलक्षणम्	३७७
वातरक्ते चत्वारिंशरसक०	४६४
वातरोगे अष्टविंशरसकल्पः	,,
,, बलादिक्षीरं यवागू०	,,
वातविध्वंसनो रसः	३७२
वातव्याध्यादिचिकित्सनम्	३६१
वातहरा यवागूः	३८८
वाताभिष्यन्दे द्वन्द्वादिवर्त्तिः	६०७
वातारिरसः	३०२
,,	३६१
वातारिरसप्रयोगः	३६६
वातरिरसस्य प्रयोगोपदेशः	३०२
वाताशोंलक्षणम्	२५६
वाते चतुर्स्त्रिंशविषकल्पः	४८१
वातोदरलक्षणम्	३२२
वान्तौ लाजादिकषायः	३८७
वाधिर्य्ये मुषल्यादिचूर्णम्	४०६
वाराहपुटम्	१५३
वारितरलोहलक्षणम्	१२२
वार्द्धक्यहर-रसायनम्	४३६
वार्षिक रसायनम्	४४२
विचर्चिकादौ त्रयोविंश-चतुर्विंशविषकल्पौ	४७६
विचर्चिकादौ पञ्चविंशवि०	,,
विजयभैरवतैलम्	३७४
विजयवटिका	३३८
विजयागुटिका	३३२
विजयागुटिकाप्रयोगः	३६२
विड्वर्गः	१५६
विडमूषा	१४८
विडलक्षणम्	१३२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
विदार्य्यादिकषायः	२८८
विद्याधरयन्त्रम्	१३८
विद्याधरो रसः	३०५
विद्रधेर्निदानं सम्प्राप्तिश्च	३००
विद्रध्यादिचिकित्सनम्	,,
विद्रध्यादिचिकित्सा	,,
विध्वंसरसः	२७८
विनोदविद्याधररसः	३२२
विपरीतरतिजव्याधिलक्ष०	४३३
विपादिकायां गुडादिप्रलेपः	४३०
विपादिकायां मदनादिप्रलेपः	,,
विमलः	२७
विमलभेदाः	२७
विमलमारणम्	२८
विमलशोधनम्	२७
विमलसत्त्वपातनम्	२८
विमलसत्त्वपातने मतान्तरम्	२८
विमलसत्वप्रयोगः	२८
विमलस्य लक्षणगुणाश्च	२७
विमलस्य त्रिविधस्य क्रिया०	२७
विरेचनयोगः	३१६
विविधरोगे एकादशलोह०	४६५
विविधवातव्याधिचिकित्सा	३६८
विवृतयोनौ लेपः	३६२
विशालाधूमः	४१४
विश्वहितो रसः	३४४
विश्वादिवटिका	२४६
विश्वासघातकवैद्यलक्षणम्	१२०
विषकल्पः	४७२
विषघ्नो गणः	४७५
विषचिकित्सा	४३७
विषजदाहे एकसप्ततितम०	४८५
विषतिन्दुकादिवटी	४१२
विषतैलाख्यः सप्तविंशवि०	४८०
विषदिग्धव्रणे सप्ततितमादि-रसकल्पद्वयम्	४६७
विषप्रयोगायोग्यनिर्देशः	२२६
विषप्रयोगानर्हकालादि०	४७७
विषप्रयोगार्हपुरुषकालयो०	,,
विषमज्वरे चतुर्थविषकल्पः	,,
विषमुष्टितैलपातनम्	१०८
विषवर्गः	१५६
विषविद्रावणघृताख्योद०	४७८
विषशोधनम्	४७७
विषसेवनस्य फलम्	४८८
विषसेविनः पथ्यापथ्य०	४७६
विषसेवने संशोधनविधिः	४७५
विषस्य प्रयोगविधिः	४७६
विषस्य मात्रानिर्देशः	४७४
विषहररसः	४३८
विषादिलेपः	४२७
विषाद्यञ्जनम्	४०४
विषामृतयोस्तुल्ययोनि०	४७४
विषामृतयोः सहसा प्रयो०	४८५
विषे द्विषष्टितमरसकल्पः	४६७
विषे निषिद्धद्रव्याणि	४७७
,, मन्त्रादिक्रियावैफल्येप्रती०	४८४
,, षट्पञ्चाशत्तमादिरस-कल्पषट्कम्	४६७
विषोत्पत्तौ पौराणिकी कथा	४७२
विष्णुक्रांतादिप्रलेपः	४२४
विष्णुक्रांताप्रयोगः	३८४
विसर्पादिचिकित्सनम्	३३५
विसूच्यां षोडशरसकल्पः	४६२
वृकोदरगुटिका	३७६
वृद्धज्वरांकुशः	२२४
वृद्धवन्ध्यलक्षणम्	१७३
वृद्धिचिकित्सा	३०२
वृन्ताकमूषा	१४६
वृश्चिकविषे मनोह्वादिगुडि०	४३८
,, मूलविषस्य मात्रा	४८४
,, षट्षष्टितमादिरस-कल्पचतुष्टयम्	४६७
वृश्चिके व्योषादितैलम्	४३७
वेधलक्षणम्	१३२
वेधस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः	१३३
वैक्रान्तः	२१
वैक्रांतद्रावणे विशेषक्रमः	७०
,, मतान्तरद्वयम्	,,
वैक्रांतसत्त्वपातनम्	२३
,, गुणाः	२१
,, गुणान्तरम्	२२
,, मतान्तरे वर्णभेद०	,,
,, मतांतरे शोधनमार०	२३
,, वर्णभेदाः	२१
,, शोधनम्	२३
,, शोधने मतान्तरम्	,,
,, स्थानं निरुक्तिश्च	२१
वैक्रान्तस्वरूपम्	,,
वैक्रान्तोत्पत्तिः	२२
वैदूर्यम्	६६
वैश्वानरपोटलीरसः	२८०
वैश्वानररसः	३०६
वैश्वानरो रसः	३२६
वैद्यनाथरसः	२५५
वैद्यानां सुलभाजीवनत्व०	५०५
वैद्यातुरयोरन्योऽन्यकर्त्तव्य०	,,
व्यङ्गे शशरुधिरप्रयोगः	४२६
व्याधिविशेषे रसप्रयोगनि०	१६०
व्योषादिगुडिका	३४४
व्योषादिचूर्णम्	३०६
व्रणचिकित्सा	४१६
व्रणलेखने पारदादिलेपः	४२०
व्रणशोधने ताम्रप्रयोगः	४१६
व्रणस्य भेदनिर्देशः	,,
व्रणे एकपञ्चाशत्तमरसक०	४६६

श

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शङ्करोक्तदैवव्यपाश्रयचिकि०	३८५
शङ्खनाभ्यादिवर्त्तिः	३६४
शङ्खेश्वररसः	२५१
शतारुषि रसादिषट्कम्	३४०
शतावर्य्यादिगुग्गुलुः	३६८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शब्द-वेधलक्षणम्	१३३
शम्बूकादिचूर्णम्	२७३
शम्बूकादिलौहम्	३१५
शम्बूकादिवर्त्तिः	४०५
शरपुङ्खाप्रयोगः	३८४
शरपुङ्खादियोगः	३०४
शाखोटकक्काथः	४२६
शार्ङ्गष्टादिवर्गः	२३०
शाल्मलीप्रयोगः	२६०
शास्त्रकर्मयोरन्योऽन्यापेक्षि०	१०८
शास्त्रज्ञवैद्यस्य साफल्योक्तिः	५०४
शिखित्रकोकिलास्वरूपम्	११७
शिखिवाडवो रसः	३०५
शिग्रुप्रयोगः	४२८
शिग्रुबीजतैलाश्च्योतनम्	४०५
शिग्रुमूलादिलेपः	२६७
शिग्रुमूलाद्याश्च्योतनम्	४०४
शिथिलयोनौ इन्द्रगोपप्रयो०	३६१
शिरःशूले कुंकुमादिनस्यम्	४१७
,, द्वापञ्चाशत्तमवि०	४८३
शिरीषप्रयोगः	४३७
शिरोरोगचिकित्सा	४१६
शिरोरोगाणां नामानि	,,
शिरोलेपः	२४०
शिलाजतु	२६
शिलाजतुगुणाः	३०
शिलाजतुन उत्पत्ति	२६
शिलाजतुनो भेदाः	,,
शिलाजतुप्रयोगविधिः	३१
शिलाजतुमारणम्	,,
शिलाजतुशोधनम्	,,
शिलाजतुसत्त्वपातनम्	,,
शिलादिचूर्णम्	२४४
शिलादिलेपः	३५४
शिलापूतरसः	२४६
शिष्यलक्षणम्	१०६
शिष्योपनयनम्	१०८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शीघ्रप्रभावो रसः	२७६
शीतभञ्जीरसः	२२२
शीतवातलक्षणम्	३६१
शीतारिरसः	३६२
शुकतुण्डस्य परिचयः	६०
शुक्रक्षयस्य निदानम्	४४६
शुक्रपिण्याकादियोगः	२८६
शुक्रप्रमेहे वंगप्रयोगः	२६०
शुक्रादौ षट्चत्वारिंशवि०	४८२
शुक्रार्मे पञ्चचत्वारिंशवित्र०	,,
शुद्धगन्धकगुणाः	४३
शुद्धतालकगुणाः	४८
शुद्ध पारद के लक्षण	१८६
शुद्धमाक्षिकसत्त्वस्य लक्षणम्	२६
शुद्ध-मूर्च्छितरसयोर्गुणाः	१६०
शुद्धलौहस्य ग्रन्थांतरोक्तगु०	६७
शुद्धावर्त्तः	१२७
शुद्धाशुद्धसीसकलक्षणम्	१००
शुद्धशिलाजतुपरीक्षा	३०
शुनोऽस्थिनस्यम्	३६७
शुभरीतिकालक्षणम्	१०३
शुभवैदूर्यलक्षणम्	६६
शुल्वनागम्	१२१
शुल्वनागगुणाः	,,
शुल्वप्रयोगः	४३१
शुष्ककण्डूहरलेपः	३५४
शूलगजकेशरी	३१३
शूलगजकेशरी रसः	३१०
शूलघ्नमाश्च्यतनम्	४०४
शूलचिकित्सा	३०८
शूलान्तकरसः	३१२
शूले षोडशविषकल्पः	४७६
शूलेऽष्टमलोहकल्पः	४६४
शृङ्खलाबन्धलक्षणम्	१७२
शृङ्गाटादितैलम्	४१८
शृङ्गीप्रयोगः	४४६
शैलेयादिधूपः	३६७

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
शैवयोगः	२८६
शोथे एकोनत्रिंशरसकल्पः	४६३
शोथे पुनर्नवादिलेपः	३८७
शोधनम्	४६
शोधनरोपणे ताम्रप्रयोगः	४२२
शोधनार्थमर्द्धचंद्राकृतिखल्लम्	१४५
शोधनीयगणः	१५७
शोभाञ्जनादिक्काथः	३०१
शोषणे नरास्थितैलप्रयोगः	४२२
श्रीकृष्णदेवोक्तककारादिगणः	१८१
श्रीपर्णीतैलम्	३६२
श्रीपर्ण्यादिबलादिकषायः	३८७
श्रेष्ठमणयः	६२
श्लीपदस्य सम्प्राप्तिलक्षणे	४३१
श्लीपदे चक्रेश्वरो रसः	४३२
श्लेष्मकुष्ठारिरसः	३३७
श्लेष्मसन्निपातार्शोलक्षणम्	२६०
श्लेष्मातकक्काथः	२६०
श्लेष्माभिष्यन्दे शुल्वादिवर्त्तिः	४०२
श्लेष्मार्शसि औषधविशेष०	२६१
श्वासकासकरिकेशरीरसः	२४५
श्वासकासे तिक्तादिकषायः	३८७
,, षष्ठविषकल्पः	४७८
श्वासचिकित्सा	२४३
श्वासस्य सम्प्राप्तिः	,,
श्वासहरवटकः	२४४
श्वासहिक्कयोः सप्तमविष०	४७८
श्वासान्तकरसः	२४४
श्वित्रकुष्ठलक्षणम्	३५५
श्वित्रकुष्ठारिरसः	,,
श्वित्रादौ त्रिंशविषकल्पः	४८०
श्वित्रान्तकरसः	३५७
श्वित्रारितैलाख्य त्रयस्त्रिंश०	४८१
श्वित्रारिरसः	३५५
श्वित्रे एकत्रिंशविषकल्पः	४८०
,, क्रियान्तरम्	,,
,, द्वात्रिंशविषकल्पः	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
श्वित्रे षट्त्रिंश रसकल्पः	४६४
(ख) श्वेतअस्फटकीयगंधक	२१४
श्वेतकण्टकारीप्रयोगः	२८४
श्वेतवर्गः	१५७
श्वेतवर्णाग्न्यभ्रकादीनामुप०	१६
श्वेतादिवर्णभेदेन विषाणां जातिभेदः	४७४
श्वेतारियोगः	३५८
ष	
षडङ्गगुग्गुलुः	३७५
षडङ्गयोगः	३७५
षडङ्ग रसायनम्	४४२
षडङ्गवर्त्तिः	४०३
षड् लवणानि	१५४
षण्डिकतैलम्	२७१
षष्ठलोहकल्पः	४६४
षाण्मासिक-रसायनम्	४४०
स	
संज्ञाजनने सततितमविष०	४६५
संशोधनोपदेशः	३६६
संस्कारार्थे सूतस्य परिमा०	१६३
सजीवबन्धलक्षणम्	१७१
सञ्जीवनरसः	२६४
सत्त्वलक्षणम्	१२३
सत्त्वानां सामान्यशोधनम्	६२
सद्यःशूलहरयोगद्वयम्	३१५
सद्यःशूलहरो योगः	,,
सद्योजातबालस्य संज्ञाजन०	३६२
,, ज्वरादिनिवारणोपायः	,,
साधारणरसाः	५५
साधारणरसानां नामानि	,,
,, सामान्यशोधनम्	६१
सन्धिग्रन्थौ रक्तस्रावविधिः	४२३
सन्धिलेपस्य पर्य्यायाः	१४६
सन्निपातकुठारः	२३५
सन्निपातगजांकुशः	२३०
सन्निपाताञ्जनरसः	२३२
सन्न्यासलक्षणम्	१३४
सप्तकञ्चुकाः	१६३
सप्तमलोहकल्पः	४६४
सपर्य्यायपोगरलक्षणम्	८६
सप्तविंशादिलोहकल्पत्रयम्	४७२
सबीजबन्धलक्षणम्	१७२
समुखजारणलक्षणम्	१३०
सर्जतैलम्	३६८
सर्वज्वरारिरसः	२९५
सर्पदष्टे चतुःषष्टितमविष०	४८४
सर्पविषे चतुःषष्टितमरस०	४६७
,, त्रिषष्टितमरस०	,,
सर्पविषे मूलविषस्य मात्रा	४६४
सर्पाक्षीप्रयोगः	३८४
,,	४२८
सर्वकुष्ठाङ्कुशः	३५१
सर्वकुष्ठान्तकतैलम्	३४२
सर्वरत्नानां शोधनम्	६६
,, साधारणदोषनिर्दे०	६६
,, सामान्यं द्रावणम्	७१
सर्वरोगहर रसायनम्	४३६
सर्वरोगान्तक-रसायनम्	४४२
सर्वरोगान्तका वटी	२८५
सर्वरोगे एकोनविंशलोह०	४७०
,, त्रयोविंशलोहक०	,,
,, बलाप्रयोगः	३८८
सर्वलोकाश्रयो रसः	२६१
सर्वलोहानां मारणे मतान्तराणि	९२-९३
सर्वलोहानां सामान्यशोध०	९०
सर्ववातारिरसः	३७१
सर्वविधलोहानां रामराजीप्रोक्तमारणम्	९५
सर्वविषे एकोनसततितम०	४६५
,, देवदार्वादियोगः	४३८
,, कङ्कणप्रयोगः	,,
सर्वाङ्गधातारिरसः	३७६
सर्वाङ्गसुन्दरः प्राणेश्वरो रसः	३०७
सर्वाङ्गसुन्दर चिन्तामणिरसः	२२७
सर्वामयहरो रसः	३०१
सर्वारोग्यवटी	२७३
सर्वेश्वरपर्पटी	३००
सर्वेश्वररसः	३३८
सर्वेश्वरो रसः	३६२
,, ,,	४०१
सविपान्ने वृक्षाम्लादियोगः	४३८
सस्यकः	३२
सस्यकगुणाः	३३
सस्यकशोधनम्	,,
सस्यकस्योत्कर्षकथनम्	३३
सस्यकोत्पत्तिः	३२
सहजरौप्यस्योत्पत्तिर्गुणाश्च	७७
सहजस्वर्णोत्पत्तिः	७४
सहदेवीप्रयोगः	४२५
सहदेव्यादिचूर्णम्	३६३
सहसाविषसेवनेऽष्टौविष०	४७५
सहस्रवर्षायुष्कर रसायनम्	४४१
सहस्रश्लोकधारियोगः	४१४
सहायलक्षणम्	१०६
सास्नालक्षणम्	१३२
सारतीक्ष्णलक्षणम्	८६
सारतीक्ष्णादीनां पञ्चानां गु०	८७
सितामृता	२४०
सिद्धरसादीनां कोष्ठी	३४३
सिद्धार्थकानुवासनम्	३८९
सिद्धार्थादिवस्तिः	,,
सिध्मादौ चतुःपञ्चाशत्तम०	४६६
सिध्मे गन्धपाषाणलेपः	३३९
,, वराटिकालेपः	,,
सिन्दूरभूषणो रसः	३३५
सिन्दूररसः	४४६
सीसकम्	१००
सीसकगुणाः	१००
सीसकप्रयोगः	१०२
सीसकमारणम्	४६२
,,	१०१
सीसकमारणे मतान्तरम्	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
सीसकस्य मारणान्तरम्	४६२
सीसकशोधनम्	१०१
सीसकस्य निरुत्थभस्मीक०	,,
,, निरुत्थभस्मीकरणे मता०	१०२
सुगन्धायोगः	२५१
सुधासाररस	२६६
सुप्तकुष्ठदलनो रसः	३३६
सुरवारुण्यादियोगः	४२५
सुवर्णस्य सु-वर्णसंपादनम्	७६
सूचिकाभरणो रसः	२१८
सूचीमुखो रसः	२३०
सूतकप्रत्ययः	४०१
सूतभस्मप्रयोगः	३६०
सूतमारणम्	१७८
सूतमारणप्रकारांतराणि	१७८-१७६
सूतशतावरीयोगः	४३७
सूतसंस्कारा·	१६४
सूतसोमराजीयोगः	४३७
सूतस्य अन्यविधं मारणम्	१७६
सूतस्वेदनविधिः	१६३
सूतानां संक्षिप्तमूर्च्छाकल्पः	,,
सूतिकाचिकित्सा	३६०
सूतेन्द्ररसः	४४६
सूर्यप्रभागुटिका	३२६
सूर्यप्रभावर्त्याख्यः सप्त-चत्वारिंशविषकल्पः	४८२
सूर्यरसः	२४६
सूर्यावर्तरसः	२४३
सैन्धवप्रयोगः	४१२
,,	४३५
सैन्धवादिलेपः	३५४
सोमनाथोक्तताम्रप्रयोगः	८४
सोमराज्यादिप्रलेपः	४३४
सोमानलयन्त्रम्	१३८
सौगन्धिकयोग	२४४
सौभाग्ययोगः	२५१
,,	३०६
सौभाग्यशुण्ठी	३६०

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
सौवीराञ्जनगुणाः	५२
स्तनवर्द्धने बलादिप्रलेपः	४३०
,, स्नेहनस्यम्	४३१
स्तनविद्रधिरोपणे दारुवर्त्तिः	४२७
स्तनविद्रधौ कुरुवकतैलम्	४३१
,, क्रियाक्रमः	४२७
स्तम्भने कृकवाकुप्रयोगः	४५७
स्त्रीणां रक्तस्रावे तौवरयोगः	२६०
स्त्री-नपुंकवज्रलक्षणे	,,
स्थालीयन्त्रम्	१४३
स्थावरविषाणां जातिभेदाः	४७३
स्थौल्यचिकित्सा	३१७
स्थौल्ये एकचत्वारिंशरस०	४६४
,, द्वाचत्वारिंशरसकल्पः	,,
,, पूर्वकृत्यनिर्देशः	३१७
,, विडङ्गादिचूर्णम्	४३३
स्नायुके अरस्पर्शारिप्रयोगो०	४३४
स्नायुके कुम्भीप्रयोगः	४३१
स्नुह्यादितैलम्	४१८
स्पर्शवातघ्नरसः	३६३
स्पर्शवातस्य लक्षणम्	३६२
स्पर्शवातान्तकृद्वटिका	३६३
स्पर्शवातारितैलम्	३६४
स्पर्शवाते त्रिगन्धप्रयोगः	,,
,, राजवृक्षप्रयोगः	३६३
स्फूर्जकादितैलम्	३६७
स्फोटने चतुरङ्गलेपः	४२२
स्रावहराञ्जनम्	४०५
स्रोतोऽञ्जनगुणाः	५२
स्रोतोऽञ्जनलक्षणम्	५३
स्रोतोऽञ्जनसत्त्वपातनम्	,,
स्वच्छन्दभैरवो रसः	३७४
स्वयंगुप्तादिचूर्णम्	४४६
स्वयमग्निरसः	२४३
स्वरभङ्गे धात्रीफलरसम्	४३०
स्वर्णम्	७३
स्वर्णकृष्टीबीजस्य कार्यम्	१२१
स्वर्णक्षीरीरसः	३५२

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
स्वर्णगुणाः	७५
स्वर्णतारयोर्द्रावणम्	८०
स्वर्णद्रावणम्	७७
स्वर्णद्रावणान्तरम्	,,
स्वर्णभस्मनः प्रयोगविधिः	,,
स्वर्णमारणम्	४६१
,,	७६
स्वर्णमारणे मतान्तरम्	,,
,, ,,	,,
स्वर्णरौप्ययोः कृष्टिः	१२०
,, सामान्यगुणाः	७३
स्वर्णशोधनम्	४६०
स्वर्णस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः	७३
स्वर्णादिप्रयोगः	३६१
स्वर्णादिवर्त्तिः	४०४
स्वर्णादिशोधनम्	७६
स्वाङ्गशीतलम्	१२७
स्वेदनलक्षणम्	,,
स्वेदनलक्षणम्	१३४
स्वेदनीयन्त्रम्	१३५
स्वेदनीयन्त्रलक्षणम्	२७०
स्वेदसन्न्यासयोर्गुणः	१३४

ह

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
हंसपाकयन्त्रम्	१३६
हंसपाकलक्षणम्	६०
हंसमण्डूरः	३२७
हठबन्धः	१६६
हरिद्रादिप्रलेपः	४२२
हरिबोलांकुशो रसः	३४३
हरिशङ्करो रसः	२६६
हरीतक्यादिचूर्णम्	३६५
हलिनीप्रयोगः	३८६
हल्यादिलेपः	३६४
हारिद्रप्रयोगः	२८६
हिक्काघ्नधूमः	२४७
हिक्काचिकित्सा	२४६
हिक्कानाशनो रसः	,,

विषयाः	पृष्ठाङ्काः
हिक्कायां नवमरसकल्पः	४६१
,, बालविलवादिः	३८७
हिंगुलः	६०
हिंगुलगुणाः	,,
हिंगुलनिर्माण की भारतीय विधि	२०६
हिंगुल परिचय	२०७
हिंगुलप्रकरण	२०६
हिंगुलशोधनम्	६१
हिंगुलशोधनविशेषेण गुण०	,,
हिंगुलस्य द्वैविध्यम्	६०
हिंगुलाकृष्टरसः	१२४
हिंगुलाकृष्टसूतगुणाः	६१
हिंगुलाकृष्टिविद्याधरयन्त्रम्	१४२
हिंगुलात् सत्त्वाकर्षविधिः	६१
हिंगुलोत्पत्तिः	१४
हिमालयवर्णनम्	२
हिमांशुरसः	२६७
हियावलीप्रयोगः	३६४
हृन्नालतीदणलक्षणम्	८६
हेमतारादिगुटिका	४१५
हेमरक्ती	१२१
हेमरक्त्याः कार्य्यम्	,,
हेमादि-रसायनम्	४४०

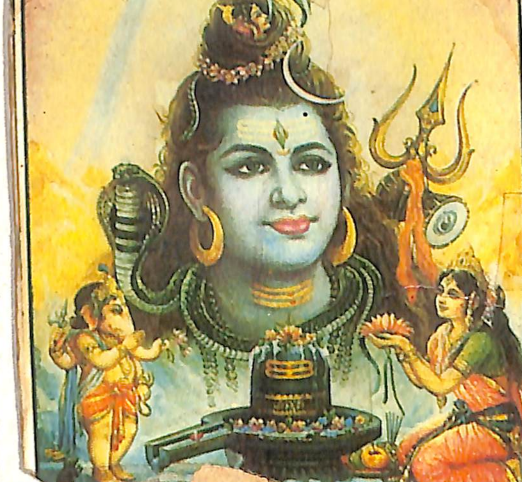

- क्यों व्यर्थ चिन्ता करते हो? [illegible] मार सकता है? आत्मा न पैदा होती है, न [illegible] मरती है।
- जो हुआ, वह अच्छा हुआ, जो हो रहा है, [illegible] अच्छा हो रहा है। जो होगा, वह भी अच्छा ही होगा। तुम भूत [illegible] का पश्चात्ताप न करो। भविष्य की चिन्ता न करो। वर्तमान [illegible] चल रहा है।
- तुम्हारा क्या गया, जो तुम रोते हो? तुम क्या [illegible] लाये थे, जो तुमने खो दिया? तुमने क्या पैदा किया था, जो [illegible] नाश हो गया? न तुम कुछ लेकर आए, जो लिया, यहीं से लिया [illegible]। जो दिया, यहीं पर दिया जो लिया, इसी (भगवान) से [illegible] लिया। जो दिया, इसी को दिया। खाली हाथ आए, खाली हाथ [illegible] चले। जो आज तुम्हारा है, कल किसी और का था, परसों किसी और का होगा। तुम इसे अपना समझकर मग्न हो [illegible]। बस, यही प्रसन्नता तुम्हारे दुखों का कारण है।
- परिवर्तन संसार का नियम है। [illegible]
- [illegible] तुम्हारा है, न तुम इस शरीर के हो। यह अग्नि, [illegible] पृथ्वी, आकाश से बना है और इसी में मिल [illegible] आत्मा स्थिर है, फिर तुम क्या हो?
- [illegible] आपको भगवान के अर्पित करो। यही सबसे [illegible] सहारा है। जो इसके सहारे को जानता है, वह भय, चिन्ता, शोक से सर्वदा मुक्त है।
- जो कुछ भी तू करता है, उसे भगवान के अर्पण करता चल। ऐसा करने से तू सदा जीवन-मुक्त का आनंद अनुभव करेगा।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र

धर्मदत्त वैद्य

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें आधुनिक काय-चिकित्सा वर्णन के साथ-साथ आयुर्वेदिक काय-चिकित्सा का भी उल्लेख है । ये दोनों एक दूसरे के सहायक सिद्ध हुए हैं । जहां आधुनिक काय-चिकित्सा How के प्रश्न का समाधान करती है वहां आयुर्वेदिक काय-चिकित्सा Why के प्रश्न का समाधान करती है अर्थात् रोग का मूल कारण बताती है जिसके फलस्वरूप चिकित्सा सुगम और ठीक होती है । यह स्पष्ट बताती है कि शरीर के तीन मूल तत्त्व-देहाग्नि, देह-प्राण तथा देहवृद्धि हैं । इनके किसी अंग में मन्दता आ जाने से रोगोत्पत्ति होती है ।

आयुर्वेद का एक विशेष दृष्टिकोण है जिससे त्रैदोषिक या त्रैधातुक चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया जाता है और रोगों में औषध, आहार, विहार आदि उपचारों का विधान किया जाता है । आयुर्वेद का मूल त्रैदोषिक दृष्टिकोण कभी नहीं बदला, चाहे औषधियां भले ही बदलती रहें । अतः आयुर्वेद उपचारों के प्रयोग में स्वतन्त्रता देता है। इस प्रकार आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र का छात्र त्रैधातुक या त्रैदोषिक दृष्टिकोण को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता। इसलिये इन दोनों चिकित्साओं के अध्ययन से अवश्यमेव लाभ ही होगा क्योंकि दोनों का लक्ष्य रोगी को रोगमुक्त करना ही है ।

मानव शरीर रचना (तीन भागों में)

डॉ० मुकुन्दस्वरुप वर्मा

सम्पूर्ण चिकित्साशास्त्र जिन आयुर्वेद के तीन मूल आधारों पर आश्रित है उन्हें शरीर रचना विज्ञान, शरीर क्रिया विज्ञान, और विकृति विज्ञान कहते हैं । उनमें शरीर रचना विज्ञान का स्थान महत्त्वपूर्ण है । इसके बिना अन्य आयुर्वेद शाखाओं का ज्ञान होना सम्भव नहीं है ।

इस विषय में पाश्चात्य वैज्ञानिकों के ही अनुसंधान उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुए हैं । पाश्चात्य भाषाओं से अपरिचित चिकित्सक इन अनुसंधानों से लाभ नहीं उठा सकते, इस अभाव की पूर्ति के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई है । दुरुहता को हटाने के लिए अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद में स्वीकृत वैज्ञानिक तकनीकी शब्दावली का प्रयोग किया गया है और सैकड़ों चित्रों से समझाया गया है ।

प्रथम भाग में ऊतक विज्ञान (Histology), भ्रूण विज्ञान (Embryology) और अस्थि विज्ञान (Osteology) विषयों का वर्णन है और द्वितीय भाग में सन्धि विज्ञान (Syndesmology), मांसपेशी विज्ञान (Myology) और वाहिका विज्ञान (Angiology) विषयों का विवेचन हुआ है । यह कृति शरीर रचना जिज्ञासुओं के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध होगी ।

चिकित्सा की अद्‌भुत पुस्तकें

अपक्व भोजन-ले० अर्शाविर तेर होवानैसियन, अनु. सत्यभूषण योगी (Ed. 1971)
चरक संहिता-श्री जयदेव विद्यालंकार (हिन्दी अनुवाद सहित), दो भागों में
नवजन स्वास्थ्य तथा स्वास्थ्य विज्ञान-डॉ० मुकुन्द वर्मा
नाड़ी दर्शन-ताराशंकर
पाश्चात्य द्रव्यगुण-विज्ञान-रामसुशील सिंह (दो भाग)
भावप्रकाश निघण्टु-विश्वनाथ द्विवेदी
भावप्रकाश-लालचन्द्र जी वैद्य कृत सरल हिन्दी अनुवाद सहित दो भागों में
रसेन्द्रसार संग्रह-श्रीनरेन्द्र नाथ मित्रा
मेघविनोद-यति मेघमुनि, नरेन्द्रनाथ शास्त्री कृत हिन्दी भाष्य
यूनानी चिकित्सा विधि (फार्मोकोपिया)-हकीम मन्साराम शुक्ल
रसतरङ्गिणी (सदानन्द) हिन्दी टीका सहित
वर्मा एलोपैथिक गाइड-रामनाथ वर्मा
वर्मा एलोपैथिक निघण्टु (मेटीरिया मेडिका)-रामनाथ वर्मा
व्याधिविज्ञान-आशानन्द पञ्चरत्न (दो भागों में)
सुश्रुत संहिता-शरीर स्थान-जे.डी. शर्मा
सुश्रुत संहिता (सम्पूर्ण)-अत्रिदेव विद्यालंकार
सूचीवेध विज्ञान-रमेशचन्द्र वर्मा (इंजेक्शन का अपूर्व ग्रंथ)

मूल्य : रु० ३०० (सजि
रु० २२५ (अजि

धार्मिक, इण्डस्ट्रीयल, ज्योतिष आदि पुस्तकों के लिए
डी. पी. बी. पब्लिकेशन्स
110, चावडी बाजार, चौक बडशाहबुला, दिल्ली- 6
पोस्ट बाक्स - 2037, फोन 3273220